श्री काशी संस्कृत ग्रन्थमाला ११४

॥ श्रीः ॥

मनुस्मृतिः

'मन्वर्थमुक्तावली' टीकासहित-'मणिप्रभा'
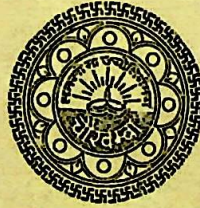
हिन्दीव्याख्योपेता

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१
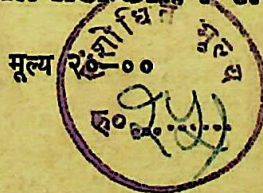
मूल्य २०-००

वैदिकं दर्शनम्

3-5

1 वेदपदार्थः

2 वेदस्य लक्षणम्

3 वेदस्य विभागः

4 वेदस्य आवश्यकत्वम्

5 वेदस्य कालविचारः

6 पाश्चात्यानां दृष्टौ वेदः

7 अत्रत्यानां वेदविषयक भावना

8 वेदस्य सर्वशास्त्रमूलत्वम्

9 वेदस्य सार्वभौमिकता (अपौरुषेयत्वम्

10 दर्शनपदार्थः

11 वेदे दर्शनस्य प्राधान्यम्

12 वेदस्य मूलं प्रतिपादकम्

13 तस्य प्रयोजनम्

ब्रह्मचारी गुरुपाद चैतन्यः
श्री शिवानन्द आश्रम
ऋषिकेश

॥ श्रीः ॥

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला

११४

(धर्मशास्त्रविभागे (३) तृतीयं पुष्पम्)

॥ श्रीः ॥

मनुस्मृतिः

श्रीकुल्लूकभट्टप्रणीत 'मन्वर्थमुक्तावली' टीकासहित-
'मणिप्रभा' हिन्दीव्याख्योपेता
क्षेपकपरिशिष्टश्लोकैः श्लोकानुक्रमणिकया च सहिता

हिन्दीव्याख्याकारः
व्याकरण-साहित्याचार्य-साहित्यरत्न-
श्री पं० हरगोविन्दशास्त्री

सम्पादकः
श्री पं० गोपालशास्त्री नेने

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१

१९७०

THE

KASHI SANSKRIT SERIES

114

(Dharma Śāstra Section No. 3)

THE

MANUSMṚTI

WITH

THE 'MANVARTHA-MUKTĀVALĪ' COMMENTARY

OF

KULLŪKA BHAṬṬA

WITH

The 'Maṇiprabhā' Hindī Commentary

by

PT. HARAGOVINDA ŚĀSTRĪ

EDITED WITH

INTRODUCTION, INTERPOLATED VERSES AND INDEX

by

PT. GOPĀLA ŚĀSTRĪ NENE

THE

CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE

VARANASI-1

1970

प्रस्तावना

सृष्टि का यह नित्य नियम है कि चौरासी लाख योनियोंमें-से किसी भी योनिमें उत्पन्न प्राणी अधिकसे अधिक सुख पाना चाहता है; उनमें-से प्रायः मनुष्ययोनि ही ऐसी है, जिसमें उत्पन्न होकर वह प्राणी पुण्य कर्मोंके द्वारा सुखसाधनका उपार्जन तथा मोक्षलाभ भी कर सकता है। शेष समस्त योनियोंमें तो प्राणियोंके कर्मोंका क्षय मात्र होता है। सुख-दुःखका साधनभूत क्रमशः पुण्यापुण्य कर्मों का उपार्जन प्रायः नहीं होता। इनका उपार्जन तो एकमात्र मनुष्ययोनिमें ही होता है। इसी कारण महर्षियोंने इस योनि को सर्वश्रेष्ठ माना है—

'कदाचिल्लभते जन्म मानुष्यं पुण्यसञ्चयात्।'
अन्यच्च—'नरत्वं दुर्लभं लोके........................।'

प्राणीके सुख-दुःखका कारण पूर्वकृत पुण्य-पाप अर्थात् धर्म-अधर्म ही है, यही कारण है कि एक समान ही व्यापारादि करनेवाले प्राणियोंमें-से कोई सफल तथा कोई असफल होता हुआ देखा जाता है। इसके अतिरिक्त पूर्वकृत किसी पुण्यातिशयसे उत्तम मनुष्य-योनिमें जन्म पाकर भी अनेक प्राणी अन्यान्य जघन्य कर्मों के प्रभावसे दुखी तथा किसी-किसी अत्यन्त जघन्य कर्मके प्रभावसे घोड़ा-कुत्ता आदि तिर्यग्योनिमें जन्म पाकर भी अनेक प्राणी पूर्वकृत अन्यान्य पुण्य कर्मोंके प्रभावसे मानव-दुर्लभ भोगोपभोग साधनोंके मिलनेसे सुखी देखे जाते हैं; अतएव यह मानना पड़ता है कि प्राणीको पूर्वकृत कर्मोंके अनुसार ही सुख-दुःखकी प्राप्ति होती है और ये ही पूर्वकृत पुण्य-अपुण्य कर्म दैव या भाग्य कहे जाते हैं—

'पूर्वजन्मकृतं कर्म तद्दैवमिति कथ्यते।'

अब यहाँ प्रश्न यह उठता है कि—किसको धार्मिक तथा किसको अधार्मिक कर्म माना जाय ?, इसका सरल एवं सर्वसम्मत उत्तर यह है कि वेद तथा स्मृतिमें विहित कर्म ही धर्म तथा तद्विरुद्ध कर्म अधर्म हैं—

'श्रुतिस्मृतिविहितं कर्म धर्मस्तद्विपरीतमधर्मः।'
तथा—'वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।' (मनु० २।६)

धर्ममूलक वेदोंके रहते स्मृतियोंकी रचनाका कारण यह हुआ कि 'कालक्रमके प्रभावसे भविष्यमें अधिकतम मानव वेदके गहन विषयको नहीं समझ सकेंगे' यह सोचकर त्रिकालदर्शी लोक-पितामह ब्रह्माने अपने मानसपुत्र मनुको वेदोंका सारभूत धर्मका उपदेश एक लाख श्लोकोंमें दिया। तदनन्तर उन्होंने भी, 'धर्मके इतने विस्तृत तत्त्वको ग्रहण

करनेमें मानव समर्थ नहीं हो सकता' यह विचारकर उस ब्रह्मोपदिष्ट धर्मतत्त्वको पुनः संक्षिप्त किया और मरीच्यादि मुनियोंको उसका उपदेश दिया—

'इदं शास्त्रं तु कृत्वाऽसौ मामेव स्वयमादितः।
विधिवद्ग्राहयामास मरीच्यादींस्त्वहं मुनीन् ॥' (मनु० १।५८)

वेदतत्त्वज्ञ ऋषियोंके द्वारा स्मृतियोंकी रचना करना श्री भर्तृहरि भी मानते हैं—

'स्मृतयो बहुरूपाश्च दृष्टादृष्टप्रयोजनाः।
तमेवाश्रित्य लिङ्गेभ्यो वेदविद्भिः प्रकाशिताः ॥'

तदनन्तर धर्मतत्त्वजिज्ञासु मुनियोंके प्रश्न करनेपर भगवान् मनुकी आज्ञासे महर्षि भृगुने मनूक्त धर्मतत्त्वका स्मरणकर महर्षियोंको बतलाया—

'एतद्वोऽयं भृगुः शास्त्रं श्रावयिष्यत्यशेषतः।
एतद्धि मत्तोऽधिजगे सर्वमेषोऽखिलं मुनिः ॥
ततस्तथा स तेनोक्तो महर्षिर्मनुना भृगुः।
तानब्रवीदृषीन् सर्वान् प्रीतात्मा श्रूयतामिति ॥' (मनु० १।५९–६०)

सर्वज्ञ भगवान् मनुने जो कुछ जिसका धर्म कहा है, वह सब वेदोंमें कहा गया है—

'यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना प्रतिपादितः।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः ॥' (मनु० २।७)

शास्त्रकारोंने तो यहाँ तक कहा है कि 'मनुस्मृतिके विपरीत धर्मादिका प्रतिपादन करनेवाली स्मृति श्रेष्ठ नहीं है क्योंकि वेदार्थके अनुसार रचित होनेसे मनुस्मृतिकी ही प्रधानता है—

'मनुस्मृतिविरुद्धा या सा स्मृतिर्न प्रशस्यते।
वेदार्थोपनिबद्धत्वात् प्राधान्यं हि मनोः स्मृतेः ॥'

यद्यपि—

'मनुमेकाग्रमासीनमभिगम्य महर्षयः।
प्रतिपूज्य यथान्यायमिदं वचनमब्रुवन् ॥' (मनु० १।१)

इत्यादि वचनोंसे ज्ञात होता है कि इस ग्रन्थके रचयिता भगवान् मनु नहीं हैं, तथापि—

'स्वायम्भुवो मनुर्धीमानिदं शास्त्रकमल्पयत्।' (मनु० १।१०२)
तथा—'एतद्वोऽयं भृगुः शास्त्रं श्रावयिष्यत्यशेषतः।
एतद्धि मत्तोऽधिजगे सर्वमेषोऽखिलं मुनिः ॥' (मनु० १।५९)

इत्यादि वचनोंसे इस शास्त्रका प्रतिपाद्य विषय मनूक्त होनेसे इस ग्रन्थका नाम 'मनुस्मृति' असङ्गत नहीं कहा जा सकता। इसी बातकी पुष्टि याज्ञवल्क्य स्मृतिके अन्यतम टीकाकार विज्ञानेश्वर भिक्षुके निम्नोक्त वचनसे भी होती है—

'याज्ञवल्क्यशिष्यः कश्चित्प्रश्नोत्तररूपं याज्ञवल्क्यमुनिप्रणीतं धर्मशास्त्रं संक्षिप्य कथयामास' 'यथा मनुप्रणीतं भृगुः।' (या० स्मृ० १।१ का अवतरण)।

पुरुषार्थचतुष्टयप्रतिपादकत्व—

स्मृतियोंमें एकमात्र मनुस्मृति ही ऐसा ग्रन्थ है जिसमें काम, अर्थ, मोक्ष तथा धर्मरूप चारों पुरुषार्थों का विशद प्रतिपादन किया गया है। यथा—'द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत्।' (मनु० ४।१) के द्वारा प्रतिपादित 'काम' का—'ऋतुकालाभिगामी स्यात् स्वदारनिरतः सदा। पर्ववर्जं व्रजेच्चैनां तद्व्रतो रतिकाम्यया॥' (मनु० ३।४५) इत्यादि वचनोंसे; 'अक्लेशेन शरीरस्य कुर्वीत धनसञ्चयम्' (मनु० ४।३) इत्यादि वचनोंद्वारा प्रतिपादित 'अर्थ' का—'यात्रामात्रप्रसिद्ध्यर्थं स्वैः कर्मभिरगर्हितैः।' (मनु० ४।३) तथा—'ऋतामृताभ्यां जीवेत्तु मृतेन प्रमृतेन वा। सत्यानृताभ्यामपि वा न श्ववृत्त्या कदाचन॥ कुशूलधान्यको वा स्यात् कुम्भीधान्यक एव वा। त्र्यहैहिको वापि भवेदश्वस्तनिक एव वा॥' (मनु० ४।५-६) इत्यादि वचनोंसे नियमन करके आगे—'सर्वात्मनि संपश्येत् सच्चासच्च समाहितः। सर्वं ह्यात्मनि सम्पश्येन्नाधर्मे कुरुते मनः॥' (मनु० १२।११८) से आरम्भकर—'एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना। स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माभ्येति परं पदम्॥' (मनु० १२।१२५) वचनोंसे आत्मज्ञान रूप मोक्षसाधक धर्मका अधर्म-निवृत्तिपूर्वक प्रतिपादन किया गया है, अत एव यह मनुस्मृति ही 'काम, अर्थ, मोक्ष और धर्म' रूप चारों पुरुषार्थों का प्रतिपादक है।

इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थमें 'वर्णधर्म, आश्रमधर्म, वर्णाश्रमधर्म, गुणधर्म, निमित्तधर्म, तथा सामान्यधर्म—इस प्रकार साङ्गोपाङ्ग धर्मका विशदरूपसे प्रतिपादन किया गया है—

'अस्मिन् धर्मोऽखिलेनोक्तो गुणदोषौ च कर्मणाम्।
चतुर्णामपि वर्णानामाचारश्चैव शाश्वतः॥' (मनु० १।१०७)

यही कारण है कि आचार्यों ने तो इसकी सर्वश्रेष्ठता स्वीकार की ही है, साथ ही न्यायालयोंमें भी मनुस्मृतिके आधारपर ही विधि (कानून) बनाकर तदनुसार व्यवहार-निर्णय किया जाता है। 'धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः' इस वचनानुसार स्मृति ग्रन्थको ही धर्मशास्त्र कहते हैं—

'मन्वत्रिविष्णुहारीत-याज्ञवल्क्योशनोऽङ्गिराः।
यमापस्तम्बसंवर्ताः कात्यायनबृहस्पती॥
पराशरव्यासशङ्खलिखिता दक्षगौतमौ।
शातातपो वसिष्ठश्च 'धर्मशास्त्र' प्रयोजकाः॥' (या० स्मृ० १।४-५)

विज्ञानेश्वर भिक्षुने उक्त श्लोकोंकी 'मिताक्षरा' व्याख्यामें 'मनुर्बृहस्पतिर्दक्षो गौतमोऽथ यमोऽङ्गिराः।.........'इत्यादि वचनों द्वारा प्रमाणित किया है।

प्रत्येक अध्यायोंका विषय—

मनुस्मृतिके बारह अध्याय हैं। इनमें-से प्रथम अध्यायमें-संसारोत्पत्तिका, द्वितीय अध्यायमें-जातकर्मादि संस्कारविधि, ब्रह्मचर्य व्रतविधि और गुरुके अभिवादनविधिका; तृतीय अध्यायमें-ब्रह्मचर्य व्रतकी समाप्तिके बाद समावर्तन, पञ्चमहायज्ञ और नित्य श्राद्ध विधिका, चतुर्थ अध्यायमें-ऋत-प्रमृत आदि जीविकाओं के लक्षण तथा स्नातक (गृहस्थ) के नियमका, पञ्चम अध्यायमें-दूध-दही आदि भक्ष्य तथा प्याज लहसुन आदि अभक्ष्य पदार्थों और दशाहादिके द्वारा जनन-मरणाशौचमें ब्राह्मणादि द्विजातियोंकी तथा मिट्टी, पानी आदि

के द्वारा द्रव्य एवं बर्तनोंकी शुद्धिका और स्त्रीधर्मका, षष्ठ अध्यायमें-वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रमका, सप्तम अध्यायमें व्यवहार (मुकदमों) के निर्णय तथा करग्रहण आदि राजधर्मका, अष्टम अध्यायमें-साक्षियोंसे प्रश्नविधिका, नवम अध्यायमें-साथ तथा पृथक् रहने पर स्त्री तथा पुरुषके धर्म, धन आदि सम्पत्तिका विभाजन, द्यूत-विधि, चौरादि निवारण तथा वैश्य एवं शूद्रके अपने-अपने धर्मके अनुष्ठानका, दशम अध्यायमें-अम्बष्ठ आदि अनुलोमज तथा सूत-मागध-वैदेह आदि प्रतिलोमज जातियोंकी उत्पत्ति और आपत्तिकालमें कर्तव्य धर्मका, एकादश अध्यायमें पापकी निवृत्तिके लिये कृच्छ्र-सन्तापन-चान्द्रायणादि प्रायश्चित्त विधिका और अन्तिम द्वादश अध्यायमें-कर्मानुसार तीन प्रकार की (उत्तम, मध्यम तथा अधम) सांसारिक गतियों, मोक्षप्रद आत्मज्ञान, विहित एवं निषिद्ध गुण-दोषों की परीक्षा, देशधर्म, जातिधर्म तथा पाखण्डिधर्मका, वर्णन किया गया है—

'जगतश्च समुत्पत्तिं संस्कारविधिमेव च ।
व्रतचर्योपचारं च स्नातस्य च परं विधिम् ॥
दाराभिगमनं चैव विवाहानां च लक्षणम् ।
महायज्ञविधानं च श्राद्धकल्पं च शाश्वतम् ॥
वृत्तीनां लक्षणं चैव स्नातकस्य व्रतानि च ।
राजश्च धर्ममखिलं कार्याणां च विनिर्णयम् ॥
साक्षिप्रश्नविधानं च धर्मं स्त्रीपुंसयोरपि ।
विभागधर्मं द्यूतं च कण्टकानां च शोधनम् ॥
वैश्यशूद्रोपचारं च सङ्कीर्णानां च सम्भवम् ।
आपद्धर्मं च वर्णानां प्रायश्चित्तविधिं तथा ॥
संसारगमनं चैव त्रिविधं कर्मसम्भवम् ।
निःश्रेयसं कर्मणां च गुणदोषपरीक्षणम् ॥
देशधर्मान् जातिधर्मान् कुलधर्मांश्च शाश्वतान् ।
पाखण्डगणधर्मांश्च शास्त्रेऽस्मिन्नुक्तवान्मनुः ॥'(मनु० १।१११-११८)

राष्ट्रभाषा (हिन्दी) अनुवादका उद्देश्य—

इस ग्रन्थके हिन्दी अनुवाद भी अनेक स्थानोंसे प्रकाशित हुए हैं, किन्तु उनमें-से कुछ भावानुवादमात्र हैं तो कुछ इतने संक्षिप्त हैं कि उनसे भगवान् मनु का आशय प्रायः बहुत-से स्थलोंमें विशद नहीं हो पाता, अतः विद्वानोंके आग्रहसे मैंने क्षेपक श्लोक सहित इस ग्रन्थकी सरल सुबोध हिन्दी व्याख्या की है। इसमें श्लोकोक्त शब्दोंके आधारपर ही अर्थ किया गया है और जहाँ उतनेसे ग्रन्थाशय विशद नहीं हो सका, वहाँ मैंने व्याख्याके नीचे 'कुल्लूकभट्ट' कृत 'मन्वर्थमुक्तावली' का आधार लेकर व्याख्यात्मक विमर्श भी लिखा है। प्रस्तुत कुल्लूकभट्टी टीका के साथ विमर्शका प्रकाशन उतना महत्त्वपूर्ण नहीं होता और ग्रन्थका कलेवर भी विशाल हो जाता इस उद्देश्यसे विज्ञ प्रकाशक महोदयने उस सविमर्श हिन्दी व्याख्याको मूलके साथ अल्प मूल्यमें सुलभ संस्करण भी पृथक् प्रकाशित कर दिया है। जिज्ञासु पाठक उस संस्करणका भी समादर कर रहे हैं। उभय संस्करणको प्रकाशित करनेवाले दूरदर्शी विज्ञ प्रकाशकका मैं आभारी हूँ।

—हरगोविन्द शास्त्री

श्रीहनुमद्भीममध्वान्तर्गत-रामकृष्णवेदव्यासात्मक-श्रीलक्ष्मीहयग्रीवाय नमः।

प्रस्तावना

श्रीकटाक्षच्छाटालक्ष्यः पक्षिगः पुष्करेक्षणः।
स्वपक्षकल्पवृक्षाभो रक्षतात्केशवः सदा॥
स बिन्दुमाधवः पायाद् विभोर्यस्य निरीक्षणात्।
अपारोऽपि हि संसारसिन्धुर्बिन्दुत्वमश्नुते॥

सृष्ट्यादावखिलाण्डकोटिब्रह्माण्डनायकं वटपत्रशायिनं भगवन्तं नारायणं लक्ष्मीः प्रार्थयामास 'भगवन् भवदुदरस्थिताञ्जीवान् सृष्ट्वा तानुद्धारये'ति। भगवांस्तान् कृपादृष्ट्यावलोक्य,–

'ससर्ज भगवानादौ त्रीन् गुणान् प्रकृतेः परः।
महत्तत्त्वं ततो विष्णुः सृष्टवान् ब्रह्मणस्तनुम्॥' इति [मणिमञ्जरी; १-२]

सत्त्व-रजस्तमोगुणात्मिकायाः प्रकृतेः सकाशाद् रजोगुणं गृहीत्वा, तेन च महत्तत्त्वाभिमानिनं चतुर्मुखब्रह्माणं ससर्ज। स च चतुर्मुखैश्चतसृषु दिक्षु किमप्यनवलोक्य भीतस्सन् किंकर्तव्यतामूढ आस। 'तद्धि तपः, तद्धि तपः' इति नभोवाणीं शुश्राव। ततः स्वयम्भूः पितामह आत्मन्यात्मानमाविश्य, परार्धं यावत्तपस्तप्त्वा लोकान् कल्पयानि इत्यचिन्तयत्। ससर्ज च तामिस्रान्धतामिस्रमहामोहादीनि। साररहितां तां सृष्टिं ज्ञात्वात्मानमकृतार्थं मन्वानो तपःपूतचेतसा सनकादीन् सृष्ट्वा प्रजाः सृजतेति तानुवाच। ते च परमानन्दैकरसे लक्ष्मीपतौ मोदमानाः सर्जनविमुखा बभूवुः। ततो रुद्र-मरीच्यत्र्याङ्गिरसपुलस्त्यपुलहक्रतुभृगुवसिष्ठदक्षनारदादीन् परमभागवतान् सृष्ट्वापि तेभ्योऽपि सर्गविस्तारमपश्यन् आत्मानं द्वेधा चकार। तत्रैकः पुरुषरूपः स्वायम्भुवमनुः, अपरा शतरूपानाम्नी स्त्री। सा च स्वायम्भुवस्य सहधर्मचारिण्यासीत्। ताभ्यां बीजाद्वृक्ष इव वंशोऽवर्धत। ताभ्यां च प्रियव्रतोत्तानपादौ द्वौ पुत्रौ। आकूतिः, देवहूतिः, प्रसूतिश्चेति तिस्रः कन्या बभूवुः। परमेष्ठिन आदेशाद् गृहाश्रममनुवर्तमानः प्रियव्रतो विश्वकर्मणः प्रजापतेः पुत्रीं बर्हिष्मतीमुपयेमे। तस्यां चात्मसदृशान् दशाग्निनाम्नः पुत्रान्, ऊर्जस्वतीं च कन्यामुत्पादयामास। अस्यान्वये प्रथितपुण्ययशसः नाभ्यृषभ-

देवभरतादयो नृपतयो बभूवुः। उत्तानपादसुनीत्योः पुत्रो ध्रुवो विमात्रापमानितस्सन् नारदानुग्रहेण मधुवने श्रीनारायणं तपसा सन्तोष्य, तदनुग्रहेण ध्रुवत्वं प्राप। प्रजाः सृजेति ब्रह्मणा चोदितः कर्दमः तपस्तुष्टस्य नारायणस्यादेशात् मनोः कन्यां देवहूतिमुपयेमे। तस्यां च कलादयो नव सत्तमाः कन्याः, भगवदवतारं कपिलमहामुनिञ्चोत्पादयामास। अस्य च दौहित्रान्वये दत्तदुर्वासःकुबेररावणविभीषणमार्कण्डादयो बलवीर्यादिप्रथितयशसो बभूवुः। रुचिः मनोर्द्वितीयां पुत्रीमाकूतिमुपयम्य, तस्यां मिथुनमजीजनत्। तत्र पुरुषः यज्ञरूपी विष्णुः, स्त्रीरूपा च दक्षिणानाम्नी बभूवतुः। विष्णुर्दक्षिणायां द्वादश पुत्रानुत्पादयामास। मनोस्तृतीयां कन्यां प्रसूतिमुपयम्य दक्षः तस्यां दुहितॄः ससर्ज। अस्य दौहित्रान्वये नरनारायणावृषी जज्ञाते। सोऽयं मनोर्जातत्वान्मानवः प्रपञ्चोऽहरहर्वर्धिष्णुर्दृश्यते। ततः 'यद्वै मनुरवदत्तद्भेषजम्' इति श्रुतिभिर्गीयमानो मनुः सप्रजः सभार्यो ब्रह्मावर्ते बर्हिष्मत्यां कुशासन आसीनः सस्त्रीभिः सुरगायकैः सङ्गीयमानसत्कीर्तिः, भक्त्या यज्ञपुरुषं यजन् आस। संसारे क्लिश्यमानानां जनानामुद्धरणाय भगवन्नारायणात् प्राप्तं लक्षश्लोकात्मकं धर्मशास्त्रं चतुर्मुखब्रह्मा स्वायम्भुवमनव उपदिदेश। स च तद् भृगवे। भृगुस्तु ऋषिपरम्परया लोके प्रचारयामास। तच्च मनुस्मृतिरूपेण जगतीतले प्रसिद्धमस्ति।

अस्यां मनुस्मृतौ सृष्टिः, वर्णधर्मः, आश्रमधर्मः, वर्णाश्रमधर्मः, गुणधर्मः, निमित्तधर्मः, सामान्यधर्मश्चेति षड्विधो धर्मः, राजनीतिः, प्रायश्चित्तादयो मानवादीनामुपयुक्तास्सर्वे विषया उट्टङ्कितास्सन्ति। 'तमेवं विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था अयनाय विद्यते' इति श्रुतिप्रतिपादितमात्मतत्त्वज्ञानमपि मोक्षोपायत्वेन द्वादशाध्याये समुपवर्णयामास मनुः। एवं निबन्धप्रबन्धृभिः पराशरादिभिः पूज्यैः स्वनिबन्धे मनुस्मृतिश्लोकान्प्रमाणतयोद्धृत्य 'यन्मनुरवदत्तद्भेषजं भेषजतायाः' इति श्रुत्युपग्रहाच्च, 'मन्वर्थविपरीता या स्मृतिः सा न प्रशस्यते' इति प्रमाणेन च मनुस्मृतिः धर्मजिज्ञासूनां कृतेऽतीव श्रेष्ठेति अस्या महिमा प्रकटीकृतः। सर्वकारैर्हिन्दीभाषाया राष्ट्रभाषात्वेनाङ्गीकृतत्वात्, संस्कृतानभिज्ञानां हिताय चात्र 'अल्पाच्तरं पूर्वमि'ति च न्यायेनादौ पं० हरगोविन्दमिश्र प्रणीता हिन्दीटीका, ततः पण्डित-

प्रवरकुल्लूकभट्टविरचिता मन्वर्थमुक्तावली च समावेशितास्ति। मया तु चौ. सं. सी. मुद्रितम्, मुम्बापुर्यां नि. सा. गुजराती मुद्रणालये मुद्रिते, एवं सरस्वतीभवनस्थ १२२३८ संख्यकमेकं हस्तलिखितम् एतानि पुस्तकान्यालोड्य च पण्डितानुमत्यैव च तत्र तत्र पाठभेदो निवेशितः। अपि च षडध्यायीं यावट्टीकायामुद्धृतानां श्रुतिस्मृतिपुराणादीनां स्थलनिर्देशोऽपि कृतोऽस्ति। अग्रे च मुद्राराक्षसस्य धावनानुकरणेऽसमर्थो भूत्वा तत्कार्याद्विरत इति खिद्यतेतरां मे स्वान्तम्।

असम्पूर्णा मनुस्मृतिः ?

अधुना या मनुस्मृतिरुपलभ्यते, सा परिशिष्टावलोकनेनासम्पूर्णेति स्पष्टीभवति, विविधेषु निबन्धेषूद्धृतानां मनुश्लोकानां प्रकृतग्रन्थेऽनुपलम्भात्। उभाभ्यां पुण्यपापाभ्यां मानुषत्वं प्राप्नोतीति प्रसिद्धमेव। उत्तमलोकावाप्त्यै धर्मज्ञानस्य, धर्मानुष्ठानस्य चातीवावश्यकतास्ति। तदर्थमियं मनुस्मृतिः सर्वैस्समादरणीया, संसेव्या चेति। यस्य कृपादृष्ट्यायं ग्रन्थराजः समाप्तिमगमत्तं परमकारुणिकं साङ्गं भगवन्तं स्मारं स्मारम्, ज्ञानदातॄन् गुरूंश्च नामं नामम्, दुर्लभधर्मशास्त्रग्रन्थसङ्ग्रहतत्प्रकाशनबद्धपरिकराणाम्, प्राचीनप्रौढग्रन्थनिबन्धधर्मरसास्वादरसिकानां विद्वत्तल्लजानां प्रमोदयितुकामानां श्रीमतां वाराणसेयचौखम्बासंस्कृतग्रन्थालयाध्यक्षमहोदयानां सर्वात्मना समृद्धिं कामयमानो भगवन्तं गोकुलेशं परमोपास्यां श्रीराधां श्रीविश्वेश्वरं च प्रार्थये—यत् ते एताननुगृह्णन्त्विति। विशिष्यात्राहं सुहृद्वर्यपण्डितप्रवरचौखम्बासंस्कृतपुस्तकालयकार्यतत्परान् मध्ये सहजतया कृतसत्प्रेरणान् व्याकरणाचार्यश्रीरामचन्द्रझामहोदयान् सकार्तज्ञ्यं स्मृतिकर्मीकरोमि। एतद्ग्रन्थावलोकनप्रवृत्तान् मनीषिवर्यान् साञ्जलिबन्धं प्रार्थये यत् तेऽत्र संशोधनादित्रुटीः कुत्रापि लक्ष्यमाणाः क्षाम्यन्तु इति पर्यन्ते निखिलजीवसार्थकृपापरायणं परमात्मानं संनतमौल्यभ्यर्थये कर्मणानेन स परितुष्यतु—इत्युपसंहरामि।

मार्ग. शु. मुक्कोटिद्वादशी
वि० सं० २०२६

विदुषामनुचरः—
—मध्वाचार्यः

श्रीगुरुः शरणम्

भूमिका

विदितमेव तत्र भवतामास्तिकजनानां धर्मधुरीणानां यदिह जगतीतले चतुरशीतिलक्षयोनिषु जन्मपरम्परामनुभूयानेकजन्मार्जितपुण्यप्रभावैर्मनुष्यशरीरमासादयति जीवलोकः । तदुक्तम्—

कदाचिल्लभते जन्तुर्मानुष्यं पुण्यसञ्चयात् । इति ।

तदिदं मनुष्यशरीरं लब्ध्वाऽपि नैव सर्वोऽपि जीवलोकः जन्मपरम्परानुभवदुःखसागरमुत्तरीतुं प्रभवति, किन्तु तत्राधिकतराः पुनरपि ता एव चतुरशीतिलक्षयोनिषु जन्मपरम्परा अनुभवितुं प्रवर्तते । तादृग्विधे च वैषम्ये नान्यदुपलभ्यते मूलम्, ऋते पुण्यपापयोः । पुण्यपापयोश्च प्राणिकर्तृकं कर्म एव मूलमिति । किं कर्म पुण्यजनकं किञ्च पापजनकमिति गवेषणीयम् । तत्र च तद्बोधको वेद एवेति भर्तृहरिराह—

प्राप्त्युपायोऽनुकारश्च तस्य वेदो महर्षिभिः ।
एकोऽप्यनेकवर्त्मेव समाम्नातः पृथक् पृथक् ॥ इति ।

वेदस्य चानेकशाखाभिरनेकवर्त्मतया ततो नैव सर्वेषां जनानां यथावद् ज्ञानं सुशकमिति वेदविद्भिः वेदानुगततत्तदर्थोऽभिधायकस्मृतय उपनिबद्धाः । तदप्युक्तं हरिणा—

स्मृतयो बहुरूपाश्च दृष्टादृष्टप्रयोजनाः ।
तमेवाश्रित्य लिङ्गेभ्यो वेदविद्भिः प्रकाशिताः ॥ इति ।

स्मृतयो धर्मशास्त्रम्, तासामपि धर्ममूलत्वस्य

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम् । (म०स्मृ० २-६)

इति मनुनाऽभिभाषितत्वात् । स्मृतिषु मनुस्मृतेरेव श्रुत्युपग्रहेण प्राधान्यम् । तथा च श्रुतिः—"यद्वै मनुरवदत् तद् भेषजम्" इति । सैवेदानीं सर्वस्मृतिप्रधानभूता मनुस्मृतिः मुद्रयित्वा श्रीमतां करकमलेऽस्माभिः समर्प्यते । अस्य ग्रन्थस्य "मनुमेकाग्रमासीनम्" (म० स्मृ० १-१)

इति प्रघट्टकेन प्रारम्भात् "सूत उवाच" इत्यादिनिर्देशवत् मन्वतिरिक्त-भृगुकर्तृकत्वलाभेऽपि

'स्वायम्भुवो मनुर्धीमानिदं शास्त्रमकल्पयत् ।'

इति वचनेन एतच्छास्त्रप्रतिपाद्यस्य सकलस्याप्यर्थजातस्य मनु-प्रोक्तत्वाऽभिधानेन मनुस्मृतिरिति नाम तादृशलोकप्रसिद्धिश्च न विरुद्धा । अत एव विज्ञानेश्वरोऽपि "यथा मनुनोक्तं भृगुः" इति वदन् अमुमेवार्थं ध्वनयति । एवमेव

'द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत् ।' (म० स्मृ० ४–१)

इत्यादिना दारकरणरूपकामस्य, 'कुर्वीत धनसञ्चयम्' (म०स्मृ०४-३) इत्यादिना धनार्जनरूपस्यार्थस्य,

'सर्वमात्मनि सम्पश्येत् सच्चासच्च समाहितः ।' (म० स्मृ० १२–११८)

इत्यादिना आत्मज्ञानरूपस्य मोक्षस्याऽपि प्रतिपादनेन चतुर्विध-पुरुषार्थबोधकत्वेऽपि 'ऋतुकालाऽभिगामी स्यात्' (म० स्मृ० ३–४५) इत्यादिना कामरूपपुरुषार्थस्याऽपि नियमेन 'ऋतामृताभ्यां जीवेत्तु' (म० स्मृ० ४–४) इत्यादिनार्थकर्मणोऽपि नियमेन नियमजन्यादृष्ट-रूपधर्मजनकत्वात्

'सर्वं ह्यात्मनि सम्पश्यन् नाऽधर्मे कुरुते मनः ।' (म० स्मृ० १२–११८)

इत्यनेन आत्मज्ञानस्याधर्मनिवृत्तिद्वारा धर्मजनकत्वस्यैवाऽभि-धानाच्च कामार्थमोक्षाणां त्रयाणामन्येषां पुरुषाणां प्रतिपादनेऽपि धर्म-जनकत्वेनात्र तेषामभिधानाद्धर्मशास्त्रापरपर्यायस्मृतिरित्यभिधानम-विरुद्धम् । तदेवं मनुस्मृतिनामकं ग्रन्थरत्नं वर्णाश्रमधर्मप्रतिपादकतयाऽ-स्माकं भारतीयानां धर्मप्राणानां प्रामाण्ये सर्वोत्कर्षेण वर्तते, यतो हि मानवेऽस्मिन्धर्मशास्त्रे वर्णधर्मः, आश्रमधर्मः, वर्णाश्रमधर्मः, गुणधर्मः, निमित्तधर्मः, सामान्यधर्मश्चेति सर्वविधोऽपि धर्मो भगवता मनुना प्रतिपादितः । तदुक्तम्—

'अस्मिन् धर्मोऽखिलेनोक्तो गुणदोषौ च कर्मणाम् ।
चतुर्णामपि वर्णानामाचारश्चैव शाश्वतः ॥' (म० स्मृ० २–६) इति ।

अस्य ग्रन्थरत्नस्यानेकाः संक्षिप्ता विस्तृता अतिविस्तृताश्च व्याख्याः सन्ति। तथाऽपि कुल्लूकभट्टविरचिता मन्वर्थमुक्तावलीनाम्नीयं टीका स्मृतिगतपदपदार्थान् यथावदभिदधती श्रुतिस्मृतिप्रदर्शनेन स्वोक्तार्थं स्वोत्प्रेक्षितत्वनिरसनद्वारा प्रमाणभूतं स्थापयन्ती, क्वचित् मेधातिथ्या-दिव्याख्यातॄणामाशयं वर्णयन्ती, विरुद्धमाशयञ्च परिहरन्ती च नाति-संक्षिप्ता नातिविस्तृतेति पठनपाठनादिषु विद्वद्भिः सर्वत्र सर्वदा समादृता वर्तत इति सर्वप्रचारवती इयमेव व्याख्याऽस्माभिरपि अस्मिन् संस्करणे समुपनिबद्धा वर्तते। अस्यां व्याख्यायां यत्र यत्र श्रीमता कुल्लूकभट्टेन मेधातिथिमतमुपक्षिप्तं, तत्र तत्र साकल्येन तदवबोधायास्माभिस्तदध-स्ताट्टिप्पण्यां मेधातिथेः व्याख्यानस्य तावान् सन्दर्भस्सादरमुट्टङ्कितः। तदिदं सटीकं ग्रन्थरत्नमादर्शपुस्तकत्रयमादाय संस्कर्तुमारब्धम्। तत्र च तत्र तत्रोपलब्धान् पाठभेदान् 'क' 'ख' इत्यादि सङ्केतैस्तत्तदादर्श-पुस्तकनामानि विधाय दातुं समारब्धमात्रे ग्रन्थविस्तारकारणात्, मूल्या-धिक्यभयेन, अहमहमिकया स्वस्वपुस्तकानि विक्रेतुमभिलषव आपणिकाः प्रत्यहं मूल्यन्यूनीकरणाय प्रवृत्ता वर्तन्त इत्यापणव्यवहारमाकलय्य च प्रकाशकमहाशयेन प्रार्थिता वयं त्रयोदशपृष्ठत एव पाठभेदान् प्रदर्शयितुं नाऽपारयाम इति क्षन्तव्या क्षमावद्भिः विद्वद्भिस्तदावश्यकन्यूनतापरि-पूर्त्यर्थमिति सादरं प्रार्थयामः।

धर्मशास्त्रीयविषयगवेषणया निबन्धग्रन्थान् परिशीलयता उपलब्धानि मनुवचनानि मुद्रितमनुस्मृतिपुस्तकेऽनुपलभमानेन मया चिरात् सङ्गृ-हीतानि ग्रन्थान्ते परिशिष्टभागे प्रेक्षावतां झटित्युपलम्भायाकारादि-वर्णानुक्रमेण तत्तद्ग्रन्थनामनिर्देशं निवेशितानि। एवं तत्र तत्र निबन्धे-षूपलब्धानि वृद्धमनुवचनानि, बृहन्मनुवचनानि च सादरमन्ते परिशि-ष्टस्य स्थापितानि।

सर्वविधसंस्करणेपूपलभ्यमान-मनुस्मृतिश्लोकाऽऽद्याक्षराकारानुक्रम-ण्यां ग्रन्थान्तरोद्धृतमनुस्मृतिश्लोकोत्तरार्धगवेषणदुःखमपरिहृतमाक-लय्य सम्पूर्णां मनुस्मृतिमननुसन्दधतां साधारणजनानां तत्सौलभ्या-

योत्तरार्द्धानामप्यकाराद्यनुक्रमेणाद्याक्षरानुक्रमणीं विधाय पूर्वार्धाद्याक्षरानुक्रमणीं यथास्थानं सन्निवेश्य च मनुस्मृतिश्लोकानामुभयार्धाकारानुक्रमणीं सर्वान्ते सन्निवेशिता। मनुस्मृतिस्थविषयाणां झटिति सौलभ्याय सर्वादौ तद्विषयसूच्यध्यायानुक्रमेण सन्निवेशिता वर्तते। तदेवं महता प्रबन्धेन संस्कर्तुं प्रकृतग्रन्थरत्नं प्रवृत्तोऽपि मय्यध्यापननवीनग्रन्थनिर्माणादिसुकृतकर्मव्याप्रततया समयमलभमाने मदीयान्तेवासिना 'वेहेरे' इत्युपाह्वचिन्तामणिशास्त्रिणा एतद्ग्रन्थसंशोधनकार्यं महोत्साहेन सम्पादितमिति तमाशीर्भिरभिनन्दयामि। एवं महता परिश्रमेण शोधितेऽपि ग्रन्थेऽस्मिन् मानुषशेमुषीसुलभदोषाणां सम्भवेऽपि हंसक्षीरन्यायेन गुणैकपक्षपातिनो विद्वांसः संगृह्येदं संस्करणं संशोधकमहाशयोत्साहं वर्धयिष्यन्ति। प्रकाशकाश्च विद्याविलासयन्त्राधिपाः चौखम्बासंस्कृतसीरीज, बनारससंस्कृतसीरीज, काशीसंस्कृतसीरीज, हरिदाससंस्कृतसीरीज, इत्याद्यनेकग्रन्थमालाप्रकाशनैकचित्ताः संस्कृतसाहित्योद्धारबद्धपरिकरा इति शतशो धन्यवादार्हा इति शुभम्।

शयनी एकादशी
काशी
वै० सं० १९९२

विदुषामनुचरः—
पं० गोपालशास्त्री नेने
(अध्यापक, ग० सं० कालेज बनारस)

विषयानुक्रमणिका

तृतीयोऽध्यायः

अष्टमोऽध्यायः

नवमोऽध्यायः

द्वादशोऽध्यायः

॥ श्रीः ॥

मनुस्मृतिः

सानुवाद-'मन्वर्थमुक्तावली'व्याख्योपेता

प्रथमोऽध्यायः

[[1]स्वयंभुवे नमस्कृत्य ब्रह्मणेऽमिततेजसे ।
मनुप्रणीतान्विविधान् धर्मान्वक्ष्यामिशाश्वतान् ॥१॥]
मनुमेकाग्रमासीनमभिगम्य महर्षयः ।
प्रतिपूज्य यथान्यायमिदं वचनमब्रुवन् ॥ १ ॥

(अपरिमित तेजस्वी स्वयम्भू ब्रह्माको नमस्कार कर (मैं भृगु मुनि) मनुके कहे हुए विविध नित्य धर्मोंको कहूँगा ॥ १ ॥)

महर्षि लोग एकाग्रचित्त तथा सुखपूर्वक बैठे हुए भगवान् मनुके पास जाकर यथोचित प्रति-पूजन कर यह वचन बोले—॥ १ ॥

मन्वर्थमुक्तावली

ॐ वन्दे[2] परं ब्रह्म नमामि मूर्तीस्तस्यापरा ब्रह्महरित्रिनेत्रान् ।
श्रित्वा रजःसत्त्वतमांसि याभिर्विश्वोदयस्थानलयांस्तनोति ॥ १ ॥
गौडे नन्दनवासिनाम्नि सुजनैर्वन्द्ये[3] वरेन्द्र्यां कुले
श्रीमद्भट्टदिवाकरस्य तनयः कुल्लूकभट्टोऽभवत् ।
काश्यामुत्तरवाहिजह्नुतनयातीरे समं पण्डितै-
स्तेनेयं क्रियते हिताय विदुषां मन्वर्थमुक्तावली ॥ २ ॥
सर्वज्ञस्य मनोरसर्वविदपि व्याख्यामि यद्वाङ्मयं
युक्त्या[4] तद्बहुभिर्यतो मुनिवरैरेतद्बहु व्याहृतम् ।

---

१. अयं श्लोकः खपुस्तके प्रक्षिप्ततयाऽत्रास्ति । Jolly संशोधितपुस्तके च १०२ तमश्लोकानन्तरं वर्तते । स्वायम्भुवमनुशिष्यो भृगुऋषिः प्रश्नोत्तररूपं मनुप्रणीतं धर्मशास्त्रं स्वकृतपद्यसमूहरूपसंहिता-रूपेण स्वशिष्यान् प्रति कथयामास । तथा च मनोरर्थप्रवक्तृत्वेऽपि संहिताप्रणेतृत्वाभावेन तत्र तत्र मनुनिर्देशस्य नासङ्गतिरिति बोध्यम् । अत एव मिताक्षरायां विज्ञानेश्वरभट्टाचार्यैः 'यथा मनुनोक्तं भृगुः' इति प्राहुः । 'स्वायम्भुवो मनुर्धीमानिदं शास्त्रमकल्पयत्' (१०२ श्लो.) इत्यनेन मनोः प्रवक्तृत्वस्य बोधनेन मनुस्मृतिरिति व्यवहारस्यापि नासङ्गतिर्यथा शिष्यप्रणीताया अपि स्मृतेर्याज्ञवल्क्यस्मृति-रिति सर्वप्रसिद्धो व्यवहारः ।

२. अयं श्लोकः खपुस्तके नास्ति । ३. 'वरेन्द्र्ये' क० । ४. 'मद्बहुभिः' ख०

तां व्याख्यामधुनातनैरपि कृतां न्याय्यां ब्रुवाणस्य मे
भक्त्या मानववाङ्मये भवभिदे भूयादशेषेश्वरः ॥ ३ ॥
[1]मीमांसे! बहु[2] सेवितासि, सुहृदस्तर्काः! [3]समस्ताः स्थ मे
वेदान्ताः! परमात्मबोधगुरवो यूयं मयोपासिताः।
[4]जाता व्याकरणानि! बालसखिता युष्माभिरभ्यर्थये
प्राप्तोऽयं समयो मनूक्तविवृतौ साहाय्यमालम्ब्यताम् ॥ ४ ॥
द्वेषादिदोषरहितस्य सतां हिताय मन्वर्थतत्त्वकथनाय ममोद्यतस्य।
दैवाद्यदि [5]क्वचिदिह स्खलनं तथापि निस्तारको भवतु मे जगदन्तरात्मा ॥ ५ ॥
मानववृत्तावस्यां ज्ञेया व्याख्या नवा मयोद्भिन्ना।
प्राचीना अपि रुचिरा व्याख्यातॄणामशेषाणाम् ॥ ६ ॥

अत्र महर्षीणां धर्मविषयप्रश्ने मनोः श्रूयतामित्युत्तरदानपर्यन्तश्लोकचतुष्टयेनैतस्य शास्त्रस्य प्रेक्षावत्प्रवृत्त्युपयुक्तानि विषयसंबन्धप्रयोजनान्युक्तानि। तत्र धर्म एव विषयः। तेन सह वचनसंदर्भरूपस्य मानवशास्त्रस्य प्रतिपाद्यप्रतिपादकलक्षणः संबन्धः, प्रमाणान्तरासन्निकृष्टस्य[6] स्वर्गापवर्गादिसाधनस्य धर्मस्य शास्त्रैकगम्यत्वात्। प्रयोजनं तु स्वर्गापवर्गादि, तस्य धर्माधीनत्वात्। यद्यपि पत्न्युपगमनादिरूपः कामोऽप्यत्राभिहितस्तथापि—

ऋतुकालाभिगामी स्यात्स्वदारनिरतः सदा। (अ० ३ श्लो० ४५)

इत्यृतुकालादिनियमेन सोऽपि धर्म एव। एवं चार्थार्जनमपि "ऋतामृताभ्यां जीवेत" (अ० ४ श्लो ४) [7]इत्यादिनियमेन धर्म एवेत्यवगन्तव्यम्। मोक्षोपायत्वेना-[8]भिहितस्यात्मज्ञानस्यापि धर्मत्वाद्धर्मविषयत्वं मोक्षोपदेशकत्वं चास्य शास्त्रस्योपपन्नम्। पौरुषेयत्वेऽपि मनुवाक्यानामविगीतमहाजनपरिग्रहाच्छ्रुत्युपग्रहाच्च वेदमूलकतया प्रामाण्यम्। तथा च छान्दोग्यब्राह्मणे श्रूयते—"मनुर्वै यत्किंचिदवदत्तद्भेषजं भेषजतायाः" इति। बृहस्पतिरप्याह—

"वेदार्थोपनिबद्धत्वात्प्राधान्यं हि मनोः स्मृतम्।
मन्वर्थविपरीता तु या स्मृतिः सा [9]न शस्यते ॥
तावच्छास्त्राणि शोभन्ते तर्कव्याकरणानि च।
धर्मार्थमोक्षोपदेष्टा मनुर्यावन्न दृश्यते ॥"

महाभारतेऽप्युक्तम्—

"पुराणं मानवो धर्मः साङ्गो वेदश्चिकित्सितम्।
आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः ॥"

विरोधिबौद्धादितर्कैर्न हन्तव्यानि। अनुकूलस्तु मीमांसादितर्कः प्रवर्तनीय एव। अत एव वक्ष्यति—"आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः ॥" (अ० १२ श्लो० १०६) इति।

सकलवेदार्थादिमननान्मनुं महर्षय इदं द्वितीयश्लोकवाक्यरूपमुच्यतेऽनेनेति वचनमब्रुवन्। श्लोकस्यादौ मनुनिर्देशो मङ्गलार्थः, परमात्मन एव संसारस्थितये सार्वज्ञैश्वर्यादिसंपन्नमनुरूपेण प्रादुर्भूतत्वात्तदभिधानस्य मङ्गलातिशयत्वात्। वक्ष्यति हि—

[10]"एनमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्"। (अ० १२ श्लो० १२३) इति।

---

१. 'मीमांसा' क०। २. 'सेवितास्ति' क०। ३. 'समस्ताश्च' क०। ४. 'याता' क०। ५. 'क्वचिदपि' क०। ६. 'कृष्ट' क०। ७. 'इति' क०। ८. 'अत्राभि' क०। ९. 'विनश्यति' ग०। १०. 'एतम्' क०।

एकाग्रं विषयान्तराव्याक्षिप्तचित्तम्। आसीनं सुखोपविष्टम्, [1]ईदृशस्यैव महर्षिप्रश्नोत्तरदानयोग्यत्वात्। अभिगम्य अभिमुखं गत्वा। महर्षयो महान्तश्च ते ऋषयश्चेति तथा। प्रतिपूज्य प्रत्येकं पूजयित्वा। यद्वा, मनुना पूर्वं स्वागतासनदानादिना पूजितास्तस्य पूजां कृत्वेति प्रतिशब्दादुन्नीयते। यथान्यायं येन न्यायेन विधानेन प्रश्नः कर्तुं युज्यते प्रणतिभक्तिश्रद्धातिशयादिना। वक्ष्यति च–

"नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयान्न चान्यायेन पृच्छतः।" (अ० २ श्लो० ११०) इति।

'अभिगम्य' 'प्रतिपूज्य' 'अब्रवन्' इति क्रियात्रयेऽपि मनुमित्येव कर्म। अब्रुवन्नित्यत्राकथितकर्मता[2], [3]ब्रुविधातोर्द्विकर्मकत्वात्[4] ॥ १ ॥

किमब्रुवन्नित्यपेक्षायामाह—

भगवन् सर्ववर्णानां यथावदनुपूर्वशः।
अन्तरप्रभवाणां च धर्मान्नो वक्तुमर्हसि ॥ २ ॥
[जरायुजाण्डजानां च तथा संस्वेदजोद्भिदाम्।
भूतग्रामस्य सर्वस्य प्रभवं प्रलयं तथा ॥ २ ॥
आचारांश्चैव सर्वेषां कार्याकार्यविनिर्णयम्।
यथाकामं यथायोगं वक्तुमर्हस्यशेषतः ॥ ३ ॥]

हे भगवन्! ब्रह्मादि चतुर्वर्णों और अम्बष्ठादि अनुलोमज, 'सूत' आदि प्रतिलोमज तथा 'भूर्जकण्टक' आदि सङ्कीर्ण जातियोंके यथोचित धर्मोंको क्रमशः कहनेके लिये आप योग्य हैं ॥ २ ॥

[गर्भज, अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज, समस्त जीवसमूहके जन्म तथा मृत्युको और (पूर्वोक्त) सबोंके कर्तव्य एवं अकर्तव्यके निश्चय तथा आचारों को यथायोग्य इच्छानुसार कहनेके लिये आप योग्य हैं, ॥ २-३ ॥]

ऐश्वर्यादीनां भगशब्दो वाचकः। तदुक्तं विष्णुपुराणे–

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग [5]इतीङ्गना ॥

मतुबन्तेन संबोधनं भगवन्निति। वर्णा ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राः, सर्वे च ते वर्णाश्चेति सर्ववर्णाः तेषामन्तरप्रभवाणां च संकीर्णजातीनां चापि अनुलोमप्रतिलोमजातानां अम्बष्ठक्षत्तृकर्णप्रभृतीनां तेषां विजातीयमैथुनसंभवत्वेन खर[6]तुरगीसंपर्कजाताश्वतरवज्जात्यन्तरत्वाद्वर्णशब्देनाग्रहणात्पृथक् प्रश्नः। एतेनास्य शास्त्रस्य सर्वोपकारकत्वं दर्शितम्। यथावत् यो धर्मो यस्य[7] वर्णस्य येन प्रकारेणार्हतीति। अनेनाश्रमधर्मादीनामपि प्रश्नः। अनुपूर्वशः क्रमेण जातकर्म, तदनु नामधेयमित्यादिना। धर्मान्नोऽस्मभ्यं वक्तुमर्हसि सर्वधर्माभिधाने योग्यो भवसि तस्माद् ब्रूहीत्यध्येषणमध्याहार्यम्। यत्तु ब्रह्महत्यादिरूपाधर्मकीर्तनमप्यत्र तत् प्रायश्चित्तविधिरूपधर्मविषयत्वेन, न स्वतन्त्रतया ॥ ३ ॥

सकलधर्माभिधानयोग्यत्वे हेतुमाह—

त्वमेको ह्यस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयंभुवः।
अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य कार्यतत्त्वार्थवित्प्रभो ॥ ३ ॥

---

१. 'तादृश' क०। २. 'कर्मत्वात्' क०। ३. 'ब्रू०' क०। ४. 'त्वाच्च' क०।
५. 'इतीरणा' ग० 'इतीरितः' क०। ६. 'तुरगीयसंपर्कात्' क०। ७. 'वर्णस्य' नास्ति क०।

क्योंकि हे प्रभो ! एक आप ही इस सम्पूर्ण पौरुषेय, अचिन्त्य तथा अप्रमेय वेदके अग्निष्टोमादि यज्ञकार्य और ब्रह्मके जाननेवाले हैं ॥ ३ ॥

हिशब्दो हेतौ। यस्मात्त्वमेकोऽद्वितीयः अस्य सर्वस्य प्रत्यक्षश्रुतस्य स्मृत्याद्यनुमेयस्य च विधानस्य विधीयन्तेऽनेन कर्माण्यग्निहोत्रादीनीति विधानं वेदस्तस्य स्वयंभुवोऽपौरुषेयस्याचिन्त्यस्य बहुशाखाविभिन्नत्वादियत्तया परिच्छेत्तुमयोग्यस्य अप्रमेयस्य मीमांसादिन्यायनिरपेक्षतयाऽनवगम्यमानप्रमेयस्य। कार्यमनुष्ठेयमग्निष्टोमादि, तत्त्वं ब्रह्म "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तैत्ति. उ. २।१।१) इत्यादि वेदान्तवेद्यं, तदेवार्थः प्रतिपाद्यभागस्तं वेत्तीति कार्यतत्त्वार्थवित्। मेधातिथिस्तु कर्ममीमांसावासनया वेदस्य कार्यमेव तत्त्वरूपोऽर्थस्तं वेत्तीति कार्यतत्त्वार्थविदिति व्याचष्टे। तन्न, [1]वेदानां ब्रह्मण्यपि प्रामाण्याभ्युपगमान्न कार्यमेव तत्त्वरूपोऽर्थः। धर्माधर्मव्यवस्थापनसमर्थत्वात्प्रभो इति संबोधनम् ॥ ३ ॥

स तैः पृष्टस्तथा सम्यगमितौजा महात्मभिः।
प्रत्युवाचार्च्य तान्सर्वान् महर्षीञ्छ्रूयतामिति ॥ ४ ॥

महर्षियोंसे इस प्रकार पूछे गये अपरिमित शक्तिवाले मनु उन सब महर्षियोंका सत्कार कर बोले—सुनिये ॥ ४ ॥

स मनुस्तैर्महर्षिभिस्तथा तेन प्रकारेण पूर्वोक्तेन न्यायेन प्रणतिभक्तिश्रद्धातिशयादिना पृष्टस्तान् सम्यक् यथातत्त्वं प्रत्युवाच श्रूयतामित्युपक्रम्य। अमितमपरिच्छेद्यमोजः सामर्थ्यं ज्ञानतत्त्वाभिधानादौ यस्य स तथा। अत एव [2]सर्वज्ञसर्वशक्तितया महर्षीणामपि प्रश्नविषयः। महात्मभिर्महानुभावैः आर्च्य पूजयित्वा। आङ्पूर्वस्यार्चतेर्ल्यबन्तस्य रूपमिदम्। धर्मस्याभिधानमपि पूजनपुरःसरमेव कर्तव्यमित्यनेन फलितम्। ननु मनुप्रणीतत्वेऽस्य शास्त्रस्य 'स पृष्टः प्रत्युवाच' इति न युक्तम्, 'अहं पृष्टो ब्रवीमी'ति युज्यते। अन्यप्रणीतत्वे च कथं मानवीयसंहितेति ? उच्यते–प्रायेणाचार्याणामियं शैली यत्स्वाभिप्रायमपि परोपदेशमिव वर्णयन्ति। अत एव "कर्माण्यपि जैमिनिः फलार्थत्वात्" इति जैमिनेरेव सूत्रम्। अत एव "तदुपर्यपि बादरायणः संभवात्" (व्या. सू. १।३।२६) इति बादरायणस्यैव शारीरकसूत्रम्। अथवा मनूपदिष्टा धर्मास्तच्छिष्येण भृगुणा तदाज्ञयोपनिबद्धाः। अत एव वक्ष्यति—

"एतद्वोऽयं भृगुः शास्त्रं श्रावयिष्यत्यशेषतः।" (अ. १ श्लो. ५९) इति।

अतो युज्यत एव स पृष्टः प्रत्युवाचेति। मनूपदिष्टधर्मोपनिबद्धत्वाच्च। [3]मानवीयसंहितेति व्यपदेशः ॥ ४ ॥

श्रूयतामित्युपक्षिप्तमर्थमाह—

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥ ५ ॥

यह संसार (प्रलयकालमें) तम में लीन, अज्ञेय, चिह्नरहित, प्रमाणादि तर्कोंसे हीन अत एव अविज्ञेय तथा सर्वत्र सोये हुए के समान था ॥ ५ ॥

ननु मुनीनां धर्मविषयप्रश्ने तत्रैवोत्तरं दातुमुचितं तत्कोऽयमप्रस्तुतः प्रलयदशायां कारणे लीनस्य जगतः सृष्टिप्रकरणावतारः ? अत्र मेधातिथिः समादधे—'शास्त्रस्य महाप्रयोजनत्वम-

---

१. 'वेदान्तानां' क० २. 'सर्वज्ञ' इति नास्ति क०। ३. 'च' नास्ति क०।

नेन सर्वेण प्रतिपाद्यते। ब्रह्माद्याः स्थावरपर्यन्ताः संसारगतयो धर्माधर्मनिमित्ता अत्र प्रतिपाद्यन्ते—"तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्महेतुना।" (अ. १ श्लो. ४९) इति।
वक्ष्यति च—"एता दृष्ट्वाऽस्य जीवस्य गतीः स्वेनैव चेतसा।
धर्मतोऽधर्मतश्चैव धर्मे दध्यात्सदा मनः" ॥ (अ० १२ श्लो० २३) इति।

ततश्च निरतिशयैश्वर्यहेतुर्धर्मस्तद्विपरीतश्चाधर्मस्तद्रूपपरिज्ञानार्थमिदं शास्त्रं महाप्रयोजनमध्येतव्यमित्य[1]ध्यायतात्पर्यम् इत्यन्तेन। गोविन्दराजस्यापीदमेव समाधानम्। नैतन्मनोहरम्। धर्मस्वरूपप्रश्ने यद्धर्मस्य फलकीर्तनं तदप्यप्रस्तुतम्। धर्मोक्तिमात्राद्धि शास्त्रमर्थवत्। किञ्च—"कर्मणां फलनिर्वृत्तिं शंसेत्युक्ते महर्षिभिः।
द्वादशे वक्ष्यमाणा सा वक्तुमादौ न युज्यते ॥"

इदं तु वदामः। मुनीनां धर्मविषये प्रश्ने जगत्कारणतया ब्रह्मप्रतिपादनं धर्मकथनमेवेति नाप्रस्तुताभिधानम्, आत्मज्ञानस्यापि धर्मरूपत्वात्। मनुनैव—
"धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
[2]धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥" (अ० ६ श्लो० ९२)

इति दशविधधर्माभिधाने विद्याशब्दवाच्यमात्मज्ञानं धर्मत्वेनोक्तम्। महाभारतेऽपि—
"आत्मज्ञानं तितिक्षा च धर्मः साधारणो नृप।"

इत्यात्मज्ञानं धर्मत्वेनोक्तम्। याज्ञवल्क्येन तु परमधर्मत्वेन। यदुक्तम्—
"इज्याचारदमाहिंसा दानं स्वाध्यायकर्म च।
अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ॥" (अ. १ श्लो. ८) इति।

जगत्कारणत्वं च ब्रह्मलक्षणम्। अत एव ब्रह्ममीमांसायाम्—"अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" (व्या. सू. १।१।१) इति सूत्रानन्तरं ब्रह्मलक्षणकथनाय "जन्माद्यस्य यतः" (व्या. सू. १।१।२) इति द्वितीयसूत्रं भगवान्बादरायणः प्रणिनाय। अस्य जगतो [3]यतो जन्मादि सृष्टिस्थितिप्रलयमिति सूत्रार्थः। तथा च श्रुतिः—"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्म" इति प्राधान्येन जगदुत्पत्तिस्थितिलयनिमित्तोपादानब्रह्मप्रतिपादनम्। आत्मज्ञानरूपपरमधर्मावगमाय प्रथमाध्यायं कृत्वा संस्कारादिरूपं धर्मं तदङ्गतया द्वितीयाध्यायादिक्रमेण वक्ष्यतीति न कश्चिद्विरोधः। किञ्च प्रश्नोत्तरवाक्यानामेव स्वरसादयं मदुक्तोऽर्थो लभ्यते तथा हि—

"धर्मे पृष्टे मनुर्ब्रह्म जगतः कारणं ब्रुवन्।
आत्मज्ञानं परं धर्मं वित्तेति व्यक्तमुक्तवान् ॥
प्राधान्यात्प्रथमाध्याये साधु तस्यैव कीर्तनम्।
धर्मोऽन्यस्तु तदङ्गत्वाद्युक्तो वक्तुमनन्तरम् ॥"

इदमित्यध्यक्षेण सर्वस्य प्रतिभासमानत्वाज्जगन्निर्दिश्यते। इदं जगत् तमोभूतं तमसि स्थितं लीनमासीत्। तमःशब्देन गुणवृत्त्या प्रकृतिर्निर्दिश्यते तम इव तमः। यथा तमसि लीनाः पदार्था अध्यक्षेण न प्रकाश्यन्त एवं प्रकृतिलीना अपि भावा नावगम्यन्त इति गुणयोगः। प्रलयकाले सूक्ष्मरूपतया प्रकृतौ लीनमासीदित्यर्थः। तथा च श्रुतिः-"तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रे" (ऋ. सं० १०।१२९।३) इति। प्रकृतिरपि ब्रह्मात्मनाऽव्याकृताऽऽसीत्। अत एव अप्रज्ञातमप्रत्यक्षं सकलप्रमाणश्रेष्ठतया प्रत्यक्षगोचरः प्रज्ञात इत्युच्यते तन्न भवतीत्यप्रज्ञा-

---

१. 'इत्याद्य' क०। २. 'ह्रीर्विद्या' क०। ३. 'यतो' नास्ति क०।

तम् । अलक्षणमननुमेयं लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षणं लिङ्गं तदस्य नास्तीति अलक्षणम् , अप्रतर्क्यं तर्कयितुमशक्यं तदानीं वाचकस्थूलशब्दभावाच्छब्दतोऽप्य[1]विज्ञेयम् । एतदेव च प्रमाणत्रयं सतर्कं द्वादशाध्याये मनुनाऽभ्युपगतम् । अत एवाविज्ञेयमित्यर्थापत्त्याऽऽद्यगोचरमिति धरणीधरस्यापि[2] व्याख्यानम् । न च नासीदेवेति वाच्यम् , तदानीं श्रुतिसिद्धत्वात् । तथा च श्रूयते—[3]"तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्" (बृ० उ० १।४।७) छान्दोग्योपनिषच्च—"सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" (६।२।१) इदं जगत्सदेवासीत् । ब्रह्मात्मना आसीदित्यर्थः । सच्छब्दो ब्रह्मवाचकः । अत एव प्रसुप्तमिव सर्वतः । प्रथमार्थे तसिः । स्वकार्याक्षममित्यर्थः ॥ ५ ॥

अथ किमभूदित्याह—

ततः स्वयंभूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम् ।
महाभूतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः ॥ ६ ॥

तब स्वयम्भू अव्यक्त अगोचर अपरिमित सामर्थ्यवाले और अन्धकार दूर करनेवाले भगवान् आकाशादि महाभूतोंको व्यक्त करते हुए प्रकट हुए ॥ ६ ॥

ततः प्रलयावसानानन्तरं स्वयंभूः परमात्मा स्वयं भवति स्वेच्छया शरीरपरिग्रहं करोति, न त्वितरजीववत्कर्मायत्तदेहः । तथा च श्रुतिः—"स एकधा भवति द्विधा भवति" भगवान् ऐश्वर्यादि[4]-संपन्नः । अव्यक्तो बाह्यकरणागोचरः । योगाभ्यासावसेय इति यावत् । इदं महाभूतादि आकाशादीनि महाभूतानि, आदिग्रहणान्महदादीनि च व्यञ्जयन्नव्यक्तावस्थं प्रथमं सूक्ष्मरूपेण ततः स्थूलरूपेण प्रकाशयन् । वृत्तौजाः वृत्तमप्रतिहतमुच्यते । अत एव "वृत्तिसर्गतायनेषु क्रमः" (पा. सू. १।३।३८) इत्यत्र वृत्तिरप्रति[5]घात इति व्याख्यातं जयादित्येन । वृत्तमप्रतिहतमोजः सृष्टिसामर्थ्यं यस्य स तथा । तमोनुदः प्रकृतिप्रेरकः ।तदुक्तं भगवद्गीतायाम्—"मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्" (अ. ९ श्लो. १०) इति । प्रादुरासीत्प्रकाशितो बभूव । तमोनुदः प्रलयावस्थाध्वंसक इति तु मेधातिथिगोविन्दराजौ ॥ ५ ॥

योऽसावतीन्द्रियग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः ।
सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्बभौ ॥ ७ ॥

जो परमात्मा अतीन्द्रिय, सूक्ष्मस्वरूप, अव्यक्त, नित्य और सब प्राणियोंके आत्मा अत एव अचिन्त्य हैं; वे ही परमात्मा स्वयं प्रकट हुए ॥ ७ ॥

योऽसाविति सर्वनामद्वयेन सकललोकवेदपुराणेतिहासादिप्रसिद्धं परमात्मानं निर्दिशति अतीन्द्रियग्राह्यः इन्द्रियमतीत्य वर्तत इत्यतीन्द्रियं मनस्तद्ग्राह्य इत्यर्थः । यदाह व्यासः—

"नैवासौ चक्षुषा ग्राह्यो न च शिष्टैरपीन्द्रियैः ।
मनसा तु[6] प्रयत्नेन गृह्यते सूक्ष्मदर्शिभिः ॥"

सूक्ष्मो बहिरिन्द्रियागोचरः । अव्यक्तो व्यक्तिरवयवस्तद्रहितः । सनातनो नित्यः । सर्वभूतमयः सर्वभूतात्मा । अत एवाचिन्त्यः इयत्तया परिच्छेत्तुमशक्यः । स एव स्वयम् उद्बभौ महदादिकार्यरूपतया प्रादुर्बभूव । उत्पूर्वो भातिः प्रादुर्भावे वर्तते, धातूनामनेकार्थत्वात् ॥

---

१. 'शब्देनापि' क० । २. 'अपि' ख० । ३. 'तद्धेदं' क० । ४. 'ऐश्वर्यसंपन्नः' क० ।
५. 'अप्रतिबन्धः' क० । ६. 'प्रसन्नेन' क० ।

सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात्सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः ।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥ ८ ॥

उस परमात्माने अनेक प्रकारकी प्रजाओंकी सृष्टि करनेकी इच्छासे ध्यानकर सबसे पहले जल की ही सृष्टि की और उसमें शक्तिरूपी बीजको छोड़ा ॥ ८ ॥

स परमात्मा नानाविधाः प्रजाः सिसृक्षुरभिध्यायापो जायन्तामित्यभिध्यानमात्रेणाप एव ससर्ज। अभिध्यानपूर्विकां सृष्टिं वदतो मनोः प्रकृतिरेवाचेतनाऽस्वतन्त्रा परिणमत इत्ययं पक्षो न संमतः, किंतु ब्रह्मैवाव्याकृतशक्त्याऽऽत्मना जगत्कारणमिति [1]त्रिदण्डिवेदान्तसिद्धान्त एवाभिमतः प्रतिभाति । तथा च छान्दोग्योपनिषत्—"तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय" इति । अत एव शारीरकसूत्रकृता व्यासेन सिद्धान्तितम् "ईक्षतेर्नाशब्दम्" (व्या. सू. १।१।५) इति । ईक्षतेरीक्षणश्रवणान्न प्रधानं जगत्कारणम् । अशब्दं न विद्यते शब्दः श्रुतिर्यस्य तदशब्दमिति सूत्रार्थः। स्वाच्छरीरादव्याकृतरूपादव्याकृतमेव भगवद्भास्करीयवेदान्तदर्शने प्रकृतिः, तदेव तस्य च शरीरम् । अव्याकृतशब्देन पञ्चभूतबुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियप्राणमनःकर्माविद्यावासना एव सूक्ष्मरूपतया शक्त्याऽऽत्मना स्थिता अभिधीयन्ते । अव्याकृतस्य च ब्रह्मणा सह भेदाभेदस्वीकाराद् ब्रह्माद्वैतं, शक्त्याऽऽत्मना च ब्रह्म जगद्रूपतया परिणमत इत्युभयमप्युपपद्यते । आदौ स्वकार्यभूमिब्रह्माण्डसृष्टेः प्राक् । अपां सृष्टिश्चेयं महदहंकारतन्मात्रक्रमेण बोद्धव्या । महाभूतादि व्यञ्जयन्निति पूर्वाभिधानादनन्तरमपि महदादिसृष्टेर्वक्ष्यमाणत्वात् । तास्वप्सु बीजं शक्तिरूपम् आरोपितवान् ॥ ८ ॥

तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम् ।
तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ॥ ९ ॥

वह बीज सहस्रों सूर्योंके समान प्रकाशवाला, सुवर्ण के समान शुद्ध अण्डा हो गया; उसमें सम्पूर्ण लोकोंकी सृष्टि करनेवाले ब्रह्मा उत्पन्न हुए ॥ ९ ॥

तद्बीजं परमेश्वरेच्छया हैममण्डमभवत् । हैममिव हैमं शुद्धिगुणयोगान्न तु हैममेव, तदीयैकशकलेन भूमिनिर्माणस्य वक्ष्यमाणत्वात् । भूमेश्चाहैमत्वस्य प्रत्यक्षत्वादुपचाराश्रयणम् । सहस्रांशुरादित्यस्तत्तुल्यप्रभं तस्मिन्नण्डे हिरण्यगर्भो जातवान् । येन पूर्वजन्मनि हिरण्यगर्भोऽहमस्मीति भेदाभेदभावनया परमेश्वरोपासना कृता तदीयं लिङ्गशरीरावच्छिन्नजीवमनुप्रविश्य स्वयं परमात्मैव हिरण्यगर्भरूपतया प्रादुर्भूतः । सर्वलोकानां पितामहो जनकः, सर्वलोकपितामह इति वा तस्य नाम ॥ ९ ॥

इदानीमागमप्रसिद्धनारायणशब्दार्थनिर्वचनेनोक्तमेवार्थं द्रढयति—

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः ।
ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः ॥ १० ॥
[नारायणपरोऽव्यक्तादण्डमव्यक्तसंभवम् ।
अण्डस्यान्तस्त्विमे लोकाः सप्तद्वीपात्र मेदिनी ॥ ४ ॥]

जलको 'नारा' कहते हैं, क्योंकि वह नर (रूप परमात्मा) की सन्तान है । वह 'नारा' (जल) परमात्माका प्रथम निवास स्थान है, इस कारण परमात्मा 'नारायण' कहे जाते हैं ॥१०॥

---

१. 'त्रिदण्ड' क० ।

[अतिशय अन्धकार युक्त और अव्यक्त संसाररूपी व्यक्त वह अण्ड नारायणसे उत्पन्न हुआ, उस अण्ड के भीतर ये लोक और सात द्वीपोंवाली पृथ्वी थी ॥ ४ ॥]

आपो नाराशब्देनोच्यन्ते। अप्सु नाराशब्दस्याप्रसिद्धेस्तदर्थमाह—यतस्ता नराख्यस्य परमात्मनः सूनवोऽपत्यानि। "तस्येदम्" (पा. सू. ४।३।१२०) इत्यण्प्रत्ययः। यद्यपि अणि कृते ङीप्प्रत्ययः प्राप्तस्तथापि छान्दसलक्षणैरपि[1] स्मृतिषु व्यवहारात् "सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते" इति पाक्षिको ङीप्प्रत्ययस्तस्याभावपक्षे सामान्यलक्षणप्राप्ते[2] टापि कृते नारा इति रूपसिद्धिः[3]। आपोऽस्य परमात्मनो ब्रह्मरूपेणावस्थितस्य पूर्वमयनमाश्रय इत्यसौ नारायण इत्यागमेष्वाम्नातः। गोविन्दराजेन तु आपो नरा इति पठितं व्याख्यातं च—नरायण इति प्राप्ते "अन्येषामपि दृश्यते" (पा. सू. ६।३।१३७) इति दीर्घत्वेन नारायण इति रूपम्। अन्ये त्वापो नारा इति पठन्ति ॥ १० ॥

यत्तत्कारणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम्।
तद्विसृष्टः स पुरुषो लोके ब्रह्मेति कीर्त्यते ॥ ११ ॥

वह जो अत्यन्त प्रसिद्ध सबका कारण है, नित्य है, सत् तथा असत् स्वरूप है; उससे उत्पन्न पुरुष लोकमें 'ब्रह्मा' कहा जाता है ॥ ११ ॥

यत्तदितिसर्वनामभ्यां लोकवेदादिसर्वप्रसिद्धं परमात्मानं निर्दिशति। कारणं सर्वोत्पत्तिमताम्। अव्यक्तं बहिरिन्द्रियागोचरम्। नित्यं उत्पत्तिविनाशरहितम्। वेदान्तसिद्धत्वात्सत्स्वभावं प्रत्यक्षाद्यगोचरत्वादसत्स्वभावमिव। अथवा सद् भावजातम्, असद् अभावस्तयोरात्मभूतम्। तथा च श्रुतिः—"ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्" (छा. उ. ६।८।६) इति। तद्विसृष्टस्तेनोत्पादितः स पुरुषः सर्वत्र ब्रह्मेति कीर्त्यते ॥ ११ ॥

तस्मिन्नण्डे स भगवानुषित्वा परिवत्सरम्।
स्वयमेवात्मनो ध्यानात्तदण्डमकरोद् द्विधा ॥ १२ ॥

ब्रह्मा ने उस अण्डेमें एक वर्ष (३६० ब्रह्मदिन) निवास कर अपने ध्यानके द्वारा उस अण्डेको दो टुकड़े कर दिये ॥ २२ ॥

तस्मिन् पूर्वोक्तेऽण्डे स ब्रह्मा वक्ष्यमाणब्रह्ममानेन संवत्सरमुषित्वा स्थित्वा आत्मनैवाण्डं द्विधा भवत्वित्यात्मगतध्यानमात्रेण तदण्डं द्विखण्डं कृतवान् ॥ १२ ॥

ताभ्यां स शकलाभ्यां च दिवं भूमिं च निर्ममे।
मध्ये व्योम दिशश्चाष्टावपां स्थानं च शाश्वतम् ॥ १३ ॥
[वैकारिकं तैजसं च तथा भूतादिमेव च।
एकमेव त्रिधाभूतं महानित्येव संस्थितम् ॥ ५ ॥
इन्द्रियाणां समस्तानां प्रभवं प्रलयं तथा।]

ब्रह्माने उस अण्डेके उन दो टुकड़ोंसे स्वर्ग तथा पृथ्वी की सृष्टि की और बीचमें आकाश, आठ दिशाओं तथा जलका आश्रय अर्थात् समुद्रकी सृष्टि की ॥ १३ ॥

[वैकारिक, तैजस तथा भूत आदिकी सृष्टि की। तीन खण्डोंमें विभक्त एक ही अण्डा 'महान्' कहलाया और सम्पूर्ण इन्द्रियों की उत्पत्ति तथा नाश की उस ब्रह्माने सृष्टि की ॥ ५ ॥]

१, 'लक्षणैरेव' क०। २. 'प्राप्ते' नास्ति क०। ३. 'सिद्धेः' क०।

शकलं खण्डं ताभ्यामण्डशकलाभ्याम्, उत्तरेण दिवं स्वर्लोकमधरेण भूलोकम् उभयोर्मध्ये आकाशं दिशश्चान्तरालदिग्भिः सहाष्टौ समुद्राख्यम् अपां स्थानं स्थिरं निर्मितवान् ॥ १३ ॥

इदानीं महदादिक्रमेणैव जगन्निर्माणमिति दर्शयितुं [1]तत्सृष्टिमाह—

उद्बबर्हात्मनश्चैव मनः सदसदात्मकम् ।
मनसश्चाप्यहंकारमभिमन्तारमीश्वरम् ॥ १४ ॥

ब्रह्माने परमात्मासे सत्-असत् आत्मावाले 'मन' की सृष्टि की तथा मनसे पहले 'अहम्' इस अभिमानसे युक्त एवं अपने कार्य को करनेमें समर्थ अहङ्कारकी सृष्टि की ॥ १४ ॥

ब्रह्मा आत्मनः परमात्मनः[2] सकाशात्तेन रूपेण मन उद्धृतवान्, [3]परमात्मन एव ब्रह्मस्वरूपेणोत्पन्नत्वात्। परमात्मन एव च मनःसृष्टिर्वेदान्तदर्शने, न प्रधानात्। तथा च श्रुतिः—

"एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च ।
खं वायुर्ज्योतिरापश्च पृथ्वी विश्वस्य धारिणी ॥" (मु. उ. २।१।३)

मनश्च श्रुतिसिद्धत्वाद्युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिलिङ्गाच्च सत् अप्रत्यक्षत्वादसदि[4]व। मनसः पूर्वमहंकारतत्त्वम् अहमित्यभिमानाख्यकार्ययुक्तम् ईश्वरं स्वकार्यकरणक्षमम् ॥ १४ ॥

महान्तमेव चात्मानं सर्वाणि त्रिगुणानि च ।
विषयाणां ग्रहीतॄणि शनैः पञ्चेन्द्रियाणि च ॥ १५ ॥
[अविशेषान् विशेषांश्च विषयांश्च पृथग्विधान् ॥ ६ ॥]

तथा अहङ्कारसे पहले आत्मोपकारक 'महत्' तत्त्वकी तथा सम्पूर्ण सत्त्व, रजस् और तमस् से युक्त विषयोंकी और रूप-रस आदि विषयोंको ग्रहण करनेवाली नेत्रादि पांच ज्ञानेन्द्रियों तथा गुदा आदि पांच कर्मेन्द्रियोंकी तथा पांच शब्दतन्मात्रादियोंकी सृष्टि की ॥ १५ ॥

[सृष्टिके सामान्य तथा विशेष विषयों की पृथक् २ सृष्टि भी उसी 'अहङ्कार' से की ॥ ६ ॥]

महान्तमिति महदाख्यतत्त्वमहंकारात्पूर्वं परमात्मना एवाव्याकृतशक्तिरूपप्रकृतिसहितादुद्धृतवान्। आत्मन उत्पन्नत्वात् आत्मानमात्मोपकारकत्वाद्वा। यान्यभिहितानि अभिधास्यन्ते च तान्युत्पत्तिमन्ति सर्वाणि सत्त्वरजस्तमोगुणयुक्तानि विषयाणां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धानां ग्राहकाणि शनैः क्रमेण वेदान्तसिद्धेन श्रोत्रादीनि द्वितीयाध्यायवक्तव्यानि पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि, चशब्दात्पञ्च पाय्वादीनि कर्मेन्द्रियाणि शब्दतन्मात्रादीनि च पञ्चोत्पादितवान्। नन्वभिध्यानपूर्वकसृष्ट्यभिधानाद्वेदान्तसिद्धान्त एव मनोरभिमत इति प्रागुक्तं तन्न संगच्छते। इदानीं महदादिक्रमेण सृष्ट्यभिधानाद्वेदान्तदर्शनेन च[5] परमात्मन एवाकाशादिक्रमेण सृष्टिरुक्ता। तथा च तैत्तिरीयोपनिषत्—"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी" (२।१।१) इति। उच्यते, प्रकृतितो महदादिक्रमेण सृष्टिरिति भगवद्भास्करीयदर्शनेऽप्युपपद्यत इति तद्विदो व्याचक्षते। अव्याकृतमेव प्रकृतिरिष्यते, तस्य च सृष्ट्युन्मुखत्वं सृष्ट्याद्यकालयोग[6]रूपं तदेव महत्तत्त्वं, ततो बहु स्यामित्यभिमानात्मकेक्षणकालयोगित्वमव्याकृतस्याहंकारतत्त्वम्। तत आकाशादिपञ्चभूतसूक्ष्माणि क्रमेणोत्पन्नानि ततस्तेभ्य एव स्थूलान्युत्प-

१. 'तत्तत्सृष्टि' ख०। २. 'परमात्मनः' नास्ति क०। ३. 'परमात्मन एव ब्रह्मस्वरूपेण उत्पन्नत्वात्' नास्ति क०। ४. 'असदिति' ख०। ५. 'च' नास्ति क०। ६. 'योगि' क०।

न्नानि पञ्च महाभूतानि सूक्ष्मस्थूलक्रमेणैव कार्योदयदर्शनादिति न विरोधः। अव्याकृतगुणत्वेऽपि सत्त्वरजस्तमसां सर्वाणि त्रिगुणानीत्युपपद्यते। भवतु वा सत्त्वरजस्तमःसमतारूपैव मूलप्रकृतिः, भवन्तु च तत्त्वान्तराण्येव महदहंकारतन्मात्राणि, तथापि प्रकृतिर्ब्रह्मणोऽनन्येति मनोः स्वरसः। यतो वक्ष्यति—

"सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।" (अ० १२ श्लो० ९१) इति।

तथा—"एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना।
स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माभ्येति परं पदम्॥" (अ० १२ श्लो०। १२५।)। इति॥

तेषां त्ववयवान्सूक्ष्मान्षण्णामप्यमितौजसाम्।
सन्निवेश्यात्ममात्रासु सर्वभूतानि निर्ममे॥ १६॥

अनन्त शक्तिवाले पूर्वोक्त उन ६ के सूक्ष्म अवयवोंको उन्हींके अपने २ विकारोंमें मिलाकर सब प्राणियोंकी सृष्टि की॥ १६॥

तेषां षण्णां पूर्वोक्ताहंकारस्य तन्मात्राणां च ये सूक्ष्मा अवयवास्तान् आत्ममात्रासु षण्णां स्वविकारेषु योजयित्वा मनुष्यतिर्यक्स्थावरादीनि सर्वभूतानि परमात्मा निर्मितवान्। तत्र तन्मात्राणां विकारः पञ्चमहाभूतानि अहंकारस्येन्द्रियाणि पृथिव्यादिरूपतया[1] परिणतेषु तन्मात्राहंकारयोजनां कृत्वा सकलस्य कार्यजातस्य निर्माणम्। अत एवामितौजसामनन्तकार्यनिर्माणेनातिवीर्यशालिनाम्॥ १६॥

यन्मूर्त्यवयवाः सूक्ष्मास्तस्येमान्याश्रयन्ति षट्।
तस्माच्छरीरमित्याहुस्तस्य मूर्तिं मनीषिणः॥ १७॥

प्रकृति युक्त उस ब्रह्मकी मूर्तिके शब्दादि पांच तन्मात्राएँ तथा अहङ्कार-ये छः सूक्ष्म अवयव हैं तथा कर्मभावसे उसका आश्रय करते हैं, इसी कारण लोग ब्रह्मकी मूर्तिको 'शरीर' कहते हैं॥ १७॥

यस्मान्मूर्तिः शरीरं तत्संपादका अवयवाः सूक्ष्मास्तन्मात्राहङ्काररूपाः। षट् तस्य ब्रह्मणः सप्रकृतिकस्य इमानि वक्ष्यमाणानि भूतानीन्द्रियाणि च पूर्वोक्तानि कार्यत्वेनाश्रयन्ति॥ तन्मात्रेभ्यो भूतोत्पत्तेः अहङ्काराच्च इन्द्रियोत्पत्तेः। तथा च पठन्ति—

"प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि॥" (सांख्यकारिका २२)

तस्मात्तस्य ब्रह्मणो या मूर्तिः स्वभावस्तां तथा परिणतामिन्द्रियादिशालिनीं लोकाः शरीरमिति वदन्ति। षडाश्रयणाच्छरीरमिति शरीरनिर्वचनेनानेन पूर्वोक्तोत्पत्तिक्रम एव दृढीकृतः॥ १७॥

तदाविशन्ति भूतानि महान्ति सह कर्मभिः।
मनश्चावयवैः सूक्ष्मैः सर्वभूतकृदव्ययम्॥ १८॥

विनाशरहित एवं सब भूतोंके कर्ता उस ब्रह्मसे अपने-अपने कर्मोंसे युक्त पञ्चमहाभूत आकाश आदि और सूक्ष्म अवयवोंके साथ मनकी सृष्टि हुई॥ १८॥

---

१. 'पृथिव्यादिभूतेषु शरीररूपतया' ख०।

पूर्वश्लोके तस्येति प्रकृतं ब्रह्मात्र तदिति परामृश्यते। तद् ब्रह्म शब्दादिपञ्चतन्मात्रात्मनाऽवस्थितं महाभूतान्याकाशादीनि आविशन्ति तेभ्य उत्पद्यन्ते। सह कर्मभिः स्वकार्यैस्तत्राकाशस्यावकाशदानं कर्म, वायोर्व्यूहनं विन्यासरूपं, तेजसः पाकोऽपां संग्रहणं पिण्डीकरणरूपं, पृथिव्या धारणम्। अहङ्कारात्मनावस्थितं ब्रह्म मन आविशति। अहंकाराद्धुत्पद्यत इत्यर्थः। अवयवैः स्वकार्यैः शुभाशुभसङ्कल्पसुखदुःखादिरूपैः सूक्ष्मैर्बहिरिन्द्रियागोचरैः सर्वभूतकृत्सर्वोत्पत्तिनिमित्तं मनोजन्यशुभाशुभकर्मप्रभवत्वाज्जगतः। अव्ययविनाशि ॥ १८ ॥

तेषामिदं तु सप्तानां पुरुषाणां महौजसाम्।
सूक्ष्माभ्यो मूर्तिमात्राभ्यः संभवत्यव्ययाद् व्ययम् ॥ १९ ॥

फिर विनाशरहित उस ब्रह्मसे महाशक्तियुक्त सात पुरुषों की सूक्ष्म मूर्तिके अंशोंसे विनाशशील यह संसार उत्पन्न हुआ ॥ १९ ॥

तेषां पूर्वप्रकृतीनां महदहंकारतन्मात्राणां सप्तसंख्यानां पुरुषादात्मन उत्पन्नत्वात्तद्वृत्तिग्राह्यत्वाच्चापुरुषाणां महौजसां स्वकार्यसंपादनेन वीर्यवतां सूक्ष्मा या मूर्तिमात्राः शरीरसंपादकभागा[1]स्ताभ्य इदं जगन्नश्वरं संभवत्यनश्वराद्यत्कार्यं तद्विनाशि स्वकारणे लीयते। कारणं तु कार्यापेक्षया स्थिरम्। परमकारणं तु ब्रह्म नित्यमुपासनीयमित्येतद्दर्शयितुमनुवादः ॥ १९ ॥

आद्याद्यस्य गुणं त्वेषामवाप्नोति परः परः।
यो यो यावतिथश्चैषां स स तावद्गुणः स्मृतः ॥ २० ॥

उन पञ्चमहाभूतोंके गुणोंको आगे आगे वाले तत्त्व प्राप्त करते हैं, जो सत्त्व जितनी संख्याका पूरक है, उसके उतने गुण होते हैं ॥ २० ॥

एषामिति पूर्वतरश्लोके "तदाविशन्ति भूतानि" (अ. १ श्लो. १८) इत्यत्र भूतानां परामर्शः। तेषां चाकाशादिक्रमेणोत्पत्तिक्रमः, शब्दादिगुणवत्ता च वक्ष्यते। यत्राद्याद्यस्याकाशादेर्गुणं शब्दादिकं वाय्वादि परः परः प्राप्नोति। एतदेव स्पष्टयति—यो य इति। एषां मध्ये यो यो यावतां पूरणो यावतिथः "वतोरिथुक्" (पा. सू. ५ । २ । ५३) स स द्वितीयादिः द्वितीयो द्विगुणः तृतीयस्त्रिगुण इत्येवमादिर्मन्वादिभिः स्मृतः। एतेनैतदुक्तं भवति। आकाशस्य शब्दो गुणः, वायोः शब्दस्पर्शौ, तेजसः शब्दस्पर्शरूपाणि, अपां शब्दस्पर्शरूपरसाः, भूमेः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः। अत्र यद्यपि "नित्यवीप्सयोः" (पा. सू. ८ । १ । ४) इति द्विर्वचनेनाद्यस्याद्यस्येति प्राप्तं तथापि स्मृतीनां छन्दःसमानविषयत्वात् "सुपां सुलुक्"(पा. सू. ७ । १ । ३९) इति [2]सुब्लुक्। तेनाद्याद्यस्येति रूपसिद्धिः ॥ २० ॥

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे ॥ २१ ॥

हिरण्यगर्भ उसी ब्रह्माने सबोंके नाम कर्म तथा लौकिक व्यवस्था को पहले वेद-शब्दोंसे ही जानकर पृथक् पृथक् बनाये ॥ २१ ॥

स परमात्मा हिरण्यगर्भरूपेणावस्थितः सर्वेषां नामानि गोजातेर्गौरिति, अश्वजातेरश्व इति। कर्माणि ब्राह्मणस्याध्ययनादीनि, क्षत्रियस्य प्रजारक्षादीनि पृथक् पृथक् यस्य पूर्व-

---

१. 'संपादका भागाः' क । २. 'प्रथमाद्यस्य सुब्लुक्' ख० ।

कल्पे यान्यभूवन्। आदौ सृष्ट्यादौ वेदशब्देभ्य एवावगम्य निर्मितवान्। भगवता व्यासेनापि वेदमीमांसायां वेदपूर्विकैव जगत्सृष्टिर्व्युत्पादिता। तथा च शारीरकसूत्रम्—"शब्द इति चेन्नातः प्रभवात्प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्" (व्या. सू. १।३।२८) अस्यार्थः—देवतानां विग्रहवत्त्वे वैदिके वस्वादिशब्दे देवतावाचिनि विरोधः स्याद्वेदस्यादिमत्त्वप्रसङ्गादिति चेत्? नास्ति विरोधः। कस्मात्? अतः शब्दादेव जगतः प्रभवादुत्पत्तेः प्रलयकालेऽपि सूक्ष्मरूपेण परमात्मनि वेदराशिः स्थितः स इह कल्पादौ हिरण्यगर्भस्य परमात्मन एव [1]प्रथमदेहिमूर्तेर्मनस्यवस्थान्तरमनापन्नः सुप्तप्रबुद्धस्येव प्रादुर्भवति। तेन प्रदीपस्थानीयेन सुरनरतिर्यगादिप्रविभक्तं जगदभिधेयभूतं निर्मिमीते। कथमिदं गम्यते? प्रत्यक्षानुमानाभ्यां श्रुतिस्मृतिभ्यामित्यर्थः। प्रत्यक्षं श्रुतिरनपेक्षत्वात्। अनुमानं स्मृतिरनुमीयमानश्रुतिसापेक्षत्वात्। तथा च श्रुतिः—"एत [2]इति वै प्रजापतिर्देवानसृजतासृग्रमिति [3]मनुष्यानिन्दव इति पितॄंस्तिरःपवित्रमिति ग्रहानाशव इति स्तोत्रं विश्वानीति शस्त्रमभिसौभगेत्यन्याः प्रजाः"। स्मृतिस्तु "सर्वेषां तु स नामानि" (अ. १ श्लो. २१) इत्यादिका मन्वादिप्रणीतैव। पृथक्संस्थाश्चेति। लौकिकीश्च व्यवस्थाः कुलालस्य घटनिर्माणं, कुविन्दस्य पटनिर्माणमित्यादिकविभागेननिर्मितवान्॥ २१॥

कर्मात्मनां च देवानां सोऽसृजत्प्राणिनां प्रभुः।
साध्यानां च गणं सूक्ष्मं यज्ञं चैव सनातनम्॥ २२॥

उस ब्रह्माने इन्द्रादि देव, कर्मस्वभाव प्राणी, अप्राणी पत्थर आदि, साध्यगण और सनातन यज्ञ की सृष्टि की॥ २२॥

स ब्रह्मा देवानां गणमसृजत्। प्राणिनामिन्द्रादीनां कर्माणि आत्मा स्वभावो येषां तेषामप्राणिनां च ग्रावादीनां [4]साध्यानां च देवविशेषाणां समूहं यज्ञं च ज्योतिष्टोमादिकं कल्पान्तरेऽप्यनुमीयमानत्वान्नित्यम्। साध्यानां च गणस्य पृथग्वचनं सूक्ष्मत्वात्॥ २२॥

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं [5]ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम्॥ २३॥

उस ब्रह्माने यज्ञों की सिद्धि के लिये अग्नि, वायु और सूर्यसे नित्य ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदको क्रमशः प्रकट किया॥ २३॥

ब्रह्मा ऋग्यजुःसामसंज्ञं वेदत्रयम् अग्निवायुरविभ्य आकृष्टवान्। सनातनं नित्यम्। वेदापौरुषेयत्वपक्ष एव मनोरभिमतः। पूर्वकल्पे ये वेदास्त एव परमात्ममूर्तेर्ब्रह्मणः सर्वज्ञस्य स्मृत्यारूढाः। तानेव कल्पादौ अग्निवायुरविभ्य आचकर्ष। श्रौतश्चायमर्थो न शङ्कनीयः। तथा च श्रुतिः–'अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेद आदित्यात्सामवेदः" (ऐ० ब्रा० ५।३२) इति। आकर्षणार्थत्वाद्दुहिधातोर्नाग्निवायुरवीणामकथितकर्मता किंत्वपादानतैव। यज्ञसिद्ध्यर्थं त्रयीसंपाद्यत्वाद्यज्ञानामापीनस्थक्षीरवद्विद्यमानानामेव वेदानामभिव्यक्तिप्रदर्शनार्थमाकर्षणवाचको गौणो दुहिः प्रयुक्तः॥ २३॥

कालं कालविभक्तीश्च नक्षत्राणि ग्रहांस्तथा।
सरितः सागराञ्छैलान्समानि विषमाणि च॥ २४॥

---

१. 'दैहिकमूर्तेः' क०। २. 'इति ह वै' क०। ३. 'असृग्र इति' क०। ४. 'देवानां साध्यानां' ख०। ५. 'ब्रह्म' ख०।

फिर उस ब्रह्माने समय, उनके विभाग, नक्षत्र, ग्रह, नदी, समुद्र पर्वत सम, विषम (तथा—) ॥ २४ ॥

अत्र ससर्जेत्युत्तरश्लोकवर्तिनी क्रिया सम्बध्यते। आदित्यादिक्रियाप्रचयरूपं कालं कालविभक्तीर्मासर्त्वयनाद्याः नक्षत्राणि कृत्तिकादीनि ग्रहान्सूर्यादीन् सरितो नदीः सागरान् समुद्रान् शैलान्पर्वतान् समानि समस्थानानि विषमाणि उच्चनीचरूपाणि ॥ २४ ॥

तपो वाचं रतिं चैव कामं च क्रोधमेव च।
सृष्टिं ससर्ज चैवेमां स्रष्टुमिच्छन्निमाः प्रजाः ॥ २५ ॥

तप, वाणी, रति, इच्छा और क्रोधकी सृष्टि की तथा इन प्रजाओं की सृष्टि करनेकी इच्छा करते हुए ब्रह्माने—॥ २५ ॥

तपः प्राजापत्यादि वाचं वाणीं रतिं चेतःपरितोषं काममिच्छां क्रोधं चेतोविकारम् इमामेतच्छ्लोकोक्तां पूर्वश्लोकोक्ताञ्च सृष्टिं चकार। सृज्यत इति सृष्टिः। कर्मणि क्तिन्। इमाः वक्ष्यमाणा देवादिकाः कर्तुमिच्छन् ॥ २६ ॥

कर्मणां च विवेकार्थं धर्माधर्मौ व्यवेचयत्।
द्वन्द्वैरयोजयच्चेमाः सुखदुःखादिभिः प्रजाः ॥ २६ ॥

कर्मोंकी विवेचनाके लिए धर्म और अधर्म को पृथक्-पृथक् बतलाया तथा इन प्रजाओंको सुख एवं दुःख आदि द्वन्द्वोंसे संयुक्त किया ॥ २६ ॥

धर्मो यज्ञादिः स च कर्तव्यः, अधर्मो ब्रह्मवधादिः स न कर्तव्यः इति कर्मणां विभागाय धर्माधर्मौ व्यवेचयत्पृथक्त्वेनाभ्यधात्। धर्मस्य फलं सुखम्, अधर्मस्य फलं दुःखम्। धर्माधर्मफलभूतैर्द्वन्द्वैः परस्परविरुद्धैः सुखदुःखादिभिरिमाः प्रजा योजितवान्। आदिग्रहणात्कामक्रोधरागद्वेषक्षुत्पिपासाशोकमोहादिभिः ॥ २६ ॥

अण्व्यो मात्रा विनाशिन्यो दशार्धानां तु याः स्मृताः।
ताभिः सार्धमिदं सर्वं संभवत्यनुपूर्वशः ॥ २७ ॥

पञ्चमहाभूतों की विनाशशील जो पञ्चतन्मात्रायें कहीं गयी हैं, उन्हींके साथ पहले कहे गये तथा आगे कहे जानेवाले ये सब क्रमशः उत्पन्न होते हैं ॥ २७ ॥

दशार्धानां पञ्चानां महाभूतानां याः सूक्ष्माः पञ्चतन्मात्ररूपा विनाशिन्यः पञ्चमहाभूतरूपतया विपरिणामिन्यः ताभिः सह उक्तं वक्ष्यमाणं चेदं सर्वमुत्पद्यते। अनुपूर्वशः क्रमेण सूक्ष्मात्स्थूलं[1] स्थूलात्स्थूलतरमिति। अनेन सर्वशक्तेर्ब्रह्मणो मानसी[2] इयमुक्ता वक्ष्यमाणा च सृष्टिः कदाचित्तत्त्वनिरपेक्षा स्यादितीमां शङ्कामपनिनीषुस्तद्द्वारेणैवेयं सृष्टिरिति मध्ये पुनः पूर्वोक्तं स्मारितवान् ॥ २७ ॥

यं तु कर्मणि यस्मिन्स न्ययुङ्क्त प्रथमं प्रभुः।
स तदेव स्वयं भेजे सृज्यमानः पुनः पुनः ॥ २८ ॥

उस ब्रह्माने जिस को जिस कर्म में पहले लगाया था, वार-वार सृज्यमान वह उसी कर्मको करने लगा ॥ २८ ॥

स प्रजापतिर्यं जातिविशेषं व्याघ्रादिकं यस्यां क्रियायां हरणमारणादिकायां सृष्ट्यादौ नियुक्तवान् स जातिविशेषः पुनः पुनरपि सृज्यमानः स्वकर्मवशेन तदेवाचरितवान्। एतेन

---

१. 'सूक्ष्मात्सूक्ष्मम्' क०। २. 'मानससृष्टिः' ख०।

प्राणिकर्मसापेक्षं प्रजापतेरुत्तमाधमजातिनिर्माणं न रागद्वेषाधीनमिति दर्शितम्। [1]अत एव वक्ष्यति—"यथाकर्म तपोयोगात्सृष्टं स्थावरजङ्गमम्" (अ० १ श्लो० ४१) इति॥ २८॥

एतदेव प्रपञ्चयति—

हिंस्राहिंस्रे मृदुक्रूरे धर्माधर्मावृतानृते।
यद्यस्य सोऽदधात्सर्गे तत्तस्य स्वयमाविशत्॥ २९॥

हिंसा, अहिंसा, मृदु, कठोर, धर्म, अधर्म, सत्य और असत्य को सृष्टिके प्रारम्भमें जिस जिसके लिये बनाया; वह वह बार-बार उसी उसीको अदृष्टवश स्वयं ही प्राप्त होने लगा॥ २९॥

हिंस्रं कर्म सिंहादेः करिमारणादिकम्। अहिंस्रं हरिणादेः। मृदु दयाप्रधानं विप्रादेः। क्रूरं क्षत्रियादेः[2]। धर्मो यथा ब्रह्मचार्यादेः गुरुशुश्रूषादि। अधर्मो यथा तस्यैव मांसमैथुनसेवनादिः। ऋतं सत्यं, तच्च प्रायेण देवानाम्। अनृतमसत्यं तदपि प्रायेण मनुष्याणाम्। तथा च श्रुतिः—"सत्यवाचो देवा अनृतवाचो मनुष्याः" इति। तेषां मध्ये यत्कर्म स[3] प्रजापतिः सर्गादौ यस्याधारयत्सृष्ट्युत्तरकालमपि स तदेव कर्म प्राक्तनादृष्टवशात्स्वयमेव भेजे॥ २९॥

अत्र दृष्टान्तमाह—

यथर्तुलिङ्गान्यृतवः स्वयमेवर्तुपर्यये।
स्वानि स्वान्यभिपद्यन्ते तथा कर्माणि देहिनः॥ ३०॥

जिस प्रकार षड् ऋतुएँ परिवर्तन होनेपर स्वयं ही अपने-अपने चिह्नों को प्राप्त करती हैं, उसी प्रकार देहधारी अपने-अपने कर्मों को स्वयं ही प्राप्त करते हैं॥ ३०॥

यथा वसन्तादिऋतव ऋतुचिह्नानि चूतमञ्जर्यादीनि ऋतुपर्यये स्वकार्यावसरे स्वयमेवाप्नुवन्ति तथा देहिनोऽपि हिंस्रादीनि[4] कर्माणि॥ ३०॥

लोकानां तु विवृद्ध्यर्थं मुखबाहूरुपादतः।
ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्तयत्॥ ३१॥

लोक-वृद्धिके लिये ब्रह्माने मुख, बाहु, ऊरु और पैरसे क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रकी सृष्टि की॥ ३१॥

भूरादीनां लोकानां बाहुल्यार्थं मुखबाहूरुपादेभ्यो ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रान्यथाक्रमं निर्मितवान्। ब्राह्मणादिभिः सायंप्रातरग्नावाहुतिः प्रक्षिप्ता सूर्यमुपतिष्ठते सूर्याद्वृष्टिर्वृष्टेरन्नमन्नात्प्रजाबाहुल्यम्। वक्ष्यति च—"अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यम्" (अ. १ श्लो. ७६) इत्यादि। दैव्या च शक्त्या मुखादिभ्यो ब्राह्मणादिनिर्माणं ब्रह्मणो न विशङ्कनीयं श्रुतिसिद्धत्वात्। तथा च श्रुतिः "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्" (ऋ० सं० १०।९०।१२) इत्यादि॥ ३१॥

द्विधा कृत्वाऽऽत्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत्।
अर्धेन नारी तस्यां च विराजमसृजत्प्रभुः॥ ३२॥

---

१. 'अतो वक्ष्यति' क०। २. 'क्रूरं क्षत्रियादेः' नास्ति क०। ३. 'स' नास्ति क०।
४. 'हिंस्राऽहिंस्रादीनि' क०।

वे ब्रह्मा अपने शरीरके दो भाग करके आधे भागसे पुरुष तथा आधे भागसे स्त्री हो गये, और उसी स्त्रीमें 'विराट्' संज्ञक पुरुषकी सृष्टि की ॥ ३२ ॥

स ब्रह्मा निजदेहं द्विखण्डं कृत्वा अर्धेन पुरुषो जातः अर्धेन स्त्री, तस्यां मैथुनधर्मेण विराट्संज्ञं पुरुषं निर्मितवान्। श्रुतिश्च—"ततो विराडजायत" (वाज० स० ३१।५) इति ॥ ३२ ॥

तपस्तप्त्वाऽसृजद्यं तु स स्वयं पुरुषो विराट्।
तं मां वित्तास्य सर्वस्य स्रष्टारं द्विजसत्तमाः ॥ ३३ ॥

हे महर्षिश्रेष्ठ ब्राह्मणो ! उस 'विराट्' पुरुषने तपस्या करके जिसको उत्पन्न किया, उसे इस संसारका रचयिता मनुको जानो ॥ ३३ ॥

स विराट् तपो विधाय यं निर्मितवान् तं मां मनुं जानीत। अस्य सर्वस्य जगतः स्रष्टारं भो द्विजसत्तमाः! एतेन स्वजन्मोत्कर्षसामर्थ्यातिशयावभिहितवान् लोकानां प्रत्ययितप्रत्यार्थम् ॥ ३३ ॥

अहं प्रजाः सिसृक्षुस्तु तपस्तप्त्वा सुदुश्चरम्।
पतीन्प्रजानामसृजं महर्षीनादितो दश ॥ ३४ ॥

प्रजापतियोंकी सृष्टि करनेका इच्छुक मैंने अत्यन्त कठिन तपश्चर्याकर पहले दश प्रजापतियों की सृष्टि की ॥ ३४ ॥

अहं प्रजाः स्रष्टुमिच्छन् सुदुश्चरं तपस्तप्त्वा दश प्रजापतीन्प्रथमं सृष्टवान्। तैरपि प्रजानां सृज्यमानत्वात् ॥ ३४ ॥

मरीचिमत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम्।
प्रचेतसं वसिष्ठं च भृगुं नारदमेव च ॥ ३५ ॥

मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, प्रचेता, वसिष्ठ, भृगु और नारद—॥ ३५ ॥

त एते दश प्रजापतयो नामतो निर्दिष्टाः ॥ ३५ ॥

एते मनूंस्तु सप्तान्यानसृजन्भूरितेजसः।
देवान्देवनिकायांश्च महर्षींश्चामितौजसः ॥ ३६ ॥

महातेजस्वी इन दश प्रजापतियों ने सात अन्य मनुओं, ब्रह्मासे पहले नहीं उत्पन्न किये गये देवों, उनके वासस्थानों तथा अपरिमित तेजस्वी महर्षियोंकी सृष्टि की ॥ ३६ ॥

एते मरीच्यादयो दश भूरितेजसो बहुतेजसोऽन्यान् सप्तापरिमिततेजस्कान् मनून्देवान् ब्रह्मणाऽसृष्टान् देवनिकायान् देवनिवासस्थानानि स्वर्गादीन्महर्षींश्च सृष्टवन्त। मनुशब्दोऽयमधिकारवाची। चतुर्दशसु मन्वन्तरेषु यस्य यत्र सर्गाद्यधिकारः तस्मिन्मन्वन्तरे स्वायंभुवस्वारोचिषादिनामभिर्मनुरिति व्यपदिश्यते ॥ ३६ ॥

यक्षरक्षःपिशाचांश्च गन्धर्वाप्सरसोऽसुरान्।
नागान्सर्पान्सुपर्णांश्च पितृणां च पृथग्गणान् ॥ ३७ ॥

यक्ष, राक्षस, पिशाच, गन्धर्व, अप्सराएं, असुर, नाग, सर्प, गरुड़, पितृगण—॥ ३७ ॥

एतेऽसृजन्निति पूर्वस्यैवात्रानुषङ्गः उत्तरत्र [1]श्लोकत्रये च। यक्षा[2] वैश्रवणादयस्तदनुचराश्च। रक्षांसि रावणादीनि। पिशाचास्तेभ्योऽपकृष्टा अशुचिमरुदेशनिवासिनः। गन्धर्वा-

---

१. 'श्लोकद्वये' ख०। २. 'यक्षं वैश्रवणः'।

श्चित्ररथादयः। अप्सरस उर्वश्याद्याः। असुरा विरोचनादयः। नागा वासुक्यादयः। सर्पास्ततोऽपकृष्टा अलगर्दादयः। सुपर्णा गरुडादयः। पितॄणामाज्यपादीनां गणः समूहः। एषां च भेद इतिहासादिप्रसिद्धो नाध्यक्षादिगोचरः॥ ३७॥

विद्युतोऽशनिमेघांश्च रोहितेन्द्रधनूंषि च।
उल्कानिर्घातकेतूंश्च ज्योतींष्युच्चावचानि च॥ ३८॥

तथा बिजली, वज्र, बादल, रोहित, इन्द्रधनुष, उल्का, निर्घात, धूमकेतु और अनेक प्रकारके ऊँची-नीची छोटी-बड़ी ताराओं, ध्रुव तथा अगस्त्य आदि—॥ ३८॥

मेघेषु दृश्यं दीर्घाकारं ज्योतिर्विद्युत्। मेघादेव यज्ज्योतिर्वृक्षादिविनाशकं तदशनिः। मेघाः प्रसिद्धाः। रोहितं दण्डाकारम्। नानावर्णं दिवि दृश्यते यज्ज्योतिस्तदेव वक्रमिन्द्रधनुः। उल्का रेखाकारमन्तरिक्षात्पतज्ज्योतिः। निर्घातो भूम्यन्तरिक्षगत उत्पातध्वनिः। केतवः शिखावन्ति ज्योतींषि उत्पातरूपाणि। अन्यानि ज्योतींषि ध्रुवागस्त्यादीनि नानाप्रकाराणि॥ ३८॥

किन्नरान्वानरान्मत्स्यान्विविधांश्च विहङ्गमान्।
पशून्मृगान्मनुष्यांश्च व्यालांश्चोभयतोदतः॥ ३९॥

किन्नर, वानर, अनेक प्रकार की मछलियां, पक्षी, पशु, मृग, सिंह, व्याघ्र आदि और दोनों ओर (ऊपर-नीचे) दांतवाले पशुओं—॥ ३९॥

किन्नरा अश्वमुखा देवयोनयो नरविग्रहाः। वानराः प्रसिद्धाः। मत्स्या रोहितादयः विहङ्गमाः पक्षिणः। पशवो गवाद्याः। मृगा हरिणाद्याः। व्यालाः सिंहाद्याः। उभयतोदतः द्वे दन्तपङ्क्ती येषामुत्तराधरे भवतः॥ ३९॥

कृमिकीटपतङ्गांश्च यूकामक्षिकमत्कुणम्।
सर्वं च दंशमशकं स्थावरं च पृथग्विधम्॥ ४०॥
[यथाकर्म यथाकालं यथाप्रज्ञं यथाश्रुतम्।
यथायुगं यथादेशं यथावृत्ति यथाक्रमम्॥ ७॥]

कृमि, बहुत छोटे कीड़े, कीट, पतङ्ग, जूँ, मक्खी, खटमल, सब प्रकारके दंश तथा मच्छर और अनेक प्रकारके स्थावरकी सृष्टि की॥ ४०॥

[प्राणियोंके कर्म, समय, बुद्धि, शास्त्र, युग, देश, आचार तथा कर्मके अनुसार उस ब्रह्माने सृष्टि की)॥ ७॥]

कीटाः कृमिभ्यः किञ्चित्स्थूलाः। पतङ्गाः शलभाः। यूकादयः प्रसिद्धाः। "क्षुद्रजन्तवः" (पा. सू. २।४।८) इत्यनेन एकवद्भावः। स्थावरं वृक्षलतादिभेदेन विविधप्रकारम्॥ ४०॥

एवमेतैरिदं सर्वं मन्नियोगान्महात्मभिः।
यथाकर्म तपोयोगात्सृष्टं स्थावरजङ्गमम्॥ ४१॥

इस प्रकार इन महात्माओं ने मेरे आदेशसे तपोबलद्वारा इन स्थावर तथा जङ्गम प्राणियोंकी सृष्टि उनके कर्मके अनुसार की॥ ४१॥

एवमित्युक्तप्रकारेण एतैर्मरीच्यादिभिरिदं सर्वं स्थावरजङ्गमं सृष्टम्। यथाकर्म यस्य जन्तोर्यादृशं कर्म तदनुरूपं तस्य देवमनुष्यतिर्यगादियोनिषूत्पादनं मन्नियोगान्मदाज्ञया। तपोयोगान्महत्तपः कृत्वा। सर्वमैश्वर्यं तपोधीनमिति दर्शितम्॥ ४१॥

येषां तु यादृशं कर्म भूतानामिह कीर्तितम् ।
तत्तथा वोऽभिधास्यामि क्रमयोगं च जन्मनि ॥ ४२ ॥

इस संसारमें जिस जीवका जो कर्म पूर्वाचार्योंने कहा है, उसे तथा उन जीवोंके क्रमको आपलोगों से मैं कहूँगा ॥ ४२ ॥

येषां पुनर्यादृशं कर्म इह संसारे पूर्वाचार्यैः कथितम् । यथा—
"ओषध्यः फलपाकान्ता बहुपुष्पफलोपगाः ।" (म. स्मृ. १।४६)
ब्राह्मणादीनां चाध्ययनादिकर्म, तत्तथैव वो युष्माकं वक्ष्यामि; जन्मादिक्रमयोगं च ॥४२॥

पशवश्च मृगाश्चैव व्यालाश्चोभयतोदतः ।
रक्षांसि च पिशाचाश्च मनुष्याश्च जरायुजाः ॥ ४३ ॥

पशु सिंह, मृग, आदि हिंसक जीव दोनों ओर दांतवाले, राक्षस, पिशाच और मनुष्य; ये सब जरायुज अर्थात् गर्भसे उत्पन्न होनेवाले जीव हैं ॥ ४३ ॥

जरायुर्गर्भावरणचर्म तत्र मनुष्यादयः प्रादुर्भवन्ति, पश्चान्मुक्ता जायन्ते । एषामेव जन्मक्रमः प्रागुक्तो विवृतः । दन्तशब्दसमानार्थो दच्छब्दः प्रकृत्यन्तरमस्ति तस्येदं प्रथमाबहुवचने रूपमुभयतोदत इति ॥ ४३ ॥

अण्डजाः पक्षिणः सर्पा नक्रा मत्स्याश्च कच्छपाः ।
यानि चैवं प्रकाराणि स्थलजान्यौदकानि च ॥ ४४ ॥

पक्षी, सर्प, मगर, मछली, कछुए तथा इस प्रकारके जो स्थलचर तथा जलचर जीव हैं; वे सब 'अण्डज' हैं ॥ ४४ ॥

अण्ड आदौ संभवन्ति ततो जायन्त इति एषां जन्मक्रमः । नक्राः कुम्भीराः । स्थलजानि कृकलासादीनि । औदकानि शङ्खादीनि ॥ ४४ ॥

स्वेदजं दंशमशकं यूकामक्षिकमत्कुणम् ।
ऊष्मणश्चोपजायन्ते यच्चान्यत्किंचिदीदृशम् ॥ ४५ ॥

दंश, मच्छर, जू, मक्खी, खटमल और इस प्रकारके जो अन्य जीव हैं; वे सब 'स्वेदज' हैं ॥ ४५ ॥

स्वेदः पार्थिवद्रव्याणां तापेन क्लेदः ततो दंशमशकादि जायते । ऊष्मणश्च स्वेदहेतुतापादपि अन्यद् दंशादिसदृशं पुत्तिका-पिपीलिकादि जायते ॥ ४५ ॥

उद्भिज्जाः स्थावराः सर्वे बीजकाण्डप्ररोहिणः ।
ओषध्यः फलपाकान्ता बहुपुष्पफलोपगाः ॥ ४६ ॥

बीज तथा शाखासे लगनेवाले लता तथा वृक्ष आदि स्थावर जीव 'उद्भिज्ज' हैं । फलके पकनेपर जिनका पौधा नष्ट हो जाता है और जिनमें बहुत फल-फूल लगते हैं; वे जीव 'ओषधि' कहलाते हैं ॥ ४६ ॥

उद्भेदनमुद्भित् । भावे क्विप् । ततो जायन्ते ऊर्ध्वं बीजं भूमिं च भित्त्वेत्युद्भिज्जा वृक्षाः । ते च द्विधा—केचिद्बीजादेव जायन्ते, केचित्काण्डात् शाखा एव रोपिता वृक्षतां यान्ति । इदानीं येषां यादृशं कर्म तदुच्यते—ओषध्य इति । ओषध्यो व्रीहियवादयः फलपाकेनैव नश्यन्ति बहुपुष्पफलयुक्ताश्च भवन्ति । ओषधिशब्दादेव "कृदिकारादक्तिनः" [ग० ४।१।४५] इति ङीपि दीर्घत्वे ओषध्य इति रूपम् ॥ ४६ ॥

अपुष्पाः फलवन्तो ये ते वनस्पतयः स्मृताः।
पुष्पिणः फलिनश्चैव वृक्षास्तूभयतः स्मृताः॥ ४७॥

विना फूल-लगे फलनेवाले को 'वनस्पति' और फूल लगनेके बाद फलनेवाले को 'वृक्ष' कहते हैं॥ ४७॥

नास्य श्लोकस्याभिधानकोशवत्संज्ञासंज्ञिसंबन्धपरत्वमप्रकृतत्वात्, किंतु "क्रमयोगं च जन्मनि" (म. स्मृ. १।४२) इति प्रकृतं तदर्थमिदमुच्यते। ये वनस्पतयस्तेषां पुष्पमन्तरेणैव फलजन्म, इतरेभ्यस्तु पुष्पाणि जायन्ते तेभ्यः फलानीति। एवं वृक्षा उभयरूपाः। प्रथमान्तात्तसिः॥ ४७॥

गुच्छगुल्मं तु विविधं तथैव तृणजातयः।
बीजकाण्डरुहाण्येव प्रताना वल्ल्य एव च॥ ४८॥

'गुच्छ' 'गुल्म' 'तृण' 'प्रतान' और 'वल्ली' ये सब बीज तथा डाल से लगते हैं॥ ४८॥

मूलत एव यत्र लतासमूहो भवति न च प्रकाण्डानि ते गुच्छा मल्लिकादयः। गुल्मा एकमूलाः संघातजाताः शरेक्षुप्रभृतयः। तृणजातय उलपाद्याः। प्रतानास्तन्तुयुक्तास्त्रपुषालाबूप्रभृतयः। वल्ल्यो गुडूच्यादय या भूमेर्वृक्षमारोहन्ति। एतान्यपि बीजकाण्डरुहाणि। "नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चास्यान्यतरस्याम्" (पा. सू. १।२।६९) इति नपुंसकत्वम्॥ ४८॥

तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्महेतुना।
अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः॥ ४९॥

पूर्व जन्मके कर्मोंके कारण अत्यधिक तमोगुणसे युक्त ये 'वृक्ष' आदि अन्तश्चेतनावाले तथा सुख-दुःखसे युक्त हैं॥ ४९॥

एते वृक्षादयस्तमोगुणेन विचित्रदुःखफलेनाधर्मकर्महेतुकेन व्याप्ता अन्तश्चैतन्या भवन्ति। यद्यपि सर्वे चान्तरेव चेतयन्ते तथापि बहिर्व्यापारादिकार्यविरहात्तथा व्यपदिश्यन्ते। त्रिगुणारब्धत्वेऽपि चैषां तमोगुणबाहुल्यात्तथा व्यपदेशः। अत एव सुखदुःखसमन्विताः। सत्त्वस्याविर्भावात्कदाचित्सुखलेशोऽपि जलधरजनितजलसंपर्कादेषां जायते॥ ४९॥

एतदन्तास्तु गतयो ब्रह्माद्याः समुदाहृताः।
घोरेऽस्मिन्भूतसंसारे नित्यं सततयायिनि॥ ५०॥

जन्म-मरणादिसे भयङ्कर तथा सर्वदा विनाशशील इस संसार में ब्रह्मासे लेकर स्थावरतक की गतियोंको मैंने कहा॥ ५०॥

स्थावरपर्यन्ता ब्रह्मोपक्रमा गतय उत्पत्तयः कथिताः। भूतानां क्षेत्रज्ञानां संसारे जन्ममरणप्रबन्धे दुःखबहुलतया भीषणे सदा विनश्वरे॥ ५०॥

इत्थं सर्गमभिधाय प्रलयदशामाह—

एवं सर्वं स सृष्ट्वेदं मां चाचिन्त्यपराक्रमः।
आत्मन्यन्तर्दधे भूयः कालं कालेन पीडयन्॥ ५१॥

अचिन्त्य सामर्थ्यवाले ब्रह्मा इस प्रकार मेरी तथा समस्त स्थावर एवं जङ्गम जीवोंकी सृष्टिकर प्रलयकालसे सृष्टिकालको नष्ट करते हुए अपनेमें अन्तर्धान हो गये॥ ५१॥

एवम् उक्तप्रकारेण। इदं सर्वं स्थावरजङ्गमं जगत्सृष्ट्वा स प्रजापतिरचिन्त्यशक्तिरात्मनि शरीरत्यागरूपमन्तर्धानं कृतवान्। सृष्टिकालं प्रलयकालेन नाशयन्प्राणिनां कर्मवशेन पुनः पुनः सर्गप्रलयान् करोतीत्यर्थः॥ ५१॥

अत्र हेतुमाह—

यदा स देवो जागर्ति तदेदं चेष्टते जगत् ।
यदा स्वपिति शान्तात्मा तदा सर्वं निमीलति ॥ ५२ ॥

जब वे ब्रह्मा जागते हैं, तब यह संसार चेष्टा करता है; और जब वे सोते हैं, तब यह संसार नष्ट हो जाता है ॥ ५२ ॥

यदा स प्रजापतिर्जागर्ति सृष्टिस्थिती इच्छति तदेदं जगत् श्वासप्रश्वासाहारादिचेष्टां लभते । यदा स्वपिति निवृत्तेच्छो भवति शान्तात्मा उपसंहारमनास्तदेदं जगत्प्रलीयते ॥५२॥

पूर्वोक्तमेव स्पष्टयति—

तस्मिन्स्वपति सुस्थे तु कर्मात्मानः शरीरिणः ।
स्वकर्मभ्यो निवर्तन्ते मनश्च ग्लानिमृच्छति ॥ ५३ ॥

स्वस्थ होकर उस ब्रह्माके सोनेपर अपने-अपने कर्मोंके द्वारा शरीरको प्राप्त करनेवाले देहधारी उनसे निवृत्त हो जाते हैं और उनका मन भी ग्लानि को प्राप्त करता है ॥ ५३ ॥

तस्मिन् प्रजापतौ निवृत्तेच्छे सुस्थे उपसंहृतदेहमनोव्यापारे कर्मलब्धदेहाः क्षेत्रज्ञाः स्वकर्मभ्यो देहग्रहणादिभ्यो निवर्तन्ते । मनः सर्वेन्द्रियसहितं वृत्तिरहितं भवति ॥ ५३ ॥

इदानीं महाप्रलयमाह—

युगपत्तु प्रलीयन्ते यदा तस्मिन्महात्मनि ।
तदाऽयं सर्वभूतात्मा सुखं स्वपिति निर्वृतः ॥ ५४ ॥

जब एक ही समयमें सब प्राणी उस परमात्मामें लीन हो जाते हैं, तब ये सम्पूर्ण जीव निवृत्त होकर सुखसे सोते हैं ॥ ५४ ॥

एकस्मिन्नेव काले यदा तस्मिन्परमात्मनि सर्वभूतानि प्रलयं यान्ति तदाऽयं सर्वभूतानामात्मा निर्वृतः निवृत्तजाग्रत्स्वप्नव्यापारः सुखं स्वपिति सुषुप्त इव भवति । यद्यपि नित्यज्ञानानन्दस्वरूपे परमात्मनि न स्वापस्तथापि जीवधर्मोऽयमुपचर्यते ॥ ५४ ॥

इदानीं प्रलयप्रसङ्गेन जीवस्योत्क्रमणमपि श्लोकद्वयेनाह—

तमोऽयं तु समाश्रित्य चिरं तिष्ठति सेन्द्रियः ।
न च स्वं कुरुते कर्म तदोत्क्रामति मूर्तितः ॥ ५५ ॥

जब यह जीव अज्ञानको आश्रय कर इन्द्रियोंके साथ बहुत समयतक रहता और अपना कर्म नहीं करता है, तब वह अपने शरीरसे निकल जाता है ॥ ५५ ॥

अयं जीवस्तमोज्ञाननिवृत्तिं प्राप्य बहुकालमिन्द्रियादिसहितस्तिष्ठति। न चात्मीयं कर्म श्वासप्रश्वासादिकं करोति तदा मूर्तितः पूर्वदेहादुत्क्रामति अन्यत्र गच्छति । लिङ्गशरीरावच्छिन्नस्य जीवस्य उद्गमात्तद्गमनमप्युपपद्यते । तथा चोक्तं बृहदारण्यके—"तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति। प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति" (४।४।२) । प्राणा इन्द्रियाणि ॥ ५५ ॥

कदा देहान्तरं गृह्णातीत्याह—

यदाणुमात्रिको भूत्वा बीजं स्थास्नु चरिष्णु च ।
समाविशति संसृष्टस्तदा मूर्तिं विमुञ्चति ॥ ५६ ॥

जब यह जीव अणुमात्रक होकर स्थिरताशील तथा गमनशील के बीजमें प्रवेश करता है, तब स्थूल देहको धारण करता है ॥ ५६ ॥

अण्व्यो मात्रा पुर्यष्टकरूपा यस्य सोऽणुमात्रिकः। पुर्यष्टकशब्देन भूतादीन्यष्टावुच्यन्ते। तदुक्तं सनन्देन—

"भूतेन्द्रियमनोबुद्धिवासनाकर्मवायवः।
अविद्या चाष्टकं प्रोक्तं पुर्यष्टमृषिसत्तमैः॥"

ब्रह्मपुराणेऽप्युक्तम्—

"पुर्यष्टकेन लिङ्गेन प्राणाद्येन स युज्यते।
तेन बद्धस्य वै बन्धो मोक्षो मुक्तस्य तेन तु॥"

यदाऽणुमात्रिको भूत्वा संपद्य स्थास्नु वृक्षादिहेतुभूतं, चरिष्णु मानुषादिकारणं वीजं प्रविशत्यधितिष्ठति तदा संसृष्टः पुर्यष्टकयुक्तो मूर्ति स्थूलदेहान्तरं कर्मानुरूपं विमुञ्चति गृह्णाति ॥ ५६ ॥

प्रासङ्गिकं जीवस्योत्क्रमणमभिधाय प्रकृतमुपसंहरति—

एवं स जाग्रत्स्वप्नाभ्यामिदं सर्वं चराचरम्।
सञ्जीवयति चाजस्रं प्रमापयति चाव्ययः॥ ५७॥

विनाशरहित वह ब्रह्मा अपनी जाग्रत तथा स्वप्न अवस्थाओंसे संसारको जिलाता और नष्ट करता है ॥ ५७ ॥

स ब्रह्मा अनेन प्रकारेण स्वीयजाग्रत्स्वप्नाभ्यामिदं स्थावरजङ्गमं संजीवयति मारयति च। अजस्रं सततम्। अव्ययः अविनाशी ॥ ५७ ॥

इदं शास्त्रं तु कृत्वाऽसौ मामेव स्वयमादितः।
विधिवद् ग्राहयामास मरीच्यादींस्त्वहं मुनीन्॥ ५८॥

उस ब्रह्माने इस शास्त्रको वनाकर पहले मुझे पढ़ाया और मैंने मरीचि आदि महर्षियोंको पढ़ाया ॥ ५८ ॥

असौ ब्रह्मा इदं शास्त्रं कृत्वा सृष्टयादौ मामेव विधिवच्छास्त्रोक्ताङ्गजातानुष्ठानेनाध्यापितवान्। अहं तु मरीच्यादीनध्यापितवान्। ननु ब्रह्मकृतत्वेऽस्य शास्त्रस्य कथं मानवव्यपदेशः?

अत्र मेधातिथिः—"शास्त्रशब्देन शास्त्रार्थो विधिनिषेधसमूह उच्यते। तं ब्रह्मा मनुं ग्राहयामास। मनुस्तु तत्प्रतिपादकं ग्रन्थं कृतवानिति न विरोधः।" अन्ये तु ब्रह्मकृतत्वेऽप्यस्य मनुना प्रथमं मरीच्यादिभ्यः स्वरूपतोऽर्थतश्च प्रकाशितत्वान्मानवव्यपदेशः वेदापौरुषेयत्वेऽपि काठकादिव्यपदेशवत्। इदं तूच्यते, ब्रह्मणा शतसाहस्रमिदं धर्मशास्त्रं कृत्वा मनुरध्यापित आसीत्ततस्तेन च स्ववचनेन संक्षिप्य शिष्येभ्यः प्रतिपादितमित्यविरोधः। तथा च नारदः "शतसाहस्रोऽयं ग्रन्थः' इति स्मरति स्म ॥ ५८ ॥

एतद्वोऽयं भृगुः शास्त्रं श्रावयिष्यत्यशेषतः।
एतद्धि मत्तोऽधिजगे सर्वमेषोऽखिलं मुनिः॥ ५९॥

ये भृगु मुनि यह सम्पूर्ण शास्त्र आप लोगोंको सुनावेंगे; (क्योंकि) भृगु ने इस सम्पूर्ण शास्त्र को मुझसे प्राप्त किया है ॥ ५९ ॥

एतच्छास्त्रमयं भृगुः युष्माकमखिलं कथयिष्यति। यस्मादेषोऽशेषमेतन्मत्तोऽधीतवान् ॥५९॥

ततस्तथा स तेनोक्तो महर्षिर्मनुना भृगुः।
तानब्रवीदृषीन्सर्वान्प्रीतात्मा श्रूयतामिति ॥ ६० ॥

इस प्रकार मनुसे आदेश प्राप्त किये हुए भृगु मुनि ने प्रसन्नचित्त होकर उन महर्षियोंसे कहा—सुनिए ॥ ६० ॥

स भृगुर्मनुना तथोक्तोऽयं श्रावयिष्यतीति यस्मादेषोऽधिजग इत्युक्तस्ततोऽनन्तरमनेकमुनिसन्निधौ गुरुसम्भावनया प्रीतमनास्तानृषीन् प्रत्युवाच श्रयतामिति ॥ ६० ॥

स्वायंभुवस्यास्य मनोः षड्वंश्या मनवोऽपरे।
सृष्टवन्तः प्रजाः स्वाः स्वा महात्मानो महौजसः ॥ ६१ ॥

इस स्वायम्भुव (ब्रह्माके पुत्र) मनुके वंशमें उत्पन्न महात्मा तथा पराक्रमी अन्यान्य ६ मनुओंने अपनी-अपनी प्रजाओंकी सृष्टि की ॥ ६१ ॥

ब्रह्मपुत्रस्यास्य मनोः षड्वंशप्रभवा अन्ये मनवः। एककार्यकारिणः स्वस्वकाले सृष्टिपालनादावधिकृताः स्वाः स्वाः प्रजा उत्पादितवन्तः ॥ ६१ ॥

स्वारोचिषश्चोत्तमश्च तामसो रैवतस्तथा।
चाक्षुषश्च महातेजा विवस्वत्सुत एव च ॥ ६२ ॥

स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष और महातेजस्वी वैवस्वत ॥ ६२ ॥

एते षेदेन मनवः षट् नामतो निर्दिष्टाः ॥ ६२ ॥

स्वायंभुवाद्याः सप्तैते मनवो भूरितेजसः।
स्वे स्वेऽन्तरे सर्वमिदमुत्पाद्यापुश्चराचरम् ॥ ६३ ॥

महातेजस्वी स्वायम्भुव आदि सात मनुओंने अपने-अपने अधिकारकालमें इस सम्पूर्ण चराचर जगत्को उत्पन्नकर इसका पालन किया ॥ ६३ ॥

स्वायंभुवप्रमुखाः सप्तामी मनवः स्वीयस्वीयाधिकारकाले इदं स्थावरजङ्गममुत्पाद्य पालितवन्तः ॥ ६३ ॥

इदानीमुक्तमन्वन्तरसृष्टिप्रलयादिकालपरिमाणपरिज्ञानायाह—

[कालप्रमाणं वक्ष्यामि यथावत्तन्निबोधत।]
निमेषा दश चाष्टौ च काष्ठा त्रिंशत्तु ताः कला।
त्रिंशत्कला मूहूर्तः स्यादहोरात्रं तु तावतः ॥ ६४ ॥

[समयके परिमाणको कहूँगा, उसे आपलोग यथाविधि मालूम करें ॥ ८ ॥]

१८ निमेषकी १ काष्ठा, ३० काष्ठाकी १ कला, ३० कलाका १ मुहूर्त और ३० मुहूर्तकी १ दिन-रात होती है ॥ ६४ ॥

अक्षिपक्ष्मणोः स्वाभाविकस्य कम्पस्य उन्मेषस्य सहकारी निमेषः। तेऽष्टादश काष्ठा नाम कालः। त्रिंशच्च काष्ठाः कलासंज्ञकः कालः। त्रिंशत्कला मुहूर्ताख्यः कालः। तावत्त्रिंशन्मुहूर्तान् अहोरात्रं कालं विद्यात्। तावत इति द्वितीयानिर्देशाद्विद्यादित्यध्याहारः ॥६४॥

अहोरात्रे विभजते सूर्यो मानुषदैविके।
रात्रिः स्वप्नाय भूतानां चेष्टायै कर्मणामहः ॥ ६५ ॥

मनुष्यों तथा देवताओंकी दिन-रातका विभाग सूर्य करता है, उनमें जीवोंके सोनेके लिये रात तथा कार्य करनेके लिये दिन होता है ॥ ६५ ॥

मानुषदैवसम्बन्धिनौ दिनरात्रिकालावादित्यः पृथक्करोति । तयोर्मध्ये भूतानां स्वप्नाय रात्रिर्भवति, कर्मानुष्ठानार्थं च दिनम् ॥ ६५ ॥

पित्र्ये रात्र्यहनी मासः प्रविभागस्तु पक्षयोः ।
कर्मचेष्टास्वहः कृष्णः शुक्लः स्वप्नाय शर्वरी ॥ ६६ ॥

मनुष्योंका १ महीना पितरोंकी १ दिन-रात होती है, उसमें दो पक्षोंका विभाग है अर्थात् दो पक्षोंका १ मास होता है; उनमें कृष्णपक्ष के १५ दिन पितरों के दिन तथा शुक्लपक्ष के १५ दिन रात होती है ॥ ६६ ॥

मानुषाणां मासः पितॄणामहोरात्रे भवतः । तत्र पक्षद्वयेन विभागः—कर्मानुष्ठानाय पूर्वपक्षोऽहः, स्वापार्थं शुक्लपक्षो रात्रिः ॥ ६६ ॥

दैवे रात्र्यहनी वर्षं प्रविभागस्तयोः पुनः ।
अहस्तत्रोदगयनं रात्रिः स्याद्दक्षिणायनम् ॥ ६७ ॥

मनुष्योंका १ वर्ष देवोंकी १ दिन-रात होती है, उसमें उत्तरायण देवोंका दिन और दक्षिणायन देवोंकी रात होती है ॥ ६७ ॥

मानुषाणां वर्षं देवानां रात्रिदिने भवतः । तयोरप्ययं विभागः—नराणामुदगयनं देवानामहः, तत्र प्रायेण दैवकर्मणामनुष्ठानम् । दक्षिणायनं तु रात्रिः ॥ ६७ ॥

ब्राह्मस्य तु क्षपाहस्य यत्प्रमाणं समासतः ।
एकैकशो युगानां तु क्रमशस्तन्निबोधत ॥ ६८ ॥

ब्रह्माकी दिनरातका और चारों युगोंका जो परिमाण है, उसे आप लोग संक्षेपमें सुनें—॥६८॥

ब्रह्मणोऽहोरात्रस्य यत्परिमाणं प्रत्येकयुगानां च कृतादीनां तत्क्रमेण समासतः संक्षेपतः श्रृणुत । प्रकृतेऽपि कालविभागे यद् ब्रह्मणोऽहोरात्रस्य पृथक् प्रतिज्ञानं तत्तदीयज्ञानस्य पुण्यफलज्ञानार्थम् । वक्ष्यति च "ब्राह्मं पुण्यमहर्विदुः" (म. स्मृ. १।७३) इति । तद्वेदनात्पुण्यं भवतीत्यर्थः ॥ ६८ ॥

चत्वार्याहुः सहस्राणि वर्षाणां तत्कृतं युगम् ।
तस्य तावच्छती संध्या संध्यांशश्च तथाविधः ॥ ६९ ॥

देवोंके ४००० वर्ष 'सत्ययुग' का काल-परिमाण है और देवोंके ४००–४०० वर्ष उस सत्ययुगके सन्ध्या तथा सन्ध्यांशका परिमाण है ॥ ६९ ॥

चत्वारि वर्षसहस्राणि कृतयुगकालं मन्वादयो वदन्ति । तस्य तावद्वर्षशतानि संध्या संध्यांशश्च भवति । युगस्य पूर्वा संध्या उत्तरश्च संध्यांशः । तदुक्तं विष्णुपुराणे—

"तत्प्रमाणैः शतैः संध्या पूर्वा तत्राभिधीयते ।
संध्यांशकश्च (श्चैव) तत्तुल्यो युगस्यानन्तरो हि यः (सः) ॥
संध्यासंध्यांशयोरन्तर्यः कालो मुनिसत्तम ।
युगाख्यः स तु विज्ञेयः कृतत्रेतादिसंज्ञकः (संज्ञितः) ॥"

(वि० पु० ३।१।१३–१४)

वर्षसंख्या चेयं दिव्यमानेन तस्यैवानन्तरप्रकृतत्वात्।

"दिव्यैर्वर्षसहस्रैस्तु कृतत्रेतादिसंज्ञितम्।
चतुर्युगं द्वादशभिस्तद्विभागं निबोध मे॥" (वि० पु० ३।१।११)

इति विष्णुपुराणवचनाच्च॥ ६९॥

इतरेषु ससंध्येषु ससंध्यांशेषु च त्रिषु।
एकापायेन वर्तन्ते सहस्राणि शतानि च॥ ७०॥

सत्ययुग के पूर्व सन्धिकाल और अन्तिम सन्धिकाल के सहित क्रमशः सत्ययुग के सन्ध्या और सन्ध्यांशमें से १००–१०० वर्ष प्रत्येक में क्रमशः कम करने से त्रेता, द्वापर और कलि का कालपरिमाण होता है॥ ७०॥

अन्येषु त्रेताद्वापरकलियुगेषु संध्यासंध्यांशसहितेषु एकहान्या सहस्राणि शतानि च भवन्ति। तेनैवं सम्पद्यते—त्रीणि वर्षसहस्राणि त्रेतायुगम्, तस्य त्रीणि वर्षशतानि सन्ध्या सन्ध्यांशश्च। एवं द्वे वर्षसहस्रे द्वापरः, तस्य द्वे वर्षशते सन्ध्या सन्ध्यांशश्च। एवं वर्षसहस्रं कलिः, तस्यैकवर्षशतं सन्ध्या सन्ध्यांशश्च॥ ७०॥

यदेतत्परिसंख्यातमादावेव चतुर्युगम्।
एतद् द्वादशसाहस्रं देवानां युगमुच्यते॥ ७१॥

मनुष्यों के जो यह चारों युगों का कालपरिमाण बतलाया गया है, वह चारों युगों का मिलित १२००० काल देवों का एक युग होता है॥ ७१॥

एतस्य श्लोकस्यादौ यदेतन्मानुषं चतुर्युगं परिगणितं एतद्देवानामेकं युगमुच्यते। चतुर्युगशब्देन सन्ध्यासन्ध्यांशयोरप्राप्तिशङ्कायामाह—एतद् द्वादशसाहस्रमिति। स्वार्थेऽण्। चतुर्युगैरेव द्वादशसंख्यैर्दिव्यं युगमिति तु[1] मेधातिथेर्भ्रमो नादर्तव्यः, मनुनाऽनन्तरं दिव्ययुगसहस्रेण ब्रह्माहस्याप्यभिधानात्। विष्णुपुराणे च मानुषचतुर्युगसहस्रेण ब्रह्माहकीर्तनान्मानुषचतुर्युगेनैव दिव्ययुगावगमनात्। तथा च विष्णुपुराणम्—

"कृतं त्रेता द्वापरं च कलिश्चेति चतुर्युगम्।
प्रोच्यते तत्सहस्रं तु ब्रह्मणो दिवसो मुने॥" (वि० पु० ३।१।१५) ७१॥

दैविकानां युगानां तु सहस्रं परिसंख्यया।
ब्राह्ममेकमहर्ज्ञेयं तावतीं रात्रिमेव च॥ ७२॥

देवों के १००० युग ब्रह्मा के दिनका कालपरिमाण और उतना ही रातका कालपरिमाण जानना चाहिये॥ ७२॥

देवयुगानां सहस्रं ब्राह्मं दिनं ज्ञातव्यम्। सहस्रमेव रात्रिः। परिसंख्ययेति श्लोकपूरणार्थोऽनुवादः॥ ७२॥

तद्वै युगसहस्रान्तं ब्राह्मं पुण्यमहर्विदुः।
रात्रिं च तावतीमेव तेऽहोरात्रविदो जनाः॥ ७३॥

---

१. यदेतच्चतुर्युगं परिसंख्यातं चत्वारि सहस्राणीत्यादिना निश्चितसंख्यमादौ प्रागेतच्छ्लोकस्य चतुर्युगस्य द्वादशभिः सहस्रैर्देवानां युगमुच्यते। द्वादशचतुर्युगसहस्राणि देवयुगं नाम काल इत्यर्थ इति।

देवों के उक्त १००० युगको ब्रह्माका पुण्य दिन और उतने ही परिमाणकी ब्रह्माकी पुण्य रात्रि होती है। उसे जो लोग जानते हैं, वे अहोरात्रके ज्ञाता कहे जाते हैं ॥ ७३ ॥

युगसहस्रेणान्तः समाप्तिर्यस्य तद् ब्राह्ममहस्तत्परिमाणां च रात्रिं ये जानन्ति तेऽहोरात्रज्ञा इति स्तुतिरियम्। स्तुत्या च ब्राह्ममहोरात्रं ज्ञातव्यमिति विधिः परिकल्प्यते। अत एव पुण्यहेतुत्वात्पुण्यमिति विशेषणं कृतम् ॥ ७३ ॥

तस्य सोऽहर्निशस्यान्ते प्रसुप्तः प्रतिबुध्यते।
प्रतिबुद्धश्च सृजति मनः सदसदात्मकम् ॥ ७४ ॥

वे ब्रह्मा अपने अहोरात्रके अन्तमें जागते और अपने मनको भूलोक आदिकी सृष्टि में लगाते हैं अथवा सत्-असत्-रूप मन अर्थात् महत्तत्त्वकी सृष्टि करते हैं ॥ ७४ ॥

स ब्रह्मा तस्य पूर्वोक्तस्य स्वीयाहोरात्रस्य समाप्तौ प्रतिबुद्धो भवति प्रतिबुद्धश्च स्वीयं मनः सृजति भूलोकादित्रयसृष्ट्ये नियुङ्क्ते न तु जनयति, तस्य महाप्रलयानन्तरं जातत्वादनष्टत्वाच्च। अवान्तरप्रलये भूलोकादित्रयमात्रनाशात् सृष्ट्यर्थं मनोनियुक्तिरेव मनःसृष्टिः। तथा च पुराणे श्रूयते—

"मनःसिसृक्षया युक्तं सर्गाय निदधे पुनः"। इति।

अथवा मनःशब्दोऽयं महत्तत्त्वपर एव। यद्यपि तन्महाप्रलयानन्तरमुत्पन्नं "महान्तमेव च" (म. स्मृ. १।१५) इत्यादिना सृष्टिरपि तस्योक्ता, तथाप्यनुक्तं भूतानामुत्पत्तिक्रमं तद्गुणांश्च कथयितुं महाप्रलयानन्तरितामेव महदादिसृष्टिं भूतसृष्टिं च हिरण्यगर्भस्यापि परमार्थत्वात्तत्कर्तृतामनुवदति। एतेनेदमुक्तं भवति। ब्रह्मा महाप्रलयानन्तरितसृष्ट्यादौ परमात्मरूपेण महदादितत्त्वानि जगत्सृष्ट्यर्थं सृजति। अत एव शेषे वक्ष्यति "इत्येषा सृष्टिरादितः" (म. स्मृ. १।७८) इति अवान्तरप्रलयानन्तरं तु मनःप्रभृतिसृष्टावभिधानक्रमेणैव प्राथम्यप्राप्तिरित्येषा सृष्टिरादित इति निष्प्रयोजनोऽनुवादः स्यात् ॥ ७४ ॥

मनः सृष्टिं विकुरुते चोद्यमानं सिसृक्षया।
आकाशं जायते तस्मात्तस्य शब्दं गुणं विदुः ॥ ७५ ॥

भू आदि लोकत्रयकी सृष्टि करनेकी इच्छासे प्रेरित मन सृष्टि करता है, उससे आकाश उत्पन्न होता है, उस आकाश का गुण 'शब्द' है ऐसा महर्षि कहते हैं ॥ ७५ ॥

मनो महत् सृष्टिं करोति परमात्मनः स्रष्टुमिच्छया प्रेर्यमाणम् तस्मादाकाशमुत्पद्यते। तच्च पूर्वोक्तानुसारादहङ्कारतन्मात्रक्रमेण। आकाशस्य शब्दं गुणं विदुर्मन्वादयः ॥ ७५ ॥

आकाशात्तु विकुर्वाणात्सर्वगन्धवहः शुचिः।
बलवाञ्जायते वायुः स वै स्पर्शगुणो मतः ॥ ७६ ॥

विकारोत्पादक उस आकाश से सर्वविध गन्धोंको धारण करनेवाली, पवित्र एवं शक्तिशाली जो वायु उत्पन्न होती है; वह 'स्पर्श' गुणवाली मानी गयी है ॥ ७६ ॥

आकाशात्तु विकारजनकात्सुरभ्यसुरभिगन्धवहः पवित्रो बलवांश्च वायुरुत्पद्यते। स च स्पर्शाख्यगुणवान्मन्वादीनां संमतः ॥ ७६ ॥

वायोरपि विकुर्वाणाद्विरोचिष्णु तमोनुदम्।
ज्योतिरुत्पद्यते भास्वत्तद्रूपगुणमुच्यते ॥ ७७ ॥

विकारोत्पादक वायुसे भी देदीप्यमान एवं अन्धकारनाशक जो ज्योति उत्पन्न होती है, वह 'रूप' गुणवाली कही गयी है ॥ ७७ ॥

वायोरपि तेज उत्पद्यते। विरोचिष्णु परप्रकाशकं, तमोनाशनं, भास्वत् प्रकाशकम्। तच्च रूपगुणमभिधीयते ॥ ७७ ॥

ज्योतिषश्च विकुर्वाणादापो रसगुणाः स्मृताः।
अद्भ्यो गन्धगुणा भूमिरित्येषा सृष्टिरादितः ॥ ७८ ॥
[परस्परानुप्रवेशाद्धारयन्ति परस्परम्।
गुणं पूर्वस्य पूर्वस्य धारयन्त्युत्तरोत्तरम् ॥ ८ ॥]

विकारजनक ज्योति से 'रस' गुणवाला 'जल' उत्पन्न होता है, पुनः जलसे 'गन्ध' गुणवाली भूमि उत्पन्न होती है। ये आकाश, वायु, ज्योति, जल तथा भूमि सृष्टिकी आदिके हैं ॥ ७८ ॥

[वे परस्परके अनुप्रवेश एक दूसरेसे सम्बद्ध होनेसे पूर्व-पूर्व के गुणों को आगे-आगेवाले धारण करते हैं ॥ ८ ॥]

तेजस आप उत्पद्यन्ते। ताश्च रसगुणयुक्ताः। अद्भ्यो गन्धगुणयुक्ता भूमिरित्येषा महाप्रलयानन्तरं सृष्ट्यादौ भूतसृष्टिः। तैरेव भूतैरवान्तरप्रलयानन्तरमपि भूरादिलोकभयनिर्माणम् ॥ ७८ ॥

यत्प्राग्द्वादशसाहस्रमुदितं दैविकं युगम्।
तदेकसप्ततिगुणं मन्वन्तरमिहोच्यते ॥ ७९ ॥

जो पहले १२००० दिव्य वर्ष 'देवोंका युग' कहा गया है, उससे इकहत्तर गुना कालपरिमाणको इस शास्त्रमें 'मन्वन्तर' कहा गया है ॥ ७९ ॥

यत्पूर्वं द्वादशवर्षसहस्रपरिमाणं सन्ध्यासन्ध्यांशसहितं मनुष्याणां चतुर्युगं देवानामेकं युगमुक्तं, तदेकसप्ततिगुणितं मन्वन्तराख्यः काल इह शास्त्रेऽभिधीयते। तत्रैकस्य मनोः सर्गाद्यधिकारः ॥ ७९ ॥

मन्वन्तराण्यसंख्यानि सर्गः संहार एव च।
क्रीडन्निवैतत्कुरुते परमेष्ठी पुनः पुनः ॥ ८० ॥

मन्वन्तर, सृष्टि और प्रलय; ये सभी असङ्ख्य हैं। दिव्य-स्थान-वासी ब्रह्मा क्रीडा करते हुए की तरह इस संसारकी सृष्टि बार-बार करते हैं ॥ ८० ॥

यद्यपि चतुर्दशमन्वन्तराणि पुराणेषु परिगण्यन्ते, तथापि सर्गप्रलयानामानन्त्यादसंख्यानि। आवृत्त्या सर्गः संहारश्चासंख्यः। एतत्सर्वं क्रीडन्निव प्रजापतिः पुनः पुनः कुरुते। सुखार्था हि प्रवृत्तिः क्रीडा। तस्य चाप्तकामत्वान्न सुखार्थितेति इवशब्दः प्रयुक्तः। परमे स्थानेऽनावृत्तिलक्षणे तिष्ठतीति परमेष्ठी। प्रयोजनं विना परमात्मनः सृष्ट्यादौ कथं प्रवृत्तिरिति चेल्लीलयैव। एवं स्वभावत्वादित्यर्थः। व्याख्यातुरिव करताडनादौ। तथा च शारीरकसूत्रम्—"लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्" (२।१।३३) ॥ ८० ॥

चतुष्पात्सकलो धर्मः सत्यं चैव कृते युगे।
नाधर्मेणागमः कश्चिन्मनुष्यान्प्रति वर्तते ॥ ८१ ॥

सत्ययुग में सब धर्म तथा सत्य चतुष्पाद था। अधर्मके द्वारा किसीको विद्या या धन आदिकी प्राप्ति नहीं थी ॥ ८१ ॥

सत्ययुगे सकलो धर्मश्चतुष्पात्सर्वाङ्गसम्पूर्ण आसीत्। धर्मे मुख्यपादासम्भवात् "वृषो हि भगवान्धर्मः" [विष्णुस्मृति, ८६।१५] इत्याद्यागमे वृषत्वेन कीर्तनात्तस्य पादचतुष्टयेन सम्पूर्णत्वात्सत्ययुगेऽपि धर्माणां सर्वैरङ्गैः समग्रत्वात्सम्पूर्णत्वपरोऽयं चतुष्पाच्छब्दः। अथवा तपःपरमित्यत्र मनुनैव तपोज्ञानयज्ञदानानां चतुर्णां कीर्तनात्तस्य पादचतुष्टयेन सम्पूर्णत्वात्पादत्वेन निरूपिताः सत्ययुगे समग्रा इत्यर्थः। तथा सत्यं च कृतयुगमासीत्। सकलधर्मश्रेष्ठत्वात्सत्यस्य पृथग्ग्रहणम्। तथा न शास्त्रातिक्रमेण धनविद्यादेरागम उत्पत्तिर्मनुष्यान्प्रति सम्पद्यते ॥ ८१ ॥

इतरेष्वागमाद्धर्मः पादशस्त्ववरोपितः।
चौरिकानृतमायाभिर्धर्मश्चापैति पादशः ॥ ८२ ॥

अन्य त्रेता आदि तीन युगों में अधर्म से धन-विद्यादिके उपार्जन से यज्ञ आदि धर्म प्रत्येक युगमें क्रमशः १-१ पादसे हीन हो गया तथा चोरी, असत्य और कपटसे आवृत होकर १-१ पाद कम होता गया ॥ ८२ ॥

सत्ययुगादन्येषु त्रेतादिषु आगमादधर्मेण धनविद्यादेरर्जनात्तस्यैव पूर्वश्लोके प्रकृतत्वात्। आगमाद्वेदादिति तु गोविन्दराजो मेधातिथिश्च। धर्मो यागादिः यथाक्रमं प्रतियुगं पादं पादमवरोपितो हीनः कृतस्तथा धनविद्यार्जितोऽपि यो धर्मः प्रचरति सोऽपि चौर्यासत्यच्छद्मभिः प्रतियुगं पादशो ह्रासाद्व्यपगच्छति। त्रेतादियुगैः सह चौरिकानृतच्छद्मनां न यथासंख्यम्, सर्वत्र सर्वेषां दर्शनात् ॥ ८२ ॥

अरोगाः सर्वसिद्धार्थाश्चतुर्वर्षशतायुषः।
कृते त्रेतादिषु ह्येषामायुर्ह्रसति पादशः ॥ ८३ ॥

सत्ययुगमें मनुष्य नीरोग, सर्वविध सिद्धियों तथा अर्थों से युक्त और ४०० वर्षकी आयुवाले होते हैं। तथा त्रेता आदि शेष तीन युगों में उन की आयु १-१ चरण अर्थात् १००-१०० वर्ष कम होती जाती है ॥ ८३ ॥

रोगनिमित्ताधर्माभावादरोगाः सर्वसिद्धकाम्यफलाः प्रतिबन्धकाधर्माभावाच्चतुर्वर्षशतायुषः। चतुर्वर्षशतायुष्ट्वं च स्वाभाविकम्। अधिकायुःप्रापकधर्मवशादधिकायुषोऽपि भवन्ति। तेन-

"दशवर्षसहस्राणि रामो राज्यमकारयत्।" [तु० वा० रा० १।१।९७]

इत्याद्यविरोधः। "शतायुर्वै पुरुषः" [ऐ० ब्रा० ४।१९] इत्यादिश्रुतौ तु शतशब्दो बहुत्वपरः कलिपरो वा। एवंरूपा मनुष्याः कृते भवन्ति त्रेतादिषु पुनः पादं पादमायुरल्पं भवतीति ॥ ८३ ॥

वेदोक्तमायुर्मर्त्यानामाशिषश्चैव कर्मणाम्।
फलन्त्यनुयुगं लोके प्रभावश्च शरीरिणाम् ॥ ८४ ॥

वेदों में कही गयी मनुष्यों की आयु, कर्मोंके फल तथा ब्राह्मण, ऋषि आदि के प्रभाव युगों के अनुसार होते हैं ॥ ८४ ॥

"शतायुर्वै पुरुषः" [ऐ० ब्रा० ४।१९] इत्यादिवेदोक्तमायुः, कर्मणां च काम्यानां फलविषयाः प्रार्थनाश्चाशिषः ब्राह्मणादीनां च शापानुग्रहक्षमत्वादिप्रभावो युगानुरूपेण फलन्ति ॥ ८४ ॥

अन्ये कृतयुगे[1]धर्मास्त्रेतायां द्वापरेऽपरे।
अन्ये कलियुगे नृणां युगह्रासानुरूपतः ॥ ८५ ॥

सत्य युग में दूसरे धर्म हैं तथा त्रेता, द्वापर और कलि में दूसरे-दूसरे धर्म हैं; इस प्रकार युगके अनुसार धर्मका ह्रास होता है ॥ ८५ ॥

कृतयुगेऽन्ये धर्मा भवन्ति। त्रेतादिष्वपि युगापचयानुरूपेण धर्मवैलक्षण्यम् ॥ ८५ ॥

तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते।
द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे ॥ ८६ ॥
[ब्राह्मं कृतयुगं प्रोक्तं त्रेता तु क्षत्रियं युगम्।
वैश्यो द्वापरमित्याहुः शूद्रः कलियुगः स्मृतः ॥ ९ ॥]

सत्य युगमें तप, त्रेतामें ज्ञान, द्वापरमें यज्ञ और कलिमें केवल दानको महर्षियों ने प्रधान धर्म कहा है ॥ ८६ ॥

[सत्ययुग ब्राह्मण, त्रेता क्षत्रिय, द्वापर वैश्य और कलि शूद्र कहे गये हैं ॥ ९ ॥]

यद्यपि तपःप्रभृतीनि सर्वाणि सर्वयुगेष्वनुष्ठेयानि तथापि सत्ययुगे तपः प्रधानं महाफलमिति ज्ञाप्यते। एवमात्मज्ञानं त्रेतायुगे, द्वापरे यज्ञः दानं कलौ ॥ ८६ ॥

सर्वस्यास्य तु सर्गस्य गुप्त्यर्थं स महाद्युतिः।
मुखबाहूरुपज्जानां पृथक्कर्माण्यकल्पयत् ॥ ८७ ॥

उस महातेजस्वी ब्रह्मा ने इस सम्पूर्ण सृष्टि की रक्षा के लिये ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के अलग-अलग कर्मोंकी सृष्टि की ॥ ८७ ॥

स ब्रह्मा महातेजा अस्य सर्गस्य समग्रस्य "अग्नौ प्रास्ताहुतिः" (म. स्मृ. ३।७६) इति न्यायेन रक्षार्थं मुखादिजातानां ब्राह्मणादीनां विभागेन कर्माणि दृष्टादृष्टार्थानि निर्मितवान् ॥ ८७ ॥

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥ ८८ ॥

पढ़ाना, पढ़ना, यज्ञ कराना, करना, दान देना और लेना, इस कर्मों को ब्राह्मणों के लिये बनाया ॥ ८८ ॥

अध्यापनादीनामिह सृष्टिप्रकरणे सृष्टिविशेषतयाऽभिधानं, विधिस्तेषामुत्तरत्र भविष्यति। अध्यापनादीनि षट् कर्माणि ब्राह्मणानां कल्पितवान् ॥ ८८ ॥

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः ॥ ८९ ॥

---

१. धर्मशब्दो न यागादिवचन एव किं तर्हि पदार्थगुणमात्रे वर्तते। अन्ये पदार्थानां धर्माः प्रतियुगं भवन्ति यथा कृतयुगे चतुर्वर्षशतायुष्टमित्यादि।

प्रजा की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, पढ़ना, विषय में आसक्ति नहीं रखना; संक्षेपमें इन कर्मों को क्षत्रियों के लिये बनाया ॥ ८९ ॥

प्रजारक्षणादीनि क्षत्रियस्य कर्माणि कल्पितवान्। 'विषयेषु गीतनृत्यवनितोपभोगादिष्वप्रसक्तिस्तेषां पुनःपुनरनासेवनम्। समासतः सङ्क्षेपेण ॥ ८९ ॥

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ॥ ९० ॥

पशुओं की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, पढ़ना, व्यापार करना, व्याज लेना और खेती करना; इन कर्मों को वैश्यों के लिये बनाया ॥ ९० ॥

पशूनां पालनादीनि वैश्यस्य कर्माणि कल्पितवान्। वणिक्पथं स्थलजलपथादिना वाणिज्यम्। कुसीदं वृद्ध्या धनप्रयोगः ॥ ९० ॥

एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया ॥ ९१ ॥

ब्रह्मा ने ब्राह्मण आदि तीनों वर्णों की अनिन्दक रहते हुए सेवा करना ही शूद्रोंके लिये प्रधान कर्म बनाया ॥ ९१ ॥

प्रभुर्ब्रह्मा शूद्रस्य ब्राह्मणादिवर्णत्रयपरिचर्यात्मकं कर्म निर्मितवान्। एकमेवेति प्राधान्यप्रदर्शनार्थम्, दानादेरपि तस्य विहितत्वात्। अनसूयया गुणानिन्दया ॥ ९१ ॥

इदानीं प्राधान्येन सर्गरक्षणार्थत्वाद् ब्राह्मणस्य तदुपक्रमधर्माभिधानत्वाच्चास्य शास्त्रस्य ब्राह्मणस्य स्तुतिमाह—

ऊर्ध्वं नाभेर्मेध्यतरः पुरुषः परिकीर्तितः।
तस्मान्मेध्यतमं त्वस्य मुखमुक्तं स्वयंभुवा ॥ ९२ ॥

(ब्रह्मा ने पुरुषको अन्य जीवोंसे श्रेष्ठ बतलाया, उसमें भी) पुरुषके नाभि से ऊपर के भाग को पवित्र बतलाया और नाभिसे ऊपरके भागमें भी अधिक पवित्र मुखको बतलाया ॥ ९२ ॥

सर्वत एव पुरुषो मेध्यः, नाभेरूर्ध्वमतिशयेन मेध्यः, ततोऽपि मुखमस्य मेध्यतमं ब्रह्मणोक्तम् ॥ ९२ ॥

ततः किमत आह—

उत्तमाङ्गोद्भवाज्ज्यैष्ठ्याद् ब्रह्मणश्चैव धारणात्।
सर्वस्यैवास्य सर्गस्य धर्मतो ब्राह्मणः प्रभुः ॥ ९३ ॥

ब्रह्मा के मुखसे उत्पन्न होने से ज्येष्ठ होनेसे, और वेदके धारण करनेसे धर्मानुसार ब्राह्मण ही सम्पूर्ण सृष्टि का स्वामी होता है ॥ ९३ ॥

उत्तमाङ्गं मुखं तदुद्भवत्वात् क्षत्रियादिभ्यः पूर्वोत्पन्नत्वादध्यापनव्याख्यानादिना युक्तस्यातिशयेन वेदधारणात्सर्वस्यास्य जगतो धर्मानुशासनेन ब्राह्मणः प्रभुः।
"संस्कारस्य विशेषात्तु वर्णानां ब्राह्मणः प्रभुः" [ ] ॥ ९३ ॥

कस्योत्तमाङ्गादयमुद्धृत इत्यत आह—

तं हि स्वयंभूः स्वादास्यात्तपस्तप्त्वादितोऽसृजत्।
हव्यकव्याभिवाह्याय सर्वस्यास्य च गुप्तये ॥ ९४ ॥

स्वयम्भू उस ब्रह्मा ने हव्य तथा कव्य को पहुँचाने के लिये और सम्पूर्ण सृष्टि की रक्षाके लिये तपस्या कर सर्वप्रथम ब्राह्मण को ही अपने मुख से उत्पन्न किया ॥ ९४ ॥

तं ब्राह्मणं ब्रह्मा आत्मीयमुखाद्दैवपित्र्ये हविःकव्ये [योः ?] वहनाय तपः कृत्वा सर्वस्य जगतो रक्षायै च क्षत्रियादिभ्यः प्रथमं सृष्टवान् ॥ ९४ ॥

पूर्वोक्तहव्यकव्यवहनं स्पष्टयति—

यस्यास्येन सदाश्नन्ति हव्यानि त्रिदिवौकसः ।
कव्यानि चैव पितरः किं भूतमधिकं ततः ॥ ९५ ॥

ब्राह्मण के मुख से देवतालोग हव्य को तथा पितर लोग कव्य को खाते हैं, अतः ब्राह्मण से अधिक श्रेष्ठ कौन प्राणी होगा ? ॥ ९५ ॥

यस्य विप्रस्य मुखेन श्राद्धादौ सर्वदा देवा हव्यानि पितरश्च कव्यानि भुञ्जते ततोऽन्यत्प्रकृष्टतमं भूतं किं भवेत् ॥ ९५ ॥

भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः ।
बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठा नरेषु ब्राह्मणाः स्मृताः ॥ ९६ ॥

भूतों में प्राणधारी जीव श्रेष्ठ हैं, प्राणियों में बुद्धिजीवी श्रेष्ठ हैं, बुद्धिजीवियों में मनुष्य श्रेष्ठ हैं और मनुष्यों में ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं ॥ ९६ ॥

भूतारब्धानां स्थावरजङ्गमानां मध्ये प्राणिनः कीटादयः श्रेष्ठाः । कदाचित्सुखलेशात् । तेषामपि बुद्धिजीविनः सार्थनिरर्थदेशोपसर्पणापसर्पणकारिणः पश्वादयः । तेभ्योऽपि मनुष्याः, प्रकृष्टज्ञानसंबन्धात् । तेभ्योऽपि ब्राह्मणाः, सर्वपूज्यत्वादपवर्गाधिकारयोग्यत्वाच्च ॥९६॥

ब्राह्मणेषु च विद्वांसो विद्वत्सु कृतबुद्धयः ।
कृतबुद्धिषु कर्तारः कर्तृषु ब्रह्मवेदिनः ॥ ९७ ॥
[तेषां न पूजनीयोऽन्यस्त्रिषु लोकेषु विद्यते ।
तपोविद्याविशेषेण पूजयन्ति परस्परम् ॥ १० ॥
ब्रह्मविद्भ्यः परं भूतं न किंचिदिह विद्यते ॥]

ब्राह्मणों में भी विद्वान् श्रेष्ठ हैं, विद्वानों में शास्त्रोक्त कर्तव्यमें बुद्धि रखनेवाले श्रेष्ठ हैं, इनमें भी शास्त्रोक्त कर्तव्य के अनुसार आचरण करनेवाले श्रेष्ठ हैं और उनमें भी ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण अधिक श्रेष्ठ हैं ॥९७॥

[तीनों लोकों में कोई भी ब्रह्मज्ञानियोंका पूज्य नहीं है । तपोविद्याविशेषसे वे आपसमें पूजते हैं ॥ १० ॥ इससे सिद्ध होता है कि—ब्रह्मज्ञानियों से बड़ा इस संसार में कुछ भी नहीं है ॥]

ब्राह्मणेषु तु मध्ये विद्वांसः, महाफलज्योतिष्टोमादिकर्माधिकारित्वात् । तेभ्योऽपि कृतबुद्धय अनागतेऽपि कृतं मयेति बुद्धिर्येषाम् । शास्त्रोक्तानुष्ठानेषूत्पन्नकर्तव्यताबुद्धय इत्यर्थः । तेभ्योऽपि अनुष्ठातारः, हिताहितप्राप्तिपरिहारभागित्वात् । तेभ्योऽपि ब्रह्मविदः, मोक्षलाभात् ॥ ९७ ॥

उत्पत्तिरेव विप्रस्य मूर्तिर्धर्मस्य शाश्वती ।
स हि धर्मार्थमुत्पन्नो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ९८ ॥

केवल ब्राह्मण की उत्पत्ति ही धर्मकी नित्य देह है; क्योंकि धर्मके लिए उत्पन्न ब्राह्मण मोक्षलाभ के योग्य होता है ॥ ९८ ॥

ब्राह्मणदेहजन्ममात्रमेव धर्मस्य शरीरमविनाशि। यस्मादसौ धर्मार्थं जातः धर्मानुगृहीतात्मज्ञानेन मोक्षाय संपद्यते ॥ ९८ ॥

ब्राह्मणो जायमानो हि पृथिव्यामधिजायते।
ईश्वरः सर्वभूतानां धर्मकोशस्य गुप्तये ॥ ९९ ॥

उत्पन्न होते ब्राह्मण ही पृथ्वीपर श्रेष्ठ माना जाता है; क्योंकि वह धर्म की रक्षाके लिये समर्थ होता है ॥ ९९ ॥

यस्माद् ब्राह्मणो जायमानः पृथिव्यामधि उपरि भवति श्रेष्ठ इत्यर्थः। सर्वभूतानां धर्मसमूहरक्षार्थं प्रभुः, ब्राह्मणोपदिष्टत्वात्सर्वधर्माणाम् ॥ ९९ ॥

सर्वं स्वं ब्राह्मणस्येदं यत्किंचिज्जगतीगतम्।
श्रैष्ठ्येनाभिजनेनेदं सर्वं वै ब्राह्मणोऽर्हति ॥ १०० ॥

पृथ्वीपर जो कुछ भी है, वह सब ब्राह्मणका है अर्थात् ब्राह्मण उसे अपने धनके समान मानता है। ब्रह्माके मुखसे उत्पन्न तथा कुलीन होनेके कारण यह सब धन ग्रहण करने का अधिकारी होता है ॥ १०० ॥

यत्किंचिज्जगद्वर्ति धनं तद् ब्राह्मणस्य स्वमिति स्तुत्योच्यते। स्वमिव स्वं न तु स्वमेव, ब्राह्मणस्यापि मनुनाऽस्तेयस्य वक्ष्यमाणत्वात। तस्माद् ब्रह्ममुखोद्भवत्वेनाभिजनेन श्रेष्ठतया सर्वं ब्राह्मणोऽर्हति सर्वग्रहणयोग्यो भवत्येव। वै अवधारणे ॥ १०० ॥

स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते स्वं वस्ते स्वं ददाति च।
आनृशंस्याद् ब्राह्मणस्य भुञ्जते हीतरे जनाः ॥ १०१ ॥

ब्राह्मण अपना ही खाता है, अपना ही पहनता है, अपना ही दान करता है तथा दूसरे व्यक्ति ब्राह्मणकी दयासे सब का भोग करते हैं ॥ १०१ ॥

यत्परस्याप्यन्नं ब्राह्मणो भुङ्क्ते, परस्य च वस्त्रं परिधत्ते, परस्य गृहीत्वाऽन्यस्मै ददाति, तदपि ब्राह्मणस्य स्वमिव। पूर्ववत्स्तुतिः। एवं सति ब्राह्मणस्य कारुण्यादन्ये भोजनादि कुर्वन्ति ॥ १०१ ॥

इदानीं प्रकृष्टब्राह्मणकर्माभिधायकतया शास्त्रप्रशंसां प्रक्रमते—

तस्य कर्मविवेकार्थं शेषाणामनुपूर्वशः।
स्वायंभुवो मनुर्धीमानिदं शास्त्रमकल्पयत् ॥ १०२ ॥

सर्वशास्त्रज्ञाता स्वयम्भूपुत्र मनु ने उस ब्राह्मण तथा शेष के कर्मज्ञान के लिए इस शास्त्रको बनाया ॥ १०२ ॥

ब्राह्मणस्य कर्मज्ञानार्थं शेषाणां क्षत्रियादीनां च स्वायंभुवो ब्रह्मपौत्रो धीमान्सर्वविषयज्ञानवान्मनुरिदं शास्त्रं विरचितवान् ॥ १०२ ॥

विदुषा ब्राह्मणेनेदमध्येतव्यं प्रयत्नतः।
शिष्येभ्यश्च प्रवक्तव्यं सम्यङ् नान्येन केनचित् ॥ १०३ ॥

विद्वान् ब्राह्मणको यह धर्मशास्त्र यत्नपूर्वक तथा शिष्योंको यथायोग्य पढ़ाना चाहिये, अन्य कोई इस शास्त्रको नहीं पढ़ावे ॥ १०३ ॥

एतच्छास्त्राध्ययनफलज्ञेन ब्राह्मणेन एतस्य शास्त्रस्य व्याख्यानाध्यापनोचितं प्रयत्नतोऽध्ययनं कर्तव्यं, शिष्येभ्यश्चेदं व्याख्यातव्यं, नान्येन क्षत्रियादिना। अध्ययनमात्रं तु व्याख्या-

नाध्यापनरहितं क्षत्रियवैश्ययोरपि "निषेकादिश्मशानान्तैः" (म. स्मृ. २।१६) इत्यादिना विधास्यते। अनुवादमात्रमेतदिति मेधातिथिमतम्। तन्न मनोहरम्, द्विजैरध्ययनं, ब्राह्मणेनैवाध्यापनव्याख्याने इत्यस्यालाभात्। यत्तु "अधीयीरंस्त्रयो वर्णाः" (म. स्मृ. १०।१) इत्यादि तद्वेदविषयमिति वक्ष्यति। विप्रेणैवाध्यापनमिति विधानेन संभवत्यप्यनुवादत्वमस्येति वृथा मेधातिथेर्ग्रहः ॥ १०३ ॥

इदं शास्त्रमधीयानो ब्राह्मणः शंसितव्रतः।
मनोवाग्देहजैर्नित्यं कर्मदोषैर्न लिप्यते ॥ १०४ ॥

इस शास्त्रको पढ़ता हुआ इसके अनुसार नित्य व्रतानुष्ठान करने वाला ब्राह्मण मानसिक, वाचिक और कायिक कर्म-दोषसे लिप्त नहीं होता अर्थात् उक्त दोषों से मुक्त हो जाता है ॥ १०४ ॥

इदं शास्त्रं पठेन्नतदीयमर्थं ज्ञात्वा शंसितव्रतोऽनुष्ठितव्रतः मनोवाक्कायसंभवैः पापैर्न संबध्यते ॥ १०४

पुनाति पङ्क्तिं वंश्यांश्च सप्त सप्त परावरान्।
पृथिवीमपि चैवेमां कृत्स्नामेकोऽपि सोऽर्हति ॥ १०५ ॥
[यथा त्रिवेदाध्ययनं धर्मशास्त्रमिदं तथा।
अध्येतव्यं ब्राह्मणेन नियतं स्वर्गमिच्छता ॥ ११ ॥]

वह ब्राह्मण पंक्तिको, अपने कुलमें उत्पन्न हुए तथा उत्पन्न होनेवाले सात पीढ़ियों तक के वंशजोंको पवित्र करता है और सम्पूर्ण पृथ्वीको भी ग्रहण करने के योग्य होता है ॥ १०५ ॥

[तीनों वेदोंके अध्ययनके समान इस धर्मशास्त्र का अध्ययन है; स्वर्ग के इच्छुक ब्राह्मण को अवश्य ही इसका अध्ययन करना चाहिये ॥ ११ ॥]

इदं शास्त्रमधीयान इत्यनुवर्तते। अपाङ्क्तेयोपहतां पङ्क्तिमानुपूर्व्या निविष्टजनसमूहं पवित्रीकरोति। वंशभवांश्च सप्त परान्पित्रादीन्, अवरांश्च पुत्रादीन्। पृथिवीमपि सर्वां सकलधर्मज्ञतया पात्रत्वेन ग्रहीतुं योग्यो भवति ॥ १०५ ॥

इदं स्वस्त्ययनं श्रेष्ठमिदं बुद्धिविवर्धनम्।
इदं यशस्यमायुष्यमिदं निःश्रेयसं परम् ॥ १०६ ॥

यह स्वस्त्ययन (धर्मशास्त्र) बुद्धिवर्द्धक, यशोवर्द्धक, आयुर्वर्द्धक और मोक्षका साधक है ॥ १०६ ॥

अभिप्रेतार्थस्याविनाशः स्वस्ति तस्यायनं प्रापकम् एतच्छास्त्रस्याध्ययनं स्वस्त्ययनं, जपहोमादिबोधकत्वाच्च श्रेष्ठं स्वस्त्ययनान्तरात्प्रकृष्टं, बुद्धिविवर्धनम् एतच्छास्त्राभ्या-

---

१. अध्येतव्यं प्रवक्तव्यमित्यर्हे कृत्यो न विधौ। द्वितीयादध्यायात्प्रभृति शास्त्रं प्रवर्तिष्यते। अयं ह्यध्यायोऽर्थवाद एव नात्र कश्चिद्विधिरस्ति। तेन यथा—'राजभोजनाः शालयः' इति शालिस्तुतिर्न राज्ञोऽन्यस्य तद्भोजननिषेधः। एवमत्रापि 'नान्येन केनचित्' इति नायं निषेधः, केवलं शास्त्रस्तुतिः। सर्वस्मिञ्जगति श्रेष्ठो ब्राह्मणः, सर्वशास्त्राणां शास्त्रञ्चेदम्, अतस्तादृशस्य विदुषो ब्राह्मणस्याऽध्ययनप्रवचनार्हं, न सामान्येन शक्यते अध्येतुं प्रवक्तुं वा। अत एवाह प्रयत्नत इति। यावन्न महान्प्रयत्न आस्थितः यावन्न शास्त्रान्तरैस्तर्कव्याकरणमीमांसादिभिः संस्कृत आत्मा तावदेतत्प्रवक्तुं न शक्यते। अत एव अध्ययनेन श्रवणं लक्ष्यते। तत्र हि विद्वत्तोपयोगिनी न संपाठे। विधौ ह्यध्ययने विद्वत्ताऽदृष्टायैव स्यान्न च विधौ श्रवमणध्ययनेन लक्ष्यत इति युक्तं वक्तुं, न विधेये लक्षणार्थता युक्ता। अर्थवादे तु प्रमाणान्तरानुसारेण गुणवादो न दोषाय। तस्मात्त्रैवर्णिकाधिकारं शास्त्रम्।

सेनाशेषविधिनिषेधपरिज्ञानात्। यशसे हितं यशस्यं, विद्वत्तया ख्यातिलाभात्परं प्रकृष्टम्। निःश्रेयसं निश्रेयसस्य मोक्षस्योपायोपदेशकत्वात् ॥ १०६ ॥

अस्मिन्धर्मोऽखिलेनोक्तो गुणदोषौ च कर्मणाम्।
चतुर्णामपि वर्णानामाचारश्चैव शाश्वतः ॥ १०७ ॥

इस धर्मशास्त्र में सम्पूर्ण धर्म, कर्मों के गुण तथा दोष और चारों वर्णों के सनातन आचार बतलाये गये हैं ॥ १०७ ॥

अस्मिन्शास्त्रे कार्त्स्न्येन धर्मोऽभिहित इति शास्त्रप्रशंसा। कर्मणां च विहितनिषिद्धानामिष्टानिष्टफले। वर्णचतुष्टयस्यैव पुरुषधर्मरूप आचारः शाश्वतः पारम्पर्यागतः। धर्मत्वेऽप्याचारस्य प्राधान्यख्यापनाय पृथङ्निर्देशः ॥ १०७ ॥

प्राधान्यमेव स्पष्टयति—

आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च।
तस्मादस्मिन्सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान्द्विजः ॥ १०८ ॥

वेदों तथा स्मृतियों में कहा गया आचार ही श्रेष्ठ धर्म है, आत्महिताभिलाषी द्विजको इस में प्रयत्नवान् होना चाहिये ॥ १०८ ॥

युक्तो यत्नवान् आत्महितेच्छुः। सर्वस्यात्मास्तीति आत्मशब्देन आत्महितेच्छा लक्ष्यते ॥ १०८ ॥

आचाराद्विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते।
आचारेण तु संयुक्तः संपूर्णफलभाग्भवेत् ॥ १०९ ॥

आचारभ्रष्ट ब्राह्मण वेद के फल को नहीं प्राप्त करता और आचारवान ब्राह्मण सम्पूर्ण वेदोक्त फलका भागी होता है ॥ १०९ ॥

आचाराद्विच्युतो विप्रो न वैदिकं फलं लभेत्। आचारयुक्तः पुनः समग्रफलभाग्भवति ॥१०९॥

एवमाचारतो दृष्ट्वा धर्मस्य मुनयो गतिम्।
सर्वस्य तपसो मूलमाचारं जगृहुः परम् ॥ ११० ॥

इस प्रकार आचारसे धर्मलाभ देखकर महर्षियों ने तपस्याके श्रेष्ठ मूल आचार का ग्रहण किया ॥ ११० ॥

उक्तप्रकारेणाचाराद्धर्मप्राप्तिमृषयो बुध्वा तपसश्चान्द्रायणादेः समग्रस्य कारणमाचारमनुष्ठेयतया गृहीतवन्तः। उत्तरत्र वक्ष्यमाणस्याचारस्येह स्तुतिः शास्त्रस्तुत्यर्था ॥ ११० ॥

इदानीं शिष्यस्य सुखप्रतिपत्तये वक्ष्यमाणार्थानुक्रमणिकामाह—

जगतश्च समुत्पत्तिं संस्कारविधिमेव च।
व्रतचर्योपचारं च स्नानस्य च परं विधिम् ॥ १११ ॥

संसारकी उत्पत्ति, संस्कारविधि, ब्रह्मचर्य आदि व्रतका आचरण और गुरुका अभिवादन सेवन आदि उपचार, ब्रह्मचर्य व्रतको समाप्त कर गुरुकुलसे गृहस्थाश्रम में प्रवेश करनेके पूर्व स्नानरूप संस्कार विशेषका श्रेष्ठ विधान ॥ १११ ॥

पाषण्डगणधर्मांश्चेत्यन्तं जगदुत्पत्तिर्यथोक्ता। ब्राह्मणस्तुतिश्च सर्गरक्षार्थत्वेन। ब्राह्मणस्य शास्त्रस्तुत्यादिकं च सृष्टावेवान्तर्भवति। एतत्प्रथमाध्यायप्रमेयम्। संस्काराणां जातकर्मादीनां विधिमनुष्ठानम्, ब्रह्मचारिणो व्रताचरणमुपचारं च गुर्वादीनामभिवादनोपास-

नादि। "सर्वो द्वन्द्वो विभाषयैकवद्भवति" [परिभाषा ३४] इत्येकवद्भावः। एतद्-द्वितीयाध्यायप्रमेयम्। स्नानं गुरुकुलान्निवर्तमानस्य संस्कारविशेषस्तस्य प्रकृष्टं विधानम् ॥ १११ ॥

दाराधिगमनं चैव विवाहानां च लक्षणम्।
महायज्ञविधानं च श्राद्धकल्पं च शाश्वतम् ॥ ११२ ॥

विवाह, आठ प्रकारके विवाहोंके लक्षण, महायज्ञ का विधान; श्राद्धकी नित्य विधि ॥ ११२ ॥

दाराधिगमनं विवाहः, तद्विशेषाणां ब्राह्मादीनां च लक्षणम्। महायज्ञाः पञ्च वैश्वदेवादयः। श्राद्धस्य विधिः शाश्वतः प्रतिसर्गमनादिप्रवाहप्रवृत्त्या नित्यः। एष तृतीयाध्यायार्थः ॥ ११२ ॥

वृत्तीनां लक्षणं चैव स्नातकस्य व्रतानि च।
भक्ष्याभक्ष्यं च शौचं च द्रव्याणां शुद्धिमेव च ॥ ११३ ॥

जीविकाओं के लक्षण, गृहाश्रमियों के नियम, भक्ष्य और अभक्ष्य शौच जल-मिट्टी आदि के द्वारा द्रव्यों की शुद्धि ॥ ११३ ॥

वृत्तीनां जीवनोपायानाम् ऋतादीनां लक्षणम्। स्नातकस्य गृहस्थस्य व्रतानि-नियमाः। एतच्चतुर्थाध्यायप्रमेयम्। भक्ष्यं दध्यादि, अभक्ष्यं लशुनादि, शौचं मरणादौ ब्राह्मणादेर्दशाहादिना, द्रव्याणां शुद्धिरुदकादिना ॥ ११३ ॥

स्त्रीधर्मयोगं तापस्यं मोक्षं संन्यासमेव च।
राज्ञश्च धर्ममखिलं कार्याणां च विनिर्णयम् ॥ ११४ ॥

स्त्रियोंका धर्मोपाय, वानप्रस्थ-धर्म, यति-धर्म, संन्यास-धर्म, राजा का सम्पूर्ण धर्म, कर्तव्य अर्थात् व्यवहार का विशेष निर्णय ॥ ११४ ॥

स्त्रीणां धर्मयोगं धर्मोपायम् एतत्पाञ्चमिकम्। तापस्यं तपसे वानप्रस्थाय हितं तस्य धर्मम्। मोक्षहेतुत्वान्मोक्षं यतिधर्मम्। यतिधर्मत्वेऽपि संन्यासस्य पृथगुपदेशः प्राधान्यज्ञापनार्थः। एष षष्ठाध्यायार्थः। राज्ञोऽभिषिक्तस्य सर्वो दृष्टादृष्टार्थो धर्मः। एष सप्तमाध्यायार्थः। कार्याणां ऋणादीनामर्थिप्रत्यर्थिसमर्पितानां विनिर्णयो विचार्यतत्त्व-निर्णयः ॥ ११४ ॥

साक्षिप्रश्नविधानं च धर्मं स्त्रीपुंसयोरपि।
विभागधर्मं द्यूतं च कण्टकानां च शोधनम् ॥ ११५ ॥

गवाहों से प्रश्न करने का विधान, पत्नी और पतिका संयुक्त एवं पृथक् रहनेपर धर्म, धन विभाग का धर्म, द्यूत तथा शरीरस्थ कण्टकके समान चोर का निवारण ॥ ११५ ॥

साक्षिणां च प्रश्ने यद्विधानं व्यवहाराङ्गत्वेपि साक्षिप्रश्नस्य विधाननिर्णयोपायत्वात्पृथङ्निर्देशः। एतदाष्टमिकम्। स्त्रीपुंसयोर्भार्यापत्योः सन्निधावसन्निधौ च धर्मानुष्ठानम्, ऋक्थविभागस्य च धर्मम्। यद्यपि ऋक्थविभागोऽपि कार्याणां च विनिर्णयमित्यनेनैव प्राप्तस्तथाप्यध्यायभेदात्पृथङ्निर्देशः। द्यूतविषयो विधिर्द्यूतशब्देनोच्यते। कण्टकानां चौरादीनां शोधनं निरसनम् ॥ ११५ ॥

वैश्यशूद्रापचारं च संकीर्णानां च संभवम्।
आपद्धर्मं च वर्णानां प्रायश्चित्तविधिं तथा ॥ ११६ ॥

वैश्य तथा शूद्रोंका अपना-अपना धर्मानुष्ठान, वर्णसङ्कर की उत्पत्ति आपत्तिकालमें जीविका-साधनोंपदेश, प्रायश्चित्त का विधान ॥ ११६ ॥

वैश्यशूद्रोपचारं स्वधर्मानुष्ठानम् । एतन्नवमे । एवं संकीर्णानामनुलोमप्रतिलोमजातानामुत्पत्तिम् , आपदि च जीविकोपदेशम् आपद्धर्मम् । एतद्दशमे । प्रायश्चित्तविधिमेकादशे ॥

संसारगमनं चैव त्रिविधं कर्मसंभवम् ।
निःश्रेयसं कर्मणां च गुणदोषपरीक्षणम् ॥ ११७ ॥

वर्णानुसार तीन प्रकारकी सांसारिक गति, मोक्षदायक आत्मज्ञान, विहित तथा निषिद्ध कर्मोंके गुण-दोषों की परीक्षा ॥ ११७ ॥

संसारगमनं देहान्तरप्राप्तिरूपमुत्तममध्यमाधमभेदेन त्रिविधं शुभाशुभकर्महेतुकम् । निःश्रेयसमात्मज्ञानं सर्वोत्कृष्टमोक्षलक्षणस्य श्रेयोहेतुत्वात् । कर्मणां च विहितनिषिद्धानां गुणदोषपरीक्षणम् ॥ ११७ ॥

देशधर्माञ्जातिधर्मान् कुलधर्मांश्च शाश्वतान् ।
पाषण्डगणधर्मांश्च शास्त्रेऽस्मिन्नुक्तवान् मनुः ॥ ११८ ॥

देश-धर्म जाति-धर्म तथा पाखण्डियों के समुदायोंका धर्म इस शास्त्रमें मनु भगवान् ने कहा है ॥ ११८ ॥

प्रतिनियतदेशेऽनुष्ठीयमाना देशधर्माः, ब्राह्मणादिजातिनियता जातिधर्माः, कुलविशेषाश्रयाः कुलधर्माः, वेदबाह्यागमसमाश्रया प्रतिषिद्धव्रतचर्या पाषण्डं, तद्योगात्पुरुषोऽपि पाषण्डः, तन्निमित्ता ये धर्माः "पाषण्डिनो विकर्मस्थान्" (म० स्मृ० ४-३०) इत्यादयः तेषां पृथग्धर्मानभिधानात् । गणः समूहो वणिगादीनाम् । सप्तश्लोकेपूक्तवानिति क्रियापदम् ॥ ११८ ॥

यथेदमुक्तवाञ्छास्त्रं पुरा पृष्टो मनुर्मया ।
तथेदं यूयमप्यद्य मत्सकाशान्निबोधत ॥ ११९ ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

(भृगु मुनि महर्षियोंसे कहते हैं) पूर्व कालमें मेरे पूछनेपर भगवान् मनुने इस शास्त्रको जैसा मुझसे कहा था, वैसा ही आप लोग भी मुझसे इस धर्मशास्त्रको मालूम करें ॥ ११९ ॥

पूर्वं मया पृष्टो मनुर्यथेदं शास्त्रमभिहितवांस्तथैवान्यूनानतिरिक्तं मत्सकाशाच्छृणुतेति ऋषीणां श्रद्धातिशयार्थं पुनरभिधानम् ॥ ११९ ॥ क्षे० ॥ ११ ॥ १२० ॥

इति श्रीकुल्लूकभट्टकृतायां मन्वर्थमुक्तावल्यां मनुवृत्तौ प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

———>o<———

द्वितीयोऽध्यायः

गौडे नन्दनवासिनाम्नि सुजनैर्वण्र्ये वरेड्ये कुले
विप्रो भट्टदिवाकरस्य तनयः कुल्लूकभट्टोऽभवत्।
वृत्तिस्तेन मनुस्मृतौ शिवपुरेऽध्याये द्वितीयेऽधुना
रम्येयं क्रियते हिताय विदुषां मन्वर्थमुक्तावली ॥ १ ॥

प्रथमाध्याये प्रकृष्टपरमात्मज्ञानरूपधर्मज्ञानाय जगत्कारणं ब्रह्म प्रतिपाद्याधुना ब्रह्मज्ञानाङ्गभूतं संस्कारादिरूपं धर्मं प्रतिपिपादयिषुर्धर्मसामान्यलक्षणं प्रथममाह—

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत ॥ १ ॥

धर्मात्मा एवं रागद्वेषसे रहित विद्वानों द्वारा सर्वदा सेवित और हृदयसे अच्छी तरह जाना गया जो धर्म है उसे सुनो ॥ १ ॥

विद्वद्भिर्वेदविद्भिः सद्भिर्धार्मिकै रागद्वेषशून्यैरनुष्ठितो हृदयेनाभिमुख्येन ज्ञात इति, अनेन श्रेयःसाधनमभिहितम्। तत्र हि स्वरसान्मनोऽभिमुखीभवति। वेदविद्भिर्ज्ञात इति विशेषणोपादानसामर्थ्याज्ज्ञातस्य वेदस्यैव श्रेयःसाधनज्ञाने कारणत्वं विवक्षितम्। खड्गधारिणा हत इत्युक्ते धृतखङ्गस्यैव हनने प्राधान्यम्। अतो वेदप्रमाणकः श्रेयःसाधनं धर्म इत्युक्तम्। एवंविधो यो धर्मस्तं निबोधत। उक्तार्थसंग्रहश्लोकाः—

वेदविद्भिर्ज्ञात इति प्रयुञ्जानो विशेषणम्।
वेदादेव परिज्ञातो धर्म इत्युक्तवान्मनुः ॥
हृदयेनाभिमुख्येन ज्ञात इत्यपि निर्दिशन्।
श्रेयःसाधनमित्याह तत्र ह्यभिमुखं मनः ॥
वेदप्रमाणकः श्रेयःसाधनं धर्म इत्यतः।
मनूक्तमेव मुनयः प्रणिन्युर्धर्मलक्षणम् ॥

अत एव हारीतः—

"अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः। श्रुतिप्रमाणको धर्मः। श्रुतिश्च द्विविधा-वैदिकी तान्त्रिकी च' भविष्यपुराणे च—

धर्मः श्रेयः समुद्दिष्टं श्रेयोऽभ्युदयलक्षणम्।
स तु पञ्चविधः प्रोक्तो वेदमूलः सनातनः ॥
अस्य सम्यगनुष्ठानात्स्वर्गो मोक्षश्च जायते।
इह लोके सुखैश्वर्यमतुलं च खगाधिप ॥

श्रेयःसाधनमित्यर्थः। जैमिनिरपि इदमपि धर्मलक्षणमसूत्रयत्,—"चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः" [जै. सू. १।१।२] इति। उभयं चोदनया लक्ष्यते, अर्थः श्रेयःसाधनं ज्योतिष्टोमादिः। अनर्थः प्रत्यवायसाधनं श्येनादिः। तत्र वेदप्रमाणकं श्रेयःसाधनं ज्योतिष्टोमादि धर्म इति सूत्रार्थः। स्मृत्यादयोऽपि वेदमूलकत्वेनैव धर्मे प्रमाणमिति दर्शयिष्यामः। गोविन्दराजस्तु हृदयेनाभ्यनुज्ञात इत्यन्तःकरणविचिकित्साशून्य इति व्याख्यातवान्। तन्मते वेदविद्भि-

रनुष्ठितः संशयरहितश्च धर्म इति धर्मलक्षणं स्यात्। एवं च दृष्टार्थग्रामगमनादिसाधारणं धर्मलक्षणं विचक्षणा न श्रद्दधते। [1]मेधातिथिस्तु हृदयेनाभ्यनुज्ञात इति यत्र चित्तं प्रवर्तयतीति व्याख्याय 'अथवा हृदयं वेदः स ह्यधीतो भावनारूपेण हृदयस्थितो हृदयम् इत्युच्यते' इत्युक्तवान्॥ १॥

कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता।
काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः॥ २॥

कर्म-फलकी इच्छा करना श्रेष्ठ नहीं, किन्तु इच्छाका अभाव भी नहीं है। क्यों कि वेदका ज्ञान और वेदोक्त कर्म करना भी इच्छा से ही होता है॥ २॥

फलाभिलाषशीलत्वं पुरुषस्य कामात्मता। सा न प्रशस्ता बन्धहेतुत्वात्। स्वर्गादिफलाभिलाषेण काम्यानि कर्माण्यनुष्ठीयमानानि पुनर्जन्मने कारणं भवन्ति। नित्यनैमित्तिकानि त्वात्मज्ञानसहकारितया मोक्षाय कल्पन्ते। न पुनरिच्छामात्रमनेन निषिध्यते। तदाह—"न चैवेहास्त्यकामता" इति। यतो वेदस्वीकरणं वैदिकसकलधर्मसम्बन्धश्चेच्छाविषयावेव॥२॥

अत्रोपपत्तिमाह—

संकल्पमूलः कामो वै यज्ञाः संकल्पसंभवाः।
व्रतानि यमधर्माश्च सर्वे संकल्पजाः स्मृताः॥ ३॥

इच्छा सङ्कल्प-मूलक है, यज्ञ सङ्कल्पसे होते हैं और सब व्रत एवं यम आदि सङ्कल्पसे ही होते हैं॥ ३॥

अनेन कर्मणेदमिष्टं फलं साध्यत इत्येवंविषया बुद्धिः संकल्पः, तदनन्तरमिष्टसाधनतयावगते तस्मिन्निच्छा जायते, तदर्थं प्रयत्नं कुरुते चेत्येवं यज्ञाः संकल्पप्रभवाः, व्रतानि, यमरूपाश्च धर्माश्चतुर्थाध्याये वक्ष्यमाणाः। सर्व इत्यनेन पदेन अन्येऽपि शास्त्रार्थाः संकल्पादेव जायन्ते। इच्छामन्तरेण तान्यपि न संभवन्तीत्यर्थः। गोविन्दराजस्तु व्रतान्यनुष्ठेयरूपाणि, यमधर्माः प्रतिषेधार्थका इत्याह॥ ३॥

अत्रैव लौकिकं नियमं दर्शयति—

अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित्।
यद्यद्धि कुरुते किंचित्तत्तत्कामस्य चेष्टितम्॥ ४॥

इस संसारमें इच्छाके विना किसी मनुष्य का कोई काम कभी भी नहीं देखा जाता है। मनुष्य जो कुछ करता हैं, वह सब इच्छा की चेष्टा है॥ ४॥

---

१. हृदयेन हृदयशब्देन चित्तमाचष्टे। अनुज्ञानं च हृदयस्य प्रसादः। एषा हि स्थितिः-अन्तर्हृदयवर्तीनि बुद्ध्यादितत्त्वानि। यद्यपि बाह्यहिंसाऽभक्ष्यभक्षणादिषु मूढाः धर्मबुद्ध्या प्रवर्तन्ते तथापि हृदयाक्रोशनं तेषां भवति। वैदिके त्वनुष्ठाने परितुष्यति मनः। तदस्य सर्वस्यायमर्थः—न मया तादृशो धर्म उच्यते यत्रैते दोषाः सन्ति। किन्तु य एवंविधैर्महात्मभिरनुष्ठीयते, स्वयं च यत्र चित्तं प्रवर्तयति वा। अत आदरातिशय उच्यमानेषु धर्मेषु युक्तः। अथवा हृदयं वेदः, स ह्यधीतो भावनारूपेण हृदयस्थितो हृदयम्। ततश्च त्रितयमत्रोपात्तम्—यदि तावदविचार्यैव स्वाग्रहात्काचित्प्रवृत्तिः कस्यचित्तथाप्यत्रैव युक्ता। एतद्धृदयेनाभ्यनुज्ञात इत्यनेनोच्यते। अथाप्ययं न्यायः 'महाजनो येन गतः स पन्थाः' इति तदप्यत्रैवास्ति। विद्वांसो ह्यत्र निष्कामाः प्रवृत्तिपूर्वा अनिन्द्याश्च लोके। अथाप्रमाणिकी प्रवृत्तिः सापि वेदप्रामाण्यात्सिद्धैवेति। सर्वप्रकारं प्रवृत्त्याभिमुख्यमनेन जन्यते।

लोके या काचिद्भोजनगमनादिक्रिया, साप्यनिच्छतो न कदाचिद् दृश्यते। ततश्च सर्वं कर्म लौकिकं वैदिकं च यद्यत्पुरुषः कुरुते तत्तदिच्छाकार्यम् ॥ ४ ॥

सम्प्रति पूर्वोक्तं फलाभिलाषनिषेधं नियमयति—

तेषु सम्यग्वर्तमानो गच्छत्यमरलोकताम्।
यथा संकल्पितांश्चेह सर्वान्कामान्समश्नुते ॥ ५ ॥
[असद्वृत्तस्तु कामेषु कामोपहतचेतनः।
नरकं समवाप्नोति तत्फलं न समश्नुते ॥ १ ॥
तस्माच्छ्रुतिस्मृतिप्रोक्तं यथाविध्युपपादितम्।
काम्यं कर्मेह भवति श्रेयसे न विपर्ययः ॥ २ ॥]

उन शास्त्रोक्त कर्मोंमें अच्छी तरह नियत मनुष्य मोक्षको प्राप्त करता है और इस संसारमें इच्छानुसार सब कर्मोंको प्राप्त करता है ॥ ५ ॥

[यदि तृष्णासे नष्ट बुद्धिवाला ईप्सित विषयोंके लिये अवैधानिक अर्थात् यथेच्छ आचरण करता है, तो वह नरक जाता है, और उसे ईप्सित फल भी नहीं मिलता है ॥ १ ॥ इसलिये श्रुति और स्मृतिसे बताया हुआ काम्य कर्म यथाविधि करनेसे कल्याण के लिये होता है, अन्यथा नहीं ॥]

नात्रेच्छा निषिध्यते किन्तु शास्त्रोक्तकर्मसु सम्यग्वृत्तिर्विधीयते। बन्धहेतुफलाभिलाषं विना शास्त्रीयकर्मणामनुष्ठानं तेषु सम्यग्वृत्तिः सम्यग्वर्तमानोऽमरलोकताममरधर्मकं ब्रह्मभावं गच्छति—मोक्षं प्राप्नोतीत्यर्थः। तथाभूतश्च सर्वेश्वरत्वादिहापि लोके सर्वानभिलषितान्प्राप्नोति। तथा च छान्दोग्ये—"स यदि पितृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य, पितरः समुत्तिष्ठन्ति" (८।२।१) इत्यादि ॥ ५ ॥

इदानीं धर्मप्रमाणान्याह—

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥ ६ ॥

सब वेद; वेदोंको जाननेवालों की स्मृति और ब्राह्मणत्व आदि तेरह प्रकारके शील या राग-द्वेष-शून्यता, महात्माओं का आचरण और अपने मनकी प्रसन्नता ये सब धर्मके मूल हैं ॥ ६ ॥

वेद ऋग्यजुःसामाथर्वलक्षणः, स सर्वो विध्यर्थवादमन्त्रात्मा धर्मे मूलं प्रमाणम्। अर्थवादानामपि विध्येकवाक्यतया स्तावकत्वेन धर्मे प्रामाण्यात्। यदाह जैमिनिः—"विधिना त्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः" [जै. सू. १।२।७]। मन्त्रार्थवादानामपि विधिवाक्यैकवाक्यतयैव धर्मे प्रामाण्यं, प्रयोगकाले चानुष्ठेयस्मारकत्वं, वेदस्य च धर्मे प्रामाण्यं यथार्थानुभवकरणत्वरूपं न्यायसिद्धम्। स्मृत्यादीनामपि तन्मूलत्वेनैव प्रामाण्यप्रतिपादनार्थमनूद्यते। मन्वादीनां च वेदविदां स्मृतिर्धर्मे प्रमाणम्। वेदविदामिति विशेषणोपादानाद्वेदमूलत्वेनैव स्मृत्यादीनां प्रामाण्यमभिमतम्। शीलं ब्रह्मण्यतादिरूपम्। तदाह हारीतः—"ब्रह्मण्यता देवपितृभक्तता सौम्यता अपरोपतापिता अनसूयता मृदुता अपारुष्यं मैत्रता प्रियवादित्वं कृतज्ञता शरण्यता कारुण्यं प्रशान्तिश्चेति त्रयोदशविधं शीलम्"। गोविन्दराजस्तु-शीलं रागद्वेषपरित्याग इत्याह। आचारः कम्बलवल्कलाद्याचरणरूपः, साधूनां धार्मिकाणाम् आत्मतुष्टिश्च वैकल्पिकपदार्थविषया धर्मे प्रमाणम्। तदाह गर्गः—"वैकल्पिके आत्मतुष्टिः प्रमाणम्" ॥ ६ ॥

वेदादन्येषां वेदमूलत्वेन प्रामाण्येऽभिहितेऽपि मनुस्मृतेः सर्वोत्कर्षज्ञापनाय विशेषेण वेदमूलतामाह--

यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः ।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः ॥ ७ ॥

मनुने जिस किसी का जो धर्म कहा है, वह सब धर्म वेदों में कहा गया है। वे मनु सब वेदोंके अर्थोंके ज्ञाता हैं ॥ ७ ॥

यः कश्चित्कस्यचिद् ब्राह्मणादेर्मनुना धर्म उक्तः स सर्वो वेदे प्रतिपादितः। यस्मात्सर्वज्ञोऽसौ मनुः, सर्वज्ञतया चोत्सन्नविप्रकीर्णपठ्यमानवेदार्थं सम्यग्ज्ञात्वा लोकहितायोपनिबद्धवान्। गोविन्दराजस्तु सर्वज्ञानमय इत्यस्य सर्वज्ञानारब्ध इव वेद इति वेदविशेषणतामाह ॥ ७ ॥

सर्वं तु समवेक्ष्येदं निखिलं ज्ञानचक्षुषा ।
श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान्स्वधर्मे निविशेत वै ॥ ८ ॥

विद्वान् मनुष्य वेदार्थज्ञानोचित सम्पूर्ण-शास्त्र-समूहको व्याकरण-मीमांसादिके ज्ञानरूपी नेत्रों से सब देखकर वेद-प्रमाणसे अपने कर्तव्य धर्मको निश्चयकर अनुष्ठान करे ॥ ८ ॥

सर्वं शास्त्रजातं वेदार्थावगमोचितं ज्ञानं मीमांसाव्याकरणादिकज्ञानमेव चक्षुस्तेन। निखिलं तद्विशेषेण पर्यालोच्य वेदप्रामाण्येनानुष्ठेयमवगम्य स्वधर्मेऽवतिष्ठेत ॥ ८ ॥

श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन्हि मानवः ।
इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ॥ ९ ॥

वेदों और स्मृतियोंमें कहे गये धर्मका अनुष्ठान करता हुआ मनुष्य इस संसारमें यश पाता है और धर्मानुष्ठानजन्य स्वकर्मादिके अनुत्तम सुखको पाता है ।। ९ ॥

श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन्मानव इहलोके धार्मिकत्वेनानुषङ्गिकीं कीर्तिं परलोके च धर्मफलमुत्कृष्टं स्वर्गापवर्गादिसुखरूपं प्राप्नोति। अनेन वास्तवगुणकथनेन श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठेदिति विधिः कल्प्यते ॥ ९ ॥

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः ।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ ॥ १० ॥

वेदको श्रुति तथा धर्मशास्त्रको स्मृति जानना चाहिये, वे सभी विषयोंमें प्रतिकूल तर्कके योग्य नहीं हैं क्योंकि उन दोनों से ही धर्म प्रादुर्भूत हुआ है ॥ १० ॥

लोकप्रसिद्धसंज्ञासंज्ञिसंबन्धानुवादोऽयं श्रुतिस्मृत्योः प्रतिकूलतर्केणामीमांस्यत्वविधानार्थम्, स्मृतेः श्रुतितुल्यत्वबोधनेनाचारादिभ्यो बलवत्त्वप्रतिपादनार्थं च। तेन स्मृतिविरुद्धाचारो हेय इत्यस्य फलम्। श्रुतिर्वेदः, मन्वादिशास्त्रं स्मृतिः, ते उभे प्रतिकूलतर्कैर्न विचारयितव्ये। यतस्ताभ्यां निःशेषेण धर्मो निर्बभौ प्रकाशतां गतः ॥ १० ॥

योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद्द्विजः ।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः ॥ ११ ॥

जो मनुष्य तर्कशास्त्रके आधारपर उन दोनों का अपमान करे, नास्तिक एवं वेदनिन्दक वह मनुष्य सज्जनोंके द्वारा बहिष्कृत करने योग्य है ॥ ११ ॥

पुनस्ते द्वे श्रुतिस्मृती द्विजोऽवमन्येत स शिष्टैर्द्विजानुष्ठेयाध्ययनादिकर्मणो निःसार्यः। पूर्वश्लोके सामान्येनामीमांस्ये इति सामान्यतो मीमांसानिषेधादनुकूलमीमांसाऽपि न प्रवर्तनीयेति भ्रमो माभूदिति विशेषयति, हेतुशास्त्राश्रयात् वेदवाक्यमप्रमाणं वाक्यत्वात् विप्रलम्भकवाक्यवदित्यादिप्रतिकूलतर्कावष्टम्भेन चार्वाकादिनास्तिक इव नास्तिकः, यतो वेदनिन्दकः ॥ ११ ॥

इदानीं शीलस्याचार एवान्तर्भावसम्भवाद्वेदमूलतैव तन्त्रं न स्मृतिशीलादिप्रकारनियम इति दर्शयितुं चतुर्धा धर्मप्रमाणमाह—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥ १२ ॥

वेद, स्मृति, आचार और मनकी प्रसन्नता ये चार धर्मके साक्षात् लक्षण हैं ॥ १२ ॥

वेदो धर्मप्रमाणं स क्वचित्प्रत्यक्षः क्वचित्स्मृत्याद्यनुमित इत्येवं तात्पर्यं न तु प्रमाणपरिगणने। अत एव "श्रुतिस्मृत्युदितं धर्मम्" (म० स्मृ० २९) इत्यत्र द्वयमेवाभिहितवान्। सदाचारः शिष्टाचारः स्वस्य चात्मनः प्रियमात्मतुष्टिः ॥ १२ ॥

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते।
धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ॥ १३ ॥

अर्थ और काम में अनासक्त मनुष्य के लिये धर्मका उपदेश किया जाता है, धर्मके जिज्ञासुओंके लिये वेद ही मुख्य प्रमाण है ॥ १३ ॥

अर्थकामेष्वसक्तानां अर्थकामलिप्साशून्यानां धर्मोपदेशोऽयम्। ये त्वर्थकामसमीहया लोकप्रतिपत्त्यर्थं धर्ममनुतिष्ठन्ति न तेषां कर्मफलमित्यर्थः। धर्मं च ज्ञातुमिच्छतां प्रकृष्टं प्रमाणं श्रुतिः। प्रकर्षबोधनेन च श्रुतिस्मृतिविरोधे स्मृत्यर्थो नादरणीय इति भावः। अत एव जावालः—

"श्रुतिस्मृतिविरोधे तु श्रुतिरेव गरीयसी।
अविरोधे सदा कार्यं स्मार्तं वैदिकवत् सता ॥"

भविष्यपुराणेऽप्युक्तम्—

"श्रुत्या सह विरोधे तु बाध्यते विषयं विना।

जैमिनिरप्याह—

"विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानकम्" ॥ [जै. सू. १।३।३]

श्रुतिविरोधे स्मृतिवाक्यमनपेक्ष्यमप्रमाणमनादरणीयम्। असति विरोधे मूलवेदानुमानमित्यर्थः ॥ १३ ॥

श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्यात्तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ।
उभावपि हि तौ धर्मौ सम्यगुक्तौ मनीषिभिः ॥ १४ ॥

जहां पर श्रुतिद्वय का परस्परमें विरोध होता हो, वहाँपर वे दोनों ही वचन धर्म है, क्योंकि मनु आदि विद्वानोंने उन दोनोंको ही सम्यक् ज्ञान बतलाया है ॥ १४ ॥

यत्र पुनः श्रुत्योरेव द्वैधं परस्परविरुद्धार्थप्रतिपादनं तत्र द्वावपि धर्मौ मनुना स्मृतौ। तुल्यबलतया विकल्पानुष्ठानविधानेन च विरोधाभावः। यस्मान्मन्वादिभ्यः पूर्वतरैरपि विद्वद्भिः सम्यक् समीचीनौ द्वावपि तौ धर्मावुक्तौ। समानन्यायतया स्मृत्योरपि विरोधे

विकल्प इति प्रकृतोपयोगस्तुल्यबलत्वाविशेषात्। तदाह गौतमः—"तुल्यबलविरोधे विकल्पः" [गौ. स. १।४] ॥ १४ ॥

अत्र दृष्टान्तमाह—

उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा।
सर्वथा वर्तते यज्ञ इतीयं वैदिकी श्रुतिः ॥ १५ ॥
[श्रुतिं पश्यन्ति मुनयः स्मरन्ति तु यथास्मृति।
तस्मात्प्रमाणं मुनयः प्रमाणं प्रथितं भुवि ॥ ३ ॥
धर्मव्यतिक्रमो दृष्टः श्रेष्ठानां साहसं तथा।
तदन्वीक्ष्य प्रयुञ्जानाः सीदन्त्यपरधर्मजाः ॥ ४ ॥]

सूर्यके उदय होनेपर, सूर्यके उदय नहीं होने पर और अध्युषित कालमें सर्वथा यज्ञ करना चाहिये। ये तीनों वैदिक श्रुतियाँ हैं ॥ १५ ॥

[मुनि लोग सब वेदोंका साक्षात्कार करते हैं, और अन्य लोग स्मृतिके अनुसार वेदोंकी कल्पना करते हैं; इसलिये सभी लोगोंमें मुनि लोग ही प्रमाण है, और वे ही प्रमाण तथा पृथ्वींमें ख्यात हैं ॥ ३ ॥ 'सूर्यके उदित या अनुदित रहने पर हवन किया जाय' इत्यादि धर्मोंमें व्यतिक्रम देखा गया है! और श्रेष्ठ लोगोंका साहस भी देखा गया है। इसलिये इनको अच्छी तरह समझ कर, इसके अनुसार चलनेवाले कल्याण पाते हैं और जो इनमें द्वैध देखकर अन्य धर्मका अवलम्बन करते हैं, वे 'परधर्मो भयावहः' के अनुसार क्लेश पाते हैं ॥ ४ ॥]

सूर्यनक्षत्रवर्जितः कालः समयाध्युषितशब्देनोच्यते। उदयात्पूर्वमरुणकिरणवान्प्रविरलतारकोऽनुदितकालः। परस्परविरुद्धकालश्रवणेऽपि सर्वथा विकल्पेनाग्निहोत्रहोमः प्रवर्तते। देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागगुणयोगाद्यज्ञशब्दोऽत्र होमे गौणः। "उदिते होतव्यम्" [ऐ० ब्रा० ५।१९] इत्यादिका वैदिकी श्रुतिः ॥ १५ ॥

निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः।
तस्य शास्त्रेऽधिकारोऽस्मिञ्ज्ञेयो नान्यस्य कस्यचित् ॥ १६ ॥

गर्भाधान संस्कारसे आरम्भकर मरण संस्कार पर्यन्त वेदमन्त्रोंके द्वारा पहलेसे ही जिसके संस्कारका विधान है, उसी का इस शास्त्र में अधिकार है; दूसरे किसी का नहीं ॥ १६ ॥

गर्भाधानादिरन्त्येष्टिपर्यन्तो यस्य वर्णस्य मन्त्रैरनुष्ठानकलाप उक्तो द्विजातेरित्यर्थः। तस्यास्मिन्मानवधर्मशास्त्रेऽध्ययने श्रवणेऽधिकारः, न त्वन्यस्य कस्यचिच्छूद्रादेः। एतच्छास्त्रानुष्ठानं च यथाधिकारं सर्वैरेव कर्तव्यं, प्रवचनं त्वस्याध्यापनं व्याख्यानरूपं ब्राह्मणकर्तृकमेवेति विदुषा ब्राह्मणेनेत्यत्र व्याख्यातम् ॥ १६ ॥

धर्मस्य स्वरूपं प्रमाणं परिभाषां चोक्त्वा इदानीं धर्मानुष्ठानयोग्यदेशानाह—

सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्।
तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते ॥ १७ ॥

सरस्वती तथा दृषद्वती; इन दो देव-नदियोंके मध्य का जो देश है, उसे देवनिर्मित ब्रह्मावर्त कहते हैं ॥ १७ ॥

सरस्वतीदृषद्वत्योर्नद्योरुभयोर्मध्यं ब्रह्मावर्तं देशमाहुः। देवनदीदेवनिर्मितशब्दौ नदीदेशप्राशस्त्यार्थौ ॥ १७ ॥

तस्मिन्देशे य आचारः पारंपर्यक्रमागतः ।
वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते ॥ १८ ॥
[विरुद्धा च विगीता च दृष्टार्थादिष्टकारणे ।
स्मृतिर्न श्रुतिमूला स्याद्या चैषा संभवश्रुतिः ॥ ५ ॥]

उस देशमें ब्राह्मणादि और अम्बष्ठ–रथकार आदि वर्णसङ्कर जातियोंका कुलपरम्परागत जो आचार है, वही "सदाचार" कहा जाता है ॥ १८ ॥

[प्रत्यक्ष विषयोसे इष्ट सम्पादनके लिये जो वेद विरुद्ध और सज्जननिन्दित स्मृति है, वह श्रुति मूलक नहीं है, अतः उसे नहीं मानना चाहिये । किन्तु वेदमूलक जो यह स्मृति है उसे ही मानना चाहिये ॥ ५ ॥

तस्मिन्देशे प्रायेण शिष्टानां सम्भवात्तेषां ब्राह्मणादिवर्णानां संकीर्णजातिपर्यन्तानां य आचारः पारंपर्यक्रमागतो न त्विदानींतनः, स सदाचारोऽभिधीयते ॥ १८ ॥

कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पञ्चालाः शूरसेनकाः ।
एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्तादनन्तरः ॥ १९ ॥

कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पञ्चाल और शूरसेन देश; यह "ब्रह्मर्षि देश" ब्रह्मावर्तसे कुछ कम उसके बादमें है ॥ १९ ॥

मत्स्यादिशब्दाः बहुवचनान्ता एव देशविशेषवाचकाः । पञ्चालाः कान्यकुब्जदेशाः । शूरसेनका मथुरादेशाः । एष ब्रह्मर्षिदेशो ब्रह्मावर्तात्किञ्चिदूनः ॥ १९ ॥

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥ २० ॥

इन देशों में उत्पन्न ब्राह्मणोंसे पृथ्वीपर सब मनुष्य अपने-अपने चरित्र सीखें ॥ २० ॥

कुरुक्षेत्रादिदेशजातस्य ब्राह्मणस्य सकाशात्सर्वमनुष्या आत्मीयमात्मीयमाचारं शिक्षेरन् ॥ २० ॥

हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत्प्राग्विनशनादपि ।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः ॥ २१ ॥

हिमालय और विन्ध्याचलके बीच; विनशन (कुरुक्षेत्र) के पूर्व और प्रयागके पश्चिम का देश "मध्यदेश" कहा गया है ॥ २१ ॥

उत्तरदक्षिणदिगवस्थितौ हिमवद्विन्ध्यौ पर्वतौ, तयोर्यन्मध्यं विनशनात्सरस्वत्यन्तर्धानदेशाद्यत्पूर्वं प्रयागाच्च यत्पश्चिमं स मध्यदेशनामा देशः कथितः ॥ २१ ॥

आ समुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात् ।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधाः ॥ २२ ॥

पूर्व समुद्र तथा पश्चिम समुद्र और उन्हीं दोनों पर्वतोंके मध्य स्थित देशको पण्डितलोग "आर्यावर्त" देश कहते हैं ॥ २२ ॥

आ पूर्वसमुद्रात् आ पश्चिमसमुद्राद्धिमवद्विन्ध्ययोश्च यन्मध्यं तमार्यावर्तदेशं पण्डिता जानन्ति । मर्यादायामयमाङ्, नाभिविधौ । तेन समुद्रमध्यद्वीपानां नार्यावर्तता । आर्या अत्रावर्तन्ते पुनःपुनरुद्भवन्तीत्यार्यावर्तः ॥ २२ ॥

कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वभावतः ।
स ज्ञेयो यज्ञियो देशो म्लेच्छदेशस्त्वतः परः ॥ २३ ॥

जहाँ पर काला मृग स्वभावसे ही विचरण करता है, वह 'यज्ञीय' देश है, इसके अतिरिक्त 'म्लेच्छ देश' है ॥ २३ ॥

कृष्णसारो मृगो यत्र स्वभावतो वसति न तु बलादानीतः, स यज्ञार्हो देशो ज्ञातव्यः। अन्यो म्लेच्छदेशो न यज्ञार्ह इत्यर्थः ॥ २३ ॥

एतान्द्विजातयो देशान्संश्रयेरन्प्रयत्नतः ।
शूद्रस्तु यस्मिन्कस्मिन्वा निवसेद् वृत्तिकर्शितः ॥ २४ ॥

द्विज इन देशों का आश्रय करें अर्थात् इन देशोंमें निवास करें परन्तु शूद्र तो वृत्तिके लिये कहीं भी निवास करे ॥ २४ ॥

अन्यदेशोद्भवा अपि द्विजातयो यज्ञार्थत्वाददृष्टार्थत्वाच्चैतान्देशान्प्रयत्नादश्रयेरन्। शूद्रस्तु वृत्तिपीडितो वृत्त्यर्थमन्यदेशमप्याश्रयेत् ॥ २४ ॥

एषा धर्मस्य वो योनिः समासेन प्रकीर्तिता ।
सम्भवश्चास्य सर्वस्य वर्णधर्मान्निबोधत ॥ २५ ॥

मैंने आपलोगोंको धर्मके कारण तथा सम्पूर्ण संसारकी उत्पत्तिको संक्षेपमें कहा, अब वर्ण-धर्मोंको सुनो ॥ २५ ॥

एषा युष्माकं धर्मस्य योनिः संक्षेपेणोक्ता। योनिर्ज्ञप्तिकारणं "वेदोऽखिलो धर्ममूलम्" (म० स्मृ० २-६) इत्यादिनोक्तमित्यर्थः। गोविन्दराजस्त्विह धर्मशब्दोऽपूर्वाख्यात्मकधर्मे वर्तत इति "विद्वद्भिः सेवितः" (म० स्मृ० २।१) इत्यत्र तत्कारणेऽष्टकादौ वाऽपूर्वाख्यस्य धर्मस्य योनिरिति व्याख्यातवान्। सम्भवश्चोत्पत्तिर्जगत उक्ता। इदानीं वर्णधर्माञ्छृणुत। वर्णधर्मशब्दश्च वर्णधर्माश्रमधर्मवर्णाश्रमधर्मगुणधर्मनैमित्तिकधर्माणामुपलक्षकः। ते च भविष्यपुराणोक्ताः—

वर्णधर्मः स्मृतस्त्वेक आश्रमाणामतः परम्।
वर्णाश्रमस्तृतीयस्तु गौणो नैमित्तिकस्तथा।
वर्णत्वमेकमाश्रित्य यो धर्मः संप्रवर्तते।
वर्णधर्मः स उक्तस्तु यथोपनयनं नृप॥
यस्त्वाश्रमं समाश्रित्य अधिकारः प्रवर्त्तते।
स खल्वाश्रमधर्मस्तु भिक्षादण्डादिको यथा॥
वर्णत्वमाश्रमत्वं च योऽधिकृत्य प्रवर्तते।
स वर्णाश्रमधर्मस्तु मौञ्जीया मेखला यथा॥
यो गुणेन प्रवर्तेत गुणधर्मः स उच्यते।
यथा मूर्धाभिषिक्तस्य प्रजानां परिपालनम्॥
निमित्तमेकमाश्रित्य यो धर्मः संप्रवर्तते।
नैमित्तिकः स विज्ञेयः प्रायश्चित्तविधिर्यथा॥

वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम् ।
कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च ॥ २६ ॥

इस लोकमें तथा मृत्युके बाद परलोकमें पवित्र करनेवाला ब्राह्मणादि वर्णोंका गर्भाधान आदि शरीर-संस्कार पवित्र वेदोक्त मन्त्रोसे करना चाहिये ॥ २६ ॥

वेदमूलत्वाद्वैदिकैः पुण्यैः शुभैर्मन्त्रप्रयोगादिकर्मभिर्द्विजातीनां गर्भाधानादिशरीर-संस्कारः कर्तव्यः । पावनः पापक्षयहेतुः । प्रेत्य परलोके संस्कृतस्य यागादिफलसम्बन्धात्, इह लोके च वेदाध्ययनाद्यधिकारात् ॥ २६ ॥

कुतः पापसम्भवो येनैषां पापक्षयहेतुत्वमत आह—

गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौडमौञ्जीनिबन्धनैः ।
बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते ॥ २७ ॥

गर्भ-शुद्धिकारक हवन, चूडाकरण और मौञ्जीबन्धन (यज्ञोपवीत) संस्कारोंसे द्विजोंके वीर्य एवं गर्भसे उत्पन्न दोष नष्ट होते हैं ॥ २७ ॥

ये गर्भशुद्धये क्रियन्ते ते गार्भाः । होमग्रहणमुपलक्षणम् , गर्भाधानादेरहोमरूपत्वात् , जातस्य यत्कर्म मन्त्रवत्सर्पिःप्राशनादिरूपं तज्जातकर्म । चौडं चूडाकरणकर्म । मौञ्जीनिबन्धनमुपनयनम् । एतैर्बैजिकं प्रतिषिद्धमैथुनसंकल्पादिना च पैतृकरेतोदोषाद्यद्यत्पापं । गार्भिकं चाशुचिमातृगर्भवासजं तद् द्विजातीनामपमृज्यते ॥ २७ ॥

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः ।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥ २८ ॥

वेदाध्ययनसे, मधु-मांसादिके त्यागरूप व्रत अर्थात् नियमसे, प्रातःसायंकालीन हवनसे, त्रैविद्य-नामक व्रतसे, ब्रह्मचर्यावस्थामें देवर्षि-पितृ-तर्पण आदि क्रियाओंसे, गृहस्थावस्थामें पुत्रोत्पादनसे, महायज्ञोंसे और ज्योतिष्टोमादि यज्ञोंसे ब्रह्म-प्राप्तिके योग्य यह शरीर बनाया जाता है ॥ २८ ॥

वेदाध्ययनेन । व्रतैर्मधुमांसवर्जनादिनियमैः । होमैः सावित्रचरुहोमादिभिः सायंप्रातर्होमैश्च । त्रैविद्याख्येन च । व्रतेऽप्रप्राधान्यादस्य पृथगुपन्यासः । इज्यया ब्रह्मचर्यावस्थायां देवर्षिपितृतर्पणरूपया । गृहस्थावस्थायां पुत्रोत्पादनेन । महायज्ञैः पञ्चभिर्ब्रह्मयज्ञादिभिः । यज्ञैर्ज्योतिष्टोमादिभिः । ब्राह्मी ब्रह्मप्राप्तियोग्येयं तनुः तन्ववच्छिन्न आत्मा क्रियते । कर्मसहकृतब्रह्मज्ञानेन मोक्षावाप्तेः ॥ २८ ॥

प्राङ्नाभिवर्धनात्पुंसो जातकर्म विधीयते ।
मन्त्रवत्प्राशनं चास्य हिरण्यमधुसर्पिषाम् ॥ २९ ॥

नाभिच्छेदनके पहले पुरुषका 'जातकर्म' संस्कार किया जाता है और सोना, घी तथा मधुका मन्त्रोंसे प्राशन कराया जाता हैं ॥ २९ ॥

नाभिच्छेदनात्प्राक् पुरुषस्य जातकर्माख्यः संस्कारः क्रियते । तदा चास्य स्वगृह्योक्तमन्त्रैः स्वर्णमधुघृतानां प्राशनम् ॥ २९ ॥

नामधेयं दशम्यां तु द्वादश्यां वाऽस्य कारयेत् ।
पुण्ये तिथौ मुहूर्ते वा नक्षत्रे वा गुणान्विते ॥ ३० ॥

जन्मसे दसवें या बारहवें दिन ज्योतिष शास्त्रमें कहे गये शुभ तिथि, मुहूर्त और गुणयुक्त नक्षत्र में उस बालकका 'नामकरण' संस्कार किया जाता है । ॥ ३० ॥

जातकर्मेति पूर्वश्लोके जन्मनः प्रस्तुतत्वाज्जन्मापेक्षयैव दशमे द्वादशे वाऽहनि अस्य शिशोर्नामधेयं स्वयमसम्भवे कारयेत्। अथवा—

"आशौचे तु व्यतिक्रान्ते नामकर्म विधीयते।" [शं. सं. २. २.]

इति शङ्खवचनाद्दशमेऽहन्यतीते एकादशाह इति व्याख्येयम्। तत्राप्यकरणे प्रशस्ते तिथौ प्रशस्त एव मुहूर्ते नक्षत्रे च गुणवत्येव ज्योतिषावगते कर्तव्यम्। वाशब्दोऽवधारणे॥ ३२॥

मङ्गल्यं ब्राह्मणस्य स्यात्क्षत्रियस्य बलान्वितम्।
वैश्यस्य धनसंयुक्तं शूद्रस्य तु जुगुप्सितम्॥ ३१॥

ब्राह्मणका मङ्गल-सूचक शब्दसे युक्त, क्षत्रियका बल-सूचक शब्दसे युक्त, वैश्यका धन-वाचक शब्दसे युक्त और शूद्रका निन्दित-शब्दसे युक्त 'नामकरण' करना चाहिये॥ ३१॥

ब्राह्मणादीनां यथाक्रमं मङ्गलबलधननिन्दावाचकानि शुभबलवसुदीनादीनि नामानि कर्तव्यानि॥ ३१॥

इदानीमुपपदनियमार्थमाह—

शर्मवद्ब्राह्मणस्य स्याद्राज्ञो रक्षासमन्वितम्।
वैश्यस्य पुष्टिसंयुक्तं शूद्रस्य प्रेष्यसंयुतम्॥ ३२॥

ब्राह्मणका 'शर्मा' शब्दसे युक्त, क्षत्रियका रक्षा-शब्दसे युक्त, वैश्यका पुष्टिशब्दसे युक्त और शूद्रका दास शब्दसे युक्त उपनाम करना चाहिये॥ ३२॥

एषां यथाक्रमं शर्मरक्षापुष्टिप्रैष्यवाचकानि कर्तव्यानि, शर्मवर्मभूतिदासादीनि उपपदानि कार्याणि। उदाहरणानि तु—शुभशर्मा, बलवर्मा, वसुभूतिः, दीनदास इति। तथा च यमः—

"शर्म देवश्च विप्रस्य वर्म त्राता च भूभुजः।
भूतिदत्तश्च वैश्यस्य दासः शूद्रस्य कारयेत्"॥

विष्णुपुराणेऽप्युक्तम्—

"शर्मवद्ब्राह्मणस्योक्तं वर्मेति क्षत्रसंयुतम्।
गुप्तदासात्मकं नाम प्रशस्तं वैश्यशूद्रयोः॥ ३२॥" [वि. पु. ३.१०.९]

स्त्रीणां सुखोद्यमक्रूरं विस्पष्टार्थं मनोहरम्।
मङ्गल्यं दीर्घवर्णान्तमाशीर्वादाभिधानवत्॥ ३३॥

स्त्रियोंका नाम सुखपूर्वक उच्चारण करने योग्य, अक्रूर तथा स्पष्ट अर्थवाला, मनोहर, मङ्गल-सूचक, अन्तमें दीर्घ स्वर वाला और आशीर्वादसे युक्त अर्थवाला करना चाहिये॥ ६३॥

सुखोच्चार्यमक्रूरार्थवाचि व्यक्ताभिधेयं मनःप्रीतिजननं मङ्गलवाचि दीर्घस्वरान्तं आशीर्वाचकेनाभिधानेन शब्देनोपेतं स्त्रीणां नाम कर्तव्यम्। यथा यशोदादेवीति॥ ३३॥

चतुर्थे मासि कर्तव्यं शिशोर्निष्क्रमणं गृहात्।
षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि यद्वेष्टं मङ्गलं कुले॥ ३४॥

चौथे मासमें बालकोंको सूर्य के दर्शन के लिये घर से बाहर निकालना चाहिये और छठे मासमें अन्नप्राशन करना चाहिये; अथवा जैसा कुलाचार हो, वैसे ही उक्त संस्कारोंको करना चाहिये॥ ३४॥

चतुर्थे मासे बालस्य जन्मगृहान्निष्क्रमणमादित्यदर्शनार्थं कार्यम्। अन्नप्राशनं च षष्ठे मासे। अथवा कुलधर्मत्वेन यन्मङ्गलमिष्टं तत्कर्तव्यं तेनोक्तकालादन्यकालेऽपि निष्क्रमणम्। तथा च यमः—

"ततस्तृतीये कर्तव्यं मासि सूर्यस्य दर्शनम्।"

सकलसंस्कारशेषश्चायम्। तेन नाम्नां शर्मादिकमप्युपपदं कुलाचारेण कर्तव्यम् ॥४३॥

चूडाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः।
प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्तव्यं श्रुतिचोदनात् ॥ ३५ ॥

सभी द्विजाति बालकोंका 'चूडाकरण' संस्कार वेदके अनुसार पहले या तीसरे वर्षमें करना चाहिये ॥ ३५ ॥

चूडाकरणं प्रथमे वर्षे तृतीये वा द्विजातीनां धर्मतो धर्मार्थं कार्यम्, श्रुतिचोदनात्। "यत्र बाणाः सम्पतन्ति कुमारा विशिखा इव" इति मन्त्रलिङ्गात्कुलधर्मानुसारेणायं व्यवस्थितविकल्पः। अत एवाश्वलायनगृह्यसूत्रम्–"तृतीये वर्षे चौलं यथाकुलधर्मं वा" (अ. १ खं. १७) ॥ ३५ ॥

गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम्।
गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः ॥ ३६ ॥

ब्राह्मण-बालकका गर्भसे आठवें वर्षमें; क्षत्रिय-बालकका गर्भसे ग्यारहवें वर्षमें और वैश्य-बालकका गर्भसे बारहवें वर्षमें यज्ञोपवीत संस्कार करना चाहिये ॥ ३६ ॥

गर्भवर्षादष्टमे वर्षे ब्राह्मणस्योपनायनं कर्तव्यम्। उपनयनमेवोपनायनम्। "अन्येषामपि दृश्यते" (पा० सू० ६।३।१३७) इति दीर्घः। गर्भैकादशे क्षत्रियस्य गर्भाद्द्वादशे वैश्यस्य ॥ ३६ ॥

ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे।
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे ॥ ३७ ॥

वेदाध्ययन और ज्ञानाधिक्य-प्राप्ति आदि तेजके लिए ब्राह्मण-बालकका गर्भसे पांचवें वर्षमें, हाथी, घोड़ा और पराक्रम आदि प्राप्तिके लिये क्षत्रिय-बालकका गर्भसे छठे वर्षमें और अधिक धन तथा खेती आदिकी प्राप्तिके लिये वैश्य--बालकका गर्भसे आठवें वर्षमें 'यज्ञोपवीत' संस्कार करना चाहिये ॥ ३७ ॥

वेदाध्ययनतदर्थज्ञानादिप्रकर्षकृतं तेजो ब्रह्मवर्चसं तत्कामस्य ब्राह्मणस्य गर्भपञ्चमे वर्षे उपनयनं कार्यम्। क्षत्रियस्य हस्त्यश्वादिराज्यबलार्थिनो गर्भषष्ठे। वैश्यस्य बहुकृष्यादिचेष्टार्थिनो गर्भाष्टमे, गर्भवर्षाणामेव प्रकृतत्वात्। यद्यपि बालस्य कामना न सम्भवति तथापि तत्पितुरेव तद्गतफलकामना तस्मिन्नुपचर्यते ॥ ३७ ॥

आषोडशाद् ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्तते।
आद्वाविंशात्क्षत्रबन्धोराचतुर्विंशतेर्विशः ॥ ३८ ॥

सोलह वर्षतक ब्राह्मणकी, बाईस वर्षतक क्षत्रियकी और चौबीस वर्षतक वैश्यकी सावित्रीका उल्लङ्घन नहीं होता ॥ ३८ ॥

अभिविधावाङ्। ब्राह्मणक्षत्रियविशामुक्ताष्टमैकादशद्वादशवर्षद्वैगुण्यस्य विवक्षितत्वात् षोडशवर्षपर्यन्तं ब्राह्मणस्य सावित्र्यर्थं वचनमुपनयनं नातिक्रान्तकालं भवति। क्षत्रियस्य

द्वाविंशतिवर्षपर्यन्तम्। वैश्यस्य चतुर्विंशतिवर्षपर्यन्तम्। अत्र मर्यादायामाङ् केचिद्व्या-ख्यापयन्ति, यमवचनदर्शनात्। तथा च यमः—

"पतिता यस्य सावित्री दश वर्षाणि पञ्च च।
ब्राह्मणस्य विशेषेण तथा राजन्यवैश्ययोः॥
प्रायश्चित्तं भवेदेषां प्रोवाच वदतां वरः।
विवस्वतः सुतः श्रीमान्यमो धर्मार्थतत्त्ववित्॥
सशिखं वपनं कृत्वा व्रतं कुर्यात्समाहितः।
हविष्यं भोजयेदन्नं ब्राह्मणान्सप्त पञ्च वा॥ ३८॥"

अत ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते यथाकालमसंस्कृताः।
सावित्रीपतिता व्रात्या भवन्त्यार्यविगर्हिताः॥ ३९॥

इसके बाद यथासमय यज्ञोपवीत संस्कारसे रहित ये तीनों वर्ण सावित्रीसे भ्रष्ट तथा शिष्टोंसे निन्दित होकर "व्रात्य" कहलाते हैं॥ ३९॥

एते ब्राह्मणादयो यथाकालं यो यस्यानुकल्पिकोऽप्युपनयनकाल उक्तः षोडशवर्षादिपर्यन्तं तत्रासंस्कृतास्तदूर्ध्वं सावित्रीपतिता उपनयनहीनाः शिष्टगर्हिता व्रात्यसंज्ञा भवन्ति। संज्ञा-प्रयोजनं च "व्रात्यानां याजनं कृत्वा" (म० स्मृ० ११-१९७) इत्यादिना व्यवहार-सिद्धिः॥ ४३॥

नैतैरपूतैर्विधिवदापद्यपि हि कर्हिचित्।
ब्राह्मान्यौनांश्च सम्बन्धानाचरेद्ब्राह्मणः सह॥ ४०॥

अपवित्र इन व्रात्योंके साथ आपत्तिमें भी कभी वेदाध्ययन और विवाहादि सम्बन्धको ब्राह्मण नहीं करे॥ ४०॥

एतैरपूतैर्व्रात्यैर्यथाविधिप्रायश्चित्तमकृतवद्भिः सह आपत्कालेऽपि कदाचिदध्यापनकन्या-दानादीन् सम्बन्धान्ब्राह्मणो नानुतिष्ठेत्॥ ४०॥

कार्ष्णरौरवबास्तानि चर्माणि ब्रह्मचारिणः।
वसीरन्नानुपूर्व्येण शाणक्षौमाविकानि च॥ ४१॥

ब्राह्मणादि तीनों वर्णके ब्रह्मचारी, कृष्णमृग, रुरुमृग और बकरेके चमड़ेको; सन, क्षौम, और भेंड़के बालके बने कपड़ोंको क्रमशः धारण करें॥ ४१॥

कार्ष्णं इति विशेषानभिधानेऽपि मृगविशेषरुरुसाहचर्यात् "हारिणमैणेयं वा कार्ष्णं वा ब्राह्मणस्य" इत्यापस्तम्बवचनाच्च कृष्णमृगो गृह्यते। कृष्णमृगरुरुच्छागचर्माणि ब्रह्मचारिण उत्तरीयाणि वसीरन्। "चर्माण्युत्तरीयाणि" इति गृह्यवचनात्। तथा शणक्षु-मामेषलोमभवान्यधोवसनानि ब्राह्मणादयः क्रमेण परिदधीरन्॥ ४१॥

मौञ्जी त्रिवृत्समा श्लक्ष्णा कार्या विप्रस्य मेखला।
क्षत्रियस्य तु मौर्वी ज्या वैश्यस्य शणतान्तवी॥ ४२॥

तिगुनी बराबर और चिकनी मूँजकी बनी मेखलाको ब्राह्मण ब्रह्मचारी, मौर्वीकी बनीमेखलाको क्षत्रिय ब्रह्मचारी और सनकी रस्सीकी बनी मेखलाको वैश्य ब्रह्मचारी धारण करे॥ ४२॥

मुञ्जमयी त्रिगुणा समगुणत्रयनिर्मिता सुखस्पर्शा ब्राह्मणस्य मेखला कर्तव्या। क्षत्रियस्य मूर्वामयी ज्या धनुर्गुणरूपा मेखला। अतो ज्यात्वविनाशापत्तेस्त्रिवृत्त्वं नास्तीति [1]मेधातिथिगोविन्दराजौ। वैश्यस्य शणसूत्रमयी। अत्र त्रैगुण्यमनुवर्तत एव, "त्रिगुणाः प्रदक्षिणा मेखलाः" इति सामान्येन प्रचेतसा त्रैगुण्याभिधानात्॥ ४२॥

मुञ्जालाभे तु कर्तव्याः कुशाश्मन्तकवल्वजैः।
त्रिवृता ग्रन्थिनैकेन त्रिभिः पञ्चभिरेव वा ॥ ४३॥

मुञ्ज आदिके नहीं मिलने पर कुश, अश्मन्तक (तृण विशेष) और बल्वज (बबई नामकी घास) की बनी हुई मेखलाको ब्राह्मणादि ब्रह्मचारी क्रमशः धारण करें॥ ४३॥

कर्तव्या इति बहुवचननिर्देशाद्ब्रह्मचारित्रयस्य प्रकृतत्वान्मुख्यालाभे त्रिष्वप्यपेक्षायाः समत्वात्कौशादीनां च तिसृणां विधानान्मुञ्जाद्यलाभ इति बोद्धव्यम्। कर्तव्या इति बहुवचनमुपपन्नतरम्। भिन्नजातिसम्बन्धितयेति ब्रुवाणस्य मेधातिथेरपि बहुवचनपाठः संमतः। मुञ्जाद्यलाभे ब्राह्मणादीनां त्रयाणां यथाक्रमं कुशादिभिस्तृणविशेषैर्मेखलाः कार्याः। त्रिगुणेनैकग्रन्थिना युक्तास्त्रिभिर्वा पञ्चभिर्वा। अत्र च वाशब्दनिर्देशाद्ग्रन्थानां न विप्रादिभिः क्रमेण सम्बन्धः किन्तु सर्वत्र यथाकुलाचारं विकल्पः। ग्रन्थिभेदश्चायं मुख्यामुख्यापेक्षासम्भवाद्ग्रहीतव्यः॥ ४३॥

कार्पासमुपवीतं स्याद्विप्रस्योर्ध्ववृतं त्रिवृत्।
शणसूत्रमयं राज्ञो वैश्यस्याविकसौत्रिकम्॥ ४४॥

ब्राह्मणका यज्ञोपवीत कपास (कपासकी रूई के बने सूत) का, क्षत्रियका यज्ञोपवीत सनके बने सूत का और वैश्यका यज्ञोपवीत भेंड़के बाल (ऊन) के बने सूतका ऊपरकी ओर से (दक्षिणावर्त) बँटा (ऐंठा) हुआ तीन लड़ीका होना चाहिये॥ ४४॥

यदीयविन्यासविशेषस्योपवीतसंज्ञां वक्ष्यति तद्धर्मिब्राह्मणस्य कार्पासम्, क्षत्रियस्य शणसूत्रमयम् वैश्यस्य मेषलोमनिर्मितम्। त्रिवृदिति त्रिगुणं कृत्वा ऊर्ध्ववृतं दक्षिणावर्तितम्। एतच्च सर्वत्र सम्बध्यते। यद्यपि गुणत्रयमेवोर्ध्ववृतं मनुनोक्तं तथापि तत्त्रिगुणीकृत्य त्रिगुणं कार्यम्। तदुक्तं छन्दोगपरिशिष्टे—

"ऊर्ध्वं तु त्रिवृतं कार्यं तन्तुत्रयमधोवृतम्।
त्रिवृतं चोपवीतं स्यात्तस्यैको ग्रन्थिरिष्यते"॥

देवलोऽप्याह—

यज्ञोपवीतं कुर्वीत सूत्राणि नव तन्तवः॥ ४४॥

ब्राह्मणो बैल्वपालाशौ क्षत्रियो वाटखादिरौ।
पैलवौदुम्बरौ वैश्यो दण्डानर्हन्ति धर्मतः॥ ४५॥

धर्मानुसार ब्राह्मण ब्रह्मचारीको बेल या पलाश (ढाक) का, क्षत्रिय ब्रह्मचारीको वट या खैरका और वैश्य ब्रह्मचारीको पीलु या गूलरका दण्ड धारण करना चाहिये॥ ४५॥

यद्यपि द्वन्द्वनिर्देशेन, समुच्चयावगमाद्धारणमपि समुच्चितस्यैव प्राप्तं तथापि "केशान्तिको ब्राह्मणस्य दण्डः कार्यः" (म० स्मृ० २-४६) इति, तथा "प्रतिगृह्येप्सितं दण्डम्" (म० स्मृ०

---

[1]. क्षत्रियस्य पुनर्ज्या धनुर्गुणः सा कदाचिच्चर्ममयी भवति कदाचित्तृणमयी भङ्गोमादिरज्जुर्वा तदर्थमाह—मौर्वीति। तया धनुषोवतारितया श्रोणीबन्धः कर्तव्यः। यद्यपि त्रिवृत्तादिर्गुणो मेखलामात्राश्रितः, तथापि मौञ्ज्या एव ज्यायास्तु स्वरूपनाशप्रसङ्गान्न भवति।

२-४) इति विधावेकत्वस्य विवक्षितत्वात् "बैल्वः पालाशो वा दण्डः' इति वासिष्ठे विकल्पदर्शनादेकस्यैव दण्डस्य धारणविकल्पितयोरेवैकब्राह्मणसम्बन्धात्समुच्चयो द्वन्द्वे नानूद्यते । ब्राह्मणादयो विकल्पेन द्वौ द्वौ दण्डौ वक्ष्यमाणकार्ये कर्तुमर्हन्ति ॥ ४५ ॥

केशान्तिको ब्राह्मणस्य दण्डः कार्यः प्रमाणतः ।
ललाटसंमितो राज्ञः स्यात्तु नासान्तिको विशः ॥ ४६ ॥

प्रमाणानुसार ब्राह्मण ब्रह्मचारीका दण्ड केशतक, क्षत्रिय ब्रह्मचारी का दण्ड ललाटतक और वैश्य ब्रह्मचारीका दण्ड नाकतक लम्बा होना चाहिये ॥ ४६ ॥

केश-ललाट-नासिकापर्यन्तपरिमाणक्रमेण ब्राह्मणादीनां दण्डाः कर्तव्याः ॥ ४६ ॥

ऋजवस्ते तु सर्वे स्युरव्रणाः सौम्यदर्शनाः ।
अनुद्वेगकरा नृणां सत्वचोऽनग्निदूषिताः ॥ ४७ ॥

(उन ब्राह्मणादि ब्रह्मचारियोंके वे) दण्ड सीधे; विना कटे हुए, देखनेमें सुन्दर, लोगोंमें भय नहीं पैदा करनेवाले (मोटापन आदि के कारण उन्हें देखकर किसी को भय नहीं हो; ऐसे), छिल्कों के सहित और विना जले हुए होने चाहिये ॥ ४७ ॥

ये दण्डा अव्रणा अक्षताः शोभनदर्शनाः सवल्कला अग्निदाहरहिता भवेयुः ॥ ४७ ॥

न च तैः प्राणिजातमुद्वेजनीयमित्याह—

प्रतिगृह्येप्सितं दण्डमुपस्थाय च भास्करम् ।
प्रदक्षिणं परीत्याग्निं चरेद् भैक्षं यथाविधि ॥ ४८ ॥

(ब्राह्मणादि ब्रह्मचारियोंको) ईप्सित (श्लो० ४५ में वर्णित विकल्पमें से जो सुलभ या रुचिकर हो वह) दण्ड धारणकर सूर्य का उपस्थान तथा अग्निकी प्रदक्षिणा कर विधि-पूर्वक भिक्षा मांगनी (भिक्षार्थ याचना करनी) चाहिये ॥ ४८ ॥

उक्तलक्षणं प्राप्तुमिष्टं दण्डं गृहीत्वा आदित्याभिमुखं स्थित्वाऽग्निं प्रदक्षिणीकृत्य यथाविधि भैक्षं याचेत् ॥ ४८ ॥

भवत्पूर्वं चरेद् भैक्षमुपनीतो द्विजोत्तमः ।
भवन्मध्यं तु राजन्यो वैश्यस्तु भवदुत्तरम् ॥ ४९ ॥

उपवीत (यज्ञोपवीत संस्कारसे युक्त) ब्राह्मण ब्रह्मचारीको 'भवत' शब्दका वाक्यके पहले उच्चारण कर (यथा-'भवति भिक्षां देहि'), क्षत्रिय ब्रह्मचारीको 'भवत' शब्दका वाक्यके मध्यमें उच्चारण कर (यथा-'भिक्षां भवति देहि') और वैश्य ब्रह्मचारीको 'भवत' शब्दका वाक्यके अन्त में उच्चारण कर (यथा-'भिक्षां देहि भवति') भिक्षा-याचना करनी चाहिये ॥ ४९ ॥

ब्राह्मणो भवति भिक्षां देहीति भवच्छब्दपूर्वं भिक्षां याचन्वाक्यमुच्चारयेत् । क्षत्रियो भिक्षां भवति देहीति भवन्मध्यम् । वैश्यो भिक्षां देहि भवतीति भवदुत्तरम् ॥ ४९ ॥

मातरं वा स्वसारं वा मातुर्वा भगिनीं निजाम् ।
भिक्षेत भिक्षां प्रथमं या चैनं नावमानयेत् ॥ ५० ॥

(उक्त ब्राह्मणादि ब्रह्मचारी) मातासे, बहनसे अथवा सगी मौसीसे या जो निषेधके द्वारा अपमान न करे (अवश्य भिक्षा दे), उससे सर्व प्रथम भिक्षा मांगनी चाहिये ॥ ५० ॥

उपनयनाङ्गभूतां भिक्षां प्रथमं मातरम् , भगिनीं वा मातुर्वा भगिनीं सहोदरां याचेत् चैनं ब्रह्मचारिणं प्रत्याख्यानेन नावमन्येत। पूर्वासम्भवे उत्तरापरिग्रहः ॥ ५० ॥

समाहृत्य तु तद्भैक्षं यावदन्नममायया ।
निवेद्य गुरवेऽश्नीयादाचम्य प्राङ्मुखः शुचिः ॥ ५१ ॥

अपनेको तृप्त करने योग्य भिक्षा एकत्रित कर निष्कपट हो (गुरुजी अच्छे अन्न अर्थात् भोज्य पदार्थोंको अपने लिये ले लेंगे; इस कपट भावनासे अच्छे भोज्य पदार्थको निकृष्ट भोज्य पदार्थसे विना छिपाये, गुरुके सामने भिक्षामें प्राप्त हुए अन्नको निवेदनकर (उनकी आज्ञा पानेके बाद) आचमन कर पूर्व दिशाकी ओर मुख करके उस अन्नको भोजन करे ॥ ५१ ॥

तद्भैक्षं बहुभ्य आहृत्य, यावदन्नं तृप्तिमात्रोचितं गुरवे निवेद्य-निवेदनं कृत्वा अमायया न कदन्नेन सदन्नं प्रच्छाद्यैवमेतद्गुरुर्ग्रहीष्यतीत्यादिमायाव्यतिरेकेण तदनुज्ञात आचमनं कृत्वा, शुचिः सन् भुञ्जीत प्राङ्मुखः ॥ ५१ ॥

इदानीं काम्यभोजनमाह—

आयुष्यं प्राङ्मुखो भुङ्क्ते यशस्यं दक्षिणामुखः ।
श्रियं प्रत्यङ्मुखो भुङ्क्ते ऋतं भुङ्क्ते ह्युदङ्मुखः ॥ ५२ ॥
[सायं प्रातर्द्विजातीनामशनं स्मृतिनोदितम् ।
नान्तरा भोजनं कुर्यादग्निहोत्रसमो विधिः ॥ ६ ॥

हितकर अन्नको आयुके लिए पूर्वकी ओर यशके लिये दक्षिणकी ओर धनके लिये पश्चिमकी ओर और सत्यके लिये उत्तरकी ओर मुखकर भोजन करना चाहिये ॥ ५२ ॥

[द्विजको सायं-प्रातः भोजन करनेका विधान स्मृतियोंमें वर्णित है, बीचमें भोजन नहीं करना चाहिये (तीन वार भोजन नहीं करना चाहिये)। यह विधि अग्निहोत्रके समान (पुण्यप्रद) है ॥ ६ ॥]

आयुषे हितमन्नं प्राङ्मुखो भुङ्क्ते। आयुः कामः प्राङ्मुखो भुङ्क्त इत्यर्थः। यशसे हितं दक्षिणामुखः। श्रियमिच्छन्प्रत्यङ्मुखः। ऋतं सत्यं तत्फलमिच्छन्नुदङ्मुखो भुञ्जीत ॥५२॥

उपस्पृश्य द्विजो नित्यमन्नमद्यात्समाहितः ।
भुक्त्वा चोपस्पृशेत्सम्यगद्भिः खानि च संस्पृशेत् ॥ ५३ ॥

द्विज नित्य (ब्रह्मचर्यावस्थाके बाद भी) सावधान हो तीन आचमन कर भोजन करना आरम्भ करे तथा भोजन करनेके बाद भी (तीन) आचमन करे और सम्यक् प्रकारसे (शास्त्रानुसार) जलसे ६ छिद्रों (दो नाक, दो आँख और दो कान) का स्पर्श करे ॥ ५३ ॥

'निवेद्य गुरवेऽश्नीयादाचम्य' (म० स्मृ० २-५१) यद्यपि भोजनात्प्रागाचमनं विहितं तथाप्यद्भिः खानि च संस्पृशेदिति गुणविधानार्थोऽनुवादः। नित्यं-ब्रह्मचर्यानन्तरमपि द्विज आचम्यान्नं भुञ्जीत। समाहितोऽनन्यमनाः भुक्त्वा चाचामेदिति। सम्यग्-यथाशास्त्रम्। तेन—

"प्रक्षाल्य हस्तौ पादौ च त्रिः पिबेदम्बु वीक्षितम् ।" [द. सं. २. १४]

इत्यादि दक्षाद्युक्तमपि संगृह्णाति। जलेन खानीन्द्रियाणि षट् छिद्राणि च स्पृशेत्, तानि च शिरःस्थानि घ्राणचक्षुःश्रोत्रादीनि ग्रहीतव्यानि। "खानि चोपस्पृशेच्छीर्षण्यानि" इति

गौतमवचनात्। उपस्पर्शनं कृत्वा खानि संस्पृशेदिति पृथग्विधानात्त्रिरब्भक्षणमात्रमाचमनम्, खस्पर्शनादिकमितिकर्तव्यतेति दर्शितम् ॥ ५३ ॥

पूजयेदशनं नित्यमद्याच्चैतदकुत्सयन्।
दृष्ट्वा हृष्येत्प्रसीदेच्च प्रतिनन्देच्च सर्वशः ॥ ५४ ॥

भोजनके पदार्थका "यह प्राणार्थक" ऐसा ध्यान करे और उसकी निन्दा नहीं करते हुए सब अन्नको खा जाय (जूठा न छोड़े), उसे देखकर मनको प्रसन्न रखे और 'मुझे यह अन्न सर्वदा प्राप्त हो' इस प्रकार उसका प्रतिनन्दन करे ॥ ५४ ॥

सर्वदा अन्नं पूजयेत्-प्राणार्थत्वेन ध्यायेत्। तदुक्तमादित्यपुराणे "अन्नं विष्णुः स्वयं प्राह" इत्यनुवृत्तौ—

प्राणार्थं मां सदा ध्यायेत्स मां सम्पूजयेत्सदा।
अनिन्दंश्चैतदद्यात्तु दृष्ट्वा हृष्येत्प्रसीदेच्च ॥ इति।

हेत्वन्तरमपि खेदमन्नदर्शनेन त्यजेत्। प्रतिनन्देत् नित्यमस्माकमेतदस्त्वित्यभिधाय, वन्दनं प्रतिनन्दनम्। तदुक्तमादित्यपुराणे—

अन्नं दृष्ट्वा प्रणम्यादौ प्राञ्जलिः कथयेत्ततः।
अस्माकं नित्यमस्त्वेतदिति भक्त्या स्तुवन्नमेत् ॥

सर्वशः सर्वमन्नम् ॥ ५४ ॥

पूजितं ह्यशनं नित्यं बलमूर्जं च यच्छति।
अपूजितं तु तद् भुक्तमुभयं नाशयेदिदम् ॥ ५५ ॥

पूर्वोक्त प्रकारसे पूजित (सत्कृत अर्थात् अभिनन्दित) अन्न सामर्थ्य और वीर्यको देता है तथा अपूजित (निन्दित अर्थात् निन्दा करते हुए खाया हुआ) अन्न उन दोनों (सामर्थ्य और वीर्य) को नष्ट करता है ॥ ५५ ॥

यस्मात्पूजितमन्नं सामर्थ्यं वीर्यं च ददाति। अपूजितं पुनरेतदुभयं नाशयति। तस्मात्सर्वदाऽन्नं पूजयेदिति पूर्वेणैकवाक्यतापन्नमिदं फलश्रवणम्। स्तुत्यर्थसंध्यावन्दनादावुपात्तदुरितक्षयवन्नित्यं कामनाविषयत्वेनापि नित्यश्रुतिरविहता। नित्यश्रुतिविरोधात् फलश्रवणं स्तुत्यर्थमिति तु मेधातिथिगोविन्दराजौ ॥ ५५ ॥

नोच्छिष्टं कस्यचिद्दद्यान्नाद्याच्चैव तथान्तरा।
न चैवात्यशनं कुर्यान्न चोच्छिष्टः क्वचिद्व्रजेत् ॥ ५६ ॥

उच्छिष्ट (जूठा) अन्न किसीको न दे तथा स्वयं भी न खावे, बीचमें (प्रातः-सायं भोजनके बीचमें अर्थात् तीन बार) न खावे, बहुत अधिक न खावे और जूठे मुंह (बिना आचमन या कुल्ला किये) कहीं न जावे ॥ ५६ ॥

भुक्तावशेषं कस्यचिन्न दद्यात्। चतुर्थ्यां प्राप्तायां सम्बन्धमात्रविवक्षया षष्ठी। अनेनैव सामान्यनिषेधेन शूद्रस्याप्युच्छिष्टदाननिषेधे सिद्धे "नोच्छिष्टं न हविष्कृतम्" इति शूद्रगोचरनिषेधश्चातुर्थः स्नातकव्रतत्वार्थः। दिवासायंभोजनयोश्च मध्ये न भुञ्जीत वारद्वयेऽप्यतिभोजनं न कुर्यात्। नातिसौहित्यमाचरेदिति चातुर्थं स्नातकव्रतार्थम्। उच्छिष्टः सन् क्वचिन्न गच्छेत् ॥ ५६ ॥

अतिभोजने दोषमाह—

अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम् ।
अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥ ५७ ॥

अधिक भोजन करना आरोग्य, आयु, स्वर्ग और पुण्यके लिये अहितकर तथा लोक-निन्दित है; इस कारण उसे (अधिक भोजन करनेको) छोड़ देना चाहिये ॥ ५७ ॥

अरोगो रोगाभावस्तस्मै हितमारोग्यम्, आयुषे हितमायुष्यम्। यस्मादतिभोजनमनानारोग्यमनायुष्यं च भवति, अजीर्णजनकत्वेन रोगमरणहेतुत्वात् । अस्वर्ग्यं च स्वर्गहेतुयागादिविरोधित्वात् । अपुण्यमितरपुण्यप्रतिपक्षत्वात्। लोकविद्विष्टं बहुभोजितया लोकैर्निन्दनात्। तस्मात्तन्न कुर्यात् ॥ ५७ ॥

ब्राह्मेण विप्रस्तीर्थेन नित्यकालमुपस्पृशेत् ।
कायत्रैदशिकाभ्यां वा न पित्र्येण कदाचन ॥ ५८ ॥

ब्राह्मण सर्वदा ब्राह्मतीर्थसे, प्रजापति अथवा दैवतीर्थसे आचमन करे; पितृतीर्थसे कभी भी आचमन न करे। (उक्त तीर्थोंके लक्षण श्लो० ५९में वर्णित हैं) ॥ ५८ ॥

ब्राह्मादिसंज्ञेयं शास्त्रे संव्यवहारार्था स्तुत्यर्था च । न तु मुख्य ब्रह्मदेवताकत्वं संभवति, अयागरूपत्वात् । तीर्थशब्दोऽपि पावनगुणयोगाद् । ब्राह्मेण तीर्थेन सर्वदाविप्रादिराचामेत् । कः प्रजापतिस्तदीयः, "तस्येदम्" (पा० सू० ४।३।१२०) इत्यण् इकारश्चान्तादेशः । त्रैदशिको देवस्ताभ्यां वा । पित्र्येण तु तीर्थेन न कदाचिदाचामेत्, अप्रसिद्धत्वात् ॥ ५८ ॥

ब्राह्मादितीर्थान्याह—

अङ्गुष्ठमूलस्य तले ब्राह्मं तीर्थं प्रचक्षते ।
कायमङ्गुलिमूलेऽग्रे दैवं पित्र्यं तयोरधः ॥ ५९ ॥

हाथके अँगूठेके पास 'ब्राह्मतीर्थ', कनिष्ठा अंगुलीके मूलके पास 'प्रजापति तीर्थ', अगुलियोंके आगे 'दैवतीर्थ' और अङ्गूठे तथा प्रदेशिनी (तर्जनी) अङ्गुलीके बीच पितृतीर्थ होता है ॥ ५९ ॥

अङ्गुष्ठमूलस्याधोभागे ब्राह्मम्, कनिष्ठाङ्गुलिमूले कायम्, अङ्गुलीनामग्रे दैवम्, अङ्गुष्ठप्रदेशिन्योर्मध्ये पित्र्यं तीर्थं मन्वादय आहुः । यद्यपि—

कायमङ्गुलिमूलेऽग्रे दैवं पित्र्यं तयोरधः ।

इत्यत्र चाङ्गुलिमात्रं श्रुतं तथापि स्मृत्यन्तराद्विशेषपरिग्रहः । तथा च याज्ञवल्क्यः—

कनिष्ठादेशिन्यङ्गुष्ठमूलान्यग्रं करस्य च ।
प्रजापतिपितृब्रह्मदेवतीर्थान्यनुक्रमात् ॥ (या० स्मृ० १।१९) ॥ ५९ ॥

सामान्येनोपदिष्टस्याचमनस्यानुष्ठानक्रममाह—

त्रिराचामेदपः पूर्वं द्विः प्रमृज्यात्ततो मुखम् ।
खानि चैव स्पृशेदद्भिरात्मानं शिर एव च ॥ ६० ॥

पहले तीन बार आचमन कर दो बार मुखको (ओष्ठ बन्दकर अंगुष्ठ मूलसे) स्पर्श करे और ६ छिद्रों (नाक, नेत्र और कान के २-२ छिद्रों) का, हृदयका और शिरका जलसे स्पर्श करे ॥६०॥

पूर्वं ब्राह्मादितीर्थेन जलगण्डूषत्रय पिबेत् । अनन्तरं संवृत्यौष्ठाधरौ बारद्वयमङ्गुष्ठमूलेन संमृज्यात् ।

संवृत्याङ्गुष्ठमूलेन द्विः प्रमृज्यात्ततो मुखम् ।

इति दक्षेण विशेषाभिधानात् । खानि-चेन्द्रियाणि जलेन स्पृशेत् । मुखस्य सन्निधानान्मुखखान्येव । गोतमोऽप्याह-"खानि चोपस्पृशेच्छीर्षण्यानि" । "हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः" (बृह० ४।९।७) इत्युपनिषत्सु हृदयदेशत्वेनात्मनः श्रवणादात्मानं हृदयं शिरश्चाद्भिरेव स्पृशेत् ॥ ६० ॥

अनुष्णाभिरफेनाभिरद्भिस्तीर्थेन धर्मवित् ।
शौचेप्सुः सर्वदाचामेदेकान्ते प्रागुदङ्मुखः ॥ ६१ ॥

पवित्रताका इच्छुक धर्मात्मा पुरुष ठंडे और फेन-रहित जलसे ब्राह्म आदि तीर्थों (श्लो० ५८) से एकान्तमें पूर्व या उत्तर मुख बैठकर सर्वदा (ब्रह्मचर्यत्यागके बाद भी भोजनान्तमें) आचमन करे ॥ ६१ ॥

अनुष्णीकृताभिः फेनवर्जिताभिर्ब्राह्मादितीर्थेन शौचमिच्छन्नेकान्ते जनैरनाकीर्णे-शुचिदेश इत्यर्थः । प्राङ्मुख उदङ्मुखो वा सर्वदाऽऽचामेत् । आपस्तम्बेन "तप्ताभिश्च कारणात्" इत्यभिधानाद्व्याध्यादिकारणव्यतिरेकेण नाचामेत । व्याध्यादौ तु उष्णीकृताभिरप्याचमने दोषाभावः । तीर्थव्यतिरेकेणाचमने शौचाभाव इति दर्शयितुमुक्तस्यापि तीर्थस्य पुनर्वचनम् ॥ ६१ ॥

आचमनजलपरिमाणमाह—

हृद्गाभिः पूयते विप्रः, कण्ठगाभिस्तु भूमिपः ।
वैश्योऽद्भिः प्राशिताभिस्तु, शूद्रः स्पृष्टाभिरन्ततः ॥ ६२ ॥

(आचमन-कालमें) ब्राह्मण हृदय तक; क्षत्रिय कण्ठतक, वैश्य मुखतक पहुँचे हुए तथा शूद्र ओष्ठको स्पर्श किये हुए जलसे शुद्ध होता है ॥ ६२ ॥

ब्राह्मणो हृदयगामिनीभिः, क्षत्रियः कण्ठगामिनीभिः, वैश्योऽन्तरास्यप्रविष्टाभिः कण्ठमप्राप्ताभिरपि, शूद्रो जिह्वौष्ठान्तेनापि स्पृष्टाभिरद्भिः पूतो भवति । अन्तत इति तृतीयार्थे तसिः ॥ ६२ ॥

आचमनाङ्गतामुपवीतस्य दर्शयितुमुपवीतलक्षणम्, ततः प्रसङ्गेन प्राचीनावीतीत्यादिलक्षणमाह—

उद्धृते दक्षिणे पाणावुपवीत्युच्यते द्विजः ।
सव्ये प्राचीनआवीती, निवीती कण्ठसज्जने ॥ ६३ ॥

द्विज दाहिना हाथ उठाकर पहने गये (बाँयें कन्धेके ऊपरसे दाहिनी कांखके नीचे लटकते हुए) यज्ञोपवीत होनेपर "उपवीती" (सव्य) बाँया हाथ उठाकर पहने गये (दाहिने कन्धेके ऊपरसे बांयें कांखके नीचे लटकते हुए) यज्ञोपवीत होनेपर "प्राचीनावीती" (अपसव्य) और (मालाकी तरह) कण्ठमें लटकते हुए यज्ञोपवीत होनेपर "निवीती" कहलाता है ॥ ६३ ॥

दक्षिणे पाणावुद्धृते वामस्कन्धस्थिते दक्षिणस्कन्धावलम्बे यज्ञसूत्रे वस्त्रे वोपवीती द्विजः कथ्यते । वामपाणावुद्धृते दक्षिणस्कन्धस्थिते वामस्कंधावलम्बे प्राचीनावीती भण्यते । सव्ये प्राचीनआवीतीति छन्दोनुरोधादुक्तम् । तथा च गोभिलः-"दक्षिणबाहुमुद्धृत्य शिरोऽवधाय सव्येंऽसे प्रतिष्ठापयति दक्षिणस्कन्धमवलम्बनं भवत्येवं यज्ञोपवीती भवति, सव्यं बाहुमुद्धृत्य शिरोऽवधाय दक्षिणेंऽसे प्रतिष्ठापयति सव्यं कक्षमवलम्बनं भवत्येवं प्राचीना-

वीती भवति"। निवीती कण्ठसज्जन इति शिरोवधाय दक्षिणपाण्यादावप्यनुद्धृते कण्ठा देव सज्जन ऋजुप्रालम्बे यज्ञसूत्रे वस्त्रे च निवीती भवति ॥ ६३ ॥

मेखलामजिनं दण्डमुपवीतं कमण्डलुम् ।
अप्सु प्रास्य विनष्टानि गृह्णीतान्यानि मन्त्रवत् ॥ ६४ ॥

मेखला, मृगचर्म, पालाशादि दण्ड, यज्ञोपवीत और कमण्डलुके नष्ट होनेपर उन्हें जलमें छोड़कर मन्त्रपूर्वक दूसरा धारण करना चाहिये ॥ ६४ ॥

मेखलादीनि विनष्टानि भिन्नानि छिन्नानि च जले प्रक्षिप्यान्यानि नवानि स्वस्वगृह्योक्तमन्त्रैर्गृह्णीयात् ॥ ६४ ॥

केशान्तः षोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते ।
राजन्यबन्धोर्द्वाविंशे वैश्यस्य द्व्यधिके ततः ॥ ६५ ॥

गर्भसे सोलहवें वर्षमें ब्राह्मका, बाइसवें वर्षमें क्षत्रियका और चौबीसवें वर्षमें वैश्यका "केशान्त" संस्कार (ब्रह्मचर्यावस्थामें धारण किये केशका छेदन) कराना चाहिये ॥ ६५ ॥

केशान्ताख्यो गृह्योक्तसंस्कारो "गर्भादिसंख्या वर्षाणाम्" इति बौधायनवचनाद्गर्भषोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य, क्षत्रियस्य गर्भद्वाविंशे, वैश्यस्य ततो द्व्यधिके गर्भचतुर्विंशे कर्तव्यः ॥६५॥

अमन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृदशेषतः ।
संस्कारार्थं शरीरस्य यथाकालं यथाक्रमम् ॥ ६६ ॥

शरीर-संस्कारके लिये पूर्वोक्त समय और क्रम से स्त्रियों के सब संस्कारको बिना मन्त्रके ही करना चाहिये ॥ ६६ ॥

इयमावृदयं जातकर्मादिक्रियाकलापः समय उक्तकालक्रमेण शरीरसंस्कारार्थं स्त्रीणाममन्त्रकः कार्यः । ६६ ॥

अनेनोपनयनेऽपि प्राप्ते विशेषमाह—

वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः ।
पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया ॥ ६७ ॥
[अग्निहोत्रस्य शुश्रूषा सायमुद्वासमेव च ।
कार्यं पत्न्या प्रतिदिनमिति कर्म च वैदिकम् ॥ ७ ॥

स्त्रियोंका विवाह संस्कार ही वैदिक संस्कार (यज्ञोपवीतरूप), पति-सेवा ही गुरुकुल-निवास (वेदाध्ययनरूप) और गृह-कार्य ही अग्निहोत्र कर्म कहा गया है। (अत एव उनके लिये यज्ञोपवीत, गुरुकुल-निवास और अग्निहोत्र कर्म करने की शास्त्राज्ञा नहीं है) ॥ ६७ ॥

[अग्निहोत्रकी सेवा, सायंकाल पतिके कार्योंमें सहयोगदान स्त्रियोंको प्रतिदिन करना चाहिये, यही उनका वैदिक कर्म है ॥ ७ ॥]

विवाहविधिरेव स्त्रीणां वैदिकः संस्कार उपनयनाख्यो मन्वादिभिः स्मृतः। पतिसेवैव गुरुकुले वासो वेदाध्ययनरूपः। गृहकृत्यमेव सायम्प्रातः समिद्धोमरूपोऽग्निपरिचर्या। तस्माद्विवाहादेरुपनयनस्थाने विधानादुपनयनादेर्निवृत्तिरिति ॥ ६७ ॥

एष प्रोक्तो द्विजातीनामौपनायनिको विधिः ।
उत्पत्तिव्यञ्जकः पुण्यः, कर्मयोगं निबोधत ॥ ६८ ॥

(भृगुमुनि महर्षियोंसे कहते हैं कि) द्विजोंके द्वितीय जन्मका व्यञ्जक उपनयन-विधितक पुण्य-वर्द्धक संस्कारकों मैंने कहा; अब उनके दूसरे कर्तव्योंको तुम लोग सुनो ॥ ६८ ॥

औपनायनिक इत्यनुशतिकादित्वादुभयपदवृद्धिः। अयं द्विजातीनामुपनयनसम्बन्धी कर्मलाप उक्त उत्पत्तेर्द्वितीयजन्मनो व्यञ्जकः॥ ६८ ॥

इदानीमुपनीतस्य येन कर्मणा योगस्तं शृणुतेत्याह—

उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेच्छौचमादितः।
आचारमग्निकार्यं च संध्योपासनमेव च॥ ६९ ॥

गुरु शिष्यका यज्ञोपवीत संस्कार कर उसे शौच-पवित्रता (५।१३६), आचार-स्नान-क्रिया आदि, अग्नि-कार्य (समिधाको लाना तथा प्रातः-सायंकाल हवन करना) और सन्ध्योपासन कर्मको सिखलावे ॥ ६९ ॥

गुरुः शिष्यमुपनीय प्रथमम् "एकां लिङ्गे गुदे तिस्रः"। (म० स्मृ० ५-१३६) इत्यादि वक्ष्यमाणं शौचम्, स्नानाचमनाद्याचारम्, अग्नौ सायम्प्रातः समिद्धोमानुष्ठानम्, समन्त्रकसंध्योपासनविधिं च शिक्षयेत्॥ ६९ ॥

अध्येष्यमाणस्त्वाचान्तो यथाशास्त्रमुदङ्मुखः।
ब्रह्माञ्जलिकृतोऽध्याप्यो लघुवासा जितेन्द्रियः॥ ७० ॥

अध्ययन करनेवाला, शास्त्रोक्त विधिसे आचमन किया हुआ ब्रह्माञ्जलि (श्लो० ७१ में वक्ष्यमाण) बांधकर हलके (कौपीन आदि लघु) वस्त्रको पहना हुआ और जितेन्द्रिय शिष्य पढ़ानेके योग्य होता है ॥ ७० ॥

अध्ययनं करिष्यमाणः शिष्यो यथाशास्त्रं कृताचमन उत्तराभिमुखः कृताञ्जलिः पवित्रवस्त्रः कृतेन्द्रियसंयमो गुरुणा अध्याप्यः। "प्राङ्मुखो दक्षिणतः शिष्य उदङ्मुखो वा" [१।२२] इति गौतमवचनात्प्राङ्मुखस्याप्यध्ययनम्। ब्रह्माञ्जलिकृत इति "वाऽऽहिताग्न्यादिषु" (पा० सू० २।२।३७) इत्यनेन कृतशब्दस्य परनिपातः॥ ७० ॥

ब्रह्मारम्भेऽवसाने च पादौ ग्राह्यौ गुरोः सदा।
संहत्य हस्तावध्येयं स हि ब्रह्माञ्जलिः स्मृतः॥ ७१ ॥

वेद पढ़नेके पहले और बादमें शास्त्रोक्त (श्लो० ७२ में वक्ष्यमाण) विधिसे गुरुके दोनों चरणों को स्पर्श करना और हाथ जोड़कर पढ़ना ही 'ब्रह्माञ्जलि" कहलाता है ॥ ७१ ॥

वेदाध्ययनस्यारम्भे कर्तव्ये समापने च कृते गुरोः पादोपसंग्रहणं कर्तव्यम्। हस्तौ च संहत्य-सश्लिष्टौ कृत्वाऽध्येतव्यम्। स एव ब्रह्माञ्जलिः स्मृत इति पूर्वश्लोकोक्तब्रह्माञ्जलिशब्दार्थव्याकारः॥ ७१ ॥

व्यत्यस्तपाणिना कार्यमुपसंग्रहणं गुरोः।
सव्येन सव्यः स्प्रष्टव्यो, दक्षिणेन च दक्षिणः॥ ७२ ॥

हाथोंको हेरफेर कर गुरुके चरणोंका स्पर्श करना चाहिये, दाहिने हाथसे गुरुका दाहिना चरण और बायें हाथसे गुरुका बांयां चरण स्पर्श करना (छूकर प्रणाम करना) चाहिये ॥ ७२ ॥

पादोपसंग्रहणं कार्यमित्यनन्तरमुक्तम्, तद् व्यत्यस्तपाणिना कार्यमिति विधीयते। कीदृशो व्यत्यासः कार्य इत्यत आह-सव्येन पाणिना सव्यः पादः, दक्षिणेन पाणिना दक्षिणः

पादौ गुरोः स्प्रष्टव्यः। उत्तानहस्ताभ्यां चेदं पादयोः स्पर्शनं कार्यम्। यदाह पैठीनसिः—"उत्तानाभ्यां हस्ताभ्यां दक्षिणेन दक्षिणम्, सव्यं सव्येन पादावभिवादयेत्"। दक्षिणोपरिभावेन व्यत्यासो वाऽयं, शिष्टसमाचारात्॥ ७२॥

अध्येष्यमाणं तु गुरुर्नित्यकालमतन्द्रितः।
अधीष्व भो इति ब्रूयाद्विरामोऽस्त्विति चारमेत्॥ ७३॥

अध्ययन करनेवाले शिष्यसे आलस्य-हीन गुरु सर्वदा (प्रतिदिन अध्ययन आरम्भ करनेके पहले) 'भो अधीष्व' अर्थात् 'हे शिष्य ! पढ़ो' ऐसा कहकर अध्ययन आरम्भ करावे तथा (अन्तमें) 'विरामोऽस्तु' अर्थात् 'अब पढ़ना समाप्त हो' ऐसा कहकर अध्ययनको समाप्त करे॥ ७३॥

अध्ययनं करिष्यमाणं शिष्यं सर्वदा अनलसो गुरुरधीष्व भो इति प्रथमं वदेत्। शेषे विरामोऽस्त्वित्यभिधाय विरमेन्निवर्तेत॥ ७३॥

ब्रह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा।
स्रवत्यनोङ्कृतं पूर्वम्, पुरस्ताच्च विशीर्यति॥ ७४॥

शिष्यको वेदारम्भ (वेद पढ़ानेके प्रारम्भ) में और अन्तमें "ॐ" शब्दका उच्चारण करना चाहिये। पहले 'ॐ' शब्दका उच्चारण नहीं करनेसे अध्ययन धीरे-धीरे नष्ट हो जाता है तथा अन्तमें 'ॐ' शब्दका उच्चारण नहीं करनेसे वह नहीं ठहरता (स्थिर होता) है॥ ७४॥

ब्रह्मणो वेदस्याध्ययनारम्भे, अध्ययनसमाप्तौ च ॐकारं कुर्यात्। यस्मात्पूर्वं यस्योङ्कारो न कृतस्तत्स्रवति–शनैः शनैर्नश्यति। यस्य पुरस्तान्न कृतस्तद्विशीर्यति–अवस्थितिमेव न लभते॥ ७४॥

प्राक्कूलान्पर्युपासीनः पवित्रैश्चैव पावितः।
प्राणायामैस्त्रिभिः पूतस्तत ओंकारमर्हति॥ ७५॥

कुशासनपर पूर्वाभिमुख बैठा हुआ द्विज शिष्य दोनों हाथमें ग्रहण किये हुए (कुशनिर्मित) पवित्रोंसे शुद्ध हो तथा तीन प्राणायामोंसे (अकारादि लघु मात्रावाले १५ अक्षरोंके उच्चारण-कालके बराबर 'प्राणायाम–काल' जानना चाहिये) शुद्ध होकर बादमें 'ॐ' शब्दके उचारण करनेके योग्य होता है॥ ७५॥

प्राक्कूलान्-प्रागग्रानन्दर्भानध्यासीनः पवित्रैः कुशैः करद्वयस्थैः पवित्रीकृतः "प्राणायामास्त्रयः पञ्चदशमात्राः" [१.१९] इति गौतमस्मरणात्पञ्चदशमात्रैस्त्रिभिः प्राणायामैः प्रयतः। अकारादिलघ्वक्षरकालश्च मात्रा। ततोऽध्ययनार्थमोंकारमर्हति॥ ७५॥

अकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापतिः।
वेदत्रयान्निरदुहद् भूर्भुवः स्वरितीति च॥ ७६॥

ब्रह्माने ऋक् आदि तीनों वेदोंसे क्रमशः "अ, उ, म" इन तीनों अक्षरोंको तथा "भूः, भुवः, स्वः" इन तीनों व्याहृतियोंको निकाला है॥ ७६॥

"एतदक्षरमेतां च" (म० स्मृ० २–७८) इति वक्ष्यति तस्यायं शेषः। अकारमुकारमकारं च प्रणवावयवभूतं ब्रह्मा वेदत्रयादृग्यजुःसामलक्षणाद्भूर्भुवःस्वरिति व्याहृतित्रयं च क्रमेण निरदुहदुद्धृतवान्॥ ७६॥

त्रिभ्य एव तु वेदेभ्यः पादं पादमदूदुहत्।
तदित्यृचोऽस्याः सावित्र्याः परमेष्ठी प्रजापतिः॥ ७७॥

परमेष्ठी ब्रह्माने ऋक् आदि तीनों वेदोंसे "तत्" इस सावित्रीका १-१ पाद निकाला है ॥७७॥

तथा त्रिभ्य एव वेदेभ्य ऋग्यजुःसामभ्यः 'तदित्यृचः' इति प्रतीकेनानूदितायाः सावित्र्याः पादं पादमिति त्रीन्पादान्ब्रह्मा चकर्ष। परमे स्थाने तिष्ठतीति-परमेष्ठी ॥ ७७ ॥

एतदक्षरमेतां च जपन्व्याहृतिपूर्विकाम् ।
संध्ययोर्वेदविद्विप्रो वेदपुण्येन युज्यते ॥ ७८ ॥

इस अक्षर (ॐ) को तथा तीनों व्याहृतियों (भूः, भुवः, स्वः) के सहित सावित्री ("तत्") को दोनों सन्ध्याओं (प्रातः-सायंकाल) में जपता हुआ वेदवित् द्विज वेदके पुण्यसे युक्त होता है ॥

एतदक्षरमोंकाररूपम् , एतां च त्रिपदां सावित्रीं व्याहृतित्रयपूर्विकां संध्याकाले जपन्वेदज्ञो विप्रादित्रयोऽध्ययनपुण्येन युक्तो भवति । अतः संध्याकाले 'प्रणवव्याहृतित्रयोपेतां सावित्रीं जपेदि'ति विधिः कल्प्यते ॥ ७८ ॥

सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य बहिरेतत्त्रिकं द्विजः ।
महतोऽप्येनसो मासात्त्वचेवाहिर्विमुच्यते ॥ ७९ ॥

इन तीनों (१. प्रणव—"ॐ", २. व्याहृति—"भूः, भुवः,स्वः" और ३. सावित्री-"तत्") को बाहर (पवित्र तथा एकान्त स्थानमें) प्रतिदिन एक सहस्र वार एक मास तक जपने वाला द्विज-कांचलीसे सर्पके समान-बड़े पापसे भी छूट जाता है ॥ ७९ ॥

संध्यायामन्यत्र काल एतत्प्रकृतं प्रणवव्याहृतित्रयसावित्र्यात्मकं त्रिकं ग्रामाद्बहिर्नदीतीरारण्यादौ सहस्रावृत्तिं जपित्वा महतोऽपि पापात्सर्प इव कञ्चुकान्मुच्यते । तस्मात्पापक्षयार्थमिदं जपनीयमित्यप्रकरणेऽपि लाघवार्थमुक्तम् । अन्यत्रैतत्त्रयोच्चारणमपि पुनः कर्तव्यं स्यात् ॥ ७९ ॥

एतयर्चा विसंयुक्तः काले च क्रियया स्वया ।
ब्रह्मक्षत्रियविड्योनिर्गर्हणां याति साधुषु ॥ ८० ॥

इन तीन ऋचाओं (१. प्रणव—"ॐ" २. व्याहृति—"भूः, भुवः स्वः' और ३. सावित्री—"तत्") तथा समयपर की जानेवाली क्रियाओं (अग्निहोत्र आदि कर्मों) से हीन ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य सज्जनोंमें निन्दाको प्राप्त करता है ॥ ८० ॥

संध्यायामन्यत्र च समय ऋचैतया सावित्र्या विसंयुक्तः-त्यक्तसावित्रीजपः स्वकीयया क्रियया सायम्प्रातर्होमादिरूपया स्वकाले त्यक्तो ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्योऽपि सज्जनेषु निन्दां गच्छति । तस्मात्स्वकाले सावित्रीजपं स्वक्रियां च न त्यजेत् ॥ ८० ॥

ओंकारपूर्विकास्तिस्रो महाव्याहृतयोऽव्ययाः ।
त्रिपदा चैव सावित्री विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम् ॥ ८१ ॥

ॐकार-पूर्विका (जिनके पहले 'ॐ' कार हैं, ऐसी) ये तीनो महाव्याहृतियां (भूः, भुवः, स्वः अविनश्वर ब्रह्मकी प्राप्ति करानेसे) अव्यय (नाशरहित) हैं और त्रिपदा सावित्री वेदोंका मुख (आदि भाग) है, अथवा ब्रह्मप्राप्तिका द्वार है ॥ ८१ ॥

ओंकारपूर्विकास्तिस्रो व्याहृतयो-भूर्भुवःस्वरित्येता अक्षरब्रह्मावाप्तिफलत्वेनाव्ययाः त्रिपदा च सावित्री ब्रह्मणो वेदस्य मुखमाद्यम्, तत्पूर्वकवेदाध्ययनारम्भात्। अथवा ब्रह्मणः--परमात्मनः प्राप्तेर्द्वारमेतत्, अध्ययनजपादिना निष्पापस्य ब्रह्मज्ञानप्रकर्षेण मोक्षावाप्तेः ॥

अत एवाह—

योऽधीतेऽहन्यहन्येतांस्त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः ।
स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्तिमान् ॥ ८२ ॥

जो प्रतिदिन निरालस होकर तीन वर्ष तक 'ॐ' कार-सहित महाव्याहृतियोंका जप करता है, वह वायुरूप (स्वेच्छानुसार सर्वत्र गमन करनेवाला) और ब्रह्मस्वरूप हो जाता है ॥ ८२ ॥

यः प्रत्यहमनलसः सन्सावित्रीं प्रणवव्याहृतियुक्तां वर्षत्रयमधीते, स परं ब्रह्माभिमुखेन गच्छति । स वायुभूतो वायुरिव कामचारी जायते । खं ब्रह्म तदेवास्य मूर्तिरिति खमूर्तिमान् भवति, शरीरस्यापि नाशाद् ब्रह्मैव सम्पद्यते ॥ ८२ ॥

एकाक्षरं परं ब्रह्म, प्राणायामाः परं तपः ।
सावित्र्यास्तु परं नास्ति मौनात्सत्यं विशिष्यते ॥ ८३ ॥

केवल एक अक्षर (ॐ) ही ' ब्रह्म-प्राप्तिका साधक होनेसे) सर्वश्रेष्ठ है, तीन प्राणायाम ही (चान्द्रायण आदि व्रतोंसे भी) श्रेष्ठ तप है, सावित्रीसे श्रेष्ठ कोई दूसरा मन्त्र नहीं है और मौन की अपेक्षा सत्य-भाषण श्रेष्ठ है ॥ ८३ ॥

एकाक्षरमोंकारः-परं ब्रह्म, परब्रह्मावाप्तिहेतुत्वात् । ओंकारस्य जपेन तदर्थस्थ च परब्रह्मणो भावनया तदवाप्तेः । प्राणायामः सप्रणवसव्याहृतिसशिरस्कगायत्रीत्रिरावृत्तिभिः कृताश्चान्द्रायणादिभ्योऽपि परं तपः । प्राणायामा इति बहुवचननिर्देशात्त्रयोऽश्यं कर्तव्या इत्युक्तम् । सावित्र्याः प्रकृष्टमन्यमन्त्रजातं नास्ति । मौनादपि सत्यं वाग्विशिष्यते । एषां चतुर्णां स्तुत्या 'चत्वार्येतान्युपासनीयानीति' विधिः कल्प्यते । धरणीधरेण तु—

एकाक्षरपरं ब्रह्म प्राणायामपरं तपः ।

इति पठितम् , व्याख्यातं च एकाक्षरं परं यस्य तदेकाक्षरपरं एवं प्राणायामपरमिति ।

[मेधातिथिप्रभृतिभिर्वृद्धैर्लिखितं यतः ।
लिखनात्पाठान्तरं तत्र स्वतन्त्रो धरणीधरः ॥ ८३ ॥]

क्षरन्ति सर्वा वैदिक्यो जुहोतियजतिक्रियाः ।
अक्षरं दुष्करं ज्ञेयं ब्रह्म चैव प्रजापतिः ॥ ८४ ॥

वेद-विहित हवन तथा यज्ञ आदि क्रियायें स्वरूपसे तथा अपना-अपना फल देकर नष्ट हो जाती हैं, (एकमात्र) अक्षर (ॐ) ही दुष्कर ब्रह्म एवं प्रजापति है अर्थात् ओंकारके द्वारा ही ब्रह्म-प्राप्ति होती है ॥ ८४ ॥

सर्वा वेदविहिता होमयागादिरूपाः क्रियाः स्वरूपतः फलतश्च विनश्यन्ति । अक्षरं तु प्रणवरूपमक्षयम् , ब्रह्मप्राप्तिहेतुत्वात् , तत् फलद्वारेणाक्षरं ब्रह्मीभावस्याविनाशात् । कथमस्य ब्रह्मप्राप्तिहेतुत्वमत आह-ब्रह्म चैवेति । चशब्दो हेतौ । यस्मात्प्रजानामधिपतिर्यद् ब्रह्म तदेवायमोंकारः । स्वरूपतो ब्रह्मप्रतिपादकत्वेन चास्य ब्रह्मत्वम् । उभयथाऽपि ब्रह्मत्वप्रतिपादकत्वेन वाऽयमुपासितो जपकाले मोक्षहेतुरित्यनेन दर्शितम् ॥ ८४ ॥

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः ।
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः ॥ ८५ ॥

विधि-यज्ञों (अमावास्या तथा पूर्णिमा आदि तिथियोंमें किये जानेवाले यज्ञों) से जपयज्ञ (गायत्री अर्थात् प्रणवादिका जपरूप यज्ञ) दश गुना श्रेष्ठ है, उपांशु जप सौगुना श्रेष्ठ है और मानस जप सहस्र गुना श्रेष्ठ है ॥ ८५ ॥

विधिविषयो यज्ञो-विधियज्ञो दर्शपौर्णमासादिस्तस्मात्प्रकृतानां प्रणवादीनां जपयज्ञो दशगुणाधिकः। सोऽप्युपांशुश्चेदनुष्ठितस्तदा शतगुणाधिकः। यत्समीपस्थोऽपि परो न शृणोति तदुपांशु । मानसस्तु जपः सहस्रगुणाधिकः । यत्र जिह्वौष्ठं मनागपि न चलति स मानसः ॥ ८५ ॥

ये पाकयज्ञाश्चत्वारो विधियज्ञसमन्विताः ।
सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥ ८६ ॥

दर्श-पौर्णमास (अमावस्या एवं पूर्णिमाको किये जानेवाले) आदि विधि यज्ञोंके सहित भी (पञ्च-महायज्ञान्तर्गत) जो चार पाक-यज्ञ हैं, वे भी जप-यज्ञके सोलहवें भागके बराबर नहीं हैं ॥

ब्रह्मयज्ञादन्ये ये पञ्चमहायज्ञान्तर्गता वैश्वदेव-होम-बलिकर्म-नित्यश्राद्धातिथिभोजनात्मकाश्चत्वारः पाकयज्ञाः। विधियज्ञा-दर्शपौर्णमासादयस्तैः सहिता जपयज्ञस्य षोडशीमपि कलां न प्राप्नुवन्ति । जपयज्ञस्य षोडशांशेनापि न समा इत्यर्थः ॥ ८६ ॥

जप्येनैव तु संसिध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः ।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ॥ ८७ ॥

ब्राह्मण जपसे ही सिद्धिको पाता है, इसमें सन्देह नहीं है, अन्य कुछ करे या न करे, वह जपमात्रसे ही ब्रह्ममें लीन हो जाता है तथा सबका मित्र बन जाता है ॥ ८७ ॥

ब्राह्मणो जप्येनैव निःसंदेहां सिद्धिं लभते-मोक्षप्राप्तियोग्यो भवति । अन्यद्वैदिकं यागादिकं, करोतु न करोतु वा। यस्मान्मैत्रो ब्राह्मणो ब्रह्मणः सम्बन्धी ब्रह्माणि लीयत इत्यागमेषूच्यते । मित्रमेव मैत्रः, स्वार्थेऽण् । यागादिषु पशुबीजादिवधान्न सर्वप्राणिप्रियता सम्भवति । तस्माद्यागादिना विनाऽपि प्रणवादिजपनिष्ठो निस्तरतीति जपप्रशंसा, न तु यागादीनां निषेधस्तेषामपि शास्त्रीयत्वात् ॥ ८७ ॥

इदानीं सर्ववर्णानुष्ठेयं सकलपुरुषार्थोपयुक्तमिन्द्रियसंयममाह—

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु ।
संयमे यत्नमातिष्ठेद्विद्वान्यन्तेव वाजिनाम् ॥ ८८ ॥

विद्वान् चित्तको आकर्षित करनेवाले विषयों में भ्रमण करनेवाली इन्द्रियोंका संयम (वशमें) करनेका वैसा प्रयत्न करे, जैसे इधर-उधर भागनेवाले घोड़ेको सारथि अपने वशमें रखनेका प्रयत्न करता है ॥ ८८ ॥

इन्द्रियाणां विषयेष्वपहरणशीलेषु वर्तमानानां ज्ञयित्वादिविषयदोषाज्ञानन्संयमे यत्नं कुर्यात्सारथिरिव रथनियुक्तानामश्वानाम् ॥ ८८ ॥

एकादशेन्द्रियाण्याहुर्यानि पूर्वे मनीषिणः ।
तानि सम्यक्प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥ ८९ ॥

(भृगु मुनि महर्षियोंसे कहते हैं कि--) पूर्व विद्वानोंने जिन ग्यारह इन्द्रियोंको बतलाया है, उन्हें अच्छी तरह क्रमसे कहता हूँ ॥ ८९ ॥

पूर्वपण्डिता यान्येकादशेन्द्रियाण्याहुस्तान्यर्वाचां शिक्षार्थं सर्वाणि कर्मतो नामतश्च क्रमाद्वक्ष्यामि ॥ ८९ ॥

श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी ।
पायूपस्थं हस्तपादं वाक्चैव दशमी स्मृता ॥ ९० ॥

कान, चर्म, नेत्र, जीभ, पांचवी नाक, गुदा, लिङ्ग, हाथ, पैर और दशवीं वाणी, ये दश इन्द्रियां कही गयी हैं ॥ ९० ॥

तेष्वेकादशसु श्रोत्रादीनि दशैतानि बहिरिन्द्रियाणि नामतो निर्दिष्टानि । पायूपस्थं हस्तपादमिति "द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्" (पा० सू० २-४-२) इति प्राण्यङ्गद्वन्द्वत्वादेकवद्भावः ॥ ९० ॥

बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैषां श्रोत्रादीन्यनुपूर्वशः ।
कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैषां पाय्वादीनि प्रचक्षते ॥ ९१ ॥

(इनमें) कान आदि पांच इन्द्रियां "ज्ञानेन्द्रिय" हैं और गुदा आदि पाँच इन्द्रियां "कर्मेन्द्रिय" हैं ॥ ९१ ॥

एषां दशानां मध्ये श्रोत्रादीनि पञ्च क्रमोक्तानि बुद्धेः करणत्वात् बुद्धीन्द्रियाणि, पाय्वादीनि चोत्सर्गादिकर्मकरणत्वात्कर्मेन्द्रियाणि तद्विदो वदन्ति ॥ ९१ ॥

एकादशं मनो ज्ञेयं स्वगुणेनोभयात्मकम् ।
यस्मिञ्जिते जितावेतौ भवतः पञ्चकौ गणौ ॥ ९२ ॥

दोनों प्रकारकी इन्द्रियों (ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय) के गुणवाली मन ग्यारहवीं इन्द्रिय है, इसके जीत लेने (वशमें कर लेने) पर वे दोनों पांच २ इन्द्रियां (५ ज्ञानेन्द्रियां और ५ कर्मेन्द्रियां) जीत ली जाती हैं ॥ ९२ ॥

एकादशसंख्यापूरकं च मनोरूपमन्तरिन्द्रियं ज्ञातव्यम् । स्वगुणेन संकल्परूपेणोभयरूपेन्द्रियगणप्रवर्तकस्वरूपम् । अत एव यस्मिन्मनसि जिते उभावपि पञ्चकौ बुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियगणौ जितौ भवतः । पञ्चकाविति "तदस्य परिमाणम्" (पा० सू० ५ । १ । ५७) इत्यनुवृत्तौ संख्यायाः संज्ञासङ्घसूत्राध्ययनेषु" (पा० सू० ५।१।५८) इति पञ्चसंख्यापरिमितसङ्घार्थे कः ॥ ९२ ॥

मनोधर्मसंकल्पमूलत्वादिन्द्रियाणां प्रायेण प्रवृत्तेः किमर्थमिन्द्रियनिग्रहः कर्तव्यः ? इत्यत आह—

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम् ।
संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति ॥ ९३ ॥

इन्द्रियोंके विषयों (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध आदि) में आसक्त होकर मनुष्य अवश्य ही दोषभागी होता है और इन (इन्द्रियों) को वशमें करके सिद्धिको प्राप्त करता है ॥ ९३ ॥

यस्मादिन्द्रियाणां विषयेषु प्रसक्त्या दृष्टादृष्टं च दोषं निःसंदेहं प्राप्नोति । तान्येव पुनरिन्द्रियाणि सम्यङ् नियम्य सिद्धिं मोक्षादिपुरुषार्थयोग्यतारूपां लभते । तस्मादिन्द्रियसंयमं कुर्यादिति शेषः ॥ ९३ ॥

किमिन्द्रियसंयमेन विषयोपभोगादेरलब्धकामो निवर्त्स्यतीत्याशङ्क्याह—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥ ९४ ॥

विषयोंके उपभोगसे इच्छा कभी शान्त (पूरी) नहीं होती, बल्कि घीसे अग्निके समान वह इच्छा फिर बढ़ती ही जाती है ॥ ९४ ॥

न कदाचित्कामोऽभिलाषः काम्यन्त इति कामा विषयास्तेषामुपभोगेन निवर्तते, किंतु घृतेनाग्निरिवाधिकतममेव वर्धते, प्राप्तभोगस्यापि प्रतिदिनं तदधिकभोगवाञ्छादर्शनात् । अत एव विष्णुपुराणे ययातिवाक्यम्—

"यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः ।
एकस्यापि न पर्याप्तं तदित्यतितृषं त्यजेत् ॥" [४।२।२४]

तथा—

"पूर्णं वर्षसहस्रं मे विषयासक्तचेतसः ।
तथाप्यनुदिनं तृष्णा ममैतेष्वेव जायते [४।२।२८] ॥ ९४ ॥"

यश्चैतान्प्राप्नुयात्सर्वान्यश्चैतान्केवलांस्त्यजेत् ।
प्रापणात्सर्वकामानां परित्यागो विशिष्यते ॥ ९५ ॥

जो मनुष्य इन सब विषयोंको प्राप्त कर ले और जो मनुष्य सब विषयोंका त्याग कर दे, उन दोनोंमें सब विषयोंको प्राप्त करनेवाले मनुष्यकी अपेक्षा सब विषयोंका त्याग करनेवाला मनुष्य श्रेष्ठ है ॥ ९५ ॥

य एतान्सर्वान्विषयान्प्राप्नुयाद्यश्चैतान्कामानुपेक्षते तयोर्विषयोपेक्षकः श्रेयान् । तस्मात्सर्वकामप्राप्तेस्तदुपेक्षा प्रशस्या। तथा हि-विषयलोलुपस्य तत्साधनाद्युत्पादनेः, कष्टसंभवो विपत्तौ च क्लेशातिशयो, न तु विषयविरसस्य ॥ ९५ ॥

इदानीमिन्द्रियसंयमोपायमाह—

न तथैतानि शक्यन्ते संनियन्तुमसेवया ।
विषयेषु प्रजुष्टानि यथा ज्ञानेन नित्यशः ॥ ९६ ॥

विषयोंमें आसक्त इन्द्रियां सर्वदा ज्ञानसे जिस प्रकार रोकी जा सकती हैं, उस प्रकार विषयोंको विना सेवन किये नहीं रोकी जा सकतीं (अतः विषयोंके दोषज्ञान आदिके द्वारा बहिरिन्द्रियोंको वशमें करे) ॥ ९६ ॥

एतानीन्द्रियाणि विषयेषु प्रसक्तानि तथा नासेवया विषयसन्निधिवर्जनरूपया नियन्तुं न शक्यन्ते, दुर्निवारत्वात् । यथा सर्वदा विषयाणां क्षयित्वादिदोषज्ञानेन शरीरस्य चास्थिस्थूलमित्यादिवक्ष्यमाणदोषचिन्तनेन। तस्माद्विषयदोषज्ञानादिना बहिरिन्द्रियाणि मनश्च नियच्छेत् ॥ ९६ ॥

यस्मादनियमितं मनो विकारस्य हेतुः स्यादत आह—

वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च ।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित् ॥ ९७ ॥

दुष्ट स्वभाववाले (सर्वदा विषय भोगकी भावनामें आसक्त) मनुष्यकी वेदाध्ययन, दान, यज्ञ, नियम और तपस्यायें कभी सिद्ध नहीं होती हैं ॥ ९७ ॥

वेदाध्ययन-दान-यज्ञ-नियमतपांसि भोगादिविषयसेवासंकल्पशालिनो न कदाचित्फलसिद्धये प्रभवन्ति ॥ ९७ ॥

जितेन्द्रियस्य स्वरूपमाह—

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः ।
न हृष्यति ग्लायति वा, स विज्ञेयो जितेन्द्रियः ॥ ९८ ॥

जो मनुष्य (प्रशंसा या निन्दाकी बातको) सुनकर, (चिकने एवं कोमल रेशमी वस्त्रादि तथा रूखे कम्बलादिको) छूकर, (सुन्दर या कुरूपको) देखकर, (स्वादयुक्त या स्वादहीन वस्तुको) खाकर, और (सुगन्धित तथा दुर्गन्धित वस्तुको) सूंघकर न तो प्रसन्न होता हैं और न खिन्न होता है; उसे "जितेन्द्रिय" जानना चाहिये ॥ ९८ ॥

स्तुतिवाक्यम्न , निन्दावाक्यं च श्रुत्वा, सुखस्पर्शं दुकूलादि, दुःखस्पर्शं मेषकम्बलादि स्पृष्ट्वा, सुरूपं कुरूपं च दृष्ट्वा, स्वादु अस्वादु च भुक्त्वा, सुरभिमसुरभिं च घ्रात्वा यस्य न हर्षविषादौ, स जितेन्द्रियो ज्ञातव्यः ॥ ९८ ॥

एकेन्द्रियासंयमोऽपि निवार्यत इत्याह—

इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम् ।
तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पादादिवोदकम् ॥ ९९ ॥

यदि सब इन्द्रियोंमें से एक भी इन्द्रिय विषयासक्त रहती है तो उससे उस मनुष्यकी बुद्धि वैसे नष्ट हो जाती है, जैसे चमड़ेके बर्तन (मशक आदि) के एक भी छिद्रसे सब पानीं बहकर नष्ट हो जाता हैं ॥ ९९ ॥

सर्वेषामिन्द्रियाणां मध्ये यद्येकमपीन्द्रियं विषयप्रवणं भवति, ततोऽस्य विषयपरस्य इन्द्रियान्तरैरपि तत्त्वज्ञानं क्षरति-न व्यवतिष्ठते । चर्मनिर्मितोदकपात्रादिव केनापि च्छिद्रेण सर्वस्थानस्थमेवोदकं न व्यवतिष्ठते ॥ ९९ ॥

इन्द्रियसंयमस्य सर्वपुरुषार्थहेतुतां दर्शयति—

वशे कृत्वेन्द्रियग्रामं संयम्य च मनस्तथा ।
सर्वान्संसाधयेदर्थानक्षिण्वन्योगतस्तनुम् ॥ १०० ॥

बहिरिन्द्रियसमूह तथा मनको वशमें करके उपायसे अपने शरीरको कष्ट नहीं देता हुआ मनुष्य सम्पूर्ण पुरुषार्थोंको सिद्ध करे ॥ १०० ॥

बहिरिन्द्रियगणमायत्तं कृत्वा मनश्च संयम्य सर्वान् पुरुषार्थान्सम्यक्साधयेत् । योगत ऊपायेन स्वदेहमपीडयन् यः सहजसुखी संस्कृतान्नादिकं भुङ्क्ते, स क्रमेण तं त्यजेत् ॥ १०० ॥

पूर्वां संध्यां जपंस्तिष्ठेत्सावित्रीमार्कदर्शनात् ।
पश्चिमां तु समासीनः सम्यगृक्षविभावनात् ॥ १०१ ॥

प्रातःकालके सन्ध्योपासन कर्ममें एकासनसे खड़ा होकर सूर्योदय तक सावित्री का जप करता रहे तथा सायंकालका सन्ध्योपासन कर्म अच्छी तरह ताराओंके उदय होनेतक बैठकर करे। (शास्त्रों में दो घड़ीका सन्ध्याकाल कहा गया है) ॥ १०१ ॥

पूर्वां संध्यां पश्चिमामिति च कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे (पा० सू० २।३।५) इति द्वितीया। प्रथमसंध्यां सूर्यदर्शनपर्यन्तं सावित्रीं जपंस्तिष्ठेत्—आसनादुत्थाय निवृत्तगतिरेकत्र देशे कुर्यात्। पश्चिमां तु संध्यां सावित्रीं जपसम्यङ्नक्षत्रदर्शनपर्यन्तमुपविष्टः स्यात्। अत्र च फलवत्त्वाज्जपः प्रधानं स्थानासने त्वङ्गे। "फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गम्" इति न्यायात्।

'संध्ययोर्वेदविद्विप्रो वेदपुण्येन युज्यते।" (म० स्मृ० २।७८)

"सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य" (म० स्मृ० २।७९) इति च पूर्वं जपात्फलमुक्तम्।[१] मेधातिथिस्तु स्थानासनयोरेव प्रधान्यमाह। संध्याकालश्च मुहूर्तमात्रम्। तदाह योगियाज्ञवल्क्यः—

ह्रासवृद्धी तु सततं दिवसानां यथाक्रमम्।
संध्या मुहूर्तमात्रं तु ह्रासे वृद्धौ च सा स्मृता ॥ १०१ ॥

पूर्वां संध्यां जपंस्तिष्ठन्नैशमेनो व्यपोहति।
पश्चिमां तु समासीनो मलं हन्ति दिवाकृतम् ॥ १०२ ॥

प्रातःकालकी सन्ध्यामें (एकासनसे) बैठकर जप करता हुआ मनुष्य रात्रि में किये हुए पापों को नष्ट करता है, तथा सायंकालकी सन्ध्यामें बैठकर जप करता हुआ मनुष्य दिनमें किये हुए पापोंको नष्ट करता है ॥ १०२ ॥

---

१. केयं परिनोदना ? श्रौतेन स्मार्तस्य बाधो युक्तः, एवं गृह्याग्निहोमेन विकल्पितम्। नैव चात्र विरोधस्तिष्ठतापि शक्यं होतुमासीनेन च। ननु च न केवले स्थानासने सन्ध्ययोर्विहिते किन्तु त्रिकजपोऽपि। तथा च सावित्रीं जपन् कथं होममन्त्रमुच्चारयेत्। अस्तु जपस्य बाधः, प्रधाने तावत्स्थानासने न विरुध्येते। गुणलोपे च मुख्यस्येत्यनेन न्यायेन जपस्याङ्गत्वाद् बाधो युक्तः, तयोश्च प्रधानत्वं साक्षाद्विधिसम्बन्धात्तिष्ठेदासीत वेति च। जपस्य तु गुणत्वं शत्रन्तत्वाज्जपतेर्लक्षणत्वावगमात्। अधिकारसम्बन्धश्च स्थानासनयोरेव "न तिष्ठति तु यः पूर्वां" (म० स्मृ० २-१०३) तथा "तिष्ठन्नैशमेनो व्यपोहति" (म० स्मृ० २-१०२) इति। यत्तु केनचिदुक्तम् तिष्ठतिरत्र गुणः, प्रधानं जपकर्म ततो हि फलमश्रोष्मेति। तत्रोच्यते-नैवायं कामिनोऽधिकारः कुतः फलश्रवणम्। यत्तु प्रमाणवादवाक्ये वेदपुण्येन युज्यत इति फलानुवादभ्रमः, स तत्रैव निर्णीतस्तस्मात्स्थानसने प्रधाने। अथवाग्निहोत्रिणः सकृत्सावित्रीं जपिष्यन्ति त्रिरावर्तयिष्यन्ति वा। न तावताग्निहोत्रस्य कालातिपत्तिः, अश्नन् सायं विनिर्मुक्त इति न तावता विनिहन्यते। अश्नशब्दः चिरकालवचनः. तावता च कृतः सन्ध्यार्थो भवति अर्कदर्शनपर्यन्तता ह्यङ्गमेवोदितहोमिनां कृतसन्ध्यानामेवाग्निहोत्रहोमः। गौतमेन तु सज्योतिषा ज्योतिषो दर्शनादिति सूत्रस्यार्थः एतावान्कालः सन्ध्योच्यते न वाप्यङ्गम्। तत्रैतावति काले नास्त्यावृत्तिः-यथा 'पौर्णमास्यां यजेते'ति कालानुरोधेन कर्मण आवृत्तिः तथा—"पूर्वां सन्ध्यां सनक्षत्रां पश्चिमां सदिवाकराम्" इति। तदपि काललक्षणं एतावान्काल इह सन्ध्याशब्देनोच्यते। तत्र सान्ध्यो विधिरनुष्ठेयस्तत्रैयति सन्ध्याशब्दवाच्ये काले च। मुहूर्त्तमात्रे यदि त्रिचतुरासु कालकलासु स्थानासनजपान् कुर्यात् सम्पन्न एव विध्यर्थः, न ह्यत्र कृत्स्नकालव्याप्तिः श्रुता। मनोरिव सर्वथाग्निहोत्रसन्ध्याविधिः समानकालावपि शक्यावनुष्ठातुम्। सदाशब्दो नित्यतामाह। उभयसन्ध्याशेषः आसीत आसमनूर्ध्वतावस्थानमुपविष्टो भवेत्, ऋक्षम् नत्रत्रम् अ-तद्विभावनात् आर्कदर्शनादिति य आकारः स इहानुपक्तव्यः। सम्यक्शब्दो दर्शनविभावनयोर्विशेषणं सम्यग्यदा परिपूर्णमण्डल आदित्यो भवति, नक्षत्राणि च भास्वन्ति-स्वभासा युक्तानि नादित्यतेजोभिभूतानि इति।

पूर्वसंध्यायां तिष्ठन् जपं कुर्वाणो निशासंचितं पापं नाशयति। पश्चिमसंध्यायां तूपविष्टो जपं कुर्वन्दिवार्जितं पापं निहन्ति। तत्रापि जपात्फलमुक्तम्। एतच्चाज्ञानादिकृतपापविषयम्। अत एव याज्ञवल्क्यः—

"दिवा वा यदि वा रात्रौ यदज्ञानकृतं भवेत्।
त्रिकालसंध्याकरणात्तत्सर्वं विप्रणश्यति [ ]॥ १०२॥

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्।
स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः॥ १०३॥

जो (द्विज) प्रातःकाल तथा सायंकाल सन्ध्योपासन कर्म नहीं करता है, वह शूद्रके समान सम्पूर्ण द्विज कर्मोंसे (अतिथिसत्कारादि कर्मसे भी) बहिष्कृत करने योग्य है॥ १०३॥

यः पुनः पूर्वसंध्यां नानुतिष्ठति, पश्चिमां च नोपास्ते—तत्तत्कालविहितं जपादि न करोतीत्यर्थः, स शूद्र इव सर्वस्माद् द्विजातिकर्मणोऽतिथिसत्कारादेरपि बाह्यः कार्यः। अनेनैव प्रत्यवायेन संध्योपासनस्य नित्यतोक्ता। नित्यत्वेऽपि सर्वदाऽपेक्षितपापक्षयस्य फलत्वमविरुद्धम्॥ १०३॥

अपां समीपे नियतो नैत्यकं विधिमास्थितः।
सावित्रीमप्यधीयीत गत्वाऽरण्यं समाहितः॥ १०४॥

वनमें (बगीचा, फुलवाड़ी, उपवन आदि एकान्त स्थानमें) जाकर (नदी, तालाव, वापी आदिके) जलके समीपमें जितेन्द्रिय तथा एकाग्रचित्त होकर नित्य विधिको करनेका इच्छुक द्विज सावित्रीका भी अध्ययन (जप) करे। (यह ब्रह्मयज्ञका स्वरूप है, विशेष वेदाध्ययन करनेमें असमर्थ द्विजको इतना तो करना आवश्यक ही है)॥ १०४॥

ब्रह्मयज्ञरूपम्। बहुवेदाध्ययनाशक्तौ सावित्रीमात्राध्ययनमपि विधीयते। अरण्यादिनिर्जनदेशं गत्वा, नद्यादिजलसमीपे नियतेन्द्रियः समाहितोऽनन्यमना नैत्यकं विधिं ब्रह्मयज्ञरूपमास्थितोऽनुतिष्ठासुः सावित्रीमपि प्रणवव्याहृतित्रययुतां यथोक्तामधीयीत॥ १०४॥

वेदोपकरणे चैव स्वाध्याये चैव नैत्यके।
नानुरोधोऽस्त्यनध्याये होममन्त्रेषु चैव हि॥ १०५॥

शिक्षा आदि वेदाङ्गोंमें, नित्य किये जानेवाले ब्रह्मयज्ञरूप स्वाध्यायमें और पवनकर्ममें अनध्याय कृत निषेध नहीं है। (४ अध्यायोक्त अनध्यायमें भी इन्हें करना चाहिये)॥ १०५॥

वेदोपकरणे वेदाङ्गे-शिक्षादौ नैत्यके-नित्यानुष्ठेये च स्वाध्याये—ब्रह्मयज्ञरूपे होममन्त्रेषु चानध्यायादरो नास्ति॥ १०५॥

नैत्यके नास्त्यनध्यायो, ब्रह्मसत्रं हि तत्स्मृतम्।
ब्रह्माहुतिहुतं पुण्यमनध्यायवषट्कृतम्॥ १०६॥

पूर्वोक्त नित्यकर्ममें अनन्याय नहीं है, उसे (मनु आदि महर्षियोंने) ब्रह्मयज्ञ कहा है। ब्रह्मरूपी आहुतिमें हवन किया गया अध्ययनरूप अनध्यायका वषट्कारभी पुण्य ही होता है॥ १०६॥

पूर्वोक्तनैत्यकस्वाध्यायस्यायमनुवादः। नैत्यके जपयज्ञेऽनध्यायो नास्ति, यतः सततभवत्वात्। ब्रह्मसत्रं तन्मन्वादिभिः स्मृतम्। ब्रह्मैवाहुतिर्ब्रह्माहुतिर्हविस्तस्यां हुतमनध्यायाध्ययनमध्ययनरूपमनध्यायवषट्कृतमपि पुण्यमेव भवति॥ १०६॥

यः स्वाध्यायमधीतेऽब्दं विधिना नियतः शुचिः ।
तस्य नित्यं क्षरत्येष पयो दधि घृतं मधु ॥ १०७ ॥

जो मनुष्य जितेन्द्रिय तथा पवित्र होकर एक वर्ष तक भी विधिपूर्वक वेदाध्ययन करता है, उसे यह सर्वदा दूध, दही, घृत तथा मधु देता है, (जिनसे वह देवों तथा पितरोंको तृप्त करता है और वे सब इच्छा तथा जपयज्ञको पूर्ण करनेवाले होते हैं) ॥ १०७ ॥

अब्दमित्यत्यन्तसंयोगे द्वितीया। यो वर्षमप्येकं स्वाध्यायमहरहर्विहिताङ्गयुक्तं नियतेन्द्रियः प्रयतो जपति, तस्यैव स्वाध्यायो जपयज्ञः क्षीरादीनि क्षरति—क्षीरादिभिर्देवानपि तृन्श्चप्रीणाति। ते च प्रीताः सर्वकामजपयज्ञकारिणस्तर्पयन्तीत्यर्थः। अत एव याज्ञवल्क्यः—

मधुना पयसा चैव स देवांस्तर्पयेद् द्विजः।
पितॄन्मधुघृताभ्यां च ऋचोऽधीते हि योऽन्वहम् ॥ (या० स्मृ० १-४१)

इत्युपक्रम्य चतुर्णामेव वेदानां पुराणानां जपस्य च देवपितृतृप्तिफलमुक्त्वा, शेषे
ते तृप्तास्तर्पयन्त्येनं सर्वकामफलैः शुभैः। (या० स्मृ० १-४७)

इत्युक्तवान् ॥ १०७ ॥

अग्नीन्धनं भैक्षचर्यामधःशय्यां गुरोर्हितम् ।
आसमावर्तनात्कुर्यात्कृतोपनयनो द्विजः ॥ १०८ ॥

जिसका यज्ञोपवीत संस्कार हो गया है, ऐसा द्विज समावर्तनकाल (वेदाध्ययन समाप्तकर गृहस्थाश्रममें प्रवेश करनेसे पूर्वकाल) तक प्रातःकाल तथा सायंकाल समिधाका अग्नि में त्याग अर्थात् हवन, भिक्षावृत्ति (२।४९), पृथ्वीपर शयन (खाट—चारपाईपर सोने या चढ़ने तकका सर्वथा निषेध है) और गुरुहित कार्य (गुरुके लिये जल, पुष्प आदि लाकर हितात्वरण) को करे ॥ १०८ ॥

सायंप्रातः समिद्धोमं भिक्षासमूहाहरणमखट्वाशयनरूपामधःशय्यां न तु स्थण्डिलशायित्वमेव। गुरोरुदककुम्भाद्याहरणरूपं हितं कृतोपनयनो ब्रह्मचारी समावर्तनपर्यन्तं कुर्यात् ॥ १०८ ॥

कीदृशः शिष्योऽध्याप्य इत्याह—

आचार्यपुत्रः शुश्रूषुर्ज्ञानदो धार्मिकः शुचिः ।
आप्तः शक्तोऽर्थदः साधुः स्वोऽध्याप्या दश धर्मतः ॥ १०९ ॥

आचार्यपुत्र, सेवा करनेवाला, अन्य विषयकी शिक्षा देनेवाला, धर्मात्मा, पवित्र, बान्धव, ज्ञानके ग्रहण—धारणमें समर्थ, धन देनेवाला हिताभिलाषी और स्वजातीय; ये दश (गुरुके द्वारा) धर्मानुसार पढ़ाने योग्य है ॥ १०९ ॥

आचार्यपुत्रः, परिचारकः, ज्ञानान्तरदाता, धर्मवित , मृद्वार्यादिषु शुचिः, बान्धवः, ग्रहणधारणसमर्थः, धनदाता, हितेच्छुः, ज्ञातिः, दशैते धर्मेणाध्याप्याः ॥ १०९ ॥

नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयान्न चान्यायेन पृच्छतः ।
जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत् ॥ ११० ॥

वेदतत्त्वको जानता हुआ भी विद्वान् विना पूछे किसीसे (तत्त्वज्ञानको) न कहे (अशुद्धोच्चारण करनेपर भी किसीको न टोके, किन्तु यदि शिष्य अशुद्धोच्चारण करे तो उसे अवश्यही टोके और ठीक २ बतलावे), अन्यायसे (भक्ति-श्रद्धा आदिका त्यागकर) पूछने पर भी (तत्त्वज्ञानको) न कहे, किन्तु जड़के समान आचरण करे ॥ ११० ॥

यदन्येनाल्पाक्षरं विस्वरं चाधीतं तस्य तत्त्वं न वदेत्। शिष्यस्य त्वपृच्छतोऽपि वक्तव्यम्। भक्तिश्रद्धादिप्रश्नधर्मोल्लङ्घनम्—अन्यायः, तेन पृच्छतो न ब्रूयात्। जानन्नपि हि प्राज्ञो लोके मूक इव व्यवहरेत्॥ ११० ॥

उक्तप्रतिषेधद्वयातिक्रमे दोषमाह—

अधर्मेण च यः प्राह यश्चाधर्मेण पृच्छति।
तयोरन्यतरः प्रैति विद्वेषं वाऽधिगच्छति॥ १११ ॥

अधर्मसे पूछनेपर भी जो कहता है या अधर्मसे जो पूछता है, उन दोनोंमें से एक (व्यतिक्रम करने वाला) मर जाता है, अथवा उसके साथमें वैर हो जाता है ॥ १११ ॥

अधर्मण पृष्टोऽपि यो यस्य वदति, यश्चान्यायेन यं पृच्छति, तयोरन्यतरो व्यतिक्रमकारी म्रियते, विद्वेषं वा तेन सह गच्छति ॥ १११ ॥

धर्मार्थौ यत्र न स्यातां शुश्रूषा वाऽपि तद्विधा।
तत्र विद्या न वक्तव्या शुभं बीजमिवोषरे॥ ११२ ॥

जिस शिष्यमें धर्म तथा अर्थ न हो अथवा शिक्षानुरूप सेवावृत्ति न हो; ऊसरमें उत्तम बीजके समान उस शिष्यमें विद्यादान न करे ॥ ११२ ॥

यस्मिन् शिष्येऽध्यापिते धर्मार्थौ न भवतः, परिचर्या वाऽध्ययनानुरूपा तत्र विद्या नार्पणीया। सुष्ठु व्रीह्यादिबीजमिवोषरे। यत्र बीजमुप्तं न प्ररोहति, स ऊषरः। न चार्थग्रहणे भृतकाध्यापकत्वमाशङ्कनीयम्, यद्येतावन्मह्यं दीयते तदैतावदध्यापयामीति नियमाभावात्॥ ११२ ॥

विद्ययैव समं कामं मर्तव्यं ब्रह्मवादिना।
आपद्यपि हि घोरायां न त्वेनामिरिणे वपेत्॥ ११३ ॥

वेदज्ञ विद्वान् विद्याके साथमें (विना किसीको पढ़ाये) ही भले मर जाय, किन्तु घोर आपत्ति में भी अपात्र शिष्यको न पढ़ावे ॥ ११३ ॥

विद्ययैव सह वेदाध्यापकेन वरं मर्तव्यम्, न तु सर्वथाऽध्यापनयोग्यशिष्याभावे चापात्रायैव तां प्रतिपादयेत्। तथा छान्दोग्यब्राह्मणम् (?)-"विद्यया सार्धं म्रियेत, न विद्यामूषरे वपेत्" ॥ २१२ ॥

अस्यानुवादमाह—

विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिस्तेऽस्मि रक्ष माम्।
असूयकाय मां मादास्तथा स्यां वीर्यवत्तमा॥ ११४ ॥

विद्या (विद्याकी अधिष्ठात्री देवी) ने ब्राह्मणके पास आकर कहा कि--'मैं तुम्हारा कोष (खजाना) हूँ, मेरी रक्षा करो मेरी निन्दा करने वालेके लिये मुझे मत दो, इससे मैं अत्यन्त वीर्यवती होऊँगी (बनूंगी) ॥ ११४ ॥

विद्याधिष्ठात्री देवता कश्चिदध्यापकं ब्राह्मणमागत्यैवमवदत्—तवाहं निधिरस्मि। मां रक्ष। असूयकादिदोषवते न मां वदेः। तथा सत्यतिशयेन वीर्यवती भूयासम्। तथा च च्छान्दोग्यब्राह्मणम् (?)–"विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम, तवाहमस्मि, त्वं मां पालयानर्हते मानिने चैव मादाः, गोपाय मां श्रेयसी तथाहमस्मि" इति ॥ ११४ ॥

यमेव तु शुचिं विद्यान्नियतब्रह्मचारिणम्।
तस्मै मां ब्रूहि विप्राय निधिपायाप्रमादिने ॥ ११५ ॥

और जिसे तुम पवित्र, जितेन्द्रिय और ब्रह्मचारी समझो; विद्यारूपी कोष रक्षा करनेवाले अप्रमादी उस ब्राह्मणके लिये मुझे कहो। (उसे पढ़ावो) ॥ ११५ ॥

यमेव पुनः शिष्यं शुचिं नियतेन्द्रियं ब्रह्मचारिणं जानासि, तस्मै विद्यारूपनिधिरक्षकाय प्रमादरहिताय मां वद ॥ ११५ ॥

ब्रह्म यस्त्वननुज्ञातमधीयानादवाप्नुयात्।
स ब्रह्मस्तेयसंयुक्तो नरकं प्रतिपद्यते ॥ ११६ ॥

स्वयं अभ्यासार्थ वेदाध्ययन करते हुए या दूसरे शिष्यको पढ़ाते हुए वेदको गुरुकी आज्ञाके विना ही जो ग्रहण करता (स्वयं पढ़ लेता) है वह ब्रह्मकी चोरी करनेका दोषी होकर नरकगामी होता है ॥ ११६ ॥

यः पुनरभ्यासार्थमधीयानादन्यं वा कञ्चिदध्यापयतस्तदनुमतिरहितं वेदं गृह्णाति स वेदस्तेययुक्तो नरकं गच्छति। तस्मादेतन्न कर्तव्यम् ॥ ११६ ॥

लौकिकं वैदिकं वाऽपि तथाऽध्यात्मिकमेव च।
आददीत यतो ज्ञानं तं पूर्वमभिवादयेत् ॥ ११७ ॥
[जन्मप्रभृति यत्किंचिच्चेतसा धर्ममाचरेत्।
तत्सर्वं विफलं ज्ञेयमेकहस्ताभिवादनात् ॥ ८ ॥]

जिस (गुरु) से लौकिक (अर्थशास्त्रादिविषयक), वैदिक (वेदविषयक) और आध्यात्मिक (ब्रह्मविषयक) ज्ञान प्राप्त करे; उसे (बहुत मान्यों के मध्यमें) पहले प्रणाम करे ॥ ११७ ॥

[मनुष्य जन्मसे लेकर जो कुछ धर्म चित्तसे करता है, वह सब एक हाथसे अभिवादन करनेसे निष्फल हो जाता है। (अत एव दोनों हाथोंसे गुरुका चरणस्पर्श कर (२।७२) प्रणाम करना चाहिये) ॥ ८ ॥]

लौकिकमर्थशास्त्रादिज्ञानम्, वैदिकं वेदार्थज्ञानम्, आध्यात्मिकं ब्रह्मज्ञानं यस्मात्तु गृह्णाति, तं बहुमान्यमध्ये स्थितं प्रथममभिवादयेत्। लौकिकादिज्ञानदातॄणामेव त्रयाणां समवाये यथोत्तरं मान्यत्वम् ॥ ११७ ॥

सावित्रीमात्रसारोऽपि वरं विप्रः सुयन्त्रितः।
नायन्त्रितस्त्रिवेदोऽपि सर्वाशी सर्वविक्रयी ॥ ११८ ॥

केवल सावित्री मात्रका ज्ञाता शास्त्रानुसार आचरण करनेवाला ब्राह्मण मान्य है, किन्तु निषिद्ध अन्नादि खानेवाला सब कुछ बेचनेवाला तीनों वेदोंका ज्ञाता भी ब्राह्मण मान्य नहीं है ॥ ११८ ॥

सावित्रीमात्रवेत्ताऽपि वरं सुयन्त्रितः शास्त्रनियमितो विप्रादिर्मान्यः। नायन्त्रितो वेदत्रयवेत्ताऽपि निषिद्धभोजनादिशीलः प्रतिषिद्धविक्रेता च। एतच्च प्रदर्शनमात्रम्, सुयन्त्रितशब्देन विधिनिषेधनिष्ठत्वस्य विवक्षितत्वात्॥ ११८॥

शय्यासनेऽध्याचरिते श्रेयसा न समाविशेत्।
शय्यासनस्थश्चैवैनं प्रत्युत्थायाभिवादयेत्॥ ११९॥

बड़ों (गुरु, माता, पिता आदि पूज्यजनों) की शय्या (खाट, गद्दी, आदि) और आसन (चटाई, कुर्सी, चौकी आदि) पर स्वयं न बैठे तथा स्वयं आसनपर बैठा हो तो (गुरुजनों) के आनेपर उठकर उन्हें प्रणाम करे॥ ११९॥

शय्या चासनं च शय्यासनं, "जातिरप्राणिनाम्" (पा॰ सू॰ २।४।६) इति द्वन्द्वैकवद्भावः। तस्मिञ्छ्रेयसा विद्याद्यधिकेन गुरुणा चाध्याचरिते साधारण्येन स्वीकृते च तत्कालमपि नासीत। स्वयं च शय्यासनस्थो गुरावागते उत्थायाभिवादनं कुर्यात्॥ ११९॥

अस्यार्थवादमाह—

ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति।
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान्प्रतिपद्यते॥ १२०॥

युवा मनुष्योंके प्राण वृद्ध लोगोंके आने पर ऊपर चढ़ते हैं और अभ्युत्थान तथा प्रणाम करनेसे वह युवा पुरुष उन्हें पुनः प्राप्त कर लेता है॥ १२०॥

यस्माद्यूनोऽल्पवयसो वयोविद्यादिना स्थविरे आयति—आगच्छति सति प्राणा ऊर्ध्वमुत्क्रामन्ति—देहाद्बहिर्निर्गन्तुमिच्छन्ति, तान्वृद्धस्य प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनः सुस्थान् करोति। तस्माद् वृद्धस्य प्रत्युत्थानाभिवादनं कुर्यात्॥ १२०॥

इतश्च फलमाह—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥ १२१॥

उठकर सर्वदा वृद्धजनों को प्रणाम तथा उनकी सेवा करनेवाले मनुष्यकी आयु, विद्या, यश और बल बढ़ते हैं॥ १२१॥

उत्थाय सर्वदा वृद्धाभिवादनशीलस्य वृद्धसेविनश्च आयुःप्रज्ञायशोबलानि चत्वारि सम्यक् प्रकर्षेण वर्धन्ते॥ १२१॥

संप्रत्यभिवादनविधिमाह—

अभिवादात्परं विप्रो ज्यायांसमभिवादयन्।
असौ नामाहमस्मीति स्वं नाम परिकीर्तयेत्॥ १२२॥

वृद्धजनोंको प्रणाम करता हुआ अभिवादन ("अभिवादये" इस शब्द) के बाद "मैं अमुक नामवाला हूँ" ("अभिवादयेऽमुकनामाऽहं भोः") ऐसा कहे॥ १२२॥

वृद्धमभिवादयन् विप्रादिरभिवादात्परम् 'अभिवादये' इति शब्दोच्चारणानन्तरममुकनामाहमस्मीति स्वं नाम परिकीर्तयेत्। अतो नामशब्दस्य विशेषपरत्वात्स्वनामविशेषोच्चारणानन्तरमभिवादनवाक्ये नामशब्दोऽपि प्रयोज्य इति [1]मेधातिथिगोविन्दराजयोरभिधा-

---

१. असौ नामाहमस्मीति—असाविति सर्वनाम। सर्वविशेषप्रतिपादकमभिमुखीकरणार्थोऽयमीदृशः शब्दप्रयोगः—मया त्वमभिवाद्यसे आशीर्वादार्थमभिमुखीक्रियसे। ततोऽध्येषणामवगम्य प्रत्य-

नमप्रमाणम्। अत एव गौतमः—"स्वनामप्रोच्याहमभिवादय इत्यभिवदेत्"। शाङ्ख्यायनोऽपि—'असावहं भो इत्यात्मनो नामादिशेत्" इत्युक्तवान्। यदि च। नामशब्दश्रवणात्तस्य प्रयोगस्तदा "अकारश्चास्य नाम्नोऽन्ते" (म० स्मृ० २।१२५) इत्यभिधानात्प्रत्यभिवादनवाक्ये नामशब्दोच्चारणं स्यान्न च तत्कस्यचित्संमतम्॥ १२२॥

नामधेयस्य ये केचिदभिवादं न जानते।
तान्प्राज्ञोऽहमिति ब्रूयात्स्त्रियः सर्वास्तथैव च॥ १२३॥

जो (संस्कृतज्ञानहीन होनेसे) पूर्वोक्त नामोच्चारण सहित अभिवादन विधिको नहीं जानते हैं, उनको तथा सब स्त्रियों को "मैं नमस्कार करता हूँ" ऐसा कहकर विद्वान् मनुष्य अभिवादन करे॥ १२३॥

नामधेयस्य उच्चारितस्य सतो ये केचिदभिवाद्याः संस्कृतानभिज्ञतयाऽभिवादमभिवादार्थं न जानन्ति तान्प्रत्यभिवादनेऽप्यसमर्थत्वात्प्राज्ञ इत्यभिवाद्यशक्तिविज्ञोऽभिवादयिताभिवादयेऽहमित्येवं ब्रूयात्। स्त्रियः सर्वास्तथैव ब्रूयात्॥ १२३॥

भोःशब्दं कीर्तयेदन्ते स्वस्य नाम्नोऽभिवादने।
नाम्नां स्वरूपभावो हि भोभाव ऋषिभिः स्मृतः॥ १२४॥

अभिवादनमें आपने नामके बाद "भोः" शब्दका उच्चारण करे (यथा—अभिवादये शुभशर्माहं भोः!,·········)। ऋषियोंने 'भोः' शब्दको नामोंका स्वरूप कहा है॥ १२४॥

अभिवादने यन्नाम प्रयुक्तं तस्यान्ते भोःशब्दं कीर्तयेदभिवाद्यसम्बोधनार्थम्। अत एवाह—नाम्नामिति। भो इत्यस्य यो भावः सत्ता सोऽभिवाद्यनाम्नां स्वरूपभाव ऋषिभिः स्मृतः। तस्मादेवमभिवादनवाक्यम्—"अभिवादये शुभशर्माहमस्मि भोः"॥ १२४॥

आयुष्मान्भव सौम्येति वाच्यो विप्रोऽभिवादने।
अकारश्चास्य नाम्नोऽन्ते वाच्यः पूर्वाक्षरः प्लुतः॥ १२५॥

(गुरु आदि श्रेष्ठ जन) अभिवादन करनेपर ब्राह्मणसे 'हे सौम्य! आयुष्मान् होवो' (आयुष्मान् भव सौम्य!) ऐसा कहे तथा अभिवादनकर्ताके नामके अन्तिम अक्षरके पूर्ववाले अकार (आदि) स्वरको प्लुतोच्चारण करे (यथा—"आयुष्मान् भव सौम्य देवदत्त ३·······")। इसी प्रकार अभिवादनकर्ता क्षत्रिय और वैश्योंसे भी कहे)॥ १२५॥

अभिवादने कृते प्रत्यभिवादयित्रा अभिवादको विप्रादिः "आयुष्मान्भव सौम्य" इति वाच्यः। अस्य चाभिवादकस्य यन्नाम तस्यान्ते योऽकारादिः स्वरो नाम्नामकारान्तत्वनि-

---

भिवादमाशीर्दानादि कर्तुमारभते। न च सामान्यवाचिना सर्वनाम्ना प्रयोज्यमानेनैतदुक्तं भवतीदं नामधेयेन मयाभिवाद्यसे इत्यतोऽध्येषणामनवबुध्य कस्याशिषं प्रयुङ्क्ताम्। अपि च स्वनाम परिकीर्तयेदिति श्रुतम्। तत्रासौ देवदत्तनामाहमित्युक्तेनाभिवादनं प्रतिपद्येत। असावित्येतस्य पदस्यानर्थक्यादर्थानवसायः। स्मृत्यन्तरतन्त्रेणापि व्यवहरन्ति च सूत्रकाराः। यथा पाणिनिः कर्मणि द्वितीयादिशब्दैः इहाप्यसाविति स्वंनामातिदिशतेति यज्ञसूत्रेऽपि परिभाषितम्। यद्येवं स्वं नामेत्यनेनैव सिद्धे असौ नामेत्यनर्थकम्। नामशब्दप्रयोगार्थं कथं स्वं नाम कीर्तयेदिदंनामाहमिति। अनेन स्वरूपेणाहमस्मीति समानार्थत्वाद्विकल्पं मन्यन्ते। अत्र श्लोके एतावदभिवादनवाक्यस्वरूपं सिद्धम्—'अभिवादये देवदत्तनामाहं भोः'॥

यमाभावात्, स प्लुतः कार्यः। स्वरापेक्षं चेदकारान्तत्वं व्यञ्जनान्तेऽपि नाम्नि सम्भवति। पूर्वं नामगतमक्षरं संश्लिष्टं यस्य स पूर्वाक्षरस्तेन नागन्तुरपक्रम्य चाकारादिः स्वरः प्लुतः कार्यः। एतच्च "वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः" (पा. सू. ८।२।८२) इत्यस्यानुवृत्तौ "प्रत्यभिवादेऽशूद्रे" (पा. सू. ८।२।८३) इति प्लुतं स्मरन्पाणिनिः स्फुटमुक्तवान्। व्याख्यातं च वृत्तिकृता वामनेन—"टेरिति किम्, व्यञ्जनान्तस्यैव टेः प्लुतो यथा स्यात्" इति। तस्मादीदृशं प्रत्यभिवादनवाक्यं "आयुष्मान्भव सौम्य शुभशर्मन्" एवं क्षत्रियस्य बलवमन्, वैश्यस्य वसुभूते। "प्लुतो राजन्यविशां वा" इति कात्यायनवचनात्क्षत्रियवैश्ययोः पक्षे प्लुतो न भवति। शूद्रस्य प्लुतो न कार्यः, 'अशूद्रे' इति पाणिनिवचनात्। "स्त्रियामपि निषेधः" इति कात्यायनवचनात्स्त्रियामपि प्रत्यभिवादनावाक्ये न प्लुतः। गोविन्दराजस्तु ब्राह्मणस्य नाम्नि शर्मोपपदं नित्यं प्रागभिधाय प्रत्यभिवादनवाक्ये "आयुष्मान् भव सौम्य भद्र" इति निरुपपदोदाहरणसोपपदोदाहरणानभिज्ञत्वमेव निजं ज्ञापयति। धरणीधरोऽपि "आयुष्मान् भव सौम्य' इति सम्बुद्धिविभक्त्यन्तं मनुवचनं पश्यन्नप्यसम्बुद्धिप्रथमैकवचनान्तममुकशर्मेत्युदाहरन्विचक्षणैरप्युपेक्षणीय एव ॥ १२५ ॥

> यो न वेत्त्यभिवादस्य विप्रः प्रत्यभिवादनम्।
> नाभिवाद्यः स विदुषा यथा शूद्रस्तथैव सः ॥ १२६ ॥

जो ब्राह्मण अभिवादनके बाद प्रत्यभिवादन (शास्त्रसम्मत अभिवादनका आशीर्वादरूप प्रत्युत्तर) भी नहीं जानता हो, विद्वान् ब्राह्मण उसका अभिवादन भी न करे, क्योंकि जैसा शूद्र है, वैसा ही वह (शास्त्रसम्मत प्रत्यभिवादन विधि का अनभिज्ञ ब्राह्मण) भी है ॥ १२६॥

यो विप्रोऽभिवादनस्यानुरूपं प्रत्यभिवादनं न जानात्यसावभिवादनविदुषाऽपि स्वनामोच्चारणाद्युक्तविधिना शूद्र इव नाभिवाद्यः। अभिवादयेऽहमिति शब्दोच्चारणमात्रं तु चरणग्रहणादिशून्यमनिषिद्धम्, प्रागुक्तत्वात् ॥ १२६ ॥

> ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत्क्षत्रबन्धुमनामयम्
> वैश्यं क्षेमं समागम्य शूद्रमारोग्यमेव च ॥ १२७ ॥

मिलनेवाले ब्राह्मणसे कुशल, क्षत्रियसे अनामय, वैश्यसे क्षेम तथा शूद्रसे आरोग्य पूछे ॥ १२७ ॥

समागम्य समागमे कृते अभिवादकमवरवयस्कं समानवयस्कमनभिवादकमपि ब्राह्मणं कुशलम्, क्षत्रियमनामयम्, वैश्यं क्षेमम् शूद्रमारोग्यं पृच्छेत्। अत एवापस्तम्बः—"कुशलमवरवयसं समानवयसं वा विप्र पृच्छेत्, अनामयं क्षत्रियम्, क्षेमं वैश्यम्, आरोग्यं शूद्रम्" अवरवयसमभिवादकं वयस्यमनभिवादकमपीति अन्वर्थमेवापस्तम्बः स्फुटयति स्म। गोविन्दराजस्तु—प्रकरणात्प्रत्यभिवादकस्यैव कुशलादिप्रश्नमाह—तन्न, अभिवादकेन सह समागमस्यानुप्राप्तत्वात्। समागम्येति निष्प्रयोजनानुवादप्रसङ्गात्। अतः कुशलक्षेमशब्दयोरनामयारोग्यपदयोश्च समानार्थत्वाच्छब्दविशेषोच्चारणमेव विवक्षितम् ॥ १२७ ॥

> अवाच्यो दीक्षितो नाम्ना यवीयानपि यो भवेत्।
> भोभवत्पूर्वकं त्वेनमभिभाषेत धर्मवित् ॥ १२८ ॥

यज्ञादिमें दीक्षा लिये छोटे को भी नाम लेकर नहीं पुकारे, किन्तु धर्मज्ञ पुरुष 'भो' या 'भवत्' (आप) शब्दका प्रयोग कर इस (यज्ञादिमें दीक्षित छोटे) से भी बातचीत करे ॥ १२८ ॥

प्रत्यभिवादनकाले अन्यदा च दीक्षणीयातः प्रभृत्यावभृथस्नानात्कनिष्ठोऽपि दीक्षितो नाम्ना न वाच्यः, किंतु भोभवच्छब्दपूर्वकं दीक्षितादिशब्दैरुत्कर्षाभिधायिभिरेव धार्मिकोऽभिभाषेत। भो दीक्षित, इदं कुरु, भवता यजमानेन इदं क्रियतामिति ॥ १२८ ॥

परपत्नी तु या स्त्री स्यादसम्बन्धा च योनितः।
तां ब्रूयाद्भवतीत्येवं सुभगे भगिनीति च ॥ १२९ ॥

जो दूसरेकी स्त्री हो तथा उससे अपना किसी प्रकारका यौनसम्बन्ध न हो (वह बहन आदि न हो), उससे भाषण करते समय 'आप या सुन्दरि या बहन' (भवति !, सुन्दरि ! भगिनि !) कहे ॥ १२९ ॥

या स्त्री परपत्नी भवति, असम्बन्धा च योनित इति स्वस्रादिर्न भवति, तामुपयुक्तसंभाषणकाले भवति, सुभगे, भगिनीति वा वदेत्। परपत्नीग्रहणात्कन्यायां नैष विधिः। स्वसुः कन्यादेस्त्वायुष्मतीत्यादिपदैरभिभाषणम् ॥ १२९ ॥

मातुलांश्च पितृव्यांश्च श्वशुरानृत्विजो गुरून्।
असावहमिति ब्रूयात्प्रत्युत्थाय यवीयसः ॥ १३० ॥

(आये हुए) छोटे मामा, चाचा, श्वशुर, ऋत्विज् और गुरुओंसे उठकर 'मैं अमुक नामवाला हूँ' ('असावहम्'—'असौ' पद नामग्रहणके लिये आया है) ऐसा कहे ॥ १३० ॥

मातुलादीनागतान्कनिष्ठानासनादुत्थाय असावहमिति वदेत् नाभिवादयेत्। असाविति स्वनामनिर्देशः। "भूयिष्ठाः खलु गुरवः" इत्युपक्रम्य ज्ञानवृद्धतपोवृद्धयोरपि हारीतेन गुरुत्वकीर्तनात्तयोश्च कनिष्ठयोरपि सम्भवात्तद्विषयोऽयं गुरुशब्दः ॥ १३० ॥

मातृष्वसा मातुलानी श्वश्रूरथ पितृष्वसा।
संपूज्या गुरुपत्नीवत्समास्ता गुरुभार्यया ॥ १३१ ॥

मौसी, मामी, सास और फूआ (बुआ—पिताकी बहन) गुरुस्त्रीके समान (अभिवादनादिसे) पूजनीय हैं; वे सभी गुरुस्त्री-जैसी हैं ॥ १३१ ॥

मातृष्वस्रादयो गुरुपत्नीवत्प्रत्युत्थानाभिवादनासनदानादिभिः संपूज्याः। अभिवादनप्रकरणादभिवादनमेव संपूजनं विज्ञायत इति समास्ता इत्यवोचत्। गुरुभार्यासमानत्वात्प्रत्युत्थानादिकमपि कार्यमित्यर्थः ॥ १३१ ॥

भ्रातुर्भार्योपसंग्राह्या सवर्णाऽहन्यहन्यपि।
विप्रोष्य तूपसंग्राह्या ज्ञातिसम्बन्धियोषितः ॥ १३२ ॥

अपने बड़े भाईकी स्त्रीका प्रतिदिन चरणस्पर्शकर अभिवादन करना चाहिये और जातिवालों (पिताके पक्षवाले चाचा आदि) तथा सम्बन्धियों (माताके पक्षवाले मामा आदि तथा श्वशुर आदि) की स्त्रियोंका परदेशसे आकर (या प्रवाससे वे आवें तब) अभिवादन करना चाहिये ॥

भ्रातुः सजातीया भार्या ज्येष्ठा पूजाप्रकरणादुपसंग्राह्या पादयोरभिवाद्या। अहन्यहनिप्रत्यहमेव। अपिरेवार्थे। ज्ञातयः—पितृपक्षाः पितृव्यादयः, सम्बन्धिनो मातृपक्षाः श्वशुरादयश्च, तेषां पत्न्यः पुनर्विप्रोष्य प्रवासात्प्रत्यागतेनैवाभिवाद्याः, न तु प्रत्यहं नियमः ॥ १३२ ॥

पितुर्भगिन्यां मातुश्च ज्यायस्यां च स्वसर्यपि।
मातृवद् वृत्तिमातिष्ठेन्माता ताभ्यो गरीयसी ॥ १३३ ॥

मौसी, फूआ तथा बड़ी बहनमें माताके समान बर्ताव करे, किन्तु माता उनसे श्रेष्ठ है ॥१३३॥

पितुर्मातुश्च भगिन्यां ज्येष्ठायां चात्मनो भगिन्यां मातृवद् वृत्तिमातिष्ठेत्। माता पुनस्ताभ्यो गुरुतमा।

ननु मातृष्वसा मातुलानीत्यनेनैव गुरुपत्नीवत्पूज्यत्वमुक्तं किमधिकमनेन बोध्यते? उच्यते, इदमेव—माता ताभ्यो गरीयसीति। तेन पितृष्वस्राऽनुज्ञायां दत्तायां मात्रा च विरोधे मातुराज्ञा अनुष्ठेयेति। अथवा पूर्वं पितृष्वस्रादेर्मातृवत्पूज्यत्वमुक्तम्। अनेन तु स्नेहादिवृत्तिरप्यतिदिश्यत इत्यपुनरुक्तिः॥ १३३॥

दशाब्दाख्यं पौरसख्यं पञ्चाब्दाख्यं कलाभृताम्।
त्र्यब्दपूर्वं श्रोत्रियाणां स्वल्पेनापि स्वयोनिषु ॥ १३४ ॥

अपने नागरिकों या ग्रामवासियोंके साथ दश वर्ष, गीत, चित्र आदिके कलाविदोंके साथ पांच वर्ष, श्रोत्रियों (वैदिकों) के साथ तीन वर्ष सख्यभाव समझना चाहिये (उक्त कालतक बड़ाई-छोटाई का व्यवहार नहीं रखना चाहिये, किन्तु समान—मित्रवत्-व्यवहार रखना चाहिये और उक्त समयके बाद बड़े-छोटेका व्यवहार रखना चाहिये) और अपने कुलवालोंके साथ थोड़े समयका अन्तर रहने पर भी बड़ाई-छोटाई का व्यवहार रखना चाहिये ॥ १३४ ॥

दश अब्दा आख्या यस्य तद्दशाब्दाख्यं पौरसख्यम्। अयमर्थः—एकपुरवासिनां वक्ष्यमाणविद्यादिगुणरहितानामेकस्य दशभिरब्दैर्ज्येष्ठत्वे सत्यपि सख्यमाख्यायते। पुरग्रहणं प्रदर्शनार्थम्, तेनैकग्रामादिनिवासिनामपि स्यात्। गीतादिकलाभिज्ञानां पञ्चवर्षपर्यन्तं सख्यम्, श्रोत्रियाणां त्र्यब्दपर्यन्तम्, सपिण्डेष्वत्यन्ताल्पेनैव कालेन सह सख्यम्। अपिरेवार्थे। सर्वत्रोक्तकालादूर्ध्वं ज्येष्ठव्यवहारः॥ १३४ ॥

ब्राह्मणं दशवर्षं तु शतवर्षं तु भूमिपम्।
पितापुत्रौ विजानीयाद् ब्राह्मणस्तु तयोः पिता ॥ १३५ ॥

दश वर्षके ब्राह्मण और सौ वर्षके क्षत्रियको (परस्परमें) पिता-पुत्र समझना चाहिये, उनमें ब्राह्मण क्षत्रियका पिता (पिताके समान पूज्य) होता है ॥ १३५ ॥

दशवर्षं ब्राह्मणम्, शतवर्षं पुनः क्षत्रियं पितापुत्रौ जानीयात्। तयोर्मध्ये दशवर्षोऽपि ब्राह्मण एव क्षत्रियस्य शतवर्षस्यापि पिता। तस्मात्पितृवदसौ तस्य मान्यः॥ १३५॥

वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पञ्चमी।
एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम् ॥ १३६ ॥

न्यायोपार्जित धन, चचा आदि बन्धु, अवस्था (उम्र), श्रुति और स्मृतिमें कथित कर्म तथा विद्या, ये ५ मान्यताके स्थान (पद) हैं। ये क्रमशः उत्तरोत्तर (पूर्वकी अपेक्षा पर अर्थात् धनसे बन्धु, बन्धुसे वय, वयसे कर्म और कर्मसे विद्या) श्रेष्ठ है ॥ १३६ ॥

वित्तं—न्यायार्जितं धनम्, बन्धुः—पितृव्यादिः, वयः—अधिकवयस्कता, कर्म-श्रौतम्, स्मार्तं च, विद्या—वेदार्थतत्त्वज्ञानम्, एतानि पञ्च मान्यत्वकारणानि। एषां मध्ये यद्यदुत्तरं तत्तत्पूर्वस्माच्छ्रेष्ठमिति बहुमान्यमेलके बलाबलमुक्तम्॥ १३६ ॥

पञ्चानां त्रिषु वर्णेषु भूयांसि गुणवन्ति च।
यत्र स्युः सोऽत्र मानार्हः शूद्रोऽपि दशमीं गतः ॥ १३७ ॥

तीनों वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) में (श्लो० १३६) से पूर्वोक्त पांच मान्य स्थानोंमें से आगेवालेकी अपेक्षा पहलेवाला यदि अधिक हो तो आगेवाले द्वारा पहलेवाला ही मान्य है तथा नब्बे वर्षसे अधिक आयुवाला शूद्र ब्राह्मणादि तीनों वर्णोंका मान्य है ॥ १३७ ॥

त्रिषु वर्णेषु ब्राह्मणादिषु पञ्चानां वित्तादीनां मध्ये यत्र पुरुषे पूर्वमप्यनेकं भवति, स एवोत्तरस्मादपि मान्यः। तेन वित्तबन्धुयुक्तो वयोऽधिकान्मान्यः। एवं वित्तादित्रययुक्तः कर्मवतो मान्यः। वित्तादिचतुष्टययुक्तो विदुषो मान्यः। गुणवन्ति चेति प्रकर्षवन्ति। तेन द्वयोरेव विद्यादिसत्त्वे प्रकर्षो मानहेतुः। शूद्रोऽपि दशमीमवस्थां नवत्यधिकां गतो द्विजन्मनामपि मानार्हः, शतवर्षाणां दशधा विभागे दशम्यवस्था नवत्यधिका भवति ॥ १३७ ॥

अयमपि पूजाप्रकारः प्रसङ्गादुच्यते—

चक्रिणो दशमीस्थस्य रोगिणो भारिणः स्त्रियाः।
स्नातकस्य च राज्ञश्च पन्था देयो वरस्य च ॥ १३८ ॥

रथ (गाड़ी, एक्का, तांगा, बग्गी आदि) पर बैठे हुए, नब्बे वर्षसे अधिक आयुवाले, रोगी, बोझ लिये हुए, स्त्री, स्नातक, राजा, वर (दुल्हा) को मार्ग देना चाहिये ॥ १३८ ॥

चक्रयुक्तरथादियानारूढस्य, नवत्यधिकवयसः, रोगार्तस्य, भारपीडितस्य, स्त्रियः, अचिरनिवृत्तसमावर्तनस्य, देशाधिपस्य, विवाहाय प्रस्थितस्य पन्थास्त्यक्तव्यः। त्यागार्थत्वाच्च ददातेर्न चतुर्थी ॥ १३८ ॥

तेषां तु समवेतानां मान्यौ स्नातकपार्थिवौ।
राजस्नातकयोश्चैव स्नातको नृपमानभाक् ॥ १३९ ॥

पूर्वोक्त (श्लो० १३८) से रथी आदि पुरुषोंके स्नातक तथा राजा मान्य हैं (रथी आदिको स्नातक तथा राजा के लिए मार्ग देना चाहिये) और स्नातक तथा राजामें से राजाका स्नातक मान्य है (राजा को स्नातकके लिए मार्ग देना चाहिये) ॥ १३९ ॥

तेषामेकत्र मिलितानां देशाधिपस्नातकौ मान्यौ। राजस्नातकयोरपि स्नातक एव राजापेक्षया मान्यः। अतो राजशब्दोऽत्र पूर्वश्लोके न केवलजातिवचनः, किन्त्वभिषिक्तक्षत्रियजातिवचनः, क्षत्रियजात्यपेक्षया "ब्राह्मणं दशवर्षं तु" (अ० २ श्लो० १३५) इत्यनेन ब्राह्मणमात्रस्य मान्यत्वाभिधानात्स्नातकग्रहणवैयर्थ्यात् ॥ १३९ ॥

आचार्यादिशब्दार्थमाह तैः शब्दैरिह शास्त्रे प्रायो व्यवहारात्—

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥ १४० ॥

जो ब्राह्मण, शिष्य का यज्ञोपवीत संस्कार कर उसे कल्प (यज्ञविद्या) तथा रहस्यों (उपनिषदों) के सहित वेदशाखा पढ़ावे, उसे "आचार्य" कहते हैं ॥ १४० ॥

यो ब्राह्मणः शिष्यमुपनीय कल्परहस्यसहितां वेदशाखां सर्वामध्यापयति, तमाचार्यं पूर्वे मुनयो वदन्ति। कल्पो यज्ञविद्या, रहस्यमुपनिषत्। वेदत्वेऽप्युपनिषदां प्राधान्यविवक्षया पृथङ् निर्देशः ॥ १४० ॥

एकदेशं तु वेदस्य वेदाङ्गान्यपि वा पुनः।
योऽध्यापयति वृत्त्यर्थमुपाध्यायः स उच्यते ॥ १४१ ॥

जो ब्राह्मण वेदके एकदेश (मन्त्र तथा ब्राह्मण भाग) को तथा वेदाङ्गों (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्यौतिष और छन्दःशास्त्र) को जीविका के लिये पढ़ाता है; उसे "उपाध्याय" कहते हैं ॥ १४१ ॥

वेदस्यैकदेशं मन्त्रम्, ब्राह्मणं च वेदरहितानि व्याकरणादीन्यङ्गानि यो वृत्त्यर्थमध्यापयति, स उपाध्याय उच्यते ॥ १४१ ॥

निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि ।
सम्भावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते ॥ १४२ ॥

जो शास्त्रानुसार गर्भाधानादि संस्कारोंको करता है और अन्नादिके द्वारा बढ़ाता (पालन-पोषण करता) है; उस ब्राह्मणको "गुरु" (यहां पर "गुरु" शब्दसे पिता का ग्रहण है) कहते हैं ॥ १४२ ॥

निषेको गर्भाधानम्, तेन पितुरयं गुरुत्वोपदेशः । गर्भाधानादीनि संस्कारकर्माणि पितुरुपदिष्टानि यथाशास्त्रं यः करोति, अन्नेन च संवर्धयति स, विप्रो गुरुरुच्यते ॥ १४२ ॥

अग्न्याधेयं पाकयज्ञानग्निष्टोमादिकान्मखान् ।
यः करोति वृतो यस्य स तस्यर्त्विगिहोच्यते ॥ १४३ ॥

जो (ब्राह्मण) वृत होकर (वरण—सङ्कल्पपूर्वक पादपूजनादि कराकर) अग्न्याधान (आहवनीय आदि अग्निको उत्पन्न करनेका कर्म), पाकयज्ञ (अष्टकादि) और अग्निष्टोम आदि यज्ञों को करता है, उसे "ऋत्विक्" कहते हैं ॥ १४३ ॥

आहवनीयाद्यग्न्युत्पादकं कर्म-अग्न्याधेयम्, अष्टकादीन्पाकयज्ञान्, अग्निष्टोमादीन्यज्ञान्कृतवरणो यस्य करोति, स तस्यर्त्विगिह शास्त्रेऽभिधीयते । ब्रह्मचारिधर्मेष्वनुपयुक्तमप्यृत्विग्लक्षणमाचार्यादिवदृत्विजोऽपि मान्यत्वं दर्शयितुं प्रसङ्गादुक्तम् ॥ १४३ ॥

य आवृणोत्यवितथं ब्रह्मणा श्रवणावुभौ ।
स माता स पिता ज्ञेयस्तं न द्रुह्येत्कदाचन ॥ १४४ ॥

जो दोनों कानोंको अवितथ (ठीक २ अर्थात् स्वरादि दोषहीन) वेदसे परिपूर्ण करता (वेद सुनाता-पढ़ाता) है, उसे माता-पिता के समान समझना चाहिये और उससे कभी भी वैर नहीं करना चाहिये ॥ १४४ ॥

य उभौ कर्णौ अवितथमिति वर्णस्वरवैगुण्यरहितेन सत्यरूपेण वेदेनापूरयति, स माता, पिता च ज्ञेयः । महोपकारकत्वगुणयोगादयमध्यापको मातापितृशब्दवाच्यस्तं, नापकुर्यात् कदाचनेति गृहीते वेदे ॥ १४४ ॥

उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता ।
सहस्रं तु पितॄन्माता गौरवेणातिरिच्यते ॥ १४५ ॥

दश उपाध्यायों की अपेक्षा आचार्य, सौ आचार्यों की अपेक्षा पिता और सहस्र पिताओंकी अपेक्षा माता गौरवमें अधिक है ॥ १४५ ॥

दशोपाध्यायानपेक्ष्य आचार्यः, आचार्यशतमपेक्ष्य पिता, सहस्रं पितॄनपेक्ष्य माता गौरवेणातिरिक्ता भवति । अत्रोपनयनपूर्वकसावित्रीमात्राध्यापयिता आचार्योऽभिप्रेतः, तमपेक्ष्य पितुरुत्कर्षः । "उत्पादकब्रह्मदात्रोः" (अ० २ श्लो० १४६) इत्यनेन मुख्याचार्यस्य पितरमपेक्ष्योत्कर्षं वक्ष्यतीत्यविरोधः ॥ १४५ ॥

उत्पादकब्रह्मदात्रोर्गरीयान्ब्रह्मदः पिता ।
ब्रह्मजन्म हि विप्रस्य प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥ १४६ ॥

पैदा करनेवाले पिता और ब्रह्मज्ञानोपदेशक (आचार्य) इन दोनों में से ब्रह्मज्ञान देनेवाला (आचार्य) श्रेष्ठ है, क्योंकि (ब्रह्मज्ञानरूपी फलवाला होनेसे) ब्रह्मजन्म (यज्ञोपवीतसंस्कार) ही ब्राह्मण के लिये इस लोक तथा परलोक में कल्याणप्रद है ॥ १४६ ॥

जनकाचार्यौ द्वावपि पितरौ, जन्मदातृत्वात् । तयोराचार्यः पिता गुरुतरः । यस्माद्विप्रस्य ब्रह्मग्रहणार्थं जन्म उपनयनजन्मसंस्काररूपं परलोके, इहलोके च शाश्वतं नित्यम्, ब्रह्मप्राप्तिफलकत्वात् ॥ १४६ ॥

कामान्माता पिता चैनं यदुत्पादयतो मिथः ।
संभूतिं तस्य तां विद्याद्यद्योनावभिजायते ॥ १४७ ॥

कामके वशीभूत होकर माता-पिता जिस (बालक) को उत्पन्न करते हैं, उसकी उत्पत्तिको पश्वादि—साधारण समझना चाहिये, क्योंकि वह माता की कुक्षिमें अङ्ग-प्रत्यङ्गको प्राप्त करता है ॥

मातापितरौ यद् एनं बालकं कामवशेनान्योन्यमुत्पादयतः संभवमात्रं तत्तस्य पश्वादिसाधारणम् । यद्योनौ मातृकुक्षावभिजायतेऽङ्गप्रत्यङ्गानि लभते ॥ १४७ ॥

आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद्वेदपारगः ।
उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या साऽजरामरा ॥ १४८ ॥

(परन्तु) वेदका पारङ्गत आचार्य उस बालक की जिस जातिको विधिपूर्वक उत्पन्न करता है; वह जाति सत्य, अजर तथा अमर है । (क्योंकि सविधि यज्ञोपवीत संस्कार होनेपर वेदाध्ययन द्वारा उसके अर्थका ज्ञान प्राप्त करनेसे निष्काम होकर वह मोक्षका अधिकारी होता है) ॥ १४८ ॥

आचार्यः पुनर्वेदज्ञोऽस्य माणवकस्य यां जातिं थजन्म विधिवत्सावित्र्येति साङ्गोपनयनपूर्वकसावित्र्यनुवचनेनोत्पादयति, सा जातिः सत्या अजराऽमरा च । ब्रह्मप्राप्तिफलत्वात्, उपनयनपूर्वकस्य वेदाध्ययनतदर्थज्ञानानुष्ठानैर्निष्कामस्य मोक्षलाभात् ॥ १४८ ॥

अल्पं वा बहु वा यस्य श्रुतस्योपकरोति यः ।
तमपीह गुरुं विद्याच्छ्रुतोपक्रियया तया ॥ १४९ ॥

जो थोड़ा या बहुत वेदोपदेशके द्वारा उपकार करता है, उसे भी उस वेदोपदेशक्रियाके कारण 'गुरु' जानना चाहिये ॥ १४९ ॥

श्रुतस्य श्रुतेनेत्यर्थः । उपाध्यायो यस्य शिष्यस्याल्पं वा बहु वा कृत्वा श्रुतेनोपकरोति तमपीह शास्त्रे तस्य गुरुं जानीयात् । श्रुतमेवोपक्रिया तया श्रुतोपक्रियया ॥ १४९ ॥

ब्राह्मस्य जन्मनः कर्ता स्वधर्मस्य च शासिता ।
बालोऽपि विप्रो वृद्धस्य पिता भवति धर्मतः ॥ १५० ॥

वेदश्रवणके योग्य जन्म (यज्ञोपवीत संस्कार) करनेवाला और अपने धर्मका उपदेश देनेवाला बालक भी ब्राह्मण धर्मानुसार वृद्धका पिता होता है ॥ १५० ॥

ब्रह्मश्रवणार्थं जन्म ब्राह्ममुपनयनं तस्य कर्ता, स्वधर्मस्य शासिता वेदार्थव्याख्याता, तादृशोऽपि बालो वृद्धस्य ज्येष्ठस्य पिता भवति । धर्मत इति पितृधर्मास्तस्मिन्ननुष्ठातव्याः ॥ १६० ॥

प्रकृतानुरूपार्थवादमाह—

अध्यापयामास पितॄञ्शिशुराङ्गिरसः कविः ।
पुत्रका इति होवाच ज्ञानेन परिगृह्य तान् ॥ १५१ ॥

अङ्गिरसके विद्वान् पुत्रने अपने चाचा तथा (अवस्थामें) बड़े भाइयोंको पढ़ाया, इसलिए उनको 'पुत्र' शब्दसे सम्बोधित किया ॥ १५१ ॥

अङ्गिरसः पुत्रो बालः कविर्विद्वान् पितॄन्गौणान् पितृव्यतत्पुत्रादीनधिकवयसोऽध्यापितवान्। ताञ्ज्ञानेन परिगृह्य शिष्यान्कृत्वा पुत्रका इति आजुहाव। 'इति ह' इत्यव्ययं पुरावृत्तसूचनार्थम् ॥ १५१ ॥

ते तमर्थमपृच्छन्त देवानागतमन्यवः ।
देवाश्चैतान्समेत्योचुर्न्याय्यं वः शिशुरुक्तवान् ॥ १५२ ॥

इसपर क्रोधयुक्त होकर उन्होंने उसके अर्थ ('पुत्र'-शब्दार्थ) को देवताओं से पूछा तो उन देवताओंने मिलकर (एकमत होकर) कहा कि—"अङ्गिरस पुत्रने तुम लोगोंको जो 'पुत्र' कहा है, वह न्याययुक्त है ॥ १५२ ॥

ते पितृतुल्याः पुत्रका इत्युक्ता अनेन जातक्रोधाः पुत्रकशब्दार्थं देवान्पृष्टवन्तः। देवाश्च पृष्टा मिलित्वा एतानवोचन्—युष्मान्यच्छिशुः पुत्रशब्देनोक्तवांस्तद्युक्तम् ॥ १४२ ॥

अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः ।
अज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम् ॥ १५३ ॥

अज्ञानी ही बालक होता है (केवल थोड़ी आयुवाला ही नहीं) और वेदमन्त्रोंको पढ़ानेवाला ही 'पिता' होता है; क्योंकि प्राचीन मुनियोंने भी अज्ञानीको बालक तथा वेदमन्त्रोपदेशकको पिता कहा है ॥ १५३ ॥

वैशब्दोऽवधारणे। अज्ञ एव बालो भवति, न त्वल्पवयाः। मन्त्रदः पिताभवति। मन्त्रग्रहणं वेदोपलक्षणार्थम्। यो वेदमध्यापयति व्याचष्टे, स पिता। अत्रैव हेतुमाह—यस्मात्पूर्वेऽपि मुनयोऽज्ञं बालमित्यूचुः, मन्त्रदं च पितेत्येवाब्रुवन्नित्याह ॥ १५३ ॥

न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः ।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान् ॥ १५४ ॥

वर्षोंसे (अधिक वर्षोंकी आयु होनेसे), पके हुए बालोंसे, धनसे, अधिक बान्धवोंसे कोई बड़ा नहीं होता; (किन्तु) जो साङ्गवेदोंका ज्ञाता है, वही बड़ा है, ऐसा ऋषियोंने कहा है ॥ १५४ ॥

न बहुभिर्वर्षैः, न केशश्मश्रुलोमभिः शुक्लैः, न बहुना धनेन, न पितृव्यत्वादिभिर्बन्धुभावैः, समुदितैरप्येतैर्न महत्त्वं भवति, किंतु ऋषय इमं धर्मं कृतवन्तः—यः साङ्गवेदाध्येता सोऽस्माकं महान् संमतः ॥ १५४ ॥

विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यं क्षत्रियाणां तु वीर्यतः ।
वैश्यानां धान्यधनतः शूद्राणामेव जन्मतः ॥ १५५ ॥

ब्राह्मणों की विद्या से, क्षत्रियोंकी बल (शक्ति) से, वैश्योंकी धनसे और शूद्रोंकी जन्मसे श्रेष्ठता होती है ॥ १५५ ॥

ब्राह्मणानां विद्यया, क्षत्रियाणां पुनर्वीर्येण, वैश्यानां धान्यवस्त्रादिधनेन, शूद्राणामेव पुनर्जन्मना श्रेष्ठत्वम्। सर्वत्र तृतीयार्थे तसिः ॥ १५५ ॥

न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः ।
यो वै युवाऽप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः ॥ १५६ ॥

बाल पक जाने मात्रसे कोई बड़ा नहीं होता; किन्तु युवा पुरुष भी यदि विद्वान् हो, तो उसे ही देवता लोग वृद्ध (बड़ा-बूढ़ा) कहते हैं ॥ १५६ ॥

न तेन वृद्धो भवति, येनास्य शुक्लकेशं शिरः, किंतु युवाऽपि सन्यो विद्वान् तं देवाः स्थविरं। जानन्ति॥ १५६ ॥

यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः ।
यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति ॥ १५७ ॥

लकड़ीका हाथी, चमड़ेका मृग और मूर्ख ब्राह्मण ये तीन केवल नाममात्र धारण करते हैं ॥१५७॥

यथा काष्ठघटितो हस्ती, यथा चर्मनिर्मितो मृगः, यश्च विप्रो नाधीते, त्रय एते नाममात्रं दधति न तु हस्त्यादिकार्यं शत्रुवधादिकं कर्तुं क्षमन्ते ॥ १५७ ॥

यथा षण्ढोऽफलः स्त्रीषु यथा गौर्गवि चाफला ।
यथा चाज्ञेऽफलं दानं तथा विप्रोऽनृचोऽफलः ॥ १५८ ॥

जैसे स्त्रियोंमें नपुंसक निष्फल है, जैसे गायोंमें गाय निष्फल है और जैसे अज्ञानीमें दान निष्फल है; वैसे ही वेदज्ञानहीन ब्राह्मण निष्फल है ॥ १५८ ॥

यथा नपुंसकः स्त्रीषु निष्फलः, यथा च स्त्रीगवी गव्यामेव निष्फला, यथा चाज्ञे दानमफलम्, तथा ब्राह्मणोऽप्यनधीयानो निष्फलः श्रौतस्मार्तकर्मानर्हतया तत्फलरहितः ॥१५८॥

अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम् ।
वाक्चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता ॥ १५९ ॥

धर्माभिलाषी पुरुप (आचार्य, गुरु आदि) को शिष्यों की अहिंसा (८।९९ के अनुसार अल्पतम ताडनादि) के द्वारा ही कल्याणार्थ उपदेश (अध्यापनादि) करना चाहिये तथा मीठा और मधुर वचन बोलना चाहिये ॥ १५९ ॥

भूतानाम्-शिष्याणां प्रकरणाच्छ्रेयोऽर्थमनुशासनमनतिहिंसया कर्तव्यम् , "रज्ज्वा वेणुदलेन वा" (अ० ८. श्लो० ९९) इत्यल्पहिंसाया अभ्यनुज्ञानात। वाणी मधुरा प्रीतिजननी श्लक्ष्णा या नोच्चैरुच्यते सा शिष्यशिक्षायै धर्मबुद्धिमिच्छता प्रयोक्तव्या ॥ १५९ ॥

इदानीं पुरुषमात्रस्य फलं धर्मं वाङ्मनःसंयममाह नाध्यापयितुरेव—

यस्य वाङ्मनसी शुद्धे सम्यग्गुप्ते च सर्वदा ।
स वै सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम् ॥ १६० ॥

जिसके वचन तथा मन सर्वदा शुद्ध एवं वशीभूत हैं, वही वेदान्तके सम्पूर्ण फलोंको प्राप्त करता है ॥ १६० ॥

यस्य वाङ्मनश्चोभयं शुद्धं भवति। वागनृतादिभिरदुष्टा, मनश्च रागद्वेषादिभिरदूषितं भवति। एते वाङ्मनसी निषिद्धविषप्रकरणे सर्वदा यस्य पुंसः सुरक्षिते भवतः, स वेदान्तेऽवगतं सर्वं फलम् सर्वज्ञत्वं सर्वगानादिरूपं मोक्षलाभादवाप्नोति ॥ १६० ॥

नारुंतुदः स्यादार्तोऽपि न परद्रोहकर्मधीः ।
ययास्योद्विजते वाचा नालोक्यां तामुदीरयेत् ॥ १६१ ॥

स्वयं दुःखित होते हुए भी दूसरे किसी को दुःख न दे, दूसरे का अपकार करनेका विचार न करे और जिस वचनसे कोई दुःखित हो, ऐसा स्वर्ग प्राप्तिका बाधक वचन न कहे ॥ १६१ ॥

अयमपि पुरुषमात्रस्यैव धर्मो नाध्यापकस्य। आर्तः-पीडितोऽपि नारुंतुदः स्यात्-न मर्मपीडाकरं तत्त्वदूषणमुदाहरेत्। तथा परस्य द्रोहः-अपकारः, तदर्थं कर्म बुद्धिश्च न कर्तव्या। तथा यया वाचाऽस्य परो व्यथते, तां मर्मस्पृशमथालोक्याम्-स्वर्गादिप्राप्तिविरोधिनीं न वदेत् ॥ १६१ ॥

सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा ॥ १६२ ॥

ब्राह्मण विषके समान सम्मानसे सर्वदा घबड़ाता रहे (सम्मानमें न प्रेम करे) तथा अमृतके समान अपमानकी सर्वदा आकांक्षा करे (अपमान करनेपर क्षमा करे। इस श्लोकसे ब्राह्मणको मानापमानमें सहिष्णुता धारण करनेका विधान किया गया है) ॥ १६२ ॥

ब्राह्मणः संमानाद्विषादिव। सर्वदोद्विजेत संमाने प्रीतिं न कुर्यात्। अमृतस्येव सर्वस्माल्लोकादवमानमाकाङ्क्षेत्। अवमाने परेण कृतेऽपि क्षमावांस्तत्र खेदं न कुर्यात्। मानावमानद्वन्द्वसहिष्णुत्वमनेन विधीयते ॥ १६२ ॥

अवमानासहिष्णुत्वे हेतुमाह—

सुखं ह्यवमतः शेते सुखं च प्रतिबुध्यते।
सुखं चरति लोकेऽस्मिन्नवमन्ता विनश्यति ॥ १६३ ॥

अपमानित (अपमान होने पर भी क्षमा करनेवाला) मनुष्य सुखपूर्वक सोता है, सुखपूर्वक जागता है तथा सुखपूर्वक इस लोकमें विचरण (विहार) करता है और अपमान करनेवाला (मनुष्य उस पापसे) नष्ट हो जाता है ॥ १६३ ॥

यस्मादवमाने परेण कृते तत्र खेदमकुर्वाणः सुखं निद्राति। अन्यथाऽवमानदुःखेन दह्यमानः कथं निद्रां लभते, कथं च सुखं प्रतिबुध्यते। प्रतिबुद्धश्च कथं सुखं कार्येषु चरति। अवमानकर्ता तेन पापेन विनश्यति ॥ १६३ ॥

अनेन क्रमयोगेन संस्कृतात्मा द्विजः शनैः।
गुरौ वसन्सञ्चिनुयाद् ब्रह्माधिगमिकं तपः ॥ १६४ ॥

इस क्रमसे संस्कृत (जातकर्मसे लेकर उपनयन तक संस्कार प्राप्त) द्विज गुरुके समीप (गुरुकुल) में वास करता हुआ वेदग्रहणके लिये (वक्ष्यमाण—आगे कहा जानेवाला) तपका संग्रह करे ॥ १६४ ॥

अनेन क्रमकथितोपायेन जातकर्मादिनोपनयनपर्यन्तेन संस्कृतो द्विजो गुरुकुले वसन् शनैरत्वरया वेदग्रहणार्थं तपोऽभिहिताभिधास्यमाननियमकलापरूपमनुतिष्ठेत्। विद्ध्यन्तरसिद्धस्याप्ययमर्थवादोऽध्ययनाङ्गत्वबोधनाय ॥ १६४ ॥

अध्ययनाङ्गत्वमेव स्पष्टयति—

तपोविशेषैर्विविधैर्व्रतैश्च विधिचोदितैः।
वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मना ॥ १६५ ॥

द्विजको शास्त्रोक्त विधिसे बतलाये गये तप तथा अनेक प्रकारके व्रतों (नियम—श्लो० ७०, ७५ इत्यादिमें कथित) से रहस्य (उपनिषदों) के साथ सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन करना चाहिये ॥ १६५ ॥

तपोविशेषैर्नियमकलापैर्विविधैर्बहुप्रकारैश्च "अध्येष्यमाणस्त्वाचान्तः" (अ० २ श्लो० ७०) इत्यादिनोक्तैः, "सेवेतेमांस्तु नियमान्" (अ० १ श्लो० १७५) इत्यादिभिर्वक्ष्यमाणैरपि, व्रतैः—चोपनिषन्महानाम्निकादिभिर्विधिचोदितैः स्वगृह्यविहितैः समग्रवेदः—मन्त्रब्राह्मणात्मकः सोपनिषत्कोऽप्यध्येतव्यः । रहस्यमुपनिषदः प्राधान्यख्यापनाय पृथङ् निर्देशः ॥

वेदमेव सदाभ्यस्येत्तपस्तप्स्यन्द्विजोत्तमः ।
वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते ॥ १६६ ॥

तपस्याको (भविष्यमें) करनेवाला ब्राह्मण सर्वदा वेदका ही अभ्यास करे, क्योंकि ब्राह्मणके लिए वेदाध्ययन ही इस लोकमें उत्कृष्ट तप कहा जाता है ॥ १६६ ॥

यत्र नियमानामङ्गत्वमुक्तम्, तत्कृत्स्नस्वाध्यायाध्ययनमनेन विधत्ते । तपस्तप्स्यन्—चरिष्यन् द्विजो वेदमेव ग्रहणार्थमावर्तयेत् । तस्माद्वेदाभ्यास एव विप्रादेरिह लोके प्रकृष्टं तपो मुनिभिरभिधीयते ॥ १६६ ॥

आ हैव स नखाग्रेभ्यः परमं तप्यते तपः ।
यः स्रग्व्यपि द्विजोऽधीते स्वाध्यायं शक्तितोऽन्वहम् ॥ १६७ ॥

पुष्प मालाको धारण करता हुआ भी (ब्रह्मचर्यावस्थामें पुष्पमाला पहननेका निषेध है, तथापि वैसा करता हुआ भी) जो ब्राह्मण प्रतिदिन शक्तिके अनुसार स्वाध्याय (वेदाभ्यास) करता है, वह नखके अग्र भागतक (सिरसे पैर के नखाग्रभागतक अर्थात् सम्पूर्ण शरीरमें) श्रेष्ठ तपस्याको तपता (करता) ही है ॥ १६७ ॥

स्वाध्यायाध्ययनस्तुतिरियम् । हशब्दः परमशब्दविहितस्यापि प्रकर्षस्य सूचकः । स द्विज आ नखाग्रेभ्य एव चरणनखपर्यन्तं सर्वदेहव्यापकमेव प्रकृष्टतमं तपस्तप्यते । यः स्रग्व्यपि कुसुममालाधार्यपि प्रत्यहं यथाशक्ति स्वाध्यायमधीते । स्रग्व्यपीत्यनेन वेदाध्ययनाय ब्रह्मचारिनियमत्यागमपि स्तुत्यर्थं दर्शयति । तप्यत इति । "तपस्तपःकर्मकस्यैव" (पा० सू० ३।१।८८) इति यगात्मनेपदे भवतः ॥ १६७ ॥

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥ १६८ ॥

जो द्विज वेदका बिना अध्ययन किये ही दूसरे शास्त्र (अर्थशास्त्र आदि) में परिश्रम करता है, वह जीता हुआ ही वंशसहित (पुत्र-पौत्रादिके साथ) शीघ्र शूद्रत्वको प्राप्त करता है ॥ १६८ ॥

यो द्विजो वेदमनधीत्यान्यत्रार्थशास्त्रादौ श्रमं यत्नातिशयं करोति, स जीवन्नेव पुत्रपौत्रादिसहितः शीघ्रं शूद्रत्वं गच्छति । वेदमनधीत्यापि स्मृतिवेदाङ्गाध्ययने विरोधाभावः । अत एव शङ्खलिखितौ—"न वेदमनधीत्यान्यां विद्यामधीयीतान्यत्र वेदाङ्गस्मृतिभ्यः" ॥

द्विजानां तत्र तत्राधिकारश्रुतेर्द्विजत्वनिरूपणार्थमाह—

मातुरग्रेऽधिजननं द्वितीयं मौञ्जिबन्धने ।
तृतीयं यज्ञदीक्षायां द्विजस्य श्रुतिचोदनात् ॥ १६९ ॥

वेदवाक्यानुसार द्विजका प्रथम जन्म मातासे, द्वितीय जन्म यज्ञोपवीत संस्कारसे और तृतीय जन्म ज्योतिष्टोमादि यज्ञोंकी दीक्षासे होता है ॥ १६९ ॥

मातुः सकाशादादौ पुरुषस्य जन्म। द्वितीयं मौञ्जिबन्धने–उपनयने। "ङ्यापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुलम्" (पा० सू० ६।३।६३) इति ह्रस्वः। तृतीयं ज्योतिष्टोमादियज्ञदीक्षायां वेदश्रवणात्। तथा च श्रुतिः–"पुनर्वा यदृत्विजो यज्ञियं कुर्वन्ति यद्दीक्षयन्ति" इति। प्रथमद्वितीयतृतीयजन्मकथनं चेदं द्वितीयजन्मस्तुत्यर्थम्, द्विजस्यैव यज्ञदीक्षायामप्यधिकारात् ॥ १६९ ॥

तत्र यद् ब्रह्मजन्मास्य मौञ्जीबन्धनचिह्नितम्।
तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते ॥ १७० ॥

पूर्वश्लोकोक्त उन तीनों जन्मोंमें द्विजका यज्ञोपवीत से चिह्नित जो द्वितीय जन्म होता है, उसमें इसकी माता सावित्री (गायत्री) तथा पिता आचार्य हैं। (इस प्रकार माता तथा पिताके द्वारा यज्ञोपवीत संस्कारमें द्विजत्वरूप द्वितीय जन्म होता है) ॥ १७० ॥

तेषु त्रिषु जन्मसु मध्ये यदेतद् ब्रह्मग्रहणार्थं जन्मोपनयनसंस्काररूपं मेखलाबन्धनोपलक्षितं, तत्रास्य माणवकस्य सावित्री माता, आचार्यश्च पिता, मातृपितृसंपाद्यत्वाज्जन्मनः ॥ १७० ॥

वेदप्रदानादाचार्यं पितरं परिचक्षते।
न ह्यस्मिन्युज्यते कर्म किञ्चिदामौञ्जिबन्धनात् ॥ १७१ ॥

मनु आदि महर्षि वेदोपदेश करनेके कारण आचार्यको पिता कहते हैं, क्योंकि इसे (ब्राह्मण-बालकको) यज्ञोपवीत संस्कारके पहले किसी श्रौत तथा स्मार्त कर्मको करनेका अधिकार नहीं है ॥

वेदाध्यापनादाचार्यं पितरं मन्वादयो वदन्ति। पितृवन्महोपकारफलाद्गौणं पितृत्वम्। महोपकारमेव दर्शयति—न ह्यस्मिन्निति। यस्मादस्मिन्माणवके प्रागुपनयनात्किंचित्कर्म श्रौतं स्मार्तं च न सम्बध्यते-न तत्राधिक्रियत इत्यर्थः ॥ १७१ ॥

नाभिव्याहारयेद् ब्रह्म स्वधानिनयनादृते।
शूद्रेण हि समस्तावद्यावद् वेदे न जायते ॥ १७२ ॥

ब्राह्मणादि विना यज्ञोपवीत संस्कार हुए श्राद्धकर्मके अतिरिक्त कर्ममें वेदमन्त्रका उच्चारण न करे; क्योंकि वह जब तक वेदमें अधिकारी (यज्ञोपवीत संस्कार युक्त) नहीं होता, तब तक वह (द्विज) शूद्रके समान है ॥ १७२ ॥

आमौञ्जिबन्धनादित्यनुवर्तते प्रागुपनयनाद् वेदं नोच्चारयेत्। स्वधाशब्देन श्राद्धमुच्यते, निनीयते–निष्पाद्यते येन मन्त्रजातेन तद्वर्जयित्वा मृतपितृको नवश्राद्धादौ मन्त्रमुच्चारयेत्–तद्व्यतिरिक्तं वेदं नोदाहरेत्। यस्माद्यावद्वेदे न जायते तावदसौ शूद्रेण तुल्यः ॥ १७२ ॥

कृतोपनयनस्यास्य व्रतादेशनमिष्यते।
ब्रह्मणो ग्रहणं चैव क्रमेण विधिपूर्वकम् ॥ १७३ ॥

यज्ञोपवीत संस्कार होनेपर व्रतोंका (हवनके लिये समिधाका लाना, दिनमें सोनेका निषेध) वेदका उपदेश तथा ग्रहण (अध्ययन) क्रमशः विधिपूर्वक इष्ट है। (अतः यज्ञोपवीतके पहले इनका उपदेशादि) नहीं करना चाहिये) ॥ १७३ ॥

यस्मादस्य माणवकस्य "समिधमाधेहि" (गृ० सू० १।२२।६), "दिवा मा स्वाप्सीः" (गृ० सू० १।२२।२) इत्यादिव्रतादेशनं वेदास्याध्ययनं मन्त्रब्राह्मणक्रमेण "अध्येष्यमाणस्त्वाचान्तः" (अ० २ श्लो० ७०) इत्यादिविधिपूर्वकमुपनीतस्योपदिश्यते, तस्मादुपनयनात्पूर्वं न वेदमुदाहरेत् ॥ १७३ ॥

यद्यस्य विहितं चर्म यत्सूत्रं या च मेखला ।
यो दण्डो यच्च वसनं तत्तदस्य व्रतेष्वपि ॥ १७४ ॥

ब्रह्मचारीके लिये जो-जो चर्म, सूत्र, मेखला, दण्ड और वस्त्र यज्ञोपवीतमें बतलाये गये हैं (श्लो० ४१-४७), इनको उसे (गोदानादि) व्रतोंमें भी ग्रहण करना चाहिये ॥ १७४ ॥

यस्य ब्रह्मचारिणो यानि चर्मसूत्रमेखलादण्डवस्त्राण्युपनयनकाले गृह्येण विहितानि, गोदानादिव्रतेष्वपि तान्येव नवानि कर्तव्यानि ॥ १७५ ॥

सेवेतेमांस्तु नियमान्ब्रह्मचारी गुरौ वसन् ।
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं तपोवृद्ध्यर्थमात्मनः ॥ १७५ ॥

गुरुके समीपमें निवास करता हुआ ब्रह्मचारी इन्द्रिय-समूहको वशमें करके अपनी तपोवृद्धिके लिये नियमोंका पालन करे ॥ १७५ ॥

ब्रह्मचारी गुरुसमीपे वसन्निन्द्रियसंयमं कृत्वाऽनुगतादृष्टवृद्ध्यर्थमिमान्नियमाननुतिष्ठेत् ॥

नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद्देवर्षिपितृतर्पणम् ।
देवताऽभ्यर्चनं चैव समिदाधानमेव च ॥ १७६ ॥

ब्रह्मचारी नित्य स्नानकर देवताओं, ऋषियों तथा पितरों का तर्पण, शिव और विष्णु आदि देव-प्रतिमाओं का पूजन तथा प्रातः एवं सायंकाल हवन करे ॥ १७६ ॥

प्रत्यहं स्नात्वा देवर्षिपितृभ्य उदकदानम् , प्रतिमादिषु हरिहरादिदेवपूजनम् , सायं, प्रातश्च समिद्धोमं कुर्यात् । यस्तु गौतमीये स्नाननिषेधो ब्रह्मचरिणः, स सुखस्नानविषयः । अत एव बौधायनः—"नाप्सु श्लाघमानः स्नायात्" । विष्णुनाऽत्र "कालद्वयमभिषेकाग्निकार्यकरणमप्सु । दण्डवन्मज्जनम्" इति ब्रुवाणेन वारद्वयं स्नानमुपदिष्टम् ॥ १७६ ॥

वर्जयेन्मधु मांसं च गन्धं माल्यं रसान्स्त्रियः ।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम् ॥ १७७ ॥

(ब्रह्मचारी) मधु (शहद), मांस, सुगन्धित (कपूर, कस्तूरी आदि) पदार्थ, फूलोंकी माला, रस (गन्ना-जामुन आदिका सिरका आदि), स्त्री, अँचार आदि और जीवों की हिंसा (किसी प्रकार जीवों को कष्ट पहुँचाना) छोड़ दे ॥ १७७ ॥

क्षौद्रं मांसं च न खादेत् । गन्धं च कर्पूरचन्दनकस्तूरिकादि वर्जयेत् । एषां च गन्धानां यथासम्भवं भक्षणमनुलेपनं च निषिद्धम् । माल्यं च न धारयेत् । उद्रिक्तरसांश्च गुडादीन्न खादेत् । स्त्रियश्च नोपेयात् । यानि स्वभावतो मधुरादिरसानि कालवशेनोदकवासादिना चाम्लयन्ति तानि शुक्तानि न खादेत् । प्राणिनां हिंसां न कुर्यात् ॥ १७७ ॥

अभ्यङ्गमञ्जनं चाक्ष्णोरुपानच्छत्रधारणम् ।
कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम् ॥ १७८ ॥

(ब्रह्मचारी) सिरसे पैरतक (सर्वाङ्गों में) तैलकी मालिश या उबटन लगाना, आंखोंमें अञ्जन लगाना, जूता और छाता धारण करना, काम (विषयाभिलाष) क्रोध, लोभ, नाचना, गाना, बजाना छोड़ दे ॥ १७८ ॥

तैलादिना शिरःसहितदेहमर्दनलक्षणम्, कज्जलादिमिश्रं चक्षुषोरञ्जनम्, पादुकायाश्छत्रस्य च धारणम् , कामं मैथुनातिरिक्तविषयाभिलाषातिशयम् , मैथुनस्य स्त्रिय इत्यनेनैव निषिद्धत्वात् । क्रोधलोभनृत्यगीतवीणापणवादि वर्जयेत् ॥ १७८ ॥

द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथानृतम् ।
स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च ॥ १७९ ॥

(ब्रह्मचारी) जुआ, लोगोंके साथ निरर्थक बकवाद, दूसरों की निन्दा, असत्य, अनुरागसे स्त्रियों को देखना तथा उनका आलिङ्गन करना और दूसरों को हानि पहुँचाना छोड़ दे ॥ १७९ ॥

अक्षक्रीडाम् , जनैः सह निरर्थकवाक्कलहम्, परस्य दोषवादम्, मृषाऽभिधानम् , स्त्रीणां च मैथुनेच्छया सानुरागेण प्रेक्षणालिङ्गनम् , परस्य चापकारं वर्जयेत् ॥ १७९ ॥

एकः शयीत सर्वत्र न रेतः स्कन्दयेत्क्वचित् ।
कामाद्धि स्कन्दयन्रेतो हिनस्ति व्रतमात्मनः ॥ १८० ॥

(ब्रह्मचारी) सर्वत्र अकेला ही सोवे, (इच्छापूर्वक) वीर्यपात न करे, क्योंकि इच्छापूर्वक वीर्यपात करता हुआ (ब्रह्मचारी) अपने व्रतसे भ्रष्ट हो जाता है ॥ १८० ॥

सर्वत्र नीचशय्यादावेकाकी शयनं कुर्यात् । इच्छया न स्वशुक्रं पातयेत् । यस्मादिच्छया स्वमेहनाच्छुक्रं पातयन्स्वकीयव्रतं नाशयति । व्रतलोपे चावकीर्णिप्रायश्चित्तं कुर्यात् ॥

स्वप्ने सिक्त्वा ब्रह्मचारी द्विजः शुक्रमकामतः ।
स्नात्वाऽर्कमर्चयित्वा त्रिः 'पुनर्मामि'त्यृचं जपेत् ॥ १८१ ॥

(ब्रह्मचारी) विना इच्छाके स्वप्नमें वीर्यपात हो जानेपर स्नान तथा सूर्यका पूजन कर, तीन बार "पुनर्मामित्विन्द्रियम्—" मन्त्रका जप करे ॥ १८१ ॥

ब्रह्मचारी स्वप्नादावनिच्छया रेतः सिक्त्वा, कृतस्नानश्चन्दनाद्यनुलेपनपुष्पधूपादिभिः सूर्यमभ्यर्च्य "पुनर्मामैत्विन्द्रियम्" [सं० अ० ७ । ६७ । १] इत्येतामृचं वारत्रयं पठेत् । इदमत्र प्रायश्चित्तम् ॥ १८१ ॥

उदकुम्भं सुमनसो गोशकृन्मृत्तिकाकुशान् ।
आहरेद्यावदर्थानि भैक्षं चाहरहश्चरेत् ॥ १८२ ॥

(ब्रह्मचारी) पानीका घड़ा, फूल (देवपूजनके लिये), गोबर, मिट्टी और कुशोंको आचार्यकी आवश्यकताके अनुसारही लावे । (एक बारही अत्यधिक लाकर, सञ्चय न करे) और प्रतिदिन भिक्षा (भोजनके लिये) मांगे ॥ १८२ ॥

जलकलशपुष्पगोमयमृत्तिकाकुशान्यावदर्थानि—यावद्भिः प्रयोजनानि आचार्यस्य, तावन्त्याचार्यार्थमाहरेत् । अत एवोदकुम्भमित्यत्रैकत्वमप्यविवक्षितम् । प्रदर्शनं चैतत् । अन्यदप्याचार्योपयुक्तमुपाहरेद्, भैक्षं च प्रत्यहमर्जयेत् ॥ १८२ ॥

वेदयज्ञैरहीनानां प्रशस्तानां स्वकर्मसु ।
ब्रह्मचार्याहरेद्भैक्षं गृहेभ्यः प्रयतोऽन्वहम् ॥ १८३ ॥

वेदाध्ययन तथा पञ्चमहायज्ञोंसे अहीन (इनको नित्य करनेवाले) और अपने कर्ममें श्रेष्ठ लोगोंके घरोंसे जितेन्द्रिय ब्रह्मचारी प्रतिदिन भिक्षा लावे ॥ १८३ ॥

वेदयज्ञैश्चात्यक्तानां स्वकर्मसु दक्षाणां गृहेभ्यः प्रत्यहं ब्रह्मचारी सिद्धान्नभिक्षासमूहमाहरेत् ॥ १८३ ॥

गुरोः कुले न भिक्षेत न ज्ञातिकुलबन्धुषु ।
अलाभे त्वन्यगेहानां पूर्वं पूर्वं विवर्जयेत् ॥ १८४ ॥

(ब्रह्मचारी) गुरुके कुलमें, अपनी जातिवालोंमें, कुल बान्धव (मामा, मौसा आदि) में भिक्षा-याचना न करे। यदि भिक्षायोग्य दूसरे घर नहीं मिलें तो पूर्व-पूर्वका त्यागकर दे (योग्य गृहके अभावमें कुलबान्धवमें, उसके अभावमें अपनी जाति वालोंमें और उसके भी अभाव में गुरुके कुल (सपिण्ड) में भिक्षायाचना करे) ॥ १८४ ॥

आचार्यस्य सपिण्डेषु, बन्धुषु, मातुलादिषु च न भिक्षेत। तद्गृहव्यतिरिक्तभिक्षायोग्यगृहाभावे चोक्तेभ्यः पूर्वं पूर्वं वर्जयेत्। ततश्च प्रथमं बन्धून्भिक्षेत। तत्रालाभे ज्ञातीन्। तत्रालाभे गुरोरपि ज्ञातीन्भिक्षेत॥ १८४ ॥

सर्वं वाऽपि चरेद् ग्रामं पूर्वोक्तानामसम्भवे ।
नियम्य प्रयतो वाचमभिशस्तांस्तु वर्जयेत् ॥ १८५ ॥

अथवा पूर्वोक्त (श्लो० १८३–१८४) योग्य गृहोंके अभावमें मौन धारण कर तथा पवित्र होकर पूरे ग्राममें भिक्षा–याचना करे, किन्तु महापातकियों (९।२३५) के घरोंको छोड़ दे। (उनके यहां भिक्षायाचना कदापि न करे) ॥ १८५ ॥

पूर्वं "वेदयज्ञैरहीनानाम्" (अ० २ श्लो० १८३) इत्यनेनोक्तानामसंभवे सर्वं वा ग्राममुक्तगुणरहितमपि शुचिर्मौनी भिक्षेत, महापातकाद्यभिशस्तांस्त्यजेत् ॥ १८५ ॥

दूरादाहृत्य समिधः सन्निदध्याद्विहायसि ।
सायम्प्रातश्च जुहुयात्ताभिरग्निमतन्द्रितः ॥ १८६ ॥

दूरसे समिधा लाकर, खुले स्थानमें (जहां छप्पर आदि न हों) उन्हें रख दे और उन समिधाओंसे प्रातःकाल तथा सायंकाल हवन करे ॥ १८६ ॥

दूरादिभ्यः परिगृहीतवृक्षेभ्यः समिध आनीय, आकाशे धारणाशक्तः पटलादौ स्थापयेत्। ताभिश्च समिद्भिः सायंप्रातरनले होमं कुर्यात् ॥ १८६ ॥

अकृत्वा भैक्षचरणमसमिध्य च पावकम् ।
अनातुरः सप्तरात्रमवकीर्णिव्रतं चरेत् ॥ १८७ ॥

नीरोग रहता हुआ भी ब्रह्मचारी यदि विना भिक्षा मांगे तथा विना हवन किये सात दिन तक रहे; तो 'अवकीर्णि'–व्रत (११।११८) करे ॥ १८७ ॥

भिक्षाहारम्, सायंप्रातः समिद्धोमम्, अरोगो नैरन्तर्येण सप्तरात्रमकृत्वा लुप्तव्रतो भवति। ततश्चावकीर्णिप्रायश्चित्तं कुर्यात् ॥ १८७ ॥

भैक्षेण वर्तयेन्नित्यं नैकान्नादी भवेद् व्रती ।
भैक्षेण व्रतिनो वृत्तिरुपवाससमा स्मृता ॥ १८८ ॥

[न भैक्ष्यं परपाकः स्यान्न च भैक्ष्यं प्रतिग्रहः ।
सोमपानसमं भैक्ष्यं तस्माद् भैक्षेण वर्तयेत् ॥ ९ ॥
भैक्षस्यागमशुद्धस्य प्रोक्षितस्य हुतस्य च ।
यांस्तस्य ग्रसते ग्रासांस्ते तस्य क्रतुभिः समाः ॥ १० ॥]

ब्रह्मचारी प्रतिदिन भिक्षावृत्ति करे, किसी एकके अन्नका भोजन न करे । भिक्षान्न भोजन करनेसे ब्रह्मचारीकी वृत्ति उपवासके समान कही गयी है ॥ १८८ ॥

[भिक्षान्न दूसरेके द्वारा पकाया गया और प्रतिग्रह (दान) लेना नहीं माना जाता, भिक्षान्न सोमपानके समान है, इस कारण (ब्रह्मचारी) भिक्षावृत्ति करे ॥ ९ ॥]

[आगमसे शुद्ध, प्रोक्षित (जल छिड़के हुए) तथा हवन किये हुए भिक्षान्नके जिन ग्रासोंको ब्रह्मचारी खाता है; वे ग्रास यज्ञोंके समान हैं ॥ १० ॥]

ब्रह्मचारी न एकान्नमद्यात्किंतु बहुगृहाहृतभिक्षासमूहेन प्रत्यहं जीवेत् । यस्माद्भिक्षासमूहेन ब्रह्मचारिणो वृत्तिरुपवासतुल्या मुनिभिः स्मृता ॥ १८८ ॥

व्रतवद्देवदैवत्ये पित्र्ये कर्मण्यथर्षिवत् ।
काममभ्यर्थितोऽश्नीयाद् व्रतमस्य न लुप्यते ॥ १८९ ॥

देवतोद्देश्यक कर्म (यज्ञादि) में सम्यक् प्रकारसे निमन्त्रित (ब्राह्मण) ब्रह्मचारी व्रतके योग्य एवं मधु-मांसादिसे वर्जित एक व्यक्तिके भी अन्नको भोजन करे तथा पितरोंके उद्देश्यवाले कर्म (श्राद्धादि) में सम्यक् प्रकारसे निमन्त्रित (ब्राह्मण) ब्रह्मचारी ऋषितुल्य मधु-मांसादिसे वर्जित एक मनुष्य के अन्नको भी भोजन करे; इस प्रकार इस (ब्रह्मचारी) का व्रत नष्ट नहीं होता है ॥१८९॥

पूर्वनिषिद्धस्यैकान्नभोजनस्यायं प्रतिप्रसवः । देवदैवत्ये कर्मणि देवतोद्देशेनाभ्यर्थितो ब्रह्मचारीव्रतवदिति व्रतविरुद्धमधुमांसादिवर्जितमेकस्याप्यन्नं यथेप्सितं भुञ्जीत। अथ पित्रुद्देशेनाभ्यर्थितो भवति तदा ऋषिर्यतिः सम्यग्दर्शनसंपन्नत्वात्स इव मधुमांसवर्जितमेकस्याप्यन्नं यथेप्सितं भुञ्जीत इति स एवार्थो वेदग्ध्येनोक्तः, तथापि भैक्षवृत्तिनियमरूपं व्रतमस्य लुप्तं न भवति । याज्ञवल्क्योऽपि श्राद्धेऽभ्यर्थितस्यैकान्नभोजनमाह—

ब्रह्मचर्ये स्थितो नैकमन्नमद्यादनापदि ।
ब्राह्मणः काममश्नीयाच्छ्राद्धे व्रतमपीडयन् ॥ (या० स्मृ० १–३२) इति ।

विश्वरूपेण तु "व्रतमस्य न लुप्यते" इति पश्यता ब्रह्मचारिणो मांसभक्षणमनेन मनुवचनेन विधीयत इति व्याख्यातम् ॥ १८९ ॥

ब्राह्मणस्यैव कर्मैतदुपदिष्टं मनीषिभिः ।
राजन्यवैश्ययोस्त्वेवं नैतत्कर्म विधीयते ॥ १९० ॥

पूर्वोक्त यह कर्म (यज्ञ या श्राद्धमें सम्यक् निमन्त्रित होकर एक मनुष्यके अन्नको भोजन करनेका विधान) केवल ब्राह्मण ब्रह्मचारीके लिये ही विहित है, क्षत्रिय तथा वैश्य ब्रह्मचारीके लिये यह विधान (यज्ञ या श्राद्धमें निमन्त्रित होकर एक मनुष्यके अन्नको भोजन करनेका नियम) नहीं है ॥ १९० ॥

ब्राह्मणक्षत्रियविशां त्रयाणामेव ब्रह्मचारिणां भैक्षाचरणविधानात् "व्रतवत्" (म० स्मृ० २–१८९) इत्यनेन तदपवादरूपमेकान्नभोजनमुपदिष्टं क्षत्रियवैश्ययोरपि पुनरुक्तेन पर्युदस्यते । एतदैकान्नभोजनरूपं कर्म तद् ब्राह्मणस्यैव देवार्थविद्भिर्विहितम्, क्षत्रियवैश्ययोः पुनर्न चैतत्कर्मेति ब्रूते ॥ १९० ॥

चोदितो गुरुणा नित्यमप्रचोदित एव वा ।
कुर्यादध्ययने यत्नमाचार्यस्य हितेषु च ॥ १९१ ॥

आचार्यके कहनेपर अथवा नहीं कहनेपर भी ब्रह्मचारी अध्ययन और आचार्यके हितमें सर्वदा प्रयत्नशील रहे ॥ १९१ ॥

आचार्येण प्रेरितो न प्रेरितो वा स्वयमेव प्रत्यहमध्ययने गुरुहितेषु चोद्योगं कुर्यात् ॥

शरीरं चैव वाचं च बुद्धीन्द्रियमनांसि च ।
नियम्य प्राञ्जलिस्तिष्ठेद्वीक्षमाणो गुरोर्मुखम् ॥ १९२ ॥

शरीर, वचन, बुद्धि, इन्द्रिय और मनको वशीभूतकर हाथ जोड़कर गुरुके मुखको देखता हुआ स्थित होवे (बैठे नहीं, किन्तु खड़ा रहे) ॥ १९२ ॥

देहवाग्बुद्धीन्द्रियमनांसि नियम्य कृताञ्जलिर्गुरुमुखं पश्यंस्तिष्ठेन्नोपविशेत् ॥ १९२ ॥

नित्यमुद्धृतपाणिः स्यात्साध्वाचारः सुसंयतः ।
आस्यतामिति चोक्तः सन्नासीताभिमुखं गुरोः ॥ १९३ ॥

और सर्वदा दुपट्टेके बाहर दाहिना हाथ रखे, सदाचारसे युक्त और अच्छी तरह संयत रहे (वस्त्रसे शरीरको ढका रखे, नंगे शरीर न रहे) तथा "बैठो" ऐसा गुरुके कहनेपर उन (गुरु) के सामने बैठे ॥ १९३ ॥

सततमुत्तरीयाद्बहिष्कृतदक्षिणबाहुः, शोभनाचारः वस्त्रावृतदेहः, आस्यतामिति गुरुणोक्तः सन् गुरोरभिमुखं यथा भवति तथा आसीत ॥ १९३ ॥

हीनान्नवस्त्रवेषः स्यात्सर्वदा गुरुसन्निधौ ।
उत्तिष्ठेत्प्रथमं चास्य चरमं चैव संविशेत् ॥ १९४ ॥

सर्वदा गुरुकी अपेक्षा अन्न (भोज्य पदार्थ), वस्त्र तथा वेषको हीन रखे और गुरुके सोकर उठनेके पहले उठे तथा सोनेके बाद सोवे ॥ १९४ ॥

सर्वदा गुरुसमीपे गुर्वपेक्षया स्वपकृष्टान्नवस्त्रप्रसाधनो भवेत् । गुरोश्च प्रथमं रात्रिशेषे शयनादुत्तिष्ठेत्, प्रदोषे च गुरौ सुप्ते पश्चाच्छयीत ॥ १९४ ॥

प्रतिश्रवणसम्भाषे शयानो न समाचरेत् ।
नासीनो न च भुञ्जानो न तिष्ठन्न पराङ्मुखः ॥ १९५ ॥

गुरुकी आज्ञाका स्वीकार या उनसे सम्भाषण (बातचीत) स्वयं सोए हुए, आसनपर बैठे हुए, खाते हुए, खड़े हुए या मुख फेरे (गुरुके सामने पीठ किये) हुए न करे ॥ १९५ ॥

प्रतिश्रवणम्–आङ्गीकरणम्, संभाषणं च गुरोः शय्यायां सुप्तः, आसनोपविष्टो, भुञ्जानः, तिष्ठन्, विमुखश्च न कुर्यात् ॥ १९५ ॥

कथं तर्हि कुर्यात् ? तदाह—

आसीनस्य स्थितः कुर्यादभिगच्छंस्तु तिष्ठतः ।
प्रत्युद्गम्य त्वाव्रजतः पश्चाद्धावंस्तु धावतः ॥ १९६ ॥

किन्तु गुरुके आसनपर बैठे रहनेपर स्वयं आसनसे उठकर, खड़े रहनेपर सामने जाकर, आते रहनेपर कुछ आगे (पासमें) बढ़कर और दौड़ते रहनेपर दौड़कर गुरुकी आज्ञाको स्वीकार करे या उनसे सम्भाषण (बातचीत) करे ॥ १९६ ॥

आसनोपविष्टस्य गुरोराज्ञां ददतः स्वयमासनादुत्थितः, तिष्ठतो गुरोरादिशतस्तदभिमुखं कतिचित्पदानि गत्वा यथा गुरुरागच्छति तथाप्यभिमुखं गत्वा, यदा तु गुरुर्धावन्नादिशति तदा तस्य पश्चाद्धावन्प्रतिश्रवणसंभापे कुर्यात् ॥ १९६ ॥

पराङ्मुखस्याभिमुखो दूरस्थस्यैत्य चान्तिकम् ।
प्रणम्य तु शयानस्य निदेशे चैव तिष्ठतः ॥ १९७ ॥

और गुरुके पराङ्मुख (पीठ फेरे रहने) पर उनके सामने जाकर, दूर रहनेपर स्वयं समीप जाकर, सोये (लेटे) रहनेपर तथा निकटस्थ रहनेपर प्रणामकर (नम्र होकर—झुककर) उन (गुरु) की आज्ञाको स्वीकार करे तथा उनके साथ सम्भाषण करे ॥ १९७ ॥

पराङ्मुखस्य वाऽऽदिशतः (गुरोः) संमुखस्थो, (भूत्वा)दूरस्थस्य गुरोः समीपमागत्य, शयानस्य गुरोः प्रणम्य–प्रह्वो भूत्वा, निर्देशे निकटेऽवतिष्ठतो गुरोरादिशतः प्रह्वीभूयैव प्रतिश्रवणसंभापे कुर्यात् ॥

नीचं शय्यासनं चास्य सर्वदा गुरुसन्निधौ ।
गुरोस्तु चक्षुर्विषये न यथेष्टासनो भवेत् ॥ १९८ ॥

गुरुके समीप इस (ब्रह्मचारी) का आसन सर्वदा (गुरुकी अपेक्षा) नीचा रहे और (वह ब्रह्मचारी) गुरुके सामने मनमाने (अस्तव्यस्त) आसनसे न बैठे ॥ १९८ ॥

गुरुसमीपे चास्य गुरुशय्यासनापेक्षया नीचे एव शय्यासने नित्यं स्याताम् । यत्र च देशे समासीनं गुरुः पश्यति, न तत्र यथेष्टचेष्टां चरणप्रसारादिकां कुर्यात् ॥ १९८ ॥

नोदाहरेदस्य नाम परोक्षमपि केवलम् ।
न चैवास्यानुकुर्वीत गतिभाषितचेष्टितम् ॥ १९९ ॥
[परोक्षं सत्कृपापूर्वं प्रत्यक्षं न कथंचन ।
दुष्टानुचारी च गुरोरिह वाऽमुत्र चेत्यधः ॥ ११ ॥]

(ब्रह्मचारी) परोक्षमें भी गुरुके केवल (उपाध्याय, आचार्य, गुरु आदि उत्तम एवं योग्य उपाधियोंसे रहित) नामको उच्चारण न करे तथा उनके गमन, भाषण तथा चेष्टा आदिका अनुकरण (नकल) न करे ॥ १९९ ॥

[गुरुके परोक्षमें 'शिष्टता' पूर्वक गुरुका नामोच्चारण करे तथा प्रत्यक्षमें किसी प्रकार भी गुरुके नामका उच्चारण न करे । गुरुके विषयमें दुष्टाचरण करनेवाला (शिष्य) इस लोक तथा परलोकमें अधोगति पाता है ॥ ११ ॥]

अस्य गुरोः परोक्षमपि उपाध्यायाचार्यादिपूजावचनोपपदशून्यं नाम नोच्चारयेत् । न तु गुरोर्गमनभाषितचेष्टितान्यनुकुर्वीत, गुरुगमनादिसदृशान्यात्मनो गमनादीन्युपहासबुध्या न कुर्वीत ॥ १९९ ॥

गुरोर्यत्र परीवादो निन्दा वाऽपि प्रवर्तते ।
कर्णौ तत्र पिधातव्यौ गन्तव्यं वा ततोऽन्यतः ॥ २०० ॥

जहां गुरुकी बुराई (गुरुमें वर्तमान दोषोंका वर्णन) या निन्दा (गुरुमें नहीं रहनेवाले दोषोंका कथन) होती हो, वहां ब्रह्मचारी कान बन्द कर ले या वहांसे अन्यत्र चला जाय ॥२००॥

विद्यमानदोषस्याभिधानम्–परीवादः, अविद्यमानदोषाभिधानम्–निन्दा । यत्र देशे गुरोः परीवादो, निन्दा च वर्तते, तत्र स्थितेन शिष्येण कर्णौ हस्तादिना तिरोधातव्यौ । तस्माद्वा देशाद् देशान्तरं गन्तव्यम् ॥ २०० ॥

इदानीं शिष्यकर्तृकपरीवादकृतफलमाह—

परीवादात् खरो भवति, श्वा वै भवति निन्दकः।
परिभोक्ता कृमिर्भवति, कीटो भवति मत्सरी ॥ २०१ ॥

शिष्य गुरुके परीवाद (बुराई—उनके दोषोंके कहने) से गधा, निन्दा (गुरुमें नहीं रहनेवाले दोषोंके झूठमूठ कहने) से कुत्ता, धनका भोग करनेसे कृमि (विष्ठादिमें स्थित छोटा २ कीड़ा) मत्सर (गुरुकी उन्नति को असहन करने) से कीट (कृमिसे कुछ बड़ा) होता है ॥ २०१ ॥

गुरोः परीवादाच्छिष्यो मृतः खरो भवति। गुरोर्निन्दकः कुक्कुरो भवति। परिभोक्ता-अनुचितेन गुरुधनेनोपजीवकः कृमिर्भवति। मत्सरी-गुरोरुत्कर्षासहनः कीटो भवति। कीटः कृमिभ्यः किंचित्स्थूलो भवति॥ २०१ ॥

दूरस्थो नार्चयेदेनं न क्रुद्धो नान्तिके स्त्रियाः।
यानासनस्थश्चैवैनमवरुह्याभिवादयेत् ॥ २०२ ॥

शिष्य स्वयं दूर रहकर (किसी अन्य मनुष्यके द्वारा), स्वयं क्रुद्ध होकर (झुंझलाहटसे) और स्त्रीके समीप बैठकर गुरुकी पूजा न करे तथा सवारी (रथ, गाड़ी, पालकी आदि) और आसनपर बैठा हुआ शिष्य उससे उतरकर गुरुको प्रणाम करे ॥ २०२ ॥

दूरस्थः शिष्योऽन्यं नियुज्य माल्यवस्त्रादिना गुरुं नार्चयेत्। स्वयं गमनाशक्तौ स्वदोषः। क्रुद्धः कामिनीसमीपे च स्थितं स्वयमपि नार्चयेत्। यानासनस्थश्च शिष्यो यानासनादवतीर्य, गुरुमभिवादयेत्। यानासनस्थश्चैवैनं प्रत्युत्थायेत्यनेन यानासनादुत्थानं विहितमनेन तु यानासनत्याग इत्यपुनरुक्तिः ॥ २०२ ॥

प्रतिवातेऽनुवाते च नासीत गुरुणा सह।
असंश्रवे चैव गुरोर्न किंचिदपि कीर्तयेत् ॥ २०३ ॥

प्रतिवात (प्रतिकूल वायु अर्थात् गुरुकी ओरसे शिष्यकी ओर आनेवाली हवा) तथा अनुवात (अनुकूल वायु अर्थात् शिष्यकी ओरसे गुरुकी ओर जानेवाली हवा) में गुरुके साथ न बैठे तथा जहां गुरु नहीं सुन सकते हों, वहां कुछ भी (गुरु या दूसरेके विषयमें कोई बात) न कहे ॥२०३॥

प्रतिगतोऽभिमुखीभूतः शिष्यस्तदा गुरुदेशाच्छिष्यदेशमागच्छति स प्रतिवातः, यः शिष्यदेशाद्गुरुदेशमागच्छति सोऽनुवातः, तत्र गुरुणा समं नासीत। तथाऽविद्यमानः संश्रवो यत्र तस्मिन्नसंश्रवे, गुरुर्यत्र न शृणोतीत्यर्थः। तत्र गुरुगतमन्यगतं वा न किंचित् कथयेत् ॥ ३०३ ॥

गोऽश्वोष्ट्रयानप्रासादस्रस्तरेषु कटेषु च।
आसीत गुरुणा सार्धं शिलाफलकनौषु च ॥ २०४ ॥

बैलगाड़ी, घोड़ागाड़ी, ऊंटगाड़ी, छतके ऊपर, बड़ी दरी आदि बिछौना, शीतलपाटी, बेंत या ताड़ आदिकी चटाई, पत्थर, लकड़ीका तख्ता और नावपर शिष्य गुरुसे साथ बैठ सकता है ॥२०४॥

यानशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते। बलीवर्दयाने, घोटकप्रयुक्ते याने, उष्ट्रयुक्तयाने, रथकाद्यादौ, प्रासादोपरि, स्रस्तरे, कटे च तृणादिकृते वीरणादिनिर्मिते, शिलायाम्, फलके च दारुघटितदीर्घासने, नौकायां च गुरुणा सह आसीत ॥ २०४ ॥

गुरोर्गुरौ सन्निहिते गुरुवद्वृत्तिमाचरेत्।
न चानिसृष्टो गुरुणा स्वान्गुरूनभिवादयेत् ॥ २०५ ॥

गुरुके गुरु (परम गुरु) के पासमें गुरु के समान आचरण करे और गुरुके समीपमें रहता (निवास करता) हुआ शिष्य (ब्रह्मचारी) गुरुकी आज्ञाके विना (माता, चचा आदि) गुरुजनों का अभिवादन न करे ॥ २०५ ॥

आचार्यस्याचार्ये सन्निहिते आचार्य इव तस्मिन्नप्यभिवादनादिकां वृत्तिमनुतिष्ठेत्। तथा गुरुगृहे वसन् शिष्य आचार्येणानियुक्तो न स्वान्गुरून्मातृपितृव्यादीनभिवादयेत्॥२०५॥

विद्यागुरुष्वेतदेव नित्या वृत्तिः स्वयोनिषु ।
प्रतिषेधत्सु चाधर्मान्हितं चोपदिशत्स्वपि ॥ २०६ ॥

उपाध्याय आदि अन्य (आचार्यको छोड़कर दूसरे) विद्यागुरुओंमें; चाचा, मामा, मौसा आदि स्वबन्धुओंमें, अधर्मका निषेध करनेवालों (धर्मोपदेश करनेवाले) तथा हितके उपदेश देने-वालोंमें गुरुके समान आचरण करे ॥ २०६ ॥

आचार्यव्यतिरिक्ता उपाध्यायादयो विद्यागुरवः, तेष्वेतदेवेति सामान्योपक्रमः। किं तत्? आचार्य इव नित्या सार्वकालिकी वृत्तिर्विधेया। तथा स्वयोनिष्वपि पितृव्यादिषु तद्वृत्तिः तथा अधर्मान्निषेधत्सु धर्मतत्त्वं चोपदिशत्सु गुरुवद्वर्तितव्यम् ॥ २०६ ॥

श्रेयःसु गुरुवद्वृत्तिं नित्यमेव समाचरेत् ।
गुरुपुत्रेषु चार्येषु गुरोश्चैव स्वबन्धुषु ॥ २०७ ॥

विद्या, तप आदिके द्वारा श्रेष्ठ लोगोंमें अवस्थामें, अपनेसे बड़े गुरुपुत्रमें और गुरुके आत्मीय बान्धवोंमें (शिष्य) गुरुके समान आचरण करे ॥ २०७ ॥

श्रेयस्सु-विद्यातपस्समृद्धेषु, आर्येष्विति गुरुपुत्रविशेषणम्। समानजातिगुरुपुत्रेषु गुरोश्च ज्ञातिष्वपि पितृव्यादिषु सर्वदा गुरुवद् वृत्तिमनुतिष्ठेत्। गुरुपुत्रश्चात्र शिष्याधिकवयाश्च बोद्धव्यः। शिष्यबालसमानवयसामनन्तरं शिष्यस्य वक्ष्यमाणत्वात् ॥ २०७ ॥

बालः समानजन्मा वा शिष्यो वा यज्ञकर्मणि ।
अध्यापयन्गुरुसुतो गुरुवन्मानमर्हति ॥ २०८ ॥

गुरुका पुत्र अवस्थामें अपनेसे छोटा (कम आयुवाला) हो, समान (बराबर) हो, अध्ययन या अध्यापन करता हो, यज्ञकर्ममें ऋत्विक् हो, या अऋत्विक् रूपमें यज्ञ-दर्शनके लिये आया हो तो वह गुरुके समान (यजमानका) पूज्य है ॥ २०८ ॥

कनिष्ठः, सवया वा ज्येष्ठोऽपि वा शिष्योऽध्यापयन्-अध्यापनसमर्थः, गृहीतवेद इत्यर्थः। स यज्ञकर्मणि ऋत्विगनृत्विग्वा यज्ञदर्शनार्थमागतो गुरुवत्पूजामर्हति ॥ २०८ ॥

आचार्यवदित्यविशेषेण पूजायां प्राप्तायां विशेषमाह—

उत्सादनं च गात्राणां स्नापनोच्छिष्टभोजने ।
न कुर्याद् गुरुपुत्रस्य पादयोश्चावनेजनम् ॥ २०९ ॥

शिष्य गुरुपुत्रके शरीरमें उबटन लगाना, स्नान कराना, उसका जूठा भोजन करना और पैर धोना; इन कर्मोंको न करे ॥ २०९ ॥

गात्राणामुत्सादनम्-उद्वर्तनम् , उच्छिष्टस्य भक्षणम्, पादयोश्च प्रक्षालनं गुरुपुत्रस्य न कुर्यात् ॥ २०९ ॥

गुरुवत्प्रतिपूज्याः स्युः सवर्णा गुरुयोषितः।
असवर्णास्तु संपूज्याः प्रत्युत्थानाभिवादनैः॥ २१०॥

गुरुकी सवर्ण स्त्रियां गुरु के समान पूजनीय हैं और असवर्ण स्त्रियां प्रत्युत्थान तथा नमस्कार मात्रसे ही पूज्य हैं॥ २१०॥

सवर्णा गुरुपत्न्यः गुरुवदाज्ञाकरणादिना पूज्या भवेयुः। असवर्णाः पुनः केवलप्रत्युत्थानाभिवादनैः॥ २१०॥

अभ्यञ्जनं स्नापनं च गात्रोत्सादनमेव च।
गुरुपत्न्या न कार्याणि केशानां च प्रसाधनम्॥ २११॥

गुरुकी स्त्रियों को तेलकी मालिश, स्नान कराना, उबटन लगाना, उनका बाल झाड़ना, या फूल आदिसे उनका शृङ्गार करना; इन कर्मोंको (शिष्य) न करे॥ २११॥

तैलादिना देहाभ्यङ्गः, स्नापनम्, गात्राणां चोद्वर्तनम्, केशानां च मालादिना प्रसाधनमेतानि गुरुपत्न्या न कर्तव्यानि। केशानामिति प्रदर्शनमात्रार्थं देहस्यापि चन्दनादिना प्रसाधनं न कुर्यात्॥ २११॥

गुरुपत्नी तु युवतिर्नाभिवाद्येह पादयोः।
पूर्णविंशतिवर्षेण गुणदोषौ विजानता॥ २१२॥

बीस वर्षकी अवस्थावाला (युवक) गुण-दोषका ज्ञाता शिष्य गुरुकी युवती स्त्रीके चरणको स्पर्श कर अभिवादन न करे। (अलगसे ही मस्तक झुकाकर अभिवादन करे)॥ २१२॥

युवतिर्गुरुपत्नी पादयोरुपसङ्गृह्य अभिवादनदोषगुणज्ञेन यूना नाभिवाद्या। पूर्णविंशतिवर्षत्वं यौवनप्रदर्शनार्थम्। बालस्य पादयोरभिवादनमनिषिद्धम्। यूनस्तु भूमावभिवादनं वक्ष्यति॥ २१२॥

स्वभाव एष नारीणां नराणामिह दूषणम्।
अतोऽर्थान्न प्रमाद्यन्ति प्रमदासु विपश्चितः॥ २१३॥

स्त्रियोंका यह स्वभाव है कि इस जगतमें शृङ्गारचेष्टाओंके द्वारा व्यामोहितकर पुरुषोंमें दूषण उत्पन्न कर देती हैं, अत एव विद्वान् पुरुष स्त्रियोंके विषयमें असावधानी नहीं करते हैं (किन्तु सर्वदा उनसे अलग ही रहते हैं)॥ २१३॥

स्त्रीणामयं स्वभावः-यदिह शृङ्गारचेष्टया व्यामोह्य पुरुषाणां दूषणम्। अतोऽर्थादस्माद्धेतोः पण्डिताः स्त्रीषु न प्रमत्ता भवन्ति॥ २१३॥

अविद्वांसमलं लोके विद्वांसमपि वा पुनः।
प्रमदा ह्युत्पथं नेतुं कामक्रोधवशानुगम्॥ २१४॥

स्त्रियां काम तथा क्रोधके वशीभूत मूर्ख या विद्वान् पुरुषको भी कुमार्गमें प्रवृत्त करनेके लिये समर्थ होती हैं॥ २१४॥

विद्वानहं जितेन्द्रिय इति बुद्ध्या न स्त्रीसन्निधिर्विधेयः। यस्मादविद्वांसं विद्वांसमपि वा पुनः पुरुषं देहधर्मात्कामक्रोधवशानुयायिनं स्त्रिय उत्पथं नेतुं समर्थाः॥ २१४॥

अत आह—

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति॥ २१५॥

पुरुष (युवती) माता, बहन तथा पुत्रीके साथ कभी एकान्तमें न रहे; क्योंकि बलवान् इन्द्रिय-समूह विद्वान्‌को भी अपने वशमें कर लेता है ॥ २१५ ॥

मात्रा, भगिन्या, दुहित्रा, निर्जनगृहादौ नासीत । यतोऽतिबल इन्द्रियगणः शास्त्रनियमितात्मानमपि पुरुषं परवशं करोति ॥ २१५ ॥

कामं तु गुरुपत्नीनां युवतीनां युवा भुवि ।
विधिवद्वन्दनं कुर्यादसावहमिति ब्रुवन् ॥ २१६ ॥

युवा शिष्य युवती गुरुपत्नीको "अमुक नामवाला" मैं अभिवादन करता हूँ (अभिवादये शुभशर्माहं भोः !) इस प्रकार कहकर पृथ्वीपर (उसका पादस्पर्श न कर) विधिपूर्वक अभिवादन करे ॥ २१६ ॥

कामं तु गुरुपत्नीनां युवतीनां स्वयमपि युवा यथोक्तविधिना "अभिवादयेऽमुकशर्माहं भोः" इति ब्रुवन्पादग्रहणं विना यथेष्टमभिवादनं कुर्यात् ॥ ३१६ ॥

विप्रोष्य पादग्रहणमन्वहं चाभिवादनम् ।
गुरुदारेषु कुर्वीत सतां धर्ममनुस्मरन् ॥ २१७ ॥

सत्पुरुषोंके धर्मको स्मरण करता हुआ शिष्य प्रवाससे लौटकर गुरुपत्नीका चरण-स्पर्श करके तथा प्रतिदिन विना चरणस्पर्श किये ही अभिवादन करे ॥ २१७ ॥

प्रवासादागत्य सव्येन सव्यं दक्षिणेन च दक्षिणमित्युक्तविधिना पादग्रहणम् , प्रत्यहं भूमावभिवादनं च गुरुपत्नीषु युवा कुर्यात् । शिष्टानामयमाचार इति जानन्तु ॥ २१७ ॥

उक्तस्य शुश्रूषाविधेः फलमाह—

यथा खनन्खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति ।
तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति ॥ २१८ ॥

जिस प्रकार खनित्र (कुदाल—जमीन खोदने का अस्त्र) से (जमीन) को खोदता हुआ मनुष्य पानी को प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार गुरुसेवा करनेवाला शिष्य गुरुकी विद्याको भी प्राप्त कर लेता है ॥ २१८ ॥

यथा कश्चिन्मनुष्यः खनित्रेण भूमिं खनन् जलं प्राप्नोति, एवं गुरौ स्थितां विद्यां गुरुसेवापरः शिष्यः प्राप्नोति । २१८ ॥

ब्रह्मचारिणः प्रकारत्रयमाह—

मुण्डो वा जटिलो वा स्यादथवा स्याच्छिखाजटः ।
नैनं ग्रामेऽभिनिम्लोचेत्सूर्यो नाभ्युदियात्क्वचित् ॥ २१९ ॥

ब्रह्मचारी (शिखासहित) मुण्डन करावे, जटायुक्त रहे (बिलकुल बाल न बनवावे) या केवल शिखामात्र रखे (शिखाको छोड़ शेष बाल बनवा ले) और इस ब्रह्मचारीको किसी स्थानमें सोते रहनेपर न तो सूर्योदय हो और न तो सूर्यास्त हो । (सूर्योदय तथा सूर्यास्तके पहले ब्रह्मचारी ग्रामसे बाहर जाकर अपना सन्ध्योपासन तथा अग्निहोत्रादि नित्यकृत्य करे) ॥ २१९ ॥

मुण्डितमस्तकः, शिरःकेशो जटावान्वा, शिखैव वा जटा जाता यस्य, एनं ब्रह्मचारिणं क्वचिद् ग्रामे निद्राणं, उत्तरत्र शयानमिति दर्शनात्सूर्यो नाभिनिम्लोचेन्नास्तमियात् ॥२१९॥

अत्र प्रायश्चित्तमाह—

तं चेदभ्युदियात्सूर्यः शयानं कामचारतः ।
निम्लोचेद्वाऽप्यविज्ञानाज्जपन्नुपवसेद्दिनम् ॥ २२० ॥

इच्छापूर्वक (रुग्णादि अवस्थामें नहीं) ब्रह्मचारीके सोते रहनेपर यदि सूर्योदय हो जाय तो वह गायत्री जप करता हुआ दिनभर उपवास करे (और रात में भोजन करे) और भ्रमसे (बिना जाने सोते रहनेपर) यदि सूर्यास्त हो जाय तो वह गायत्री जप करता हुआ आगे वाले दिनमें उपवास करे (और रातमें भोजन करे) ॥ २२० ॥

तंचेत्कामतो निद्राणं निद्रोपवशत्वेन सूर्योऽभ्युदियादस्तमियात्तदा सावित्रीं जपन्नुभयत्रापि दिनमुपवसन् रात्रौ भुञ्जीत । अभिनिम्लुक्तस्योत्तरेऽहनि उपवासजपौ । "अभिरभागे" (पा. सू. १।४।९१) इति कर्मप्रवचनीयसंज्ञा, ततः कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया । सावित्रीजपं गोतमवचनात् । तदाह गोतमः —"सूर्याभ्युदितो ब्रह्मचारी तिष्ठेदहरभुञ्जानोऽभ्यस्तमितश्च रात्रिं जपन्सावित्रीम्"। ननु गोतमवचनात्सूर्याभ्युदितस्यैव दिवा भोजनजपावुक्तौ, अभ्यस्तमितस्य तु रात्र्यभोजनजपौ, नैतत, अपेक्षायां व्याख्यासन्देहे वा मुन्यन्तरविवृतमर्थमन्वयं वाऽऽश्रयामहे, न तु स्फुटं मन्वर्थं स्मृत्यन्तरदर्शनादन्यथा कुर्मः । अत एव जपापेक्षायां गोतमवचनात्सावित्रीजपोऽभ्युपेय एव, न तूभयत्र स्फुटं मनूक्तं दिनोपवासजपावपाकुर्मः । तस्मादभ्यस्तमितस्य मानवगोतमीयप्रायश्चित्तविकल्पः ॥ २२० ॥

अस्य तु प्रायश्चित्तविधेरर्थवादमाह—

सूर्येण ह्यभिनिर्मुक्तः शयानोऽभ्युदितश्च यः ।
प्रायश्चित्तमकुर्वाणो युक्तः स्यान्महतैनसा ॥ २२१ ॥

जिस ब्रह्मचारीके सोते रहनेपर सूर्योदय या सूर्यास्त हो जाय और वह ब्रह्मचारी उक्त प्रायश्चित्त (श्लो० २२०) न करे तो बड़े पापसे युक्त होता है (अतः उसे उक्त प्रायश्चित्त अवश्य करना चाहिये) ॥ २२१ ॥

यस्मात्सूर्येणाभिनिर्मुक्तोऽभ्युदितश्च निद्राणः प्रायश्चित्तमकुर्वन्महता पापेन युक्तो नरकं गच्छति । तस्माद्यथोक्तप्रायश्चित्तं कुर्यात् ॥ २२१ ॥

यस्मादुक्तप्रकारेण संध्याऽतिक्रमे महत्पापमतः—

आचम्य प्रयतो नित्यमुभे संध्ये समाहितः ।
शुचौ देशे जपञ्जप्यमुपासीत यथाविधि ॥ २२२ ॥

आचमनकर पवित्र तथा सावधान ब्रह्मचारी पवित्र स्थानमें सावित्रीको जपता हुआ दोनों समय सन्ध्याका विधिपूर्वक अनुष्ठान करे ॥ २२२ ॥

आचम्य च पवित्रो नित्यमनन्यमनाः शुचिदेशे सावित्रीं जपन्नुभे संध्ये विधिवदुपासीत ॥ २२२ ॥

यदि स्त्री यद्यवरजः श्रेयः किंचित्समाचरेत् ।
तत्सर्वमाचरेद्युक्तो यत्र वाऽस्य रमेन्मनः ॥ २२३ ॥

स्त्री या शूद्र भी जिस किसी अच्छे कामको करते हों, उसे तथा शास्त्रानुकूल कर्मोंमेंसे जो कर्म रुचिकर हो, उन्हें भी सावधान होकर करे ॥ २२३ ॥

यदि स्त्री शूद्रो वा किञ्चिच्छ्रेयोऽनुतिष्ठति, तत्सर्वं युक्तोऽनुतिष्ठेत् । यत्र च शास्त्रानिषिद्धे मनोऽस्य तुष्यति, तदपि कुर्यात् ॥ २२३ ॥

श्रेय एव हि धर्मार्थौ, तद्दर्शयति—

धर्मार्थावुच्यते श्रेयः कामार्थौ धर्म एव च ।
अर्थ एवेह वा श्रेयस्त्रिवर्ग इति तु स्थितिः ॥ २२४ ॥

कोई आचार्य (कामहेतुक होनेसे) धर्म तथा अर्थको, कोई आचार्य (सुख हेतुक होनेसे) काम तथा अर्थको, कोई आचार्य (अर्थ और कामके उपायभूत, होनेसे) धर्मको और कोई आचार्य (धर्म तथा अर्थका साधन होनेसे) अर्थको ही श्रेय (कल्याणकारक) मानते हैं; किन्तु (पुरुषार्थताके कारण (त्रिवर्ग-धर्म, अर्थ और काम) ही श्रेय है, ऐसा निश्चय है। (यह भोगाभिलाषियोंके लिए उपदेश है, मोक्षाभिभिलापियों के लिए तो मोक्ष ही श्रेय है, यह आगे कहेंगे)॥ २२४॥

धर्मार्थौ श्रेयोऽभिधीयते कामहेतुत्वादिति केचिदाचार्या मन्यन्ते। अन्ये त्वर्थकामौ सुखहेतुत्वाच्छ्रेयोऽभिधीयते। धर्म एवेत्यपरे, अर्थकामयोरप्युपायत्वात्। अर्थ एवेह लोके श्रेय इत्यन्ये, धर्मकामयोरपि साधनत्वात्। सम्प्रति स्वमतमाह—धर्मार्थकामात्मकः परस्पराविरुद्धस्त्रिवर्ग एव पुरुषार्थतया श्रेय इति विनिश्चयः। एवं च बुभुक्षून्प्रत्युपदेशो न मुमुक्षून्। मुमुक्षूणां तु मोक्ष एव श्रेय इति षष्ठे वक्ष्यते॥ २२४॥

आचार्यश्च पिता चैव माता भ्राता च पूर्वजः।
नार्तेनाप्यवमन्तव्या ब्राह्मणेन विशेषतः॥ २२५॥

आचार्य, पिता, माता, सहोदर बड़े भाईका अपमान दुःखित होकर भी न करे तथा विशेषतः ब्राह्मण तो कदापि न करे-॥ २२५॥

आचार्यो, जनको, जननी च, भ्राता च सगर्भो ज्येष्ठः पीडितेनाप्यमी नावमाननीयाः। विशेषतो ब्राह्मणेन॥ २२५॥

यस्मात्—

आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः, पिता मूर्तिः प्रजापतेः।
माता पृथिव्या मूर्तिस्तु, भ्राता स्वो मूर्तिरात्मनः॥ २२६॥

(क्योंकि) आचार्य परमात्मा की, पिता प्रजापतिकी, माता पृथिवीकी और सहोदर बड़ा भाई अपनी मूर्ति है। (अत एव देवरूप इन आचार्यादिकका अपमान नहीं करना चाहिये)॥ २२६॥

आचार्यो वेदान्तोदितस्य ब्रह्मणः-परमात्मनो मूर्तिः-शरीरम्, पिता हिरण्यगर्भस्य, माता च धारणात्पृथिवीमूर्तिः, भ्राता च स्वः सगर्भः क्षेत्रज्ञ(ज)स्य। तस्माद्देवतारूपा एता नावमन्तव्याः॥ २२६॥

यं मातापितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणाम्।
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि॥ २२७॥

मनुष्योंके उत्पन्न होनेमें (गर्भधारण प्रसववेदना तथा पालन, रक्षण, वर्द्धन, संस्कार तथा वेद-वेदाङ्गादिका अध्यापनादि कर्मद्वारा) माता-पिता जिस कष्टको सहते हैं, सैकड़ों वर्षों (या अनेक जन्मों) में भी उसका बदला चुकाना अशक्य है-॥ १२७॥

नृणामपत्यानां सम्भवे गर्भाधाने सति अनन्तरं यं क्लेशं मातापितरौ सहेते, तस्य वर्षशतैरप्यनेकैरपि जन्मभिरानृण्यं कर्तुमशक्यम्। मातुस्तावत्कुक्षौ धारणदुखम्, प्रसववेदनाऽतिशयो, जातस्य रक्षणवर्धनकष्टं च पितु, धिकान्येव। रक्षा-संवर्धन-दुखम्, उपनयनाद्यप्रभृति वेद-तदङ्गाध्यापनादिक्लेशातिशय इति सर्वसिद्धम्॥ २२७॥

तस्मात्—

तयोर्नित्यं प्रियं कुर्यादाचार्यस्य च सर्वदा।
तेष्वेव त्रिषु तुष्टेषु तपः सर्वं समाप्यते॥ २२८॥

इस कारण माता, पिता और आचार्यका नित्य प्रिय करे (उन्हें सन्तुष्ट करे) उन तीनोंके सन्तुष्ट होनेपर सब तप (चान्द्रायणादि व्रत) पूरा होता है (उन व्रतोंका फल प्राप्त होता है) ॥

तयोः–मातापित्रोः प्रत्यहमाचार्यस्य च सर्वदा प्रीतिमुत्पादयेत्। यस्मात्तेष्वेव त्रिषु प्रीतेषु सर्वं तपश्चान्द्रायणादिकं फलद्वारेण सम्यक्प्राप्यते मात्रादित्रयतुष्ट्यैव सर्वस्य तपसः फलं प्राप्यत इत्यादि ॥ २२८ ॥

तेषां त्रयाणां शुश्रूषा परमं तप उच्यते।
न तैरभ्यननुज्ञातो धर्ममन्यं समाचरेत् ॥ २२९ ॥

उन तीनों (माता, पिता और आचार्य) की शुश्रूषा श्रेष्ठतप कहा जाता है। उन तीनोंसे बिना आज्ञा पाये किसी दूसरे धर्मका आचरण न करे ॥ २२९ ॥

तेषां मातापित्राचार्याणां परिचर्या सर्वं तपोमयं श्रेष्ठमित एव सर्वतः फलप्राप्तेः। यद्य-न्यमपि धर्मं कथञ्चित्करोति, तदप्येतत्त्रयानुमतिव्यतिरेकेण न कुर्यात् ॥ २२९ ॥

त एव हि त्रयो लोकास्त एव त्रय आश्रमाः।
त एव हि त्रयो वेदास्त एवोक्तास्त्रयोऽग्नयः ॥ २३० ॥

वे (माता, पिता और आचार्य) ही तीनों (भूः, भुवः, स्वः) लोक हैं; वे ही तीनों आश्रम (ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, और वानप्रस्थाश्रम) हैं, वे ही तीनों वेद (ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद) हैं और वे ही तीनों अग्नि (गार्हपत्याग्नि, दक्षिणाग्नि और आहवनीयाग्नि) हैं ॥२३०॥

यस्मात्त एव मातापित्राचार्यास्त्रयो लोकाः, लोकत्रयप्राप्तिहेतुत्वात्। कारणे कार्योप-चारः। त एव ब्रह्मचर्यादिभावत्रयरूपा आश्रमाः, गार्हस्थ्याद्याश्रमत्रयप्रदायकत्वात्। त एव त्रयो वेदाः, वेदत्रयजपफलोपायत्वात्। त एव हि त्रयोऽग्नयोऽभिहिताः, स्त्रेतासम्पाद्य-यज्ञादिफलदातृत्वात् ॥ २३० ॥

पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्माताऽग्निर्दक्षिणः स्मृतः।
गुरुराहवनीयस्तु साऽग्नित्रेता गरीयसी ॥ २३१ ॥

पिता गार्हपत्याग्नि, माता दक्षिणाग्नि और गुरु (आचार्य) आहवनीयाग्नि हैं, यह (माता, पिता और आचार्य रूप) अग्नित्रय अत्यन्त श्रेष्ठ है।। २३१ ॥

वैशब्दोऽवधारणे। पितैव गार्हपत्योऽग्निः, माता दक्षिणाग्निः, आचार्य आहवनीयः। सेयमग्नित्रेता श्रेष्ठतरा। स्तुत्यर्थत्वाच्चास्य न वस्तुविरोधोऽत्र भावनीयः ॥ २३१ ॥

त्रिष्वप्रमाद्यन्नेतेषु त्रींल्लोकान्विजयेद् गृही।
दीप्यमानः स्ववपुषा देववद्दिवि मोदते ॥ २३२ ॥

इन तीनों (माता, पिता और आचार्य) में प्रमादहीन (ब्रह्मचारी तथा) गृहस्थ तीनों लोकोंको जीत लेता है और अपने शरीरसे देदीप्यमान होता हुआ सूर्यादि देवताओंके समान स्वर्ग में आनन्द करता है ॥ २३२ ॥

एतेषु त्रिषु प्रमादमकुर्वन्ब्रह्मचारी तावज्जयत्येव, गृहस्थोऽपि त्रींल्लोकान्विजयते। संज्ञा-पूर्वकस्यात्मनेपदविधेरनित्यत्वान्न "विपराभ्यां जेः" (पा. सू. १।३।१९) इत्यात्मनेपदम्। त्रींल्लोकान्विजयेदिति त्रिलोकाधिपत्यं प्राप्नोति। तथा स्ववपुषा प्रकाशमानः सूर्यादिदेवव-द्दिवि हृष्टो भवति ॥ २३२ ॥

इमं लोकं मातृभक्त्या पितृभक्त्या तु मध्यमम् ।
गुरुशुश्रूषया त्वेवं ब्रह्मलोकं समश्नुते ॥ २३३ ॥

माताकी भक्तिसे मृत्युलोकको, पिताकी भक्तिसे मध्यम (अन्तरिक्ष) लोकको और आचार्यकी सेवासे ब्रह्मलोकको प्राप्त करता है ॥ २३३ ॥

इमं भूर्लोकं मातृभक्त्या, पितृभक्त्या मध्यमम्-अन्तरिक्षम् , आचार्यभक्त्या तु हिरण्यगर्भलोकमेव प्राप्नोति ॥ २३३ ॥

सर्वे तस्यादृता धर्मा यस्यैते त्रय आदृताः ।
अनादृतास्तु यस्यैते सर्वास्तस्याफलाः क्रियाः ॥ २३४ ॥

जिसने इन तीनों (माता, पिता और आचार्य) का आदर किया, उसने सब धर्मोंका आदर किया (उसके लिये सब धर्म फल देनेवाले होते हैं) जिसने उन तीनोंका अनादर किया, उसकी (श्रुति-स्मृति-विधि-विहित) सब क्रियायें निष्फल होती हैं ॥ २३४ ॥

यस्यैते त्रयो मातृपित्राचार्या आदृताः-सत्कृताः, तस्य सर्वे धर्माः फलदा भवन्ति । यस्यैते त्रयोऽनादृतास्तस्य सर्वाणि श्रौतस्मार्तकर्माणि निष्फलानि भवन्ति ॥ २३४ ॥

यावत्त्रयस्ते जीवेयुस्तावन्नान्यं समाचरेत् ।
तेष्वेव नित्यं शुश्रूषां कुर्यात्प्रियहिते रतः ॥ २३५ ॥

जब तक वे तीनों (माता, पिता और आचार्य) जीते रहें, तब तक किसी अन्य धर्मको स्वेच्छा से (बिना उनकी आज्ञा पाये) न करे; किन्तु उन्हींकी प्रिय एवं हितमें तत्पर रहते हुए नित्य सेवा करे ॥ २३५ ॥

ते त्रयो यावज्जीवन्ति तावदन्यं धर्मं स्वातन्त्र्येण नानुतिष्ठेत् । तदनुज्ञया तु धर्मानुष्ठानं प्राग्विहितमेव । किंतु तेष्वेव प्रत्यहं प्रियहितपरः शुश्रूषां कुर्यात्, तदर्थां प्रीतिसाधनं प्रियम् । भेषजपानादिवदापत्यामिष्टसाधनम्-हितम् ॥ २३५ ॥

तेषामनुपरोधेन पारत्र्यं यद्यदाचरेत् ।
तत्तन्निवेदयेत्तेभ्यो मनोवचनकर्मभिः ॥ २३६ ॥

उन (माता, पिता और आचार्य) की सेवाके अविरुद्ध उनकी आज्ञासे जो कुछ परलोकके लिये कार्य करे, उसे मन, वचन और कर्मसे उनके लिये अर्पित करे (उनसे निवेदन करे) ॥२३६॥

तेषां शुश्रूषाया अविरोधेन तदनुज्ञातो यद्यन्मनोवचनकर्मभिः परलोकफलं कर्मानुष्ठितम्, तन्मयैतदनुष्ठितमिति पश्चात्तेभ्यो निवेदयेत् ॥ २३६ ॥

त्रिष्वेतेष्वितिकृत्यं हि पुरुषस्य समाप्यते ।
एष धर्मः परः साक्षादुपधर्मोऽन्य उच्यते ॥ २३७ ॥

इन तीनों (माता, पिता और आचार्य की सेवा) में ही मनुष्य का सम्पूर्ण (श्रुति-स्मृति-विहित) कृत्य परिपूर्ण हो जाता है । यही (माता आदिकी सेवा ही) मनुष्यका श्रेष्ठ (साक्षात् सब पुरुषार्थका साधक) धर्म है और अन्य (अग्निहोत्रादि) धर्म उपधर्म हैं ॥ २३७ ॥

इतिशब्दः कात्स्न्र्ये । हिशब्दो हेतौ । यस्मादेतेषु त्रिषु शुश्रूषितेषु पुरुषस्य सर्वं श्रौतं स्मार्तं कर्तव्यं सम्पूर्णमनुष्ठितं भवति, तत्फलावाप्तेः । तस्मादेष श्रेष्ठो धर्मः साक्षात्सर्वपुरुष-

षार्थसाधनः। अन्यस्त्वग्निहोत्रादिप्रतिनियतस्वर्गादिहेतुरूपधर्मो जघन्यधर्म इति शुश्रूषास्तुतिः ॥ २३७ ॥

श्रद्दधानः शुभां विद्यामाददीतावरादपि ।
अन्त्यादपि परं धर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि ॥ २३८ ॥

श्रद्धा युक्त होकर अपनी अपेक्षा नीच व्यक्ति (शूद्र) के भी श्रेष्ठ विद्या (जिसकी शक्ति अनेक बार देखी गयी हो, ऐसी गारुडादि विद्या) को सीखना चाहिये। चाण्डाल (पूर्व जन्मके किसी दुष्कृत-विशेषसे चाण्डलताको प्राप्त जातिस्मरत्व आदि विहित योग प्रकर्षवाले आत्मज्ञानी चाण्डाल) से भी उत्कृष्ट धर्म (मोक्षोपायभूत आत्मज्ञान) को प्राप्त करना चाहिये तथा अपनेसे नीच कुलसे भी (शुभ लक्षणोंसे युक्त) स्त्रीरत्नको (विवाहके लिये) ग्रहण करना चाहिये ॥२३८॥

श्रद्धायुक्तः शुभाम्-दृष्टशक्तिं गारुडादिविद्यामवराच्छूद्रादपि गृह्णीयात्। अन्त्यः-चाण्डालस्तस्मादपि जातिस्मरादेर्विहितयोगप्रकर्षात् दुष्कृतशेषोपभोगार्थमवाप्तचाण्डालजन्मनः परं धर्मं मोक्षोपायमात्मज्ञानमाददीत। तथा अज्ञानमेवोपक्रम्य मोक्षधर्मे "प्राप्यं ज्ञानं ब्राह्मणात्क्षत्रियाद्वैश्याच्छूद्रादपि नीचादभीक्ष्णं श्रद्धातव्यं श्रद्दधानेन नित्यम्।" न श्रद्धिनं प्रति जन्ममृत्युविशेषता। [१]मेधातिथिस्तु "श्रुतिस्मृत्यपेक्षया परो धर्मो लौकिकः। धर्मशब्दो व्यवस्थायामपि युज्यते। यदि चाण्डालोऽपि 'अत्र प्रदेशे मा चिरं स्थाः, मा चास्मिन्नम्भसि स्नासीः' इति वदति तमपि धर्ममनुतिष्ठेत्।"

प्रागल्भ्याल्लौकिकं वस्तु परं धर्ममिति ब्रुवन्।
चित्रम्, तथापि सर्वत्र श्लाघ्यो मेधातिथिः सताम् ॥

स्त्रीरत्नम् आत्मापेक्षया निकृष्टकुलादपि परिणेतुं स्वीकुर्यात् ॥ २३८ ॥

विषादप्यमृतं ग्राह्यम्, बालादपि सुभाषितम् ।
अमित्रादपि सद्वृत्तम्, अमेध्यादपि काञ्चनम् ॥ २३९ ॥

विषसे (यदि विषमें अमृतयुक्त हो तो उस विषसे) भी अमृतको, बालकसे भी सुभाषितको, शत्रुसे सदाचारको और अपवित्र से भी सुवर्ण (सोना) को लेना चाहिये ॥ ९३९ ॥

विषं यद्यमृतसंयुक्तं भवति तदा विषमपसार्य, तस्मादमृतं ग्राह्यम्। बालादपि हितवचनं ग्राह्यम्, शत्रुतोऽपि सज्जनवृत्तम्, अमेध्यादपि सुवर्णादिकं ग्रहीतव्यम् ॥ २३९ ॥

स्त्रियो रत्नान्यथो विद्या धर्मः शौचं सुभाषितम् ।
विविधानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वतः ॥ २४० ॥

स्त्री, रत्न, विद्या, धर्म, शौच, सुभाषित और अनेक प्रकार के शिल्प (कलाकौशल चित्रलेखनादि) सबसे लेना चाहिये ॥ २४० ॥

---

१. अन्त्यः-चाण्डाल; तस्मादपि यः परो धर्मः-श्रुतिस्मृत्यपेक्षया परोऽन्यो लौकिकः। धर्मशब्दो व्यवस्थायामपि प्रयुज्यते-'एषोऽत्र धर्मः' इति चाण्डालोऽपि ब्रूते-अत्र प्रदेशे माचिरं स्थाः मा चास्मिन्नम्भसि स्नासीरेषोऽत्र ग्रामीणानां धर्मो राज्ञा कृता वा मर्यादेति। चैवं मन्तव्यमुपाध्यायवचनं मया न कर्तव्यं धिक् चाण्डालं यो मां नियुङ्क्त इति। पुनरियं बुद्धिः कर्तव्या-परो धर्मः-ब्रह्मतत्त्वज्ञानम्, न हि चाण्डालादेस्तत्परिज्ञानसम्भवः, वेदार्थवित्त्वाभावात्। न चान्यतस्तत्सम्भवः, न हि वृश्चिकमन्त्रक्षारवद्ब्रह्मोपदेशोऽस्ति।

अत्र स्त्र्यादीनामुक्तानामपि दृष्टान्तत्वेनोपादानम् । यथा स्त्र्यादयो निकृष्टकुलादिभ्यो गृह्यन्ते तथा अन्यान्यपि हितानि चित्रलि(ले)खनादीनि सर्वतः प्रतिग्रहीतव्यानि ॥२४०॥

अब्राह्मणादध्ययनमापत्काले विधीयते ।
अनुव्रज्या च शुश्रूषा यावदध्ययनं गुरोः ॥ २४१

आपत्तिकालमें अब्राह्मण (ब्राह्मणके अभावमें क्षत्रिय और क्षत्रियके अभाव में वैश्य) से भी ब्रह्मचारी वेदाध्ययन करे तथा अध्ययन कालतक ही उक्त उस अब्राह्मण गुरुका अनुगमन और शुश्रूषा करे ॥ २४१ ॥

ब्राह्मणादन्यो यो द्विजः क्षत्रियस्तदभावे वैश्यो वा तस्मादध्ययनमापत्काले ब्राह्मणाध्यापकासम्भवे ब्रह्मचारिणो विधीयते । अनुव्रज्यादिरूपा गुरोः शुश्रूषा यावदध्ययनं तावत्कार्या । गुरुपादप्रक्षालनोच्छिष्टप्राशनादिरूपा शुश्रूषाऽप्रशस्ता सा न कार्या । तदर्थमनुव्रज्या चेति विशेषितम् । गुरुत्वमपि यावदध्ययनमेव क्षत्रियस्याह व्यासः—

"मन्त्रदः क्षत्रियो विप्रैः शूश्रूषानुगमादिना ।
प्राप्तविद्यो ब्राह्मणस्तु पुनस्तस्य गुरुः स्मृतः" ॥ २४१ ॥

ब्रह्मचारित्वे नैष्ठिकस्याप्यब्राह्मणादध्ययनं प्रसक्तं प्रतिषेधति—

नाब्राह्मणे गुरौ शिष्यो वासमात्यन्तिकं वसेत् ।
ब्राह्मणे चाननूचाने काङ्क्षन्गतिमनुत्तमाम् ॥ २४२ ॥

उत्तम गति (मोक्ष) को चाहनेवाला ब्रह्मचारी साङ्ग वेदके ज्ञाता भी अब्राह्मण (क्षत्रिय और वैश्य) गुरु के पास तथा साङ्ग वेदके नहीं जाननेवाले ब्राह्मण गुरुके पास आत्यन्तिक वास (जीवनपर्यन्त ब्रह्मचर्यावस्थामें रहना) न करे ॥ ४४२ ॥

आत्यन्तिकं वासं यावज्जीविकं ब्रह्मचर्यं क्षत्रियादिके गुरौ ब्राह्मणे साङ्गवेदानध्येतरि अनुत्तमां गतिं-मोक्षलक्षणामिच्छन् शिष्यो नावतिष्ठेत ॥ २४२ ॥

यदि त्वात्यन्तिकं वासं रोचयेत गुरोः कुले ।
युक्तः परिचरेदेनमाशरीरविमोक्षणात् ॥ २४३ ॥

यदि गुरुकुलमें ही नैष्ठिक ब्रह्मचर्यरूप आत्यन्तिक वास (जीवनपर्यन्त ब्रह्मचारी रहकर वास करना) की इच्छा हो तो शरीर छूटने (मरने) तक सावधान होकर गुरुकी परिचर्या (सेवा) करे ॥ २४३ ॥

यदि तु गुरोः कुले नैष्ठिकब्रह्मचर्यात्मकमात्यन्तिकं वासमिच्छेत्तदा यावज्जीवनमुद्युक्तो गुरुं शुश्रूषयेत् ॥ २४३ ॥

अस्य फलमाह—

आ समाप्तेः शरीरस्य यस्तु शुश्रूषते गुरुम् ।
स गच्छत्यञ्जसा विप्रो ब्रह्मणः सद्म शाश्वतम् ॥ २४४ ॥

जो ब्रह्मचारी शरीर छूटने (मरने) तक गुरुकी सेवा करता है, वह ब्राह्मण शीघ्र ही विनाश रहित (नित्य) ब्रह्मलोकको प्राप्त करता है ॥ २४४ ॥

समाप्तिः-शरीरस्य जीवनत्यागः, तत्पर्यन्तं यो गुरुं परिचरति, स तत्त्वतो ब्रह्मणः सद्मरूपमविनाशि पदं प्राप्नोति । ब्रह्मणि लीयत इत्यर्थः ॥ २४४ ॥

न पूर्वं गुरवे किञ्चिदुपकुर्वीत धर्मवित् ।
स्नास्यंस्तु गुरुणाऽऽज्ञप्तः शक्त्या गुर्वर्थमाहरेत् ॥ २४५ ॥

धर्मज्ञ (ब्रह्मचारी) पहले (अध्ययनकालमें) गुरुका कोई उपकार (गौ, वस्त्र, धनादिको देकर) न करे (स्वयं प्राप्त होने पर तो देवे ही)। व्रतपूर्तिकालमें (समावर्तनसंस्कारनिमित्तक) स्नान करनेके पहले गुरुसे आज्ञा पाया हुआ ब्रह्मचारी (गुरुके लिए किसी धनिक व्यक्तिसे याचना कर) यथाशक्ति गुरुदक्षिणा दे ॥ २४५ ॥

उपकुर्वाणस्यायं विधिः, नैष्ठिकस्य स्नानासम्भवात् । गुरुदक्षिणादानं धर्मज्ञो ब्रह्मचारी स्नानात्पूर्वं किञ्चिद्गोवस्त्रादि धनं गुरवे नावश्यं दद्यात् । यदि तु यदृच्छातो लभते, तदा गुरवे दद्यादेव । अत एव स्नानात्पूर्वं गुरवे दानमाह आपस्तम्बः—"यदन्यानि द्रव्याणि यथालाभमुपहरति दक्षिणा एव ताः स एव ब्रह्मचारिणो यज्ञो नित्यव्रतम्" इति । स्नास्यन्पुनर्गुरुणा दत्ताज्ञो यथाशक्ति धनिनं याचित्वाऽपि प्रतिग्रहादिनापि गुरवेऽर्थमाहृत्यावश्यं दद्यात् ॥ २४५ ॥

किं तत्तदाह—

क्षेत्रं हिरण्यं गामश्वं छत्रोपानहमासनम् ।
धान्यं शाकं च वासांसि गुरवे प्रीतिमावहेत् ॥ २४६ ॥

उक्त (व्रतसमाप्ति का स्नान कर गृहस्थाश्रममें प्रविष्ट होनेका इच्छुक) ब्रह्मचारि भूमि, सुवर्ण, गौ, घोड़ा, छाता, जूता, आसन, शाक और कपड़ोंको देकर गुरु की प्रसन्नताको प्राप्त करे ॥ २४६ ॥

"शक्त्या गुर्वर्थमाहरेत्" (अ. २ श्लो. २४५) इत्युक्त्वा, क्षेत्रहिरण्यादिकं यथासामर्थ्यं विकल्पितं समुदितं वा गुरवे दत्त्वा, तत्प्रीतिमर्जयेत् । विकल्पपक्षे चान्ततोऽन्यासम्भवे छत्रोपानहमपि दद्यात् । द्वन्द्वनिर्देशात् समुदितदानम् । प्रदर्शनार्थं चैतत् । सम्भवेऽन्यदपि दद्यात् । अत एव लघुहारीतः—

एकमप्यक्षरं यस्तु गुरुः शिष्ये निवेदयेत् ।
पृथिव्यां नास्ति तद् द्रव्यम् , यद् दत्त्वा चानृणी भवेत् ॥

असम्भवे शाकमपि दद्यात् ॥ २४६ ॥

आचार्ये तु खलु प्रेते गुरुपुत्रे गुणान्विते ।
गुरुदारे सपिण्डे वा गुरुवद् वृत्तिमाचरेत् ॥ २४७ ॥

आचार्यके मरने पर गुणयुक्त गुरुपुत्रमें, गुरुपत्नीमें और गुरुके सपिण्ड (सात पीढ़ी तकके परिवार) में गुरुके समान व्यवहार करे ॥ २४७ ॥

नैष्ठिकस्यायमुपदेशः । आचार्ये मृते, तत्सुते विद्यादिगुणयुक्ते, तदभावे गुरुपत्न्यां, तदभावे गुरोः सपिण्डे पितृव्यादौ गुरुवच्छुश्रूषामनुतिष्ठेत् ॥ २४७ ॥

एतेष्वविद्यमानेषु स्नानासनविहारवान् ।
प्रयुञ्जानोऽग्निशुश्रूषां साधयेद्देहमात्मनः ॥ २४८ ॥

इन (विद्वान् गुरुपुत्र, गुरुपत्नी और गुरुके सपिण्ड) के नहीं रहनेपर आचार्यकी अग्निसमाधिके समीप ही स्नान, आसन, तथा विहारसे युक्त ब्रह्मचारी अग्निशुश्रूषा (प्रातः-सायं विधिवत् अग्निहोत्र) करता हुआ अपने शरीर को साधे (ब्रह्मप्राप्तिके योग्य बनावे) ॥ २४८ ॥

एतेषु त्रिष्वविद्यमानेषु सततमाचार्यस्येवाग्नेः समीपे स्नानासनविहारैः सायम्प्रातरादौ समिद्धोमादिना चाग्नेः शुश्रूषां कुर्वन्नात्मनो देहमात्मदेहावच्छिन्नं जीवं ब्रह्मप्राप्तियोग्यं साधयेत् ॥ २४८ ॥

एवं चरति यो विप्रो ब्रह्मचर्यमविप्लुतः ।
स गच्छत्युत्तमस्थानं न चेहाजायते पुनः ॥ २४९ ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

(आचार्यके मरने पर भी) गुरुपुत्रादिसे लेकर अग्नितककी शुश्रूषा करनेवाला अखण्डित व्रत वाला जो ब्राह्मण नैष्ठिक ब्रह्मचर्यका आचरण करता है, वह उत्तम स्थान (ब्रह्मपद-मोक्ष) को पाता है और फिर इस संसारमें (कर्मवशसे) जन्म को नहीं पाता है ॥ २४९ ॥

मानवे धर्मशास्त्रेऽस्मिन् संस्कारादिकवर्णनम् ।
भागीरथ्याः कृपादृष्ट्या द्वितीये पूर्णतां गतम् ॥ २ ॥

"आ समाप्तेः शरीरस्य" (अ. २ श्लो. २२४) इत्यनेन यावज्जीवमाचार्यशुश्रूषाया मोक्षलक्षणं फलम् । इदानीमाचार्ये मृतेऽपि एवमित्यनेनानन्तरोक्तविधिना आचार्यपुत्रादीनामप्यग्निपर्यन्तानां शुश्रूषको यो नैष्ठिकब्रह्मचर्यमखण्डितव्रतोऽनुतिष्ठति, स उत्तमं स्थानम्-ब्रह्मण्यात्यन्तिकलक्षणं प्राप्नोति । न चेह संसारे कर्मवशादुत्पत्तिं लभते ॥२४९॥ चे० ।११॥

इति श्रीकुल्लूकभट्टकृतायां मन्वर्थमुक्तावल्यां मनुवृत्तौ द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः

गौडे नन्दनवासिनाम्नि सुजनैर्वन्द्ये वरेन्ड्यां कुले
विप्रो भट्टदिवाकरस्य तनयः कुल्लूकभट्टोऽभवत् ॥
वृत्तिस्तेन मनुस्मृतौ शिवपुरेऽध्याये तृतीयेऽधुना
रम्येयं क्रियते हिताय विदुषां मन्वर्थमुक्तावली ॥ १ ॥

पूर्वत्र द्विजस्य "आ समाप्तेः शरीरस्य" (अ. २ श्लो. २४४) इत्यनेन नैष्ठिकब्रह्मचर्यमुक्तम्, न तत्रावध्यपेक्षा। आ 'समावर्तनादि'त्यनेन चोपकुर्वाणस्य सावधिब्रह्मचर्यमुक्तम्। अतस्तस्यैव गार्हस्थ्याधिकारः। तत्र कियदवधिविधौ ब्रह्मचर्ये तस्य गार्हस्थ्यमित्यपेक्षायामाह—

षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम्।
तदर्धिकं पादिकं वा ग्रहणान्तिकमेव वा ॥ १ ॥

ब्रह्मचारी गुरुके समीपमें ३६ वर्ष (प्रतिवेदके क्रमसे १२-१२ वर्ष) तक या उसका आधा १८ वर्षतक (प्रतिवेदके हिसावसे ६–६ वर्षतक) अथवा उसका चतुर्थांश ९ वर्षतक (प्रतिवेदके हिसावसे ३–३ वर्षतक अथवा वेदोंके ग्रहण (अध्ययन) करनेकी अवधितक तीनों वेदोंका अध्ययनरूप व्रत (ब्रह्मचर्यपालन व्रत) करे ॥ १ ॥

त्रयो वेदा ऋग्यजुःसामाख्यास्तेषां समाहारस्त्रिवेदी तद्विषयं व्रतं स्वगृह्योक्तनियमसमूहरूपं षट्त्रिंशद्वर्षं यावद् गुरुकुले चरितव्यम्। 'षट्त्रिंशदाब्दिकमि'ति षट्त्रिंशदब्दशब्दात् "कालाट्ठञ्" (पा. सू. ४।३।११)। अस्मिंश्च पक्षे "समं स्यादश्रुतत्वात्" इति न्यायेन प्रतिवेदशाखं द्वादशवर्षाणि व्रताचरणम्। तदर्धिकमष्टादश वर्षाणि। तत्र प्रतिवेदशाखं षट्। पादिकं नव वर्षाणि। तत्र प्रतिवेदशाखं त्रीणि। यावता कालेनोक्तावधेरूर्ध्वमधो वा वेदान् गृह्णाति, तावत्कालं वा व्रताचरणम्। विषमशिष्टत्वेऽपि पक्षाणामेका देया, तिस्रो देयाः, षड् देया इतिवन्नियमफले न्यूनापेक्षो विकल्पः। तथा च श्रुतिः—"नियमेनाधीतं वीर्यवत्तरं भवति" इति। 'ग्रहणान्तिकमे'वेति पक्षसन्दर्शनात्पूर्वोक्तपक्षत्रये ग्रहणादूर्ध्वमपि व्रतानुष्ठानमवगम्यते। अथर्ववेदस्यर्ग्वेदांशत्वेऽपि "ऋग्वेदं यजुर्वेदं सामवेदमथर्वाणं चतुर्थम्" इति छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थवेदत्वेन कीर्तनात् "अङ्गानि वेदाश्चत्वारः" [३।६।२८] इति विष्णुपुराणादिवाक्येषु च पृथङ्निर्देशाच्चतुर्थवेदत्वेऽपि प्रायेणाभिचाराद्यर्थत्वाद्यज्ञविद्यायामनुपयोगाच्चानिर्देशः। तथा हि—"ऋग्वेदेनैव हौत्रं कुर्वन्यजुर्वेदेनाध्वर्यवं सामवेदेनौद्गात्रं यदेव त्रय्यै विद्यायै सूक्तं तेन ब्रह्मत्वम्" इति श्रुतेस्त्रयीसम्पाद्यत्वं यज्ञानां ज्ञायते। अयं च मानवस्त्रैवेदिकव्रतचर्याविधिर्नाथर्ववेदव्रतचर्यां' निषेधयति। तत्परत्वे वाक्यभेदप्रसङ्गात्स्मृत्यन्तरे वेदमात्रे व्रतश्रवणाच्च यदाह योगियाज्ञवल्क्यः—

प्रतिवेदं ब्रह्मचर्यं द्वादशाब्दानि पञ्च वा (या. स्मृ. १।३६) ॥ १ ॥

वेदानधीत्य, वेदौ वा वेदं वाऽपि यथाक्रमम्।
अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममावसेत् ॥ २ ॥

ब्रह्मचारीको चाहिये कि अखण्डित ब्रह्मचर्य को धारण करते हुए तीनों वेदों को (अपने २ वेदकी शाखाओंके सहित तीनों वेदोंको) उतना न कर सके तो दो वेदों को (अपने २ वेदकी

शाखाओंके सहित दोनो वेदोंको) उतना भी नहीं कर सके तो एक वेदको (अपने वेदकी शाखाके साथ एक वेद को) ही मन्त्र ब्राह्मण क्रमसे अध्ययन कर गृहस्थाश्रममें प्रवेश करे ॥ २ ॥

वेदशब्दोऽयं भिन्नवेदशाखापरः। स्वशाखाध्ययनपूर्वकवेदशाखात्रयं द्वयमेकां वा शाखां मन्त्रब्राह्मणक्रमेणाधीत्य, गृहस्थाश्रमम्-गृहस्थविहितकर्मकलापरूपमनुतिष्ठेत। कृतदारपरिग्रहो गृहस्थः, गृहशब्दस्य दारवचनत्वात्। 'अविप्लुतब्रह्मचर्यः' इति पूर्वविहितस्त्रीसंयोगमधुमांसभक्षणवर्जनरूपब्रह्मचर्यानुवादोऽयं प्रकृष्टाध्ययनाङ्गत्वख्यापनार्थः। पुरुषशक्त्यपेक्षश्चायमेकद्वित्रिशाखाध्ययनविकल्पः। यद्यपि व्रतानि, वेदाध्ययनं च नित्यवदुपदिशता मनुनोभयस्नातक एव श्रेष्ठत्वादभिहितः, तथापि स्मृत्यन्तरादन्यतरः स्नातकोऽपि बोद्धव्यः। तदाह हरीतः—"त्रयः स्नातका भवन्ति विद्यास्नातकः, व्रतस्नातकः, विद्याव्रतस्नातकश्च" इति। यः समाप्य वेदम्, असमाप्य व्रतानि समावर्तते स विद्यास्नातकः। यः समाप्य व्रतानि असमाप्य वेदं समावर्तते अ, स व्रतस्नातकः। उभयं समाप्य, समावर्तते यः, स विद्याव्रतस्नातकः। याज्ञवल्क्योऽप्याह—

"वेदम्, व्रतानि वा पारं नीत्वा ह्युभयमेव वा" (या. स्मृ. १।५१) इति ॥ २ ॥

तं प्रतीतं स्वधर्मेण ब्रह्मदायहरं पितुः।
स्रग्विणं तल्प आसीनमर्हयेत्प्रथमं गवा ॥ ३ ॥

अपने धर्मसे प्रसिद्ध, पितासे (पिताके अभावमें आचार्यसे) ब्रह्मदाय (ब्रह्मभाग अर्थात् ब्रह्मप्राप्तिसाधक वेद) को ग्रहण किये हुए, माला पहने हुए तथा श्रेष्ठ आसनपर बैठे हुए ब्रह्मचारी की पूजा पिता या आचार्य गोदुग्ध आदिके मधुपर्कसे करे ॥ ३ ॥

तं ब्रह्मचारिधर्मानुष्ठानेन ख्यातम्, दीयत इति दायः ब्रह्मैव दायो ब्रह्मदायः, तं हरतीति ब्रह्मदायहरं पितुः-पितृतो गृहीतवेदमित्यर्थः। पितृतोध्ययनं मुख्यमुक्तम्, पितुरभावे आचार्यादेरप्यधीतवेदं मालयालंकृतम्, उत्कृष्टशयनोपविष्टं गोसाधनमधुपर्केण पिता, आचार्यो वा विवाहात्प्रथमं पूजयेत् ॥ ३ ॥

गुरुणाऽनुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि।
उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् ॥ ४ ॥

गुरुसे आज्ञा पाया हुआ द्विज अपनी गृह्योक्त विधिसे (व्रत-समाप्ति-सूचक) स्नान कर अपने समान वर्णवाली (३।५-११) शुभ लक्षणोंसे युक्त कन्या के साथ विवाह करे ॥ ४ ॥

गुरुणा दत्तानुज्ञः स्वगृह्योक्तविधिना कृतस्नानसमावर्तनः समानवर्णां शुभलक्षणां कन्यां विवहेत् ॥ ४ ॥

असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने ॥ ५ ॥

जो कन्या माताके या पिताके सपिण्ड (सात पीढ़ीतक) की न हो और पिताके गोत्रकी न हो; ऐसी कन्या द्विजातियोंके स्त्रीकर्म (अग्न्याधानादि यज्ञकर्म तथा मैथुनकर्म) के लिये श्रेष्ठ होती है ॥ ५ ॥

मातुर्या सपिण्डा न भवति। सप्तमपुरुषपर्यन्तं सपिण्डतां वक्ष्यति—

"सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्तते" (म. स्मृ. ५।६०) इति।

तेन मातामहादिवंशजा जाया न भवतीत्यर्थः। चशब्दान्मातृसगोत्रापि मातृवंशपरम्परा-

जन्मनाम्नोः प्रत्यभिज्ञाने सति न विवाह्या। तदितरा तु मातृसगोत्रा विवाह्येति संगृहीतम्। तथा च व्यासः—

"सगोत्रां मातुरप्येके नेच्छन्त्युद्वाहकर्मणि।
जन्मनाम्नोरविज्ञाने उद्वहेदविशङ्कितः॥"

यत्तु मेधातिथिना वसिष्ठनाम्ना मातृसगोत्रानिषेधवचनं लिखितम्—

"परीणीय सगोत्रां तु समानप्रवरां तथा।
तस्यां कृत्वा समुत्सर्गं द्विजश्चान्द्रायणं चरेत्।
मातुलस्य सुतां चैव मातृगोत्रां तथैव च॥ इति॥"

तदपि मातृवंशजन्मनामपरिज्ञानविषयमेव। असगोत्रा च या पितुरिति। पितुर्या सगोत्रा न भवति। चकारात्पितृसपिण्डाऽपि-पितृष्वस्रादिसन्ततिभवा या न भवतीत्यर्थः। सा द्विजातीनां दारकर्मणि-दारत्वसम्पादके विवाहे प्रशस्ता, मैथुनसाध्ये अग्न्याधानकर्मपुत्रोत्पादनादौ चेति॥ ५॥

महान्त्यपि समृद्धानि गोजाविधनधान्यतः।
स्त्रीसम्बन्धे दशैतानि कुलानि परिवर्जयेत्॥ ६॥

गौ, बकरी, भेड़, धन तथा अन्नसे अधिक समृद्धि वाले भी आगे कहे हुए (३।७) दश कुलों (वंशों) का विवाह-सम्बन्ध में त्याग करना चाहिये॥ ६॥

उत्कृष्टान्यपि गवादिभिः समृद्धान्यपि इमानि दश कुलानि विवाहे त्यजेत्॥ ६॥

तानि कानीत्याह—

हीनक्रियं निष्पुरुषं निश्छन्दो रोमशार्शसम्।
क्षय्यामयाव्यपस्मारिश्वित्रिकुष्ठिकुलानि च॥ ७॥

(वे त्याज्य दश कुल ये हैं—) १. जातकर्म आदि संस्कारसे हीन, २. जिस कुलमें पुत्र उत्पन्न नहीं होता हो तथा सदा कन्या ही उत्पन्न होती हो, ३. जो वेदोंके पठन-पाठन से हीन हों, ४. 'जिस कुल के पुरुषों के शरीर में अधिक रोम हो, ५. जिस कुलमें राजयक्ष्मा ६. मन्दाग्नि, ७. मूर्छा (मृगी) ८. श्वेत कुष्ठ और ९. गलित कुष्ठ रोग हों या हुए हों (उस उस कुलकी कन्याके साथ विवाह न करे)॥ ७॥

जातकर्मादिक्रियारहितम्, स्त्रीजनकम्, वेदाध्यापनशून्यम्, बहुदीर्घरोमान्वितम्, अर्शनामव्याधियुक्तम्, क्षयः-राजयक्ष्मा, मन्दानलापस्मारश्वित्रकुष्ठयुक्तानां च कुलानि वर्जयेदिति पूर्वक्रियासंबन्धः। दृष्टमूलता चास्य प्रतिषेधस्य मातुलवदुत्पन्ना अनुवहन्ते। तेन हीनक्रियादिकुलात्परिणीतायां सन्ततिरपि तादृशी स्यात्। "व्याधयः सञ्चारिणः" इति वैद्यकाः पठन्ति—

'सर्वे संक्रामिणो रोगा वर्जयित्वा प्रवाहिकाम्'। इति।

अवेदमूला कथमियं प्रमाणमिति चेत्? न, दृष्टार्थतयैव प्रामाण्यसंभवात्। तदुक्तं भविष्य पुराणे—

'सर्वा एता वेदमूला दृष्टार्थाः परिहृत्य तु'। इति।

मीमांसाभाष्यकारेणापि स्मृत्यधिकरणेऽभिहितम्—"ये दृष्टार्थास्ते तत्प्रमाणम्, ये त्वदृष्टार्थास्तेषु वैदिकशब्दानुमानम्" इति॥ ७॥

कुलाश्रयं प्रतिषेधमभिधाय, कन्यास्वरूपाश्रयप्रतिषेधमाह—

नोद्वहेत्कपिलां कन्यां नाधिकाङ्गीं न रोगिणीम्।
नालोमिकां नातिलोमां न वाचाटां न पिङ्गलाम्॥ ८॥

कपिल (भूरे) वर्णवाली, अधिक (या कम) अङ्गोंवाली (यथा—छः अङ्गुलियोंवाली; या चार या तीन आदि अङ्गुलियोंवाली आदि), नित्य रोगिणी रहनेवाली, बिलकुल रोम से रहित या बहुत अधिक रोमवाली अधिक बोलनेवाली और भूरी २ आँखोंवाली कन्यासे विवाह न करे॥ ८॥

कपिलकेशाम्, षडङ्गुल्यादिकाम्, नित्यव्याधिताम्, अविद्यमानलोमाम्, प्रचुरलोमाम्, परुषभाषिणीम्, पिङ्गलाक्षीं कन्यां नोपयच्छेत्॥ ८॥

नर्क्षवृक्षनदीनाम्नीं नान्त्यपर्वतनामिकाम्।
न पक्ष्यहिप्रेष्यनाम्नीं न च भीषणनामिकाम्॥ ९॥
[नातिस्थूलां नातिकृशां न दीर्घां नातिवामनाम्।
वयोऽधिकां नाङ्गहीनां न सेवेत्कलहप्रियाम्॥ १॥

नक्षत्र, पेड़, नदी, म्लेच्छ, पहाड़, पक्षी, सर्प, दूत या दासी—इनके नामोंवाली तथा भयङ्कर नामवाली कन्यासे विवाह न करे। (क्रमशः उदा०—नक्षत्र-आर्द्रा, रेवती; वृक्ष-धात्री, कदली; नदी—गङ्गा, यमुना, गोदावरी आदि; म्लेच्छ-चण्डाली, श्वपची आदि; पहाड़-विन्ध्याचली आदि; पक्षी—कोकिला, सारिका, मैना, मयूरी आदि; सर्प—नागी आदि; दास या दासी आदि भयङ्कर—डाकिनी पिशाची आदि॥ ९॥

[बहुत मोटी, बहुत दुबली-पतली, बहुत लम्बी, बहुत छोटी अर्थात् नाटी, अवस्थामें अधिक, किसी अङ्ग (कान, आँख अङ्गुलि आदि) से हीन (या अधिक) और झगड़ा करनेवाली कन्या से विवाह न करे॥ १॥]

ऋक्षम्-नक्षत्रम्, तन्नामिकाम्-आर्द्रारेवतीत्यादिकाम्। एवं तरुनदीम्लेच्छपर्वतपक्षिसर्पदासभयानकनामिकां कन्यां नोद्वहेत्॥ ९॥

अव्यङ्गाङ्गीं सौम्यनाम्नीं हंसवारणगामिनीम्।
तनुलोमकेशदशनां मृद्वङ्गीमुद्वहेत्स्त्रियम्॥ १०॥

जो किसी अङ्ग (कान, नाक, आंख आदि) से हीन न हो (बहरी, नकटी, कानी, लूली लँगड़ी आदि न हो सुन्दर नामवाली हो (यथा—चन्द्रानना, दमयन्ती, शकुन्तला आदि), हंस तथा हाथी के समान चलनेवाली (हंसगामिनी तथा गजगामिनी) हो; सूक्ष्म रोम, तथा पतले २ दांतों वाली हो और सुकुमार शरीरवाली हो; ऐसी कन्या से विवाह करे॥ १०॥

अविकलाङ्गीं मधुरसुखोच्चनाम्नीं हंसगजरुचिरगमनां अनतिस्थूललोमकेशदशनां कोमलाङ्गीं कन्यामुद्वहेत्॥ १०॥

अत्र विधिनिषेधयोरभिधानमनिषिद्धविहितकन्यापरिणयनमभ्युदयार्थमिति दर्शयितुमाह—

यस्यास्तु न भवेद् भ्राता न विज्ञायेत वा पिता।
नोपयच्छेत तां प्राज्ञः पुत्रिकाधर्मशङ्कया॥ ११॥

जिस कन्याको भाई न हो और जिस कन्याको माता-पिताका ज्ञान न हो, उस कन्याके साथ (क्रमशः) पुत्रिका धर्मकी शङ्कासे विद्वान् पुरुष विवाह न करे ॥ ११ ॥

यस्याः पुनर्भ्राता नास्ति तां पुत्रिकाशङ्कया नोद्वहेत् ।
यदपत्यं भवेदस्यां तन्मम स्यात्स्वधाकरम् ॥ (म० स्मृ० ९ ।१२७)

इत्यभिसन्धानमात्रादपि पुत्रिका भवति, "अभिसन्धिमात्रात्पुत्रिकेत्येके" इति गोतमस्मरणात् । यस्या वा विशेषेण पिता न ज्ञायतेऽनेनेयमुत्पन्नेति, तामपि नोद्वहेत् । अत्र च पुत्रिकाधर्मशङ्कयेति न योजनीयमिति केचित् । गोविन्दराजस्त्वाह—"भिन्नपितृकयोरप्येकमातृकयोर्भ्रातृत्वसिद्धेः सभ्रातृकत्वेऽपि यस्या विशेषेण पिता न ज्ञायते, तामपि पुत्रिकाशङ्कयैव नोद्वहेत्" इति । [1]मेधातिथिस्त्वेकमेवेमं पक्षमाह । यस्यास्तु भ्राता नास्ति तां पुत्रिकाशङ्कया नोपयच्छेत् , पिता चेन्न ज्ञायते प्रोषितो मृतो वा । वाशब्दश्चेदर्थे । पितरि तु विद्यमाने तदीयवाक्यादेव पुत्रिकाभावमवगम्याभ्रातृकापि वोढव्येति । अस्माकं तु वाशब्दविकल्पस्वरसादिदं प्रतिभाति'यस्या विशेषेण पिता न ज्ञायते, तामपि जारजत्वेनाधर्मशङ्कया नोद्वहेत् ।अत्र च पक्षे 'पुत्रिकाधर्मशङ्कये'ति पुत्रिका चाधर्मश्च शङ्का पुत्रिकाऽधर्मशङ्का तयेति यथासंख्यं योजनीयम् । अत्र च प्रकरणे सगोत्रापरिणयने "सगोत्रां चेदमत्योपयच्छेन्मातृवदेनां बिभृयात्" इति परित्यागश्रवणात् "परिणीय सगोत्रां च" इति प्रायश्चित्तश्रवणाच्च तत्र, तत्समभिव्याहृते च मातृसपिण्डापरिणयनादौ भार्यात्वमेव न भवति, भार्याशब्दस्याहवनीयादिवत्संस्कारवचनत्वात् । येषां पुनर्दृष्टगुणदोपमूलके विधिनिषेधाभिधाने, यथा 'हीनक्रियमि'ति न तदतिक्रमे भार्यात्वाभावः । अत एव मनुना "महान्त्यपि समृद्धानि" (म० स्मृ० ३।६) इत्यादि पृथक्करणं कृतम् । एतन्मध्यपतितश्च "नर्क्षवृक्षनदीनाम्नीम्" (म० स्मृ० ३।९) इत्यादिप्रतिषेधोऽपि न भार्यात्वाभावफलकः, किंत्वत्र शास्त्रातिक्रमात्प्रायश्चित्तमात्रम् ॥ ११ ॥

सवर्णाग्रे द्विजातीनां प्रशस्ता दारकर्मणि ।
कामतस्तु प्रवृत्तानामिमाः स्युः क्रमशो वराः ॥ १२ ॥

द्विजातियोंके वास्ते प्रथम विवाहके लिये सवर्णा (अपने वर्णकी—अन्तर्जातीय नहीं) स्त्री श्रेष्ठ मानी जाती है । कामके वशीभूत होकर (दूसरे विवाहके लिये) प्रवृत्त पुरुषोंकी ये (३।१३) स्त्रियां क्रमशः श्रेष्ठ (अनुलोम क्रमसे) मानी जाती हैं ॥ १२ ॥

ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यानां प्रथमे विवाहे कर्तव्ये सवर्णा श्रेष्ठा भवति । कामतः पुनर्विवाहे प्रवृत्तानामेता वक्ष्यमाणा आनुलोम्येन श्रेष्ठा भवेयुः ॥ १२ ॥

शूद्रैव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशः स्मृते ।
ते च स्वा चैव राज्ञश्च ताश्च स्वा चाग्रजन्मनः ॥ १३ ॥

---

१. यस्या भ्राता नास्ति, तां न विवहेत । पुत्रिकाधर्मशङ्कया-पुत्रिकात्वशङ्कया, पुत्रिकाधर्मः कदाचिदस्याः कृतो भवेत् पित्रेत्यनया शङ्कया अनेन सन्देहेन । कथं चेयं शङ्का भवति, यदि न विज्ञायेत पिता देशान्तरे प्रोषितो मृतो वा सा मात्रा पितृसपिण्डैर्वा दीयते । प्राप्तकालापि पितर्यसंनिहित एतैरपि दातव्येति स्मर्यते । स्मृतिश्चोत्तरतो दर्शयिष्यामः । पितरि तु संविज्ञायमाने नास्ति पुत्रिकात्वशङ्का, सहि स्वयमेवाह—कृता वा न कृता वेति । वा शब्दश्चेच्छब्दार्थे द्रष्टव्यः । यदि पिता न विज्ञायेत, तदा कन्यका न वोढव्या ।

शूद्र पुरुषकी शूद्रा (शूद्रवर्णोत्पन्ना) वैश्य पुरुषकी वैश्य तथा शूद्र वर्णोंमें उत्पन्ना, क्षत्रिय पुरुषकी वैश्य, शूद्र तथा क्षत्रिय वर्णोंमें उत्पन्ना और ब्राह्मण पुरुषकी क्षत्रिय, वैश्य शूद्र तथा ब्राह्मण वर्णोंमें उत्पन्ना स्त्री हो सकती है ॥ १३ ॥

शूद्रस्य शूद्रैव भार्या भवति न तूत्कृष्टा वैश्यादयस्तिस्रः। वैश्यस्य च शूद्रा, वैश्या च भार्या मन्वादिभिः स्मृता। क्षत्रियस्य वैश्याशूद्रे, क्षत्रिया च। ब्राह्मणस्य क्षत्रिया, वैश्या, शूद्रा, ब्राह्मणी च। वसिष्ठोऽपि "शूद्रामप्येके मन्त्रवर्जम्" इति द्विजातीनां मन्त्रवर्जितं शूद्राविवाहमाह ॥ १३ ॥

न ब्राह्मणक्षत्रिययोरापद्यपि हि तिष्ठतोः।
कस्मिंश्चिदपि वृत्तान्ते शूद्रा भार्योपदिश्यते ॥ १४ ॥

(किन्तु—३।१२-१३ के द्वारा विहित होनेपर तथा सवर्णा स्त्रीके नहीं मिलनेसे) आपत्ति में पड़े हुए भी ब्राह्मण और क्षत्रियके लिये किसी इतिहास—आख्यानादिमें शूद्रा भार्याका विधान नहीं है ॥ १४ ॥

ब्राह्मणक्षत्रिययोर्गार्हस्थ्यमिच्छतोः सर्वथा सवर्णालाभे कस्मिंश्चिदपि वृत्तान्ते इतिहासाख्यानेऽपि शूद्रा भार्या नाभिधीयते। पूर्वसवर्णानुक्रमेणानुलोम्येन विवाहाद्यनुज्ञानादयं निषेधः, प्रातिलोम्येन विवाहविषयो बोद्धव्यः। ब्राह्मणक्षत्रियग्रहणं चेदं दोषभूयस्त्वार्थम् , अनन्तरं 'द्विजातय' इति बहुवचनात् वैश्यगोचरनिषेधस्यापि वक्ष्यमाणत्वात् ॥१४॥

हीनजातिस्त्रियं मोहादुद्वहन्तो द्विजातयः।
कुलान्येव नयन्त्याशु ससन्तानानि शूद्रताम् ॥ १५ ॥

(सवर्णाके साथ विवाहकर) शूद्राके साथ विवाह करनेवाले द्विजाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य) सन्तान-सहित (उसमें उत्पन्न पुत्र-पौत्रादि सहित) कुलोंको शूद्रत्व प्राप्त करा देते हैं (शूद्र बना डालते हैं)। अतः द्विजमात्रको हीनवर्णोत्पन्ना स्त्रीके साथ विवाह कदापि भी नहीं करना चाहिये ॥ १५ ॥

सवर्णामपि परिणीय, हीनजातिं शूद्रां शास्त्रार्थाविवेकात्परिणयन्तो ब्राह्मणक्षत्रियवैश्याः, तत्रोत्पन्नपुत्रपौत्रादिक्रमेण कुलान्येव ससन्ततिकानि शूद्रतां गमयन्ति। अत्र 'द्विजातय' इति बहुवचननिर्देशान्निन्दया वैश्यस्यापि निषेधः कल्प्यते। ब्राह्मणक्षत्रिययोस्तु पूर्वत्रैव निषेधकल्पनात्तन्निन्दामात्रार्थतैव ॥ १५ ॥

शूद्रावेदी पतत्यत्रेरुतथ्यतनयस्य च।
शौनकस्य सुतोत्पत्त्या तदपत्यतया भृगोः ॥ १६ ॥

अत्रि उतथ्यपुत्र (गौतम) ऋषिका मत हैं कि—शूद्राके साथ विवाह करनेवाला (ब्राह्मण) पतित हो जाता है, शौनक ऋषिका मत है कि—शूद्रामें सन्तान उत्पन्न करनेसे (क्षत्रिय) पतित हो जाता है और भृगु ऋषिका मत है कि—शूद्रामें सन्तान उत्पन्न करनेसे (वैश्य) पतित हो जाता है ॥ १६ ॥

शूद्रां विन्दति-परिणयतीति शूद्रावेदी स पतति पतित इव भवति। इदमत्रेर्मतमुतथ्यतनयस्य गौतमस्य च। अत्र्यादिग्रहणमादरार्थम्। एतद् ब्राह्मणविषयम्। "शूद्रायां सुतोत्पत्त्या पतति" इति शौनकस्य मतमेतत्क्षत्रियविषयम्। "शूद्रासुतोत्पत्त्या पतति" इति भृगोर्मतम् एतद्वैश्यविषयम्। एतस्य महर्षिमतत्रयस्य व्यवस्थासंभवे विसदृशपतनविकल्पा-

योगात्। [१]मेधातिथिगोविन्दराजयोस्तु मतं 'शूद्रावेदी पतती' ति पूर्वोक्तशूद्राविवाहनिषेधविशेषः सुतोत्पत्त्या पततीति दैवाज्ञातशूद्राविवाहे ऋतौ नोपेयादिति विधानार्थम्। ऋतुकालगमने सुतोत्पत्तेः। तदपत्यतयेति तु तान्येव शूद्रोत्पन्नान्यपत्यानि यस्य स तदपत्यस्तस्य भावस्तदपत्यता तया पतति। एतेनेदमुक्तं भवति-ऋतावुपयन्नितरासु जातापत्य उपेयात्॥

शूद्रां शयनमारोप्य ब्राह्मणो यात्यधोगतिम्।
जनयित्वा सुतं तस्यां ब्राह्मण्यादेव हीयते॥ १७॥

ब्राह्मण पुरुष शूद्रा (शूद्रवर्णोत्पन्न स्त्री) को शय्यापर बिठाकर (उसके साथ सम्भोगकर) नरकको जाता हैं और उसमें सन्तानोत्पादन करके तो ब्राह्मणत्वसे ही भ्रष्ट हो जाता है॥ १७॥

सवर्णामपरिणीय, दैवात्स्नेहाद्वा शूद्रापरिणेतुर्ब्राह्मणस्य गमननिषेधोऽयम्, निन्दया निषेधस्मृत्यनुमानात्। शूद्रां गत्वा ब्राह्मणो नरकं गच्छति। 'जनयित्वा सुतं तस्यामि'ति ऋतुकालगमननिषेधपरम्। 'ब्राह्मण्यादेव हीयत' इति दोषभूयस्त्वार्थम्॥ १७॥

दैवपित्र्यातिथेयानि तत्प्रधानानि यस्य तु।
नाश्नन्ति पितृदेवास्तन्न च स्वर्गं स गच्छति॥ १८॥

जिस (द्विज) के यहां देवकार्य (अग्निहोत्र, यज्ञादि), पितृकार्य (श्राद्ध) और अतिथि-भोजनादि शूद्रा स्त्री के द्वारा सम्पादित होते हैं; उसके हव्य तथा कव्यको (क्रमशः) देवता तथा पितर नहीं भोजन करते हैं और उस अतिथि-भोजन से उत्पन्न स्वर्गादिको भी वह नहीं प्राप्त करता है॥ १८॥

यदि कथंचित्सवर्णानुक्रमेणाक्रमेण वा शूद्राऽपि परिणीयते, तदा भार्यात्वेन प्रसक्तानि तत्कर्तृकानि दैवेत्यनेन निषिध्यन्ते। दैवं होमादि, पित्र्यम्-श्राद्धादि, आतिथेममतिथिभोजनादि, एतानि यस्य शूद्रासंपाद्यानि तद्धव्यं कव्यं पितृदेवा नाश्नन्ति। न च तेनातिथ्येन स गृही स्वर्गं याति।

'यस्तु तत्कारयेन्मोहात्सजात्या स्थितयान्यया'॥ (म. स्मृ. ९।८७)

इति सवर्णायां सन्निहितायां निषेधं वक्ष्यति। अयं त्वसन्निहितायामपीत्यपुनरुक्तिः॥

वृषलीफेनपीतस्य निःश्वासोपहतस्य च।
तस्यां चैव प्रसूतस्य निष्कृतिर्न विधीयते॥ १९॥

शूद्राका अधरपान करनेवाले तथा उसके श्वाससे दूषित ब्राह्मणकी उसमें उत्पन्न सन्तान की शुद्धि नहीं होती है॥ १९॥

वृषलीफेनः-अधररसः स पीतो येन स वृषलीफेनपीतः। "वाहिताग्न्यादिषु" (पा० सू० २।२।३७) इत्यनेन परनिपातः। अनेन शूद्राया अधररसपानं निषिध्यते। निःश्वासोपहतस्य चेति तया सहैकशय्यादौ शयननिषेधः। तस्यां जातापत्यस्य शुद्धिर्नोपदिश्यत इत्यृतुकालगमननिषेधानुवादः॥ १९॥

---

१. शूद्रां विन्दति-परिणयति शूद्रावेदी स पतति पतित इव। अत्रिरुतथ्यस्य तनयः पुत्रस्तयोरेतन्मतमित्युपस्करः। अयं तावदर्धश्लोकः पूर्वप्रतिषेधशेषः। 'शौनकस्य सुतोत्पत्त्या' शास्त्रान्तरमिदम् अभ्यनुज्ञाय, शूद्रायामृतावुपगमनं निषेधति। सुतोत्पत्तिर्ऋतौ युग्मासु रात्रिषु भवति, ऋतौ शूद्रां न गच्छेदित्यर्थः। 'तदपत्यतया भृगोः' इदमपि स्मृत्यन्तरम्। तान्येव शूद्रोत्पन्नान्यपत्यानि यस्य स तदपत्यः तद्भावस्तदपत्यता। भृगोरेतन्मतं ऋतावप्युपयन्नितरासु जातापत्य उपेयात।

चतुर्णामपि वर्णानां प्रेत्य चेह हिताहितान्।
अष्टाविमान्समासेन स्त्रीविवाहान्निबोधत ॥ २० ॥

(भृगु मुनि महर्षियोंसे कहते हैं कि)—मरनेपर तथा इस लोकमें चारों वर्णोंका हिताहित (भला-बुरा) करनेवाले स्त्रियोंके आठ प्रकारके विवाहोंको संक्षेपसे (तुमलोग) सुनो ॥ २० ॥

चतुर्णामपि वर्णानां ब्राह्मणादीनां परलोके, इहलोके च कांश्चिद्धितान्कांश्चिदहितानिमानभिधास्यमानानष्टौ संक्षेपेण भार्याप्राप्तिहेतून्विवाहान् शृणुत ॥ २० ॥

ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथाऽऽसुरः।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥ २१ ॥

ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और आठवां बहुततुच्छ पैशाच; (ये आठ प्रकारके स्त्री-विवाह हैं) ॥ २१ ॥

त एते नामतो निर्दिश्यन्ते। ब्राह्मराक्षसादिसंज्ञा चेयं शास्त्रव्यवहारार्था, स्तुतिनिन्दाप्रदर्शनार्था च। ब्रह्मण इवायं ब्राह्मः। रक्षस इवायं राक्षस। न तु ब्रह्मादिदेवतात्वं विवाहानां सम्भवति। पैशाचस्याधमत्वाभिधानं निन्दाऽतिशयार्थम् ॥ २१ ॥

यो यस्य धर्म्यो वर्णस्य गुणदोषौ च यस्य यौ।
तद्वः सर्वं प्रवक्ष्यामि प्रसवे च गुणागुणान् ॥ २२ ॥

(भृगु मुनि पुनः महर्षियोंसे कहते हैं कि)—जिस वर्णका जो विवाह धर्म युक्त है, जिस विवाहके जो गुण दोष हैं और उक्त विवाहसे सन्तान उत्पन्न होनेपर जो गुण-दोष हैं; उन सबको तुम लोगोंसे कहूँगा ॥ २२ ॥

धर्मादनपेतो धर्म्यः, यो विवाहो धर्म्यः, यस्य विवाहस्य यौ गुण-दोषौ इष्टानिष्टफले, तत्तद्विवाहोत्पन्नापत्येषु ये गुणागुणास्तत्सर्वं युष्माकं प्रकर्षेणाभिधास्यामि। वक्ष्यमाणानुकीर्तनमिदं शिष्याणां सुखग्रहणार्थम् ॥ २२ ॥

षडानुपूर्व्या विप्रस्य क्षत्रस्य चतुरोऽवरान्।
विट्शूद्रयोस्तु तानेव विद्याद्धर्म्यानराक्षसान् ॥ २३ ॥

ब्राह्मणके लिये प्रथम ६ प्रकारके विवाह (ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर और गान्धर्व); क्षत्रियके लिये अन्त वाले ४ प्रकारके विवाह (आसुर, गान्धर्व, पैशाच और राक्षस); और वैश्य तथा शूद्रके लिये 'राक्षस' रहित ३ प्रकारके विवाह (आसुर, गान्धर्व और पैशाच) का विधान है ॥ २३ ॥

ब्राह्मणस्य ब्राह्मादिक्रमेण षट्। क्षत्रियस्यावरानुपरितनानासुरादींश्चतुरः। विट्शूद्रयोस्तु तानेव राक्षसवर्जितानासुरगान्धर्वपैशाचान् धर्म्यान्धर्मादनपेताञ्जानीयात् ॥ २३ ॥

चतुरो ब्राह्मणस्याद्यान्प्रशस्तान्कवयो विदुः।
राक्षसं क्षत्रियस्यैकमासुरं वैश्यशूद्रयोः ॥ २४ ॥

ब्राह्मणके लिये प्रथम ४ चार विवाह (ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्य); क्षत्रियके लिये एक 'राक्षस' विवाह; और वैश्य तथा शूद्रके लिये एक 'आसुर' विवाहको विद्वानोंने प्रशस्त बतलाया है ॥ २४ ॥

ब्राह्मणस्य प्रथमं पठितान्ब्राह्मादींश्चतुरः। क्षत्रियस्य राक्षसमेकमेव। वैश्यशूद्रयोरासुरम्। एताञ्छ्रेष्ठान् ज्ञातारो जानन्ति। अत एव ब्राह्मणादिष्वासुरादीनां पूर्वविहितानामप्य-

ग्रानुपादानं जघन्यत्वज्ञापनार्थम्। तेन प्रशस्तविवाहासम्भवे जघन्यस्यापि परिग्रह इति दर्शितम्। एवमुत्तरत्रापि विगर्हितपरित्यागो बोद्धव्यः॥ २४॥

पञ्चानां तु त्रयो धर्म्या द्वावधर्म्यौ स्मृताविह।
पैशाचश्चासुरश्चैव न कर्तव्यौ कदाचन॥ २५॥

अन्तवाले ५ प्रकारके विवाहों (प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच) में से ३ प्रकारके विवाह (प्राजापत्य, गान्धर्व और राक्षस) धर्मयुक्त हैं। दो (आसुर और पैशाच) अधर्मयुक्त हैं; अतः आसुर और पैशाच विवाहोंको कभी भी नहीं करना चाहिये॥ २५॥

इह पैशाचप्रतिषेधादुपरितनानां पञ्चानां प्राजापत्यादीनां ग्रहणम्, तेषु मध्ये प्राजापत्य-गान्धर्वराक्षसास्त्रयो धर्मादनपेतास्तत्र प्राजापत्यः क्षत्रियादीनामप्राप्तो विधीयते। ब्राह्मणस्य विहितत्वादनूद्यते। गान्धर्वस्य च चतुर्णामेव प्राप्तत्वादनुवादः। राक्षसोऽपि वैश्य-शूद्रयोर्विधीयते। ब्राह्मणस्य क्षत्रियवृत्त्यवस्थितस्याप्यासुरपैशाचौ न कर्तव्यौ। कदाचने-त्यविशेषाच्चतुर्णामेव निषिध्यते। अत्र यं वर्णं प्रति यस्य विवाहस्य विधिनिषेधौ, तस्य तं प्रति विकल्पः, स च विहितासम्भवे बोद्धव्यः॥ २५॥

पृथक्पृथग्वा मिश्रौ वा विवाहौ पूर्वचोदितौ।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव धर्म्यौ क्षत्रस्य तौ स्मृतौ॥ २६॥

अथवा पूर्वोक्त दोनों पैशाच तथा राक्षस विवाह अलग २ या 'मिश्र' (मिले हुए) क्षत्रियके लिये धर्मयुक्त कहे गये हैं॥ २६॥

पृथक्पृथगिति प्राप्तत्वादनूद्यते। मिश्राविति विधीयते। पृथक्पृथग्विमिश्रौ वा पूर्ववि-हितौ गान्धर्वराक्षसौ क्षत्रस्य धर्म्यौ मन्वादिभिः स्मृतौ। यदा स्त्रीपुंसयोरन्योन्यानुरागपूर्व-कसंवादेन परिणेता युद्धादिना विजित्य तामुद्वहेत्तदा गान्धर्वराक्षसौ मिश्रौ भवतः॥ २६॥

आच्छाद्य चार्चयित्वा च श्रुतिशीलवते स्वयम्।
आहूय दानं कन्याया ब्राह्मो धर्मः प्रकीर्तितः॥ २७॥

(अब पूर्वोक्त (३।२१) आठ प्रकारके विवाहोंके क्रमसे लक्षण कहते हैं) वेद पढ़े हुए सदाचारी वरको स्वयं बुलाकर, उसकी पूजाकर और वस्त्र-भूषणादिसे दोनों (कन्या-वर) को अलंकृत कर कन्यादान करना धर्मयुक्त 'ब्राह्म' विवाह है॥ २७॥

आच्छादनमात्रस्यौचित्यप्राप्तत्वात्सविशेषवाससा कन्यावरावाच्छाद्य, अलङ्कारादिना च पूजयित्वा, विद्याचारवन्तमप्रार्थकवरमानीय, तस्मै कन्यादानं ब्राह्मो विवाहो मन्वा-दिभिरुक्तः॥ २७॥

यज्ञे तु वितते सम्यगृत्विजे कर्म कुर्वते।
अलङ्कृत्य सुतादानं दैवं धर्मं प्रचक्षते॥ २८॥

ज्योतिष्टोमादि यज्ञमें विधिपूर्वक कर्म करते हुए ऋत्विक्के लिये (वस्त्रालङ्कारादिसे) अलंकृत कन्याका दान करने को (मुनि लोग) धर्मयुक्त 'दैव' विवाह कहते हैं॥ २८॥

ज्योतिष्टोमादियज्ञे प्रारब्धे यथाविधि ऋत्विजे कर्मकर्त्रे अलंकृत्य, कन्यादानं दैवं विवाहं मुनयो ब्रुवते॥ २८॥

एकं गोमिथुनं द्वे वा वरादादाय धर्मतः।
कन्याप्रदानं विधिवदार्षो धर्मः स उच्यते॥ २९॥

गोमिथुन (गाय और बैल-दोनों) या गाय अथवा बैल (दोनोंमेंसे कोई एक-एक या दो-दो) यज्ञादि धर्म कार्य करने या कन्याको देनेके लिये वर से लेकर (मूल्य या धन-लाभकी दृष्टिसे लेकर नहीं) विधिपूर्वक कन्यादान करना धर्मयुक्त 'आर्ष' विवाह कहा गया है ॥ २९ ॥

स्त्रीगवी पुङ्गौश्च गोमिथुनम् । तदेकम्, द्वे वा वराद्धर्मतो धर्मार्थयोगादिसिद्धये, कन्यायै वा दातुं न तु शुल्कबुद्ध्या गृहीत्वा यद्यथाशास्त्रं कन्यादानं स आर्षो विवाहो विधीयते ॥२९॥

सहोभौ चरतां धर्ममिति वाचाऽनुभाष्य च ।
कन्याप्रदानमभ्यर्च्य प्राजापत्यो विधिः स्मृतः ॥ ३० ॥

"तुम दोनों (वधू-वर) साथमें धर्माचरण करो'' ऐसा वचन कहकर तथा (वस्त्रालङ्कारादिसे उनका) पूजनकर कन्यादान करना 'प्राजापत्य' विवाह कहा गया है ॥ ३० ॥

सह युवां धर्मं कुरुतमिति सुताप्रदानकाले वचसा पूर्वं नियम्यार्चायित्वा यत्कन्यादानम्, स प्राजापत्यो विवाहः स्मृतः ॥ ३० ॥

ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्त्वा कन्यायै चैव शक्तितः ।
कन्याप्रदानं स्वाच्छन्द्यादासुरो धर्म उच्यते ॥ ३१ ॥

जातिवालों (कन्याके पिता; चाचा इत्यादि) तथा कन्याके लिये यथाशक्ति धन देकर, स्वेच्छासे कन्याका स्वीकार करना 'आसुर विवाह' कहा गया है ॥ ३१ ॥

कन्याया ज्ञातिभ्यः पित्रादिभ्यः कन्यायें यद्यथाशक्ति धनं दत्त्वा, कन्याया आप्रदान-मादानं स्वीकारः स्वाच्छन्द्यात्स्वेच्छया न त्वार्ष इव शास्त्रीयधनजातिपरिमाणनियमेन, स आसुरो विवाह उच्यते ॥ ३१ ॥

इच्छयाऽन्योन्यसंयोगः कन्यायाश्च वरस्य च ।
गान्धर्वः स तु विज्ञेयो मैथुन्यः कामसम्भवः ॥ ३२ ॥

कन्या और पुरुषके इच्छानुसार परस्पर स्नेहसे संयोग (आलिङ्गनादि) वा मैथुन होना 'गान्धर्व' विवाह कहा गया है ॥ ३२ ॥

कन्याया वरस्य चान्योन्यानुरागेण यः परस्परसंयोग आलिङ्गनादिरूपः स गान्धर्वो ज्ञातव्यः । सभवत्यस्मादिति संभवः, यस्मात्कन्यावरयोरभिलाषादसौ सभवति । अत एव मैथुन्यः-मैथुनाय हितः । सर्वविवाहानामेव मैथुन्यत्वेन यदस्य मैथुन्यत्वाभिधान तत्सत्यपि मैथुने न विरोध इति प्रदर्शनार्थम् ॥ ३२ ॥

हत्वा छित्त्वा च भित्त्वा च क्रोशन्तीं रुदतीं गृहात् ।
प्रसह्य कन्याहरणं राक्षसो विधिरुच्यते ॥ ३३ ॥

कन्याके पक्षवालोंको मारकर या उनका अङ्गच्छेदनादि कर और गृह या द्वारादिको तोड़कर ('हा पिताजी ! मैं बलात्कार से अपहृत हो रही हूँ' इत्यादि) चिल्लाती तथा रोती हुई कन्या का बलात्कारसे हरण करके लाना 'राक्षस' विवाह कहा गया है ॥ ३४ ॥

प्रसह्य- बलात्कारेण कन्याया हरणं राक्षसो विवाह इत्येवं लक्षणम् । यदा तु हर्तुः शक्त्यतिशयं ज्ञात्वा पित्रादिभिरुपेक्ष्यते, तदा नावश्यकं हननादि । यदि कन्यापक्षः प्रतिपक्षतां याति तदा हननादिकमपि कर्तव्यमित्यर्थप्राप्तमनूद्यते । कन्यापक्षान्विनाश्य, तेषामङ्गच्छेदं कृत्वा, प्राकारादीन्भित्त्वा "हा पितर्भ्रातरनाथाहं ह्रिये" इति वदन्तीमश्रूणि मुञ्चन्तीं यः कन्यां गृहादपहरति । अनेन कन्यायामनिच्छोक्ता गान्धर्वाद्विवेकार्थम् ॥ ३३ ॥

सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वा रहो यत्रोपगच्छति ।
स पापिष्ठो विवाहानां पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥ ३४ ॥

सोई हुई, मद आदिसे व्याकुल और अपने शीलकी रक्षा करनेमें प्रमादयुक्त कन्याके साथ विवाह (मैथुन) करना अत्यन्त निन्दित आठवाँ 'पैशाच' विवाह कहा गया है ॥ ३४ ॥

निद्राऽभिभूतां मद्यमदविह्वलां शीलसंरक्षणेन रहितां विजनदेशे यत्र विवाहो मैथुन-धर्मेण प्रवर्तते, स पापहेतुर्विवाहानां मध्येऽधमः पैशाचः ख्यातः ॥ ३४ ॥

अद्भिरेव द्विजाग्र्याणां कन्यादानं विशिष्यते ।
इतरेषां तु वर्णानामितरेतरकाम्यया ॥ ३५ ॥

ब्राह्मणका विवाह जलदानपूर्वक (कन्याका हाथ ग्रहण कर पिता आदिके द्वारा जल ले लेकर संकल्पके साथ) ही होता है और अन्य क्षत्रिय आदि वर्णोंका विवाह पारस्परिक इच्छाके द्वारा वचनमात्रसे भी हो सकता है ॥ ३५ ॥

उदकदानपूर्वकमेव ब्राह्मणानां कन्यादानं प्रशस्तम् । क्षत्रियादीनां पुनर्विनाऽप्युदकं परस्परेच्छया वाङ्मात्रेणापि कन्यादानं भवेति । उदकपूर्वकमपीत्यनियमः ॥ ३५ ॥

यो यस्यैषां विवाहानां मनुना कीर्तितो गुणः ।
सर्वं शृणुत तं विप्राः सर्वं कीर्तयतो मम ॥ ३६ ॥

(भृगुजी महर्षियोंसे कहते हैं कि—) हे ब्राह्मणों ! इन (आठ प्रकारके) विवाहों में जिस विवाहका गुण मनुने कहा है, उसे मुझसे तुमलोग सुनो ॥ ३६ ॥

यद्यपि "गुणदोषौ च यस्य यौ" (मृ० स्मृ० ३।२२) इति गुणाभिधानमपि प्रतिज्ञात-मेव, तथापि बहूनामर्थानां तत्र वक्तव्यतया प्रतिज्ञातत्वाद्विशेषज्ञापनार्थः पुनरुपन्यासः । एषां विवाहानामिति निर्धारणे षष्ठी । एषां मध्ये यस्य विवाहस्य यो गुणो मनुना कथितः, तत्सर्वं हे विप्राः ! मम कथयतः शृणुत ॥ ३६ ॥

दश पूर्वान्परान्वंश्यानात्मानं चैकविंशकम् ।
ब्राह्मीपुत्रः सुकृतकृन्मोचयेदेनसः पितॄन् ॥ ३७ ॥

ब्राह्म विवाहविधि (३।२७) द्वारा विवाहित कन्यासे उत्पन्न पुण्यात्मा पुत्र अपने वंशकी दश पीढ़ी पहलेवाले तथा दश पीढ़ी आगे (भविष्य) वाले वंशजोंको और अपनेको अर्थात् १० + १० + १ = २१ पीढ़ियोंके वंशजोंको पाप से छुड़ा देता है ॥ ३७ ॥

दश पूर्वान्पित्रादीन्वंश्यान्, परान्पुत्रादीन्दश, आत्मानं चैकविंशकं ब्राह्मविवाहोढा-पुत्रो यदि सुकृतकृद्भवति, तदा पापान्मोचयति-पित्रादीन्नरकादुद्धरति । पुत्रादयश्च तस्य कुले निष्पापा जायन्त इति विमोचनार्थः, तेषामनुत्पत्तेः पापप्रध्वंसस्याशक्यत्वात् । ३७ ॥

दैवोढाजः सुतश्चैव सप्त सप्त परावरान् ।
आर्षोढाजः सुतस्त्रींस्त्रीन्षट् षट् कायोढजः सुतः ॥ ३८ ॥

'दैव विवाह' विधि (३।२८) से विवाहित कन्याका पुण्यात्मा पुत्र पूर्व तथा आगेवाले सात सात सात पीढ़ीके वंशजोंको तथा अपनेको (कुल पन्द्रह पीढ़ीके वंशजोंको); 'आर्ष विवाह' विधि (३।२९) से विवाहित कन्याका पुण्यात्मा पुत्र पूर्व तथा आगेवाले तीन तीन पीढ़ीके वंशजों तथा अपनेको (कुल सात पीढ़ीके वंशजोको) और 'प्राजापत्य विवाह' विधि (३।३०) से विवाहित

कन्या का पुण्यात्मा पुत्र पूर्व तथा आगेवाले छः-छः पीढ़ीके वंशजोंको तथा अपने को (कुल तेरह पीढ़ीके वंशजों का पाप छुड़ा देता है ॥ ३८ ॥

दैवविवाहोढायाः पुत्रः सप्त परान्पित्रादीन्सप्तावरान्पुत्रादींश्च, आर्षविवाहोढायाः पुत्रस्त्रीन्पित्रादींस्त्रींश्च पुत्रादीन्, प्राजापत्यविवाहोढायाः पुत्रः षट् पित्रादीन्, षट् पुत्रादीन्, आत्मनं चैनसो मोचयतीति पूर्वस्यैव सर्वत्रानुषङ्गः। कायोढज इति "ङ्यापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुलम्" (पा. सू. ६।३।६३) इति ह्रस्वत्वम्। ब्राह्माद्यष्टविवाहोद्देशक्रमानुसारेण मन्दफलस्यार्षस्येह बहुफलप्राजापत्यात्पूर्वाभिधानम्। ब्राह्मादिविवाहोद्देशश्लोक एव कथमयं क्रम इति चेत्? "पञ्चानां तु त्रयो धर्म्याः" (म. स्मृ ३।२५) इत्यत्र प्राजापत्यग्रहणार्थम्, अन्यथा त्वार्षस्यैव ग्रहणं स्यात् ॥ ३८ ॥

"प्रसवे च गुणागुणान्' (म. स्मृ. ३।२२) इति यदुक्तं तदुच्यते—

ब्राह्मादिषु विवाहेषु चतुर्ष्वेवानुपूर्वशः।
ब्रह्मवर्चस्विनः पुत्रा जायन्ते शिष्टसंमताः ॥ ३९ ॥

पूर्वोक्त ब्राह्म आदि चार (ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्य) विवाहोंमें ही क्रमशः ब्रह्मतेजवाले और सज्जनोंसे माननीय पुत्र होते हैं ॥ ३९ ॥

ब्राह्मादिषु चतुर्षु विवाहेषु क्रमावस्थितेषु श्रुताध्ययनसंपत्तिकतेजोयुक्ताः पुत्राः शिष्टप्रिया जायन्ते। प्रियार्थत्वाच्च संमतशब्दस्य "क्तेन च पूजायाम्" (पा. सू. २।२२।१२) इति न षष्ठीसमासप्रतिषेधः। सम्बन्धसामान्यविषया षष्ठीयं समस्यते ॥ ३९ ॥

रूपसत्त्वगुणोपेता धनवन्तो यशस्विनः।
पर्याप्तभोगा धर्मिष्ठा जीवन्ति च शतं समाः ॥ ४० ॥

(३।३७ में उक्त वे पुत्र) सौन्दर्य और सात्विक गुणों से युक्त, धनवान् यशस्वी, पर्याप्त (इच्छानुसार अर्थात् काफी वस्त्र, गन्धानुलेपन तथा अन्नादि) भोगवाले और धर्मात्मा होकर सौ वर्ष (पूर्णायु होकर) जीते हैं ॥ ४० ॥

रूपम्-मनोहराऽऽकृतिः, सत्त्वं द्वादशाध्याये वक्ष्यमाणम्, गुणाः-दयादयः, तैर्युक्ता धनिनः ख्यातिमन्तो यथेप्सितवस्त्रस्रग्गन्धलेपनादिभोगशालिनो धार्मिकाश्च पुत्रा जायन्त इति पूर्वमनुवर्तते। शतं च वर्षाणि जीवन्ति ॥ ४० ॥

इतरेषु तु शिष्टेषु नृशंसानृतवादिनः।
जायन्ते दुर्विवाहेषु ब्रह्मधर्मद्विषः सुताः ॥ ४१ ॥

शेष बचे हुए चार (आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच) विवाहविधि से विवाहित कन्याके पुत्र क्रूर, असत्य बोलनेवाले और वेद या ब्राह्मणोंके तथा यज्ञादि धार्मिक कर्मोंके विरोधी होते हैं ॥ ४१ ॥

ब्राह्मादिभ्यश्चतुर्भ्योऽन्येष्वासुरादिषु चतुर्षु विवाहेषु क्रूरकर्माणो मृषावादिनो वेदद्वेषिणो यागादिधर्मद्वेषिणः पुत्रा जायन्ते ॥ ४१ ॥

अनिन्दितैः स्त्रीविवाहैरनिन्द्या भवति प्रजा।
निन्दितैर्निन्दिता नृणां तस्मान्निन्द्यान्विवर्जयेत् ॥ ४२ ॥

अनिन्दित स्त्री-विवाहोंसे अनिन्दित तथा निन्दित स्त्री-विवाहोंसे निन्दित सन्तान उत्पन्न होती है, अत एव निन्दित स्त्री-विवाहोंका सर्वथा त्याग करना चाहिये ॥ ४२ ॥

सङ्क्षेपेण विवाहानां फलकथनमिदम् । अगर्हितैर्भार्याप्राप्तिहेतुभिर्विवाहैरगर्हिता मनुष्याणां सन्ततिर्भवति, गर्हितैस्तु गर्हिता । तस्माद् गर्हितविवाहान्न कुर्यात् ॥ ४२ ॥

पाणिग्रहणसंस्कारः सवर्णासूपदिश्यते ।
असवर्णास्वयं ज्ञेयो विधिरुद्वाहकर्मणि ॥ ४३ ॥

सवर्णा (समान जातिवाली) कन्याका शास्त्रानुसार पाणिग्रहण (विवाह) संस्कार करने का विधान है असवर्णा (भिन्न जातिवाली) कन्याओंके विवाह कर्ममें यह (३।४४) विधि है ॥ ४३ ॥

समानजातीयासु गृह्यमाणासु हस्तग्रहणलक्षणः संस्कारो गृह्यादिशास्त्रेण विधीयते। विजातीयासु पुनरुह्यमानासु विवाहकर्मणि पाणिग्रहणस्थानेऽयमनन्तरश्लोके वक्ष्यमाणो विधिर्ज्ञेयः ॥ ४३ ॥

शरः क्षत्रियया ग्राह्यः प्रतोदो वैश्यकन्यया ।
वसनस्य दशा ग्राह्या शूद्रयोत्कृष्टवेदने ॥ ४४ ॥

ब्राह्मण वरके साथमें विवाह करनेवाली क्षत्रिय वर्णकी कन्या ब्राह्मणके हाथ में ग्रहण किये हुए बाणका एक भाग ग्रहण करे, ब्राह्मण तथा क्षत्रिय वरके साथमें विवाह करनेवाली वैश्य वर्णकी कन्या ब्राह्मण तथा क्षत्रियके हाथमें ग्रहण किये हुए कोड़ा (चाबुक) का एक भाग ग्रहण करे और ब्राह्मण तथा क्षत्रिय तथा वैश्य वरके साथ में विवाह करनेवाली शूद्र वर्णकी कन्या ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य वरके कपड़ेका एक भाग ग्रहण करे ॥ ४४ ॥

क्षत्रियया पाणिग्रहणस्थाने ब्राह्मणविवाहे ब्राह्मणहस्तपरिगृहीतकाण्डैकदेशो ग्राह्यः। वैश्यया ब्राह्मणक्षत्रियविवाहे ब्राह्मणक्षत्रियावधृतप्रतोदैकदेशो ग्राह्यः। शूद्रया पुनर्द्विजातित्रयविवाहे प्रावृतवसनदशा ग्राह्या ॥ ४४ ॥

ऋतुकालाभिगामी स्यात्स्वदारनिरतः सदा ।
पर्ववर्जं व्रजेच्चैनां तद्व्रतो रतिकाम्यया ॥ ४५ ॥

स्व-स्त्रीके साथ प्रेम करनेवाला पुरुष स्त्रीके ऋतुमती होनेके बाद शुद्ध होनेपर सम्भोग करे तथा रतिकी इच्छासे पर्व दिनों (अमावस्था, पूर्णिमा आदि) को छोड़कर अन्य दिनोंमें स्त्री-सम्भोग करे ॥ ४५ ॥

ऋतुर्नाम शोणितदर्शनोपलक्षितो गर्भधारणयोग्यः स्त्रीणामवस्थाविशेषः । 'तत्कालाभिगामी स्यादि'त्ययं नियमविधिः, न तु परिसंख्या, स्वार्थहानिपरार्थकल्पनाप्राप्तबाधात्मकदोषत्रयदुष्टत्वात् । ऋतुकालेऽपि रागतः पक्षे गमनप्राप्तौ यस्मिन्पक्षेऽप्राप्तिस्तत्र विधिः "समे यजेत" इतिवत् । अत एव ऋतावगमने दोषमाह पराशरः—

ऋतुस्नातां तु यो भार्यां सन्निधौ नोपगच्छति ।
घोरायां भ्रूणहत्यायां पच्यते नात्र संशयः ॥

अनुत्पन्नपुत्रस्य चायं नियमः, 'ब्राह्मणो ह वै जायमानस्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवान् जायते-यज्ञेन देवेभ्यः, प्रजया पितृभ्यः, स्वाध्यायेनर्षिभ्यः" इत्येतत्प्रत्यक्षश्रुतिमूलत्वेऽस्य सम्भवति मूलान्तरकल्पनस्यायुक्तत्वात् ।

तस्माद्युग्मासु पुत्रार्थी संविशेदार्तवे स्त्रियम् । (म. स्मृ. ३ । ४८)

इति च वक्ष्यति । तत्राऽप्येतच्छ्रुतिमूलत्वमवगम्यते । पुत्रोत्पादनशास्त्रस्य चैकपुत्रोत्पादनेनैव चरितार्थत्वात् "कामजानितरान्विदुः" (म. स्मृ. ९ । १०७) इति दर्शनाद-

जातपुत्रस्यैव नियमः । "दशास्यां पुत्रानाधेहि" इति मन्त्रस्तु बहुपुत्रप्रशंसापरः । जातपुत्रस्याप्यृतुकालगमननियमो न दशस्वेवावतिष्ठते । 'स्वदारनिरतः सदे'ति नित्यं स्वदारसंतुष्टः स्यान्नान्यभार्यामुपगच्छेदिति विधानात्परिसंख्यैव, वाक्यानर्थक्यात्स्वदारगमनस्य प्रशस्तत्वात् । ऋतावगमने दोषाश्रवणाच्च न नियमविधिः । 'पर्ववर्जं व्रजेच्चैनामि'ति । पर्वाण्यमावास्यादीनि वक्ष्यन्ते, तानि वर्जयित्वा भार्याप्रीतिव्रतं यस्य स तद्व्रतोऽनृतावप्युपेयात् । अत एव रतिकाम्यया, न तु पुत्रोत्पादनशास्त्रबुद्ध्या । तस्माद्विधित्रयमिदमृतावुपेयादेव, अन्यभार्यां नोपगच्छेत्, अनृतावपि भार्याप्रीतये गच्छेदिति । अत्र च गोतमः "ऋतावुपेयादनृतौ च पर्ववर्जम्" । याज्ञवल्क्योऽप्याह—

यथाकामी भवेद्वाऽपि स्त्रीणां वरमनुस्मरन् । (या. स्मृ. १ । ८१)

पर्ववर्जमिति ऋतावनृतौ चोभयत्र सम्बध्यते ॥ ४५ ॥

ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोडश स्मृताः ।
चतुर्भिरितरैः सार्धमहोभिः सद्विगर्हितैः ॥ ४६ ॥

रजो (शोणित) दर्शनके दिनसे सोहल रात्रियां (दिन-रात) स्त्रियोंका स्वाभाविक ऋतुकाल हैं, उनमें सज्जनोंके द्वारा निन्दित (समागमके अयोग्य) प्रथम चार (दिन-रात) भी सम्मिलित हैं ॥ ४६ ॥

अत्र राज्यहःशब्दावहोरात्रपरौ । शोणितदर्शनात्प्रभृति स्त्रीसंपर्कगमनादौ शिष्टनिन्दितैश्चतुर्भिरन्यैरहोरात्रैः सह षोडशाहोरात्राणि मासि मासि स्त्रीणामृतुः, स्वभावे भवः स्वाभाविकः । व्याध्यादिना तु न्यूनाधिककालोऽपि भवति ॥ ४६ ॥

तासामाद्याश्चतस्रस्तु निन्दितैकादशी च या ।
त्रयोदशी च शेषास्तु प्रशस्ता दश रात्रयः ॥ ४७ ॥

उन (३।४६) सोलह रात्रियोंमें प्रथम चार, ग्यारहवीं और तेरहवीं रात्रियां (अर्थात् छः रात्रियाँ स्त्री-सम्भोगके लिये निन्दित हैं, शेष दश रात्रियां (स्त्री-सम्भोगके लिये मानी गयी हैं ॥ ४७ ॥

तासां पुनः षोडशानां रात्रीणां शोणितदर्शनात्प्रभृति आद्याश्चतस्रो रात्रय एकादशी त्रयोदशी च रात्रिर्गमने निन्दिता । अवशिष्टा दश रात्रयः प्रशस्ता भवेयुः ॥ ४७ ॥

युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु ।
तस्माद्युग्मासु पुत्रार्थी संविशेदार्तवे स्त्रियम् ॥ ४८ ॥

पूर्वोक्त (३।३६) दश रात्रियोंमेंसे युग्म (सम अर्थात् छठी, आठवीं इत्यादि) रात्रियोंमें (स्त्री-समागम करनेसे) पुत्रोत्पत्ति होती है तथा विषम (पांचवीं, सातवीं, नवीं इत्यादि) रात्रियों में (स्त्री-समागम करनेसे) कन्याकी उत्पत्ति होती है, अत एव पुत्रेच्छुक पुरुष सम रात्रियोंमें ऋतुकाल में (३।४६-४७) स्त्री-गमन करे ॥ ४८ ॥

पूर्वोक्तास्वपि दशसु मध्ये षष्ठ्यष्टम्याद्यासु रात्रिषु गमने पुत्रा उत्पद्यन्ते । अयुग्मासु पञ्चमीसप्तम्यादिषु दुहितरः । अतः पुत्रार्थी युग्मासु ऋतुकाले भार्यां गच्छेत् ॥ ४८ ॥

पुमान्पुंसोऽधिके शुक्रे स्त्री भवत्यधिके स्त्रियाः ।
समेऽपुमान्पुंस्त्रियौ वा क्षीणेऽल्पे च विपर्ययः ॥ ४९ ॥

पुरुषके वीर्य अधिक होनेपर (विषम रात्रियोंमें भी) पुत्र, स्त्रीवीज अर्थात् रजके अधिक होनेपर (समरात्रियोंमें भी) कन्या; और पुंबीज तथा स्त्रीवीजके समान होनेपर नपुंसक या पुत्र-पुत्री दोनों की उत्पत्ति होती है और दोनोंके बीजके क्षीण या कम होने पर गर्भ ही नहीं रहता ॥ ४९ ॥

पुंसो बीजेऽधिकेऽयुग्मास्वपि पुत्रो जायते। स्त्रीबीजेऽधिके युग्मास्वपि दुहितैव। अतो वृष्याहारादिना निजबीजाधिक्यं भार्यायाश्चाहारलाघवादिना बीजाल्पत्वमवगम्य, युग्मास्वपि पुत्रार्थिना गन्तव्यमिति दर्शितम्। स्त्रीपुंसयोस्तु बीजसाम्येऽपुमान्-नपुंसकं जायते। पुंस्त्रियाविति यमौ च। निःसारेऽल्पे चोभयोरेव बीजे गर्भस्यासम्भवः॥ ४९॥

निन्द्यास्वष्टासु चान्यासु स्त्रियो रात्रिषु वर्जयन्।
ब्रह्मचार्येव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन्॥ ५०॥

पूर्व निन्दित (३।४७) छः रात्रियों (प्रथम चार, ग्यारहवीं तथा तेरहवीं) को तथा अन्य किन्हीं आठ रात्रियोंको छोड़कर (पर्ववर्जित अर्थात् अमावास्या पूर्णिमादिको छोड़कर) शेष दो (६ + ८ = १४; १६ - १४ = २) रात्रियोंमें स्त्री–सम्भोग करता हुआ मनुष्य जिस किसी (वानप्रस्थ) आश्रममें निवास करता हुआ भी अखण्डित ब्रह्मचारी ही होता है ॥ ५० ॥

निन्द्यासु पूर्वोक्तासु षट्सु रात्रिषु अन्यासु च निन्द्यास्वपि यासु कासुचिदष्टासु स्त्रियो वर्जयन्द्वे रात्री अवशिष्टे पर्ववर्जिते व्रजन्नखण्डितब्रह्मचार्येव भवति। 'यत्र तत्राश्रमे वसन्नि'ति वानप्रस्थापेक्षया। तस्य हि भार्यया सह गमनपक्षे ऋतुगमनं प्रसक्तम्। न च वनस्थभार्याया ऋतुर्न भवतीति वाच्यम्, "वनं पञ्चाशतो व्रजेत्" इति,

वर्षैरेकगुणां भार्यामुद्वहेद्द्विगुणः पुमान्।

इत्यादिशास्त्रपर्यालोचनया तत्सम्भवात्।[1] मेधातिथिस्तु "यत्र तत्राश्रमे वसन्नित्यनुवादमात्रम्, गृहस्थेतराश्रमत्रये जितेन्द्रियत्वविधानाद्रात्रिद्वयाभ्यनुज्ञानासम्भवात्" इत्याह। गोविन्दराजस्तु "उत्पन्नविनष्टपुत्रस्याश्रमान्तरस्थस्यापीच्छया पुत्रार्थं रात्रिद्वयगमने दोषाभावप्रतिपादनार्थमेतत्, यत्र तत्राश्रमे वसन्निति वचनात्पुत्रार्थी संविशेदिति च प्रस्तुतत्वात्पुत्रस्य च महोपकारकत्वात्" इत्याह—

हन्त गोविन्दराजेन विशेषमविवृण्वता।
व्यक्तमङ्गीकृतस्मृतौ स्वदारसुरतं यतेः॥ ५०॥

न कन्यायाः पिता विद्वान्गृह्णीयाच्छुल्कमण्वपि।
गृह्णंश्छुल्कं हि लोभेन स्यान्नरोऽपत्यविक्रयी॥ ५१॥

वरसे धन लेनेमें दोषको जाननेवाला कन्याका पिता (वरसे या वरपक्षवालोंसे) थोड़ा भी धनादि (कन्यादानके निमित्त) न लेवे, क्योंकि लोभसे धनको ग्रहण करता हुआ मनुष्य सन्तान को वेचनेवाला होता है ॥ ५१ ॥

कन्यायाः पिता धनग्रहणदोषज्ञोऽल्पमपि धनं कन्यादाननिमित्तकं न गृह्णीयात्। यस्माल्लोभेन तद् गृह्णन्नपत्यविक्रयी भवति॥ ५१॥

स्त्रीधनानि तु ये मोहादुपजीवन्ति बान्धवाः।
नारी यानानि वस्त्रं वा ते पापा यान्त्यधोगतिम्॥ ५२॥

---

१. 'यत्र तत्राश्रमे वसन्' अर्थवादोऽयम्। न तु वानप्रस्थाद्याश्रमेषु रात्र्यभ्यनुज्ञा, जितेन्द्रियत्वविधानात्सर्वाश्रमेषु गृहस्थादन्येषु वीप्सायाश्चार्थवादतयाऽप्युपपत्तेः।

जो (पति या पति के पिता आदि) बान्धव स्त्रीके धन (स्त्री या पुत्रीको दिये गये), दास, सवारी, वस्त्र, आभूषणादि को मोहसे लेते हैं; वे पापी अधोगतिको जाते हैं ॥ ५२ ॥

कन्यादाननिमित्तकशुल्कग्रहणनिषेधप्रसङ्गान्नवमाध्यायाभिधेयस्त्रीधनग्रहणनिषेधोऽयम् ये बान्धवाः पतिपित्रादयः कलत्रदुहित्रादिधनानि गृह्णन्ति। नारी स्त्री, यानान्यश्वादीनि, वस्त्रं चेति प्रदर्शनार्थम्। सर्वमेव धनं न ग्राह्यम्। ते गृह्णानाः पापकारिणो नरकं गच्छन्ति ॥

आर्षे गोमिथुनं शुल्कं केचिदाहुर्मृषैव तत्।
अल्पोऽप्येवं महान्वाऽपि विक्रयस्तावदेव सः ॥ ५३ ॥

कोई आचार्य आर्ष विवाहमें गोमिथुन (एक गाय और एक बैल कन्यादान तथा यज्ञादिके वास्ते) लेनेको कहते हैं (३।२९), वह असत्य है, क्योंकि इस प्रकार थोड़ा या अधिक धन लेना विक्रय (कन्याका बेचना) ही है ॥ ५३ ॥

आर्षे विवाहे गोमिथुनं शुल्कं वराद् ग्राह्यमिति केचिदाचार्या वदन्ति तत्पुनरसत्यम्। यस्मादल्पमूल्यसाध्यत्वादल्पो वा भवतु, बहुमूल्यसाध्यत्वान्महान्वा भवतु, स तावद्विक्रयो भवत्येव। यत्पुनः "एकं गोमिथुनम्" (म. स्मृ. ३।२९) इति पूर्वमुक्तं तत्परमतमिति गोविन्दराजः, तदयुक्तम्। मनुमते लक्षणमार्षस्य न स्यादेव, वराद्गोमिथुनग्रहणपूर्वककन्यादानस्यैवार्षविवाहलक्षणत्वात्। मन्वभिमतमन्यदेवार्षलक्षणम्, एकं गोमिथुनमिति परमतमिति चेत् ?

एकं गोमिथुनं द्वे चेत्येतत्परमतं यदि।
तदा मनुमतेनार्षलक्षणं किं तदुच्यताम् ॥
अष्टौ विवाहान्कथयन्नार्षोढासन्ततेर्गुणान्।
मनुः किं स्वमतेनार्षलक्षणं वक्तुमक्षमः ॥

[1]मेधातिथिस्तु पूर्वापरविरोधोपन्यासनिरासमेव न कृतवान्। तस्मादस्माभिरित्थं व्याख्यायते—आर्षे विवाहे गोमिथुनं शुल्कमुत्कोचरूपमिति केचिदाचार्या वदन्ति। मनोस्तु मतं नेदम्, शास्त्रनियमितजातिसंख्याकंग्रहणं न शुल्करूपम्। शुल्कत्वे मूल्याल्पत्वमहत्त्वे अनुपयोगिनी, विक्रय एव तदा स्यात्। किन्त्वार्षविवाहसम्पत्त्यै अवश्यकर्तव्ययागादिसिद्धये कन्यायै वा दातुं शास्त्रीयं धर्मार्थमेव गृह्यते। अत एवार्षलक्षणश्लोके "वरादादाय धर्मतः" (म. स्मृ. ३।२९) इति। धर्मतः-धर्मार्थमिति तस्यार्थः। भोगलोभेन तु धनग्रहणं शुल्करूपमशास्त्रीयम्। अत एव "गृह्णन् शुल्कं हि लोभेन" (म. स्मृ. ३।५१) इति निन्दामुक्तवान्। तस्मात्पौर्वापर्यपर्यालोचनादार्षे धर्मार्थं गोमिथुनं ग्राह्यं न तु भोगार्थमिति मनुना स्वमतमनुवर्णितम् ॥

आर्षे गोमिथुनं शुल्कमित्युक्तं, इदानीं कन्यार्थमपि धनस्य दानं न शुल्कमित्याह—

यासां नाददते शुल्कं ज्ञातयो न स विक्रयः।
अर्हणं तत्कुमारीणामानृशंस्यं न केवलम् ॥ ५४ ॥

कन्याकी प्रीतिवास्ते वर (या वरपक्षवाले) से दिये गये धनको यदि कन्याके पिता या जातिवाले (स्वयं) नहीं लेते हैं (अपितु वह धन कन्याको ही दे देते हैं) तो वह (धनग्रहण) भी कन्याविक्रय नहीं है वह तो केवल उसपर दयामात्र है ॥ ५४ ॥

---

१. स्त्रीगवी च पुंगवश्च गोमिथुनम्। केचिदाहुरेतदादेयमिति। मनोस्तु मतं मृषैव तत्, मिथ्याऽनादेयमित्यर्थः। अल्पोऽप्येवं अल्पसाधनोऽल्पः एवं महान्भवति तावानेव विक्रयः।

यासां कन्यानां प्रीत्या वरेण दीयमानं धनं पित्रादयो न गृह्णन्ति किन्तु कन्यायै समर्पयन्ति, सोऽपि न विक्रयः यस्मात्कुमारीणां पूजनं तदानृशंस्यमहिंसकत्वं केवलं तदनुकम्पारूपम् ॥ ५४ ॥

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा ।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः ॥ ५५ ॥

अपना कल्याण चाहनेवाले कन्याके पिता, भाई, पति और देवरको चाहिये कि वे सदा (विवाहके बाद भी) कन्याका पूजन (आदर-सत्कार) करें तथा वस्त्राभूषणोंसे उसे अलङ्कृत करें ॥ ५५ ॥

न केवलं विवाहकाले वरेण दत्तं धनं समर्पणीयं, किन्तु तदुत्तरकालमपि पित्रादिभिरप्येता भोजनादिना पूजयितव्या वस्त्रालङ्कारादिना भूषयितव्याश्च बहुधनादिसम्पदं प्राप्तुकामैः ॥

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः ॥ ५६ ॥

जिस कुलमें स्त्रियोंकी पूजा (वस्त्र, भूषण तथा मधुर वचनादि द्वारा आदर-सत्कार) होती है, उस कुलपर देवता प्रसन्न होते हैं और जिस कुलमें इन (स्त्रियों) की पूजा नहीं होती उस कुलमें सब कर्म निष्फल होते हैं (अत एव स्त्रियोंका अनादर कभी नहीं करना चाहिये (॥ ५६ ॥

यत्र कुले पित्रादिभिः स्त्रियः पूज्यन्ते, तत्र देवताः प्रसीदन्ति । यत्र पुनरेता न पूज्यन्ते, तत्र देवताप्रसादाभावाद्यागादिक्रियाः सर्वा निष्फला भवन्तीति निन्दार्थवादः ॥ ५६ ॥

शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम् ।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्धते तद्धि सर्वदा ॥ ५७ ॥

जिस कुलमें जामि (स्त्री, पुत्रवधू , बहन भानजी, कन्या आदि) शोक करती हैं, वह कुल शीघ्र ही नष्ट हो जाता है और जिस कुलमें शोक नहीं करतीं (प्रसन्न रहती हैं' वह कुल सर्वदा उन्नति करता है ॥ ५७ ॥

"जामिः स्वसृकुलस्त्रियोः" इत्याभिधानिकाः (अमरकोशे नानार्थः, श्लो. १४२) । यस्मिन्कुले भगिनीगृहपतिसंवर्धनीयसन्निहितसपिण्डस्त्रियश्च पत्नीदुहितृस्नुषाद्याः परितापादिना दुःखिन्यो भवन्ति तत्कुलं शीघ्रं निर्धनीभवति दैवराजादिना च पीड्यते । यत्रैता न शोचन्ति तद्धनादिना नित्यं वृद्धिमेति । मेधातिथिगोविन्दराजौ तु "नवोढादुहितृस्नुषाद्या जामयः" इत्याहतुः ॥ ५७ ॥

जामयो यानि गेहानि शपन्त्यप्रतिपूजिताः ।
तानि कृत्याहतानीव विनश्यन्ति समन्ततः ॥ ५८ ॥

जिस गृह को ये जामियां (स्त्री, पुत्रवधू , बहन, भानजी कन्या आदि) अनादर पाकर शाप देती हैं, वह गृह कृत्या (अभिचारकर्म मारण, मोहन, उच्चाटनादि) से हतके समान सब ओरसे (धन, धान्य, परिवार आदिके सहित) नष्ट हो जाता है ॥ ५८ ॥

यानि गेहानि भगिनीपत्नीदुहितृस्नुषाद्या अपूजिताः सत्योऽभिशपन्ति "इदमनिष्टमेषामस्तु" इति, तान्यभिचारहतानि धनपश्वादिसहितानि नश्यन्ति ॥ ५८ ॥

तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः ।
भूतिकामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च ॥ ५९ ॥

इस कारण उन्नति चाहनेवाले मनुष्योंको (कौमुदी आदि) सत्कार तथा (यज्ञोपवीत आदि) उत्सवोंके अवसरोंपर इन स्त्रियों का वस्त्र, भूषण और भोजनादि से विशेष आदर-सत्कार करना चाहिये ॥ ५९ ॥

यस्मादेवं तस्मात्कारणादेता भूषणाच्छादनाशनैर्नित्यं सत्कारेषु कौमुद्यादिषु, उत्सवेषूपनयनादिषु आभ्युदयिकेषु समृद्धिकामैर्नृभिः सदा पूजनीयाः ॥ ५९ ॥

सन्तुष्टो भार्यया भर्ता भर्त्रा भार्या तथैव च ।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥ ६० ॥

जिस कुलमें स्त्रीसे पति तथा पतिसे स्त्री सन्तुष्ट रहती है, उस कुलमें अवश्य ही सर्वदा कल्याण होता है ॥ ६० ॥

भार्यया भर्त्रा इति हेतौ तृतीया। यत्र कुले भार्यया भर्ता प्रीतो भवति–स्त्र्यन्तराभिलाषादिकं न करोति, भार्या च स्वामिना प्रीता भवति, तस्मिन्कुले चिरं श्रेयो भवति। कुलग्रहणान्न केवलं भार्यापती एव, पुत्रपौत्रादिसन्ततिरपि श्रेयोभागिनी भवति ॥ ६० ॥

यदि हि स्त्री न रोचेत पुमांसं न प्रमोदयेत् ।
अप्रमोदात्पुनः पुंसः प्रजनं न प्रवर्तते ॥ ६१ ॥
[यदा भर्ता च भार्या च परस्परवशानुगौ ।
तदा धर्मार्थकामानां त्रयाणामपि सङ्गतम् ॥ २ ॥]

यदि स्त्री वस्त्राभूषण आदिसे रुचिकर नहीं होती है तो वह पतिको आनन्दित नहीं करती और हर्षित नहीं होनेसे वह पति गर्भाधान करनेमें प्रवृत्त (समर्थ) नहीं होता है ॥ ६१ ॥

[जब पति और स्त्री परस्पर वशीभूत होकर एक दूसरेका अनुगामी होते हैं; तब (उस घरमें), धर्म, अर्थ और काम (ये तीनों ही पुरुषार्थ) एकतित्र हो जाते हैं ॥ २ ॥]

दीप्त्यर्थोऽत्र रुचिः । यदि स्त्री वस्त्राभरणादिना शोभाजनकेन दीप्तिमति न स्यात्तदा स्वामिनं पुनर्न हर्षयेदेव । हिशब्दोऽवधारणे । अप्रहर्षात्पुनः स्वामिनः प्रजनं गर्भधारणं न सम्पद्यते ॥ ६१ ॥

स्त्रियां तु रोचमानायां सर्वं तद्रोचते कुलम् ।
तस्यां त्वरोचमानायां सर्वमेव न रोचते ॥ ६२ ॥

वस्त्र-भूषणादिके द्वारा स्त्रीके प्रसन्न रहनेपर वह सम्पूर्ण कुल (पत्नीकी सन्तुष्टताके कारण परपुरुष का सम्बन्ध नहीं होनेसे) सुशोभित होता है तथा उस (स्त्री) के (वस्त्र-भूषणादिसे) प्रसन्न नहीं रहनेपर वह सम्पूर्ण कुल (पत्नीके प्रसन्न नहीं रहनेके कारण परपुरुष संसर्ग आदिसे) मलिन हो जाता है ॥ ६२ ॥

स्त्रियां मण्डनादिना कान्तिमत्यां भर्तृस्नेहविषयतया परपुरुषसंपर्कविरहात्तत्कुलं दीप्तं भवति। तस्यां पुनररोचमानायां भर्तृविद्विष्टतया नरान्तरसंपर्कात्सकलमेव कुलं मलिनं भवति ॥ ६२ ॥

कुविवाहैः क्रियालोपैर्वेदानध्ययनेन च ।
कुलान्यकुलतां यान्ति ब्राह्मणातिक्रमेण च ॥ ६३ ॥

('आसुर' आदि) शास्त्रनिन्दित विवाहोंसे, जातकर्मादि संस्कारोंके लोप होने (नहीं करने) से वेदाध्ययन छोड़ देनेसे, और ब्राह्मणोंके अतिक्रमण (आदर, सत्कार नहीं) करनेसे श्रेष्ठ कुल भी नीच हो जाता है ॥ ६३ ॥

आसुरादिविवाहैर्यथावर्णनिषिद्धैर्जातकर्मादिक्रियालोपैर्वेदापाठेन ब्राह्मणापूजनेन प्रख्यातकुलान्यपकर्षं गच्छन्ति ॥ ६३ ॥

शिल्पेन व्यवहारेण शूद्रापत्यैश्च केवलैः ।
गोभिरश्वैश्च यानैश्च कृष्या राजोपसेवया ॥ ६४ ॥

चित्रकारी आदि शिल्पकलासे, धनका (व्याज आदि पर) व्यवहार करनेसे, केवल शूद्रा (शूद्रवर्णोत्पन्न स्त्री) की सन्तानसे; गौ, घोड़ा, रथ, हाथी आदिके भी (खरीदने-बेचनेका व्यापार) करनेसे, खेतीसे, राजाकी नौकरीसे—॥ ६४ ॥

चित्रकर्मादिशिल्पेन कलया धनप्रयोगात्मकव्यवहारेण केवलशूद्रापत्येन गवाश्वरथक्रयविक्रयादिना कृषिराजसेवाभ्यां कुलानि विनश्यन्तीत्युत्तरेण सम्बन्धः ॥ ६४ ॥

अयाज्ययाजनैश्चैव नास्तिक्येन च कर्मणाम् ।
कुलान्याशु विनश्यन्ति यान्ति हीनानि मन्त्रतः ॥ ६५ ॥

—यज्ञ करनेके अनधिकारियों (पतित, शूद्रादि) को यज्ञ करानेसे, श्रौतस्मार्त कर्मोंमें नास्तिक्य (वेद-स्मृति-प्रतिपादित यज्ञादि कर्मोंमें विश्वास नहीं करने) से और वेद-मन्त्र-हीन होने से अच्छे कुल भी शीघ्र नष्ट हो जाते हैं ॥ ६५ ॥

अयाज्यव्रात्यादियाजनैः, कर्मणाम्-श्रौतस्मार्तादीनां नास्तिक्येन "शास्त्रीयफलवत्कर्मसु फलाभावबुद्धिर्नास्तिक्यम्" । वेदाध्ययनशून्यानि कुलानि क्षिप्रमपकर्षं गच्छन्ति । अत्र च विवाहप्रकरणे विवाहनिन्दाप्रसङ्गेन क्रियालोपादयो निन्दिताः । निन्दया चैतन्न कर्तव्यमिति सर्वत्र निषेधः कल्प्यते ॥ ६५ ॥

इदानीं क्रियालोपादिगतप्रासङ्गिककुलनिन्दानुप्रसक्त्या कुलोत्कर्षमाह—

मन्त्रतस्तु समृद्धानि कुलान्यल्पधनान्यपि ।
कुलसंख्यां च गच्छन्ति कर्षन्ति च महद्यशः ॥ ६६ ॥

वेद-मन्त्रोंसे (अर्थ-सहित वेदमन्त्रोंके पठन-पाठनसे) उन्नत, थोड़े धनवाले भी कुल श्रेष्ठ कुलोंकी गणनामें माने जाते हैं और बहुत प्रसिद्धिको प्राप्त करते हैं ॥ ६६ ॥

यद्यपि "धनेन कुलम्" इति लोके प्रसिद्धं तथाप्यल्पधनान्यपि कुलानि वेदाध्ययनतदर्थज्ञानानुष्ठानप्रसक्तान्युत्कृष्टकुलगणनायां गण्यन्ते, महतीं च ख्यातिमर्जयन्ति ॥ ६६ ॥

विवाहप्रकरणमतिक्रान्तम् । इदानीं वैवाहिकाग्नौ सम्पाद्यं महायज्ञविधानं चेति वक्तव्यतया प्रतिज्ञातं महायज्ञानुष्ठानमाह—

वैवाहिकेऽग्नौ कुर्वीत गृह्यं कर्म यथाविधि ।
पञ्चयज्ञविधानं च पक्तिं चान्वाहिकीं गृही ॥ ६७ ॥

(अब वैवाहिक कर्मका वर्णन समाप्त कर गृहस्थके लिये कर्तव्य पञ्चमहायज्ञादियोंमें, से पञ्चमहायज्ञकी कर्तव्यताको प्रथम कहते हैं—गृहस्थाश्रमीको चाहिये कि वह) विवाह-समयकी अग्निमें विधिपूर्वक गृह्यकर्म (प्रातः-सायं हवन आदि कर्म), पञ्चमहायज्ञ (३ । ७०) और (प्रतिदिन कार्यमें आनेवाला) पाक भी उसी अग्निसे करे ॥ ६७ ॥

विवाहे भवो वैवाहिकः, अध्यात्मादित्वाट्ठञ् । तस्मिन्नग्नौ गृह्योक्तं कर्म सायंप्रातर्होमाष्टकादि यथाशास्त्रमग्निसम्पाद्यं च पञ्चमहायज्ञान्तर्गतवैश्वदेवाद्यनुष्ठानं प्रतिदिनसम्पाद्यं च पाकं गृहस्थः कुर्यात् ॥ ६७ ॥

पञ्च सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः ।
कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन् ॥ ६८ ॥

गृहस्थके लिये चुल्ही, चक्की (जांता), झाड़ू , ओखली-मुसल और जलका घट—ये पाँच पापके स्थान हैं; इन्हें व्यवहृत करता हुआ गृहस्थ पापसे बंधता (पापभागी होता) है ॥ ६८ ॥

पशुवधस्थानं सूना । सूना इव सूना हिंसास्थानगुणयोगाच्चुल्ल्यादयः पञ्च गृहस्थस्य हिंसाबीजानि हिंसास्थानानि। चुल्ली–उद्धाहनी, पेषणी–दृषदुपलात्मिका, उपस्करः–गृहोपकरणकुण्डसंमार्जन्यादिः, कण्डनी–उलूखलमुसले, उदकुम्भः–जलाधारकलशः । याः स्वकार्ये योजयन्पापेन सम्बध्यते ॥ ६८ ॥

तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः ।
पञ्च क्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम् ॥ ६९ ॥

उन सबों (३ । ६८ में उक्त पञ्चपापों) की निवृत्तिके लिये महर्षियोंने पञ्चमहायज्ञ करनेका विधान गृहस्थाश्रमियोंके लिये बतलाया है ॥ ६९ ॥

तासां चुल्ल्यादिस्थानानां यथाक्रमं निष्कृत्यर्थम्–उत्पन्नपापनाशार्थं गृहस्थानां पञ्चमहायज्ञाः प्रतिदिनं मन्वादिभिरनुष्ठेयतया स्मृताः ।एवं च निष्कृत्यर्थमित्यभिधानाद्धिंसास्थानत्वेन च कीर्तनात् "सूनादोषैर्न लिप्यते" (म. स्मृ. ३ । ७१) इति वक्ष्यमाणत्वात्पञ्चसूनानां पापहेतुकत्वम्, पञ्चयज्ञानां च तत्पापनाशकत्वमवगम्यते । प्रत्यहमित्यभिधानात्प्रतिदिनं तत्पापक्षयस्यापेक्षितत्वात्संध्यावन्दनादिवन्नित्यत्वमपि न विरुध्यते ॥ ६९ ॥

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥ ७० ॥

वेदका अध्ययन और अध्यापन करना 'ब्रह्मयज्ञ' है, तर्पण करना 'पितृयज्ञ' है, हवन करना 'देवयज्ञ' है, बलिवैश्वदेव करना 'भूतयज्ञ' है तथा अतिथियोंको भोजन आदिसे सत्कार करना 'नृयज्ञ' है ॥ ७० ॥

अध्यापनशब्देनाध्ययनमपि गृह्यते "जपोऽहुतः" (म.स्मृ.३।७४) इति वक्ष्यमाणत्वात् । अतोऽध्यापनमध्ययनं च ब्रह्मयज्ञः । "अन्नाद्येनोदकेन वा" (म.स्मृ. ३।८२) इति तर्पणं वक्ष्यति, स पितृयज्ञः । अग्नौ होमो वक्ष्यमाणो देवयज्ञः । भूतबलिर्भूतयज्ञः । अतिथिपूजनं मनुष्ययज्ञः। अध्यापनादिषु यज्ञशब्दो महच्छब्दश्च स्तुत्यर्थं गौणः ॥ ७० ॥

पञ्चैतान्यो महायज्ञान्न हापयति शक्तितः ।
स गृहेऽपि वसन्नित्यं सूनादोषैर्न लिप्यते ॥ ७१ ॥

यथाशक्ति इन पञ्चमहायज्ञों (३ । ७०) को नहीं छोड़नेवाला गृहस्थाश्रममें रहता हुआ भी द्विज 'पञ्चसूना' ('पांचपाप' ३।६८) के दोषों से युक्त नहीं होता है ॥ ७१ ॥

शक्तित इत्येतद्विधानार्थोऽयमनुवादः । अनुकल्पेनापि यथासम्भवमेते कर्तव्याः । हापयतीति प्रकृत्यर्थ एव छान्दसत्वाण्णिच् । जहातीत्यर्थः ॥ ७१ ॥

देवताऽतिथिभृत्यानां पितृणामात्मनश्च यः ।
न निर्वपति पञ्चानामुच्छ्वसन्न स जीवति ॥ ७२ ॥

जो गृहस्थाश्रमी देवताओं (तथा भूतों), अतिथियों, माता-पिता आदि वृद्धजनों (तथा सेवकों), पितरों और अपनेको अन्नादिसे सन्तुष्ट नहीं करता है, वह श्वास लेता हुआ भी नहीं जीता है (मरे हुए के समान है) ॥ ७२ ॥

देवताशब्देन भूतानामपि ग्रहणम्, तेषामपि बलिहरणे देवतारूपत्वात् । भृत्या वृद्धमातापित्रादयोऽवश्यं संवर्धनीयाः । "सर्वत एवात्मानं गोपायेत्" इति श्रुत्या आत्मपोषणमप्यवश्यं कर्तव्यम् । देवतादीनां पञ्चानां योऽन्नं न ददाति स उच्छ्वसन्नपि जीवितकार्याकरणान्न जीवतीति निन्दयाऽवश्यकर्तव्यता बोध्यते ॥ ७२ ॥

अहुतं च हुतं चैव तथा प्रहुतमेव च ।
ब्राह्म्यं हुतं प्राशितं च पञ्चयज्ञान्प्रचक्षते ॥ ७३ ॥

अहुत, हुत, प्रहुत, ब्राह्महुत और प्राशित—इन्हें अन्य मुनिलोग 'पञ्चमहायज्ञ' कहते हैं ॥ ७३ ॥

नामभेदेऽपि वाक्यभेद इति दर्शयितुं पञ्चमहायज्ञानां मुन्यन्तरकृतान्यहुतादीनि संज्ञान्तराण्यभिधेयानि ॥ ७३ ॥

तानि स्वयं व्याचष्टे—

जपोऽहुतो हुतो होमः प्रहुतो भौतिको बलिः ।
ब्राह्म्यं हुतं द्विजाग्र्यार्चा प्राशितं पितृतर्पणम् ॥ ७४ ॥

जप करना 'अहुत', हवन करना 'हुत', भूतबलि देना 'प्रहुत', ब्राह्मणपूजा करना 'ब्राह्म्यहुत' और पितृतर्पण करना 'प्राशित' कहा गया है ॥ ७४ ॥

अहुतशब्देन ब्रह्मयज्ञाख्यो जप उच्यते । हुतशब्देन देवयज्ञाख्यो होमः । प्रहुतशब्देन भूतयज्ञाख्यो भूतबलिः । ब्राह्म्यहुतशब्देन मनुष्ययज्ञाख्या ब्राह्मणश्रेष्ठस्यार्चा । प्राशितशब्देन पितृयज्ञाख्यं नित्यश्राद्धम् ॥ ७४ ॥

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दैवे चैवेह कर्मणि ।
दैवकर्मणि युक्तो हि बिभर्तीदं चराचरम् ॥ ७५ ॥

(निर्धनता आदिके कारण) अतिथि-भोजन आदि करानेमें असमर्थ द्विजको इस संसारमें स्वाध्याय (ब्रह्मयज्ञरूप वेदपाठ) और देवकर्म (हवन) अवश्य करना चाहिये; क्योंकि दैव-कर्म (हवन) करता हुआ द्विज इस चराचर जगतको धारण (पोषण) करता है ॥ ७५ ॥

यदि दारिद्र्यादिदोषेणातिथिभोजनादिकं कर्तुं न लभते, तदा ब्रह्मयज्ञे नित्ययुक्तो भवेत् । दैवे कर्मण्यग्नौ होमे च । होमस्य स्तुतिमाह–यतो दैवकर्मपर इदं स्थावरजङ्गमं धारयति ॥ ७५ ॥

कुत एतदित्याह—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥ ७६ ॥

विधिपूर्वक अग्निमें छोड़ी हुई आहुति सूर्यको प्राप्त करती है, सूर्यसे वृष्टि, वृष्टि से अन्न और अन्नसे प्रजायें होती हैं (इस प्रकार प्रजाओंकी उत्पत्तिका मूल कारण हवन ही है, अतः प्रतिदिन विधिपूर्वक हवन करना चाहिये) ॥ ७६ ॥

यजमानेनाग्नावाहुतिः सम्यक् क्षिप्ता रसाहरणकारित्वादादित्यस्य आदित्यं प्राप्नोति। स चाहुतिरस आदित्याद् वृष्टिरूपेण जायते। ततोऽन्नम्। तदुपभोगेन जायन्ते प्रजाः ॥७६॥

यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः ॥ ७७ ॥

जिस प्रकार प्राण-वायुका आश्रय कर सब जीव जीते हैं, उसी प्रकार गृहस्थका आश्रयकर सभी आश्रम (ब्रह्मचर्याश्रम, वानप्रस्थाश्रम तथा संन्यासाश्रम) चलते हैं ॥ ७७ ॥

यथा प्राणाख्यवाय्वाश्रयेण सर्वप्राणिनो जीवन्ति, तथा गृहस्थाश्रमेण सर्वाश्रमिणो निर्वहन्ति ॥ ७७ ॥

गृहस्थः प्राणतुल्यः सर्वाश्रमिणामित्युक्तम् , तदेवोपपादयति—

यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम्।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥ ७८ ॥

जिस कारणसे तीनों आश्रम (ब्रह्मचर्याश्रम, वानप्रस्थाश्रम और संन्यासाश्रम) वाले गृहस्थाश्रमोंसे ही ज्ञान (वेदाध्ययन) तथा अन्नको प्राप्त करते हैं, इस कारण गृहस्थाश्रमी ही सबसे श्रेष्ठ है ॥ ७८ ॥

यस्माद् गृहस्थव्यतिरिक्तास्त्रयोऽप्याश्रमिणो वेदार्थव्याख्यानान्नदानाभ्यां नित्यं गृहस्थैरेवोपक्रियन्ते, तस्मात् ज्येष्ठाश्रमो गृहस्थः। ज्येष्ठ आश्रमो यस्य स तथेति बहुव्रीहिः ॥ ७८ ॥

स सन्धार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता।
सुखं चेहेच्छता नित्यं योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः ॥ ७९ ॥

अक्षय स्वर्ग तथा ऐहिक सुख (इस लोकमें होनेवाला स्त्री-सम्भोग एवं धनादि ऐश्वर्य भोगरूप सुखं) चाहने वाला मनुष्य को प्रयत्नपूर्वक गृहस्थाश्रमका आश्रय करना चाहिये, दुर्बल (अस्थिर मन आदि) इन्द्रियवाले व्यक्तिके द्वारा यह गृहस्थाश्रम धारण करने योग्य नहीं है ॥ ७९ ॥

यत एवमतः स गृहस्थाश्रमः स्वर्गसुखमिच्छता अनन्तमिव चिरस्थायित्वात् , इह लोके च स्त्रीसम्भोगस्वाद्वन्नादिभोजनसुखं सन्ततमिच्छता प्रयत्नेनानुष्ठेयः। योऽसंयतेन्द्रियैर्धारयितुं न शक्यते। ७९ ॥

ऋषयः पितरो देवा भूतान्यतिथयस्तथा।
आशासते कुटुम्बिभ्यस्तेभ्यः कार्यं विजानता ॥ ८० ॥

ऋषि, पितर (पूर्वज), देवता, भूत और अतिथि—ये लोग गृहस्थसे अपनी सन्तुष्टिकी) आशा रखते हैं, अतः शास्त्रज्ञानीको उनके लिये यह (३। ८१) करना चाहिये ॥ ८० ॥

एते गृहस्थेभ्यः सकाशात्प्रार्थयन्ते। अतः शास्त्रज्ञेन तेभ्यः कर्तव्यम् ॥ ८० ॥

किं तत्तदाह—

स्वाध्यायेनार्चयेतर्षीन्होमैर्देवान्यथाविधि।
पितॄन्श्राद्धैश्च नॄनन्नैर्भूतानि बलिकर्मणा ॥ ८१ ॥

वेदपाठसे ऋषियोंकी, विधिपूर्वक हवनसे देवताओंकी, श्राद्धोंसे पितरोंकी, अन्नसे मनुष्यों (अतिथियों) की और बलिकर्मसे भूतोंकी पूजा (तृप्ति-सन्तुष्टि) करनी चाहिये ॥ ८१ ॥

नानाप्रकारस्त्वादर्चनस्य स्वाध्यायादेरर्चनार्थत्वमुचितम् । महायज्ञान्तर्गतैः स्वाध्याया-दिभिः ऋषिदेवपित्रतिथिभूतानि यथाशास्त्रं पूजयेत् ॥ ८१ ॥

कुर्यादहरहः श्राद्धमन्नाद्येनोदकेन वा ।
पयोमूलफलैर्वाऽपि पितृभ्यः प्रीतिमावहन् ॥ ८२ ॥

(गृहस्थाश्रमी) अन्नादि (तिल, व्रीहि, धान्य), से या जलसे दूध, मूल और फलोंसे पितरों कों सन्तुष्ट करता हुआ (यथासम्भव) प्रतिदिन श्राद्ध करे ॥ ८२ ॥

प्रत्यहं यथासम्भवं श्राद्धं कुर्यात् । श्राद्धशब्दोऽयं कमविधिवाक्यवर्ती कौण्डपायिनाम-यनीयाग्निहोत्रशब्दवद्वक्ष्यमाणपार्वणश्राद्धधर्मातिदेशार्थः । अन्नाद्येनेति तिलैर्व्रीहिभिर्यवै-रित्यादेरुपादानम् । पयः—क्षीरम् ॥ ८२ ॥

एकमप्याशयेद्विप्रं पित्रर्थे पाञ्चयज्ञिके ।
न चैवात्राशयेत्कञ्चिद्वैश्वदेवं प्रति द्विजम् ॥ ८३ ॥

पञ्चयज्ञमें पितरोंके उद्देश्यसे (अधिक सम्भव नहीं होने पर कमसे कम) एक भी ब्राह्मणको भोजन करावे, वैश्वदेवके उद्देश्यसे ब्राह्मणको भोजन नहीं भी करावे (तो कोई हानि नहीं) ॥ ८३ ॥

पितृप्रयोजने पञ्चयज्ञान्तर्गते एकमपि ब्राह्मणं भोजयेत् । अपिशब्दात्सम्भवे बहूनपि । पार्वणधर्मग्रहणाच्च वैश्वदेवब्राह्मणभोजनप्राप्तावाह- न कञ्चिद्वैश्वदेवार्थं ब्राह्मणमत्र भोजयेत् ॥

वैश्वदेवस्य सिद्धस्य गृह्येऽग्नौ विधिपूर्वकम् ।
आभ्यः कुर्याद्देवताभ्यो ब्राह्मणो होममन्वहम् ॥ ८४ ॥

ब्राह्मण (यहां 'ब्राह्मण' शब्दसे द्विजमात्र विवक्षित है) गार्हस्थ्य अग्निमें सिद्ध (पकाये हुए) वैश्वदेव (सर्वदेवके निमित्त) अन्नका विधिपूर्वक प्रतिदिन (३ । ८५-८६ में वक्ष्यमाण) देव-ताओंके उद्देश्यसे हवन करे—॥ ८४ ॥

विश्वदेवार्थः सर्वदेवार्थो वैश्वदेवस्तस्य पक्वस्यान्नस्यावसथ्याग्नौ स्वगृह्यविहितपर्युक्षणा-दीतिकर्तव्यतापूर्वकमाभ्यो वक्ष्यमाणदेवताभ्यो ब्राह्मणः प्रत्यहं होमं कुर्यात् । ब्राह्मणग्रहणं द्विजातिप्रदर्शनार्थम् , त्रयाणां प्रकृतत्वात् ॥ ८४ ॥

अग्नेः सोमस्य चैवादौ तयोश्चैव समस्तयोः ।
विश्वेभ्यश्चैव देवेभ्यो धन्वन्तरय एव च ॥ ८५ ॥

—पहले अग्निके उद्देश्यसे, फिर सोमके उद्देश्यसे, फिर सम्मिलित उन दोनों (अग्नि और सोम) के उद्देश्यसे, फिर धन्वन्तरिके उद्देश्यसे—॥ ८५ ॥

वचनद्वयम् "स्वाहाकारप्रदानहोमः" इति कात्यायनस्मरणादादावग्नये स्वाहा सोमाय स्वाहेति निरपेक्षदेवताकं होमद्वयं कृत्वा, अग्नीषोमाभ्यां स्वाहेति समस्तदेवताकं होमं कुर्यात् । ततो विश्वेभ्यो देवेभ्यो, धन्वन्तरये ॥ ८५ ॥

कुह्वै चैवानुमत्यै च प्रजापतय एव च ।
सह द्यावापृथिव्योश्च तथा स्विष्टकृतेऽन्ततः ॥ ८६ ॥

—फिर क्रमशः कुहू , अनुमति, प्रजापति, द्यावापृथवीके उद्देश्यसे और अन्तमें स्विष्टकृतके उद्देश्यसे हवन करे ॥ ८६ ॥

कुह्वा अनुमत्यै प्रजापतये द्यावापृथिवीभ्यामग्नये स्विष्टकृत इत्येवं स्वाहाकारान्तान्होमान्कुर्यात्। श्रुत्यन्तरेऽप्यग्निविशेषणत्वेन स्विष्टकृतो विधानात्केवलं स्विष्टकृन्निर्देशेऽप्यग्निविशेषणत्वेनैव प्रयोगः। पाठादेवान्तत्वे सिद्धे स्विष्टकृतेऽन्तत इत्यभिधानं स्मृत्यन्तरीयहोमसमुच्चयेऽप्यन्तत्वज्ञानपनार्थम् ॥ ८६ ॥

एवं सम्यग्घविर्हुत्वा सर्वदिक्षु प्रदक्षिणम्।
इन्द्रान्तकाप्पतीन्दुभ्यः सानुगेभ्यो बलिं हरेत् ॥ ८७ ॥

इस तरह सम्यक् प्रकार (देवताओं का ध्यान करते हुए अनन्यचित्त होकर) हवनकर पुरुषोंके सहित 'इन्द्र, अन्तक (यम), अप्पति (वरुण) और इन्दु (सोम)' के लिये पूर्वादि दिशाओं में प्रदक्षिण क्रमसे (पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर—इस क्रमसे) बलि दे—॥ ८७ ॥

एवमुक्तप्रकारेण सम्यगनन्यचित्तो देवताध्यानपर एव होमान्कृत्वा, सर्वासु प्राच्यादिषु दिक्षु प्रदक्षिणमिन्द्रादिभ्यः सपुरुषेभ्यो बलिं हरेत्। यथा-प्राच्यामिन्द्राय नमः, इन्द्रपुरुषेभ्यो नमः। दक्षिणस्यां यमाय नमः, यमपुरुषेभ्यो नमः। पश्चिमायां वरुणाय नमः, वरुणपुरुषेभ्यो नमः। उत्तरस्यां सोमाय नमः, सोमपुरुषेभ्यो नमः। यद्यपि शब्दावगम्यत्वाद्देवतात्वस्यान्तकाप्पतीन्दुशब्दैरेवोद्देशो युक्तस्तथापि बह्वृचानुष्ठानसंवादाद्बह्वृचगृह्ये च "यमाय यमपुरुषेभ्यो वरुणाय वरुणपुरुषेभ्यः सोमाय सोमपुरुषेभ्य इति प्रतिदिशम्" (अ. १ खं. २) इति पाठाद्यथोक्त एव प्रयोगः ॥ ८७ ॥

मरुद्भ्य इति तु द्वारि क्षिपेदप्स्वद्भ्य इत्यपि।
वनस्पतिभ्य इत्येवं मुसलोलूखले हरेत् ॥ ८८ ॥

—द्वारपर मरुत (वायु) के लिये, जलमें अप् (जल) के लिये, ओखलि—मूसलपर वनस्पतियोंके लिये (बलि) दे—॥ ८८ ॥

इतिशब्दः स्वरूपविवक्षार्थः। मरुद्भ्यो नमः इति द्वारे बलिं दद्यात्, जलेऽद्भ्य इति। मुसलोलूखल इति द्वन्द्वनिर्देशात्सहयुक्तयोरन्यतरत्र वनस्पतिभ्य इति बलिं दद्यात्। गुणानुरोधेन प्रधानबलिकर्मावृत्तेरन्याय्यत्वात् ॥ ८८ ॥

उच्छीर्षके श्रियै कुर्याद् भद्रकाल्यै च पादतः।
ब्रह्मवास्तोष्पतिभ्यां तु वास्तुमध्ये बलिं हरेत् ॥ ८९ ॥

—वास्तुपुरुषके मस्तकप्रदेशपर उत्तरपूर्व (ईशान कोण) में श्रीके लिये, उसी (वास्तुपुरुष) के पैरकी ओर दक्षिण-पश्चिम (नैर्ऋत्य कोण) में भद्रकालीके लिये, मध्यमें ब्रह्मा तथा वास्तोष्पतिके लिये बलि दे ॥ ८९ ॥

वास्तुपुरुषस्य शिरःप्रदेश उत्तरपूर्वस्यां दिशि श्रिये बलिं दद्यात्। तस्यैव पाददेशे दक्षिणपश्चिमायां दिशि भद्रकाल्यै। अन्ये तु उच्छीर्षकं गृहस्थशयनस्य शिरःस्थानभूभागम्, पादत इति तस्यैव चरणभूप्रदेशमाहुः। ब्रह्मणे वास्तोष्पतय इति गृहमध्ये। द्वन्द्वनिर्देशेऽपि ब्रह्मवास्तोष्पत्योः पृथगेव देवतात्वम्। यत्र द्वन्द्वे मिलितस्य देवतात्वमपेक्षितम्, तत्र सहादिशब्दं करोति। यथा सह द्यावापृथिव्योश्चेति ॥ ८९ ॥

विश्वेभ्यश्चैव देवेभ्यो बलिमाकाश उत्क्षिपेत्।
दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नक्तञ्चारिभ्य एव च ॥ ९० ॥

—गृहके ऊपर (आकाश) की ओर विश्वेदेवोंके लिये, दिवाचर (दिनमें विचरण करनेवाले) जीवोंके लिये तथा नक्तञ्चारि (रात्रिमें विचरण करनेवाले) जीवके लिये बलि दे—॥ ९० ॥

विश्वेभ्यश्चैव देवेभ्य इति शब्दादेकेयमाहुतिः। विश्वेभ्यो देवेभ्यो नम इति गृहाकाशे बलिं दद्यात्। दिवाचरेभ्यो भूतेभ्य इति दिवा, नक्तञ्चारिभ्य इति नक्तम्। "दिवाचारिभ्यो दिवा" (अ. १ खं. २) इत्यादिबह्वृचगृह्यदर्शनादियं व्यवस्था ॥ ९० ॥

पृष्ठवास्तुनि कुर्वीत बलिं सर्वात्मभूतये।
पितृभ्यो बलिशेषं तु सर्वं दक्षिणतो हरेत् ॥ ९१ ॥

—मकानके ऊपरी छतपर या बलि देनेवाले की पीछेकी तरफ भूमिपर सर्वात्मक जीवके लिये बलि देवे तथा (इन बलियोंको देनेके बाद) बचे हुए सब अन्नको दक्षिण दिशामें पितरोंके लिये स्वधा बलि देवे ॥ ९१ ॥

गृहस्योपरि यद् गृहं तत्पृष्ठवास्तु बलिदातुः पृष्ठदेशे, भूभागे वा तत्र सर्वात्मभूतये नम इत्येव बलिं दद्यात्। उक्तबलिदानावशिष्टं सर्वमन्नं दक्षिणस्यां दिशि दक्षिणामुखः स्वधापितृभ्य इति बलिं हरेत्। प्राचीनावीतिना चायं बलिर्देयः। "स्वधा पितृभ्य इति प्राचीनावीती शेषं दक्षिणा निनयेत्" (अ. १ खं. २) इति बह्वृचगृह्यवचनात् ॥ ९१ ॥

शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम्।
वायसानां कृमीणां च शनकैर्निर्वपेद् भुवि ॥ ९२ ॥

शेष अन्नको पात्रसे निकालकर, कुत्ता, पतित, चण्डाल, पापजन्य (कुष्ठ या यक्ष्मा आदि) रोगवाला, कौवा, कीड़ा-इनके लिये धीरेसे (जिससे अन्न धूलि आदिसे नष्ट नहीं हो) रख देवे ॥ ९२ ॥

अन्यदन्नं पात्रे समुद्धृत्य श्वपतितादिभ्यः शनकैर्यथा रजसा न संगृह्यते तथा भुवि दद्यात्। पापरोगी—कुष्ठी, क्षयरोगी वा ॥ ९२ ॥

एवं यः सर्वभूतानि ब्राह्मणो नित्यमर्चति।
स गच्छति परं स्थानं तेजोमूर्तिं पथर्जुना ॥ ९३ ॥

जो ब्राह्मण इस प्रकार (३ । ८५–९१ में उक्त) सब जीवोंकी नित्य (प्रतिदिन) पूजा करता है, वह प्रकाशमय सर्वोत्तम स्थान (ब्रह्मपद–मोक्ष) को सीधे मार्गसे जाता है ॥ ९३ ॥

एवमुक्तप्रकारेण यः सर्वभूतान्यन्नदानादिना नित्यं पूजयति, स परं स्थानम्—ब्रह्मात्मकं तेजोमूर्तिं प्रकाशम् अवक्रेण वर्त्मनाऽर्चिरादिमार्गेण प्राप्नोति। ब्रह्मणि लीयत इत्यर्थः। ज्ञानकर्मभ्यां मोक्षप्राप्तेः। तेजोमूर्तिरिति सविसर्गपाठे प्रकृष्टब्रह्मबोधस्वभावो भूत्वेति व्याख्या ॥ ९३ ॥

कृत्वैतद् बलिकर्मैवमतिथिं पूर्वमाशयेत्।
भिक्षां च भिक्षवे दद्याद्विधिवद् ब्रह्मचारिणे ॥ ९४ ॥

इस प्रकार (३ । ८५–९१) बलिकर्मको समाप्तकर पहले अतिथि (यदि कोई आया हो तब उस) को भोजन करावे और विधि-पूर्वक ब्रह्मचारी, संन्यासी तथा भिक्षुक को भिक्षा देवे ॥ ५४ ॥

एवमुक्तप्रकारेणैतद्बलिकर्म कृत्वा, गृहभोक्तृभ्यः पूर्वमतिथिं भोजयेत्। भिक्षवे परिव्राजे, ब्रह्मचारिणे, प्रथमाश्रमिणे च विधिवत्स्वस्तिवाच्य भिक्षादानमप्पूर्वमिति गौतमाद्युक्तवि-

धिना भिक्षां दद्यात्। ग्रासप्रमाणं च भिक्षा भवति। "ग्रासमात्रा भवेद्भिक्षा" इति शातातपवचनात्। सम्भवे त्वधिकमपि देयम् ॥ ९४ ॥

यत्पुण्यफलमाप्नोति गां दत्त्वा विधिवद् गुरोः।
तत्पुण्यफलमाप्नोति भिक्षां दत्त्वा द्विजो गृही ॥ ९५ ॥

गृहस्थ द्विज गुरुके लिये गौको देकर जो फल प्राप्त करता है, वह फल विधि-पूर्वक (ब्रह्मचारी आदिके लिये) भिक्षा देकर प्राप्त करता है ॥ ९५ ॥

गुरवे गां दत्त्वा विधिवत्स्वर्णशृङ्गिकादिविधानेन यत्फलं प्राप्नोति, तद् गृहस्थो विधिना भिक्षादानात्प्राप्नोति ॥ ९५ ॥

भिक्षामप्युदपात्रं वा सत्कृत्य विधिपूर्वकम्।
वेदतत्त्वार्थविदुषे ब्राह्मणायोपपादयेत् ॥ ९६ ॥

पर्याप्त (भरपूर) अन्नके अभावमें ग्रासमात्र भिक्षाको भी (व्यञ्जन आदिसे संकृतकर अर्थात् सुस्वादु बनाकर) तथा उतने अन्नके भी अभाव होनेपर जलसे भरे हुए पात्रको ही (फल-फूल आदिसे सत्कृतकर) वेदके तत्त्वार्थके ज्ञाता ब्राह्मणके लिये ('स्वस्ति' कहलवाकर) देवे ॥ ९६ ॥

प्रचुरान्नाभावे ग्रासप्रमाणां भिक्षामपि व्यञ्जनादिना सत्कृत्य, तदभावे जलपूर्णपात्रमपि फलपुष्पादिना सत्कृत्य, तत्त्वतो वेदतदर्थज्ञानवते ब्राह्मणाय स्वस्तिवाच्येत्यादिविधिपूर्वकं दद्यात् ॥ ९६ ॥

नश्यन्ति हव्यकव्यानि नराणामविजानताम्।
भस्मीभूतेषु विप्रेषु मोहाद्दत्तानि दातृभिः ॥ ९७ ॥

अज्ञानी मनुष्यके द्वारा वेद तथा वेदार्थ-ज्ञानसे हीन ब्राह्मणके लिए देवों तथा पितरोंके उद्देश्यसे दिये गये हव्य तया कव्य नष्ट हो जाते हैं (वे देवों तथा पितरोंको नहीं मिलते हैं) ॥ ९७ ॥

मोहाद्यत्पात्रानभिज्ञतया देवपित्रुद्देशेनान्नानि वेदाध्ययनतदर्थज्ञानानुष्ठानतेजःशून्यतया भस्मरूपेषु पात्रेषु दत्तानि दातृभिर्निष्फलानि भवन्ति ॥ ९७ ॥

विद्यातपःसमृद्धेषु हुतं विप्रमुखाग्निषु।
निस्तारयति दुर्गाच्च महतश्चैव किल्बिषात् ॥ ९८ ॥
[अनर्हते यद्ददाति न ददाति यदर्हते।
अर्हानर्हापरिज्ञानाद्दानी धर्माच्च हीयते ॥ ३ ॥
काले न्यायागतं पात्रे विधिवत्प्रतिपादितम्।
ददाति परमं सौख्यमिह लोके परत्र च ॥ ४ ॥
प्रतिग्रहेण शुद्धेन शस्त्रेण क्रयविक्रयात्।
यथाक्रमं द्विजातीनां धनं न्यायादुपागतम् ॥ ५ ॥]

विद्या तथा तपसे समृद्ध (बढ़े हुए) ब्राह्मणके मुखरूपी अग्निमें हवन किया हुआ (उक्त रूप श्रेष्ठ ब्राह्मणको खिलाया गया) अन्न आदि दुस्तर (कठिनतासे पार करने योग्य,) रोग, राजभय, शत्रुभय, आदिसे तथा बड़े पापसे भी छुड़ा देता है ॥ ९८ ॥

[जो धनी (दानकर्ता) योग्य तथा अयोग्यका ज्ञान नहीं होनेके कारण जो कुछ अन्नादि अयोग्यके लिये देता है तथा योग्यके लिये नहीं देता, वह धनी धर्मसे भ्रष्ट नहीं होता अर्थात् उसका देना निष्फल नहीं होता ॥ ३ ॥

समयपर न्यायानुसार आया हुआ अग्रिम श्लोक में वक्ष्यमाण अन्नादि पात्रमें विधिपूर्वक दियागया इस लोकमें तथा परलोकमें भी उत्तम सुखको देता है ॥ ४ ॥

क्रमशः द्विजका (ब्राह्मणका) शुद्ध प्रतिग्रह अर्थात् दानसे, (क्षत्त्रिय का) शस्त्रसे अर्थात् युद्धादिमें शत्रुपक्षको पराजित करनेसे तथा (वैश्यका) क्रय-विक्रय अर्थात् व्यापारसे खरीदने-बेचनेसे आया हुआ धन न्यायसे आया हुआ (उपार्जित) होता है ॥ ५ ॥]

विद्यातपस्तेजःसम्पन्नविप्राणां मुखानि होमाधिकरणत्वेनाग्नितया निरूपितानि । तेषु हव्यकव्यादि प्रक्षिप्तमिह लोके दुस्तराद्व्याधिशत्रुराजपीडादिभयान्महतश्च पापादमुत्र नरकात्त्रायते ॥ ९८ ॥

संप्राप्ताय त्वतिथये प्रदद्यादासनोदके ।
अन्नं चैव यथाशक्ति सत्कृत्य विधिपूर्वकम् ॥ ९९ ॥

घरपर आये हुए अतिथिके लिये आसन, पैर धोनेके लिये जल, शक्तिके अनुसार व्यञ्जनादिसे संस्कृत (स्वादिष्ट) अन्न विधिपूर्वक (३ । १०६) सत्कारकर देना चाहिये ॥ ९९ ॥

स्वयमागताय त्वतिथये आसनम् , पादप्रक्षालनाद्युदकम् , यथासम्भवं व्यञ्जनादिभिः सत्कृतं चान्नम् "आसनावसथौ" (म. स्मृ. ३ । १०७) इत्यादिवक्ष्यमाणविधिपूर्वकं दद्यात् ॥ ९९ ॥

शिलानप्युञ्छतो नित्यं पञ्चाग्नीनपि जुह्वतः ।
सर्वं सुकृतमादत्ते ब्राह्मणोऽनर्चितो वसन् ॥ १०० ॥

शिलोञ्छ वृत्तिसे रहते हुए तथा पञ्चाग्निमें नित्य हवन करते हुए भी द्विजके घरपर अपूजित (आनेपर भी अतिथिसत्कारको अप्राप्त) ब्राह्मण उन सब (शिलोञ्छ तथा पञ्चाग्नि-हवनके फलों) को ले लेता है ॥ १०० ॥

लूनकेदारशेषधान्यानि शिलाः, तानप्युच्छिन्वतो वृत्तिसंयमान्वितस्य, त्रेता, आवसथ्यः, सभ्यश्चेति पञ्चाग्नयः । सभ्यो नामाग्निः शीतापनोदाद्यर्थं यस्तत्र प्रणीयते । पञ्चस्वग्निषु होमं कुर्वाणस्यापि सर्ववृत्तिसङ्कोचेन पञ्चाग्निहोमार्जितपुण्यमनर्चितोऽतिथिर्वसन्गृह्णाति । अनया च निन्दयातिथ्यर्चनस्य नित्यताऽवगम्यते ॥ १०० ॥

तृणानि भूमिरुदकं वाक्चतुर्थी च सूनृता ।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥ १०१ ॥

तृण (घास—आसन एवं शयनके लिये), भूमि (बैठने के लिये) जल (पीने तथा पैर धोने के लिये) और मधुर वचन—ये चारों तो सज्जनोंके घरसे कभी दूर नहीं होते (सदैव विद्यमान रहते हैं, अत एव अन्नादिके अभावमें इन्हींके द्वारा अतिथियोंका सत्कार करना चाहिये) ॥ १०१ ॥

अन्नासंभवे पुनस्तृणविश्रामभूमिपादप्रक्षालनाद्यर्थंजलप्रियवचनान्यपि धार्मिकगृहेष्वतिथ्यर्थं न कदाचिदुच्छिद्यन्ते, अवश्यदेयानीति विधीयते । तृणग्रहणं शयनीयोपलक्षणार्थम् ॥ १०१ ॥

अप्रसिद्धत्वादतिथिलक्षणमाह—

एकरात्रं तु निवसन्नतिथिर्ब्राह्मणः स्मृतः।
अनित्यं हि स्थितो यस्मात्तस्मादतिथिरुच्यते ॥ १०२ ॥

(गृहस्थके घर) एक रात ठहरनेवाला ब्राह्मण 'अतिथि' कहा गया है क्योंकि आने तथा ठहरनेकी तिथि (समय) का निश्चय नहीं रहनेसे वह 'अतिथि' ('न विद्यते तिथिर्यस्य सः' इस विग्रहसे) कहा जाता है ॥ १०२ ॥

एकरात्रमेव परगृहे निवसन्ब्राह्मणोऽतिथिर्भवति। अनित्यावस्थानान्न विद्यते द्वितीया तिथिरस्येत्यतिथिरुच्यते ॥ १०२ ॥

नैकग्रामीणमतिथिं विप्रं साङ्गतिकं तथा।
उपस्थितं गृहे विद्याद् भार्या यत्राग्नयोऽपि वा ॥ १०३ ॥

एक ग्रामवासी, विचित्र-कथाओं तथा परिहासोंके द्वारा जीविकाभिलाषी अर्थात् जीविका करनेवाले ऐसे भार्या तथा अग्निसे युक्त विप्रको भी 'अतिथि' नहीं समझना चाहिये ॥ १०३ ॥

एकग्रामनिवासिनम्, लोकेषु विचित्रपरिहासकथादिभिः संगत्या वृत्त्यर्थिनम् भार्याग्नियुक्तो गृहे वैश्वदेवकालोपस्थितमपि नातिथिं विद्यात्। एतेन भार्याग्निरहितस्य प्रवासिनो नातिथिरिति बोधितम् ॥ १०३ ॥

उपासते ये गृहस्थाः परपाकमबुद्धयः।
तेन ते प्रेत्य पशुतां व्रजन्त्यन्नादिदायिनाम् ॥ १०४ ॥
[परपाकान्नपुष्टस्य सततं गृहमेधिनः।
दत्तमिष्टं तपोऽधीतं यस्यान्नं तस्य तद्भवेत् ॥ ६ ॥]

जो निर्बुद्धि गृहस्थ आतिथ्य (अतिथि-सत्कार) के लोभसे दूसरे ग्राममें जाकर परान्न-भोजन करता है, उस परान्न-भोजनके कारण मरकर अन्न देनेवालेके यहां पशु होता है ॥ १०४ ॥

[सर्वदा दूसरेके अन्नसे पुष्ट भोजनार्थ दूसरे दूसरे गावोंमें जा-जाकर आतिथ्य ग्रहण करनेवाले) गृहस्थका दान, यज्ञ, तप; और वेदादि का स्वाध्याय, जिसका अन्न है; उसे प्राप्त होता है ॥ ६ ॥]

अतिथिप्रकरणादातिथ्यलोभेन ये गृहस्थाः ग्रामान्तराणि गत्वा परान्नं सेवन्ते, ते निषिद्धपरान्नदोषानभिज्ञाः तेन परान्नभोजनेन जन्मान्तरे अन्नादिदायिनां पशुतां व्रजन्ति। तस्मादिदं न कुर्यादिति निषेधः कल्प्यते ॥ १०४ ॥

अप्रणोद्योऽतिथिः सायं सूर्योढो गृहमेधिना।
काले प्राप्तस्त्वकाले वा नास्यानश्नन्गृहे वसेत् ॥ १०५ ॥

गृहस्थ सायंकाल घर पर आये हुए अतिथिको मना न करे तथा वह समयपर (घरवालोंके भोजन करनेके पहले) या असमयपर (घरवालोंके भोजन करनेके बाद) आवे, परन्तु बिना भोजन किये वहां नहीं (जिसके यहां ठहरे, उसको वह गृहस्थ भोजन अवश्य करावे) रहे ॥ १०५ ॥

सूर्येऽस्तमिते गृहस्थेनातिथिर्न प्रत्याख्येयः, सूर्येणोढः प्रापितो रात्रौ स्वगृहगमनाशक्तेः। द्वितीयवैश्वदेवकाले प्राप्तः। अकाले वा सायंभोजने निवृत्तेऽपि। नास्य गृहेऽतिथिरनश्न-

न्वसेदवश्यमस्मै भोजनं देयम्। प्रत्याख्याने प्रायश्चित्तगौरवार्थोऽयमारम्भः। अत एव विष्णुपुराणे-

'दिवाऽतिथौ तु विमुखे गते तत्पातकं नृप।
तदेवाष्टगुणं प्रोक्तं सूर्योढे विमुखे गते॥'

गोविन्दराजस्तु प्रतिषिद्धातिथिप्रतिप्रसवार्थत्वमस्याह॥ १०५॥ [३. ११. १०६]

न वै स्वयं तदश्नीयादतिथिं यन्न भोजयेत्।
धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं वाऽतिथिपूजनम्॥ १०६॥

जो अतिथि को नहीं खिलाया जावे ऐसा घी, दूध मिठाई आदि पदार्थ स्वयं भी नहीं खावे। अतिथिका पूजन (भोजनादिसे आदर-सत्कार) करना धन, आयु, यश तथा स्वर्गका निमित्त (कारण) होता है॥ १०६॥

यद् घृतदध्याद्युत्कृष्टमतिथिर्न प्रत्याचष्टे, तत्तस्मै अदत्त्वा न स्वयं भोक्तव्यम्। धनाय हितं धनस्य निमित्तं वा धान्यम्। एवं यशस्यादयोऽपि शब्दाः। अतिथिभोजनफलकथनमिदम्। न चानावश्यकतापत्तिः, "सर्वं सुकृतमादत्ते" (म. स्मृ. ३।१००) इत्यादिदोषश्रवणात्॥ १७६॥

आसनावसथौ शय्यामनुव्रज्यामुपासनाम्।
उत्तमेषूत्तमं कुर्याद्धीने हीनं समे समम्॥ १०७॥

बहुत अतिथियों के एक साथ आनेपर आसन, विश्रामस्थान, शय्या (चारपाई, चौकी, पलंग आदि), अनुगमन (पीछे २ चलना) और सेवा-ये सब सत्कार बड़ोंका अधिक, मध्यमश्रेणिवालों का मध्यम तथा निम्न श्रेणिवालों का कम करना चाहिये॥ १०७॥

आसनम्, पीठम्, चर्म वा आवसथः-विश्रामस्थानम्, शय्या-खट्वादि, अनुव्रज्या-गच्छतोऽनुगमनम्, उपासना-परिचर्या। एतत्सर्वं बहुष्वतिथिषु युगपदुपस्थितेष्वितरेतरापेक्षयोत्कृष्टापकृष्टमध्यमं कुर्यान्न पुनः सर्वेषां समम्॥ १०७॥

वैश्वदेवे तु निर्वृत्ते यद्यन्योऽतिथिराव्रजेत्।
तस्याप्यन्नं यथाशक्ति प्रदद्यान्न बलिं हरेत्॥ १०८॥

वैश्वदेव कर्मके निवृत्त होनेपर यदि दूसरा अतिथि आ जाय तो उसके लिये भी यथाशक्ति अन्न (यदि बचा नहीं हो तो पुनः तैयार कर) देना चाहिये, किन्तु दुबारा बलि करनेकी आवश्यकता नहीं है॥ १०८॥

अन्यशब्दनिर्देशादतिथिभोजनपर्यन्तं वैश्वदेवे कृते यद्यपरोऽतिथिरागच्छेत्तदा तदर्थं पुनः पाकं कृत्वा, तस्यान्नं दद्यात्। बलिहरणं ततो नात्र कुर्यात्। बलिनिषेधादन्नसंस्काराभावो वैश्वदेवस्यावगम्यते। अन्नसंस्कारपक्षे कथमसंस्कृतान्नभोजनमनुजानीयात॥

न भोजनार्थं स्वे विप्रः कुलगोत्रे निवेदयेत्।
भोजनार्थं हि ते शंसन्वान्ताशीत्युच्यते बुधैः॥ १०९॥

ब्राह्मण भोजन प्राप्तिके लिये अपने कुल तथा गोत्रको न कहे (मैं ब्राह्मण हूँ, मुझे भोजन करा दीजिये, इत्यादि वचन न कहे), क्योंकि भोजन प्राप्त करनेके लिये अपने कुल तथा गोत्रको कहनेवाला विप्र वमन किये पदार्थको खानेवाला (पंडितोंसे) कहा जाता है॥ १०९॥

भोजनलाभार्थं ब्राह्मणः स्वकुलगोत्रे न निवेदयेत्। यस्माद्भोजनार्थं ते कथयन्नुद्गीर्णाशीति पण्डितैः कथ्यते ॥ १०९ ॥

न ब्राह्मणस्य त्वतिथिर्गृहे राजन्य उच्यते।
वैश्यशूद्रौ सखा चैव ज्ञातयो गुरुरेव च ॥ ११० ॥

ब्राह्मणके (घर आये हुए), क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, मित्र, बान्धव और गुरु 'अतिथि' नहीं कहे जाते हैं ॥ ११० ॥

ब्राह्मणस्य क्षत्रियादयोऽतिथयो न भवन्ति, क्षत्रियादीनां ब्राह्मणस्योत्कृष्टजातित्वात्। मित्रज्ञातीनामात्मसम्बन्धाद् गुरोः प्रभुत्वात्। अनेनैव न्यायेन क्षत्रियस्य उत्कृष्टो ब्राह्मणः सजातीयश्च क्षत्रियोऽतिथिः स्यान्नापकृष्टौ वैश्यशूद्रौ। एवं वैश्यस्यापि द्विजातयोऽतिथयो न शूद्रः ॥ ११० ॥

यदि त्वतिथिधर्मेण क्षत्रियो गृहमाव्रजेत्।
भुक्तवत्सु च विप्रेषु कामं तमपि भोजयेत् ॥ १११ ॥

यदि क्षत्रिय अतिथि-धर्मसे (अतिथिके समयमें तथा अतिथिके समान दूसरे ग्रामसे आनेके कारण) ब्राह्मणके घर आ जावे तो उसे भी ब्राह्मण अतिथि को भोजन करानेके बाद भोजन करावे ॥ १११ ॥

यदि ग्रामान्तरागतत्वादतिथिकालोपस्थितत्वादतिथिधर्मेण क्षत्रियो विप्रगृहमागच्छेत्तदा विप्रगृहोपस्थितविप्रेषु कृतभोजनेषु स्थितेष्विच्छातस्तमपि भोजयेत् ॥ १११ ॥

वैश्यशूद्रावपि प्राप्तौ कुटुम्बेऽतिथिधर्मिणौ।
भोजयेत्सह भृत्यैस्तावानृशंस्यं प्रयोजयन् ॥ ११२ ॥

इसी प्रकार ब्राह्मणके घर यदि वैश्य तथा शूद्र भी अतिथि-धर्मसे (अतिथिके समय तथा ग्रामान्तरसे आनेके कारण) आ जावें तो उन्हें भी दया-प्रदर्शन करता हुआ भृत्योंके साथ (ब्राह्मण अतिथि तथा अतिथि-धर्मसे आये हुए क्षत्रियको भोजन करानेके बाद गृह-दम्पति के भोजन करनेसे पहले) भोजन करावे ॥ ११२ ॥

यदि वैश्यशूद्रावपि ब्राह्मणस्य कुटुम्बे गृहे प्राप्तौ ग्रामान्तरादागत्वादतिथिधर्मशालिनौ, तदा न भवति क्षत्रियभोजनकालात्परतो दम्पतीभोजनात्पूर्वं दासभोजनकाले अनुकम्पामाश्रयन्भोजयेत् ॥ ११२ ॥

इतरानपि सख्यादीन्सम्प्रीत्यागृहमागतान्।
प्रकृत्यान्नं यथाशक्ति भोजयेत्सह भार्यया ॥ ११३ ॥

भोजनके समय आये हुए मित्रादिको यथाशक्ति श्रेष्ठ अन्न (अपने तथा) स्त्री के साथमें भोजन करावे, गुरुके प्रभु (समर्थ) होनेके कारण उनको भोजन कराने का समय-निर्देश नहीं किया गया है; अतः उन्हें (गुरुको) जब इच्छा हो तभी भोजन करावे ॥ ११३ ॥

उक्तभोजनकाले क्षत्रियादिव्यतिरिक्तान्सखिसहाध्यायिप्रभृतीन्सम्प्रीत्या गृहमागतान् न त्वतिथिभावेन, तस्य प्रतिषेधात्। यथाशक्ति प्रकृष्टमन्नं कृत्वा भार्याया भोजनकाले भोजयेत्। गृहस्थस्यापि स एव भोजनकालः, "अवशिष्टं तु दम्पती" (म. स्मृ. ३।११६) इति वक्ष्यमाणत्वात्। आत्मना सहेति वक्तव्ये वचनवैचित्रीयमाचार्यस्य। गुरोस्तु भोजनकालानभिधानं प्रभुत्वेन स्वाधीनकालत्वात् ॥ ११३ ॥

सुवासिनीः कुमारीश्च रोगिणो गर्भिणीः स्त्रियः ।
अतिथिभ्योऽग्र एवैतान्भोजयेदविचारयन् ॥ ११४ ॥

नव विवाहित वधू (पुत्रादिकी पत्नी तथा अपनी पुत्री), कुमारी (अविवाहित कन्या) रोगी और गर्भिणी स्त्री—इन्हें अतिथियोंके भी पहले विना विचारे ('अतिथियोंके पहले इन्हें कैसे भोजन कराऊं' ऐसा विचार छोड़कर) भोजन करावे ॥ ११४ ॥

सुवासिन्यो नवोढाः स्त्रियः स्नुषा दुहितरश्च ताः, कुमारी रोगिणो गर्भिणीश्चातिथिभ्यो-ऽग्रे पूर्वमेवातिथिभ्यो भोजयेत् । कथमतिथिष्वभोजितेषु भोजनमेषामिति विचारमकुर्वन् । [1]मेधातिथिस्त्वन्वगेवेति पठित्वाऽनुगतानेवैतान्भोजयेदतिथिसमकालमिति व्याख्याय, अन्ये तु अग्र इति पठन्तीत्युक्तवान् ॥ ११४ ॥

अदत्त्वा तु य एतेभ्यः पूर्वं भुङ्क्ते विचक्षणः ।
स भुञ्जानो न जानाति श्वगृध्रैर्जग्धिमात्मनः ॥ ११५ ॥

जो गृहस्थ इन (अतिथि ब्राह्मणसे लेकर भृत्यतक कथित लोगों) को भोजन नहीं देकर भोजनके क्रमविरोध दोषको नहीं जानता हुआ पहले (स्वयं) भोजन करता है, वह (अपनी मृत्युके बाद) कुत्ते गीधोंके द्वारा अपनेको खाया जाता हुआ नहीं जानता है अर्थात् मरनेके बाद उसे (अतिथि आदिके पहले भोजन करनेवाले गृहस्थको) मरनेके बाद कुत्ते गीध आदि खाते हैं ॥ ११५ ॥

एतेभ्योऽतिथ्यादिभृत्यपर्यन्तेभ्योऽन्नमदत्त्वा व्यतिक्रमभोजनदोषमजानन् यः पूर्वं भुङ्क्ते, स मरणानन्तरं श्वगृध्रैरात्मनो भक्षणं न जानाति । व्यतिक्रमस्येदं फलमिति वचनवैदग्ध्येनोक्तम् ॥ ११५ ॥

भुक्तवत्स्वथ विप्रेषु स्वेषु भृत्येषु चैव हि ।
भुञ्जीयातां ततः पश्चादवशिष्टं तु दम्पती ॥ ११६ ॥

अतिथि ब्राह्मण, स्वजातीय, भृत्य (दास, दासी आदि) के भोजन कर लेनेपर बादमें शेष अन्नको गृहस्थ दम्पती (स्त्री-पुरुष) भोजन करें ॥ ११६ ॥

विप्रेष्वतिथिषु, स्वेषु ज्ञातिषु, भृत्येषु—दासादिषु कृतभोजनेषु ततोऽन्नादवशिष्टं—भार्यापती पश्चादश्नीयाताम् ॥ ११६ ॥

देवानृषीन्मनुष्यांश्च पितॄन्गृह्याश्च देवताः ।
पूजयित्वा ततः पश्चाद् गृहस्थः शेषभुग्भवेत् ॥ ११७ ॥

देवताओं, ऋषियों, मनुष्यों, पितरों, गृहस्थित शालग्रामादि प्रतिमाओंकी पूजा (देवर्षिपितृ-तर्पण. अतिथ्यादि-भोजन, प्रतिमादि-पूजन) कर गृहस्थ शेष बचे हुए अन्नको भोजन करे ॥ ११७ ॥

गृह्याश्च देवता इत्यनेन भूतयज्ञः, पञ्चयज्ञानुष्ठानस्य "अवशिष्टं तु दम्पती" (म. स्मृ. ३।११६) इत्यनेन शेषभोजनस्य च विहितत्वात् । वक्ष्यमाणदोषकथनार्थोऽयमनुवादः। अथवा देवानित्यनेनैव भूतयज्ञस्यापि संग्रहः । गृहे भवा गृह्या देवता पूजयित्वेति वासुदेवादिप्रतिकृतिपूजाविधानार्थत्वमस्य ॥ ११७ ॥

---

१. अतिथिभ्योऽन्वगेवैतानानुगतानेव भोजयेत् प्रारब्धभोजनेष्वेवातिथिषु तत्समकालं भोजयेत् । अन्ये त्वग्र इति पठन्ति ।

अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात्।
यज्ञशिष्टाशनं ह्येतत्सतामन्नं विधीयते॥ ११८॥
[यद्यदिष्टतमं लोके यच्चास्य दयितं गृहे।
तत्तद् गुणवते देयं तदेवाक्षयमिच्छता॥ ७]

जो (देवता आदि को न देकर) केवल अपने लिये भोजन पाक करता (करके खाता) है वह केवल पापको भोगता है, क्योंकि यज्ञ (पञ्चयज्ञ) से बचा हुआ अन्न सज्जनोंका अन्न कहा गया है॥ ११८॥

[गृहस्थको संसारमें जो २ अत्यन्त अभिलषित हो, घरमें जो प्रिय हो, उनको अक्षय होनेकी इच्छा करनेवाला मनुष्य उन २ वस्तुओंको गुणवान्‌के लिये देवे॥ ७॥]

यस्त्वात्मार्थमेवान्नं पक्त्वा भुङ्क्ते देवादिभ्यो न ददाति, स पापहेतुत्वात्पापमेव केवलं भुङ्क्ते, नान्नम्। तथा च श्रुतिः—"केवलाघो भवति केवलादी"। यस्माद्यदेव पाकयज्ञावशिष्टमशनमन्नमन्यत् एतदेव साधूनामन्नमुपदिश्यत इति॥ ११८॥

अतिथिपूजाप्रसङ्गेन राजादीनामपि गृहागतानां पूजाविशेषमाह—

राजर्त्विक्स्नातकगुरून्प्रियश्वशुरमातुलान्।
अर्हयेन्मधुपर्केण परिसंवत्सरात्पुनः॥ ११९॥

राजा, ऋत्विज् (यज्ञ करानेवाले वेदपाठी), स्नातक, गुरु जामाता (दामाद पुत्रीपति), श्वशुर और मामा—इनको एक वर्षके बाद अपने (गृहस्थके) घर जानेपर मधुपर्क—विधिसे पूजन करना चाहिये॥ ११९॥

राज्याभिषिक्तः क्षत्रियो राजा, ऋत्विक् यज्ञे येन यस्यार्त्विज्यं कृतम्, स्नातको विद्याव्रताभ्याम्, प्रियो जामाता। राजादीनेतान्गृहागतान्स्वस्व गृह्योक्तेन मधुपर्काख्येन कर्मणा पूजयेत्। परिसंवत्सरादिति संवत्सरं वर्जयित्वा तदूर्ध्वं गृहागतानेतान्पुनर्मधुपर्केण पूजयेत्। "पञ्चम्यपाङ्परिभिः" (पा. सू. २।३।१०) इति सूत्रेण वर्जनार्थपरियोगेनेयं पञ्चमी। अत एवैतत्सूत्रव्याख्याने जयादित्येनोक्तं "अपेन साहचर्यात्परेर्वर्जनार्थस्य ग्रहणम्" इति। [1]मेधातिथिस्तु परिसंवत्सरानिति पठित्वा परिगतो निष्क्रान्तः संवत्सरो येषां तान्पूजयेदिति व्याख्यातवान्। उभयत्रापि पाठे संवत्सरमध्यागमने न मधुपर्कार्हता॥ ११९॥

राजस्नातकयोः पूजासङ्कोचार्थमाह—

राजा च श्रोत्रियश्चैव यज्ञकर्मण्युपस्थितौ।
मधुपर्केण सम्पूज्यौ न त्वयज्ञ इति स्थितिः॥ १२०॥

यदि राजा तथा स्नातक (एकवर्षके बाद भी) यज्ञमें आवें तो मधुपर्क से उनकी पूजा करे और यदि यज्ञमें नहीं आये हों तो मधुपर्कसे उनकी पूजा नहीं करे॥ १२०॥

---

१. 'परिसंवत्सरान्' इति राजादिपूज्यविशेषणम्। परिगतोऽतिक्रान्तः संवत्सरो येषान्तान्। यदि संवत्सरे अतीते आगच्छन्ति तदा मधुपर्कार्हाः, अर्वाङ् न। केचिदेवं व्याचक्षते—यदि सम्वत्सरादर्वागागच्छन्ति तदा अतीतेऽपि संवत्सरे प्रथमपूजायाः पुनर्लभते पूजाम्। अन्ये त्वाहुः—सांवत्सरिकी तेषां पूजा न यावदागमनम्। अस्मिन्पक्षेऽर्वागागमनं न पूजाप्रतिबन्धकम्। पाठान्तरं 'परिसंवत्सरात्' इति यावदेव संवत्सरं तावत्परिसम्वत्सरात्तत ऊर्ध्वं पुनः पूज्या इत्यर्थः।

राजस्नातकौ संवत्सरादूर्ध्वमपि यज्ञकर्मण्येव प्राप्तौ मधुपर्केण पूजनीयौ न तु यज्ञव्यतिरेकेण। जामात्रादयस्तु संवत्सरादूर्ध्वं यज्ञं विनाऽपि मधुपर्कार्हाः। संवत्सरमध्ये तु सर्वेषां यज्ञविवाहयोरेव मधुपर्कः। तदाह गौतमः—"ऋत्विगाचार्यश्वशुरपितृव्यमातुलादीनामुपस्थाने मधुपर्कः। संवत्सरे पुनर्यज्ञविवाहयोरर्वाक् राज्ञः श्रोत्रियस्य च" ॥ १२० ॥

सायं त्वन्नस्य सिद्धस्य पत्न्यमन्त्रं बलिं हरेत्।
वैश्वदेवं हि नामैतत्सायं प्रातर्विधीयते ॥ १२१ ॥

स्त्री सायंकालमें पक्व (पके हुए) अन्नको विना मन्त्रोच्चारण किये (इन्द्राय नमः इत्यादि मन्त्रोंको विना कहे) ही बलि देवे। सायंकाल और प्रातःकाल बलिवैश्वदेव कर्म करनेका यह शास्त्रोक्त विधान है ॥ १२१ ॥

दिनान्ते सिद्धस्यान्नस्य पत्नी अमन्त्रं बलिहरणं कुर्यात्, इन्द्राय नम इति मन्त्रपाठवर्जम्। मानसस्तु देवतोद्देशो न निषिध्यते। यत एतद्वैश्वदेवं नामान्नसाध्यं होमबलिदानातिथिभोजनात्मकं तत्सायम्प्रातर्गृहस्थस्योपदिश्यते ॥ १२१ ॥

"श्राद्धकल्पं च शाश्वतम्" (म. स्मृ. १। ११२) इत्यनुक्रमणिकायां प्रतिज्ञातं श्राद्धकल्पमुपक्रमते—

पितृयज्ञं तु निर्वर्त्य विप्रश्चेन्दुक्षयेऽग्निमान्।
पिण्डान्वाहार्यकं श्राद्धं कुर्यान्मासानुमासिकम् ॥ १२२ ॥

(अब पूर्व (३।११२) प्रतिज्ञात श्राद्धप्रकरणका आरम्भ करते हैं—) अग्निहोत्री विप्र (द्विज) अमावस्या को पितृयज्ञ पूराकर प्रतिमास अमावस्याको 'पिण्डान्वाहार्यक' नामके श्राद्धको करे ॥ १२२ ॥

साग्निरमावास्यायां पिण्डपितृयज्ञाख्यं कर्म कृत्वा श्राद्धं कुर्यात्। पितृयज्ञपिण्डानामनु पश्चादाह्रियत इति पिण्डान्वाहार्यकं श्राद्धम्। मासानुमासिकं मासश्चानुमासश्च तयोर्भवम्। प्रतिमासं कर्तव्यमित्यर्थः। अनेनास्य नित्यत्वमुक्तम्। विप्रग्रहणं द्विजातिपरम्, त्रयाणां प्रकृतत्वात् ॥ १२२ ॥

इदानीं नामनिर्वचनेनोक्तमेव पितृयज्ञानन्तर्यं द्रढयति—

पितॄणां मासिकं श्राद्धमन्वाहार्यं विदुर्बुधाः।
तच्चामिषेण कर्तव्यं प्रशस्तेन प्रयत्नतः ॥ १२३ ॥
[न निर्वपति यः श्राद्धं प्रमीतपितृको द्विजः।
इन्दुक्षये मासि मासि प्रायश्चित्ती भवेत्तु सः ॥ ८ ॥]

विद्वान् लोग पितरोंके मासिक श्राद्धको 'अन्वाहार्य' कहते हैं, उसे श्रेष्ठ (दुर्गन्धि आदिसे वर्जित) मांससे करना चाहिये ॥ १२३ ॥

[जिसका पिता मर गया हो, ऐसा जो द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य) अमावस्याको प्रतिमास श्राद्ध (पिण्डान्वाहार्य) नहीं करता है, वह द्विज प्रायश्चित्ती होता है ॥ ८ ॥]

इदं मासिकं प्रतिमासभवं श्राद्धं यस्मात्पितृयज्ञपिण्डानामनु पश्चादाह्रियते तेन पिण्डान्वाहार्यकमिदं पण्डिता जानन्ति। ततो युक्तं पितृयज्ञानन्तर्यमस्य तच्चामिषेण वक्ष्यमाणमांसेन प्रशस्तेन मनोहरेण पूतिगन्धादिरहितेन प्रयत्नतः कर्तव्यम्। 'पिण्डानां मासिकं श्राद्धम्" इति वा पाठः। पिण्डानां पितृयज्ञपिण्डानाम्। शेषं तुल्यम् ॥ १२३ ॥

तत्र ये भोजनीयाः स्युर्ये च वर्ज्या द्विजोत्तमाः।
यावन्तश्चैव यैश्चान्नैस्तान्प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ १२४ ॥

(भृगुजी महर्षियोंसे कहते हैं कि—) उस श्राद्धमें जो श्रेष्ठ ब्राह्मण भोजन करानेके योग्य हैं तथा जो वर्जनीय (त्याग करनेके योग्य) हैं; तथा जितनी संख्यामें एवं जिन अन्नोंसे भोजन करानेके योग्य हैं; उन सबको मैं कहूँगां ॥ १२४ ॥

तस्मिन् श्राद्धे ये भोजनीया ये च त्याज्या यत्संख्याका यैश्चान्नैस्तत्सर्वं प्रवक्ष्यामि॥१२४॥
अत्र यद्यप्युद्देशक्रमेण ये भोजनीया इति वक्तुमुचितं तथाप्यल्पवक्तव्यत्वाद् ब्राह्मण-संख्यामाह—

द्वौ दैवे पितृकार्ये त्रीनेकैकमुभयत्र वा।
भोजयेत्सुसमृद्धोऽपि न प्रसज्जेत विस्तरे ॥ १२५ ॥

गृहस्थ देवकार्यमें दो ब्राह्मणोंको तथा पितृश्राद्धमें तीन ब्राह्मणोंको अथवा उन दोनों कार्योंमें १-१ ब्राह्मणको ही भोजन करावे, धनवान् भी अधिक विस्तार (ब्राह्मण-संख्यामें वृद्धि) न करे ॥ १२५ ॥

देवश्राद्धे द्वौ ब्राह्मणौ, पितृपितामहप्रपितामहानां त्रीन्ब्राह्मणान्, अथवा दैवे एकं पित्रादित्रिके चैकं ब्राह्मणं भोजयेत्। उक्तातिरिक्तभोजनसमर्थोऽपि नाधिकभोजनेषु प्रवर्तेत। [1]मेधातिथिस्त्वाह—पितृकृत्ये त्रीनिति पितुस्त्रीन्ब्राह्मणान्, पितामहस्य त्रीन्ब्राह्मणान्, प्रपितामहस्य त्रीन्ब्राह्मणान्भोजयेत् "एकैकमुभयत्र वा" इति दैव एकं पित्रादित्रयस्य चैकैकं न त्वेकं पित्रादित्रयस्य "न त्वेवैकं सर्वपां काममनाद्ये पिण्डैर्व्याख्यातम्" (अ. १६ खं. ७) इत्याश्वलायनगृह्यविरोधात्। यथैकपिण्डः पित्रादित्रयस्य न निरूप्यते तथैको ब्राह्मणो न भोजयितव्य इत्यर्थः। तस्मान्न पित्रादित्रयस्यैकब्राह्मणभोजनम्। तदसत्, गृह्यकारेणैव "न त्वेवैकं सर्वेषां पिण्डैर्व्याख्यातम्" (अ. १६ खं. ७) इति पठित्वा "काममनाद्ये" (खं ७) इत्यभिहितम्। अस्यार्थः—बहुपित्रादिदेवताकश्राद्धानामाद्यं सपिण्डीकरणमभिमतं तद्व्यतिरिक्तश्राद्धे काममेकः पित्रादीनां ब्राह्मण इत्यर्थः। अथवा अनाद्ये अदनीयद्रव्याभावे एकोऽपि

---

१. देवानुद्दिश्य द्वौ ब्राह्मणौ भोजयेत्, पितॄणां कृत्ये त्रीन्; उभयत्र वा दैवे एकं पित्र्ये चैकम्। यद्यपि पित्र्य इत्यत्र पितुरिदमिति पितृशब्देन देवताचोदना तथापि पितृपितामहप्रपितामहा उद्देश्यास्तत्रैकैकस्यैकैकं भोजयेत्। नत्वेवैकं सर्वेभ्यः पृथक्पृथग्देवतात्वात्। उक्तञ्च गृह्यकारेण-"न त्वेवैकं सर्वेषां पिण्डैर्व्याख्यातम्" इति। यथैकः पिण्डः सर्वेभ्यो न निरूप्यते तथैव ब्राह्मणोऽपि न भोज्यत इत्यर्थः। इहापि वक्ष्यति—निमन्त्रयेत्त्र्यवरानिति। भोजनार्थमेव तन्निमन्त्रणं, नादृष्टार्थम्। अतश्च पितृकृत्ये त्रींस्त्रीनिति द्रष्टव्यम्। तथाचाह-न चावरान्भोजयेत्' इति। एवञ्च कृत्वा एकैकमपि विद्वांसमित्येदपि। एवमेव द्रष्टव्यम् एकैकस्यैकैकमिति। अपि च नैवात्र एकैकमुभयत्रेत्येतद्विधीयते। विस्तरप्रतिषेधार्थोऽयमनुवादः। यथा विषं भुङ्क्ष्व मा चास्य गृहे भुङ्क्ष्वेति। यद्येवं द्वौ दैव इत्येषोऽपि विधिर्न स्यादस्याप्यन्यर्थतयोपपत्तेः। अथायं विधिरप्राप्तत्वादेकैकमित्येषोऽपि कस्मान्न भवति? अत्राह—माभूद्द्वयोरेकोऽपि विधिः। कुतस्तर्हि संख्यावगमो निमन्त्रयेत त्र्यवरानिति। ननु तत्र दैवग्रहणं नास्ति स्मृत्यन्तरात्तर्हि संख्यावगमः अयुजो वा यथोत्साहमिति युग्मान्दैव इति। यदि वाऽयं संख्याविधिः स्याद्विस्तरप्राप्त्यभावात्प्रतिषेधोऽनर्थकः। तस्माद्यावद्भिर्ब्राह्मणैर्भोजितैर्विस्तरे ये दोषास्ते न भवन्ति तावन्तो भोजनीयाः।

भोजयितव्यः। उभयत्रापि व्याख्याने पार्वणादौ पित्रादित्रयस्यैकब्राह्मणभोजनं गृह्यकृतैवोक्तम्। वसिष्ठोऽपि—

"यद्येकं भोजयेच्छ्राद्धे दैवतन्त्रं कथं भवेत्।
अन्नं पात्रे समुद्धृत्य सर्वस्य प्रकृतस्य च॥
देवतायतने कृत्वा यथाविधि प्रवर्तयेत्।
प्रास्येदन्नं तदग्नौ वा दद्याद्वा ब्रह्मचारिणे॥"

इति सर्वेभ्य एकब्राह्मणभोजनमाह। तस्माद्यथोक्तैव व्याख्या। "प्रथने वावशब्दे" (पा. सू. ३।३।३३) इत्यनेन विस्तार इति प्राप्ते छन्दःसमानत्वात्स्मृतीनां "सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्पन्ते" इति विस्तर इति रूपम्॥ १२५॥

सत्क्रियां देशकालौ च शौचं ब्राह्मणसम्पदः।
पञ्चैतान्विस्तरो हन्ति तस्मान्नेहेत विस्तरम्॥ १२६॥

सत्कार, देश, काल, शुद्धता और ब्राह्मण-सम्पत्ति (उत्तम ब्राह्मणोंकी प्राप्ति) इन पांचोंको विस्तार (अधिक संख्यामें ब्राह्मणोंको भोजन कराना) नष्ट करता है; अतएव अधिक संख्यामें ब्राह्मणोंको भोजन नहीं करावे॥ १२६॥

सत्क्रियां ब्राह्मणस्य पूजां, देशं दक्षिणप्रवणत्वादिवक्ष्यमाणं, कालमपराह्णं, शौचं श्राद्धकर्तृभोक्तृब्राह्मणप्रैष्यगतं, गुणवद्ब्राह्मणलाभं च ब्राह्मणविस्तारो नाशयति। तस्माद् ब्राह्मणविस्तरं न कुर्यादिति सत्क्रियादिविरोधतो ब्राह्मणविस्तरनिषेधात्सत्क्रियादिसम्भवे पित्रादेरेकैकस्यापि ब्राह्मणत्रयाभ्यनुज्ञानम्। अत एव गौतमः—"न चावरान्भोजयेदयुजो वा यथोत्साहम्"। बह्वृचगृह्यकारोऽपि—"अथातः पार्वणे श्राद्धे काम्य आभ्युदयिक एकोद्दिष्टे वा ब्राह्मणान्" (अ. १६ खं. ७) इत्युपक्रम्य "एकैकमेकैकस्य द्वौ द्वौ त्रींस्त्रीन्वा वृद्धौ फलभूयस्त्वम्" इत्याह। द्वौ द्वावित्याभ्युदयिकश्राद्धविषयं, स्मृत्यन्तरेषु तथा विधानात्, अत्राप्याभ्युदयिक इत्युपक्रमाच्च॥ १२६॥

प्रथिता प्रेतकृत्यैषा पित्र्यं नाम विधुक्षये।
तस्मिन्युक्तस्यैति नित्यं प्रेतकृत्यैव लौकिकी॥ १२७॥

यह पितृश्राद्ध 'प्रेतकृत्या' कहलाता है, अमावस्याको उसके करनेमें लगे हुए द्विजको लौकिक प्रेतकृत्या अर्थात् स्मार्त (स्मृतिशास्त्रोक्त) पिताका उपकारक क्रिया पुत्र-पौत्रादिके रूपमें प्राप्त होती है॥ १२७॥

यदेतत्पित्र्यं कर्म श्राद्धरूपं प्रथममियं प्रख्याता प्रेतकृत्या पित्रुपकारार्था क्रिया। प्रकर्षेण इतः प्रेतः पितृलोकस्थ एवोच्यते। विधुक्षयेऽमावास्यायां तस्मिन्पित्र्ये कर्मणि युक्तस्यैतत्परस्य, लौकिकी स्मार्तिकी प्रेतकृत्या पित्रुपकारार्था क्रिया गुणवत्पुत्रपौत्रधनादिफलप्रबन्धरूपेण कर्तारमुपतिष्ठते, तस्मादिदं कर्तव्यम्। गोविन्दराजेन तु विधिः क्षय इति पठितं, व्याख्यातं च योऽयं नाम विधिः पित्र्यं कर्मेति क्षये चन्द्रक्षये गृहे(?) वा, तदसांप्रदायिकम्, मेधातिथिप्रभृतिभिर्गोविन्दराजादपि वृद्धतरैरनभ्युपेतत्वात्क्षय इति सम्बन्धक्लेशाच्च॥ १२७॥

श्रोत्रियायैव देयानि हव्यकव्यानि दातृभिः।
अर्हत्तमाय विप्राय तस्मै दत्तं महाफलम्॥ १२८॥

दाता गृहस्थ हव्य (देवतोद्देश्यक अन्न) तथा कव्य (पितृ-उद्देश्यक अन्न) श्रोत्रिय (वेदका ज्ञाता) ब्राह्मणको ही देवे। अत्यन्त श्रेष्ठ ब्राह्मणके लिये दिया गया (दान—हव्य-कव्यादि) उत्तम फलवाला होता है ॥ १२८ ॥

छन्दोमात्राध्यायी श्रोत्रियस्तस्मै दैवपित्र्यान्नानि यत्नतो देयानि। अर्हत्तमाय श्रुताचाराभिजनादिभिः पूज्यतमाय तस्मै दत्तं महाफलं भवति ॥ १२८ ॥

एकैकमपि विद्वांसं दैवे पित्र्ये च भोजयेत्।
पुष्कलं फलमाप्नोति नामन्त्रज्ञान् बहूनपि ॥ १२९ ॥

देवों और पितरोंके कार्य (क्रमशः यज्ञादि तथा श्राद्ध) में एक भी विद्वान् (वेदमन्त्रोंका ज्ञाता) ब्राह्मणको गृहस्थ भोजन करावे तो (उससे) बहुत अधिक फलको (वह) प्राप्त करता है तथा वेदमन्त्रोंको नहीं जाननेवाले अनेक ब्राह्मणों को भी देने (देवयज्ञ तथा पितृ-श्राद्धमें भोजन कराने) से (वह दाता) फलको नहीं प्राप्त करता है ॥ १२९ ॥

दैवपित्र्ययोरेकैकमपि वेदतत्त्वविदं ब्राह्मणं भोजयेत्। तदाऽपि विशिष्टं श्राद्धफलं प्राप्नोति न त्वविदुषो बहूनपि। एवं च "फलश्रवणाद् ब्राह्मणभोजनमेव प्रधानं पिण्डदानादिकं त्वङ्गम्" इति गोविन्दराजः। वयं तु पित्रुद्देशेन द्रव्यत्यागं ब्राह्मणस्वीकारपर्यन्तं श्राद्धशब्दवाच्यं प्रधानं ब्रूमः। तदेव मनुना "पिण्डान्वाहार्यकं श्राद्धं कुर्यात्" (म. स्मृ. ३। १२२) इति विहितम्, आपस्तम्बेन तु मन्वर्थस्यैव व्याख्यातत्वात्। तदाहापस्तम्बः—"तथैतन्मनुः श्राद्धशब्दं कर्म प्रोवाच प्रजानिःश्रेयसार्थे तत्र पितरो देवता ब्राह्मणस्त्वाहवनीयार्थे मासि मास्यपरपक्षस्यापराह्णः श्रेयान्" इति। श्राद्धशब्दं श्राद्धमिति शब्दो वाचको यस्य तत्तथा। ब्राह्मणस्त्वाहवनीयार्थं, आहवनीयवत्त्यक्तद्रव्यप्रतिपत्तिस्थानत्वात्। पितरो देवतेति नियतपितृदेवताकत्वाच्च श्राद्धस्य। देवताश्राद्धादौ श्राद्धशब्दस्तु तद्धर्मप्राप्त्यर्थो गौणः। कौण्डपायिनामयन इवाग्निहोत्रशब्दः। पुष्कलं फलं प्राप्नोतीति तु पुष्टतरफलार्थिनो गुणफलविधिः। स भोजनस्याङ्गत्वेऽपि तदाश्रयो न विरुद्धः।

आपस्तम्बोऽभ्यधाच्छ्राद्धं कर्मैतत्पितृदैवतम्।
मन्वर्थं कथयंस्तस्मान्नेदं ब्राह्मणभोजनम् ॥ १२९ ॥

दूरादेव परीक्षेत ब्राह्मणं वेदपारगम्।
तीर्थं तद्धव्यकव्यानां प्रदाने सोऽतिथिः स्मृतः ॥ १३० ॥

गृहस्थ दूरसे ही वेदतत्त्वके ज्ञाता ब्राह्मणकी (पिता-पितामह अर्थात् बाप-दादा आदिकी जानकारीके द्वारा) परीक्षा करे। वह (वेदतत्त्वज्ञाता ब्राह्मण) हव्य-कव्य-दानका तीर्थ (पात्र) स्वरूप अतिथि कहा गया है ॥ १३० ॥

दूरादेव पितृपितामहाद्यभिजनशुद्धिनिरूपणेन कृत्स्नशाखाध्यायिनं ब्राह्मणं परीक्षेत। यस्मात्तथाविधो ब्राह्मणो हव्यादीनां तीर्थं पात्रम्, प्रदाने सोऽतिथिरेव महाफलप्राप्तेर्हेतुत्वात् ॥ १३० ॥

सहस्रं हि सहस्राणामनृचां यत्र भुञ्जते।
एकस्तान्मन्त्रवित्प्रीतः सर्वानर्हति धर्मतः ॥ १३१ ॥

जिस श्राद्धमें हजारगुना हजार (दस लाख) विना पढ़े हुए ब्राह्मण भोजन करते हैं, वहाँ यदि वेद पढ़नेवाला एक ही ब्राह्मण भोजन कर सन्तुष्ट हो तो उन दस लाख भोजन करनेवाले ब्राह्मणोंके योग्य होता (उनके बराबर फलको देता) है ॥ १३१ ॥

यत्र श्राद्धे ब्राह्मणानामवेदविदां दशलक्षाणि भुञ्जते तत्रैको वेदविद्भोजनेन परितुष्टो धर्मतो धर्मोत्पादनेन तान् सर्वानर्हति स्वीकर्तुं योग्यो भवति। तद्भोजनजन्यं फलं जनयतीत्यर्थः। छान्दसत्वादेकवचनम्। अथवा बहुवचनानां स्थाने सहस्रमिति मनोरभिमतम्। गोविन्दराजस्त्वाह-"सहस्रं गच्छन्तु भूतानि" इति वेदे॥ १३१॥

ज्ञानोत्कृष्टाय देयानि कव्यानि च हवींषि च।
न हि हस्तावसृग्दिग्धौ रुधिरेणैव शुद्ध्यतः॥ १३२॥

ज्ञानसे श्रेष्ठ ब्राह्मणको ही कव्य तथा हव्य देना (श्राद्ध तथा यज्ञमें भोजन कराना, दान देना) चाहिये। क्योंकि रक्तसे लिप्त हाथ रक्तके द्वारा (धोनेसे) शुद्ध (साफ) नहीं होता है, (किन्तु निर्मल पानीसे धोनेपर ही रक्तादि-दूषित हाथ शुद्ध होता है, अत एव विद्वान् ब्राह्मणको ही भोजन करानेसे श्राद्धादि का फल मिल सकता है, अन्यथा नहीं)॥ १३२॥

विद्यया उत्कृष्टेभ्यो हव्यानि कव्यानि च देयानि, न मूर्खेभ्यः। अर्थान्तरन्यासो नामालंकारः। न हि रक्ताक्तौ हस्तौ रक्तेनैव विशुद्धौ भवतः किंतु विमलजलेन, एवं मूर्खभोजनेन जनितं दोषं न मूर्ख एव भोजितोऽपहन्ति किंतु विद्वान्॥ १३२॥

अविद्वन्निन्दया विद्वद्दानमेवोक्तं वक्रोक्त्या स्तौति—

यावतो ग्रसते ग्रासान्हव्यकव्येष्वमन्त्रवित्।
तावतो ग्रसते प्रेत्य दीप्तशूलर्ष्ट्ययोगुडान्॥ १३३॥

वेदमन्त्रको नहीं जाननेवाला ब्राह्मण हव्य (यज्ञ) तथा कव्य (श्राद्ध) में जितने ग्रासोंको खाता है, श्राद्धकर्ता (उक्त कर्मोंमें उस मूर्ख ब्राह्मणको भोजन करानेवाला) मरनेपर उतने ही गरम गरम शूलर्ष्टि (दोतरफा धारवाला अस्त्र-विशेष) और लोहेके पिण्डोंको खाता है (अतः मूर्ख ब्राह्मणको श्राद्ध में भोजन नहीं कराना चाहिये)॥ १३३॥

यत्संख्याकान्ग्रासान्हव्यकव्येष्ववेदविद् भुङ्क्ते तत्संख्याकानेव प्रकृतश्राद्धकर्ता ज्वलितशूलर्ष्ट्याख्यायुधलोहपिण्डान्ग्रसते, श्राद्धकर्तुरेवेदमविद्वद्दानफलकथनम्। तथा च व्यासः—

"ग्रसते यावतः पिन्डान्यस्य वै हविषोऽनृचः।
ग्रसते तावतः शूलान्गत्वा वैवस्वतक्षयम्॥ १३३॥"

ज्ञाननिष्ठा द्विजाः केचित्तपोनिष्ठास्तथाऽपरे।
तपःस्वाध्यायनिष्ठाश्च कर्मनिष्ठास्तथाऽपरे॥ १३४॥

कोई ब्राह्मण ज्ञाननिष्ठ (आत्मज्ञानी होते हैं) कोई तपोनिष्ठ (प्राजापत्यादि तपस्यामें आसक्त) होते हैं, कोई तप तथा स्वाध्याय (वेदपाठ) में निष्ठ आसक्त होते हैं और कोई कर्मनिष्ठ होते हैं॥ १३४॥

केचिदात्मज्ञानपरा ब्राह्मणा भवन्ति, अन्ये प्राजापत्यादितपःप्रधानाः, अपरे तपोऽध्ययननिरताः, इतरे यागादिपराः॥ १३४॥

ततः किमत आह—

ज्ञाननिष्ठेषु कव्यानि प्रतिष्ठाप्यानि यत्नतः।
हव्यानि तु यथान्यायं सर्वेष्वेव चतुर्ष्वपि॥ १३५॥

उन ज्ञाननिष्ठ (आत्मज्ञानी) ब्राह्मणोंके लिए कव्य दान (पितरोंके उद्देश्यसे अन्नदान—भोजनादि) करना चाहिये और हव्य दान (देवताओंके उद्देश्यसे अन्नदान—भोजनादि) उन चारों (३।१३४) के लिए करना चाहिये ॥ १३५ ॥

ज्ञानप्रधानेभ्यः पित्रार्थान्नानि यत्नाद्दातव्यानि, देवान्नानि पुनर्न्यायावधृतार्थशास्त्रानुसारेण चतुर्भ्योऽपि ॥ १३५ ॥

अश्रोत्रियो पिता यस्य पुत्रः स्याद्वेदपारगः ।
अश्रोत्रियो वा पुत्रः स्यात्पिता स्याद्वेदपारगः ॥ १३६ ॥

जिसका पिता वेदज्ञाता नहीं है और पुत्र वेदज्ञाता है, अथवा जिसका पिता वेदज्ञाता है और पुत्र वेदज्ञाता नही है—॥ १३६ ॥

योऽश्रोत्रियपितृकः स्वयं च श्रोत्रियः, यः श्रोत्रियपितृकः स्वयं वा अश्रोत्रियः ॥ १३६ ॥ तयोः कः श्रेष्ठ इत्युपन्यस्य विशेषमाह—

ज्यायांसमनयोर्विद्याद्यस्य स्याच्छ्रोत्रियः पिता ।
मन्त्रसम्पूजनार्थं तु सत्कारमितरोऽर्हति ॥ १३७ ॥

उन दोनों (३।१३६) में से जिसका पिता वेदज्ञाता है, वही (स्वयं वेदज्ञाता न होने पर भी) श्रेष्ठ है तथा दूसरा (जिस का पिता वेदज्ञाता नहीं है, किन्तु वह स्वयं वेदज्ञाता है; वह) पठित वेदमन्त्रों की पूजा के लिये सत्कार करने योग्य है ॥ १३७ ॥

अनयोः पूर्वश्लोकनिर्दिष्टयोर्मध्ये श्रोत्रियपुत्रं स्वयमश्रोत्रियमपि ज्येष्ठं जानीयात् । पितृविद्यादरपरमिदम् । यः पुनरश्रोत्रियस्य पुत्रः स्वयं च श्रोत्रियः स तदधीतवेदपूजनार्थं पूजामर्हति । वेद एव तद्द्वारेण पूज्यत इति पुत्रविद्यादरपरमिदम् । तस्माद्वचनभङ्गया श्रोत्रियपुत्रः स्वयं च श्राद्धे भोजयितव्य इत्युक्तम् । न तु श्रोत्रियपुत्रस्य स्वयमश्रोत्रियस्यैवाभ्यनुज्ञानं, श्रोत्रियायैव देयानीति विरोधात् , एवं च "दूरादेव परीक्षेत" (म. स्मृ. ३।१३०) इति विद्याव्यतिरिक्ताचारादिपरीक्षार्थत्वेनावतिष्ठते ॥ १३७ ॥

न श्राद्धे भोजयेन्मित्रं धनैः कार्योऽस्य संग्रहः ।
नारिं न मित्रं यं विद्यात्तं श्राद्धे भोजयेद् द्विजम् ॥ १३८ ॥

श्राद्ध (तथा यज्ञ) में मित्र को भोजन नहीं करावे, धन के द्वारा मित्रता को बढ़ावे जिस (वेदज्ञाता) को न शत्रु और न मित्र समझे, उस (ब्राह्मण) को ही श्राद्ध (तथा यज्ञ) में भोजन करावे ॥ १३८ ॥

श्राद्धे न मित्रं भोजयेत् । धनान्तरैरस्य मैत्री सम्पादनीया । न शत्रुं न च मित्रं यं जानीयात्तं ब्राह्मणं श्राद्धे भोजयेत ॥ १३८ ॥

यस्य मित्रप्रधानानि श्राद्धानि च हवींषि च ।
तस्य प्रेत्य फलं नास्ति श्राद्धेषु च हविःषु च ॥ १३९ ॥

जिसका कव्य (पितरों के उद्देश्य से किया हुआ श्राद्ध) तथा हव्य (देवों के उद्देश्य से किया गया यज्ञादि) मैत्री-प्रधान है अर्थात् जिस श्राद्ध तथा यज्ञ में मुख्यतः मित्रों को भोजन कराया जाता है, उस कव्य तथा हव्य (श्राद्ध तथा यज्ञ) का परलोक में कोई फल नहीं है (परलोक-प्राप्त्यर्थ श्राद्ध तथा यज्ञ में मित्रों को प्रधानतः भोजन कराना या दान देना निष्फल है) ॥ १३९ ॥

मित्रशब्दोऽयं भावप्रधानः। यस्य मैत्रीप्रधानानि हव्यकव्यानि तस्य पारलौकिकं फलं न भवतीति फलाभावकथनपरमिदम्। प्रेत्येति परलोक इत्यर्थे शब्दान्तरमव्ययमिदं न तु क्त्वान्तम्। तेनासमानकर्तृकत्वे कथं क्त्वेति नाशङ्कनीयम् ॥ १३९ ॥

स्वर्गफलं श्राद्धस्य दर्शयितुं पूर्वोक्तफलाभावमेव विशेषेण कथयति—

यः सङ्गतानि कुरुते मोहाच्छ्राद्धेन मानवः।
स स्वर्गाच्च्यवते लोकाच्छ्राद्धमित्रो द्विजाधमः ॥ १४० ॥

जो मनुष्य मोहवश (शास्त्रज्ञानके नहीं होनेसे) श्राद्धके द्वारा मित्रता करता है, श्राद्धमित्र (श्राद्धके लिये ही मित्रता का निर्वाह करने वाला) वह नीच ब्राह्मण स्वर्ग से भ्रष्ट होता है (उसे स्वर्गकी प्राप्ति नहीं होती) ॥ १४० ॥

यो मनुष्यः सङ्गतानि मित्रभावं शास्त्रानभिज्ञतया श्राद्धेन कुरुते श्राद्धमेव मित्रलाभहेतुत्वान्मित्रं यस्य स श्राद्धमित्रो द्विजापसदः स स्वर्गलोकाच्चयते, तं न प्राप्नोतीत्यर्थः। श्राद्धस्यापि स्वर्गफलत्वमाह याज्ञवल्क्यः—

"आयुः प्रजां धनं विद्यां स्वर्गं मोक्षं सुखानि च।
प्रयच्छन्ति तथा राज्यं प्रीता नृणां पितामहाः" (या. स्मृ. १।२७०) ॥१४०॥

सम्भोजनी साऽभिहिता पैशाची दक्षिणा द्विजैः।
इहैवास्ते तु सा लोके गौरन्धेवैकवेश्मनि ॥ १४१ ॥

हव्य-कव्यमें की गयी संभोजनी (अनेक मित्रादिका एक साथ भोजन करना अर्थात् जिसे गोठ, दावत, ज्यौनार आदि कहते हैं, वह), पैशाची (पिशाचके धर्मवाली) दक्षिणा (दानक्रिया भोजनादि) कही गयी है और जैसे अन्धी गौ एक घरसे दूसरे घरमें नहीं जा सकती, वैसे ही वह दक्षिणा भी इसी लोकमें फल देनेवाली है (परलोकमें नहीं) ॥ १४१ ॥

सा दक्षिणा दानक्रिया सम्भोजनी सह भुज्यते यया सा सम्भोजनी गोष्ठी बहुपुरुषभोजनात्मिका पिशाचधर्मत्वात्पैशाची मन्वादिभिरुक्ता। सा च मैत्रप्रयोजनकत्वान्न परलोकफला इह लोक एवास्ते। यथान्धा गौरेकस्मिन्नेव गृहे तिष्ठति न गृहान्तरगमनक्षमा ॥ १४१ ॥

यथेरिणे बीजमुप्त्वा न वप्ता लभते फलम्।
तथाऽनृचे हविर्दत्त्वा न दाता लभते फलम् ॥ १४२ ॥

जैसे ऊसर भूमिमें बीजको बोनेवाला (गृहस्थ-किसान) फल नहीं पाता है, वैसे ही वेदाध्ययनसे हीन ब्राह्मणको हविर्दानकरके दानकर्ता श्राद्धके फलको नहीं पाता है ॥ १४२ ॥

ईरिणमूषरदेशो यत्र बीजमुप्तं न प्ररोहति तत्र यथा बीजमुप्त्वा कर्षको न फलं प्राप्नोत्येवमविदुषे श्राद्धदानफलं दाता न प्राप्नोतीति ॥ १४२ ॥

दातॄन्प्रतिग्रहीतॄंश्च कुरुते फलभागिनः।
विदुषे दक्षिणां दत्त्वा विधिवत्प्रेत्य चेह च ॥ १४३ ॥

विधिपूर्वक हव्य-कव्यको विद्वान्के लिये देनेवाला व्यक्ति इस लोकमें भी दाता (दान देनेवाला) और प्रतिग्रहीता (दान लेनेवाला)—दोनों को फलभागी बनाता है ॥ १४३ ॥

वेदतत्त्वविदे यथाशास्त्रं दत्तमैहिकामुष्मिकफलभागिनो दातॄन्करोति। ऐहिकं फलं यथाशास्त्रानुष्ठानेन लोके ख्यातिरूपमानुषङ्गिकमिति[1] मेधातिथिगोविन्दराजौ। वयं त्वायुरादिकमेवैहिकफलं ब्रूमः, "आयुः प्रजां धनं विद्याम्" (या. स्मृ. १।२७०) इत्याद्यैहिकामुष्मिकादिफलत्वेनापि श्राद्धस्य याज्ञवल्क्यादिभिरुक्तत्वात्। प्रतिग्रहीतॄंश्च श्राद्धलब्धधनानुष्ठितयागादिफलेन परलोके सफलान् कुरुते, अन्यायार्जितधनानुष्ठितयागादेरफलप्रदत्वात्; इह लोके न्यायार्जितधनारब्धकृष्यादिफलातिशयलाभात्सफलान् कुरुते ॥ १४३ ॥

कामं श्राद्धेऽर्चयेन्मित्रं नाभिरूपमपि त्वरिम्।
द्विषता हि हविर्भुक्तं भवति प्रेत्य निष्फलम् ॥ १४४ ॥

(हां, विद्वान् वेदज्ञाताके नहीं मिलनेपर) श्राद्धमें मित्रको भोजन करावे, किन्तु विद्वान् भी शत्रुको नहीं (भोजन करावे), क्योंकि शत्रुको भोजन कराया गया हविष्य परलोक में निष्फल होता है ॥ १४४ ॥

वरं विद्वद्ब्राह्मणाभावे गुणवन्मित्रं भोजयेन्न तु विद्वांसमपि शत्रुम्। यतः शत्रुणा श्राद्धं भुक्तं परलोके निष्फलं भवति। यथोक्तपात्रासम्भवे मित्रप्रतिप्रसवार्थमिदम् ॥ १४४ ॥

"श्रोत्रियायैव देयानि" (म. स्मृ. ३।१२८) इत्यनेन छन्दोमात्राध्यायिनि श्रोत्रियशब्दप्रयोगात्तदाश्रयणमावश्यकमुक्तम्, इदानीं त्वधिकफलार्थं मन्त्रब्राह्मणात्मककृत्स्नशाखाध्यायिनि श्रोत्रिये दानमाह—

यत्नेन भोजयेच्छ्राद्धे बह्वृचं वेदपारगम्।
शाखान्तगमथाध्वर्युं छन्दोगं तु समाप्तिकम् ॥ १४५ ॥

मन्त्र-ब्राह्मण-शाखाको पढ़े हुए ऋग्वेदी, यजुर्वेदी, वेदोंका पारगामी (सम्पूर्ण वेद को पढ़े हुए) सब शाखाओंको पढ़े हुये ऋत्विज्, वेदोंको पढ़कर समाप्त किये विद्वान् ब्राह्मणको प्रयत्नपूर्वक श्राद्धमें भोजन करावे ॥ १४५ ॥

ऋग्वेदिनं मन्त्रब्राह्मणात्मकशाखाध्यायिनं यत्नतो भोजयेत्। तथाविधमेव यजुर्वेदिनम्। वेदस्य पारं गच्छतीति वेदपारगः। शाखाया अन्तं गच्छतीति शाखान्तगः। समाप्तिरस्यास्तीति समाप्तिकः सर्वैरेव शब्दैर्मन्त्रब्राह्मणात्मककृत्स्नशाखाऽध्येताऽभिहितः ॥ १४५ ॥

तद्भोजनेऽधिकं फलमाह—

एषामन्यतमो यस्य भुञ्जीत श्राद्धमर्चितः।
पितॄणां तस्य तृप्तिः स्याच्छाश्वती साप्तपौरुषी ॥ १४६ ॥

पूर्वोक्त (३।१४५) ब्राह्मणोंमें से एक भी ब्राह्मण पूजित होकर श्राद्धमें भोजन करे तो श्राद्धकर्ताके पुत्रादि सात पीढ़ी तक पितर अक्षय तृप्तिको पाते हैं ॥ १४६ ॥

एषां सम्पूर्णशाखाध्यायिनां बह्वृचादीनां मध्यादन्यतमो यस्य सम्यक् पूजितः सन् श्राद्धे

---

१. विदुषे या दक्षिणा दीयते सा दातॄन् फलभागिनः कुरुते इति युक्तं, प्रतिग्रहीतारस्तु कुतरत् फलं भुञ्जते? यदि तावददृष्टं, तदयुक्तम्, अनोदितत्वात् प्रतिग्रहस्य दृष्टफललाभेन प्रवृत्तेः। अथ दृष्टं तदविदुषोऽपि दृश्यते। सत्यम्, प्रशंसैषा ईदृशमेतद्विदुषे दानं यत्प्रतिग्रहीताऽप्यदृष्टफलभाग्भवेत् सत्यपि दृष्टे, किं पुनर्दातेति। प्रेत्य स्वर्गं इह कीर्तिर्यथाशास्त्रमनुतिष्ठतीति जनैः साधु वा दीयते विधिवदित्यनुवादो ददाति चैव धर्म्येष्विति।

भुङ्क्ते तस्य [1]पुत्रादिसप्तपुरुषाणां शाश्वती अविच्छिन्ना पितॄणां तृप्तिः स्यात्। 'साप्तपौरुषी' इत्यनुशतिकादित्वादुभयपदवृद्धिः, तस्य नाकृतिगणत्वात् ॥ १४६ ॥

एष वै प्रथमः कल्पः प्रदाने हव्यकव्ययोः।
अनुकल्पस्त्वयं ज्ञेयः सदा सद्भिरनुष्ठितः ॥ १४७ ॥

(भृगुमुनि महर्षियोंसे कहते हैं कि—) हव्य तथा कव्यके दान का यह पहला कल्प (मुख्य शास्त्र-विधान) कहा गया है। (इस मुख्य विधानके अभावमें) सज्जनोंसे अनुष्ठित (किया गया) अनुकल्प (गौण अर्थात् अप्रधान शास्त्र-विधान) यह है (जो आगे कहा गया है) ॥ १४७ ॥

हव्यकव्ययोरुभयोरेव प्रदाने यदसम्बन्धिश्रोत्रियादिभ्यो दीयत इत्ययं मुख्यः कल्प उक्तः। अयं तु मुख्याभावे वक्ष्यमाणोऽनुकल्पो ज्ञातव्यः सर्वदा साधुभिरनुष्ठितः ॥ १४७ ॥

मातामहं मातुलं च स्वस्रीयं श्वशुरं गुरुम्।
दौहित्रं विट्पतिं बन्धुमृत्विग्याज्यौ च भोजयेत् ॥ १४८ ॥

नाना, मामा, भानजा (बहन का पुत्र), श्वशुर, गुरु, दौहित्र (धेवता—पुत्रीका पुत्र), जामाता, बान्धव, (मौसी तथा फूआ आदि का पुत्र), ऋत्विज् तथा यज्ञकर्ता—इन दशोंको श्राद्ध में (मुख्य वेदज्ञाता नहीं मिलनेपर) भोजन करावे ॥ १४८ ॥

स्वस्रीयो भागिनेयः, गुरुर्विद्यागुरुराचार्यादिः, विट् दुहिता तस्याः पतिर्विट्पतिर्जामाता, बन्धुर्मातृष्वसृपितृष्वसृपुत्रादिः,एतान्मातामहादीन्दश मुख्यश्रोत्रियाद्यसम्भवे भोजयेत्॥१४८॥

न ब्राह्मणं परीक्षेत दैवे कर्मणि धर्मवित्।
पित्र्ये कर्मणि तु प्राप्ते परीक्षेत प्रयत्नतः ॥ १४९ ॥
[तेषामन्ये पङ्क्तिदूष्यास्तथाऽन्ये पङ्क्तिपावनाः।
अपाङ्क्तेयान्प्रवक्ष्यामि कव्यानर्हान्द्विजाधमान् ॥ ९ ॥]

धर्मात्मा पुरुष देवकार्यमें ब्राह्मण की परीक्षा (३।१३० के अनुसार विशेष छान-बीन) न करे, किन्तु पितृकर्म (पितरनिमित्तक श्राद्ध) में तो प्रयत्न-पूर्वक ब्राह्मणकी परीक्षा (अवश्य) करे ॥ १४९ ॥

[भृगु मुनि महर्षियोंसे कहते हैं कि) उन ब्राह्मणोंमें कुछ पङ्क्तिदूष्य (पङ्क्तिमें भोजन करनेसे दूषित करनेवाले) और कुछ पंक्तिपावन (पङ्क्ति में भोजन करने से पवित्र करनेवाले) ब्राह्मण होते हैं; कव्य (पितृश्राद्धनिमित्तक अन्न) के अयोग्य उन निम्न श्रेणिवाले अपाङ्क्तेय (पंक्तिको दूषित करनेवाले) ब्राह्मणोंको मैं कहूँगा ॥ ९ ॥]

धर्मज्ञो दैवश्राद्धे भोजनार्थं न ब्राह्मणं यत्नतः परीक्षेत। लोकप्रसिद्धिमात्रेणासौ साधुतया भोजयितव्यः। पित्र्ये पुनः कर्मण्युपस्थिते पितृपितामहाद्यभिजनपरीक्षा कर्तव्येति प्रयत्नतः शब्दस्यार्थः ॥ १४९ ॥

ये स्तेनपतितक्लीबा ये च नास्तिकवृत्तयः।
तान्हव्यकव्ययोर्विप्राननर्हान्मनुरब्रवीत् ॥ १५० ॥

---

१. सप्तपुरुषाश्च पिण्डभाजस्त्रयः पितृपितामहप्रपितामहाः; लेपभाजश्चतुर्थाद्यास्त्रयश्च, आत्मा सप्तम इत्यन्यत्रोक्ताः। तदाह पुत्रादीति। पुत्रोऽत्र श्राद्धकर्ता विवक्षित इति।

जो (ब्राह्मण) चोर, पतित (११ अध्यायोक्त) नपुंसक तथा नास्तिकका व्यवहार करनेवाले हैं, उन ब्राह्मणोंको मनुने हव्य (देवकार्य) तथा कव्य (पितृकार्य—श्राद्ध) में अयोग्य बतलाया है—॥ १५० ॥

स्तेनश्चौरः स च सुवर्णचोरादन्यः, तस्य पतितशब्देनैव ग्रहणात् । पतितो महापातकी, क्लीवो नपुंसकः, नास्तिकवृत्तिर्नास्ति परलोक इत्येवं वृत्तिः प्रवर्तनं यस्य एतान्दैवपितृकृत्ययोरुभयोरेवायोग्यान्मनुरब्रवीदिति । मनुग्रहणं निषेधादरार्थम्, सर्वधर्माणामेव मनुनोक्तत्वात् ॥ १५० ॥

जटिलं चानधीयानं दुर्वलं कितवं तथा ।
याजयन्ति च ये पूगांस्तांश्च श्राद्धे न भोजयेत् ॥ १५१ ॥

वेदको नहीं पढ़ता हुआ ब्रह्मचारी, दुर्वल-दूषित चमड़े वाला (मेधातिथि के मतसे खल्वाट—(जिसके शिरमें बाल न हो वह, तथा लाल (भूरे) बालों वाला या दूषित चमड़ेवाला), जुआरी (स्वयं जुआ खेलनेवाला), बहुतोंको यज्ञ करानेवाला, इन सबको श्राद्धमें भोजन न करावे ॥१५१॥

जटिलो ब्रह्मचारी । "मुण्डो वा जटिलो वा स्यात्" (म. स्मृ. २ । २१९) इत्युक्तब्रह्मचार्युपलक्षणत्वाज्जटिलत्वस्य मुण्डोऽपि निषिध्यते । अनधीयानं वेदाध्ययनरहितं यस्योपनयनमात्रं कृतं न वेदादेशः तेनास्वीकृतवेदस्यापि ब्रह्मचारिणो वेदाध्ययनकर्तुरभ्यनुज्ञानार्थोऽयं निषेधः । अतः 'श्रोत्रियायैव देयानि" (म. स्मृ. ३ । १२८) इति ब्रह्मचारीतरविषयम् । दुर्वलो दुश्चर्मा । मेधातिथिस्तु दुर्वालमिति पठित्वा खलतिर्लोहितकेशो वा दुश्चर्मा वेत्यर्थत्रयमुक्तवान् । कितवो द्यूतकृत् । पूगयाजका बहुयाजकाः । "पूगः क्रमुकवृन्दयोः" (अमरकोषे नानार्थव० श्लो. २०) इत्याभिधानिकाः । अत एव वसिष्ठः—

"यश्चापि बहुयाज्यः स्याद्यश्चोपनयते बहून् ।"इति ।

तान्श्राद्धे न भोजयेदिति न दैवे निषेधः । यत्रोभयत्र निषेधो मनोरभिमतस्तत्र हव्यकव्यग्रहणमुभयत्रेति वा करोति ॥ १५१ ॥

चिकित्सकान्देवलकान्मांसविक्रयिणस्तथा ।
विपणेन च जीवन्तो वर्ज्याः स्युर्हव्यकव्ययोः ॥ १५२ ॥

वैद्य, मन्दिर का पुजारी (वेतन लेकर मन्दिरोंमें पूजाकी जीविका करनेवाला), एकवार भी मांस बेचनेवाला और व्यापार कर्मसे जीनेवाला,—इन ब्राह्मणोंको हव्य तथा कव्य (देवकार्य तथा पितृश्राद्ध) में भोजन न करावे ॥ १५२ ॥

चिकित्सको भिषक्, देवलकः प्रतिमापरिचारकः, वर्तनार्थत्वेनैतत्कर्म कुर्वतोऽयं निषेधो न तु धर्मार्थम्,

"देवकोशोपभोजी च नाम्ना देवलको भवेत् ।"

इदि देवलवचनात् । मांसविक्रयिणः सकृदपि, "सद्यः पतति मांसेन" (म. स्मृ. १० । ९२) इति लिङ्गात् । विपणेनेति । विपणो वणिज्या तया जीवन्तः । हव्यकव्ययोरित्यभिधानाद्दैवे पित्र्ये चैते त्याज्याः ॥ १५२ ॥

प्रेष्यो ग्रामस्य राज्ञश्च कुनखी श्यावदन्तकः ।
प्रतिरोद्धा गुरोश्चैव त्यक्ताग्निर्वार्धुषिस्तथा ॥ १५३ ॥

राजा तथा ग्राम का प्रेष्य (चपरासी आदि—जो राजा या ग्रामाध्यक्षादिसे वेतन लेकर उनकी आज्ञानुसार इधर उधर जाता है), निन्दित नखवाला, काले दाँतवाला, गुरुके विरुद्ध आचरण करनेवाला, अग्निहोत्र नहीं करनेवाला, व्याज (सूद) लेकर जीविका चलानेवाला—॥ १५३ ॥

भृतिग्रहणपूर्वकं ग्रामाणां राज्ञश्चाज्ञाकारि। कुत्सितनखकृष्णदन्तः। गुरुप्रतिकूलाचरणशीलस्त्यक्तश्रौतस्मार्ताग्निकलोपजीविनश्च हव्यकव्ययोर्वर्ज्या इति पूर्वस्यैवात्रानुषङ्ग उत्तरत्र एव च ॥ १५३ ॥

यक्ष्मी च पशुपालश्च परिवेत्ता निराकृतिः।
ब्रह्मद्विट् परिवित्तिश्च गणाभ्यन्तर एव च ॥ १५४ ॥

राजयक्ष्मा (क्षय) का रोगी, पशुपालन, (बकरी-भेंड़ आदिके पालन) की जीविकावाला, परिवेत्ता (३।१७१), पञ्चमहायज्ञ (३।७०) से हीन तथा देवताओंका निन्दक, ब्राह्मणसे विरोध रखनेवाला, परिवित्ति (३।१७१), चन्दा लेकर जीविका चलानेवाला—॥ १५४ ॥

यक्ष्मी क्षयरोगी, पशुपालो वृत्त्यर्थतया छागमेषादिपोषकः, परिवेत्तृपरिवित्ती वक्ष्यमाणलक्षणौ, निराकृतिः पञ्चमहायज्ञानुष्ठानरहितः। तथा च छन्दोगपरिशिष्टम्—

"निराकर्ताऽमरादीनां स विज्ञेयो निराकृतिः।"

ब्रह्मद्विट् ब्राह्मणादीनां द्वेष्टा, गणाभ्यन्तरो गणार्थोपसृष्टलब्धधनाद्युपजीवी ॥ १५४ ॥

कुशीलवोऽवकीर्णी च वृषलीपतिरेव च।
पौनर्भवश्च काणश्च यस्य चोपपतिर्गृहे ॥ १५५ ॥

नर्तक (नृत्य करनेवाला), स्त्रीसम्भोगसे व्रतभ्रष्ट ब्रह्मचारी (तथा संन्यासी), शूद्रा (शूद्रजात्युत्पन्न स्त्री) का पति, विधवा—विवाहसे उत्पन्न, काणा, जिसके घरमें स्त्रीका उपपति (जार, रखेल) रहता हो वह—॥ १५५ ॥

कुशीलवो नर्तनवृत्तिः, अवकीर्णी स्त्रीसम्पर्काद्विलुप्तब्रह्मचर्यः प्रथमाश्रमी यतिश्च, वृषलीपतिः सवर्णामपरिणीय कृतशूद्राविवाहः पौनर्भवः पुनर्भूपुत्रो वक्ष्यमाणः, उपपतिर्यस्य जायाजारो गृहेऽस्ति ॥ १५५ ॥

भृतकाध्यापको यश्च भृतकाध्यापितस्तथा।
शूद्रशिष्यो गुरुश्चैव वाग्दुष्टः कुण्डगोलकौ ॥ १५६ ॥

वेतन लेकर पढ़ानेवाला, वेतन देकर पढ़नेवाला, शूद्र का शिष्य (व्याकरण आदि शास्त्रको पढ़ा हुआ), शूद्रका गुरु (व्याकरण आदि शास्त्र पढ़ानेवाला), रूखा बोलनेवाला, कुण्ड, गोलक (जारसे उत्पन्न सधवा स्त्रीका पुत्र 'कुण्ड' तथा जार से उत्पन्न विधवाका पुत्र गोलक ३।१७४)—॥ १५६ ॥

भृतिर्वेतनं तद्ग्राही भृतकः सन् योऽध्यापकः स तथा। एवं भृतकाध्यापितः। शूद्रशिष्यो व्याकरणादौ। गुरुश्च तस्यैव। वाग्दुष्टः परुषभाषी, अभिशस्त इत्यन्ये। कुण्डगोलकौ वक्ष्यमाणौ ॥ १५६ ॥

अकारणपरित्यक्ता मातापित्रोर्गुरोस्तथा।
ब्राह्मैर्यौनैश्च सम्बन्धैः संयोगं पतितैर्गतः ॥ १५७ ॥

निष्कारण माता, पिता और गुरुका (शुश्रूषादिका) त्याग करनेवाला, पतितोंके साथ ब्राह्म (वेदशास्त्राध्ययन आदि ब्रह्मविषयक) तथा यौन (कन्या विवाहादि यौनिक विषयक) सम्बन्ध रखनेवाला—॥ १५७ ॥

मातुः पितुर्गुरूणां च परित्यागकारणं विना त्यक्ता शुश्रूषादेरकर्ता, पतितैश्चाध्ययनकन्यादानादिभिः सम्बन्धैः सम्पर्कं गतः। पतितत्वादेवास्य निषेध इति चेत् ? न, संवत्सरात्प्रागिदं भविष्यति, संवत्सरेण पततीति वक्ष्यमाणत्वात् ॥ १५७ ॥

अगारदाही गरदः कुण्डाशी सोमविक्रयी।
समुद्रयायी वन्दी च तैलिकः कूटकारकः ॥ १५८ ॥

घर में आग लगानेवाला, विष (जहर) देनेवाला, कुण्ड (३।१७४) के अन्नको खानेवाला, सोमलताको वेचनेवाला, (जहाज आदिसे) समुद्रयात्रा करने वाला, वन्दी (भाट—प्रशंसा सम्बन्धी कविता पढ़नेवाला), तेल पेरनेवाला, झूठा गवाही देनेवाला—॥ १५८ ॥

गृहदाहकः, मरणहेतुद्रव्यस्य दाता, कुण्डस्य वक्ष्यमाणस्य योऽन्नमश्नाति। प्रदर्शनार्थत्वात्कुण्डस्येव गोलकस्यापि ग्रहणम्। अत एव देवलः—

"अमृते जारजः कुण्डो मृते भर्तरि गोलकः।
यस्तयोरन्नमश्नाति स कुण्डाशीति कथ्यते ॥"

सोमलताविक्रेता, समुद्रे यो वहित्रादिना द्वीपान्तरं गच्छति, वन्दी स्तुतिपाठकः, तैलार्थं तिलादिवीजानां पेष्टा, साक्षिवादे कूटस्य मृषावादस्य कर्ता ॥ १५८ ॥

पित्रा विवदमानश्च कितवो मद्यपस्तथा।
पापरोग्यभिशस्तश्च दाम्भिको रसविक्रयी ॥ १५९ ॥

पिताके साथ (शास्त्रीय या लौकिक विषयमें) निरर्थक झगड़नेवाला, जुआ खेलानेवाला (स्वयं जुआ खेलना नहीं जाननेके कारण दूसरों को खेलानेवाला), मदिरा पीनेवाला, कोढ़ी, (अनिर्णीत होनेपर भी) महापातक (११।५४) से अभिशप्त (निन्दित), कपटपूर्वक धर्मकर्ता, गन्ने आदिका रस वेचनेवाला—॥ १५९ ॥

पित्रा सह शास्त्रार्थे लौकिके वा वस्तुनि निरर्थं यो विवदते, कितवो यः स्वयं देवितुमनभिज्ञः स्वार्थं परान्देवयति, न स्वयं देविता, तस्योक्तत्वात्। न च सभिकः, तस्य द्यूतवृत्तिपदेनाभिधास्यमानत्वात्। "केकरः" इति पाठे तिर्यग्दृष्टिः, सुराव्यतिरिक्तमद्यपाता, कुष्ठी, अनिर्णीतेऽपि तस्मिन्महापातकादौ जाताभिशापः, छद्मना धर्मकारी इक्षुरसादिविक्रेता ॥ १५९ ॥

धनुःशराणां कर्ता च यश्चाग्रेदिधिषूपतिः।
मित्रध्रुग्द्यूतवृत्तिश्च पुत्राचार्यस्तथैव च ॥ १६० ॥

धनुष और वाणको वनानेवाला, अग्रेदिधिषू (वड़ी वहनके अविवाहित रहने पर विवाहित छोटी वहन) का पति, मित्रद्रोही, द्यूतशालाका अध्यक्ष (जिसे 'नालदार' कहते हैं तथा जिसे दांव पर जीते हुए द्रव्यमें से प्रतिरुपया शायद दो पैसा मिलता हैं), पुत्रके द्वारा पढ़ाया गया पिता—॥

धनूंषि शरांश्च यः करोति, ज्येष्ठायां सोदरभगिन्यामनूढायां या कनिष्ठा विवाहे दीयते साऽग्रेदिधिषूस्तस्याः पतिः। तथा च लौगाक्षिः—

ज्येष्ठायां यद्यनूढायां कन्यायामुह्यतेऽनुजा।
सा चाग्रेदिधिषूर्ज्ञेया पूर्वा तु दिधिषूः स्मृता ॥

गोविन्दराजस्तु "भ्रातुर्मृतस्य भार्यायाम्" (म. स्मृ. ३ । १७३) इत्यनेनाग्रेदिधिषूपतिरेव वृत्तिवशादग्रेपदलोपेन दिधिषूपतिरिति मनुना वक्ष्यते स इह गृह्यत इत्याह।

मित्रध्रुक् यो मित्रस्यापकारे वर्तते, द्यूतवृत्तिः सभिकः, पुत्रेणाध्यापितः पिता, मुख्येन पुत्राचार्यत्वासम्भात् ॥ १६० ॥

भ्रामरी गण्डमाली च श्वित्र्यथो पिशुनस्तथा ।
उन्मत्तोऽन्धश्च वर्ज्याः स्युर्वेदनिन्दक एव च ॥ १६१ ॥

अपस्मार (मूर्च्छा) का रोगी, गण्डमालाका रोगी, श्वेतकुष्ठ (चरक) का रोगी, चुगलखोर, उन्मादी (पागल), अन्धा, वेदका निन्दक—॥ १६१ ॥

अपस्मारी, गण्डमालाख्यव्याध्युपेतः, श्वेतकुष्ठयुक्तः, दुर्जनः, उन्मादवान्, अचक्षुः, वेदनिन्दाकरः ॥ १६१ ॥

हस्तिगोऽश्वोष्ट्रदमको नक्षत्रैर्यश्च जीवति ।
पक्षिणां पोषको यश्च युद्धाचार्यस्तथैव च ॥ १६२ ॥

हाथी, घोड़ा तथा ऊँटको शिक्षित करने (सिखाने) वाला, ज्योतिषी, चिड़ियोंको (स्वयं क्रीडाके लिये या बेचनेके लिये) पालनेवाला. युद्धकी शिक्षा देनेवाला—॥ १६२ ॥

हस्तिगवाश्वोष्ट्राणां विनेता, नक्षत्रशब्देन ज्योतिःशास्त्रमुपलक्ष्यते तेन यो वर्तते, पक्षिणां पञ्जरस्थानां क्रीडाद्यर्थं विक्रयार्थं वा पोषकः, युद्धार्थमायुधविद्योपदेशकः ॥ १६२ ॥

स्रोतसां भेदको यश्च तेषां चावरणे रतः ।
गृहसंवेशको दूतो वृक्षारोपक एव च ॥ १६३ ॥

(बहनेवाले झरना, तालाब, नहर या नदी आदिके बांध या पुलको तोड़कर दूसरी तरफ ले जानेवाला, तथा उन (नदी, नहर आदि) के प्रवाहको रोकनेवाला घर बनाने की जीविकावाला, (घरोंका ठेकेदार या राज-मिस्त्री आदि), दूत, (वेतन लेकर) पेड़ोंको लगानेवाला—॥ १६३ ॥

प्रवहज्जलानां सेतुभेदादिना देशान्तरनेता, तेषामेवावरणकर्ता निजगतिप्रतिबन्धकः, सन्निवेशोपदेशको वास्तुविद्योपजीवी, दूतो राजग्रामप्रेष्यव्यतिरिक्तोऽपि, वृक्षरोपयिता वेतनग्रहणेन, न तु धर्मार्थी, "पञ्चाम्ररोपी नरकं न याति" इति विधानात् ॥ १६३ ॥

श्वक्रीडी श्येनजीवी च कन्यादूषक एव च ।
हिंस्रो वृषलवृत्तिश्च गणानां चैव याजकः ॥ १६४ ॥

कुत्तोंसे क्रीडा करनेवाला, बाज पक्षीसे जीविका करनेवाला, कन्याको (संभोगादिसे) दूषित करनेवाला, हिंसक, सूदसे जीविका चलानेवाला, गण-यज्ञ (विनायकशान्ति आदि) करानेवाला—॥ १६४ ॥

क्रीडार्थं शुनः पोषयति, श्येनैर्जीवति क्रयविक्रयादिना, कन्याभिगन्ता, हिंसारतः शूद्रोपकॢप्तवृत्तिः । "वृषलपुत्रश्च" इति पाठान्तरम् । वृषला एव केवलाः पुत्रा यस्येत्यर्थः । विनायकादिगणयागकृत् ॥ १६४ ॥

आचारहीनः क्लीवश्च नित्यं याचनकस्तथा ।
कृषिजीवी श्लीपदी च सद्भिर्निन्दित एव च ॥ १६५ ॥

आचरणसे हीन (गुरु-पिता आदिके आनेपर अभ्युत्थान प्रणामादि सदाचार पालन नहीं करनेवाला), नपुंसक (धर्मकार्य आदिमें उत्साहहीन), सदा याचना करनेवाला, (अन्य वृत्तिके संभव होने पर भी स्वयं) किसानी (खेती) करनेवाला, हाथीपांव का रोगी (जिसके पैर बहुत मोटे हाथी पैरके समान हो जाते हैं), किसी कारणसे सज्जनोंसे निन्दित—॥ १६५ ॥

गुर्वतिथिप्रत्युत्थानाद्याचारवर्जितः, क्लीबो धर्मकृत्यादौ निरुत्साहः नपुंसकस्योक्तत्वात्। नित्यं याचनेन परोद्वेजकः, स्वयंकृतया कृष्या यो जीवति, वृत्त्यन्तरेऽपि वा सम्भवत्यस्वयंकृतयाऽपि, श्लीपदी व्याधिना स्थूलचरणः, केनापि निमित्तेन साधूनां निन्दाविषयः ॥१६५॥

औरभ्रिको माहिषिकः परपूर्वापतिस्तथा ।
प्रेतनिर्यातकश्चैव वर्जनीयाः प्रयत्नतः ॥ १६६ ॥

भेंड़े तथा भैंसेकी जीविका करनेवाला, विधवाका पति, धन लेकर मुर्देको बाहर निकालने या फेंकनेवाला, इनको प्रयत्न-पूर्वक (वेदयज्ञ तथा पितृश्राद्धमें) छोड़ देना चाहिये ॥ १६६ ॥

मेषमहिषजीवनः परपूर्वा पुनर्भूस्तस्याः पतिः, प्रेतनिर्हारको धनग्रहणेन, न तु धर्मार्थम्, "एतद्वै परमं तपो यत्प्रेतमरण्यं हरन्ति" इत्यवश्यश्रुत्या विहितत्वात् ॥ १६६ ॥

एतान्विगर्हिताचारानपाङ्क्तेयान्द्विजाधमान् ।
द्विजातिप्रवरो विद्वानुभयत्र विवर्जयेत् ॥ १६७ ॥

इन (३।१५०-१६६) निन्दित, अपाङ्क्तेय (पङ्क्तिको दूषित करनेवाले) और द्विजोंमें अधम (नीच) ब्राह्मणोंको विद्वान् मनुष्य दोनों (हव्य-देवयज्ञ तथा कव्य-पितृश्राद्ध) में वर्जित करे (नहीं भोजन करावे) ॥ १६७ ॥

एतान्स्तेनादीन्निन्दिताचारान्काणादींश्च पूर्वजन्मार्जितनिन्दितकर्मशेषलब्धकाणादिभावान्साधुभिः सहैकत्र भोजनाद्यनर्हान्ब्राह्मणापसदान् ब्राह्मणश्रेष्ठः शास्त्रज्ञो दैवे पित्र्ये च त्यजेत् ॥ १६७ ॥

ब्राह्मणस्त्वनधीयानस्तृणाग्निरिव शाम्यति ।
तस्मै हव्यं न दातव्यं न हि भस्मनि हूयते ॥ १६८ ॥

जैसे तृणकी अग्नि (हविष्य डालने अर्थात् हवन करने पर) बुझ जाती है (और उनमें हवन करना व्यर्थ होता है), वैसे ही वेदाध्ययन से हीन ब्राह्मण है, अत एव उसे देवतोद्देश्य से हविर्दान नहीं करना चाहिये, क्योंकि भस्ममें हवन नहीं किया जाता है ॥ १६८ ॥

तृणाग्निर्यथा न हविर्दहनसमर्थो हविषि प्रक्षिप्ते शाम्यति निष्फलस्तत्र होमः, एवं वेदाध्ययनशून्यो ब्राह्मणस्तृणाग्निसमस्तस्मै देवोद्देशेन त्यक्तं हविर्न दातव्यम्, यतो भस्मनि न हूयते । श्रोत्रियायैव देयानीत्यनेनैवानधीयानस्यापि प्रतिषेधसिद्धौ स्तेनादिवत्पङ्क्तिदूषकत्वज्ञापनार्थं पुनर्वचनम् ।

अन्ये तु दैवेऽनधीयान एव वर्जनीयः, अधीयानस्तु काणादिरपि शारीरदोषयुक्तो ग्राह्य इत्येतदर्थं पुनर्वचनम् । अत एव वसिष्ठः—

"अथ चेन्मन्त्रविद्युक्तः शारीरैः पङ्क्तिदूषणैः ।
अदूष्यं तं यमः प्राह पङ्क्तिपावन एव सः ॥"

शारीरैः काणत्वादिभिर्न तु स्वयमुत्पाद्यैः स्तेनत्वादिभिः ॥ १६८ ॥

अपाङ्क्तदाने यो दातुर्भवत्यूर्ध्वं फलोदयः ।
दैवे हविषि पित्र्ये वा तत्प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ १६९ ॥

(भृगु मुनि महर्षियों से कहते हैं कि—) पङ्क्तिदूषक (पांतको दूषित करने वाले ३।१५०-१६६) ब्राह्मणोंको (हव्य-कव्यका) दान देनेके बाद जो फलोदय होता है, उसे कहूंगा ॥ १६९ ॥

पङ्क्तिभोजनानर्हब्राह्मणाय दैवे हविषि पित्र्ये वा दत्ते दातुर्यो दानादूर्ध्वं फलोदयस्तमशेषमभिधास्यामि ॥ १६९ ॥

अव्रतैर्यद् द्विजैर्भुक्तं परिवेत्त्रादिभिस्तथा।
अपाङ्क्तेयैर्यदन्यैश्च तद्वै रक्षांसि भुञ्जते ॥ १७० ॥

वेदाध्ययन व्रतसे हीन, परिवेत्ता (३।१७१) आदि तथा अन्य अपाङ्क्तेय (पङ्क्तिदूषक स्तेन आदि ३।१५०–१६६) ब्राह्मण जो (हव्य-कव्य) भोजन करते हैं; उस (हव्य-काव्य) को राक्षस भोजन करते हैं (वह श्राद्धादि कार्य निष्फल होता है, अतः इनको श्राद्धादिमें भोजन कराना नहीं चाहिये) ॥ १७० ॥

वेदग्रहणार्थं व्रतरहितैस्तथा परिवेत्त्रादिभिरन्यैश्चापाङ्क्तेयैः स्तेनादिभिर्यद्धव्यं कव्यं भुक्तं तद्रक्षांसि भुञ्जते। निष्फलं तच्छ्राद्धं भवतीत्यर्थः ॥ १७० ॥

अप्रसिद्धत्वात्परिवेत्त्रादिलक्षणमाह—

दाराग्निहोत्रसंयोगं कुरुते योऽग्रजे स्थिते।
परिवेत्ता स विज्ञेयः परिवित्तिस्तु पूर्वजः ॥ १७१ ॥

जो छोटा भाई बड़े भाई के अविवाहित रहते अग्निहोत्र नहीं लेने पर ही अपना विवाह तथा अग्निहोत्र ग्रहण कर लेता है, वह (छोटा भाई) 'परिवेत्ता' तथा बड़ा भाई 'परिवित्ति' कहलाता है ॥ १७१ ॥

अग्निहोत्रशब्दोऽयमग्निहोत्राद्याधानपरः। यः सहोदरे ज्येष्ठे भ्रातर्यनूढेऽनग्निके च दारपरिग्रहं श्रौतस्मार्ताग्निहरणं च कुरुते स परिवेत्ता ज्येष्ठश्च परिवित्तिर्भवति ॥ १७१ ॥

प्रसङ्गात्परिवेदनसम्बन्धिनां पञ्चानामप्यनिष्टं फलमाह—

परिवित्तिः परिवेत्ता यया च परिविद्यते।
सर्वे ते नरकं यान्ति दातृयाजकपञ्चमाः ॥ १७२ ॥

१ परिवेत्ता तथा २ परिवित्ति, ३ जिस (कन्या) से विवाह होता है वह ४ कन्यादान करनेवाला और ५ याजक (उस विवाहमें हवनादि करनेवाला ब्राह्मण) ये पांचों नरक को जाते हैं ॥ १७२ ॥

परिवित्तिः, परिवेत्ता च, यया च कन्यया परिवेदनं क्रियते, कन्याप्रदाता, याजकश्च तद्विवाहहोमकर्ता स पञ्चमो येषां ते सर्वे नरकं व्रजन्ति ॥ १७२ ॥

भ्रातुर्मृतस्य भार्यायां योऽनुरज्येत कामतः।
धर्मेणापि नियुक्तायां स ज्ञेयो दिधिषूपतिः ॥ १७३ ॥

मृत पति के सन्तानाभावके कारण वक्ष्यमाण (९।५९–६१) वचनानुसार धर्मसे नियुक्त भार्यामें जो कामवश अनुरक्त (आलिङ्गन–चुम्बनादि में प्रवृत्त) होता हैं, उसे 'दिधिषूपति' जानना चाहिये ॥ १७३ ॥

मृतस्य भ्रातुर्वक्ष्यमाणनियोगधर्मेणापि नियुक्तायां भार्यायां सकृत्सकृद्दतावृतावित्यादिविधिं हित्वा कामेनानुरागं भावयेदाश्लेषचुम्बनादिकुर्यादसकृद्वा प्रवर्तेत स दिधिपूपतिर्ज्ञातव्यः। अतः श्राद्धनिषिद्धपात्रमध्यपाठादस्यापि हव्यकव्यपात्रयोर्निषेधः कल्पनीयः ॥ १७३ ॥

परदारेषु जायेते द्वौ सुतौ कुण्डगोलकौ।
पत्यौ जीवति कुण्डः स्यान्मृते भर्तरि गोलकः॥ १७४॥
[उत्पन्नयोरधर्मेण हव्यकव्ये च नैत्यके।
यस्तयोरन्नमश्नाति स कुण्डाशी द्विजः स्मृतः॥ १०॥]

परायी स्त्रीमें 'कुण्ड' तथा 'गोलक'—ये दो पुत्र उत्पन्न होते हैं, पतिके जीते रहनेपर (सधवासे) जार (उपपति) के द्वारा उत्पन्न पुत्र 'कुण्ड' और पतिके मरनेपर (विधवासे) जारके द्वारा उत्पन्न पुत्र 'गोलक' (कहलाता) है॥ १७४॥

[अधर्मसे उत्पन्न उन दोनों (कुण्ड तथा गोलक ३।१७४) के अन्नको हव्य (देवतानिमित्तक) तथा कव्य (पितृ-निमित्तक) और नित्य कर्ममें जो भोजन करता है, वह द्विज 'कुण्डाशी' कहा गया है॥ १०॥]

परदारेषु कुण्डगोलकाख्यौ द्वौ सुतावुत्पद्येते। तत्र जीवत्पतिकायामुत्पन्नः कुण्डो, मृतपतिकायां च गोलकः॥ १७४॥

तौ तु जातौ परक्षेत्रे प्राणिनौ प्रेत्य चेह च।
दत्तानि हव्यकव्यानि नाशयेते प्रदायिनाम्॥ १७५॥

दूसरेकी स्त्रीमें उत्पन्न वे दोनों (३।१७४ में कथित कुण्ड तथा गोलक) मरकर तथा इस लोकमें भी दाताओंके दिये गये हव्य-कव्यको नष्ट (निष्फल) करते हैं॥ १७५॥

ते परभार्यायां जाताः कुण्डाद्या दृष्टानुपयोगात्प्राणिन इति व्यपदिष्टाः। प्राणिनौ ब्राह्मणत्वेऽपि तत्कार्याभावात्प्रेत्य फलाभावात्परलोके चानुषङ्गिककीर्त्यादिफलाभावाद्दत्तानि हव्यकव्यानि प्रेत्य फलाभावादिह कीर्तेरभावान्नाशयेते नाशयतः, प्रदायिभिर्दत्तानि हव्यकव्यानि निष्फलानि कुर्वन्ति॥ १७५॥

अपाङ्क्त्यो यावतः पाङ्क्त्यान्भुञ्जानाननुपश्यति।
तावतां न फलं तत्र दाता प्राप्नोति बालिशः॥ १७६॥

अपाङ्क्तेय (३।१५०-१६७ में कथित पंक्तिको दूषित करनेवाला) ब्राह्मण पङ्क्ति (भोजनकी पांत) में बैठे तथा भोजन करते हुए जितने ब्राह्मणोंको देखता है, भोजन करानेवाला वह मूर्ख उतने (पंक्तिपावन—पंक्तिको पवित्र करनेवाले भी) ब्राह्मणोंको भोजन करानेके फलको नहीं पाता है, (अतएव पङ्क्तिदूषक स्तेनादि, भोजन करते हुए ब्राह्मणोंको नहीं देख सकें, ऐसा प्रबन्ध भोजन-दाता को करना चाहिये)॥ १७६॥

सद्भिः सहैकपङ्क्त्यां भोजनानर्हः स्तेनादिर्यत्संख्यान्भोजनार्हान्पश्यति तावत्संख्यानां भोजनस्य फलं तत्र श्राद्धे दाता न प्राप्नोति, बालिशोऽज्ञः। अतः स्तेनादिर्यथा न पश्यति तथा कर्तव्यम्॥ १७६॥

वीक्ष्यान्धो नवतेः काणः षष्टेः श्वित्री शतस्य तु।
पापरोगी सहस्रस्य दातुर्नाशयते फलम्॥ १७७॥

अन्धा पङ्क्तिमें बैठकर भोजन करनेवाले ब्राह्मणोंको देखकर नब्बे ब्राह्मणों के, काना साठ ब्राह्मणों के, श्वेत कुष्ठी सौ ब्राह्मणोंके और पापरोगी (यक्ष्मा या कुष्ठका रोगी) हजार ब्राह्मणोंके (भोजन करानेसे मिलनेवाले) दाता (भोजन करानेवाले) के फलको नष्ट करता है॥ १७७॥

अन्धस्य वीक्षणासम्भवाद्वीक्षणयोग्यदेशसंनिहितोऽसौ पाङ्क्त्यानां नवतेर्भोजनफलं नाशयति, एवं काणः षष्टेः, श्वेतकुष्ठी शतस्य, पापरोगी रोगराजोपहतः सहस्रस्येत्यन्धादिसन्निधिनिरासार्थं वचनम्। गुरुलघुसंख्याऽभिधानं चेह संख्योपचये दोषगौरवं तत्र च प्रायश्चित्तगौरवमिति दर्शयितुम् ॥ १७७ ॥

यावतः संस्पृशेदङ्गैर्ब्राह्मणाञ्छूद्रयाजकः।
तावतां न भवेद्दातुः फलं दानस्य पौर्तिकम् ॥ १७८ ॥

शूद्रको यज्ञ करानेवाला (ब्राह्मण) अङ्गोंसे जितने ब्राह्मणोंका स्पर्श करता है, उतने ब्राह्मणोंके हव्य-कव्य दान करनेका फल दानकर्ताको नहीं मिलता है ॥ १७८ ॥

शूद्रस्य यज्ञादावृत्विग्यावत्संख्यान् ब्राह्मणान्स्पृशति "आसनेषूपक्लृप्तेषु" (म. स्मृ. ३। २०८) इत्यासनभेदस्य वक्ष्यमाणत्वान्मुख्यस्पर्शासम्भवे यावतां श्राद्धभोजिनां पङ्क्तावुपविशति तावतां सम्बन्धि पौर्तिकं फलं श्राद्धीयं दातुर्न भवति। तावतां पौर्तिकं फलं बहिर्वेदिदानाच्च यत्फलं तन्न भवति इति [1]मेधातिथिगोविन्दराजौ। अतस्तयैव निन्दया निषिद्धगणापठितस्यापि शूद्रयाजकस्य भोजननिषेधः कल्प्यते ॥ १७८ ॥

प्रसङ्गाच्च शूद्रयाजकप्रतिग्रहं निषेधयति लाघवार्थम्, अन्यत्र निषेधकरणे शूद्रयाजकशब्दोच्चारणं कर्तव्यं स्यात्।

वेदविद्यापि विप्रोऽस्य लोभात्कृत्वा प्रतिग्रहम्।
विनाशं व्रजति क्षिप्रमामपात्रमिवाम्भसि ॥ १७९ ॥

वेदज्ञाता ब्राह्मण भी लोभसे शूद्र-याजकका प्रतिग्रह (दान) लेकर पानीमें कच्चे घड़ेके समान (शरीरादिसे) शीघ्र नष्ट हो जाता है (तब मूर्ख ब्राह्मणके विषयमें कहना ही क्या है ? अर्थात् वह तो प्रतिग्रह लेकर अत्यन्त शीघ्र नष्ट हो ही जायेगा) ॥ १७९ ॥

वेदज्ञोऽपि ब्राह्मणः शूद्रयाजकस्य लोभात्प्रतिग्रहं कृत्वा शीघ्रं शरीरादिना विनाशं गच्छति, सुतरामवेदवित्। अपक्वमृन्मयशरावादिकमिवोदके ॥ १७९ ॥

सोमविक्रयिणे विष्ठा भिषजे पूयशोणितम्।
नष्टं देवलके दत्तमप्रतिष्ठं तु वार्धुषौ ॥ १८० ॥

सोमलता बेचनेवाले ब्राह्मणको दी गयी दान-वस्तु देनेवालेके भोजनार्थ विष्ठा; वैद्य-वृत्तिवाले ब्राह्मणको दी गई दान-वस्तु देने वालेके भोजनार्थ पूय (पीब) और शोणित (रक्त), 'पूजक देव-मन्दिरके पुजारी (वेतन लेकर पूजा करनेवाले) के लिये दी गयी दान-वस्तु नष्ट और सूदखोर ब्राह्मणके लिये दी गयी दान-वस्तु भी अप्रतिष्ठ (निष्फल) होती है ॥ १८० ॥

सोमविक्रयिणे यद्दत्तं तद् दातुर्भोजनार्थं विष्ठा सम्पद्यते। जन्मान्तरे विष्ठाभोजिनां जातौ जायत इत्यर्थः। एवं पूयशोणितेऽपि व्याख्येयम्। नष्टं नाशभागितया निष्फलं विवक्षितम्। अप्रतिष्ठमनाश्रयतया निष्फलमेव ॥ १८० ॥

यत्तु वाणिजके दत्तं नेह नामुत्र तद्भवेत्।
भस्मनीव हुतं हव्यं तथा पौनर्भवे द्विजे ॥ १८१ ॥

---

१. यावतो ब्राह्मणान् स्पृशत्यङ्गैः पङ्क्तिगतः अत्राप्यङ्गस्य स्पर्शनं न विवक्षितं किं तर्हि पूर्ववत्तद्देशसन्निधिः। पौर्तिकफलं पूर्ते भवं पौर्तिकं बहिर्वेदिदानाद्यत्फलं तत्पौर्तिकम्।

व्यापारी (व्यापारसे जीविका करनेवाले) ब्राह्मणको जो (हव्य-कव्य) दिया जाता है, वह इस लोक तथा परलोक में—कहीं भी फल देनेवाला नहीं होता है और विधवापुत्र के लिये दिया गया भस्म में हवन करनेके समान (निष्फल) होता है ॥ १८१ ॥

वाणिजकाय यद्दत्तं श्राद्धे तन्नेहानुपङ्क्तिककीर्त्यादिफलाय, नापि पारलौकिकफलाय भवति। पुनर्भूपुत्राय यद्दत्तं तद्भस्महुतहविःसमम्, निष्फलमित्यर्थः ॥ १८१ ॥

इतरेषु त्वपाङ्क्त्येषु यथोद्दिष्टेष्वसाधुषु।
मेदोऽसृङ्मांसमज्जास्थि वदन्त्यन्नं मनीषिणः ॥ १८२ ॥

पूर्वोक्त अपाङ्क्तेय अन्य (चौर आदि ३।१५०–१६८) ब्राह्मणोंको दिये गये (हव्य-कव्य) को मेदस, रक्त, मांस, मज्जा और हड्डी (के स्थान) विद्वान् लोग कहते हैं ॥ १८२ ॥

इतरेभ्यो विशेषेणानुक्तफलेभ्यः पङ्क्तिभोजनानर्हेभ्यः स्तेनादिभ्यो यथाकीर्तितेभ्यो यद्दत्तमन्नं तद्दातुर्भोजनार्थं मेदोरुधिरमांसमज्जास्थि भवतीति पण्डिता वदन्ति। अत्रापि जन्मान्तरे मेदःशोणितादिभुजां जातिषु जायन्त इत्यर्थः ॥ १८२ ॥

अपाङ्क्त्योपहता पङ्क्तिः पाव्यते यैर्द्विजोत्तमैः।
तान्निबोधत कार्त्स्न्येन द्विजाग्र्यान्पङ्क्तिपावनान् ॥ १८३ ॥

(भृगु मुनि महर्षियों से कहते है कि पंक्ति-दूषक) (३।१५०–१६८) से दूषित पंक्ति (भोजनकर्ताओंकी पांत) जिन श्रेष्ठ ब्राह्मणों से पवित्र हो जाती है, उन पंक्तिपावन (पंक्तिको पवित्र करनेवाले) ब्राह्मणों (तुमलोग आगे (३।१८३-१८६) कहे गये) को जानो ॥ १८३ ॥

एकपङ्क्त्युपविष्टस्तेनादिदूषिता पङ्क्तिर्यैर्ब्राह्मणैः पवित्रीक्रियते तान्पवित्रीकारकान्ब्राह्मणानशेषेण शृणुत। निषेधादेकपङ्क्तिभोजनासम्भवेऽपि स्तेनादीनां रहस्यकृताज्ञातदोषविषयत्वेन साधकताऽस्य वचनस्य ॥ १८३ ॥

अग्र्याः सर्वेषु वेदेषु सर्वप्रवचनेषु च।
श्रोत्रियान्वयजाश्चैव विज्ञेयाः पङ्क्तिपावनाः ॥ १८४ ॥

चारों वेदोंके ज्ञाताओं में श्रेष्ठ, प्रवचन अर्थात् ६ वेदाङ्गों (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्यौतिष और छन्द) सहित वेदोंके ज्ञाताओंमें श्रेष्ठ और जिस वंशमें १० पीढ़ियों तक श्रोत्रिय हुए हो, उनमें श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको पंक्तिपावन जानना चाहिये ॥ १८४ ॥

सर्वेषु वेदेषु चतुर्ष्वप्यग्र्याः श्रेष्ठाः सम्यग्गृहीतवेदा ब्राह्मणाः पङ्क्तिपावनाः। अत एव यमः पङ्क्तिपावनगणनायां "चतुर्वेदविदे चैव" इति पठितवान्। तथा प्रकर्षेणैवोच्यते वेदार्थ एभिरिति प्रवचनान्यङ्गानि तेष्वप्यग्र्याः षडङ्गविदस्ते च चतुर्वेदिनोऽपि पङ्क्तिपावनाः, "न्यायविच्च षडङ्गवित्" इति पङ्क्तिपावनमध्ये यमेन पृथक्पठितत्वात्। तथा "छन्दसां शुद्धदशपुरुष" इत्युशनोवचनाद्दशपुरुषपर्यन्तमविच्छिन्नवेदसम्प्रदायवंशजाः पङ्क्तिपावनाः ॥ १८४ ॥

त्रिणाचिकेतः पञ्चाग्निस्त्रिसुपर्णः षडङ्गवित्।
ब्रह्मदेयात्मसन्तानो ज्येष्ठसामग एव च ॥ १८५ ॥

त्रिणाचिकेत (अध्वर्यु वेदभागको पढ़ने तथा उसका व्रत करनेवाले), पञ्चाग्नि(अग्निहोत्री), त्रिसुपर्ण (बहृचका वेदभाग पढ़ने तथा उसका व्रत करनेवाले) वेदके ६ अङ्गों (शिक्षा आदि)

का व्याख्याता, ब्राह्मविवाह (३।२७) की विधिसे विवाहिता स्त्रीसे उत्पन्न, वेदके आरण्यकमें गाये जानेवाले ज्येष्ठसामका गान करनेवाला— ॥ १८५ ॥

त्रिणाचिकेतोऽध्वर्युवेदभागस्तद्व्रतं च, तद्योगात्पुरुषोऽपि त्रिणाचिकेतः। पञ्चाग्निरग्निहोत्री। तथा च हारीतः—

"पवनः पावनस्त्रेता यस्य पञ्चाग्नयो गृहे।
सायम्प्रातः प्रदीप्यन्ते स विप्रः पङ्क्तिपावनः॥"

पवन आवसथ्याग्निः, पावनः सभ्योऽग्निः शीतापनोदाद्यर्थं बहुषु देशेष्वपि विधीयते। त्रिसुपर्णो बह्वृचां वेदभागस्तद्व्रतं च, तद्योगात्पुरुषोऽपि त्रिसुपर्णः। षडङ्गानि शिक्षादीनि यो व्याचष्टे स षडङ्गवित् सर्वप्रवचनेन षडङ्गाध्येतोक्तः। ब्रह्मदेया ब्राह्मविवाहोढा तस्या आत्मसन्तानः पुत्रः। ज्येष्ठसामान्यारण्यके गीयन्ते तेषां गाता। एते षट् 'विज्ञेयाः पङ्क्तिपावनाः' इत्युत्तरश्लोकेन सम्बन्धः॥ १८५॥

वेदार्थवित्प्रवक्ता च ब्रह्मचारी सहस्रदः।
शतायुश्चैव विज्ञेया ब्राह्मणाः पङ्क्तिपावनाः॥ १८६॥

वेदके अर्थका ज्ञाता (वेदान्तको नहीं पढ़कर भी गुरुसे वेदार्थको जाननेवाला), वेदका व्याख्यान करनेवाला, ब्रह्मचारी (प्रथम आश्रममें नियमित रूपसे रहनेवाला), हजार गायोंका या बहुत अधिक दान करनेवाला और सौ वर्षकी आयुवाला इन ब्राह्मणोंको 'पंक्तिपावन' जानना चाहिये ॥ १८६ ॥

अनधीत्यापि वेदाङ्गानि गुरूपदेशाधिगतवेदार्थः, प्रवक्ता वेदार्थस्यैव, ब्रह्मचारी प्रथमाश्रमी, सहस्रद इति देयविशेषानुपादानेऽपि "गावो वै यज्ञस्य मातरः" इत्यादिविशेषप्रवृत्तश्रुतिदर्शनाद्गोसहस्रदाता बहुप्रदो वा। शतायुः शतवर्षवयाः। "श्रोत्रियायैव देयानि" इति नियमात्सति श्रोत्रियत्वे उक्तगुणयोगात्पङ्क्तिपावनत्वम्॥ १८६॥

पूर्वेद्युरपरेद्युर्वा श्राद्धकर्मण्युपस्थिते।
निमन्त्रयेत त्र्यवरान्सम्यग्विप्रान्यथोदितान्॥ १८७॥

श्राद्धके एक दिन पहले या श्राद्धके ही दिन पूर्व (३।१८५-१८६) में यथा योग्य कहे गये ब्राह्मणोंको निमन्त्रित करे ॥ १८७ ॥

श्राद्धकर्मणि प्राप्ते श्राद्धाहात्पूर्वदिने तदसम्भवे श्राद्धदिन एवोक्तलक्षणान्ब्राह्मणान्सम्यगतिसत्कृत्य निमन्त्रयेत्। त्रयोऽवरा न्यूना येषां ते त्र्यवराः, न तु तावत एव, एकैकमपीत्युक्तेः॥ १८७॥

निमन्त्रितो द्विजः पित्र्ये नियतात्मा भवेत्सदा।
न च छन्दांस्यधीयीत यस्य श्राद्धं च तद्भवेत्॥ १८८॥

पितृ-श्राद्धमें निमन्त्रित ब्राह्मण आत्माको संयमपूर्वक रखे (मैथुनादि कर्म न करे) तथा (आवश्यक नित्यकर्म अर्थात् सन्ध्योपासन एवं जप आदिके अतिरिक्त) वेदका अध्ययन (वेदपाठ) भी न करे (श्राद्धकर्ता भी इन नियमोंका विधिवत् पालन करे ॥ १८८ ॥

श्राद्धे निमन्त्रितो ब्राह्मणो निमन्त्रणादारभ्य श्राद्धाहोरात्रं यावन्मैथुनानवृत्तिसंयमनियमवान्स्यात्। अवश्यकर्तव्यजपादिवर्जं वेदाध्ययनं च न कुर्यात्। श्राद्धकर्ताऽपि तथैव स्यात्॥ १८८॥

निमन्त्रितान् हि पितर उपतिष्ठन्ति तान्द्विजान् ।
वायुवच्चानुगच्छन्ति तथासीनानुपासते ॥ १८९ ॥

पितर लोग निमन्त्रित ब्राह्मणके पास आते हैं, उन ब्राह्मणोंके चलनेपर प्राणवायुके समान अनुगमन करते है और उन ब्राह्मणों के बैठनेपर उनके समीपमें बैठते हैं। (अत एव निमन्त्रित ब्राह्मणोंका कर्तव्य है कि वे संयमसे रहे ॥ १७९ ॥

पूर्वनियमविधेरयमनुवादः। यस्मात्तान्ब्राह्मणान्निमन्त्रितानदृश्यरूपेण पितरोऽधितिष्ठन्ति, प्राणवायुवद् गच्छतोऽनुगच्छन्ति, तथोपविष्टेषु तेषु समीप उपविशन्ति, तस्मान्नियता भवेयुः ॥ १८९ ॥

केतितस्तु यथान्यायं हव्यकव्ये द्विजोत्तमः ।
कथञ्चिदप्यतिक्रामन्पापः सूकरतां व्रजेत् ॥ १९० ॥

हव्य-कव्य (देवकार्य या पितृश्राद्ध) में विधिवत् निमन्त्रित (तथा उस निमन्त्रण को स्वीकार किया हुआ) ब्राह्मण किसी कारणसे भी भोजन नहीं करनेपर उन पापसे (दूसरे जन्म में) सूअर होता है ॥ १९० ॥

हव्यकव्ये यथाशास्त्रं निमन्त्रितो ब्राह्मणः स्वीकृत्य केनापि प्रकारेण भोजनमकुर्वाणस्तेन पापेन जन्मान्तरे सूकरो भवति ॥ १९० ॥

"नियतात्मा भवेत्सदा" (म. स्मृ. ३।१८८) इत्यनेन मैथुननिषेधे कृतेऽपि वृषलीगमनस्याधिकदोषज्ञापनायाह—

आमन्त्रितस्तु यः श्राद्धे वृषल्या सह मोदते ।
दातुर्यद् दुष्कृतं किञ्चित्तत्सर्वं प्रतिपद्यते ॥ १९१ ॥

श्राद्धमें निमन्त्रित जो ब्राह्मण शूद्राके साथ सम्भोग करता है, वह श्राद्धकर्ता के पापोंको प्राप्त करता है ॥ १९१ ॥

वृषली शूद्रा तत्र मूढत्वाच्छ्राद्धे निमन्त्रितः सन् यो वृषल्या सार्धं स्त्रीपुंसधर्मेण सुरतादिना रमते स दातुर्यत्पापं तत्प्राप्नोति। पापोत्पत्तिमात्रं विवक्षितम्। अन्यथा दातर्यपापे पापं न जायते। न चेदं दातुः प्रायश्चित्ततया विहितं येनासौ पापान्मुच्यते। [1]मेधातिथिगोविन्दराजौ तु सामान्येन ब्रह्मचर्यस्य विधानाद् वृषस्यन्ती चपलयति भर्तारमिति योगाश्रयणेन श्राद्धभोक्तूरूढा ब्राह्मण्यपि वृषल्यभिमतात्रेऽस्याहतुः ॥ १९१ ॥

अक्रोधनाः शौचपराः सततं ब्रह्मचारिणः ।
न्यस्तशस्त्रा महाभागाः पितरः पूर्वदेवताः ॥ १९२ ॥

पितर लोग क्रोधरहित, (मिट्टी तथा पानीसे) बाहरी एवं (राग-द्वेषादि शून्य अन्तःकरणसे) भीतरी शुद्धि रखनेवाले, नित्य ब्रह्मचारी, युद्धसे पराङ्मुख और दया आदि गुणों से युक्त सृष्टिके आदिकालसे ही देवतारूप हैं। अत एव श्राद्ध में भोजन करनेवाले ब्राह्मण तथा श्राद्ध करने वाले यजमानको भी वैसा ही (पितरों के समान ही क्रोधरहित आदि गुणोंसे युक्त) होना चाहिये) ॥ १९२ ॥

---

१. वृषलीशब्दः स्त्रीमात्रोपलक्षणार्थः सामान्येन ब्रह्मचर्यस्य विधानात्। अतो ब्राह्मण्यपि वृषल्येव, वृषस्यन्ती चालयति भर्तारमिति यौगिकत्वं दर्शयति अतोऽयमर्थः।

क्रोधरहिताः, बहिःशौचं मृद्वारिभ्यामन्तःशौचं रागद्वेषादित्यागस्तद्युक्ताः, सर्वदा स्त्रीसंयोगादिशून्याः, त्यक्तयुद्धाः, दयाद्यष्टगुणयोगो महाभागता तद्वन्तः, अनादिदेवतारूपाः पितरस्तस्मात्क्रोधादिरहितेन भोक्त्रा कर्त्रा च भवितव्यम् ॥ १९२ ॥

यस्मादुत्पत्तिरेतेषां सर्वेषामप्यशेषतः ।
ये च यैरुपचर्याः स्युर्नियमैस्तान्निबोधत ॥ १९३ ॥

(भृगु मुनि महर्षियोंसे कहते हैं कि—) इन सब पितरोंकी जिनसे उत्पत्ति है और ये पितर ब्राह्मणादिके द्वारा जिन नियमोंसे पूजनीय हैं, उनको सुनिये ॥ १९३ ॥

एषां सर्वेषां पितॄणां यस्मादुत्पत्तिर्ये च पितरो यैर्ब्राह्मणादिभिर्यैर्नियमैः शास्त्रोक्तकर्मभिरुपचरणीया भवेयुस्तान्साकल्येन शृणुत ॥ १९३ ॥

मनोर्हैरण्यगर्भस्य ये मरीच्यादयः सुताः ।
तेषामृषीणां सर्वेषां पुत्राः पितृगणाः स्मृताः ॥ १९४ ॥

हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा के पुत्र मनुके जो मरीचि तथा अत्रि आदि (ऋषि) पुत्र पहले (१।३५) कहे गये हैं, उन ऋषियों (सोमपा आदि) के पुत्र पितर कहे गये हैं ॥ १९४ ॥

हिरण्यगर्भापत्यस्य मनोर्ये मरीच्यादयः पुत्राः पूर्वमुक्ताः "मरीचिरत्र्यङ्गिरसौ" (म. स्मृ. १।३५) इत्यादिना तेषामृषीणां सर्वेषां सोमपाऽऽदयः पितृगणाः पुत्रा मन्वादिभिः स्मृताः ॥ १९४ ॥

विराट्सुताः सोमसदः साध्यानां पितरः स्मृताः ।
अग्निष्वात्ताश्च देवानां मारीचा लोकविश्रुताः ॥ १९५ ॥

विराट्के पुत्र 'सोमसद्', साध्योंके पितर हैं और मरीचिके पुत्र लोकप्रसिद्ध अग्निष्वात्त, देवोंके (पितर हैं) ॥ १९५ ॥

विराट्सुताः सोमसदो नाम साध्यानां पितरः । अग्निष्वात्ता मरीचेः पुत्रा लोकविख्याता देवानां पितरः ॥ १९५ ॥

दैत्यदानवयक्षाणां गन्धर्वोरगरक्षसाम् ।
सुपर्णकिन्नराणां च स्मृता बर्हिषदोऽत्रिजाः ॥ १९६ ॥

अत्रिके पुत्र बर्हिषद्—दैत्य, दानव, यक्ष, गन्धर्व, उरग (सर्प, नाग), राक्षस, सुपर्ण और किन्नरोंके (पितर हैं) ॥ १९६ ॥

दैत्यादीनां प्रथमाध्यायोदितभेदानामत्रिपुत्रा बर्हिषदो नाम पितरः स्मृताः ॥ १९६ ॥

सोमपा नाम विप्राणां क्षत्रियाणां हविर्भुजः ।
वैश्यानामाज्यपा नाम शूद्राणां तु सुकालिनः ॥ १९७ ॥

सोमपा ब्राह्मणोंके, हविर्भुज् (अग्नि) क्षत्रियोंके, आज्यप वैश्योंके और सुकाली शूद्रोंके (पितर हैं) ॥ १९७ ॥

ब्राह्मणप्रभृतीनां चतुर्णां वर्णानां सोमपाप्रभृतयश्चत्वारः पितरः स्मृताः ॥ १९७ ॥

सोमपास्तु कवेः पुत्रा हविष्मन्तोऽङ्गिरःसुताः ।
पुलस्त्यस्याज्यपाः पुत्रा वसिष्ठस्य सुकालिनः ॥ १९८ ॥

कवेर्भृगोः सोमपाः पुत्राः। हविर्भुज एव हविष्मन्तोऽङ्गिरसः पुत्राः। आज्यपाः पुलस्त्य-सुताः। सुकालिनो वसिष्ठसुताः॥ १९८॥

अग्निदग्धानग्निदग्धान्काव्यान्बर्हिषदस्तथा ।
अग्निष्वात्तांश्च सौम्यांश्च विप्राणामेव निर्दिशेत्॥ १९९॥
[अग्निष्वात्ता हुतैस्तृप्ताः सोमपाः स्तुतिभिस्तथा।
पिण्डैर्बर्हिषदः प्रीताः प्रेतास्तु द्विजभोजने॥ ११॥]

सोमपा कवि (भृगु) के पुत्र हैं, हविर्भुज् (अग्नि) अङ्गिरस् के पुत्र हैं, आज्यप पुलस्त्यके पुत्र हैं और सुकाली वसिष्ठके (पुत्र हैं)॥ १९८॥

अग्निदग्ध, अनग्निदग्ध, काव्य, बर्हिषद्, अग्निष्वात्त और सौम्य—ये सब ब्राह्मणोंके पितर हैं॥ १९९॥

[अग्निष्वात्त हवनसे, सोमपा स्तुतिसे, बर्हिषद् पिण्ड-दानसे और प्रेत ब्राह्मण-भोजनसे तृप्त होते हैं॥ ११॥]

अग्निदग्धानग्निदग्धकाव्यबर्हिषदग्निष्वात्तसौम्याख्यान्परान्पितॄन्विप्राणामेव जानीयात्॥ १९९॥

य एते तु गणा मुख्याः पितॄणां परिकीर्तिताः।
तेषामपीह विज्ञेयं पुत्रपौत्रमनन्तकम्॥ २००॥

(भृगु मुनि महर्षियोंसे कहते हैं कि—) जो ये (३।१९४-१९९) पितरोंके मुख्य गण (समूह, मैंने) कहे हैं, उनके भी अनन्त पुत्र-पौत्रोंको इस संसारमें पितर समझना चाहिये॥२००॥

य एते प्रधानभूताः पितृगणा उक्तास्तेषामपीह जगति पितर एव पुत्रपौत्रा अनन्ता विज्ञेयाः। पुत्रपौत्रमिति "गवाश्वप्रभृतीनि च" (पा. सू. २।४।११) इत्येकवद्भावः। एतच्छ्लोकसूचिता एव "वरो वरेण्यः" इत्यादयोऽन्येऽपि पितृगणा मार्कण्डेयादिपुराणादिषु श्रूयन्ते॥ २००॥

ऋषिभ्यः पितरो जाताः पितृभ्यो देवमानवाः।
देवेभ्यस्तु जगत्सर्वं चरं स्थाण्वनुपूर्वशः॥ २०१॥

ऋषियों (मरीचि आदि) से पितर उत्पन्न हुए, पितरोंसे देवता तथा मनुष्य उत्पन्न हुए,देवताओंसे चराचर (चर-जङ्गम—चलनेवाला, अचर—स्थिर) यह संसार क्रमसे उत्पन्न हुआ॥ २०१॥

ऋषिभ्यो मरीच्यादिभ्य उक्तक्रमेण पितरो जाताः, पितृभ्यो देवमानवा जाताः। देवेभ्यश्च जङ्गमस्थावरं जगत्क्रमेण जातम्। तस्मात्सोमपादिप्रभवत्वात्स्वपितृपितामहप्रपितामहानामेषां श्राद्धे (एते) पूजनीयाः। सोमपाऽऽदयोऽपि पूजिताः सन्तः श्राद्धफलदानाय कल्पन्त इति। प्रकृतश्च पित्रादिश्राद्धस्तुत्यर्थोऽयं सोमपाऽऽदिपितृगणोपन्यासः। अथवा आवाहनकाले निजपित्रादयो ब्राह्मणादिभिः सोमपाऽऽदिरूपेण ध्येयाः। एवं व्यवस्थाज्ञानमनुष्ठानपरता च स्यात्॥ २०१॥

राजतैर्भाजनैरेषामथो वा राजतान्वितैः।
वार्यपि श्रद्धया दत्तमक्षयायोपकल्पते॥ २०२॥

पितरोंके लिये चांदीके या चांदीसे मिश्रित (तांबा आदिके बने हुए बर्तनोंसे श्रद्धा [illegible]

हुआ जल भी अक्षय सुखके लिये होता है। (फिर श्रेष्ठ पायस—दूध की खीर आदि) भोज्य पदार्थके दान करनेपर कहना ही क्या हैं? अर्थात् वह तो अत्यन्त अक्षय सुखके लिये होगा) ॥ २०२ ॥

एषां पितॄणां रूप्यमयपात्रैः रूप्ययुक्तैर्वा ताम्रादिपात्रैर्जलमपि श्रद्धया दत्तमक्षयसुखहेतुः सम्पद्यते किं पुनः प्रशस्तपायसादीति ॥ २०२ ॥

देवकार्याद् द्विजातीनां पितृकार्यं विशिष्यते ।
दैवं हि पितृकार्यस्य पूर्वमाप्यायनं श्रुतम् ॥ २०३ ॥

देवताओंके उद्देश्यसे किये जानेवाले कार्य (यज्ञ आदि) से पितरोंके उद्देश्यसे किया जानेवाला कार्य (श्राद्ध आदि) द्विजोंके लिये विशेष (प्रधान) कर्तव्य कहा जाता है, क्योंकि देवकार्य पितृकार्यसे पहले होनेसे पितृकार्यका पूरक (पूर्ति करनेवाला) माना गया है। (इससे यह सिद्ध होता हैं कि देव-कार्य अङ्ग अर्थात् अप्रधान तथा पितृकार्य अङ्गी अर्थात् प्रधान है) ॥२०३॥

देवानुद्दिश्य यत्क्रियते तद्देवकार्यम् । ततः पितृकार्यं द्विजातीनां विशेषेण कर्तव्यमुपदिश्यते । अनेन पितृश्राद्धस्य प्राधान्यं, दैवं तत्राङ्गमित्याह । एतदेव स्पष्टयति—यतो दैवं कर्म पितृकृत्यस्य पूर्वं सदाप्यायनं परिपूरकं स्मृतम् ॥ २०३ ॥

तेषामारक्षभूतं तु पूर्वं दैवं नियोजयेत् ।
रक्षांसि हि विलुम्पन्ति श्राद्धमारक्षवर्जितम् ॥ २०४ ॥

पितरों (के कार्य) के रक्षक विश्वेदेव ब्राह्मणोंको पहले निमन्त्रित करना चाहिये (पितृ-श्राद्धके पहले देवश्राद्ध करना चाहिये), क्योंकि रक्षा (देवश्राद्ध) से वर्जित (पितृ) श्राद्धको राक्षस नष्ट कर देते हैं ॥ २०४ ॥

आरक्षो रक्षा तेषां पितॄणां रक्षाभूतं दैवं विश्वेदेवब्राह्मणं पूर्वं निमन्त्रयेत् । यस्माद्रक्षावर्जितं श्राद्धं राक्षसा आच्छिन्दन्ति ॥ २०४ ॥

दैवाद्यन्तं तदीहेत पित्राद्यन्तं न तद्भवेत् ।
पित्राद्यन्तं त्वीहमानः क्षिप्रं नश्यति सान्वयः ॥ २०५ ॥

पितृकार्यके आदि तथा अन्तमें देवकार्य (आदि में देवावाहन, हवन आदि तथा अन्तमें देवविसर्जन) करना चाहिये, पितृकार्यकी आदि और अन्तमें कदापि नहीं करना चाहिये, पितृकार्यको देवकार्यके आदि और अन्तमें करनेवाला सन्तान के सहित नष्ट हो जाता है ॥ २०५ ॥

यत एवमतः तच्छ्राद्धं दैवाद्यन्तं दैवे कर्मणि आद्यन्तावारम्भावसाने यस्य तत्तथा । एतेनेदमुक्तं निमन्त्रणादि सर्वं दैवपूर्वं, विसर्जनं तु देवानां शेषे । अत एव देवलः—

"यत्तत्र क्रियते कर्म पैतृके ब्राह्मणान्प्रति ।
तत्सर्वं तत्र कर्तव्यं वैश्वदेविकपूर्वकम् ॥"

न तु तच्छ्राद्धं पित्रुपक्रमावसानम् , पित्राद्यन्तं तदनुतिष्ठन्ससन्तानः शीघ्रं विनश्यति ॥

शुचिं देशं विविक्तं च गोमयेनोपलेपयेत् ।
दक्षिणाप्रवणं चैव प्रयत्नेनोपपादयेत् ॥ २०६ ॥

पवित्र (हड्डी, मल, मूत्र तथा राख आदिसे वर्जित) एकान्त (बहुतोंके सञ्चारसे रहित) स्थानको गोबरसे लिपवावे तथा उस स्थानको दक्षिण दिशाकी ओर ढालू रखे ॥ २०६ ॥

अस्थ्यङ्गाराद्यनुपहतं देशं निर्जनं च गोमयेनोपलेपयेत्। दक्षिणादिगवनतं च प्रयत्नतः सम्पादयेत्॥ २०६॥

अवकाशेषु चोक्षेषु नदीतीरेषु चैव हि।
विविक्तेषु च तुष्यन्ति दत्तेन पितरः सदा॥ २०७॥

स्वभावसे ही पवित्र बन आदिकी भूमि, नदी का किनारा और एकान्त स्थानमें किये गये श्राद्ध आदिसे पितर सर्वदा सन्तुष्ट होते हैं॥ २०७॥

चोक्षाः स्वभावशुचयोऽरण्यादिप्रदेशास्तेषु नद्यादितीरेषु तथा निर्जनप्रदेशेषु दत्तेन श्राद्धादिना सर्वदा पितरस्तुष्यन्ति॥ २०७॥

आसनेषूपक्लृप्तेषु बर्हिष्मत्सु पृथक्पृथक्।
उपस्पृष्टोदकान्सम्यग्विप्रांस्तानुपवेशयेत्॥ २०८॥

उस पवित्र श्राद्ध स्थानपर पूर्वदिशामें पृथक्-पृथक् रखे हुए कुशके आसनोंपर स्नान तथा आचमन किये हुए निमन्त्रित ब्राह्मणोंको बैठावे॥ २०८॥

तत्र च देशे आसनेषु पृथक्पृथग्विन्यस्तेषु सकुशेषु प्रागामन्त्रितब्राह्मणान्सम्यक्कृत-स्नानाचमनानुपवेशयेत्। अत्र देवब्राह्मणासने कुशद्वयम्, पित्रासनेषु च प्रत्येकं दक्षिणाग्र एकः कुशो देयः। तदाह देवलः—

"ये चात्र विश्वेदेवानां विप्राः पूर्वनिमन्त्रिताः।
प्राङ्मुखान्यासनान्येषां द्विदर्भोपहितानि च॥
दक्षिणामुखयुक्तानि पितृणामासनानि च।
दक्षिणाग्रैकदर्भाणि प्रोक्षितानि तिलोदकैः॥"

दक्षिणामुखयुक्तानि दक्षिणाग्राणि। अग्रं काण्डमूलापेक्षया॥ २०८॥

उपवेश्य तु तान्विप्रानासनेष्वजुगुप्सितान्।
गन्धमाल्यैः सुरभिभिरर्चयेद् देवपूर्वकम्॥ २०९॥

आसनपर बैठे हुए उन अनिन्दित ब्राह्मणोंकी सुगन्धित कुङ्कुमादि तथा पुष्पमालाओंसे देवपूर्वक (पहले देव-कार्य सम्बद्ध ब्राह्मणोंकी पूजा बादमें पितृकार्य सम्बद्ध ब्राह्मणोंकी) पूजा करे॥ २०९॥

तान्विप्रानामन्त्रितानासनेषूपवेश्य कुङ्कुमादिगन्धमाल्यधूपादिभिः स्पृहणीयगन्धैर्देव-पूर्वकमर्चयेत्॥ २०९॥

तेषामुदकमानीय सपवित्रांस्तिलानपि।
अग्नौ कुर्यादनुज्ञातो ब्राह्मणो ब्राह्मणैः सह॥ २१०॥

उन ब्राह्मणोंके अर्घ्यमें तिल तथा जल मिलावे तथा उनसे आज्ञा लेकर उनके साथ आगे कही हुई विधिसे हवन करे॥ २१०॥

तेषां ब्राह्मणानामर्घोदकपवित्रतिलान्संमिश्रान्कृत्वा तैर्ब्राह्मणैः सहानुज्ञातोऽग्नौ वक्ष्यमाणं होमं कुर्यात्। अनुज्ञासामर्थ्याच्च प्रार्थनाऽपि पूर्वं कर्तव्या। सा च स्वगृह्यानु-सारेण करवाणि करिष्य इत्यादिका। अनुज्ञाऽपि ओमित्येवंरूपा कुरुष्वेति वा॥ २१०॥

अग्नेः सोमयमाभ्यां च कृत्वाप्यायनमादितः।
हविर्दानेन विधिवत्पश्चात्सन्तर्पयेत्पितॄन्॥ २११॥

पहले अग्नि, सोम और यमको विधिपूर्वक (पर्युक्षणादिके साथ) हविष्यके हवनसे तृप्तकर बादमें पितरोंको अन्नादि (पायसादि) द्रव्योंसे तृप्त करे ॥ २११ ॥

अग्नेः सोमयमयोश्च विधिवत्पर्युक्षणादिपूर्वं हविर्दानेन प्रीणनमादौ कृत्वा पश्चादन्नादिना पितृंस्तर्पयेत् । सोमयमयोर्द्वन्द्वनिर्देशेऽपि पृथगेव देवतात्वम्, सहादिशब्दप्रयोगाभावात् । यत्र साहित्यं विवक्षितं तत्र सहादिशब्दं करोतीत्युक्तं प्राक् ॥ २११ ॥

अग्न्यभावे तु विप्रस्य पाणावेवोपपादयेत् ।
यो ह्यग्निः स द्विजो विप्रैर्मन्त्रदर्शिभिरुच्यते ॥ २१२ ॥

अग्निके अभावमें उन ब्राह्मणोंके हाथपर ही (श्राद्धकर्ता) तीन आहुति दे; क्योंकि 'जो अग्नि है वही ब्राह्मण है' ऐसा मन्त्रद्रष्टा महर्षियोंने कहा है ॥ २१२ ॥

अग्न्यभावे पुनर्ब्राह्मणहस्त एवोक्ताहुतित्रयं दद्यात । यस्माद्य एवाग्निः स एव ब्राह्मण इति वेदविद्भिर्ब्राह्मणैरुक्तः । अग्न्यभावश्चानुपनीतस्य सम्भवति । उपनीतस्य समावृत्तस्य च पाणिग्रहणात्पूर्वं, मृतभार्यस्य वा ॥ २१२ ॥

अक्रोधनान्सुप्रसादान्वदन्त्येतान्पुरातनान् ।
लोकस्याप्यायने युक्ताञ्छ्राद्धदेवान्द्विजोत्तमान् ॥ २१३ ॥

(मनु आदि महर्षिगण) सर्वदा क्रोधहीन, प्रसन्नमुख, (अनादिकाल से चले आने के कारण) पुरातन और (३।७६ के अनुसार) संसार की उन्नति के लिये संलग्न ब्राह्मणों को श्राद्ध का देव (श्राद्ध के योग्य उत्तम सत्पात्ररूप) कहते हैं ॥ २१३ ॥

क्रोधशून्यान्सुप्रसादान्प्रसन्नमुखान्प्रवाहानादितया पुरातनान् "अग्नौ प्रास्ताहुतिः" (म. स्मृ. ३।७६) इति न्यायेन लोकवृद्ध्य उद्युक्तान्श्राद्धपात्रभूतान्मन्वादयो वदन्ति । तस्माद्देवतुल्यत्वाच्छ्राद्धं ब्राह्मणस्य हस्ते दातव्यमिति पूर्वविध्यनुवादः ॥ २१३ ॥

अपसव्यमग्नौ कृत्वा सर्वमावृत्य विक्रमम् ।
अपसव्येन हस्तेन निर्वपेदुदकं भुवि ॥ २१४ ॥

अग्नि में पर्युक्षणादि (हवन करनेका क्रम) अपसव्य (प्राचीनावीती २।६३) होकर करने के बाद दाहिने हाथ से (पिण्ड के आधारभूत) पृथ्वी पर जल छिड़के ॥ २१४ ॥

अग्नौ पर्युक्षणाद्यङ्गमुक्तं अग्नौकरणहोमानुष्ठानक्रममपसव्यं दक्षिणसंस्थं कृत्वा ततोऽपसव्येन दक्षिणहस्तेन पिण्डाधारभूतायां भुव्युदकं क्षिपेत ॥ २१४ ॥

त्रींस्तु तस्माद्धविःशेषात्पिण्डान्कृत्वा समाहितः ।
औदकेनैव विधिना निर्वपेद्दक्षिणामुखः ॥ २१५ ॥

हवन से बचे हुए अन्न से तीन पिण्ड बनाकर एकाग्रचित्त हो दक्षिण दिशा की ओर मुख करके कुशाओं पर उन पिण्ड को रखे ॥ २१५ ॥

तस्मादग्न्यादिहोमादुद्धृतादन्नादुद्धृतावशिष्टात्त्रीन्पिण्डान्कृत्वा औदकेनैव विधिना दक्षिणहस्तेन समाहितोऽनन्यमना दक्षिणामुखस्तेषु दर्भेष्विति वक्ष्यमाणत्वाद्दर्भेषु दद्यात् ॥ २१५ ॥

न्युप्य पिण्डांस्ततस्तांस्तु प्रयतो विधिपूर्वकम् ।
तेषु दर्भेषु तं हस्तं निमृज्याल्लेपभागिनाम् ॥ २१६ ॥

विधिपूर्वक (अपने गृह्योक्त विधि से) उन पिण्डों को कुशाओं पर रखकर (जिन पर पिण्ड रखे हुए हैं) उन कुशाओं की जड़ में लेपभागी (वृद्धप्रपितामहादि ३) पितरों की तृप्ति के लिए हाथ को रगड़ना (काछना, पोछना) चाहिये ॥ २१६ ॥

विधिपूर्वकं स्वगृह्योक्तविधिना दर्भेषु तान्पिन्डान्दत्त्वा "दर्भमूलेषु करावघर्षणम्" इति विष्णुवचनाच्च तेषु दर्भेषु मूलदेशे हस्तं निर्लेपं कुर्यात्प्रपितामहपित्रादीनां त्रयाणां लेपभुजां तृप्तये ॥ २१६ ॥

आचम्योदक्परावृत्य त्रिरायम्य शनैरसून्।
षड् ऋतूंश्च नमस्कुर्यात्पितॄनेव च मन्त्रवत् ॥ २१७ ॥

फिर उत्तर की ओर मुख कर शक्ति के अनुसार धीरे-धीरे तीन प्राणायाम करके मन्त्र-पूर्वक ('वसन्ताय नमस्तुभ्यं—' मन्त्र से) वसन्त आदि ऋतुओं को और ('नमो वः पितरः—' मन्त्र से) पितरों का नमस्कार करे ॥ २१७ ॥

अनन्तरमुपस्पृश्योदङ्मुखो भूत्वा यथाशक्ति प्राणायामत्रयं कृत्वा "वसन्ताय नमस्तुभ्यम्" इत्यादिना षड्ऋतून्नमस्कुर्यात् । पितॄंश्च "नमोवः पितर" इत्यादिमन्त्रयुक्तम् "अभिपर्यावृत्य" (अ. ४ खं ८) इति गृह्यदर्शनाद्दक्षिणामुखो नमस्कुर्यात् ॥ २१७ ॥

उदकं निनयेच्छेषं शनैः पिण्डान्तिके पुनः।
अवजिघ्रेच्च तान्पिण्डान्यथान्युप्तान्समाहितः ॥ २१८ ॥

फिर जलपात्र में बचे हुए जल को सावधानचित्त होकर तीनों पिण्डों के पास में क्रम से (जिस क्रम में पिण्ड रखे गये हैं उसी क्रम से) धीरे-धीरे गिरा दे और उसी क्रम से उन पिण्डों को सूँघे ॥ २१८ ॥

पिण्डदानात्पूर्वं पिण्डाधारदेशदत्तोदकशेषमुदकपात्रस्थं प्रतिपिण्डसमीपदेशे क्रमेण पुनरुत्सृजेत् । तांश्च पिण्डान्यथान्युप्तान्येनैव क्रमेण दत्तांस्तेनैव क्रमेणावजिघ्रेत् । समाहितोऽनन्यमनाः ॥ २१८ ॥

पिण्डेभ्यस्त्वल्पिकां मात्रां समादायानुपूर्वशः।
तेनैव विप्रानासीनान्विधिवत्पूर्वमाशयेत् ॥ २१९ ॥

क्रम से उन पिण्डों में से थोड़ा २ भाग लेकर उसे (पिण्ड में से लिए भाग को पिता आदि के उद्देश्य से) बैठे हुए निमन्त्रित ब्राह्मणों को पहले खिलावे ॥ २१९ ॥

अल्पिकेत्यल्पान्नमात्रा अवयवभागाः पिण्डेषूत्पन्नानल्पभागान्पिण्डक्रमेणैव गृहीत्वा तेनैव पित्रादिब्राह्मणान्भोजनकाले भोजनात्पूर्वं भोजयेत् । विधिवत्पिण्डानुष्ठानवत्पितरमुद्दिश्य यः पिण्डो दत्तस्तदवयवं पितृब्राह्मणं भोजयेत् । एवं पितामहप्रपितामहपिण्डयोरपि ॥ २१९ ॥

ध्रियमाणे तु पितरि पूर्वेषामेव निर्वपेत्।
विप्रवद्वाऽपि तं श्राद्धे स्वकं पितरमाशयेत् ॥ २२० ॥

पिता के जीवित रहने पर पितामह आदि तीन पुरुषों (पितामह, प्रपितामह वृद्धप्रपितामह) का ही श्राद्ध करे अथवा पितामहादि के उद्देश्य से निमन्त्रित किये जानेवाले ब्राह्मण के समान पितृ-विप्रस्थान में पिता को ही भोजन करावे। (इस पक्ष में पितामह—तथा प्रपितामह के उद्देश्य से ही ब्राह्मणों को निमन्त्रित करे और दो ही पिण्डों को दे) ॥ २२० ॥

म्रियमाणे जीवति पितरि मृतानां पितामहादित्रयाणां श्राद्धं कर्तव्यम्। अथवा पितृविप्रस्थाने तमेव स्वपितरं भोजयेत्। पितामहप्रपितामहयोश्च ब्राह्मणौ भोजयेत्पिण्डद्वयं च दद्यात्॥ २२०॥

पिता यस्य निवृत्तः स्याज्जीवेच्चापि पितामहः।
पितुः स नाम सङ्कीर्त्य कीर्तयेत्प्रपितामहम्॥ २२१॥

जिसका पिता मर गया हो और पितामह जीवित हो, वह पिता और प्रपितामह का ही श्राद्ध करे, श्राद्ध में पिता का नाम लेकर प्रपितामह के नाम का उच्चारण करे। (गोविन्दराज का मत है कि—'जिसके पिता और प्रपितामह मर गये हों तथा पितामह जीवित हो वह पिता के लिये पिण्ड रखकर प्रपितामह और वृद्धप्रपितामह के लिये पिण्ड दे'॥ २२१॥

नामकीर्तनमत्र श्राद्धोपलक्षणार्थम्। पितृजीवनापेक्षोऽयं वाशब्दः। यस्य पुनः पिता मृतः स्यात्पितामहे जीवति स पितृप्रपितामहयोः श्राद्धं कुर्यात्। गोविन्दराजस्तु "यस्य पितृप्रपितामहौ प्रेतौ स्यातां स पित्रे पिण्डं निधाय पितामहात्परं द्वाभ्यां दद्यादिति विष्णुवचनात्प्रपितामहतत्पितृभ्यां दद्यात्" इति व्याख्यातवान्॥ २२१॥

पितामहो वा तच्छ्राद्धं भुञ्जीतेत्यब्रवीन्मनुः।
कामं वा समनुज्ञातः स्वयमेव समाचरेत्॥ २२२॥

'अथवा पितामह उस (स्वसम्बद्ध) श्राद्धान्न को भोजन करे' (तथा पिता और प्रपितामह के उद्देश्य से दो पिण्डदान करे तथा ब्राह्मण-भोजन करावे) ऐसा मनु ने कहा है। अथवा (पितामह से) आज्ञा ('तुम अपनी इच्छा के अनुसार श्राद्ध करो' ऐसी आज्ञा) प्राप्तकर (जिसका पिता मर गया हो तथा पितामह जीवित हो ऐसा श्राद्धकर्ता) अपनी रुचि के अनुसार उस श्राद्ध में पितामह को भोजन करावे और पूर्व (३।२२१) श्लोक में कथित विष्णु-वचन के अनुसार पिता, प्रपितामह तथा वृद्धप्रपितामह के उद्देश्य से पिण्डदान करे तथा ब्राह्मण-भोजन करावे॥ २२२॥

यथा जीवत्पिता भोज्यस्तथा पितामहोऽपि पितामहब्राह्मणस्थाने भोज्यः। पितृप्रपितामहयोश्च ब्राह्मणभोजनं पिण्डदानं च कुर्यात्। यथा वा जीवता पितामहेन त्वमेव यथारुचि कुर्विति दत्तानुज्ञः स्वरुच्या पितामहं वा भोजयेत्। पितृप्रपितामहयोर्वा श्राद्धद्वयं कुर्यादिति विष्णुवचनात्पितृप्रपितामहवृद्धप्रपितामहानां श्राद्धत्रयं कुर्यात्॥ २२२॥

तेषां दत्त्वा तु हस्तेषु सपवित्रं तिलोदकम्।
तत्पिण्डाग्रं प्रयच्छेत स्वधैषामस्त्विति ब्रुवन्॥ २२३॥

पिता आदि पितरों के रूप में निमन्त्रित होकर बैठाये गये (३।२०८) ब्राह्मणों के हाथ में पवित्री के सहित तिल और जल देकर पिण्डाग्र 'यह पिता के लिये स्वधा हो' ('इदं पित्रे स्वधाऽस्तु' ऐसा कहता हुआ (पिण्ड का अग्र भाग (३।२१९) को देवे। (इसी प्रकार पितामह आदि के लिये भी तत्सम्बद्ध ब्राह्मण के हाथ में पवित्र, तिल और कुश देकर इदं पितामहाय स्वधाऽस्तु……' वचन कहता हुआ श्राद्धकर्ता उक्तपिण्डाग्र को देवे)॥ २२३॥

"पिण्डेभ्यस्त्वल्पिकां मात्राम्" (म. स्मृ. ३।२१९) इति यदुक्तं तस्यायं कालविधिः प्रदेयविधिश्च तेषां ब्राह्मणानां हस्तेषु सदर्भतिलोदकं दत्त्वा तदिति पूर्वनिर्दिष्टं पिण्डाग्रं पित्रे स्वधाऽस्त्वित्येवमादि ब्रुवन्पित्रादिब्राह्मणेभ्यस्त्रिभ्यः क्रमेण दद्यात्॥ २२३॥

पाणिभ्यां तूपसङ्गृह्य स्वयमन्नस्य वर्धितम् ।
विप्रान्तिके पितॄन्ध्यायञ्शनकैरुपनिक्षिपेत् ॥ २२४ ॥

फिर श्राद्धकर्ता अन्नों (भोज्य पदार्थों) से परिपूर्ण पात्र (थाली आदि) को दोनों हाथों से पकड़कर पिता आदि पितरों का ध्यान करता हुआ धीरे से ब्राह्मणों के पास में रख दे ॥ २२४ ॥

अन्नस्येति तृतीयार्थे षष्ठी । वर्धितं पूर्णं पिठरादिपात्रं स्वयं पाणिभ्यां गृहीत्वा पितॄंश्च चिन्तयन्नसवन्त्यगारादानीय ब्राह्मणानां समीपे परिवेषणार्थमत्वरया स्थापयेत् ॥ २२४ ॥

उभयोर्हस्तयोर्मुक्तं यदन्नमुपनीयते ।
तद्विप्रलुम्पन्त्यसुराः सहसा दुष्टचेतसः ॥ २२५ ॥

एक हाथ से लाया गया जो अन्न (अन्न पात्र) ब्राह्मणों के आगे परोसा जाता है, उस अन्न को दुष्ट चित्तवाले राक्षस एकाएक छीन लेते हैं (इस कारण एक हाथ से कभी भी नहीं परोसना चाहिये) २२५ ॥

उभयोरिति अधिकरणसप्तमीयम् । उभयोः करयोर्मुक्तमस्थितं यदन्नं ब्राह्मणान्तिकमानीयते तदसुरा दुष्टबुद्धय आच्छिन्दन्ति तस्मान्नैकहस्तेनानीय परिवेष्टव्यम् ॥ २२५ ॥

गुणांश्च सूपशाकाद्यान्पयो दधि घृतं मधु ।
विन्यसेत्प्रयतः पूर्वं भूमावेव समाहितः ॥ २२६ ॥

व्यञ्जन, दाल, शाक, आदि, दूध, दही, घी तथा शहद (के पात्रों) को सावधान होकर (घबड़ाकर नहीं) पहले भूमि पर ही (पीढ़ा आदि पर नहीं) रखे ॥ २२६ ॥

गुणान्व्यञ्जनानि, अन्नापेक्षयाऽप्राधान्याद् गुणयुक्तान्वा सूपशाकाद्यान्प्रयतः शुचिः समाहितः अनन्यमनाः सम्यक् यथा न विशीर्यन्ति तथा भूमावेव स्वपात्रस्थाने स्थापयेन्न दारुफलकादौ ॥ २२६ ॥

भक्ष्यं भोज्यं च विविधं मूलानि च फलानि च ।
हृद्यानि चैव मांसानि पानानि सुरभीणि च ॥ २२७ ॥

सुन्दर अनेक प्रकार के मोदक (मिठाई—लड्डू आदि) भोज्य पदार्थ, जड़ (कन्द, मूली आदि), फल (ऋतु के अनुसार प्राप्त होनेवाले आम, सेव, सन्तरा आदि), मनोहर मांस, सुगन्धित पान (पीने योग्य शर्बत-पन्ना आदि)-॥ २२७ ॥

भक्ष्यं खरविशदमभ्यवहरणीयं मोदकादि, भोज्यं पायसादि, नानाप्रकारफलमूलानि, हृदयस्य प्रियाणि मांसानि, पानानि सुगन्धीनि भूमावेव विन्यसेदिति पूर्वेण सम्बन्धः ॥ २२७ ॥

उपनीय तु तत्सर्वं शनकैः सुसमाहितः ।
परिवेषयेत प्रयतो गुणान्सर्वान्प्रचोदयन् ॥ २२८ ॥

उन सब पदार्थों को ब्राह्मण के पास लाकर धीरे से संयत एवं सावधान होकर उन पदार्थ के गुणों का (यह मीठा है, यह खट्टा है, इत्यादि रूप में) वर्णन करता हुआ श्राद्धकर्ता यथाक्रम परोसे (भूमिपर ही रखे) ॥ २२८ ॥

एतत्सर्वमन्नादिकं ब्राह्मणसमीपमानीय प्रयतः शुचिरनन्यमनाः क्रमेण परिवेषयेत् । इदं मधुरमिदमम्लमित्येवं माधुर्यादिगुणान्कथयन् ॥ २२८ ॥

नास्रमापातयेज्जातु न कुप्येन्नानृतं वदेत् ।
न पादेन स्पृशेदन्नं न चैतदवधूनयेत् ॥ २२९ ॥

(उस समय) कदापि आँसू नहीं गिरावे (रोवे नहीं), क्रोध नहीं करे, झूठ नहीं बोले, अन्न को पैरसे नहीं छुए और इसे (अन्न को) उछाल कर पात्र (भोजन पात्र) में न फेंके ॥ २२९ ॥

रोदनक्रोधमृषाभाषणानि न कुर्यात् । पादेन चान्नं न स्पृशेत् । न चोत्क्षिप्योत्क्षिप्यान्नं पात्रे क्षिपेत् । पुरुषार्थतया प्रतिषिद्धयोरपि क्रोधानृतयोः श्राद्धाङ्गत्वज्ञापनार्थोऽयं निषेधः ॥

अस्रं गमयति प्रेतान्कोपोऽरीननृतं शुनः ।
पादस्पर्शस्तु रक्षांसि दुष्कृतीनवधूननम् ॥ २३० ॥

(उस समय) आँसू गिराना (रोदन करना) भूत वेषवाले प्रेतों के पास, क्रोध करना शत्रुओं के पास, झूठ बोलना कुत्ते के पास, पैर से अन्नस्पर्श करना राक्षसों के पास और उछाल (फेंक) कर परोसना पापियों के पास अन्न को पहुँचा देते हैं (इस कारण से रोदन आदि नहीं करे) ॥ २३० ॥

अश्रु क्रियमाणं प्रेतान्भूतवेषान्श्राद्धान्नानि प्रापयति, न पितॄणामुपकारकं भवति । क्रोधः शत्रून् , मृषावादः कुक्कुरान् , पादस्पर्शोऽन्नस्य राक्षसान् , अवधूननं पापकारिणः । तस्मान्न रोदनादि कुर्यात् ॥ २३० ॥

यद्यद्रोचेत विप्रेभ्यस्तत्तद्दद्यादमत्सरः ।
ब्रह्मोद्याश्च कथाः कुर्यात्पितॄणामेतदीप्सितम् ॥ २३१ ॥

ब्राह्मणोंको जो-जो (वस्तु) रुचे (अच्छी लगे) उन-उन (वस्तुओं) को मत्सरसे रहित होकर परोसे, परमात्म-निरूपणसम्बन्धिनी कथाओं (बातचीत, चर्चाओं) को कहे; क्योंकि यह पितरोंका अभीप्सित है (इसे पितर चाहते हैं) ॥ २३१ ॥

यद्यद्विप्राणामीप्सितमन्नव्यञ्जनादि तत्तदमत्सरो दद्यात् । परमात्मनिरूपणपराः कथाश्च कुर्यात् । यतः पितॄणामेतदपेक्षितम् ॥ २३१ ॥

स्वाध्यायं श्रावयेत्पित्र्ये धर्मशास्त्राणि चैव हि ।
आख्यानानीतिहासांश्च पुराणानि खिलानि च ॥ २३२ ॥

वेद, (मनुस्मृति आदि) धर्मशास्त्र, (सुपर्ण तथा मैत्रावरुण आदि की) कथायें, (महाभारत आदि) इतिहास, (ब्रह्म, पद्म आदि) पुराण और (शिवसङ्कल्प तथा श्रीसूक्त आदि) खिल—इन सबको पितृ-श्राद्धमें (भोजनार्थ निमन्त्रित) ब्राह्मणोंको सुनावे ॥ २३२ ॥

स्वाध्यायं वेदं, मानवादीनि धर्मशास्त्राणि, आख्यानानि सौपर्णमैत्रावरुणादीनि, इतिहासान्महाभारतादीन् , पुराणानि ब्रह्मपुराणादीनि, खिलानि श्रीसूक्तशिवसङ्कल्पादीनि श्राद्धे ब्राह्मणान्श्रावयेत् ॥ २३२ ॥

हर्षयेद् ब्राह्मणांस्तुष्टो भोजयेच्च शनैः शनैः ।
अन्नाद्येनासकृच्चैतान्गुणैश्च परिचोदयेत् ॥ २३३ ॥

स्वयं प्रसन्न होकर मधुर वचनोंसे ब्राह्मणोंको प्रसन्न करे, धीरे-धीरे भोजन करावे और (यह लड्डू बहुत मधुर एवं मुलायम है, इसे लीजिये, यह कचौरी खास्ता एवं गरम है इसे लीजिये इत्यादि प्रकारसे) वस्तुओंके गुणोंसे बार-बार भोज्य अन्नोंको लेनेके लिये इन्हें (ब्राह्मणोंको) प्रेरित करे ॥ २३३ ॥

स्वयं हृष्टो भूत्वा प्रियवचनादिभिर्ब्राह्मणान्परितोषयेत् । अन्नं चात्वरया भोजयेत् । मिष्टान्नैः पायसादिभिः "पायसमिदं स्वादु, मोदकोऽयं हृद्यो गृह्यताम्" इत्यादिगुणाभिधानैः पुनर्ब्राह्मणान्प्रेरयेत् ॥ २३३ ॥

व्रतस्थमपि दौहित्रं श्राद्धे यत्नेन भोजयेत् ।
कुतपं चासने दद्यात्तिलैश्च विकिरेन्महीम् ॥ २३४ ॥

ब्रह्मचर्यावस्थामें (तथा अब्रह्मचर्यावस्थामें) भी रहनेवाले दौहित्र (धेवता = पुत्रीका पुत्र) को यत्नपूर्वक भोजन करावे । उसके लिये कुतप (नेपाली कम्बल) का आसन दे तथा श्राद्धभूमिपर तिलोंको बिखेर दे ॥ २३४ ॥

ब्रह्मचारिणमपि दौहित्रं श्राद्धे प्रयत्नतो भोजयेत् । अपिशब्दादब्रह्मचारिणमपि । आनुकल्पिकमध्यपठितस्यापि ब्रह्मचारिणो यत्नवचनाच्छ्रेष्ठत्वं कथयति । नेपालकम्बलं चासने दद्यात् दौहित्रमन्तरेणापि । तिलांश्च श्राद्धभूमौ विकिरेत् ॥ २३४ ॥

त्रीणि श्राद्धे पवित्राणि दौहित्रः कुतपस्तिलाः ।
त्रीणि चात्र प्रशंसन्ति शौचमक्रोधमत्वराम् ॥ २३५ ॥

श्राद्धमें दौहित्र (पुत्रीका पुत्र), कुतप (नेपाली कम्बल) और तिल—ये तीनों पवित्र हैं और इस (श्राद्ध) में शौच (पवित्रता) अक्रोध और अत्वरा (जल्दीबाजी नहीं करना)—इन तीनोंकी (मन्वादि ऋषि) प्रशंसा करते हैं ॥ २३५ ॥

पूर्वोक्तान्येव त्रीणि दौहित्रादीनि श्राद्धे पवित्राणीति ज्ञाप्यन्ते । त्रीणि च शौचादीनि प्रशंसन्ति ॥ २३५ ॥

अत्युष्णं सर्वमन्नं स्याद् भुञ्जीरंस्ते च वाग्यताः ।
न च द्विजातयो ब्रूयुर्दात्रा पृष्टा हविर्गुणान् ॥ २३६ ॥

सब भोज्य अन्न (फल और पान अर्थात् पीने योग्य द्रव्य पन्ना शर्बत आदि को छोड़कर) अत्युष्ण (जितना गर्म भोजन किया जा सके, उतना उष्ण) रहे, वे ब्राह्मण मौन होकर भोजन करें और श्राद्धकर्ता (या अन्य किसी) के पूछनेपर भी भोज्य पदार्थोंके गुणोंको (उच्चारण कर) न कहें (और न हाथ या मुख आदिके इशारेसे ही कहें) ॥ २३६ ॥

उष्णमेवात्युष्णं यस्योष्णस्यान्नादेर्भोजनमुचितं तदुष्णं दद्यान्न तु फलाद्यपि । अत एव शङ्खः—

"उष्णमन्नं द्विजातिभ्यः श्रद्धया विनिवेदयेत् ।
अन्यत्र फलमूलेभ्यः पानकेभ्यश्च पण्डितः" ॥

संयतवाचश्च ब्राह्मणा अश्नीयुः । किमिदं स्वाद्वस्वादु वेति दात्राऽन्नादिगुणान् पृष्टा वक्त्राद्यभिनयेनापि न ब्रूयुः, वाग्यतस्यात्रैव विधानात् ॥ २३६ ॥

यावदुष्णं भवत्यन्नं यावदश्नन्ति वाग्यताः ।
पितरस्तावदश्नन्ति यावन्नोक्ता हविर्गुणाः ॥ २३७ ॥

जबतक अन्न (भोज्य पदार्थ) गर्म रहता है, जबतक ब्राह्मण मौन होकर भोजन करते है और जबतक हविष्य (भोज्य पदार्थ) के गुणोंका वर्णन वे ब्राह्मण नहीं करते; तबतक पितर लोग भोजन करते हैं ॥२३७॥

यावदन्ने उष्णता भवति, यावच्च मौनिनो भुञ्जते, यावच्च हविर्गुणा नोच्यन्ते तावत्पितरोऽश्नन्तीति पूर्वोक्तस्यैवार्थस्य प्रशंसा ॥ २३७ ॥

यद्वेष्टितशिरा भुङ्क्ते यद् भुङ्क्ते दक्षिणामुखः ।
सोपानत्कश्च यद् भुङ्क्ते तद्वै रक्षांसि भुञ्जते ॥ २३८ ॥

शिरपर पगड़ी या साफा आदि बांधकर (या टोपी लगाकर), दक्षिणमुख होकर और जूता (खड़ाऊँ, चप्पल, चट्टी आदि) पहनकर जिस अन्नको ब्राह्मण भोजन करते हैं; उस अन्नको राक्षस भोजन करता है। (वह अन्न पितरोंको नहीं मिलता, अतः शिरपर पगड़ी आदि बांधकर भोजन नहीं करना चाहिये) ॥ २३८ ॥

वस्त्रादिवेष्टितशिरा यदन्नं भुङ्क्ते, तथा दक्षिणामुखः, सपादुकश्च, तद्राक्षसा भुञ्जते न पितरः। तस्मादेवंरूपं न कर्तव्यम् ॥ २३८ ॥

चाण्डालश्च वराहश्च कुक्कुटः श्वा तथैव च ।
रजस्वला च षण्ढश्च नेक्षेरन्नश्नतो द्विजान् ॥ २३९ ॥

चाण्डाल, सूअर, मुर्गा, कुत्ता, रजस्वला स्त्री और नपुंसक भोजन करते हुए ब्राह्मणोंको नहीं देखें ॥ २३९ ॥

चाण्डलग्राम्यसूकरकुक्कुटकुक्कुरोदक्यानपुंसका यथा ब्राह्मणान्भोजनकाले न पश्येयुस्तथा कार्यम् ॥ २३९ ॥

होमे प्रदाने भोज्ये च यदेभिरभिवीक्ष्यते ।
दैवे कर्मणि पित्र्ये वा तद्गच्छत्ययथातथम् ॥ २४० ॥

होम (अग्निहोत्र आदि हवन), दान (गौ और सुवर्ण आदिका दान), भोज्य (स्वामीकी उन्नतिके लिए ब्राह्मण भोजन), दैव (दर्श पौर्णमासादि देव सम्बन्धी कार्य) और पित्र्य (पार्वण आदि पितृश्राद्ध) को जो ये चाण्डाल आदि (३।२३९) देखते हैं; वह सब निष्फल हो जाता है ॥ २४० ॥

यस्माद्धोमेऽग्निहोत्रादौ, प्रदाने गोहिरण्यादौ, भोज्ये स्वाभ्युदयार्थं ब्राह्मणभोजने, दैवे हविषि दर्शपौर्णमासादौ, पित्र्ये श्राद्धादौ, यदेभिर्वीक्ष्यते क्रियमाणं कर्म तद्यदर्थं क्रियते तन्न साधयति ॥ २४० ॥

घ्राणेन सूकरो हन्ति पक्षवातेन कुक्कुटः ।
श्वा तु दृष्टिनिपातेन स्पर्शेनावरवर्णजः ॥ २४१ ॥

सूअर के भोजनपदार्थको सूंघनेसे, मुर्गाकी पंखकी हवासे, कुत्तेके देखनेसे अथवा भोजनकर्ता ब्राह्मणों द्वारा कुत्तेको देखनेसे और शूद्रके स्पर्श करनेसे भोज्यपदार्थ अखाद्य हो जाता है ॥ २४१ ॥

सूकरस्तदन्नादेर्गन्धं घ्रात्वा कर्म निष्फलं करोति तस्मादन्नघ्राणयोग्यदेशान्निरसनीयः। कुक्कुटः पक्षवातेन सोऽपि पक्षपवनयोग्यदेशादपगमनीयः। श्राद्धदर्शनेन शुनोऽन्नादिदर्शनं निषिद्धमपि दोषभूयस्त्वज्ञापनार्थं पुनरभिहितम्। अथवा दृष्टिनिपातेनेति श्राद्धकर्तृभोक्तॄणां दृष्टिनिपातविषयत्वेन। अवरवर्णः शूद्रस्तस्माज्जातोऽवरवर्णजः शूद्र एव। असावन्नादिस्पर्शेन द्विजातिश्राद्धं निष्फलयति ॥ २४१ ॥

खञ्जो वा यदि वा काणो दातुः प्रेष्योऽपि वा भवेत् ।
हीनातिरिक्तगात्रो वा तमप्यपनयेत्पुनः ॥ २४२ ॥

श्राद्धकर्ताका नौकर (या अन्य कोई) भी लंगड़ा, काणा वा शूद्र हो तथा हीन तथा अधिक अङ्गोंवाला (अङ्गुलियों या किसी शरीर से हीन वा अधिक यथा छांगुर अर्थात् छः अङ्गुलोंवाला आदि) या पांचसे कम अङ्गुलियों वाला आदि जो श्राद्धमें आवें तो उन्हें भी हटा देना चाहिये।

यदि गतिविकलः, काणो वा दातुर्दासः शूद्रस्तस्यैव प्रेष्यत्वविधानात्। अपिशब्दादन्योऽपि शूद्रा न्यूनाधिकाङ्गुल्यादिर्वा स्यात्तदा तमपि ततः श्राद्धदेशादपसारयेत् ॥२४२॥

ब्राह्मणं भिक्षुकं वाऽपि भोजनार्थमुपस्थितम्।
ब्राह्मणैरभ्यनुज्ञातः शक्तितः प्रतिपूजयेत् ॥ २४३ ॥

(श्राद्धकालमें) भिक्षार्थी ब्राह्मण या और कोई भोजनार्थी आ जावे तो उसका भी ब्राह्मणोंकी आज्ञा लेकर यथाशक्ति भोजनादि देकर सत्कार करे ॥ २४३ ॥

ब्राह्मणमतिथिरूपम्, अन्यं वा भक्षणशीलं भोजनार्थं तत्कालोपस्थितं श्राद्धपात्रब्राह्मणैरनुज्ञातो यथाशक्त्यन्नभोजनेन भिक्षादानेन चार्हयेत् ॥ २४३ ॥

सार्ववर्णिकमन्नाद्यं सन्नीयाप्लाव्य वारिणा।
समुत्सृजेद् भुक्तवतामग्रतो विकिरन्भुवि ॥ २४४ ॥

सब प्रकारके अन्नको लेकर तथा पानीसे आप्लावित (सान) कर भोजन किये हुए ब्राह्मणोंके आगे (कुशाओंपर) बिखेरता हुआ छोड़ दे ॥ २४४ ॥

वर्णशब्दः प्रकारवाची। सर्वप्रकारकमन्नादिकं व्यञ्जनादिभिरेकीकृत्योदकेनाप्लावयित्वा कृतभोजनानां ब्राह्मणानां पुरतो भूमौ "दर्भेषु विकिरश्च यः" (म. स्मृ. ३।२४५) इति वक्ष्यमाणत्वाद्दर्भोपरि निक्षिपेत्त्यजेत् ॥ २४४ ॥

असंस्कृतप्रमीतानां त्यागिनां कुलयोषिताम्।
उच्छिष्टं भागधेयं स्याद्दर्भेषु विकिरश्च यः ॥ २४५ ॥

जो अन्न कुशाओंपर बिखेरा जाता है, वह जिन मृतकोंका ("नास्य कार्योऽग्निसंस्कारः— (५।६९)" वचनके अनुसार) अग्निसंस्कार नहीं किया गया है उन बालकोंका, तथा बिना दोष देखे ही कुलस्त्रियोंका त्याग करनेवालोंका हिस्सा होता है ॥ २४५ ॥

"नास्य कार्योऽग्निसंस्कारः (म. स्मृ. ५।६९)" इति निषेधात्संस्कारानर्हबालानां तथा कुलस्त्रीणामदृष्टदोषाणां ये त्यक्तारस्तेषां पात्रस्थमुच्छिष्टं, दर्भेषु च यो विकिरः स भागः स्यात्। अन्ये तु त्यागिनामिति गुर्वादित्यागिनां, कुलयोषितामिति स्वातन्त्र्येण तु कुलयोषितामनूढकन्यानामिति व्याचक्षते। गोविन्दराजस्तु त्यागिनां कुलयोषितामिति सामान्योपक्रमादिदं विशेषाभिधानं "संस्कृतं भक्षाः" (पा० सू० ४।२।१६) इतिवत्। ततः स्वकुलं त्यक्त्वा गतानां कुलस्त्रीणामित्याह ॥ २४५ ॥

उच्छेषणं भूमिगतमजिह्मस्याशठस्य च।
दासवर्गस्य तत्पित्र्ये भागधेयं प्रचक्षते ॥ २४६ ॥

पितृश्राद्धमें भूमिपर गिरा हुआ उच्छिष्ट (जूठा अन्न) अकुटिल और शाठ्यरहित दास— समूहका भाग होता है ॥ २४६ ॥

उच्छिष्टं यत् भूमिगतम्, तद्दाससमूहस्यावक्रस्यानलसस्याकुटिलस्य च पित्र्ये श्राद्धकर्मणि भागधेयं मन्वादयो वदन्ति ॥ २४६ ॥

आसपिण्डक्रियाकर्म द्विजातेः संस्थतस्य तु ।
अदैवं भोजयेच्छ्राद्धं पिण्डमेकं तु निर्वपेत् ॥ २४७ ॥

सपिण्डीकरण (सपिण्डन) श्राद्धतक (कुछ समय पूर्व) मरे हुए द्विजातिका विश्वेदेव (ब्राह्मण भोजन) से रहित श्राद्ध करे (तथा एक ब्राह्मणको श्राद्धान्नका भोजन करावे) और एक पिण्ड दे ॥ २४७ ॥

मर्यादायामाङ् नाभिविधौ । सपिण्डीकरणश्राद्धपर्यन्तमचिरमृतस्य द्विजातेश्च वैश्वदेव-ब्राह्मणभोजनरहितं श्राद्धार्थमन्नं ब्राह्मणं भोजयेत् , एकं च पिण्डं दद्यात् । अस्य च श्राद्धा-नुष्ठानम्—

"एकोद्दिष्टं दैवहीनमेकार्घैकपवित्रकम् ।
आवाहनाग्नौकरणरहितं ह्यपसव्यवत् ॥ (या. स्मृ. १।२५१)"

इति याज्ञवल्क्यादिस्मृतिष्ववगन्तव्यम् ॥ २४७ ॥

सहपिण्डक्रियायां तु कृतायामस्य धर्मतः ।
अनयैवावृता कार्यं पिण्डनिर्वपणं सुतैः ॥ २४८ ॥

धर्मानुसार सपिण्डीकरणके बाद इसी पार्वण श्राद्धकी विधिसे पुत्रोंको पिण्डदान करना चाहिए ॥ २४८ ॥

अस्येति यस्येदमेकोद्दिष्टं विहितं तस्य धर्मतः स्वगृह्यादिविधिना सपिण्डीकरणश्राद्धे कृते अनयैवावृता उक्तामावास्याश्राद्धेतिकर्तव्यतया पिण्डनिर्वपणं पार्वणविधिना श्राद्धं पुत्रैः सर्वत्र मृताहादौ कर्तव्यम् ।

नन्वनयैवावृतेत्यनेन प्रकृतमेकोद्दिष्टमेव हि किमिति न परामृश्यते । उच्यते—

तर्हि सपिण्डीकरणात्पूर्वमेकोद्दिष्टं सपिण्डीकरणे कृते पुनरनयैवावृतेति भेदनिर्देशो स्यात् । ततोऽमावास्येतिकर्तव्यतैव प्रतीयते ॥ २४८ ॥

श्राद्धं भुक्त्वा य उच्छिष्टं वृषलाय प्रयच्छति ।
स मूढो नरकं याति कालसूत्रमवाक्शिराः ॥ २४९ ॥

श्राद्ध में ब्राह्मण-भोजन करनेके बाद उच्छिष्ट (जूठे अन्नों) को जो मूर्ख शूद्रके लिए देता है, वह अधोमुख होकर कालसूत्र नरक को जाता है ॥ २४९ ॥

आश्रितशूद्रायोच्छिष्टदानप्रसक्तावयं निषेधः । श्राद्धभोजनोच्छिष्टं यः शूद्राय ददाति, स मूर्खः कालसूत्रं नाम नरकमधोमुखं गच्छति ॥ १४९ ॥

श्राद्धभुग्वृषलीतल्पं तदहर्योऽधिगच्छति ।
तस्याः पुरीषे तन्मासं पितरस्तस्य शेरते ॥ २५० ॥

श्राद्धमें भोजनकर जो ब्राह्मग उस दिन वृषली (मैथुनेच्छु स्त्री)के साथ सम्भोग करता है, उसके पितर उसके पुरीष (वृषली-मैला) में एक मास तक सोते (रहते) हैं ॥ २५० ॥

वृषलीशब्दोऽत्र स्त्रीपर इत्याहुः । निरुक्तं च "कुर्वन्ति वृषस्यन्ती चपलयति भर्तारमिति वृषली ब्राह्मणस्य परिणीता ब्राह्मण्यपि वृषली"इति । श्राद्धं भुक्त्वा तदहोरात्रे यः स्त्रीस-म्प्रयोगं करोति, तस्य पितरस्तस्याः पुरीषे मासं शेरत इति निवृत्त्यर्था निन्दा ॥ २५० ॥

पृष्ट्वा स्वदितमित्येवं तृप्तानाचामयेत्ततः ।
आचान्तांश्चानुजानीयादभि भो रम्यतामिति ॥ २५१ ॥

उन ब्राह्मणोंको तृप्त जानकर 'भोजन कर लिये ?' ऐसा पूछकर फिर उन्हें आचमन करावे और आचमन किये हुए उन ब्राह्मणोंसे 'हे ब्राह्मणों अब आपलोग जाइये ('भो अभि रम्यताम्' ऐसा कहे) ऐसा कहे ॥ २५१ ॥

तृप्तान्ब्राह्मणान्बुध्वा स्वदितमिति पृष्ट्वा तेषामाचमनं कारयेत्। कृताचमनांश्च भो इति सम्बोध्याभिरम्यतामिति ब्रूयात्। अभित इति पाठे अभितः, उभयतः, इह वा स्वगृहे वास्यतामित्यर्थः ॥ २५१ ॥

स्वधाऽस्त्वित्येव तं ब्रूर्ब्राह्मणास्तदनन्तरम्।
स्वधाकारः परा ह्याशीः सर्वेषु पितृकर्मसु ॥ २५२ ॥

उसके बाद वे ब्राह्मण 'स्वधास्तु' (स्वधा हो) ऐसा (श्राद्धकर्तासे) कहें, (क्योंकि) सब पितृकार्यों (श्राद्धों) में 'स्वधाकार' सर्वश्रेष्ठ आशीर्वाद हैं ॥ २०२ ॥

अनुज्ञानानन्तरं ब्राह्मणाः श्राद्धकर्तारं स्वधाऽस्तु इति ब्रूयुः। यस्मात्सर्वेषु श्राद्धतर्पणादिपितृकर्मसु स्वधाशब्दोच्चारणं प्रकृष्टा आशीः ॥ २५२ ॥

ततो भुक्तवतां तेषामन्नशेषं निवेदयेत्।
यथा ब्रूयुस्तथा कुर्यादनुज्ञातस्ततो द्विजैः ॥ २५३ ॥

बचे हुए अन्नको भोजन किये हुए उन ब्राह्मणोंसे निवेदन करे (यह अन्न बचा है, ऐसा कहे), फिर वे ब्राह्मण उस अन्नसे जो कार्य करनेके लिये कहें, वैसा करे ॥ २५२ ॥

स्वधाशब्दोच्चारणानन्तरं कृतभोजनानां ब्राह्मणानां शेषमन्नमप्यस्तीत्यवशिष्टमन्नं निवेदयेत्। तैर्ब्राह्मणैरिदमनेनान्नेन क्रियतामित्यनुज्ञातो यथा ते ब्रूयुस्तथाऽन्नशेषविनियोगं कुर्यात् ॥ २५३ ॥

इदानीं प्रसङ्गाच्छ्राद्धान्तरेषु विशेषविधिमाह—

पित्र्ये स्वदितमित्येवं वाच्यं गोष्ठे तु सुश्रुतम्।
सम्पन्नमित्यभ्युदये दैवे रुचितमित्यपि ॥ २५४ ॥

भोजन किये हुए उन ब्राह्मणोंकी तृप्ति पूछनेके लिये श्राद्धकर्ता पितृश्राद्ध (निरपेक्ष पितृ-मातृ-देवतावाले एकोद्दिष्ट श्राद्ध) में 'स्वदितम्', गोष्ठीश्राद्धमें 'सुश्रुतम्' वृद्धिश्राद्ध (आभ्युदयिक श्राद्ध) में 'सम्पन्नम्' और देवश्राद्धमें 'रुचितम्' ऐसा प्रश्न करे ॥ २५४ ॥

पित्र्ये निरपेक्षपितृमातृदेवताक एकोद्दिष्टश्राद्धे तृप्तिप्रश्नार्थं स्वदितमिति वाच्यम्। तथा च गोभिलसाङ्ख्यायनौ—"स्वदितमिति तृप्तिप्रश्नः"। [1]मेधातिथिगोविन्दराजौ तु श्राद्धकालागतेनान्येनापि स्वदितमित्येव कर्तव्यमिति व्याचक्षतुः।

"श्राद्धे स्वदितमित्येतद्वाच्यमन्येन केनचित्।
नानुरुद्धमिदं विद्वद्वृद्धैर्न श्रद्धीमहि ॥"

गोष्ठे गोष्ठीश्राद्धे सुश्रुतमिति वाच्यम्। "गोष्ठ्यां शुद्ध्यर्थमष्टमम्" इति द्वादशविधश्राद्धगणनायां गोष्ठीश्राद्धमपि विश्वामित्रेण पठितम्। अभ्युदये वृद्धिश्राद्धे सम्पन्नमिति वाच्यम्। दैवे देवतोद्देशेन श्राद्धे रुचितमिति वचनीयम्। दैवश्राद्धं तु भविष्यपुराणोक्तम्—

---

१. अन्येनापि तत्कालोचितोपस्थितेनैवमेभिः शब्दैः मोदयितव्यः। अन्यस्त्वाह—अनुज्ञापनमेतैः शब्दैर्भोजनादिप्रवृत्तैः कर्तव्यम्।

"देवानुद्दिश्य यच्छ्राद्धं तत्तु दैविकमुच्यते।
हविष्येण विशिष्टेन सप्तम्यादिषु यत्नतः॥ २५४॥

अपराह्णस्तथा दर्भा वास्तुसम्पादनं तिलाः।
सृष्टिर्मृष्टिर्द्विजाश्चाग्र्याः श्राद्धकर्मसु सम्पदः॥ २५५॥

अपराह्ण काल, (विष्टर पवित्री आदिके लिये) कुशा, गोबर आदिसे लीप कर शुद्ध किया हुआ स्थान, (विकिरण आदिके लिये), तिल, (कृपणताको छोड़कर अन्न तथा दक्षिणा आदि का) दान, अन्नादिका यथावत् संस्कार-विशेष (तैयार कराना) और श्रेष्ठ (पङ्क्तिपावन ३।१८४–१८६) ब्राह्मण; ये सब श्राद्ध कर्ममें सम्पत्तिरूप (श्रेष्ठ) हैं॥ २५५॥

अमावस्याश्राद्धस्य प्रकृतत्वात्तद्विषयोऽयमपराह्णकालः, "प्रातर्वृद्धिनिमित्तकम्" इत्यादिना वृद्धिश्राद्धादौ स्मृत्यन्तरे प्रातःकालादिविधानात्। विष्टराद्यर्था दर्भाः, गोमयादिना श्राद्धदेशसंशोधनं, तिलाश्च विकिरणाद्यर्थाः, सृष्टिरकार्पण्येनान्नादिविसर्गः, मृष्टिरन्नादेश्च संस्कारविशेषः, पङ्क्तिपावनादयश्च ब्राह्मणाः, एताः श्राद्धे सम्पत्तय इत्यभिधानादङ्गान्तरापेक्षं प्रकृष्टत्वमेषां बोधितम्॥ २५५॥

दर्भाः पवित्रं पूर्वाह्णो हविष्याणि च सर्वशः।
पवित्रं यच्च पूर्वोक्तं विज्ञेया हव्यसम्पदः॥ २५६॥

कुश, मन्त्र, पूर्वाह्ण (दोपहरके पहलेका समय), मुन्यन्न (तीनी) आदि सुसम्पादित सब हविष्य, गोबर आदिसे लीपकर पवित्र किया हुआ स्थान आदि जो पहले (३।२५५) में कहे हैं, वे सब, हविष्य (यज्ञ, हवन, देवश्राद्ध आदि देवकार्य) की सम्पत्तियां हैं॥ २५६॥

पवित्रं मन्त्राः, पूर्वाह्णः कालः, हविष्याणि मुन्यन्नादीनि सर्वाणि च, यच्च पवित्रं पावनं वास्तुसम्पादनादि पूर्वमुक्तम्, एताश्च देवार्थस्य कर्मणः समृद्धयः। हव्यशब्दो दैवकर्मोपलक्षणार्थः॥ २५६॥

मुन्यन्नानि पयः सोमो मांसं यच्चानुपस्कृतम्।
अक्षारलवणं चैव प्रकृत्या हविरुच्यते॥ २५७॥

मुन्यन्न (नीवार अर्थात् तीनी आदि) दूध, सोम (लताका रस), दुर्गन्धि तथा विकारसे रहित मांस और अकृत्रिम (सैन्धवादि) लवण ये सब (मनुके द्वारा) स्वभावतः 'हविष्य' कहे जाते हैं॥ २५७॥

मुनेर्वानप्रस्थस्यान्नानि नीवारादीनि, पयः क्षीरं, सोमलतारसः अनुपस्कृतमविकृतं पूतिगन्धादिरहितं मांसम्, अक्षारलवणमकृत्रिमलवणं सैन्धवादि, एतत्स्वभावतो हविर्मन्वादिभिरभिधीयते॥ २५७॥

विसृज्य ब्राह्मणांस्तांस्तु नियतो वाग्यतः शुचिः।
दक्षिणां दिशमाकाङ्क्षन्याचेतेमान्वरान्पितॄन्॥ २५८॥

श्राद्धकर्ता उन (निमन्त्रित) ब्राह्मणोंको भेजकर (३।२५१ की विधिसे भोजनोपरान्त विदाकर) एकाग्रचित्त, मौनी तथा पवित्र होकर दक्षिण दिशाकी ओर मुख करके पितरोंसे इन (आगेके श्लोकमें कहे जानेवाले) वरोंको मांगे॥ २५८॥

तान्ब्राह्मणान्विसृज्यानन्यमनाः मौनी पवित्रो दक्षिणां दिशं वीक्षमाण एतान्वक्ष्यमाणानभिलषितानर्थान्पितॄन्प्रार्थयेत्॥ २५८॥

दातारो नोऽभिवर्धन्तां वेदाः सन्ततिरेव च।
श्रद्धा च नो मा व्यगमद्बहुदेयं च नोऽस्त्विति ॥ २५९ ॥
[अन्नं च नो बहुभवेदतिथींश्च लभेमहि।
याचितारश्च नः सन्तु मा च याचिष्म कञ्चन ॥ १२ ॥
श्राद्धभुक् पुनरश्नाति तदहर्यो द्विजाधमः।
प्रयाति शूकरीं योनिं कृमिर्वा नात्र संशयः ॥ १३ ॥]

हमारे कुलसे दानी पुरुष, वेद (वेदोंको पढ़ना, पढ़ाना, उन में कथित ज्ञान तथा तदनुसार यज्ञानुष्ठानादि) और सन्तान (पुत्र, पौत्र आदि) की वृद्धि हो; हमारे कुलमें (वेदविषयिणी) श्रद्धा नष्ट न होवे, दान, करने योग्य (धन-धान्यादि) हमारे कुलमें बहुत होवें ॥ २५९ ॥

हमारे कुलमें अन्न बहुत हो, हम अतिथियों को प्राप्त करें, हम से याचना करनेवाले बहुत हों और हम किसी से याचना नहीं करें ॥ १२ ॥

श्राद्धान्नको भोजन किया हुआ जो नीच ब्राह्मण उस दिन फिर दुबारा भोजन करता है, वह सूकर या कृमि (विष्ठादिमें रहनेवाले छोटे कीड़े) की योनिमें उत्पन्न होता हैं, इसमें सन्देह नहीं है ॥ १३ ॥

अस्मत्कुले दातारः पुरुषा वर्धन्ताम्। वेदाश्चाध्ययनाध्यापनतदर्थबोधतदर्थयागाद्यनुष्ठानैर्वृद्धिमाप्नुवन्तु। पुत्रपौत्रादिकं च वर्धताम्। वेदार्थश्रद्धा चास्मत्कुले न व्यपैतु। दातव्यं च धनादिकं बहु भवतु ॥ २५९ ॥

एवं निर्वपणं कृत्वा पिण्डांस्तांस्तदनन्तरम्।
गां विप्रमजमग्निं वा प्राशयेदप्सु वा क्षिपेत् ॥ २६० ॥

इस प्रकार पिण्ड-दानकर उक्त (३।२५८-२५९) विधिसे वरयाचना करनेके बाद उन (श्राद्धके) पिण्डों को गौ, ब्राह्मण या बकरीको खिला दे, अथवा आग या पानी में छोड़ दे ॥२६०॥

एवमुक्तप्रकारेण पिण्डानां प्रदानं कृत्वा प्रकृतवरयाचनानन्तरं तान्पिण्डान् गां ब्राह्मणम्, छागं वा भोजयेत्, अग्नौ, जले वा क्षिपेत् ॥ २६० ॥

पिण्डनिर्वपणं केचित्परस्तादेव कुर्वते।
वयोभिः खादयन्त्यन्ये प्रक्षिपन्त्यनलेऽप्सु वा ॥ २६१ ॥

कोई आचार्य ब्राह्मण-भोजनके बाद ही पिण्ड का निर्वापण (प्रक्षेप करना अर्थात् फेंकना) करते (करने को कहते) हैं, कोई आचार्य पक्षियोंको खिलवाते (खिलवानेके लिये कहते) हैं तथा कोई आचार्य आग या पानीमें छोड़ते (छोड़ने के लिये कहते) हैं ॥ २६१ ॥

पिण्डप्रदानं केचिदाचार्या ब्राह्मणभोजनानन्तरं कुर्वते, अन्ये पक्षिभिः पिण्डान्खादयन्ति। इयं पक्षिभोजनरूपा प्रतिपत्तिरग्न्युदकप्रक्षेपयोर्वैकल्पिकीति दर्शयितुमुक्तयोरप्यभिधानम् ॥ २६१ ॥

पतिव्रता धर्मपत्नी पितृपूजनतत्परा।
मध्यमं तु ततः पिण्डमद्यात्सम्यक्सुतार्थिनी ॥ २६२ ॥

पतिव्रता, सवर्ण (समान जाति वाली) प्रथम विवाहिता श्राद्धकार्यमें श्रद्धायुक्त; पुत्रको चाहने वाली श्राद्धकर्ता की स्त्री उन पिण्डोंमें के मध्यम (बीचका अर्थात् पितामह-सम्बन्धी) पिण्डको अच्छी तरह ("आधत्त पितरो गर्भम्" इत्यदि गृह्योक्त मन्त्रसे) खा जावे ॥ २६२ ॥

धर्मार्थकामेषु मनोवाक्कायकर्मभिः पतिरेव मया परिचरणीय इति व्रतं यस्याः सा पतिव्रता, धर्मपत्नी सवर्णा प्रथमोढा श्राद्धक्रियाणां श्रद्धाशालिनी पुत्रार्थिनी तेषां पिण्डानां मध्यमं पितामहपिण्डं भक्षयेत्सम्यक् "आधत्त पितरो गर्भम्" इत्यादिगृह्योक्तमन्त्रेण ॥२६२॥

आयुष्मन्तं सुतं सूते यशोमेधासमन्वितम् ।
धनवन्तं प्रजावन्तं सात्त्विकं धार्मिकं तथा ॥ २६३ ॥

(उस पितामह सम्बन्धी पिण्डको खानेसे उस श्राद्धकर्ता की स्त्री) आयुष्मान्, यशस्वी, बुद्धिमान्, धनवान्, सन्तानवान् (पुत्र-पौत्रादि सन्तानों से युक्त होने वाला), सात्विक तथा धर्मात्मा पुत्रको उत्पन्न करती है ॥ २६३ ॥

तेन पिण्डभक्षणेन दीर्घायुषं कीर्तिधारणात्मकबुद्धियुक्तं धनपुत्रादिसन्ततिधर्मानुष्ठानसत्त्वाख्यगुणान्वितं पुत्रं जनयति ॥ २६३ ॥

प्रक्षाल्य हस्तावाचम्य ज्ञातिप्रायं प्रकल्पयेत् ।
ज्ञातिभ्यः सत्कृतं दत्त्वा बान्धवानपि भोजयेत् ॥ २६४ ॥

(फिर) दोनों हाथ धोकर तथा आचमनकर जातिवालोंको भोजन करावे, उन्हें सत्कारपूर्वक अन्न देकर बान्धव (माता पिताके पक्षवालों) को (सत्कारसहित) भोजन करावे ॥ २६४ ॥

तदनु हस्तौ प्रक्षाल्य ज्ञातिप्रायमन्नं कुर्यात् । ज्ञातीन्प्रैति गच्छतीति ज्ञातिप्रायम्, कर्मण्यण् । ज्ञातीन्भोजयेदित्यर्थः । तेभ्यः पूजापूर्वकमन्नं दत्त्वा मातृपक्षानपि सार्हणं भोजयेत् ॥

उच्छेषणं तु यत्तिष्ठेद्यावद्विप्रा विसर्जिताः ।
ततो गृहबलिं कुर्यादिति धर्मो व्यवस्थितः ॥ २६५ ॥

जब तक भोजन करनेवाले निमन्त्रित ब्राह्मण नहीं चले जायं, तब तक उनका उच्छिष्ट (जूठा) अन्न पड़ा रहने दे (उसे उठवाकार स्थानको झाड़ू आदि से साफ न करावे) । इसके बाद धर्म में तत्पर श्राद्धकर्ता गृहबलि (वैश्वदेवबलि, हवनकर्म, नित्यश्राद्ध, अतिथि-भोजन आदि) करे ॥ २६५ ॥

तद् ब्राह्मणोच्छिष्टं तावत्कालं तिष्ठेत् यावद् ब्राह्मणानां विसर्जनं, ब्राह्मणेषु तु निर्गतेषु मार्ष्टव्यमित्यर्थः । ततः सम्पन्ने श्राद्धकर्मणि वैश्वदेवबलिहोमकर्मनित्यश्राद्धातिथिभोजनानि कर्तव्यानि, बलिशब्दस्य प्रदर्शनार्थत्वात् । अत एव मत्स्यपुराणे—

"निवृत्य प्रतिपत्त्यर्थं पर्युक्ष्याग्निं च मन्त्रवित् ।
वैश्वदेवं प्रकुर्वीत नैत्यकं विधिमेव च ।" २६५ ॥ इति ॥

यैश्चान्नैरिति पूर्वमुक्तमपि व्यवधानादबुद्धिस्थ शिष्यसुखप्रतिपत्तये पुनर्वक्तव्यतया प्रतिजानीते—

हविर्यच्चिररात्राय यच्चानन्त्याय कल्प्यते ।
पितृभ्यो विधिवद्दत्तं तत्प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ २६६ ॥

(भृगुमुनि महर्षियोंसे कहते हैं कि)—जो हविष्य अर्थात् कव्य पितरोंके लिये विधिपूर्वक दिया गया चिरकालतक तथा अनन्त काल तक (पितरोंकी) तृप्ति के लिये होता है, उसे मैं सम्पूर्ण रूपसे कहता हूँ ॥ २६६ ॥

चिररात्रायपदमव्ययं चिरकालवाचि । अत एव—

"चिराय चिररात्राय चिरस्यांद्याश्चिरार्थकाः ।" (अ. को. ३ । ४ । १)

इत्याभिधानिकाः। यद्धविः पितृभ्यो यथाविधि दत्तं चिरकालतृप्तयेऽनन्ततृप्तये च सम्पद्यते, तन्निःशेषेणाभिधास्यामि ॥ २६६ ॥

तिलैर्व्रीहियवैर्माषैरद्भिर्मूलफलेन वा।
दत्तेन मासं तृप्यन्ति विधिवत्पितरो नृणाम् ॥ २६७ ॥

(काला तिल, धान्य, यव, काला उड़द, पानी, मूल (कन्द), और फल; इनको विधिपूर्वक देनेसे एक महीने तक मनुष्योंके पितर लोग तृप्त होते हैं ॥ २६७ ॥

तिलधान्ययवमाषजलमूलफलानामन्यतमेन यथाशास्त्रं श्रद्धया दत्तेन मनुष्याणां मासं पितरस्तृप्यन्ति।

"कृष्णा माषास्तिलाश्चैव श्रेष्ठाः स्युर्यवशालयः।"

इति वायुपुराणवचनान्माषैरिति कृष्णमाषा बोद्धव्याः ॥ २६७ ॥

द्वौ मासौ मत्स्यमांसेन, त्रीन्मासान्हारिणेन तु।
औरभ्रेणाथ चतुरः, शाकुनेनाथ पञ्च वै ॥ २६८ ॥

(पोठिया आदि) मछलीके मांससे दो महीनों तक, मृगके मांससे तीन महीनों तक, भेंड़े के मांससे चार महीनों तक, (द्विजातियोंके भक्ष्य में गृहीत पांच) पक्षियोंके मांससे पांच महीनों तक (मनुष्योंके पितर तृप्त रहते है) ॥ २६८ ॥

पाठीनादिमत्स्यानां मांसेन द्वौ मासौ पितरः प्रीयन्त इति पूर्वेण सम्बन्धः। त्रीन्मासान्हारिणेन मांसेन, चतुरो मेषमांसेन, पञ्च द्विजातिभक्ष्यपक्षिमांसेन ॥ २६८ ॥

षण्मासांश्छागमांसेन पार्षतेन च सप्त वै।
अष्टावेणस्य मांसेन रौरवेण नवैव तु ॥ २६९ ॥
[अष्टावैणेयमांसेन पार्षतेनाथ सप्त वै।
अष्टावैणेयमांसेन रौरवेण नवैव तु ॥ १४ ॥]

बकरेके मांससे छः महीनों तक, पृषत् नामक मृगके मांससे सात महीनों तक, एण नामक मृग के मांससे आठ महीनों तक, रुरु नामक मृगके मांससे नौ महीनों तक (मनुष्योंके पितरलोग तृप्त रहते हैं) ॥ २६९ ॥

[एण नामक मृगके मांससे आठ महीनों तक, पृषत् नामक मृगके मांससे सात महीनों तक, ऐणेय नामक मृगके मांससे आठ महीनों तक और रुरु नामक मृगके मांससे नौ महीनों तक (मनुष्योंके पितर तृप्त रहते हैं) ॥ १४ ॥]

षण्मासांश्छागमांसेन प्रीयन्ते, पृषतश्चित्रमृगस्तन्मांसेन सप्त, एणमांसेनाष्टौ, रुरुमांसेन नव। एणरुरू हरिणजातिविशेषौ ॥ २६९ ॥

दशमासांस्तु तृप्यन्ति वराहमहिषामिषैः।
शशकूर्मयोस्तु मांसेन मासानेकादशैव तु ॥ २७० ॥

जंगली सूअर तथा भैंसेके मांससे दस महीनों तक (मनुष्योंके पितर) तृप्त रहते हैं, खरगोश और कछुवेके मांससे ग्यारह महीनों तक (मनुष्योंके पितर तृप्त रहते हैं) ॥ २७० ॥

दशमासानारण्यसूकरमहिषमांसैस्तृप्यन्ति, एकादश शशकच्छपमांसेन ॥ २७० ॥

संवत्सरं तु गव्येन पयसा पायसेन च ।
वार्ध्रीणसस्य मांसेन तृप्तिर्द्वादशवार्षिकी ॥ २७१ ॥

[त्रिपिबं त्विन्द्रियक्षीणमजापूर्वानुगामिनम् ।
तं वै वार्ध्रीणसं विद्यात् वृद्धं शुक्लमजापतिम् ॥ १५ ॥]

गौ के दूध तथा गौके दूधसे बने पदार्थ (खीर आदि) से एक वर्ष तक और वार्ध्रीणस बकरे (इसका लक्षण क्षेपक १५ में देखें) के मांससे बारह वर्षोंतक (पितरों की) तृप्ति होती है ॥ २७१ ॥

पानी पीते समय जिसके दोनों कान (लम्बे होनेके कारण) और जीभ जलका स्पर्श करें; जो इन्द्रियसे क्षीण (नष्ट शक्ति) हो, जो श्वेत रंगका हो; उस बूढ़े बकरेको 'वार्ध्रीणस' कहते हैं ॥ १५ ॥

वर्षं पुनर्गोभवक्षीरेण तत्साधितौदनेन च तुष्यन्ति, तत्रैव पायसशब्दप्रसिद्धेः । वार्ध्रीणसस्य मांसेन द्वादशवर्षपर्यन्तं पितृतृप्तिर्भवति । वार्ध्रीणसश्च निगमे व्याख्यातः—

"त्रिपिबं त्विन्द्रियक्षीणं श्वेतं वृद्धमजापतिम् ।
वार्ध्रीणसं तु तं प्राहुर्याज्ञिकाः पितृकर्मणि ॥"

नद्यादौ पयः पिबतो यस्य त्रीणि जलं स्पृशन्ति कर्णौ जिह्वा च, त्रिभिः पिबतीति त्रिपिबः ॥ २७१ ॥

कालशाकं महाशल्काः खड्गलोहामिषं मधु ।
आनन्त्यायैव कल्प्यन्ते मुन्यन्नानि च सर्वशः ॥ २७२ ॥

कालशाक (एक प्रकारका शाक-विशेष), महाशल्क (कृष्णवर्ण बथुवेका शाक या एक प्रकार की मछली) गेंड़ा और लाल बकरेका मास तथा सब प्रकारके मुन्यन्न (नीवार अर्थात् तीनी आदि) पितरोंकी अनन्तकाल तक तृप्ति करनेवाले होते हैं ॥ २७२ ॥

कालशाकाख्यं शाकम् । महाशल्काः सशल्का इति [1]मेधातिथिः । मत्स्यविशेषा इति युज्यन्ते, "महाशल्कलिनो मत्स्याः" इति वचनात् । खड्गो गण्डकः । लोहो लोहितवर्णश्छाग एव, 'छागेन सर्वलोहेनानन्त्यम्" इति पैठीनसिवचनात्तयोरामिषम् , मधु माक्षिकम् , मुन्यन्नानि नीवारादीन्यारण्यानि सर्वाणि, एतान्यनन्ततृप्तये सम्पद्यन्ते ॥ २७२ ॥

यत्किञ्चिन्मधुना मिश्रं प्रदद्यात्तु त्रयोदशीम् ।
तदप्यक्षयमेव स्याद्वर्षासु च मघासु च ॥ २७३ ॥

वर्षा ऋतु में मघानक्षत्र और (भाद्रपद मासके कृष्णपक्षकी) त्रयोदशी तिथि होने पर मधुसे मिली हुई कोई (अप्रसिद्ध) भी वस्तु दे, तो वह (पितरोंकी तृप्ति के लिये) अक्षय होता है ॥२७३॥

ऋतुनक्षत्रतिथीनामयं समुच्चयः । यत्किञ्चिदित्यप्रसिद्धं मधुसंयुक्तं वर्षाकाले मघात्रयोदश्यां दीयते तदप्यक्षयमेव भवति । त्रयोदश्या अधिकरणत्वेऽपीप्सितत्वविवक्षया प्राप्येत्यध्याहाराद्वा द्वितीया ॥ २७३ ॥

अपि नः स कुले जायाद्यो नो दद्यात्त्रयोदशीम् ।
पायसं मधुसर्पिर्भ्यां प्राक्छाये कुञ्जरस्य च ॥ २७४ ॥

---

१. कृष्णे वास्तुकभेदे वा यथा महाशल्का उच्यन्ते । अन्ये तु मत्स्यान् सशल्कानाहुः ।

(पितरलोग यह अभिलाषा करते हैं कि—) हमारे कुलमें ऐसा कोई उत्पन्न हो, जो त्रयोदशी तिथिको प्राप्त कर मधु तथा घीसे मिली हुई खीर (दूधमें पकाया चावल) को हाथी की छाया जब पूर्व दिशाकी ओर जाने लगे तब अर्थात् अपराह्न काल में (हमारे लिये) दे अर्थात् मधु तथा घीसे मिली हुई खीरसे हमारा श्राद्ध करे ॥ २७४ ॥

वर्षासु मघायुक्तत्रयोदशी पूर्वोक्ता विवक्षिता । तत्रापि—

"प्रौष्ठपद्यामतीताया मघायुक्तां त्रयोदशीम् ।
प्राप्य श्राद्धं हि कर्तव्यं मधुना पायसेन च ॥"

इति शङ्खवचनाद्भाद्रकृष्णत्रयोदशी पूर्वत्रेह च गृह्यते। पितरः किलैवमाशासते अपि नाम तथाविधः कश्चिदस्माकं कुले भूयात् , योऽस्मभ्यं प्रकृतायां त्रयोदश्यां तथा तिथ्यन्तरेऽपि हस्तिनः पूर्वां दिशं गतायां छायायां मधुघृतसंयुक्तं पायसं दद्यात् , न तु त्रयोदशीहस्तिच्छाययोः समुच्चयः । यथा आह विष्णुः—

"अपि जायेत सोऽस्माकं कुले कश्चिन्नरोत्तमः ।
प्रावृट्कालेऽसिते पक्षे त्रयोदश्यां समाहितः ॥
मधुप्लुतेन यः श्राद्धं पायसेन समाचरेत् ।
कार्तिकं सकलं वापि प्राक्छाये कुञ्जरस्य च ॥ [वि. ३।१६।१९-२०]"

यद्यद्ददाति विधिवत्सम्यक् श्रद्धासमन्वितः ।
तत्तत्पितॄणां भवति परत्रानन्तमक्षयम् ॥ २७५ ॥

श्रद्धायुक्त मनुष्य विधिपूर्वक सम्यक् प्रकारसे (शास्त्रोक्त) जो-जो अन्न देता है अर्थात् श्राद्ध करता है, वह-वह परलोकमें पितरोंके लिये अक्षय (तृप्तिकारक) होता है ॥ २७५ ॥

यद्यदिति वीप्सायाम् । सर्वमन्नमप्रतिषिद्धं यथाशास्त्रं सम्यग्रूपं श्रद्धायुक्तः पितृभ्यो ददाति तदनन्तकं सर्वकालमक्षयमनपचितं परलोके पितृतृप्तये भवति । अतस्तत्फलार्थिना श्रद्धया देयमिति विधीयते ॥ २७५ ॥

कृष्णपक्षे दशम्यादौ वर्जयित्वा चतुर्दशीम् ।
श्राद्धे प्रशस्तास्तिथयो यथैता न तथेतराः ॥ २७६ ॥

कृष्णपक्षमें चतुर्दशीको छोड़कर शेष तिथियां (दशमी, एकादशी, द्वादशी, त्रयोदशी और अमावस्या) श्राद्धमें जितनी श्रेष्ठ मानी गयी हैं, उतनी अन्य (प्रतिपद्से नवमी तक तथा चतुर्दशी) तिथियाँ श्रेष्ठ नहीं हैं ॥ २७६ ॥

कृष्णपक्षे दशमीमारभ्य चतुर्दशीं त्यक्त्वा श्राद्धे यथा तिथयः श्रेष्ठा महाफला न तथैतदन्या प्रतिपदादयः ॥ २७६ ॥

युक्षु कुर्वन्दिनर्क्षेषु सर्वान्कामान्समश्नुते ।
अयुक्षु तु पितॄन्सर्वान्प्रजां प्राप्नोति पुष्कलाम् ॥ २७७ ॥

सम (द्वितीया, चतुर्थी, षष्ठी इत्यादि युग्म) तिथियों और सम (भरणी, रोहिणी, आर्द्रा, पुष्य इत्यादि युग्म) नक्षत्रोंमें श्राद्धको करता हुआ द्विज सब मनोरथोंको प्राप्त करता है; तथा विषम (प्रतिपद्, तृतीया, पञ्चमी आदि अयुग्म) तिथियाँ और विषम (अश्विनी, कृत्तिका, मृगशिरा, पुनर्वसु आदि अयुग्म) नक्षत्रोंमें पितरोंको पूजता (श्राद्धद्वारा सन्तुष्ट करता) हुआ द्विज धन-विद्यादिसे परिपूर्ण पुत्र-पौत्रादि सन्तानको प्राप्त करता है ॥ २७७ ॥

दिनशब्दोऽत्र तिथिपरः। युक्षु युग्मासु तिथिषु द्वितीयाचतुर्थ्यादिषु युग्मनक्षत्रेषु भरणीरोहिण्यादिषु श्राद्धं कुर्वन्सर्वाभिलषितान्प्राप्नोति। अयुग्मासु तिथिषु प्रतिपत्तृतीयाप्रभृतिषु, अयुग्मेषु च नक्षत्रेष्वश्विनीकृत्तिकादिषु श्राद्धेन पितॄन्पूजयन्पुत्रादिसन्ततिं लभते। पुष्कलां धनविद्यापरिपुष्टाम् ॥ २७७ ॥

यथा चैवापरः पक्षः पूर्वपक्षाद्विशिष्यते।
तथा श्राद्धस्य पूर्वाह्णादपराह्णो विशिष्यते ॥ २७८ ॥

जिस प्रकार (श्राद्धमें) कृष्णपक्ष शुक्लपक्षकी अपेक्षा विशिष्ट होता है, उसी प्रकार पूर्वाह्णकी अपेक्षा अपराह्ण काल श्राद्धके लिये विशिष्ट होता है ॥ २७८ ॥

चैत्रसिताद्या मासा इति ज्योतिःशास्त्रविधानाच्छुक्लपक्षोपक्रमत्वान्मासानां अपरः पक्षः कृष्णपक्षः स यथा शुक्लपक्षात् श्राद्धस्य सम्बन्धी विशिष्टफलदो भवति, एवं पूर्वार्धदिवसादुत्तरार्धदिवसः प्रकृष्टफलः। 'विशिष्यते' इति वचनात्पूर्वाह्णेऽपि श्राद्धकर्तव्यतां बोधयति।

ननु शुक्लपक्षादनुक्तोत्कर्षस्यापरपक्षस्य कथं दृष्टान्तता, प्रसिद्धो हि दृष्टान्तो भवति? उच्यते—

"कृष्णपक्षे दशम्यादौ" (म. स्मृ. ३-२७६) इत्यत्रैव विशिष्टविधावुत्कर्षाभिधानात् ॥ २७८ ॥

प्राचीनावीतिना सम्यगपसव्यमतन्द्रिणा।
पित्र्यमानिधनात्कार्यं विधिवद्दर्भपाणिना ॥ २७९ ॥

प्राचीनावीती (२।६३) निरालस अपसव्य होकर और हाथ में कुश लेकर पितृतीर्थ (२।५९) से, समाप्ति होने तक (मेधातिथिके मतसे मरनेतक) पितृश्राद्ध करना चाहिये ॥ २७९ ॥

दक्षिणांसस्थितयज्ञोपवीतेनानलसेन दर्भहस्तेन अपसव्यं पितृतीर्थेन यथाशास्त्रं सर्वं पितृसम्बन्धि कर्म आनिधनादासमाप्तेः कर्तव्यम्। आनिधनाद्यावज्जीवमिति[1] मेधातिथिगोविन्दराजौ ॥ २७९ ॥

रात्रौ श्राद्धं न कुर्वीत राक्षसी कीर्तिता हि सा।
सन्ध्ययोरुभयोश्चैव सूर्ये चैवाचिरोदिते ॥ २८० ॥
[कुर्वन्प्रतिपदि श्राद्धं स्वरूपां लभते प्रजाम्।
कन्यकाश्च द्वितीयायां, तृतीयायां तु वाजिनः ॥ १६ ॥
पशून् क्षुद्रांश्चतुर्थ्यां तु, पञ्चम्यां शोभनान्सुतान्।
षष्ठ्यां द्यूतमवाप्नोति, सप्तम्यां लभते कृषिम् ॥ १७ ॥
अष्टम्यामपि वाणिज्यं लभते श्राद्धदो नरः।
नवम्यां वै चैकशफान्, दशम्यां द्विखुरान्बहून् ॥ १८ ॥

रात्रिमें श्राद्ध नहीं करे, क्योंकि (मनु आदि) ने उसको (श्राद्धके फलको नष्ट करनेवाली होनेसे) 'राक्षसी' कहा है। ओर दोनों सन्ध्याओं (प्रातः तथा सायंके सन्ध्याकालमें) तथा सूर्यके

१. आनिधनाद् आमरणाद्यावज्जीविकोऽयं विधिरित्यर्थः।

थोड़ी देर (तीन मुहूर्त या दिनका पांचवां भाग) पहले निकलनेपर अर्थात् ६ घटी (२ घंटा ४२ मिनट दिन चढ़नेतक) श्राद्ध न करे ॥ २८० ॥

प्रतिपदामें श्राद्ध करनेवाला सुन्दर या अपने समान सन्तान को प्राप्त करता हैं। द्वितीयामें श्राद्ध करनेवाला कन्या और तृतीयामें श्राद्ध करनेवाला घोड़ा (घोड़ा के समान) पुत्र प्राप्त करता हैं ॥ १६ ॥

चतुर्थीमें श्राद्ध करनेवाला छोटे पशुओंको, पञ्चमीमें श्राद्ध करनेवाला सुन्दर पुत्रोंको, षष्ठीमें श्राद्ध करनेवाला दूतको और सप्तमीमें श्राद्ध करनेवाला कृषि (खेती) को प्राप्त करता है ॥ १७ ॥

अष्टमीमें श्राद्ध करनेवाला वाणिज्य (व्यापार) को प्राप्त करता है, नवमीमें श्राद्ध करनेवाला एक खुरवालेको, दशमीमें श्राद्ध करनेवाला दो खुरवाले बहुत पशुओं को प्राप्त करता है ॥ १८ ॥

एकादश्यां तथा रौप्यं ब्रह्मवर्चस्विनः सुतान् ।
द्वादश्यां जातरूपं च रजतं कुप्यमेव च ॥ १९ ॥
ज्ञातिश्रैष्ठ्यं त्रयोदश्यां, चतुर्दश्यां तु कुप्रजाः ।
प्रीयन्ते पितरऽश्चास्य ये च शस्त्रहता रणे ॥ २० ॥
पक्षाद्यादिषु निर्दिष्टान् विपुलान् मनसः प्रियान् ।
श्राद्धदः पञ्चदश्यां च सर्वान्कामान्समश्नुते ॥ २१ ॥]

एकादशीमें श्राद्ध करनेवाला चांदी तथा ब्रह्मतेजसे युक्त पुत्रोंको, द्वादशीमें श्राद्ध करनेवाला सोना, चांदी तथा कुप्य (सोना-चाँदीसे भिन्न द्रव्यकोपको) (प्राप्त करता है) ॥ १९ ॥

त्रयोदशीमें श्राद्ध करनेवाला जातियोंमें श्रेष्ठताको, चतुर्दशीमें श्राद्ध करनेवाला निन्दित सन्तानोंको (इसी कारणसे 'कृष्णपक्षे दशम्यादौ—' (३।२७६) वचन से चतुर्दशीमें श्राद्ध करनेका निषेध किया है) प्राप्त करता है। जिसके जो पितर युद्धमें शस्त्रसे मारे गये हों, वे (चतुर्दशी में श्राद्ध करमें से) प्रसन्न होते हैं ॥ २० ॥

पक्षके आदि (पहला दिन अर्थात् प्रतिपद् आदि) तिथिमें श्राद्ध करनेवाला बतलाई गई मनको प्रिय बहुत-सी वस्तुओंको प्राप्त करता है तथा पञ्चदशी (अमावास्या या पूर्णिमा) को श्राद्ध करनेवाला सम्पूर्ण कामनाओंको प्राप्त करता है ॥ २१ ॥

रात्रौ श्राद्धं न कर्तव्यम् । यस्माच्छ्राद्धविनाशनगुणयोगाद्राक्षसी मन्वादिभिरसौ कथिता । सन्ध्ययोश्च न कुर्यात् । आदित्ये चाचिरोदिते अचिरोदितादित्यकालश्चापेक्षायां त्रिमुहूर्तः प्रातःकालो ग्राह्यः । यथोक्तं विष्णुपुराणे—

"रेखाप्रभृत्यथादित्ये त्रिमुहूर्तं गते रवौ ।
प्रातस्ततः स्मृतः कालो भागः सोऽह्नस्तु पञ्चमः ॥"

अपराह्णस्य श्राद्धाङ्गतया विधानात्कथमयमप्रसक्तप्रतिषेध इति चेत् ? नायं प्रतिषेधः, स हि रागप्राप्तस्य वा स्याद्विधिप्राप्तस्य वा ? नाद्यः, नात्र रागतो नित्यस्य दर्शश्राद्धस्य प्राप्तत्वात् , विधिप्राप्तस्य निषेधे षोडशिग्रहणाग्रहणवद्विकल्पः स्यात् । तस्मात्पर्युदासोऽयम् । रात्र्यादिपर्युदस्तेतरकाले श्राद्धं कुर्यात्, अनुयाजेतरयजतिषु "ये यजामहे" इति मन्त्रवत् । अपराह्णविधिश्च प्राशस्त्यार्थः । अत एवोक्तम्—

तथा श्राद्धस्य पूर्वाह्णादपराह्णो विशिष्यते (म. स्मृ. ३।२७८) इति ॥ २८० ॥

अनेन विधिना श्राद्धं त्रिरब्दस्येह निर्वपेत् ।
हेमन्तग्रीष्मवर्षासु पाञ्चयज्ञिकमन्वहम् ॥ २८१ ॥

(कुर्यान्मासानुमासिकं—(३।१२२) वचनके अनुसार प्रतिमास श्राद्ध नहीं कर सकनेपर) इस विधिसे हेमन्त, ग्रीष्म और वर्षा ऋतुओंमें वर्षमें तीन बार पितरोंके उद्देश्य से श्राद्ध करे तथा पञ्चमहायज्ञ (३।७०) प्रतिदिन करे ॥ २८१ ॥

"कुर्यान्मासानुमासिकम्" (म. स्मृ. ३।१२२) इति प्रतिमासं श्राद्धं विहितम्, तदसम्भवे विधिरयं चतुर्भिर्मासैर्ऋतुरेकः एकस्तु ऋतुः संवत्सर इतीमं पक्षमाश्रित्योच्यते। अनेनोक्तविधानेन संवत्सरमध्ये त्रीन्वारान्हेमन्तग्रीष्मवर्षासु श्राद्धं कर्तव्यम्। तच्च समयाचारात्कुम्भवृषकन्यास्थेर्के। पञ्चमहायज्ञान्तर्गतं च "एकमप्याशयेद्विप्रम्" (म. स्मृ. ३।८३) इत्यनेन विहितं प्रत्यहं तु कुर्यादिति पूर्वोक्तदार्ढ्यार्थम् ॥ २८१ ॥

न पैतृयज्ञियो होमो लौकिकेऽग्नौ विधीयते।
न दर्शेन विना श्राद्धमाहिताग्नेर्द्विजन्मनः ॥ २८२ ॥

लौकिक अग्निमें ('अग्नेः सोमयमाभ्यां च—' (३।२११) वचनसे विहित) पितृश्राद्ध सम्बन्धी हवन करने का शास्त्रोक्त विधान नहीं है। (अग्निके त्यागी द्विज "अग्न्यभावे तु—" (३।२१२) वचनके अनुसार ब्राह्मणोंके हाथपर पितृश्राद्धमें हवन करे) और अग्निहोत्री अमावस्याके विना (कृष्णपक्षकी दशमी आदि तिथियोंमें) पितृश्राद्ध न करे (किन्तु मृतकसम्बन्धी श्राद्धका दिन निश्चित होनेसे कृष्णपक्षमें दूसरी तिथिमें भी करे) ॥ २८२ ॥

"अग्नेः सोमयमाभ्यां च"(म. स्मृ. ३।२११) इत्यनेन विहितपितृयज्ञाङ्गभूतो होमो न लौकिके श्रौतस्मार्तव्यतिरिक्ताग्नौ शास्त्रेण विधीयते। तस्मान्न लौकिकाग्नावग्नौकरणहोमः कर्तव्यः। निरग्निना तु "अग्न्यभावे तु विप्रस्य पाणौ" (म. स्मृ. ३।२१२) इत्यभिधानाद्विप्रपाण्यादौ करणीयः। आहिताग्नेर्द्विजस्य नामावास्याव्यतिरेकेण कृष्णपक्षे दशम्यादौ श्राद्धं विधीयते। मृताहश्राद्धं तु नियतत्वात्कृष्णपक्षेऽपि तिथ्यन्तरे न निषिध्यते ॥ २८२ ॥

यदेव तर्पयत्यद्भिः पितॄन्स्नात्वा द्विजोत्तमः।
तेनैव कृत्स्नमाप्नोति पितृयज्ञक्रियाफलम् ॥ २८३ ॥

जो द्विजोत्तम स्नानकर जलसे पितरोंको तृप्त (पितृ-तर्पण) करता है, उसीसे वह सम्पूर्ण पितृश्राद्ध कर्मके फलको प्राप्त करता है। (इस विधिको पञ्चमहायज्ञके अभावमें जानना चाहिये) ॥२८३॥

पाञ्चयज्ञिकश्राद्धासम्भवे विधिरयम्। यत्र स्नानानन्तरमुदकतर्पणं द्विजः करोति, तेनैव सर्वं नित्यश्राद्धफलं प्राप्नोति। द्विजोत्तमपदं द्विजपरम्, ॥ २८३ ॥

वसून्वदन्ति तु पितॄन्रुद्रांश्चैव पितामहान्।
प्रपितामहांस्तथादित्याञ्छ्रुतिरेषा सनातनी ॥ २८४ ॥

(मनु आदि महर्षि) पिताओं को वसु, पितामहोंको रुद्र और प्रपितामहोंको आदित्य (सूर्य) कहते हैं; क्योंकि ऐसा सनातन वेदवचन है ॥ २८४ ॥

यस्मात्पित्रादयो वस्वादय इत्येषामनादिभूता श्रुतिरस्ति। अतः पितॄन्वस्वाख्यदेवान्पितामहान् रुद्रान्प्रपितामहानादित्यान्मन्वादयो वदन्ति। ततश्च सिद्धबोधनवैयर्थ्याच्छ्राद्धे पित्रादयो वस्वादिरूपेण ध्येया इति विधिः कल्प्यते। अत एव पैठीनसिः—"य एवं विद्वान्पितॄन्यजते वसवो रुद्रा आदित्याश्चास्य प्रीता भवन्ति"। [1]मेधातिथिगोविन्दराजौ

---

१. पितृद्वेषादप्रवर्तमानस्य प्रवृत्त्यर्थमिदम्।

तु "पितृद्वेषान्नास्तिक्याद्वा यः पितृकर्मणि न प्रवर्तते, तं प्रत्येतत्प्रवर्तनार्थं देवतात्वाध्यारोपेण पितृणां स्तुतिवचनम् ॥ २८४ ॥

विघसाशी भवेन्नित्यं नित्यं वाऽमृतभोजनः ।
विघसो भुक्तशेषं तु यज्ञशेषं तथाऽमृतम् ॥ २८५ ॥

द्विज सर्वदा 'विघस' को भोजन करनेवाला होवे या सर्वदा 'अमृत' को भोजन करनेवाला होवे । ब्राह्मणोंके भोजनसे बचे हुए अन्नको 'विघस' तथा दर्शपौर्णमासादिमें बचे हुए हविष्य को 'अमृत' कहते हैं ॥ २८५ ॥

सर्वदा विघसभोजनः स्यात्सर्वदा चामृतभोजनो भवेत्। विघसामृतपदयोरप्रसिद्धत्वादर्थं व्याकुरुते विप्रादिभुक्तशेषो विघस उच्यते, दर्शपौर्णमासादियज्ञशिष्टं पुरोडाशाद्यमृतम् । सामान्याभिधानेऽपि प्रकृतत्वाच्छ्राद्धे विप्रभुक्तशेषभोजनार्थोऽयं विधिः । अत एव—

"भुञ्जीतातिथिसंयुक्तः सर्वं पितृनिषेवितम् ।"

इति स्मृत्यन्तरम् । अतिथ्यादिविशेषभोजनं तु "अवशिष्टं तु दम्पती" (म. स्मृ. ३।११६) इत्यनेनैव विहितम् । तस्यैव यज्ञशेषतुल्यत्वापादनेन स्तुत्यर्थं पुनर्वचनमिति तु गोविन्दराजव्याख्यानमनुष्ठानविशेषानर्हमप्राकरणिकं च ॥ २८५ ॥

एतद्वोऽभिहितं सर्वं विधानं पाञ्चयज्ञिकम् ।
द्विजातिमुख्यवृत्तीनां विधानं श्रूयतामिति ॥ २८६ ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

(भृगु मुनि महर्षियोंसे कहते हैं कि—) इस पञ्चमहायज्ञ सम्बन्धी सब विधि को (मैंने) तुम लोगोंसे कहा, (अब अगले अर्थात् चौथे अध्यायमें) ब्राह्मणोंको वृत्तिके विधानको (तुम लोग) सुनो ॥ २८६ ॥

इदं पञ्चयज्ञभवमनुष्ठानं सर्वं युष्माकमुक्तम् । पार्वणश्राद्धव्यवहितैरपि पञ्चयज्ञैरुपसंहारस्तेषामभ्यर्हितत्वज्ञापनार्थः । मङ्गलार्थं इति तु [1]मेधातिथिगोविन्दराजौ । इदानीं द्विजानां मुख्यो ब्राह्मणस्तस्य वृत्तीनामृतादीनामनुष्ठानं श्रूयतामिति वक्ष्यमाणाध्यायैकदेशोपन्यासः ॥ २८६ ॥ श्लो. २१ ॥

इति श्रीकुल्लूकभट्टकृतायां मन्वर्थमुक्तावल्यां मनुस्मृतौ तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

१. पूर्वं हि व्यवहितस्य पाञ्चयज्ञिकमिति महायज्ञविधेरुपसंहारो माङ्गलिकतयैव ।

अथ चतुर्थोऽध्यायः

श्राद्धकल्पानन्तरं "वृत्तीनां लक्षणं चैव" (म. स्मृ. १।११२) इति वृत्तिषु व्यक्ततया प्रतिज्ञातासु वृत्त्यधीनत्वाद्गार्हस्थ्यानन्तरं वक्तव्यासु ब्रह्मचर्यपूर्वकमेव गार्हस्थ्यं तत्रैव वक्ष्यमाणा वृत्तय इति दर्शयितुं गार्हस्थ्यकालं चात्र वदति—

चतुर्थमायुषो भागमुषित्वाऽऽद्यं गुरौ द्विजः ।
द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत् ॥ १ ॥

द्विज अपनी आयुके प्रथम चतुर्थांश भाग में गुरुकुल (ब्रह्मचर्याश्रम) में रहकर द्वितीय चतुर्थांश भागमें गृहस्थाश्रममें रहे ॥ १ ॥

चतुर्थमायुषो भागमाद्यमित्युक्तं ब्रह्मचर्यकालोपलक्षणार्थम्, अनियतपरिमाणत्वादायुषश्चतुर्थभागस्य दुर्ज्ञानत्वात् । न च "शतायुर्वै पुरुषः" इति श्रुतेः पञ्चविंशतिवर्षपरत्वम्, षट्त्रिंशदाब्दिकं ब्रह्मचर्यमित्यादिविरोधात् तस्मात् आश्रमसमुच्चयपक्षमाश्रितो ब्राह्मण उक्तब्रह्मचर्यकालं जन्मापेक्षाद्यं यथाशक्ति गुरुकुले स्थित्वा द्वितीयमायुषश्चतुर्थभागं गृहस्थाश्रममनुतिष्ठेत् । "गृहस्थस्तु यदा पश्येत्" (म. स्मृ. ६।२) इत्यनियतत्वाद् द्वितीयमायुषो भागमित्यपि गार्हस्थ्यकालपरमेव ॥ १ ॥

अद्रोहेणैव भूतानामल्पद्रोहेण वा पुनः ।
या वृत्तिस्तां समास्थाय विप्रो जीवेदनापदि ॥ २ ॥

ब्राह्मण विपत्तिमें नहीं रहनेपर जीवोंको बिना पीडित किये (शिलोञ्छ ४।५) आदि वृत्तियोंसे) अथवा थोड़ा पीड़ित कर (भिक्षा आदि) जो वृत्ति है, उसका आश्रकर जीवे (जीवन-यात्रा करे) ॥२॥

परस्यापीडा शिलोञ्छा, अयाचितादिरद्रोहः, ईषत्पीडा याचितादिरल्पद्रोहः, न तु हिंसैव द्रोहः, तस्या निषिद्धत्वात् । अद्रोहेण तदसम्भवेऽल्पद्रोहेण या वृत्तिर्जीवनोपायः तदाश्रयणेन भार्यादिभृत्यपञ्चयज्ञानुष्ठानयुक्तो ब्राह्मणो, न तु क्षत्रियादिरनापदि जीवेत् । आपदि दशमे विधिर्भविष्यति । अयं च सामान्योपदेशो याजनाध्यापनविशुद्धप्रतिग्रहादिसङ्ग्रहार्थः । वक्ष्यमाणर्तादिविशेषमात्रनिष्ठत्वे सङ्कुचितस्वरसत्वहानिरनधिकारार्थत्वं याजनादेर्वृत्तिप्रकरणानिवेशश्च स्यात्तयाऽपि जीवेत् ॥ २ ॥

यात्रामात्रप्रसिद्ध्यर्थं स्वैः कर्मभिरगर्हितैः ।
अक्लेशेन शरीरस्य कुर्वीत धनसंचयम् ॥ ३ ॥

(अपने तथा कुटुम्बके) पालन-पोषण मात्र के लिये अपने अनिन्दित कर्मो से शारीरिक कष्ट न उठाते हुए धनसञ्चय करे ॥ ३ ॥

यात्रा प्राणस्थितिः शास्त्रीयकुटुम्बसंवर्धननित्यकर्मानुष्ठानपूर्वकप्राणस्थितिमात्रार्थं, न तु भोगार्थं स्वसंबन्धितया शास्त्रविहितार्जनरूपैः कर्मभिर्ऋतादिवक्ष्यमाणैः कायक्लेशं विनाऽर्थसङ्ग्रहं कुर्यात् ॥ ३ ॥

कैः कर्मभिरित्यत्राह—

ऋतामृताभ्यां जीवेत्तु मृतेन, प्रमृतेन वा ।
सत्यानृताभ्यामपि वा न श्ववृत्त्या कदाचन ॥ ४ ॥

(अगले श्लोकमें कहे जानेवाले) 'ऋत, अमृत' मृत या प्रमृत अथवा 'सत्य तथा अनृत' नामकी वृत्तियोंसे जीवन-यात्रा करे, किन्तु सेवावृत्तिसे (आपत्तिरहित होते हुए कभी भी) जीवनयात्रा न करे ॥ ४ ॥

अनापदीत्यनुवर्तते । ऋतादिभिरनापदि जीवेत्। सेवया त्वनापदि कदाऽपि न वर्तेत ॥ ४ ॥

अप्रसिद्धत्वादृतादीनि व्याचष्टे—

ऋतमुञ्छशिलं ज्ञेयममृतं स्यादयाचितम् ।
मृतं तु याचितं भैक्षं, प्रमृतं कर्षणं स्मृतम् ॥ ५ ॥

'उञ्छ' और 'शिल' को "ऋत" विना मांगे जो मिल जाय उसे "अमृत" माँगनेपर जो मिले उसे "मृत" और कृषि (खेती) से प्राप्त होनेवाले धनको "प्रमृत" जानना चाहिये ॥ ५ ॥

अबाधितस्थानेषु, पथि वा क्षेत्रेषु वाप्रतिहतावकाशेषु "यत्र यत्रौषधयो विद्यन्ते, तत्र तत्राङ्गुलिभ्यामेकैकं कणं समुच्चयित्वा" इति बौधायनदर्शनात् एकैकधान्यादिगुडकोच्चयनमुञ्छः। मञ्जर्यात्मकानेकधान्योच्चयनं शिलः, उञ्छश्च शिलश्चेत्येकवद्भावः। तस्सत्यसमानफलत्वादृतमित्युच्यते । अयाचितोपस्थितममृतमिव सुखहेतुत्वादमृतम् । प्रार्थिते पुनर्भैक्षं भिक्षासमूहरूपं मरणसमपीडाजननान्मृतम्। एतच्च साग्नेर्गृहस्थस्य भैक्षमपक्वतण्डुलादिरूपं न तु सिद्धान्नं पराग्निपक्वेन स्वाग्नौ होमाभावात्। कर्षणं च भूमिगतप्रचुरप्राणिमरणनिमित्तत्वाद्बहुदुःखफलकं प्रकर्षेण मृतमिव प्रमृतम ॥ ५ ॥

सत्यानृतं तु वाणिज्यं तेन चैवापि जीव्यते ।
सेवा श्ववृत्तिराख्याता तस्मात्तां परिवर्जयेत् ॥ ६ ॥

व्यापारको "सत्यानृत" कहा गया है, उससे (व्याजसे) भी जीवन निर्वाह किया जाता है । सेवा 'श्ववृत्ति' (कुत्तेकी वृत्ति) कही गयी है इस कारणसे उस वृत्ति का त्याग कर दे ॥ ६ ॥

प्रायेण सत्यानृतव्यवहारसाध्यत्वात्सत्यानृतं वाणिज्यम्, न तु वाणिज्ये शास्त्रेण सत्यानृताभ्यनुज्ञानम्। "तेन चैवापि जीव्यत" इति चशब्देन वाणिज्यसमशिष्टत्वात्कुसीदमपि गृह्यते। पूर्वश्लोकोक्ता कृषिरेतच्छ्लोके च वाणिज्यकुसीदे। अनापदीत्यनुवृत्तेरस्वयंकृतात्येतानि बोद्धव्यानि। यथाऽऽह गौतमः—"कृषिवाणिज्ये स्वयं चाकृते कुसीदं च"। सेवा तु दीनदृष्टिसंदर्शनस्वामितर्जननीचक्रियादिधर्मयोगाच्छुन इव वृत्तिरतः श्ववृत्तिरुक्ता । तस्मात्तां प्रकृतो ब्राह्मणस्त्यजेत ॥ ६ ॥

कुसूलधान्यको वा स्यात्कुम्भीधान्यक एव वा ।
त्र्यहैहिको वाऽपि भवेदश्वस्तनिक एव वा ॥ ७ ॥
[सद्यः प्रक्षालिको वा स्यान्माससंचायिकोऽपि वा ।
षण्मासनिचयो वाऽपि समानिचय एव वा ॥ १ ॥]

ब्राह्मण कुसूलधान्यक, अथवा कुम्भीधान्यक अथवा त्र्यहिक अथवा ऐकाहिक अथवा अश्वस्तनिक होवे ॥ ७ ॥

[अथवा (ब्राह्मण) सद्यः प्रक्षालित (प्रतिदिन भोजनके बाद बर्तनोंको धो देनेवाला अर्थात आगेके लिए अन्नका एक दाना भी नहीं रखनेवाला) होवे, अथवा एक मास तक) कुटुम्बादिके भरण-पोषणके योग्य) अन्नका संचय करनेवाला होवे, अथवा छः मासतकके लिए अथवा एक वर्ष तकके लिये अन्नसञ्चय करनेवाला होवे ॥ १ ॥]

"कुसूलो व्रीह्यगारं स्यात्" इत्याभिधानिकाः। इष्टकादिनिर्मितागारधान्यसञ्चयो भवेत्। अत्र कालविशेषापेक्षायाम्—

"यस्य त्रिवार्षिकं भक्तं पर्याप्तं भृत्यवृत्तये।
अधिकं वापि विद्येत स सोमं पातुमर्हति॥" (म. स्मृ. ११।७)

इति मनूक्त एव कालो ग्राह्यः। तेन नित्यनैमित्तिकधर्मकृत्यपोष्यवर्गसहितस्य गृहिणो यावता धान्यादिधनेन वर्षत्रयं समधिकं वा निर्वाहो भवति, तावद्धनः कुसूलधान्यक उच्यते। वर्षनिर्वाहोचितधान्यादिधनः कुम्भीधान्यः,

"प्राक् सौमिकीः क्रियाः कुर्याद्यस्यान्नं वार्षिकं भवेत्।" (या. स्मृ. १।१२४)

इति याज्ञवल्क्येन गृहस्थस्य वार्षिकसञ्चयाभ्यनुज्ञानात्। मनुरपि यदा वानप्रस्थस्यैव "समानिचय एव वा" इत्यनेन समानिचयं वक्ष्यति तदपेक्षया बहुपोष्यवर्गस्य गृहिणः समुचितः संवत्सरं सञ्चयः। [1]मेधातिथिस्तु यावता धान्यादिधनेन बहुभृत्यदारादिमतस्त्रिसंवत्सरस्थितिर्भवति तावत्सुवर्णादिधनवानपि कुसूलधान्य इत्यभिधाय कुम्भी उष्ट्रिका षाण्मासिकधान्यादिनिचयः कुम्भीधान्यक इति व्याख्यातवान्। गोविन्दराजस्तु कुसूलधान्यक इत्येतद्व्याचष्ट कोष्ठप्रमाणधान्यसञ्चयो वा स्यात् द्वादशाहमात्रपर्याप्तधनः; कुम्भीधान्यक इत्येतद्व्याचष्टे। उष्ट्रिकाप्रमाणधान्यादिसञ्चयो वा षडहमात्रपर्याप्तधनः।

"द्वादशाहं कुसूलेन वृत्तिः कुम्भ्या दिनानि षट्।
इमाममूलां गोविन्दराजोक्तिं नानुरुन्ध्महे॥"

ईहा चेष्टा तस्यां भवं ऐहिकं त्र्यहपर्याप्तमैहिकं धनं यस्य स त्र्यहैहिकस्तथा वा स्यात्। दिनत्रयनिर्वाहोचितधनमित्यर्थः। श्वो भवं श्वस्तनं भक्तं तदस्यास्तीति मत्वर्थीयमिकं कृत्वा नञ्समासः। तथा वा भवेत्॥ ७॥

चतुर्णामपि चैतेषां द्विजानां गृहमेधिनाम्।
ज्यायान्परः परो ज्ञेयो धर्मतो लोकजित्तमः॥ ८॥

इन चारों (कुसूलधान्यक, कुम्भीधान्यक, त्र्यहैहिक और अश्वस्तनिक) में से पूर्वकी अपेक्षा आगेवाला धर्मानुसार (परिग्रहके कम संचय करनेके कारण) स्वर्गादि लोगोंको जीतने वाला होता है॥ ८॥

एषां चतुर्णामपि कुसूलधान्यकादीनां ब्राह्मणानां गृहस्थानां मध्ये यो यः शेषे पठितः, स श्रेष्ठो ज्ञातव्यः। यतोऽसौ वृत्तिसङ्कोचधर्मेण स्वर्गादिलोकजित्तमो भवति॥ ८॥

---

१. उक्त आत्मकुटुम्बस्थित्यै धनसञ्चयः कार्यो न भोगाय क्लेश आश्रयणीयः। तत्तु किमन्वहमर्जनीयमुतैकदैव चिरकालपर्याप्तमिति नोक्तम्। तत्र कालविलम्बार्थमिदमारभ्यते—कुसूले धान्यमस्येति गमकत्वाद्व्यधिकरणो बहुव्रीहिः। पाठान्तरं कुशूलधान्यक इति। कुसूलपरिमितं धान्यं कुसूलधान्यं तदस्यास्तीति मत्वर्थीय इकशब्दः। धान्याधिकरणमिष्टकादिकृतं कुसूलः कोष्ठ इति चोच्यते। तेन चात्रपरिमाणं लक्ष्यते। तत्र यावन्माति तावत्सञ्चेतव्यम् न पुनराधारनियमोऽस्ति। कुसूले च महापरिग्रहणस्यापि बहुभृत्यबन्धुदारदासपुत्रगवाश्वादिमतोऽपि यावत साम्वत्सरी स्थितिर्भवति तावदनुज्ञायते। यतो वक्ष्यति—"यस्य त्रैवार्षिकं भक्तमि"ति। धान्यग्रहणमप्यविवक्षितम्। सुवर्णरूप्याद्यपि तावत्याः स्थितेः पर्याप्तमर्जयतो न दोषः। सर्वथाधिकं ततो नार्जनीयमिति वाक्यार्थः। कुम्भी उष्ट्रिका षण्मासिको निचय एतेन प्रतिपाद्यत इति स्मरन्ति।

षट्कर्मैको भवत्येषां त्रिभिरन्यः प्रवर्तते।
द्वाभ्यामेकश्चतुर्थस्तु ब्रह्मसत्रेण जीवति ॥ ९ ॥

इन गृहस्थोंमें कोई गृहस्थ षट्कर्मा (ऋत ४।५), अयाचित, भैक्ष्य (भिक्षामें प्राप्त), खेती, व्यापार और सूद इन छः कर्मों वाला होता है (परिवारादिका पालन-पोषण करता है); दूसरा कम परिग्रहवला ग्रहस्थ तीन कर्मों (जीवोंके अद्रोहसे 'यज्ञ कराना, पढ़ाना और दान लेना) से वृत्ति (परिवारादिका पालन) करता है; अन्य उससे भी कम संचय करनेवाला दो कर्मों (यज्ञ कराना और पढ़ाना) से और चौथा गृहस्थ ब्रह्मसूत्र (केवल वेदाध्यापन) से जीता (परिवारका पालन करता) है ॥ ९ ॥

एषां गृहस्थानां मध्ये कश्चिद् गृहस्थो यो बहुपोष्यवर्गः स प्रकृतैर्ऋतायाचितभैक्ष्यकृषिवाणिज्यैः पञ्चभिस्तेन चैवेत्यनेनैवचशब्दसमुच्चितेन कुसीदेनेत्येवं षड्भिः कर्मभिः षट्कर्मा भवति षड्भिरेतैर्जीवति। कृषिवाणिज्यकुसीदान्येतान्यस्वयंकृतानि गौतमोक्तानीत्युक्तम्। अन्यः पुनस्ततोऽल्पपरिकरः त्रिभिर्याजनाध्यापनप्रतिग्रहैरद्रोहेणेत्येतच्छ्लोकसंगृहीतैः प्रवर्तते। प्रशब्दोऽनर्थको वर्तत इत्यर्थः। अपरः पुनः प्रतिग्रहः प्रत्यवर इति वक्ष्यमाणत्वात्परित्यागेन द्वाभ्यां याजनाध्यापनाभ्यां प्रवर्तते। उक्तत्रयापेक्षया चतुर्थः पुनर्ब्रह्मसत्रेणाध्यापनेन जीवति। [1]मेधातिथिस्तु एषां कुसूलधान्यकादीनां मध्यादेकः कुसूलधान्यकः प्रकृतैरुञ्छशिलायाचितकृषिवाणिज्यैः षट्कर्मा भवति षड्भिर्जीवति। अन्यो द्वितीयः कुम्भीधान्यकः कृषिवाणिज्ययोर्निन्दितत्वात्तत्त्याग उञ्छशिलयाचितायाचितानां मध्यादिच्छातस्त्रिभिवर्तेत। एकस्त्र्यहैहिको याचितलाभं विहायोञ्छशिलायाचितानां मध्यादिच्छया द्वाभ्यां वर्तेत। चतुर्थः पुनरश्वस्तनिको ब्रह्मसत्रेण जीवति। ब्रह्मसत्रं शिलोञ्छयोरन्यतरा वृत्तिः। ब्रह्मणो ब्राह्मणस्य सततभवत्वात्सत्रमित्याह ॥ ९ ॥

वर्तयंश्च शिलोञ्छाभ्यामग्निहोत्रपरायणः।
इष्टीः पार्वायनान्तीयाः केवला निर्वपेत्सदा ॥ १० ॥

शिल तथा उञ्छ (४।५) वृत्तिसे जीनेवाला ब्राह्मण अग्निहोत्रमें तत्पर रहता हुआ पर्व तथा अयनके अन्तमें होनेवाले यज्ञों (दर्शपौर्णमास तथा आग्रहायण रूप यज्ञ) को करे ॥ १० ॥

शिलोञ्छाभ्यां जीवन्धनसाध्यकर्मान्तरानुष्ठानासामर्थ्यादग्निहोत्रनिष्ठ एव स्यात्। पार्वायनान्तीयाश्च इष्टीः केवला अनुतिष्ठेत्। पर्व च अयनं च पर्वायने तयोरन्तस्तत्र भवा दर्शपौर्णमासाग्रयणात्मिकाः ॥ १० ॥

---

१. एषां कुसूलधान्यकादीनां गृहस्थानामेकः षट्कर्मा भवति। यो महापरिग्रहः प्रागुक्तः, तस्य षड्वृत्तिकर्माणि भवन्ति। कानि पुनस्तानि उञ्छशिलायाचितयाचितलाभकृषिवाणिज्याध्यापनयाजनप्रतिग्रहाः याचितायाचितग्रहणादन्तर्भवन्ति। बहुकुटुम्बको नित्यकर्मसम्पत्त्यर्थं च सर्वा वृत्तीः समुच्चिताः कुर्यात्। येऽप्यध्यापनमध्ययनमित्यादीनि प्रथमाध्यायपठितानि षट् कर्माणि व्याचक्षते, तेषां प्रकरणविरोधो निष्प्रयोजनं वाध्ययनादीनामुपादानमन्यत्रैव तेषां विहितत्वात्। अन्यो द्वितीयः कुम्भीधान्यस्त्रिभिः प्रवर्तते। प्रोऽनर्थकः। यावद्वर्तते तावत्प्रवर्तेत इति वर्तनं च स्थितिसम्पत्तिः। प्रकृतानां च यानि कानिचित् कचित् कृषिवाणिज्ये विहाय। प्रशस्ततरो हि पूर्वस्मात्कुम्भीधान्यकः। यतो वक्ष्यति–सा वृत्तिः-"सद्भिर्गर्हिता" "गोरक्षकान्वाणिजिकान्" इति। यदप्युक्तं गौतमेन "कृषिवाणिज्ये वाऽस्वयंकृते कुसीदं चेत्यनापद्येव" तत्राप्यस्वयंकरणपक्षे दोषोऽस्त्येव। लघीयांस्तु भविष्यति। अत्रापि याचितलाभं वर्जयित्वा त्रयाणां यथासम्भवं द्वे गृह्येते। अयाचितमपि तावद् गृह्यते यावत्त्र्यहपर्याप्तम्। चतुर्थस्तु ब्रह्मसत्रेण जीवति ब्रह्मसत्रं शिलोञ्छयोरन्यतरा वृत्तिः। सततभवत्वा-

न लोकवृत्तं वर्तेत वृत्तिहेतोः कथञ्चन।
अजिह्मामशठां शुद्धां जीवेद् ब्राह्मणजीविकाम् ॥ ११ ॥

ब्राह्मण जीविकाके लिये निन्दित लोकवृत्त (विचित्र परिहास कथा आदि) का आश्रय किसी प्रकार भी न करे। (किन्तु) कुटिलता और शठतासे रहित शुद्ध ब्राह्मणकी जीविकाका (आश्रयकर) जीवे ॥ ११ ॥

लोकवृत्तमसत्प्रियाख्यानं विचित्रपरिहासकथादिकं जीविकार्थं न कुर्यात्। अजिह्मां मृषास्मगुणार्थाभिधानादिपापरहिताम्। अशठां दम्भादिव्याजशून्याम्। शुद्धां वैश्यादिवृत्तेरसङ्कीर्णां ब्राह्मणजीविकामनुतिष्ठेत्। अनेकार्थत्वाद्धातूनामनुष्ठानार्थोऽयं जीवतिरिति सकर्मकता ॥ ११ ॥

सन्तोषं परमास्थाय सुखार्थी संयतो भवेत्।
सन्तोषमूलं हि सुखं दुःखमूलं विपर्ययः ॥ १२ ॥

सुखको चाहनेवाला अत्यन्त सन्तोष धारण कर (यथासम्भव परिवारकी तथा अपनी रक्षाके साथ पञ्चमहायज्ञादिशास्त्रविहित कर्म करनेके योग्य धनसे अधिकका संग्रह करनेकी इच्छा न कर। अधिक धनके संग्रह करनेमें) संयमी बने; क्योंकि सन्तोष (स्वर्गादि प्राप्तिरूप) सुखका कारण है और असन्तोप दुःखका कारण है ॥ १२ ॥

यथासम्भवभृत्यात्मप्राणधारणावश्यकपञ्चयज्ञाद्यनुष्ठानमात्रोचितधनानधिका स्पृहा सन्तोषः, तमतिशयितमालम्ब्य प्रचुरधनार्जने संयमं कुर्यात्। यतः सन्तोषहेतुकमिति सुखं, परत्र चाव्यग्रस्य विहितानुष्ठानात्स्वर्गादिसुखम्, विपर्ययस्त्वसन्तोषो दुःखमूलम्, बहुधनार्जनप्रयासेन प्रचुरदुःखादसम्पत्तौ, विपत्तौ च क्लेशात् ॥ १२ ॥

त्सत्रमिव, न तदहःपरिसमापनीया वृत्तिरतः सत्रमित्युच्यते, अहरहर्नित्यमनुष्ठानात्। ब्रह्मशब्दो ब्राह्मणपर्यायस्तेषामिदं सत्रम्। अस्माद् ब्रह्मशब्दात्पूर्वोऽयं वृत्तिप्रपञ्चो ब्राह्मणविषय एव विज्ञेयः। क्षत्रियादीनान्तु तत्र वक्ष्यति। कथं पुनः शिलोञ्छवृत्त्या जीवनं सम्भवति यावता शरद्ग्रीष्मयोरेव क्षेत्रे, खले वा शिलपुलाकपातसम्भवः। अथोच्यते—ग्रीष्मेभ्यो ग्रैष्माणि शारदानि शारदेभ्योऽर्जयिष्यतीति पाण्मासिकवृत्तिरेव स्यान्नाश्वस्तनिकः। अथान्यथापि सम्भवति यावतस्तावतो व्रीह्यादेः कथंचित्पतितस्योपादानम्। सत्यम्, न तद्भोजनाय पर्याप्तम्। सञ्चिन्वानो यदा पर्याप्तं प्राप्स्यति चेदशिष्यति पश्चाहाद्यसम्भवात्। तथा च महाभारते शिलोञ्छवृत्तिः पक्षान्ताशनो वर्ण्यते। सोऽयमस्यामवस्थायां गृहस्थस्तापसः संवृत्त इति चेत्। किन्त्वेवमप्यश्वस्तनिकत्वं विरुध्यते। यथोपपादस्थितिकस्तदा स्यान्नाश्वस्तनिकः। अश्वस्तनिको ह्युच्यते—अहन्यहन्यर्जयति यात्रिकं तदहरेव च व्ययीकरोति, न द्वितीयेऽह्नि स्थापयति। यदि च न प्रत्यहं शिलोञ्छवृत्तेर्भोजनं निवर्तते। कुतोऽश्वस्तनिको भवेत्। कथं च तथाविधस्य जीवनं पुत्रदारभरणं च? अतएव केचित्त्रिभिरन्यः प्रवर्तत इत्यत आरभ्य अन्यथा व्याचक्षते—त्रिभिर्याजनाध्यापनप्रतिग्रहैर्द्वाभ्यां प्रतिग्रहः प्रत्यवर इति प्रतिग्रहव्युदासेन याचनाध्यापने प्रतिगृह्येते। ब्रह्मसत्रमध्यापनं तद्धि वृत्तये पर्याप्तम्। यत्तु वर्तयँश्च शिलोञ्छाभ्यामिति, स चतुष्टयव्यतिरिक्तोऽन्य एव। अत्रोच्यते-यः शीलपरिमाणान् दश द्वादशान् यवान् व्रीहीन् वा बहुभ्यः आदत्ते यावदेकाहयात्रिकं स शिलवृत्तिः। यस्त्वेकैकं यात्रार्थमाहरति स उञ्छवृत्तिः। स्मृत्यन्तरेऽयं ज्यायान्वरवृत्तिरुक्तः। अतश्च सार्वकालिकमप्युपपद्यते। न च वैश्वदेवादिक्रियाविरोधस्तत्र पुत्रदाराणामाभरणभेदश्च याचितभैक्षादत्यन्ताल्पग्रहणात्।

अतोऽन्यतमया वृत्त्या जीवंस्तु स्नातको द्विजः।
स्वर्ग्यायुष्ययशस्यानि व्रतानीमानि धारयेत्॥ १३॥

उक्त (४।९) वृत्तियों (जीविका-साधनों) मेंसे किसी वृत्तिसे जीता हुआ स्नातक ब्राह्मण स्वर्ग, आयु तथा यशके हितकर इन (आगे कहे जानेवाले) व्रतोंको धारण करे—॥ १३॥

अबहुभृत्यस्यैकवृत्त्या निर्वाहसम्भवे सत्यन्यतमयेति विधीयते, बहुभृत्यस्यान्नसम्भवे "षट्कर्मैको भवत्येषाम्" (म. स्मृ. ४-९) इति विहितत्वात्। अथवैकवाक्यतावगमाद् व्रतविधायकत्वाच्चान्यतमया वृत्त्येत्यनुवादकत्वादेकत्वमविवक्षितम्। उक्तवृत्तीनामन्यतमया वृत्त्या जीवन्स्नातको ब्राह्मण इमानि वक्ष्यमाणानि यथासम्भवं स्वर्ग्यायुर्यशसां हितानि व्रतानि कुर्यात्। इदं मया कर्तव्यमिदं न कर्तव्यमित्येवं विधिसङ्कल्पविशेषाद् व्रतम् ॥१३॥

वेदोदितं स्वकं कर्म नित्यं कुर्यादतन्द्रितः।
तद्धि कुर्वन्यथाशक्ति प्राप्नोति परमां गतिम्॥ १४॥

ब्राह्मण वेदमें कथित अपने कर्मको निरालस होकर करे; क्योंकि शक्तिसे उसे (अपने वेदोक्त कर्मको) करता हुआ (ब्राह्मण) परम गति (मोक्ष) को पाता है॥ १४॥

वेदोक्तं स्मार्तमपि वेदमूलत्वाद्वेदोक्तमेव। स्वकं स्वाश्रमोक्तं यावज्जीवमतन्द्रितोऽनलसः कुर्यात्। हिं हेतौ। यस्मात्तत्कुर्वन्यथासामर्थ्यं परमां गतिं मोक्षलक्षणां प्राप्नोति। नित्यकर्मानुष्ठानात्पापक्षये सति निष्पापान्तःकरणेन ब्रह्मसाक्षात्कारान्मोक्षावाप्तेः। तदुक्तं मोक्षधर्मे—

"ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः।
तत्रादर्शतलप्रख्ये पश्यत्यात्मानमात्मनि॥"

आत्मन्यन्तःकरणे॥ १४॥

नेहेतार्थान्प्रसङ्गेन न विरुद्धेन कर्मणा।
न विद्यमानेष्वर्थेषु नार्त्यामपि यतस्ततः॥ १५॥

गाने-बजानेमें आसक्त होकर तथा शास्त्र-विरुद्ध कर्म (अयाज्य—याजन अर्थात् चाण्डालादिको यज्ञ कराना आदि) के द्वारा, धनके रहनेपर और (नहीं रहनेपर) आपत्तिमें भी जहां कहीं (पतित आदि) से धन (संग्रह करने) की इच्छा न करे॥ १५॥

प्रसज्यते यत्र पुरुषः स प्रसङ्गो गीतवादित्रादिस्तेनार्थान्नार्जयेत्। नापि शास्त्रनिषिद्धेन कर्मणाऽयाज्ययाजनादिना च। न च विद्यमानेषु धनेषु। न चाप्यविद्यमानेष्वपि प्रकारान्तरसम्भवे यतस्ततः पतितादिभ्योऽपि॥ १५॥

इन्द्रियार्थेषु सर्वेषु न प्रसज्येत कामतः।
अतिप्रसक्तिं चैतेषां मनसा संनिवर्तयेत्॥ १६॥

इन्द्रियोंके विषयोंमें कामवश अधिक आसक्त न होवे और इनमें अधिक आसक्तिको मनसे रोके॥ १६॥

इन्द्रियाणामर्था रूपरसगन्धस्पर्शादयस्तेषु निषिद्धेष्वपि स्वदारसुतादिषु न प्रसज्येत नातिप्रसक्तिमत्यन्तसेवनात्मिकां कुर्यात्। कामत उपभोगार्थम्। अतिप्रसक्तिनिवृत्त्युपायमाह—अतिप्रसक्तिमिति। विषयाणामस्थिरत्वस्वर्गापवर्गात्मकश्रेयोविरोधित्वादिभावनया मनसा सम्यङ् निवर्तयेत्॥ १६॥

सर्वान्परित्यजेदर्थान्स्वाध्यायस्य विरोधिनः ।
यथातथाऽध्यापयंस्तु सा ह्यस्य कृतकृत्यता ॥ १७ ॥

(जिस किसी प्रकारसे अपनेको तथा भृत्योंको जिलाते अर्थात् पालन-पोषण करते हुए) स्वाध्याय (वेद, स्मृति) के विरुद्ध कार्योंको छोड़ दे । जिस किसी प्रकारसे स्वाध्यायमें तत्पर रहना ही इस (स्नातक ब्राह्मण) की कृतकृत्यता (कृतार्थता) है ॥ १७ ॥

वेदार्थविरोधिनोऽर्थानत्यन्तेश्वरगृहोपसर्पणकृपिलोकयात्रादयस्तान्सर्वान्परित्यजेत् । कथं तर्हि भृत्यात्मपोषणमित्याशङ्क्याह—यथातथा केनाप्युपायेन स्वाध्यायाविरोधिना भृत्यात्मानौ जीवयन् । यस्मात्सास्य स्नातकस्य कृतकृत्यता कृतार्थता यन्नित्यं स्वाध्यायपरता ॥

वयसः कर्मणोऽर्थस्य श्रुतस्याभिजनस्य च ।
वेषवाग्बुद्धिसारूप्यमाचरन्विचरेदिह ॥ १८ ॥

अवस्था (उम्र), कर्म, सम्पत्ति, शास्त्र (पठनपाठनादिज्ञान) और कुलके अनुसार वेष, वचन (बोलना) और बुद्धिका व्यवहार करता हुआ इस संसारमें विचरण करे ॥ १८ ॥

वयसः, क्रियायाः, धनस्य, श्रुतस्य, कुलस्यानुरूपेण वेषवाग्बुद्धीराचरँल्लोके प्रवर्तेत । यथा यौवने स्रग्गन्धलेपनादिधारणं वार्धकेऽपवर्गानुसारिणी वाग्बुद्धिश्च । एवं कर्मादिष्वप्युन्नेयम् ॥ १८ ॥

बुद्धिवृद्धिकराण्याशु धन्यानि च हितानि च ।
नित्यं शास्त्राण्यवेक्षेत निगमांश्चैव वैदिकान् ॥ १९ ॥

शीघ्र बुद्धिको बढ़ानेवाले (वेदसे अविरुद्ध व्याकरण, न्याय, मीमांसा, स्मृति और पुराणादि), धनको बढ़ानेवाले (अर्थशास्त्र), दृष्ट (प्रत्यक्ष रूपसे) हित करनेवाले (आयुर्वेद, ज्यौतिष आदि) शास्त्रोंको तथा वेदार्थको बतलानेवाले निगम (निरुक्त) को सर्वदा देखता (मनन करता) रहे ॥ १९ ॥

वेदाविरुद्धानि शीघ्रं बुद्धिवृद्धिजनकानि व्याकरणमीमांसास्मृतिपुराणन्यायादीनि शास्त्राणि, तथा धन्यानि धनाय हितान्यर्थशास्त्राणि बार्हस्पत्योशनसादीनि, तथा हितानि दृष्टोपकारकाणि वैद्यकज्योतिषादीनि, तथा पर्यायकथनेन वेदार्थावबोधकान्निगमाख्यांश्च ग्रन्थान्नित्यं पर्यालोचयेत् ॥ १९ ॥

यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति ।
तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते ॥ २० ॥
[शास्त्रस्य पारं गत्वा तु भूयो भूयस्तदभ्यसेत् ।
तच्छास्त्रं शबलं कुर्यान्न चाधीत्य त्यजेत्पुनः ॥ २ ॥]

मनुष्य जैसे-जैसे शास्त्रोंका अच्छी प्रकार अभ्यास करता है वैसे-वैसे विशेष जानने लगता है और उसका विशेष ज्ञान निर्मल होता है ॥ २० ॥

[शास्त्रका पारगामी होकर बार-बार उसका अभ्यास करे । उस शास्त्रको (निरन्तर अभ्यास के द्वारा) उज्ज्वल (सन्देहरहित) करे और उसे पुनः (पढ़नेके बाद) फिर छोड़ मत दे ॥ २ ॥]

यस्माद्यथा यथा पुरुषः शास्त्रं सम्यगभ्यस्यति तथा तथा विशेषेण जानाति । शास्त्रान्तरविषयमपि चास्य विज्ञानं रोचत उज्ज्वलं भवति । दीप्त्यर्थत्वाद्रुचेरभिलाषार्थस्वाभावात् "रुच्यर्थानां प्रीयमाणः" (पा. सू. १।४।३३) इति न सम्प्रदानसंज्ञा ॥ २० ॥

ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा।
नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत् ॥ २१ ॥

सर्वदा ऋषियज्ञ (वेदस्वाध्याय), देवयज्ञ (पार्वणश्राद्धादि), भूतयज्ञ (बलिवैश्वदेव), नृयज्ञ (अतिथि–भोजनादि), और पितृयज्ञ (तर्पण–श्राद्धादि) का यथाशक्ति त्याग न करे ॥ २१ ॥

स्वाध्यायादीन्पञ्चयज्ञान्यथाशक्ति न त्यजेत्। तृतीयाध्यायविहितानामपि पञ्चयज्ञानामिह निर्देश उत्तरत्र विशेषविधानार्थः स्नातकव्रतत्वबोधनार्थश्च ॥ २१ ॥

एतानेके महायज्ञान्यज्ञशास्त्रविदो जनाः।
अनीहमानाः सततमिन्द्रियेष्वेव जुह्वति ॥ २२ ॥

शास्त्रज्ञाता कुछ गृहाश्रमी इन यज्ञों (४।२१) को नहीं करते हुए सर्वदा पञ्च ज्ञानेन्द्रियों (२।९०-९१) में हवन करते हैं ॥ २२ ॥

एके गृहस्था बाह्यान्तरयज्ञानुष्ठानशास्त्रज्ञा एतान्पञ्चमहायज्ञान् ब्रह्मज्ञानप्रकर्षाद्बहिरचेष्टमानाः पञ्चसु बुद्धीन्द्रियेष्वेव पञ्चरूपज्ञानादिसंयमं कुर्वन्तः सम्पादयन्ति। यज्ञानां होमस्यानुपपत्तेः सम्पादनार्थो जुहोतिः ॥ २२ ॥

वाच्येके जुह्वति प्राणं प्राणे वाचं च सर्वदा।
वाचि प्राणे च पश्यन्तो यज्ञनिर्वृत्तिमक्षयाम् ॥ २३ ॥

वचन तथा प्राणोंमें यज्ञके अक्षय फलको जानते हुए कुछ गृहाश्रमी सर्वदा वचनमें प्राणोंको तथा प्राणोंमें वचनको हवन करते हैं ॥ २३ ॥

एके गृहस्था ब्रह्मविदो वाचि, प्राणवायौ च यज्ञनिर्वृत्तिमक्षयफलां जानन्तः सततं वाचि प्राणं च जुह्वति, वाचं च प्राणे। भाषमाणेन च वाचि प्राणं जुहोतीति, अभाषमाणेनोच्छ्वसता प्राणे वाचं जुहोतीति व्याख्यातव्यमित्यनेन विधीयते। यथा कौषीतकिरहस्यब्राह्मणम्–"यावद्वै पुरुषो भाषते न तावत्प्राणितुं शक्नोति प्राणं तदा वाचि जुहोति यावद्धि पुरुषः प्राणिति न तावद्भाषितुं शक्नोति वाचं तदा प्राणे जुहोति एतेऽनन्ते अमृते आहुती जाग्रत्स्वपंश्च सततं जुहोति। अथवा अन्या आहुतयोऽनन्तरन्यस्ताः कर्ममय्यो हि भवन्त्येवं हि तस्यैतत्पूर्वे विद्वांसोऽग्निहोत्रं जुहवांचक्रुः" इति ॥ २३ ॥

ज्ञानेनैवापरे विप्रा यजन्त्येतर्मखैः सदा।
ज्ञानमूलां क्रियामेषां पश्यन्तो ज्ञानचक्षुषा ॥ २४ ॥

कोई-कोई (ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण गृहाश्रमी, ज्ञानरूपी नेत्रसे ही ज्ञान–मूलक इन क्रियाओं (४।२१ में कथित यज्ञानुष्ठानों) की उत्पत्तिको देखते हुए ज्ञानसे ही इन (पञ्च) महायज्ञोंको करते हैं ॥२४॥

अपरे विप्रा ब्रह्मनिष्ठाः सर्वथा ब्रह्मज्ञानेनैवैतर्मखैर्यजन्ति एतांश्च यज्ञाननुतिष्ठन्ति। कथमेतदित्याह—ज्ञानं ब्रह्म "सत्यं ज्ञानमनन्तम्" (तैत्ति० उ० २।१।१) इत्यादिश्रुतिषु प्रसिद्धम्। ज्ञानमूलामेषां यज्ञानां क्रियामुत्पत्तिं जानन्तः ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं चक्षुरिव चक्षुः ज्ञानचक्षुषोपनिषदा "सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जान्" इत्यादिकया पञ्चयज्ञानपि ब्रह्मोत्पत्तिकाले ब्रह्मात्मकान्ध्यायन्तः सम्पादयन्ति। पञ्चयज्ञफलमश्नुवत इत्यर्थः। श्लोकत्रयेण ब्रह्मनिष्ठानां वेदसंन्यासिनां गृहस्थानाममी विधयः ॥ २४ ॥

अग्निहोत्रं च जुहुयादाद्यन्ते द्युनिशोः सदा।
दर्शेन चार्धमासान्ते पौर्णमासेन चैव हि ॥ २५ ॥

(द्विज अनुदित होमपक्षमें) सर्वदा दिन और रातके अन्तमें अग्निहोत्रहवन करे और मासार्द्ध (कृष्णपक्षके अन्तमें) दर्शश्राद्ध तथा शुक्लपक्षके अन्तमें पौर्णमास श्राद्ध करे ॥ २५ ॥

उदितहोमपक्षे दिनस्यादौ निशायाश्चादौ। अनुदितहोमपक्षे दिनस्यान्ते निशायाश्चान्ते। यद्वा उदितहोमपक्षे दिनस्यादौ, दिनान्ते च। अनुदितहोमपक्षे निशादौ, निशान्ते च अग्निहोत्रं कुर्यात्। कृष्णपक्षार्धमासान्ते दर्शाख्येन कर्मणा, शुक्लपक्षार्धे च पौर्णमासाख्येन यजेत् ॥ २५ ॥

सस्यान्ते नवसस्येष्ट्या तथर्त्वन्ते द्विजोऽध्वरैः।
पशुना त्वयनस्यादौ समान्ते सौमिकैर्मखैः ॥ २६ ॥

पुराने अन्नके अन्त समय (समाप्ति) में या असमाप्ति में भी 'नवसस्येष्टि' (आग्रयण यज्ञ) से, ऋतु के अन्तमें 'चातुर्मास्य' यज्ञसे, अयनोंके अन्तमें 'पशुवन्ध' यज्ञसे और वर्षके अन्तमें 'अग्निष्टोम' आदि यज्ञसे यज्ञ करे ॥ २६ ॥

पूर्वार्जितधान्यादिसस्ये समाप्ते "शरदि नवानाम्" इति सूत्रकारवचनादसमाप्तेऽपि पूर्वसस्ये नवसस्योत्पत्तावाग्रयणेन यजेत, सस्यक्षयस्यानियतत्वात् धनिनां वहुहायनजीवनोचितधान्यसम्भवाच्च। सस्यान्तग्रहणाच्च नवसस्योत्पत्तिरेवाभिप्रेता, नियतत्वात्तस्याः प्रत्यब्दं निमित्तत्वोत्पत्तेः। ऋतुसम्वत्सर इत्येतन्मताश्रयणेन चत्वारश्चत्वारो मासा ऋतवस्तदन्तेऽध्वरैश्चातुर्मासाख्यैर्यागैर्यजेत। अयनयोरुत्तरदक्षिणयोरादौ पशुना यजेत पशुवन्धाख्यं यागमनुतिष्ठेत्। ज्योतिःशास्त्रे चैत्रशुक्लप्रतिपदादिवर्षगणनाच्छिशिरेण समाप्ते वर्षे वसन्ते सोमरससाध्यैरग्निष्टोमादियागैर्यजेत ॥ २६ ॥

नानिष्ट्वा नवसस्येष्ट्या पशुना चाग्निमान्द्विजः।
नवान्नमद्यान्मांसं वा दीर्घमायुर्जिजीविषुः ॥ २७ ॥

वहुत आयु तक जीनेका इच्छुक अग्निहोत्री ब्राह्मण विना 'नवसस्येष्टि' (आग्रयण) यज्ञ किये नये अन्नको तथा विना 'पशुवन्ध' यज्ञ किये नये पशुके मांसको नहीं खावे ॥ २७ ॥

आहिताग्निर्द्विजो दीर्घमायुर्जीवितुमिच्छन्नाग्रयणमकृत्वा नवान्नं न भक्षयेत। न च पशुयागमकृत्वा मांसमश्नीयात् ॥ २७ ॥

दोषं कथयन्ननित्यतामनयोराह—

नवेनानर्चिता ह्यस्य पशुहव्येन चाग्नयः।
प्राणानेवात्तुमिच्छन्ति नवान्नामिषगर्धिनः ॥ २८ ॥

क्योंकि नये अन्न तथा नये पशुसे विना पूजित नये अन्न तथा नये पशुमांसकी अतिशय अभिलाषा करनेवाले अग्निदेव (इस अग्निहोत्रीके) प्राणोंको ही खानेकी इच्छा करते हैं ॥ २८ ॥

यस्मान्नवेन हव्येन पशुवदामेनानर्चिता अकृतयागा अग्नयो नवान्नमांसाभिलाषिणोऽस्याहिताग्नेः प्राणानेवाग्निहोत्रिणः खादितुमिच्छन्ति। गर्धोऽभिलाषातिशयः, गृधेर्घञन्तस्य रूपं, सोऽस्यास्तीति गर्धी, मत्वर्थीय इनिः ॥ २८ ॥

आसनाशनशय्याभिरद्भिर्मूलफलेन वा।
नास्य कश्चिद्वसेद् गेहे शक्तितोऽनर्चितोऽतिथिः ॥ २९ ॥

जिस गृहस्थके घरमें शक्तिके अनुसार आसन, भोजन, शय्या, जल और मूल-फलसे अतिथि की

पूजा नहीं होती है उसमें कोई अतिथि निवास न करे। (गृयस्थका कर्तव्य है कि अपनी शक्तिके अनुसार अतिथियोंका आसन, भोजनादिसे सत्कार करे) ॥ २९ ॥

यथाशक्त्यासनभोजनादिभिरनर्चितोऽतिथिरस्य गृहस्थस्य गृहे न वसेत्। अनेन शक्तितोऽतिथिं पूजयेदित्युक्तमप्युत्तरार्धमनूद्यते ॥ २९ ॥

पाषण्डिनो विकर्मस्थान्वैडालव्रतिकाञ्छठान्।
हैतुकान्बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत् ॥ ३० ॥

पाखण्डी (वेद वचनके विरुद्ध व्रत एवं तपस्वीकी वेश—भूषा-जटा-काषाय वस्त्रादिको धारण करनेवाले), विरुद्ध कर्म करनेवाले (बौद्धभिक्षु क्षपणक आदि) वैडालव्रती (४।१९६), शठ (वेद-स्मृतिके वचनोंमें विश्वास नहीं रखने वाले), हेतुवादी (धर्मको वेदवचनके अनुसार नहीं मानकर तर्क करने वाले), वकवृत्ति (४।१९७) अतिथियोंका वचनमात्रसे भी पूजन न करे (अतिथि मान कर पूज्यत्व बुद्धि न रखे; किन्तु ४।३२ में कथित वचनके अनुसार यथाशक्ति उनको भी अन्न आदि देवे ही) ॥ ३० ॥

पाषण्डिनो वेदबाह्यव्रतलिङ्गधारिणः शाक्यभिक्षुकक्षपणकादयः, विकर्मस्थाः प्रतिषिद्ध-वृत्तिजीविनः, वैडालव्रतिकबकवृत्ती वक्ष्यमाणलक्षणौ, शठा वेदेष्वश्रद्दधानाः, हैतुका वेद-विरोधितर्कव्यवहारिणः एतानतिथिकालोपस्थितान्वाङ्मात्रेणापि न पूजयेत्। पूजारहितेऽन्नदानमात्रं तु 'शक्तितोऽपचमानेभ्यः' (म. स्मृ. ४-३२) इत्यनुज्ञातमेव ॥ ३० ॥

वेदविद्याव्रतस्नाताञ्श्रोत्रियान्गृहमेधिनः।
पूजयेद्धव्यकव्येन विपरीतांश्च वर्जयेत् ॥ ३१ ॥

विद्यास्नातक, व्रतस्नातक, उभय (वेद-विद्या) स्नातक और श्रोत्रिय गृहाश्रमियों की हव्य तथा कव्य (देवकर्म तथा पितृकर्म) में पूजा करे और दूसरोंको (इनसे प्रतिकूल आचरणवालों) का त्याग करे (पूजन न करे) ॥ ३१ ॥

वेदविद्याव्रतस्नातानिति विद्यास्नातकव्रतस्नातकोभयस्नातकास्त्रयोऽपि गृह्यन्ते। यथाऽऽह हारीतः—"यः समाप्य वेदानसमाप्य व्रतानि समावर्तते स विद्यास्नातकः। यः समाप्य व्रतान्नसमाप्य वेदान्समावर्तते स व्रतस्नातकः। उभयं समाप्य यः समावर्तते स विद्याव्रतस्नातकः।" यद्यपि स्नातकधर्मत्वेनैव स्नातकमात्रप्राप्तिस्तथापि श्रोत्रियत्वं विवक्षितम्। तान्स्नातकाञ्श्रोत्रियान्हव्यकव्येन पूजयेत्, विपरीतान्पुनर्वर्जयेत् ॥ ३१ ॥

शक्तितोऽपचमानेभ्यो दातव्यं गृहमेधिना।
संविभागश्च भूतेभ्यः कर्तव्योऽनुपरोधतः ॥ ३२ ॥

अपने हाथसे भोजन-पाक नहीं करनेवाले ब्रह्मचारी, परिव्राजक (सन्यासी) और पाखण्डी आदिके लिये गृहाश्रमी अन्न देवे और परिवार, भृत्यादिके उदरपूर्ति आदिमें कमी नहीं करते हुए ही जीवों (वृक्षादि पर्यन्त जीवों तक) के लिये (जलादिका यथायोग्य) विभाग करे ॥ ३२ ॥

अपचमाना ब्रह्मचारिपरिव्राजकाः पाषण्डादयः। ब्रह्मचारिपरिव्राजकानामुक्तमप्यन्नदानं पचमानापेक्षयाऽतिशयार्थं स्नातकव्रतत्वार्थं च पुनरुच्यते। [1]मेधातिथिगोविन्दराजौ तु—

"भिक्षां च भिक्षवे दद्याद्विधिवद् ब्रह्मचारिणः।"

---

१. अपचमाना ब्रह्मचारिपरिव्राजका इत्याहुः। तदुक्तं मृताय नित्यवद्दानं विहितमेव। भिक्षां च भिक्षवे दद्यादिति। तस्माद्ये दरिद्रा भैक्षजीवनाश्च पाखण्ड्यादयः तेभ्यः शक्तितो दातव्यम्। यावद्भ्यः शक्यते, यावच्च पच्यते पचिक्रियाविरहनिमित्तत्वाच्च सिद्धान्नमेवेदम्।

इति ब्रह्मचारिपरिव्राजकयोरुक्तत्वात्पाषण्ड्यादिविषयत्वमेवास्य वचनस्येत्यूचतुः। स्वकुटुम्बानुरोधेन वृक्षादिपर्यन्तप्राणिभ्योऽपि जलादिनाऽपि विभागः कर्तव्यः ॥ ३२ ॥

राजतो धनमन्विच्छेत्संसीदन्स्नातकः क्षुधा।
याज्यान्तेवासिनोर्वाऽपि न त्वन्यत इति स्थितिः ॥ ३३ ॥

'भूखसे पीड़ित स्नातक क्षत्रिय, यजमान और शिष्य से धन लेनेकी इच्छा करे, दूसरे किसीसे नहीं" ऐसी स्थिति (शास्त्रोक्त वचन) है ॥ ३३ ॥

न राज्ञः प्रतिगृह्णीयादराजन्यप्रसूतितः (म. स्मृ. ४-८४)

इति निषेधाद्राजशब्दोऽत्र क्षत्रियनृपतिपरः, स्नातकः क्षुधावसीदन्द्विजातिप्रतिग्रहस्य सम्भवेऽपि यथाशास्त्रवर्तिनः क्षत्रियाद्राज्ञो याज्यशिष्याभ्यां वा प्रथमं धनमभिलषेत्, राज्ञो महाधनत्वेन पीडाविरहात्, याज्यशिष्ययोश्च कृतोपकारतया प्रत्युपकारप्रवणत्वात्। तदसम्भवे त्वन्यस्मादपि द्विजाद्धनमाददीत। तदभावे तु "सर्वतः प्रतिगृह्णीयात्" (म. स्मृ. १०-१०२) इत्यापद्धर्मं वक्ष्यति। एवं चानापदि प्रथमं क्षत्रियनृपयाज्यशिष्येभ्यः प्रतिग्रहनियमार्थं वचनम्। अत एवाह "न त्वन्यतः" इति। स्थितिः शास्त्रमर्यादा। न च संसीदन्नित्यभिधानादापद्धर्मविषयत्वमस्य वाच्यम्, अव्यभिचारादनापत्प्रकरणात् संसीदन्नित्यस्य चोपात्तधनाभावपरत्वात्। न च धनाभावमात्रमापत्, किन्तु तस्मिन्सति विहितोपायासम्भवात्। अन्यथा सद्यः प्रक्षालकोऽप्यापद्वृत्तिः स्यात्। यदि चापद्विषयत्वमस्य भवेत्तदा नत्वन्यत इत्यनेन "सर्वतः प्रतिगृह्णीयात्" इति विरुध्येत। यच्चापत्प्रकरणे—

"सीदद्भिः कुप्यमिच्छद्भिर्धनं वा पृथिवीपतिः।

याच्यः स्यात् (म. स्मृ. १०-११३)" इत्युक्तं, तच्छूद्रनृपविषयमेव राजादिप्रतिग्रहासम्भवे ॥ ३३ ॥

न सीदेत्स्नातको विप्रः क्षुधा शक्तः कथञ्चन।
न जीर्णमलवद्वासा भवेच्च विभवे सति ॥ ३४ ॥

(विद्या आदिके द्वारा प्रतिग्रह आदि लेनेमें) समर्थ होता हुआ स्नातक किसी प्रकार दुःखित न होवे, तथा धन (वैभव) रहने पर फटे और मैले कपड़ों को न पहने ॥ ३४ ॥

विद्यादियोगात्प्रतिग्रहशक्तोऽपि स्नातको ब्राह्मण उक्तराजप्रतिग्रहादिलाभे सति न क्षुधावसन्नो भवेत्। न च धने सम्भवति जीर्णे, मलिने च वाससी बिभृयात् ॥ ३४ ॥

क्लृप्तकेशनखश्मश्रुर्दान्तः शुक्लाम्बरः शुचिः।
स्वाध्याये चैव युक्तः स्यान्नित्यमात्महितेषु च ॥ ३५ ॥

बाल, दाँत तथा दाढ़ी को कटवाता हुआ (मुण्डन कराता हुआ नहीं), तपके कष्टको सहन करता हुआ, श्वेत कपड़ों को पहने वाला, स्वाध्याय (वेदादिके पाठ) में तत्पर (ब्राह्मण गृहस्थ) सर्वदा अपने हित (औषधादिके द्वारा स्वास्थ्य रक्षा) में तत्पर रहे ॥ ३५ ॥

कल्पनं छेदनं क्लृप्तकेशनखश्मश्रुः तपःक्लेशसहो दान्तः शुक्लवासा बाह्याभ्यन्तरशौचसम्पन्नो वेदाभ्यासयुक्त औषधोपयोगादिना चात्महितपरः स्यात् ॥ ३५ ॥

वैणवीं धारयेद्यष्टिं सोदकं च कमण्डलुम्।
यज्ञोपवीतं वेदं च शुभे रौक्मे च कुण्डले ॥ ३६ ॥

—बांसकी छड़ी, जल सहित कमण्डलु, यज्ञोपवीत, वेद और सोनेके दो सुन्दर कुण्डलोंको (ब्राह्मण गृहाश्रमी) धारण करे— ॥ ३६ ॥

वेणुदण्डमुदकसहितं च कमण्डलुं यज्ञोपवीतं कुशमुष्टिं शोभने च सौवर्णकुण्डले धारयेत् ॥ ३६ ॥

नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं नास्तं यन्तं कदाचन।
नोपसृष्टं न वारिस्थं न मध्यं नभसो गतम् ॥ ३७ ॥

—उदय तथा अस्त होते हुए, ग्रहण लगे हुए, पानीमें प्रतिबिम्बित और (मध्याह्नमें) आकाशके मध्यमें स्थित सूर्यको कभी न देखे—॥ ३७ ॥

उद्यन्तमस्तं यन्तं सूर्यबिम्बं सम्पूर्णं नेक्षेत। उपसृष्टं ग्रहोपरक्तं वक्राद्युपसर्गयुक्तं च, वारिस्थं जलप्रतिबिम्बितं, नभोमध्यगतं मध्यन्दिनसमये ॥ ३७ ॥

न लङ्घयेद्वत्सतन्त्रीं न प्रधावेच्च वर्षति।
न चोदके निरीक्षेत स्वं रूपमिति धारणा ॥ ३८ ॥

—बच्छवा बांधनेकी रस्सी (पगहा) को न लांघे, पानी बरसते रहने पर न दौड़े और पानी में पड़ी हुई अपनी परछाई को न देखे; यह शास्त्र की मर्यादा है ॥ ३८ ॥

वत्सबन्धनरज्जुं न लङ्घयेत। वर्षति मेघे न धावेत्। न च स्वदेहप्रतिबिम्बं जले निरीक्षेतेति शास्त्रे निश्चयः ॥ ३८ ॥

मृदं गां दैवतं विप्रं घृतं मधु चतुष्पथम्।
प्रदक्षिणानि कुर्वीत प्रज्ञातांश्च वनस्पतीन् ॥ ३९ ॥

(कहीं जाते-आते समय रास्तेमें मिले हुए) मिट्टी के ढेर, गौ, देव-प्रतिमा, ब्राह्मण, घी, मधु (शहद), चौरास्ता आदि परिचित बड़े २ वनस्पति (पीपल, बड़ आदिके पेड़) से प्रदक्षिण क्रमसे (उन्हें अपने दाहिने भागमें करके) जावे ॥ ३९ ॥

प्रस्थितः सन् सम्मुखावस्थितानुद्धृतमृत्तिकागोपाषाणादिदेवताब्राह्मणघृतक्षौद्रचतुष्पथ-महाप्रमाणज्ञातवृक्षान्दक्षिणहस्तमार्गेण कुर्यात। प्रदक्षिणानीति "नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चास्यान्यतरस्याम्" (पा. सू. १।२।६९) इति नपुंसकत्वम् ॥ ३९ ॥

नोपगच्छेत्प्रमत्तोऽपि स्त्रियमार्तवदर्शने।
समानशयने चैव न शयीत तया सह ॥ ४० ॥

कामवश उन्मत्त (पागल) होकर भी रजोदर्शन होने पर (रजस्वला होने पर उसके साथ) संभोग न करे और उस (रजस्वला) के साथ एक आसन या शय्या पर न (बैठे और न) सोवे ॥ ४० ॥

प्रमत्तः कामार्तोऽपि रजोदर्शने निषिद्धस्पर्शदिनत्रये स्त्रियं नोपगच्छेत्। स्वर्शनिषेधेनैव "तासामाद्याश्चतस्रः" इति निषेधसिद्धौ प्रायश्चित्तगौरवार्थं स्नातकव्रतत्वार्थं च पुनरारम्भः। न चागच्छन्नपि तया सहैकशय्यायां सुप्यात् ॥ ४० ॥

रजसाभिप्लुतां नारीं नरस्य ह्युपगच्छतः।
प्रज्ञा तेजो बलं चक्षुरायुश्चैव प्रहीयते ॥ ४१ ॥

रजस्वलाके साथ सम्भोग करते हुए पुरुषकी बुद्धि, तेज, बल, नेत्र (देखने की शक्ति) और आयु क्षीण हो जाती है ॥ ४१ ॥

यस्माद्रजस्वलां स्त्रियं पुरुषस्योपगच्छतः प्रज्ञावीर्यबलचक्षुरायूंषि नश्यन्ति, तस्मात्तां नोपगच्छेत् ॥ ४१ ॥

तां विवर्जयतस्तस्य रजसा समभिप्लुताम् ।
प्रज्ञा तेजो बलं चक्षुरायुश्चैव प्रवर्धते ॥ ४२ ॥

उस (रजस्वला स्त्री) को छोड़ते (सम्भोग तथा स्पर्शका त्याग करतें) हुए (गृहस्थ की) बुद्धि, तेज, बल, नेत्र (देखने की शक्ति) और आयु बढ़ती है ॥ ४२ ॥

तां तु रजस्वलामगच्छतस्तस्य प्रज्ञादयो वर्धन्ते । तस्मात्तां नोपेयात् ॥ ४२ ॥

नाश्नीयाद्भार्यया सार्धं नैनामीक्षेत चाश्नतीम् ।
क्षुवतीं जृम्भमाणां वा न चासीनां यथासुखम् ॥ ४३ ॥

स्त्रीके साथ (एक पात्रमें) भोजन न करे भोजन करती हुई, छींकती हुई, जम्भाई लेती हुई तथा सुखपूर्वक (पुरुषादिके न रहनेसे स्वेच्छापूर्वक जैसे-तैंसे) बैठी हुई स्त्रीको न देखे ॥ ४३ ॥

भार्यया सहैकपात्रे नाश्नीयात् । एनां च भुञ्जानां क्षुतं जृम्भां च कुर्वतीं यथासुखं निर्यन्त्रणप्रदेशावस्थितां च नेक्षेत ॥ ४३ ॥

नाञ्जयन्तीं स्वके नेत्रे न चाभ्यक्तामनावृताम् ।
न पश्येत्प्रसवन्तीं च तेजस्कामो द्विजोत्तमः ॥ ४४ ॥
[उपेत्य स्नातको विद्वान्नेक्षेन्नग्नां परस्त्रियम् ।
सरहस्यं च संवादं परस्त्रीषु विवर्जयेत् ॥ ३ ॥]

आंजती (अपनी आंखोंमें अञ्जन अर्थात् काजल-सुर्मा आदि लगाती) हुई, तेल आदिसे अभ्यक्त, आवरणरहित (स्तनादिपर वस्त्र नहीं हो, ऐसी अवस्थामें) और प्रसव करती हुई स्त्रीकों तेज चाहनेवाला द्विजोत्तम न देखे ॥ ४४ ॥

[विद्वान् स्नातक (गृहाश्रमी) समीप जाकर नंगी परस्त्रीको न देखे अर्थात् उससे पास ही न जावे और एकान्तमें परस्त्रीके साथ बातचीत भी न करे ॥ ३ ॥]

तथा स्वनेत्रयोरञ्जनं कुर्वतीं तैलाद्यभ्यक्ताम्, अनावृतां स्तनावरणरहितां, न तु नग्नाम्, "नग्नां नेक्षेत च स्त्रियम् (म. स्मृ. ४-५३)" इति वक्ष्यमाणत्वात् । अपत्यं च प्रसवन्तीं ब्राह्मणो न निरीक्षेत् ॥ ४४ ॥

नान्नमद्यादेकवासा न नग्नः स्नानमाचरेत् ।
न मूत्रं पथि कुर्वीत न भस्मनि न गोव्रजे ॥ ४५ ॥

एक वस्त्र (केवल धोती, गमछी या लंगोट आदि) पहनकर भोजन न करे । नंगा होकर स्नान न करे (बीच रास्ते) में, भस्म (राख) पर और गोशाला (गौओंसे ठहरनेका स्थान) में मल और मूत्रत्याग (पाखाना और पेशाब) न करे— ॥ ४५ ॥

एकवस्त्रो नान्नं भुञ्जीत । उपस्थाच्छादनवासोरहितो न स्नायात् । मूत्रग्रहणमधःकायमलविसर्गोपलक्षणार्थम् । तेन मूत्रपुरीषे वर्त्मनि, भस्मनि, गोष्ठे च न कुर्यात् ॥ ४५ ॥

न फालकृष्टे न जले न चित्यां न च पर्वते ।
न जीर्णदेवायतने न वल्मीके कदाचन ॥ ४६ ॥

जोते हुए खेतमें, पानीमें, चिति (ईंटका भट्ठा और बर्तनोंका आंवा) पर, पहाड़पर, पुराने देव मन्दिरमें, वामि (दिअंकाड़) पर कभी (मलमूत्रका त्याग न करे)—॥ ४६ ॥

तथा फालकृष्टे चेत्रादौ. उदके, अग्न्यर्थंकृतेष्टकाचये, पर्वते, चिरन्तनदेवतागारे, कृमिकृतमृत्तिकाचये च विण्मूत्रोत्सर्गं न कदाचन कुर्यात् ॥ ४६ ॥

न ससत्त्वेषु गर्तेषु न गच्छन्नापि च स्थितः ।
न नदीतीरमासाद्य न च पर्वतमस्तके ॥ ४७ ॥

जीवयुक्त (चींटी, चूहा आदिके) विलोंमें, चलते हुए, खड़े होकर, नदीके किनारे पहुँचकर और पहाड़की चोटीपर (मल-मूत्रका त्याग न करे)—॥ ४७ ॥

तथा सप्राणिषु विलेषु न व्रजन्न चोत्थितो न नदीतटमाश्रित्य नापि पर्वतश्रृङ्गे मूत्रपुरीषे कुर्यात । पर्वतनिषेधादेव तच्छृङ्गनिषेधे सिद्धे पुनः पर्वतश्रृङ्गनिषेधस्तदितरपर्वते विकल्पार्थः । तत्रेच्छाविकल्पस्यान्यथाऽपि प्राप्तौ सामान्यनिषेधवैयर्थ्याद्व्यवस्थितोऽत्र विकल्पः—अत्यन्तार्तस्य पर्वते न दोषः ॥ ४७ ॥

वाय्वग्निविप्रमादित्यमपः पश्यंस्तथैव गाः ।
न कदाचन कुर्वीत विण्मूत्रस्य विसर्जनम् ॥ ४८ ॥

वायु, अग्नि, ब्राह्मण, सूर्य, पानी और गौओंको देखते हुए कभी मल और मूत्रका त्याग (पखाना और पेशाब) न करे ॥ ४८ ॥

वायुम्, अग्निं, ब्राह्मणं, सूर्यं, जलं, गां च पश्यन्न कदाऽपि मूत्रपुरीषोत्सर्गं कुर्यात् । वायोररूपत्वेन दर्शनासम्भवे वात्याप्रेरिततृणकाष्ठादिनिषेधोऽयम् ॥ ४८ ॥

तिरस्कृत्योच्चरेत्काष्ठलोष्ठपत्रतृणादिना ।
नियम्य प्रयतो वाचं संवीताङ्गोऽवगुण्ठितः ॥ ४९ ॥

लकड़ी (सूखी), मिट्टीका ढेला, पत्ता, घास आदि (दोनों सूखे हुए) से भूमिको ढककर तथा स्वयं चुप होकर और शरीर एवं मस्तकको ढककर मल-मूत्र का त्याग (पेशाब और पखाना) करे ॥ ४९ ॥

अन्तर्धाय काष्ठादिना भूमिमवागनुच्छिष्टः प्रच्छादिताङ्गोऽवगुण्ठितशिरा मूत्रपुरीषोत्सर्गं कुर्यात् ।

"शुष्कैस्तृणैर्वा काष्ठैर्वा पर्णैर्वेणुदलेन वा ।
मृन्मयैर्भाजनैर्वाऽपि अन्तर्धाय वसुन्धराम् ॥'

इति वायुपुराणवचनात् शुष्कानि काष्ठपत्रतृणानि ज्ञेयानि ॥ ४९ ॥

मूत्रोच्चारसमुत्सर्गं दिवा कुर्यादुदङ्मुखः ।
दक्षिणाभिमुखो रात्रौ संध्ययोश्च तथा दिवा ॥ ५० ॥

दिनमें तथा दोनों (प्रातःकाल और सायंकालकी) सन्ध्याओंमें उत्तरकी ओर मुखकर एवं रात्रिमें दक्षिणकी ओर मुहकर मलमूत्रका त्याग करे ॥ ५० ॥

मूत्रपुरीषोत्सर्गमहनि संध्ययोश्चोत्तराभिमुखो, रात्रौ चेद्दक्षिणामुखः कुर्यात् । धरणीधरस्तु "स्वस्थोऽनाशाय चेतसः" इति चतुर्थपादं पठित्वा चेतसो बुद्धेरनाशायेति व्याख्यातवान् ।

"परम्परीयमाम्नायं हित्वा विद्वद्भिरादृतम्।
पाठान्तरं व्यरचयन्मुधेह धरणीधरः ॥ ५० ॥"

**छायायामन्धकारे वा रात्रावहनि वा द्विजः।
यथासुखमुखः कुर्यात्प्राणबाधाभयेषु च ॥ ५१ ॥**

रात्रिमें, छायामें या अन्धकारमें तथा दिनमें नीहार (कुहरा बादल आदि) के अन्धकारमें (दिग्ज्ञान नहीं होनेपर) और (चोर या सिंह आदि हिंसक पशु आदिसे) प्राणोंकी बाधा (या शरीरादि कष्टका सन्देह) होनेपर द्विज इच्छानुसार किसी दिशाकी ओर मुखकर मल-मूत्रका त्याग करे ॥ ५१ ॥

रात्रौ छायायामन्धकारे वा अहनि छायायां नीहाराद्यन्धकारे वा दिग्विशेषाज्ञाने सति चौरव्याघ्रादिकृतप्राणविनाशभयेषु च यथेप्सितमुखो मूत्रपुरीषे कुर्यात् ॥ ५१ ॥

**प्रत्यग्निं प्रतिसूर्यं च प्रतिसोमोदकद्विजान्।
प्रतिगां प्रतिवातं च प्रज्ञा नश्यति मेहतः ॥ ५२ ॥**

अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, पानी, ब्राह्मण, गौ, हवा (आंधी आदि। पाठभेद से दोनों सन्ध्या — प्रातःकाल पूर्वमुख तथा सायंकाल पश्चिममुख) की ओर उन्हें (नहीं देखते हुए भी सामने) मुखकर मल-मूत्र-त्याग करनेवाले (द्विज) की बुद्धि नष्ट हो जाती है ॥ ५२ ॥

वाय्वग्निविप्रमित्यनेन मेहतोऽग्न्यादीनां दर्शनं निषिद्धम्। अनेन त्वपश्यतोऽपि सम्मुखीनत्वं निषिध्यते। अग्निसूर्यचन्द्रजलब्राह्मणगोवाताभिमुखं मूत्रपुरीषे कुर्वतः प्रज्ञा नश्यति। तस्मादेतन्न कर्तव्यम्। प्रतिवातमित्यस्य स्थाने प्रतिसंध्यमित्यन्ये पठन्ति ॥ ५२ ॥

**नाग्निं मुखेनोपधमेन्नग्नां नेक्षेत च स्त्रियम्।
नामेध्यं प्रक्षिपेदग्नौ न च पादौ प्रतापयेत् ॥ ५३ ॥**

अग्निको मुखसे न फूंके (किन्तु प्रज्वलित करनेके लिये पंखा आदिसे हवा करे), नंगी स्त्रीको (मैथुनके अतिरिक्त समयमें) न देखे, अपवित्र (मल, मूत्र, कूड़ा, करकट आदि) वस्तु अग्निमें न डाले और पैरको अग्निके ऊपर उठाकर न सेंके। (अग्निमें गर्म करके कपड़ा आदिसे पैरको सेंकनेमें दोष नहीं है) ॥ ५३ ॥

नाग्निर्मुखेन ध्मातव्यः किं तर्हि व्यजनादिना। "न नग्नां स्त्रियमीक्षेत मैथुनादन्यत्र" इति सांख्यायनदर्शनान्मैथुनव्यतिरेकेण नग्नां स्त्रियं न पश्येत्। अमेध्यं मूत्रपुरीषादिकं नाग्नौ क्षिपेत्। न च पादौ प्रतापयेत्। प्रशब्दादग्नौ पादावुत्क्षिप्य साक्षान्न प्रतापयेत् वस्त्रादितापस्वेदेऽविरोधः ॥ ५३ ॥

**अधस्तान्नोपदध्याच्च न चैनमभिलङ्घयेत्।
न चैनं पादतः कुर्यान्न प्राणाबाधमाचरेत् ॥ ५४ ॥**

आगको (आगसे युक्त अंगीठी, बरोसी आदिको) (खाट चारपाई आदिके) नीचे न रखें, इस (अग्नि) को न लाँघे, इस (अग्नि) को पैरकी ओर (सोने आदिके समयमें) न करे और प्राणोंकी बाधा (पीडा वाले कर्म) नहीं करे ॥ ५४ ॥

खट्वादिभ्योऽधस्तादङ्गारशकट्यादिकं न कुर्यात्। न चाग्निमुत्प्लुत्य गच्छेत्। न च सुप्तः पाददेशेऽग्निं स्थापयेत्। न च प्राणपीडाकरं कर्म कुर्यात् ॥ ५४ ॥

नाश्नीयात्संधिवेलायां न गच्छेन्नापि संविशेत् ।
न चैव प्रलिखेद् भूमिं नात्मनोपहरेत्स्रजम् ॥ ५५ ॥

सन्धि (प्रातःकाल तथा सायंकालके सन्ध्या) के समयमें भोजन न करे, न दूसरे गांवमें जाय और न सोवे। भूमिपर (लकड़ी आदिसे) न लिखे (न रेखा बनावे, न अक्षर आदि लिखे और न खरोंचे) और (पहनी हुई) मालाको (स्वयं) न निकाले ॥ ५५ ॥

संध्याकाले भोजनं, ग्रामान्तरगमनं, निद्रां च न कुर्यात। न च नखादिना भूमिमुल्लिखेत्। न च मालां धृतां स्वयमेवापनयेत्। अर्थादन्येनापनयेदित्युक्तम् ॥ ५५ ॥

नाप्सु मूत्रं पुरीषं वा ष्ठीवनं वा समुत्सृजेत् ।
अमेध्यलिप्तमन्यद्वा लोहितं वा विषाणि वा ॥ ५६ ॥

मूत्र, मैला, थूक, अपवित्र (जूठा आदि से उपलिप्त अर्थात् युक्त) अन्य कोई वस्तु, और रक्त और विष (या विषयुक्त पदार्थ) को पानीमें न छोड़े ॥ ५६ ॥

मूत्रं, पुरीषं, श्लेष्माणं, मूत्राद्यमेध्यलिप्तवस्त्रम् , अन्यद्वा भुक्तोच्छिष्टाद्यमेध्यं, रुधिरं, विषाणि च कृत्रिमाकृत्रिमभेदभिन्नानि न जले प्रक्षिपेत् ॥ ५६ ॥

नैकः सुप्याच्छून्यगेहे श्रेयांसं न प्रबोधयेत् ।
नोदक्ययाऽभिभाषेत यज्ञं गच्छेन्न चावृतः ॥ ५७ ॥
[एकः स्वादु न भुञ्जीत स्वार्थमेको न चिन्तयेत् ।
एको न गच्छेदध्वानं नैकः सुप्तेषु जागृयात् ॥ ४ ॥]

सूने घरमें अकेला न सोवे, (विद्या, धन और वय आदि से) बड़ेको न जगावे, रजस्वला स्त्री से बातचीत न करे और बिना वरण किये (ब्राह्मण) यज्ञमें न जावे (दर्शनकी इच्छासे जा सकता है) ॥ ५७ ॥

[स्वादिष्ट पदार्थ अकेले न खावे, स्वार्थचिन्तन अकेले न करे, अकेला मार्गमें (लम्बे रास्तेमें या रात्रि आदिमें) न जावे और (दूसरोंके सोते रहने पर अकेला न जागे ॥ ४ ॥]

उत्सन्नजनवासगेहे नैकः शयीत। वित्तविद्यादिभिरधिकंच सुप्तं न प्रबोधयेत्। रजस्वलया सम्भाषणं न कुर्यात्। यज्ञं चाकृतावरणोऽनृत्विक् न गच्छेत्। दर्शनार्येच्छया गच्छेत्। "दर्शनार्थं कामम्" इति गौतमवचनात् ॥ ५७ ॥

अग्न्यगारे गवां गोष्ठे ब्राह्मणानां च सन्निधौ ।
स्वाध्याये भोजने चैव दक्षिणं पाणिमुद्धरेत् ॥ ५८ ॥

अग्निहोत्रशालामें, गौओंके निवास स्थानमें, ब्राह्मणोंके पास, स्वाध्याय (वेद, वेदाङ्ग, स्मृत्यादि पढ़ते समय) में और भोजनमें दाहिनी भुजाको कपड़े से बाहर रखे ॥ ५८ ॥

अग्निगृहे, गवां निवासे, ब्राह्मणानां, गवां समीपे, स्वाध्यायभोजनकालयोश्च दक्षिणपाणिं सबाहुं वासस उद्धरेद्बहिष्कुर्यात् ॥ ५८ ॥

न वारयेद्गां धयन्तीं न चाचक्षीत कस्यचित् ।
न दिवीन्द्रायुधं दृष्ट्वा कस्यचिद् दर्शयेद् बुधः ॥ ५९ ॥

(दूध या पानी) पीति हुई गौको मना न करे या किसीसे नहीं कहे (दुहनेके लिये मना करनेका निषेध नहीं है) और आकाशसे इन्द्रधनुषको देखकर (इन्द्रधनुष देखनेके दोषको जानने वाला) विद्वान् वह (इन्द्रधनुष) दूसरेको न दिखलावे ॥ ५९ ॥

गां जलं, क्षीरं वा पिबन्तीं न निवारयेत्। दोहनार्थवारणादन्यत्र निषेधः। नापि परकीयक्षीरादि पिबन्तीं तस्य कथयेत्। न चेन्द्रधनुराकाशे दृष्ट्वा निषिद्धदर्शनदोषज्ञः कस्यचिद्दर्शयेत् ॥ ५९ ॥

नाधार्मिके वसेद् ग्रामे न व्याधिबहुले भृशम्।
नैकः प्रपद्येताध्वानं न चिरं पर्वते वसेत् ॥ ६० ॥

अधार्मिक ग्राममें निवास न करे, रोग (चेचक, हैजा, प्लेग, मलेरिया आदि सांसर्गिक रोग) से जहां बहुत लोग पीड़ित हों, उस ग्राममें बिलकुल ही निवास न करे, रास्तेमें अकेले नहीं चले और बहुत देरतक पहाड़पर निवास न करे ॥ ६० ॥

अधार्मिक इत्यनेन यत्राधार्मिका वसन्ति न तत्र वासो युक्तः। यत्र वा निन्दितदुश्चिकित्सितव्याधिपीडिता बहवो जनास्तत्र भृशमत्यर्थं वासो न युक्तः। पन्थानमेकः कदाऽपि न गच्छेत्। पर्वते च दीर्घकालं न वसेत् ॥ ६० ॥

न शूद्रराज्ये निवसेन्नाधार्मिकजनावृते।
न पाषण्डिगणाक्रान्ते नोपसृष्टेऽन्त्यजैर्नृभिः ॥ ६१ ॥

शूद्रके राज्यमें निवास न करे, अधार्मिक लोगोंके निवासभूत, पाखण्डि-समूहों से व्याप्त और चाण्डाल आदिसे सर्वत्र भरे हुए ग्राममें निवास न करे ॥ ६१ ॥

यत्र देशे शूद्रो राजा तत्र न वसेत्। अधार्मिकजनैश्च बाह्यतः परिवृते ग्रामादौ न वसेदित्यपुनरुक्तिः। पाषण्डिभिश्च वेदबाह्यलिङ्गधारिभिर्वशीकृते चाण्डालादिभिश्चान्त्यजैरुपद्रुते न वसेत् ॥ ६१ ॥

न भुञ्जीतोद्धृतस्नेहं नातिसौहित्यमाचरेत्।
नातिप्रगे नाति सायं न सायं प्रातराशितः ॥ ६२ ॥

(रसगुल्ला या दहीवड़ा आदिके) रसको निचोड़कर भोजन नहीं करे, अत्यन्त तृप्तिका आचरण न करे (अनेक बार, पेट भरकर भोजन न करे), बहुत सवेरे या बहुत शाम होनेपर भोजन न करे, प्रातःकाल (पूर्वाह्न में) अत्यन्त तृप्त होकर (अच्छी तरह भरपेट भोजन कर) पुनः सायंकाल भोजन न करे ॥ ६२ ॥

उद्धृतस्नेहं पिण्याकादि न भुञ्जीत। अतितृप्तिं वारद्वयेऽपि न कुर्यात्।

"जठरं पूरयेदर्धमन्नैर्भागं जलेन च।
वायोः सञ्चरणार्थं तु चतुर्थमवशेषयेत् ॥"

इत्यादिविष्णुपुराणवचनात्। सूर्योदयकाले सूर्यास्तसमये भोजनं न कुर्यात्। प्रातराशितोऽतितृप्तः सायं न भुञ्जीत ॥ ६२ ॥

न कुर्वीत वृथाचेष्टां न वार्यञ्जलिना पिबेत्।
नोत्सङ्गे भक्षयेद्भक्ष्यान्न जातु स्यात्कुतूहली ॥ ६३ ॥

व्यर्थ (प्रत्यक्ष एवं परोक्ष फलसे हीन) चेष्टा न करे, अञ्जलिसे पानी न पीये, गोद (दोनों जङ्घोंके बीच) में भोजनकी वस्तुको रखकर न खावे और (बिना प्रयोजनका) कुतूहल ('यह क्या बात है' इस प्रकार जाननेकी इच्छा) न करे ॥ ६३ ॥

दृष्टादृष्टार्थशून्यं व्यापारं न कुर्यात्। अञ्जलिना च जलं न पिबेत्। ऊर्वोरुपरि विन्यस्य

मोदकादीन्न भक्षयेत् । असति प्रयोजने किमेतदिति जिज्ञासा कुतूहलं तन्न कदाचित्कुर्यात् ॥ ६३ ॥

न नृत्येदथवा गायेन्न वादित्राणि वादयेत् ।
नास्फोटयेन्न च क्ष्वेडेन्न च रक्तो विरावयेत् ॥ ६४ ॥

(शास्त्र-विरुद्ध) नाच, गान और बाजा बजाना न करे; ताल (जैसे दंगलके आरम्भमें मल्ल प्रतिपक्षीको ललकारते हुए ताल ठोकते हैं, वैसे) न ठोकें; क्ष्वेडन (दांतोंको परस्पर रगड़ते हुए अव्यक्त शब्द—जिसे 'दांत पीसना' कहते हैं, उसे) न करे और अनुरक्त होकर विपरीत शब्द (गधे, घोड़े आदिके समान) न करे ॥ ६४ ॥

अशास्त्रीयाणि नृत्यगीतवाद्यानि नाचरेत् । पाणिना बाहौ ध्वनिरूपमास्फोटनं न कुर्यात् । अव्यक्तदन्तशब्दात्मकं क्ष्वेडनं न कुर्यात् । न च सानुरागो रासभादिरावं कुर्यात् ॥ ६४ ॥

न पादौ धावयेत्कांस्ये कदाचिदपि भाजने ।
न भिन्नभाण्डे भुञ्जीत न भावप्रतिदूषिते ॥ ६५ ॥

कांसेके बर्तनमें कभी पैर न धुलवावे; (ताबाँ, चाँदी और सोनेके बर्तनोंको छोड़कर अन्य किसी धातुके बने हुए) फूटे बर्तनोंमें तथा जो बर्तन अपनेको न रुचें, उनमें भोजन न करे ॥ ६५ ॥

कांस्यपात्रे कदाचित्पादौ न प्रक्षालयेत् । "ताम्ररजतसुवर्णानां भिन्नमभिन्नं वेति न दोषः" इति पैठीनसिवचनादेतद्व्यतिरिक्तभिन्नभाण्डे न भोजनं कुर्यात् । यत्र मनो विचिकित्सति तद्भावदुष्टम्, तत्र न भुञ्जीत ॥ ६५ ॥

उपानहौ च वासश्च धृतमन्यैर्न धारयेत् ।
उपवीतमलङ्कारं स्रजं करकमेव च ॥ ६६ ॥

दूसरोंके पहने हुए जूते, कपड़े, यज्ञोपवीत, भूषण, माला और कमण्डलुको नहीं धारण करे ॥
उपानद्वस्त्रयज्ञोपवीतालङ्कारपुष्पमालाकमण्डलून्परोपभुक्तान्न धारयेत् ॥ ६६ ॥

नाविनीतैर्भजेद्धुर्यैर्न च क्षुद्व्याधिपीडितैः ।
न भिन्नशृङ्गाक्षिखुरैर्न वालधिविरूपितैः ॥ ६७ ॥

अशिक्षित (अच्छी तरह विना सिखलाये हुए), भूख और प्याससे दुःखित, जिनके सींग आंख और खुर भिन्न (कटे आदि) हों और विना पूंछवाले पशुओं (घोड़े आदि) से गमन न करे ॥६७॥

अश्वगजादिभिर्वाहनैरदमितैः क्षुधा व्याधिना च पीडितैर्भिन्नशृङ्गाक्षिखुरैश्छिन्नवालधिभिश्च न यायात् ॥ ६७ ॥

विनीतैस्तु व्रजेन्नित्यमाशुगैर्लक्षणान्वितैः ।
वर्णरूपोपसंपन्नैः प्रतोदेनातुदन्भृशम् ॥ ६८ ॥

शिक्षित, शीघ्रगामी, शुभ लक्षणोंसे युक्त, रंग-रूपमें मनोहर घोड़े आदि सवारियोंसे कोड़े या चाबुकसे उन्हें बहुत नहीं मारते हुए (कभी २ मारते हुए) गमन करे । ६८ ॥

दमितैः शीघ्रगामिभिः शुभसूचकलक्षणोपेतैः शोभावर्णमनोज्ञाकृतिभिः प्रतोदेनात्यर्थमपीडयन्गच्छेत् ॥ ६८ ॥

बालातपः प्रेतधूमो वर्ज्यं भिन्नं तथाऽऽसनम् ।

[श्रीकामो वर्जयेन्नित्यं मृन्मये चैव भोजनम् ।]
न छिन्द्यान्नखलोमानि दन्तैर्नोत्पाटयेन्नखान् ॥ ६९ ॥

प्रातःकालका धूप (मेधातिथिके मतसे सूर्योदयसे वे तीन मुहूर्त (६ घटी) = २ घंटा २४ मिनट तक का धूप । अन्याचार्योंके मतसे कन्या संक्रान्तिके सूर्यका धूप), मृतकका धूम, टूटा हुआ आसन (का त्याग करे) [और मिट्टीके बर्तनमें भोजन करना धनको चाहनेवाला सदा त्याग करे ॥ ४३ ॥]

नख, रोंम और बाल न काटे तथा दांतोंसे नाखून न काटे ॥ ६९ ॥

प्रथमोदितादित्यतापो बालातपः स च मुहूर्तत्रयं यावदिति [1]मेधातिथिः। कन्यार्कातप इत्यन्ये । प्रेतधूमो दह्यमानशवधूमः । भग्नासनं च एतानि वर्जनीयानि । नखानि च रोमाणि च प्रवृद्धानि न छिन्द्यात् । दन्तैश्च नखान्नोत्पाटयेत् ॥ ६९ ॥

न मृल्लोष्ठं च मृद्नीयान्न छिन्द्यात्करजैस्तृणम् ।
न कर्म निष्फलं कुर्यान्नायत्यामसुखोदयम् ॥ ७० ॥

मिट्टीके ढेलेको (चुटकी या तलहथी आदिसे) न मसले (मर्दन करे), नाखूनसे तृणको नहीं तोड़े, निष्फल कार्यको न करे और भविष्यमें दुःखदायीकर्मको भी न करे ॥ ७० ॥

"नाकारणं मृल्लोष्ठं मृद्नीयात् , तृणानि च न छिन्द्यात्"—इत्यापस्तम्बवचनान्निष्प्रयोजनं मृल्लोष्ठमर्दनं नखैश्च तृणच्छेदनं न कुर्यात् ।

ननु "न कुर्वीत वृथाचेष्टाम्" (म. स्मृ. ४-६३) इत्यनेनैवास्यापि प्रतिषेधसिद्धौ दोषभूयस्त्वं प्रायश्चित्तगौरवं च दर्शयितुं विशेषेण निषेधः। अत एवात्रानन्तरं लोष्ठमर्दीति निन्दिष्यति । दृष्टादृष्टफलशून्यं च कर्म न कुर्यात् ।

ननु "न कुर्वीत वृथाचेष्टाम्" (म. स्मृ. ४-६३) इत्यनेन पुनरुक्तिः, उच्यते—

देहव्यापारश्चेष्टा, स वृथाचेष्टाशब्देन निषिद्धः, अनेन तु निष्फलं मनोग्राह्यादिसंकल्पात्मकं कर्म मानसं निषिध्यते। यच्च आयत्यामागामिकाले कर्मासुखावहं यथाऽजीर्णभोजनादि, तदपि न कुर्यात् ॥ ७० ॥

लोष्ठमर्दी तृणच्छेदी नखखादी च यो नरः ।
स विनाशं व्रजत्याशु सूचकाऽशुचिरेव च ॥ ७१ ॥

जो मनुष्य (निरर्थक) ढेला मसलनेवाला, नाखूनसे तृण काटनेवाला, (दांतोंसे) नख काटनेवाला, खल (दूसरोंमें विद्यमान या अविद्यमान दोषोंको कहते फिरनेवाला) और अपवित्र मिट्टी-पानी आदिकृत बाहरी शुद्धि और रागद्वेषादि शून्यतारूप भीतरी (अन्तःकरणकी) शुद्धिसे हीन है, वह शीघ्र (देह, धन आदिसे) नष्ट हो जाते हैं ॥ ७१ ॥

लोष्ठमर्दयिता, तृणच्छेत्ता, नखखादिता च यो मनुष्यस्तथा सूचकः खलो यः परस्य दोषानसतः सतो वा ख्यापयति, बाह्याभ्यन्तरशौचरहितः शीघ्रमेते देहधनदिना विनश्यन्ति ॥ ७१ ॥

न विगर्ह्य कथां कुर्याद्बहिर्माल्यं न धारयेत् ।
गवां च यानं पृष्ठेन सर्वथैव विगर्हितम् ॥ ७२ ॥

---

१. प्रथमोदिते सवितरि मुहूर्त्तत्रयं बालातपव्यपदेशः ।

हठपूर्वक (शास्त्रीय या लौकिक) चर्चा न करे (केश-समूहके) बाहर माला न पहने, गौओं के पीठपर सवारी करना सर्वथा ही निन्दित है ॥ ७२ ॥

न चाभिनिवेशेन कथां शास्त्रीयेष्वर्थेषु, लौकिषु वा कुर्यात्, केशकलापाद्बहिर्माल्यं न धारयेत्। गवां च पृष्ठेन यानम्। सर्वथेति प्रवेण्यादिव्यवधानेनाप्यधर्मावहम्। पृष्ठेनेत्यभिधानादाकृष्टशकटादिना न दोषः ॥ ७२ ॥

अद्वारेण च नातीयाद् ग्रामं वा वेश्म वावृतम्।
रात्रौ च वृक्षमूलानि दूरतः परिवर्जयेत् ॥ ७३ ॥

(चहारदिवारी अर्थात् परकोटा, कांटा, बांस आदिसे) घिरे हुए घरमें द्वारसे ही प्रवेश करे और रातमें पेड़ोंकी जड़को दूरसे ही छोड़ दे (पेड़ोंके नीचे बहुत पासमें न ठहरे या जावे) ॥७३॥

प्राकाराद्यावृतं गृहं च द्वारव्यतिरिक्तप्रदेशेन प्राकारादिलङ्घनं कृत्वा न विशेत्। रात्रौ च वृक्षमूलावस्थानं दूरतस्त्यजेत् ॥ ७३ ॥

नाक्षैः क्रीडेत्कदाचित्तु स्वयं नोपानहौ हरेत्।
शयनस्थो न भुञ्जीत न पाणिस्थं न चासने ॥ ७४ ॥

पाशा (जुआ) कभी न खेले, अपना जूता (हाथ आदिमें) स्वयं कहीं न ले जावे (पहनकर ही जावे), शय्यापर (बैठकर या सोकर, बिना किसी बर्तनमें रखे ही) भोजन पदार्थ को हाथमें लेकर या आसनपर (भोजनकी थाली रखकर) भोजन न करे ॥ ७४ ॥

ग्लहं विना कदाचिदपि परिहासेनापि नाक्षादिभिः क्रीडेत्। स्वयमित्यभिधानादास्मोपानहौ पादव्यतिरिक्तेन हस्तादिना देशान्तरं न नयेत्। शय्याद्यवस्थितश्च न भुञ्जीत। हस्ते च प्रभूतमन्नं कृत्वा क्रमेण न खादेत। आसने भोजनपात्रं निधाय न भुञ्जीत ॥ ७४ ॥

सर्वं च तिलसम्बद्धं नाद्यादस्तमिते रवौ।
न च नग्नः शयीतेह न चोच्छिष्टः क्वचिद् व्रजेत् ॥ ७५ ॥

सूर्यास्तके बाद कोई भी तिलयुक्त (तिलकूट आदि) न खावे, नंगा न सोवे और जूठा मुख (खानेके बाद बिना कुल्ला किये) कहीं न जावे ॥ ७५ ॥

यत्किञ्चित्तिलसंमिश्रं कृसरमोदकादि तदस्तमितेऽर्के नाद्यात्। उपस्थाच्छादनवासोरहितो नेह लोके सुप्यात्। उच्छिष्टस्तु नान्यतो गच्छेत् ॥ ७५ ॥

आर्द्रपादस्तु भुञ्जीत नार्द्रपादस्तु संविशेत्।
आर्द्रपादस्तु भुञ्जानो दीर्घमायुरवाप्नुयात् ॥ ७६ ॥

गीले पैरोंवाला होकर (भोजनके पहले तत्काल पैर धोकर) भोजन करे, और गीले पैरवाला होकर नहीं सोवे (यदि सोनेके पहले पैर धोया हो तो कपड़े आदिसे पोंछकर उसे सुखा ले) गीले पैरोंवाला होकर भोजन करनेवाला लम्बी आयुको प्राप्त करता है ॥ ७६ ॥

जलार्द्रपादो भोजनमाचरेत। नार्द्रपादः सुप्यात्। यस्मादार्द्रपादो भुञ्जानः शतायुर्भवति ॥ ७६ ॥

अचक्षुर्विषयं दुर्गं न प्रपद्येत कर्हिचित्।
न विण्मूत्रमुदीक्षेत न बाहुभ्यां नदीं तरेत् ॥ ७७ ॥

नहीं दीखते हुए (लता-गुल्म आदिके कारण गहन होनेसे स्पष्ट नहीं मालूम पड़ते हुए) दुर्गम स्थान (सघन वन या झाड़ी आदि) में कदापि न जावे, मल तथा मूत्रको न देखे और बाहुओंसें नदीको न तैरे (तैरकर पार न करे, किन्तु नाव आदि से नदीके पार जावे) ॥ ७७ ॥

तरुगुल्मलतागहनत्वेनाचक्षुर्गोचरमरण्यादिदेशं दुर्गं नाक्रामेत, सर्पचौरादेरन्तर्हितस्य सम्भवात। पुरीषम्, मूत्रं च न निरीक्षेत। बाहुभ्यां च नदीं न तरेत्॥ ७७॥

अधितिष्ठेन्न केशांस्तु न भस्मास्थिकपालिकाः।
न कार्पासास्थि न तुषान्दीर्घमायुर्जिजीविषुः॥ ७८॥

अधिक आयुतक जीने की इच्छा करनेवाला बाल, राख, हड्डी, फूटे मिट्टीके बर्तनोंके टुकड़े बिनौला और भूसा इनके ऊपर न बैठे (या न खड़ा होवे)॥ ७८॥

दीर्घमायुर्जीवितुमिच्छुः केशादीन्नाधिरोहेत। भग्नमृन्मयभाजनशकलानि कापालिकाः॥७८॥

न संवसेच्च पतितैर्न चाण्डालैर्न पुल्कसैः।
न मूर्खैर्नावलिप्तैश्च नान्त्यैर्नान्त्यावसायिभिः॥ ७९॥
[न कृतघ्नैरनुद्युक्तैर्न महापातकान्वितैः।
न दस्युभिर्नाशुचिभिर्नामित्रैश्च कदाचन॥ ५॥]

पतित (११ अध्यायोक्त), चाण्डाल (शूद्रसे ब्राह्मणीमें उत्पन्न-१०।१२), पुल्कस (मल्लाह से शूद्रामें उत्पन्न-१०।१८), मूर्ख, अभिमानी और अन्त्यज (धोबी आदि) और अन्त्यावसायी (चाण्डालसे मल्लाहिन स्त्रीमें उत्पन्न-१०।३९) के साथ न बैठे। (समीपमें एक आसन पर या वृक्षकी छाया आदिमें एक साथ न बैठे)॥ ७९॥

[कृतघ्न, उद्योगहीन, महापातकों (११।५४) से युक्त, डांकू, अपवित्र और शत्रुओंके साथ न बैठे॥ ५॥]

पतितादिभिर्ग्रामान्तरवासिभिरपि सह न संवसेत। एकतरुच्छायादौ न समीपे वसेत। अतो "नाधार्मिके वसेद् ग्रामे" (म. स्मृ. ४-६०) इत्यतो भेदः। निषादाच्छूद्रायां जातः पुल्कसः। वक्ष्यति च—

जातो निषादाच्छूद्रायां जात्या भवति पुल्कसः। (म. स्मृ. १०।१८) इति।

अवलिप्ता धनादिमदगर्विताः। अन्त्या अन्त्यजा रजकादयः। अन्त्यावसायिनो निषादस्त्रियां चाण्डालाज्जाताः। वक्ष्यति च—

निषादस्त्री तु चण्डालात्पुत्रमन्त्यावसायिनम्। (म. स्मृ. १०-३९)॥ ७९॥

न शूद्राय मतिं दद्यान्नोच्छिष्टं न हविष्कृतम्।
न चास्योपदिशेद्धर्मं न चास्य व्रतमादिशेत्॥ ८०॥

शूद्रको इष्टार्थक उपदेश, उच्छिष्ट (जूठा), यज्ञ कर्मसे बचा हुआ हविष्य, धर्म और व्रत (प्रायश्चित्त) का उपदेश साक्षात न दे॥ ८०॥

[(किन्तु) बीचमें ब्राह्मणको करके (शूद्रके लिये) प्रायश्चित्त (धर्मोपदेश, इष्टार्थोपदेश आदि) का उपदेश करे॥ ६॥]

शूद्राय मतिं दृष्टार्थोपदेशं न दद्यात्, धर्मोपदेशस्य पृथङ्निर्देशात्। अदासशूद्रायोच्छिष्टं न दद्यात्। दासगोचरतया "उच्छिष्टमन्नं दातव्यम्" (म. स्मृ. १०-१२५) इति वक्ष्यमाणत्वाददोषः। "द्विजोच्छिष्टं च भोजनम्"—इति भोक्तुर्विधिर्दातुरुच्छिष्टदाननिषेधेऽपि यथासम्भवलब्धविषयः। हविष्कृतमिति। यस्यैकदेशो हुतः स हविःशेषो न दातव्यः। धर्मोपदेशो न शूद्रस्य कर्तव्यः। व्रतं चास्य प्रायश्चित्तरूपं साक्षान्नोपदिशेत, किंतु ब्राह्मणं मध्ये कृत्वा तदुपदेशस्य विधानात्। यथाऽऽहाङ्गिराः—

"तथा शूद्रं समासाद्य सदा धर्मपुरःसरम् ।
अन्तरा ब्राह्मणं कृत्वा प्रायश्चित्तं समादिशेत् ॥"

प्रायश्चित्तमिति सकलधर्मोपदेशस्योपलक्षणार्थम् ॥ ८० ॥

यो ह्यस्य धर्ममाचष्टे यश्चैवादिशति व्रतम् ।
सोऽसंवृतं नाम तमः सह तेनैव मज्जति ॥ ८१ ॥

क्योंकि जो इस (शूद्र) को धर्मोपदेश करता है, व्रत (प्रायश्चित्त-विधान) बतलाता है; वह उसके साथ ही 'असंवृत' नामके नरकमें प्रवेश करता है ॥ ८१ ॥

यस्माद्योऽस्य शूद्रस्य धर्मं ब्रूते, यश्च प्रायश्चित्तमुपदिशति, स तेन शूद्रेणैव सहासंवृताख्यं तमो गहनं नरकं प्रविशति। पञ्चसु पूर्वोक्तेषु द्वयोर्दोषकथनं प्रायश्चित्तगौरवार्थम् ॥८१॥

न संहताभ्यां पाणिभ्यां कण्डूयेदात्मनः शिरः ।
न स्पृशेच्चैतदुच्छिष्टो न च स्नायाद्विना ततः ॥ ८२ ॥

दोनों हाथोंको एकत्रित (मिला) कर शिर न खजुलावे, जूठा मुख रहनेपर शिर न छूए और शिरको छोड़कर (नित्य और नैमित्तिक) स्नान न करे (स्नान करनेमें असामर्थ्य रहनेपर बिना शिर से भी स्नान करनेमें दोष नहीं है) ॥ ८२ ॥

संश्लिष्टाभ्यां पाणिभ्यां न कण्डूयेदात्मनः शिरः । उच्छिष्टः स्वशिरो न स्पृशेत् । शिरसा विनोन्मज्जनव्यतिरेकेण नित्यनैमित्तिकस्नाने न कुर्यात् । दृष्टार्थे शिरोव्यतिरिक्तगात्रप्रक्षालने न दोषः । स्नानशक्तस्य चायं निषेधः । अशक्तस्य तु—

"अशिरस्कं भवेत्स्नानं स्नानाशक्तौ तु कर्मिणाम् ॥"

इति जाबालिना विहितमेव ॥ ८२ ।

केशग्रहान्प्रहारांश्च शिरस्येतान्विवर्जयेत् ।
शिरःस्नातश्च तैलेन नाङ्गं किञ्चिदपि स्पृशेत् ॥ ८३ ॥

(क्रोधसे अपने या दूसरे किसी के) शिरके बालोंको न खींचे और न शिर में मारे । शिर से स्नान किये हुए के किसी शरीरका तैलसे स्पर्श न करे, अथवा तैलसे शिरःस्नात होकर (शिरमें तैल लगाकर पुनः) तैल से किसी शरीर का स्पर्श न करे ॥ ८३ ॥

कोपेन केशग्रहप्रहारौ शिरसि वर्जयेत् । कोपनिमित्तत्वाच्चात्मनः परस्य च प्रतिषेधः । अत एव सुरतसमये कामिनीकेशग्रहस्यानिषेधः । सशिरस्कस्नातस्य तैलेन न किंचिदप्यङ्गं स्पृशेत् । अथवा तैलेनेति काकाक्षिवदुभयत्र सम्बध्यते । तैलेन शिरःस्नातः तैलेन पुनः किञ्चिदप्यङ्गं न स्पृशेत् । अतो रात्रौ शिष्टानामतैलशिरःस्नातानां तैलेन पादाभ्यङ्गसमाचरणमविरुद्धम् ॥ ८३ ॥

न राज्ञः प्रतिगृह्णीयादराजन्यप्रसूतितः ।
सूनाचक्रध्वजवतां वेशनैव च जीवताम् ॥ ८४ ॥

अक्षत्रिय राजा, पशु मारकर मांस बेचनेवाले (वधिक, कसाई आदि), तेली, कलवार (मद्य बेचनेवाले), वेश्याकी नौकरीसे जीनेवाले या वेष बदलकर अपनी जीविका करनेवाले इनसे दान न लेवे ॥ ८४ ॥

राजन्यशब्दः क्षत्रियवचनः । अक्षत्रियप्रसूतस्य राज्ञो धनं न प्रतिगृह्णीयात् । "राजतो धनमन्विच्छेत्"—इत्युक्तं तस्यायं विशेष उक्तः, सूनाचक्रध्वजवतामिति । सूनावताम्, चक्र-

वताम्, ध्वजवतां च सूना प्राणिवधस्थानं तद्यस्यास्तीति स सूनावान्पशुमारणपूर्वकमांसविक्रयजीवी। चक्रवान्बीजवधविक्रयजीवी तैलिकः। ध्वजवान्मद्यविक्रयजीवी शौण्डिकः। वेशः पण्यस्त्रिया भृतिः तया यो जीवति स्त्री पुमान्वा स वेशवान्। एतेषां च न प्रतिगृह्णीयात् ॥ ८४ ॥

दशसूनासमं चक्रं दशचक्रसमो ध्वजः ।
दशध्वजसमो वेशो दशवेशसमो नृपः ॥ ८५ ॥

दस कसाईके बराबर तेली है, दस तेलीके बराबर, कलवार (मद्य बेचनेवाला) है, दस कलवारके बराबर वेशजीवी (वेश्याका नौकर या भेष बदलर जीविका करनेवाला बहुरूपिया आदि) है और दस वेशजीवीके बराबर राजा है। (कसाई, तेली, कलवार और राजाकी उत्तरोत्तर नीच श्रेणियोंमें गणना है) ॥ ८५ ॥

गोविन्दराजस्तु "दश वेश्यासमो नृपः" इति पठति। मेधातिथिप्रभृतयः प्राञ्चो "दशवेशसमो नृपः" इति पठन्ति। सूनादिशब्दैस्तद्वानुपलक्ष्यते। दशसूनावत्सु यावान्दोषस्तावानेकस्मिन् चक्रवति तैलिके, यावान्दशसु तैलिकेषु दोषस्तावानेकध्वजवति शौण्डिके, यावान्दशसु ध्वजवत्सु दोषस्तावानेकत्र वेशवति, यावान्दशसु वेशवत्सु दोषस्तावानेकत्र राजनि। उत्तरोत्तरनिन्दा चेयं पूर्वदातृसम्भवे सत्युत्तरवर्जनार्थमपेक्षया योज्यते ॥ ८५ ॥

दश सूनासहस्राणि यो वाहयति सौनिकः ।
तेन तुल्यः स्मृतो राजा घोरस्तस्य प्रतिग्रहः ॥ ८६ ॥

जो वधिक (कसाई आदि) दस हजार पशुओंको (अपनी जीविकाके लिये) मारता है, उसके बराबर राजा (मनु आदि महर्षियोंसे) कहा गया है, (इस कारण) उस (क्षत्रिय राजा) का भी प्रतिग्रह (दान) लेना (नरक का कारण होनेसे) भयानक है ॥ ८६ ॥

सूनया चरतीति सौनिकः। एवं संकलनया यत्सौनिको दशसहस्राणि स्वार्थं व्यापादयति तेन तुल्यो राजा मन्वादिभिः स्मृतः। तस्मात्तस्य प्रतिग्रहो नरकहेतुत्वाद्भयानकः क्षत्रियस्यापि च ॥ ८६ ॥

यो राज्ञः प्रतिगृह्णाति लुब्धस्योच्छास्त्रवर्तिनः ।
स पर्यायेण यातीमान्नरकानेकविंशतिम् ॥ ८७ ॥

जो लोभी तथा शास्त्रविरुद्ध आचरण करनेवाले राजासे दान लेता है; वह क्रमशः इन (४।८८-९० में कथित इक्कीस) नरकोंमें जाता है—॥ ८७ ॥

यो राज्ञः, कृपणस्य शास्त्रोल्लङ्घनेन प्रवर्तमानस्य प्रतिग्रहं करोति, स क्रमेणैतान्वक्ष्यमाणैकविंशतिनरकान्गच्छति ॥ ८७ ॥

पूर्वश्लोके सामान्यतो नरकानिमानेकविंशतिमित्युक्तमिदानीं तानेव नामतो निर्दिशति"तामिस्रमि"ति त्रिभिः।

तामिस्रमन्धतामिस्रं महारौरवरौरवौ ।
नरकं कालसूत्रं च महानरकमेव च ॥ ८८ ॥
संजीवनं महावीचिं तपनं सम्प्रतापनम् ।
संहातं च सकाकोलं कुड्मलं प्रतिमूर्तिकम् ॥ ८९ ॥

लोहशङ्कुमृजीषं च पन्थानं शाल्मलीं नदीम्।
असिपत्रवनं चैव लोहदारकमेव च ॥ ९० ॥

(उन २१ नरकोंके नाम ये हैं) १ तामिस्र, २ अन्धतामिस्र, ३ महारौरव, ४ रौरव, ५ कालसूत्र नरक, ६ महानरक—॥ ८८ ॥

७ संजीवन, महावीचि, ९ तपन, १० सम्प्रतापन, ११ संहात, १२ काकोल, १३ कुड्मल, १४ प्रतिमूर्त्तिक—॥ ८९ ॥

१५ लोहशङ्कु, १६ ऋजीष, १७ पन्था, १८ शाल्मली, १९ वैतरणी नदी, २० असिपत्रवन और २१ लोहदारक (इन नरकोंके स्वरूप मार्कण्डेय आदि पुराणों में सविस्तार वर्णित हैं, जिज्ञासुओं को वहीं से जानना चाहिये मार्क, १२।१) ॥ ९० ॥

एतेषां नरकाणां स्वरूपं मार्कण्डेयपुराणादिषु विस्तरेणोक्तं तत्रैवावगन्तव्यम् ॥८८-९०॥

एतद्विदन्तो विद्वांसो ब्राह्मणा ब्रह्मवादिनः।
न राज्ञः प्रतिगृह्णन्ति प्रेत्य श्रेयोऽभिकाङ्क्षिणः ॥ ९१ ॥

यह (लोभी और शास्त्रविरुद्धाचारी) राजाका दान लेनेसे इन '४।८८-९०' में कथित नरकोंमें जाना पड़ता है, इस बातको) जानते हुए ब्रह्मवादी और मरनेके बाद कल्याण (स्वर्ग-मोक्षादिजन्य सुख) को चाहनेवाले ब्राह्मण राजाका दान नहीं लेते हैं ॥ ९१ ॥

प्रतिग्रहो विविधनरकहेतुरिति जानन्तो ब्राह्मणा धर्मशास्त्रपुराणादिविदो वेदाध्यायिनो जन्मान्तरे श्रेयःकामवन्तो न राज्ञः प्रतिगृह्णीयुः। विदुषो हि प्रतिग्रहे नातीव दोषः। यतो वक्ष्यति "तस्मादविद्वान्बिभियात्" (म. स्मृ. ४-१९१) इति। तेषामपि निषिद्धो राजप्रतिग्रहः प्रचुरप्रत्यवायफलक इति दर्शयितुं विद्वद्ग्रहणम्, ब्रह्मवादिग्रहणं च ॥ ९१ ॥

ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत्।
कायक्लेशांश्च तन्मूलान्वेदतत्त्वार्थमेव च ॥ ९२ ॥

ब्राह्ममुहूर्त्त (रात्रिके चौथे प्रहर) में उठे और धर्म तथा अर्थकी, तन्मूलक (धर्म तथा अर्थके कारणभूत) शरीरक्लेशकी और वेदतत्त्वार्थकी चिन्ता (विचार) करे ॥ ९२ ॥

ब्राह्मो मुहूर्तो रात्रेः पश्चिमो यामः, ब्राह्मी भारती तत्प्रबोधहेतुत्वात्। मुहूर्तशब्दोऽत्र कालमात्रवचनः, तत्र बुध्येत। दक्षेणापि

"प्रदोषपश्चिमौ यामौ वेदाभ्यासेन तौ नयेत्।
प्रहरद्वयं शयानो हि ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥"

इति ब्रुवता तत्र प्रबोधोऽभ्यनुज्ञातः। गोविन्दराजस्तु "रात्रेः पश्चिमे मुहूर्ते बुध्येत" इत्याह। धर्मार्थौ च परस्पराविरोधेनानुष्ठानार्थमवधारयेत्। तथा धर्मार्थार्जनहेतून्कायक्लेशान्निरूपयेत्। यदि महान्कायक्लेशोऽल्पौ च धर्मार्थौ वा तदा तं परिहरेत। वेदस्य तत्त्वार्थं ब्रह्मकर्मात्मकं निश्चिनुयात्, तस्मिन्समये बुद्धिप्रकाशात् ॥ ९२ ॥

उत्थायावश्यकं कृत्वा कृतशौचः समाहितः।
पूर्वां संध्यां जपंस्तिष्ठेत्स्वकाले चापरां चिरम् ॥ ९३ ॥

इसके बाद (उषाकालमें) उठकर शौचादि (मल, मूत्रत्यागादिके बाद स्नानादिसे शुद्ध हो) करके एकाग्रचित्त हो प्रातःकालकी तथा यथासमय सायंकाल की सन्ध्याको जप करता हुआ रहे ॥ ९३ ॥

तत उषःकाले शय्याया उत्थाय सति वेगे मूत्रपुरीषोत्सर्गं कृत्वाऽत्र कृतवक्ष्यमाणशौचोऽनन्यमनाः पूर्वां संध्यां चिरं गायत्रीजपं कुर्वन्नर्कदर्शनात्। अयं विधिः प्रातःसंध्यायामुक्तः। उदयादूर्ध्वमपि जपेदायुरादिकाम इति विधानार्थोऽयमारम्भः। अपरामपि संध्यां स्वकाले प्रारभ्य, तारकोदयादूर्ध्वमपि जपन्नासीत ॥ ९३ ॥

आयुरादिकामाधिकारोऽयमिति दर्शयन्नाह—

ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वाद्दीर्घमायुरवाप्नुयुः।
प्रज्ञां यशश्च कीर्तिं च ब्रह्मवर्चसमेव च ॥ ९४ ॥

ऋषियोंने बहुत देरतक सन्ध्या (सन्ध्याकालिक गायत्रीजप) करनेसे लम्बी आयु, बुद्धि, कीर्ति, यश और ब्रह्मतेजको प्राप्त किया। (इस लिये आयुष्काम पुरुषको चिरकालतल (२।२०१) सन्ध्योपासना करनी चाहिये) ॥ ९४ ॥

संध्याशब्दोऽत्र संध्यानुष्ठेयजपादिपरः। यस्मादृषयो दीर्घसंध्यानुष्ठानाद्दीर्घमायुः जीवन्तः प्रज्ञां यशोऽमृतां च कीर्तिमध्ययनादिसम्पन्नं यशश्च प्राप्नुयुः। तस्मादायुरादिकामश्चिरं संध्यामुपासीत ॥ ९४ ॥

श्रावण्यां प्रौष्ठपद्यां वाऽप्युपाकृत्य यथाविधि।
युक्तश्छन्दांस्यधीयीत मासान्विप्रोऽर्धपञ्चमान् ॥ ९५ ॥

ब्राह्मण श्रावण या भाद्रपद मासकी पूर्णिमाको अपने गृह्योक्तविधिसे उपाकर्म (देवर्षि-होम-तर्पण-पूजन) करके साढ़े चार मासतक संलग्न होकर वेदाध्ययन करे ॥ ९५ ॥

श्रावणस्य पौर्णमास्याम्, भाद्रपदस्य वा स्वगृह्यानुसारेणोपाकर्माख्यं कर्म कृत्वा सार्धांश्चतुरो मासान्ब्राह्मण उद्युक्तो वेदानधीयीत ॥ ९५ ॥

पुष्ये तु छन्दसां कुर्याद्बहिरुत्सर्जनं द्विजः।
माघशुक्लस्य वा प्राप्ते पूर्वाह्णे प्रथमेऽहनि ॥ ९६ ॥

(साढ़े चार मास पूरा होनेके) बाद जब पुष्य नक्षत्र हो, तब गांवके बाहर जाकर (अपने गृह्योक्त विधिसे) वेदोत्सर्ग कर्म करे। अथवा (भाद्रपद मासमें उपाकर्म न करनेवाला) द्विज माघ शुक्ल प्रतिपदाको पूर्वाह्णमें वेदोत्सर्गका कर्म करे ॥ ९६ ॥

ततः पक्षाधिकेषु चतुर्षु मासेषु यः पुष्यस्तत्र ग्रामाद्बहिर्गत्वा स्वगृह्यानुसारेणोत्सर्गाख्यं कर्म कुर्यात्। अथवा माघशुक्लस्य प्रथमेऽहनि पूर्वाह्णे कुर्यात्। माघशुक्ले च विधिः प्रौष्ठपद्यां येनोपाकर्म न कृतं तद्विषयः ॥ ९६ ॥

यथाशास्त्रं तु कृत्वैवमुत्सर्गं छन्दसां बहिः।
विरमेत्पक्षिणीं रात्रिं तदेवैकमहर्निशम् ॥ ९७ ॥

इस प्रकार शास्त्रानुसार (ग्रामके) बाहर वेदोत्सर्ग कर्म करके पक्षिणी रात्रिमें अथवा उसी (वेदोत्सर्ग कर्मके ही) दिन-रातमें विराम करे (वेदाध्ययन न करे ॥ ९७ ॥

एवमुक्तशास्त्रानुसारेण ग्रामाद्बहिश्छन्दसामुत्सर्गाख्यं कर्म कृत्वा पक्षिणीं विरमेन्नाधीयीत। द्वे दिने पूर्वापरे पक्षाविव यस्या मध्यवर्तिन्या रात्रेः सा पक्षिणी रात्रिः। अस्मिन्पक्षे तूत्सर्गाहोरात्रे द्वितीयदिने चाह्नि नाध्येतव्यं द्वितीयरात्रौ त्वध्येतव्यम्। अथवा तदेवैकमुत्सर्गाहोरात्रमनध्यायं कुर्यात्। विधानैपुण्यकामं प्रत्ययमहोरात्रानध्यायविधिः ॥९७॥

अत ऊर्ध्वं तु छन्दांसि शुक्लेषु नियतः पठेत् ।
वेदाङ्गानि न सर्वाणि कृष्णपक्षेषु सम्पठेत् ॥ ९८ ॥

इसके (वेदोत्सर्ग कर्मके) बाद शुक्लपक्ष में (मन्त्रब्राह्मणात्मक) वेदोंको तथा कृष्णपक्षमें वेदाङ्गोंको पढ़े ॥ ९८ ॥

उत्सर्गानध्ययनादूर्ध्वं मन्त्रब्राह्मणात्मकं वेदं शुक्लपक्षेषु संयतः पठेत् । सर्वाणि तु वेदाङ्गानि शिक्षाव्याकरणादीनि कृष्णपक्षेषु पठेत् ॥ ९८ ॥

नाविस्पष्टमधीयीत न शूद्रजनसन्निधौ ।
न निशान्ते परिश्रान्तो ब्रह्माधीत्य पुनः स्वपेत् ॥ ९९ ॥

वेदोंके स्वरों तथा अक्षरोंको अस्पष्ट उच्चारण न करे तथा शूद्रोंके समीपमें (वेदोंका) अध्ययन न करे और रात्रिके अन्तिम प्रहरमें वेदाध्ययनसे थककर फिर न सोवे ॥ ९९ ॥

स्वरवर्णाद्यभिव्यक्तिशून्य शूद्रसन्निधौ च नाधीयीत । तथा रात्रेः पश्चिमे यामे सुप्तोत्थितो वेदमधीत्य श्रान्तो न पुनः सुप्यात् ॥ ९९ ॥

यथोदितेन विधिना नित्यं छन्दस्कृतं पठेत् ।
ब्रह्म छन्दस्कृतं चैव द्विजो युक्तो ह्यनापदि ॥ १०० ॥

शास्त्रोक्त विधिसे गायत्री आदि छन्दोंके सहित मन्त्रमात्रका अध्ययन करे और आपत्तिरहित (स्वस्थ) ब्राह्मण ब्राह्मणभागसहित वेदमन्त्रोंका अध्ययन करे ॥ १०० ॥

यथोक्तविधिना नित्यं छन्दस्कृतं गायत्र्यादिछन्दोयुक्तं मन्त्रमात्रं पठेत्, मन्त्राणामेव कर्मान्तरङ्गत्वात् । अनापदि सम्यक्करणादौ सति ब्रह्म ब्राह्मणं मन्त्रजातं तथोक्तविधिना युक्तः सन्द्विजः पठेत् ॥ १०० ॥

इमान्नित्यमनध्यायानधीयानो विवर्जयेत् ।
अध्यापनं च कुर्वाणः शिष्याणां विधिपूर्वकम् ॥ १०१ ॥

वेदाध्ययन करनेवाला शिष्य और विधिपूर्वक वेदाध्यापन करनेवाला गुरु इन (४।१०२–१२७) अनध्यायोंको छोड़ दे (इन आगे निषेध किये हुए समयोंमें गुरु तथा शिष्य वेदोंका पढ़ाना और पढ़ना छोड़ दे) ॥ १०१ ॥

इमान्वक्ष्यमाणाननध्यायान्सर्वथा यथोक्तविधिनाऽधीयानः शिष्याध्यापनं च कुर्वाणो गुरुर्वर्जयेत् ॥ १०१ ॥

कर्णश्रवेऽनिले रात्रौ दिवा पांसुसमूहने ।
एतौ वर्षास्वनध्यायावध्यायज्ञाः प्रचक्षते ॥ १०२ ॥

वर्षा ऋतुकी रातमें सामान्यतः भी सुनाई पड़नेवाली (गोविन्दराजके मतसे 'अधिक मेघसे सुनाई पड़नेवाली') और दिनमें धूल उड़ानेवाली हवाके बहते रहने पर इन दोनोंको अध्यापनविधिके ज्ञाता वर्षाकालका अनध्याय कहते हैं ॥ १०२ ॥

रात्रौ कर्णश्रवणयोग्यशब्दजनके वायौ वाति। गोविन्दराजस्तु "कर्णाभ्यामेव श्रवणोपपत्तेरतिशयविवक्षया कर्णश्रव इत्युक्तम्, तेनातिशब्दवति वायौ वाती" त्यभिहितवान् । दिवा च धूलिपटलोत्सारणसमर्थे वायौ वहति एतौ वर्षाकालेऽनध्यायौ तात्कालिकावध्यापनविधिज्ञा मुनयः कथयन्ति ॥ १०२ ॥

विद्युत्स्तनितवर्षेषु महोल्कानां च सम्प्लवे।
आकालिकमनध्यायमेतेषु मनुरब्रवीत् ॥ १०३ ॥

बिजली चमकते तथा मेघ गरजते हुए पानी बरस रहा हो, बड़ी २ उल्कायें इधर-उधर गिरती हों तो इनमें मनुने आकालिक (उक्त समयसे लेकर दूसरे दिन तक) अनध्याय कहा है ॥ १०३ ॥

विद्युद्गर्जितवर्षेषु द्वन्द्वनिर्देशाद्युगपदुपस्थितेषु महतीनां चोल्कानां संप्लव इतस्ततः पाते सति आकालिकमिति तु निमित्तकालादारभ्यापरेद्युर्यावत्स एव कालस्तावत्पर्यन्तमनध्यायमेतेषु मनुरवोचत् ॥ १०३ ॥

एतांस्त्वभ्युदितान्विद्याद्यदा प्रादुष्कृताग्निषु।
तदा विद्यादनध्यायमनृतौ चाभ्रदर्शने ॥ १०४ ॥

वर्षा ऋतुमें होमके लिये अग्निको प्रज्वलित करते समय (सन्ध्या समय) एक साथ बिजली चमकने लगे, मेघ गरजने लगे और पानी भी बरसने लगे तब और अन्य ऋतुओंमें केवल बादलके भी दिखलाई पड़नेपर अनध्याय (काल) जाने ॥ १०४ ॥

एतान्विद्युदादीन्यदा होमार्थं प्रकटीकृताग्निकालेषु संध्याक्षणेषु युगपदुत्पन्नाञ्जानीयात्तदाऽनध्यायं वर्षासु कुर्यान्न सर्वदा। तथाऽनृतौ प्रादुष्कृताग्निकालेषु मेघदर्शनमात्रे सत्यनध्यायो न वर्षासु ॥ १०४ ॥

निर्घाते भूमिचलने ज्योतिषां चोपसर्जने।
एतानाकालिकान्विद्यादनध्यायानृतावपि ॥ १०५ ॥

जब आकाशमें उत्पातसूचक ध्वनि हो, भूकम्प हो और ग्रहोंका परस्परमें सङ्घर्ष हो; तब वर्षाऋतुके न होनेपर भी (सब समयमें) आकालिक (उक्त समय से लेकर अगले दिन तक) अनध्याय जाने ॥ १०५ ॥

अन्तरिक्षभवोत्पातध्वनौ भूकम्पे सूर्यचन्द्रतारागणानां चोपसर्गे सत्यनध्यायानिमानाकालिकाञ्जानीयात्। आकालिकशब्दार्थो व्याकृत एव। ऋतावपि वर्षासु किल भूकम्पादयो न दोषावहा इत्यभिप्रायेणर्तावपीत्युक्तम्, अपिशब्दादन्यत्रापि ॥ १०५ ॥

प्रादुष्कृतेष्वग्निषु तु विद्युत्स्तनितनिःस्वने।
सज्योतिः स्यादनध्यायः शेषे रात्रौ यथा दिवा ॥ १०६ ॥

हवनके लिये अग्नि प्रज्वलित करनेपर बिजलीके चमकने और बादलके गरजनेपर (पानी बरसनेपर नहीं) जब तक (दिनमें सूर्यका तथा रात्रिमें चन्द्रका) प्रकाश रहे; तबतक अनध्याय माने। रात्रिमें बिजलीके चमकने, मेघके गरजने तथा पानी बरसनेपर दिनके समान (रात्रिमें भी) अनध्याय माने ॥ १०६ ॥

होमार्थं प्रकाशितेष्वग्निषु संध्यायां यदा विद्युद्गर्जितशब्दावेव भवतो न तु वर्षं तदा सज्योतिरनध्यायः स्यात् नाकालिकः। तत्र यदि प्रातःसंध्यायां विद्युद्गर्जितशब्दौ तदा यावत्सूर्योज्योतिस्तावदनध्यायो दिनमात्रमेव। यदि सायंसंध्यायां तौ स्यातां तदा यावन्नक्षत्रज्योतिस्तावदनध्यायो रात्रिमात्रमिति रात्रौ स्तनितविद्युद्वर्षण्विति त्रयाणां पूर्वोक्तानां शेषे वर्षाख्ये त्रितये जाते यथा दिवाऽनध्यायस्तथा रात्रावपि, अहोरात्र एवेत्यर्थः ॥ १०६ ॥

नित्यानध्याय एव स्याद् ग्रामेषु नगरेषु च।
धर्मनैपुण्यकामानां पूतिगन्धे च सर्वदा ॥ १०७ ॥

धर्म-निपुणताके इच्छुकोंके लिये ग्राम तथा नगरमें नित्य अनध्याय है और दुर्गन्धि आनेपर सर्वदा (विधाननिपुणताके इच्छुक तथा धर्मनिपुणताके इच्छुक दोनोंके लिये) अनध्याय है ॥१०७॥

नैपुण्यविषयो धर्मातिशयार्थिनो ग्रामनगरयोः सर्वदाऽनध्यायः स्यात् । कुत्सितगन्धे च सर्वस्मिन्नपि गम्यमाने धर्मनैपुण्यकामं प्रत्ययं विधानध्यायोपदेशो विधानैपुण्यकामस्य कदाचिदध्ययनमनुजानाति । ये शिष्याः केचिद्गृहीतवेदाध्ययनजन्यादृष्टेच्छवस्ते धर्मनैपुण्यकामाः । केचित्प्रथमाध्येतारो विद्याऽतिशयमात्रार्थिनस्ते विद्यानैपुण्यकामाः ॥ १०७ ॥

अन्तर्गतशवे ग्रामे वृषलस्य च सन्निधौ ।
अनध्यायो रुद्यमाने समवाये जनस्य च ॥ १०८ ॥

ग्राममें मृतके रहने पर, अधार्मिकके पासमें रोनेका शब्द होनेपर और बहुत लोगोंके (कार्य वश) एकत्रित होनेपर (अनध्याय माने) ॥ १०८ ॥

अन्तर्गतः शवो यस्मिन्ग्रामे ज्ञायते तत्र । वृषलोऽधार्मिकस्तस्य संनिधौ न तु शूद्रः, तस्य "न शूद्रजनसंनिधौ" इति निषेधात । रुद्यमाने रोदनध्वनौ । भावे लकारः कार्यान्तरार्थं बहुजनमेलके सत्यनध्यायः ॥ १०८ ॥

उदके मध्यरात्रे च विण्मूत्रस्य विसर्जने ।
उच्छिष्टः श्राद्धभुक्चैव मनसाऽपि न चिन्तयेत् ॥ १०९ ॥

जलमें, आधी रातमें-मध्य रात्रिकी ८ घड़ियोंमें, गोविन्दराजके मतसे (मध्यरात्रिके दो प्रहरोंमें), मल-मूत्र करनेमें, उच्छिष्टावस्थामें (भोजनके बाद जबतक मुख धोकर शुद्ध न हो जाय तबतक) और श्राद्धके भोजनमें (निमन्त्रणके समयसे लेकर श्राद्धभोजनवाली दिन-रात तक) मनसे भी चिन्तन न करे (वेदाध्ययनका) सर्वथा त्याग करे ॥ १०९ ॥

उदकमध्ये, मध्यरात्रे च मुहूर्तचतुष्टये च "निशायां च चतुर्मुहूर्तम्" इति गौतमस्मरणात् । गोविन्दराजस्तु रात्रिमध्यप्रहरद्वय इत्युक्तवान् । तथा मूत्रपुरीषोत्सर्गकालेऽन्नभोजनादिना चोच्छिष्टो निमन्त्रणसमयादारभ्य श्राद्धभोजनाहोरात्रं यावन्मनसाऽपि वेदं न चिन्तयेत् ॥ १०९ ॥

प्रतिगृह्य द्विजो विद्वानेकोद्दिष्टस्य केतनम् ।
त्र्यहं न कीर्तयेद् ब्रह्म राज्ञो राहोश्च सूतके ॥ ११० ॥

एकोद्दिष्ट श्राद्धका निमंत्रण लेकर, राजाके (पुत्रादि जन्मादि प्रयुक्त) सूतकमें तथा राहुके सूतक (सूर्य-चन्द्रके ग्रहणोंमें) तीन दिन तक विद्वान् ब्राह्मण वेदाध्ययन न करे ॥ ११० ॥

एक एवोद्दिश्यते यत्र श्राद्धे तदेकोद्दिष्टं नवश्राद्धं तत्केतनं निमन्त्रणं गृहीत्वा निमन्त्रणादारभ्य क्षत्रियस्य जनपदेश्वरस्य पुत्रजन्मादिसूतके राहोश्च सूतकं चन्द्रसूर्योपरागः तत्र त्रिरात्रं वेदं नाधीयीत ॥ ११० ॥

यावदेकानुद्दिष्टस्य गन्धो लेपश्च तिष्ठति ।
विप्रस्य विदुषो देहे तावद् ब्रह्म न कीर्तयेत् ॥ १११ ॥

जब तक विद्वान् ब्राह्मणके शरीरमें एकोद्दिष्टके कुङ्कुमादिका गन्ध या लेप रहे, तब तक वह वेदका अध्ययन न करे ॥ १११ ॥

यावदेकस्यानुद्दिष्टस्योच्छिष्टस्य सकुङ्कुमादेर्गन्धो लेपश्च ब्राह्मणस्य शास्त्रविदो देहे तिष्ठति तावन्त्यहोरात्राण्यूर्ध्वमपि वेदं नाधीयीत ॥ १११ ॥

शयानः प्रौढपादश्च कृत्वा चैवावसक्थिकाम् ।
नाधीयीतामिषं जग्ध्वा सूतकान्नाद्यमेव च ॥ ११२ ॥

(शय्या-पलङ्ग आदि पर) लेट कर, पैर फैलाकर घुटनों (टखनों) को नीचे की ओर मोड़ कर और मांसको तथा सूतक (जन्म-मृत्यु-जन्य अशौच) के अन्न को खाकर वेदाध्ययन न करे ॥ ११२ ॥

शय्यायां पतिताङ्ग आसनारूढपादः कृतावसक्थिको वा मांसं भुक्त्वा जननमरणाशौचिनां चान्नं भुक्त्वा नाधीयीत ॥ ११२ ॥

नीहारे बाणशब्दे च संध्ययोरेव चोभयोः ।
अमावास्याचतुर्दश्योः पौर्णमास्यष्टकासु च ॥ ११३ ॥

नीहार (कुहरा) गिरने पर, बाणोंका शब्द होने पर; दोनों प्रातः-सायं सन्ध्याओंमें अमावास्या, चतुर्दशी, पूर्णिमा और अष्टमी तिथियोंमें अध्ययन न करे । ११३ ॥

नीहारे धूलिकायां बाणशब्दे शरध्वनौ । "बाणौ वीणाविशेषः" इत्यन्ये । प्रातःसायं संध्ययोरमावास्याचतुर्दशीपौर्णमास्यष्टमीषु नाधीयीत । अष्टकासूत्तरत्र निषेधात्पौर्णमास्यादिसाहचर्यादष्टकाशब्दोऽष्टमीतिथिपरः ॥ ११३ ॥

विशेषदोषमाह—

अमावास्या गुरुं हन्ति शिष्यं हन्ति चतुर्दशी ।
ब्रह्माष्टकापौर्णमास्यौ तस्मात्ताः परिवर्जयेत् ॥ ११४ ॥

अमावास्या गुरुका नाश करती है, चतुर्दशी शिष्य का नाश करती है और अष्टमी तथा पूर्णिमा ब्रह्म (वेद-शास्त्र ज्ञान का नाश) करती है; अतः उनका त्याग करे (उन तिथियोंमें न पढ़े ॥ ११४ ॥

यस्मादमावास्या गुरुं हन्ति, शिष्यं चतुर्दशी, वेदं चाष्टमीपौर्णमास्यौ विस्मारयतस्तस्मात्ता अध्ययनाध्यापनयोः परित्यजेत् ॥ ११४ ॥

पांसुवर्षे दिशां दाहे गोमायुविरुते तथा ।
श्वखरोष्ट्रे च रुवति पङ्क्तौ च न पठेद् द्विजः ॥ ११५ ॥

धूलिकी वर्षा होने पर, दिग्दाह होने पर, गीदड़, कुत्ता, गदहा और ऊंटके रोनेका शब्द होनेपर और उनकी पंक्तिमें बैठकर द्विज वेदाध्ययन न करे ॥ ११५ ॥

धूलीवर्षे दिशां दाहे शृगालकुक्कुरगर्दभोष्ट्रेषु च रुवत्सु पङ्क्तौ चोपविश्य प्रकृतत्वाच्छृगालश्वखरादीनामेव ब्राह्मणो न पठेत् ॥ ११५ ॥

नाधीयीत श्मशानान्ते ग्रामान्ते गोव्रजेऽपि वा ।
वसित्वा मैथुनं वासः श्राद्धिकं प्रतिगृह्य च ॥ ११६ ॥

श्मशानके पासमें, ग्रामके पासमें, गोशालामें, मैथुन समयका वस्त्र पहने हुए और श्राद्धके (सिद्ध पक्व) अन्नादिका दान लेकर अध्ययन न करे ॥ ११६ ॥

श्मशानसमीपे, ग्रामसमीपे, गोष्ठे च, मैथुनसमयधृतवासः परिधाय, श्राद्धीयं च सिद्धान्नादि प्रतिगृह्य नाधीयीत ॥ ११६ ॥

प्राणि वा यदि वाऽप्राणि यत्किञ्चिच्छ्राद्धिकं भवेत् ।
तदालभ्याप्यनध्यायः पाण्यास्यो हि द्विजः स्मृतः ॥ ११७ ॥

श्राद्ध-सम्बन्धी जीव (गौ आदि) या निर्जीव (शय्या, वस्त्र अन्न आदि) को हाथसे लेने पर भी अनध्याय होता है, क्योंकि ब्राह्मण पाण्यास्य (हाथ ही है मुख जिसका ऐसा) कहा गया है ॥ ११७ ॥

श्राद्धिकमन्नादि भुक्त्वा तावदनध्यायो भवतीत्युक्तम्। प्राणि वा गवाश्वादि, अप्राणि वा वस्त्रमाल्यादि, प्रतिग्रहकाले हस्तेन गृहीत्वाऽनध्यायो भवति। यस्मात्पाणिरेवास्यमस्येति पाण्यास्यो हि ब्राह्मणः स्मृतः ॥ ११७ ॥

चौरैरुपद्रुते ग्रामे सम्भ्रमे चाग्निकारिते।
आकालिकमनध्यायं विद्यात्सर्वाद्भुतेषु च ॥ ११८ ॥

ग्रामके चौर आदिके उपद्रवसे युक्त होनेपर किसी प्रकारका संभ्रम (घबराहट) होने पर, आग लगने पर (आकाश, अन्तरिक्ष या पृथ्वीपर) कोई अद्भुत उत्पातादि होने पर 'आकालिक' (उस समय से लेकर अगले दिन तक) अनध्याय जाने ॥ ११८ ॥

चौरैरुपद्रुते ग्रामे गृहादिदाहादिकृते भये दिव्यान्तरिक्षभौमेषु चाद्भुतेषूत्पातेष्वाकालिकमनध्यायं जानीयात् ॥ ११८ ॥

उपाकर्मणि चोत्सर्गे त्रिरात्रं क्षपणं स्मृतम्।
अष्टकासु त्वहोरात्रमृत्वन्तासु च रात्रिषु ॥ ११९ ॥

उपाकर्म (श्रावणी कर्म) और उत्सर्ग (वेदोत्सर्ग ४।९६) कर्ममें तीन रात (दिन-रात) का अनध्याय होता है, मार्गशीर्ष मासकी पूर्णिमाके बाद तीन (या चार) अष्टमी तिथियों और ऋतुके अन्तमें एक दिन-रातका अनध्याय होता है ॥ ११९ ॥

उपाकर्मणि चोत्सर्गे त्रिरात्रमध्ययनक्षेपणम्। उत्सर्गे पक्षिण्यहोरात्रावनध्यायावुक्तौ, तत्रायं धर्मनैपुण्यकामं प्रति त्रिरात्रोपदेशः। तथाऽऽग्रहायण्या ऊर्ध्वं कृष्णपक्षाष्टमीषु तिसृषु चतसृषु चाहोरात्रमनध्यायः। दिवाकालमात्रसद्भावेऽपि पौर्णमास्यष्टकासु चेत्यनेन यावदष्टम्येवानध्याय इतराष्टमीपूक्त इत्यपुनरुक्तिः। ऋत्वन्ताहोरात्रेषु चानध्यायः ॥ ११९ ॥

नाधीयीताश्वमारूढो न वृक्षं न च हस्तिनम्।
न नावं न खरं नोष्ट्रं नेरिणस्थो न यानगः ॥ १२० ॥

घोड़ा, पेड़, हाथी, नाव, गदहा और ऊँट पर चढ़कर; ऊसर स्थानमें रहकर तथा गाड़ी आदि पर सवार होकर (वेदाध्ययन न करे) ॥ १२० ॥

तुरगतरुकरिनौकाखरोष्ट्रारूढः तथोषरदेशस्थः शकटादियानेन गच्छन्नाधीयीत ॥१२०॥

न विवादे न कलहे न सेनायां न सङ्गरे।
न भुक्तमात्रे नाजीर्णे न वमित्वा न शुक्तके ॥ १२१ ॥

विवाद (वाचिक कलह—गालीगलौज आदि), कलह (दण्डादिप्रहार—मारपीट), सेना और युद्ध में, भोजन करने पर (जब तक धोया हुआ हाथ न सूख जाय तब तक , अजीर्ण होने पर, वमन करने पर और खट्टी डकार आने पर (वेदाध्यायन न करे) ॥ १२१ ॥

विवादे वाक्कलहे, कलहे दण्डादण्ड्यादौ, सेनायामप्रवृत्तयुद्धायाम् , संगरे युद्धे, भुक्तमात्रे भोजनानन्तरं च यावदार्द्रहस्तः, "यावदार्द्रपाणिः"—इति वसिष्ठस्मरणात्। तथाऽजीर्णाऽन्ने वमनं च कृत्वाऽम्लोद्गारे च न पठेत् ॥ १२१ ॥

अतिथिं चाननुज्ञाप्य मारुते वाति वा भृशम् ।
रुधिरे च स्रुते गात्राच्छस्त्रेण च परिक्षते ॥ १२२ ॥

अतिथिसे बिना कहे, तेज हवाके बहते रहने पर, शरीरसे रक्त बहने पर, शस्त्रसे क्षत होने पर (वेदाध्ययन न करे) ॥ १२२ ॥

अध्ययनं करोमीति यावदतिथिरनुज्ञापितो न भवति, मारुते चात्यर्थं वाति, रुधिरे च गात्रात्स्रुते, रुधिरस्रावं विनाऽपि शस्त्रेण क्षतमात्रेऽपि नाधीयीत ॥ १२२ ॥

सामध्वनावृग्यजुषी नाधीयीत कदाचन ।
वेदस्याधीत्य वाप्यन्तमारण्यकमधीत्य च ॥ १२३ ॥

सामवेदकी ध्वनि सुनाई पड़ते रहने पर, ऋग्वेद तथा यजुर्वेदका अध्ययन कदापि न करे और वेदको समाप्त कर या आरण्यक (वेदका एक अंश विशेष) जो पढ़ कर (उसदिन-रातमें दूसरे वेदका अध्ययन न करे) ॥ १२३ ॥

सामध्वनौ च श्रूयमाणे ऋग्यजुषोः कदाचिदध्ययनं न कुर्यात् । वेदं च समाप्य, आरण्यकाख्यं च वेदैकदेशमधीत्य तदहोरात्रे वेदान्तरं नाधीयीत ॥ १२३ ॥

ऋग्वेदो देवदैवत्यो यजुर्वेदस्तु मानुषः ।
सामवेदः स्मृतः पित्र्यस्तस्मात्तस्याशुचिर्ध्वनिः ॥ १२४ ॥

ऋग्वेदकी देव, यजुर्वेदकी मनुष्य और सामवेदकी पितर देवता हैं; इस कारण उस (सामवेद का ध्वनि अपवित्र (के समान) है ॥ १२४ ॥

सामगानश्रुतौ ऋग्यजुषोरनध्याय उक्तस्तस्यायमनुवादः । ऋग्वेदो देव एव देवतास्येति देवदैवत्यः । यजुर्वेदो मानुषो, मानुषदेवताकत्वात । प्रायेण मानुषकर्मोपदेशाद्वा मानुषः । सामवेदः पितृदेवताकत्वात् पित्र्यः । पितृकर्म कृत्वा जलोपस्पर्शनं स्मरन्ति तस्मात्तस्याशुचिरिव ध्वनिः न त्वशुचिरेव । अतस्तस्मिञ्छ्रूयमाणे ऋग्यजुषी नाधीयीत ॥ १२४ ॥

एतद्विदन्तो विद्वांसस्त्रयीनिष्कर्षमन्वहम् ।
क्रमतः पूर्वमभ्यस्य पश्चाद्वेदमधीयते ॥ १२५ ॥

यह (४।१२४ श्लोकोक्त वेदत्रयके देवत्रयभाव) जानते हुए लोग तीनों वेदोंके सार (प्रणव, व्याहृति तथा सावित्री) को पहले क्रमशः अभ्यास कर बादमें वेदाध्ययन करते हैं ॥ १२५ ॥

एतद्वेदत्रयस्य देवमनुष्यपितृदेवताकत्वं जानन्तः शास्त्रज्ञास्त्रयीनिष्कर्षं सारोद्धृतं प्रणवव्याहृतिसावित्र्यात्मकं प्रणवव्याहृतिसावित्रीः क्रमेण पूर्वमधीत्य, पश्चाद्वेदाध्ययनं कुर्युः । द्वितीयाध्यायोक्तोऽप्ययमर्थः पुनरनध्यायप्रकरणेऽभिहितः । यथैते यथोक्तानध्याया एवं प्रणवव्याहृतिष्वपठितास्वनध्याय इति दर्शयितुं शिष्यस्याध्यापनमेवं कर्तव्यमिति स्नातकव्रतत्वावगमार्थं च ॥ १२५ ॥

पशुमण्डूकमार्जारश्वसर्पनकुलाखुभिः ।
अन्तरागमने विद्यादनध्यायमहर्निशम् ॥ १२६ ॥

(वेदाध्ययन करते समय गुरु तथा शिष्यके) बीचमें गौ आदि पशु, मेढ़क, बिलाव (या बिल्ली), सर्प, नेवला और चूहाके आ जाने पर दिन-रात अनध्याय होता है ॥ १२६ ॥

पशुर्गवादिः, मण्डूकविडालकुक्कुरसर्पनकुलमूषकैः शिष्योपाध्याययोर्मध्याऽऽगमनेऽनध्यायमहोरात्रं जानीयात ॥ १२६ ॥

संप्रति विद्यानैपुण्यकामं प्रति पूर्वोक्तानध्यायविकल्पार्थमाह—

द्वावेव वर्जयेन्नित्यमनध्यायौ प्रयत्नतः ।
स्वाध्यायभूमिं चाशुद्धामात्मानं चाशुचिं द्विजः ॥ १२७ ॥

द्विज अध्ययनके समय अपवित्र (मल–मूत्र–उच्छिष्टादिसे दूषित) स्थान तथा अपने शरीरकी अपवित्रता—इन दो अनध्याओं का प्रयत्नपूर्वक सर्वदा त्याग करे ॥ १२७ ॥

स्वाध्यायभूमिं चोच्छिष्टाद्यमेध्योपहताम्, आत्मानं च यथोक्तशौचरहितमिति द्वावेवानध्यायौ नित्यं प्रयत्नतो वर्जयेन्न तु पूर्वोक्तान्। तेषामपि यत्र नित्यग्रहणमनुवादो वा नित्यत्वख्यापको वाऽस्ति तानपि नित्यं वर्जयेत्। अन्यत्र विकल्पः ॥ १२७ ॥

अमावास्यामष्टमीं च पौर्णमासीं चतुर्दशीम् ।
ब्रह्मचारी भवेन्नित्यमप्यृतौ स्नातको द्विजः ॥ १२८ ॥
[षष्ठ्यष्टम्यौ त्वमावास्यामुभयत्र चतुर्दशीम् ।
वर्जयेत्पौर्णमासीं च तैले मांसे भगे क्षुरे ॥ ७ ॥

अमावास्या, अष्टमी, पूर्णिमा और चतुर्दशी तिथियोंमें स्त्रीके ऋतुकाल होनेपर भी गृही द्विज ब्रह्मचारी ही रहे ॥ १२८ ॥

[षष्ठी, अष्टमी, अमावास्या, चतुर्दशी और पूर्णिमा को तैल लगाना, मांस खाना, स्त्रीसंग करना और क्षौर कर्म करवाना छोड़ दे ॥ ७ ॥

अमावास्यादिष्वृतावपि स्नातको द्विजो न स्त्रियमुपगच्छेत्। "पर्ववर्जं व्रजेच्चैनाम्" (म. स्मृ. ३-४५) इत्यनेनैव निषेधसिद्धौ स्नातकव्रतलोपप्रायश्चित्तार्थमिह पुनर्वर्जनम् ।१२८।

न स्नानमाचरेद् भुक्त्वा नातुरो न महानिशि ।
न वासोभिः सहाजस्रं नाविज्ञाते जलाशये ॥ १२९ ॥

भोजनके बाद, रोगी रहने पर, महानिशा (रात्रिके मध्यवाले दो प्रहरों) में, बहुत वस्त्र पहने हुए और अज्ञात जलाशयमें (जिसमें पानीका थाह, गढा या पत्थर आदि और जलजन्तु आदि का रहना ठीक-ठीक मालूम न हो, उसमें) सर्वदा स्नान न करे ॥ १२९ ॥

नित्यस्नानस्य भोजनानन्तरमप्रसक्तेश्चाण्डालादिस्पर्शनिमित्तकस्य "मुहूर्तमपि शक्तिविषये नाप्रयतः स्यात्"—इत्यापस्तम्बस्मरणान्निषेद्धुमयोग्यत्वाद्यदृच्छास्नानमिदं भोजनानन्तरं निषिध्यते। तथा रोगी नैमित्तिकमपि स्नानं न कुर्यात् किन्तु यथासामर्थ्यम्।

"अशिरस्कं भवेत्स्नानं स्नानाशक्तौ तु कर्मिणाम् ।
आर्द्रेण वाससा वा स्यान्मार्जनं दैहिकं विदुः ॥"

इत्यादिजाबालाद्युक्तमनुसंधेयम्। तथा—

"महानिशाऽत्र विज्ञेया मध्यस्थं प्रहरद्वयम् ।
तस्मिन्स्नानं न कुर्वीत काम्यनैमित्तिकादृते ॥"

इति देवलवचनात्तत्र न स्नायात्। बहुवासाश्च नित्यं न स्नायात्। नैमित्तिकचाण्डालादिस्पर्शे सति तु स्नानं बहुवाससोऽप्यनिषिद्धम्। ग्राहाद्याक्रान्तागाधरूपतया च विशेषेणाज्ञाते जलाशये च ॥ १२९ ॥

देवतानां गुरो राज्ञः स्नातकाचार्ययोस्तथा ।
नाक्रामेत्कामतश्छायां बभ्रुणो दीक्षितस्य च ॥ १३० ॥

देवप्रतिमा, गुरु (पिता आदि श्रेष्ठ जन), राजा, स्नातक, आचार्य, कपिल वर्णवाला और यज्ञमें दीक्षित मनुष्यों (अवभृत स्नानके पूर्व तक) की छायाका इच्छापूर्वक उल्लङ्घन न करे ॥१३०॥

देवतानां पाषाणादिमयीनाम्, गुरोः पित्रादेः, नृपतेः, स्नातकस्याचार्यस्य च। गुरुत्वेऽप्याचार्यस्य प्राधान्यविवक्षया पृथङ्निर्देशः। बभ्रुणः कपिलस्य, यज्ञे दीक्षितस्यावभृथस्नानात्पूर्वमिच्छया छायां नाक्रामेत्। चशब्दाच्चाण्डालादीनामपि। कामत इत्यभिधानादबुद्धिपूर्वके न दोषः ॥ १३० ॥

मध्यन्दिनेऽर्धरात्रे च श्राद्धं भुक्त्वा च सामिषम्।
सन्ध्ययोरुभयोश्चैव न सेवेत चतुष्पथम् ॥ १३१ ॥

दोपहरमें, आधी रातमें, मांससहित श्राद्धान्न भोजन कर और दोनों (प्रातः तथा सायंकालकी) सन्ध्याओंमें चौराहे पर न जावे (बहुत समय तक न ठहरे) ॥ १३१ ॥

दिवारात्रे च सम्पूर्णे प्रहरद्वये समांसं च श्राद्धं भुक्त्वा प्रातःसायंसन्ध्ययोश्च चिरं चतुष्पथं नाधितिष्ठेत् ॥ १३१ ॥

उद्वर्तनमपस्नानं विण्मूत्रे रक्तमेव च।
श्लेष्मनिष्ठ्यूतवान्तानि नाधितिष्ठेत्तु कामतः ॥ १३२ ॥

उबटन आदिकी मैल, स्नानका पानी, विष्ठा (मैला), मूत्र, रक्त, कफ (खकार), पान आदिका पीक और थूक तथा वमन किये गये अन्नादि पर न ठहरे (पैर न रखे या खड़ा न होवे) ॥१३२॥

उद्वर्तनमभ्यङ्गमलापकर्षणपिष्टकादि, अपस्नानं स्नानोदकम्, मूत्रपुरीषे, रुधिरं च श्लेष्माणम्, निष्ठ्यूतमश्लेष्मरूपमपि चर्वितपरित्यक्तरूपताम्बूलादि, वान्तं भुक्त्वोद्गीर्णभक्तादि एतानि कामतो नाधितिष्ठेत्। अधिष्ठानं तदुपर्यवस्थानम् ॥ १३२ ॥

वैरिणं नोपसेवेत सहायं चैव वैरिणः।
अधार्मिकं तस्करं च परस्यैव च योषितम् ॥ १३३ ॥

शत्रु, शत्रुका सहायक, अधार्मिक, चोर और परस्त्रीका संग न करे ॥ १३३ ॥

शत्रुं तन्मन्त्रिणमधर्मशीलं चौरं परदारांश्च न सेवेत। चौरस्याधार्मिकत्वेऽप्यत्यन्तगर्हितत्वात्पृथङ्निर्देशः ॥ १३३ ॥

न हीदृशमनायुष्यं लोके किञ्चन विद्यते।
यादृशं पुरुषस्येह परदारोपसेवनम् ॥ १३४ ॥

इस संसारमें पुरुषकी आयुको क्षीण करानेवाला वैसा कोई कार्य नहीं है, जैसा दूसरे स्त्रीका सेवन करना है (अत एव उसका सर्वथा त्याग करना चाहिये) ॥ १३४ ॥

यस्मादीदृशमनायुष्यमिह लोके पुरुषस्य न किञ्चिदस्ति, यादृशं परदारगमनम्। तस्मादेतन्न कर्तव्यम् ॥ १३४ ॥

क्षत्रियं चैव सर्पं च ब्राह्मणं च बहुश्रुतम्।
नावमन्येत वै भूष्णुः कृशानपि कदाचन ॥ १३५ ॥

(धन-गौ आदि सम्पत्तिसे) बढ़नेवाला मनुष्य क्षत्रिय, सर्प और बहुश्रुत ब्राह्मण ये यदि दुर्बल हों तो भी इनका अपमान न करे ॥ १३५ ॥

वृद्ध्यर्थं भूधातुः। भूष्णुर्वर्धिष्णुः धनगवादिना वर्धनशीलः क्षत्रियं सर्पं बहुश्रुतं च ब्राह्मणं नावजानीयात्। कृशानपि तत्काले प्रतीकाराक्षमान् ॥ १३५ ॥

एतत्त्रयं हि पुरुषं निर्दहेदवमानितम्।
तस्मादेतत्त्रयं नित्यं नावमन्येत बुद्धिमान्॥ १३६॥

अपमानित ये तीनों (क्षत्रिय, सांप और ब्राह्मण) अपमान करनेवाले पुरुषको भस्म कर देते हैं, अतः बुद्धिमान् मनुष्य इनका अपमान कदापि न करे॥ १३६॥

एतत्त्रयमवमानितं सदवमन्तारं विनाशयति। क्षत्रियसर्पौ दृष्टशक्त्या ब्राह्मणश्चाभिचारादिनाऽदृष्टेन। तस्मात्कल्याणबुद्धिरेतत्त्रयं सर्वदा नावजानीयात्॥ १३६॥

नात्मानमवमन्येत पूर्वाभिरसमृद्धिभिः।
आमृत्योः श्रियमन्विच्छेन्नैनां मन्येत दुर्लभाम्॥ १३७॥

पहले (उद्योग करने पर भी) समृद्धि न होने पर ('मैं मन्दभाग्य या अभागा हूँ', इत्यादि प्रकारसे) अपना अपमान न करे, किन्तु मरने तक लक्ष्मीको चाहे (उन्नतिके लिये उद्योग करता ही रहे), और इसे (समृद्धि—संपत्तिको) दुर्लभ कभी न समझे॥ १३७॥

प्रथमं धनार्थमुद्यमे कृते तत्र धनानामसम्पत्तिभिर्मन्दभाग्योऽहमिति नात्मानमवजानीयात्। किन्तु मरणपर्यन्तं श्रीसिद्ध्यर्थमुद्यमं कुर्यात्। न त्विमां दुर्लभां बुध्येत्॥ १३७॥

सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः॥ १३८॥

सत्य (जैसा देखा है वैसा) बोले, प्रिय ('तुम्हें पुत्र हुआ है, तुम परीक्षा में उत्तीर्ण हो गये इत्यादि' प्रीतिजनक वचन) बोले, सत्य भी अप्रिय (जैसे—'तुम्हारा पुत्र मर गया, तुम फेल हो गये' इत्यादि दुःखजनक वचन) न बोले और प्रिय भी असत्य (वचन) न बोले; यही सनातन (वेदमूलक होनेसे अनादि कालसे चला आता हुआ) धर्म है॥ १३८॥

यथादृष्टश्रुतं तत्त्वं ब्रूयात। तथा प्रीतिसाधनं ब्रूयात्पुत्रस्ते जात इति। यथा दृष्टश्रुतमप्यप्रियं पुत्रस्ते मृत इत्यादि न वदेत्। प्रियमपि मिथ्या न वदेत्। एष वेदमूलतया नित्यो धर्मः॥ १३८॥

भद्रं भद्रमिति ब्रूयाद्भद्रमित्येव वा वदेत्।
शुष्कवैरं विवादं च न कुर्यात्केनचित्सह॥ १३९॥

(दूसरेके किये हुए किसी) बुरे या बिगड़े हुए कार्यको 'अच्छा कहे, या 'अच्छा है' ऐसा सामान्यतः कहे, बिना मतलब किसीके साथ विरोध या झगड़ा न करे॥ १३९॥

प्रथमं भद्रपदमभद्रपदपरम्, द्वितीयं भद्रशब्दपर्यायपरम्। अभद्रं यत्तद्भद्रशब्दपर्यायपरप्रशस्तादिशब्देन प्रब्रूयात्। तथा चापस्तम्बः—"नाभद्रमभद्रं ब्रूयात्पुण्यं प्रशस्तमिति ब्रूयाद्भद्रमित्येव" इति। भद्रपदमेव वा तत्र योज्यम्। शुष्कं निष्प्रयोजनं वैरं विवादं न केनचित्सह कुर्यात्॥ १३९॥

नातिकल्यं नातिसायं नातिमध्यन्दिने स्थिते।
नाज्ञातेन समं गच्छेन्नैको न वृषलैः सह॥ १४०॥

बहुत सवेरे, बहुत शाम होने पर और बहुत दोपहरी होनेपर अज्ञात (कुलशीलवाले) पुरुष तथा शूद्रोंके साथ अकेला न जावे॥ १४०॥

उषःसमये प्रदोषे च दिवा सम्पूर्णप्रहरद्वये च अज्ञातकुलशीलेन पुरुषेण शूद्रैश्च सह न

गच्छेत्। "नैकः प्रपद्येताध्वानम्" (म. स्मृ. ४-६०) इत्युक्ते प्रतिषेधेऽपि पुनर्नैक इति प्रतिषेधः स्नातकव्रतलोपप्रायश्चित्तगौरवार्थः ॥ १४० ॥

हीनाङ्गानतिरिक्ताङ्गान्विद्याहीनान्वयोऽधिकान्।
रूपद्रव्यविहीनांश्च जातिहीनांश्च नाक्षिपेत् ॥ १४१ ॥

हीन (कम या अत्यंत छोटे) अङ्गवाले (यथा—लङ्गड़ा, लूला, वामन आदि), अधिक अङ्गवाले यथा—छांगुर आदि), मूर्ख, बहुत अधिक उम्रवाले, कुरूप, निर्धन और नीच जातिवालोंकी निन्दा न करे (लंगड़ा, काना, इत्यादि शब्दको उनके प्रति व्यवहारमें न लावे) ॥ १४१ ॥

हीनाङ्गाधिकाङ्गमूर्खवृद्धकुरूपार्थहीनहीनजातीन्काणशब्दाह्वानादिना न निन्देत् ॥१४१॥

न स्पृशेत्पाणिनोच्छिष्टो विप्रो गोब्राह्मणानलान्।
न चापि पश्येदशुचिः सुस्थो ज्योतिर्गणान्दिवा ॥ १४२ ॥

उच्छिष्ट मुख (जूठे मुंह) रहकर (तथा मलमूत्र त्यागकर) गौ, ब्राह्मण और अग्निका हाथसे न स्पर्श करे और अपवित्र रहते हुए स्वस्थावस्थामें आकाशमें सूर्य, चन्द्र, ग्रह, तारा आदि को न देखे ॥ १४२ ॥

कृतभोजनः कृतमूत्रपुरीषादिश्चाकृतशौचाचमनो ब्राह्मणो हस्तादिना गोब्राह्मणाग्नीन्न स्पृशेत्। न चाशुचिः सन्नातुरो दिविस्थान्सूर्यचन्द्रग्रहादिज्योतिर्गणान् पश्येत् ॥ १४२ ॥

स्पृष्ट्वैतानशुचिर्नित्यमद्भिः प्राणानुपस्पृशेत्।
गात्राणि चैव सर्वाणि नाभिं पाणितलेन तु ॥ १४३ ॥

अशुद्ध (जूठे मुंह रहकर तथा मल-मूत्र त्यागकर) इन (गौ, ब्राह्मण और अग्नि) का हाथसे स्पर्शकर पाणितल (तलहथी) पर पानी रखकर उससे प्राणों नेत्रादि इन्द्रियों (शिर, कन्धा, घुटना, चरणों) एवं सब सम्पूर्ण शरीर और नाभिका स्पर्श करे ॥ १४३ ॥

एतान्गवादीनशुचिः सन्स्पृष्ट्वा कृताचमनः पाणिना गृहीताभिरद्भिः प्राणांश्चक्षुरादीनीन्द्रियाणि शिरः स्कन्धजानुपादान्नाभिं च स्पृशेत। अप्रकरणे चेदं प्रायश्चित्ताभिधानं लाघवार्थं तत्र प्रकरणे गवादिग्रहणमपि कर्तव्यं स्यात् ॥ १४३ ॥

अनातुरः स्वानि खानि न स्पृशेदनिमित्ततः।
रोमाणि च रहस्यानि सर्वाण्येव विवर्जयेत् ॥ १४४ ॥

स्वस्थ रहते हुए बिना कारण इन्द्रियों तथा गुप्त रोमों (कक्ष या उपस्थादिके बालों) का स्पर्श न करे ॥ १४४ ॥

अनातुरः सन् स्वानि खानीन्द्रियच्छिद्राणि, रोमाणि च गोप्यान्युपस्थकक्षादिगतानि निर्निमित्तं न स्पृशेत् ॥ १४४ ॥

मङ्गलाचारयुक्तः स्यात्प्रयतात्मा जितेन्द्रियः।
जपेच्च जुहुयाच्चैव नित्यमग्निमतन्द्रितः ॥ १४५ ॥

मङ्गल (गोरोचनादि मङ्गल द्रव्य-विशेष) तथा आचार (गुरुसेवा आदि) से युक्त, बाहर (मिट्टी जलादिसे)—भीतर (राग-द्वेषादि-त्यागसे) शुद्ध, जितेन्द्रिय और निरालस होकर सर्वदा (गायत्रीका) जप करे तथा हवन करे ॥ १४५ ॥

अभिप्रेतार्थसिद्धिर्मङ्गलं तद्धेतुत्वेन गोरोचनादिधारणमपि मङ्गलम्। गुरुसेवादिकमाचारस्तत्रोद्युक्तः स्यात्। बाह्याभ्यन्तरशौचोपेतो जितेन्द्रियश्च भवेत्। गायत्र्यादिजपं विहितहोमं च नित्यं कुर्यात्। अतन्द्रितोऽनलसः। अत्राचारादीनामुक्तानामपि विनिपातनिवृत्त्यर्थत्वात्पुनरभिधानम् ॥ १४५ ॥

अत आह—

मङ्गलाचारयुक्तानां नित्यं च प्रयतात्मनाम्।
जपतां जुह्वतां चैव विनिपातो न विद्यते ॥ १४६ ॥

मंगल द्रव्य और आचारसे युक्त, नित्य बाहरी-भीतरी शुद्धि रखनेवाले, (गायत्रीका) जप तथा हवन करते हुए द्विज का विनिपात (दैवकृत या मनुष्यकृत उपद्रव) नहीं होता है ॥ १४६ ॥

मङ्गलाचाराभ्यां युक्तानां नित्यं शुचीनां जपहोमरतानां दैवमानुषोपद्रवो न जायते ॥१४६॥

वेदमेवाभ्यसेन्नित्यं यथाकालमतन्द्रितः।
तं ह्यस्याहुः परं धर्ममुपधर्मोऽन्य उच्यते ॥ १४७ ॥

निरालस होकर यथा समय (मङ्गलकारक होनेसे नित्यकृत्यके समय) सर्वदा वेदका ही अभ्यास (गायत्री का जप) करे। मनु आदि आचार्यों ने उसी (गायत्रीके जप) को श्रेष्ठ धर्म कहा है और दूसरे को उपधर्म कहा है ॥ १४७ ॥

नित्यकृत्यावसरे श्रेयोहेतुतया प्रणवगायत्र्यादिकं वेदमेवानलसो जपेत्। यस्मात्तं ब्राह्मणस्य श्रेष्ठं धर्मं मन्वादयो वदन्ति। अन्यः पुनस्ततोऽपकृष्टो धर्मो मुनिभिरुच्यते। उक्तस्यैव वेदाभ्यासादेः पूर्वजातिस्मरणद्वारेण मोक्षहेतुत्वं वदितुं पुनरभिधानम् ॥ १४७ ॥

वेदाभ्यासेन सततं शौचेन तपसैव च।
अद्रोहेण च भूतानां जातिं स्मरति पौर्विकीम् ॥ १४८ ॥

(मनुष्य) निरन्तर वेदाभ्यास (गायत्री जप), पवित्रता, तपस्या और प्राणियोंके साथ द्रोह का अभाव (हिंसादिसे उन्हें दुःखित न करने) से पूर्व जाति का स्मरण करता है (उसे पूर्वजन्मकी बातें स्मरण होती हैं) ॥ १४८ ॥

सततवेदाभ्यासशौचतपोऽहिंसाभिः पूर्वभवस्य जातिं स्मरति ॥ १४८ ॥

ततः किमत आह—

पौर्विकीं संस्मरञ्जातिं ब्रह्मैवाभ्यसते पुनः।
ब्रह्माभ्यासेन चाजस्रमनन्तं सुखमश्नुते ॥ १४९ ॥

(इससे वह) पूर्वजाति का स्मरण करता हुआ, (जन्मजन्य जरामरणादि विविध क्लेशोंका स्मरण करता हुआ उससे छुटकारा पानेके लिये) फिर ब्रह्मका ही (श्रवण, मनन और ध्यानके द्वारा) निरन्तर अभ्यास करता है और ब्रह्माभ्याससे परमानन्दकी प्राप्तिरूप अनन्त सुख (मोक्ष) को प्राप्त करता है ॥ १४९ ॥

पूर्वजातिं स्मरन्। जातिमित्येकत्वमनाकाङ्क्षितत्वादविवक्षितम्। बहूनि जन्मानि स्मरंस्तेषु च गर्भजन्यजरामरणदुःखान्यपि स्मरन्संसारे विरज्यन्ब्रह्मैवाजस्रमभ्यस्यति श्रवणमनननध्यानैः साक्षात्करोति, तेन चानन्तमविनाशि परमानन्दाविर्भावलक्षणं मोक्षसुखं प्राप्नोति ॥ १४९ ॥

सावित्राञ्छान्तिहोमांश्च कुर्यात्पर्वसु नित्यशः।
पितॄंश्चैवाष्टकास्वर्चेन्नित्यमन्वष्टकासु च ॥ १५० ॥

पर्वों (अष्टमी तथा पूर्णिमादि तिथियों) में सर्वदा सावित्रीदेवताक (सावित्री है देवता जिसका ऐसा) (तथा अनिष्ट निवृत्तिके लिये) शान्ति हवनों को करे। अग्रहणके बाद कृष्णपक्ष की तीन अष्टमी तिथियोंमें अष्टकाख्य तथा उनके बादवाली नवमी तिथियोंमें अन्वष्टकाख्य श्राद्ध कर्मसे (स्वर्गगत) पितरों का अर्चन करे ॥ १५० ॥

सावित्रीदेवताकान्होमाननिष्टनिवृत्त्यर्थं च शान्तिहोमान्पौर्णमास्यमावास्ययोः सर्वदा कुर्यात्। तथा आग्रहायण्या ऊर्ध्वं कृष्णाष्टमीषु तिसृषु चाष्टकाख्येन कर्मणा श्राद्धेन च तदनन्तरितकृष्णनवमीषु चान्वष्टकाख्येन परलोकगतान् पितॄन्यजेत् ॥ १५० ॥

दूरादावसथान्मूत्रं दूरात्पादावसेचनम्।
उच्छिष्टान्ननिषेकञ्च दूरादेव समाचरेत् ॥ १५१ ॥

अग्निगृह अर्थात् अग्निहोत्रशालासे (नैर्ऋत्य दिशामें छोड़ा हुआ बाण जहां तक जाय उतनी) दूर पर मूत्र (और मलका त्याग) करे, पाद प्रक्षालन करे, जूठे अन्न (पत्तल आदि) को फेंके तथा वीर्य त्याग करे ॥ १५१ ॥

"नैर्ऋत्यामिषुविक्षेपमतीत्याभ्यधिकं भुवः।" [३।११।८॥]

इति विष्णुपुराणवचनादेवंविधादग्निगृहस्य दूरान्मूत्रपुरीषपादप्रक्षालनसकलोच्छिष्टान्नानि, निषिच्यत इति निषेकं रेतश्चोत्सृजेत् ॥ १५१ ॥

मैत्रं प्रसाधनं स्नानं दन्तधावनमञ्जनम्।
पूर्वाह्ण एव कुर्वीत देवतानां च पूजनम् ॥ १५२ ॥

मलत्याग, शरीर-संस्कार (शृङ्गार), स्नान, दतुवन, अञ्जन और देवताओं का पूजन पूर्वाह्णमें ही करे ॥ १५२ ॥

मित्रदेवताकत्वान्मैत्रः पायुस्तद्भवत्वान्मैत्रं पुरीषोत्सर्गम्। तथा देहप्रसाधनं प्रातःस्नानदन्तधावनाञ्जनदेवार्चनादि पूर्वाह्ण एव कुर्यात्। पूर्वाह्णशब्देन रात्रिशेषदिनपूर्वभागाविह विवक्षितौ। पदार्थमात्रविधिपरत्वाच्चास्य पाठक्रमोऽपि नादरणीयः। न हि स्नानानन्तरं दन्तधावनम् ॥ १५२ ॥

दैवतान्यभिगच्छेत्तु धार्मिकांश्च द्विजोत्तमान्।
ईश्वरं चैव रक्षार्थं गुरूनेव च पर्वसु ॥ १५३ ॥

पर्वों (अमावस्या पूर्णिमा आदि तिथियों) में अपनी रक्षाके लिए देवप्रतिमा, धार्मिक, श्रेष्ठ ब्राह्मण, राजा और गुरु (पिता-आचार्यादि गुरुजन) के दर्शन के लिये जाया करे ॥ १५३ ॥

पाषाणादिमयानि धर्मप्रधानांश्च ब्राह्मणांस्त्राणार्थं राजादिकं गुरूंश्च पित्रादीनमावास्यादिपर्वसु द्रष्टुमभिमुखो गच्छेत् ॥ १५३ ॥

अभिवादयेद् वृद्धांश्च दद्याच्चैवासनं स्वकम्।
कृताञ्जलिरुपासीत गच्छतः पृष्ठतोऽन्वियात् ॥ १५४ ॥

(गृह पर आये हुए) बड़े-बूढ़े लोगों का अभिवादन करे, अपना आसन उनको (बैठनेके लिये) दे, हाथ जोड़कर उनके सामने बैठे और उनके लौटनेके समय (कुछ दूरतक) पीछे-पीछे जावे ॥ १५४ ॥

गृहागतान्गुरूनभिवादयेत्तेषां च स्वीयमासनमुपवेष्टुं च दद्यात्। बद्धाञ्जलिश्च गुरुसमीपे आसीत। गच्छतश्च पृष्ठदेशेऽनुगच्छेत्। उक्तोऽप्ययमभिवादनाद्याचारः फलाभिधानाय पुनरुच्यते ॥ १५४ ॥

श्रुतिस्मृत्युदितं सम्यङ् निबद्धं स्वेषु कर्मसु ।
धर्ममूलं निषेवेत सदाचारमतन्द्रितः ॥ १५५ ॥

वेदों तथा स्मृतियोंमें सम्यक् प्रकारसे कहे हुए, अपने कर्मोंमें धर्ममूलक आचारका सर्वदा निरालस होकर पालन करे ॥ १५५ ॥

वेदस्मृतिभ्यां सम्यगुक्तं स्वेषु कर्मस्वध्ययनादिष्वङ्गत्वेन सम्बद्धं धर्मस्य हेतुं साधूनामाचारमनलसः सन्नितान्तं सेवेतेति सामान्येनाचारानुष्ठानोपदेशः फलकथनाय ॥ १५५ ॥

आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः ।
आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम् ॥ १५६ ॥

(मनुष्य) आचारसे (वेदोक्त दीर्घ) आयुको प्राप्त करता है, आचारसे अभिलषित सन्तान (पुत्र-पौत्रादि) को प्राप्त करता है, आचारसे क्षय रहित (अत्यधिक) धनको प्राप्त करता है और आचार (शरीर आदिके) अनिष्ट लक्षणको नष्ट कर देता है ॥ १५६ ॥

आचाराद्वेदोक्तमायुर्लभते, अभिमताश्च प्रजाः पुत्रपौत्रदुहित्रात्मिकाः, प्रभूतं च धनम् , अशुभफलसूचकं च देहस्थमलक्षणमाचारो निष्फलयति, आचाराख्यधर्मेणालक्षणसूचितारिष्टनाशात् ॥ १५६ ॥

दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः ।
दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च ॥ १५७ ॥

दुराचारी पुरुष संसार में निन्दित, सर्वदा दुःखभागी, रोगी और अल्पायु होता है ॥ १५७ ॥

यस्माद् दुराचारः पुरुषो लोके गर्हितः स्यात्सर्वदा दुःखान्वितो रोगवानल्पायुश्च भवति, तस्मात्सदाचारयुक्तः स्यात् ॥ १५७ ॥

सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान्नरः ।
श्रद्दधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति ॥ १५८ ॥

सब लक्षणोंसे हीन भी जो मनुष्य सदाचारी, श्रद्धालु और असूया (दूसरेके दोष के कहने) से रहित है; वह सौ वर्ष तक जीता है ॥ १५८ ॥

यः सदाचारवाञ्श्रद्धान्वितः परदोषानभिधाता स शुभसूचकलक्षणशून्योऽपि शतायुर्भवति ॥ १५८ ॥

यद्यत्परवशं कर्म तत्तद्यत्नेन वर्जयेत् ।
यद्यदात्मवशं तु स्यात्तत्तत्सेवेत यत्नतः ॥ १५९ ॥

जो-जो पराधीन (धनादिसे साध्य) कार्य है, उसका यत्नपूर्वक त्याग करे और जो-जो स्वाधीन (अपने शरीर आदि से साध्य) कार्य है, उसे यत्नपूर्वक करे ॥ १५९ ॥

यद्यत्कर्म पराधीनं परप्रार्थनाऽऽदिसाध्यं तत्तद्यत्नतो वर्जयेत्। यद्यत्स्वाधीनदेहव्यापारसाध्यं परमात्मप्रहादि तत्तद्यत्नतोऽनुतिष्ठेत् ॥ १५९ ॥

अत्र हेतुमाह—

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् ।
एतद्विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥ १६० ॥

पराधीन सब कार्य दुःखका और स्वाधीन सब कार्य सुखका कारण है, संक्षेपसे इसे सुख-दुःखका लक्षण जाने ॥ १६० ॥

सर्वं परप्रार्थनाऽऽदिसाध्यं दुःखहेतुः। सर्वमात्माधीनं सुखहेतुः। एतत्सुखदुःखयोः कारणं जानीयात् ॥ १६० ॥

यत्कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात्परितोषोऽन्तरात्मनः।
तत्प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीतं तु वर्जयेत् ॥ १६१ ॥

जिस कार्यके करते रहनेसे अन्तरात्मा प्रसन्न हो, उस कार्य को प्रयत्नपूर्वक करे और उसके विरुद्ध कार्यका त्याग कर दे ॥ १६१ ॥

यत्कर्म कुर्वतोऽस्यानुष्ठातुः पुरुषस्यान्तरात्मनस्तुष्टिः स्यात्तत्प्रयत्नतोऽनुष्ठेयम्। अतुष्टिकरं वर्जयेत्। एतच्चाविहितानिषिद्धगोचरं वैकल्पिकविषयं च ॥ १६१ ॥

आचार्यं च प्रवक्तारं पितरं मातरं गुरुम्।
न हिंस्याद् ब्राह्मणान्गाश्च सर्वांश्चैव तपस्विनः ॥ १६२ ॥

आचार्य (२।१४०), वेदादिका व्याख्यानकर्ता, पिता, माता, गुरु (२।१४२), ब्राह्मण, गौ, और सब (प्रकारके) तपस्वी; इनकी हिंसा (इनके प्रतिकूल आचरण) न करे ॥ १६२ ॥

आचार्यमुपनयनपूर्वकवेदाध्यापकम्, प्रवक्तारं वेदार्थव्याख्यातारम्, गुरुम् "अल्पं वा बहु वा यस्य" (म. स्मृ. २-१४९) इत्युक्तम्। आचार्यादींस्तु न हिंस्यात्। प्रतिकूलाचरणेऽत्र हिंसाशब्दः। गोविन्दराजस्तु सामान्येन हिंसानिषेधादाततायिनोऽप्येतान्न हिंस्यादिति व्याख्यातवांस्तदयुक्तम्, "गुरुं वा बालवृद्धौ वा" (म. स्मृ. ८-३५७) इत्यनेन विरोधात् ॥

नास्तिक्यं वेदनिन्दां च देवतानां च कुत्सनम्।
द्वेषं दम्भं च मानं च क्रोधं तैक्ष्ण्यं च वर्जयेत् ॥ १६३ ॥

नास्तिकता (ईश्वर-परलोकादि न मानना), वेदनिन्दा, देवनिन्दा, द्वेष, दम्भ, अभिमान, क्रोध और क्रूरता का त्याग करे ॥ १६३ ॥

नास्ति परलोक इति बुद्धिम्, वेदस्य देवतानां च निन्दाम्, मात्सर्यम्, धर्मानुत्साहाभिमानकोपक्रौर्याणि त्यजेत् ॥ १६३ ॥

परस्य दण्डं नोद्यच्छेत्क्रुद्धो नैव निपातयेत्।
अन्यत्र पुत्राच्छिष्याद्वा शिष्ट्यर्थं ताडयेत्तु तौ ॥ १६४ ॥

दूसरेके ऊपर दण्डा न उठावे तथा क्रोधकर दण्डेसे न मारे और पुत्र तथा शिष्य (और भार्या तथा दास आदि) को शिक्षा देनेके लिये ('रज्ज्वा वेणुदलेन वा' (८।२९९) के अनुसार) ताडन करे ॥ १६४ ॥

परस्य हननार्थं क्रुद्धः सन्दण्डादि नोत्क्षिपेत्। न च परगात्रे निपातयेत्पुत्रशिष्यभार्यादासादेरन्यत्र। कृतापराधानेताननुशासनार्थं "रज्ज्वा वेणुदलेन वा" (म. स्मृ. ८-२९९) इत्यादिवक्ष्यमाणप्रकारेण ताडयेत् ॥ १६४ ॥

ब्राह्मणायावगुर्यैव द्विजातिर्वधकाम्यया।
शतं वर्षाणि तामिस्रे नरके परिवर्तते ॥ १६५ ॥

द्विजाति (भी) ब्राह्मणको मारनेके लिये केवल दण्डे को उठाकर (बिना उसे मारे) ही सौ वर्ष तक तामिस्र आदि नरकोंमें घूमता रहता है ॥ १६५ ॥

द्विजातिरपि ब्राह्मणस्य हननार्थं दण्डादिकमुद्यम्यैव न तु निपात्य वर्षशतं तामिस्रादिनरके परिभ्रमति ॥ १६५ ॥

ताडयित्वा तृणेनापि संरम्भान्मतिपूर्वकम् ।
एकविंशतिमाजातीः पापयोनिषु जायते ॥ १६६ ॥

क्रोधसे बुद्धिपूर्वक तृणसे भी ब्राह्मण का ताडन कर इक्कीस जन्म तक (ताडनकर्ता द्विजाति भी) पापयोनियों (कुत्ते-बिल्ली आदि की योनियों) में उत्पन्न होता है ॥ १६६ ॥

तृणेनापि क्रोधाद् बुद्धिपूर्वकं ब्राह्मणं ताडयित्वा एकविंशतिजन्मानि पापयोनिषु कुक्कुरादियोनिषु जायते ॥ १६६ ॥

अयुध्यमानस्योत्पाद्य ब्राह्मणस्यासृगङ्गतः ।
दुःखं सुमहदाप्नोति प्रेत्याप्राज्ञतया नरः ॥ १६७ ॥

शास्त्राज्ञानके कारण मनुष्य युद्ध नहीं करनेवाले ब्राह्मणके शरीरसे (दण्डताडनादि द्वारा) रक्त गिराकर मरने पर बहुत भारी दुःख पाता है ॥ १६७ ॥

अयुध्यमानस्य ब्राह्मणस्याङ्गे शास्त्रानभिज्ञतया शोणितमुत्पाद्य परलोके महद् दुःखमाप्नोति ॥ १६७ ॥

शोणितं यावतः पांसून्संगृह्णाति महीतलात् ।
तावतोऽब्दानमुत्रान्यैः शोणितोत्पादकोऽद्यते ॥ १६८ ॥

(दण्ड या खड्ग आदि शस्त्रसे क्षत होनेके कारण) ब्राह्मणके शरीरसे निकला हुआ रक्त पृथ्वी परसे जितने धूलि (के कण—द्व्यणुक) को ग्रहण करता है, रक्त बहानेवाले उस व्यक्ति को उतने वर्षों तक दूसरे (शृगाल, कुत्ता, गीध आदि) खाते हैं—॥ १६८ ॥

खड्गादिहतब्राह्मणाङ्गनिर्गतं रुधिरं भूमिपतितं यावतो धूलिद्व्यणुकान्पिण्डीकरोति तावत्संख्यानि वर्षाणि परलोके शोणितोत्पादकः प्रहर्ता अन्यैः श्वसृगालादिभिर्भक्ष्यते ॥ १६८ ॥

न कदाचिद् द्विजे तस्माद्विद्वानवगुरेदपि ।
न ताडयेत्तृणेनापि न गात्रात्स्रावयेदसृक् ॥ १६९ ॥

—इस कारण विद्वान् मनुष्य ब्राह्मणके ऊपर दण्डा आदि कभी न उठावे, न उसका तृणसे भी ताडन करे और न उसके शरीरसे (शस्त्र-प्रहारादि द्वारा) रक्त बहावे ॥ १६९ ॥

तस्मादवगोरणादिदोषाभिज्ञो ब्राह्मणे दण्डाद्युद्यमननिपातरुधिरस्रवणानि नापद्यपि कुर्यादिति पूर्वोक्तक्रियात्रयस्योपसंहारः ॥ १६९ ॥

अधार्मिको नरो यो हि यस्य चाप्यनृतं धनम् ।
हिंसारतश्च यो नित्यं नेहासौ सुखमेधते ॥ १७० ॥

जो अधार्मिक (शास्त्रविरुद्ध आचरण करनेवाला) है, जिसका झूठ बोलना ही धन है (जो झूठी गवाही देकर पैसा या घूस लेता हैं) और परपीडनमें संलग्न है; वह मनुष्य इस लोकमें सुखी होकर उन्नति नहीं करता है ॥ १७० ॥

अधर्मेण व्यवहरतीत्यधार्मिकः शास्त्रप्रतिषिद्धागम्यागमनाद्यनुष्ठाता यो मानुषो, यस्य च साक्ष्ये व्यवहारनिर्णयादौ च मिथ्याऽभिधानमेव धनोपायोऽसत्यमभिधायोत्कोचधनं गृह्णाति, यश्च परहिंसाऽभिरतः, नासाविह लोके सुखयुक्तो वर्तते । तस्मादेतन्न कर्तव्यमिति निन्दया निषेधः कल्प्यते ॥ १७० ॥

न सीदन्नपि धर्मेण मनोऽधर्मे निवेशयेत्।
अधार्मिकाणां पापानामाशु पश्यन्विपर्ययम् ॥ १७१ ॥

अधार्मिक पापियोंके (धन-धान्यादि समृद्धिका) शीघ्र ही विपर्यय (उलटा विनाश) देखता हुआ मनुष्य धर्म के कारण दुःखित होता हुआ भी अधर्म में बुद्धिको कभी भी नहीं लगावे ॥१७१॥

शास्त्रविहितधर्ममनुतिष्ठन्धनाद्यभावेनावसीदन्नपि कदाचिन्नाधर्मे बुद्धिं कुर्यात्। यस्मादधर्मव्यवहारिणो यद्यप्यापाततो धनादिसम्पद्भागिनोऽपि दृश्यन्ते तथापि तेषामधार्मिकाणामधर्मचौरादिव्यवहारिणां पापिनां तज्जनितदुरितशालिनां शीघ्रं धनादिविपर्ययोऽपि दृश्यते। तं पश्यन्नाधर्मे धियं दद्यादिति शिष्यहिताय दृष्टमर्थं दर्शितवान् ॥ १७१ ॥

नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव।
शनैरावर्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति ॥ १७२ ॥

किया हुआ अधर्म भूमि या गौ के समान तत्काल फल नहीं देता है, किन्तु धीरे-धीरे फलोन्मुख होता हुआ (वह अधर्म) कर्ताकी जड़को ही काट देता है ॥ १७२ ॥

शास्त्रेणानियमितकालपरिपाकत्वाच्छुभाशुभकर्मणां नाधर्मोऽनुतिष्ठतः तत्काल एव फलति। गौरिवेह भूमिपक्षे साधर्म्यदृष्टान्तः। यथा भूमिरुप्तबीजमात्रा तदैव प्रचुरपचेलिमफलव्रीहिस्तबकसंवलिता न भवति किंतु नियमफलपाकसमयमासाद्य। पशुपक्षे वैधर्म्यदृष्टान्तः। यथा गौः पशुर्वाहदोहाभ्यां सद्यः फलति नैवमधर्मः, किंतु क्रमेणावर्तमानः फलोन्मुखीभवन्नधर्मकर्तुर्मूलानि छिनत्ति। मूलच्छेदेन सर्वनाशो लक्ष्यते। देहधनाद्यन्वितो नश्यति ॥ १७२ ॥

यदि नात्मनि पुत्रेषु न चेत्पुत्रेषु नप्तृषु।
न त्वेव तु कृतोऽधर्मः कर्तुर्भवति निष्फलः ॥ १७३ ॥

यदि अधर्मका फल स्वयं (अधर्म करनेवालेको) नहीं मिलता, तो पुत्रोंको मिलता है और यदि उसके पुत्रोंको नहीं मिलता तो पौत्रोंको अवश्य मिलता है; क्योंकि किया गया अधर्म कभी निष्फल नहीं होता है ॥ १७३ ॥

यदि स्वयं कर्तुर्देहधनादिनाशं फलं न जनयति, तदा तत्पुत्रेषु, नोचेत्पौत्रेषु जनयति, न तु निष्फल एव भवति।

ननु अन्यकृतस्य कर्मणः कथमन्यत्र फलजनकत्वम्? उच्यते, पुत्रादिनाशस्य पितुः क्लेशहेतुत्वाच्छास्त्रीयत्वाच्चास्यार्थस्य नाविश्वासः ॥ १७३ ॥

अधर्मेणैधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति।
ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति ॥ १७४ ॥

मनुष्य अधर्मकर (दूसरेसे वैर बांधकर, झूठी गवाही आदि देकर) पहले उन्नति करता है, बाद कल्याण (बान्धव, भृत्य, धन-धान्यादिका सुख) देखता है फिर शत्रुओं पर विजय पाता है और (कुछ समयके बाद ही) समूल (बान्धव, भृत्य और धन-धान्यादिके सहित) नष्ट हो जाता है ॥ १७४ ॥

अधर्मेण परद्रोहादिना तावदापाततो ग्रामधनादिना वर्धते। ततो भद्राणि बहुभृत्यगवाश्वादीनि लभते। ततः शत्रून्स्वस्मादपकृष्टाञ्जयति। पश्चात्कियता कालेनाधर्मपरिपाकवशाद्देहधनतनयादिसहितो विनश्यति ॥ १७४ ॥

सत्यधर्मार्यवृत्तेषु शौचे चैवारमेत्सदा।
शिष्यांश्च शिष्याद्धर्मेण वाग्बाहूदरसंयतः॥ १७५॥

सत्य, धर्म, सदाचार और पवित्रतासे सर्वदा अनुराग (श्रद्धा) करे तथा वचन, बाहु और उदर (पेट) के विषयमें संयत रहता हुआ शिष्यों (शासनके योग्य स्त्री, दास, पुत्रादि तथा छात्रों) का धर्मसे (८।२९९) शासन (दण्डित) करे॥ १७५॥

सत्यधर्मसदाचारशौचेषु सर्वदा रतिं कुर्यात्। शिष्यांश्चानुशासनीयान्भार्यापुत्रदासच्छात्रान् "रज्ज्वा वेणुदलेन वा" (म. स्मृ. ८-२९९) इति प्रकारेण शासयेत्। उक्तानामप्यभिधानादादरार्थं वाग्बाहूदरसंयतश्च स्यात्। वाक्संयमः सत्यभाषिता। बाहुसंयमो बाहुबलेन कस्याप्यपीडनम्। उदरसंयमो यथालब्धाल्पभोजनम्॥ १७५॥

परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ।
धर्मं चाप्यसुखोदर्कं लोकविक्रुष्टमेव च॥ १७६॥

जो अर्थ और काम धर्मविरुद्ध (अर्थ यथा—चोरी आदिके द्वारा धनसंग्रह करना। काम, यथा—दीक्षाके दिन यजमानका स्त्रीसंभोग करना आदि) हैं, उनका त्याग करे, भविष्यमें दुःख देनेवाले धर्मकार्य (यथा—स्त्रीपुत्रपौत्रादियुक्त पुरुषका सर्वस्वका दान देना आदि) का भी त्याग करे और लोकनिन्दित धर्मकार्य (यथा—कलियुगमें अष्टकादि श्राद्धमें गोवधादि या नियोग (९।५९-६१) द्वारा सन्तानोत्पादन आदि) का भी त्याग करे॥ १७६॥

यावर्थकामौ धर्मविरोधिनौ भवेतां तौ परिहरेत्। यथा चौर्यादिनाऽर्थोपपादनम्, दीक्षादिने यजमानस्य पत्न्युपगमः। उदर्क उत्तरकालस्तत्रासुखं यत्र धर्मे तं धर्ममपि परित्यजेत्। यथा पुत्रादिवर्गपाल्ययुक्तस्य सर्वस्वदानम्। लोकविक्रुष्टं यत्र लोकानां विक्रोशः, यथा कलौ मध्यमाष्टकादिषु गोवधादिः॥ १७६॥

न पाणिपादचपलो न नेत्रचपलोऽनृजुः।
न स्याद्वाक्चपलश्चैव न परद्रोहकर्मधीः॥ १७७॥

हस्तचपल (विना पूछे या कहे किसीकी कोई वस्तु लेना या चुराना), पादचपल (निष्प्रयोजन इधर-उधर घूमते रहना), नेत्रचपल (परस्त्री आदिको बुरी दृष्टिसे देखना), कुटिल, वाक्चपल (किसीकी निन्दा या व्यर्थ बकवाद करना) और दूसरोंके साथ द्रोह या हिंसाका विचार रखनेवाला न बने॥ १७७॥

पाण्यादिचापलं त्यजेत्। अनुपयुक्तवस्तूपादानादि पाणिचापलम्। निष्प्रयोजनं भ्रमणादि पादचापलम्। परस्त्रीप्रेक्षणादि नेत्रचापलम्। बहुगर्ह्यवादिता वाक्चापलम्। अनृजुः कुटिलो न स्यात्। परद्रोहो हिंसा तदर्थं चेष्टां च न कुर्यात्॥ १७७॥

येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः।
तेन यायात्सतां मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यते॥ १७८॥

(अनेक प्रकारके शास्त्रीय विकल्पों या अर्थोंके कारण संदेह उपस्थित होनेपर मनुष्य) जिस मार्गसे इसके पिता और पितामह (बाप-दादा) चले हैं, (उन अनेक विकल्प धर्मकार्योंमें-से जिस धर्मकार्यको किये हैं), उन्हीं सज्जनोंके मार्गसे चले; ऐसा करनेसे मनुष्य अधर्मसे हिंसित (पीड़ित) नहीं होता है (उस कार्यके धर्मानुकूल होनेसे वह मनुष्य दुःखित नहीं होता)॥ १७८॥

बहुविधशास्त्रार्थसम्भवे पितृपितामहाद्यनुष्ठित एव शास्त्रार्थोऽनुष्ठातव्यः। तेन गच्छन् न रिष्यते नाधर्मेण हिंस्यते ॥ १७८ ॥

ऋत्विक्पुरोहिताचार्यैर्मातुलातिथिसंश्रितैः ।
बालवृद्धातुरैर्वैद्यैर्ज्ञातिसम्बन्धिबान्धवैः ॥ १७९ ॥
मातापितृभ्यां जामीभिर्भ्रात्रा पुत्रेण भार्यया ।
दुहित्रा दासवर्गेण विवादं न समाचरेत् ॥ १८० ॥

ऋत्विक् (२।१४३), पुरोहित, आचार्य (२।१४०), मामा, अतिथि, आश्रित (भृत्यादि), बालक, वृद्ध, रोगी, वैद्य, जातिवाला, सम्बन्धी (जामाता, शाला आदि), बान्धव (मातृ-पक्षवाले)—॥ १७९ ॥

माता, पिता, जामि, (बहन, पुत्रवधू आदि कुलस्त्री), भाई, पुत्र, स्त्री, पुत्री, दास-समूहसे विवाद (वाक्कलह, बकवाद आदि) न करे ॥ १८० ॥

ऋत्विगादिभिर्वाक्कलहं न कुर्यात। शान्त्यादिकर्ता पुरोहितः। संश्रिता अनुजीविनः। ज्ञातयः पितृपक्षाः। सम्बन्धिनो जामातृश्यालकादयः। बान्धवा मातृपक्षाः। जामयो भगिनीस्नुषाद्याः ॥ १७९ ॥ १८० ॥

एतैर्विवादान्संत्यज्य सर्वपापैः प्रमुच्यते ।
एभिर्जितैश्च जयति सर्वाँल्लोकानिमान्गृही ॥ १८१ ॥

इन (४।१७९-१८०) के साथ विवाद करना छोड़कर मनुष्य सब (अज्ञात) पापोंसे छूट जाता है और इन (विवादों) को जीतकर (इन विवादोंको वशमें करके अर्थात् इनके साथ विवाद करना छोड़कर) गृहस्थ इन (४ १८२-१८४) सब लोकोंको प्राप्त करता है—॥ १८१ ॥

एतैर्ऋत्विगादिभिः सह विवादान्परित्यज्याज्ञातपापैः प्रमुच्यते। तथैतैर्विवादैरुपेक्षितैरिमान्वक्ष्यमाणान्सर्वलोकान्गृहस्थो जयति ॥ १८१ ॥

आचार्यो ब्रह्मलोकेशः प्राजापत्ये पिता प्रभुः ।
अतिथिस्त्विन्द्रलोकेशो देवलोकस्य चर्त्विजः ॥ १८२ ॥

आचार्य ब्रह्मलोकका, पिता प्रजापति लोकका, अतिथि इन्द्रलोकका, ऋत्विज देव-लोकका—॥ १८२ ॥

आचार्यो ब्रह्मलोकस्य प्रभुः, तेन सह विवादपरित्यागेन तत्संतुष्टया तु ब्रह्मलोकप्राप्तेर्गौणं ब्रह्मलोकेशत्वम्। एवं प्राजापत्यलोकेशः प्राजापत्ये पिता च प्रभुः। अतिथिरिन्द्रलोकेशः, देवलोकस्य च ऋत्विजः। एवमुत्तरत्रापि तत्तल्लोकेशत्वं बोद्धव्यम् ॥ १८२ ॥

जामयोऽप्सरसां लोके वैश्वदेवस्य बान्धवाः ।
सम्बन्धिनो ह्यपां लोके पृथिव्यां मातृमातुलौ ॥ १८३ ॥

जामि (बहन या पुत्रवधू आदि कुलस्त्री) अप्सरालोक का, बान्धव (मातृपक्षवाले) वैश्व-देवलोकका, सम्बन्धी वरुणलोकका और माता तथा मामा भूलोकका ॥ १८३ ॥

अप्सरसां लोके जामयः प्रभवन्ति, वैश्वदेवलोके बान्धवाः, वरुणलोके सम्बन्धिनः, भूर्लोके मातृमातुलौ ॥ १८३ ॥

आकाशेशास्तु विज्ञेया बालवृद्धकृशातुराः ।
भ्राता ज्येष्ठः समः पित्रा भार्या पुत्रः स्वका तनुः ॥ १८४ ॥

बालक, वृद्ध, दुर्बल और रोगी आकाशलोकके स्वामी हैं—(अतएव इन आचार्य आदि (४।१८२ से यहां तक वर्णित लोगों) के साथ वाक्कलह (बकवाद) नहीं करने पर वे लोग सन्तुष्ट होकर अपने-अपने लोकों (ब्रह्मलोक आदि) को देते हैं। बड़ा भाई पिताके समान है तथा स्त्री और पुत्र तो अपने शरीर ही हैं (अतः इनके साथ विवाद करना सर्वथा निन्द्य है)—॥१८४॥

कृशः कृशधनः। संश्रितो विवक्षितः। बालवृद्धसंश्रितातुरा अन्तरिक्षे प्रभवन्ति। भ्राता च ज्येष्ठः पितृतुल्यः तस्मात्सोऽपि प्रजापतिलोकप्रभुः, भार्यापुत्रौ च स्वशरीरमेव, अतः कथमात्मनैव सह विवादः सम्भवति॥ १८४॥

छाया स्वो दासवर्गश्च दुहिता कृपणं परम्।
तस्मादेतैरधिक्षिप्तः सहेतासंज्वरः सदा॥ १८५॥

दाससमूह अपनी छाया है, कन्या (पुत्री) अत्यन्त कृपापात्र है (अतः ये भी विवादके योग्य नहीं हैं)। इस कारण इनसे तिरस्कृत होकर भी सन्तापरहित होकर सर्वदा सहन करे, (किन्तु विवाद न करे)॥ १८५॥

स्वदासवर्गश्च नित्यानुगतत्वादात्मच्छायेव न विवादार्हः। दुहिता च परं कृपापात्रम्, तस्मादेतैरधिक्षिप्तः सन् असन्तापः सहेत, न तु विवदेत्॥ १८५॥

प्रतिग्रहसमर्थोऽपि प्रसङ्गं तत्र वर्जयेत्।
प्रतिग्रहेण ह्यस्याशु ब्राह्मं तेजः प्रशाम्यति॥ १८६॥

(विद्या तप आदिके कारण) दान लेनेमें समर्थ होता हुआ भी (यथाशक्य) उसके प्रसङ्गका त्याग करे (परिवारादिके पालन चलते रहनेपर भी बारबार लोभवश दान न लेवे); क्योंकि इस (दान लेनेवाले) का ब्रह्मतेज दान लेनेसे शीघ्र शान्त हो जाता है (दान लेनेसे ब्राह्मण तेजोहीन हो जाता है)॥ १८६॥

विद्यातपोवृत्तसंपन्नतया प्रतिग्रहेऽधिकार्यपि तत्र पुनः पुनः प्रवृत्तिं त्यजेत्। यस्मात्प्रतिग्रहेणास्य वेदाध्ययनादिनिमित्तप्रभावः शीघ्रमेव विनश्यति। यात्रामात्रप्रसिद्ध्यर्थमित्युक्तेऽपि सामान्येनार्जनसङ्कोचे विशेषेण प्रतिग्रहस्य ब्राह्मप्रभावप्रशमनफलत्वकथनार्थं वचनम्॥ १८६॥

न द्रव्याणामविज्ञाय विधिं धर्म्यं प्रतिग्रहे।
प्राज्ञः प्रतिग्रहं कुर्यादवसीदन्नपि क्षुधा॥ १८७॥

द्रव्योंके दान लेनेमें उनकी धर्मयुक्त विधि (ग्राह्य देवता, प्रतिग्रहमन्त्र आदि) को विना जाने भूखसे पीडित होता हुआ भी बुद्धिमान् ब्राह्मण दानको न ले (फिर आपत्ति से हीन रहनेपर तो कहना ही क्या? अर्थात् तब तो कदापि दान न ले)॥ १८७॥

द्रव्याणां प्रतिग्रहं धर्माय हितं विधानं ग्राह्यदेवताप्रतिग्रहमन्त्रादिकमज्ञात्वा क्षुधावसादं गच्छन्नपि प्राज्ञो न प्रतिगृह्णीयात्किं पुनरनापदि॥ १८७॥

हिरण्यं भूमिमश्वं गामन्नं वासस्तिलान्घृतम्।
प्रतिगृह्णन्नविद्वांस्तु भस्मीभवति दारुवत्॥ १८८॥

सुवर्ण, भूमि, घोड़ा, गौ, अन्न, वस्त्र, तिल और घीका दान लेता हुआ मूर्ख ब्राह्मण (अग्निसे) काष्ठके समान भस्म हो जाता है। (अतः सुवर्ण आदिका दान तो मूर्ख कभी न ले)॥ १८८॥

स्वर्णादीञ्श्रुतस्वाध्यायहीनः प्रतिगृह्णन्नग्निसंयोगेन दारुवद्भस्मीभूतो भवति, पुनरुत्पत्तिं न लभते॥ १८८॥

हिरण्यमायुरन्नं च भूर्गौश्चाप्योषतस्तनुम् ।
अश्वश्चक्षुस्त्वचं वासो घृतं तेजस्तिलाः प्रजाः ॥ १८९ ॥

दान लेनेवाले मूर्खकी सुवर्ण और अन्न आयुको, भूमि और गौ शरीरको, घोड़ा नेत्रको, वस्त्र त्वचा (चमड़े) को, घी तेजको और तिल संतानोंको भस्म कर देते हैं। (मूर्खद्वारा दानमें लिये हुए ये सुवर्ण आदि उस दान लेनेवाले मूर्खकी आयु आदिको भस्म अर्थात् नष्ट कर देते हैं) ॥१८९॥

अविदुषः प्रतिग्रहीतुर्भूर्गौश्च शरीरम् ओषतो दहतः। उष दाहे भौवादिकः, तस्येदं रूपम्। भूगोर्द्वित्वविवक्षायां द्विवचनम्। एवं हिरण्यमन्नं चायुरोषतः। अश्वश्चक्षुरित्यादिषु विभक्तिविपरिणामादोषतीत्येकवचनान्तस्यानुषङ्गः ॥ १८९ ॥

अतपास्त्वनधीयानः प्रतिग्रहरुचिर्द्विजः ।
अम्भस्यश्मप्लवेनेव सह तेनैव मज्जति ॥ १९० ॥

तप और विद्यासे हीन जो ब्राह्मण दान लेना चाहता है, वह उस (दान लेने या दान लेनेकी इच्छामात्र) के साथ उस प्रकार नरकमें डूबता है, जिस प्रकार पत्थरकी नाव (पर चढ़नेवाला मनुष्य उस) के साथ पानीमें डूब जाता है ॥ १९० ॥

यस्तपोविद्याशून्यः प्रतिग्रहेच्छुः ब्राह्मणो भवति, स प्रतिग्रहाविनाभावाद् बुद्धिस्थेन तेन इति परामृष्टेनैव दात्रैवानर्हप्रतिग्रहादानपापयुक्तेन सह नरके मज्जति। यथा पाषाणमयेनोडुपेनाम्भस्तरंस्तेनैव सहाम्भसि मग्नो भवति ॥ १९० ॥

तस्मादविद्वान्बिभियाद्यस्मात्तस्मात्प्रतिग्रहात् ।
स्वल्पकेनाप्यविद्वान्हि पङ्के गौरिव सीदति ॥ १९१ ॥

इस कारण मूर्ख ब्राह्मण जिस किसी (सुवर्ण भूमि आदिसे न्यून सीसा-पीतल आदि) वस्तुका भी दान लेनेसे डरे (न लेवे); क्योंकि थोड़े दानके लेनेसे भी मूर्ख ब्राह्मण कीचड़में (फंसी) गौके समान दुःखित होता है ॥ १९१ ॥

यस्मादसावल्पद्रव्यप्रतिग्रहेणापि मूर्खः पङ्के गौरिव नरके समर्थो भवति। तस्माद्यतः कुतश्चित्सुवर्णादिव्यतिरिक्तसीसकाद्यसारप्रतिग्रहादपि त्रस्येत् ॥ १९१ ॥

प्रतिग्रहीतुर्धर्ममभिधायाधुना दातुराह—

न वार्यपि प्रयच्छेत्तु बैडालव्रतिके द्विजे ।
न बकव्रतिके विप्रे नावेदविदि धर्मवित् ॥ १९२ ॥

धर्मज्ञ गृहाश्रमी बैडालव्रतिक (४।१०५ तथा क्षे० ४।८।), बकव्रतिक (४।१९६) और वेदको नहीं जाननेवाले ब्राह्मणके लिये पानी भी न दे ॥ १९२ ॥

वायसादिभ्यो यद्दीयते तदपि बैडालव्रतिकेभ्यो धर्मज्ञो न दद्यादित्यतिशयोक्त्या द्रव्यान्तरदानं निषिध्यते न तु वारिदानमेव। "पाषण्डिनो विकर्मस्थान्" (म॰ स्मृ. ४–६०) इत्यनेन बैडालव्रतिकायातिथित्वेन सत्कृतार्थदानादि निषिद्धमिह तु धनदानं निषिध्यते। अत एव "विधिनाप्यर्जितं धनम्" (म. स्मृ. ४–१९३) इति वक्ष्यति। नावेदविदीति वेदार्थानभिज्ञे। एतच्च विद्वत्सम्भवे नावेदविदीति निषिध्यते ॥ १९२ ॥

त्रिष्वप्येतेषु दत्तं हि विधिनाऽप्यर्जितं धनम् ।
दातुर्भवत्यनर्थाय परत्रादातुरेव च ॥ १९३ ॥

इन तीनों (बैडालव्रतिक, बकव्रतिक और वेदज्ञानहीन) के लिये दिया गया विधिपूर्वक भी उपार्जित धन दानकर्ता तथा दानग्रहीताके लिये परलोकमें अनर्थ (नरकप्राप्ति) के लिये होता है ॥ १९३ ॥

एतेषु त्रिष्वपि बैडालव्रतिकादिषु न्यायार्जितमपि धनं दत्तं दातुः, प्रतिग्रहीतुश्च परलोके नरकहेतुत्वादनर्थाय भवति ॥ १९३ ॥

यथा प्लवेनौपलेन निमज्जत्युदके तरन्।
तथा निमज्जतोऽधस्तादज्ञौ दातृप्रतीच्छकौ ॥ १९४ ॥

जिस प्रकार पानीमें पत्थरकी नावसे तैरता हुआ व्यक्ति उस (नाव) के साथ ही डूब जाता है, उसी प्रकार मूर्ख दान लेनेवाला तथा दानकर्ता दोनों (नरकमें) डूबते हैं ॥ १९४ ॥

यथा पाषाणमयेनोडुपादिना जले तरंस्तेनैव सहाधो गच्छति । एवं दानप्रतिग्रहशास्त्रानभिज्ञौ दातृग्राहकौ नरकं गच्छतः । "अतपास्त्वनधीयानः" (म. स्मृ. ४–१९०) इति प्रतिग्रहीतृप्राधान्येन निन्दोक्ता । इह तु दातृप्राधान्येनेत्यपुनरुक्तिः ॥ १९४ ॥

धर्मध्वजी सदा लुब्धश्छाद्मिको लोकदम्भकः ।
बैडालव्रतिको ज्ञेयो हिंस्रः सर्वाभिसन्धकः ॥ १९५ ॥
[यस्य धर्मध्वजो नित्यं सुरध्वज इवोच्छ्रितः ।
प्रच्छन्नानि च पापानि बैडालं नाम तद्व्रतम् ॥ ८ ॥]

धर्मध्वजी (अपनी प्रसिद्धिके लिये धर्मरूपी ध्वजाको फहरानेवाला), लोभी कपटी, संसार को ठगनेवाला (किसीकी धरोहर नहीं वापस करनेवाला आदि), हिंसक और दूसरोंके गुणका सहन नहीं करनेसे उनकी निन्दा करनेवाला 'बिडालव्रतिक' कहा गया है ॥ १९५ ॥

[जिसकी धर्मरूपी ध्वजा देवध्वजाके समान ऊँची रहती है और जिसके छिपे बहुत पाप रहते हैं, वह 'बैडालव्रत' है ॥ ८ ॥]

यो बहुजनसमक्षं धर्ममाचरति, स्वतः परतश्च लोके ख्यापयति, तस्य धर्मो ध्वजं चिह्नमिवेति धर्मध्वजी । लुब्धः परधनाभिलाषुकः । छद्मना व्याजेन चरतीति छाद्मिकः । लोकदम्भको निक्षेपापहारादिना जनवञ्चकः । हिंस्रः परहिंसाशीलः । सर्वाभिसन्धकः परगुणासहनतया सर्वाक्षेपकः । बिडालव्रतेन चरतीति बैडालव्रतिकः । बिडालो हि प्रायेण मूषिकादिहिंसारुचितया ध्याननिष्ठ इव विनीतः सन्नवतिष्ठत इत्युपचाराद्बिडालव्रतशब्दः ॥ १९५॥

अधोदृष्टिर्नैष्कृतिकः स्वार्थसाधनतत्परः ।
शठो मिथ्याविनीतश्च बकव्रतचरो द्विजः ॥ १९६ ॥

(अपनी साधुता-प्रसिद्धिके लिए सर्वदा) नीचे देखनेवाला, निष्ठुरताका व्यवहार करनेवाला, अपने मतलबको सिद्ध करनेमें तत्पर, शठ, कपट युक्त (झूठा) विनयवाला द्विज 'बकव्रतचर' (बकव्रतिक) कहा गया है ॥ १९६ ॥

अधोदृष्टिर्निजविनयख्यापनाय सतततमध एव निरीक्षते । निष्कृतिर्निष्ठुरता तथा चरतीति नैष्कृतिकः । स्वार्थसाधनतत्परः परार्थखण्डनेन । शठो वक्रः । मिथ्याविनीतः कपटविनयवान् । बकव्रतं चरतीति बकव्रतचरः । बको हि प्रायेण मीनहननरुचितया मिथ्याविनीतः सन्नेवंशीलो भवतीति गौणो बकव्रतशब्दः ॥ १९६ ॥

ये बकव्रतिनो विप्रा ये च मार्जारलिङ्गिनः।
ते पतन्त्यन्धतामिस्रे तेन पापेन कर्मणा ॥ १९७ ॥

जो ब्राह्मण बकव्रतिक (४।१९६) तथा वैडालव्रतिक (४।१९५) हैं, वे उस पाप कर्मसे 'अन्धतामिस्र' नामके नरकमें गिरते हैं ॥ १९७ ॥

ये बकव्रतम्, विडालव्रतं चरन्ति, ते ब्राह्मणास्तेन पापहेतुना कर्मणाऽन्धतामिस्रनाम्नि नरके पतन्ति ॥ १९७ ॥

न धर्मस्यापदेशेन पापं कृत्वा व्रतं चरेत्।
व्रतेन पापं प्रच्छाद्य कुर्वन्स्त्रीशूद्रदम्भनम् ॥ १९८ ॥

धर्मसे पापको छिपाकर (मेरा पाप चान्द्रायण, सान्तपन आदि व्रतरूप प्रायश्चित्तोंसे छूट जायगा ऐसा समझकर) स्त्रियों तथा शूद्रों (धर्मके अनभिज्ञों) के सामने पाखण्ड करता हुआ मनुष्य धर्मके बहानेसे (मैं धर्मके लिये इन चान्द्रायणादि व्रतोंको कर रहा हूँ, यह प्रायश्चित्त नहीं हैं, इस प्रकारके बहानेसे) पाप को न करे ॥ १९८ ॥

पापं कृत्वा प्रायश्चित्तरूपं प्राजापत्यादिव्रतं पापमपनयति तन्नेदं प्रायश्चित्तं किंतु धर्मार्थमहमनुतिष्ठामीति स्त्रीशूद्रमूर्खादिजनमोहनं कुर्वन्नानुतिष्ठेत् ॥ १९८ ॥

प्रेत्येह चेदृशा विप्रा गर्ह्यन्ते ब्रह्मवादिभिः।
छद्मनाऽऽचरितं यच्च व्रतं रक्षांसि गच्छति ॥ १९९ ॥
अलिङ्गी लिङ्गिवेषेण यो वृत्तिमुपजीवति।
स लिङ्गिनां हरत्येनस्तिर्यग्योनौ च जायते ॥ २०० ॥

ब्रह्मवादी लोग ऐसे (धर्मके बहाने प्रायश्चित्त चान्द्रायणादि व्रत करनेवाले) ब्राह्मणोंकी इस लोकमें और परलोकमें भी निन्दा करते हैं तथा कपटसे किया गया जो व्रत है, वह राक्षसोंको प्राप्त होता है ॥ १९९ ॥

ब्रह्मचारी या संन्यासी आदि नहीं होता हुआ भी जो उनके चिह्न (दण्डकमण्डलु-कषायवस्त्रादि) को धारणकर वृत्ति (उन चिह्नोंसे लोगोंमें विश्वास पैदाकर उनसे भिक्षादि लेता हुआ अपनी जीविका) चलाता हैं, वह ब्रह्मचारी, संन्यासी आदि लिङ्गधारियोंके पापको लेता है तथा (मर कर) तिर्यग्योनिमें उत्पन्न होता है ॥ २०० ॥

प्रेत्येहेति श्लोकद्वयम्। प्रथमं सुबोधम्। अब्रह्मचारी यो ब्राह्मणो ब्रह्मचार्यादिलिङ्गं मेखलाजिनदण्डादिवेषोपलक्षितस्तद्वृत्त्या भिक्षाभ्रमणादिना जीवति, स ब्रह्मचार्यादीनां यत्पापं तदात्मन्याहरति, कुक्कुरादितिर्यग्योनौ चोत्पद्यते। तस्मादेतन्न कर्तव्यमिति निषेधः कल्प्यते ॥ १९९ ॥ २०० ॥

परकीयनिपानेषु न स्नायाच्च कदाचन।
निपानकर्तुः स्नात्वा तु दुष्कृतांशेन लिप्यते ॥ २०१ ॥
[सप्तोद्धृत्य ततः पिण्डान्कामं स्नायाच्च पञ्चधा।
उदपानात्स्वयं ग्रामाद्बहिः स्नात्वा न दुष्यति ॥ ९ ॥]

दूसरोंके बनवाये हुए जलाशय (पोखरा, बावड़ी, कूंआ आदि) में कभी स्नान न करे। और स्नान कर उक्त जलाशय बनवानेवाले के पापके चौथाई भागसे (स्नान करनेवाला मनुष्य) युक्त होता है ॥ २०१ ॥

[दूसरेके बनवाये जलाशयोंसे पांच या सात मृत्पिण्ड निकालकर स्नान करे या जलाशय से पानी निकालकर बाहर स्नान करने वाला दोषभागी नहीं होता है ॥ ९ ॥]

निपानं जलाधारः। परकृतपुष्करिण्यादिषु न कदाचित्स्नायात्। तत्र स्नात्वा पुष्करिण्यादिकर्तुर्यत्पापं तस्यांशेन वक्ष्यमाणचतुर्थभागरूपेण सम्बध्यते। अकृत्रिमनद्याद्यसम्भवे परकृतेऽपि पुष्करिण्यादौ प्राक्प्रदा (स्ना) नात्पञ्च पिण्डानुद्धृत्य स्नातव्यम्। तदाह याज्ञवल्क्यः—

"पञ्च पिण्डाननुद्धृत्य न स्नायात्परवारिषु।
उद्धृत्य चतुरः पिण्डान्पारक्ये स्नानमाचरेत्।
स्नात्वा च तर्पयेद्देवान्पितॄंश्चैव विशेषतः॥
(या. स्मृ. १-१५९)" ॥ २०१ ॥

यानशय्यासनान्यस्य कूपोद्यानगृहाणि च।
अदत्तान्युपभुञ्जान एनसः स्यात्तुरीयभाक् ॥ २०२ ॥

(दूसरोंके) सवारी (गाड़ी, रथ और घोड़ा आदि), शय्या (चारपाई पलंग चौकी आदि) आसन, कूंआ, उद्यान (बगीचा, फुलवाड़ी आदि) और घर को बिना दिये हुए उपभोग करनेवाला (उनके—सवारी आदि के स्वामीके) चतुर्थांश पापका भागी होता है ॥ २०२ ॥

अस्येति प्रकृतः पुनः परामृश्यते। परस्य यानादीन्यदत्तान्युपयुञ्जानस्तदीयपापचतुर्थभागभागी भवति। अदत्तानीति परस्यानुमत्यभावश्च विवक्षितः। तेन सर्वार्थोत्सृष्टमठकूपादावुपयोगार्थात्मस्नानादौ न विरोधः ॥ २०२ ॥

नदीषु देवखातेषु तडागेषु सरःसु च।
स्नानं समाचरेन्नित्यं गर्तप्रस्रवणेषु च ॥ २०३ ॥

नदियों (साक्षात् या सहायक नदियोंके द्वारा समुद्रगामिनी नदियों) में देवखात (देव-सम्बन्धसे-प्रसिद्ध) तडागोंमें सरों (तालों या दहों) में गर्तोंमें और झरनोंमें सदा स्नान करे ॥ २०३ ॥

नद्यादिषु सर्वदा स्नानमाचरेत्। देवखातेष्विति तडागविशेषणम्। देवसम्बन्धित्वेन प्रसिद्धेषु सरस्सु गर्तेष्वष्टधनुस्सहस्रेभ्यो न्यूनगतिषु। तदुक्तं छन्दोगपरिशिष्टे—

"धनुःसहस्राण्यष्टौ च गतिर्यासां न विद्यते।
न ता नदीशब्दवहा गर्तास्ताः परिकीर्तिताः॥"

चतुर्हस्तप्रमाणं धनुः। प्रस्रवणेषु निर्झरेषु च। अनेनैव परकीयनिपानव्यावृत्तिसिद्धौ यत्पृथग्वचनं तदात्मीयोत्सृष्टतडागादिषु स्नानाद्यनुज्ञानार्थम्। तदपि नद्याद्यसम्भवे द्रष्टव्यम्॥

यमान्सेवेत सततं न नित्यं नियमान्बुधः।
यमान्पतत्यकुर्वाणो नियमान्केवलान्भजन् ॥ २०४ ॥
[आनृशंस्यं क्षमा सत्यमहिंसा दममस्पृहा।
ध्यानं प्रसादो माधुर्यमार्जवं च यमा दश ॥ १० ॥
अहिंसा सत्यवचनं ब्रह्मचर्यमकल्कता।
अस्तेयमिति पञ्चैते यमाश्चोपव्रतानि च ॥ ११ ॥
शौचमिज्या तपो दानं स्वाध्यायोपस्थनिग्रहौ।
व्रतोपवासौ मौनं च स्नानं च नियमा दश ॥ १२ ॥

अक्रोधो गुरुशुश्रूषा शौचमाहारलाघवम् ।
अप्रमादश्च नियमाः पञ्चैवोपव्रतानि च ॥ १३ ॥]

विद्वान् यमोंका सर्वदा सेवन करे, नियमोंका नित्य सेवन न करें। यमोंके सेवनको नहीं करता हुआ केवल नियमोंका ही सेवन करनेवाला पतित (भ्रष्ट - नीच) होता है ॥ २०४ ॥

[अक्रूरता, क्षमा, सत्य, अहिंसा, इन्द्रिय-दमन, अस्पृहा, ध्यान, प्रसन्नता, मधुरता और सरलता—ये 'यम' है ॥ १० ॥

अहिंसा, सत्यभाषण, ब्रह्मचर्य, अकुटिलता, अचौर्य—ये ५ उपव्रत तथा 'यम' हैं ॥ ११ ॥

पवित्रता, यज्ञ, तपस्या, दान, स्वाध्याय, ब्रह्मचर्य, व्रत, उपवास, मौन और स्नान—ये १० 'नियम' हैं ॥ १२ ॥

अक्रोध, गुरुसेवा, पवित्रता, लघुभोजन और अप्रमाद ये ५ उपव्रत तथा 'नियम' हैं ॥ १३ ॥]

नियमापेक्षया यमानुष्ठानगौरवज्ञापनार्थमिदं न तु नियमनिषेधार्थम्, द्वयोरेव शास्त्रार्थत्वात्। यमनियमविवेकश्च मुनिभिरेवं कृतः। तदाह याज्ञवल्क्यः—

"ब्रह्मचर्यं दया क्षान्तिर्ध्यानं सत्यमकल्कता ।
अहिंसाऽस्तेयमाधुर्ये दमश्चेति यमाः स्मृताः ॥
स्नानं मौनोपवासेज्यास्वाध्यायोपस्थनिग्रहाः ।
नियमो गुरुशुश्रूषा शौचाक्रोधाप्रमादता ॥ (या. स्मृ. ३-३१२।३१३)"

यमनियमस्वरूपज्ञः समस्तस्नानादिनियमत्यागेनाप्यहिंसादिरूपं यममनुतिष्ठेत्। नियमाननुतिष्ठन्नपि यमानुष्ठानरहितः पततीत्ययं यमस्तुत्यर्थ आरम्भ इति। यं [1]मेधातिथिगोविन्दराजौ हिंसादिप्रतिषेधार्थका यमाः, "वेदमेवाभ्यसेन्नित्यं" (म. स्मृ. ४-१४७) इत्यादयोऽनुष्ठेयरूपा नियमा इति व्याचक्षते ।

"अहिंसा सत्यवचनं ब्रह्मचर्यमकल्कता ।
अस्तेयमिति पञ्चैते यमा वै परिकीर्तिताः ॥
अक्रोधो गुरुशुश्रूषा शौचमाहारलाघवम् ।
अप्रमादश्च सततं पञ्चैते नियमाः स्मृताः ॥ २०४ ॥"

नाश्रोत्रियतते यज्ञे ग्रामयाजिकृते तथा ।
स्त्रिया क्लीबेन च हुते भुञ्जीत ब्राह्मणः क्वचित् ॥ २०५ ॥

विना वेदज्ञाताके द्वारा तथा बहुतोंको यज्ञ करानेवाले (वेदज्ञाता) के द्वारा कराये गये यज्ञमें और स्त्री तथा नपुंसक जिसमें हवन कर्ता हों; ऐसे यज्ञमें ब्राह्मण कभी भी भोजन न करे ॥ २०५ ॥

अनधीतवेदेनोपक्रान्ते यज्ञेऽग्नीषोमीयादूर्ध्वमपि भोजनयोग्यसमये ब्राह्मणो न भुञ्जीत। तथा बहूनां याजकेन ऋत्विजा स्त्रिया नपुंसकेन च यत्र यज्ञे हूयते तत्र कदाचिन्न भुञ्जीत ॥

अश्लीकमेतत्साधूनां यत्र जुह्वत्यमी हविः ।
प्रतीपमेतद्देवानां तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥ २०६ ॥

---

१. प्रतिषेधरूपा यमा ब्राह्मणो न हन्तव्यः सुरा न पेयेत्यादयः। अनुष्ठेयरूपा नियमाः वेदमेव जपेन्नित्यमित्यादयः। न नित्यं नियमान् नानेन नियमानामसेवोच्यते किन्तु यमानां नियमेभ्यो नित्यत्वम्। तथाचाह यमान्पतत्यकुर्वाणः। ब्राह्मणादिर्यमलोपे सति पतितत्वात्सन्ध्योपासनादिभिर्नाधिक्रियते ननु तथा नियमलोपे। तथा च शिष्टस्मरणम्—पतति नियमवान्यमेष्वसक्तो न तु यमवान्नियमालसोऽवसीदेदिति। न नियमानसमीक्ष्य बुद्ध्या यमबहुलेष्विति संदधीत बुद्धिम्।

जिस यज्ञ में ये लोग (स्त्री, नपुंसक, बहुयाजक आदि) हवन करते हैं; वह यज्ञ कर्म सज्जनों की श्रीका नाशक और देवताओंके प्रतिकूल है; अतः उसे छोड़ देना चाहिये ॥ २०६ ॥

पूर्वोक्ता बहुयाजकादयो यत्र होमं कुर्वन्ति तत्कर्म शिष्टानामश्लीकं श्रीघ्नम्। रेफस्य स्थाने लकारः। देवानां प्रतिकूलम्। तस्मादेतद्धोमं न कारयेत् ॥ २०६ ॥

मत्तक्रुद्धातुराणां च न भुञ्जीत कदाचन।
केशकीटावपन्नं च पदा स्पृष्टं च कामतः ॥ २०७ ॥

मतवाले, क्रुद्ध (क्रोधयुक्त) और रोगीके अन्नको, एवं केश या कीट (कीड़े) से दूषित अन्नको तथा इच्छापूर्वक पैरसे छुए गये अन्न को कभी न खावे—॥ २०७ ॥

क्षीवक्रुद्धव्याधितानामन्नं तथा केशकीटसंसर्गदुष्टम्, पादेन चेच्छातः संस्पृष्टमन्नं न भुञ्जीत ॥ २०७ ॥

भ्रूणघ्नावेक्षितं चैव संस्पृष्टं चाप्युदक्यया।
पतत्रिणावलीढं च शुना संस्पृष्टमेव च ॥ २०८ ॥

गर्भहत्या (गोहत्या, ब्रह्महत्या भी) करनेवालेसे देखे हुए (स्पर्श किए) गये, पक्षी (कौवा आदि) से आस्वादित और कुत्तेसे छूए गये (अन्नको न खावे) ॥ २०८ ॥

भ्रूणघ्नेत्युपलक्षणाद् गोघ्नेत्यादिपतितावेक्षितम्, रजस्वलया च स्पृष्टम्, पक्षिणा च काकादिना स्वादितम्, कुक्कुरेण च स्पृष्टमन्नं न भुञ्जीत ॥ २०८ ॥

गवा चान्नमुपाघ्रातं घुष्टान्नं च विशेषतः।
गणान्नं गणिकाऽन्नं च विदुषा च जुगुप्सितम् ॥ २०९ ॥

गौके सूंघे हुए और विशेषरूपसे किसीके लिए ('अमुकके लिये यह अन्न है इत्यादि रूपसे) घोषित अन्नको, समूह (शठब्राह्मण-समूह) के अन्नको, वेश्या के अन्नको और विद्वान्‌से निन्दित अन्नको (न खावे)—॥ २०९ ॥

यदन्नं गवाघ्रातम्, घुष्टान्नं को भोक्तेत्युपोद्घुष्टान्नं सत्रादौ यद्दीयते, विशेषत इति भूरिदोषतया प्रायश्चित्तगौरवार्थम्। गणान्नं शठब्राह्मणसङ्घान्नम्, गणिका वेश्या तस्या अन्नम्, शास्त्रविदा च यद् दुष्टमिति निन्दितम्, तच्च न भुञ्जीत ॥ २०९ ॥

स्तेनगायनयोश्चान्नं तक्ष्णो वार्धुषिकस्य च।
दीक्षितस्य कदर्यस्य बद्धस्य निगडस्य च ॥ २१० ॥

चोर, गायक (मल्लिक, गन्धर्व आदि), बढ़ई, व्याजखोर, यज्ञमें दीक्षित (अग्निपोमीयके पहले), कृपण और निगड (हथकड़ी आदि) से बंधे हुए—इनके (अन्नको न खावे)—॥२१०॥

चौरगायनजीविनोस्तथा तत्त्वृत्तिजीवनस्य वृद्ध्युपजीविनश्चान्नं न भुञ्जीत। तथा यज्ञे दीक्षितस्य प्रागग्नीषोमीयात्। कदर्यस्य कृपणस्य। निगडस्येति तृतीयार्थे षष्ठी। निगडेन बद्धस्य। गोविन्दराजस्तु बद्धशब्दस्य बन्धनैर्विनाऽप्ययोनिगडैर्निगडितस्य दत्तायोनिगडस्येति व्याख्यातवान् ॥ २१० ॥

अभिशस्तस्य षण्ढस्य पुंश्चल्या दाम्भिकस्य च।
शुक्तं पर्युषितं चैव शूद्रस्योच्छिष्टमेव च ॥ २११ ॥

—लोकमें महापातक (११।५४-५८) आदि दोषों से लाञ्छित, नपुंसक, व्यभिचारिणी और

दम्भी के अन्नको तथा शुक्त, और बासी अन्नको एवं शूद्रके तथा किसीके भी जूठे अन्नको न खावे—॥ २११ ॥

महापातकित्वेन सञ्जातलोकविक्रोशस्य, नपुंसकस्य, पुंश्चल्या व्यभिचारिण्या अगणिकाया अपि, दाम्भिकस्य छद्मना धर्मचारिणो वैडालव्रतिकादेरन्नं न भुञ्जीत। शुक्तं यत्स्वभावतो मधुरं दध्यादिसम्पर्कवशेनोदकादिना चाम्लादिभावं गतम्, पर्युषितं राज्यन्तरितम्, शूद्रस्यान्नं न भुञ्जीतेति सम्बन्धः। उच्छिष्टं च भुक्तावशिष्टान्नमविशेषात्कस्यापि न भुञ्जीत। गुरूच्छिष्टं च विहितत्वाद्भोज्यम्। गोविन्दराजस्तु शूद्रस्योच्छिष्टं तद्भुक्तावशिष्टं च स्थालीस्थमपि न भुञ्जीतेत्याह ॥ २११ ॥

चिकित्सकस्य मृगयोः क्रूरस्योच्छिष्टभोजिनः।
उग्रान्नं सूतिकान्नं च पर्याचान्तमनिर्दशम् ॥ २१२ ॥

—वैद्य, शिकारी या व्याधा, क्रूर, जूठा खानेवाला, उग्र स्वभाववाला, इनके अन्नको एवं सूतिकाके उद्देश्यसे पकाये हुए अन्नको, पर्याचान्त अन्नको और सूतकके अन्नको न खावे—॥ २१२॥

चिकित्साजीविनः, मृगयोर्मांसविक्रयार्थं मृगादिपशुहन्तुः, क्रूरस्यानृजुप्रकृतेः, निषिद्धोच्छिष्टभोक्तुरन्नं न भुञ्जीत। उग्रो दारुणकर्मा तस्यान्नम्।

गोविन्दराजो मन्जर्यामुग्रं राजानमुक्तवान्।
मनुवृत्तौ च शूद्रायां क्षत्रियोत्पन्नमभ्यधात् ॥
भेदोक्तेर्याज्ञवल्कीयेनोग्रो राजेति वाऽवदत्।
आश्चर्यमिदमेतस्य स्वकीयहृदि भूषणम् ॥

सूतिकान्नं सूतिकामुद्दिश्य यत्क्रियते तदन्नं तत्कुलजैरपि न भोक्तव्यम्। एकपङ्क्तिस्थानन्यानवमन्य यत्रान्ने भुज्यमाने केनचिदाचमनं क्रियते तत्पर्याचान्तम्। अनिर्दशं सूतकान्नं वक्ष्यमाणत्वान्न भुञ्जीत ॥ २१२ ॥

अनर्चितं वृथामांसमवीरायाश्च योषितः।
द्विषदन्नं नगर्यन्नं पतितान्नमवक्षुतम् ॥ २१३ ॥

विना सत्कारपूर्वक दिया गया अन्न, देवतादिके उद्देश्यके विना बना हुआ मांस, पतिपुत्रहीन स्त्री, शत्रु, नागरिक (नगरपति), और पतित— इनका अन्न तथा जिसके ऊपर छींक दिया गया हो; वह अन्न नहीं खावे—॥ २१३ ॥

अर्चार्हस्य यदवज्ञया दीयते, वृथामांसं देवतादिमुद्दिश्य यन्न कृतम्, अवीरायाः पतिपुत्ररहितायाः, शत्रुनगरपतितानां च, उपरि कृतक्षुतं चान्नं न भुञ्जीत ॥ २१३ ॥

पिशुनानृतिनोश्चान्नं क्रतुविक्रयिणस्तथा।
शैलूषतुन्नवायान्नं कृतघ्नस्यान्नमेव च ॥ २१४ ॥

— चुगलखोर, असत्यभाषी, यज्ञ बेचनेवाला (अपने यज्ञ का फल दूसरे को देकर उसके बदले में मूल्य लेनेवाला), नट (बहुरूपिया), दर्जी, और कृतघ्न; इसके अन्नको न खावे—॥ २१४ ॥

पिशुनः परोक्षे परापवादभाषणपरः, अनृतीत्यतिशयेनानृतवादी कूटसाक्ष्यादिः। क्रतुविक्रयिकः मदीययागस्य फलं तव भवत्वित्यभिधाय यो धनं गृह्णाति, शैलूषो नटः, तुन्नवायः सौचिकः, कृतघ्नो यः कृतोपकारस्यापकारे प्रवर्तते तस्यान्नं न भुञ्जीत ॥ २१४ ॥

कर्मारस्य निषादस्य रङ्गावतारकस्य च।
सुवर्णकर्तुर्वेणस्य शस्त्रविक्रयिणस्तथा ॥ २१५ ॥

—लोहार, मल्लाह, रङ्गसाज, सोनार, बंसफोर (बाँसके बर्तन बनाकर जीविका करनेवाला), और शस्त्रको बेचनेवाला; इनके अन्नको न खावे—॥ २१५ ॥

कर्मारस्य, लोहकारस्य, निषादस्य, दशमाध्यायोक्तस्य नटगायनव्यतिरिक्तस्य, रङ्गावतरणजीविनः, सुवर्णकारस्य, वेणोर्भेदनेन यो जीवति, बुरुड इति विश्वरूपः। शस्त्रं लोहः, तद्विक्रयिणश्चान्नं न भुञ्जीत ॥ २१५ ॥

श्ववतां शौण्डिकानां च चैलनिर्णेजकस्य च ।
रञ्जकस्य नृशंसस्य यस्य चोपपतिर्गृहे ॥ २१६ ॥

—शिकारकेलिये कुत्तेको पालनेवाला; मद्य बेचनेवाला, धोबी, रङ्गरेज; नृशंस (निर्दय) और जिसके घरमें उपपति (स्त्री का जार विना जानकारीके) हो वह इनके अन्नको न खावे—॥२१६॥

आखेटकाद्यर्थं शुनः पोषकाणाम्, मद्यविक्रयिणाम्, वस्त्रधावकस्य, कुसुम्भादिना वस्त्ररागकृतः, निर्दयस्य, यस्य चोपपतिर्गृहे जारश्च यस्याज्ञानतो गृहे स्थितस्तस्य गेहे नाद्यात् ॥

मृष्यन्ति ये चोपपतिं स्त्रीजितानां च सर्वशः ।
अनिर्दशं च प्रेतान्नमतुष्टिकरमेव च ॥ २१७ ॥

जानकारीमें जो घरमें उपपति (स्त्रीका जार) के रहनेको सहन करता है, जो सब बातोंमें स्त्रीके वशमें है; इन दोनोंके अन्नको तथा विना दश दिन बीते सूतकके अन्नको और अतुष्टिकारक अन्नको न खावे—॥ २१७ ॥

गृह इत्यनुवर्तते । गेहे ज्ञातं भार्याजारं ये सहन्ते, तेषामन्नं न भुञ्जीत। तेन गृहान्निःसारिताया जारसहने नैष दोषः । तथा सर्वकर्मसु स्त्रीपरतन्त्राणाम्, अनिर्गताशौचं च सूतकान्नम्, अतुष्टिकरमेव च न भुञ्जीत ॥ २१७ ॥

राजान्नं तेज आदत्ते शूद्रान्नं ब्रह्मवर्चसम् ।
आयुः सुवर्णकारान्नं यशश्चर्मावकर्तिनः ॥ २१८ ॥

राजा का अन्न (खाने वालेके) तेजको, शूद्रका अन्न ब्रह्मवर्चस (ब्रह्मतेज) को, सोनार का अन्न आयुको और चमार का अन्न यशको ले लेता है (अतः इनके अन्नको नहीं खाना चाहिये) ॥ २१८ ॥

राजान्नं तेजो नाशयति । इत एव दोषदर्शनात्तदन्नभक्षणनिषेधः कल्प्यते । एवमुत्तरत्रापि । पूर्वमनिषिद्धस्य दोषदर्शनादेव निषेधकल्पनम् । "नाद्याच्छूद्रस्य पक्वान्नम्" (म. स्मृ. ४-२२३) इति निषेधिष्यति, तदतिक्रमणफलकथनमिदम्—शूद्रस्य पक्वान्नमध्ययनादिनिमित्तं तेजो नाशयति । सुवर्णकारस्यान्नमायुः, चर्मकारान्नं ख्यातिं नाशयति ॥ २१८ ॥

कारुकान्नं प्रजां हन्ति बलं निर्णेजकस्य च ।
गणान्नं गणिकान्नं च लोकेभ्यः परिकृन्तति ॥ २१९ ॥

बढ़ई (या शिल्पी) का अन्न संतानको तथा रंगरेज (कपड़ा रंगनेवाला) का अन्न बलको नष्ट करता है और गण (सामूहिक) तथा वेश्याका अन्न (पुण्य आदिसे प्राप्त होनेवाले स्वर्ग आदि) लोकोंसे भ्रष्ट करता है ॥ २१९ ॥

कारुकस्य सूपकारादेरन्नं प्रजामपत्यं निहन्ति । चर्मकारादेः कारुकत्वेऽपि गोबलीवर्दन्यायेन पृथङ् निर्देशः । निर्णेजकस्यान्नं बलं हन्ति । गणगणिकयोरन्नं च कर्मान्तरार्जितेभ्यः स्वर्गादिलोकेभ्य आच्छिनत्ति ॥ २१९ ॥

पूयं चिकित्सकस्यान्नं पुंश्चल्यास्त्वन्नमिन्द्रियम् ।
विष्ठा वार्धुषिकस्यान्नं शस्त्रविक्रयिणो मलम् ॥ २२० ॥

वैद्य का अन्न पीव, व्यभिचारिणी का अन्न शुक्र (वीर्य या पुंधातु), सूदखोर (सूदसे ही जीविका करनेवाला) का अन्न विष्ठा तथा शस्त्र बेचने वालेका अन्न मल (कफ, कान का खोंट, नाकका पोंटा आदि) के समान है ॥ २२० ॥

चिकित्सकस्यान्नं पूयं पूयभक्षणसमदोषम् । एवं पुंश्चल्या अन्नमिन्द्रियं शुक्रम् । वार्धुषिकस्यान्नं पुरीषम् । लोहविक्रयिणोऽन्नं विष्ठाव्यतिरिक्तश्लेष्मादि । गोविन्दराजस्तु चिकित्सकान्नभक्षणेन तथाविधायां जातौ जायते, यत्र पूयभुग्भवतीत्याह ॥ २२० ॥

य एतेऽन्ये त्वभोज्यान्नाः क्रमशः परिकीर्तिताः ।
तेषां त्वगस्थिरोमाणि वदन्त्यन्नं मनीषिणः ॥ २२१ ॥
[अमृतं ब्राह्मणस्यान्नं क्षत्रियान्नं पयः स्मृतम् ।
वैश्यान्नमन्नमित्याहुः शूद्रस्य रुधिरं स्मृतम् ॥ १४ ॥]

प्रत्येक नामकथनपूर्वक इन अभोज्यान्नों (जिनका अन्न अभोज्य है ४।२१८-२२०) के अतिरिक्त जो अभोज्यान्न (४।२०५-२१७) क्रमशः कहे गये हैं, उनके अन्नको विद्वान् लोग उन (अभोज्यान्नों) को चमड़ा, हड्डी और रोम कहते हैं । उनका अन्न खाने को उनके चमड़ा, हड्डी और रोम (बाल) खानेके समान कहते हैं) ॥ २२१ ॥

(ब्राह्मण का अन्न अमृतरूप, क्षत्रियका अन्न दूधरूप, वैश्यका अन्न अन्नरूप तथा शूद्र का अन्न रुधिर-रूप है । (अतः शूद्रका अन्न अभोज्य है) ॥ १४ ॥

प्रतिपदनिर्दिष्टेभ्यो येऽन्ये क्रमेणाभोज्यान्ना अस्मिन्प्रकरणे पठितास्तेषां यदन्नं तत् त्वगस्थिरोमाणि, यास्तदीयास्त्वचः तासां कीकसस्य रोम्णां च भक्तानां यो दोषः स एव तदन्नस्यापि भुक्तस्य बोद्धव्यः ॥ २२१ ॥

भुक्त्वाऽतोऽन्यतमस्यान्नममत्या क्षपणं त्र्यहम् ।
मत्या भुक्त्वाऽऽचरेत्कृच्छ्रं रेतोविण्मूत्रमेव च ॥ २२२ ॥

इन (४।२०५—२२०) में-से किसी एकके अन्नको अज्ञानपूर्वक खाकर तीन दिन उपवास करे तथा ज्ञानपूर्वक इन अन्नोंको एवं शुक्र, मल और मूत्रको खाकर कृच्छ्रव्रत (११।२११) करे ॥ २२२ ॥

एषां मध्येऽन्यतमस्यान्नमज्ञानतो भुक्त्वा त्र्यहमुपवासः, ज्ञानतस्तु कृच्छ्रम् । एवं रेतोविण्मूत्रभोजनेऽपि । एतच्चान्यतमस्येति षष्ठीनिर्देशान्सत्तादिसम्बन्धिनः परिग्रहदुष्टान्नस्यैव प्रायश्चित्तं न संसर्गदुष्टस्य केशकीटावपन्नादेः । नापि कालदुष्टस्य पर्युषितान्नादेः । नापि निमित्तदुष्टस्य घुष्टादेः । एकप्रकरणोपदेशश्चैषां स्नातकस्वज्ञापनार्थम् । प्रायश्चित्तं चैतेष्वेकादशे वक्ष्यति । यदि तु सर्वेष्वेवं प्रायश्चित्तं स्यात्तदा भुक्त्वाऽतोऽन्यतमस्यान्नं दुष्टम् इत्यभ्यधास्यत्, न त्वन्यतमस्य तु भुक्त्वेति ।

"तस्मादेकप्रकरणाद्यन्मेधातिथिरभ्यधात्[1] ।
प्रायश्चित्तमिदं युक्तं शुक्तादौ तदसुन्दरम् ॥"

---

१. अप्रकरणे च प्रायश्चित्तवचनं दोषातिशयदर्शनार्थम् । 'अन्यतमस्य' इति षष्ठीनिर्देशात् परिग्रहदुष्ट एवेदं प्रायश्चित्तं मन्यते, न कालस्वभावसंसर्गदुष्टे । शुक्तपर्युषितादौ चतुर्विधं ह्यभोज्यम्-

अप्रकरणे च प्रायश्चित्तस्याभिधानं लाघवार्थम्। तत्र क्रियमाणे मत्तादिग्रहणमपि कर्तव्यं स्यात्॥ २२२॥

नाद्याच्छूद्रस्य पक्वान्नं विद्वानश्राद्धिनो द्विजः।
आददीताममेवास्मादवृत्तावेकरात्रिकम्॥ २२३॥
[चन्द्रसूर्यग्रहे नाद्यादद्यात्स्नात्वा तु मुक्तयोः।
अमुक्तयोरगतयोरद्याच्चैव परेऽहनि॥ १५॥]

विद्वान् ब्राह्मण श्राद्ध आदि पञ्चमहायज्ञ न करनेवाले (क्योंकि शूद्रके लिये इन कर्मोंको करनेकी शास्त्राज्ञा नहीं है) शूद्रके पकान्नको न खावे, किन्तु खानेके लिये दूसरा अन्न नहीं रहने पर शूद्रसे एक रात भोजन करने योग्य कच्चे अन्नको लेवे (पक्वान्न तो कदापि न लेवे॥ २२३॥

[चन्द्रमा या सूर्यके ग्रहणमें भोजन न करे तथा उनके मुक्त (मोक्ष) हो जानेपर स्नानकर ही भोजन करे। बिना मोक्ष हुए यदि वे अस्त हो जावें तो दूसरे दिन भोजन करे॥ १५॥

अविशेषेण शूद्रान्नं प्रतिषिद्धं तस्येदानीं विशिष्टविषयतोच्यते। अश्राद्धिनः श्राद्धादिपञ्चयज्ञशून्यस्य शूद्रस्य शास्त्रविद् द्विजः पक्वान्नं न भुञ्जीत, किन्त्वन्नान्तराभावे सत्येकरात्रनिर्वाहोचितमाममेवान्नमस्माद् गृह्णीयान्न तु पक्वान्नम्॥ २२३॥

श्रोत्रियस्य कदर्यस्य वदान्यस्य च वार्धुषेः।
मीमांसित्वोभयं देवाः सममन्नमकल्पयन्॥ २२४॥

कृपण श्रोत्रिय तथा बहुत दानी-सूदखोरके अन्नके गुण-दोषका विचारकर देवताओंने दोनोंका अन्न बराबर कहा है॥ २२४॥

एकोऽधीतवेदः कृपणश्च, परो दाता वृद्धिजीवी च तयोरुभयोरपि गुणदोषवत्त्वं विचार्य देवास्तुल्यमन्नमनयोरिति निरूपितवन्तः, उभयोरपि गुणदोषसाम्यात्॥ २२४॥

तान्प्रजापतिराहैत्य मा कृध्वं विषमं समम्।
श्राद्धपूतं वदान्यस्य हतमश्रद्धयेतरत्॥ २२५॥

उन (देवताओं) के पास ब्रह्माजी आकर बोले कि विषम (अन्न) को समान मत करो (कृपण-श्रोत्रिय तथा बहुत दानी-सूदखोरके अन्नको बराबर मत कहो)। दानशील सूदखोरका अन्न श्रद्धासे पवित्र है तथा अन्य (कृपण अर्थात् श्रद्धाहीन श्रोत्रियका अन्न) अश्रद्धासे दूषित है। (अतः श्रद्धासे ही अन्नादिका दान करना श्रेष्ठ है)॥ २२५॥

तान्देवानागत्य ब्रह्मा प्रोवाच—विषममन्नं मा समं कुरुत। विषमसमीकरणमनुचितम्। कः पुनरनयोर्विशेष इत्यपेक्षायां स एवावोचत्—दानशीलवार्धुषिकस्यापि श्रद्धयाऽन्नं पवित्रं भवति। कृपणान्नं पुनरश्रद्धया हतं दूषितमधमम्। प्रागुभयप्रतिषेधेऽपि श्रद्धादत्तविद्वद्वार्धुषिकान्नविशुद्धिबोधनपरमिदम्॥ २२५॥

श्रद्धयेष्टं च पूर्तं च नित्यं कुर्यादतन्द्रितः।
श्रद्धाकृते ह्यक्षये ते भवतः स्वागतैर्धनैः॥ २२६॥

कालदुष्टं शुक्तपर्युषितादि, संसर्गदुष्टं मद्यानुगतादि, स्वभावदुष्टं लशुनादि, परिग्रहदुष्टं प्रकृताभोज्यान्नानां यत्। अत्रोच्यते—सत्यं चतुर्विधं ह्यभोज्यं भवति, षष्ठीनिर्देशोऽप्यस्ति, किन्तु यदि शुक्तादेर्नैवं प्रायश्चित्तं स्यात्तदिह प्रकरणे तेषामुपादानमनर्थकमेवापद्येत। पञ्चमे हि तयोः प्रतिषेधो नास्ति। तस्मादिह प्रायश्चित्तार्थमेवैवमादीनामुपादानम्।

आलस्य छोड़कर श्रद्धासे इष्ट (मण्डप के भीतर यज्ञादि कार्य) तथा पूर्त (बावली, कूप, तालाब, प्याऊ आदि) को सदैव करना (बनवाना) चाहिये। न्यायोपार्जित धनसे श्रद्धाके साथ किये गये वे दोनों (इष्ट तथा पूर्त) अक्षय (अक्षय मोक्षरूप फल देनेवाले) होते हैं ॥ २२६ ॥

इष्टमन्तर्वेदि यज्ञादिकर्म, पूर्तं ततोऽन्यत्पुष्करिणीकूपप्रपारामादि, तदेवमनलसः सन्नित्यं काम्यस्वर्गादिफलरहितं श्रद्धया कुर्यात्। यस्मात्ते इष्टापूर्ते न्यायार्जितधनेन श्रद्धया कृतेऽक्षये मोक्षफले भवतः॥ २२६ ॥

दानधर्मं निषेवेत नित्यमैष्टिकपौर्तिकम्।
परितुष्टेन भावेन पात्रमासाद्य शक्तितः॥ २२७ ॥
[पात्रभूतो हि यो विप्रः प्रतिगृह्य प्रतिग्रहम्।
असत्सु विनियुञ्जीत तस्मै देयं न किञ्चन॥ १६ ॥
संचयं कुरुते यस्तु प्रतिगृह्य समन्ततः।
धर्मार्थं नोपयुङ्क्ते च न तं तस्करमर्चयेत्॥ १७ ॥]

सर्वदा सन्तुष्ट होकर इष्ट तथा पूर्त कर्म करे और याचित (किसीके द्वारा याचना किया गया) मनुष्य यथा शक्ति सत्पात्रको प्राप्तकर दानधर्म अवश्य करे ॥ २२७ ॥

[जो ब्राह्मण दान का पात्र होकर के भी स्वयं प्रतिग्रह (दान) को लेकर पुनः उसे कुपात्र को दे देता हैं, ऐसे ब्राह्मण को कुछ भी दानरूप में नहीं देना चाहिये ॥ १६ ॥]

[जो ब्राह्मण चारो-ओर से (सब जगह से) दान लेकर केवल उसका संचयमात्र करता है किन्तु उसको किसी धर्मकार्य में नहीं लगाता है। उसे 'तस्कर' समझ कर दानादि द्वारा सत्कार नहीं करना चाहिये ॥ १७ ॥]

दानाख्यं धर्ममैष्टिकं पौर्तिकमन्तर्वेदिकं बहिर्वेदिकं च सर्वदा विद्यातपोयुक्तं ब्राह्मणमासाद्य परितुष्टान्तःकरणयुक्तः यथाशक्ति कुर्यात्॥ २२७ ॥

यत्किंचिदपि दातव्यं याचितेनानसूयया।
उत्पत्स्यते हि तत्पात्रं यत्तारयति सर्वतः॥ २२८ ॥

याचना करनेपर मनुष्यको असूयारहित होकर कुछ भी (यथाशक्ति) दान करना चाहिये; क्योकि (इस प्रकार सर्वदा दान करनेवाले दाताके पास कभी) वह पात्र आ जायेगा, जो सब (नरकके कारणों) से छुड़ा देगा ॥ २२८ ॥

प्रार्थितेन परगुणामत्सरेणान्नमपि यथाशक्ति दातव्यम्। यस्मात्सर्वदा दानशीलस्य कदाचित्तादृशं पात्रमागमिष्यति तत्सर्वस्मान्नरकहेतोर्मोचयिष्यति॥ २२८ ॥

वारिदस्तृप्तिमाप्नोति सुखमक्षय्यमन्नदः।
तिलप्रदः प्रजामिष्टां दीपदश्चक्षुरुत्तमम्॥ २२९ ॥

जलदान करनेवाला तृप्तिको, अन्नदान करनेवाला अक्षय्य (क्षीण नहीं हो सकने योग्य) सुख को, तिलदान करनेवाला अभिलषित सन्तानको और दीपदान करनेवाला उत्तम (रोगादिरहित) नेत्रको पाता है—॥ २२९ ॥

जलदः क्षुत्पिपासाविगमात्तृप्तिम्, अन्नदोऽत्यन्तसुखम्, तिलप्रद ईप्सितान्यपत्यादीनि, दीपदो विप्रवेश्मादौ निर्दोषं चक्षुः प्राप्नोति॥ २२९ ॥

भूमिदो भूमिमाप्नोति दीर्घमायुर्हिरण्यदः ।
गृहदोऽग्र्याणि वेश्मानि रूप्यदो रूपमुत्तमम् ॥ २३० ॥

भूमिदान करनेवाला भूमि (भूस्वामित्व) को, सुवर्ण (सोना) दान करनेवाला पूर्णायुको, गृहदान करनेवाला उत्तम गृहोंको और चांदी दान करनेवाला उत्तम रूपको (पाता है)—॥२३०॥

भूमिदो भूमेराधिपत्यं सुवर्णदश्चिरजीवित्वं गृहदः श्रेष्ठानि वेश्मानि, रूप्यदः सकलजननयनमनोहरं रूपं लभते ॥ २३० ॥

वासोदश्चन्द्रसालोक्यमश्विसालोक्यमश्वदः ।
अनडुहः श्रियं पुष्टां गोदो ब्रध्नस्य विष्टपम् ॥ २३१ ॥

वस्त्रदान करनेवाला चन्द्रमाके सालोक्य (चन्द्रलोकमें निवास) को, घोड़ेका दान करनेवाला अश्विनीकुमारोंके सालोक्य को, बैलका दान करनेवाला बहुत (दृढ-स्थिर) धनको, गायका दान करनेवाला सूर्यलोकको (पाता है)—॥ २३१ ॥

वस्त्रदश्चन्द्रसमानलोकान्प्राप्नोति चन्द्रलोके चन्द्रसमविभूतिर्वसति, एवमेवाश्विलोकं घोटकदः, बलीवर्दस्य दाता प्रचुरां श्रियम् , स्त्रीगवीप्रदः सूर्यलोकं प्राप्नोति ॥ २३१ ॥

यानशय्याप्रदो भार्यामैश्वर्यमभयप्रदः ।
धान्यदः शाश्वतं सौख्यं ब्रह्मदो ब्रह्मसार्ष्टिताम् ॥ २३२ ॥

रथ आदि सवारी तथा शय्याका दान करनेवाला स्त्रीको, अभयदान करने वाला (या किसी की हिंसा नहीं करनेवाला) ऐश्वर्यको, धान्य (जौ, धान, चावल, गेहूँ, चना आदि) का दान करनेवाला चिरस्थायी सुखको और वेद दान (वेदका अध्यापन या व्याख्यान) करनेवाला ब्रह्माकी समानताको (पाता है)—॥ २३२ ॥

रथादियानस्य शय्यायाश्च दाता भार्याम् , अभयप्रदः प्राणिनामहिंसकः प्रभुत्वम्, धान्यदो व्रीहियवमाषमुद्गादिसस्यानां दाता चिरस्थायि सुखित्वम् , ब्रह्म वेदस्तत्प्रदो वेदस्याध्यापको व्याख्याता च ब्रह्मणः सार्ष्टितां समानगतितां तत्तुल्यतां प्राप्नोति ॥ २३२ ॥

सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते ।
वार्यन्नगोमहीवासस्तिलकाञ्चनसर्पिषाम् ॥ २३३ ॥

जल, अन्न, गौ, भूमि, वस्त्र, तिल, सुवर्ण और घृत; इन सबोंके दानोंसे ब्रह्मदान (वेदका पढ़ाना) श्रेष्ठ फल देनेवाला है ॥ २३३ ॥

उदकान्नधेनुभूमिवस्त्रतिलसुवर्णघृतादीनां सर्वेषामेव यानि दानानि तेषां मध्यात् वेददानं विशिष्यते प्रकृष्टफलदं भवति ॥ २३३ ॥

येन येन तु भावेन यद्यद्दानं प्रयच्छति ।
तत्तत्तेनैव भावेन प्राप्नोति प्रतिपूजितः ॥ २३४ ॥

(दानकर्ता) जिस-जिस भाव (अभिलाषा-कामना) से जो-जो दान देता है, उसी-उसी भाव से (जन्मान्तरमें) पूजित होता हुआ उस-उस वस्तुको प्राप्त करता है ॥ २३४ ॥

अवधारणे तुशब्दः । येन येनैव भावेनाभिप्रायेण फलाभिसन्धिकः स्वर्गो मे स्यादिति, मुमुक्षुर्मोक्षाभिप्रायेण निष्कामो यद्यद्दानं ददाति, तेनैव भावेनोपलक्षितस्तत् तद्दानफलद्वारेण जन्मान्तरे पूजितः सन्प्राप्नोति ॥ २३४ ॥

योऽर्चितं प्रतिगृह्णाति ददात्यर्चितमेव च ।
तावुभौ गच्छतः स्वर्गं नरकं तु विपर्यये ॥ २३५ ॥

जो सत्कारसहित दान लेता है और जो सत्कारसहित दान देता है, वे दोनों स्वर्गको जाते हैं । इसके विरुद्ध करने (असत्कारपूर्वक दान लेने या देने) से वे नरकको जाते हैं ॥ २३५ ॥

योऽर्चापूर्वकमेव दाता ददाति, यश्च प्रतिग्रहीताऽर्चापूर्वकमेव दत्तं प्रतिगृह्णाति, तावुभौ स्वर्गं गच्छतोऽनर्चितदानप्रतिग्रहणे नरकम् । पुरुषार्थे तु प्रतिग्रहेऽनर्चितमेव मया ग्रहीतव्यं नान्यथेति नियमात्फललाभो न विरुद्धः ॥ २३५ ॥

न विस्मयेत तपसा वदेदिष्ट्वा च नानृतम् ।
नार्तोऽप्यपवदेद्विप्रान्न दत्त्वा परिकीर्तयेत् ॥ २३६ ॥

तपस्यासे विस्मय (चान्द्रायण या कृच्छ्र आदि कठिन तपस्याकी पूर्णता होने पर देखो किस प्रकार मैंने इसे पूरा कर लिया ऐसी भावना) न करे, यज्ञ करके असत्य न बोले, पीडित होकर भी ब्राह्मणोंको दुर्वाच्य न कहे और दान देकर नहीं कहे ॥ २३६ ॥

चान्द्रायणादितपसा कृतेन कथं ममेदं दुष्करमनुष्ठितमिति विस्मयं न कुर्यात् । यागं च कृत्वा नासत्यं वदेत् । कृतेऽपि पुरुषार्थतयाऽनृतवदननिषेधे क्रत्वर्थोऽयं पुनर्निषेधः । ब्राह्मणैः पीडितोऽपि न तान्निन्दयेत् । गवादिकं च दत्त्वा मयेदं दत्तमिति परस्य न कथयेत् ॥

यज्ञोऽनृतेन क्षरति तपः क्षरति विस्मयात् ।
आयुर्विप्रापवादेन दानं च परिकीर्तनात् ॥ २३७ ॥

असत्य बोलनेसे यज्ञ नष्ट हो जाता है, विस्मयसे तपस्या नष्ट हो जाती है, ब्राह्मणको दुर्वाच्य कहने से आयु और (दान की हुई वस्तुको) कहने से दान (का फल) नष्ट होजाता है ॥ २३७ ॥

अनृतेन हेतुना यज्ञः क्षरति । सत्येनैव स फलं साधयति । एवं तपसि, दाने च योज्यम् । विप्रनिन्दया चायुः क्षीयते ॥ २३७ ॥

धर्मं शनैः संचिनुयाद्वल्मीकमिव पुत्तिकाः ।
परलोकसहायार्थं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥ २३८ ॥

जिस प्रकार दीमक वल्मीक (वामी-दियकाँड़) का सञ्चय करते हैं, उसी प्रकार परलोककी सहायताके लिये सब जीवोंको पीडा नहीं देते हुए धीरे-धीरे धर्म का सञ्चय करे ॥ २३८ ॥

सर्वप्राणिनां पीडां परिहरन्परलोकसहायार्थं यथाशक्ति शनैः शनैर्धर्ममनुतिष्ठेत् । यथा पुत्तिकाः पिपीलिकाप्रभेदाः शनैः शनैर्महान्तं मृत्तिकाकूटं सञ्चिन्वन्ति ॥ २३८॥

नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः ।
न पुत्रदारा न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः ॥ २३९ ॥

क्योंकि परलोकमें माता, पिता, स्त्री और ज्ञाति सहायताके लिये नहीं रहते हैं, केवल धर्म ही (सहायताके लिये) रहता है ॥ २३९ ॥

यस्मात्परलोके सहायकार्यसिध्यर्थं न पितृमातृपुत्रपत्नीज्ञातयस्तिष्ठन्ति, किन्तु धर्म एवैकोऽद्वितीयभावेनोपकारार्थमवतिष्ठते । तस्मात्पुत्रादिभ्योऽपि महोपकारकं धर्ममनुतिष्ठेत् ॥

एकः प्रजायते जन्तुरेक एव प्रलीयते ।
एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम् ॥ २४० ॥

प्राणी अकेला ही पैदा होता है, अकेला ही मरता है, अकेला ही पुण्य (जन्य स्वर्ग-आदि फल) भोगता है, और अकेला ही पाप (-जन्य नरक आदि फल) भोगता हैं ॥ २४० ॥

एक एव प्राण्युत्पद्यते न बान्धवैः सहितः। एक एव च म्रियते। सुकृतफलमपि स्वर्गादिकम्, दुरितफलं च नरकादिमेक एव भुङ्क्ते न मात्रादिभिः सह। तस्मान्मात्राद्यपेक्षयाऽपि धर्मं न त्यजेत् ॥ २४० ॥

मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्ठसमं क्षितौ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति ॥ २४१ ॥

बान्धव लोग मरे हुए (निर्जीव) शरीरको लकड़ी और ढेलेके समान भूमिपर छोड़ पराङ्मुख होकर चले जाते हैं (उसके साथ नहीं जाते, किन्तु) एक धर्म ही उसके पीछे जाता है ॥ २४१ ॥

मृतं शरीरं मनःप्राणादित्यक्तं लोष्टवदचेतनं भूमौ त्यक्त्वा पराङ्मुखा बान्धवा यान्ति न मृतं जीवमनुयान्ति, धर्मस्तु तमनुगच्छति ॥ २४१ ॥

तस्माद्धर्मं सहायार्थं नित्यं संचिनुयाच्छनैः।
धर्मेण हि सहायेन तमस्तरति दुस्तरम् ॥ २४२ ॥

इस कारण (परलोकमें) सहायताके लिये धीरे-धीरे धर्मका सर्वदा सञ्चय करे क्योंकि धर्मसे दुस्तर कठिनाईसे पार करने योग्य) तम (नरकादिके दुःख) को पार करता है ॥ २४२ ॥

यस्माद्धर्मेण सहायेन दुस्तरं तमो नरकादिदुःखं तरति, तस्माद्धर्मं सहायभावेन सततं शनैरनुतिष्ठेत् ॥ २४२ ॥

धर्मप्रधानं पुरुषं तपसा हतकिल्बिषम्।
परलोकं नयत्याशु भास्वन्तं खशरीरिणम् ॥ २४३ ॥

तपस्या से पापहीन, प्रकाशमान और ब्रह्म-स्वरूप धर्मपरायण पुरुषको (धर्म ही) परलोक (ब्रह्मलोक, स्वर्गलोक आदि) को ले जाता है ॥ २४३ ॥

धर्मपरं पुरुषं दैवादुपजाते पापे प्राजापत्यादितपोरूपप्रायश्चित्तेन हतपापं दीप्तिमन्तं प्रकृतो धर्म एव शीघ्रं ब्रह्म स्वर्गादिरूपं परलोकं नयति। खं ब्रह्मेत्याद्युपनिषत्सु, खशब्दस्य ब्रह्मणि प्रयोगः। खशरीरिणं ब्रह्मस्वरूपमित्यर्थः। यद्यपि लिङ्गशरीरावच्छिन्नो जीव एव गच्छति, तथापि ब्रह्मांशत्वाद् ब्रह्मस्वरूपमुपपन्नम्। धर्म एव चेत्परं लोकं नयति, ततो धर्ममनुतिष्ठेत्।

न हि वेदाः स्वधीतास्तु शास्त्राणि विविधानि च।
तत्र गच्छन्ति यत्रास्य धर्म एकोऽनुगच्छति ॥ २४३ ॥

उत्तमैरुत्तमैर्नित्यं संबन्धानाचरेत्सह।
निनीषुः कुलमुत्कर्षमधमानधमांस्त्यजेत् ॥ २४४ ॥

वंशको उन्नत करनेकी इच्छावाला सर्वदा (अपनेसे) बड़ों-बड़ोंके साथ सम्बन्ध करे और (अपनेसे) नीचों-नीचोंको छोड़ दे (उनसे सम्बन्ध न करे) ॥ २४४ ॥

कुलमुत्कर्षं नेतुमिच्छन्विद्याचारजन्मादिभिरुत्कृष्टैः सह सर्वदा कन्यादानादिसम्बन्धानाचरेत्। अपकृष्टांस्तु सम्बन्धांस्त्यजेत्। उत्तमविधानादेवाधमपरित्यागे सिद्धे यत्पुनरधमांस्त्यजेदित्यभिधानं तदुत्तमासम्भवे स्वतुल्याद्यनुज्ञानार्थम् ॥ २४४ ॥

उत्तमानुत्तमान्गच्छन्हीनान्हीनांश्च वर्जयन्।
ब्राह्मणः श्रेष्ठतामेति प्रत्यवायेन शूद्रताम् ॥ २४५ ॥

(अपनेसे) बड़ों-बड़ोंके साथ सम्बन्ध करता हुआ और (अपनेसे) नीचों-नीचोंका त्याग करता हुआ ब्राह्मण श्रेष्ठताको पाता है तथा इसके विरुद्ध आचरण करता हुआ शूद्रताको पाता है ॥ २४५ ॥

उत्तमान्गच्छंस्तैः सह सम्बन्धं कुर्वन्ब्राह्मणः श्रेष्ठतां गच्छति । प्रत्यवायेन विपरीताचारेण हीनैः सह सम्बन्धे जातेरपकर्षतया शूद्रतुल्यतामेति ॥ २४५ ॥

दृढकारी मृदुर्दान्तः क्रूराचारैरसंवसन्।
अहिंस्रो दमदानाभ्यां जयेत्स्वर्गं तथाव्रतः ॥ २४६ ॥

दृढकर्ता (विघ्नादिके आनेपर भी प्रारम्भ किये गये कार्यको पूरा करनेवाला), निष्ठुरतासे रहित, सुखदुःखादि द्वन्द्वोंको सहनेवाला, क्रूर आचरणवालोंका साथ नहीं करता हुआ, अहिंसक वैसा व्रत (नियम, यम इन्द्रियसंयम तथा दानादि) करनेवाला स्वर्गको जीत लेता (प्राप्त करता) है ॥ २४६ ॥

प्रारब्धसम्पादयिता दृढकारी मृदुरनिष्ठुरः, दमस्य पृथगुपादानाद् दान्त इति शीतातपादिद्वन्द्वसहिष्णुर्ग्रहीतव्यः । क्रूराचारैः पुरुषैः संसर्गं परिहरन्, परहिंसानिवृत्तः, तथाव्रत एव नियमदमेन्द्रियसंयमाख्येन च दानेन स्वर्गं प्राप्नोति ॥ २४६ ॥

एधोदकं मूलफलमन्नमभ्युद्यतं च यत्।
सर्वतः प्रतिगृह्णीयान्मध्वथाभयदक्षिणाम् ॥ २४७ ॥

लकड़ी, जल, मूल, फल, बिना माँगे आया हुआ अन्न, मधु, (शहद) और अभयदान (अपने रक्षार्थ) सबसे ग्रहण करे ॥ २४७ ॥

काष्ठजलफलमूलमधूनि अन्नं चाभ्युद्यतमयाचितोपनीतम्।
अन्यत्र कुलटाषण्ढपतितेभ्यस्तथा द्विषः ॥ (या. स्मृ. १-२१५)।

इति याज्ञवल्क्यवचनात्कुलटाऽऽदिवर्जं सर्वतः शूद्रादिभ्योऽपि प्रतिगृह्णीयात् । "आममेवाददीतास्मात्" इत्युक्तत्वादामान्नमेव शूद्रात्प्रतिग्राह्यम् । अभयं चात्मत्राणात्मकं प्रीतिहेतुत्वाद्दक्षिणातुल्यं चण्डालादिभ्योऽपि स्वीकुर्यात् ॥ २४७ ॥

आहृताभ्युद्यतां भिक्षां पुरस्तादप्रचोदिताम्।
मेने प्रजापतिर्ग्राह्यमपि दुष्कृतकर्मणः ॥ २४८ ॥

दान लेने वालेके पास सामने रक्खी हुई, स्वयं (दान लेने वालेके द्वारा) अथवा अन्य किसीके द्वारा प्रेरणा करके नहीं मँगायी गयी और 'आप (दान लेनेवाले) को अमुक वस्तु, अमुक प्रमाण या अमुक समयमें दूँगा' इस प्रकार दाताके द्वारा पहले नहीं कही हुई भिक्षा वस्तु (हिरण्य आदि) पापियों (पतित रहित) से भी लेनी चाहिये, ऐसा ब्रह्मा मानते हैं ॥ २४८ ॥

आहृतां संप्रदानदेशमानीताम् । अभ्युद्यतामाभिमुख्येन स्थापिताम् । अप्रचोदितां प्रतिग्रहीत्रा स्वयमन्यमुखेन वा पूर्वमयाचितां दात्रा च तुभ्यमिदं ददानीति पूर्वमकथितां हिरण्यादिभिक्षां न तु सिद्धान्नरूपाम् "अन्नमभ्युद्यतं च" इत्युक्तत्वात्पापकारिणोऽपि पतितादिवर्जं ग्राह्या इति विरिञ्चिरमन्यत ॥ २४८ ॥

नाश्नन्ति पितरस्तस्य दश वर्षाणि पञ्च च।
न च हव्यं वहत्यग्निर्यस्तामभ्यवमन्यते ॥ २४९ ॥

जो उस (४।२४८) भिक्षा को अपमानित करता (नहीं लेता) है, उससे दिये गये कव्य (श्राद्धान्न) को पन्द्रह वर्षतक पितर लोग नहीं लेते और अग्नि हव्य (आहुतिमें दिया गया हविष्यान्न) को नहीं लेती ॥ २४९ ॥

[चिकित्सककृतघ्नानां शिल्पकर्तुश्च वार्धुषेः ।
षण्ढस्य कुलटायाश्च उद्यतामपि वर्जयेत् ॥ १८ ॥
न विद्यमानमेवं वै प्रतिग्राह्यं विजानता ।
विकल्प्याविद्यमाने तु धर्महीनः प्रकीर्तितः ॥ १९ ॥]

[वैद्य, कृतघ्न, शिल्पी, सूदखोर, नपुंसक और कुलटा स्त्रीकी भिक्षा विना मांगे सामने आवे, तो भी नहीं लेवे ॥ १८ ॥

अपने यहां वस्तुके रहने पर ज्ञानपूर्वक उक्त भिक्षा नहीं लेवे और अपने यहां नहीं रहनेपर विकल्प कर लेनेसे धर्महीन हो जाता है ॥ १९ ॥]

तेनापकल्पितं श्राद्धेषु कव्यं पञ्चदश वर्षाणि पितरो न भुञ्जते । न च यज्ञेषु तेन दत्तं पुरोडाशादि हव्यमग्निर्वहति देवान्प्रापयति, यस्तां भिक्षां न स्वीकरोति ॥ २४९ ॥

शय्यां गृहान्कुशान्गन्धानपः पुष्पं मणीन्दधि ।
धाना मत्स्यान्पयो मांसं शाकं चैव न निर्नुदेत् ॥ २५० ॥

शय्या, घर, कुशा, गन्ध (चन्दन, कर्पूर, कस्तूरी आदि), जल, फूल, मणि (रत्न—जवाहरात), दही, धाना (भूने हुए जौ या चावल), मछली, दूध, मांस और शाक; ये यदि विना मांगे गृहपर दाता लावे तब इनको मना न करे (ले लेवे) ॥ २५० ॥

गन्धान्गन्धवन्ति कर्पूरादीनि धानाः भृष्टयवतण्डुलान् , पयः क्षीरम्, पूर्वमाहरणोपायनिबन्धेन गवादीनामप्रत्याख्यानमुक्तम् शय्यादीनि स्वयाचिताहृतान्यपि दात्रा स्वगृहस्थितान्ययाचितोपकल्पितानि न प्रत्याचक्षीत ॥ २५० ॥

गुरून्भृत्यांश्चोज्जिहीर्षन्नर्चिष्यन्देवतातिथीन् ।
सर्वतः प्रतिगृह्णीयान्न तु तृप्येत्स्वयं ततः ॥ २५१ ॥

क्षुधा पीडित गुरु (माता, पिता उपाध्यायादि गुरुजन) और भृत्य (तथा स्त्री) का उद्धार (उन्हें भिक्षान्न द्वारा सन्तुष्ट) अर्थात् क्षुधा–निवृत्त करने तथा देवता आदिकी पूजा करनेके लिये (पतितको छोड़) सबसे भिक्षा ग्रहण करे, किन्तु उस भिक्षा वस्तु से स्वयं सन्तुष्ट न हो अर्थात् उस भिक्षा वस्तुको अपने काममें न लावे ॥ २५१ ॥

मातापित्रादीन्गुरून्भृत्यांश्च भार्यादीन् क्षुधावसन्नानुद्धर्तुमिच्छन्पतितादिवर्जं सर्वतः शूद्रादेरसाधुभ्यश्च प्रतिगृह्णीयात् न तु तेन धनेन स्वयं वर्तेत ॥ २५१ ॥

गुरुषु त्वभ्यतीतेषु विना वा तैर्गृहे वसन् ।
आत्मनो वृत्तिमन्विच्छन्गृह्णीयात्साधुतः सदा ॥ २५२ ॥

गुरु (माता-पितादि गुरुजन) के स्वर्गवास हो जानेपर या (उनके संन्यास आदि लेनेके कारण जीते रहने पर भी) उनसे अलग गृहमें रहता हुआ अपनी वृत्तिकी इच्छा करता हुआ सर्वदा सज्जनोंसे (भिक्षाको) ग्रहण करे ॥ २५२ ॥

मातापित्रादिषु मृतेषु तैर्वा जीवद्भिरपि स्वयोगावस्थितैर्विना गृहान्तरे वसन्नात्मना वृत्तिमन्विच्छन्सर्वदा साधुभ्यो गृह्णीयादेव ॥ २५२ ॥

आर्धिकः कुलमित्रं च गोपाला दासनापितौ ।
एते शूद्रेषु भोज्यान्ना यश्चात्मानं निवेदयेत् ॥ २५३ ॥

खेती करनेवाला, वंशका मित्र, गोपाल, दास, नाई और जिसने अपनेको समर्पण कर दिया है; शूद्रोंमें ये भोज्यान्न हैं (इन शूद्रोंके अन्नका भोजन करना अनिषिद्ध है) ॥ २५३ ॥

आर्धिकः कार्षिकः । संबन्धिशब्दाश्चैते । यस्य कृषिं करोति, स तस्य भोज्यान्नः । एवं स्वकुलस्य मित्रं यो यस्य गोपालो, यो यस्य दासः, यो यस्य नापितः कर्म करोति, यो यस्मिन्नात्मानं निवेदयति दुर्गतिरहं त्वदीयसेवां कुर्वन्निति च त्वत्समीपे वसामीति यः शूद्रस्तस्य भोज्यान्नः ॥ २५३ ॥

यथाऽऽत्मनिवेदनं शूद्रेण कर्तव्यं तदाह—

यादृशोऽस्य भवेदात्मा यादृशं च चिकीर्षितम् ।
यथा चोपचरेदेनं तथात्मानं निवेदयेत् ॥ २५४ ॥

इस (शूद्र) की जैसी आत्मा (कुल-शीलादि-मर्यादाका स्वरूप) हो, जैसा अभीष्ट कर्तव्य हो और जैसे इसकी सेवा करनी हो; वैसे अपने को निवेदन (आत्म समर्पण) कर दे ॥ २५४ ॥

अस्य शूद्रस्य कुलशीलादिभिर्यादृश आत्मा स्वरूपम्, यच्चास्य कर्म कर्तुमीप्सितं यथा चानेन सेवा कर्तव्या तेन प्रकारेणात्मानं कथयेत् ॥ २५४ ॥

योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा सत्सु भाषते ।
स पापकृत्तमो लोके स्तेन आत्मापहारकः ॥ २५५ ॥

जो स्वयं अन्यथा होते हुए सज्जनोंसे उसके विपरीत (झूठा) बतलाता है, वह संसारमें बड़ा पापी और चोर है, क्योंकि वह आत्माको अपहरण करनेवाला है ॥ २५५ ॥

य इति सामान्यनिर्देशात्प्रकृतशूद्रादन्योऽपि यः कश्चित्कुलादिभिरन्यथाभूतमात्मानमन्यथा साधुषु कथयति स लोकेऽतिशयेन पापकारी चौरः यस्मादात्मापहारकः । अन्यः स्तेनो द्रव्यान्तरमपहरति अयं तु सर्वप्रधानमात्मानमेवापहरेत् ॥ २५५ ॥

वाच्यर्था नियताः सर्वे वाङ्मूला वाग्विनिःसृताः ।
तांस्तु यः स्तेनयेद्वाचं स सर्वस्तेयकृन्नरः ॥ २५६ ॥

वचन (शब्द) में सब अर्थ निश्चित हैं और वचनसे ही सबका (प्रतीति द्वारा) ज्ञान होता है । जो मनुष्य उस वचनको चुराता (कपट पूर्वक छिपाकर कहता) है, वह सब कुछ का चोर समझा जाता है ॥ २५६ ॥

सर्वेऽर्थाः शब्देषु नियता वाच्यत्वेन नियताः वाङ्मूलाश्च शब्दास्तेषां प्रतिपत्तौ शब्देभ्य एव प्रतीयन्ते प्रतीतिद्वारेण शब्दमूलत्वं शब्देभ्य एवावगम्य चानुष्ठीयन्त इति वाग्विनिर्गता इत्युच्यन्ते । अत एव "वेदशब्देभ्य एवादौ" (म. स्मृ. १-२१) इति ब्रह्मणोऽपि सृष्टिर्वेदशब्दमूलैवोक्ता । अतो यस्तां वाचं स्तेनयेत्स्वार्थव्यभिचारिणीं वाचयति, स नरः सर्वार्थस्तेयकृद्भवति ॥ २५६ ॥

महर्षिपितृदेवानां गत्वाऽऽनृण्यं यथाविधि ।
पुत्रे सर्वं समासज्य वसेन्माध्यस्थमाश्रितः ॥ २५७ ॥

विधिपूर्वक महर्षि, पितर और देवताओंके ऋणसे छुटकारा पाकर सब (गृहकार्यभार) पुत्रको

देकर माध्यस्थभाव धारणकर (धन-धान्य तथा पुत्रादि परिवारमें ममतासे रहित होकर घरमें ही) रहे ॥ २५७ ॥

गृहस्थस्यैव संन्यासप्रकारोऽयमुच्यते। महर्षीणां स्वाध्यायेन, पितॄणां पुत्रोत्पादनेन, देवतानां यज्ञैर्यथाशास्त्रमानृण्यं गत्वा योग्यपुत्रे सर्वं कुटुम्बचिन्ताभारमारोप्य माध्यस्थमाश्रितः पुत्रदारधनादौ त्यक्तममत्वो ब्रह्मबुद्ध्या सर्वत्र समदर्शनो गृह एव वसेत् ॥ २५७ ॥

एकाकी चिन्तयेन्नित्यं विविक्ते हितमात्मनः।
एकाकी चिन्तयानो हि परं श्रेयोऽधिगच्छति ॥ २५८ ॥

(अभीप्सित कर्म तथा धनोपार्जन आदिकी चिन्ताको छोड़कर पुत्रसे भोजनादिको पाता हुआ) एकान्त स्थानमें अकेला ही अपने हित (जीवका ब्रह्मरूप हो जाने) का ध्यान करता रहे, क्योंकि अकेला ही (जीवके ब्रह्मभावमें परिणाम को) चिन्तन करता हुआ मनुष्य श्रेष्ठ कल्याण (मोक्ष) को प्राप्त करता है ॥ २५८ ॥

काम्यकर्मणां धनार्जनस्य च कृतसंन्यासः षष्ठाध्याये वक्ष्यमाणः पुत्रोपकल्पितवृत्तिरेकाकी निर्जनदेशे आत्महितं जीवस्य ब्रह्मभावं वेदान्तोक्तं सर्वदा ध्यायेत्। यस्मात्तद्ध्यायन्ब्रह्मसाक्षात्कारेण परं श्रेयो मोक्षलक्षणं प्राप्नोति ॥ २५८ ॥

एषोदिता गृहस्थस्य वृत्तिर्विप्रस्य शाश्वती।
स्नातकव्रतकल्पश्च सत्त्ववृद्धिकरः शुभः ॥ २५९ ॥

(भृगु मुनि महर्षियोंसे कहते हैं कि) - यह गृहस्थ ब्राह्मणके नित्य वृत्ति (आपत्तिकालिक वक्ष्यमाण अनित्य वृत्तिसे भिन्न ऋतादि वृत्ति) और सत्त्वगुणकी वृद्धि करनेवाला शुभ स्नातकोंके व्रतविधानको (मैंने तुमलोगोंसे) कहा ॥ २५९ ॥

अयमध्यायार्थोपसंहारः। एषा ऋतादिवृत्तिर्गृहस्थस्य ब्राह्मणस्योक्ता शाश्वतो नित्या। आपदि त्वनित्या वक्ष्यते। स्नातकव्रतविधिश्च सत्त्वगुणस्य वृद्धिकरणे प्रशस्त उक्तः ॥२५९॥

अनेन विप्रो वृत्तेन वर्तयन्वेदशास्त्रवित्।
व्यपेतकल्मषो नित्यं ब्रह्मलोके महीयते ॥ २६० ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

इस वृत्तिसे आचरण करता हुआ, वेदशास्त्रका ज्ञाता ब्राह्मण पापरहित होकर सर्वदा ब्रह्ममें विलीन होकर उत्कृष्टताको प्राप्त करता है ॥ २६० ॥

सर्वस्योक्तस्य फलकथनमिदम्। अनेन शास्त्रोक्ताचारेण वेदविद् ब्राह्मणो वर्तमानो नित्यकर्मानुष्ठानात्क्षीणपापः सन्ब्रह्मज्ञानप्रकर्षेण ब्रह्मैव लोकस्तस्मिन्लीनो महिमानं सर्वोत्कर्षं प्राप्नोति ॥ २६० ॥ क्षे. श्लो. १९ ॥

इति श्रीकुल्लूकभट्टकृतायां मन्वर्थमुक्तावल्यां मनुवृत्तौ चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः

श्रुत्वैतानृषयो धर्मान्स्नातकस्य यथोदितान् ।
इदमूचुर्महात्मानमनलप्रभवं भृगुम् ॥ १ ॥

स्नातकोंके लिये यथावत् कथित इन (चतुर्थाध्यायोक्त) धर्मोंको सुनकर ऋषियोंने अग्निसे उत्पन्न भृगु मुनिसे यह कहा—॥ १ ॥

ऋषयः स्नातकस्यैतान्यथोदितधर्मान्छ्रुत्वा महात्मानं परमार्थपरं भृगुमिदं वचनमब्रुवन् । यद्यपि प्रथमाध्याये दशप्रजापतिमध्ये "भृगुं नारदमेव च" (म. स्मृ. १-३५) इति भृगुसृष्टिरपि मनुत एवोक्ता, तथापि कल्पभेदेनाग्निप्रभवत्वमुच्यते । तथा च श्रुतिः—"तस्य यद्रेतसः प्रथमं देदीप्यते तदसावादित्योऽभवद्यद् द्वितीयमासीद् भृगुः" इति । अत एव-श्चाद्रेतस उत्पन्नत्वाद् भृगुः ॥ १ ॥

एवं यथोक्तं विप्राणां स्वधर्ममनुतिष्ठताम् ।
कथं मृत्युः प्रभवति वेदशास्त्रविदां प्रभो ॥ २ ॥

हे प्रभो ! इस प्रकार यथायोग्य कहे गये तथा वेदशास्त्रज्ञाता अपने धर्मका आचरण करते हुए ब्राह्मणोंकी मृत्यु कैसे होती है ? ॥ २ ॥

एवं यथोक्तं स्वधर्मं कुर्वतां ब्राह्मणानां श्रुतिशास्त्रज्ञानां वेदोदितायुषः पूर्वं कथं मृत्युः प्रभवति । आयुरल्पत्वहेतोरधर्माचरणस्याभावात् । सकलसंशयोच्छेदनसमर्थत्वात्प्रभो इति संबोधनम् ॥ २ ॥

स तानुवाच धर्मात्मा महर्षीन्मानवो भृगुः ।
श्रूयतां येन दोषेण मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति ॥ ३ ॥

धर्मात्मा एवं मनुके पुत्र भृगुजी ने उन महर्षियोंसे कहा—जिस दोषसे मृत्यु ब्राह्मणोंको मारनेकी इच्छा करती है, (उसे) आप लोग सुनिये ॥ ३ ॥

स मनोः पुत्रो भृगुर्धर्मस्वभावो येन दोषेणाल्पकाले विप्रान्हन्तुमिच्छति मृत्युः स दोषः श्रूयतामित्येवं तान्महर्षीञ्जगाद ॥ ३ ॥

अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात् ।
आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति ॥ ४ ॥

वेदोंका अभ्यास नहीं करनेसे, आचारके त्यागसे, आलस्य से और अन्न (भोज्य पदार्थ) के दोष से मृत्यु ब्राह्मणोंको मारनेकी इच्छा करती है ॥ ४ ॥

वेदानामनभ्यासात्, स्वीयाचारपरित्यागात्, सामर्थ्ये सत्यवश्यकर्तव्यकरणानुत्साहलक्षणादालस्यात्, अदनीयदोषाच्च मृत्युर्विप्रान्हन्तुमिच्छति, एतेषामधर्मोत्पादनद्वारेणायुःक्षयहेतुत्वात् ॥ ४ ॥

वेदानभ्यासादेरुक्तत्वादनुक्तमन्नदोषमाह—

लशुनं गृञ्जनं चैव पलाण्डुं कवकानि च ।
अभक्ष्याणि द्विजातीनाममेध्यप्रभवाणि च ॥ ५ ॥

लहसुन, सलगम (या लाल मूली, कोई गृञ्जनका गाजर भी अर्थ करते हैं), प्याज, छत्राक (भूकन्द-विशेष) और अपवित्र स्थान (श्मशानादि) में उत्पन्न शाक आदि द्विजातियोंके अभक्ष्य हैं ॥ ५ ॥

लशुनगृञ्जनपलाण्डुवाख्यानि त्रीणि स्थूलकन्दशाकानि, कवकं छत्राकम्, अमेध्यप्रभवाणि विष्ठादिजातानि तन्दुलीयादीनि । द्विजातीनामिति (याज्ञवल्क्य ?) वचनादेतानि द्विजातीनामभक्ष्याणि । द्विजातिग्रहणं शूद्रपर्युदासार्थम् ॥ ५ ॥

लोहितान्वृक्षनिर्यासान्वृश्चनप्रभवांस्तथा ।
शेलुं गव्यं च पेयूषं प्रयत्नेन विवर्जयेत् ॥ ६ ॥

पेड़ोंका लाल गोंद तथा पेड़ोंको काटने (त्वचाका कुछ अंश छिलने) से उत्पन्न गोंद, लसोंड़ा और गायका फेनुस; इनको (खाना) प्रयत्नपूर्वक छोड़ दे ॥ ६ ॥

लोहितवर्णान्वृक्षनिर्यासान्वृक्षान्निर्गतरसान्कठिनतां यातान्वृश्चनं छेदनं तत्प्रभवानलोहितानपि । तथा च तैत्तिरीयश्रुतिः—"अथो खलु य एव लोहितो यो वा व्रश्चनान्निर्येपति तस्य नाश्यं काममन्यस्य" इति । शेलुं बहुवारफलम्, गोभवं पेयूषं नवप्रसूतायाः गोः क्षीरमग्निसंयोगात्कठिनं भवत्येतान्यत्नतस्त्यजेत् । "अनिर्दशाया गोक्षीरम्" (म. स्मृ. ५-८) इत्यनेनैव पेयूषस्यापि निषेधसिद्धावधिकदोषत्वात्प्रायश्चित्तगौरवज्ञापनार्थं पृथङ् निर्देशः । अत एव यत्नत इत्युक्तम् ॥ ६ ॥

वृथा कृसरसंयावं पायसापूपमेव च ।
अनुपाकृतमांसानि देवान्नानि हवींषि च ॥ ७ ॥

वृथा (बिना देवादिके निमित्त—अपने लिये तैयार किया) कृसरान्न (तिलमिश्रित भात), संयाव (हलुआ या मोहनभोग), खीर, पूआ या मालपूआ, अनुपाकृत (बिना यज्ञके हत) मांस देवान्न (नैवेद्यके निमित्त निकाला हुआ अन्न); हविष्य—(इनको न खावे) ॥ ७ ॥

देवताद्यनुद्देशेनात्मार्थं यत्पच्यते तद् वृथा । कृसरस्तिलेन सह सिद्ध ओदनः । तथा च छन्दोगपरिशिष्टम्—

"तिलतण्डुलसंपक्वः कृसरः सोऽभिधीयते ।"

संयावो घृतक्षीरगुडगोधूमचूर्णसिद्धस्तत्करिकेति प्रसिद्धः । क्षीरतण्डुलमिश्रः पायसः । अपूपः पिष्टकः । एतान्वृथापक्वान्विवर्जयेत् । पशुयागादौ मन्त्रबहुलेन पशोः स्पर्शनमुपाकरणं तद्रहितः पशुरनुपाकृतस्तस्य मांसानि । देवान्नानि नैवेद्यार्थमन्नानि प्राङ् निवेदनात्, हवींषि पुरोडाशादीनि होमात्प्राग्वर्जयेत् । अनुपाकृतमांसानीत्येतद्विशेषनिषेधदर्शनात् "अनर्चितं वृथामांसम्" इति सामान्यनिषेधो गोबलीवर्दन्यायेनानुपाकृतमांसेतरश्राद्धाद्यनुद्देश्यमांसभक्षणे पर्यवस्यति ॥ ७ ॥

अनिर्दशाया गोः क्षीरमौष्ट्रमैकशफं तथा ।
आविकं संधिनीक्षीरं विवत्सायाश्च गोः पयः ॥ ८ ॥
[क्षीराणि यान्यभक्ष्याणि तद्विकाराशने बुधः ।
सप्तरात्रं व्रतं कुर्यात्प्रयत्नेन समाहितः ॥ १ ॥]

ब्याने (प्रसव करने) के दिनसे जिसको १० दिन न बीते हों ऐसी गाय (भैंस, बकरी आदि भी), ऊंटिनी, एक खुरवाली (घोड़ी, गधी आदि) पशु, भेंड़, गर्भवती होनेकी इच्छा करनेवाली

(उठी हुई—गरभाई हुई) पशु, जिसका बच्चा मर गया हो ऐसी गाय; इनके दूधको—(छोड़ दे—न पीवे) ॥ ८ ॥

जो अभक्ष्य दूध (४।८) हैं, उनके विकार (बने पदार्थ—दही, खोआ आदि) के खानेपर विद्वान् सावधान होकर सात रात्रि व्रत करें ॥ १ ॥

प्रसूताया अनिर्दशाया गोर्दुग्धम् । गोरिति पेयक्षीरपशूपलक्षणार्थम् । तेनाजामहिष्योरपि दशाहमध्ये प्रतिषेधः । तथा च यमः—

"अनिर्दशाहं गोक्षीरमाजं माहिषमेव च ।"

तथोष्ट्रभवम्, अश्वाद्येकखुरसंबन्धि, मेषभवम्, संधिनी या ऋतुमती वृषमिच्छती तस्याः क्षीरम् । तथा च हारीतः—"संधिनी वृषस्यन्ती तस्याः पयो न पिबेदृतुमत्तद्भवति" । विवत्साया मृतवत्साया असन्निहितवत्सायाश्च क्षीरं वर्जयेत । धेन्वधिकरणन्यायेन वत्सग्रहणादेव गवि लब्धायां पुनर्गोग्रहणं गोरेव, न त्वजामहिष्योरिति ज्ञापनार्थम् ॥ ८ ॥

आरण्यानां च सर्वेषां मृगाणां माहिषं विना ।
स्त्रीक्षीरं चैव वर्ज्यानि सर्वशुक्तानि चैव हि ॥ ९ ॥

भैंसको छोड़कर जंगली पशु (नीलगाय, हरिण आदि) तथा स्त्रीका दूध और सब प्रकार के शुक्त (कांजी या सिर्का आदि —जो अधिक समयतक रखने आदिके कारणसे स्वभावतः मधुर होते हुए भी खट्टे हो गये हों, उन्हें—(छोड़ दे) ॥ ९ ॥

मृगशब्दोऽत्र माहिषपर्युदासात्पशुमात्रपरः। माहिषं क्षीरं वर्जयित्वा सर्वेषामारण्यप्रभवपशूनां हस्त्यादीनां क्षीरं स्त्रीक्षीरं च सर्वाणि शुक्तानि वर्जनीयानि । स्वभावतो मधुररसानि यानि कालवशेनोदकादिना चाम्लीभवन्ति तानि शुक्तशब्दवाच्यानि । "शुक्तं पर्युषितं चैव" इति चतुर्थे कृतेऽपि शुक्तप्रतिषेधे दध्यादिप्रतिप्रसवार्थं पुनरिहोच्यते ॥ ९ ॥

दधि भक्ष्यं च शुक्तेषु सर्वं च दधिसंभवम् ।
यानि चैवाभिषूयन्ते पुष्पमूलफलैः शुभैः ॥ १० ॥

शुक्तों (पूर्वश्लोक देखिये) में दही और दहीके बने पदार्थ (छाछ, मट्ठा, तक्र आदि) और जो शुभ (नशा नहीं करनेवाले) फूल, जड़ एवं फलसे बने पदार्थ हैं वे भक्ष्य हैं ॥ १० ॥

शुक्तेषु मध्ये दधि भक्ष्यं दधिसंभवं च सर्वं तक्रादि । यानि तु पुष्पमूलफलैरुदकेन संधीयन्ते तानि भक्षणीयानि । शुभैरिति विशेषणोपादानान्मोहादिविकारकारिभिः कृतसंधानस्य प्रतिषेधः । तथा च बृहस्पतिः—

'कन्दमूलफलैः पुष्पैः शस्तैः शुक्तान्न वर्जयेत् ।
अविकारि भवेद्भक्ष्यमभक्ष्य तद्विकारकृत् ॥ १० ॥"

क्रव्यादाञ्छकुनान्सर्वांस्तथा ग्रामनिवासिनः ।
अनिर्दिष्टांश्चैकशफांष्टिट्टिभं च विवर्जयेत् ॥ ११ ॥

कच्चा मांस, खानेवाले (गीध, बाज, चील आदि) तथा ग्रामवासी (कबूतर, मैनी आदि) पक्षी, नामतः निर्देश नहीं किये गये एक खुरवाले पशु (गधा आदि) और टिटिहरी को छोड़ दे (इनका मांस भक्षण न करे) ॥ ११ ॥

आमं मांसं ये भक्षयन्ति ते क्रव्यादास्तान्सर्वान्गृध्रादीन्पक्षिणो वर्जयेत । तथा ग्रामनिवासिनश्च पक्षिणः पारावतादीन् । तथा श्रुतौ केचिदेकशफा भक्ष्यत्वेन निर्दिष्टाः, तथा च

"औष्ट्रं वाडवमालभेत तस्य च मांसमश्नीयात्" इति। केचिच्चानिर्दिष्टा रासभादयस्तेषां मांसं वर्जयेत। येऽपि यज्ञाङ्गत्वेन विहितास्तेषामपि यज्ञ एव मांसभक्षणं न सर्वदा। टिट्टिभाख्यं च पक्षिणं वर्जयेत ॥ ११ ॥

कलविङ्कं प्लवं हंसं चक्राह्वं ग्रामकुक्कुटम्।
सारसं रज्जुवालं च दात्यूहं शुकसारिके ॥ १२ ॥

गोरैया, प्लव (एक प्रकारका पक्षी या परेवा), हंस, चकवा, ग्राम्य मुर्गा, सारस, रज्जुवाल (डोम कौआ), दात्यूह (जल कौआ), तोता (सूआ) और मैना—(इनके मांसको न खावे) ॥ १२ ॥

कलविङ्कं चटकं तस्य ग्रामारण्योभयवासित्वादेव निषेध इत्यारण्यस्यापि भक्ष्यत्वार्थं जातिशब्देन निषेधः। प्लवाख्यं पक्षिणम्। तथा हंसचक्रवाकग्रामकुक्कुटसारसरज्जुवालदात्यूहशुकसारिकाख्यान्पक्षिणो वर्जयेत्। वक्ष्यमाणजालपादनिषेधेनैव हंसचक्रवाकयोरपि निषेधसिद्धौ पृथङ् निषेधोऽन्येषामापदि जालपादानां विकल्पार्थः। स च व्यवस्थितो विज्ञेयः। आपदि भक्ष्या न त्वानपदि, इच्छाविकल्पस्य रागत एव प्राप्तेः। ग्रामकुक्कुटे तु ग्रामग्रहणमारण्यकुक्कुटाद्यनुज्ञानार्थम्, न त्वेतद्व्यतिरिक्तग्रामवासिविकल्पार्थम्। आपदर्थे गतप्रयोजनं भवति वाक्यान्तरगतविशेषावधारणपरत्वस्यान्याय्यत्वात् ॥ १२ ॥

प्रतुदाञ्जालपादांश्च कोयष्टिनखविष्किरान्।
निमज्जतश्च मत्स्यादान् सौनं वल्लूरमेव च ॥ १३ ॥

प्रतुद (चोंचसे काटकर खानेवाले पक्षी, जैसे—कठफोरवा आदि), बत्तख, कोयष्टिभ (कोहड़ा नामक पक्षि-विशेष), नाखून (चंगुल) से बिखेरकर खानेवाले पक्षी (तीतर आदि), पानीमें गोता लगाकर मछलियोंको खानेवाले पक्षी; इन पक्षियोंके मांसको तथा मारनेके स्थान (वध स्थान) में रखे हुए (भक्ष्य भी) मांसको और सूखे मांसको—(न खावे) ॥ १३ ॥

प्रतुद्य चञ्च्वा ये भक्षयन्ति तान्दार्वाघाटादीन्, जालपादानिति जालाकारपादाञ्शरारिप्रभृतीन्, कोयष्ट्याख्यपक्षिणम्, नखविष्किरान्नखैर्विकीर्य ये भक्षयन्ति तानभ्यनुज्ञातारण्यकुक्कुटादिव्यतिरिक्ताञ्श्येनादीन्। तथा निमज्य ये मत्स्यान्खादन्ति तान्मद्गुप्रभृतीन्, सूना मारणस्थानं तत्र स्थितं यन्मांसं भक्ष्यमपि, वल्लूरं शुष्कमांसम्, एतानि वर्जयेत् ॥१३॥

बकं चैव बलाकां च काकोलं खञ्जरीटकम्।
मत्स्यादान्विड्वराहांश्च मत्स्यानेव च सर्वशः ॥ १४ ॥

बगुला, बलाका (बक जातीय पक्षिविशेष), काकोल (करेरुआ), खञ्जन (खंड़लिच); इन पक्षियोंके मांसको मछलियोंको खानेवाले (पक्षि भिन्न नक्र आदि) ग्राम्य सूअर और सब मछलियोंके मांसको— (न खावे) ॥ १४ ॥

बकबलाकाद्रोणकाकखञ्जनान्, तथा मत्स्यादान्पक्षिव्यतिरिक्तानपि नक्रादीन्विड्वराहांश्च। विडिति विशेषणमारण्यसूकराभ्यनुज्ञानार्थम्। मत्स्यांश्च सर्वान्वर्जयेत् ॥ १४ ॥

मत्स्यभक्षणनिन्दामाह—

यो यस्य मांसमश्नाति स तन्मांसाद उच्यते।
मत्स्यादः सर्वमांसादस्तस्मान्मत्स्यान्विवर्जयेत् ॥ १५ ॥

जो जिसके मांसको भक्षण करता है, वह उसका 'मांसाद' कहा जाता है और मछलीके मांसको भक्षण करनेवाला 'सर्वमांसाद' (सबके मांस का भक्षण करनेवाला) कहा जाता है इस कारणसे मछली (के मांस) को छोड़ दे ॥ १५ ॥

यो यदीयं मांसं खादति, स तन्मांसाद एव परं व्यपदिश्यते। यथा मार्जारो मूषिकादः। मत्स्यादः पुनः सर्वमांसभक्षकत्वेन व्यपदेष्टुं योग्यस्तस्मान्मत्स्यान्न खादेत् ॥ १५ ॥

इदानीं भक्ष्यमत्स्यानाह—

पाठीनरोहितावाद्यौ नियुक्तौ हव्यकव्ययोः।
राजीवान्सिंहतुण्डांश्च सशल्कांश्चैव सर्वशः ॥ १६ ॥

हव्य और कव्य (देवकार्य और पितृकार्य) में विहित पाठीन (पोठा या पोठिया), रोहित, (रोहू), राजीव (बरारी), सिंहतुण्ड और चोंइटासे युक्त सब प्रकारको मछलियां भक्ष्य हैं (किन्तु हव्य-कव्य कर्मके विना ये भी अभक्ष्य ही हैं ॥ १६ ॥

पाठीनरोहितौ मत्स्यभेदौ भक्षणीयौ। हव्यकव्ययोर्नियुक्ताविति समस्तभक्ष्यमांसनिषिद्धोपलक्षणार्थम्। तेन प्राणात्ययादावदोषः। तथा राजीवाख्यान् सिंहतुण्डांश्च सशल्कांश्च सर्वान्भक्ष्यमांसलक्षणोपेतानद्यात्। [1]मेधातिथिगोविन्दराजौ तु—"पाठीनरोहितौ दैवपैत्रादिकर्मणि नियुक्तावेवादनीयौ न त्वन्यदा, राजीवसिंहतुण्डसशल्कमत्स्यास्तु हव्यकव्याभ्यामन्यत्रापि भक्षणीयाः" इत्याचक्षतुः। न तन्मनोहरम्, पाठीनरोहितौ श्राद्धे नियुक्तौ श्राद्धभोक्त्रैव भक्षणीयौ न तु श्राद्धकर्त्राऽपि, राजीवादयो हव्यकव्याभ्यामन्यत्रापि भक्ष्या इत्यस्याप्रमाणत्वात्, मुन्यन्तरैश्च रोहितपाठीनराजीवादीनां तुल्यत्वेनाभिधानात्। तथा च शङ्खः—

"राजीवाः सिंहतुण्डाश्च सशल्काश्च तथैव च।
पाठीनरोहितौ चापि भक्ष्या मत्स्येषु कीर्तिताः ॥" [१७।२५]

याज्ञवल्क्यः—

"भक्ष्याः पञ्चनखाः श्वाविद्गोधाः कच्छपशल्यकाः।
शशश्च मत्स्येष्वपि तु सिंहतुण्डकरोहिताः ॥
तथा पाठीनराजीवसशल्काश्च द्विजातिभिः ॥ (या. स्मृ. १-१७७)"

हारीतः—"सशल्कान्मत्स्यान्न्यायोपपन्नान्भक्षयेत्" एवं च—
"भोक्त्रैवाद्यौ न कर्त्राऽपि श्राद्धे पाठीनरोहितौ।
राजीवाद्यास्तथा नेति व्याख्या न मुनिसम्मता ॥ १६ ॥"

न भक्षयेदेकचरानज्ञातांश्च मृगद्विजान्।
भक्ष्येष्वपि समुद्दिष्टान्सर्वान्पञ्चनखांस्तथा ॥ १७ ॥

अकेले विचरनेवाले (सांप आदि), नाम तथा जातिमें विशेषतः अज्ञात मृग तथा पक्षी और भक्ष्योंमें कहे गये भी (विशेष निषेधके विना सामान्यतः कहे गये भी) पञ्चनख (पांच नखवाले) प्राणी (यथा—वानर, लंगूर आदि) को नहीं खावे ॥ १७ ॥

ये एकाकिनः प्रायेण चरन्ति सर्पादयस्तानेकचरान्, तथा ये अभियुक्तैरपि नामजातिभेदेनावधार्य विभागतश्च मृगपक्षिणो न ज्ञायन्ते तान्। भक्ष्येष्वपि समुद्दिष्टानिति सामा-

---

१. पाठीनरोहितौ मत्स्यजातिविशेषौ तयोर्हव्यकव्यनियोगेन श्राद्धादौ भक्ष्यताऽभ्यनुज्ञायते नान्वाहिके भोजने। राजीवसिंहतुण्डसशल्कानां सर्वशः हव्यकव्याभ्यामन्यत्राप्यनिवृत्तिर्भोजने।

न्यविशेषनिषेधाभावेन भक्ष्यपञ्चनिषिद्धान्भक्ष्यत्वेन समुद्दिष्टांश्च, तथा सर्वान्पञ्चनखा-न्वानरादीन्न भक्षयेत् ॥ १७ ॥

अथ प्रतिप्रसवमाह—

श्वाविधं शल्यकं गोधां खड्गकूर्मशशांस्तथा ।
भक्ष्यान्पञ्चनखेष्वाहुरनुष्ट्रांश्चैकतोदतः ॥ १८ ॥

सेह या साही, शल्यक, गोह, गेंड़ा, कछुआ और खरगोश इन छवोंको तथा एक तरफ दांत वाले पशुमें ऊंटको छोड़कर शेष पशुको (मनु आदि) पञ्चनखोंमें भक्ष्य कहते है ॥ १८ ॥

श्वाविधं सेधाख्यं प्राणिभेदम्, शल्यकं तत्सदृशं स्थूललोमानम्, तथा गोधागण्डककच्छ-पशशान्पञ्चनखेषु भक्ष्यान्मन्वादयः प्राहुः; तथोष्ट्रवर्जितानेकदन्तपङ्क्त्युपेतान् ॥ १८ ॥

छत्राकं विड्वराहं च लशुनं ग्रामकुक्कुटम् ।
पलाण्डुं गृञ्जनं चैव मत्या जग्ध्वा पतेद् द्विजः ॥ १९ ॥

छत्राक (कवक–भूकन्दविशेष), ग्राम्य सूकर, लहसुन, ग्राम्य मुर्गा, प्याज और गृञ्जन (लाल मूली या सलगम; किसी-किसीके मतसे गाजर) को बुद्धिपूर्वक खानेसे द्विज पतित होता है (बुद्धि-पूर्वक या अभ्यासपूर्वक इनको खानेवाले द्विज पतितके प्रायश्चित्तको करें) ॥ १९ ॥

कवकग्रामसूकरलशुनादीनामन्यतमं बुद्धिपूर्वकं गुरुप्रायश्चित्तोपदेशादभ्यासतो भक्ष-यित्वा द्विजातिः पतति । ततश्च पतितप्रायश्चित्तं कुर्यात् ।

गर्हितानाद्ययोर्जग्धिः सुरापानसमानि षट् । (म॰ स्मृ॰ ११–५६) इति ॥ १९ ॥

अमत्यैतानि षट् जग्ध्वा कृच्छ्रं सान्तपनं चरेत् ।
यतिचान्द्रायणं वापि शेषेषूपवसेदहः ॥ २० ॥

इन छः (५।१९) को खानेवाला (द्विज) कृच्छ्र सान्तपन (११।२१२) या यतिचान्द्रायण (११।२१८) व्रत करे और अन्य अभक्ष्य पदार्थों (५।५–१७) को खाकर एक दिन उपवास करे ॥ २० ॥

एतानि छत्राकादीनि षट् बुद्धिपूर्वकमेव भक्षयित्वाऽभिधेयभक्षणस्य निमित्तत्वेन सा-हित्यस्याविवक्षितत्वात् । एकादशाध्यायवक्ष्यमाणस्वरूपं सप्ताहसाध्यं सान्तपनं यतिचा-न्द्रायणं वा चरेत् । एतद्व्यतिरिक्तेषु लोहितवृक्षनिर्यासादिषु प्रत्येकं भक्षणादहोरात्रोपवासं कुर्यात् । छत्राकादीनां च प्रायश्चित्तापकर्षो वर्जनादरार्थः । "शेषेषूपवसेदहः" इति लाघ-वार्थम् । तत्र हि क्रियमाणे लोहितनिर्यासग्रहणमपि कर्तव्यं स्यात् ॥ २० ॥

संवत्सरस्यैकमपि चरेत्कृच्छ्रं द्विजोत्तमः ।
अज्ञातभुक्तशुद्ध्यर्थं ज्ञातस्य तु विशेषतः ॥ २१ ॥

श्रेष्ठ द्विज विना जाने (अज्ञात रूपमें) खाये गये अभक्ष्य पदार्थोंको खानेकी शुद्धिके लिए वर्षमें एक बार प्राजापत्य कृच्छ्रव्रत (११।२११) अवश्य करे तथा जानकर खाये गये अभक्ष्य पदार्थों की शुद्धिके लिये तो विशेष रूपसे (अवश्य ही) उन स्थलोंमें कथित प्रायश्चित्त करे ॥ २१ ॥

द्विजोत्तमपदं द्विजातिपरम्, त्रयाणां प्रकृतत्वात्, "एतदुक्तं द्विजातीनाम्" (म॰ स्मृ॰ ५–२६) इत्युपसंहाराच्च । द्विजातिः संवत्सरमध्ये एकमपि कृच्छ्रं प्रथमाम्नानात्प्राजा-पत्याख्यमज्ञातभक्षणदोषोपशमनार्थमनुतिष्ठेत् । ज्ञातस्य पुनरभक्ष्यभक्षणदोषस्य विशेषतो

यत्र यद्विहितं तदेव प्रायश्चितं कुर्यात्। यत्तु—

त्रीणि देवाः पवित्राणि ब्राह्मणानामकल्पयन्।
अदृष्टमद्भिर्निर्णिक्तं यच्च वाचा प्रशस्यते॥ (म. स्मृ. ५-१२७)

इति, तद्द्रव्यशुद्धिप्रकरणपठितप्रायश्चित्तव्यतिरिक्तद्रव्यशुद्धिविशेषेऽवतिष्ठते ॥२१॥

इदानीं भक्षणप्रसङ्गेन यागाद्यर्थं हिंसामप्यनुजानाति—

यज्ञार्थं ब्राह्मणैर्वध्याः प्रशस्ता मृगपक्षिणः।
भृत्यानां चैव वृत्त्यर्थमगस्त्यो ह्याचरत्पुरा॥ २२॥

द्विज यज्ञके लिये तो अवश्य रक्षणीय माता-पितादिकी रक्षाके लिये शास्त्रविहित पशु-पक्षियों का वध करे। ऐसा अगस्त्य ऋषिने पहले किया था॥ २२॥

ब्राह्मणादिभिर्यागार्थं प्रशस्ताः शास्त्रविहिता मृगपक्षिणो वध्याः। भृत्यानां चावश्यभरणीयानां वृद्धमातापित्रादीनां संवर्धनार्थम्। यस्मादगस्त्यो मुनिः पूर्वं तथा कृतवान्। प्रकृतिरूपोऽयमनुवादः॥ २२॥

बभूवुर्हि पुरोडाशा भक्ष्याणां मृगपक्षिणाम्।
पुराणेष्वपि यज्ञेषु ब्रह्मक्षत्रसवेषु च॥ २३॥

क्योंकि पहले भी मुनियों तथा ब्राह्मण-क्षत्रियोंके यज्ञोंमें (शास्त्रानुसार) भक्ष्य पशु-पक्षियोंका पुरोडाश (हविष्य-हव्य) बना था, (अतः शास्त्र-विहित पशु-पक्षियोंका वध यज्ञके लिये करना चाहिये)॥ २३॥

यस्मात्पुरातनेष्वप्यृषिकर्तृकयज्ञेषु च भक्ष्याणां मृगपक्षिणां मांसेन पुरोडाशा अभवंस्तस्माद्यज्ञार्थमधुनातनैरपि मृगपक्षिणो वध्याः॥ २३॥

इदानीं पर्युषितप्रतिप्रसवार्थमाह—

यत्किंचित्स्नेहसंयुक्तं भोज्यं भोज्यमगर्हितम्।
तत्पर्युषितमप्याद्यं हविःशेषं च यद्भवेत्॥ २४॥

जो मोदक आदि तथा विकारहीन अन्य भोज्य पदार्थ पर्युषित (बासी) है, उन्हें भी स्नेह (घृत-तैल) से संस्कारयुक्त कर तथा बचे हुए पर्युषित यज्ञान्नको विना संस्कार किये ही खाना चाहिये॥२४॥

यत्किंचित्खरविशदमभ्यवहार्यं मोदकादि, भोज्यं पायसादि, अगर्हितमुपघातान्तररहितं तत्पर्युषितं रात्र्यन्तरितमपि घृततैलदध्यादिसंयुक्तं कृत्वा भक्षणीयम्। न तु प्रागेव यत्स्नेहसंयुक्तं तत्पर्युषितं भक्षणीयमिति व्याख्येयम्। तथा च सति हविःशेषस्य स्नेहसंयोगावश्यम्भावात् "यत्किंचित्स्नेहसंयुक्तम्" इत्यनेनैव भक्षणे सिद्धे 'हविःशेषं च यद्भवेत्" इत्यनर्थकं स्यात्। स्मृत्यन्तरेऽपि भक्षणकाल एवाभिघारणमुपदिश्यते। तथा च—

"मसूरमाषसंयुक्तं तथा पर्युषितं च यत्।
तत्तु प्रक्षालितं कृत्वा भुञ्जीत ह्यभिघारितम्॥" [यमः ५।२४]

हविःशेषं तु चरुपुरोडाशादि पर्युषितमपि भोजनकाले स्नेहसंयोगशून्यमेव भक्षणीयम्, पृथगुपदेशात्॥ २४॥

चिरस्थितमपि त्वाद्यमस्नेहाक्तं द्विजातिभिः।
यवगोधूमजं सर्वं पयसश्चैव विक्रिया॥ २५॥

चिरकाल (अनेक रात्रियों) के रक्खे हुए भी यव तथा गेहूँके बने विना स्नेह (घृत-तैल) के संस्कार किये सब पदार्थ तथा दूधके बने पदार्थ (खीर, खोआ, मलाई, रवड़ी आदि, द्विजोंको खाना चाहिये ॥ २५ ॥

अनेकरात्र्यन्तरिता अपि यवगोधूमदुग्धविकाराः स्नेहसंयोगरहिता अपि । द्विजातिभिर्भक्षणीयाः ॥ २५ ॥

एतदुक्तं द्विजातीनां भक्ष्याभक्ष्यमशेषतः ।
मांसस्यातः प्रवक्ष्यामि विधिं भक्षणवर्जने ॥ २६ ॥

(भृगु मुनि महर्षियोंसे कहते हैं कि—) द्विजोंके सम्पूर्ण भक्ष्य और अभक्ष्योंको यह (मैंने) कह दिया, अब मांस के खाने और न खानेकी विधिको कहूँगा ॥ २६ ॥

एतद् द्विजातीनां भक्ष्याभक्ष्यमुक्तम् । अत ऊर्ध्वं मांसस्य भक्षणे, वर्जने च विधानं निःशेषं वक्ष्यामि ॥ २६ ॥

प्रोक्षितं भक्षयेन्मांसं ब्राह्मणानां च काम्यया ।
यथाविधि नियुक्तस्तु प्राणानामेव चात्यये ॥ २७ ॥

मन्त्र द्वारा 'प्रोक्षण' संस्कारसे युक्त यज्ञमें हवन किया गया मृगादि पशुका मांस, ब्राह्मणोंकी इच्छासे हो तब (एक ही बार, दुबारा नहीं), शास्त्रोक्त विधिके अनुसार मधुपर्क तथा श्राद्धमें नियुक्त होनेपर और प्राण-सङ्कट (अन्य खाद्यके अभाव या रोग-विशेषके) होनेपर मांसको अवश्य खाना चाहिये ॥ २७ ॥

"प्रोक्षितं भक्षयेत्" इति परिसंख्या वा स्यान्नियमविधिर्वा । तत्र परिसंख्यात्वे प्रोक्षितादन्यन्न भक्षणीयमिति वाक्यार्थः स्यात् । स चानुपाकृतमांसानीत्यनेनैव निषेधात्प्राप्तः । तस्मान्मन्त्रकृतप्रोक्षणाख्यसंस्कारयुक्तयज्ञहुतपशुमांसभक्षणमिदं यज्ञाङ्गं विधीयते । अत एव "असंस्कृतान्पशून्मन्त्रैः" (म. स्मृ. ५-३६) इत्यस्यानुवादं वक्ष्यति । ब्राह्मणानां च यदा कामना भवति तदाऽवश्यं मांसं भोक्तव्यमिति तदाऽपि नियमत एकवारं भक्षयेत्, "सकृद् ब्राह्मणकाम्यया" इति यमवचानात् ५।२७तथा श्राद्धे मधुपर्के च "नामांसो मधुपर्कः" (अ. १ खं. २४) इति गृह्यवचनान्नियुक्तेन नियमान्मांसं भक्षणीयमिति । अत एव "नियुक्तस्तु यथान्यायम्" (म. स्मृ. ५-३५) इत्यतिक्रमदोषं वक्ष्यति । प्राणात्यये चाहारान्तराभावनिमित्तके, व्याधिहेतुके वा नियमतो मांसं भक्षयेत् ॥ २७ ॥

प्राणात्यये मांसभक्षणानुवादमाह--

प्राणस्यान्नमिदं सर्वं प्रजापतिरकल्पयत् ।
स्थावरं जङ्गमं चैव सर्वं प्राणस्य भोजनम् ॥ २८ ॥

प्रजापति (ब्रह्मा) ने जीवका सब कुछ खाद्य कहा है, सब स्थावर (धान्य, फल, लतादिजन्य पदार्थ) तथा जङ्गम (पशु, पक्षी, जलचर आदि) जीव जीवों के खाद्य भक्ष्य हैं ॥ २८ ॥

प्राणितीति प्राणो जीवः शरीरान्तर्गतो भोक्ता, तस्यादनीयं सर्वमिदं ब्रह्मा कल्पितवान् । किम् ? तदाह-जङ्गमं पश्वादि, स्थावरं व्रीहियवादि सर्वं तस्य भोजनम् । तस्मात्प्राणधारणार्थं जीवो मांसं भक्षयेत् ॥ २८ ॥

प्राणस्यार्थमिदं सर्वमित्येव प्रपञ्चयति—

चराणामन्नमचरा दंष्ट्रिणामप्यदंष्ट्रिणः ।
अहस्ताश्च सहस्तानां शूराणां चैव भीरवः ॥ २९ ॥

चर (चलने-फिरनेवाले—मृगादि) जीवोंके अचर (नहीं चलने-फिरनेवाले—तृण, लता आदि); दाँतवाले (व्याघ्र, सिंह आदि) जीवोंके विना दाँतवाले (हरिण आदि) जीव, हाथ सहित (मनुष्य आदि) जीवोंके बिना हाथवाले (मछली, पशु, पक्षी आदि) जीव और शूरवीर (व्याघ्र, सिंह आदि) जीवोंके भीरु (डरनेवाले—हाथी, मृग आदि) जीव खाद्य (भक्ष्य) हैं ॥

जङ्गमानां हरिणादीनामजङ्गमास्तृणादयः, दंष्ट्रिणां व्याघ्रादीनामदंष्ट्रिणो हरिणादयः, सहस्तानां मनुष्यादीनामहस्ता मत्स्यादयः, शूराणां सिंहादीनां भीरवो हस्त्यादयोऽदनीया एतादृश्यां विधातुरेव सृष्टौ ॥ २९ ॥

नात्ता दुष्यत्यदन्नाद्यान्प्राणिनोऽहन्यहन्यपि ।
धात्रैव सृष्टा ह्याद्याश्च प्राणिनोऽत्तार एव च ॥ ३० ॥

प्रतिदिन भक्ष्यजीवोंको खानेवाला भी भक्षक दोषी नहीं होता है, क्योंकि ब्रह्माने ही भक्ष्य तथा भक्षक--दोनों जीवोंको बनाया है ॥ ३० ॥

भक्षयिता भक्षणार्हान्प्राणिनः प्रत्यहमपि भक्षयन् न दोषं प्राप्नोति । यस्माद्विधात्रैव भक्षणार्हा भक्षयितारश्च निर्मिता इति त्रिभिः श्लोकैः प्राणात्यये मांसभक्षणस्तुतिरियम् ॥३०॥

अथ प्रोक्षितभक्षणनियमार्थवादमाह—

यज्ञाय जग्धिर्मांसस्येत्येष दैवो विधिः स्मृतः ।
अतोऽन्यथा प्रवृत्तिस्तु राक्षसो विधिरुच्यते ॥ ३१ ॥

यज्ञके लिये (शास्त्रोक्त विधिसे) मांसका भक्षण करना दैव (देव-सम्बन्धी) विधि है और इसके विपरीत (अपने लिये या शास्त्रविरुद्ध यज्ञके नाम पर) मांसका भक्षण करना राक्षस (राक्षस-सम्बन्धी) विधि है (अतः अपने उदरके लिये या शास्त्रविरुद्ध यज्ञके नामपर—जैसा प्रायः आजकल बलिदानके नाम पर सहस्रों बकरे आदिका वध किया जाता है—मांसका भक्षण करना सर्वथा त्याज्य है) ॥ ३१ ॥

यज्ञसम्पत्त्यर्थं तदङ्गभूतमांसस्य जग्धिर्भक्षणमेतद् दैवमनुष्ठानम् । उक्तव्यतिरिक्तप्रकारेण पुनरात्मार्थमेव पशुं व्यापाद्य तन्मांसभक्षणेषु प्रवृत्तौ राक्षसोचितमनुष्ठानमित्युत्तरार्द्धं वृथामांसभक्षणनिवृत्त्यनुवादः ॥ ३१ ॥

क्रीत्वा स्वयं वाऽप्युत्पाद्य परोपकृतमेव वा ।
देवान्पितॄंश्चार्चयित्वा खादन्मांसं न दुष्यति ॥ ३२ ॥

खरीदकर, स्वयं मारकर या किसीके द्वारा दिये हुए मांसको देवता तथा पितरों के लिये समर्पण कर खानेवाला दोषी नहीं होता है ॥ ३२ ॥

क्रीत्वा आत्मना चोत्पाद्य अन्येन वा केनाप्यानीय दत्तं मांसं देवपितृभ्यो दत्त्वा शेषं भक्षयन्न पापं प्राप्नोति । अतः प्रोक्षितादिचतुष्टयभक्षणवन्नेदं नियतं भक्षणम्, न दुष्यतीत्यभिधानात् । "वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन" (म. स्मृ. ५-५३) इत्यादिवक्ष्यमाणमांसवर्जनविधिरप्येतद्विषय एव, अविरोधात् ॥ ३२ ॥

नाद्यादविधिना मांसं विधिज्ञोऽनापदि द्विजः ।
जग्ध्वा ह्यविधिना मांसं प्रेत्य तैरद्यतेऽवशः ॥ ३३ ॥

विधानको जाननेवाला द्विज बिना आपत्तिकालमें पड़े विधिरहित (देवों या पितरोंको बिना समर्पण किये) मांसको न खावे, क्योंकि विधिरहित मांसको खानेवाला मरकर उन (जिसका मांस खाया है, उन) के द्वारा विवश (लाचारपरवश) होकर खाया जाता है ॥ ३३ ॥

मांसभक्षणानुष्ठानदोषज्ञो द्विजातिरनापदि तत्तद्देवाद्यर्चनविधानं विना न मांसं भक्षयेत्। यस्मादविधानेन यो मांसं खादति, स मृतः सन् यन्मांसं भक्षितं यैः प्राणिभिः परलोके स्वरक्षणाक्षमः खाद्यत इति सर्वश्लोकानुवादः ॥ ३३ ॥

न तादृशं भवत्येनो मृगहन्तुर्धनार्थिनः ।
यादृशं भवति प्रेत्य वृथामांसानि खादतः ॥ ३४ ॥

धनके लिये पशु (पक्षी आदि) का वध करनेवाले (वधिक-व्याधा आदि) को वैसा पाप नहीं होता, जैसा पाप व्यर्थ (देव-पितरके कार्यके बिना) मांसभक्षण करनेवालेको मरनेपर होता है ॥ ३४ ॥

मृगवधजीविनो व्याधादेर्धननिमित्तं मृगाणां हन्तुर्न तथाविधं पापं भवति, यादृशमदेवपितृशेषभूतमांसानि खादतः परलोके भवतीति पूर्वानुवाद एव ॥ ३४ ॥

नियुक्तस्तु यथान्यायं यो मांसं नात्ति मानवः ।
स प्रेत्य पशुतां याति संभवानेकविंशतिम् ॥ ३५ ॥

शास्त्रानुसार नियुक्त (श्राद्ध तथा मधुपर्कमें) नियुक्त जो मनुष्य मांसको नहीं खाता है, वह मरकर इक्कीस जन्म तक पशु होता है ॥ ३५ ॥

श्राद्धे मधुपर्के च यथाशास्त्रं नियुक्तः सन् यो मनुष्यो मांसं न खादति, स मृतः सन्नेकविंशतिजन्मानि पशुर्भवति । "यथाविधि नियुक्तस्तु" (म. स्मृ. ५-२७) इत्येतन्नियमातिक्रमफलविधानमिदम् ॥ ३५ ॥

असंस्कृतान्पशून्मन्त्रैर्नाद्याद्विप्रः कदाचन ।
मन्त्रैस्तु संस्कृतानद्याच्छाश्वतं विधिमास्थितः ॥ ३६ ॥

ब्राह्मण (द्विजमात्र, केवल ब्राह्मण ही नहीं) मन्त्रोंसे असंस्कृत मांसको कदापि न खावे। नित्य (प्रवाह, नित्यतासे चला आता हुआ) विधिको मानता हुआ मन्त्रोंसे संस्कृत मांसको ही खावे ॥ ३६ ॥

वेदविहितमन्त्रवत्प्रोक्षणादिसंस्कारशून्यान्पशून्विप्रादिः कदाचिन्नाश्नीयात् । शाश्वतं प्रवाहानादितया नित्यं पशुयागादिविधिमास्थितो मन्त्रसंस्कृतानेवाश्नीयादिति । "प्रोक्षितं भक्षयेन्मांसम्" (म. स्मृ. ५-२७) इत्येतस्यानुवादार्थमेतत् ॥ ३६ ॥

कुर्याद् घृतपशुं सङ्गे कुर्यात्पिष्टपशुं तथा ।
न त्वेव तु वृथा हन्तुं पशुमिच्छेत्कदाचन ॥ ३७ ॥

पशु-मांस-भक्षणकी अधिक आकाङ्क्षा होनेपर घी या आटे का पशु बनाकर खावे, किन्तु व्यर्थ (यज्ञ-श्राद्धकार्यके बिना) पशुको मारनेकी इच्छा कभी न करे ॥ ३७ ॥

सङ्ग आसक्तौ पशुभक्षणानुरागेण घृतमयीं पिष्टमयीं वा पशुप्रतिकृतिं कृत्वा खादयेन्न पुनर्देवताद्युद्देशं विनैव पशून्कदाचिदपि हन्तुमिच्छेत् ॥ ३७ ॥

यावन्ति पशुरोमाणि तावत्कृत्वो ह मारणम् ।
वृथापशुघ्नः प्राप्नोति प्रेत्य जन्मनि जन्मनि ॥ ३८ ॥

वृथा (यज्ञ तथा श्राद्धकार्यके बिना) पशुको मारनेवाला, पशुके शरीरमें जितने रोएं हैं, उतने जन्म तक उस पशुको मारकर प्रत्येक जन्ममें मारा जाता है ॥ ३८ ॥

देवताद्युद्देशमन्तरेणात्मार्थे यः पशून्हन्ति, स वृथापशुघ्नो मृतः सन् यावत्संख्यानि पशुरोमाणि तावत्संख्याभूतं जन्मनि जन्मनि मारणं प्राप्नोति। तस्माद्वृथा पशुं न हन्यात् 'तावत्कृत्व' इति वत्वन्तात्क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच् प्रत्ययः। इह हशब्दः आगमप्रसिद्धिसूचनार्थः॥ ३८॥

यज्ञार्थे तु पशुवधे न दोष इत्याह—

यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा।
यज्ञश्च भूत्यै सर्वस्य तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः॥ ३९॥

ब्रह्माने यज्ञके लिये पशुओंको स्वयं बनाया है और यज्ञ सम्पूर्ण संसारकी उन्नतिके लिये हैं; इस कारण यज्ञमें पशुका वध (वधजन्य दोष न होनेसे) वध नहीं है॥ ३९॥

यज्ञसिद्ध्यर्थं प्रजापतिना आत्मनैवादरेण पशवः सृष्टाः। यज्ञश्चाग्नौ प्रास्ताहुतिन्यायात्सर्वस्यास्य जगतो विवृद्ध्यर्थः। तस्माद्यज्ञे वधोऽवध एव, वधजन्यदोषाभावात्॥ ३९॥

ओषध्यः पशवो वृक्षास्तिर्यञ्चः पक्षिणस्तथा।
यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः प्राप्नुवन्त्युत्सृतीः पुनः॥ ४०॥

यज्ञके लिये नाश (मृत्यु) को प्राप्त ओषधियां (व्रीहि आदि), पशु (छाग आदि), वृक्ष (यज्ञस्तम्भके लिये खदिरादि), तिर्यक् (कच्छप आदि) और पक्षी (कपिञ्जल-आदि) फिर (जन्मान्तरमें) उत्तम योनिको प्राप्त करते हैं॥ ४०॥

ओषध्यो व्रीहियवाद्याः पशवश्छागाद्याः, वृक्षा यूपाद्यर्थाः, तिर्यञ्चः कूर्मादयः, पक्षिणः कपिञ्जलाद्याः, यज्ञार्थं विनाशं गताः पुनर्जात्युत्कर्षं प्राप्नुवन्ति॥ ४०॥

मधुपर्के च यज्ञे च पितृदैवतकर्मणि।
अत्रैव पशवो हिंस्या नान्यत्रेत्यब्रवीन्मनुः॥ ४१॥

मधुपर्क, यज्ञ (ज्योतिष्टोम आदि), पितृकार्य (श्राद्ध) तथा देवकार्यमें ही पशुका वध करना चाहिये। (अन्य किसी कार्यमें नहीं); ऐसा मनु ने कहा है॥ ४१॥

"नामांसो मधुपर्कः" (गृ. सू. अ. १ खं. २४) इति विधानान्मधुपर्के च यज्ञे च ज्योतिष्टोमादौ, पित्र्ये दैवे च कर्मणि श्राद्धादौ पशवो हिंसनीया नान्यत्रेति मनुरभिहितवान्॥ ४१॥

एष्वर्थेषु पशून्हिंसन्वेदतत्त्वार्थविद् द्विजः।
आत्मानं च पशुं चैव गमयत्युत्तमां गतिम्॥ ४२॥

इन (५।४१) कर्मोंसे पशुवध करता हुआ देवतत्त्वको जाननेवाला द्विज अपनेको तथा पशुको उत्तम गतिमें पहुँचाता है॥ ४२॥

एषु मधुपर्कादिषु पदार्थेषु पशून्हिंसन्नात्मानं पशुं चोत्तमां गतिं स्वर्गाद्युपभोगयोग्यविलक्षणदेहदशादिसंबन्धं प्रापयति। वेदतत्त्वार्थविदिति विद्वदधिकारबोधनार्थम्। नन्वन्याधिकारिके कर्मणि कथमनधिकृतस्य पश्वादेरुत्तमगतिप्राप्तिः फलम्? उच्यते, शास्त्रप्रमाणकत्वादस्यार्थस्य। पित्रधिकारिकायां जातेष्टावनधिकारिणोऽपि पुत्रस्य फलप्राप्तिवदिहापि पश्वादिगतफलसंभवाद्यजमान एव कारुणिकतया पशुगतफलविशिष्टमेव फलं कामयिष्यति। अत एव "आत्मानं च पशुं चैव" इत्यभिधानात् यजमानव्यापारादेव पशुगतफलसिद्धिरुक्ता॥ ४२॥

गृहे गुरावरण्ये वा निवसन्नात्मवान्द्विजः ।
नावेदविहितां हिंसामापद्यपि समाचरेत् ॥ ४३ ॥

गृहस्थाश्रम, ब्रह्मचर्याश्रम या वानप्रस्थाश्रममें रहता हुआ जितेन्द्रिय द्विज वेदविरुद्ध हिंसाको आपत्तिमें भी न करे ॥ ४३ ॥

गृहस्थाश्रमे, ब्रह्मचर्याश्रमे, वानप्रस्थाश्रमे च प्रशस्तात्मा द्विजो निवसन्नापद्यपि नाशास्त्रीयां हिंसां समाचरेत् ॥ ४३ ॥

कथं तर्हि तुल्ये हिंसात्वे वैदिकी दैवादिपशुहिंसा नाधर्मायेत्यत आह—

या वेदविहिता हिंसा नियतास्मिंश्चराचरे ।
अहिंसामेव तां विद्याद्वेदाद्धर्मो हि निर्बभौ ॥ ४४ ॥

इस चराचर जगत्में जो हिंसा वेद-सम्मत है, उसे हिंसा नहीं समझे; क्योंकि वेदसे ही धर्म निकला है ॥ ४४ ॥

या श्रुतिविहिता कर्मविशेषदेशकालादिनियता अस्मिञ्जगति स्थावरजङ्गमात्मनि अहिंसामेव तां जानीयात्, हिंसाजन्याधर्मविरहात्। दैवपशुहननधर्मः, प्राणिहननत्वात्, ब्राह्मणहननवदित्याद्यनुमानमुपजीव्यशास्त्रबाधादेव न प्रवर्तते। दृष्टान्तीकृतब्राह्मणहननस्याप्यधर्मत्वे शास्त्रमेवोपजीव्यम्। "वेदाद्धर्मो हि निर्बभौ" यस्मादनन्यप्रमाणको धर्मो वेदादेव निःशेषेण प्रकाशतां गतः ॥ ४४ ॥

योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया ।
स जीवंश्च मृतश्चैव न क्वचित्सुखमेधते ॥ ४५ ॥

जो अहिंसक जीवोंका अपने सुख (जिह्वास्वाद-शरीरपुष्टि आदि) की इच्छासे वध करता है, वह जीता हुआ तथा मरकर भी कहींपर सुखपूर्वक उन्नति नहीं करता ॥ ४५ ॥

योऽनुपघातकान्प्राणिनो हरिणादीनात्मसुखेच्छया मारयति, स इह लोके, परलोके च न सुखेन वर्धते ॥ ४५ ॥

यो बन्धनवधक्लेशान्प्राणिनां न चिकीर्षति ।
स सर्वस्य हितप्रेप्सुः सुखमत्यन्तमश्नुते ॥ ४६ ॥

जो जीवोंका वध तथा बन्धन नहीं करना चाहता है, वह सबका हिताभिलाषी अत्यन्त सुख प्राप्त करता है ॥ ४६ ॥

यो बन्धनमारणक्लेशादीन्प्राणिनां कर्तुं नेच्छति, स सर्वहितप्राप्तीच्छुरनन्तसुखं प्राप्नोति ॥ ४६ ॥

यद्ध्यायति यत्कुरुते धृतिं बध्नाति यत्र च ।
तदवाप्नोत्ययत्नेन यो हिनस्ति न किंचन ॥ ४७ ॥

जो किसीकी हिंसा नहीं करता, वह जिसका चिन्तन करता है, जो कार्य करता है और जिस (परमात्मचिन्तन आदि) में ध्यान लगाता है; उन सबोंको बिना (विशेष) प्रयत्नके ही प्राप्त करता है ॥ ४७ ॥

यच्चिन्तयति धर्मादिकमिदं मेऽस्त्विति, यच्च श्रेयःसाधनं कर्म करोति, यत्र च परमार्थध्यानादौ धृतिं बध्नाति, तत्सर्वमक्लेशेन लभते। य उपघातनिमित्तं दंशमशकाद्यपि न व्यापादयति ॥ ४७ ॥

मांसभक्षणप्रसङ्गेन हिंसागुणदोषावभिधाय पुनः प्रकृतमांसाभक्षणमाह—

नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित् ।
न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत् ॥ ४८ ॥

जीवोंकी विना हिंसा किये कहीं भी मांस नहीं उत्पन्न हो सकता है और जीवोंकी हिंसा स्वर्ग-साधन नहीं है, अतः मांसको छोड़ देना (नहीं खाना) चाहिये ॥ ४८ ॥

प्राणिहिंसाव्यतिरेकेण न क्वचिन्मांसमुत्पद्यते । प्राणिवधश्च न स्वर्गनिमित्तम्, नरकहेतुरेव यस्मात्, तस्मादविधिना मांसं न भक्षयेदिति ॥ ४८ ॥

समुत्पत्तिं च मांसस्य वधबन्धौ च देहिनाम् ।
प्रसमीक्ष्य निवर्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात् ॥ ४९ ॥

मांसकी उत्पत्ति और जीवोंके वध तथा बन्धनको समझकर सब प्रकारके मांस-भक्षणसे निवृत्त होना चाहिये ॥ ४९ ॥

शुक्रशोणितपरिणामात्मिकां समुत्पत्तिं घृणाकरीं विज्ञाय प्राणिनां वधबन्धौ च क्रूरकर्मरूपौ निरूप्य विहितमांसभक्षणादपि निवर्तेत, किमुताविहितमांसभक्षणादिति अविधिना मांसभक्षणनिन्दाऽनुवादः ॥ ४९ ॥

न भक्षयति यो मांसं विधिं हित्वा पिशाचवत् ।
स लोके प्रियतां याति व्याधिभिश्च न पीड्यते ॥ ५० ॥

जो पिशाचके समान, शास्त्रोक्त विधि-विहित भी मांस-भक्षणका त्याग करता है वह लोगोंका प्रिय बनता है तथा रोगोंसे पीड़ित नहीं होता ॥ ५० ॥

उक्तविधिव्यतिरेकेण यो न मांसं भक्षयति । पिशाचवदिति यथा पिशाचो भक्षयति तथा नेति व्यतिरेको दृष्टान्तः । स लोकस्य प्रियो भवति, रोगैश्च न बाध्यते । तस्माद्वैधमांसभक्षणाद्व्याधयो भवन्तीति दर्शितम् ॥ ५० ॥

अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी ।
संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः ॥ ५१ ॥

अनुमति देनेवाला, शस्त्रसे मरे हुए जीवके अङ्गोंको टुकड़े-टुकड़े करनेवाला, मारनेवाला, खरीदनेवाला, बेचनेवाला, पकानेवाला, परोसने या लानेवाला और खानेवाला; (जीव वधमें) ये सभी घातक (हिंसक) होते हैं ॥ ५१ ॥

यदनुमतिव्यतिरेकेण हननं कर्तुं न शक्यते सोऽनुमन्ता, विशसिता अङ्गानि यः कर्तर्यादिना पृथक्पृथक् करोति, क्रयविक्रयी मांसस्य क्रेता विक्रेता च संस्कर्ता पाचकः, उपहर्ता परिवेषकः, खादको भक्षयिता । गोविन्दराजस्तु यः क्रीत्वा विक्रीणाति स क्रयविक्रयीत्येकमेवाह । तदयुक्तम्—

"हननेन तथा हन्ता धनेन क्रयिकस्तथा ।
विक्रयी तु धनादानात्संस्कर्ता तत्प्रवर्तनात् ।"

इति यमवचनेन पृथङ् निर्देशात् । घातकत्ववचनं चेदमशास्त्रीयपशुवधेऽनुमत्यादयोऽपि न कर्तव्या इत्येवंपरम् , विधिनिषेधपरत्वाच्छास्त्रस्य खादकादीनां पृथक्प्रायश्चित्तदर्शनात् ॥ ५१ ॥

स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति ।
अनभ्यर्च्य पितॄन्देवांस्ततोऽन्यो नास्त्यपुण्यकृत् ॥ ५२ ॥

जो देवता तथा पितरोंको विना तृप्त किये दूसरे (जीवों) के मांससे अपने मांसको बढ़ाना चाहता है, उससे (बड़ा) कोई दूसरा पापी नहीं है ॥ ५२ ॥

स्वशरीरमांसं परमांसेन देवपित्राद्यर्चनं विना यो वृद्धिं नेतुमिच्छति, तस्मादपरो नापुण्यकर्ताऽस्तीत्यविधिमांसभक्षणनिन्दाऽनुवादः ॥ ५२ ॥

इदानीमनियमिताप्रतिपिद्धमांसभणस्य निवृत्तिर्धर्मायेत्येतदद्दर्शयितुमाह—

वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन यो यजेत शतं समाः ।
मांसानि च न खादेद्यस्तयोः पुण्यफलं समम् ॥ ५३ ॥
[सदा यजति यज्ञेन सदा दानानि यच्छति ।
स तपस्वी सदा विप्रो यश्च मांसं विवर्जयेत् ॥ २ ॥]

जो प्रतिवर्ष अश्वमेध यज्ञ सौ वर्ष तक करे तथा जो मांस नहीं खावे; उन दोनोंका पुण्यफल (स्वर्गादि लाभ) बराबर है ॥ ५३ ॥

जो मांसका त्याग करता है; वह सर्वदा यज्ञसे देवसन्तुष्टि करता है, सर्वदा दानोंको देता है और सर्वदा तपस्वी रहता है ॥ २ ॥

यो वर्षशतं यावत्प्रतिवर्षमश्वमेधेन यजेत, यश्च यावज्जीवं मांसं न खादति, तयोः पुण्यस्य फलं स्वर्गादि तुल्यम् ॥ ५३ ॥

फलमूलाशनैर्मेध्यैर्मुन्यन्नानां च भोजनैः ।
न तत्फलमवाप्नोति यन्मांसपरिवर्जनात् ॥ ५४ ॥

पवित्र फल तथा कन्दों तथा मुन्यन्न (तिन्नी आदि) के खानेसे (मनुष्य) वह फल नहीं पाता है, जो मांसके त्यागसे पाता है ॥ ५४ ॥

पवित्रफलमूलभक्षणैर्वानप्रस्थभोज्यानां च नीवाराद्यन्नानां भोजनैर्न तत्फलमवाप्नोति, यच्छास्त्रानियमिताप्रतिषिद्धमांसवर्जनाल्लभते ॥ ५४ ॥

मां स भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम् ।
एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ ५५ ॥

'मैं जिसके मांसको यहांपर खाता हूँ, वह मुझे परलोकमें खायेगा' विद्वान् 'मांस' शब्दका यही मांसत्व (मांसपना अर्थात् 'मांस' शब्दकी निरुक्ति बतलाते हैं ॥ ५५ ॥

इह लोके यस्य मांसमहमश्नामि परलोके मां स भक्षयिष्यतीत्येतन्मांसशब्दस्य निरुक्तं पण्डिताः प्रवदन्ति, इति मांसशब्दस्य निर्वचनमवैधमांसभक्षणपापफलकथनार्थम् ॥ ५५ ॥

न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने ।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ॥ ५६ ॥

मांसके खानेमें, मद्य (के पीने) में और मैथुन (के करने में) में दोष नहीं है, क्योकि यह जीवोंकी प्रवृत्ति (स्वाभाविक धर्म) है; परन्तु उनसे निवृत्ति (उन मांसादिका त्याग करना) महान् फल (स्वर्गादि देने) वाला है ॥ ५६ ॥

ब्राह्मणादीनां वर्णानां यथाऽधिकारमविहिताप्रतिषिद्धभक्षणादौ न कश्चिद्दोषः । यस्मात्प्राणिनां भक्षणपानमैथुनादौ प्रवृत्तिः स्वाभाविकोऽयं धर्मः । वर्जनं पुनर्महाफलम् ।

अविहिताप्रतिषिद्धमद्यमैथुननिवृत्तेर्महाफलकथनार्थोऽयमुक्तस्यैव मांसवर्जनमहाफलकथन- स्यानुवादः ॥ ५६ ॥

प्रेतशुद्धिं प्रवक्ष्यामि द्रव्यशुद्धिं तथैव च ।
चतुर्णामपि वर्णानां यथावदनुपूर्वशः ॥ ५७ ॥

(भृगु मुनि महर्षियोंसे कहते हैं कि—अब) चारों वर्णोंकी प्रेतशुद्धि (मरणाशौचसे शुद्धि) तथा द्रव्य शुद्धि (तैजसादि पदार्थोंकी शुद्धि) को क्रमसे यथायोग्य कहूँगा ॥ ५७ ॥

ब्राह्मणादीनां चतुर्णामपि वर्णानां प्रेतेष्वपि पित्रादीनां शुद्धिं ब्राह्मणादिक्रमेण या यस्येति, द्रव्यादीनां च तैजसादीनां शुद्धिमभिधास्यामि ॥ ५७ ॥

तत्र शुद्धेरशुद्धिसापेक्षत्वात्तन्निरूपणार्थमाह—

दन्तजातेऽनुजाते च कृतचूडे च संस्थिते ।
अशुद्धा बान्धवाः सर्वे सूतके च तथोच्यते ॥ ५८ ॥

(बच्चोंके) दांत पैदा होनेपर, या शीघ्र पैदा होनेवाला हो तब, चूडाकरण और यज्ञोपवीत संस्कार करनेपर मरनेसे सभी बान्धवों (सपिण्ड तथा समानोदक वालों—५।६१) को सूतक (बच्चेके पैदा होनेके सूतक) के समान अशौच होता है ॥ ५८ ॥

दन्तजाते जातदन्त इत्यर्थः, "वाहिताग्न्यादिषु" (पा० सू० २।२।३७) इत्यनेन जातश- ब्दस्य परनिपातः । अनुजाते जातदन्तानन्तरे कृतचूडाकरणे च चकारात्कृतोपनयने च संस्थिते मृते सति बान्धवाः सपिण्डाः समानोदकाश्चाशुद्धा भवन्ति । प्रसवे च तथैवाशुद्धा भवन्तीत्युच्यते । वयोविभागेनोद्देशमात्रमिदं वक्ष्यमाणाशौचकालभेदादिसुखावबोध- नार्थम् ॥ ५८ ॥

दशाहं शावमाशौचं सपिण्डेषु विधीयते ।
अर्वाक् सञ्चयनादस्थ्नां त्र्यहमेकाहमेव वा ॥ ५९ ॥

सपिण्डोंको (सात पीढ़ीवालों तक—४।६०) मरणाशौच दश, चार, तीन या एक अहोरात्र (दिन-रात) लगता हैं ॥ ५९ ॥

सप्तपुरुषपर्यन्तं सपिण्डतां वक्ष्यति । सपिण्डेषु शवनिमित्तमाशौचं दशाहोरात्रं ब्राह्मण- स्योपदिश्यते, "शुध्येद् विप्रो दशाहेन" (म० स्मृ० ५-८३) इति वक्ष्यमाणत्वात् । अर्वाक् सञ्चयनादस्थ्नामिति चतुरहोपलक्षणं चतुर्थे दिवसेऽस्थिसञ्चयनं कुर्यादिति विष्णुवचनात् । त्र्यहमेकाहं वा । अहःशब्दोऽहोरात्रपरः । अयं चाग्निवेदादिगुणापेक्षो व्यवस्थितविकल्पः । यथाऽऽह दक्षः—

"एकाहाच्छुद्ध्यते विप्रो योऽग्निवेदसमन्वितः ।
हीने हीनं भवेच्चैव त्र्यहश्चतुरहस्तथा ॥" [१।१३१]

श्रौताग्निमतो मन्त्रब्राह्मणात्मककृत्स्नशाखाऽध्यायिन एकाहाशौचम् । तत्र श्रौताग्नि- वेदाध्ययनगुणयोरेकगुणरहितो हीनस्तस्य त्र्यहः, उभयगुणरहितस्तु हीनतरः, केवलस्मा- र्ताग्निमांस्तस्य चतुरहः, सकलगुणरहितस्य दशाहः । तदाह पराशरः—

त्र्यहः केवलवेदस्तु निर्गुणो दशभिर्दिनैः । इति ॥ ५९ ॥

सपिण्डलक्षणमाह—

सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्तते ।
समानोदकभावस्तु जन्मनाम्नोरवेदने ॥ ६० ॥

सपिण्डता सातवें पीढ़ीमें निवृत्त हो जाती है और समानोदकता जन्म तथा नामके न जाननेपर निवृत्त हो जाती हैं ॥ ६० ॥

यं पुरुषं प्रतियोगिनं कृत्वा निरूप्यते तस्य पितृपितामहप्रभृतीन्षट्पुरुषानतिक्रम्य सप्तमे पुरुषे प्राप्ते सपिण्डत्वं निवर्तते। एवं पुत्रपौत्रादिष्वप्यवगन्तव्यम्। पिण्डसम्बन्धि-निबन्धना चेयं सपिण्डता। तथा हि, पितृपितामहप्रपितामहेभ्यस्त्रिभ्यः पिण्डदानम्, प्रपिता-महस्य पित्रादयस्त्रयः पिण्डलेपभुजश्च तत्पूर्वस्य तु सप्तमस्य पिण्डसम्बन्धो नास्तीत्यसपि-ण्डता। यस्य चैते षट् पुरुषाः सपिण्डाः सोऽपि तेषां सपिण्डः, पिण्डदातृत्वेन तत्पिण्ड-सम्बन्धात्। अतः साप्तपौरुषीयं सपिण्डता। तदुक्तं मत्स्यपुराणे—

लेपभाजश्चतुर्थाद्याः, पित्राद्याः पिण्डभागिनः।
पिण्डदः सप्तमस्तेषां सापिण्डयं साप्तपौरुषम् ॥ [१८।२८-२९]

सगोत्रत्वे चेयं सपिण्डता। अत एव शङ्खलिखितौ—

"सपिण्डता तु सर्वेषां गोत्रतः साप्तपौरुषी।" [१५।२]

तेन मातामहादीनामेकपिण्डसम्बन्धेऽपि न सपिण्डता। समानोदकत्वं पुनरस्मत्कुलेऽ-मुकनामाभूदिति जन्मनामोभयापरिज्ञाने निवर्तते ॥ ६० ॥

यथेदं शावमाशौचं सपिण्डेषु विधीयते।
जननेऽप्येवमेव स्यान्निपुणं शुद्धिमिच्छताम् ॥ ६१ ॥
[उभयत्र दशाहानि कुलस्यान्नं न भुज्यते।
दानं प्रतिग्रहो यज्ञः स्वाध्यायश्च निवर्तते ॥ ३ ॥]

जिस प्रकार यह मरणाशौच सपिण्डोंमें कहा गया हैं, उसी प्रकार जन्म (बच्चा पैदा) होनेपर भी पूर्ण शुद्धि चाहनेवाले सपिण्डोंके लिए अशौच होता है ॥ ६१ ॥

[दोनों (जननाशौच तथा मरणाशौच) में कुलवाले (सपिण्डवाले) का अन्न दस दिन तक नहीं खाया जाता है तथा दान लेना, यज्ञ और वेदका स्वाध्याय छोड़ दिया जाता है ॥ ३ ॥]

यथेदं दशाहादिकं शवनिमित्तमाशौचं कर्मानर्हत्वलक्षणं सपिण्डेषु "दशाहं शावमाशौ-चम्" (म० स्मृ० ५-५९) इत्यनेन विधीयते, प्रसवेऽपि सम्यक् शुद्धिमिच्छतां सपिण्डानां तादृशमेवाशौचं भवेत् ॥ ६१ ॥

अनिर्देशेन तुल्यतायां प्राप्तायां विशेषमाह—

सर्वेषां शावमाशौचं मातापित्रोस्तु सूतकम्।
सूतकं मातुरेव स्यादुपस्पृश्य पिता शुचिः ॥ ६२ ॥
[सत्रधर्मप्रवृत्तस्य दानधर्मफलैषिणः।
त्रेताधर्मापरोधार्थमरण्यस्यैतदुच्यते ॥ ४ ॥]

मरणाशौच सबों (सपिण्डों) को होता है, और सूतक (जननाशौच—बालक उत्पन्न होनेपर अशुद्धि) केवल माता-पिता को होता है। उसमें भी यह विशेषता है कि—) केवल माताको ही सूतक (१० दिन तक अशुद्धि होता है, पिता तो स्नान कर शुद्ध (स्पर्श करने योग्य) हो जाता है ॥ ६२ ॥

[जो यज्ञ (या ज्ञानयज्ञ) धर्ममें प्रवृत्त है तथा दानके फलको चाहता है, और त्रेता धर्मके उपरोधसे अरण्यमें (वानप्रस्थाश्रममें) रहता है. उसके लिये यह अशौच कहा गया है ॥ ४ ॥]

मरणनिमित्तमस्पृश्यत्वलक्षणमाशौचं सर्वेषामेव सपिण्डानां समानम्। जननिमित्तं तु मातापित्रोरेव भवति। तत्राप्ययं विशेषः। जननिमित्तमस्पृश्यत्वं मातुरेव दशरात्रम्। पिता तु स्नानात्स्पृश्यो भवति। अयमेव सम्बन्धः संवर्तेन व्यक्तीकृतः—

"जाते पुत्रे पितुः स्नानं सचैलं तु विधीयते।
माता शुद्ध्येद्दशाहेन स्नानात्तु स्पर्शनं पितुः॥ ६२॥" [४३]

निरस्य तु पुमाञ्छुक्रमुपस्पृश्यैव शुद्ध्यति।
बैजिकादभिसम्बन्धादनुरुन्ध्यादघं त्र्यहम्॥ ६३॥
[जननेऽप्येवमेव स्यान्मातापित्रोस्तु सूतकम्।
सूतकं मातुरेव स्यादुपस्पृश्य पिता शुचिः॥ ५॥]

मनुष्य (ज्ञानपूर्वक) वीर्यपात कर स्नान करके ही शुद्ध होता है तथा परस्त्रीमें बैजिक सम्बन्ध होनेपर तीन दिन अशुद्धि मनानी चाहिये॥ ६३॥

[जन्म (बालकी उत्पत्ति) में भी माता-पिताको इसी प्रकार अशौच होता है, माताको (१० दिनतक) अशौच रहता है तथा पिता (सवस्त्र) स्नान करके शुद्ध हो जाता है॥ ५॥]

"स्नानं मैथुनिनः स्मृतम्" (म० स्मृ० ५-१४४) इति मैथुने स्नानं विधास्यति, तेन मैथुनं विनापि कामतो रेतस्खलने स्नात्वा पुमाञ्शुद्धो भवति। अकामतस्तु स्वप्नादौ रेतःपाते "मूत्रवद्रेतस उत्सर्गः" इत्यापस्तम्बोक्तेः स्नानं विनाऽपि गृहस्थस्य शुद्धिः। ब्रह्मचारिणस्त्वकामतोऽपि "स्वप्ने सिक्त्वा ब्रह्मचारी" (म. स्मृ. २-१८१) इत्यनेन स्नानादिना शुद्धिरुक्ता। बैजिके तु सम्बन्धे परपूर्वभार्यायामपत्योत्पत्तौ त्र्यहमाशौचं भवति। तथा च विष्णुः—परपूर्वभार्यासु त्रिरात्रम्"। रेतःपातिनामाशौचमप्रकृतमपि जननप्रकरणे प्रसङ्गात्तदनुगुणतयोक्तम्। यत्र रेतःपातमात्रेण स्नानं तत्रापत्योत्पत्तौ त्रिरात्रमुचितम्॥ ६३॥

अह्ना चैकेन रात्र्या च त्रिरात्रैरेव च त्रिभिः।
शवस्पृशो विशुध्यन्ति त्र्यहादुदकदायिनः॥ ६४॥

शवका स्पर्श करनेवाले सपिण्ड दस दिनमें शुद्ध होते हैं तथा समानोदक तीन दिनमें शुद्ध होते हैं॥ ६४॥

एकेनाह्ना एकया च रात्र्येत्यहोरात्रेण त्रिरात्रैस्त्रिभिरिति नवाहोरात्रैर्मिलित्वा दशाहेनेति वैदग्ध्येनोक्तम्। ननु दशाहेनेति वक्तव्ये किमर्थोऽयं वाग्विस्तरः? उच्यते—

बृंहायसीं लघिष्ठां वा गिरं निर्मान्ति वाग्मिनः।
न चावश्यत्वमेतेषां लघूक्त्यैव नियम्यते॥

वृत्तस्वाध्यायगुणयोगेन ये सपिण्डा एकाहाद्यल्पाशौचयोग्यास्ते यदि स्नेहादिना शवस्पृशो भवन्ति तदा दशाहेनैव शुद्ध्यन्ति। उदकदायिनः पुनः समानोदकास्त्र्यहेण। गोविन्दराजस्तु धनग्रहणपूर्वकशवनिर्हारकसम्बन्धिब्राह्मणविषयमिदं दशाहाशौचमाह॥ ६४॥

गुरोः प्रेतस्य शिष्यस्तु पितृमेधं समाचरन्।
प्रेतहारैः समं तत्र दशरात्रेण शुद्ध्यति॥ ६५॥

असपिण्ड गुरु (आचार्य, उपाध्याय आदि) के शवका स्पर्श तथा अन्त्येष्टि (दाहकर्म) करनेमें सम्मिलित शिष्य शव ढोनेवालोंके साथ दश दिन-रातमें शुद्ध होता है॥ ६५॥

गुरोराचार्यादेरसपिण्डस्य मृतस्य शिष्योऽन्त्येष्टिं कृत्वा प्रेतनिर्हारकैर्गुरुसपिण्डैस्तुल्यो दशरात्रेण शुद्धो भवति ॥ ६१ ॥

रात्रिभिर्मासतुल्याभिर्गर्भस्रावे विशुद्ध्यति ।
रजस्युपरते साध्वी स्नानेन स्त्री रजस्वला ॥ ६६ ॥

तीन माससे लेकर छः मासतक जितने मास का गर्भ गिरा हो, उतने दिनोंमें माता शुद्ध होती है तथा साध्वी रजस्वला स्त्री रजके निवृत्त होनेपर स्नानसे (पांचवें दिन) शुद्ध (यज्ञ-देवपूजनमें भाग लेने योग्य) होती है ॥ ६६ ॥

अत्र रात्राभिरिति विधेयगामिनो बहुत्वस्य विवक्षितत्वात्तृतीयमासात्प्रभृति गर्भस्रावे गर्भमासतुल्याहोरात्रैर्विशेषानभिधानाच्चातुर्वर्ण्यस्त्री विशुद्ध्यति । एतच्च षण्मासपर्यन्तम् । यथोक्तमादिपुराणे —

"षण्मासाभ्यन्तरं यावद् गर्भस्रावो भवेद्यदि ।
तदा माससमैस्तासां दिवसैः शुद्धिरिष्यते ॥
अत ऊर्ध्वं तु जात्युक्तमाशौचं तासु विद्यते ॥"

[1]मेधातिथिगोविन्दराजादयस्त्वादिपुराणे वचनादर्शनात्सप्तमासादर्वाग्गर्भस्रावे मासतुल्याहोरात्रैः स्त्रीणां विशुद्धिरित्यतिदिशन्ति । प्रथमद्वितीयमासीयगर्भस्रावे स्त्रीणां त्रिरात्रम् । यथाऽऽह हारीतः—"गर्भस्रावे स्त्रीणां त्रिरात्रं साधीयो रजेविशेषत्वात् । पित्रादिसपिण्डानां त्वत्र सद्यःशौचम्" । यथाऽऽह सुमन्तुः—"गर्भमासतुल्या दिवसा गर्भसंस्रवणे सद्यःशौचं वा भवति" गर्भमासतुल्या इति स्त्रीविषयं सद्यःशौचं वेति पित्रादिसपिण्डविषयमिति व्यवस्थितविकल्पः । रजस्वला च स्त्री रजसि निवृत्ते सति पञ्चमे दिने स्नानेनादृष्टार्थकल्पनयोग्या भवति । स्पर्शयोग्या तु त्रिरात्रव्यपगमे चतुर्थेऽहनि कृतस्नानेनैव शुद्धा भवति ॥ ६६ ॥

नृणामकृतचूडानां विशुद्धिर्नैशिकी स्मृता ।
निर्वृत्तचूडकानां तु त्रिरात्राच्छुद्धिरिष्यते ॥ ६७ ॥
[प्राक्संस्कारप्रमीतानां वर्णानामविशेषतः ।
त्रिरात्रात्तु भवेच्छुद्धिः कन्यास्वह्नो विधीयते ॥ ६ ॥
अदन्तजन्मनः सद्य आचूडान्नैशिकी स्मृता ।
त्रिरात्रमाव्रतादेशाद्दशरात्रमतः परम् ॥ ७ ॥
परपूर्वासु भार्यासु पुत्रेषु प्रकृतेषु च ।
मातामहे त्रिरात्रं तु एकाहं त्वसपिण्डतः ॥ ८ ॥

चूडाकरण संस्कारसे पहले बालकके मरनेपर एक दिनमें और चूडाकरण संस्कारके बाद तथा उपनयन (यज्ञोपवीत) संस्कार करनेके पहले बालकके मरने पर तीन दिनमें सपिण्डोंको शुद्धि होती है ॥ ६७ ॥

---

१. अप्राप्तकालस्य पातः स्राव उच्यते, न पुनर्द्रवस्यैव । तथा गौतमेन—गर्भविस्रंसने गर्भमाससमा रात्रीरिति पठितम् । 'सप्तमास्याश्च जीवन्ति' अतः सप्तमे मासे पूर्णमाशौचम् । एतत्तु जीवतो जातस्य युक्तमन्यथा तु गर्भमाससमा इत्येव ।

[संस्कारसे पहले सब वर्णके बच्चोंके मरनेपर सामान्यतः तीन रात (दिनरात) में तथा कन्याके मरनेपर एक रातमें शुद्धि होती है ॥ ६ ॥

बिना दांत जमे बच्चेके मरनेपर तत्काल (स्नान मात्रसे), चूडाकरण संस्कार करनेके बाद बच्चेके मरनेपर एक रातमें, उपनयन (यज्ञोपवीत) संस्कारके बाद मरनेपर तीन दिनमें और इसके बाद मरनेपर दश दिनमें सपिण्डवालोंकी शुद्धि होती है ॥ ७ ॥

परस्त्री (दूसरेकी रहकर जो अपनी स्त्री बादमें हुई हो) की, उसमें उत्पन्न पुत्रोंकी तथा नानाकी अशुद्धि तीन दिन और असपिण्डोंको एक दिन होती है ॥ ८ ॥]

अकृतचूडानां बालानां मरणे सपिण्डानामहोरात्रेण शुद्धिर्भवति। कृतचडानां तु मरणे प्रागुपनयनकालात्त्रिरात्रेण शुद्धिः ॥ ६७ ॥

ऊनद्विवार्षिकं प्रेतं निदध्युर्बान्धवा बहिः।
अलंकृत्य शुचौ भूमावस्थिसंचयनादृते ॥ ६८ ॥

दो वर्षसे कम अवस्थावाले मरे हुए बच्चेको मालादि पहनाकर पवित्र भूमिपर (ग्रामसे) बाहर विना अस्थिसंचय किये ही छोड़ दें ॥ ६८ ॥

असंपूर्णद्विवर्षं बालं मृतमकृतचूडं मालादिभिरलंकृत्य ग्रामाद्बहिः कृत्वा विशुद्धायां भूमौ कालान्तरे शीर्णदेहतयाशक्यास्थिसंचयनवर्जं बान्धवाः प्रक्षिपेयुः। विश्वरूपस्तु-"यस्यां भूमावन्यस्यास्थिसञ्चयनं न कृतं तस्यां निदध्युः" इति व्याचष्टे ॥ ६८ ॥

नास्य कार्योऽग्निसंस्कारो न च कार्योदकक्रिया।
अरण्ये काष्ठवत्त्यक्त्वा क्षपेयुस्त्र्यहमेव च ॥ ६९ ॥

इस (दो वर्ष से कम आयुवाले बालक) का अग्निसंस्कार (दाहकर्म) तथा उदकक्रिया (तिलाञ्जलि देना) न करे, किन्तु उसे जङ्गलमें काष्ठके समान छोड़कर तीन दिन अशौच मनावे ॥ ६९ ॥

अस्योनद्विवार्षिकस्याग्निसंस्कारो न कर्तव्यः। नाप्युदकक्रिया कर्तव्या। उदकदाननिषेधोऽयं श्राद्धादिसकलप्रेतकृत्यनिवृत्त्यर्थः। किं त्वरण्ये काष्ठवत्परित्यज्य। काष्ठवदिति शोकाभावोऽभिहितः। यथाऽरण्ये काष्ठं परित्यज्य शोको न भवति एवं त्यक्त्वा त्र्यहं क्षपेत् त्र्यहाशौचं कुर्यात्। अयं चाकृतचूडस्य त्र्यहाशौचविधिः पूर्वोक्तैकाहाशौचविकल्पपरः। स च व्यवस्थितो वृत्तस्वाध्यायादियुक्तस्यैकाहः तद्रहितस्य त्र्यहः। यद्यपि मनुना परित्यागमात्रं विहितं तथापि "ऊनद्विवार्षिकं निखनेत्" (या. स्मृ. ३-१) इति याज्ञवल्क्यवचनाद्विशुद्धभूमौ निखायैव त्यक्तव्यः ॥ ६९ ॥

नात्रिवर्षस्य कर्तव्या बान्धवैरुदकक्रिया।
जातदन्तस्य वा कुर्युर्नाम्नि वापि कृते सति ॥ ७० ॥

तीन वर्षकी आयुमें नहीं पहुँचे हुए अर्थात् दो वर्षसे कम आयुवाले मृत बालककी जलक्रिया (तिलाञ्जलि-दान तथा दाह आदि कर्म) को बान्धव (मृत बालकके पिता आदि) न करे। अथवा—दांत जमनेपर या नामकरण संस्कारके ही हो जानेपर उस मृत बालकके निमित्त जलाञ्जलि दे (और दाह कर्म तथा श्राद्ध भी करे) ॥ ७० ॥

अप्राप्ततृतीयवर्षस्य पित्रादिसपिण्डैरुदकक्रिया न कर्तव्येति पूर्वत्र निषिद्धाप्युत्तरार्थमनूद्यते। जातदन्तस्य वोदकदानं कर्तव्यं नामकरणे वा कृते। उदकक्रियासाहचर्यादग्नि-

संस्कारोऽप्यनुज्ञामात्रम्। प्रेतपिण्डश्राद्धादिकं च यद्यप्यकरणसंभवे करणे क्लेशावहं तथापि करणाकरणयोराम्नानाज्जातदन्तकृतनाम्नोः करणे प्रेतोपकारो भवत्यकरणे प्रत्यवायाभाव इत्यवगम्यते ॥ ७० ॥

सब्रह्मचारिण्येकाहमतीते क्षपणं स्मृतम्।
जन्मन्येकोदकानां तु त्रिरात्राच्छुद्धिरिष्यते ॥ ७१ ॥

सहपाठी (एक गुरुसे साथ पढ़े हुए) ब्रह्मचारीके मरनेपर एक दिन-रात अशौच होता है और समानोदक (४।६०) के यहां सन्तानोत्पत्ति होने पर तीन रात (दिन-रात) में शुद्धि होती है ॥ ७१ ॥

सहाध्यायिनि मृते एकरात्रमाशौचं कर्तव्यम्। समानोदकानां पुनः पुत्रजनने सति त्रिरात्रेण शुद्धिर्भवति। त्र्यहात्तुदकदायिन इति मरणविषयमुक्तम् ॥ ७१ ॥

स्त्रीणामसंस्कृतानां तु त्र्यहाच्छुद्ध्यन्ति बान्धवाः।
यथोक्तेनैव कल्पेन शुद्ध्यन्ति तु सनाभयः ॥ ७२ ॥
[परपूर्वासु पुत्रेषु सूतके मृतकेषु च।
मातामहे त्रिरात्रं स्यादेकाहं तु सपिण्डने ॥ ९ ॥

अविवाहित (किन्तु वाग्दत्त) कन्याके मरनेपर पतिपक्षवालोंको तथा सपिण्ड पितृ-पक्षवालोंकी तीन दिनमें शुद्धि होती है ॥ ७२ ॥

[पहले दूसरेकी रहकर बाद में जो अपनी स्त्री हुई हो, ऐसी स्त्री में उत्पन्न पुत्र के जननाशौच और मरणाशौच मातामह (नाना) को तीन दिन और सपिण्डनको एक दिन होता है ॥ ९ ॥)

स्त्रीणामकृतविवाहानां वाग्दत्तानां मरणे बान्धवाः भर्त्रादयस्त्र्यहेण शुद्ध्यन्ति। वाग्दानं विना भर्तृपक्षे सम्बन्धाभावादश्रुतमपि वाग्दानान्तपर्यन्तं बोद्धव्यम्। सनाभयः पितृपक्षाः वाग्दत्तानां विवाहादर्वाङ् मरणे यथोक्तेनैव कल्पेनेत्येतच्छ्लोकपूर्वार्धोक्तेन त्रिरात्रेणैव शुद्ध्यन्तीत्यर्थः। तदुक्तमादिपुराणे—

"आजन्मनस्तु चूडान्तं यत्र कन्या विपद्यते।
सद्यःशौचं भवेत्तत्र सर्ववर्णेषु नित्यशः ॥
ततो वाग्दानपर्यन्तं यावदेकाहमेव हि।
अतः परं प्रवृद्धानां त्रिरात्रमिति निश्चयः ॥
वाग्दाने तु कृते तत्र ज्ञेयं चोभयतस्त्र्यहम्।
पितुर्वरस्य च ततो दत्तानां भर्तुरेव हि ॥
स्वजात्युक्तमशौचं स्यान्मृतके सूतकेऽपि च ॥"

[1]मेधातिथिगोविन्दराजौ तु यथोक्तेनैव कल्पेनेति "नृणामकृतचूडानाम्" इत्येतदु-

---

१. असंस्कृता या वाङ्मात्रेण प्रतिगृहीता न च विवाहितास्तासां मरणे बान्धवाः पतिपक्षास्त्रिरात्रेण, सनाभयस्तु सपिण्डाः स्वपितृपक्षा यथोक्तेन कल्पेन निवृत्तचौडकानामिति जातेरधिकारात्त्रिरात्रेण। अन्यैस्तूक्तं सोदर्या दशरात्रेणेति तेषां चाभिप्रायः अष्टवर्षायाः कन्याया दानं विहितम्, अदत्तायाश्च निवृत्तचौडकव्यपदेशाभावात् पुंस इवोपनीतस्य तदानीं कल्पान्तरस्यानाम्नानाद्दशाह एव युक्तः। अन्यैस्तु पठितम्—अहस्त्वदत्तकन्यासु बालेषु च विशोधनमिति। तत्र व्याख्यातारः—पञ्चदशाब्ददेशीयापि या ह्यदत्ता कन्या तिष्ठेत्तदहरेवाशौचम्' यतो मुख्यमाम्नानमतिक्रम्य कालक्षपणे

वतेना विधिना शुद्धयन्तीति व्याचक्षते। अत्र च व्याख्यानं पुत्रवत्कन्यायामपि चूडाकरणादूर्ध्वं मरणे ऽयहाशौचं स्यात्। तच्चादिपुराणाद्यनेकवचनविरुद्धम् ॥ ७२ ॥

अक्षारलवणान्नाः स्युर्निमज्जेयुश्च ते ऽयहम्।
मांसाशनं च नाश्नीयुः शयीरंश्च पृथक् क्षितौ ॥ ७३ ॥

(अशौच वालोंको) कृत्रिम लवणसे रहित अन्न (पायस-खीर आदि) खाना चाहिये, तीन दिन नदी आदिमें स्नान करना चाहिये, मांस-भोजनका त्याग करना चाहिये और अलग २ भूमिपर (पलंग या खाटपर नहीं) सोना चाहिये ॥ ७३ ॥

क्षारलवणं कृत्रिमलवणं तद्रहितमन्नमश्नीयुः। त्रिरात्रं नद्यादौ स्नानमाचरेयुः। मांसं न भक्षयेयुः। भूमौ चैकाकिनः शयनं कुर्युः ॥ ७३ ॥

सन्निधावेष वै कल्पः शावाशौचस्य कीर्तितः।
असन्निधावयं ज्ञेयो विधिः संबन्धिबान्धवैः ॥ ७४ ॥

(भृगु मुनि महर्षियोंसे कहते हैं कि—) पासमें मरनेपर यह अशौचकी विधि मैंने कही है, अब पासमें न मरनेपर अर्थात् परदेश या परोक्षमें—जहां कोई अपना बान्धव नहीं हो वहां मरनेपर (आगे कही हुई विधि) सम्बन्धियों (सपिण्ड तथा समान उदकवाले बन्धुओं) को जाननी चाहिये ॥ ७४ ॥

मृतस्य सन्निधावेकस्थानावस्थानादहः परिज्ञाने शावाशौचस्य विधिरयमुक्तः। देशान्तरावस्थानादज्ञाने सत्ययं वक्ष्यमाणो विधिः संबन्धिबान्धवैर्ज्ञातव्यः। संबन्धिनः सपिण्डाः। समानोदका बान्धवाः ॥ ७४ ॥

विगतं तु विदेशस्थं शृणुयाद्यो ह्यनिर्दशम्।
यच्छेषं दशरात्रस्य तावदेवाशुचिर्भवेत् ॥ ७५ ॥
[मासत्रये त्रिरात्रं स्यात्षण्मासे पक्षिणी तथा।
अहस्तु नवमादर्वागूर्ध्वं स्नानेन शुद्ध्यति ॥ १० ॥]

विदेश में मरे हुए बान्धवको दश दिन बीतनेके पहले जो सुने, वह जितने दिन (दश दिन पूरा होनेमें) बाकी हैं, उतने ही दिनों तक अशुद्ध रहता है ॥ ७५ ॥

[विदेशमें मरे हुए बान्धवका समाचार तीन मासके बाद सुनकर तीन रात छः मासके बाद सुनकर पक्षिणी रात्रि (वर्तमान दिन तथा आगेवाले दिनके सायंकाल तक), नौ मासके

प्रमाणाभावात्। तत्रोच्यते—बालेषु चेति कोऽस्यार्थो यावता उक्तमेव योगविभागे अदन्तजन्मनः सद्य इति। न चैतेन तद्बाधितुं युक्तं सामान्यरूपत्वादस्य, तस्य च विशेषव्यवस्थापनरूपत्वात्। अतोऽयमेकाहः पृथगुक्तोऽपि आचूडादेव व्यवतिष्ठतः सामान्यस्य विशेषापेक्षत्वात्। तस्मादनार्ष एवायमर्धश्लोकः प्रतिपद्यते। स्पर्शविषयतया नेयम्। स्पर्शप्रतिषेधो हि मृतकसूतकयोर्बालस्यापि पुंवत्प्राप्तः। तदर्थमेतदुक्तं स्यात् अहस्त्वदत्तकन्यासु बालेषु च विशोधनमिति। एवञ्च विषयसप्तम्याश्रिता भवति, सा च युक्ता कारकविभक्तित्वात्। इतरथा अध्याहृत्य भावलक्षणा सप्तमी व्याख्यायेत, बालेषु मृतेषु जीवतां शुद्धिरिति। न च तदुपस्पर्शनादाशौचम्। एतेनैतत् सिद्ध्यति, विषयान्तरे तस्य च चरितार्थत्वात् भूमौ परिवृतत्वात् भूमौ परिवृतस्य च स्पर्शनसम्भवात्। अविशेषोक्तौ कुतो विशेषप्रतिप्रत्तिरिति चेत्? तस्याचमनकल्पो विद्यते इत्येतत्सन्निधौ तादृशस्यैव स्पर्शस्य प्रतीयमानत्वात्। तथा च रजस्वलास्पृष्टिनो बालस्य स्पर्शनं नेच्छन्ति, अथास्य विशेषणत्वात्। तद्वा गौतमेन तदुक्तम्—"स्वस्यां मृतौ युक्तमेवाधातुमेतस्य" तस्माद्युक्तैवाधानकाललक्षणा।

वाद वान्धवका समाचार सुनकर एक दिन तथा उस (नौ मास) के वाद सुनकर केवल स्नान करने से शुद्ध होता है ॥ १० ॥]

विगतं मृतं विदेशस्थं विप्रकृष्टदेशस्थमनिर्गतदशाहाद्यशौचकालं यः शृणोति, स यदवशिष्टं दशरात्राद्याशौचस्य तावत्कालमविशुद्धो भवति । विगतमित्युपलक्षणं जननेऽप्येतदवगन्तव्यम् । तथा च बृहस्पतिः—

अन्यदेशमृतं ज्ञातिं श्रुत्वा वा पुत्रजन्म च ।
अनिर्गते दशाहे तु शेषाहोभिर्विशुद्ध्यति ॥ ७५ ॥

अतिक्रान्ते दशाहे च त्रिरात्रमशुचिर्भवेत् ।
संवत्सरे व्यतीते तु स्पृष्ट्वैवापो विशुद्ध्यति ॥ ७६ ॥

विदेशमें मृत वान्धवका समाचार मरनेके दस दिन वाद सुनकर सपिण्ड तीन दिनमें शुद्ध होता है तथा एक वर्ष बीतनेपर उक्त समाचार सुनकर केवल स्नान करनेसे सपिण्ड शुद्ध (अशौचसे रहित) हो जाता है ॥ ७६ ॥

नाशौचं प्रसवस्यास्ति व्यतीतेषु दिनेष्वपि ।

इति देवलवचनान्मरणविषयं वचनमिदम् । सपिण्डमरणे दशाहाशौचेऽतिक्रान्ते त्रिरात्रमशुद्धो भवति, संवत्सरे पुनरतीते स्नात्वैव विशुद्ध्यति । एतच्चाविशेषेणाभिधानाच्चातुर्वर्ण्यविषयम् ॥ ७६ ॥

निर्दशं ज्ञातिमरणं श्रुत्वा पुत्रस्य जन्म च ।
सवासा जलमाप्लुत्य शुद्धो भवति मानवः ॥ ७७ ॥

दस दिन बीतनेपर सपिण्ड बान्धवका मरण या पुत्रका जन्म सुनकर वस्त्रसहित स्नान करके मनुष्य शुद्ध (स्पर्शके योग्य) हो जाता है ॥ ७७ ॥

दशाहाशौचव्यपगमे कर्मानर्हत्वलक्षणस्य त्र्यहाशौचस्योक्तत्वात्तदङ्गास्पर्शविषयम् । निर्गतदशाहसपिण्डमरणं श्रुत्वा, पुत्रस्य जन्म च श्रुत्वा, सचैलं स्नात्वा स्पृश्यो भवति ॥ ७७ ॥

बाले देशान्तरस्थे च पृथक् पिण्डे च संस्थिते ।
सवासा जलमाप्लुत्य सद्य एव विशुद्ध्यति ॥ ७८ ॥

बालक (बिना दांत उत्पन्न हुए) तथा समानोदक (सपिण्ड नहीं—५।६०) बान्धवके मरनेपर मनुष्य वस्त्रके साथ स्नान कर तत्काल शुद्ध हो जाता है ॥ ७८ ॥

बालेऽजातदन्ते मृते जातदन्ते "नृणामकृतचूडानाम्" (म. स्मृ. ५-६७) इत्येकाहोरात्राभिधानाद्देशान्तरस्थे च सपिण्डे मृत इत्येकाहाशौचविषयम् । पूर्वश्लोके दशाहाशौचिनस्त्र्यहविधानात्पृथक् पिण्डे समानोदके त्रिरात्रमुक्तम् । तत्र त्रिरात्रव्यपगमे सर्वेष्वेषु सचैलं स्नात्वा सद्यो विशुद्धो भवति ॥ ७८ ॥

अन्तर्दशाहे स्यातां चेत्पुनर्मरणजन्मनी ।
तावत्स्यादशुचिर्विप्रो यावत्तत्स्यादनिर्दशम् ॥ ७९ ॥

पूर्वागत अशौच या सूतकके दश दिन बीतनेके पहले ही फिर किसीका मरण या जन्म होनेपर तव पहले अशौच या सूतकके दश दिन पूरा होनेसे ही ब्राह्मण (द्विज) शुद्ध हो जाता है । (पहले अशौच तथा सूतकमें ही दूसरे अशौच या सूतकका अन्तर्भाव हो जाता है) ॥ ७९ ॥

दशाहादिमध्ये यदि पुनर्मरणे मरणं जनने जननं स्यात्पुनःशब्दात्सजतीयावगमात्तदा तावत्कालमेव विप्रादिरशुद्धः स्यात्, यावत्पूर्वजातदशाहाद्यशौचं नापगतं स्यात्तावत्पूर्वाशौचव्यपगमेनैव द्वितीयेऽपि मृतके सूतके च शुद्धिरित्यर्थः ॥ ७९ ॥

त्रिरात्रमाहुराशौचमाचार्ये संस्थिते सति ।
तस्य पुत्रे च पत्न्यां च दिवारात्रमिति स्थितिः ॥ ८० ॥

आचार्य (२।१४०) के मरनेपर तीन (दिन-रात), और आचार्य पुत्र तथा आचार्य-पत्नीके मरनेपर एक दिन-रात अशौच होता है, यह शास्त्र मर्यादा है ॥

आचार्ये मृते सति शिष्यस्य त्रिरात्रमाशौचं वदन्ति । तत्पुत्रपत्न्योश्च मृतयोरहोरात्रमित्येषा शास्त्रमर्यादा ॥ ८० ॥

श्रोत्रिये तूपसंपन्ने त्रिरात्रमशुचिर्भवेत् ।
मातुले पक्षिणीं रात्रिं शिष्यर्त्विग्बान्धवेषु च ॥ ८१ ॥

श्रोत्रिय (अपने गृहमें रहनेवाला मित्रभावापन्न वेदपाठी), के मरने पर तीन रात तथा मामा शिष्य, ऋत्विक् (२।१४३) और बान्धवके मरनेपर पक्षिणी रात्रि (वर्तमान दिन तथा अगले दिन सायंकाल तक) अशौच होता है ॥ ८१ ॥

वेदशास्त्राध्यायिन्युपसंपन्ने मैत्रादिना तत्समीपवर्तिनि तद्गृहवासिनीत्यर्थः । तस्मिन्मृते त्रिरात्रेण शुद्धो भवति । मातुलर्त्विक् शिष्यादिषु पक्षिणीरात्रिं व्याप्याशौचम् । द्वे अहनी पूर्वोत्तरे पक्षाविव यस्याः सा पक्षिणी ॥ ८१ ॥

प्रेते राजनि सज्योतिर्यस्य स्याद्विषये स्थितः ।
अश्रोत्रिये त्वहः कृत्स्नमनूचाने तथा गुरौ ॥ ८२ ॥

जिसके देशमें रहता हो, उस अभिषिक्त राजाके दिनमें मरनेपर सायं (सूर्यास्त) कालतक और रातमें मरनेपर प्रातःकाल (ताराओं के रहनेका समय) तक अशौच होता है । घरमें रहने वाले अश्रोत्रिय (श्रोत्रियके लिये तीन रात पहले (५।८१) कह चुके हैं), अनूचान (अङ्गोंके सहित वेद पढ़नेवाला), और गुरु (२।१४१, १४२ भी) के दिनमें मरनेपर केवल सायंकाल तक और रातमें मरनेपर प्रातःकाल तक अशौच रहता है ॥ ८२ ॥

यस्य देशे ब्राह्मणादिः स्थितस्तस्मिन्राजनि कृताभिषेके क्षत्रिये मृते सज्योतिराशौचं स्यात् । सह ज्योतिषा वर्तत इति सज्योतिः । यदि दिवा मृतस्तदा यावत्सूर्यज्योतिस्तावदाशौचम्, यदि रात्रौ मृतस्तदा यावत्तारकाज्योतिस्तावदाशौचम् श्रोत्रिये त्रिरात्रमुक्तम् । अश्रोत्रिये पुनस्तद्गृहे मृते कृत्स्नं दिनमात्रमाशौचं न तु रात्रावपि । रात्रौ मृते रात्रावेवेत्यवगन्तव्यम् । साङ्गवेदाध्यायिनि "स्वल्पं वा बहु वा यस्य" (म. स्मृ. २-१४९) इत्येतन्निर्दिष्टे गुरावप्यहर्मात्रमेव ॥ ८२ ॥

शुद्ध्येद्विप्रो दशाहेन द्वादशाहेन भूमिपः ।
वैश्यः पञ्चदशाहेन शूद्रो मासेन शुद्ध्यति ॥ ८३ ॥
[क्षत्रविट्शूद्रदायादाः स्युश्चेद्विप्रस्य बान्धवाः ।
तेषामशौचं विप्रस्य दशाहाच्छुद्धिरिष्यते ॥ ११ ॥
राजन्यवैश्ययोश्चैवं हीनयोनिषु बन्धुषु ।
स्वमेव शौचं कुर्वीत विशुद्ध्यर्थमिति स्थितिः ॥ १२ ॥

विप्रः शुध्येद्दशाहेन जन्महानौ स्वयोनिषु ।
षड्भिस्त्रिभिरथैकेन क्षत्रविट्शूद्रयोनिषु ॥ १३ ॥
सर्वे चोत्तमवर्णास्तु शौचं कुर्युरतन्द्रिताः ।
तद्वर्णविधिदृष्टेन स्वं तु शौचं स्वयोनिषु ॥ १४ ॥]

यज्ञोपवीत संस्कारसे युक्त सपिण्डके मरनेपर ब्राह्मण दश दिनमें, क्षत्रिय बारह दिनमें, वैश्य पन्द्रह दिनमें और शूद्र एक मासमें शुद्ध होता है ॥ ८३ ॥

[यदि ब्राह्मणके बान्धव, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र धनके लेनेवाले मरें तो दश दिनमें शुद्धि होती है ॥ ११ ॥

क्षत्रिय और वैश्यके बान्धव यदि अपनेसे हीन वर्ण (क्षत्रियके वैश्य तथा शूद्र और वैश्यके शूद्र) हो तो उसकी मृत्यु होनेपर शुद्धिके लिये वे (क्षत्रिय तथा वैश्य) अपने ही अशौचका पालन करें, ऐसी शास्त्रमर्यादा है ॥ १२ ॥

ब्राह्मण स्वयोनि (वर्ण) वाले (ब्राह्मण) की मृत्यु होनेपर दश दिनमें क्षत्रियवर्णवालेकी मृत्यु होनेपर छः दिनमें वैश्यवर्णवालेकी मृत्यु होनेपर तीन दिनमें और शूद्रवर्णवालेके मरनेपर एक दिनमें शुद्ध होता है ॥ १३ ॥

सभी उत्तमवर्णवाले आलसहीन होकर उन-उन वर्णोंके लिये कहे गये अपने-अपने वर्णोंकी मृत्यु होनेपर अपनी-अपनी शुद्धि करे ॥ १४ ॥]

उपनीतसपिण्डमरणे सम्पूर्णकालीनजनने च वृत्तस्वाध्यायादिरहितब्राह्मणो दशाहेन शुद्धो भवति । क्षत्रियो द्वादशाहेन । वैश्यः पञ्चदशाहेन । शूद्रो मासेन । तस्य चोपनयनस्थाने विवाहः ॥ ८३ ॥

न वर्धयेदघाहानि प्रत्यूहेन्नाग्निषु क्रियाः ।
न च तत्कर्म कुर्वाणः सनाभ्योऽप्यशुचिर्भवेत् ॥ ८४ ॥

अशौचके दिनोंको स्वयं न बढ़ावे और (वैसा करके) अग्निहोत्र कर्मका विघात न करे । उस कर्मको करता हुआ सपिण्ड (पुत्रादि) भी अशुद्ध नहीं होता ॥ ८४ ॥

यस्य तु वृत्तस्वाध्यायाद्यपेक्षया पूर्वम् "अर्वाक्सञ्चयनादस्थनाम्" (म. स्मृ. ५-५९) इत्याद्याशौचसङ्कोच उक्तः, स निष्कर्मा सुखमासिष्ये इति बुद्धया नाशौचदिनानि दशाहादिरूपतया वर्धयेत्सङ्कुचिताशौचदिनेष्वपि । अग्निष्विति बहुवचनाच्छ्रौताग्निष्वग्निहोत्रहोमान्न विघातयेत् । स्वयं कुर्यादशक्तौ वा पुत्रादीन्कारयेत् । अत्रैव हेतुमाह—यस्मात्तत्कर्माग्निहोत्ररूपं कुर्वाणः पुत्रादिः सपिण्डो नाशुचिर्भवति । तदाह पारस्करः—"नित्यानि विनिवर्तन्ते वैतानवर्जम् । वैतानं श्रौतो होमः गार्हपत्यकुण्डस्थानग्नीनाहवनीयादिकुण्डेषु वितत्य क्रियते" इति । तथा च शङ्खलिखितौ 'अग्निहोत्रार्थं स्नानोपस्पर्शनाच्छुचिः" । जाबालोऽप्याह—

**जन्महानौ वितानस्य कर्मलोपो न विद्यते ।
शालाग्नौ केवलो होमः कार्य एवान्यगोत्रजैः ॥**

छन्दोगपरिशिष्टमपि—

**मृतके कर्मणां त्यागः सन्ध्यादीनां विधीयते ।
होमः श्रौते तु कर्तव्यः शुष्कान्नेनापि वा फलैः ॥**

तस्मादेकाहत्र्यहाद्याशौचसङ्कोचे सन्ध्यादीनामेव परित्यागो न तु श्रौतहोमस्य। एकाहत्र्यहाद्यपगमे तु संध्यापञ्चमहायज्ञादिसर्वमेवानुष्ठेयम्। अतो यन्मे[1] धातिथिगोविन्दराजाभ्यामन्यथाऽप्यभिधायि "एकाहत्र्यहाद्यशौचसंकोचोऽयं होमस्वाध्यायमात्रविषयः, संध्योपासनादिकं तु तेनापि दशाहमेव न कर्तव्यम्" इति, तन्निष्प्रमाणकम्। यत्तु गौतमेन "राज्ञां च कर्मविरोधाद् ब्राह्मणस्य स्वाध्यायानिवृत्त्यर्थम् ," याज्ञवल्क्येन च-"ऋत्विजां दीक्षितानां च" (या. स्मृ. ३-२८) इत्यादिना सद्यःशौचमुक्तं तत्सर्वेषामेव दशाहाद्यशौचिनामपि तत्तत्कर्मविषयम्। यानि तूभयत्र दशाहानि "कुलस्यान्नं न भुञ्जीत" इत्यादीनि दशाहं तत्तत्कर्मनिषेधकानि वचनानि, तानि दशाहाशौचविषयाणीति न कश्चिद्विरोधः। तस्माद्धोमस्वाध्यायमात्रार्थं सगुणे अशौचलाघवम्, न संध्योपासनार्थमितीदं निष्प्रमाणम् ॥ ८४ ॥

दिवाकीर्तिमुदक्यां च पतितं सूतिकां तथा।
शवं तत्स्पृष्टिनं चैव स्पृष्ट्वा स्नानेन शुद्ध्यति ॥ ८५ ॥

चण्डाल, रजस्वला स्त्री, पतित (ब्रह्मघाती आदि, ११ अध्यायोक्त), सूतिका (जच्चा), मुर्दा, तथा मुर्दे का स्पर्श करनेवालो का स्पर्श करनेवालों का स्पर्शकर स्नान मात्र से शुद्धि होती है ॥८५॥

चाण्डालम् , रजस्वलाम् , ब्रह्महादिकं पतितम् , प्रसूताम् , दशाहाभ्यन्तरे शवं शवस्पृष्टिनं च स्पृष्ट्वा स्नानेन शुद्धो भवति।

केचित्तु तत्स्पृष्टिनमिति चाण्डालोदक्यादिभिः सर्वैः सम्बन्धयन्ति। गोविन्दराजस्तु याज्ञवल्क्यवचनाच्छवस्पृष्टिनमाह नोदक्यादिस्पृष्टिनं तत्राचमनावधानात्। तदाह याज्ञवल्क्यः—

उदक्याशुचिभिः स्नायात्संस्पृष्टस्तैरुपस्पृशेत्। (या. स्मृ. ३-३०)

उदक्याशुचिभिः स्पृष्टः स्नानं कुर्यात्। उदक्याशौचिभिः स्पृष्टैः स्पृष्टस्तूपस्पृशेदाचामेत् ॥ ८५ ॥

आचम्य प्रयतो नित्यं जपेदशुचिदर्शने।
सौरान्मन्त्रान्यथोत्साहं पावमानीश्च शक्तितः ॥ ८६ ॥

---

१. प्रत्यूहेन्नाग्निषु क्रिया अशुचित्वात्सर्वेश्रौतस्मार्तक्रियानिवृत्तौ प्राप्तायामिदमुच्यते। अग्निषु याः क्रियाः सायंहोमाद्यास्तान्न प्रत्यूहेन्न प्रत्यस्येत्। प्रत्यूहो निर्हास अननुष्ठानम्। नच स्वयं कुर्यादत आह—न च तत्कर्मकुर्वाणः सनाभ्योऽपीति। सनाभ्योऽपि न शुचिः स्यात् किं पुनरन्यः। तथा गृह्यम्-"नित्यानि निवर्तेरन् वैतानवर्जं शालाग्नौ चैके" इत्युक्त्वा आह-"अन्य एतानि कुर्युः" इति। नच यदग्न्याधानं होममात्रमेव क्रियते किं तर्हि साङ्गप्रयोगस्तत्रैव कर्तुर्नरस्य सम्भवात्प्रधानहोमस्य तु द्रव्यत्यागरूपत्वात् स्वयं कर्तृतैव। अतो होमवैश्वदेवदर्शपूर्णमासाद्या निवर्तन्ते। अन्येषां तु जपसन्ध्योपासनादीनां निवृत्तिर्न दर्शिता तानि च नित्यानि। अतो अन्येषामेवाभ्यनुज्ञानं, यतः स्मृत्यन्तरे प्रतिषिद्धं होमस्वाध्यायौ निवर्तेत इति। नित्यकाम्यभेदेन व्यवस्था। काम्यं तु नैव कर्तव्यमशुचित्वादधिकारापगमात्। ननु च नित्येष्वपि नैवाशुचेरधिकारः। न च शौचमङ्गं यदि विगुणं नित्यमनुष्ठीयते न काम्यमित्युच्यते अथास्माद्वचनाद् भवति। मैवम्, इह यद्यपि मानं तदस्यान्य एतानि कुर्युरिति परकर्तृकत्वमभ्यनुज्ञायते। तच्च विगुणत्वान्नित्येषूपपद्यते न काम्येषु। वैश्वदेवे तु विवदन्ते स्मृत्यन्तरं चोदाहरन्ति। होमं तत्र न कुर्वीत शुष्कधान्यफलैरपि। पञ्चयज्ञविधानं तु न कुर्यान्मृत्युजन्मनोः ॥ अतः सन्ध्याहोमौ दर्शपूर्णासौ साम्वत्सरिकं चाश्वयुज्यादि कर्तव्यम्।

श्राद्ध या देव-पूजन करनेका इच्छुक व्यक्ति स्नानादिसे शुद्ध होकर चण्डाल आदि अशुद्ध व्यक्तियोंको देखनेपर उत्साहानुसार सूर्यमन्त्रका यथाशक्य 'पवमानी' मन्त्रका जप करे ॥ ८६ ॥

श्राद्धदेवपूजादिसंचिकीर्षुः स्नानाचमनादिना प्रयतः सन्प्रकृतचाण्डालाद्यशुचिदर्शने सति "उदु त्यं जातवेदसम्" इत्यादिसूर्यदैवतमन्त्रान्यथासामर्थ्यं पावमानीश्च शक्त्या जपेत् ॥ ८६ ॥

नारं स्पृष्ट्वास्थि सस्नेहं स्नात्वा विप्रो विशुद्ध्यति ।
आचम्यैव तु निःस्नेहं गामालभ्यार्कमीक्ष्य वा ॥ ८७ ॥

मनुष्य की गीली (रक्तादिसे युक्त-ताजी) हड्डी छूकर स्नान करनेसे ब्राह्मण शुद्ध होता है। तथा सूखी हड्डी को छूकर आचमन करने, गौका स्पर्श करने या सूर्यदर्शन करनेसे शुद्ध होता है ॥ ८७ ॥

मानुषास्थि स्नेहसंयुक्तं स्पृष्ट्वा ब्राह्मणादिः स्नानेन विशुद्ध्यति। स्नेहशून्यं पुनः स्पृष्ट्वा आचम्य गोस्पर्शार्कवीक्षणयोरन्यतरत्कृत्वा विशुद्धो भवति ॥ ८७ ॥

आदिष्टी नोदकं कुर्यादाव्रतस्य समापनात् ।
समाप्ते तूदकं कृत्वा त्रिरात्रेणैव शुद्ध्यति ॥ ८८ ॥

व्रती ब्रह्मचारी व्रतके समाप्त होनेके पहले तिलाञ्जलि न दे (तथा पूरक पिण्ड एवं षोडशी श्राद्ध आदि भी न करे), व्रतके समाप्त हो जानेपर तिलाञ्जलि देकर तीन रातमें (दिन-रात अशौच मानकर) शुद्ध होता है ॥ ८८ ॥

व्रतादेशनमादिष्टं तदस्यास्तीति आदिष्टी ब्रह्मचारी स प्रेतोदकमाव्रतसमापनान्न कुर्यात्। उदकमिति पूरकपिण्डषोडशश्राद्धादिसकलप्रेतकृत्योपलक्षणम्। समाप्ते पुनर्ब्रह्मचर्ये प्रेतोदकं कृत्वा त्रिरात्रमशौचं कृत्वा विशुद्धो भवति। एतच्च मातापित्राचार्यव्यतिरिक्तविषयम्। तदाह वसिष्ठः—"ब्रह्मचारिणः शवकर्मणा व्रतान्निवृत्तिरन्यत्र मातापित्रोर्गुरोर्वा"। शवकर्मणेति शवनिमित्तकेन निर्हरणदहनोदकदानपूर्वकपिण्डषोडशश्राद्धादिकर्मणा। वक्ष्यति च—"आचार्यं स्वमुपाध्यायम्" (म. स्मृ. ५-९१) इति ॥ ८८ ॥

वृथासङ्करजातानां प्रव्रज्यासु च तिष्ठताम् ।
आत्मनस्त्यागिनां चैव निवर्तेतोदकक्रिया ॥ ८९ ॥

मनुके अग्रिम (५।९१) वचनानुसार तथा वसिष्ठके वचनानुसार व्रती ब्रह्मचारीको भी अपने आचार्य (२।१४०), उपाध्याय (२।१४१), पिता, माता और गुरु (२।१४२) के अतिरिक्त मृत व्यक्तिके निमित्त तिलाञ्जलि-दान आदि कर्मोंका निषेध है, अपने आचार्य आदिके लिये तिलाञ्जलि-दान आदि करनेपर भी इस (ब्रह्मचारी) का व्रत खण्डित नहीं होता है ॥ ८९ ॥

जातशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते। वृथाजातानां बाहुल्येन त्यक्तस्वधर्माणां सङ्करजातानां हीनवर्णेनोत्कृष्टस्त्रीषूत्पन्नानां वेदबाह्यरक्तपटादिप्रव्रज्यासु वर्तमानानामशास्त्रीयविषोद्बन्धनादिना कामतश्च कृतजीवितत्यागिनामुदकादिक्रिया न कर्तव्या ॥ ८९ ॥

पाषण्डमाश्रितानां च चरन्तीनां च कामतः ।
गर्भभर्तृद्रुहां चैव सुरापीनां च योषिताम् ॥ ९० ॥

पाखण्डका आश्रय (वेद-वचन-विरुद्ध काषाय वस्त्र आदिको धारण) करनेवाली, स्वेच्छाचारिणी (स्वेच्छासे एक या अनेक पुरुषका संसर्ग करनेवाली), गर्भपात तथा पतिहत्या करनेवाली और मद्य पीनेवाली स्त्रियोंका तिलाञ्जलिदान श्राद्ध आदि नहीं करना चाहिये ॥ ९० ॥

वेदबाह्यरक्तपटमौञ्जादिव्रतचर्या पाषण्डं तदनुतिष्ठन्तीनां स्वच्छमेकानेकपुरुषगामिनीनां गर्भपातनभर्तृवधकारिणीनां द्विजातिस्त्रीणां सुरापीनामुदकक्रियौर्ध्वदैहिकं निवर्तेत इति पूर्वेण सम्बन्धः ॥ ९० ॥

आचार्यं स्वमुपाध्यायं पितरं मातरं गुरुम् ।
निर्हृत्य तु व्रती प्रेतान्न व्रतेन वियुज्यते ॥ ९१ ॥

अपने आचार्य (२।१४०), उपाध्याय (२।१४१), पिता, माता और गुरु (२।१४२) के शवको बाहर निकालकर (दाह, दशाह और श्राद्ध करके भी) व्रती ब्रह्मचारी व्रतसे भ्रष्ट नहीं होता है ॥ ९१ ॥

आचार्य उपनयनपूर्वकं संपूर्णशाखाऽध्यापयिता, उपाध्यायो वेदैकदेशस्याङ्गस्य वाऽध्यापकः, वेदस्य वेदानां चैकदेशस्यापि व्याख्याता गुरुः । निर्हरणपूर्वकत्वात्प्रेतकृत्यस्य निर्हृत्येति दाहदशाहपिण्डषोडशश्राद्धादिसकलप्रेतकृत्यस्य प्रदर्शनार्थमाचार्यादीन्पञ्च मृतान्निर्हृत्य ब्रह्मचारी न लुप्तव्रतो भवति । एवं चान्यान्निर्हृत्य व्रतलोपो भवतीति गम्यते । आचार्यं स्वमित्यभिधानात् ।

गुरोर्गुरौ सन्निहिते गुरुवद्वृत्तिमाचरेत् । (म. स्मृ. २-२०५)

इति न्यायान्नाचार्याचार्यमपि । स्वमिति सर्वत्र संबध्यते, तेनोपाध्यायोपाध्यायमपि निर्हृत्य व्रतलोप एव ॥ ९१ ॥

दक्षिणेन मृतं शूद्रं पुरद्वारेण निर्हरेत् ।
पश्चिमोत्तरपूर्वैस्तु यथायोगं द्विजन्मनः ॥ ९२ ॥

मरे हुए शूद्रको नगरके दक्षिण द्वार से बाहर निकाले और अन्य द्विजों (वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण) के शवको क्रमशः नगरके पश्चिम, उत्तर तथा पूर्वके द्वारसे बाहर निकाले अर्थात् मृत ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रके शवको क्रमशः नगरके पूर्व, उत्तर पश्चिम तथा दक्षिण दिशाके द्वारोंसे बाहर निकालना चाहिये ॥ ९२ ॥

अमाङ्गलिकत्वादत्यन्तापकृष्टशूद्रक्रमेणाभिधानम् । शूद्रं मृतं दक्षिणपुरद्वारेण निर्हरेत् । द्विजातीन्पुनर्यथायोगं यथायुक्त्याऽपकृष्टवैश्यक्षत्रिविप्रक्रमेणैव पश्चिमोत्तरपूर्वद्वारेण निर्हरेत् ॥ ९२ ॥

न राज्ञामघदोषोऽस्ति व्रतिनां न च सत्रिणाम् ।
ऐन्द्रं स्थानमुपासीना ब्रह्मभूता हि ते सदा ॥ ९३ ॥

अभिषिक्त राजा, व्रती (ब्रह्मचारी तथा चान्द्रायणादि व्रत करने वाले), यज्ञकर्ता (यज्ञमें दीक्षित) लोगोंको (सपिण्डके मरनेपर) अशुद्धि (अशौच) दोष नहीं होता है, क्योंकि राजा-अभिषिक्त होनेसे इन्द्रपद को प्राप्त होते हैं तथा व्रती और यज्ञकर्ता ब्रह्मतुल्य निर्दोष हैं ॥ ९३ ॥

राज्ञामभिषिक्तक्षत्रियाणां सपिण्डमरणादावशौचदोषो नास्ति । यतो राजानं ऐन्द्रं स्थानं राज्याभिषेकाख्यमाधिपत्यकारणं प्राप्ताः । व्रतिनो ब्रह्मचारिणश्चान्द्रायणादिव्रतकारिणश्च, सत्रिणो गवामयनादियागप्रवृत्ताः यतो ब्रह्मभूतास्ते ब्रह्मेव निष्पाद्याः । अशौचाभावश्चायं कर्मविशेषे । तदाह विष्णुः—"अशौचं न राज्ञां राजकर्मणि न व्रतिनां व्रते न सत्रिणां सत्रे" । राजकर्मणि व्यवहारदर्शनशान्तिहोमादिकर्मणि ॥ ९३ ॥

राज्ञो माहात्मिके स्थाने सद्यःशौचं विधीयते ।
प्रजानां परिरक्षार्थमासनं चात्र कारणम् ॥ ९४ ॥

राजसिंहासनारूढ राजाका (राज्यभ्रष्ट राजाका नहीं) तत्काल शुद्धि होती है इसमें प्रजाकी रक्षाके लिये राजसिंहासन ही कारण है ॥ ९४ ॥

महात्मन इदं स्थानं माहात्मिकं राज्यपदाख्यं सर्वाधिपत्यलक्षणम्, महात्मैव प्राचीन-पुण्यराज्यमासादयति तस्मिन्वर्तमानस्य सद्यःशौचमुपदिश्यते, न तु राज्यप्रच्युतस्य क्षत्रियजातेरपि । अत्र जातिरविवक्षितेत्यनेन श्लोकेन दर्शितम् । यतो न्यायनिरूपणेन दुर्भिक्षेऽन्नदानेनोपसर्गेषु शान्तिहोमादिना प्रजारक्षार्थं राज्यासनेष्ववस्थानमशौचाभावे च कारणम् । तच्चाक्षत्रियाणामपि तत्कार्यकारिणां विप्रवैश्यशूद्राणामविशिष्टम् । अत एव सोमकार्यकारिणि फलचमसे सोमधर्माः । अत एव व्रीहिधर्मान्विततया श्रुतमप्यवघातादि तत्कार्यकारित्वस्य विवक्षितत्वात्प्रकृतौ यवे, विकृतौ च नीवारादिषु संबध्यत इति कर्म-मीमांसायां तत्तदधिकरणेषु निरणायि ॥ ९४ ॥

डिम्भाहवहतानां च विद्युता पार्थिवेन च ।
गोब्राह्मणस्य चैवार्थे यस्य चेच्छति पार्थिवः ॥ ९५ ॥

नृपसे रहित युद्धमें मारे गये, बिजलीसे मरे हुए राजा (किसी अपराधमें राजदण्ड) से मारे गये अर्थात् प्राणदण्ड प्राप्त, गौ तथा ब्राह्मणकी रक्षाके लिये (युद्धके बिना भी जल, अग्नि या व्याघ्र आदिसे) मारे गये और (अपनी कार्य हानि नहीं होनेके लिये) राजा जिसकी तत्काल शुद्धि चाहता हो उसकी (तत्काल शुद्धि होती है) ॥ ९५ ॥

डिम्भाहवो नृपरहितयुद्धं तत्र हतानाम्, विद्युता वज्रेण, पार्थिवेन वधार्हेऽपराधे हते, गोब्राह्मणरक्षणार्थं विनाऽपि युद्धं जलाग्निव्याघ्रादिभिर्हतानाम्, यस्य पुरोहितादेः स्व-कार्याविघातार्थं नृपतिरशौचाभावमिच्छति तस्यापि सद्यःशौचम् ॥ ९५ ॥

सोमाग्न्यर्कानिलेन्द्राणां वित्ताप्पत्योर्यमस्य च ।
अष्टानां लोकपालानां वपुर्धारयते नृपः ॥ ९६ ॥

राजा चन्द्र, अग्नि, सूर्य, वायु, इन्द्र, कुबेर, वरुण, यम इन आठों लोकपालोंके शरीरको धारण करता है ॥ ९६ ॥

चन्द्राग्निसूर्यवायुशक्रयमानां वित्तस्यापां च पत्योः कुबेरवरुणयोरेवमष्टानां लोक-पालानां सबन्धि देहं राजा धारयति ॥ ९६ ॥

ततः किमत आह—

लोकेशाधिष्ठितो राजा नास्याशौचं विधीयते ।
शौचाशौचं हि मर्त्यानां लोकेशप्रभवाप्ययम् ॥ ९७ ॥

(अत एव) राजा लोकपालोंके अंशसे अधिष्ठित है, इस कारण इस राजा को अशौच नहीं होता है; क्योंकि मनुष्योंकी शुद्धि या अशुद्धि लोकपालोंसे होती है या नष्ट (दूर) होती है । (अत एव दूसरोंकी शुद्धि और अशुद्धिके उत्पादक और विनाशक लोकपोलोके अंशभूत राजा की अशुद्धि कैसे हो सकती है ? ।) ॥ ९७ ॥

यतो लोकेशांशाक्रान्तो नृपतिरतो नास्याशौचमुपदिश्यते । यस्मान्मनुष्याणां यच्छौ-चमशौचं वा तल्लोकेशेभ्यः प्रभवति विनश्यति च । अप्ययो विनाशः । एतेनान्यदीयशौ-

चाशौचोत्पादनविनाशशक्तस्य लोकेश्वररूपस्य नृपतेः कुतः स्वकीयाशौचमिति पूर्वोक्ताशौचाभावस्तुतिः ॥ ९७ ॥

उद्यतैराहवे शस्त्रैः क्षत्रधर्महतस्य च ।
सद्यः संतिष्ठते यज्ञस्तथाशौचमिति स्थितिः ॥ ९८ ॥

युद्धमें क्षत्रिय-धर्मसे (तलवार आदिसे प्रहारसे, लाठी या पत्थर आदिसे नहीं) मारे गये व्यक्तिका ज्योतिष्टोमादि यज्ञ तत्काल ही पूर्ण (ज्योतिष्टोमादिका फल प्राप्त) होता है, ऐसी शास्त्रकी मर्यादा है ॥ ९८ ॥

उद्यतैः शस्त्रैः खड्गादिभिर्न तु लगुडपाषाणादिभिरपराङ्मुखत्वादिक्षत्रियधर्मयुक्तसंग्रामे हतस्य तत्क्षणादेव ज्योतिष्टोमादियज्ञः संतिष्ठते समाप्तिमेति, तत्पुण्येन युज्यत इत्यर्थः । तथाऽऽशौचमपि तत्क्षणादेव समाप्तिमेति, इयं शास्त्रे मर्यादा ॥ ९८ ॥

विप्रः शुद्धयत्यपः स्पृष्ट्वा क्षत्रियो वाहनायुधम् ।
वैश्यः प्रतोदं रश्मीन्वा यष्टिं शूद्रः कृतक्रियः ॥ ९९ ॥

अशौचके बाद यज्ञादिको किया हुआ ब्राह्मण जलका, क्षत्रिय वाहन (रथ, हाथी, घोड़ा आदि) का, वैश्य कोड़े (या चाबुक) या रथके बाग (रास) का और शूद्र छड़ी (या लाठी) का (दहिने हाथसे) से स्पर्शकर शुद्ध होता है ॥ ९९ ॥

अशौचान्ते कृतश्राद्धादिकृत्यो ब्राह्मणोऽपः स्पृष्ट्वेति जलस्पर्शमात्रं दक्षिणहस्तेन कृत्वा शुद्धो भवति, न तु

संवत्सरे व्यतीते तु स्पृष्ट्वैवापो विशुद्ध्यति ।

इतिवत् स्नात्वा । वाहनादिस्पर्शसाहचर्यात्स्पृष्ट्वेत्यस्य च सकृदुच्चरितस्यार्थभेदस्यान्याय्यत्वात् । क्षत्रियो हस्त्यादिवाहनं खड्गाद्यस्त्रं च, वैश्यो बलीवर्दादिप्रतोदं लोहप्रोताग्रं योक्त्रं वा, शूद्रो यष्टिं वंशदण्डिकाम् ॥ ९९ ॥

एतद्वोऽभिहितं शौचं सपिण्डेषु द्विजोत्तमाः ।
असपिण्डेषु सर्वेषु प्रेतशुद्धिं निबोधत ॥ १०० ॥

(भृगु मुनि महर्षियोंसे कहते हैं कि—) हे ब्राह्मणों ! सपिण्डोंके मरनेपर यह शुद्धि (मैंने) आप लोगोंसे कही, अब आपलोग सब असपिण्डोंके मरनेपर शुद्धिको सुनो ॥ १०० ॥

भो द्विजश्रेष्ठाः ! एतच्छौचं सपिण्डेषु प्रेतेषु युष्माकमुक्तम् । इदानीमसपिण्डेषु प्रेतशुद्धिं शृणुत ॥ १०० ॥

असपिण्डं द्विजं प्रेतं विप्रो निर्हृत्य बन्धुवत् ।
विशुद्ध्यति त्रिरात्रेण मातुराप्तांश्च बान्धवान् ॥ १०१ ॥

ब्राह्मण मरे हुए असपिण्ड द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) को तथा माताके आप्त (सहोदर भाई, भगिनी आदि) बान्धवोंको स्नेहपूर्वक (अदृष्ट भावनाके विना) बाहर निकालकर तीन रात्रि (दिन-रात) में शुद्ध होता है ॥ १०१ ॥

असपिण्डं ब्राह्मणं मृतं ब्राह्मणो बन्धुवत्स्नेहानुबन्धेन, न त्वदृष्टबुद्ध्येत्यर्थादुक्तम् । मातुश्चाप्तान्सन्निकृष्टान्सहोदरभ्रातृभगिन्यादीन्बान्धवान्निर्हृत्य त्रिरात्रेण शुद्धो भवति ॥१०१॥

यद्यन्नमत्ति तेषां तु दशाहेनैव शुद्ध्यति ।
अनदन्नन्नमह्नैव न चेत्तस्मिन्गृहे वसेत् ॥ १०२ ॥

पूर्व (५।१०१) श्लोकोक्त मृत असपिण्ड द्विजके शवको स्नेहसे बाहर निकालकर यदि ब्राह्मण उनका अन्न भोजन करे तो दस दिनमें शुद्ध होता है और यदि उस मृत असपिण्ड द्विजके अन्नको नहीं खाता हो और उसके घरमें भी नहीं रहता हो तब (उसके शवको बाहर निकालनेपर) एक दिन (दिन-रात) में वह ब्राह्मण शुद्ध हो जाता है। और उसके घर रहनेपर तथा उसका अन्न नहीं खानेपर तीन रातमें शुद्ध होता है) ॥ १०२ ॥

निर्हारको यदि तेषां मृतस्य सपिण्डानामाशौचिनामन्नमश्नाति तदा तद्दशाहेनैव शुद्ध्यति न त्रिरात्रेण। अथ तेषामन्नं नाश्नाति गृहे च तेषां न वसति, निर्हरति च तदाऽहोरात्रेणैव शुद्ध्यति। एवं च तद्गृहवासे सति तदन्नाभोजिनो निर्हारकस्य पूर्वोक्तं त्रिरात्रम् ॥ १०२ ॥

अनुगम्येच्छया प्रेतं ज्ञातिमज्ञातिमेव च।
स्नात्वा सचैलः स्पृष्ट्वाऽग्निं घृतं प्राश्य विशुद्ध्यति॥ १०३ ॥

अपनी जातिवाले या भिन्न जातिवाले शवके पीछे इच्छापूर्वक जाकर वस्त्र-सहित स्नानकर, अग्निका स्पर्श कर फिर घृतका प्राशनकर शुद्ध होता है ॥ १०३ ॥

ज्ञातिमज्ञातिं वा मृतमिच्छातोऽनुगम्य सचैलस्नानं च कृत्वा ततोऽग्निं च स्पृष्ट्वा पश्चाद्घृतप्राशनं कृत्वा अनुगमननिमित्ताशौचाद्विशुद्ध्यति ॥ १०३ ॥

न विप्रं स्वेषु तिष्ठत्सु मृतं शूद्रेण नाययेत्।
अस्वर्ग्या ह्याहुतिः सा स्याच्छूद्रसंस्पर्शदूषिता ॥ १०४ ॥

स्वबान्धवोंके उपस्थित रहनेपर मृत ब्राह्मणको शूद्रके द्वारा बाहर न निकलवावे, क्योंकि वह निर्हरण (शूद्रके द्वारा विप्रके शवका बाहर निकलवाना) स्वर्गप्राप्तिमें बाधक होता है ॥ १०४ ॥

ब्राह्मणादिं मृतं समानजातीयेषु स्थितेषु न शूद्रेण पुत्रादिर्निर्हारयेत्। यस्मात्सा शरीराहुतिः शूद्रस्पर्शदुष्टा सती मृतस्य स्वर्गाय हिता न भवति। मृतं स्वर्गं न प्रापयतीत्यर्थः। स्वेषु तिष्ठत्स्वित्यभिधानाद्ब्राह्मणाभावे क्षत्रियेण तदभावे वैश्येन तदभावे शूद्रेणापि निर्हारयेदित्युक्तम्, यथापूर्वं श्रेष्ठत्वात्। अस्वर्ग्यदोषश्च ब्राह्मणादिसद्भावे शूद्रेण निर्हरणे सति बोद्धव्यः। गोविन्दराजस्तु दोषनिर्देशात्स्वेषु तिष्ठत्स्वित्यविवक्षितमित्याह। तदयुक्तम्। संभवदर्थपदद्वयोच्चारणवैयर्थ्यप्रसङ्गादुपक्रमावगतेश्च वेदोदितन्यायेनानुबोध्यत्वाद् गुणभूतशुद्ध्यनुरोधेन प्रधानभूताया जातेरपेक्षायां गुणलोपेनामुख्यस्येत्यपि न्यायेन बाध्येत। तस्मात्

स्वेषु तिष्ठत्स्विति पदद्वितयं न विवक्षितम्।
इमां गोविन्दराजस्य राजाज्ञां नाद्रियामहे ॥ १०४ ॥

ज्ञानं तपोऽग्निराहारो मृन्मनो वार्युपाञ्जनम्।
वायुः कर्मार्ककालौ च शुद्धेः कर्तॄणि देहिनाम् ॥ १०५ ॥

ज्ञान, तप, अग्नि, आहार, मिट्टी, मन, जल; अनुलेपन, वायु, कर्म (यज्ञादि कृत्य), सूर्य और समय, ये देहधारियोंकी शुद्धि करनेवाले हैं ॥ १०५ ॥

ज्ञानादीनि शुद्धेः साधनानि भवन्ति। तत्र ब्रह्मज्ञानं बुद्धिरूपान्तःकरणशुद्धेः साधनम्। यथा वक्ष्यति "बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्ध्यति" (म. स्मृ. ५-१०९)। तपो यथा "तपसा वेदवित्तमाः" (म. स्मृ. ५-१०७)। अग्निर्यथा "पुनः पाकेन मृन्मयम्" (म. स्मृ. ५-१२२)। आहारो यथा "हविष्येण यवाग्वा" (म. स्मृ. ११-१०६) इति। मृद्वारिणी यथा "मृद्वा·

र्वादियंमर्थवत्" (म. स्मृ. ५-१३४) इति। मनो यथा "मनःपूतं समाचरेत्" (म. स्मृ. ६-१४६) इति। संकल्पविकल्पात्मकं मनः, निश्चयात्मिका बुद्धिरिति मनोबुद्ध्योर्भेदः। उपाञ्जनमुपलेपनं "मार्जनोपाञ्जनैर्वेश्म"। कर्म यथा "यजेत वाऽश्वमेधेन" (म. स्मृ. ११-७४) इत्यादि। अर्को यथा "गामालम्यार्कमीक्ष्य वा"। कालो यथा "शुद्ध्येद्विप्रो दशाहेन" (म. स्मृ. ५-८३)। वायोस्तु शुद्धिहेतुत्वं मनुनाऽनुक्तमपि।

पन्थानश्च विशुद्ध्यन्ति सोमसूर्यांशुमारुतैः।

इति विष्णवादावुक्तं ग्राह्यम्॥ १०५॥

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम्।
योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः॥ १०६॥

सब शुद्धियोंमें धनकी शुद्धि (न्यायोपार्जित धनका होना) ही श्रेष्ठ शुद्धि कही गयी है, जो धनमें शुद्ध है अर्थात् जिसने अन्याय से किसीका धन नहीं लिया है, वही शुद्ध है। जो केवल मिट्टी जल आदिसे शुद्ध है। (परन्तु धनसे शुद्ध नहीं है, अर्थात् अन्यायसे किसीका धन ले लिया है), वह शुद्ध नहीं है॥ १०६॥

सर्वेषां मृद्वारिनिमित्तदेहशौचमनश्शौचादीनां मध्यादर्थशौचमन्यायेन परधनहरणपरिहारेण यद्धनेहा तत् परं प्रकृष्टं मन्वादिभिः स्मृतम्। यस्माद्योऽर्थे शुद्धः स शुद्धो भवति। यः पुनर्मृद्वारिशुचिरर्थे चाशुद्धः सोऽशुद्ध एव॥ १०६॥

क्षान्त्या शुद्ध्यन्ति विद्वांसो दानेनाकार्यकारिणः।
प्रच्छन्नपापा जप्येन तपसा वेदवित्तमाः॥ १०७॥

विद्वान् क्षमासे, अकार्य (धर्म-विरुद्ध कार्य) करनेवाले दान देनेसे, गुप्त पाप करनेवाले (गायत्री आदि वेदमन्त्रोंके) जपसे तथा श्रेष्ठ वेदज्ञाता तपस्यासे शुद्ध होते हैं॥ १०७॥

परेणापकारे कृते तस्मिन्प्रत्यपकारबुद्ध्यनुत्पत्तिरूपया पण्डिताः शुद्ध्यन्ति। यथा च वक्ष्यति-"महायज्ञक्रियाः क्षमाः। नाशयन्त्याशु पापानि" इति। अकार्यकारिणो दानेन। यथा वक्ष्यति-"सर्वस्वं वा वेदविदे ब्राह्मणाय' इति। अप्रख्यातपापा जप्येन। यथा वक्ष्यति—"जपंस्तूपवसेद्दिनम्" इति। वेदवित्तमाः वेदार्थचान्द्रायणादितपोविदः तपसैकादशाध्याये वक्ष्यमाणेन॥ १०७॥

मृत्तोयैः शुद्ध्यते शोध्यं नदी वेगेन शुद्ध्यति।
रजसा स्त्री मनोदुष्टा संन्यासेन द्विजोत्तमः॥ १०८॥

मलिन (मैले पात्र आदि) मिट्टी तथा जलसे, नदी (थूक, खकार एवं मल-मूत्रादिसे दूषित नदी-प्रवाह) वेग अर्थात् धारासे, मानसिक पाप करनेवाली स्त्री रज (रजस्वला होने) से और ब्राह्मण संन्याससे शुद्ध होते हैं॥ १०८॥

मलाद्यपहतं शोधनीयं मृज्जलैः शोध्यते। नदीप्रवाहश्च श्लेष्माद्यशुचिदूषितो वेगेन शुद्ध्यति। स्त्री च परपुरुषमैथुनसङ्कल्पादिदूषितमानसा प्रतिमासार्तवेन तस्मात्पापाच्छुद्धा भवति। ब्राह्मणश्च संन्यासेन षष्ठाध्यायाभिधेयेन पापाच्छुध्यति॥ १०८॥

अद्भिर्गात्राणि शुद्ध्यन्ति मनः सत्येन शुद्ध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्ध्यति॥ १०९॥

(पसीना आदिसे दूषित) शरीर जलसे (स्नानादि कर्मसे), (निषिद्ध विचार-दूषित) मन सत्यसे, जीवात्मा ब्रह्मविद्या तथा तपसे तथा बुद्धि ज्ञानसे शुद्ध होती है ॥ १०९ ॥

स्वेदाद्यपहतान्यङ्गानि जलेन क्षालितानि शुद्ध्यन्ति । मनश्च निषिद्धचिन्तादिना दूषितं सत्याभिधानेन शुद्ध्यति । भूतात्मा सूक्ष्मादिलिङ्गशरीरावच्छिन्नो जीवात्मा ब्रह्मविद्यया पापक्षयहेतुतया तपसा च शुद्धो भवति । शुद्धः परमात्मरूपेणावतिष्ठते । बुद्धिश्च विपर्ययज्ञानोपहता यथार्थविषयज्ञानेन शुद्ध्यति ॥ १०९ ॥

एष शौचस्य वः प्रोक्तः शारीरस्य विनिर्णयः ।
नानाविधानां द्रव्याणां शुद्धेः शृणुत निर्णयम् ॥ ११० ॥

(महर्षियोंसे भृगु मुनि कहते हैं कि—मैंने) आप लोगोंसे शारीरिक (शरीर-सम्बन्धी) शुद्धिका यह निर्णय कहा, अब अनेक प्रकारके द्रव्योंकी शुद्धिका निर्णय आपलोग सुनें ॥ ११० ॥

अयं शरीरसंबन्धिना शौचस्य युष्माकं निश्चय उक्तः । इदानीं नानाप्रकारद्रव्याणां येन यच्छुद्ध्यति तस्य निर्णयं शृणुत ॥ ११० ॥

तैजसानां मणीनां च सर्वस्याश्ममयस्य च ।
भस्मनाऽद्भिर्मृदा चैव शुद्धिरुक्ता मनीषिभिः ॥ १११ ॥

तैजस पदार्थ (सोना आदि) मणि (मरकत-पन्ना आदि रत्न), और पत्थरके बने सर्वविध पदार्थ (बर्तन आदि) की शुद्धि भस्म, मिट्टी और जलसे होती है, ऐसा मनु आदि विद्वानोंने कहा है ॥ १११ ॥

तैजसानां सुवर्णादीनाम् , मरकतादिमणीनां पाषाणमयस्य च सर्वस्य भस्मना जलेन मृत्तिकया च मन्वादिभिः शुद्धिरुक्ता । निर्लेपस्य जलेनैवानन्तरं शुद्धेर्वक्ष्यमाणत्वादिदमुच्छिष्टघृतादिलिप्तविषयम् । तत्र मृद्भस्मनोर्गन्धक्षयैककार्यत्वाद्विकल्पः । आपस्तूभयत्र समुच्चीयन्ते ॥ १११ ॥

निर्लेपं काञ्चनं भाण्डमद्भिरेव विशुद्ध्यति ।
अब्जमश्ममयं चैव राजतं चानुपस्कृतम् ॥ ११२ ॥

घृत आदिके लेपसे रहित (तथा जो जूठा न हो ऐसे) सुवर्ण-पात्र, जलमें होनेवाले शङ्ख-मोती आदि, फूल-पत्ती या चित्रादिसे रहित अर्थात् सादे चांदीके बर्तन आदिकी शुद्धि केवल जलसें ही होती है ॥ ११२ ॥

उच्छिष्टादिलेपरहितं सौवर्णभाण्डम्, जलभवं च शङ्खमुक्तादि, पाषाणमयं च राजतमनुपस्कृतं रेखादिगुणान्तराधानरहितं तथाविधमलासंभवाज्जलेनैव भस्मादिरहितेन शुद्ध्यति ॥ ११२ ॥

अपामग्नेश्च संयोगाद्धैमं रौप्यं च निर्बभौ ।
तस्मात्तयोः स्वयोन्यैव निर्णेको गुणवत्तरः ॥ ११३ ॥

पानी तथा अग्निके संयोगसे सुवर्ण तथा चांदी उत्पन्न हुए हैं, अत एव इन (सुवर्ण तथा चांदी) की शुद्धि भी अपनी योनि (उत्पत्ति स्थान अर्थात् जल और अग्नि) से ही उत्तम होती है ॥ ११३ ॥

"अग्निर्वै वरुणानीरकामयत" इत्यादि वेदे श्रूयते । तथा "अग्नेः सुवर्णमिन्द्रियम्, वरुणादीनां रजतम्" इत्यादिश्रुतिष्वग्न्यापः सयोगात्सुवर्णं रजतं चोद्भूतं यस्मादतस्तयोः स्वेन कारणेनैव जलेनात्यन्तोपघातेनाग्निना निर्णेकः शुद्धिहेतुर्गुणवत्तरः प्रशस्तरः ॥ ११३ ॥

ताम्रायःकांस्यरैत्यानां त्रपुणः सीसकस्य च ।
शौचं यथार्हं कर्तव्यं क्षाराम्लोदकवारिभिः ॥ ११४ ॥

तांबा, लोहा, कांसा, पीतल, रांगा और सीसा; इन (के बने बर्तन आदि)-की शुद्धि यथा योग्य राख, खटाईका पानी और पानीसे करनी चाहिये ॥ ११४ ॥

अयो लोहम् , रीतिः पित्तलं तद्भवं पात्रं रैत्यम्, त्रपु रङ्गम्, एषां भस्माम्लोदकैः शोधनं कर्तव्यम् । यथार्हं यस्य यदर्हति ।

अम्भसा हेमरौप्यायः कांस्यं शुद्ध्यति भस्मना ।
अम्लैस्ताम्रं च रैत्यं च पुनःपाकेन मृन्मयम् ॥

इति बृहस्पत्यादिवचनाद्विशेषोऽत्र बोद्धव्यः ॥ ११४ ॥

द्रवाणां चैव सर्वेषां शुद्धिरुत्पवनं स्मृतम् ।
प्रोक्षणं संहतानां च दारवाणां च तक्षणम् ॥ ११५ ॥

सभी द्रव (बहनेवाले—घी तेल आदि) पदार्थों की शुद्धि (एक प्रसृति अर्थात् एक पसर—लगभग ढाई-तीन छटाक-हो तो प्रादेश मात्र (अँगूठे तथा तर्जनीको फैलाने पर जो लम्बाई हो उतना प्रमाण) मापे हुए (दो कुश-पत्रोंकी) हवा करनेसे, शय्या आदि संहत (परस्परमें सटी हुई) वस्तुओंकी शुद्धि पानीका छींटा देनेसे और काष्ठके बर्तन आदिकी शुद्धि (उन्हें थोड़ा-थोड़ा) छीलनेसे होती है ॥ ११५ ॥

द्रवाणां घृततैलानां काककीटाद्युपहतानां बौधायनादिवचनात्प्रसृतिमात्रप्रमाणानां प्रादेशप्रमाणकुशपत्रद्वयाभ्यामुत्पवनेन शुद्धिः । संहतानां च शय्यादीनामुच्छिष्टाद्युपघाते प्रोक्षणम् , दारवाणां चात्यन्तोपघाते तक्षणेन ॥ ११५ ॥

मार्जनं यज्ञपात्राणां पाणिना यज्ञकर्मणि ।
चमसानां ग्रहाणां च शुद्धिः प्रक्षालनेन तु ॥ ११६ ॥

चमस, ग्रह तथा अन्य यज्ञपात्रोंकी शुद्धि यज्ञकर्ममें हाथसे पोंछकर जलसे धोनेसे होती है ॥ ११६ ॥

चमसानां ग्रहाणां चान्येषां यज्ञपात्राणां पूर्वं पाणिना मार्जनं कार्यं पश्चात्प्रक्षालितेन यज्ञे कर्तव्ये शुद्धिर्भवति ॥ ११६ ॥

चरूणां स्रुक्स्रुवाणां च शुद्धिरुष्णेन वारिणा ।
स्फ्यशूर्पशकटानां च मुसलोलूखलस्य च ॥ ११७ ॥

(घृत आदि स्नेहसे लिप्त) चरु, स्रुक् और स्रुवोंकी शुद्धि गर्म पानी (के द्वारा धोने) से होती है तथा स्फ्य, शूर्प, शकट, मूसल और ओखली—॥ ११७ ॥

स्नेहाक्तानां चरुस्रुगादीनामुष्णजलेन शुद्धिः । स्नेहाद्ययुक्तानां तु जलमात्रेणैव शुद्धिर्यज्ञार्थम् ॥ ११७ ॥

अद्भिस्तु प्रोक्षणं शौचं बहूनां धान्यवाससाम् ।
प्रक्षालनेन त्वल्पानामद्भिः शौचं विधीयते ॥ ११८ ॥
[त्र्यहकृतशौचानां तु वायसी शुद्धिरिष्यते ।
पर्युक्षणाद्धूपनाद्वा मलिनामतिधावनात् ॥ १५ ॥

—और बहुतसे धान्य तथा वस्त्रोंकी शुद्धि पानी छिड़कनेसे होती है तथा थोड़ी मात्रामें होनेपर अन्न तथा वस्त्रकी शुद्धि उन्हें धोनेपर होती है ॥ ११८ ॥

[जिनकी शुद्धि तीन दिनमें बतलायी गयी है, उन (बालक आदिके वस्त्रों) की शुद्धि अवस्थानुसार जल छिड़कनेसे, धूप देनेसे और अत्यन्त मलिन हों तो धुलानेसे होती है] ॥ १५ ॥

बहूनां धान्यानां वस्त्राणां च चाण्डालाद्युपघाते जलेन प्रोक्षणाच्छुद्धिः । बहुत्वं च पुरुषभारहार्याधिकत्वमिति व्याचक्षते । तदल्पानां तु प्रक्षालनाच्छुद्धिर्मन्वादिभिरुपदिश्यते॥११८॥

चैलवच्चर्मणां शुद्धिर्वैदलानां तथैव च ।
शाकमूलफलानां च धान्यवच्छुद्धिरिष्यते ॥ ११९ ॥

(स्पृश्य पशुओं - गाय, भैंस, घोड़े मृग आदिके) चमड़े, और बांसके बर्तनोंकी शुद्धि वस्त्रके समान तथा शाक, मूल और फलोंकी शुद्धि धान्यके समान (पानी छिड़कनेसे) होती है ॥११९॥

स्पृश्यपशुचर्मणां वंशादिदलनिर्मितानां च वस्त्रवच्छुद्धिर्भवति । शाकमूलफलानां च धान्यवच्छुद्धिः ॥ ११९ ॥

कौशेयाविकयोरूषैः कुतपानामरिष्टकैः ।
श्रीफलैरंशुपट्टानां क्षौमाणां गौरसर्षपैः ॥ १२० ॥

रेशमी और ऊनी वस्त्रोंकी खारी मिट्टीसे, नेपाली कम्बलोंकी रीठेसे, पट्टवस्त्रों की बेलके फलोंसे और क्षौम (अलसी आदिके छाल से बने) वस्त्रोंकी शुद्धि पिसे हुए सफेद सरसोंके कल्कसे होती है ॥ १२० ॥

कृमिकोशोद्भवस्य वस्त्रस्य, मेषादिलोमप्रभवस्य कम्बलादेः, ऊषैः, क्षारमृत्तिकाभिः, कुतपानां नेपालकम्बलानाम् अरिष्टकैररिष्टचूर्णैः, अंशुपट्टानां पट्टशाटकानां बिल्वफलैः, क्षौमाणां दुकूलानां क्षुमावल्कलभवानां वस्त्राणां तु पिष्टश्वेतसर्षपप्रक्षालनाच्छुद्धिः ॥ १२० ॥

क्षौमवच्छङ्खशृङ्गाणामस्थिदन्तमयस्य च ।
शुद्धिर्विजानता कार्या गोमूत्रेणोदकेन वा ॥ १२१ ॥

शङ्ख, (स्पृश्य पशुओंकी) सींग, हड्डी और दांतसे बने पदार्थों (यथा—कंघी, कलम, बटन, चाकूके बेंट एवं दूसरे खिलौने आदि उक्त शङ्ख, सींग, हाथी आदिकी हड्डियों एवं हाथी-दाँतोंसे बने पदार्थों) की शुद्धि क्षौम वस्त्रोंके समान (पीसे हुए सफेद सरसोंके कल्क द्वारा धोनेसे), गोमूत्रसे या जलसे शुद्धि विषयको जाननेवालोंको करनी चाहिये ॥ १२१ ॥

शङ्खस्यास्पृश्यपशुशृङ्गाणां स्पृश्यपश्वस्थिभवस्य गजादिदन्तस्य च क्षौमवत्पिष्टश्वेतसर्षपकल्केन गोमूत्रजलयोरन्यतरयुक्तेन शास्त्रविदा शुद्धिः कर्तव्या ॥ १२१ ॥

प्रोक्षणात्तृणकाष्ठं च पलालं चैव शुध्यति ।
मार्जनोपाञ्जनैर्वेश्म पुनःपाकेन मृन्मयम् ॥ १२२ ॥

(चण्डालादि अस्पृश्य-स्पर्शसे दूषित) घास, लकड़ी और पुआल पानी छिड़कनेसे शुद्ध होते हैं; (रजस्वला, प्रसूति आदिके रहनेसे दूषित) घर झाड़ू देने तथा लीपनेसे और उच्छिष्ट आदिसे दूषित मिट्टीके बर्तन फिर पकानेसे शुद्ध होते हैं ॥ १२२ ॥

तृणकाष्ठपलालं च चाण्डालादिस्पर्शदूषितं प्रोक्षणेन शुद्ध्यति । तृणपलालसाहचर्यादिदमिन्धनादिकाष्ठविषयम् । दारवाणां च तक्षणमिति निर्मितदारुमयगृहपात्रविषयम् । गृहमु-

द्रव्यानिवासादिदूषितं मार्जनेन, गोमयाद्युपलेपनेन च। मृन्मयभाण्डमुच्छिष्टादिस्पर्शदूषितं पुनःपाकेन शुद्ध्यति ॥ १२२ ॥

मद्यैर्मूत्रैः पुरीषैर्वा ष्ठीवनैः पूयशोणितैः।
संस्पृष्टं नैव शुद्ध्येत पुनःपाकेन मृन्मयम् ॥ १२३ ॥

मद्य, मूत्र, मल (पाखाना), थूक या खकार, पीव और रक्तसे दूषित मिट्टी के बर्तन फिर पकाने से भी शुद्ध नहीं होते हैं। (यह वचन ५।१२२ श्लोकके चतुर्थ पादोक्त शुद्धिका बाधक है) ॥ १२३ ॥

मद्यादिभिस्तु संस्पृष्टं मृन्मयपात्रं पुनःपाकेनापि न शुद्ध्यति। ष्ठीवनं श्लेष्मा। पूयं शोणितविकारः॥ १२३ ॥

संमार्जनोपाञ्जनेन सेकेनोल्लेखनेन च।
गवां च परिवासेन भूमिः शुद्ध्यति पञ्चभिः ॥ १२४ ॥

(जूठा, मल, मूत्र, थूक, खकार, पीव, रक्त चण्डाल आदिके निवाससे दूषित) भूमिकी शुद्धि झाड़ू देनेसे, लीपनेसे, गोमूत्र या जल आदि के छिड़कनेसे, ऊपरकी कुछ मिट्टीको खोदकर फेंक देनेसे और (एक दिन-रात) गायोंके रहनेसे होती है ॥ १२४ ॥

अवकरशोधनेन गोमयाद्युपलेपनेन गोमूत्रोदकादिसेकेन खात्वा कतिपयमृदपनयनेन गवामहोरात्रनिवासेन पञ्चभिरेकैकशो भूमिः शुद्ध्यति। एषां चोच्छिष्टमूत्रपुरीषचण्डालनिवासाद्युपघातगौरवलाघवाभ्यां समुच्चयविकल्पाववगन्तव्यौ ॥ १२४ ॥

पक्षिजग्धं गवाघ्रातमवधूतमवक्षुतम्।
दूषितं केशकीटैश्च मृत्प्रक्षेपेण शुद्ध्यति॥ १२५॥

(कौआ गीध आदि अभक्ष्य पक्षियोंको छोड़कर अन्य भक्ष्य) पक्षियोंके खाये हुए, गौसे सूंघे हुए, जिसके ऊपर छींक दिया गया हो उसकी एवं बाल तथा कीड़े आदिसे दूषित (थोड़े अन्न आदि भक्ष्य पदार्थ) की शुद्धि (थोड़ी) मिट्टी डालनेसे होती है ॥ १२५ ॥

भक्ष्यपक्षिभिर्नं तु काकगृध्रादिभिः कश्चिद्भागो यस्य भक्षितः, गवा यस्य घ्राणं कृतम्, पदा चावधूतमुपरि कृतक्षुतम्, केशकीटदूषितं, जग्धशब्दलिङ्गादल्पं मृत्प्रक्षेपेण शुद्ध्यति ॥ १२५ ॥

यावन्नापैत्यमेध्याक्ताद् गन्धो लेपश्च तत्कृतः।
तावन्मृद्वारि चादेयं सर्वासु द्रव्यशुद्धिषु ॥ १२६ ॥

विष्ठा आदिसे दूषित पात्र आदिसे जब-तक गन्ध तथा लेप (चिकनाहट) दूर न हो जाय, तब तक उनको मिट्टी तथा जलसे शुद्ध करते रहना चाहिये ॥ १२६ ॥

विष्ठादिलिप्ताद् द्रव्याद्यावत्तत्सम्बन्धिनौ गन्धलेपौ तिष्ठतस्तावद् द्रव्यमुद्धृत्य मृद्वारि प्रक्षिप्य ग्रहीतव्यम्। यत्र च वसामज्जादौ मृदा शुद्धिस्तत्र मृत्सहितं जलग्रहणं कर्तव्यम्। यत्र कर्णमलादौ जलेनैव शुद्धिस्तत्र जलमात्रमित्यवगन्तव्यम् ॥ १२६ ॥

त्रीणि देवाः पवित्राणि ब्राह्मणानामकल्पयन्।
अदृष्टमद्भिर्निर्णिक्तं यच्च वाचा प्रशस्यते ॥ १२७ ॥

देवताओंने तीन प्रकार की वस्तुओं को ब्राह्मणोंके लिये पवित्र कहा है—प्रथम—जिसकी अशुद्धि स्वयं आंखोंसे नहीं देखी गयी हो, द्वितीय—अशुद्धिका सन्देह होनेपर जिसपर जल छिड़क दिया गया हो यथा तृतीय—जो वचनसे प्रशस्त कहा गया हो अर्थात् जिसको 'यह पवित्र है' ऐसा ब्राह्मण कह दें ॥ १२७ ॥

केनापि प्रकारेणादृष्टोपघातहेतुसंसर्गमदृष्टम् । सञ्जातोपघातशङ्कायां जलेन प्रक्षालितम् । तदाह हारीतः—"यद्यन्मीमांस्यं स्यात्तत्तदद्भिः स्पर्शाच्छुद्धं भवति"। उपघातशङ्कायामेव पवित्रं भवत्विति ब्राह्मणवाचा यत्प्रशस्यते तानि त्रीणि पवित्राणि देवाः ब्राह्मणानां कल्पितवन्तः ॥ १२७ ॥

आपः शुद्धा भूमिगता वैतृष्ण्यं यासु गोर्भवेत् ।
अव्याप्ताश्चेदमेध्येन गन्धवर्णरसान्विताः ॥ १२८ ॥

जिससे गौकी प्यास दूर हो जाय, जो अपवित्र वस्तु (मल, मूत्र, हड्डी, रक्तादि) से दूषित न हो, जो वर्ण, रस और गन्धमें ठीक हो; ऐसा पृथ्वीपर स्वभावतः स्थित पानी शुद्ध होता है ॥ १२८ ॥

यत्परिमाणास्वप्सु गोः पिपासाविच्छेदो भवति ता आपो गन्धवर्णरसशालिन्यः सत्यः यद्यमेध्यलिप्ता न भवन्ति तदा विशुद्धभूमिगता विशुद्धाः स्युः । 'भूमिगता' इति विशुद्धभूमिसम्बन्धप्रदर्शनाय, न त्वन्तरिक्षगतानां निवृत्त्यर्थम् ॥ १२८ ॥

नित्यं शुद्धः कारुहस्तः पण्ये यच्च प्रसारितम् ।
ब्रह्मचारिगतं भैक्ष्यं नित्यं मेध्यमिति स्थितिः ॥ १२९ ॥

कारीगरका हाथ, बाजारमें (बेचनेके लिये) फैलायी (या रखी गयी) वस्तु और ब्रह्मचारीके प्राप्त भिक्षाद्रव्य सर्वदा शुद्ध हैं, ऐसी शास्त्र-मर्यादा है ॥ १२९ ॥

कारोर्मालाकारादेर्देवब्राह्मणाद्यर्थेऽपि माल्यादिग्रथने द्रव्यप्रयोजनाद्यपेक्षया शुद्धिविशेषाकरणेऽपि स्वभावादेव हस्तः सर्वदा शुद्धः । तथा जननमरणयोरपि स्वव्यापारे शुद्धः । "न स्वाशौचं कारूणां कारुकर्मणि" इति वचनात् । तथा यद्विक्रेतव्यं पण्यवीथिकायां प्रसारितं "नापणनीयमन्नमश्नीयात्" इति शङ्खवचनात्सिद्धान्नव्यतिरिक्तं तदनेकक्रेतृकरस्पर्शेऽपि शुद्धमेव । तथा ब्रह्मचार्यादिगतभैक्ष्यमनाचान्तस्त्रीदत्तमपि रथ्यादिक्रमणेऽपि सर्वदा शुद्धमिति शास्त्रमर्यादा ॥ १२९ ॥

नित्यमास्यं शुचि स्त्रीणां शकुनिः फलपातने ।
प्रस्रवे च शुचिर्वत्सः श्वा मृगग्रहणे शुचिः ॥ १३० ॥

स्त्रियोंका मुख सर्वदा शुद्ध है, फल गिरानेमें पक्षी (काक आदिका मुख) शुद्ध है अर्थात् काक आदि पक्षीके चोंच मारनेसे गिरा हुआ फल शुद्ध है, (भैंस—गाय) पेन्हाने (दूहनेके पहले पीने) में वत्स (बछवा तथा बछिया या पाड़ा-पाडी आदि दूध देनेवाली पशुके बच्चों का मुख) शुद्ध है और (शिकारके समय) हरिण (आदि पशु पकड़ने) में कुत्ता (का मुख) शुद्ध है ॥ १३० ॥

सर्वदा स्त्रीणां मुखं शुचि तथा काकादिपक्षिणां चञ्चूपघातपतितं फलं शुचि, वत्समुखं च दोहसमये क्षीरप्रक्षरणे शुचि, श्वा च यदा मृगादीन्हन्तुं गृह्णाति तदा तत्र व्यापारे शुचिः स्यात् ॥ १३० ॥

श्वभिर्हतस्य यन्मांसं शुचि तन्मनुरब्रवीत् ।
क्रव्याद्भिश्च हतस्यान्यैश्चण्डालाद्यैश्च दस्युभिः ॥ १३१ ॥
[शुचिरग्निः शुचिर्वायुः प्रवृत्तो हि बहिश्चरः ।
जलं शुचि विविक्तस्थं पन्था सञ्चरणे शुचि ॥ १६ ॥]

(शिकारमें) कुत्तोंसे मारे गये (मृग आदि पशुओं तथा पक्षियों) के मांसको मनुने शुद्ध कहा है । तथा कच्चे मांसको खानेवालों (व्याघ्र, भेंड़िया आदि पशु तथा गीध–बाज आदि पक्षियों) तथा व्याधा आदिके द्वारा मारे हुए (पशु–पक्षियों) का मांस शुद्ध होता है ॥ १३१ ॥

[अग्नि, बाहर बहती हुई हवा, एकान्तमें रखा हुआ पानी और नित्य सञ्चारवाला मार्ग शुद्ध रहता है ॥ १६ ॥]

कुक्कुरैर्हतस्य मृगादेर्यन्मांसं तच्छुचि मनुरब्रवीत् । तच्छ्राद्धाद्यतिथिभोजनादावेव द्रष्टव्यम् । अन्यश्चाममांसादिभिर्व्याघ्रश्येनादिभिश्च व्याधादिभिश्च मृगवधजीविभिर्हतस्य ॥

ऊर्ध्वं नाभेर्यानि खानि तानि मेध्यानि सर्वशः ।
यान्यधस्तान्यमेध्यानि देहाच्चैव मलाश्च्युताः ॥ १३२ ॥

नाभिसे ऊपर जितने छिद्र (कान, आँख, नाक आदि) इन्द्रियां हैं वे स्पर्शमें शुद्ध हैं और (नाभिके) नीचेवाले छिद्र (गुदा आदि) तथा शरीरसे निकली मैल (मल, मूत्र, कफ, थूक, खोंट आदि) सभी अशुद्ध हैं ॥ १३२ ॥

यानि नाभेरुपरीन्द्रियच्छिद्राणि तानि सर्वाणि पवित्राणि भवन्ति । अतस्तेषां स्पर्शने नाशौचम् । यानि नाभेरधस्तान्यशुचीनि भवन्ति । अधश्छिद्रेषु च बहुवचनं व्यक्तिबहुत्वापेक्षया । वक्ष्यमाणाश्च वसादयो देहमला देहान्निःसृता अशुद्धा भवन्ति ॥ १३२ ॥

मक्षिका विप्रुषश्छाया गौरश्वः सूर्यरश्मयः ।
रजो भूर्वायुरग्निश्च स्पर्शे मेध्यानि निर्दिशेत् ॥ १३३ ॥

मक्खी, (मुख से निकली छोटी-छोटी) बूंदें, छाया (परछाईं), गौ, घोड़ा, सूर्य-किरण, धूलि, भूमि, वायु, तथा अग्निको स्पर्शमें शुद्ध जानना चाहिये ॥ १३३ ॥

मक्षिका अमेध्यस्पर्शिन्योऽपि, विप्रुषो मुखनिःसृता अल्पा जलकणाः, छाया पतितादेर्हीनस्पर्शस्यापि, गवादीनि चाग्निपर्यन्तानि चण्डालादिस्पृष्टानि स्पर्शे शुचीनि जानीयात् ॥ १३३ ॥

विण्मूत्रोत्सर्गशुद्ध्यर्थं मृद्वार्यादेयमर्थवत् ।
दैहिकानां मलानां च शुद्धिषु द्वादशस्वपि ॥ १३४ ॥

मल-मूत्र त्याग करनेवाली इन्द्रियों (गुदा तथा लिङ्ग) की तथा शरीरके वसा आदि मल सम्बन्धी बारह अशुद्धियोंकी गन्ध-लेप-क्षयके द्वारा शुद्धि होने के लिये आवश्यकतानुसार मिट्टी तथा पानी लेना चाहिये ॥ १३४ ॥

विण्मूत्रमुत्सृज्यते येन स विण्मूत्रोत्सर्गः पाय्वादिस्तस्य शुद्ध्यर्थं मृद्वारि ग्रहीतव्यमर्थवत्प्रयोजनवत् यावता गन्धलेपक्षयो भवति । तथा शारीराणां वसादिमलानां सम्बन्धिषु द्वादशस्वपि गन्धलेपक्षयार्थं मृद्वारि ग्राह्यम् । तत्र स्मृत्यन्तरात्पूर्वषट्के मृज्जलग्रहणम् । उत्तरषट्के जलमात्रग्रहणम् । तदाह बौधायनः—

आददीत मृदोऽपश्च षट्सु पूर्वेषु शुद्धये।
उत्तरेषु च षट्स्वद्भिः केवलाभिर्विशुद्ध्यति ॥

ततश्च द्वादशस्वपीति मानवं मृद्वारिग्रहणवचनं व्यवस्थया मृद्वारिणोर्ग्रहणे सति न विरुद्ध्यते। गोविन्दराजस्तु मनुबौधायनवचनसन्दर्शनादुत्तरषट्केऽपि विकल्पमाह, स च व्यवस्थितो, दैवपित्र्याद्यदृष्टकर्मप्रवृत्ते उत्तरेष्वपि मृदमादद्यादन्यदा ॥ १३४ ॥

वसा शुक्रमसृङ्मज्जा मूत्रविट् घ्राणकर्णविट्।
श्लेष्माश्रु दूषिका स्वेदो द्वादशैते नृणां मलाः ॥ १३५ ॥

वसा (चर्बी), वीर्य (शुक्र-धातु), रक्त, मज्जा (मस्तिष्कस्थित धातु-विशेष), मूत्र, मल (विष्ठा), नकटी याने नेटा (नाककी मैल), खोंट (कानकी मैल) कफ (थूक-खकार-पानकी पीक आदि मुखकी मैल), आँसू, कीचर (आँखसे निकलनेवाली श्वेतवर्ण की मैल) और पसीना—ये बारह मल मनुष्योंके हैं ॥ १३५ ॥

वसा कायस्नेहः, शुक्रं रेतः, असृक् रक्तम् , मज्जा शिरोमध्ये पिण्डितस्नेहः, दूषिका अक्षिमलः, स्वेदः श्रमादिना देहनिःसृतं जलम्। वसादयो द्वादश नराणां दैहिका मला भवन्ति ॥ १६५ ॥

एका लिङ्गे गुदे तिस्रस्तथैकत्र करे दश।
उभयोः सप्त दातव्या मृदः शुद्धिमभीप्सता ॥ १३६ ॥

शुद्धिको चाहनेवाले को लिङ्ग में एक, गुदामें तीन, हाथ (बायें हाथ) में दश और दोनों हाथोंमें सात बार मिट्टी लगानी चाहिये ॥ १३६ ॥

मूत्रपुरीषोत्सर्गे सति शुद्धिमभीप्सता "मृद्वार्यादेयमर्थवत्" (म. स्मृ. ५-१३४) इत्युक्तत्वाज्जलसहिता मृदेका लिङ्गे दातव्या, गुदे तिस्रो मृदः, तथैकस्मिन्करे वामे—

शौचविद् दक्षिणं हस्तं नाधः शौचे नियोजयेत्।
तथैव वामहस्तेन नाभेरूर्ध्वं न शोधयेत् ॥

इति देवलवचनात्तस्यैवाधःशौचसाधनत्वात्तत्रैव दश मृदा दातव्यास्तत उभयोः करयोः सप्त दातव्याः। यदा तूक्तशौचेनापि गन्धलेपक्षयो न भवति तदा "यावदपैत्यमेध्याक्तात्" इति वचनादधिकसंख्याऽपि मृद् दातव्या। एतद्विषयाण्येव मुनीनामधिकमृत्संख्यावचनानि। मृत्परिमाणमाह दक्षः—

लिङ्गेऽपि मृत्समाख्याता त्रिपर्वी पूर्यते यया।
द्वितीया च तृतीया च तदर्धार्धा प्रकीर्तिता ॥ इति।

यदा तूक्तसंख्याया अल्पेनापि गन्धलेपक्षयो भवति तदा संख्यावाक्यारम्भसामर्थ्यात्संख्या पूरयितव्यैव ॥ १३६ ॥

एतच्छौचं गृहस्थानां द्विगुणं ब्रह्मचारिणाम्।
त्रिगुणं स्याद्वनस्थानां यतीनां तु चतुर्गुणम् ॥ १३७ ॥

यह (पूर्व श्लोकोक्त संख्यानुसार) शुद्धि गृहस्थोंके लिये है, ब्रह्मचारियोंके लिये उससे द्विगुणितवार, वानप्रस्थोंके लिये त्रिगुणित वार संन्यासियोंके लिये चतुर्गुणित बार मिट्टी लगाने आदिकी क्रिया करनी चाहिये ॥ १३७ ॥

"एका लिङ्गे" इत्यादि यच्छौचमुक्तं तद् गृहस्थानामेव, ब्रह्मचारिणां द्विगुणम् , वानप्रस्थानां त्रिगुणम् , यतीनां पुनश्चतुर्गुणम् ॥ १३७ ॥

कृत्वा मूत्रं पुरीषं वा खान्याचान्त उपस्पृशेत् ।
वेदमध्येष्यमाणश्च अन्नमश्नंश्च सर्वदा ॥ १३८ ॥

मल या मूत्रका त्याग कर वेदाध्ययनका इच्छुक या भोजन करता हुआ उक्त (५।१३६-१३७) शुद्धि करके (तीन वार) आचमन कर छिद्रेन्द्रिय (नाक कान तथा नेत्र मस्तक आदि) का स्पर्श करे ॥ १३८ ॥

मूत्रपुरीषं कृत्वा कृतयथोक्तशौचस्त्रिराचान्त इन्द्रियच्छिद्राणि शीर्षण्यन्यानि च स्पृशेत् वेदाध्ययनं चिकीर्षन्, अन्नं वाऽश्नन् । यत्तु द्वितीयाध्याये "अध्येष्यमाणस्त्वाचान्तो" (म. स्मृ. २-७०), "निवेद्य गुरवेऽश्नीयादाचम्य" (म. स्मृ. २-५१) इत्युभयमुक्तं तद्व्रताङ्गत्वार्थम्, इदं तु पुरुषार्थशौचायेत्यपुनरुक्तिः ॥ १३८ ॥

'आचान्त' इति यदुक्तं तत्र विशेषमाह—

त्रिराचामेदपः पूर्वं द्विःप्रमृज्यात्ततो मुखम् ।
शारीरं शौचमिच्छन् हि स्त्री शूद्रस्तु सकृत्सकृत् ॥ १३९ ॥

शारीरिक शुद्धिको चाहता हुआ मनुष्य तीन वार जलसे आचमन करे, दो वार मुख पोंछे और स्त्री तथा शूद्र एक-एक वार आचमन करे ॥ १३९ ॥

देहस्य शुद्धिमिच्छन्प्रथमं वारत्रयमपो भक्षयेत् । ततो द्विर्मुखं परिमृज्यात् । स्त्रीशूद्रश्चैकवारमाचमनार्थमुदकं भक्षयेत ॥ १३९ ॥

शूद्राणां मासिकं कार्यं वपनं न्यायवर्तिनाम् ।
वैश्यवच्छौचकल्पश्च द्विजोच्छिष्टं च भोजनम् ॥ १४० ॥

यथाशास्त्र आचरण (द्विज-सेवा) करनेवाले शूद्रोंको मासपर मुण्डन कराना चाहिये' वैश्य के समान (मृतक सूतक आदिमें) शुद्धि विधान करना चाहिये और ब्राह्मणके उच्छिष्टका भोजन करना चाहिये ॥ १४० ॥

शूद्राणां कार्यमिति "कृत्यानां कर्तरि वा" (पा. सू. २।३।७१) इति कर्तरि षष्ठी । यथाशास्त्रव्यवहारिभिर्द्विजशुश्रूषकैः शूद्रैर्मासि मासि मुण्डनं कार्यं, वैश्यवच्च मृतसूतकादौ शौचकल्पोऽनुष्ठातव्यः, द्विजोच्छिष्टं च भोजनम् । भुज्यत इति भोजनं कार्यमिति ॥ १४० ॥

"निष्ठीव्योक्त्वाऽनृतानि च" इति निष्ठीवतामाचमनविधानाद्विदुषामपि मुखान्निःसरणं निष्ठीवनमेवेति प्रसक्तौ शुद्ध्यर्थमपवादमाह—

नोच्छिष्टं कुर्वते मुख्या विप्रुषोऽङ्गे पतन्ति याः ।
न श्मश्रूणि गतान्यास्यं न दन्तान्तरधिष्ठितम् ॥ १४१ ॥
[अजाश्वं मुखतो मेध्यं गावो मेध्याश्च पृष्ठतः ।
ब्राह्मणः पादतो मेध्याः स्त्रियो मेध्याश्च सर्वतः ॥ १७ ॥
गौरमेध्या मुखे प्रोक्ता अजा मेध्या ततः स्मृता ।
गोः पुरीषं च मूत्रं च मेध्यमित्यब्रवीन्मनुः ॥ १८ ॥]

मुखसे निकलकर शरीरपर पड़नेवाली छोटी-बूंदें, मुखमें पड़ते हुए मूंछके बाल और दांतोंके बीचमें अंटका हुआ अन्नादि मनुष्यको जूठा नहीं कहते हैं ॥ १४१ ॥

बकरी, और घोड़ा मुखसे, गौ पीछेसे, ब्राह्मण चरणोंसे, स्त्रियां सर्वाङ्गसे पवित्र होती हैं अर्थात् बकरी आदिके उक्त अङ्ग पवित्र होते हैं ॥ १७ ॥

गौ का मुख अशुद्ध होता है, किन्तु बकरीका मुख शुद्ध होता है और गौके गोबर तथा मूत्र पवित्र होते हैं ऐसा मनुने कहा है ॥ १८ ॥]

मुखभवा विप्रुषो या अङ्गे निपतन्ति ता उच्छिष्टं न कुर्वन्ति। तथा श्मश्रुलोमानि मुखप्रविष्टानि नोच्छिष्टतां जनयन्ति। दन्तावकाशस्थितं चान्नावयववदादि नोच्छिष्टं कुरुते तत्र गौतमीये विशेषः-दन्तश्लिष्टेषु दन्तवदन्यत्र जिह्वाभिमर्षणात्प्राक् च्युतेः" इति। एके च्युतेष्वाहारवद्विद्यान्निगिरन्नेव तच्छुचि ॥ १४१ ॥

स्पृशन्ति विन्दवः पादौ य आचामयतः परान्।
भौमिकैस्ते समा ज्ञेया न तैराप्रयतो भवेत् ॥ १४२ ॥
[दन्तवद्दन्तलग्नेषु जिह्वास्पर्शेषु चेन्नतु।
परिच्युतेषु तत्स्थानान्निगिरन्नेव तच्छुचि ॥ १९ ॥

(दूसरेको) कुल्ला कराते या पानी पिलाते हुए व्यक्तिके पैरोंपर पड़नेवाली बूंदों (छीटों) को भूमिपर पड़े हुए (जल) के समान मानना चाहिये, उनसे (वह व्यक्ति अशुद्ध होकर) आचमन करने योग्य नहीं होता अर्थात् वह शुद्ध ही रहता है ॥ १४२ ॥

[यदि जीभसे न लगता हो तो दांतोंसे अंटका हुआ अन्न दांतोंके समान (शुद्ध) है और वहांसे निकलने पर निगल (घोंट) जानेपर वह अन्न शुद्ध है] ॥ १९ ॥

अन्येषामाचमनार्थं जलं ददतां ये विन्दवः पादौ स्पृशन्ति न जङ्घादि। विशुद्धभूमिष्ठोदकतुल्यास्तेन नाचमनार्हो भवति। तदा तत्र च्यवनात्स्थैरकृताचमनः शुद्ध्यति, द्रव्यं च शुद्ध्यति ॥ १४२ ॥

उच्छिष्टेन तु संस्पृष्टो द्रव्यहस्तः कथंचन।
अनिधायैव तद्द्रव्यमाचान्तः शुचितामियात् ॥ १४३ ॥

भोजन-सामग्री (पका हुआ अन्न, कच्चा अन्न या फल आदि नहीं) को लिया हुआ व्यक्ति यदि किसी जूठे मुंहवाले व्यक्तिका स्पर्श कर ले तो वह भोजनसामग्रीको विना रखे ही आचमन करनेसे शुद्ध हो जाता है ॥ १४३ ॥

द्रव्यहस्तपदेन शरीरसंबन्धमात्रं द्रव्यस्य विवक्षितम्। आमणिबन्धात्पाणिं प्रक्षाल्येति द्रव्यहस्तस्याचमनासंभवात्स्कन्धादिस्थितद्रव्यो यद्युच्छिष्टेन संस्पृष्टो भवति, तदा द्रव्यमनवस्थाप्यैव कृताचमनः शुद्ध्यति, द्रव्यं च शुद्धं भवति ॥ १४३ ॥

वान्तो विरिक्तः स्नात्वा तु घृतप्राशनमाचरेत्।
आचामेदेव भुक्त्वान्नं स्नानं मैथुनिनः स्मृतम् ॥ १४४ ॥
[अनृतौ तु मृदा शौचं कार्यं मूत्रपुरीषवत्।
ऋतौ तु गर्भं शङ्कित्वा स्नानं मैथुनिनः स्मृतम् ॥ २० ॥]

वमन एवं शौच करनेपर स्नानकर घी खानेसे तथा भोजन करते ही वमन करे तो आचमन करनेसे और ऋतुकालके बाद शुद्ध स्त्रीके साथ सम्भोग करके स्नान करनेसे शुद्धि होती है ॥ १४४ ॥

[ऋतु भिन्नकाल में स्त्री प्रसङ्ग करने पर मल-मूत्र करने के बाद जैसी शुद्धि कही गई है उसी भांति मूत्रेन्द्रिय की मिट्टी से शुद्धि करनी चाहिये। ऋतुकाल में स्थिति की शङ्का हो जानेपर मैथुनकर्त्ता की स्नानसे शुद्धि होती है ॥ २० ॥

कृतवमनः संजातविरेकः स्नात्वा घृतप्राशनं कुर्यात्। "दशविरेकान्विरिक्तः" इति गोविन्दराजः। यदि भुक्त्वा अनन्तरमेव वमति तदा आचमनमेव कुर्यान्न स्नानघृतप्राशने। मैथुनं च कृत्वा स्नायात्। इदं त्वृतुमतीविषयम् ॥ १४४ ॥

सुप्त्वा क्षुत्वा च भुक्त्वा च निष्ठीव्योक्त्वानृतानि च।
पीत्वापोऽध्येष्यमाणश्च आचामेत्प्रयतोऽपि सन् ॥ १४५ ॥

सोकर, छींककर, भोजनकर, थूककर, असत्य बोलकर और पानी पीकर तथा भविष्यमें पढ़ने वाला व्यक्ति शुद्ध रहनेपर भीं आचमन करे ॥ १४५ ॥

निद्राक्षुद्भोजनश्लेष्मनिरसनमृषावादजलपानादि कृत्वाऽध्ययनं चिकीर्षुः शुचिरप्याचामेत्। यत्तु "भुक्त्वा चोपस्पृशेत्सम्यक्" इति, तथा "अध्येष्यमाणस्त्वाचान्तः (म.स्मृ.-२-७०) इति द्वितीयाध्यायोक्तं, तद् व्रताङ्गत्वेन। इह तु भुक्त्वाऽऽचमनविधानं पुरुषार्थमध्ययनाङ्गतयाऽऽचमनविधानं गृहस्थादीनामपीति ॥ १४५ ॥

एष शौचविधिः कृत्स्नो द्रव्यशुद्धिस्तथैव च।
उक्तो वः सर्ववर्णानां स्त्रीणां धर्मान्निबोधत ॥ १४६ ॥

(भृगुजी महर्षियोंसे कहते हैं कि—) सब वर्णोंका जन्म-मरण-सम्बन्धी अशौच शुद्धिको तथा द्रव्यशुद्धिको (५।५७-१४५) आप लोगोंसे मैंने कहा, अब (आप लोग) स्त्रियोंके धर्मोंको सुनें ॥ १४६ ॥

एष वर्णानां जननमरणादौ दशरात्रादिरशौचविधिः समग्रो द्रव्याणां तैजसादीनां चेलादीनां च जलादिना शुद्धिविधिर्युष्माकमुक्तः। इदानीं स्त्रीणामनुष्ठेयं धर्मं शृणुत ॥ १४६ ॥

बालया वा युवत्या वा वृद्धया वाऽपि योषिता।
न स्वातन्त्र्येण कर्तव्यं किंचित्कार्यं गृहेष्वपि ॥ १४७ ॥

बचपनमें जवानीमें और बुढ़ापेमें स्त्रीको (अपने) घरोंमें भी अपनी इच्छासे (क्रमशः पिता, पति और पुत्र आदि अभिभावकी सम्मतिके विना मनमाना) कोई भी काम नहीं करना चाहिये ॥ १४७ ॥

बाल्ये यौवने वार्धके च वर्तमानया किंचित्सूक्ष्ममपि कार्यं भर्त्राद्यननुमतं न स्वातन्त्र्येण कर्तव्यमिति ॥ १४७ ॥

बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत्पाणिग्राहस्य यौवने।
पुत्राणां भर्तरि प्रेते न भजेत्स्त्री स्वतन्त्रताम् ॥ १४८ ॥

स्त्री बचपनमें पिताके जवानीमें पतिके और पतिके मर जाने पर बुढ़ापेमें पुत्रके वशमें रहे (उनकी आज्ञा तथा सम्मतिके अनुसार कार्य करे;) स्वतन्त्र कभी न रहे ॥ १४८ ॥

किंतु बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत्। यौवने भर्तुः। भर्तरि मृते पुत्राणाम्। तदभावे

तत्सपिण्डेषु चासत्सु पितृपक्षः प्रभुः स्त्रियः।
पक्षद्वयावसाने तु राजा भर्ता स्त्रिया मतः ॥

इति नारदवचनाज्ज्ञातिराजादीनामायत्ता स्यात्कदाचिन्न स्वतन्त्रा भवेत् ॥ १४८ ॥

पित्रा भर्त्रा सुतैर्वापि नेच्छेद्विरहमात्मनः।
एषां हि विरहेण स्त्री गर्ह्ये कुर्यादुभे कुले ॥ १४९ ॥

स्त्रीको (बचपन, जवानी और बुढ़ापेमें क्रमशः) पिता, पति और पुत्रसे वियुक्त (अलग रहकर स्वतन्त्र) रहनेकी कभी इच्छा नहीं करनी चाहिये; क्योंकि उनके अभावसे स्त्री (पिता तथा पति) के वंशोंको निन्दित कर देती है ॥ १४९ ॥

पिता पत्या पुत्रैर्वा नात्मनो विरहं कुर्यात्। यस्मादेषां वियोगेन स्त्री बन्धकीभावं गतापि पतिपितृकुले निन्दिते करोति ॥ १३९ ॥

सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया ।
सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया ॥ १५० ॥

स्त्रीको सर्वदा (पति आदिके रोषमें भी) प्रसन्न, गृह-कार्योंमें चतुर, घरके बर्तन आदिको शुद्ध एवं स्वच्छ रखनेवाली और अधिक व्यय नहीं करनेवाली (अपने अभिभावककी आयके अनुसार कुछ धन बचाते हुए व्यय करनेवाली होनी चाहिये ॥ १५० ॥

सर्वदा भर्तरि विरुद्धेऽपि प्रसन्नवदनतया गृहकर्मणि चतुरया सुशोधितकुण्डकटाहादिगृहभाण्डया व्यये चाबहुप्रदया स्त्रिया भवितव्यम् ॥ १५० ॥

यस्मै दद्यात्पिता त्वेनां भ्राता वाऽनुमते पितुः ।
तं शुश्रूषेत जीवन्तं संस्थितं च न लङ्घयेत् ॥ १५१ ॥

पिता या पिताकी अनुमतिसे भाई इस (स्त्री) जिसके लिये दे अर्थात् जिसके साथ विवाह कर दे, (स्त्री) जीते हुए उस (पति) की सेवा करे उसके मरनेपर (भी व्यभिचार उसके श्राद्ध आदिका त्याग तथा पारलौकिक कार्यके खण्डनसे) उस (पति) का उल्लङ्घन न करे ॥ १५१ ॥

यस्मै पिता एनां दद्यात्पितुरनुमत्या भ्राता वा, तं जीवन्तं परिचरेन्मृतं च नातिक्रामेत्, व्यभिचारेण तदीयश्राद्धतर्पणादिविरहितया पारलौकिककृत्यखण्डनेन च ॥ १५१ ॥

मङ्गलार्थं स्वस्त्ययनं यज्ञश्चासां प्रजापतेः ।
प्रयुज्यते विवाहेषु प्रदानं स्वाम्यकारणम् ॥ १५२ ॥

इन (स्त्रियों) के विवाहमें जो स्वस्त्ययन पढ़ा जाता है तथा प्रजापतिके उद्देश्य से जो हवन आदि किया जाता है, वह (मङ्गलार्थ अभीष्ट लाभके लिये विहित कर्म) तथा वाग्दान स्वमित्वका कारण है । (अतएव वाग्दानके बादसे स्त्री पतिके अधीन हो जाती है) ॥ १५२ ॥

यदासां स्वस्त्ययनशान्त्यनुमन्त्रवचनादिरूपम् , यश्चासां प्रजापतियागः प्रजापत्युद्देशेनाज्यहोमात्मकं विवाहेषु क्रियते, तन्मङ्गलार्थमभीष्टसंपत्त्यर्थं कर्म । यत्पुनः प्रथमं प्रदानं वाग्दानात्मकं तदेव भर्तुः स्वाम्यजनकम् । ततश्च वाग्दानादारभ्य स्त्री भर्तृपरतन्त्रा । तस्मात्तं श्रयेतेति पूर्वोक्तशेषः । यत्तु अष्टमे वक्ष्यते—

तेषां निष्ठा तु विज्ञेया विद्वद्भिः सप्तमे पदे । (म. स्मृ. ८–२२७)

इति तद्भार्यात्वसंस्कारार्थमित्यविरोधः ॥ १५२ ॥

अनृतावृतुकाले च मन्त्रसंस्कारकृत्पतिः ।
सुखस्य नित्यं दातेह परलोके च योषितः ॥ १५३ ॥

विवाहकर्ता (पति) स्त्रीको ऋतुकालमें तथा ऋतु-भिन्न कालमें भी नित्य ही इस लोकमें तथा परलोकमें (सेवादिजन्य पुण्यकार्योंके द्वारा स्वर्गादि प्राप्तिसे) सुख देनेवाला है ॥ १५३ ॥

यतः मन्त्रसंस्कारो विवाहस्तत्कर्ता भर्ता "ऋतावुपेयात्सर्वत्र वा प्रतिषिद्धवर्जम्" इति

गोतमवचनादृतुकाले, अन्यदा च नित्यमिह लोके च सुखस्य दाता तदाराधनेन च स्वर्गादिप्राप्तेः परलोकेऽपि सुखस्य दातेति ॥ १५३ ॥

विशीलः कामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्जितः।
उपचर्यः स्त्रिया साध्व्या सततं देववत्पतिः ॥ १५४ ॥
[दानप्रभृति या तु स्याद्यावदायुः पतिव्रता।
भर्तृलोकं न त्यजति यथैवारुन्धती तथा ॥ २१ ॥

सदाचारसे हीन, परस्त्रीमें अनुरक्त और विद्या आदि गुणोंसे हीन भी पति पतिव्रता स्त्रियों का देवताके समान पूज्य होता है ॥ १५४ ॥

[जो स्त्री वाग्दानसे लेकर जीवन पर्यन्त पतिव्रता होती है, वह पतिलोकका त्याग नहीं करती है अर्थात् सर्वदा पतिलोकमें निवास करती है; जैसी अरुन्धती है, वैसी ही वह (पतिव्रता स्त्री) है ॥ २१ ॥]

सदाचारशून्यः स्त्र्यन्तरानुरक्तो वा विद्यादिगुणहीनो वा तथापि साध्व्या स्त्रिया देववत्पतिराराधनीयः ॥ १५४ ॥

नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषणम्।
पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते ॥ १५५ ॥
[पत्यौ जीवति या तु स्त्री उपवासं व्रतं चरेत्।
आयुष्यं हरते भर्तुः नरकं चैव गच्छति ॥ २२ ॥

स्त्रियोंके लिये पृथक् (पतिके विना) यज्ञ नहीं है, और (पतिकी आज्ञाके विना) व्रत तथा उपवास नहीं है; पतिकी सेवासे ही स्त्री स्वर्ग लोक में पूजित होती है ॥ १५५ ॥

[जो स्त्री पतिके जीवित रहनेपर (उसकी अनुमतिके विना) व्रत या उपवास करती हैं, वह पतिकी आयुका हरण करती है तथा स्वयं नरकको जाती है ॥ २२ ॥]

यथा भर्तुः कस्याश्चित्पत्न्या रजोयोगादिना अनुपस्थितावपि पत्न्यन्तरेण यज्ञनिष्पत्तिः तथा न स्त्रीणां भर्त्रा विना यज्ञसिद्धिः। नापि भर्तुरनुमतिमन्तरेण व्रतोपवासौ, किंतु भर्तृपरिचर्ययैव स्त्री स्वर्गलोके पूज्यते ॥ १५५ ॥

पाणिग्राहस्य साध्वी स्त्री जीवतो वा मृतस्य वा।
पतिलोकमभीप्सन्ती नाचरेत्किंचिदप्रियम् ॥ १५६ ॥

पतिलोकको चाहनेवाली पतिव्रता स्त्री जीवित या मृत पतिका अप्रिय कोई कार्य (व्यभिचारसे या शास्त्रोक्त श्राद्धादिके त्यागसे) न करे ॥ १५६ ॥

पत्या सह धर्माचरणेन योऽर्जितः स्वर्गादिलोकः तमिच्छन्ती साध्वी स्त्री जीवतो वा मृतस्य वा भर्तुर्न किञ्चिदप्रियमर्जयेत्। मृतस्याप्रियं व्यभिचरेण विहितश्राद्धखण्डनेन च ॥

कामं तु क्षपयेद्देहं पुष्पमूलफलैः शुभैः।
न तु नामापि गृह्णीयात्पत्यौ प्रेते परस्य तु ॥ १५७ ॥

पतिके मरजानेपर (जीविका रहनेपर भी) पवित्र (सात्त्विक गुणयुक्त) पुष्प, कन्द और फल (के आहार) से शरीरको क्षीण करे (व्यभिचारकी भावना से दूसरे पुरुष का) नाम भी न ले ॥ १५७ ॥

वृत्तिसंभवेऽपि पुष्पमूलफलैः पवित्रैश्च देहं क्षपयेदल्पाहारेण क्षीणं कुर्यात्। न च भर्तरि मृते व्यभिचारधिया परपुरुषस्य नामाप्युच्चारयेत् ॥ १५७ ॥

आसीतामरणात्क्षान्ता नियता ब्रह्मचारिणी।
यो धर्म एकपत्नीनां काङ्क्षन्ती तमनुत्तमम् ॥ १५८ ॥

एक पत्नी व्रत (जिसका एक ही पति है, वह) अनुत्तम धर्म चाहनेवाली स्त्री मरनेतक अर्थात् जीवन-पर्यन्त क्षमायुक्त, नियमसे रहनेवाली तथा मधु-मांस-मद्यको छोड़कर ब्रह्मचर्यसे रहनेवाली बने ॥ १५८ ॥

क्षमायुक्ता नियमवती एकभर्तृकाणां यो धर्मः प्रकृष्टतमस्तमिच्छन्ती मधुमांसमैथुनवर्जनात्मकब्रह्मचर्यशालिनी मरणपर्यन्तं तिष्ठेत्। अपुत्रापि पुत्रार्थं न परपुरुषं सेवेत ॥ १५८ ॥

अनेकानि सहस्राणि कुमारब्रह्मचारिणाम्।
दिवं गतानि विप्राणामकृत्वा कुलसंततिम् ॥ १५९ ॥

बाल्यावस्थासे ही ब्रह्मचर्य पालनेवाले (सनक, वालखिल्य आदि) अनेकों सहस्र ब्राह्मण वंश-वृद्धिके लिये सन्तानोत्पत्तिको विना कियेही स्वर्ग गये हैं ॥ १५९ ॥

बाल्यत एव ब्रह्मचारिणामकृतदाराणां सनकवालखिल्यादीनां ब्राह्मणानां बहूनि सहस्राणि कुलवृद्ध्यर्थं संततिमनुत्पाद्यापि स्वर्गं गतानि ॥ १५९ ॥

मृते भर्तरि साध्वी स्त्री ब्रह्मचर्ये व्यवस्थिता।
स्वर्गं गच्छत्यपुत्रापि यथा ते ब्रह्मचारिणः ॥ १६० ॥

पतिके मरनेपर ब्रह्मचारिणी रहती हुई पतिव्रता स्त्री (परपुरुष-संसर्गसे) पुत्रको विना पैदा किये ही उन (सनकादि) ब्रह्मचारियोंके समान स्वर्गको जाती है ॥ १६० ॥

साध्वाचारा स्त्री मृते भर्तर्यकृतपुरुषान्तरमैथुना पुत्ररहिताऽपि स्वर्गं गच्छति। यथा ते सनकवालखिल्यादयः स्वर्गं गताः ॥ १६० ॥

अपत्यलोभाद्या तु स्त्री भर्तारमतिवर्तते।
सेह निन्दामवाप्नोति पतिलोकाच्च हीयते ॥ १६१ ॥

सन्तानके लोभसे जो स्त्री पतिका उल्लङ्घन (व्यभिचार) करती है, वह इस लोकमें निन्दाको प्राप्त करती है और उस पुत्रके द्वारा स्वर्गसे भी भ्रष्ट होती है ॥ १६१ ॥

पुत्रो मे जायतां तेन स्वर्गं प्राप्स्यामीति लोभेन या स्त्री भर्तारमतिक्रम्य वर्तते, व्यभिचरतीत्यर्थः। सेह लोके गर्हां प्राप्नोति, परलोकं च स्वर्गं तेन पुत्रेण न लभते ॥ १६१ ॥

अत्रैव हेतुमाह—

नान्योत्पन्ना प्रजास्तीह न चाप्यन्यपरिग्रहे।
न द्वितीयश्च साध्वीनां क्वचिद्भर्तोपदिश्यते ॥ १६२ ॥

इस लोकमें परपुरुषसे उत्पन्न सन्तान तथा परस्त्रीमें उत्पन्न सन्तान शास्त्रोक्त सन्तान नहीं होती है और पतिव्रता स्त्रियोंका दूसरा पति भी कहींपर (किसी शास्त्रमें) नहीं कहा गया है ॥

यस्माद्भर्तृव्यतिरिक्तेन पुरुषेणोत्पन्ना सा प्रजा तस्याः शास्त्रीया न भवति। न चान्यपत्न्यामुत्पादितोत्पादकस्य प्रजा भवति। एतच्चानियोगोत्पादितविषयम्। बहुभर्तृकेयमिति लोकप्रसिद्धेः। द्वितीयोऽपि भर्तैव। न तस्मादन्योत्पादितत्वमसिद्धमित्याशङ्क्याह—नेति।

लोके गर्हाप्रसिद्धावपि साध्व्याचाराणां न क्वचिच्छास्त्रे द्वितीयोपभर्तोपदिश्यते। एवं सति पुनर्भूत्वमपि प्रतिषिद्धम् ॥ १६२ ॥

पतिं हित्वाऽपकृष्टं स्वमुत्कृष्टं या निषेवते।
निन्द्यैव सा भवेल्लोके परपूर्वेति चोच्यते॥ १६३ ॥

जो स्त्री नीचवर्ण (क्षत्रिय आदि) पतिको छोड़कर उच्चवर्ण (ब्राह्मण आदि) पतिका आश्रय (उसके साथ संभोग) करती है, वह भी लोकमें निन्दित ही होती है और 'पहले इसका दूसरा पति था' ऐसा लोग कहते हैं॥ १६३॥

अपकृष्टं क्षत्रियादिकं स्वकीयं पतिं त्यक्त्वोत्कृष्टब्राह्मणादिकं या आश्रयति सा लोके गर्हणीयैव भवति। परोऽन्यः पूर्वो भर्ताऽस्या अभूदिति च लोकैरुच्यते॥ १६३॥

व्यभिचारफलमाह—

व्यभिचारात्तु भर्तुः स्त्री लोके प्राप्नोति निन्द्यताम्।
शृगालयोनिं प्राप्नोति पापरोगैश्च पीड्यते॥ १६४ ॥

परपुरुषके साथ संभोग करनेवाली स्त्री इस लोकमें निन्दित होती है, मरकर शृगालकी योनिमें उत्पन्न होती है और (कुष्ठ आदि) पाप-रोगों से दुःखी होती है॥

परपुरुषोपभोगेन स्त्री इह लोके गर्हणीयतां लभते, मृता च शृगाली भवति, कुष्ठादि-रोगैश्च पीड्यते॥ १६४॥

पतिं या नाभिचरति मनोवाग्देहसंयुता।
सा भर्तृलोकमाप्नोति सद्भिः साध्वीति चोच्यते॥ १६५ ॥

मन, वचन तथा कामसे संयत रहती हुई जो स्त्री पतिके विरुद्ध कोई कार्य (व्यभिचारादि) नहीं करती है, वह पतिलोकको प्राप्त करती है तथा उसे सज्जन लोग 'पतिव्रता' कहते हैं॥१६५॥

मनोवाग्देहसंयतेति विशेषणोपादानात् या मनोवाग्देहैरेव भर्तारं न व्यभिचरति सा भर्तृमात्रनिष्ठमनोवाग्देहव्यापारत्वाद्भर्त्रा सहार्जितांल्लोकान्प्राप्नोति। इह च शिष्टैः साध्वी-त्युच्यते। वाङ्मनसाभ्यामपि पतिं न व्यभिचरेदिति विधानार्थो दैहिकव्यभिचारनिवृत्तेस्त-त्काया अप्यनुवादः॥ १६५॥

अनेन नारीवृत्तेन मनोवाग्देहसंयता।
इहाग्र्यां कीर्तिमाप्नोति पतिलोके परत्र च॥ १६६ ॥

मन-वचन-कायसे संयत स्त्री इस (५।१४६-१६५) स्त्री-व्यवहार (पतिशुश्रूषा आदि) से इस लोकमें उत्तम यशको और परलोकमें पतिके साथ अर्जित स्वर्ग आदि शुभ लोकों को प्राप्त करती है॥ १६६॥

अनेन स्त्रीधर्मप्रकारेणोक्तेनाचारेण पतिशुश्रूषाभर्त्रव्यभिचारादिना मनोवाक्कायसंयता स्त्री इह लोके प्रकृष्टां कीर्तिं परत्र पत्या सहार्जितं च स्वर्गादिलोकं प्राप्नोतीति प्रकरणार्थो-पसंहारः॥ १६६॥

एवं वृत्तां सवर्णां स्त्रीं द्विजातिः पूर्वमारिणीम्।
दाहयेदग्निहोत्रेण यज्ञपात्रैश्च धर्मवित्॥ १६७ ॥

ऐसे (५।१४६—१६६) आचरणवाली पहले मरी हुई सवर्णा स्त्रीका दाहक्रिया धर्मज्ञ द्विजाति अग्निहोत्रकी अग्नि तथा यज्ञपात्रोंसे विधिवत् करे॥ १६७॥

द्विजातिः समानवर्णां यथोक्ताचारयुक्तां पूर्वमृतां श्रौतस्मार्ताग्निभिर्यज्ञपात्रैश्च दाहधर्मज्ञो दाहयेत् ॥ १६७ ॥

भार्यायै पूर्वमारिण्यै दत्त्वाग्नीनन्त्यकर्मणि ।
पुनर्दारक्रियां कुर्यात्पुनराधानमेव च ॥ १६८ ॥

पहले मरी हुई स्त्रीका दाहकर्म आदि अन्त्येष्टि संस्कार करके गृहास्थाश्रमको चाहनेवाला (सपुत्र या अपुत्र) द्विजाति फिर विवाह करे अथवा श्रौताग्निका आधान करे ॥ १६८ ॥

पूर्वमृताया अन्त्यकर्मणि दाहनिमित्तमग्नीन्समर्प्य गृहस्थाश्रममिच्छन्नुत्पन्नपुत्रोऽनुत्पन्नपुत्रो वा पुनर्विवाहं कुर्यात्। स्मार्ताग्नीन् श्रौताग्नीन्वा आदध्यात् ॥ १६८ ॥

अनेन विधिना नित्यं पञ्चयज्ञान्न हापयेत् ।
द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत् ॥ १६९ ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

इस प्रकार सर्वदा (करता हुआ द्विज) पञ्चमहायज्ञों (३।७०) का त्याग कदापि नहीं करे, आयुके द्वितीय भाग को (शास्त्रानुसार) विवाहकर गृहस्थाश्रममें निवास करे ॥ १६९ ॥

अनेन तृतीयाध्यायाद्युक्तविधिना प्रत्यहं पञ्चयज्ञान्न त्यजेत्। द्वितीयमायुर्भागं कृतदारपरिग्रहोऽनेनैव यथोक्तविधिना गृहस्थविहितान्धर्माननुतिष्ठेव। गृहस्थधर्मत्वेऽपि पञ्चयज्ञानां प्रकृष्टधर्मज्ञापनार्थः पृथङ्निर्देशः ॥ १६९ ॥ क्षे. श्लो. २२ ॥

इति श्रीकुल्लूकभट्टकृतायां मन्वर्थमुक्तावल्यां मनुवृत्तौ पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥
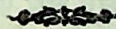
अथ षष्ठोऽध्यायः

एवं गृहाश्रमे स्थित्वा विधिवत्स्नातको द्विजः ।
वने वसेत्तु नियतो यथावद्विजितेन्द्रियः ॥ १ ॥
[अतःपरं प्रवक्ष्यामि धर्मं वैखानसाश्रमम् ।
वन्यमूलफलानां च विधिं ग्रहणमोक्षणे ॥ १ ॥]

ब्रह्मचर्याश्रमके बाद समावर्तन संस्कारको प्राप्त स्नातक द्विज इस प्रकार (पञ्चमाध्यायोक्त) विधिपूर्वक गृहास्थाश्रममें रहकर आगे (इसी षष्ठ अध्यायमें कथित नियमसे जितेन्द्रिय होकर वनमें निवास करे ॥ १ ॥

[इसके आगे वानप्रस्थाश्रमके धर्म और वन्य (जंगली) कन्दों तथा फलोंके ग्रहण एवं त्याग करनेकी विधि कहूँगा ॥ १ ॥]

आश्रमसमुच्चयपक्षाश्रितो द्विजातिः कृतसमावर्तन उक्तप्रकारेण यथाशास्त्रं गृहाश्रममनुष्ठाय नियतः कृतनिश्चयो यथाविधानं वक्ष्यमाणधर्मेण यथार्हं विशेषेण जितेन्द्रियः। परिपक्वकषाय इत्यर्थः। वानप्रस्थाश्रममनुतिष्ठेत् ॥ १ ॥

गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः ।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदाऽरण्यं समाश्रयेत् ॥ २ ॥

जब गृहास्थाश्रमी वली (अपने शरीरके चमड़ेको सिकुड़ा हुआ) पके हुए बाल तथा अपने पुत्रके पुत्र (पौत्र) को देख ले, तब वनका आश्रय (वानप्रस्थाश्रममें प्रवेश) करे ॥ २ ॥

गृहस्थो यदाऽऽत्मदेहस्य त्वक्शैथिल्यं पुत्रस्य पुत्रं च पश्यति ? तथाविधवयोऽवस्थया विगतविषयरागतया वनमाश्रयेत् ॥ २ ॥

सन्त्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वं चैव परिच्छदम् ।
पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत्सहैव वा ॥ ३ ॥

ग्राम्य आहार (धान, यव आदि ग्राम सम्बन्धी भोजन) तथा परिच्छद (गौ, घोड़ा-हाथी, शय्या आदि गृह-सम्पत्ति) को छोड़कर वनमें जानेकी इच्छा नहीं करनेवाली अपनी पत्नीको पुत्रोंके उत्तरदायित्व (देख-रेख) में सौंप कर तथा वनमें साथ जानेकी इच्छा करनेवाली अपनी पत्नीको साथमें लेकर वनको जावे ॥ ३ ॥

ग्राम्यं व्रीहियवादिकं भक्ष्यं सर्वं च गवाश्वशय्यादिपरिच्छदं परित्यज्य विद्यमानभार्यश्च वनवासमनिच्छन्तीं भार्यां पुत्रेषु समर्प्य इच्छन्त्या सहैव वनं गच्छेत् ॥ ३ ॥

अग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चाग्निपरिच्छदम् ।
ग्रामादरण्यं निःसृत्य निवसेन्नियतेन्द्रियः ॥ ४ ॥

श्रौत तथा आवसथ अग्नि और स्रुक्स्रुवा आदि तत्सम्बन्धी सामग्री लेकर ग्रामसे बाहर वनमें जाकर जितेन्द्रिय होकर रहे ॥ ४ ॥

श्रौताग्निमावसथ्याग्निमग्न्युपकरणं च स्रुक्स्रुवादि गृहीत्वा ग्रामादरण्यं निःसृत्य गत्वा संयतेन्द्रियः सन्निवसेत् ॥ ४ ॥

मुन्यन्नैर्विविधैर्मेध्यैः शाकमूलफलेन वा ।
एतानेव महायज्ञान्निर्वपेद्विधिपूर्वकम् ॥ ५ ॥

पवित्र अनेकविध मुन्यन्न (नीवार आदि) अथवा शाक, मूल और फल आदिसे पूर्वोक्त (३।७०) पञ्चमहायज्ञोंको विधिपूर्वक करता रहे ॥ ५ ॥

मुन्यन्नैर्नीवारादिभिर्नानाप्रकारैः पवित्रैः शाकमूलफलैर्वाऽरण्योद्भवैः एतानेव गृहस्थस्य पूर्वोक्तान्महायज्ञान् यथाशास्त्रमनुतिष्ठेत् ॥ ५ ॥

वसीत चर्म चीरं वा सायं स्नायात्प्रगे तथा ।
जटाश्च बिभृयान्नित्यं श्मश्रुलोमनखानि च ॥ ६ ॥

मृग आदिका चर्म या पेड़ोंका वल्कल धारण करे, सायंकाल तथा प्रातःकाल स्नान करे और सर्वदा जटा, दाढ़ी-मूंछ एवं नख को धारण करे (क्षौर कर्म न करावे) ॥ ६ ॥

मृगादिचर्म वृक्षवल्कलं वा आच्छादयेत् । हारीतेन तु—'वल्कलशाणचर्मचीरकुशमुञ्जफलकवासाः" इति विदधता वल्कलादिकमप्यनुज्ञातम् । सायंप्रातः स्नायात् । जटाश्मश्रुलोमनखानि नित्यं धारयेत् ॥ ६ ॥

यद्भक्ष्यं स्यात्ततो दद्याद्बलिं भिक्षां च शक्तितः ।
अम्मूलफलभिक्षाभिरर्चयेदाश्रमागतान् ॥ ७ ॥

जो भोज्य पदार्थ (६।५—मुन्यन्न तथा शाक-मूल-फलादि) हो, उसीसे बलि (बलिवैश्वदेवादि पञ्चमहायज्ञ कर्म) करे, भिक्षा दे और जल, कन्द तथा फलोंकी भिक्षा देकर आये हुए अतिथियोंका सत्कार करे ॥ ७ ॥

यद्भुञ्जीत ततो यथाशक्ति बलिं भिक्षां च दद्यात् । बलिमिति तु वैश्वदेवनित्यश्राद्धयोरुपलक्षणम् "एतानेव महायज्ञान्" (म. स्मृ. ६-५) इति विहितत्वात् । आश्रमागताञ्जलफलमूलभिक्षादानेन पूजयेत् ॥ ७ ॥

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दान्तो मैत्रः समाहितः ।
दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः ॥ ८ ॥

सर्वदा वेदाभ्यासमें लगा रहे; ठंडा-गर्म, सुख-दुःख, मान अपमान आदि द्वन्द्वोंको सहन करे, सबसे मित्रभाव रखे, मनको वशमें रखे, दानशील बने, दान न ले और सब जीवोंपर दया करे ॥ ८ ॥

वेदाभ्यासे नित्ययुक्तः स्यात् । शीतातपादिद्वन्द्वसहिष्णुः सर्वोपकारकः संयतमनाः सततं दाता प्रतिग्रहनिवृत्तः सर्वभूतेषु कृपावान्भवेत् ॥ ८ ॥

वैतानिकं च जुहुयादग्निहोत्रं यथाविधि ।
दर्शमस्कन्दयन्पर्व पौर्णमासं च योगतः ॥ ९ ॥

दर्श (अमावस्या), पौर्णमास (पूर्णिमा-सम्बन्धी) पर्वों को यथासमय त्याग नहीं करता हुआ (वानप्रस्थाश्रमी) विधिपूर्वक वैतानिक अग्निहोत्र करता रहे ॥ ९ ॥

गार्हपत्यकुण्डस्थानामग्नीनामाहवनीयदक्षिणाग्निकुण्डयोर्विहारो वितानश्च, तत्र भवं वैतानिकमग्निहोत्रं यथाशास्त्रमनुतिष्ठेत् दर्शं पौर्णमासं च पर्वेति श्रौतस्मार्तदर्शपौर्णमासौ योगतः स्वकाले अस्कन्दयन्नपरित्यजन् । भार्यानिक्षेपपक्षे च रजस्वलायामिव भार्यायामेतेषामनुष्ठानमुचितम् , विशेषाश्रवणात् ॥ ९ ॥

ऋक्षेष्ट्याग्रयणं चैव चातुर्मास्यानि चाहरेत् ।
तुरायणं च क्रमशो दक्षस्यायनमेव च ॥ १० ॥

नक्षत्रयाग, आग्रहायण (नव-सस्य) याग चातुर्मास्य याग, उत्तरायण याग और दक्षिणायन यागको श्रोतस्मार्त विधिसे क्रमशः करे ॥ १० ॥

ऋक्षेष्टिर्नक्षत्रेष्टिः, आग्रयणं नवसस्येष्टिः, ऋक्षेष्ट्याग्रयणमिति समाहारद्वन्द्वः । तथा-चातुर्मास्यतुरायणानि श्रौतकर्माणि क्रमेण कुर्यात् ।

अत्र केचित्, सर्वमेतच्छ्रौतं दर्शपौर्णमासादि कर्म वानप्रस्थस्य स्तुत्यर्थमुच्यते, न त्व-स्यानुष्ठेयं ग्राम्यव्रीह्यादिसाध्यत्वादेषां च । न च स्मृतिः श्रौताङ्गबाधने शक्तेत्याहुः । तद-सत्, "वासन्तशारदैः" इत्युत्तरश्लोके मुन्यन्नैर्नीवारादिभिर्वानप्रस्थविषयतता स्पष्टस्य चरुपुरोडाशादिविधेर्बाधनस्यान्याय्यत्वात् । गोविन्दराजस्तु व्रीह्यादिभिरेव कथञ्चिदरण्य-जातैरेतान्निर्वर्तयिष्यत इत्याह ॥ १० ॥

वासन्तशारदैर्मेध्यैर्मुन्यन्नैः स्वयमाहृतैः ।
पुरोडाशांश्चरूंश्चैव विधिवन्निर्वपेत्पृथक् ॥ ११ ॥

वसन्त तथा शरद् ऋतुमें पैदा हुए एवं स्वयं लाये गये पवित्र मुन्यन्नोंसे पुरोडश तथा चरुको शास्त्रानुसार (उक्त कार्य की सिद्धिके लिये) अलग-अलग तैयार करे ॥ ११ ॥

वसन्तोद्भवैः शरदुद्भवैर्मेध्यैर्यागाङ्गभूतैर्मुन्यन्नैर्नीवारादिभिः स्वयमानीतैः पुरोडाशांश्च-रून् यथाशास्त्रं तत्तद्यागादिसिद्ध्ये सम्पादयेत् ॥ ११ ॥

देवताभ्यस्तु तद्धुत्वा वन्यं मेध्यतरं हविः ।
शेषमात्मनि युञ्जीत लवणं च स्वयं कृतम् ॥ १२ ॥

वनमें उत्पन्न अत्यन्त पवित्र उस हविष्यान्नसे देवोंके उद्देश्यहवन कर बचे हुए अन्नको भोजन करे तथा स्वयं बनाये हुए लवण (क्षार मिट्टीसे बनाये गये नमक) को काममें लावे ॥ १२ ॥

तद्वनोद्भवनीवारादिकसाधितमतिशयेन यागार्हं हविर्देवताभ्य उपकल्प्य शेषान्नमुपभु-ञ्जीत । आत्मना च कृतं लवणमूषरलवणाद्युपभुञ्जीत ॥ १२ ॥

स्थलजौदकशाकानि पुष्पमूलफलानि च ।
मेध्यवृक्षोद्भवान्यद्यात्स्नेहांश्च फलसम्भवान् ॥ १३ ॥

भूमि तथा जलमें उत्पन्न शाकको, वृक्षोंके पवित्र पुष्प, मूल तथा फलको और फलोंसे बने स्नेहको भोजन करे ॥ १३ ॥

स्थलजलोद्भवशाकान्यरण्ययज्ञियवृक्षोद्भवानि पुष्पमूलफलानीङ्गुद्यादिफलोद्भवांश्च स्नेहानद्यात् ॥ १३ ॥

वर्जयेन्मधु मांसं च भौमानि कवकानि च ।
भूस्तृणं शिग्रुकं चैव श्लेष्मातकफलानि च ॥ १४ ॥

मधु (शहद), मांस, पृथ्वीमें उत्पन्न छत्राक, भूस्तृण (मालव देशमें प्रसिद्ध जलमें उत्पन्न होनेवाला शाक-विशेष), शिग्रुक (सहिजना) और लसोड़ेका फूल का त्याग करे (इन्हें नहीं खावे) ॥ १४ ॥

माक्षिकं, मांसं, भौमानीति प्रसिद्धदर्शनार्थम् । भौमादीनि कवकानि छत्राकान्, भूस्तृणं मालवदेशे प्रसिद्धं शाकं, शिग्रुकं वाहीकेषु प्रसिद्धं शाकं, श्लेष्मातकफलानि वर्जयेत् ।

गोविन्दराजस्तु भौमानि कवकानीत्यन्यव्यवच्छेदकं विशेषणमिच्छन्भौमानां कवकानां निषेधः, वार्क्षाणां तु भक्षणमाह । तदयुक्तम् , मनुनैव पञ्चमे द्विजातेरेव कवकमात्रनिषेधाद्वनस्थगोचरतया नियमातिशयस्योचितत्वात् । यमस्तु—

भूमिजं वृक्षजं वाऽपि छत्राकं भक्षयन्ति ये ।
ब्रह्मघ्नांस्तान्विजानीयाद् ब्रह्मवादिषु गर्हितान् ॥

इति विशेषेण वृक्षजस्यापि निषेधमाह ।

[1]मेधातिथिस्तु भौमानीति स्वतन्त्रं पदं वदन्गोजिह्विका नाम कश्चित्पदार्थो वनेचराणां प्रसिद्धस्तद्विषयं निषेधमाह । तदपि बहुष्वभिधानकोशादिष्वप्रसिद्धं न श्रद्दधीमहि । कवकानां द्विजातिविशेषे पाञ्चमिके निषेधे सत्यपि पुनर्निषेधो भूस्तृणादीनां निषेधेऽपि च समप्रायश्चित्तविधानार्थः ॥ १४ ॥

त्यजेदाश्वयुजे मासि मुन्यन्नं पूर्वसञ्चितम् ।
जीर्णानि चैव वासांसि शाकमूलफलानि च ॥ १५ ॥

पूर्वसञ्चित मुन्यन्न (नीवार आदि) पुराने वस्त्र (वल्कल चीर आदि) और शाक कन्द एवं फलका आश्विन मास में त्याग कर दे ॥ १५ ॥

सम्वत्सरनिचयपक्षे पूर्वसञ्चितनीवाराद्यन्नं, जीर्णानि च वासांसि, शाकमूलफलानि चाश्विने मासि त्यजेत् ॥ १५ ॥

न फालकृष्टमश्नीयादुत्सृष्टमपि केनचित् ।
न ग्रामजातान्यार्तोऽपि मूलानि च फलानि च ॥ १६ ॥

वनमें भी हलसे जुती हुई भूमिमें उत्पन्न (किसान आदिके द्वारा छोड़े गये भी व्रीह्यादि अन्न को तथा ग्राममें (विना हलसे जुती हुई भूमिमें भी) उत्पन्न मूल (कन्द) और फलको (भूखसे) पीडित होकर भी न खावे ॥ १६ ॥

अरण्येऽपि फालकृष्टदेशे जातं स्वामिनोपेक्षितमपि व्रीह्यादि नाद्यात् । तथा ग्रामजातान्यफालकृष्टभूभागेऽपि लतावृक्षमूलफलानि क्षुत्पीडितोऽपि न भक्षयेत् ॥ १६ ॥

अग्निपक्वाशनो वा स्यात्कालपक्वभुगेव वा ।
अश्मकुट्टो भवेद्वाऽपि दन्तोलूखलिकोऽपि वा ॥ १७ ॥

(वानप्रस्थ) अग्निमें पकाये हुए अन्नादिको खानेवाला बने, अथवा स्वनियत समयपर पकने वाले (फल आदि) पदार्थोंको खानेवाला बने, अथवा अश्मकुट्ट (पत्थरसे अन्नादि फोड़ कर कूट कूट पीसकर खानेवाला) बने अथवा दन्तोलूखलिक (सब भक्ष्य पदार्थको दाँतोंसे ही चबाकर खानेवाला बने ॥ १७ ॥

---

१. भौमानि कवकानि कवकशब्दः प्राग्व्याख्यातः छत्राकपर्यायः । तानि च कवकानि भूमौ जायन्ते वृक्षकोटरादावपि । अतो विशेषणार्थं भौमग्रहणम् । समाचारविरोधो गृहस्थधर्मेषु चाविशेषेण कवकानां प्रतिषेधः । वानप्रस्थस्य च नियमातिशयो युक्तस्तस्माद् 'भौमानि' इति स्वतन्त्रं पदम् । तत्र गोजिह्विका नाम कश्चित्पदार्थो वनेचराणां प्रसिद्धस्तद्विषयं बोद्धव्यम् , न तु यत् किञ्चिद् भुवि जातमात्रस्य ।

अग्निपक्वं वन्यमन्नं, कालपक्वं वा फलादि। यद्वा नोलूखलमुसलाभ्यां, किंतु पाषाणेन चूर्णीकृत्यापक्वमेवाद्यात्। दन्ता एवोलूखलस्थानानि यस्य तथाविधो वा भवेत् ॥ १७ ॥

सद्यः प्रक्षालको वा स्यान्माससञ्चयिकोऽपि वा।
षण्मासनिचयो वा स्यात्समानिचय एव वा ॥ १८ ॥

(वानप्रस्थ) एक दिन, एक मास, छः मास या एक वर्ष तक खाने योग्य नीवार आदि मुन्यन्नका संग्रह करे ॥ १८ ॥

एकाहमात्रजीवनोचितं मासवृत्त्युपचितं वा षण्मासंवत्सरनिर्वाहसमर्थं वा नीवारादिकं सञ्चिनुयात्। यथापूर्वं नियमातिशयः। मासवृत्तियोग्यसञ्चयोमाससञ्चयः, सोऽस्यास्तीति अत इनि ठनौ" (पा. सू. ५।२।११५) इति ठन्प्रत्ययेन माससंचयिक इति रूपम् ॥१८॥

नक्तं चान्नं समश्नीयाद्दिवा वाऽऽहृत्य शक्तितः।
चतुर्थकालिको वा स्यात्स्याद्वाप्यष्टमकालिकः ॥ १९ ॥

(वानप्रस्थ) यथाशक्ति अन्नको लाकर सायंकाल (रात्रिमें) या दिनमें या एक दिन पूरा उपवासकर दूसरे दिन सायंकाल, या तीन रात उपवासकर चौथे दिन सायंकाल भोजन करे ॥ १९ ॥

यथासामर्थ्यमन्नमाहृत्य प्रदोषे भुञ्जीत। अहन्येव वा चतुर्थकालाशनो वा स्यात्। "सायंप्रातर्मनुष्याणामशनं देवनिर्मितम्" इति विहितं तत्रैकस्मिन्नहन्युपोष्यापरेद्युः सायं भुञ्जीत। अष्टमकालिको वा भवेत्। त्रिरात्रमुपोष्य चतुर्थस्याह्नो रात्रौ भुञ्जीत ॥ १९ ॥

चान्द्रायणविधानैर्वा शुक्लकृष्णे च वर्तयेत्।
पक्षान्तयोर्वाऽप्यश्नीयाद्यवागूं क्वथितां सकृत् ॥ २० ॥
[यतः पत्रं समादद्यान्न ततः पुष्पमाहरेत्।
यतः पुष्पं समादद्यान्न ततः फलमाहरेत् ॥ २ ॥]

अथवा शुक्ल तथा कृष्णपक्षमें चान्द्रायणके नियम (११।२१६) से भोजन करे, अथवा अमावस्या तथा तथा पूर्णिमाको दिन या रात्रिमें केवल एक वार पकाई हुई ययागूका भोजन करे ॥ २० ॥

[जिस लता या वृक्ष आदिसे पत्ता ले, उसीसे फूल न ले, तथा जिससे फूल ले, उसीसे फल नहीं ले, अर्थात् पत्ता, फूल और फल अलग-अलग वृक्ष या लता आदिसे ग्रहण करे ॥ २ ॥]

शुक्लकृष्णयोः "एकैकं ह्रासयेत्पिण्डं कृष्णे शुक्ले च वर्धयेत्" (म. स्मृ. ११-२१६) इत्यादिनैकादशाध्याये च वक्ष्यमाणैश्चान्द्रायणैर्वा वर्तयेत्। पक्षान्तौ पौर्णमास्यमावास्ये तत्र श्रृतां यवागूं वाऽप्यश्नीयात्। सकृदिति सायं प्रातर्वा ॥ २० ॥

पुष्पमूलफलैर्वाऽपि केवलैर्वर्तयेत्सदा।
कालपक्वैः स्वयंशीर्णैर्वैखानसमते स्थितः ॥ २१ ॥

अथवा वैखानस (वानप्रस्थ) आश्रममें रहने वाला (वानप्रस्थ यति) सर्वदा केवल समयपर पके और स्वयं गिरे हुए फूल, मूल और फलोंसे ही जीवन-निर्वाह करे ॥ २१ ॥

पुष्पमूलफलैरेव वा कालपक्वैः नाग्निपक्वैः स्वयंपतितैर्जीवेत्। वैखानसशास्त्रोक्तं धर्ममनुतिष्ठेत् ॥ २१ ॥

भूमौ विपरिवर्तेत तिष्ठेद्वा प्रपदैर्दिनम्।
स्थानासनाभ्यां विहरेत्सवनेषूपयन्नपः॥ २२॥

भूमि पर लेटे तथा टहले या पैरके अगले भाग (चौत्र) पर दिनमें कुछ समय तक खड़ा रहे या बैठा रहे (बीच-बीच में टहले नहीं अर्थात् घुमे-फिरे नहीं और प्रातःकाल, मध्याह्नकाल तथा सायंकालमें (तीन बार) स्नान करे॥ २२॥

केवलायां भूमौ लुण्ठन्गतागतानि कुर्यात्। स्थानासनादावुपविशेत्। उत्तिष्ठेत्पर्यटेदित्यर्थः। आवश्यकं स्नानभोजनादिकालं विहाय चायं नियमः, एवमुत्तरत्रापि। पादाग्राभ्यां वा दिनं तिष्ठेत्कञ्चित्कालं स्थित एव स्यात् कञ्चिच्चोपविष्ट एव न त्वन्तरा पर्यटेत्। सवनेषु सायंप्रातर्मध्याह्नेषु स्नायात्। सायं प्रगे तथोत्युक्तं तेन सहास्य नियमातिशयापेक्षो विकल्पः॥ २२॥

ग्रीष्मे पञ्चतपास्तु स्याद्वर्षास्वभ्रावकाशिकः।
आर्द्रवासास्तु हेमन्ते क्रमशो वर्धयंस्तपः॥ २३॥

अपनी तपस्याको बढ़ाता हुआ (वानप्रस्थ यति) ग्रीष्म ऋतुमें पञ्चाग्नि ले, वर्षा ऋतुमें खुले मैदानमें रहे (छाये हुए मकान का आश्रय या छाता आदिको पानी बरसते रहनेपर भी न ले) और शीत (हेमन्त) ऋतुमें गीला कपड़ा धारण करे॥ २३॥

आत्मतपोविवृद्ध्यर्थे ग्रीष्मे चतुर्दिगवस्थितैरग्निभिरूर्ध्वं वाऽऽदित्यतेजसात्मानं तापयेत्। वर्षास्वभ्रावकाशमाश्रयेत्। यत्र देशे देवो वर्षति तत्र छत्राद्यावरणरहितस्तिष्ठेदित्यर्थः। हेमन्ते चार्द्रवासा भवेत्। ऋतुत्रयसम्वत्सरावलम्बेनायं सांवत्सरिक एव नियमः॥ २३॥

उपस्पृशंस्त्रिषवणं पितृन्देवांश्च तर्पयेत्।
तपश्चरंश्चोग्रतरं शोषयेद् देहमात्मनः॥ २४॥

तीनों समय (प्रातः, मध्याह्न और सायं) स्नान करता हुआ देवताओं, ऋषियों तथा पितरों का तर्पण करे और कठोर तपस्या करता हुआ अपने शरीरको सुखा दे (क्षीण कर दे)॥ २४॥

विहितमपि त्रिषवणं स्नानं देवर्षिपितृतर्पणविधानार्थमनूद्यते। प्रातर्मध्यंदिनंसायंसवनेषु त्रिष्वपि देवर्षिपितृतर्पणं कुर्वन्। अन्यदपि पञ्चमासोपवासादिकं तीव्रव्रतं तपोऽनुतिष्ठन्। यथोक्तं यमेन—

पक्षोपवासिनः केचित्केचिन्मासोपवासिनः। इति।

स्वशरीरं शोषयेत्॥ २४॥

अग्नीनात्मनि वैतानान्समारोप्य यथाविधि।
अनग्निरनिकेतः स्यान्मुनिर्मूलफलाशनः॥ २५॥

वानप्रस्थाश्रमके नियमानुसार वैतानिक अग्निको आत्मामें रखकर (उस अग्निके भस्म आदिको पीकर) वनमें भी अग्नि और गृहका त्यागकर केवल मूल (कन्द आदि) तथा फलको खावे (नीवार आदि पवित्र मुन्यन्नका भी त्याग कर दे)॥ २५॥

श्रौतानग्नीन्वैखानसशास्त्रविधानेन भस्मपानादिना आत्मनि समारोप्य लौकिकाग्निगृहशून्यः। यथा वक्ष्यति "वृक्षमूलनिकेतनः" (म. स्मृ. ५-२६) इति। मुनिर्मौनव्रतचारी फलमूलाशन एव स्यात्। नीवाराद्यपि नाश्नीयात्। एतच्चोर्ध्वं षण्मासेभ्योऽप्युपरि "अनग्निरनिकेतनः" इति वसिष्ठवचनात्षण्मासोपर्यनग्नित्वमनिकेतत्वं च॥ २५॥

अप्रयत्नः सुखार्थेषु ब्रह्मचारी धराशयः ।
शरणेष्वममश्चैव वृक्षमूलनिकेतनः ॥ २६ ॥

(वानप्रस्थाश्रमी) सुख-साधक-साधनोंमें उद्योग छोड़कर ब्रह्मचारी, भूमिपर सोनेवाला, निवासस्थानमें ममत्वरहित हो पेड़ोंके मूल (पेड़ोंके नीचेका स्थान) को घर समझकर निवास करे ॥ २६ ॥

सुखप्रयोजनेषु स्वादुफलभक्षणशीतातपपरिहारादिषु प्रयत्नशून्योऽस्त्रीसम्भोगी भूशायी च निवासस्थानेषु ममत्वरहितो वृक्षमूलवासी स्यात् ॥ २६ ॥

तापसेष्वेव विप्रेषु यात्रिकं भैक्षमाहरेत् ।
गृहमेधिषु चान्येषु द्विजेषु वनवासिषु ॥ २७ ॥

(फल मूलके सर्वथा असम्भव हो जानेपर वानप्रस्थाश्रमी) जीवननिर्वाहके लिये केवल तपस्वी वानप्रस्थाश्रमियोंके यहां भिक्षाग्रहण करे और उनका भी अभाव होनेपर वनमें निवास करनेवाले अन्य गृहस्थ द्विजोंसे भिक्षा ग्रहण करे ॥ २७ ॥

फलमूलासम्भवे च वानप्रस्थेभ्यो ब्राह्मणेभ्यः प्राणमात्रधारणोचितं भैक्षमाहरेत्, तदभावे चान्येभ्यो गृहस्थेभ्यो द्विजेभ्यः ॥ २७ ॥

ग्रामादाहृत्य वाऽश्नीयादष्टौ ग्रासान्वने वसन् ।
प्रतिगृह्य पुटेनैव पाणिना शकलेन वा ॥ २८ ॥

उन वनवासी गृहस्थोंका भी अभाव होनेपर वनमें ही निवास करता हुआ (वानप्रस्थ तपस्वी ग्राम से पत्रोंमें या सकोरोंके खण्डोंमें अथवा हाथमें ही भिक्षाको लाकर केवल आठ ग्रास भोजन करे ॥ २८ ॥

तस्याप्यसम्भवे ग्रामादानीय ग्रामस्यान्नस्याष्टौ ग्रासान्पर्णशरावादिखण्डेन पाणिनैव वा गृहीत्वा वानप्रस्थो भुञ्जीत ॥ २८ ॥

एताश्चान्याश्च सेवेत दीक्षा विप्रो वने वसन् ।
विविधाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीः ॥ २९ ॥

वनमें निवास करता हुआ (वानप्रस्थ) ब्राह्मण इन नियमोंको तथा स्वशास्त्रोक्त नियमोंको सेवन करे और आत्मसिद्धि (ब्रह्मप्राप्ति) के लिये उपनिषदों तथा वेदोंमें कथित वचनोंका अभ्यास करे ॥ २९ ॥

वानप्रस्थ एता दीक्षा एतान्नियमानन्यांश्च वानप्रस्थशास्त्रोक्तानभ्यसेत् । औपनीषदीश्च श्रुतीरुपनिषत्पठितब्रह्मप्रतिपादकवाक्यानि विविधान्यस्यात्मनो ब्रह्मसिद्धये ग्रन्थतोऽर्थतश्चाभ्यसेत् ॥ २९ ॥

ऋषिभिर्ब्राह्मणैश्चैव गृहस्थैरेव सेविताः ।
विद्यातपोविवृद्ध्यर्थं शरीरस्य च शुद्धये ॥ ३० ॥

क्योंकि ब्रह्मज्ञानी ऋषियों, ब्राह्मणों और गृहस्थोंने विद्या (ब्रह्म-विषयक अद्वैत ज्ञान) और तपस्या (धर्म) की वृद्धिके लिये इन (उपनिषदों और वेदों) का सेवन (अभ्यास) किया है ॥ ३० ॥

यस्मादेता ऋषिभिर्ब्रह्मदर्शिभिः परिव्राजकैर्गृहस्थैश्च वानप्रस्थैर्ब्रह्माद्वैतज्ञानधर्मयोर्विवृद्ध्यर्थमुपनिषच्छ्रुतयः सेविताः, तस्मादेताः सेवेतेति पूर्वस्यानुवादः ॥ ३० ॥

अपराजितां वाऽऽस्थाय व्रजेद्दिशमजिह्मगः।
आनिपाताच्छरीरस्य युक्तो वार्यनिलाशनः ॥ ३१ ॥

अचिकित्सित रोग आदिके उत्पन्न होनेपर सरल बुद्धिवाला (वानप्रस्थ यति) केवल जल और वायुके आहार पर रहता हुआ शरीरके पतन (मरण) होने तक दक्षिण दिशा की ओर चले ॥ ३१ ॥

अचिकित्सितव्याध्याद्युद्भवेऽपराजितामैशानीं दिशमाश्रित्याकुटिलगतियुक्तो योगनिष्ठो जलानिलाशन आशरीरनिपाताद् गच्छेत्। महाप्रस्थानाख्यं शास्त्रे विहितं चेदं मरणम्। तेन "न पुरायुषः स्वकामी प्रेयात्" इति श्रुत्याऽपि न विरोधः। यतः स्वकामिशब्दप्रयोगादवैधं मरणमनया निषिध्यते न शास्त्रीयम्। ३१ ॥

आसां महर्षिचर्याणां त्यक्त्वाऽन्यतमया तनुम्।
वीतशोकभयो विप्रो ब्रह्मलोके महीयते। ३२ ॥

पूर्वोक्त महर्षि-पालित नियमोंमेंसे किसी एकका पालन करता हुआ शोक तथा भयसे रहित ब्राह्मण शरीर त्यागकर ब्रह्मलोकमें पूजित होता (मोक्षको प्राप्त करता) है ॥ ३२ ॥

एषां पूर्वोक्तानुष्ठानानामन्यतमेनानुष्ठानेन शरीरं त्यक्त्वाऽपगतदुःखभयो ब्रह्मैव लोकस्तत्र पूजां लभते, मोक्षमाप्नोतीत्यर्थः। केवलकर्मणो वानप्रस्थस्य कथं मोक्ष इति चेत्? न,

विविधाश्चोपनिषदीरात्मसंशुद्धये श्रुतीः।
इत्यनेनास्याप्यात्मज्ञानसम्भवात ॥ ३२ ॥

यस्य तु मरणाभावस्तस्याह—

वनेषु च विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः।
चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा सङ्गान्परिव्रजेत् ॥ ३३ ॥

अपनी वयके तीसरे भागको इस प्रकार (तपश्चर्यादिके द्वारा) वनमें विताकर वयके चौथे भागमें सब विषय-सङ्गोंका त्यागकर संन्यासाश्रमका पालन करे ॥ ३३ ॥

अनियतपरिमाणत्वादायुषस्तृतीयभागस्य दुर्विज्ञानात्तृतीयमायुषो भागमिति रागक्षयावधि-वानप्रस्थकालोपलक्षणार्थम्। अत एव शङ्खलिखितौ—"वनवासादूर्ध्वं शान्तस्य गतवयसः पारिव्राज्यम्" इत्याचख्यतुः। एवं वनेषु विहृत्यैवं विधिवद् दुश्चरतपोऽनुष्ठानप्रकारेण वानप्रस्थाश्रमं विषयरागोपशमनाय कञ्चित्कालमनुष्ठाय "चतुर्थमायुषो भागम्" (म० स्मृ० ४-१) इति शेषायुःकाले सर्वथा विषयसङ्गांस्त्यक्त्वा परिव्राजकाश्रममनुतिष्ठेत् ॥

आश्रमादाश्रमं गत्वा हुतहोमो जितेन्द्रिय।
भिक्षावलिपरिश्रान्तः प्रव्रजन्प्रेत्य वर्धते ॥ ३४ ॥

एक आश्रमसे दूसरे आश्रममें (ब्रह्मचर्याश्रमसे गृहस्थाश्रम में और गृहस्थाश्रम से वानप्रस्थाश्रममें) जाकर यथाशक्ति हवनकर जितेन्द्रिय रहता हुआ, भिक्षाचरण एवं बलिकर्मसे श्रान्त (थका) हुआ द्विज विषयासक्तिका त्याग करता (संन्यास लेता) हुआ मरकर ब्रह्मभूत हो अतिवृद्धि (मुक्तिरूप अतिशयित सिद्धि) को प्राप्त करता है ॥ ३४ ॥

पूर्वपूर्वाश्रमादुत्तरोत्तराश्रमं गत्वा ब्रह्मचर्याद् गृहस्थाश्रमं ततो वानप्रस्थाश्रममनुष्ठायेत्यर्थः। यथाशक्ति गताश्रमहुतहोमो जितेन्द्रियो भिक्षाबलिदानचिरसेवया श्रान्तः परिव्रज्याश्रममनुतिष्ठन्परलोके मोक्षलाभाद् ब्रह्मभूतद्ध्यतिशयं प्राप्नोति ॥ ३४ ॥

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत् ।
अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः ॥ ३५ ॥

तीन ऋणों (देव-ऋण, ऋषि-ऋण और पितृ-ऋण) को पूरा करके ही मनको मोक्षमें लगावे (संन्यास ग्रहण करे), उन ऋणोंको विना पूरा किये (उनसे विना छुटकारा पाये) मोक्षका सेवन (संन्यासका पालन) करनेवाला नरकको जाता है ॥ ३५ ॥

आश्रमसमुच्चयपक्षमाश्रितो ब्राह्मण उत्तरश्लोकाभिधेयानि त्रीण्यृणानि संशोध्य, मोक्षे मोक्षान्तरङ्गे परिव्रज्याश्रमे मनो नियोजयेत्। तान्यृणानि त्वसंशोध्य मोक्षं चतुर्थाश्रममनुतिष्ठन्नरकं व्रजति ॥ ३५ ॥

तान्येवर्णानि दर्शयति—

अधीत्य विधिवद्वेदान्पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः ।
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत् ॥ ३६ ॥

विधिपूर्वक वेदोंको पढ़कर, धर्मानुसार पुत्रोंको उत्पन्नकर और शक्तिके अनुसार यज्ञोंका अनुष्ठानकर (द्विज) मोक्ष (मोक्षसाधक संन्यासाश्रमके पालन) में मनको लगावे ॥ ३६ ॥

"जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवान् जायते यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः स्वाध्यायेन ऋषिभ्यः" इति श्रूयते। अतो यथाशास्त्रं वेदानधीत्य पर्वगमनवर्जनादिधर्मेण च पुत्रानुत्पाद्य यथासामर्थ्यं ज्योतिष्टोमादियज्ञांश्चानुष्ठाय मोक्षान्तरङ्गे चतुर्थाश्रमे मनो नियोजयेत् ॥ ३६ ॥

अनधीत्य द्विजो वेदाननुत्पाद्य तथा सुतान् ।
अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन्व्रजत्यधः ॥ ३७ ॥

द्विज विना वेदका अध्ययन किये, तथा पुत्रोंको विना उत्पन्न किये और (अग्निष्टोम आदि) यज्ञोंका विना अनुष्ठान किये मोक्षको (संन्यासाश्रमके ग्रहणद्वारा) चाहता हुआ नरकको जाता है ॥ ३७ ॥

वेदाध्ययनमकृत्वा पुत्राननुत्पाद्य यज्ञांश्चाननुष्ठाय मोक्षमिच्छन्नरकं व्रजति ॥ ३७ ॥

प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम् ।
आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात् ॥ ३८ ॥

जिसमें समस्त सम्पत्तिको दक्षिणा रूपमें देते हैं ऐसे प्राजापत्य (प्रजापति जिसके देव हैं ऐसा) यज्ञको अनुष्ठानकर और उसमें कथित विधि से अपनेमें अग्निका आरोपकर ब्राह्मण घरसे (निकलकर) संन्यास आश्रमको ग्रहण करे ॥ ३८ ॥

यजुर्वेदीयोपाख्यानग्रन्थोक्तां सर्वस्वदक्षिणां प्रजापतिदेवताकामिष्टिं कृत्वा तदुक्तविधिनैव "आत्मन्यग्नीन्समारोप्य गृहात्" इत्यभिधानाद्वानप्रस्थाश्रममनुष्ठायैव चतुर्थाश्रममनुतिष्ठेत्। एतेन मनुना चातुराश्रमस्य समुच्चयोऽपि दर्शितः। श्रुतिसिद्धाश्चैकद्वित्रिचतुराश्रमाणां समुच्चया विकल्पिताः। तथा जाबालश्रुतिः—"ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेद् गृही भूत्वा वनी भवेद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत्। इतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद्वा वनाद्वा" ॥ ३८ ॥

यो दत्त्वा सर्वभूतेभ्यः प्रव्रजत्यभयं गृहात् ।
तस्य तेजोमया लोका भवन्ति ब्रह्मवादिनः ॥ ३९ ॥

जो सब (स्थावर तथा जङ्गम) प्राणियोंके लिये अभय देकर गृहसे संन्यास ले लेता है, उस ब्रह्मज्ञानीके तेजोमय लोक (ब्रह्मलोक आदि) होते हैं अर्थात् वह उन लोकोंको प्राप्त करता है ॥३९॥

यः सर्वेभ्यो भूतारब्धेभ्यः स्थावरजङ्गमेभ्योऽभयं दत्त्वा गृहाश्रमात्प्रव्रजति तस्य ब्रह्मप्रतिपादकोपनिषन्निष्ठस्य सूर्याद्यालोकरहिता हिरण्यगर्भादेर्लोकास्तत्तेजसैव प्रकाशा भवन्ति, तानाप्नोतीत्यर्थः ॥ ३९ ॥

यस्मादण्वपि भूतानां द्विजान्नोत्पद्यते भयम् ।
तस्य देहाद्विमुक्तस्य भयं नास्ति कुतश्चन ॥ ४० ॥

जिस द्विजसे जीवोंको लेशमात्र भी भय नहीं होता, शरीरसे विमुक्त (मरे) हुए उस द्विजको कहींसे भी भय नहीं होता (वह सर्वदाके लिये निर्भय हो जाता है) ॥ ४० ॥

यस्माद् द्विजात्सूक्ष्ममपि भयं भूतानां न भवति, तस्य देहाद्विमुक्तस्य वर्तमानदेहनाशे कस्मादपि भयं न भवति ॥ ४० ॥

अगारादभिनिष्क्रान्तः पवित्रोपचितो मुनिः ।
समुपोढेषु कामेषु निरपेक्षः परिव्रजेत् ॥ ४१ ॥

पवित्र कमण्डलु, दण्ड आदिसे युक्त मौन धारण किया हुआ घरसे निकला हुआ और उपस्थित (किसीके द्वारा लाये गये) इच्छा–प्रवर्तक वस्तु (स्वादिष्ट, भोज्य एवं मृदु वस्त्रादि) में निःस्पृह होकर संन्यास ग्रहण करे ॥ ४१ ॥

गृहान्निर्गतः पवित्रैर्दण्डकमण्डल्वादिभिर्युक्तो मुनिर्मौनी समुपोढेषु कामेषु केनचित्सम्यक्समीपं प्रापितेषु स्वाद्वन्नादिषु विगतस्पृहः परिव्रजेत् । [1]मेधातिथिस्तु "पवित्रैर्मन्त्रजपैरथवा पावनैः कृच्छ्रैर्युक्तः" इति व्याचष्टे ॥ ४१ ॥

एक एव चरेन्नित्यं सिद्ध्यर्थमसहायवान् ।
सिद्धिमेकस्य संपश्यन्न जहाति न हीयते ॥ ४२ ॥

अकेले (दूसरेके संगरहित संन्यासी) के सिद्धि को देखता हुआ द्विज दूसरे किसीका साथ न करके अकेला ही मोक्षके लिये चले (घरसे निकले या रहे) इस प्रकार वह किसीको नहीं छोड़ता है और न उसे कोई छोड़ता है ॥ ४२ ॥

एकस्य सर्वसङ्गविरहिणो मोक्षावाप्तिर्भवतीति जानन्नेक एव सर्वदाऽपि मोक्षार्थं चरेत् । एक एवेत्यनेन पूर्वपरिचितपुत्रादित्याग उच्यते । असहायवानित्युत्तरस्यापि । एकाकी यदि चरति स किञ्चिन्न त्यजति न कस्यापि त्यागेन दुःखमनुभवति, नापि केनापि त्यज्यते न कोऽप्यनेन त्यागदुःखमनुभाव्यते । ततश्च सर्वत्र निर्ममत्वः सुखेन मुक्तिमाप्नोति ॥४२॥

अनग्निरनिकेतः स्याद् ग्राममन्नार्थमाश्रयेत् ।
उपेक्षकोऽसंकुसुको मुनिर्भावसमाहितः ॥ ४३ ॥

लौकिक अग्निसे रहित, गृहसे रहित, शरीरमें रोगादि होनेपर भी चिकित्सा आदिका प्रबन्ध न करनेवाला, स्थिर बुद्धिवाला, ब्रह्मका मनन करनेवाला और ब्रह्ममें भी भाव रखनेवाला संन्यासी भिक्षाके लिये ग्राममें प्रवेश करे ॥ ४३ ॥

अनग्निर्लौकिकाग्निसंयोगरहितः, शास्त्रीयाग्निं समारोप्येति पूर्वमुक्तत्वात् । अनिकेतो गृहशून्यः, उपेक्षकः शरीरस्य व्याध्याद्युत्पादे तत्प्रतीकाररहितः, असंकुसुकः स्थिरमतिः,

---

१. पवित्रैर्मन्त्रजपैर्दर्भकमण्डलुकृष्णाजिनैरुपचितो युक्तः । अथवा पावनैः कृच्छ्रैः ।

असञ्चयिक इत्यन्ये पठन्ति। मुनिर्ब्रह्ममननात्, मौनस्य पूर्वोक्तत्वात्। भावेन ब्रह्मणि समाहितस्तदेकतानमना अरण्ये च दिवारात्रौ वसन्भिक्षार्थमेव ग्रामं प्रविशेत् ॥ ४३ ॥

कपालं वृक्षमूलानि कुचेलमसहायता।
समता चैव सर्वस्मिन्नेतन्मुक्तस्य लक्षणम् ॥ ४४ ॥

(भिक्षाके लिये) कपाल (मिट्टीका फूटा-टूटा वर्तन), (रहनेके लिये) पेड़ोंकी जड़ (वृक्षके नीचेका भूभाग), पुराना वह मोटा या वृक्षका वल्कल कपड़ा (लंगोटी आदि), अकेलापन, ममता और सबमें (ब्रह्मबुद्धि रखते हुए) समान भाव; ये मुक्तके लक्षण हैं ॥ ४४ ॥

मृन्मयकर्परादि भिक्षापात्रम्, वासार्थं वृक्षमूलानि, स्थूलजीर्णवस्त्रं कौपीनकन्था, सर्वत्र ब्रह्मबुद्ध्या शत्रुमित्राभावः, एतन्मुक्तिसाधनत्वान्मुक्तस्य लिङ्गम् ॥ ४४ ॥

नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम्।
कालमेव प्रतीक्षेत निर्देशं भृतको यथा ॥ ४५ ॥
[ग्रैष्म्यान्हैमन्तिकान्मासानष्टौ भिक्षुर्विचक्रमेत्।
दयार्थं सर्वभूतानां वर्षास्वेकत्र संवसेत् ॥ ३ ॥
नासूर्यं हि व्रजेन्मार्गं नादृष्टां भूमिमाक्रमेत्।
परिभूताभिरद्भिस्तु कार्यं कुर्वीत नित्यशः ॥ ४ ॥
सत्यां वाचमहिंस्रां च वदेदनपकारिणीम्।
कल्कापेतामपरुषामनृशंसामपैशुनाम् ॥ ५ ॥]

मरने या जीने—इन दोनोंमें से किसीकी चाहना न करे, किन्तु नौकर जिस प्रकार वेतनकी प्रतीक्षा करता है, उसी प्रकार काल (स्वकर्माधीन मृत्यु-समय) की प्रतीक्षा करता रहे ॥ ४५ ॥

[गर्मी तथा जाड़ेके आठ महीनोंमें भिक्षाके लिये (ग्रामोंमें) भ्रमण करे और बरसातमें सब प्राणियों पर दया करनेके लिये एक जगह निवास (चातुर्मास) करे ॥ ३ ॥]

सूर्यके अभावमें (रातमें) रास्तेमें न चले और विना देखे भूमिपर न चले तथा पवित्र (छाने हुए) पानीसे सब क्रिया करे ॥ ४ ॥

सच्ची, किसीकी हिंसा न करनेवाली, बुराई न करनेवाली, दोष-रहित कठोरता-रहित (मधुर), क्रूरता-रहित और किसीकी सच्ची या झूठी निन्दासे रहित वाणी बोले ॥ ५ ॥]

मरणं जीवनं च द्वयमपि न कामयेत्किन्तु स्वकर्माधीनं मरणकालमेव प्रतीक्षेत्। निर्दिश्यत इति निर्देशो भृतिस्तत्परिशोधनकालमिव भृतकः ॥ ४५ ॥

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत्।
सत्यपूतां वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत् ॥ ४६ ॥

देखनेसे पवित्र (बाल, कूड़ा, थूक-खकार आदिसे रहित) भूमिपर पैर रखे (चले या ठहरे), कपड़ेसे (छाननेसे) पवित्र जल पीवे, सत्यसे पवित्र बात कहे और मनसे पवित्र (कार्यका) आचरण करे ॥ ४६ ॥

केशास्थ्यादिपरिहारार्थं दृष्टिशोधितभूमौ पादौ क्षिपेत्। जलेषु क्षुद्रजन्त्वादिवारणार्थं वस्त्रशोधितं जलं पिबेत्। सत्यपवित्रां वाचं वदेत्। ततश्च मौनेन सह सत्यस्य विकल्पः। प्रतिषिद्धसङ्कल्पशून्यमनसा सर्वदा पवित्रात्मा स्यात् ॥ ४६ ॥

अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कञ्चन।
न चेमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित् ॥ ४७ ॥

मर्यादासे बाहर (भी) किसीके कही हुई बातको सहन करे, किसीका अपमान न करे और इस (नश्वर) शरीरको धारणकर किसीके साथ वैर न करे ॥ ४७ ॥

अतिक्रमवादान्परोक्तान्सहेत । न कञ्चित्परिभवेत्। नेमं देहमस्थिरं व्याध्यायतनमाश्रित्य तदर्थं केनचित्सह वैरं कुर्यात् ॥ ४७ ॥

क्रुद्ध्यन्तं न प्रतिक्रुध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत्।
सप्तद्वारावकीर्णां च न वाचमनृतां वदेत् ॥ ४८ ॥

क्रोधसे युक्त भी किसीके ऊपर स्वयं क्रोध न करे। किसीके अपनी निन्दा करनेपर भी उससे मधुर (निन्दा रहित) बात कहें और सप्त द्वारोंसे निर्गत विनाश शील (व्यर्थ) वाणी न बोले ॥ ४८ ॥

सञ्जातक्रोधाय कस्मैचित्प्रतिक्रोधं न कुर्यात्। निन्दितश्चान्येन वाचं भद्रां वदेत् न तु निन्देत्। सप्तद्वारावकीर्णामिति। चक्षुरादीनि पञ्च बहिर्बुद्धीन्द्रियाणि, मनोबुद्धिरित्यन्तःकरणद्वयं वेदान्तदर्शने, एतैर्गृहीतेषु स्वेषु वाचां प्रवृत्तेरेतानि सप्त द्वाराणीत्युच्यन्ते, एतैरवकीर्णां निक्षिप्तां तद्गृहीतार्थविषयां वाचं न वदेत्किन्तु ब्रह्ममात्रविषयां वाचं वदेत्।

ननु मनसैव ब्रह्मोपास्यते ब्रह्मविषयवागुच्चारणमपि मनोव्यापारः, तत्कथं सप्तद्वारावकीर्णत्वविशेषेऽपि ब्रह्मविषयां वदेदित्यन्यविषयां न वदेदिति लभ्यते? उच्यते, अत एवानृतामिति विशेषयति स्म, अनृतमसत्यं विनाशीति यावत्, तद्विषया वागप्यनृतोच्यते, तेन विनाशिकार्यविषयां वाचं नोच्चारयेत्। अविनाशिब्रह्मविषयां तु प्रणवोपनिषदादिरूपां वदेत्।

गोविन्दराजस्तु धर्मोऽर्थः कामो धर्मार्थावर्थकामौ धर्मकामौ धर्मार्थकामा इत्येतानि सप्त वाग्विषयतया वाक्प्रवृत्तेर्द्वाराणि, तेष्ववकीर्णां विक्षिप्तां सर्वस्य भेदस्यासत्त्वात्तद्विषयामसत्यरूपां वाचं न वदेत्।

अन्ये तु सप्त भुवनान्येव वाग्विषयत्वात्सप्त द्वाराणि तेषां भेदाद्विनाशित्वाच्चासत्यतया तद्विषयां वाचमसत्यां न वदेत्केवलं ब्रह्मविषयां वदेत् ॥ ४८ ॥

अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः।
आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरेदिह ॥ ४९ ॥

ब्रह्मके ध्यानमें लीन, (स्वस्तिक, पद्म आदि) योगासनोंमें बैठा हुआ, अपेक्षा (कमण्डलु, दण्ड, वस्त्र आदिकी सुन्दरता, नवीनता या अधिकता आदिकी चाहना) से रहित, मांस (विषयोंके भोगका स्वादरूप मांस) की अभिलाषासे रहित और शरीर मात्र सहायकसे युक्त (बिलकुल अकेला) मोक्ष सुखको चाहनेवाला (संन्यासी) इस संसारमें विचरण करे ॥ ४९ ॥

आत्मानं ब्रह्माधिकृत्य रतिर्यस्य सोऽध्यात्मरतिः सर्वदा ब्रह्मध्यानपरः, आसीन इति स्वस्तिकादियोगासननिष्ठः, निरपेक्षो दण्डकमण्डल्वादिष्वपि विशेषापेक्षाशून्यः, निरामिषः आमिषं विषयास्तदभिलाषरहितः, आत्मनो देहेनैव सहायेन मोक्षसुखार्थी इह संसारे विचरेत् ॥ ४९ ॥

न चोत्पातनिमित्ताभ्यां न नक्षत्राङ्गविद्यया।
नानुशासनवादाभ्यां भिक्षां लिप्सेत कर्हिचित् ॥ ५० ॥

उत्पात (भूकम्प, उल्कापात आदि), निमित्त (शरीर या नेत्रादिका फड़कना), नक्षत्र (अश्विनी आदि), अङ्गविद्या (हस्तरेखा आदि), अनुशासन (ऐसी राजनीति है इस मार्गसे चले आदि) और वाद (शास्त्रोंके अर्थ—कथात्मक आदि) से कभी भी भिक्षा लेनेकी इच्छा न करे ॥ ५० ॥

भूकम्पाद्युत्पातचक्षुःस्पन्दादिनिमित्तफलकथनेन, अद्याश्विनी हस्तरेखादेरीदृशं फलमिति नक्षत्राङ्गविद्यया, ईदृशो नीतिमार्ग इत्थं वर्तितव्यं इत्यनुशासनेन शास्त्रार्थकथनेन च कदाचिन्न भिक्षां लब्धुमिच्छेत् ॥ ५० ॥

न तापसैर्ब्राह्मणैर्वा वयोभिरपि वा श्वभिः ।
आकीर्णं भिक्षुकैर्वाऽन्यैरगारमुपसंव्रजेत् ॥ ५१ ॥

बहुतसे वानप्रस्थों या अन्य साधुओं, ब्राह्मणों, पक्षियों, कुत्तों का दूसरे भिक्षुकोंसे युक्त (जहां ये पहुँचे हों ऐसे) घरमें (भिक्षाके लिये) न जावे ॥ ५१ ॥

वानप्रस्थैरन्यैर्वा ब्राह्मणैर्भक्षणशीलैः, पक्षिभिः, कुक्कुरैर्वा व्याप्तं गृहं भिक्षार्थं न प्रविशेत् ॥ ५१ ॥

क्लृप्तकेशनखश्मश्रुः पात्री दण्डी कुसुम्भवान् ।
विचरेन्नियतो नित्यं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥ ५२ ॥

बाल, नाखून और दाढ़ी—मूंछ कटवाकर (बिलकुल मुण्डन कराकर), भिक्षापात्र (मिट्टीका सकोरा आदि), दण्ड तथा कमण्डलुको लिये हुए सभी (किसी भी) प्राणीको पिडित न करता हुआ (संन्यासी) सर्वदा विचरण करे ॥ ५२ ॥

क्लृप्तकेशनखश्मश्रुः, भिक्षापात्रवान्, दण्डी, कुसुम्भः कमण्डलुस्तद्युक्तः, सर्वप्राणिनोऽपीडयन्सर्वदा परिभ्रमेत् ॥ ५२ ॥

अतैजसानि पात्राणि तस्य स्युर्निर्व्रणानि च ।
तेषामद्भिः स्मृतं शौचं चमसानामिवाध्वरे ॥ ५३ ॥

उस (संन्यासी) के भिक्षापात्र धातु—(सुवर्ण; चांदी, तांबा आदि) के न हों छिद्र रहित हों, उनकी शुद्धि यज्ञमें चमसके समान केवल पानीसे होती है ॥ ५३ ॥

सौवर्णादिवर्जितानि निश्छिद्राणि भिक्षोर्भिक्षापात्राणि भवेयुः । तथा यमः—

सुवर्णरूप्यपात्रेषु ताम्रकांस्यायसेषु च ।
गृह्णन्भिक्षां न धर्मोऽस्ति गृहीत्वा नरकं व्रजेत् ॥

तेषां च यतिपात्राणां जलेनैव तु शुद्धिः यज्ञे चमसानामिव ॥ ५३ ॥

तान्येव दर्शयति—

अलाबुं दारुपात्रं च मृन्मयं वैदलं तथा ।
एतानि यतिपात्राणि मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ॥ ५४ ॥

तुम्बा, लकड़ी, मिट्टी, बांसके पात्र यति (संन्यासि) यों के हों ऐसा स्वयम्भू-पुत्र मनुने कहा है ॥ ५४ ॥

अलाबुदारुमृत्तिकावंशादिखण्डनिर्मितानि यतीनां भिक्षापात्राणि स्वायम्भुवो मनुरवदत् । वैदलं तरुत्वङ्निर्मितमिति गोविन्दराजः ॥ ५४ ॥

एककालं चरेद् भैक्षं न प्रसज्जेत विस्तरे ।
भैक्षे प्रसक्तो हि यतिर्विषयेष्वपि सज्जति ॥ ५५ ॥

संन्यासी जीवन-निर्वाहके लिये दिनमें एक बारही भिक्षाग्रहण करे तथा उसको भी अधिक प्रमाणमें लेनेमें आसक्ति न करे, क्योंकि भिक्षामें आसक्ति रखनेवाला संन्यासी (मुख्य धातुके बढ़नेसे स्त्री आदि) विषयोंमें भी आसक्त हो जाता है ॥ ५५ ॥

एकवारं प्राणधारणार्थं भैक्षं चरेत् । तत्रापि प्रचुरभिक्षाप्रसङ्गं न कुर्यात् । यतो बहुतरभिक्षाभक्षणप्रसक्तो यतिः प्रधानधातुवृद्ध्या स्त्र्यादिविषयेष्वपि प्रसज्जते ॥ ५५ ॥

विधूमे सन्नमुसले व्यङ्गारे भुक्तवज्जने ।
वृत्ते शरावसम्पाते भिक्षां नित्यं यतिश्चरेत् ॥ ५६ ॥

(गृहाश्रमियोंके) घरोंमें जब धूंआ दिखाई न पड़ता हो, मूसलका (अन्न कूटनेके लिये) शब्द न होता हो, आग बुझ गयी हो, सब लोग भोजनकर लिये हों और खानेके पात्र (मिट्टीके सकोरे, पत्तल, दोने आदि) बाहर फेंक दिये गये हों; तब भिक्षाके लिये संन्यासी सर्वदा निकले ॥

विगतपाकधूमे, निवृत्तावहननमुसले, निर्वाणपाकाङ्गारे, गृहस्थपर्यन्तभुक्तवज्जने, उच्छिष्टशरावेषु त्यक्तेषु, सर्वदा यतिर्भिक्षां चरेत् । एतच्च दिनशेषमुहूर्तत्रयरूपसायाह्नोपलक्षणम् । तथाऽऽह याज्ञवल्क्यः—

अप्रमत्तश्चरेद् भैक्ष्यं सायाह्नेनाभिसन्धितः ।

(या. स्मृ. ३-५९) ॥ ५६ ॥

अलाभे न विषादी स्याल्लाभे चैव न हर्षयेत् ।
प्राणयात्रिकमात्रः स्यान्मात्रासङ्गाद्विनिर्गतः ॥ ५७ ॥

भिक्षाके न मिलनेपर विषाद और मिलनेपर हर्ष न करे। जितनी भिक्षासे जीवन-निर्वाह हो सके, उतनेही प्रमाणमें भिक्षा मांगे। दण्ड, कमण्डलु आदिकी मात्रामें भी आसक्ति न करे (यह सुन्दर या दृढ़ है इसे मैं धारण करूंगा और यह रुचिकर नहीं है इसे नहीं धारण करूंगा इत्यादि विचार न करे) ॥ ५७ ॥

भिक्षादेरलाभे न विषीदेत् । लाभे च हर्षं न कुर्यात् । प्राणस्थितिमात्रोपचितान्नभोजनपरः स्यात् । दण्डकमण्डलुमात्रास्वपि 'इदमशोभनं त्यजामि इदं रुचिरं गृह्णामि' इत्यादिप्रसङ्गं न कुर्यात् ॥ ५७ ॥

अभिपूजितलाभांस्तु जुगुप्सेतैव सर्वशः ।
अभिपूजितलाभैश्च यतिर्मुक्तोऽपि बद्ध्यते ॥ ५८ ॥

विशेष रूपसे आदर-सत्कारके साथ मिलनेवाली भिक्षाकी सर्वदा निन्दा (स्वीकार न) करे, क्योंकि पूजापूर्वक होनेवाली भिक्षाप्राप्तिसे मुक्त (शीघ्रही मुक्तिको पानेवाला) भी संन्यासी बँध जाता है। (आदर-सत्कार के साथ भिक्षा देनेवाले व्यक्तिमें ममत्व होनेसे उस संन्यासीको पुनः संसारमें जन्म लेना पड़ता है) ॥ ५८ ॥

पूजापूर्वकभिक्षालाभं सर्वकालं निन्देत् , न स्वीकुर्यादित्यर्थः । यस्मात्पूजापूर्वकालाभस्वीकारे दातृगोचरस्नेहममत्वादिभिरासन्नमुक्तिरपि यतिर्जन्मबन्धांल्लभते ॥ ५८ ॥

अल्पान्नाभ्यवहारेण रहःस्थानासनेन च ।
ह्रियमाणानि विषयैरिन्द्रियाणि निवर्तयेत् ॥ ५९ ॥

(संन्यासी) विषयोंकी ओर आकृष्ट होती हुई इन्द्रियोंको थोड़ा भोजन और एकान्त वासके द्वारा रोके (वशमें करे) ॥ ५९ ॥

आहारालाघवेन निर्जनदेशस्थानादिना च रूपादिविषयैराकृष्यमाणानीन्द्रियाणि निवर्तयेत् ॥ ५९ ॥

इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च ।
अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते ॥ ६० ॥

(संन्यासी) इन्द्रियोंको अपने २ विषयोंसे रोकनेसे, राग और द्वेषके त्यागसे और प्राणियोंकी अहिंसा (किसी प्रकार भी पीड़ा न पहुँचाने) से मुक्तिके योग्य होता है ॥ ६० ॥

यस्मात् इन्द्रियाणां निग्रहेण रागद्वेषाभावेन च प्राणिहिंसाविरतेन च मोक्षयोग्यो भवति ॥ ६० ॥

इदानीमिन्द्रियनियमोपायविषयवैराग्याय संसारतत्त्वचिन्तनमुपदिशति—

अवेक्षेत गतीर्नृणां कर्मदोषसमुद्भवाः ।
निरये चैव पतनं यातनाश्च यमक्षये ॥ ६१ ॥

(शास्त्रविहितका त्याग और शास्त्रनिन्दितका आचरण रूप) कर्मोंके दोषसे उत्पन्न मनुष्योंकी तिर्यग्योनि आदि गतियोंको, नरकमें गिरनेको तथा यमलोककी कठोर यातनाओंको विचार करे—॥ ६१ ॥

विहिताकरणनिन्दिताचरणरूपकर्मदोषजन्यां मनुष्याणां पश्वादिदेहप्राप्तिं नरकेषु यमलोके नरकस्थस्य निशितनिस्त्रिंशच्छेदनादिभवास्तीव्रवेदनाः श्रुतिपुराणादिपूक्ताश्चिन्तयेत् ॥ ६१ ॥

विप्रयोगं प्रियैश्चैव संयोगं च तथाऽप्रियैः ।
जरया चाभिभवनं व्याधिभिश्चोपपीडनम् ॥ ६२ ॥

—प्रियों (मित्र, पुत्र, स्त्री आदि) से वियोग, अप्रियों (शत्रु, हिंसक जीव, रोग, शोक आदि नहीं चाहे गये) से संयोग (साथ) होने, बुढ़ापेसे आक्रान्त होने और रोगोंसे पीडित होनेका विचार करे—॥ ६२ ॥

इष्टपुत्रादिवियोगम्, अनिष्टहिंसकादियोगम्, जराभिभवनं व्याध्यादिभिश्च पीडनं कर्मदोषसमुद्भवमनुचिन्तयेत् ॥ ६२ ॥

देहादुत्क्रमणं चास्मात्पुनर्गर्भे च सम्भवम् ।
योनिकोटिसहस्रेषु सृतीश्चास्यान्तरात्मनः ॥ ६३ ॥

—इस शरीरसे जीवात्माका बाहर निकालने (मरने), फिर गर्भमें उत्पन्न होने, और इस अन्तरात्माका हजारों करोड़ (शृगाल, कीट, पतंग, अत्यन्त नीच) योनियोंमें पैदा होनेका चिन्तन करे— ॥ ६३ ॥

अस्माद् देहादस्य जीवात्मन उत्क्रमणं तथा च मर्मभिद्भिर्महारोगैः पतितस्य श्लेष्मादिदोषनिरुद्धकण्ठस्य महती वेदनां गर्भे चोत्पत्तिं दुःखबहुलां श्वशृगालादिनिकृष्टजातियोनिकोटिसहस्रगमनानि स्वकर्मबन्धान्यनुचिन्तयेत् ॥ ६३ ॥

अधर्मप्रभवं चैव दुःखयोगं शरीरिणाम् ।
धर्मार्थप्रभवं चैव सुखसंयोगमक्षयम् ॥ ६४ ॥

—शरीरधारियों (जीवों) के अधर्मसे उत्पन्न दुःख-सम्बन्धको धर्मकारणक ब्रह्मप्राप्ति रूप प्रयोजनसे अक्षय सुखके सम्बन्धका चिन्तन करे—॥ ६४ ॥

शरीरवतां जीवात्मनामधर्महेतुकं दुःखसम्बन्धं हेतुकाऽर्थो ब्रह्मसाक्षात्कारस्तत्प्रकारस्तत्प्रभवं मोक्षलक्षणमक्षयं ब्रह्मसुखसंयोगं चिन्तयेत् ॥ ६४ ॥

सूक्ष्मतां च चान्ववेक्षेत योगेन परमात्मनः ।
देहेषु च समुत्पत्तिमुत्तमेष्वधमेषु च ॥ ६५ ॥

योग (विषयोंसे चित्त-व्यापारको रोकना) से परमात्मा की सूक्ष्मता (सर्वव्यापकता) का और उत्तम, मध्यम तथा नीच शरीरोंमें (अपने कर्मोंको भोगनेके लिये) उत्पत्तिका चिन्तन करे ॥ ६५ ॥

योगेन विषयान्तरचित्तवृत्तिनिरोधेन परमात्मनः स्थूलशरीराद्यपेक्षया सर्वान्तर्यामित्वेन सूक्ष्मतां निरवयवतां तत्त्यागादुत्कृष्टापकृष्टेषु देवपश्वादिशरीरेषु जीवानां शुभाशुभफलभोगार्थमुत्पत्तिमधिष्ठानमनुचिन्तयेत् ॥ ६५ ॥

दूषितोऽपि चरेद्धर्मं यत्र तत्राश्रमे रतः ।
समः सर्वेषु भूतेषु न लिङ्गं धर्मकारणम् ॥ ६६ ॥

जिस किसी भी आश्रममें रत रहता हुआ (उसके कुछ विरुद्ध आचरण करनेसे) दोषयुक्त होता हुआ भी सब जीवोंमें (ब्रह्मबुद्धि रखनेके कारण) समान दृष्टि होकर धर्मका आचरण करे, क्योंकि (कोई) चिह्न-विशेष धर्मका कारण नहीं होता है ॥ ६६ ॥

यस्मिन्कस्मिंश्चिदाश्रमे स्थितस्तदाश्रमविरुद्धाचारदूषितोऽप्याश्रमलिङ्गरहितोऽपि सर्वभूतेषु ब्रह्मबुद्ध्या समदृष्टिः सन् धर्ममनुतिष्ठेत् । नहि दण्डादिलिङ्गधारणमात्रं धर्मकारणं किन्तु विहितानुष्ठानम् । एतच्च धर्मप्राधान्यबोधनयायोक्तं न तु लिङ्गपरित्यागार्थम् ॥६६॥

अत्र दृष्टान्तमाह—

फलं कतकवृक्षस्य यद्यप्यम्बुप्रसादकम् ।
न नामग्रहणादेव तस्य वारि प्रसीदति ॥ ६७ ॥

यद्यपि निर्मलीका फल पानीको स्वच्छ करनेवाला है, किन्तु उसके नाममात्र लेनेसे पानी स्वच्छ नहीं होता । (इसी प्रकार केवल किसी धर्म के चिह्न धारण करनेसे और धर्मका पालन नहीं करनेसे धर्म नहीं होता) ॥ ६७ ॥

यद्यपि कतकवृक्षस्य फलं कलुषजलस्वच्छताजनकं तथापि तन्नामोच्चारणवशान्न प्रसीदति किन्तु फलप्रक्षेपेण, एवं न लिङ्गधारणमात्रं धर्मकारणं किन्तु विहितानुष्ठानम् ॥ ६७ ॥

संरक्षणार्थं जन्तूनां रात्रावहनि वा सदा ।
शरीरस्यात्यये चैव समीक्ष्य वसुधां चरेत् ॥ ६८ ॥

शरीरके पीडित होनेपर भी रातमें या दिनमें सब जीवों की रक्षा के लिये सर्वदा भूमिको देखकर चले ॥ ६८ ॥

शरीरस्यापि पीडायां सूक्ष्मपिपीलिकादिप्राणरक्षार्थं रात्रौ दिवसे वा सदा भूमिं निरीक्ष्य पर्यटेत् । पूर्वं केशादिपरिहारार्थं "दृष्टिपूतं न्यसेत्पादम्" (म. स्मृ. ६-४६) इत्युक्तम्, इदं तु हिंसापरिहारार्थमित्यपुनरुक्तिः ॥ ६८ ॥

अत्र प्रायश्चित्तमाह—

अह्ना रात्र्या च याञ्जन्तून् हिनस्त्यज्ञानतो यतिः।
तेषां स्नात्वा विशुद्ध्यर्थं प्राणायामान्षडाचरेत् ॥ ६९ ॥

संन्यासी अज्ञानसे जिन जीवोंको दिन-रातमें मारता है, उन (की हत्यासे उत्पन्न पाप) की शुद्धिके लिये स्नानकर छः प्राणायाम करे ॥ ६९ ॥

यतिर्यानज्ञानतो दिवसे रात्रौ वा प्राणिनो हन्ति तद्धननजनितपापनाशार्थं स्नात्वा षट् प्राणायामान्कुर्यात्। प्राणायामश्च—

सव्याहृतिं सप्रणवां गायत्रीं शिरसा सह।
त्रिः पठेदायतप्राणः प्राणायामः स उच्यते ॥

इति वसिष्ठोक्त्याऽत्र द्रष्टव्यः ॥ ६९ ॥

प्राणायामा ब्राह्मणस्य त्रयोऽपि विधिवत्कृताः।
व्याहृतिप्रणवैर्युक्ता विज्ञेयं परमं तपः ॥ ७० ॥

व्याहृति और प्रणव से युक्त विधिपूर्वक किये गये तीन प्राणायामको भी ब्राह्मण के लिये अतिश्रेष्ठ तप समझना चाहिये ॥ ७० ॥

ब्राह्मणस्येति निर्देशाद् ब्राह्मणजातेरयमुपदेशो न यतेरेव। त्रयोऽपि प्राणायामा सप्तभिर्व्याहृतिभिर्दशभिः प्रणवैर्युक्ताः, विधिवदित्यनेन सावित्र्या शिरसा च युक्ताः, पूरककुम्भकरेचकविधिना कृता ब्राह्मणस्य श्रेष्ठं तपो ज्ञातव्यम्। पूरकादिस्वरूपं स्मृत्यन्तरेषु ज्ञेयम्। तथा योगियाज्ञवल्क्यः—

नासिकोत्कृष्ट उच्छ्वासो ध्मातः पूरक उच्यते।
कुम्भको निश्चलश्वासो मुच्यमानस्तु रेचकः ॥

त्रयोऽपीत्यपिशब्देन त्रयोऽवश्यं कर्तव्याः। अधिककरणे त्वधिकपापक्षयः ॥ ७० ॥

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥ ७१ ॥

जिस प्रकार सोना-चांदी आदि धातुकी मैल आगमें धौंकने (तपाने) से जल जाती है, उसी प्रकार प्राणवायुके रोकने (प्राणायाम करने) से इन्द्रियोंके दोष नष्ट हो जाते हैं ॥ ७१ ॥

धातूनां स्वर्णरजतादीनां यथा मूषायामग्निना ध्मायमानानां मलद्रव्याणि दह्यन्ते, एवं मनसो रागादयश्चक्षुरादेश्च विषयप्रवणत्वादयो दोषाः प्राणायमेन विषयानभिध्यानाद्दह्यन्ते ॥ ७१ ॥

प्राणायामैर्दहेद्दोषान्धरणाभिश्च किल्बिषम्।
प्रत्याहारेण संसर्गान्ध्यानेनानीश्वरान्गुणान् ॥ ७२ ॥

प्राणायामोंसे रोग आदि दोषोंको, परमात्मामें मनकी लगानेसे पापोंको, विषयोंसे इन्द्रियोंको रोककर विषय-संसर्गोंको और ध्यान से ईश्वर-भिन्न काम, क्रोध, लोभादि गुणोंको जलावे (नष्ट करे) ॥ ७२ ॥

एवं सति अनन्तरोक्तप्रकारेण प्राणायामै रागादिदोषान्दहेत्। अपेक्षितदेशे परब्रह्मादौ यन्मनसो धारणं सा धारणा, तया पापं नाशयेत्। प्रत्याहारेण विषयेभ्य इन्द्रियाकर्षणैर्विषयसम्पर्कान्वारयेत्। ब्रह्मध्यानेनेति सोऽहमस्तीति सजातीयप्रत्ययप्रवाहरूपेणानीश्वरान्गुणान् ईश्वरस्य परमात्मनो ये गुणा न भवन्ति क्रोधलोभासूयादयः तान्निवारयेत् ॥ ७२ ॥

उच्चावचेषु भूतेषु दुर्ज्ञेयामकृतात्मभिः ।
ध्यानयोगेन सम्पश्येद्गतिमस्यान्तरात्मनः ॥ ७३ ॥

इस अन्तरात्मा (जीव) की ऊंचे-नीचे (देव-पशु आदि) योनियोंमें शास्त्र से असंस्कृत बुद्धिवाले व्यक्तियोंके द्वारा दुर्ज्ञेय गतिको परमात्म-ध्यानके अभ्याससे देखे । (इस प्रकारके अविद्या काम्य तथा निषिद्ध कर्मोंसे से गतियां मिलती हैं, यह जानकर ब्रह्मज्ञानसे युक्त हो जावे) ॥ ७३ ॥

अस्य जीवस्योत्कृष्टापकृष्टेषु देवपश्वादिषु जन्मप्राप्तिमकृतात्मभिः शास्त्रैरसंस्कृतान्तःकरणैर्दुर्ज्ञेयां ध्यानाभ्यासेन सम्यक् सकारणकं जानीयात् । ततश्चाविद्याकाम्यनिषिद्धकर्मनिर्मितेयं गतिरिति ज्ञात्वा ब्रह्मज्ञाननिष्ठो भवेदिति तात्पर्यार्थः ॥ ७३ ॥

सम्यग्दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न निबद्ध्यते ।
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते ॥ ७४ ॥

ब्रह्मके साक्षात्कारसे युक्त कर्मोंसे बांधा नहीं जाता (जन्म-जरा-मरणादि दुःख पानेके लिये संसारमें जन्म नहीं लेता अर्थात् मुक्त हो जाता है) और ब्रह्मसाक्षात्कारसे रहित मनुष्य संसार को प्राप्त करता (संसारमें बार-बार जन्म लेता) है ॥ ७४ ॥

ततश्च तत्त्वतो ब्रह्मसाक्षात्कारवान्कर्मभिर्न निबध्यते कर्माणि तस्य पुनर्जन्मने न प्रभवन्ति, पूर्वार्जितपापपुण्यस्य ब्रह्मज्ञानेन नाशात् । तथा च श्रुतिः-"तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्त उभौ ब्रह्मैवैष भवति" इति । श्रुत्या, तथा—

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ।

इति अविशेषश्रुत्या पुण्यसम्बन्धोऽपि बोध्यते, उत्तरकाले च दैवात्पापे कर्मणि प्रवृत्तेऽपि न पापसंश्लेषः । तथा च श्रुतिः-"पुष्करपलाशं आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते" इति । देहारम्भकपापपुण्यसम्बन्धः परं नश्यति । अयमेव चार्थो ब्रह्ममीमांसायां "तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्" (४।१।१३) इति सूत्रेण बादरायणेन निरणायि । ब्रह्मसाक्षात्कारशून्यस्तु जन्ममरणबन्धं लभते ॥ ७४ ॥

अहिंसयेन्द्रियासङ्गैर्वैदिकैश्चैव कर्मभिः ।
तपसश्चरणैश्चोग्रैः साधयन्तीह तत्पदम् ॥ ७५ ॥

अहिंसा, विषयोंकी अनासक्ति, वेदप्रतिपादित कर्म और कठिन तपश्चरणोंसे इस लोकमें उस पद (ब्रह्मपद) को साध लेते हैं । (इन कर्मोंके आचरणसे ब्रह्मप्राप्ति कर लेते हैं) ॥ ७५ ॥

निषिद्धहिंसावर्जनेनेन्द्रियाणां च विषयसङ्गपरिहारेण वैदिकैर्नित्यैः कर्मभिः, काम्यकर्मणां बन्धहेतुत्वात् । उक्तञ्च-"कामात्मता न प्रशस्ता" (म. स्मृ. २-२) इति । तपसश्च यथासम्भवमुपवासकृच्छ्रचान्द्रायणादेरनुष्ठानैरिह लोके तत्पदं ब्रह्मात्यन्तिकलयलक्षणं प्राप्नुवन्ति । पूर्वश्लोकेन ब्रह्मदर्शनस्य मोक्षहेतुत्वमुक्तम् , अनेन तत्सहकारितया कर्मणोऽभिहितम् ॥ ७५ ॥

इदानीं मोक्षान्तरङ्गोपायसंसारवैराग्याय देहस्वरूपमाह श्लोकद्वयेन —

अस्थिस्थूणं स्नायुयुतं मांसशोणितलेपनम् ।
चर्मावनद्धं दुर्गन्धि पूर्णं मूत्रपुरीषयोः ॥ ७६ ॥
जराशोकसमाविष्टं रोगायतनमातुरम् ।
रजस्वलमनित्यं च भूतावासमिमं त्यजेत् ॥ ७७ ॥

(उक्त दो श्लोकोंसे क्रमशः ब्रह्मदर्शन तथा उसके सहकारी कर्मको मोक्षका साधन बतलाकर अब मोक्षके अन्तरङ्गभूत यत्न और संसारसे वैराग्यके लिये देहके स्वरूपको अग्रिम दो श्लोकोंसे कहते हैं—) हड्डीरूप, खम्भोंवाला, स्नायु (रूप रस्सी) से युक्त, मांस और रक्तरूपी लेप (चूने से लिपना) वाला चमड़ेसे ढका हुआ (पर्दे से युक्त), मलमूत्रसे भरा हुआ, दुर्गन्धयुक्त, बुढ़ापा और शोकसे, युक्त, रोगोंका घर, भूख प्यास आदिसे पीडित, रज (धूलि, पक्षान्तरमें रजोगुण) से युक्त, अनित्य (नाशशील) इस भूत (भूतप्रेतादि, पक्षान्तरमें पृथ्वी-जल-तेज वायु-आकाशरूप पञ्चमहाभूतोंका आश्रय) इस (देह) को छोड़ दे (फिर देहको धारण नहीं करना अर्थात् संसारमें जन्म लेना नहीं पड़े, ऐसा उपाय करे) ॥ ७६-७७ ॥

अस्थीन्येव स्थूणा इव यस्य तम् अस्थिस्थूणं, स्नायुरज्जुभिराबद्धम्, मांसरुधिराद्यपलिप्तं चर्माच्छादितं, मूत्रपुरीषाभ्यां पूर्णम् , अत एव दुर्गन्धि, जरोपतापाभ्यामाक्रान्तं, विविधव्याधीनामाश्रयम्, आतुरं क्षुत्पिपासाशीतोष्णादिकातरम्, प्रायेण रजोगुणयुक्तम्, विनश्वरस्वभावं च, आवासो गृहं पृथिव्यादिभूतानि तेषामावासम् , देहमेव जीवस्य गृहत्वेन निरूपितं त्यजेत् । यथा पुनर्देहसम्बन्धो न भवेत्तथा कुर्यात्। गृहसाम्यमेवोक्तमस्थीत्यादिना ॥ ७६-७७ ॥

नदीकूलं यथा वृक्षो वृक्षं वा शकुनिर्यथा ।
तथा त्यजन्निमं देहं कृच्छ्राद् ग्राहाद्विमुच्यते ॥ ७८ ॥

जिस प्रकार पेड़ नदीके किनारेको छोड़ता (नदीवेगसे अपने पतनको नहीं जानता हुआ गिर जाता) है, और उस पेड़को स्वेच्छासे जैसे पक्षी छोड़ देता है; उसी प्रकार इस शरीरको छोड़ता हुआ (संन्यासी) कष्टकारक ग्राह (पुनः शरीरधारण) से छूट जाता है ॥ ७८ ॥

ब्रह्मोपासकस्य देहत्यागसमये मोक्षः, आरब्धदेहस्य कर्मणो भोगेनैव नाशात्। तत्र देहत्यक्तुर्द्वैविध्यमाह—यः कर्माधीनं देहपातमवेक्षते स नदीकूलं यथा वृक्षस्त्यजति स्वपातमजानन्नेव नदीवेगेण पात्यते, तथा देहं त्यजन्यश्च ज्ञानकर्मप्रकर्षाद्भीष्मादिवत्स्वाधीनमृत्युः स यथा पक्षी वृक्षं स्वेच्छया त्यजति तथा देहमिमं त्यजन् संसारकष्टाद् ग्राहादिव जलचरप्राणिभेदाद्विमुच्यते ॥ ७८ ॥

प्रियेषु स्वेषु सुकृतमप्रियेषु च दुष्कृतम् ।
विसृज्य ध्यानयोगेन ब्रह्माभ्येति सनातनम् ॥ ७९ ॥

(इस प्रकार संन्यासी) अपने प्रियोंमें पुण्यको और अप्रियोंमें पापको छोड़कर ब्रह्मध्यानके द्वारा सनातन ब्रह्मको पाता (ब्रह्ममें लीन हो जाता) है ॥ ७९ ॥

ब्रह्मविदात्मीयेषु प्रियेषु हितकारिषु सुकृतम्, अप्रियेष्वहितकारिषु दुष्कृतं निक्षिप्य ध्यानयोगेन नित्यं ब्रह्माभ्येति ब्रह्मणि लीयते। तथा च श्रुतिः "तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम्!' इति । अपरा श्रुतिः "तत सुकृतदुष्कृते विधूनुते तस्य प्रिया ज्ञातयः सुकृतमुपयन्त्यप्रिया दुष्कृतम्" इति । एवमादीन्येव वाक्यान्युदाहृत्य सुकृतदुष्कृतयोर्हानिमात्रश्रवणेऽप्युपायनं प्रतिपत्तव्यमिति ब्रह्ममीमांसायां "हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात्कुशाच्छन्दस्तुत्युपगाथनवत्तदुक्तम्" (व्या० सू. ३।३।२६) इत्यादिसूत्रैर्बादरायणेन निरणायि ॥

ननु परकीयसुकृतदुष्कृतयोः कथं परत्र सङ्क्रान्तिः ? उच्यते, धर्माधर्मव्यवस्थायां शास्त्रमेव प्रमाणम्, सङ्क्रामोऽपि तयोः शास्त्रप्रमाणक एव । अतः शास्त्रात्सङ्क्रमणयोग्या-

वेतौ सिध्यतः। अतः शास्त्रेण बाधान्न प्रतिपक्षानुमानोदयः, शुचि नरशिरःकपालं प्राण्यङ्गत्वाच्छङ्खादिवदितिवत्।

[1]मेधातिथिगोविन्दराजौ तु स्वेषु प्रियेषु केनचित्कृतेषु ध्यानाभ्यासेनात्मीयमेव सुकृतं तत्र कारणत्वेनारोप्य, एवमप्रियेष्वपि केनचित्कृतेष्वात्मीयमेव प्राग्जन्मार्जितं दुष्कृतं कारणत्वेन प्रकल्प्योद्धृत्य तत्सम्पादयितारौ पुरुषौ रागद्वेषाख्यौ त्यक्त्वा नित्यं ब्रह्माभ्येति ब्रह्मत्वभावमुपगच्छतीति व्याचक्षाते। तन्न, विसृज्येति क्रियायां सुकृतं दुष्कृतमिति कर्मद्वयत्यागेन तत्सम्पादयितारावित्यश्रुतकर्माध्याहारात्, कर्मद्वये च श्रुतक्रियात्यागेन कारणत्वेन प्रकल्प्येत्याद्यश्रुतक्रियाध्याहारात्। किञ्च –

व्यासव्याख्यातवेदार्थमेवमस्या मनुस्मृतेः।
मन्ये न कल्पितं गर्वादर्वाचीनैर्विचक्षणैः ॥ ७९ ॥

यदा भावेन भवति सर्वभावेषु निःस्पृहः।
तदा सुखमवाप्नोति प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥ ८० ॥

जब (संन्यासी) विषयोंमें दोषकी भावनासे सब विषयोंसे निःस्पृह हो जाता है, तब इस लोकमें (सन्तोषजन्य) तथा परलोकमें (मोक्षलाभरूप) नित्यसुखको प्राप्त करता है ॥ ८० ॥

यदा परमार्थतो विषयदोषभावनया सर्वविषयेषु निरभिलाषो भवति, तदेह लोके सन्तोषजन्यसुखं परलोके च मोक्षसुखमविनाशि प्राप्नोति ॥ ८० ॥

अनेन विधिना सर्वांस्त्यक्त्वा सङ्गाञ्छनैः शनैः।
सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते ॥ ८१ ॥

इस प्रकार सब संगों (विषयासक्तियों) को धीरे-धीरे छोड़कर तथा सब द्वन्द्वों (मान-अपमान, सर्दी-गर्मी, स्तुति-निन्दा, हानि-लाभ आदि) से छुटकारा पाकर (संन्यासी) ब्रह्ममें ही लीन हो जाता है ॥ ८१ ॥

पुत्रकलत्रक्षेत्रादिषु ममत्वरूपान्क्रमेण सङ्गान्सर्वांस्त्यक्त्वा द्वन्द्वैर्मानापमानादिभिर्मुक्तोऽनेन यथोक्तेन ज्ञानकर्मानुष्ठानेन ब्रह्मण्येवात्यन्तिकं लयमाप्नोति ॥ ८१ ॥

ध्यानिकं सर्वमेवैतद्यदेतदभिशब्दितम्।
न ह्यनध्यात्मवित्कश्चित्क्रियाफलमुपाश्नुते ॥ ८२ ॥

यह सब (पूर्व श्लोकमें कहा गया पुत्र-धन दारादिमें ममत्वका त्याग, मानापमानका अभाव एवं ब्रह्मकी प्राप्ति) परमात्मा में ध्यानसे होता है। अध्यात्मज्ञानसे शून्य ध्यानका फल (पूर्वोक्त ममत्वत्याग आदि) कोई भी नहीं प्राप्त करता है ॥ ८२ ॥

यदेतदित्यत्यन्तसन्निधानात्पूर्वश्लोकोदितं परामृश्यते। यदेतदुक्तं पुत्रादिममत्वत्यागो मानापमानादिहानिर्ब्रह्मण्येवावस्थानं सर्वमेवैतद्ध्यानिकमात्मनः परमात्मत्वेन ध्याने सति भवति, यदाऽऽत्मानं परमात्मेति जानाति तदा सर्वसत्त्वान्न विशिष्यते तस्य न कुत्रचिन्मम-

---

१. प्रीतिपरितापकृतश्चित्तसंक्षोभो हर्षशोकादिलक्षणोऽनेनोपायेन परिहर्तव्यः। यत् किञ्चित्प्रियं करोति यन्मम सुकृतविशेषस्तस्येदं फलं निष्पन्नम्। अहं भर्ता मम स्नेहबुद्धयः प्रियं न चायमेवं शक्नोति कर्तुम्। यन्ममायमप्रियं करोति तन्ममैव दुष्कृतं पीडाकरमित्येवं विमृश्य ध्यानयोगेन चित्ते भावयेत्। अतोऽस्य न प्रियकारिणि रागो नाप्रियकारिणि द्वेषो जायते।

त्वं मानापमानादिकं वा भवति, तथाविधज्ञानाद् ब्रह्मात्मत्वं च जायते। ध्यानिकविशेषाद्ध्येयविशेषलाभे परमात्मध्यानार्थमाह—न ह्यनध्यात्मविदिति। यस्मादात्मानं जीवमधिकृत्य यदुक्तं तस्य परमात्मत्वं तद्यो न जानाति न ध्यायति स प्रकृतध्यानक्रियाफलं ममत्वत्यागमानापमानादिहानिं मोक्षं च न प्राप्नोति ॥ ८२ ॥

अधियज्ञं ब्रह्म जपेदाधिदैविकमेव च ।
आध्यात्मिकं च सततं वेदान्ताभिहितं च यत् ॥ ८३ ॥

(पहले ब्रह्मके ध्यान करनेके लिये कहकर अब वेदजप करने का उपदेश करते हैं—) यज्ञ तथा देवके प्रतिपादक वेदमंत्रको, जीवके स्वरूपका प्रतिपादक वेदमंत्रको और ब्रह्मप्रतिपादक ('सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि) वेदान्तमें वर्णित मंत्रको जपे ॥ ८३ ॥

पूर्वं ब्रह्मध्यानस्वरूपमुपासनमुक्तम्। इदानीं तदङ्गतया वेदजपं विधत्ते। तथा च श्रुतिः—"तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति" इति विद्याङ्गतया वेदजपमुपदिशति अधियज्ञमिति। यज्ञमधिकृत्य प्रवृत्तं ब्रह्म वेदं तथा देवतामधिकृत्य तथा जीवमधिकृत्य तथा वेदान्तेपूक्तं "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यादिब्रह्मप्रतिपादकं सर्वदा जपेत् ॥ ८३ ॥

इदं शरणमज्ञानामिदमेव विजानताम् ।
इदमन्विच्छतां स्वर्गमिदमानन्त्यमिच्छताम् ॥ ८४ ॥

वेदार्थको नहीं जाननेवालोंके लिये यही वेद शरण (गति) है, (क्योंकि अर्थज्ञानके विना भी वेदपाठ करनेसे पाप क्षय होता है) और वेदार्थ जाननेवालों के लिये स्वर्ग (तथा मोक्ष) चाहनेवालोंके लिये भी यही वेद शरण (गति) है ॥ ८४ ॥

इदं वेदाख्यं ब्रह्म तदर्थानभिज्ञानामपि शरणं गतिः, पाठमात्रेणापि पापक्षयहेतुत्वात्। सुतरां तज्जानतां तदर्थाभिज्ञानां स्वर्गमपवर्गं चेच्छतामिदमेव शरणम्, तदुपायोपदेशकत्वेन तत्प्राप्तिहेतुत्वात् ॥ ८४ ॥

अनेन क्रमयोगेन परिव्रजति यो द्विजः ।
स विधूयेह पाप्मानं परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ ८५ ॥

(भृगुजी महर्षियोंसे कहते हैं कि—) इस क्रम (६।३३—८४) से जो द्विज संन्यास लेता है, वह इस संसारमें पापको नष्टकर (ब्रह्मके साक्षात्कार द्वारा औपाधिक शरीरके नष्ट होनेसे) उत्कृष्ट ब्रह्मको प्राप्त करता है (ब्रह्मके साथ एकीभावको प्राप्तकर मुक्त हो जाता है) ॥ ८५ ॥

अनेन यथाक्रमोक्तानुष्ठानेन यः प्रव्रज्याश्रममाश्रयति स इह लोके पापं विसृज्य परं ब्रह्म प्राप्नोति, ब्रह्मसाक्षात्कारेणोपाधिशरीरनाशाद् ब्रह्मण्यैक्यं गच्छति ॥ ८५ ॥

एष धर्मोऽनुशिष्टो वो यतीनां नियतात्मनाम् ।
वेदसंन्यासिकानां तु कर्मयोगं निबोधत ॥ ८६ ॥

(भृगुजी महर्षियोंसे कहते हैं कि) आप लोगोंसे मैंने मनको वशमें करनेवाले यतियों (कुटीचर, बहूदक, हंस और परमहंस भेदसे चतुर्विध संन्यासियों) के सामान्य धर्मको कहा है, अब वेद संन्यासिक (वेदविहित यज्ञादिका) करनेवाले (कुटीचर यतियों) के कर्मयोगको आप लोग सुनें ॥ ८६ ॥

एष यतीनां यतात्मनां चतुर्णामिव कुटीचरबहूदकहंसपरमहंसानां साधारणो धर्मो वो युष्माकमुक्तः। इदानीं यतिविशेषाणां कुटीचराख्यानां वेदविहितादिकर्मयोगिनामसाधारणं

वक्ष्यमाणं "पुत्रैश्वर्ये सुखं वसेत्" (म. स्मृ. ६-९५) इति कर्मसंबन्धं शृणुत । भारते चतुर्धा भिक्षव उक्ताः—

चतुर्धा भिक्षवस्तु स्युः कुटीचरबहूदकौ ।
हंसः परमहंसश्च यो यः पश्चात्स उत्तमः ॥ इति ।

कुटीचरस्यायं पुत्रभिक्षाचरणरूपासाधारणकर्मोपदेशः । गोविन्दराजस्तु गृहस्थविशेषमेव वेदोदिताग्निहोत्रादिकर्मत्यागिनं ज्ञानमात्रसम्पादितवैदिककर्माणं वेदसंन्यासिकमाह । तन्न, यतो गृहस्थस्याहिताग्नेरन्त्येष्टौ विनियोगः, चतुर्थाश्रमाश्रयणे चात्मनि समारोपः शास्त्रेणोच्यते; तदुभयाभावे सत्येवमेवाग्नीनां त्यागः स्यात् ।

गोविन्दराजो गृहस्थं वेदसंन्यासिकं ब्रुवन् ।
एवमेवाहिताग्नीनां त्यागमर्थादुक्तवान् ॥
वेदसन्यासिकं [1]मेधातिथिः प्राह निराश्रमम् ।
तन्मते चातुराश्रम्यनियमोक्तिः कथं मनोः ॥ ८६ ॥

इदानीं वेदसंन्यासिकस्य प्रतिज्ञाते कर्मयोगेऽनन्तरं वक्तुमुचितमपि वेदसंन्यासिकः पञ्चमाश्रमी निराश्रमी वा चत्वार एवाश्रमा नियता इति दर्शयितुमुक्तानाश्रमाननुवदति—

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा ।
एते गृहस्थप्रभवाश्चत्वारः पृथगाश्रमाः ॥ ८७ ॥

ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और यति (संन्यास); ये चार आश्रम गृहस्थसे उत्पन्न हैं ॥८७॥

ब्रह्मचर्यादयो य एते पृथगाश्रमा उक्ताः, एते चत्वार एव गृहस्थजन्या भवन्ति ॥ ८७ ॥

सर्वेऽपि क्रमशस्त्वेते यथाशास्त्रं निषेविताः ।
यथोक्तकारिणं विप्रं नयन्ति परमां गतिम् ॥ ८८ ॥

शास्त्रके अनुसार ग्रहण किये गये ये चारों आश्रम (६।८७) विधिवत् अनुष्ठान करनेवाले ब्राह्मणको परमगति (मोक्षलाभ) को प्राप्त कराते हैं ॥ ८८ ॥

एते सर्वे चत्वारोऽप्याश्रमाः शास्त्रानतिक्रमेणानुष्ठिताः अपिशब्दात्त्रयो द्वावेकोऽपि यथोक्तानुष्ठातारं विप्रं मोक्षलक्षणां गतिं प्रापयन्ति ॥ ८८ ॥

प्रकृतवेदसंन्यासिकस्य गृहे पुत्रैश्वर्यं सुखेन वासं वक्ष्यति, तदर्थं गृहस्थोत्कर्षमाह—

सर्वेषामपि चैतेषां वेदस्मृतिविधानतः ।
गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः स त्रीनेतान्बिभर्ति हि ॥ ८९ ॥

इन सभी आश्रमों (६।८७) मेंसे वेद तथा स्मृतियोंके अनुसार (अग्निहोत्र आदि) अनुष्ठान करनेसे गृहस्थ ही श्रेष्ठ कहा जाता है, क्योंकि वह इन तीनों (ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी) का (अन्नदान आदिके द्वारा) पालन करता है (इससे भी गृहस्थ ही श्रेष्ठ है) ॥८९॥

सर्वेषामेतेषां ब्रह्मचार्यादीनां मध्ये गृहस्थस्य श्रूयमाणत्वेन प्रायशोऽग्निहोत्रादिविधानाद् गृहस्थो मन्वादिभिः श्रेष्ठ उच्यते । तथा यस्माद् ब्रह्मचारिवानप्रस्थयतीनसौ भिक्षादानेन पोषयति तेनाप्यसौ श्रेष्ठः । यथोक्तम्—

---

१. वेदस्य संन्यासः त्यागः स एषामस्तीति वेदसंन्यासिकाः । वेदशब्देन यागहोमादेः कर्मणः त्याग उच्यते न पुनर्जपत्यागः । आत्मचिन्तनं तु विहितमेव केवलम् . अतः स्वाध्यायः शरीरक्लेशसाध्याश्च तीर्थयात्रादय उपवासादयश्च निषिध्यन्ते । यानि त्वात्मैकसाधनसाध्यानि सन्ध्याजपादिकर्माणि तेषामनिषेधः ।

यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम्। (म. स्मृ. ३-७८) इति ॥ ८९ ॥

यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम् ।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ॥ ९० ॥

जिस प्रकार सभी नदी और नद समुद्रमें स्थितिको पाते (मिलते) हैं उसी प्रकार सभी आश्रमवाले (ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी) गृहस्थमें ही स्थिति (भिक्षालाभादिसे आश्रय) को पाते हैं ॥ ९० ॥

यथा सर्वे नदीनदा गङ्गाशोणाद्याः समुद्रेऽवस्थितिं लभन्ते, एवं गृहस्थादपरे सर्वाश्रमिणस्तदधीनजीवनत्वाद् गृहस्थसमीपेऽवस्थितिं लभन्ते ॥ ९० ॥

चतुर्भिरपि चैवैतैर्नित्यमाश्रमिभिर्द्विजैः ।
दशलक्षणको धर्मः सेवितव्यः प्रयत्नतः ॥ ९१ ॥

इन चारों आश्रमोंमें रहनेवाले द्विजोंको दस प्रकारके (६।९२) धर्मका यत्नपूर्वक नित्य सेवन करना चाहिये ॥ ९१ ॥

एतैर्ब्रह्मचार्यादिभिराश्रमिभिश्चतुर्भिरपि द्विजातिभिर्वक्ष्यमाणो दशविधस्वरूपो धर्मः प्रयत्नतः सततमनुष्ठेयः ॥ ९१ ॥

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥ ९२ ॥

धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच (पवित्रता) इन्द्रियोंको वशमें करना, ज्ञान, विद्या, सत्य, क्रोधका त्याग ये दस धर्मके लक्षण हैं ॥ ९२ ॥

सन्तोषो धृतिः, परेणापकारे कृते तस्य प्रत्यपकारानाचरणं क्षमा, विकारहेतुविषयसन्निधानेऽप्यविक्रियत्वं मनसो दमः, "मनसो दमनं दमः" इति सनन्दनवचनात्। शीतातपादिद्वन्दसहिष्णुता दम इति गोविन्दराजः। अन्यायेन परधनादिग्रहणं स्तेयं तद्भिन्नमस्तेयं, यथा शास्त्रं मृज्जलाभ्यां देहशोधनं शौचं, विषयेभ्यश्चक्षुरादिवारणमिन्द्रियनिग्रहः, शास्त्रादितत्त्वज्ञानं धीः, आत्मज्ञानं विद्या यथार्थाभिधानं सत्यम्, क्रोधहेतौ सत्यपि क्रोधानुत्पत्तिरक्रोधः, एतद्दशविधं धर्मस्वरूपम् ॥ ९२ ॥

दश लक्षणानि धर्मस्य ये विप्राः समधीयते ।
अधीत्य चानुवर्तन्ते ते यान्ति परमां गतिम् ॥ ९३ ॥

जो ब्राह्मण (द्विजमात्र) इन दश लक्षणवाले धर्मोंको अध्ययन करते हैं और अध्ययन करके उसका आचरण करते हैं, वे परमगति (मोक्ष) को जाते हैं ॥ ९३ ॥

ये विप्रा एतानि दशविधधर्मस्वरूपाणि पठन्ति, पठित्वा चात्मज्ञानसाचिव्येनानुतिष्ठन्ते, ब्रह्मज्ञानसमुत्कर्षात्परमां गतिं मोक्षलक्षणां प्राप्नुवन्ति ॥ ९३ ॥

दशलक्षणकं धर्ममनुतिष्ठन्समाहितः ।
वेदान्तं विधिवच्छ्रुत्वा संन्यसेदनृणो द्विजः ॥ ९४ ॥

उक्त दस लक्षणवाले धर्म (६।९२) का पालन करता हुआ द्विज सावधान चित्त होकर वेदान्त (उपनिषद् आदि) को विधिवत (गुरु मुखसे) सुनकर ऋणत्रय (६।३६:३७) से छुटकारा पाकर संन्यास ग्रहण करे ॥ ९४ ॥

उक्तं दशलक्षणकं धर्मं संयतमनाः सन्ननुतिष्ठन् उपनिषदाद्यर्थं गृहस्थावस्थायां यथोक्तानध्ययनधर्मान्गुरुमुखादवगत्य परिशोधितदेवाद्यृणत्रयः संन्यासमनुतिष्ठेत् ॥ ९४ ॥

संन्यस्य सर्वकर्माणि कर्मदोषानपानुदन् ।
नियतो वेदमभ्यस्य पुत्रैश्वर्ये सुखं वसेत् ॥ ९५ ॥
[संन्यसेत्सर्वकर्माणि वेदमेकं न संन्यसेत् ।
वेदसंन्यासतः शूद्रस्तस्माद्वेदं न संन्यसेत् ॥ ६ ॥]

सब कर्म (गृहस्थके) करने योग्य अग्निहोत्र यज्ञ आदि) का त्याग कर कर्मजन्य दोष (अज्ञातावस्था में की हुई जीवहिंसा आदि) को प्राणायाम (६।६९) से नष्ट करता हुआ जितेन्द्रिय होकर ग्रन्थ तथा अर्थसे वेदोंका अभ्यास कर पुत्रके ऐश्वर्यमें रहे। (पुत्रके द्वारा प्राप्त भोजनवस्त्रका उपभोग करता हुआ रहे) यह 'कुटीचर' संन्यासीका लक्षण है ॥ ९५ ॥

[सब (गृहस्थके अनुष्ठेय यज्ञ, अग्निहोत्रादि) का त्याग करे, किन्तु एक वेदका त्याग न करे। वेदके त्यागसे (द्विज) शूद्र हो जाता है, इस कारण वेदका त्याग नहीं करना चाहिये ॥६॥]

सर्वाणि गृहस्थानुष्ठेयाग्निहोत्रादिकर्माणि परित्यज्य अज्ञातजन्तुवधादिकर्मजनितपापानि च प्राणायामादिना नाशयन्नियतेन्द्रिय उपनिषदो ग्रन्थतोऽर्थतश्चाभ्यस्य पुत्रैश्वर्यं इति पुत्रगृहे पुत्रोपकल्पितभोजनाच्छादनत्वेन वृत्तिचिन्तारहितः सुखं वसेत् । अयमेवासाधारणो धर्मः कुटीचरस्योक्तः। इदमेव वक्तुं "वेदसंन्यासिकानां तु" (म. स्मृ. ६-८६) इति पूर्वमुक्तम् ॥ ९५ ॥

एवं संन्यस्य कर्माणि स्वकार्यपरमोऽस्पृहः ।
संन्यासेनापहत्यैनः प्राप्नोति परमां गतिम् ॥ ९६ ॥

इस प्रकार सब कर्मों (गृहस्थके याग अग्निहोत्रादि) का त्याग कर अपने (ब्रह्मसाक्षात्कार रूप) कार्यको प्रधान मानता हुआ (स्वर्ग आदिमें भी) निस्पृह होकर संन्यासके द्वारा पापोंको नष्ट कर (द्विज) परमगति (मोक्ष) को पाता है ॥ ९६ ॥

एवमुक्तप्रकारेण वर्तमानोऽग्निहोत्रादिगृहस्थकर्माणि परित्यज्यात्मसाक्षात्कारस्वरूपस्वकार्यप्रधानः स्वर्गादावपि बन्धहेतुतया निःस्पृहः प्रव्रज्यया पापानि विनाश्य ब्रह्मसाक्षात्कारेण परमां गतिं मोक्षलक्षणां प्राप्नोति ॥ ९६ ॥

एष वोऽभिहितो धर्मो ब्राह्मणस्य चतुर्विधः ।
पुण्योऽक्षयफलः प्रेत्य राज्ञां धर्मं निबोधत ॥ ९७ ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

(भृगु मुनि महर्षियोंसे कहते हैं कि—) आप लोगोंसे यह ब्राह्मण के चार प्रकार (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास) का धर्म पुण्य तथा अक्षय फल देनेवाला कहा, अब (आपलोग) राजाओंके धर्मको (सातवें अध्यायमें) जानो ॥ ९७ ॥

ऋषीन्सम्बोध्योच्यते—एष युष्माकं ब्राह्मणस्य सम्बन्धी क्रियाकलापो धर्मस्तस्मै ब्रह्मचारिगृहस्थवानप्रस्थादिभेदेन चतुर्विधः परत्राक्षयफल उक्तः। इदानीं राजसम्बन्धिनं धर्मं शृणुत। अत्र च श्लोके ब्राह्मणस्य चातुराश्रम्योपदेशाद् ब्राह्मणः प्रव्रजेदिति पूर्वमभिधानाद् ब्राह्मणस्यैव प्रव्रज्याधिकारः ॥ ९७ ॥ क्षे. श्लो ६ ॥

इति श्रीकुल्लूकभट्टकृतायां मन्वर्थमुक्तावल्यां मनुस्मृतौ षष्ठोऽध्यायः ॥

अथ सप्तमोऽध्यायः

राजधर्मान्प्रवक्ष्यामि यथावृत्तो भवेन्नृपः ।
संभवश्च यथा तस्य सिद्धिश्च परमा यथा ॥ १ ॥

(भृगु मुनि महर्षियोंसे कहते हैं कि — मैं) राजा (अभिषिक्त नृपति) के आचार, उत्पत्ति और इस लोक तथा पर लोक तथा परलोकमें होनेवाली उत्तम सफलता होवे ऐसे राजधर्म (दृष्टादृष्ट कर्तव्य) को कहूँगा ॥ १ ॥

धर्मशब्दोऽत्र दृष्टादृष्टार्थानुष्ठेयपरः, षाड्गुण्यादेरपि वक्ष्यमाणत्वात् । राजशब्दोऽपि नात्र क्षत्रियजातिवचनः, किन्त्वभिषिक्तजनपदपुरपालयितृपुरुषवचनः । अत एवाह "यथावृत्तो भवेन्नृपः" इति । यथावदाचारो नृपतिर्भवेत्तथा तस्यानुष्ठेयानि कथयिष्यामि । यथा येन प्रकारेण वा "राजानमसृजत्प्रभुः" (म. स्मृ. ७-३) इत्यादिना तस्योत्पत्तिः, यथा दृष्टादृष्टफलसम्पत्तिस्तदपि वक्ष्यामि ॥ १ ॥

ब्राह्मं प्राप्तेन संस्कारं क्षत्रियेण यथाविधि ।
सर्वस्यास्य यथान्यायं कर्तव्यं परिरक्षणम् ॥ २ ॥

शास्त्रानुसार वेदको प्राप्त (उपनयन संस्कारसे युक्त) क्षत्रिय (अभिषिक्त राजा) न्यायपूर्वक (अपने राज्यमें रहनेवाली) सब प्रजाकी रक्षा करे ॥ २ ॥

ब्रह्म वेदस्तत्प्राप्त्यर्थतयोपनयनसंस्कारस्तं यथाशास्त्रं प्राप्नुवता क्षत्रियेणास्य सर्वस्य स्वविषयावस्थितस्य शास्त्रानुसारेण नियमतो रक्षणं कर्तव्यम् । एतेन क्षत्रिय एव मुख्यो राज्याधिकारीति दर्शितम् । अत एव शास्त्रार्थतत्त्वं क्षत्रियस्य जीवनार्थं, तथा क्षत्रियस्य तु रक्षणं स्वकर्मसु श्रेष्ठं च वक्ष्यति । ब्राह्मणस्य ह्यापदि "जीवेत्क्षत्रियधर्मेण" इत्यभिधास्यति । वैश्यस्यापि क्षत्रियधर्मं, शूद्रस्य च क्षत्रियवैश्यकर्मणी जीवनार्थमापदि जगाद नारदः—

"न कथञ्चन कुर्वीत ब्राह्मणः कर्म वार्षलम् ।
वृषलः कर्म च ब्राह्मं पतनीये हि ते तयोः ॥
उत्कृष्टं चापकृष्टं च तयोः कर्म न विद्यते ।
मध्यमे कर्मणी हित्वा सर्वसाधारणे हि ते ॥
रक्षणं वेदधर्मार्थं तपः क्षत्रस्य रक्षणम् ॥ इति ।
सर्वतो धर्मषड्भागो राज्ञो भवति रक्षतः । (म. स्मृ. ८-३०७)"

इति च वक्ष्यमाणत्वाद्रक्षितुर्बलिषड्भागग्रहणाद्दृष्टार्थमपि "योऽरक्षन्बलिमादत्ते" (म. स्मृ. ८-३०७) इति नरकपातं वक्ष्यति ॥ २ ॥

अराजके हि लोकेऽस्मिन्सर्वतो विद्रुते भयात् ।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः ॥ ३ ॥

इस संसारको विना राजाके होनेपर बलवानोंके डरसे (प्रजाओंके) इधर-उधर भागनेपर सम्पूर्ण चराचरकी रक्षाके लिये भगवान्ने राजा की सृष्टि की ॥ ३ ॥

यस्मादराजके जगति बलवद्भयात्सर्वतः प्रचलिते सर्वस्यास्य चराचरस्य रक्षाय राजानं सृष्टवांस्तस्मात्तेन रक्षणं कार्यम् ॥ ३ ॥

कथं सृष्टवानित्याह—

इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च ।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः ॥ ४ ॥

(ईश्वरने) इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा और कुबेरका सारभूत नित्य अंश लेकर (राजाकी सृष्टि की) ॥ ४ ॥

इन्द्रवातयमसूर्याग्निवरुणचन्द्रकुबेराणां मात्रा अंशान्सारभूतानाकृष्य राजानमसृजत् ॥

यस्मादेषां सुरेन्द्राणां मात्राभ्यो निर्मितो नृपः ।
तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा ॥ ५ ॥

चूंकि राजा इन्द्र आदि सब देवोंके नित्य अंशसे रचा गया है, इस कारण यह (राजा) तेजसे सब जीवोंको अभिभूत (पराजित) करता हैं ॥ ५ ॥

यस्मादिन्द्रादीनां देवश्रेष्ठानामंशेभ्यो नृपतिः सृष्टस्तस्मादेव सर्वप्राणिनो वीर्येणातिशेते ॥ ५ ॥

तपत्यादित्यवच्चैष चक्षूंषि च मनांसि च ।
न चैनं भुवि शक्नोति कश्चिदप्यभिवीक्षितुम् ॥ ६ ॥

यह राजा देखनेवालों के नेत्र तथा मनको सूर्यके समान संतप्त करता है, अतः पृथ्वीपर कोई भी इसे देखनेमें समर्थ नहीं होता ॥ ६ ॥

अयं च राजा स्वतेजसा सूर्य इव पश्यतां चक्षूंषि मनांसि च सन्तापयति, न चैनं राजानं पृथिव्यां कश्चिदप्याभिमुख्येन द्रष्टुं क्षमते ॥ ६ ॥

सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्कः सोमः स धर्मराट् ।
स कुबेरः स वरुणः स महेन्द्रः प्रभावतः ॥ ७ ॥

वह राजा प्रभाव (अपनी अधिक शक्ति) से अग्निरूप है, वायुरूप है, सूर्यरूप है, चन्द्ररूप है, धर्मराज (यम) रूप है, कुबेररूप है और महेन्द्ररूप है ॥ ७ ॥

एवं चाग्न्यादीनां पूर्वोक्तांशभवत्वात्तत्कर्मकारित्वाच्च प्रताप उक्तस्तेजस्वीत्यादिना नवमाध्याये वक्ष्यमाणत्वात् स राजा शक्त्यतिशयेनाग्न्यादिरूपो भवति ॥ ७ ॥

बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः ।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ॥ ८ ॥

(अतएव) 'यह मनुष्य ही तो है' ऐसा मानकर बालक राजा का भी अपमान न करे, क्योंकि यह राजाके रूपमें बड़ा देवता (दैवीशक्ति) स्थित रहता है ॥ ८ ॥

ततश्च मनुष्य इति बुद्ध्या बालोऽपि राजा नावमन्तव्यः । यस्मान्महतीयं काचिद् देवता मानुषरूपेणावतिष्ठते । एतेन देवतावज्ञायामधर्मादयोऽदृष्टदोषा उक्ताः ॥ ८ ॥

सम्प्रति दृष्टदोषमाह—

एकमेव दहत्यग्निर्नरं दुरुपसर्पिणम् ।
कुलं दहति राजाग्निः सपशुद्रव्यसंचयम् ॥ ९ ॥

(अब राजापमान का दृष्ट दोष कहते हैं—) अग्नि केवल असावधानीसे स्पर्श करनेवालेकी ही जलाती है, किन्तु राजाग्नि (क्रुद्ध राजरूप अग्नि) चिरसञ्चित पशु तथा धनके सहित समस्त कुल (वंश) को ही जला देती है ॥ ९ ॥

योऽग्नेरतिसमीपमनवहितः सन्नुसर्पति तं दृढपसर्पिणमेकमेवाग्निर्दहति न तत्पुत्रादिकम्। क्रुद्धो राजाग्निः पुत्रदारभ्रात्रादिरूपं कुलमेव गवाश्वादिपशुसुवर्णादिधनसञ्चयसहितं सापराधं निहन्ति॥ ९॥

कार्यं सोऽवेक्ष्य शक्तिं च देशकालौ च तत्त्वतः।
कुरुते धर्मसिद्ध्यर्थं विश्वरूपं पुनः पुनः॥ १०॥

वह (राजा) प्रयोजनके अनुसार कार्य तथा शक्तिका वास्तविक विचार कर धर्म (कार्य) सिद्धिके लिये बार-बार अनेक रूप धारण करता है॥ १०॥

स राजा प्रयोजनापेक्षया स्वशक्तिं देशकालौ चावेक्ष्य कार्यसिद्ध्यर्थं तत्त्वतो विश्वरूपं बहूनि रूपाणि करोति। जातिविवक्षया बहुष्वेकवचनम्। अशक्तिदशायां क्षमते शक्तिं प्राप्योन्मूलयति, एवमेकस्मिन्नपि देशे काले च प्रयोजनानुरोधेन शत्रुर्वा मित्रं वा उदासीनो वा भवति, अतो राजवल्लभोऽहमिति बुद्ध्या नावज्ञेयः॥ १०॥

यस्य प्रसादे पद्मा श्रीर्विजयश्च पराक्रमे।
मृत्युश्च वसति क्रोधे सर्वतेजोमयो हि सः॥ ११॥

जिस (राजा) की प्रसन्नतामें लक्ष्मी, पराक्रममें विजय और क्रोधमें मरण रहते हैं, अतः वह राजा सर्वतेजोमय है॥ ११॥

पद्माशब्दः श्रीपर्यायोऽपि महत्त्वविवक्षयाऽत्र प्रयुक्तः। यस्य प्रसादान्महती श्रीर्भवति, अतः श्रीकामेन सेव्यः। यस्य शत्रवः सन्ति तानपि सन्तोषितो हन्ति, तेन च शत्रुवधकामेनाप्याराधनीयः। यस्मै क्रुध्यति तस्य मृत्युं करोति, तस्माज्जीवनार्थिना न क्रोधनीयः। यस्मात्सर्वेषां सूर्याग्निसोमादीनां तेजो बिभर्ति॥ ११॥

तं यस्तु द्वेष्टि संमोहात्स विनश्यत्यसंशयम्।
तस्य ह्याशु विनाशाय राजा प्रकुरुते मनः॥ १२॥

जो कोई अज्ञानवश होकर राजाके साथ द्वेष करता है, वह निःसंदेह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है; क्योंकि राजा उसके विनाशके लिये मनको नियुक्त करता (चेष्टायुक्त होता) है॥ १२॥

तं राजानमज्ञतया यो द्वेष्टि तस्याप्रीतिमुत्पादयति स निश्चितं राजक्रोधान्नश्यति। यस्मात्तस्य विनाशाय शीघ्रं राजा मनो नियुङ्क्ते॥ १२॥

तस्माद्धर्मं यमिष्टेषु स व्यवस्येन्नराधिपः।
अनिष्टं चाप्यनिष्टेषु तं धर्मं न विचालयेत्॥ १३॥

अत एव वह राजा (शास्त्रमर्यादाके अनुसार) अपेक्षित कार्यों में जिस धर्म की व्यवस्था करता (जिस कानूनको बनाता) है, उसे नहीं चाहनेवालोंको अनिष्ट (अनभिलषित) भी उस धर्मका उल्लंघन नहीं करना चाहिये अर्थात् उस कानूनको तोड़ना नहीं चाहिये॥ १३॥

यतः सर्वतेजोमयो नृपतिस्तस्मादपेक्षितेषु यमिष्टं शास्त्रानुष्ठेयं शास्त्राविरुद्धं निश्चित्य व्यवस्थापयत्यनपेक्षितेषु चानिष्टम्, तं नियमं नातिक्रामेत्॥ १३॥

तस्यार्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम्।
ब्रह्मतेजोमयं दण्डमसृजत्पूर्वमीश्वरः॥ १४॥

उस (राजा) की कार्यसिद्धिके लिये भगवान्‌ने सम्पूर्ण जीवोंके रक्षक, धर्मस्वरूप पुत्र, ब्रह्माके तेजोमय दण्डकी सृष्टि की॥ १४॥

तस्य राज्ञः प्रयोजनसिद्धये सर्वप्राणिनां रक्षितारं धर्मस्वरूपं पुत्रं ब्रह्मणो यत्केवलं तेजस्तेन निर्मितं न पाञ्चभौतिकं दण्डं ब्रह्मा पूर्वं सृष्टवान् ॥ १४ ॥

तस्य सर्वाणि भूतानि स्थावराणि चराणि च ।
भयाद्भोगाय कल्पन्ते स्वधर्मान्न चलन्ति च ॥ १५ ॥

उस (दण्ड) के भयसे स्थावर तथा जङ्गम सभी जीव (अपने-अपने) भोग (को भोगने) के लिये समर्थ होते हैं और अपने-अपने धर्म (राजनियम) से विचलित (भ्रष्ट) नहीं होते हैं ॥ १५ ॥

तस्य दण्डस्य भयेन चराचराः सर्वे प्राणिनो भोगं कर्तुं समर्था भवन्ति, अन्यथा बलवत्ता दुर्बलस्य धनदारादिग्रहणे तस्यापि तदपेक्षया बलिनेति कस्यापि भोगो न सिध्येत्, वृक्षादीनां स्थावरादीनां छेदने भोगासिद्धिः । तथा सतामपि नित्यनैमित्तिकस्वधर्मानुष्ठानमकरणे याम्ययातनाभयादेव ॥ १५ ॥

तं देशकालौ शक्तिं च विद्यां चावेक्ष्य तत्त्वतः ।
यथार्हतः संप्रणयेन्नरेष्वन्यायवर्तिषु ॥ १६ ॥

(राजा) देश, काल, दण्डशक्ति और विद्या (जिस अपराधके लिये जो दण्ड उचित हो उसका ज्ञान) का ठीक-ठीक विचारकर अन्यायवर्ती (अपराधी) व्यक्तियोंमें शास्त्रानुसार उस दण्डको प्रयुक्त करे अर्थात् अपराधियोंको उचित दण्ड दे ॥ १६ ॥

तं दण्डं देशकालौ दण्ड्यस्य च शक्तिं विद्यादिकं यस्मिन्नपराधे यो दण्डोऽर्हतीत्यादिकं शास्त्रानुसारेण तत्त्वतो निरूप्यापराधिषु प्रवर्तयेत् ॥ १६ ॥

स राजा पुरुषो दण्डः स नेता शासिता च सः ।
चतुर्णामाश्रमाणां च धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः ॥ १७ ॥

वह दण्ड ही राजा है (क्योंकि दण्डमें ही राज करनेकी शक्ति है) वह दण्ड पुरुष (मर्द) है (और अन्य सभी लोग उस दण्डके विधेय (विनय ग्रहणमें शासनीय) होनेसे स्त्री तुल्य हैं), वह दण्ड नेता है (उस दण्डके द्वारा ही सब कार्य यथावत् प्राप्त होते हैं; अतः वह नेता–प्राप्त करानेवाला है), वह दण्ड शासन करनेवाला है, (क्योंकि दण्डकी आज्ञासे ही सब अपने-अपने कर्ममें संलग्न हैं) और वह दण्ड चारों आश्रमों (६।८७) के धर्मका प्रतिभू (जामिनदार मध्यस्थ मनु आदि महर्षियोंके द्वारा) कहा गया है ॥ १७ ॥

स एव दण्डो वस्तुतो राजा तस्मिन् सति राजशक्तियोगात्, स एव पुरुषस्ततोऽन्ये स्त्रिय इव तद्विधेयत्वात्, स एव नेता तेन कार्याणि नीयन्ते प्राप्यन्ते, स एव शासिता शासनमाज्ञा तद्दातृत्वात्, स एव चतुर्णामप्याश्रमाणां यो धर्मस्तस्य सम्पादने प्रतिभूरिव प्रतिभूर्मुनिभिः स्मृतः ॥ १७ ॥

दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति ।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः ॥ १८ ॥

दण्ड ही सब प्रजाओंका शासन करता है, दण्ड ही सब (प्रजाओं) की रक्षा करता है, सबके सोते रहनेपर दण्ड ही जागता है (क्योंकि उसी दण्डके भयसे चोर आदि चोरी आदि दुष्कर्म नहीं करते), विद्वान् लोग दण्डको धर्म (का हेतु) समझते है ॥ १८ ॥

यस्माद् दण्डः सर्वाः प्रजा आज्ञां करोति तस्मात्साधूक्तं शासितेति ज्ञेयम् । यस्मात्स एव प्रजा रक्षति ततो युक्तमुक्तं राजेति । निद्राणेष्वपि रक्षितृषु दण्ड एव जागर्ति, तद्भयेनैव

चौरादीनामप्रवृत्तेः। दण्डमेव धर्महेतुत्वाद्धर्मं जानन्ति। कारणे कार्योपचारः, ऐहिकपारत्रिकदण्डभयादेव धर्मानुष्ठानात् ॥ १८ ॥

समीक्ष्य स धृतः सम्यक्सर्वा रञ्जयति प्रजाः।
असमीक्ष्य प्रणीतस्तु विनाशयति सर्वतः ॥ १९ ॥

शास्त्रानुसार यथावत् विचार कर दिया गया दण्ड सब प्रजाओंको अनुरक्त करता है और विना विचार किये धनलोभ या प्रमादसे दिया गया दण्ड सब तरफसे (धन-जनका) नाश करता है ॥ १९ ॥

स दण्डः शास्त्रतः सम्यङ् निरूप्यापराधानुरूपेण देहधनादिषु धृतः सर्वाः प्रजाः सानुरागाः करोति। अविचार्यं तु लोभादिना प्रयुक्तः सर्वाणि बाह्यार्थपुत्रादीनि नाशयति। सर्वत इति द्वितीयार्थे तसिः ॥ १९ ॥

यदि न प्रणयेद्राजा दण्डं दण्ड्येष्वतन्द्रितः।
शूले मत्स्यानिवापक्ष्यन्दुर्बलान्बलवत्तराः ॥ २० ॥

यदि राजा आलस्य छोड़कर दण्डके योग्यों (अपराधियों) में दण्डका प्रयोग नहीं करता, तो बलवान् लोग दुर्बलोंको जैसे मछलियोंको लोहेके छड़में छेदकर पकाते हैं, वैसे पकाने लगते— ॥ २० ॥

यदि राजाऽनलसो भूत्वा दण्डप्रणयनं न कुर्यात्तदा शूले कृत्वा मत्स्यानिव बलवन्तो दुर्बलानपचयन्। लृङन्तस्य पचिधातो रूपमिदम्। बलिनोऽल्पबलानां हिंसामकरिष्यन्नित्यर्थः। "शूले मत्स्यानिवापक्ष्यन्" इत्येष[1] मेधातिथिगोविन्दराजलिखितः पाठः। "जले मत्स्यानिवाऽहिंस्युः" इति च पाठान्तरम्। अत्र बलवन्तो दुर्बलान्हिंस्युरिति मत्स्यन्याय एव स्यादित्युक्तम् ॥ २० ॥

अद्यात्काकः पुरोडाशं श्वा च लिह्याद्धविस्तथा।
स्वाम्यं च न स्यात्कस्मिंश्चित्प्रवर्तेताधरोत्तरम् ॥ २१ ॥

—(यदि राजा अपराधियोंमें दण्ड-प्रयोग नहीं करता, तो) कौवा पुरोडाश (यज्ञान्न) को खाने लगता, कुत्ता हविष्यान्न को चाटने लगता (अनधिकारी वेदवाह्य मूर्ख यज्ञको दूषित करने लगते), किसीपर किसीका प्रभुत्व नहीं रह जाता (बलवान् दुर्बलकी सम्पत्ति छीन या लूटकर स्वयं मालिक बन बैठता) और नीच लोग ही बड़े बनने लगते ॥ २१ ॥

यदि राजा दण्डं नाचरिष्यत्तदा यज्ञेषु सर्वथा हविरनर्हः काकः पुरोडाशमखादिष्यत्। तथा कुक्कुरः पायसादि हविरलेक्ष्यत्। न कस्यचित्कुत्रचित्स्वाम्यमभविष्यत्। ततो बलिना तद्ग्रहणाद् ब्राह्मणादिवर्णानां च मध्ये यदधरं शूद्रादि तदेवोत्तरं प्रधानं प्रावर्तिष्यत ॥ २१ ॥

सर्वो दण्डजितो लोको दुर्लभो हि शुचिर्नरः।
दण्डस्य हि भयात्सर्वं जगद्भोगाय कल्पते ॥ २२ ॥

सब लोग दण्डसे जीते गये हैं (दण्ड के भयसे ही नियमित होकर अपने-अपने कार्यमें लगे है), (विना दण्डके) स्वभावसे ही शुद्ध मनुष्य दुर्लभ है, दण्डके भयसे ही सम्पूर्ण संसार (अपने-अपने धनादिको) भोगनेके लिए समर्थ होता है ॥ २२ ॥

---

१. अप्रणयनाद्दण्डस्य ये बलवत्तरा बलीयांसो बलेनाधिका महाप्राणतया शस्त्रहस्तमनुष्या भूयस्त्वेन वा ते दुर्बलानपक्ष्यन्, शूले मत्स्यानिव यथा मत्स्याः शूल्याः क्रियन्ते भोजनार्थम्।

सर्वोऽयं लोको दण्डेनैव नियमितः सन्मार्गेऽवतिष्ठते। स्वभावविशुद्धो हि मानुषः कष्टेन लभ्यते। तथा सर्वमिदं जगद्दण्डस्यैव भयादावश्यकभोजनादिरूपेऽपि भोगे समर्थं भवति ॥ २२ ॥

उक्तमपि दण्डस्य भोगसम्पादकत्वं दार्ढ्यार्थं पुनरुच्यते—

देवदानवगन्धर्वा रक्षांसि पतगोरगाः।
तेऽपि भोगाय कल्पन्ते दण्डेनैव निपीडिताः ॥ २३ ॥

देव (इन्द्र, अग्नि, सूर्य, वायु आदि), दानव, गन्धर्व, राक्षस, पक्षी और सर्प (नाग)— वे भी (परमात्माके) दण्डके भयसे पीड़ित होकर भोग (वर्षा आदि करने) के लिये प्रवृत्त होते हैं ॥ २३ ॥

इन्द्राग्निसूर्यवाय्वादयो देवास्तथा दानवगन्धर्वराक्षसपक्षिसर्पा अपि जगदीश्वरपरमार्थ-भयपीडिता एव वर्षदानाद्युपकाराय प्रवर्तन्ते। तथा च श्रुतिः—"भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः। भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः" इति ॥ २३ ॥

दुष्येयुः सर्ववर्णाश्च भिद्येरन्सर्वसेतवः।
सर्वलोकप्रकोपश्च भवेद्दण्डस्य विभ्रमात् ॥ २४ ॥

दण्डके विभ्रम (अभाव या अनुचित प्रयोग) से सब वर्ण (ब्राह्मण क्षत्रिय आदि) दूषित (परस्त्री-संभोगसे वर्णसङ्कर) हो जांय, सब मर्यादा (चतुर्वर्ग-फल प्राप्तिका कारणभूत नियम) छिन्न-भिन्न हो जायं और सब लोगोंमें (चोरी, डाका, व्यभिचार आदिसे) क्षोभ उत्पन्न हो जाय ॥ २४ ॥

दण्डस्यानाचरणादनुचितेन वा प्रवर्तनात्सर्वे ब्राह्मणादिवर्णा इतरेतरस्त्रीगमनेन संकीर्येरन्, सर्वशास्त्रीयनियमाश्चतुर्वर्गफला उत्सीदेयुः, चौर्यसाहसादिना च परस्यापकारात्सर्व-लोकसंक्षोभश्च जायेत ॥ २४ ॥

यत्र श्यामो लोहिताक्षो दण्डश्चरति पापहा।
प्रजास्तत्र न मुह्यन्ति नेता चेत्साधु पश्यति ॥ २५ ॥

श्याम वर्ण (शरीर वाला), लाल नेत्रोंवाला (दण्डका स्वरूप ऐसा शास्त्रोंमें वर्णित है) और पापनाशक दण्ड जिस देशमें विचरण करता (राजा आदि शासकोंके द्वारा प्रयुक्त किया जाता), है, उस देशमें यदि नेता (राजा आदि शासक) उचित दण्ड देता है तो (वहाँ रहनेवाली) प्रजा दुःखित नहीं होती ॥ २५ ॥

यत्र देशे शास्त्रप्रमाणावगतः श्यामवर्णः लोहितनयनोऽधिष्ठातृदेवताको दण्डो विचरति तत्र प्रजा व्याकुला न भवन्ति। दण्डप्रणेता यदि विषयानुरूपं सम्यग्दण्डं जानाति ॥ २५ ॥

तस्याहुः संप्रणेतारं राजानं सत्यवादिनम्।
समीक्ष्यकारिणं प्राज्ञं धर्मकामार्थकोविदम् ॥ २६ ॥

(मनु आदि महर्षियोंने) उस दण्ड प्रयोग करनेवाले राजा (या अन्य राज-नियुक्त शासक) को सत्यवादी, विचारकर करनेवाला, बुद्धिमान् और धर्म तथा अर्थका जानकार होना बतलाया है ॥

तस्य दण्डस्य प्रवर्तयितारमभिषेकादिगुणयुक्तं नृपतिमवितथवादिनं समीक्ष्यकारिणं तत्त्वातत्त्वविचारोचितं प्रज्ञाशालिनं धर्मार्थकामानां ज्ञातारं मन्वादयोऽप्याहुः ॥ २६ ॥

तं राजा प्रणयन्सम्यक् त्रिवर्गेणाभिवर्धते ।
कामात्मा विषमः क्षुद्रो दण्डेनैव निहन्यते ॥ २७ ॥

उस (दण्ड) का यथायोग्य प्रयोग करता हुआ राजा (या राज-नियुक्त पुरुष) त्रिवर्ग (अर्थ, धर्म और काम) से समृद्धियुक्त होता है (और इसके विपरीत) विषयाभिलाषी, क्रोधी, क्षुद्र (नीच स्वभाव होनेसे विना विचार किये दण्ड प्रयोग करनेवाला) राजा दण्डके द्वारा ही मारा जाता है (अमात्यादि प्रकृतिके कोप होनेपर नष्ट हो जाता है) ॥ २७ ॥

तं दण्डं राजा सम्यक्प्रवर्तयन्धर्मार्थकामैर्वृद्धिं गच्छति । यः पुनर्विषयाभिलाषी विषमः कोपनः क्षुद्रश्छलान्वेषी नृपः स प्रकृतेनैव दण्डेनामात्यादिना कोपादधर्माद्वा विनाश्यते ॥

दण्डो हि सुमहत्तेजो दुर्धरश्चाकृतात्मभिः ।
धर्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम् ॥ २८ ॥

अति तेजस्वी तथा असंयत आत्मावालोंसे दुर्धर (कठिनतासे धारण करने योग्य) दण्ड धर्मसे भ्रष्ट (अनुचित दण्डप्रयोग करनेवाले) राजाको बान्धव सहित नष्ट कर देता है ॥ २८ ॥

यतो दण्डः प्रकृष्टतेजःस्वरूपस्तेन स्वशास्त्रैरसंस्कृतात्मभिः दुःखेन ध्रियतेऽतो राजधर्मरहितं नृपमेव पुत्रबन्धुसहितं नाशयति ॥ २८ ॥

ततो दुर्गं च राष्ट्रं च लोकं च सचराचरम् ।
अन्तरिक्षगतांश्चैव मुनीन्देवांश्च पीडयेत् ॥ २९ ॥

फिर अर्थात् सबान्धव राजाको नष्ट करनेके बाद (बिना दोषका विचार किये प्रयुक्त किया गया दण्ड) किला, राज्य, चराचरके सहित पृथ्वी तथा अन्तरिक्षगामी मुनियों एवं देवताओंको (यज्ञादि भाग न मिलनेसे) पीड़ित करता है ॥ २९ ॥

दोषाद्यनपेक्षया यो दण्डः क्रियते स बन्धुनृपनाशानन्तरं धन्व्यादिदुर्गराष्ट्रं देशं पृथिवीलोकं जङ्गमस्थावरसहितं "हविःप्रदानजीवना देवाः" इति श्रुत्या हविःप्रदानाभावेऽन्तरिक्षगतानृषीन्देवांश्च पीडयेदिति ॥ २९ ॥

सोऽसहायेन मूढेन लुब्धेनाकृतबुद्धिना ।
न शक्यो न्यायतो नेतुं सक्तेन विषयेषु च ॥ ३० ॥

असहाय, मूर्ख, लोभी, शास्त्र-ज्ञान-हीन और विषयोंमें आसक्त (राजा आदि) के द्वारा न्यायपूर्वक दण्डप्रयोग नहीं किया जा सकता है ॥ ३० ॥

स दण्डो मन्त्रिसेनापतिपुरोहितादिसहायरहितेन मूर्खेण लोभवता शास्त्रासंस्कृतबुद्धिपरेण नृपतिना शास्त्रतो न प्रणेतुं शक्यते ॥ ३० ॥

शुचिना सत्यसन्धेन यथाशास्त्रानुसारिणा ।
प्रणेतुं शक्यते दण्डः सुसहायेन धीमता ॥ ३१ ॥

धनादिके विषयमें शुद्ध, सत्यप्रतिज्ञ, शास्त्रानुसार व्यवहार करनेवाला, अच्छे सहायकों वाला और बुद्धिमान् (राजा आदि) के द्वारा दण्डका प्रयोग किया जा सकता है ॥ ३१ ॥

अर्थादिशौचयुक्तेन सत्यप्रतिज्ञेन यथाशास्त्रव्यवहारिणा शोभनसहायेन तत्त्वज्ञेन कर्तुं शक्यत इति पूर्वोक्तदोषप्रतिपक्षे गुणा अनेन श्लोकेनोक्ताः ॥ ३१ ॥

स्वराष्ट्रे न्यायवृत्तः स्याद् भृशदण्डश्च शत्रुषु ।
सुहृत्स्वजिह्मः स्निग्धेषु ब्राह्मणेषु क्षमान्वितः ॥ ३२ ॥

अपने राज्यमें न्यायानुसार दण्ड प्रयोग करे, शत्रुओंके देशमें कठोर दण्डका प्रयोग करे, स्वाभाविक मित्रोंमें सरल व्यवहार करे और (छोटे अपराध करनेपर) ब्राह्मणोंमें क्षमाको धारण करे ॥ ३२ ॥

आत्मदेशे यथाशास्त्रव्यवहारी स्यात्। शत्रुविषयेषु तीक्ष्णदण्डो भवेत्। निसर्गस्नेहविषयेषु मित्रेष्वकुटिलः स्यान्न कार्यमित्रेषु। ब्राह्मणेषु च कृताल्पापराधेषु च क्षमावान्भवेत् ॥

एवं वृत्तस्य नृपतेः शिलोञ्छेनापि जीवतः ।
विस्तीर्यते यशो लोके तैलबिन्दुरिवाम्भसि ॥ ३३ ॥

इस प्रकार व्यवहार न्यायसे (दण्डप्रयोग) करनेवाले, शिलोञ्छ वृत्तिसे भी जीविका करनेवाले अर्थात् ऐश्वर्यहीन भी राजाका यश पानीमें तेलकी बूंदके समान संसारमें फैलता है ॥ ३३ ॥

शिलोञ्छेनेति क्षीणकोशत्वं विवक्षितम् । क्षीणकोशस्यापि नृपतेरुक्ताचारवतो जले तैलबिन्दुरिव कीर्तिर्लोके विस्तारमेति ॥ ३३ ॥

अतस्तु विपरीतस्य नृपतेरजितात्मनः ।
संक्षिप्यते यशो लोके घृतबिन्दुरिवाम्भसि ॥ ३४ ॥

इस (७।३१) के प्रतिकूल दण्ड प्रयोग करनेवाले, अजितेन्द्रिय राजाका यश पानीमें घीके बूंदके समान संक्षिप्त होता (घटता) है ॥ ३४ ॥

उक्ताचाराद्विपरीताचारवतो नृपतेरजितेन्द्रियस्य जले घृतबिन्दुरिव कीर्तिः लोके संकोचमेति ॥ ३४ ॥

स्वे स्वे धर्मे निविष्टानां सर्वेषामनुपूर्वशः ।
वर्णानामाश्रमाणां च राजा सृष्टोऽभिरक्षिता ॥ ३५ ॥

अपने-अपने धर्म में संलग्न सब वर्णों और आश्रमोंकी रक्षा करनेवाले राजाको ब्रह्माने बनाया है ॥ ३५ ॥

क्रमेण स्वधर्मानुष्ठातॄणां ब्राह्मणादिवर्णानां ब्रह्मचर्याद्याश्रमाणां च विश्वसृजा राजा रक्षिता सृष्टः। तस्मात्तेषां रक्षणमकुर्वतो राज्ञः प्रत्यवायः, स्वधर्मविरहिणां त्वरक्षणेऽपि न प्रत्यवाय इत्यस्य तात्पर्यार्थः ॥ ३५ ॥

तेन यद्यत्सभृत्येन कर्तव्यं रक्षता प्रजाः ।
तत्तद्वोऽहं प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥ ३६ ॥

(भृगु मुनि महर्षियोंसे कहते हैं कि—) भृत्यों (अपने अधीनस्थ अमात्यादि) के साथ प्रजाकी रक्षा करनेवाले राजाका जो-जो कर्तव्य है, वह-वह क्रमसे शास्त्रानुसार मैं आप लोगोंसे कहूँगा ॥३६॥

वक्ष्यमाणावतारार्थोऽयं श्लोकः । तेन राज्ञा प्रजारक्षणं कुर्वता सामात्येन यद्यत्कर्तव्यं तत्तत्समग्रं युष्माकमभिधास्यामि ॥ ३६ ॥

ब्राह्मणान्पर्युपासीत प्रातरुत्थाय पार्थिवः ।
त्रैविद्यवृद्धान्विदुषस्तिष्ठेत्तेषां च शासने ॥ ३७ ॥

राजा (प्रतिदिन) प्रातःकाल उठकर ऋग्यजुःसामके ज्ञाता और विद्वान् (नीतिशास्त्रके ज्ञाता) ब्राह्मणोंकी सेवा करे और उनके शासनमें रहे (उनके कहनेके अनुसार कार्य करे) ॥ ३७ ॥

प्रत्यहं प्रातरुत्थाय ब्राह्मणानृग्यजुःसामाख्य विद्यात्रयग्रन्थार्थाभिज्ञान्विदुष इति नीतिशास्त्राभिज्ञान्सेवेत तदाज्ञां कुर्यात् ॥ ३७ ॥

वृद्धांश्च नित्यं सेवेत विप्रान्वेदविदः शुचीन् ।
वृद्धसेवी हि सततं रक्षोभिरपि पूज्यते ॥ ३८ ॥

(ज्ञान तथा तपस्यासे) वृद्ध, वेदज्ञाता और शुद्ध हृदयवाले उन ब्राह्मणोंकी नित्य सेवा (आदर-सत्कार) करे, क्योंकि वृद्धों की सेवा करनेवालेकी राक्षस (क्रूर प्रकृतिवाले) भी पूजा करते हैं (फिर मनुष्योंकी क्या बात है) ॥ ३८ ॥

तांश्च ब्राह्मणान्वयस्तपस्यादिवृद्धानर्थतो ग्रन्थतश्च वेदज्ञान्बहिरन्तश्चार्थदानादिना शुचीन्नित्यं सेवेत । यस्माद् वृद्धसेवी स सततं हिंस्रै राक्षसैरपि पूज्यते तैरपि तस्य हितं क्रियते, सुतरां मनुष्यैः ॥ ३८ ॥

तेभ्योऽधिगच्छेद्विनयं विनीतात्मापि नित्यशः ।
विनीतात्मा हि नृपतिर्न विनश्यति कर्हिचित् ॥ ३९ ॥

उन (वृद्ध ब्राह्मणों) से पहलेसे विनययुक्त भी राजा सर्वदा (और अधिक) विनय सीखे, क्योंकि विनय युक्त राजा कभी नष्ट नहीं होता है ॥ ३९ ॥

सहजप्रज्ञया अर्थशास्त्रादिज्ञानेन च विनीतोऽप्यतिशयार्थं तेभ्यो विनयमभ्यसेत् । यस्माद्विनीतात्मा राजा न कदाचिन्नश्यति ॥ ३९ ॥

बहवोऽविनयान्नष्टा राजानः सपरिच्छदाः ।
वनस्था अपि राज्यानि विनयात्प्रतिपेदिरे ॥ ४० ॥

अविनयके कारण बहुत-से राजा घोड़ा, हाथी आदि साधनों सहित नष्ट हो गये और विनयके कारण वनमें रहनेवाले (घोड़ा, हाथी आदि साधनोंसे रहित) भी राज्योंको पा गये, (अतः विनयी होना परमावश्यक है) ॥ ४० ॥

करितुरगकोशादिपरिच्छदयुक्ता अपि राजानो विनयरहिता नष्टाः । बहवश्च वनस्था निष्परिच्छदा अपि विनयेन राज्यं प्राप्नुवन् ॥ ४० ॥

उभयत्रैव श्लोकद्वयेन दृष्टान्तमाह—

वेनो विनष्टोऽविनयान्नहुषश्चैव पार्थिवः ।
सुदाः पैजवनश्चैव सुमुखो निमिरेव च ॥ ४१ ॥

अविनयके कारण वेन, नहुष, पिजवनके पुत्र सुदा, सुमुख और नेमि राजा नष्ट हो गये ॥ ४१ ॥

वेनो, नहुषश्च राजा, पिजवनस्य च पुत्रः सुदानामा, सुमुखो निमिश्चाविनयादनश्यन् ॥

पृथुस्तु विनयाद्राज्यं प्राप्तवान्मनुरेव च ।
कुबेरश्च धनैश्वर्यं ब्राह्मण्यं चैव गाधिजः ॥ ४२ ॥

विनयके कारण पृथु और मनुने राज्य, कुबेरने धन, ऐश्वर्य और विश्वामित्र ने (क्षत्रिय होकर भी) ब्राह्मणत्व को प्राप्त किया ॥ ४२ ॥

पृथुर्मनुश्च विनयाद्राज्यं प्रापतुः। कुबेरश्च विनयाद्धनाधिपत्यं लेभे। गाधिपुत्रो विश्वामित्रश्च क्षत्रियः संस्तेनैव देहेन ब्राह्मण्यं प्राप्तवान्। राज्यलाभावसरे ब्राह्मण्यप्राप्तिरप्रस्तुताऽपि विनयोत्कर्षार्थमुक्ता। ईदृशोऽयं शास्त्रानुष्ठाननिषिद्धवर्जनरूपो विनयः, यदनेन क्षत्रियोऽपि दुर्लभं ब्राह्मण्यं लेभे ॥ ४२ ॥

त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दण्डनीतिं च शाश्वतीम्।
आन्वीक्षिकीं चात्मविद्यां वार्तारम्भांश्च लोकतः ॥ ४३ ॥

(राजा) त्रिवेदीके ज्ञाता विद्वानोंसे त्रयी विद्या नित्य दण्डनीति विद्या, अन्वीक्षिकी विद्या और लोक व्यवहारसे वार्ता विद्या को सीखे ॥ ४३ ॥

त्रिवेदीरूपविद्याविद्भ्यस्त्रिवेदीमर्थतो ग्रन्थतश्चाभ्यसेत्, ब्रह्मचर्यदशायामेव वेदग्रहणात्समावृत्तस्य व राज्याधिकाराद् अभ्यासार्थोऽयमुपदेशः। दण्डनीतिं चार्थशास्त्ररूपामर्थयोगक्षेमोपदेशिनीं पारम्पर्यागतत्वेन नित्यां तद्विज्ञथोऽधिगच्छेत्। तथा आन्वीक्षिकीं तर्कविद्यां भूतप्रवृत्तिप्रयुक्त्युपयोगिनीं ब्रह्मविद्यां चाभ्युदयव्यसनयोर्हर्षविषादप्रशमनहेतुं शिक्षेत। कृषिवाणिज्यपशुपालनादिवार्तां तदारम्भान्धनोपायार्थांस्तदभिज्ञकर्षकादिभ्यः शिक्षेत ॥ ४३ ॥

इन्द्रियाणां जये योगं समातिष्ठेद्दिवानिशम्।
जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः ॥ ४४ ॥

(राजा) इन्द्रियोंको जीतनेमें सर्वदा प्रयत्नशील रहे, क्योंकि जितेन्द्रिय (राजा) प्रजाओंको वशमें रखनेके लिए समर्थ होता है ॥ ४४ ॥

चक्षुरादीनामिन्द्रियाणां विषयासक्तिवारणे सर्वकालं यत्नं कुर्यात्। यस्माज्जितेन्द्रियः प्रजा नियन्तुं शक्नोति, न तु विषयोपभोगव्यग्रः। ब्रह्मचारिधर्मेषु सर्वपुरुषार्थोपादेयतयाऽभिहितोऽपीन्द्रियजयो राजधर्मेषु मुख्यत्वज्ञानार्थमनन्तरवक्ष्यमाणव्यसननिवृत्तिहेतुत्वाच्च पुनरुक्तः ॥ ४४ ॥

दश कामसमुत्थानि तथाष्टौ क्रोधजानि च।
व्यसनानि दुरन्तानि प्रयत्नेन विवर्जयेत् ॥ ४५ ॥

(राजा) कामजन्य दश तथा क्रोधजन्य आठ, अन्तमें दुःखदायी व्यसनोंको प्रयत्नपूर्वक त्याग कर दे ॥ ४५ ॥

दश कामसंभवानि, अष्टौ क्रोधजानि वक्ष्यमाणव्यसनानि यत्नतस्त्यजेत्। दुरन्तानि दुःखावसानान्यादौ सुखयन्ति अन्ते दुःखानि कुर्वन्ति। यद्वा दुर्लभोऽन्तो येषां तानि दुरन्तानि, नहि व्यसनिनस्ततो निवर्तयितुं शक्यन्ते ॥ ४५ ॥

वर्जनप्रयोजनमाह—

कामजेषु प्रसक्तो हि व्यसनेषु महीपतिः।
वियुज्यतेऽर्थधर्माभ्यां क्रोधजेष्वात्मनैव तु ॥ ४६ ॥

क्योंकि कामजन्य व्यसनों (६।४७) में आसक्त राजा अर्थ तथा धर्मसे भ्रष्ट हो जाता है और क्रोधजन्य व्यसनों (६।४८) में आसक्त राजा आत्मासे ही भ्रष्ट (स्वयं नष्ट) हो जाता है ॥ ४६ ॥

यस्मात्कामजनितेषु व्यसनेषु प्रसक्तो राजा धर्मार्थाभ्यां हीयते। क्रोधजेषु प्रसक्तः प्रकृतिकोपाद् देहनाशं प्राप्नोति ॥ ४६ ॥

तानि व्यसनानि नामतो दर्शयति—

मृगयाऽक्षो दिवा स्वप्नः परिवादः स्त्रियो मदः ।
तौर्यत्रिकं वृथाट्या च कामजो दशको गणः ॥ ४७ ॥

मृगया (शिकार), जुआ, दिनमें सोना, परायेकी निन्दा, स्त्री में अत्यासक्ति, मद (नशा-मद्यपान आदि) नाच-गानेमें अत्यासक्ति और व्यर्थ (निष्प्रयोजन) भ्रमण; ये दस कामजन्य व्यसन हैं ॥ ४७ ॥

आखेटकाख्यो मृगवधो मृगया, अक्षो द्यूतक्रीडा, सकलकार्यविघातिनी दिवा निद्रा, परदोषकथनम्, स्त्रीसम्भोगः, मद्यपानजनितो मदः, तौर्यत्रिकं नृत्यगीतवादित्राणि, वृथाभ्रमणञ्च एष दशपरिमाणो दशकः सुखेच्छाप्रभवो गणः ॥ ४७ ॥

पैशुन्यं साहसं द्रोह ईर्ष्यासूयार्थदूषणम् ।
वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः ॥ ४८ ॥

चुगलखोरी, दुस्साहस, द्रोह, ईर्ष्या (दूसरेके गुणको न सहना), असूया (दूसरोंके गुणोंमें दोष बतलाना), अर्थदोष (धनापहरण या धरोहर आदिको वापस नहीं करना), कठोर वचन और कठोरदण्ड; ये आठ क्रोधजन्य व्यसन हैं ॥ ४८ ॥

पैशुन्यमविज्ञातदोषाविष्करणं, साहसं साधोर्बन्धनादिनिग्रहः, द्रोहश्छद्मवधः, ईर्ष्याऽन्यगुणासहिष्णुता, परगुणेषु दोषाविष्करणमसूया, अर्थदूषणमर्थानामपहरणं देयानामदानं च, वाक्पारुष्यमाक्रोशादि, दण्डपारुष्यं ताडनादि, एषोऽष्टपरिमाणो व्यसनगणः क्रोधाद्भवति॥

द्वयोरप्येतयोर्मूलं यं सर्वे कवयो विदुः ।
तं यत्नेन जयेल्लोभं तज्जावेतावुभौ गणौ ॥ ४९ ॥

सब विद्वान्‌लोग इन दोनों (कामज व्यसन-समुदाय तथा क्रोधज व्यसन-समुदाय, (दे० ६।४७-४८) की जड़ जिसको मानते हैं, उस लोभको यत्नपूर्वक जीते अर्थात् छोड़ दें; क्योंकि ये दोनों (कामजन्य तथा क्रोधाजन्य व्यसन-समुदाय) उस (लोभ) से उत्पन्न होनेवाले हैं ॥४९॥

एतयोर्द्वयोरपि कामक्रोधजव्यसनसङ्घयोः कारणं यं स्मृतिकारा जानन्ति, तं यत्नतो लोभं त्यजेत् । यस्मादेतद्गणद्वयं लोभाज्जायते । क्वचिद्धनलोभतः क्वचित्प्रकारान्तरलोभेन प्रवृत्तेः ॥ ४९ ॥

पानमक्षाः स्त्रियश्चैव मृगया च यथाक्रमम् ।
एतत्कष्टतमं विद्याच्चतुष्कं कामजे गणे ॥ ५० ॥

कामजन्य व्यसन-समुदाय में (६।४७) में मद्यपान, जूआ, स्त्रियाँ, और शिकार (आखेट) इन चारोंको क्रमशः अत्यन्त कष्टदायक जाने ॥ ५० ॥

मद्यपानम्, अक्षैः क्रीडा, स्त्रीसम्भोगो, मृगया चेति क्रमपठितमेतच्चतुष्कं कामजव्यसनमध्ये बहुदोषत्वादतिशयेन दुःखहेतुं जानीयात् ॥ ५० ॥

दण्डस्य पातनं चैव वाक्पारुष्यार्थदूषणे ।
क्रोधजेऽपि गणे विद्यात्कष्टमेतत् त्रिकं सदा ॥ ५१ ॥

क्रोधजन्य व्यसन-समुदाय (६।४८) में दण्ड-प्रयोग, कटु वचन और अर्थ दूषण (अन्यायसे दूसरेकी सम्पत्ति हड़प लेना); इन तीनोंको क्रमशः सर्वदा अतिकष्टदायक जाने ॥ ५१ ॥

दण्डपातनम्, वाक्पारुष्यम्, अर्थदूषणं चेति क्रोधजेऽपि व्यसनगणे दोषबहुलत्वादतिशयितदुःखसाधनं मन्येत ॥ ५१ ॥

सप्तकस्यास्य वर्गस्य सर्वत्रैवानुषङ्गिणः ।
पूर्वं पूर्वं गुरुतरं विद्याद्व्यसनमात्मवान् ॥ ५२ ॥

सम्पूर्ण राजमण्डलमें रहनेवाले इन सात व्यसन समुदाय (चार कामजन्य व्यसन-समुदाय, दे० ६।५० और तीन क्रोधजन्य व्यसन-समुदाय दे० ६।५१) में से पूर्व-पूर्व (अगले की अपेक्षा पहलेवाले) को जितेन्द्रियपुरुष गुरुतर (अधिक कष्टदायक) समझे ॥ ५२ ॥

अस्य पानादेः कामक्रोधसम्भवस्य सप्तपरिमाणस्य व्यसनवर्गस्य सर्वस्मिन्नेव राजमण्डले प्रायेणावस्थितस्य पूर्वपूर्वव्यसनमुत्तरोत्तरात्कष्टतरं प्रशस्तात्मा राजा जानीयात्। तथाहि, द्यूतात्पानं कष्टतरम्, मद्यपानेन मत्तस्य संज्ञाप्रणाशाद्यथेष्टचेष्टया देहधनादिविरोध इत्यादयो दोषाः। द्यूते तु पाक्षिकी धनावाप्तिरप्यस्ति। स्त्रीव्यसनाद् द्यूतं दुष्टम्, द्यूते हि वैरोद्भवादयो नीतिशास्त्रोक्ता दोषाः, मूत्रपुरीषवेगधारणाच्च व्याध्युत्पत्तिः। स्त्रीव्यसने पुनरपत्योत्पत्त्यादिगुणयोगोऽप्यस्ति। मृगयास्त्रीव्यसनयोः स्त्रीव्यसनं दुष्टम्,तत्रादर्शनकार्याणां कालातिपातेन धर्मलोपादयो दोषाः, मृगयायां तु व्यायामेनारोग्यादिगुणयोगोऽप्यस्तीत्येवं कामजचतुष्कस्य पूर्वं पूर्वं गुरुदोषम्, क्रोधजेष्वपि त्रिषु वाक्पारुष्याद्दण्डपारुष्यं दुष्टम्, अङ्गच्छेदादेरशक्यसमाधानत्वात्। वाक्पारुष्ये तु कोपानलो दानमानपानीयसेकैः शक्यः शमयितुम्। अर्थदूषणाद्वाक्पारुष्यं दोषवन्मर्मपीडाकरम्, वाक्प्रहारस्य दुश्चिकित्स्यत्वात्। तदुक्तं न संरोहयति वाक्क्षतम्। अर्थदूषणं तु प्रचुरतरार्थदानाच्छक्यसमाधानम्। एवं क्रोधजनितस्यापि पूर्वं पूर्वं दुष्टतरं यत्नतस्त्यजेत् ॥ ५२ ॥

व्यसनस्य च मृत्योश्च व्यसनं कष्टमुच्यते ।
व्यसन्यधोऽधो व्रजति स्वर्यात्यव्यसनी मृतः ॥ ५३ ॥

(व्यसन तथा मृत्यु-दोनों के कष्टकारक होने पर) मृत्यु की अपेक्षा व्यसन अधिक कष्टकारक है, क्योंकि मरा हुआ व्यसनी पुरुष नरकोंमें (एकके बाद दूसरे नरकमें) जाता है और मरा हुआ व्यसनरहित पुरुष स्वर्ग में जाता है ॥ ५३ ॥

यद्यपि मृत्युव्यसने द्वे अपीह लोके संज्ञाप्रणाशादिदुःखहेतुतया शास्त्रानुष्ठानविरोधितया च तुल्ये, तथापि व्यसनं कष्टतरम्, परत्रापि नरकपातहेतुत्वात्। तदाह—व्यसन्यधोऽधो व्रजतीति। बहून्नरकान्गच्छतीत्यर्थः। अव्यसनी तु मृतः शास्त्रानुष्ठानप्रतिपत्तव्यसनाभावात्स्वर्गं गच्छति। एतेनातिप्रसक्तिर्व्यसनेषु निषिध्यते, न तु तस्य सेवनमपि ॥ ५३ ॥

मौलाञ्छास्त्रविदः शूराँल्लब्धलक्षान्कुलोद्भवान् ।
सचिवान्सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान् ॥ ५४ ॥

(राजा) वंशक्रमागत, शास्त्रज्ञाता, शूरवीर, निशाना मारनेवाले (शस्त्र चलानेमें निपुण), उत्तम वंशमें उत्पन्न और परीक्षित (शपथ ग्रहण आदिसे परीक्षा किये गये) सात या आठ मन्त्रियों को नियुक्त करे ॥ ५४ ॥

मौलान्पितृपितामहक्रमेण सेवकान्, तेषामपि द्रोहादिना व्यभिचारात् दृष्टादृष्टार्थशास्त्रज्ञान्विक्रान्तान्, लब्धलक्षान्लक्षादप्रच्युतशरीरशल्यादीनायुधविद इत्यर्थः। विशुद्धकुलभवान्देवतास्पर्शादिनियतानमात्यान्सप्ताष्टौ वा मन्त्रादौ कुर्वीत ॥ ५४ ॥

अपि यत्सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम् ।
विशेषतोऽसहायेन किंतु राज्यं महोदयम् ॥ ५५ ॥

जो कार्य सरल है, वह भी एक आदमीके लिये कठिन होता है। विशेषकर महान् फलको देनेवाला राज्य असहाय (अकेले राजा) से कैसे सुसाध्य हो सकता है ? (कदापि नहीं हो सकता, अतः राजाको पूर्व श्लोकमें वर्णित गुणोंवाले मन्त्रियोंको नियुक्त करना चाहिये) ॥ ५५ ॥

सुखेनापि यत्क्रियते कर्म तदप्येकेन दुष्करं भवति । विशेषतो यन्महाफलम् , तत्कथमसहायेन क्रियते ? ॥ ५५ ॥

तैः सार्धं चिन्तयेन्नित्यं सामान्यं सन्धिविग्रहम् ।
स्थानं समुदयं गुप्तिं लब्धप्रशमनानि च ॥ ५६ ॥

(राजा) उन (मन्त्रियों) के साथमें सन्धि-विग्रह (षड्गुण), स्थान, समुदय, गुप्ति और मिले हुएका उपयोग इनका चिन्तन (सलाह-मसविरा अर्थात् परामर्श) करे ॥ ५६ ॥

सचिवैः सह सामान्यं मन्त्रेष्वगोपनीयं सन्धिविग्रहादि, तन्निरूपयेत् । तथा तिष्ठत्यनेनेति स्थानं दण्डकोशपुरराष्ट्रात्मकं चतुर्विधं चिन्तयेत् । दण्ड्यतेऽनेनेति दण्डो हस्त्यश्वरथपदातयस्तेषां पोषणं रक्षणादि तच्चिन्त्यम् । कोशोऽर्थनिचयस्तस्यायव्ययादि, पुरस्य रक्षणादि. राष्ट्रं देशस्तद्वासिमनुष्यपश्वादिधारणक्षमत्वादि चिन्तयेत् । तथा समुदयन्त्युत्पद्यन्तेऽस्मादर्था इति समुदयो धान्यहिरण्याद्युत्पत्तिस्थानं तन्निरूपयेत् । तथा गुप्तिं रक्षामात्मगतां राष्ट्रगतां च, स्वपरीक्षितमन्नाद्यमद्यात् "परीक्षिताः स्त्रियश्चैवं" (म. स्मृ. ७-२१९) इत्यादिनाऽऽत्मरक्षणं "राष्ट्रस्य सङ्ग्रहे नित्यम्" (म. स्मृ. ७-११३) इत्यादिना राष्ट्ररक्षां च वक्ष्यति । लब्धस्य च धनस्य प्रशमनानि सत्पात्रे प्रतिपादनादीनि चिन्तयेत् । तथा च वक्ष्यति-"जित्वा सम्पूजयेद्देवान्" (म. स्मृ. ७-२०१) इत्यादि ॥५६॥

तेषां स्वं स्वमभिप्रायमुपलभ्य पृथक् पृथक् ।
समस्तानां च कार्येषु विदध्याद्धितमात्मनः ॥ ५७ ॥

(राजा) उन (मन्त्रियों) के अभिप्रायको (एकान्तमें) अलग-अलग तथा सबोंके अभिप्रायको इकट्ठा जानकर अपना हितकारी कार्य करे ॥ ५७ ॥

तेषां सचिवानां रहसि निष्प्रतिपक्षतया हृदयगतभावज्ञानसम्भवात्प्रत्येकमभिप्रायं समस्तानामपि युगपदभिप्रायं बुध्वा कार्ये यदात्मनो हितं तत्कुर्यात् ॥ ५७ ॥

सर्वेषां तु विशिष्टेन ब्राह्मणेन विपश्चिता ।
मन्त्रयेत्परमं मन्त्रं राजा षाड्गुण्यसंयुतम् ॥ ५८ ॥

राजा उन मन्त्रियोंमें से विद्वान् धर्मादि युक्त विशिष्ट एक ब्राह्मणके साथ षड्गुण (७।१६०) से युक्त श्रेष्ठ मंत्र (गुप्त विचार) की मन्त्रणा (विचार-विनिमय) करे ॥ ५८ ॥

एषामेव सर्वेषां सचिवानां मध्यादन्यतमेन धार्मिकत्वादिना विशिष्टेन ब्राह्मणेन सह सन्धिविग्रहादिवक्ष्यमाणगुणषट्कोपेतं प्रकृष्टं मन्त्रं निरूपयेत् ॥ ५८ ॥

नित्यं तस्मिन्समाश्वस्तः सर्वकार्याणि निःक्षिपेत् ।
तेन सार्धं विनिश्चित्य ततः कर्म समारभेत् ॥ ५९ ॥

राजा उस (विद्वान् तथा धर्मात्मा ब्राह्मण) पर पूर्ण विश्वास कर (उसे) सब काम सौंप दे, तथा उसके साथ निश्चय कर बादमें कार्यका आरम्भ करे ॥ ५९ ॥

सर्वदा तस्मिन्ब्राह्मणे सञ्जातविश्वासो भूत्वा यानि कुर्यात्तानि सर्वकार्याणि समर्पयेत्। तेन सह निश्चित्य सर्वं कर्मारभेत् ॥ ५९ ॥

अन्यानपि प्रकुर्वीत शुचीन्प्राज्ञानवस्थितान्।
सम्यगर्थसमाहर्तॄनमात्यान्सुपरीक्षितान् ॥ ६० ॥

(राजा इसके अलावे) दूसरे भी शुद्ध (वंशपरम्परासे शुद्ध या घूस आदि न लेनेसे शुद्ध हृदयवाले), बुद्धिमान्, स्थिरचित्त (आपत्ति-कालमें भी नहीं घवड़ानेवाले या किसीके दवाव या लोभसे होनेपर भी राज-हितमें ही दृढ़ रहने वाले), सब प्रकार न्यायपूर्वक धन-धान्य उत्पन्न करनेवाले सुपरीक्षित मन्त्रियों को (नियुक्त करे)—॥ ६० ॥

अन्यानप्यर्थदानादिना शुचीन्, प्रज्ञाशालिनः, सम्यग्धनार्जनशीलान्धर्मादिना परीक्षितान्कर्मसचिवान्कुर्यात् ॥ ६० ॥

निर्वर्तेतास्य यावद्भिरितिकर्तव्यता नृभिः।
तावतोऽतन्द्रितान्दक्षान्प्रकुर्वीत विचक्षणान् ॥ ६१ ॥

इस (राजा) का कार्य जितने मनुष्योंसे पूरा हो; आलस्यरहित, कार्य करनेमें उत्साही और कामके जानकार उतने ही मनुष्योंको (मंत्रीपदपर) नियुक्त करे ॥ ६१ ॥

अस्य राज्ञो यत्सङ्ख्याकैर्मनुष्यैः कर्मजातं सम्पद्यते तत्संख्याकान्मनुष्यानालस्यशून्यान्, क्रियासु सोत्साहान्, तत्कर्मज्ञांस्तत्र कुर्यात् ॥ ६१ ॥

तेषामर्थे नियुञ्जीत शूरान्दक्षान्कुलागतान्।
शुचीनाकरकर्मान्ते भीरूनन्तर्निवेशने ॥ ६२ ॥

(राजा) उन (मन्त्रियों) में से शूरवीर, उत्साही, कुलक्रमागत, शुद्धचित्त (घूस न लेनेवाले और चोरी अर्थात् गबन नहीं करनेवाले) मन्त्रियोंको धन-धान्यके संग्रह करनेमें (सोने आदिके खानों तथा अन्न उत्पादक स्थानोंमें) और भीरु (डरनेवालों) को महल (रनिवास, भोजन-गृह, शयनगृह आदि) में नियुक्त करे ॥ ६२ ॥

तेषां सचिवानां मध्ये विक्रान्तांश्चतुरान् कुलक्रमनियमितान्, शुचीनर्थनिःस्पृहान् धनोत्पत्तिस्थाने नियुञ्जीत। अस्यैवोदाहरणम् आकरकर्मान्त इति। आकरेषु सुवर्णाद्युत्पत्तिस्थानेषु, कर्मान्तेषु च इक्षुधान्यादिसङ्ग्रहस्थानेषु, अन्तर्निवेशने भोजनशयनगृहान्तःपुरादौ भीरून्नियुञ्जीत। शूरा हि तत्र राजानं प्रायेणैकाकिनं स्त्रीवृतं वा कदाचिच्छत्रूपजापदूषिता हन्युरपि ॥ ६२ ॥

दूतं चैव प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रविशारदम्।
इङ्गिताकारचेष्टज्ञं शुचिं दक्षं कुलोद्गतम् ॥ ६३ ॥

(राजा) सब शास्त्रोंका विद्वान्; इङ्गित (वचन तथा स्वर अर्थात् काकु आदि अभिप्राय-सूचक भाव), आकार (क्रमशः प्रेम एवं उदासीनताका सूचक प्रसन्नता एवं उदासीनता) और चेष्टा (क्रोधादि का सूचक नेत्रोंका लाल होना, भौंह टेढ़ा करना आदि) को जाननेवाले, शुद्धहृदय (राजधनको अधिक व्यय करना, स्त्रीआसक्ति, द्यूत, मद्यपान आदिसे रहित); चतुर तथा कुलीन दूतको नियुक्त करे ॥ ६३ ॥

दूतं च दृष्टादृष्टार्थशास्त्रज्ञम्, इङ्गितज्ञमभिप्रायसूचकं वचनस्वरादि, आकारो देहधर्मादिमुखप्रसादवैवर्ण्यादिरूपः प्रीत्यप्रतीतिसूचकः, चेष्टा करास्फालनादिक्रिया कोपादिसूचिका तद्वेदितारवज्ञम्, अर्थदानस्त्रीव्यसनाद्यभावात्मकं शौचयुक्तं चतुरं कुलीनं कुर्यात् ॥ ६३ ॥

अनुरक्तः शुचिर्दक्षः स्मृतिमान्देशकालवित्।
वपुष्मान्वीतभीर्वाग्मी दूतो राज्ञः प्रशस्यते ॥ ६४ ॥
[सन्धिविग्रहकालज्ञान्समर्थानायतिक्षमान् ।
परैरहार्याञ्छुद्धांश्च धर्मतः कामतोऽर्थतः ॥ १ ॥
समाहर्तुं प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रविपश्चितः ।
कुलीनान्वृत्तिसम्पन्नान्निपुणान्कोशवृद्धये ॥ २ ॥
आयव्ययस्य कुशलान्गणितज्ञानलोलुपान् ।
नियोजयेद्धर्मनिष्ठान्सम्यक्कार्यार्थचिन्तकान् ॥ ३ ॥
कर्मणि चातिकुशलाल्लिपिज्ञानायतिक्षमान् ।
सर्वविश्वासिनः सत्यान्सर्वकार्येषु निश्चितान् ॥ ४ ॥
अकृताशांस्तथा भर्तुः कालज्ञांश्च प्रसङ्गिनः ।
कार्यकामोपधाशुद्धान् बाह्याभ्यन्तरचारिणः ॥ ५ ॥
कुर्यादासन्नकार्येषु गृहसंरक्षणेषु च ।]

अनुरक्त, शुद्ध, चतुर, स्मरणशक्तिवाला, देश और कालका जानकार, सुरूप, निर्भय और वाग्मी राजदूत श्रेष्ठ होता है ॥ ६४ ॥

[(राजा) सन्धि, विग्रह (आदि षड्गुण-७।१६०) तथा समयको जाननेवाले, समर्थ; आयति (आनेवाला समय) में समर्थ; और धर्म, अर्थ तथा कामसे शत्रुओंके द्वारा अपने पक्षमें नहीं किये जानेवाले (राजदूतोंको नियुक्त करे)।

अपना पक्ष प्रबल करनेके लिये सब शास्त्रोंका ज्ञाता और कोशवृद्धिके लिये कुलीन, अच्छी जीविका (वेतन) वाले तथा निपुण (राजदूतोंको नियुक्त करे)।

आय तथा व्यय करनेमें कुशल (उचित आयको नहीं छोड़नेवाला तथा अनुचित व्ययको नहीं करनेवाला), गणितज्ञ, निर्लोभ, धर्मयुक्त, और अच्छी तरह कार्य एवं अर्थका विचार करनेवाले (राजदूतोंको नियुक्त करे)।

कार्य (को करने) में अत्यन्त चतुर, (अनेक) लिपियोंको जाननेवाले, भविष्यकालके लिये समर्थ, सबका विश्वासपात्र, सच्चा, सब कार्योंमें निश्चित (राजदूतोंको नियुक्त करे)।

आशा नहीं रखनेवाले (स्वामी मुझे कार्य-सिद्धि होनेपर कुछ हिस्सा देंगे, या बड़ा पारितोषिक देंगे, ऐसी आशा नहीं रखनेवाले—अन्यथा स्वामीकी कार्यसिद्धि होनेपर आशानुसार न मिलने से वही राजदूत भारी विरोधी हो सकता है तथा यदि आशा नहीं रखेगा तब सदा अनुकूल ही रहेगा), कालज्ञ (अवसर नहीं चूकनेवाले), प्रसङ्गानुसार कार्य करनेवाले, कार्य काम तथा उपधा (धरोहर) में सच्चे और बाहर-भीतर आने-जानेवाले दूतोंको नियुक्त करे ॥ १–५ ॥

समीप (मन्त्री आदि) के कार्यमें तथा अन्तःपुर (रनिवास) की यथावत् रक्षा करनेमें दूतोंको नियुक्त करे ॥]

जनेषु अनुरागवान्, तेन प्रतिराजादेरपि अद्वेषविषयः, अर्थस्त्रीशौचयुक्तः, तेन धनस्त्रीदानादिनाऽभेद्यः, दक्षश्चतुरः, तेन कार्यकालं नातिक्रामति। स्मृतिमान्, तेन संदेशं न विस्मरति। देशकालज्ञः, तेन देशकालौ ज्ञात्वा अन्यदपि संदिष्टं देशकालोचितमन्यथा कथयति। सुरूपः, तेनादेयवचनः। विगतभयः, तेनाप्रियसंदेशस्यापि वक्ता। वाग्मी, तेन संस्कृताद्युक्तिक्षमः एवंविधो दूतो राज्ञः प्रशस्यो भवति ॥ ६४ ॥

अमात्ये दण्ड आयत्तो दण्डे वैनयिकी क्रिया।
नृपतौ कोशराष्ट्रे च दूते संधिविपर्ययौ॥ ६५॥

सेनापतिके अधीन दण्ड (हाथी, घोड़ा, रथ और पैदल सेना), दण्डके अधीन विनयकार्य (सबको विनम्र—वशमें रखना), राजाके अधीन कोष तथा राज्य और दूतके अधीन सन्धि और विग्रह होते हैं॥ ६५॥

अमात्ये सेनापतौ हस्त्यश्वरथपादाताद्यात्मको दण्ड आयत्तः, तदिच्छया तस्य कार्येषु प्रवृत्तेः। विनययोगाद्वैनयिकी यो विनयः स दण्ड आयत्तः। नृपतावर्थसंचयस्थानदेशावायत्तौ राज्ञा पराधीनौ न कर्त्तव्यौ, स्वयमेव चिन्तनीयं धनं ग्रामश्च। दूते संधिविग्रहावायत्तौ, तदिच्छया तत्प्रवृत्तेः॥ ६५॥

दूत एव हि संधत्ते भिनत्त्येव च संहतान्।
दूतस्तत्कुरुते कर्म भिद्यन्ते येन मानवाः॥ ६६॥

दूत ही (शत्रुसे) मेल करा देता है, और मिले हुए (शत्रु) से विग्रह करा देता है; दूत वह कार्य कर देता है, जिससे (मिले हुए भी) मनुष्य (परस्पर में) फूट जाते हैं॥ ६६॥

यस्माद्दूत एव हि भिन्नानां संधिसंपादने क्षमः। संहतानां च भेदने। तथा परदेशे दूतस्तत्कर्म करोति येन संहता भिद्यन्ते। तस्माद्दूते संधिविग्रहौ विपर्ययावायत्ताविति तदुक्तं तस्यैवायं प्रपञ्चः॥ ६६॥

दूतस्य कार्यान्तरमाह—

स विद्यादस्य कृत्येषु निगूढेङ्गितचेष्टितैः।
आकारमिङ्गितं चेष्टां भृत्येषु च चिकीर्षितम्॥ ६७॥

वह (राजदूत) इस (शत्रुराजा) के कृत्यों (कर्तव्य अर्थात् धन, स्त्री, पद या राज्य भागके द्वारा राजदूतोंको वशमें करना आदि) में शत्रुराजाके अनुचरोंके इङ्गित (अभिप्रायसूचक बात और स्वर आदि) तथा चेष्टाओं (हाथ, मुख-अङ्गुलि आदिकी इशारेबाजी) से (शत्रुराजाके) क्षुब्ध या लुब्ध भृत्योंमें (शत्रुराजाके) आकार (मुखकी प्रसन्नता या उदासीनता आदि), इङ्गित, चेष्टा और चिकीर्षित (अभिलषित कार्य को मालूम करे)॥ ६७॥

स दूतोऽस्य प्रतिराजस्य कर्तव्ये आकारेङ्गितचेष्टां जानीयात्। निगूढा अनुचराः प्रतिपक्षनृपस्यैव परिजनास्तस्मिन्युक्तास्तत्सन्निधावपि तेषामिङ्गितचेष्टितैः भृत्येषु च क्षुब्धलुब्धापमानितेषु प्रतिराजस्य कर्तुमीप्सितं जानीयात्॥ ६७॥

बुद्ध्वा च सर्वं तत्त्वेन परराजचिकीर्षितम्।
तथा प्रयत्नमातिष्ठेद्यथाऽऽत्मानं न पीडयेत्॥ ६८॥

शत्रु राजाके चिकीर्षित (अभिलषित कार्य) को ठीक-ठीक मालूम कर वैसा प्रयत्न करे जिससे अपनेको कष्ट न हो॥ ६८॥

उक्तलक्षणदूतद्वारेण प्रतिपक्षराजस्य कर्तुमिष्टं सर्वं तत्त्वतो ज्ञात्वा तथा प्रयत्नं कुर्यात्। यथाऽऽत्मनः पीडा न भवति॥ ६८॥

जाङ्गलं सस्यसंपन्नमार्यप्रायमनाविलम्।
रम्यमानतसामन्तं स्वाजीव्यं देशमावसेत्॥ ६९॥

(राजा) जाङ्गल, धान्य और अधिक धर्मात्माओंसे युक्त, आकुलतारहित, (फल-फूल लता वृक्षादिसे) रमणीय, जहां आस-पासके निवासी नम्र हों ऐसे, अपनी आजीविका (सुलभ व्यापार, खेती, आदि) वाले देशमें निवास करे ॥ ६९ ॥

अल्पोदकतृणो यस्तु प्रवातः प्रचुरातपः ।
स ज्ञेयो जाङ्गलो देशो बहुधान्यादिसंयुतः ॥

प्रचुरधार्मिकजनं रोगोपसर्गाद्यैरनाकुलं फलपुष्पतरुलतादिमनोहरं प्रणतसमीपवास्तव्याटविकादिजनं सुलभकृषिवाणिज्याद्याजीवनमाश्रित्यावासं कुर्यात् ॥ ६९ ॥

धन्वदुर्गं महीदुर्गमब्दुर्गं वार्क्षमेव वा ।
नृदुर्गं गिरिदुर्गं वा समाश्रित्य वसेत्पुरम् ॥ ७० ॥

(राजा) धन्वदुर्ग, महीदुर्ग, जलदुर्ग, वृक्षदुर्ग, मनुष्यदुर्ग अथवा गिरिदुर्ग का आश्रयकर नगर (राजधानी) में निवास करे ॥ ७० ॥

धन्वदुर्गं मरुवेष्टितं चतुर्दिशं पञ्चयोजनमनुदकम्, महीदुर्गं पाषाणेन इष्टकेन वा विस्ताराद्द्वैगुण्योच्छ्रायेण द्वादशहस्तादुच्छ्रितेन युद्धार्थमुपरिभ्रमणयोग्येन सावरणगवाक्षादियुक्तेन प्राकारेण वेष्टितम् , जलदुर्गमगाधोदकेन सर्वतः परिवृतम्, वार्क्षदुर्गं बहिः सर्वतो योजनमात्रं व्याप्य तिष्ठन्महावृक्षकण्टकिगुल्मलतानद्याचितं, नृदुर्गं चतुर्दिगवस्थायि हस्त्यश्वरथयुक्तबहुपदातिरक्षितं, गिरिदुर्गं पर्वतपृष्ठमतिदुरारोहं संकोचकमार्गोपेतं अन्तर्नदीप्रस्रवणाद्युदकयुक्तं बहुसस्योत्पन्नक्षेत्रवृक्षान्वितम्, एतेषु दुर्गेषु मध्यादन्यतमं दुर्गमाश्रित्य पुरं विरचयेत्॥ ७० ॥

सर्वेण तु प्रयत्नेन गिरिदुर्गं समाश्रयेत् ।
एषां हि बाहुगुण्येन गिरिदुर्गं विशिष्यते ॥ ७१ ॥

(राजा) सब प्रयत्नसे गिरिदुर्गका आश्रय करे, इन दुर्गों (६।७०) में से अधिक गुणयुक्त होने से गिरिदुर्ग श्रेष्ठ होता है ॥ ७१ ॥

यस्मादेषां दुर्गाणां मध्यात् दुर्गगुणबहुत्वेन गिरिदुर्गमतिरिच्यते तस्मात्सर्वप्रयत्नेन तदाश्रयेत् । गिरिदुर्गे शत्रुदुरारोहत्वं महत्प्रदेशादल्पप्रयत्नप्रेरितशिलादिना बहुविपक्षसैन्यव्यापादनमित्यादयो बहवो गुणाः ॥ ७१ ॥

त्रीण्याद्यान्याश्रितास्त्वेषां मृगगर्ताश्रयाऽप्सराः ।
त्रीण्युत्तराणि क्रमशः प्लवङ्गमनरामराः ॥ ७२ ॥

इन दुर्गों (६।७०) में से पहलेवाले तीन दुर्गोंमें (धन्वदुर्ग, महीदुर्ग और जलदुर्गमें) मृग, बिलोंमें रहनेवाले (चूहा, खरगोश आदि) तथा जलचर (मगर आदि) और अन्तवाले तीन दुर्गोंमें वृक्षदुर्ग, मनुष्यदुर्ग और गिरिदुर्गमें) ·वानर, मनुष्य तथा अमर (देव) क्रमशः निवास करें ॥ ७२ ॥

एषां दुर्गाणां मध्यात्प्रथमोक्तानि त्रीणि दुर्गाणि मृगादय आश्रिताः । तत्र धन्वदुर्गं मृगैराश्रितम् , महीदुर्गं गर्ताश्रितैर्मूषिकादिभिः, अब्दुर्गं जलचरैर्नक्रादिभिः, इतराणि त्रीणि वृक्षदुर्गादीनि वानरादय आश्रितास्तत्र वृक्षदुर्गं वानरैराश्रितम् , नृदुर्गं मानुषैः, गिरिदुर्गं देवैः ॥७२॥

यथा दुर्गाश्रितानेतान्नोपहिंसन्ति शत्रवः ।
तथारयो न हिंसन्ति नृपं दुर्गसमाश्रितम् ॥ ७३ ॥

जिस प्रकार इन (धन्व आदि) दुर्गोंमें रहनेवाले इन (मृग आदिको) शत्रु (व्याधा आदि) नहीं मार सकते हैं, उसी प्रकार दुर्गमें निवास करनेवाले राजाको शत्रु नहीं मार (जीत) सकते हैं ॥ ७३ ॥

यथैतान्दुर्गवासिनो मृगादीन्व्याधादयः शत्रवो न हिंसन्ति, एवं दुर्गाश्रितं राजानं न शत्रवः ॥ ७३ ॥

एकः शतं योधयति प्राकारस्थो धनुर्धरः।
शतं दशसहस्राणि तस्माद्दुर्गं विधीयते ॥ ७४ ॥

(जिस कारणसे) किलेमें रहनेवाला एक धनुर्धारी (योद्धा) सौ योद्धाओंसे और सौ धनुर्धारी योद्धा दस हजार योद्धाओंसे लड़ता है, इस कारण राजनीतिज्ञ दुर्गकी प्रशंसा करते हैं ॥ ७४ ॥

यस्मादेको धानुष्कः प्राकारस्थः शत्रूणां शतं योधयति। प्राकारस्थं धानुष्कशतं च शत्रूणां दशसहस्राणि, तस्माद्दुर्गं कर्तुमुपदिश्यते ॥ ७४ ॥

[मन्दरस्यापि शिखरं निर्मानुष्यं न शिष्यते।
मनुष्यदुर्गं दुर्गाणां मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत् ॥ ६ ॥]

[मनुष्य रहित मन्दिरका शिखर भी नहीं बचता (शत्रुओंसे पराजित होता है), अत एव ब्रह्माके पुत्र मनुने मनुष्यदुर्गको श्रेष्ठ कहा है ॥ ६ ॥]

तत्स्यादायुधसंपन्नं धनधान्येन वाहनैः।
ब्राह्मणैः शिल्पिभिर्यन्त्रैर्यवसेनोदकेन च ॥ ७५ ॥

उस (किला) को हथियार (तलवार, धनुष आदि), धन (सुवर्ण, चांदी आदि), धान्य (गेहूँ, चावल, चना आदि), वाहन (हाथी, घोड़ा, रथ, ऊँट आदि), ब्राह्मणों कारीगरों, यन्त्रों, चारा (घास, भूसा, खरी, कराई आदि पशुओंके भोज्य पदार्थों) और जलसे संयुक्त रखे ॥ ७५ ॥

तद्दुर्गं खड्गाद्यायुधसुवर्णादिधनधान्यकरितुरगादिवाहनब्राह्मणभचयादिशिल्पियन्त्र-घासोदकसमृद्धं कुर्यात् ॥ ७५ ॥

तस्य मध्ये सुपर्याप्तं कारयेद् गृहमात्मनः।
गुप्तं सर्वर्तुकं शुभ्रं जलवृक्षसमन्वितम् ॥ ७६ ॥

राजा उस (किले) के बीचमें (स्त्री-गृह, देव-मन्दिर, अग्निशाला, स्नानागार आदि भवनोंके अलग-अलग होने से) बड़ा, (खाई, परकोटा अर्थात चहारदीवारी, सेना आदि से) सुरक्षित (सब ऋतुओंमें फलने-फूलनेवाले वृक्ष, गुल्म और लता आदिसे) सब ऋतुओंके अनुकूल, (चूना, रंग आदिसे उपलिप्त होनेसे) शुभ्र, (बावली, पोखरा) आदि जलाशयों तथा पेड़ोंसे युक्त अपना महल (राज-भवन) बनवावे ॥ ७६ ॥

तस्य दुर्गस्य मध्ये पर्याप्तं पृथक् पृथक् स्त्रीगृहदेवागारायुधागाराग्निशालादियुक्तं परिखाप्राकाराद्यैर्गुप्तं सर्वर्तुकफलपुष्पादियोगेन सर्वर्तुकं सुधाधवलितं वाप्यादिजलयुक्तं वृक्षान्वितमात्मनो गृहं कारयेत् ॥ ७६ ॥

तदध्यास्योद्वहेद्भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम्।
कुले महति संभूतां हृद्यां रूपगुणान्विताम् ॥ ७७ ॥

(राजा) उस महलमें निवासकर स्वजातीय, शुभ लक्षणोंवाली, श्रेष्ठ कुलमें उत्पन्न, तथा रूप एवं गुणसे युक्त स्त्रीसे विवाह करे ॥ ७७ ॥

तद्गृहमाश्रित्य समानवर्णां शुभसूचकलक्षणोपेतां महाकुलप्रसूतां मनोहारिणीं सुरूपां गुणवतीं भार्यामुद्वहेत् ॥ ७७ ॥

पुरोहितं च कुर्वीत वृणुयादेव चर्त्विजः ।
तेऽस्य गृह्याणि कर्माणि कुर्युर्वैतानिकानि च ॥ ७८ ॥

(राजा आथर्वण विधिसे) पुरोहित और यज्ञ कर्म करनेके लिये ऋत्विक्को वरण करे तथा वे लोग(पुरोहित तथा ऋत्विक्) इस (राजा) के शान्तिकर्म तथा यज्ञ कर्मको करते रहें ॥ ७८ ॥

पुरोहितं चाप्याथर्वणविधिना कुर्वीत । ऋत्विजश्च कर्माणि कर्तुं वृणुयात् । ते चास्य राज्ञां गृह्योक्तानि त्रेतासंपाद्यानि कर्माणि कुर्युः ॥ ७८ ॥

यजेत राजा क्रतुभिर्विविधैराप्तदक्षिणैः ।
धर्मार्थं चैव विप्रेभ्यो दद्याद्भोगान्धनानि च ॥ ७९ ॥

राजा बहुत दक्षिणावाले (अश्वमेध, विश्वजित् आदि) अनेक यज्ञोंको करे और धर्मके लिये ब्राह्मणोंको (स्त्री, गृह, शय्या, वाहन आदि) भोग-साधक पदार्थ तथा धन देवे ॥ ७९ ॥

राजा नानाप्रकारान्बहुदक्षिणानश्वमेधादियज्ञान्कुर्यात् । ब्राह्मणेभ्यश्च स्त्रीगृहशय्यादीन्भोगान्सुवर्णवस्त्रादीनि धनानि दद्यात् ॥ ७९ ॥

सांवत्सरिकमाप्तैश्च राष्ट्रादाहारयेद्बलिम् ।
स्याच्चाम्नायपरो लोके वर्तेत पितृवन्नृषु ॥ ८० ॥

(राजा) विश्वासपात्रोंसे वार्षिक कर वसूल करावे और लोगोंसे (कर लेने) में न्याययुक्त बर्ताव करे और मनुष्योंमें (राजा) पिताके समान बर्ताव करे ॥ ८० ॥

राजा सत्कर्माप्तैर्वर्षग्राह्यं धान्यादिभागमानाययेत्, लोके च करादिग्रहणे शास्त्रनिष्ठः स्यात्, स्वदेशवासिषु नरेषु पितृवत्स्नेहादिना वर्तेत ॥ ८० ॥

अध्यक्षान्विविधान्कुर्यात्तत्र तत्र विपश्चितः ।
तेऽस्य सर्वाण्यवेक्षेरन्नृणां कार्याणि कुर्वताम् ॥ ८१ ॥

(राजा) उन-उन कार्यों (सेना, कोष संग्रह, दूतकार्य आदि) में अनेक प्रकारके अध्यक्षोंको नियुक्त करे तथा वे अध्यक्ष इस राजाके सब कार्यों को देखा करें ॥ ८१ ॥

तत्र तत्र हस्त्यश्वरथपदाताद्यर्थादिस्थानेष्वध्यक्षानवेक्षितॄन्विविधान्पृथक् पृथक् विपश्चितः कर्म कुशलान्कुर्यात् । तेऽस्य राज्ञस्तेषु हस्त्यश्वादिस्थानेषु मनुष्याणां कुर्वतां सर्वाणि कार्याणि सम्यक्कार्यार्थमवेक्षेरन् ॥ ८१ ॥

आवृत्तानां गुरुकुलाद्विप्राणां पूजको भवेत् ।
नृपाणामक्षयो ह्येष निधिर्ब्राह्मोऽभिधीयते ॥ ८२ ॥

(राजा) वेदाध्ययनके बाद गुरुकुलसे गृहस्थाश्रममें प्रविष्ट होनेवाले ब्राह्मणों की पूजा (धन-धान्य गृहादिको देकर आदर-सत्कार) करे; क्योंकि यह ब्राह्मण राजाका अक्षय निधि (खजाना) कहा गया है ॥ ८२ ॥

गुरुकुलान्निवृत्तानामधीतवेदानां ब्राह्मणानां गार्हस्थ्यार्थिना नियमतो धनधान्येन पूजां कुर्यात् । यस्माद्योऽयं ब्राह्मो ब्राह्मणेषु स्थापितधनधान्यादिनिधिरिव निधिरक्षयो ब्रह्मफलत्वादविनाशी राज्ञां शास्त्रेणोपदिश्यते ॥ ८२ ॥

न तं स्तेना न चामित्रा हरन्ति न च नश्यति।
तस्माद्राज्ञा निधातव्यो ब्राह्मणेष्वक्षयो निधिः॥ ८३॥

उस (सत्पात्र ब्राह्मणमें दिये गये दान रूप कोष) को चोर नहीं चुराते, शत्रु नहीं छीनते और वह नष्ट नहीं होता है, अत एव राजा ब्राह्मणोंमें अक्षय कोष रखे (ब्राह्मणोंको दान दे)॥८३॥

अत एव तं ब्राह्मणस्थापितनिधिं न चौरा नापि शत्रवो हरन्ति, अन्यनिधिवद् भूम्यादिस्थापितः कालवशान्न नश्यति। स्थानभ्रान्त्या वा नादर्शनमुपैति। तस्माद्योयमक्षयोऽनन्तफलो निधिरिव निधिर्धनौघः स राज्ञा ब्राह्मणेषु निधातव्यः, तेभ्यो देय इत्यर्थः॥८३॥

न स्कन्दते न व्यथते न विनश्यति कर्हिचित्।
वरिष्ठमग्निहोत्रेभ्यो ब्राह्मणस्य मुखे हुतम्॥ ८४।

अग्निमें हवन किये गये हविष्य (क्षीरान्न, घृत आदि हवनीय पदार्थ) की अपेक्षा ब्राह्मणके मुखमें किया गया हवन (ब्राह्मणको दिया गया दान) न कभी नीचे गिरता है, न कभी सूखता है और न कभी नष्ट होता है (अतः अग्निहोत्रादि कर्मकी अपेक्षा ब्राह्मणको दान देना श्रेष्ठ है)॥ ८४॥

अग्नौ यद्धविर्हूयते तत्कदाचित्स्कन्दते स्रवत्यधः पतति, कदाचिद्व्यथते शुष्यति, कदाचिद्दाहादिना नश्यति, ब्राह्मणस्य मुखे यद्धुतं "पाण्यास्यो हि द्विजः स्मृतः" इति ब्राह्मणहस्तदत्तमित्यर्थः। तस्य नोक्ता दोषाः, तस्मादग्निहोत्रादिभ्यः श्रेष्ठं ब्राह्मणाय दानमित्यर्थः॥

सममब्राह्मणे दानं द्विगुणं ब्राह्मणब्रुवे।
प्राधीते शतसाहस्रमनन्तं वेदपारगे॥ ८५॥

ब्राह्मणभिन्न (क्षत्रिय आदि) में दिया गया दान सामान्य फलवाला, ब्राह्मण क्रियासे रहित अपनेको ब्राह्मण कहनेवाले ब्राह्मणमें दिया गया दान दुगुने फल वाला, विद्वान् ब्राह्मणमें दिया गया दान लाखगुने फलवाला और वेदपारगामी ब्राह्मणमें दिया गया दान अनन्त फलवाला होता है॥ ८५॥

ब्राह्मणेतरक्षत्रादिविषये यद्दानं तत्समफलम्, यस्य देयद्रव्यस्य यत्फलं श्रुतं ततो नाधिकम्, न च न्यूनं भवति। यो ब्राह्मणः क्रियारहित आत्मानं ब्राह्मणं ब्रवीति स ब्राह्मणब्रुवः, तद्विषयदानं पूर्वापेक्षया द्विगुणफलम्। एवं प्राधीते प्रक्रान्ताध्ययने ब्राह्मणे लक्षगुणं फलम्। समस्तशाखाऽध्यायिन्यनन्तफलम्। "सहस्रगुणमाचार्ये" इति वा तृतीयपादस्य पाठः॥ ८५॥

पात्रस्य हि विशेषेण श्रद्दधानतयैव च।
अल्पं वा बहु वा प्रेत्य दानस्य फलमश्नुते॥ ८६॥
[एष एव परो धर्मः कृत्स्नो राज्ञ उदाहृतः।
जित्वा धनानि संग्रामाद् द्विजेभ्यः प्रतिपादयेत्॥ ७॥
देशकालविधानेन द्रव्यं श्रद्धासमन्वितम्।
पात्रे प्रदीयते यत्तु तद्धर्मस्य प्रसाधनम्॥ ८॥]

विद्या तथा तपसे युक्त पात्रको अपेक्षासे (सुपात्रको प्राप्तकर) श्रद्धासे दिये गये दानके फलको परलोकमें मनुष्य प्राप्त करता है॥ ८६॥

[राजाका सम्पूर्ण यही धर्म कहा गया है कि युद्धसे धनको जीतकर ब्राह्मणों को दान कर दे॥ ७॥

देश कालके अनुसार श्रद्धासे युक्त जो द्रव्य सत्पात्रमें दिया जाता है, वही धर्मका प्रसाधन (उत्तम साधन या भूषण) है ॥ ८ ॥]

विद्यातपोवृत्तियुक्ततया पात्रस्य तारतम्यमपेक्ष्य शास्त्रे तथेति प्रत्ययरूपायाः श्रद्धायास्तारतम्यपात्रमासाद्य दानस्याल्पं महद्वा फलं परलोके लभ्यते ॥ ८६ ॥

समोत्तमाधमै राजा त्वाहूतः पालयन्प्रजाः ।
न निवर्तेत संग्रामात्क्षात्रं धर्ममनुस्मरन् ॥ ८७ ॥

प्रजाओंका पालन करता हुआ राजा समान, अधिक या कम (बलवाले शत्रुओं) के बुलाने (युद्धके लिए ललकारने) पर ('क्षत्रिय युद्धसे विमुख न होवे' इस) क्षत्रिय-धर्मको स्मरण करता हुआ युद्धसे विमुख न होवे ॥ ८७ ॥

समबलेनाधिकबलेन हीनबलेन च राज्ञा युद्धार्थमाहूतो राजा प्रजारक्षणं कुर्वन्युद्धान्न निवर्तेत, क्षत्रियेण युद्धार्थमाहूतेनावश्यं योद्धव्यमिति क्षात्रं धर्मं स्मरन् ॥ ८७ ॥

संग्रामेष्वनिवर्तित्वं प्रजानां चैव पालनम् ।
शुश्रूषा ब्राह्मणानां च राज्ञां श्रेयस्करं परम् ॥ ८८ ॥

युद्धसे (डरकर) नहीं भागना, प्रजाओंका पालन करना, और ब्राह्मणोंकी सेवा करना; राजाओंका अत्यन्त कल्याण करनेवाला (धर्म) माना गया है ॥ ८८ ॥

युद्धेष्वपराङ्मुखत्वम्, प्रजानां च रक्षणम्, ब्राह्मणपरिचर्या एतद्राज्ञामतिशयितं स्वर्गादिश्रेयःस्थानम् ॥ ८८ ॥

आहवेषु मिथोऽन्योन्यं जिघांसन्तो महीक्षितः ।
युध्यमानाः परं शक्त्या स्वर्गं यान्त्यपराङ्मुखाः ॥ ८९ ॥

युद्धोंमें परस्पर प्रहार (चोट) करनेकी इच्छा करते हुए अपार शक्तिसे युद्ध करते हुए राजा विमुख न होकर (मरनेसे) स्वर्गको जाते हैं ॥ ८९ ॥

अत एव राजानो मिथः स्पर्धमाना युद्धेष्वन्योन्यं हन्तुमिच्छन्तः प्रकृष्टया शक्त्या संमुखीभूय युध्यमानाः स्वर्गं गच्छन्ति । यद्यपि युद्धस्य शत्रुजयधनलाभादिरूपं दृष्टमेव फलं न स्वर्गस्तथापि युद्धाश्रितापराङ्मुखत्वनियमस्य स्वर्गः फलमिति न दोषः ॥ ८९ ॥

न कूटैरायुधैर्हन्याद्युध्यमानो रणे रिपून् ।
न कर्णिभिर्नापि दिग्धैर्नाग्निज्वलिततेजनैः ॥ ९० ॥

युद्ध करता हुआ (राजा या कोई योद्धा) कूटशस्त्र (बाहरमें लकड़ी आदि तथा भीतरमें घातक तीक्ष्णशस्त्र या लोहा आदिसे युक्त शस्त्र); कर्णिके आकारवाला फल (बाणका अगला भाग), विषादिमें बुझाये गये, अग्निसे प्रज्वलित अग्रभागवाले शस्त्रोंसे शत्रुओंको न मारे ॥ ९० ॥

कूटान्यायुधानि बहिःकाष्ठादिमयान्यन्तर्गुप्तनिशितशस्त्राण्येतैः समरे युध्यमानः शत्रून्न हन्यात् । नापि कर्ण्याकारफलकैर्बाणैः, नापि विषाक्तैः, नाप्यग्निदीप्तफलकैः ॥ ९० ॥

न च हन्यात्स्थलारूढं न क्लीबं न कृताञ्जलिम् ।
न मुक्तकेशं नासीनं न तवास्मीति वादिनम् ॥ ९१ ॥

(रथपर बैठा हुआ) योद्धा भूमिपर स्थित, नपुंसक, हाथ जोड़े हुए, बाल खोले हुए, बैठे हुए और 'मैं तुम्हारा हूँ' ऐसा कहते हुए (शरणागत) योद्धाको न मारे ॥ ९१ ॥

स्वयं रथस्थो रथं त्यक्त्वा स्थलारूढं न हन्यात्। तथा नपुंसकम्, बद्धाञ्जलिम्, मुक्तकेशम्, उपविष्टम्, त्वदीयोऽहमित्येवंवादिनं न हन्यात् ॥ ९१ ॥

न सुप्तं न विसन्नाहं न नग्नं न निरायुधम्।
नायुध्यमानं पश्यन्तं न परेण समागतम् ॥ ९२ ॥

सोये हुए, कवचसे रहित, नंगा, शस्त्रसे रहित, युद्ध नहीं करते हुए, (केवल युद्धको) देखते हुए (जैसे—युद्ध-संवाददाता आदि) और दूसरेके साथ युद्धमें भिड़े हुए योद्धाको न मारे ॥ ९२ ॥

सुप्तम्, मुक्तसन्नाहम्, विवस्त्रम्, अनायुधम्, अयुध्यमानम्, प्रेक्षकम्, अन्येन सह युध्यमानं च न हन्यात् ॥ ९२ ॥

नायुधव्यसनप्राप्तं नार्तं नातिपरिक्षतम्।
न भीतं न परावृत्तं सतां धर्ममनुस्मरन् ॥ ९३ ॥

अपने शस्त्र-अस्त्रके टूटने आदिसे दुःखी, पुत्र आदिके शोकसे आर्त, बहुत घायल, डरे हुए और युद्धसे विमुख योद्धाको सज्जन क्षत्रियोंके धर्मका स्मरण करता हुआ (राजा या कोई भी योद्धा) न मारे ॥ ९३ ॥

भग्नखड्गाद्यायुधम्, पुत्रशोकादिनाऽऽर्तम्, बहुप्रहाराकुलम्, भीतम्, युद्धपराङ्मुखम्, शिष्टक्षत्रियाणां धर्मं स्मरन्न हन्यात् ॥ ९३ ॥

यस्तु भीतः परावृत्तः संग्रामे हन्यते परैः।
भर्तुर्यद् दुष्कृतं किंचित्तत्सर्वं प्रतिपद्यते ॥ ९४ ॥

युद्धमें डरकर विमुख जो योद्धा शत्रुओंसे मारा जाता है; वह स्वामीका जो कुछ पाप है, उसे प्राप्त करता है ॥ ९४ ॥

यस्तु योधो भीतः पराङ्मुखः सन्युद्धे शत्रुभिर्हन्यते, स पोषणकर्तुः प्रभोर्यद् दुष्कृतं तत्सर्वं प्राप्नोति। शास्त्रप्रमाणके च सुकृते यथाशास्त्रं संक्रमयोग्ये एव सिद्ध्यतः। अत एवोपजीव्यशास्त्रेण बाधानान्न प्रतिपक्षानुमानोदयोऽपि। एतच्च षष्ठे "प्रियेषु स्वेषु सुकृतम्" (म. स्मृ. ६–७९) इत्यत्राविष्कृतमस्माभिः।

पराङ्मुखहतस्य स्यात्पापमेतद्विवक्षितम्।
न त्वत्र प्रभुपापं स्यादिति गोविन्दराजकः ॥
[1]मेधातिथिस्त्वर्थवादमात्रमेतन्निरूपयन्।
मन्ये नैतद् द्वयं युक्तं व्यक्तमन्वर्थवर्जनात् ॥

"अन्यदीयपुण्यपापेऽन्यत्र संक्रमेते" इति शास्त्रप्रामाण्याद्वेदान्तसूत्रकृता बादरायणेन निर्णीतोऽयमर्थ इति यथोक्तमेव रमणीयम् ॥ ९४ ॥

---

१. नैवं मन्तव्यं परावृत्तो यदि हन्यते तदा दुष्कृत्यहतस्तु नेति। किं तर्हि परावृत्तमात्रनिबन्धनं दोषवचनम्। किं च न परावृत्तहतेनेयं बुद्धिः कर्तव्या अनुभूतखड्गप्रहारोऽस्म्यनृणः कृतभर्तृकृत्य इति। तथाविधः प्रहारो न कार्यो दोषातिशयदर्शनेनेति दर्शयति भर्तृसम्बन्धि दुष्कृतमिति। यच्च वचनमुत्तरत्र तदीयसुकृतग्रहणमिति तदर्थवादः। नह्यन्येन कृतं शुभमशुभं वाऽन्यस्य सम्भवति। न च सुकृतस्य नाशः, किन्तु महता दुष्कृतेन प्रतिबन्धे चिरकालभाविता सुकृतस्य फलस्योच्यते।

यच्चास्य सुकृतं किंचिदमुत्रार्थमुपार्जितम् ।
भर्ता तत्सर्वमादत्ते परावृत्तहतस्य तु ॥ ९५ ॥

डरकर युद्धसे पराङ्मुख होनेपर शत्रुसे अभिहत योद्धाका परलोकके लिए उपार्जित जो कुछ पुण्य है, वह सब स्वामी (उस योद्धाको वेतन देनेवाला राजा आदि) प्राप्त कर लेता है ॥९५॥

पराङ्मुखहतस्य यत्किंचित्सुकृतं परलोकार्थमर्जितमनेनास्ति तत्सर्वं प्रभुर्लभते ॥ ९५ ॥
राज्ञः स्वामिनः सर्वधनग्रहणे प्राप्ते तदपवादार्थमाह—

रथाश्वं हस्तिनं छत्रं धनं धान्यं पशून्स्त्रियः ।
सर्वद्रव्याणि कुप्यं च यो यज्जयति तस्य तत् ॥ ९६ ॥

रथ, घोड़ा, हाथी, छत्र, धन, धान्य (सब प्रकार के अन्न), पशु (गौ, भैंस आदि), स्त्रियां (दासी आदि), सब तरहके द्रव्य (गुड़, नमक आदि), और कुप्य (सोना-चाँदीके अतिरिक्त अन्य तांबा-पीतल आदि द्रव्य) को जो योद्धा जीतकर लाता है; वह उसी का होता है (सोना, चाँदी, भूमि, रत्न आदि बहुमूल्य वस्तुएं राजाकी होती हैं) ॥ ९६ ॥

रथाश्वहस्तिच्छत्रवस्त्रादि, धनधान्यगवादि, दास्यस्त्रियः, सर्वाणि द्रव्याणि गुडलवणादीनि, कुप्यं च सुवर्णरजतव्यतिरिक्तं ताम्रादि धनम्, यः पृथग्जित्वा सततं गृहमानयति तस्यैव तद्भवति । सुवर्णरजतभूमिरत्नाद्यनपकृष्टधनं तु राज्ञ एव समर्पणीयं एतदर्थमेवात्र परिगणनीयम् ॥ ९६ ॥

अत एवाह—

राज्ञश्च दद्युरुद्धारमित्येषा वैदिकी श्रुतिः ।
राज्ञा च सर्वयोधेभ्यो दातव्यमपृथग्जितम् ॥ ९७ ॥
[भृत्येभ्यो विजयेदर्थान्नैकः सर्वहरो भवेत् ।
नाममात्रेण तुष्येत छत्रेण च महीपतिः ॥ ९ ॥]

(युद्धमें विजय करनेवाले योद्धा) 'राजाके लिये उद्धार (सोना, चाँदी, जवाहरात तथा हाथी घोड़ा भी देवें' यह वैदिक वचन है और राजा विजयी योद्धाओंके लिये सम्मिलित रूपमें जीतकर प्राप्त किये द्रव्योंमेंसे प्रत्येक पुरुषार्थके अनुसार विभाग कर देवे ॥ ९७ ॥

उद्धारं योद्धारो राज्ञे दद्युः । यदुद्ध्रियत इत्युद्धारः । जितधनादुत्कृष्टधनं सुवर्णरजतकुप्यादि राज्ञे समर्पणीयम् । करितुरगादि वाहनमपि राज्ञे देयम्, "वाहनं च राज्ञ उद्धारं च" इति गोतमवचनात् । उद्धारदाने च श्रुतिः—"इन्द्रो वै वृत्रं हत्वा" इत्युपक्रम्य "स महान्भूत्वा देवता अब्रवीदुद्धारं समुद्धरत" इति । राज्ञा चापृथग्जितं सह जितं सर्वयोधेभ्यो यथापौरुषं संविभजनीयम् ॥ ९७ ॥

एषोऽनुपस्कृतः प्रोक्तो योधधर्मः सनातनः ।
अस्माद्धर्मान्न च्यवेत क्षत्रियो घ्नन्रणे रिपून् ॥ ९८ ॥

(भृगु मुनि महर्षियोंसे कहते हैं कि) अनिन्दित योद्धाओंका यह सनातन धर्म (मैंने) आप लोगोंसे कहा, युद्धमें शत्रुओंको मारता हुआ राजा इसे न छोड़े ॥ ९८ ॥

अविगर्हित एषोऽनादिसर्गप्रवाहसंभवतया नित्यो योधधर्म उक्तः । युद्धे शत्रून्हिंसन्क्षत्रिय एतं धर्मं न त्यजेत् । युद्धाधिकारित्वात्क्षत्रियग्रहणम् । अन्योऽपि तत्स्थानपतितो न त्यजेत् ॥ ९८ ॥

अलब्धं चैव लिप्सेत लब्धं रक्षेत्प्रयत्नतः।
रक्षितं वर्धयेच्चैव वृद्धं पात्रेषु निक्षिपेत् ॥ ९९ ॥

(राजा) अप्राप्त (नहीं मिले हुए भूमि तथा सुवर्ण आदि) को पानेकी इच्छा करे, प्राप्त (भूम्यादि) की यत्नपूर्वक रक्षा करे, रक्षा किये गये को बढ़ावे और बढ़ाये हुए (द्रव्य, भूमि आदि) को सत्पात्रों में दान कर दे ॥ ९९ ॥

अर्जितं भूमिहिरण्यादि जेतुमिच्छेत्। जितं प्रयत्नतो रक्षेत्। रक्षितं च वाणिज्यादिना वर्धयेत्। वृद्धं च पात्रेभ्यो दद्यात् ॥ ९९ ॥

एतच्चतुर्विधं विद्यात्पुरुषार्थप्रयोजनम्।
अस्य नित्यमनुष्ठानं सम्यक्कुर्यादतन्द्रितः ॥ १०० ॥

(राजा) चार प्रकारके पुरुषार्थोंका यह प्रयोजन जाने तथा आलस्यरहित होकर सर्वदा इसका पालन करे ॥ १०० ॥

एतच्चतुःप्रकारं पुरुषार्थो यः स्वर्गादिस्तत्प्रयोजनं यस्मादेवंरूपं जानीयात्। अतोऽनलसः सन्सर्वदाऽनुष्ठानं कुर्यात् ॥ १०० ॥

अलब्धमिच्छेद्दण्डेन लब्धं रक्षेदवेक्षया।
रक्षितं वर्धयेद् वृद्ध्या वृद्धं पात्रेषु निक्षिपेत् ॥ १०१ ॥

(राजा) अप्राप्त (नहीं मिले हुए सोना, चांदी, भूमि, जवाहरात आदि) को दण्डके द्वारा (शत्रुको दण्ड देकर या जीतकर) पानेकी इच्छा करे, प्राप्त (मिले हुए सोना आदि उक्त) द्रव्योंकी देख-भाल करते हुए रक्षा किये गये उनकी वृद्धिसे (जल-स्थल-मार्ग आदिसे व्यापार आदि करके) बढ़ावे और बढ़ाये गये (उन द्रव्यों) को सत्पात्रोंमें दान कर दे ॥ १०१ ॥

अलब्धं यद्धस्त्यश्वरथपादातात्मकेन दण्डेन जेतुमिच्छेत्। जितं च प्रत्यवेक्षणेन रक्षेत्। रक्षितं च वृद्ध्युपायेन स्थलजलपथवाणिज्यादिना वर्धयेत्। वृद्धं शास्त्रीयविभागेन पात्रेभ्यो दद्यात् ॥ १०१ ॥

नित्यमुद्यतदण्डः स्यान्नित्यं विवृतपौरुषः।
नित्यं संवृतसंवार्यो नित्यं छिद्रानुसार्यरेः ॥ १०२ ॥

(राजा) दण्डको सर्वत्र उद्यत रक्खे (हाथी, घोड़ा, रथ और पैदल—इस प्रकार चतुरङ्गिणी सेनाको सर्वदा परेड करवा कर उनका अभ्यास बढ़ाता रहे) अपने पुरुषार्थ (सैनिकादि शक्ति) को प्रदर्शित करता रहे, गुप्त रखने योग्य (अपने विचार, राजकार्य एवं चेष्टा आदि) को सर्वदा गुप्त रखे और शत्रुके छिद्र (सेना या प्रकृतिके द्वेष आदिसे दुर्बलता) को सर्वदा देखता रहे ॥१०२॥

नित्यं हस्त्यश्वादियुद्धादिशिक्षाभ्यासो दण्डो यस्य स तथा स्यात्। नित्यं च प्रकाशीकृतमस्त्रविद्यादिना पौरुषं यस्य स तथा स्यात्। नित्यं संवृतं संवरणीयं मन्त्राचारचेष्टादिकं यस्य स तथा स्यात्। नित्यं च शत्रोर्व्यसनादिरूपच्छिद्रानुसंधानं तत्परः स्यात् ॥ १०२ ॥

नित्यमुद्यतदण्डस्य कृत्स्नमुद्विजते जगत्।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि दण्डेनैव प्रसाधयेत् ॥ १०३ ॥

सर्वदा दण्ड (चतुरङ्गिणी सेनाकी शक्ति) से युक्त रहनेवाले (राजा) से सब संसार डरता रहता है, अत एव राजा सब लोगोंको दण्डद्वारा ही वशमें करे ॥ १०३ ॥

यस्मान्नित्योद्यतदण्डस्य जगदुद्विजेदिति तस्मात्सर्वप्राणिनो दण्डेनैवात्मसात्कुर्यात् ॥१०३॥

अमाययैव वर्तेत न कथंचन मायया।
बुद्ध्येतारिप्रयुक्तां च मायां नित्यं स्वसंवृतः ॥ १०४ ॥

(राजा) सर्वदा (मन्त्री आदिके साथ) निष्कपट वर्ताव करे, कपटसे किसी प्रकार वर्ताव न करे (कपट वर्ताव करनेसे राजा सबका अविश्वासपात्र हो जाता है) और स्वयं सब व्यवहारको गुप्त रखता हुआ शत्रुके कपटको (गुप्तचरोंके द्वारा) मालूम करे ॥ १०४ ॥

मायया छद्मतया अमत्त्यादिषु न वर्तेत। तथा सति सर्वेषामविश्वसनीयः स्यात्। धर्मरक्षार्थं यथातत्त्वेनैव व्यवहरेत्। यत्नकृतात्मपक्षरक्षश्च शत्रुकृतां प्रकृतिभेदरूपां मायां चारद्वारेण जानीयात् ॥ १०४ ॥

नास्य छिद्रं परो विद्याद्विद्याच्छिद्रं परस्य तु।
गूहेत्कूर्म इवाङ्गानि रक्षेद्विवरमात्मनः ॥ १०५ ॥
[न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत्।
विश्वासाद्भयमुत्पन्नं मूलादपि निकृन्तति ॥ १० ॥]

(राजा ऐसा यत्न करे कि—) इस (राजा) के छिद्र (अकात्य आदिके साथ फूट) को शत्रु न मालूम करे और राजा स्वयं शत्रुके छिद्रको मालूम करता रहे। कछुआ जैसे अपने अङ्गों (मुख एवं पैरों) को छिपा लेता हैं, वैसे ही (राजा भी) अङ्गों (स्वामी, अमात्य, राष्ट्र, किला, कोष, सेना और मित्र-इन सात अङ्गों) को गुप्त रखे और कदाचित् आपसमें कोई छिद्र (मंत्री आदि प्रकृतिके फूट जानेसे कोई दोष) हो जाय तो उसे दूर कर दे ॥ १०५ ॥

(राजा) अविश्वासीपर विश्वास न करे, विश्वासी पर भी अधिक विश्वास न करे, क्योंकि विश्वाससे उत्पन्न भय जड़से ही नाश कर देता है ॥ १० ॥

तथा यत्नं कुर्याद्यथाऽस्य प्रकृतिभेदादि छिद्रं शत्रुर्न जानाति। शत्रोस्तु प्रकृतिभेदादिकं चारैर्जानीयात्। कूर्मो यथा मुखचरणान्यङ्गान्यात्मदेहे गोपायत्येवं राज्याङ्गान्यमात्यादीनि दानसंमानादिनाऽऽत्मसात्कुर्यात्। दैवाच्च प्रकृतिभेदादिरूपे छिद्रे जाते यत्नतः प्रतीकारं कुर्यात् ॥ १०५ ॥

बकवच्चिन्तयेदर्थान्सिंहवच्च पराक्रमेत्।
वृकवच्चावलुम्पेत शशवच्च विनिष्पतेत् ॥ १०६ ॥

(राजा) बगुलेके समान अर्थचिन्तन करे, सिंहके समान पराक्रम करे, भेड़ियोंके समान शत्रुका नाश करे और खरगोशके समान (शत्रुके घेरेसे) निकल जाय ॥ १०६ ॥

यथा बको जले मीनमतिचञ्चलस्वभावमपि मत्स्यग्रहणादेकतानान्तःकरणश्चिन्तयत्येवं रहसि सुविहितरक्षस्यापि विपक्षस्य देशग्रहणादीनर्थांश्चिन्तयेत्। यथा च सिंहः प्रबलमतिस्थूलमपि दन्तीबलं हन्तुमाक्रमत्येवमल्पबलो बलवतोपक्रान्तः संश्रयाद्युपायान्तरासंभवे सर्वशक्त्या शत्रुं हन्तुमाक्रमेत्। यथा च वृकः पालकृतरक्षणमपि पशुं दैवात्पालानवधानमासाद्य व्यापादयत्येवं दुर्गाद्यवस्थितमपि रिपुं कथंचित्प्रमादमासाद्य व्यापादयेत्। यथा शशः वधोद्धुरविविधव्याधमध्यगतोऽपि कुटिलगतिरुत्प्लुत्य पलायते, एवं स्वयमबलो बलवदरिपरिवृतोऽपि कथंचिदरिव्यामोहमाधाय गुणवत्पार्थिवान्तरं संश्रयितुमुपसर्पेत् ॥

एवं विजयमानस्य येऽस्य स्युः परिपन्थिनः।
तानानयेद्वशं सर्वान्सामादिभिरुपक्रमैः ॥ १०७ ॥

इस प्रकार विजय करते हुए इस राजाके विजयमें जो बाधक (राजा) हों, उन सबोंकी साम आदि उपायोंसे वशमें लावे ॥ १०७ ॥

एवमुक्तप्रकारेण विजयप्रवृत्तस्य नृपतेर्ये विजयविरोधिनो भवेयुस्तान्सर्वान्सामदानभेददण्डैरुपायैर्वशमानयेत् ॥ १०७ ॥

यदि ते तु न तिष्ठेयुरुपायैः प्रथमैस्त्रिभिः।
दण्डेनैव प्रसह्यैतांश्छनकैर्वशमानयेत् ॥ १०८ ॥

यदि वे (विजयमें बाधक राजा) पहले तीन उपायों (साम, दान और भेद) से (अपनी हरकतोंको नहीं छोड़ें, तब दण्डसे ही उनको बलपूर्वक वशमें करे ॥ १०८ ॥

ते च विजयविरोधिनो यद्याद्यैस्त्रिभिरुपायैर्न निवर्तन्ते तदा बलाद्देशोपमर्दादिना युद्धेन शनकैर्लघुगुरुदण्डक्रमेण दण्डेन वशीकुर्यात् ॥ १०८ ॥

सामादीनामुपायानां चतुर्णामपि पण्डितः।
सामदण्डौ प्रशंसन्ति नित्यं राष्ट्राभिवृद्धये ॥ १०९ ॥

पण्डित (राजनितिज्ञ विद्वान्) साम आदि चारों उपाओं (साम, दान, भेद और दण्ड) में से सर्वदा राज्यकी वृद्धिके लिये दण्ड की प्रशंसा करते हैं ॥ १०९ ॥

चतुर्णामपि सामादीनामुपायानां मध्यात्सामदण्डावेव राष्ट्रवृद्ध्यर्थं पण्डिताः प्रशंसन्ति, साम्नि प्रयासधनव्ययसैन्यक्षयादिदोषाभावात्, दण्डे तु तत्सद्भावेऽपि कार्यसिध्यतिशयात् ॥ १०९ ॥

यथोद्धरति निर्दाता कक्षं धान्यं च रक्षति।
तथा रक्षेन्नृपो राष्ट्रं हन्याच्च परिपन्थिनः ॥ ११० ॥

जिस प्रकार निकौनी (सोहनी) करनेवाला (किसान खेतमेंसे) घासको उखाड़ता है और धान्यको बचाता है, उसी प्रकार राजा राज्यकी रक्षा करे और शत्रुओंका नाश करे ॥ ११० ॥

यथा क्षेत्रे धान्यतृणादिकयोः सहोत्पन्नयोरपि धान्यानि लवनकर्ता रक्षति, तृणादिकं चोद्धरति, एवं नृपती राष्ट्रे दुष्टान्हन्यान्न स्वदुष्टांस्तदीयसहजान्भ्रातॄनपि, निर्दातृदृष्टान्तादवसीयते। शिष्टसहितं च राष्ट्रं रक्षेत् ॥ ११० ॥

मोहाद्राजा स्वराष्ट्रं यः कर्षयत्यनवेक्षया।
सोऽचिराद् भ्रश्यते राज्याज्जीविताच्च सबान्धवः ॥ १११ ॥

जो राजा मोहवश अपने राज्यकी देख रेख न करके धनग्रहण करता है (प्रजाकी रक्षा न करके भी अन्यायपूर्वक उनसे अनेक प्रकारका कर लेता है), वह शीघ्र ही राज्यसे भ्रष्ट हो जाता है और बान्धव-सहित जीवनसे भ्रष्ट हो जाता है (सपरिवार मर जाता है) ॥ १११ ॥

यो राजा अनवेक्षया दुष्टशिष्टाज्ञानेन सर्वानेव स्वराष्ट्रीयजनानशास्त्रीयधनग्रहणमारणादिकष्टेन पीडयति, स शीघ्रमेव जनपदवैराख्यप्रकृतिकोपाधर्मैः राजा राज्याज्जीविताच्च पुत्रादिसहितो भ्रश्यते ॥ ११ ॥

शरीरकर्षणात्प्राणाः क्षीयन्ते प्राणिनां यथा ।
तथा राज्ञामपि प्राणाः क्षीयन्ते राष्ट्रकर्षणात् ॥ ११२ ॥

जिस प्रकार शरीरधारियोंके प्राण (भोजनादिके अभावसे) शरीरके क्षीण होनेसे नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार राज्यके पीडित करनेसे राजओंके भी प्राण (प्रकृति-कोप आदिसे) नष्ट हो जाते हैं (अतः राजाका कर्तव्य है कि यथावत् राज्यकी रक्षा करता रहे) ॥ ११२ ॥

यथा प्राणभृतामाहारनिरोधादिना शरीरशोषणात्प्राणाः क्षीयन्ते, एवं राज्ञामपि राष्ट्रपीडनात्प्रकृतिकोपादिना प्राणा विनश्यन्ति । तस्मात्स्वशरीरवद्राज्ञा राष्ट्रं रक्षणीयमित्युक्तम् ॥ ११२ ॥

राष्ट्रस्य सङ्ग्रहे नित्यं विधानमिदमाचरेत् ।
सुसंगृहीतराष्ट्रो हि पार्थिवः सुखमेधते ॥ ११३ ॥

राज्यकी रक्षाके लिये राजा नित्य इन उपायोंको करे, क्योंकि अच्छी तरह राज्य-रक्षा करने वाला राजा सुखपूर्वक बढ़ता (उन्नति करता) है ॥ ११३ ॥

राष्ट्रस्य रक्षणे च वक्ष्यमाणमिममुपायमनुतिष्ठेत् । यस्मात्संरक्षितराष्ट्रो राजाऽनायासेन वर्धते ॥ ११३ ॥

द्वयोस्त्रयाणां पञ्चानां मध्ये गुल्ममधिष्ठितम् ।
तथा ग्रामशतानां च कुर्याद्राष्ट्रस्य संग्रहम् ॥ ११४ ॥

(राजा) राज्यकी रक्षाके लिये दो २, तीन २ या पांच २ गाँवोंके समूहका एक २ रक्षक नियुक्त करे और सौ गांवोंका एक प्रधान रक्षक नियुक्त करे ॥ ११४ ॥

द्वयोर्ग्रामयोर्मध्ये त्रयाणां वा ग्रामाणां पञ्चानां वा ग्रामशतानां गुल्मं रक्षितृपुरुषसमूहं सत्यप्रधानपुरुषाधिष्ठितं राष्ट्रस्य संग्रहं रक्षास्थानं कुर्यात् । अस्य लाघवगौरवापेक्षश्चोक्तविकल्पः ॥ ११४ ॥

ग्रामस्याधिपतिं कुर्याद्दशग्रामपतिं तथा ।
विंशतीशं शतेशं च सहस्रपतिमेव च ॥ ११५ ॥

(राजा) एक २, दस २, बीस २, सौ २ तथा हजार २ गाँवोंका एक २ रक्षक नियुक्त करे ॥ ११५ ॥

एकग्रामदशग्रामाद्यधिपतीन्कुर्यात् ॥ ११५ ॥

ग्रामदोषान्समुत्पन्नान्ग्रामिकः शनकैः स्वयम् ।
शंसेद्ग्रामदशेशाय दशेशो विंशतीशिने ॥ ११६ ॥
विंशतीशस्तु तत्सर्वं शतेशाय निवेदयेत् ।
शंसेद् ग्रामशतेशस्तु सहस्रपतये स्वयम् ॥ ११७ ॥

चोर आदिके उपद्रवको शान्त करनेमें असमर्थ एक गांवका रक्षक दस गांवोंके रक्षकको, दस गांवका रक्षक, बीस गांवोंके रक्षकको, बीस, गांवोंका रक्षक सौ गांवोंके रक्षकको और सौ गांवोंका रक्षक हजार गांवोंके रक्षकको स्वयं (बिना पूछे ही) उक्त चोर आदिके उपद्रवोंको शीघ्र सूचित करे ॥ ११६-११७ ॥

ग्रामाधिपतिश्चौरादिदोषान्ग्रामे संजातानात्मना प्रतिकर्तुमक्षमोऽनुत्कृष्टतया स्वयं दश-

ग्रामाधिपतये कथयेत्। एवं दशग्रामाधिपतयो विंशतिग्रामस्वाम्यादिभ्यः कथयेयुः। तथा च सति सम्यक् चौरादिकण्टकोद्धारो भवति ॥ ११६-११७ ॥

एकग्रामाधिकृतस्य वृत्तिमाह—

यानि राजप्रदेयानि प्रत्यहं ग्रामवासिभिः।
अन्नपानेन्धनादीनि ग्रामिकस्तान्यवाप्नुयात् ॥ ११८ ॥

ग्रामवासी प्रजा राजाके लिये जो अन्न, इन्धन आदि देते हों, उसे वह एक गांवका रक्षक लेवे ॥ ११८ ॥

यान्यन्नपानेन्धनादीनि ग्रामवासिभिः प्रत्यहं राज्ञे देयानि, न त्वब्दकरं "धान्यानामष्टमो भागः" (म. स्मृ. ७-१३०) इत्यादिकं, तानि ग्रामाधिपतिर्वृत्त्यर्थं गृह्णीयात् ॥ ११८ ॥

दशी कुलं तु भुञ्जीत विंशी पञ्च कुलानि च।
ग्रामं ग्रामशताध्यक्षः सहस्राधिपतिः पुरम् ॥ ११९ ॥

दस गांवोंका रक्षक एक 'कुल', बीस गांवोंका रक्षक पांच कुल, सौ गाँवोंका रक्षक एक मध्यम ग्राम और हजार गांवोंका रक्षक एक मध्यम पुर (कस्बा, अपनी जीविकाके लिये) राजासे प्राप्त करे ॥ ११९ ॥

अष्टागवं धर्महलं षड्गवं जीवितार्थिनाम्।
चतुर्गवं गृहस्थानां त्रिगवं ब्रह्मघातिनाम् ॥

इति हारीतस्मरणात्। षड्गवं मध्यमं हलमिति तथाविधहलद्वयेन यावती भूमिर्वाह्यते तत्कुलमिति वदति तद्दशग्रामाधिपतिर्वृत्त्यर्थं भुञ्जीत। एवं विंशत्यधिपतिः पञ्च कुलानि, शताधिपतिर्मध्यमं ग्रामम्, सहस्राधिपतिर्मध्यमं पुरम् ॥ ११९ ॥

तेषां ग्राम्याणि कार्याणि पृथक्कार्याणि चैव हि।
राज्ञोऽन्यः सचिवः स्निग्धस्तानि पश्येदतन्द्रितः ॥ १२० ॥

उन ग्राम-निवासियों ग्रामसम्बन्धी तथा अन्य (किये गये तथा नहीं किये गये) कार्योंको राजा का हितैषी दूसरा मंत्री आलसरहित होकर देखा करे ॥ १२० ॥

तेषां ग्रामनिवासिप्रभृतीनां परस्परविप्रतिपत्तौ यानि ग्रामभवानि कार्याणि, कृताकृतानि च पृथक्कार्याणि, तान्यन्यो राज्ञो हितकृत्तन्नियुक्तोऽनलसः कुर्वीत ॥ १२० ॥

नगरे नगरे चैवं कुर्यात्सर्वार्थचिन्तकम्।
उच्चैःस्थानं घोररूपं नक्षत्राणामिव ग्रहम् ॥ १२१ ॥

राजा प्रत्येक नगरमें (हाथी, घोड़ा, रथ एवं पैदल सैनिकोंके द्वारा दूसरोंमें) आतङ्क उत्पन्न करनेवाले, नक्षत्रोंमें शुक्र आदि ग्रहोंके समान तेजस्वी और सब विषयोंकी चिन्ता (देखभाल) करनेवाले एक उच्च पदाधिकारी को नियुक्त करे ॥ १२१ ॥

प्रतिनगरमेकैकमुच्चःस्थानं कुलादिना महान्तं प्रधानरूपं घोररूपं हस्त्यश्वादिसामग्र्या भयजनकं नक्षत्रादिमध्ये भार्गवादिग्रहानिव तेजस्विनं कार्यद्रष्टारं नगराधिपतिं कुर्यात् ॥१२१॥

स ताननुपरिक्रामेत्सर्वानेव सदा स्वयम्।
तेषां वृत्तं परिणयेत्सम्यग्राष्ट्रेषु तच्चरैः ॥ १२२ ॥

नगरमें नियुक्त वह उच्चपदाधिकारी उन (ग्रामाधिपति आदि ७।११५-११६) का सर्वदा स्वयं निरीक्षण करता रहे और दूतोंके द्वारा राज्योंमें उन ग्रामाधिपतियोंके कार्य वर्ताव आदि व्यवहारको मालूम करता रहे ॥ १२२ ॥

स नगराधिकृतस्तान्सर्वान्ग्रामाधिपत्यादीनसति प्रयोजने सर्वदा स्वयं स्वबलेनानुगच्छेत्। तेषां च नगराधिकृतपर्यन्तानां सर्वेषामेव यद्राष्ट्रे स्वचेष्टितं तत्तद्विषयनियुक्तैश्चरैः सम्यक् प्रजाः परिणयेदवगच्छेत् ॥ १२२ ॥

राज्ञो हि रक्षाधिकृताः परस्वादायिनः शठाः।
भृत्या भवन्ति प्रायेण तेभ्यो रक्षेदिमाः प्रजाः ॥ १२३ ॥

राजाके रक्षाधिकारी प्रायः दूसरोंका धन लेनेवाले (घूसखोर) हुआ करते हैं, उन शठोंसे (राजा) इन प्रजाओंकी रक्षा किया करे ॥ १२३ ॥

यस्माद्ये राज्ञो रक्षाधिकृतास्ते बाहुल्येन परस्वग्रहणशीला वञ्चकाश्च भवन्ति, तस्मात्तेभ्य इमाः स्वात्मीयाः प्रजा राजा रक्षेत् ॥ १२३ ॥

ये कार्यिकेभ्योऽर्थमेव गृह्णीयुः पापचेतसः।
तेषां सर्वस्वमादाय राजा कुर्यात्प्रवासनम् ॥ १२४ ॥

जो पापबुद्धि अधिकारी काम पड़नेवालोंसे (अनुचित रूपमें) धन अर्थात् घूस ले, राजा उनका सर्वस्व लेकर उन्हें राज्यसे बाहर निकाल दे ॥ १२४ ॥

ये रक्षाधिकृताः कार्यार्थिभ्य एव वाक्छलादिकमुद्भाव्य लोभादशास्त्रीयधनग्रहणं पापबुद्धयः कुर्वन्ति, तेषां सर्वस्वं राजा गृहीत्वा देशान्निःसारणं कुर्यात् ॥ १२४ ॥

राजा कर्मसु युक्तानां स्त्रीणां प्रेष्यजनस्य च।
प्रत्यहं कल्पयेद्वृत्तिं स्थानं कर्मानुरूपतः ॥ १२५ ॥

राजा काममें नियुक्त दास-दासियोंके लिये कार्यके अनुसार प्रतिदिनका वेतन एवं स्थान निश्चित कर दे ॥ १२५ ॥

राजोपयुक्तकर्मनियुक्तनां स्त्रीणां दास्यादीनां कर्मकरजनस्य चोत्कृष्टमध्यमापकृष्टस्थानयोग्यानुरूपेण प्रत्यहं कर्मानुरूपेण वृत्तिं कुर्यात् ॥ १२५ ॥

तामेव दर्शयति—

पणो देयोऽवकृष्टस्य षडुत्कृष्टस्य वेतनम्।
षाण्मासिकस्तथाच्छादो धान्यद्रोणस्तु मासिकः ॥ १२६ ॥

(राजा) साधारण कार्य (झाड़ू लगाना पानी भरना आदि) करनेवाले निकृष्ट दास या दासीके प्रतिदिन एक पण (एक पैसा दे० ८।१३६) ६ मासमें एक जोड़ा वस्त्र, प्रतिमास एक द्रोण (४ आढक = २ सेर) धान्य और उत्तम दास या दासी के लिये प्रतिदिन ६ पण (पैसा) वेतन दे ॥ १२६ ॥

अवकृष्टस्य गृहादिसंमार्जकोदकवाहादेः कर्मकरस्य वक्ष्यमाणलक्षणः पणो भृतिरूपः प्रत्यहं दातव्यः। षाण्मासिकश्चाच्छादो वस्त्रयुगं दातव्यम्।

"अष्टमुष्टिर्भवेत्किंचित्किंचिदष्टौ च पुष्कलम्।
पुष्कलानि तु चत्वारि आढकः परिकीर्तितः ॥

चतुराढको भवेद्द्रोण-'' इति गणनया धान्यद्रोणश्च प्रतिमासं देयः। उत्कृष्टस्य तु भृतिरूपाश्च षट् पणा देयाः। अनयैव कल्पनया षाण्मासिकानि षट् वस्त्रयुगानि देयानि। प्रतिमासं षाण्मास्या द्रोणा देयाः। अनयैवातिदिशा मध्यमस्य पणत्रयं भृतिरूपं दातव्यम्। षाण्मासिकं च वस्त्रयुगत्रयं मासिकं च धान्यं द्रोणत्रयं देयम्॥ १२६॥

क्रयविक्रयमध्वानं भक्तं च सपरिव्ययम्।
योगक्षेमं च संप्रेक्ष्य वणिजो दापयेत्करान्॥ १२७॥

(राजा) खरीद-बिक्री, मार्ग, भोजन, मार्गादिमें चौर आदि से रक्षाका व्यय, और लाभ को देख (सम्यक् प्रकारसे विचार) कर व्यापारीसे कर लेवे॥ १२७॥

कियता मूल्येन क्रीतमिदं वस्त्रम्, लवणादिद्रव्यं विक्रीयमाणं चात्र कियल्लभ्यते, कियद् दूराद् नीतम्, किमस्य वणिजो भक्तव्ययेन शाकसूपादिना परिव्ययेण लग्नम्, किमस्यारण्यादौ चौरादिभ्यो रक्षारूपेण क्षेमप्रतिविधानेन गतम्, कोऽस्येदानीं लाभयोग इत्येतदवेक्ष्य वणिजः करान्दापयेत्॥ १२७॥

यथा फलेन युज्येत राजा कर्ता च कर्मणाम्।
तथावेक्ष्य नृपो राष्ट्रे कल्पयेत्सततं करान्॥ १२८॥

जिस प्रकार राजा देख-भाल आदिके और व्यापारी व्यापार आदिके फलसे युक्त रहें (दोनोंको अपने-अपने उद्योग के अनुसार उचित फल मिले), वैसा देख (अच्छी तरह विचार) कर सर्वदा निश्चय कर राज्यमें कर लगावे॥ १२८॥

यथा राजाऽवेक्षणादिकर्मणः फलेन, यथा च वार्षिकवणिगादयः कृषिवाणिज्यादिकर्मणां फलेन संबध्यन्ते तथा निरूप्य राजा सर्वदा राष्ट्रे करान्गृह्णीयात्॥ १२८॥

अत्र दृष्टान्तमाह—

यथाल्पाल्पमदन्त्याद्यं वार्योकोवत्सषट्पदाः।
तथाल्पाल्पो ग्रहीतव्यो राष्ट्राद्राज्ञाब्दिकः करः॥ १२९॥

जिस प्रकार जोंक, बछड़ा और भ्रमर थोड़े-थोड़े अपने-अपने खाद्य (क्रमशः रक्त, दूध और मधु) को ग्रहण करता है; उसी प्रकार राजाको प्रजासे थोड़ा-थोड़ा वार्षिक कर ग्रहण करना चाहिये॥ १२९॥

यथा जलौकोवत्सभ्रमराः स्तोकस्तोकानि रक्तक्षीरमधून्यदन्ति, एवं राज्ञा मूलधनमनुच्छिन्दताल्पोऽल्पो राष्ट्रादाब्दिकः करो ग्राह्यः॥ १२९॥

तमाह—

पञ्चाशद्भाग आदेयो राज्ञा पशुहिरण्ययोः।
धान्यानामष्टमो भागः षष्ठो द्वादश एव वा॥ १३०॥

राजाको पशु तथा सुवर्णका कर (मूल धनसे अधिक) का पचासवां भाग और धान्यका छठा, आठवां या बारहवां भाग (भूमिकी श्रेष्ठता अर्थात् उपजाऊपन एवं परिश्रम आदिका विचारकर) ग्रहण करना चाहिये॥ १३०॥

मूलादधिकयोः पशुहिरण्ययोः पञ्चाशद्भागो राज्ञा ग्रहीतव्यः। एवं धान्यानां षष्ठोऽष्टमो द्वादशो वा भागो राज्ञा ग्राह्यः। भूम्युत्कर्षापकर्षापेक्षया कर्षणादिक्लेशलाघवगौरवापेक्षश्चायं बह्वल्पग्रहणविकल्पः॥ १३०॥

आददीताथ षड्भागं द्रुमांसमधुसर्पिषाम् ।
गन्धौषधिरसानां च पुष्पमूलफलस्य च ॥ १३१ ॥
पत्रशाकतृणानां च चर्मणां वैदलस्य च ।
मृन्मयानां च भाण्डानां सर्वस्याश्ममयस्य च ॥ १३२ ॥

वृक्ष, मांस, शहद, घी, गन्ध, ओषधि, रस (नमक आदि), फूल, मूल, फल, पत्ता, शाक, घास, चमड़ा, बांस तथा मिट्टीके बर्तन और पत्थर की बनी सब वस्तुओंका छठा भाग कर रूपमें ग्रहण करे ॥ १३१-१३२ ॥

द्रुशब्दोऽत्र वृक्षवाचकः। वृक्षादीनां सप्तदशानामश्ममयान्तानां षष्ठो भागो लाभाद् ग्रहीतव्यः ॥ १३१-१३२ ॥

म्रियमाणोऽप्याददीत न राजा श्रोत्रियात्करम् ।
न च क्षुधाऽस्य संसीदेच्छ्रोत्रियो विषये वसन् ॥ १३३ ॥

मरता हुआ (अतिनिर्धन) भी राजा श्रोत्रिय (वेदपाठी ब्राह्मण) से कर न ले, इस (राजा) के देशमें रहता हुआ श्रोत्रिय (जीविका न मिलनेसे) भूखसे पीड़ित न हो (ऐसा प्रबन्ध रखे) ॥ १३३ ॥

क्षीणधनोऽपि राजा श्रोत्रियब्राह्मणात्करं न गृह्णीयात्। न च तदीयदेशे वसञ्श्रोत्रियो बुभुक्षयाऽवसादं गच्छेत् ॥ १३३ ॥

यस्य राज्ञस्तु विषये श्रोत्रियः सीदति क्षुधा ।
तस्यापि तत्क्षुधा राष्ट्रमचिरेणैव सीदति ॥ १३४ ॥

जिस राजाके देशमें श्रोत्रिय भूखसे पीडित होता है, उस राजाका वह राज्य भी शीघ्र ही भूखसे पीडित होता है (राज्यमें अकाल पड़ता है) ॥ १३४ ॥

यस्य राज्ञो देशे श्रोत्रियः क्षुधावसन्नो भवति, तस्य राष्ट्रमपि दुर्भिक्षादिभिः क्षुधा शीघ्रमवसादं गच्छति ॥ १३४ ॥

श्रुतवृत्ते विदित्वाऽस्य वृत्तिं धर्म्यां प्रकल्पयेत् ।
संरक्षेत्सर्वतश्चैनं पिता पुत्रमिवौरसम् ॥ १३५ ॥

राजा इस (श्रोत्रिय) के शास्त्र (शास्त्र-ज्ञान) और आचरणका विचार कर धर्मयुक्त वृत्ति (जीविका) कल्पित करे और पिता जिस प्रकार अपने औरस पुत्रकी रक्षा करता है, उस प्रकार इस (श्रोत्रिय) की रक्षा करे ॥ १३५ ॥

शास्त्रज्ञानानुष्ठाने ज्ञात्वा अस्य तदनुरूपां धर्मादनपेतां जीविकानुपकल्पयेत्। चौरादिभ्यश्चैनमौरसं पुत्रमिव पिता, रक्षेत् ॥ १३५ ॥

यस्मात्—

संरक्ष्यमाणो राज्ञा यं कुरुते धर्ममन्वहम् ।
तेनायुर्वर्धते राज्ञो द्रविणं राष्ट्रमेव च ॥ १३६ ॥

राजा द्वारा सुरक्षित होता हुआ श्रोत्रिय प्रतिदिन जिस धर्मको करता है, उससे राजाकी आयु, धन और राज्यकी वृद्धि होती है ॥ १३६ ॥

स च श्रोत्रियो राज्ञा सम्यग्रक्ष्यमाणो यं धर्मं प्रत्यहं करोति, तेन राज्ञ आयुर्धनराष्ट्राणि वर्धन्ते ॥ १३६ ॥

यत्किञ्चिदपि वर्षस्य दापयेत्करसंज्ञितम्।
व्यवहारेण जीवन्तं राजा राष्ट्रे पृथग्जनम् ॥ १३७ ॥

राजा अपने देशमें व्यवहार (शाक आदि सामान्यतम वस्तुओंकी खरीद-बिक्री) से जीनेवाले साधारण श्रेणीके लोगोंसे कुछ (बहुत थोड़ा) वार्षिक कर ग्रहण करे ॥ १३७ ॥

राजा स्वदेशे शाकपर्णादिस्वल्पमूल्यवस्तुक्रयविक्रयादिना जीवन्तं निकृष्टजनं स्वल्पमपि कराख्यं वर्षेण दापयेत् ॥ १३७ ॥

कारुकाञ्छिल्पिनश्चैव शूद्रांश्चात्मोपजीविनः।
एकैकं कारयेत्कर्म मासि मासि महीपतिः ॥ १३८ ॥

कारीगर, बढ़ई–लोहार आदि, बोझ आदि ढोनेवाले (मजदूर आदि) से राजा प्रति महीनेमें एक दिन काम करवावे (इनसे दूसरा कोई कर न लेवें) ॥ १३८ ॥

कारुकान्सूपकारादीन् शिल्पिभ्य ईषदुत्कृष्टान्, शिल्पिनश्च लोहकारादीन्, शूद्रांश्च देहक्लेशोपजीविनो भारिकादीन् मासि मास्येकं दिनं कर्म कारयेत् ॥ १३८ ॥

नोच्छिन्द्यादात्मनो मूलं परेषां चातितृष्णया।
उच्छिन्दन्ह्यात्मनो मूलमात्मानं तांश्च पीडयेत् ॥ १३९ ॥

राजा (स्नेहादिसे) अपनी जड़को और अधिक लोभसे प्रजाकी जड़को नष्ट न करे, क्योंकि अपनी जड़को नष्ट करता हुआ अपनेको और प्रजाओंकी जड़को नष्ट करता हुआ (राजा) प्रजाओंको पीड़ित करता है ॥ १३९ ॥

प्रजास्नेहात्करशुल्कादेरग्रहणमात्मनो मूलच्छेदः, अतिलोभेन प्रचुरकरादिग्रहणं परेषां मूलोच्छेदः एतदुभयं न कुर्यात्। यस्माद् आत्मनो मूलमुच्छिद्य कोशक्षयादात्मानं पीडयेत्। पूर्वार्धात्परेषां चेत्यपि संबध्यते। परेषां मूलमुच्छिद्य तांश्च पीडयेत् ॥ १३९ ॥

तीक्ष्णश्चैव मृदुश्च स्यात्कार्यं वीक्ष्य महीपतिः।
तीक्ष्णश्चैव मृदुश्चैव राजा भवति संमतः ॥ १४० ॥

राजा कार्यको देखकर कठोर या मृदु (सरल, दयालु) होवे, (क्योंकि समयानुसार) कठोर और मृदु राजा सबका प्रिय होता है ॥ १४० ॥

कार्यविशेषमवगम्य क्वचित्कार्ये तीक्ष्णः, क्वचिन्मृदुश्च भवेन्न त्वैकरूपमालम्बेत, यस्मादुक्तरूपो राजा सर्वेषामभिमतो भवति ॥ १४० ॥

अमात्यमुख्यं धर्मज्ञं प्राज्ञं दान्तं कुलोद्गतम्।
स्थापयेदासने तस्मिन्खिन्नः कार्येक्षणे नृणाम् ॥ १४१ ॥

(राज-कार्यकी अधिकता आदिसे उसे देखनेमें) असमर्थ या थका हुआ राजा धर्मज्ञाता, विद्वान् , जितेन्द्रिय, और कुलीन प्रधान मन्त्रीको प्रजाओंके कार्यको देखनेमें नियुक्त करे ॥ १४१ ॥

स्वयं कार्यदर्शने खिन्नः श्रेष्ठामात्यं धर्मविदं प्राज्ञं जितेन्द्रियं कुलीनं तस्मिन्कार्यदर्शनस्थाने नियुञ्जीत ॥ १४१ ॥

एवं सर्वं विधायेदमितिकर्तव्यमात्मनः।
युक्तश्चैवाप्रमत्तश्च परिरक्षेदिमाः प्रजाः ॥ १४२ ॥

इस प्रकार अपना सम्पूर्ण कर्तव्य करके उद्योगयुक्त और सावधान रहता हुआ (राजा) इन प्रजाओंकी रक्षा करे ॥ १४२ ॥

एवमुक्तप्रकारेण सर्वमात्मनः कार्यजातं संपाद्योद्युक्तः प्रमादरहित आत्मीयाः प्रजा रक्षेत् ॥ १४२ ॥

विक्रोशन्त्यो यस्य राष्ट्राद्ध्रियन्ते दस्युभिः प्रजाः।
संपश्यतः सभृत्यस्य मृतः स न तु जीवति ॥ १४३ ॥

मंत्री सहित जिस राजाके देखते अर्थात् राज्य करते रहनेपर राज्यमें चोरों (डाकू आदि) से प्रजा अपहृत होती है, वह राजा मरा हुआ है, जीता नहीं है (क्योंकि प्रजारक्षणरूप जीवित राजाका कार्य वह नहीं करता, अतः मरा हुआ है) ॥ १४३ ॥

यस्य राज्ञोऽमात्यादिसहितस्य पश्यत एव राष्ट्रादाक्रोशन्त्यः प्रजास्तस्करादिभिरपि ह्रियन्ते स मृत एव, न तु जीवति । जीवनकार्याभावाज्जीवनमपि तस्य मरणमेवेत्यर्थः ॥१४३॥

तस्मात् "अप्रमत्तः प्रजा रक्षेत्" इति पूर्वोक्तशेषं तदेव द्रढयति—

क्षत्रियस्य परो धर्मः प्रजानामेव पालनम् ।
निर्दिष्टफलभोक्ता हि राजा धर्मेण युज्यते ॥ १४४ ॥

प्रजाओंका पालन ही क्षत्रियोंका श्रेष्ठ धर्म है, क्योंकि (प्रजापालन द्वारा) शास्त्रोक्त फलको भोगनेवाला राजा धर्मसे युक्त होता है ॥ १४४ ॥

धर्मान्तरेभ्यः श्रेष्ठं क्षत्रियस्य प्रजारक्षणमेव प्रकृष्टो धर्मः । यस्माद्यथोक्तलक्षणफलकरादिभोक्ता राजा धर्मेण संबध्यते ॥ १४४ ॥

उत्थाय पश्चिमे यामे कृतशौचः समाहितः ।
हुताग्निर्ब्राह्मणांश्चार्च्य प्रविशेत्स शुभां सभाम् ॥ १४५ ॥

(राजा) रात्रिके अन्तिम पहरमें उठकर शौच (शौच, दन्तधावन एवं स्नानादि नित्यकर्म) करके अग्निमें हवन और ब्राह्मणोंकी पूजा कर शुभ (वास्तुलक्षणसे युक्त) सभा (मंत्रणा-गृह) में प्रवेश करे ॥ १४५ ॥

स भूपो रात्रेः पश्चिमयाम उत्थाय कृतमूत्रपुरीषोत्सर्गादिशौचोऽनन्यमनाः कृताग्निहोत्रावसथ्यहोमो ब्राह्मणान्पूजयित्वा वास्तुलक्षणाद्युपेतां सभासमात्यादिदर्शनगृहं प्रविशेत् ॥ १४५ ॥

तत्र स्थितः प्रजाः सर्वाः प्रतिनन्द्य विसर्जयेत् ।
विसृज्य च प्रजाः सर्वा मन्त्रयेत्सह मन्त्रिभिः ॥ १४६ ॥

वहां पर (सभाभवनमें दर्शनार्थ) स्थित प्रजाओंको (यथायोग्य किसीको भाषणसे, किसीको प्रियदर्शनसे) संतुष्ट कर विसर्जित करे । सब प्रजाओंको विसर्जित (भेज) कर मन्त्रियोंके साथ मन्त्रणा (गुप्त-परामर्श) करे ॥ १४६ ॥

तस्यां सभायां स्थितो दर्शनार्थमागताः प्रजाः सर्वाः संभाषणदर्शनादिभिः प्रतिनन्द्य प्रस्थापयेत् । ताश्च प्रस्थाप्य मन्त्रिभिः सह संधिविग्रहादि चिन्तयेत् ॥ १४६ ॥

गिरिपृष्ठं समारुह्य प्रासादं वा रहोगतः ।
अरण्ये निःशलाके वा मन्त्रयेदविभावितः ॥ १४७ ॥

(राजा) पहाड़ पर चढ़कर, या एकान्त प्रासाद महलमें या निर्जनवन में दूसरेसे अज्ञात होते हुए (मंत्रीके साथ) मंत्रणा (पञ्चाङ्ग मन्त्रका विचार) करे ॥-१४७ ॥

पर्वतपृष्ठमारुह्य निर्जनवनगृहस्थितोऽरण्यदेशे वा विविक्ते मन्त्रभेदकारिभिरनुपलक्षितः। कर्मणामारम्भोपायः, पुरुषद्रव्यसंपत्, देशकालविभागः, विनिपातप्रतीकारः, कार्यसिद्धिरित्येवं पञ्चाङ्गं मन्त्रं चिन्तयेत् ॥ १४७ ॥

यस्य मन्त्रं न जानन्ति समागम्य पृथग्जनाः।
स कृत्स्नां पृथिवीं भुङ्क्ते कोशहीनोऽपि पार्थिवः ॥ १४८ ॥

जिस (राजा) के मन्त्रको दूसरे लोग आकर नहीं जानते हैं; कोशसे हीन भी वह राजा सम्पूर्ण पृथ्वीका भोग करता है ॥ १४८ ॥

यस्य राज्ञो मन्त्रिभ्यः पृथगन्ये जना मिलित्वाऽस्य मन्त्रं न जानन्ति, स क्षीणकोशोऽपि सर्वां पृथिवीं भुनक्ति ॥ १४८ ॥

जडमूकान्धवधिरांस्तैर्यग्योनान्वयोतिगान् ।
स्त्रीम्लेच्छव्याधितव्यङ्गान्मन्त्रकालेऽपसारयेत् ॥ १४९ ॥

मन्त्रके समय में (राजा) जड़, मूक (गूंगे), बहरे, तिर्यग् योनिमें उत्पन्न (सुग्गा—तोता, मैना आदि), अत्यन्त वृद्ध, स्त्री, म्लेच्छ, रोगी, व्यङ्ग (कम या अधिक अङ्गवालों) को हटा दे ॥ १४९ ॥

बुद्धिवाक्चक्षुःश्रोत्रविकलान् तिर्यग्योनिभवांश्च शुकसारिकादीन् अतिवृद्धस्त्रीम्लेच्छारोग्याङ्गहीनांश्च मन्त्रसमयेऽपसारयेत् ॥ १४९ ॥

यस्मात्—

भिन्दन्त्यवमता मन्त्रं तैर्यग्योनास्तथैव च।
स्त्रियाश्चैव विशेषेण तस्मात्तत्रादृतो भवेत् ॥ १५० ॥

क्योंकि अपमानित जड़, मूक और बहरे तथा तिर्यग्योनिमें उत्पन्न तोता मैना आदि और विशेष कर स्त्रियां (अस्थिर बुद्धि होनेके कारण) मन्त्रका भेदन (अन्यत्र प्रकाशन) कर देतीं हैं, इस कारण उसमें (उन्हें हटानेमें) यत्नयुक्त होवे ॥ १५० ॥

एते जडादयोऽपि प्राचीनदुष्कृतवशेन प्राप्तजडादिभावा अधार्मिकतयैवावमानिता मन्त्रभेदं कुर्वन्ति। तथा शुकादयोऽतिवृद्धाश्च स्त्रियश्च विशेषेणास्थिरबुद्धितया मन्त्रं भिन्दन्ति। तस्मात्तदपसारणे यत्नवान्स्यात् ॥ १५० ॥

मध्यंदिनेऽर्धरात्रे वा विश्रान्तो विगतक्लमः।
चिन्तयेद्धर्मकामार्थान्सार्धं तैरेक एव वा ॥ १५१ ॥

मध्याह्नमें या आधीरातको मानसिक खेद तथा शारीरिक खिन्नतासे हीन होकर (राजा) उन (मंत्रियों) के साथमें या अकेला ही धर्म, अर्थ और काम का चिन्तन करे ॥ १५१ ॥

दिनमध्ये रात्रिमध्ये वा विगतचित्तखेदः शरीरक्लेशरहितश्च मन्त्रिभिः सह एकाकी वा धर्मार्थकामाननुष्ठातुं चिन्तयेत् ॥ १५१ ॥

परस्परविरुद्धानां तेषां च समुपार्जनम्।
कन्यानां संप्रदानं च कुमाराणां च रक्षणम् ॥ १५२ ॥

प्रायशः परस्परविरुद्ध धर्म, अर्थ और काममेंसे विरोधको बचाता हुआ राजा उनकी प्राप्तिके उपायका (अपने धर्मकी वृद्धिके लिये) कन्याके दानका और अपने पुत्रोंकी राजनीति, विनयी बनाना आदिकी शिक्षा का (चिन्तन करे) ॥ १५२ ॥

तेषां च धर्मार्थकामानां प्रायिकविरोधवतां विरोधपरिहारेणार्जनोपायं चिन्तयेत्। दुहितृणां च दानं स्वकार्यसिद्ध्यर्थं निरूपयेत्। कुमाराणां च पुत्राणां विनयाधाननीतिशिक्षार्थं रक्षणं चिन्तयेत् ॥ १५२ ॥

दूतसंप्रेषणं चैव कार्यशेषं तथैव च।
अन्तःपुरप्रचारं च प्रणिधीनां च चेष्टितम् ॥ १५३ ॥

दूत भेजनेका बचे हुए कार्यका, अन्तःपुर (रनिवास) के प्रचारका और गुप्तचरोंकी चेष्टाका (चिन्तन करे) ॥ १५३ ॥

दूतानां संगुप्तार्थलेखहारित्वादिना परराष्ट्रप्रस्थापनं चिन्तयेत्। तथा प्रारब्धकार्यशेषं समापयितुं चिन्तयेत, स्त्रीणां चातिविषमचेष्टितत्वात्। तथा हि—

शस्त्रेण वेणीविनिगूहितेन विदूरथं वै महिषी जघान।
विषप्रदिग्धेन च नूपुरेण देवी विरक्ता किल काशिराजम् ॥

इत्याद्यवगम्यात्मरक्षार्थं चान्तःपुरस्त्रीणां चेष्टितं सखीदास्यादिना निरूपयेत्। चराणां च प्रतिराजादिषु नियुक्तानां चरान्तरैश्चेष्टितमवधारयेत् ॥ १५३ ॥

कृत्स्नं चाष्टविधं कर्म पञ्चवर्गं च तत्त्वतः।
अनुरागापरागौ च प्रचारं मण्डलस्य च ॥ १५४ ॥
[वने वनेचराः कार्याः श्रमणाटविकादयः।
परप्रवृत्तिज्ञानार्थं शीघ्राचारपरम्पराः ॥ ११ ॥
परस्य चैते बोद्धव्यास्तादृशैरेव तादृशाः।
चारसंचारिणः संस्थाः शठाश्चागूढसंज्ञिताः ॥ १२ ॥]

(राजा) आठ प्रकारके सब कर्म, पञ्चवर्ग, अनुराग और राजमण्डल के प्रचारका वास्तविक रूपसे—(चिन्तन करे) ॥ १५४ ॥

[राजा वनमें वनेचर, भिक्षुक या फटे पुराने कपड़े पहनने वाले एवं शीघ्र कार्य करनेवाले जङ्गली मनुष्योंको शत्रुके कार्यको मालूम करने के लिये नियुक्त करे ॥ ११ ॥]

वैसे ही गुप्तचरोंके द्वारा शत्रुओंके वैसे गुप्तचरोंसे व्याप्त स्थानों तथा नाम छिपाकर कार्य करनेवाले धूर्त गुप्तचरोंको मालूम करे] ॥ १२ ॥

अष्टविधं कर्म समग्रं चिन्तयेत्। तच्चोशनसोक्तम्—

आदाने च विसर्गे च तथा प्रैषनिषेधयोः।
पञ्चमे चार्थवचने व्यवहारस्य चेक्षणे ॥
दण्डशुद्ध्योः सदा युक्तस्तेनाष्टगतिको नृपः।
अष्टकर्मा दिवं याति राजा शक्राभिपूजितः ॥

तत्र आदानं करादीनां, विसर्गो भृत्यादिभ्यो धनदानं, प्रैषोऽमात्यादीनां दृष्टादृष्टानुष्ठानेषु, निषेधो दृष्टादृष्टविरुद्धक्रियासु, अर्थवचनं कार्यसंदेहे राजाज्ञयैव तत्र नियमात्, व्यवहारस्येक्षणं प्रजानामृणादिविप्रतिपत्तौ, दण्डः पराजितानां शास्त्रोक्तधनग्रहणम्, शुद्धिः

पापे कर्मणि जाते तत्र प्रायश्चित्तसंपादनम्। मेधातिथिस्तु "अकृतारम्भ कृतानुष्ठानमनुष्ठितविशेषणं कर्मफलसंग्रहस्तथा सामदानदण्डभेदा एतदष्टविधं कर्म। अथवा वणिक्पथः, उदकसेतुबन्धनं, दुर्गकरणं, कृतस्य संस्कारनिर्णयः, हस्तिबन्धनं, खनिखननं, शून्यनिवेशनं, दारुवनच्छेदनं च" इत्याह । तथा कापटिकोदास्थितगृहपतिवैदेहिकतापसव्यञ्जनात्मकं पञ्चविधं चारवर्गं पञ्चवर्गशब्दवाच्यं तत्त्वतश्चिन्तयेत्। तत्र परममर्मज्ञः प्रगल्भच्छात्रः कपटव्यवहारित्वात्कापटिकस्तं वृत्त्यर्थिनमर्थमानाभ्यामुपगृह्य रहसि राजा ब्रूयात्, यस्य दुर्वृत्तं पश्यसि तत्तदानीमेव मयि वक्तव्यमिति। प्रव्रज्यारूढपतित उदास्थितः तं लोकेषु विदितदोषं प्रज्ञाशौचयुक्तं वृत्त्यर्थिनं कृत्वा रहसि राजा पूर्ववद् ब्रयात्। बहूत्पत्तिकमठे स्थापयेत्प्रचुरसस्योत्पत्तिकं भूम्यन्तरं च तद्वृत्त्यर्थमुपकल्पयेत। स चान्येषामपि प्रव्रजितानां राजा चारकर्मकारिणां ग्रासाच्छादनादिकं दद्यात्। कर्षकः क्षीणवृत्तिः प्रज्ञाशौचयुक्तो गृहपतिव्यञ्जनस्तमपि पूर्ववदुक्त्वा स्वभूमौ कृषिकर्म कारयेत्। मुण्डो जटिलो वा वृत्तिकामस्तापसव्यञ्जनः सोऽपि क्वचिदाश्रमे वसन्बहुमुण्डजटिलान्तरे कपटशिष्यगणवृतो गुप्तराजोपकल्पितवृत्तिस्तापस्यं कुर्यात्। मासद्विमासान्तरितं प्रकाशं बदरादिमुष्टिमश्नीयात्, रहसि च राजोपकल्पितमाहारं कल्पयेत् । शिष्याश्चास्यातीतानागतज्ञानादिकं ख्यापयेयुः। ते च बहुलोकवेष्टनमासाद्य सर्वेषां विश्वसनीयत्वात्सर्वकार्यमकार्यं च पृच्छन्ति, अन्यस्य कुक्रियादिकं कथयन्त्येवंरूपं पञ्चवर्गं यथावच्चिन्तयेत्। एवं पञ्चवर्गं प्रकल्प्य तेनैव पञ्चवर्गद्वारेण प्रतिराजभ्यात्मीयानां चामात्यादीनां चानुरागविरागौ ज्ञात्वा तदनुरूपं चिन्तयेत्। वक्ष्यमाणस्य राजमण्डलस्य प्रचारं कः सन्ध्यार्थी, को वा विग्रहार्थीत्यादिकं चिन्तयेत्। तं च ज्ञात्वा तदनुगुणं चिन्तयेत् ॥ १५४ ॥

मध्यमस्य प्रचारं च विजिगीषोश्च चेष्टितम्।
उदासीनप्रचारं च शत्रोश्चैव प्रयत्नतः ॥ १५५ ॥

राजा मध्यम, उदासीन और शत्रुके प्रचार तथा विजिगीषुकी चेष्टाका चिन्तन (परिज्ञान एवं प्रतिकार) करे ॥ १५५ ॥

अरिविजिगीषोर्यो भूम्यन्तरः संहतयोरनुग्रहसमर्थो निग्रहे चासंहतयोः समर्थः स मध्यमस्य प्रचारं चिन्तयेत्। तथा प्रज्ञोत्साहगुणप्रकृतिसमर्थो विजिगीषुस्तस्य चेष्टितं चिन्तयेत्। तथा विजिगीषुमध्यमानां संहतानामनुग्रहे समर्थो निग्रहे चासंहतानां समर्थ उदासीनस्तस्य प्रचारं चिन्तयेत्। शत्रोश्च त्रिविधस्यापि सहजस्याकृत्रिमस्य भूम्यन्तरस्य च पूर्वापेक्षया प्रयत्नतः प्रचारं चिन्तयेत् ॥ १५५ ॥

एताः प्रकृतयो मूलं मण्डलस्य समासतः।
अष्टौ चान्याः समाख्याता द्वादशैव तु ताः स्मृताः ॥ १५६ ॥

राजमण्डलकी ये चार (मध्यम, विजिगीषु, उदासीन और शत्रु) मूल प्रकृतियां हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर राजमण्डलकी बारह प्रकृतियां हुई ॥ १५६ ॥

एता मध्यमाद्याश्चतस्रः प्रकृतयः संक्षेपेण मण्डलमूलं अपरासामभिधास्यमानप्रकृतीनाममात्यादीनां मूलमित्युच्यते । अन्याश्चाष्टौ समाख्याताः। तद्यथा—अग्रतोऽरिभूमीनां मित्रम्, अरिमित्रं, मित्रमित्रम्, अरिमित्रमित्रं चेत्येवं चतस्रः प्रकृतयो भवन्ति। पश्चाच्च पार्ष्णिग्राहः, आक्रन्दः पार्ष्णिग्राहासारः, आक्रन्दासार इति चतस्रः, एवमष्टौ प्रकृतयो भवन्ति। पूर्वोक्ताभिश्च मध्यमारिविजिगीषूदासीनशत्रुभिः मूलप्रकृतिभिः सह द्वादशैताः प्रकृतयः स्मृताः ॥ १५६ ॥

अमात्यराष्ट्रदुर्गार्थदण्डाख्याः पञ्च चापराः ।
प्रत्येकं कथिता ह्येताः संक्षेपेण द्विसप्ततिः ॥ १५७ ॥

राजमण्डलकी पूर्वोक्त (७।१५६) १२ प्रकृतियोंमें से प्रत्येक की—१—अमात्य (प्रधान मन्त्री), २—राष्ट्र, ३—दुर्ग (किला), ४—अर्थ (धन—कोष) और ५—दण्ड—ये ५ द्रव्य-प्रकृतियां हैं (अतः १२×५=६० द्रव्यप्रकृतियां होती हैं) तथा पूर्वोक्त (६।१५६) १२ प्रकृतियों को सम्मिलित कर (६०+१२=७२) राजमण्डलकी कुल ७२ प्रकृतियां मुनियोंने कही हैं ॥ १५७ ॥

आसां मूलप्रकृतीनां चतसृणामष्टानां शाखाप्रकृतीनामुक्तानामेकैकस्याः प्रकृतेरमात्य-देशदुर्गकोशदण्डाख्याः पञ्च द्रव्यकृतयो भवन्ति । एताश्च पञ्च द्वादशानां प्रत्येकं भवन्त्यो द्वादशगुणजाताः षष्टिरेव द्रव्यप्रकृतयो भवन्ति । तथा मूलप्रकृतिभिश्चतसृभिः शाखाप्रकृति-मिश्चाष्टाभिः सह संक्षेपतो द्विसप्ततिप्रकृतयो मुनिभिः कथिताः ॥ १५७ ॥

अनन्तरमरिं विद्यादरिसेविनमेव च ।
अरेरनन्तरं मित्रमुदासीनं तयोः परम् ॥ १५८ ॥
[विप्रकृष्टेऽध्वनो यत्र उदासीनो बलान्वितः ।
स खिलो मण्डलार्थस्तु यस्मिञ्ज्ञेयः स मध्यमः ॥ १३ ॥]

विजिगीषु (अपने राज्यके पार्श्ववर्ती) तथा शत्रुकी सेवा करनेवाला राजा 'अरि', अरिके बादमें रहनेवाला 'मित्र' और उन दोनोंसे भिन्न राजा 'उदासीन' होता है ॥ १५८ ॥

[जिस दूर मार्गमें सेनासहित उदासीन राजा हो, वह खिल मण्डलार्थ जिसमें हो उसे मध्यम जानना चाहिये ॥ १३ ॥]

विजिगीषोर्नृपस्यानन्तरितं चतुर्दिशमप्यरिप्रकृतिं विजानीयात् । तथा तत्सेविनमप्य-रिमेव विद्यात् । अरेरनन्तरं विजिगीषोर्नृपस्यैकान्तरं मित्रप्रकृतिं विद्यात् । तयोश्चारिमित्र-योः परं विजिगीषोरुदासीनप्रकृतिं विद्यात् । आसामेव प्रकृतीनामग्रपश्चाद्भावभेदेन व्यपदेश-भेदः । अत्राग्रवर्तिनोऽरिव्यपदेश एव । पश्चाद्वर्तिनस्त्वरित्वेऽपि पार्ष्णिग्राहव्यपदेशः ॥१५८॥

तान्सर्वानभिसंदध्यात्सामादिभिरुपक्रमैः ।
व्यस्तैश्चैव समस्तैश्च पौरुषेण नयेन च ॥ १५९ ॥

राजा अलग-अलग या मिले हुए सामादि (साम, दान, भेद और दण्ड) उपायोंसे, पुरुषार्थ से और नीतिसे उन सबको अपने वशमें करे ॥ १५९ ॥

तान्सर्वान्नृपतीन्सामदानभेददण्डैरुपायैर्यथासंभवं व्यस्तैः समस्तैर्वशीकुर्यात् । अथवा पौरुषेण दण्डेनैव केवलेन नयेन साम्नैव वा केवलेनात्मवशान्कुर्यात् । तथा चोक्तम्—

सामदण्डौ प्रशंसन्ति नित्यं राष्ट्राभिवृद्धये ॥ १५९ ॥

संधिं च विग्रहं चैव यानमासनमेव च ।
द्वैधीभावं संश्रयं च षड्गुणांश्चिन्तयेत्सदा ॥ १६० ॥

सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और संश्रय—इन छः गुणोंका सर्वदा विचार करे ॥१६०॥

तत्रोभयानुग्रहार्थं हस्त्यश्वरथहिरण्यादिनिबन्धनेनावाभ्यामन्यस्योपकर्त्तव्यमिति नियमबन्धः संधिः, वैरं विग्रहाचरणाद्याधिक्येन, यानं शत्रुं प्रति गमनम् , उपेक्षणं आसनं स्वा-

र्थंसिद्धये बलस्य द्विधाकरणं द्वैधीभावः, शत्रुपीडितस्य प्रबलतरराजान्तराश्रयणं संश्रयः, एतान्गुणानुपकारकान्सर्वदा चिन्तयेत्। यद्गुणाश्रयणे सत्यात्मन उपचयः, परस्यापचयस्तं गुणमाश्रयेत ॥ १६० ॥

आसनं चैव यानं च संधिं विग्रहमेव च।
कार्यं वीक्ष्य प्रयुञ्जीत द्वैधं संश्रयमेव च ॥ १६१ ॥

राजा अपनी हानि एवं लाभको विचारकर आसन, यान, सन्धि, विग्रह तथा द्वैध एवं संश्रय करे ॥ १६१ ॥

संध्यादिगुणानां नैरपेक्ष्येणानुष्ठानमनन्तरमुक्तं, तदुचितानुष्ठानार्थोऽयमारम्भः। आत्मसमृद्धिपरहान्यादिकं कार्यं वीक्ष्य संधायासनं विगृह्य वा यानं द्वैधीभावसंश्रयौ च केनचित्संधिं केनचिद्विग्रहमित्यादिकमनुतिष्ठेत् ॥ १६१ ॥

संधिं तु द्विविधं विद्याद्राजा विग्रहमेव च।
उभे यानासने चैव द्विविधः संश्रयः स्मृतः ॥ १६२ ॥

राजा सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय (तथा द्वैध) इनमें प्रत्येकको दो प्रकारका जाने। (उनके प्रकार आगे कह रहे हैं) ॥ १६२ ॥

संध्यादीन्षडेव गुणान्द्विप्रकाराञ्जानीयादित्युत्तरविवक्षार्थम् ॥ १६२ ॥

समानयानकर्मा च विपरीतस्तथैव च।
तदा त्वायतिसंयुक्तः संधिर्ज्ञेयो द्विलक्षणः ॥ १६३ ॥

सन्धिके दो भेद है - (१) समानकर्मा सन्धि और असमानकर्मा सन्धि। तात्कालिक या भविष्यके लाभकी इच्छासे किसी दूसरे राजासे मिलकर यान (शत्रुपर चढ़ाई) करना 'समानधर्मा' नामक सन्धि है, तथा (२) तात्कालिक या भविष्यमें लाभकी इच्छासे किसी राजासे 'आप इधर जाइये, मैं इधर जाता हूँ' ऐसा कहकर पृथक्-पृथक् यान (शत्रुपर चढ़ाई) करना 'असमानधर्मा' नामक सन्धि है ॥ १६३ ॥

तात्कालिकफललाभार्थमुत्तरकालीनफललाभार्थं वा यत्र राजान्तरेण सहान्यं प्रति यानादि कर्म क्रियते स समानयानकर्मा संधिः। यः पुनस्त्वमत्र याहि अहमत्र यास्यामीति सांप्रतिकोत्तरकालीनफलार्थंतथैव क्रियते सोऽसमानयानकर्मेत्येवं द्विप्रकारः संधिर्ज्ञातव्यः ॥ १६३ ॥

स्वयंकृतश्च कार्यार्थमकाले काल एव वा।
मित्रस्य चैवापकृते द्विविधो विग्रहः स्मृतः ॥ १६४ ॥

विग्रहके दो भेद हैं—(१) शत्रुपर विजय पानेके लिये शत्रुव्यसन (मंत्री या सेनापति आदिसे विरोध) मालूम कर समय (७।१८० में कथित अगहन मास आदि) के अलावे असमयमें भी अथवा समय (अगहन मास आदि) में स्वयं किया गया विग्रह प्रथम भेद है तथा (२) दूसरे किसी राजाके द्वारा अपने मित्रपर आक्रमण या उसकी किसी प्रकार हानि पहुँचानेपर मित्रकी रक्षाके लिये किया गया विग्रह द्वितीय भेद है ॥ १६४ ॥

शत्रुजयरूपप्रयोजनार्थं शत्रोर्व्यसनादिकमाकलय्य वक्ष्यमाणमार्गशीर्षादिकालादन्यदा यथोक्तकाल एव वा स्वयंकृत इत्येको विग्रहः। अपकृतमपकारः, मित्रस्यापकारे राजान्तरेण कृते मित्ररक्षणार्थमपरो विग्रह इत्येवं द्विविधो विग्रहः। गोविन्दराजेन तु 'मित्रेण चैवापकृते'

इति पठितं, व्याख्यातं च—यः परस्य शत्रुः स विजिगीषोर्मित्रं तेनापकारे क्रियमाणे व्यसनिनि शत्राविति ।

तस्माल्लिखितपाठार्थौ वृद्धेर्गोविन्दराजतः ।
[1]मेधातिथिप्रभृतिभिर्लिखितौ स्वीकृतौ मया ॥ १६४ ॥

एकाकिनश्चात्ययिके कार्ये प्राप्ते यदृच्छया ।
संहतस्य च मित्रेण द्विविधं यानमुच्यते ॥ १६५ ॥

यान के दो भेद होते हैं—शत्रुके आपत्तिमें फंस जानेपर अकस्मात् (एकाएक) समर्थ राजाका आक्रमण करना प्रथम 'यान' है तथा स्वयं समर्थ न होनेपर मित्रके साथ आक्रमण करना द्वितीय 'यान' है ॥ १६५ ॥

आत्ययिकं कार्यं शत्रोर्व्यसनादिकं तस्मिन्नकस्माज्जाते शक्तस्यैकाकिनो यानमशक्तस्य मित्रसहितस्येत्येवं यानं द्विविधमभिधीयते ॥ १६५ ॥

क्षीणस्य चैव क्रमशो दैवात्पूर्वकृतेन वा ।
मित्रस्य चानुरोधेन द्विविधं स्मृतमासनम् ॥ १६६ ॥

आसनके दो भेद हैं—भाग्यवश या पूर्वजन्मके कार्यवश सेना, कोष आदिके क्षीण हो जानेपर या समृद्ध रहनेपर भी राजाका घेरे पड़े रहना प्रथम 'आसन' है तथा मित्रके अनुरोधसे उसकी रक्षाके लिये शत्रुका घेरे पड़े रहना द्वितीय 'आसन' है ॥ १६६ ॥

प्राग्जन्मार्जितेन दुष्कृतेन ऐहिकेन वा पूर्वकृतेन क्रमशः क्षीणहस्त्यश्वकोशादिकस्य समृद्धस्यापि वा, मित्रानुरोधेन तत्कार्यरक्षार्थमित्येवं द्विविधमासनं मुनिभिः स्मृतम् ॥ १६६ ॥

बलस्य स्वामिनश्चैव स्थितिः कार्यार्थसिद्धये ।
द्विविधं कीर्त्यते द्वैधं षाड्गुण्यगुणवेदिभिः ॥ १६७ ॥

षाड्गुण्य (७।१६० में कथित सन्धि आदिके उपयोग अर्थात् लाभ) को जाननेवाले द्वैधके दो भेद कहते हैं—अपने कार्यकी सिद्धिके लिये हाथी-घोड़ा आदि चतुरङ्गिणी सेनाका एक भाग शत्रुसे बचनेके लिये सेनापतिके अधीन करना प्रथम 'द्वैध' तथा उक्त सेनाका शेष भाग किला आदिमें राजाके अधीन रखना द्वितीय 'द्वैध' है ॥ १६७ ॥

साध्यस्वप्रयोजनसिद्ध्यर्थं बलस्य हस्त्यश्वादेः सेनाधिपत्याधिष्ठितस्य एकत्र शत्रुनृपोपद्रववारणार्थमवस्थानम्, अन्यत्र दुर्गदेशे राज्ञः कतिचिद् बलाधिष्ठितस्यावस्थानमेवं संध्यादिगुणषट्कोपकारज्ञैः द्विविधं द्वैधं कीर्त्यते । १६७ ॥

अर्थसंपादनार्थं च पीड्यमानस्य शत्रुभिः ।
साधुषु व्यपदेशार्थं द्विविधः संश्रयः स्मृतः ॥ १६८ ॥

---

१. अकाल एतद्विपरीतः, तत्रापि विग्रहः मित्रस्यापकृते यदि शत्रुणा तदीयं मित्रमपकृतं तदा तद्विचिन्त्याकालेऽपि विग्रहः कर्तव्यः । यद्यपि स्वयमपि शत्रोरनन्तरं मित्रं भवति तथापि तेन मित्रेण सहायेन शक्यः शत्रुरपबाधितुम् । शत्रोरनन्तरं मित्रं भवति शत्रोस्तु शत्रुर्विषयानन्तरत्वम् । पाठान्तरं-मित्रेण चैवापकृते । तेन यद्यसौ बाधितो भवति तदाऽकालेऽपि विग्रहः कार्यः । एतद्विग्रहस्य द्वैविध्यं स्वकार्यार्थं मित्रकार्यार्थं च । अथवा आत्मनोऽभ्युच्छ्रयादेकः प्रकारः, मित्रेणापकृते व्यसनिनि तत्रैव द्वितीयः ।

संश्रय दो प्रकारका है—शत्रुसे पीडित होते हुए आत्मरक्षार्थ किसी बलवान् राजाका आश्रय लेना प्रथम 'संश्रय' तथा भविष्यमें शत्रुसे पीडित होनेकी आशङ्कासे आत्मरक्षार्थ किसी बलवान् राजाका आश्रय लेना द्वितीय 'संश्रय' है ॥ १६८ ॥

शत्रुभिः पीड्यमानस्य शत्रुपीडानिवृत्त्याख्यप्रयोजनसिद्ध्यर्थम्, असत्यामपि वा तत्काले पीडायां भाविशत्रुपीडनशङ्कया अमुकमयं महाबलं नृपतिमाश्रित इति सर्वत्र व्यपदेशोत्पादनार्थं बलवन्नृपाश्रयणमेवं द्विविधः संश्रयः स्मृतः ॥ १६९ ॥

यदावगच्छेदायत्यामाधिक्यं ध्रुवमात्मनः ।
तदात्वे चाल्पिकां पीडां तदा संधिं समाश्रयेत् ॥ १६९ ॥

जब राजा भविष्यमें अपनी (सेना आदिकी) निश्चितरूपसे अधिकता तथा वर्तमान सामान्य हानि देखे तो शत्रुसे सन्धि (मेल, सुलह) कर ले ॥ १६९ ॥

यदा युद्धोत्तरकाले निश्चितमात्मन आधिक्यं जानीयात्तदात्वे तत्कालेऽल्पधनाद्युपक्षयः तदा स्वल्पमङ्गीकृत्यापि संधिमाश्रयेत् ॥ १६९ ॥

यदा प्रहृष्टा मन्येत सर्वास्तु प्रकृतीर्भृशम् ।
अत्युच्छ्रितं तथाऽऽत्मानं तदा कुर्वीत विग्रहम् ॥ १७० ॥

जब राजा सब प्रकृतियों (७।१५६-१५७) को (दान-मान आदिसे) अत्यन्त सन्तुष्ट तथा अपनी सेनाको बलशालिनी समझे तो शत्रुको लक्ष्य कर अभियान (युद्ध के लिये यात्रा) कर दे ॥

यदाऽमात्यादिकाः सर्वाः प्रकृतीर्दानसंमानाद्यैरतीव तुष्टा मन्येत, आत्मानं च हस्त्यश्वकोशादिशक्तित्रयेणोपचितं तदा विग्रहमाश्रयेत् ॥ १७० ॥

यदा मन्येत भावेन हृष्टं पुष्टं बलं स्वकम् ।
परस्य विपरीतं च तदा यायाद्रिपुं प्रति ॥ १७१ ॥

जब राजा अपनी सेना आदिको हृष्ट-पुष्ट (बलवती) तथा शत्रुकी सेना आदिको इसके विपरीत (दुर्बल) समझे, तब उस पर चढ़ाई कर दे ॥ १७१ ॥

यदाऽऽत्मीयममात्यादिसैन्यं हर्षयुक्तं धनादिना पुष्टं तत्त्वतो जानीयात, शत्रोश्चामात्यादिबलं विपरीतं तदा तं लक्षीकृत्य यायात् ॥ १७१ ॥

यदा तु स्यात्परिक्षीणो वाहनेन बलेन च ।
तदासीत प्रयत्नेन शनकैः सांत्वयन्नरीन् ॥ १७२ ॥

जब राजा हाथी आदि वाहनों (सवारियों) से तथा अमात्य आदि शक्तियोंसे अपनेको अत्यन्त क्षीण (दुर्बल) समझे तब यत्नपूर्वक शत्रुको शान्त करता हुआ चुप हो कर बैठ जावे ॥ १७२ ॥

यदा पुनर्वाहनेन हस्त्यश्वादिना बलेन चामात्यादिविपर्ययादिपरिक्षीणो भवेत्तदा शनैः शनैः सामोपदाप्रदानादिना शत्रून्प्रसान्त्वयन्प्रयत्नेनासनमाश्रयेत् ॥ १७२ ॥

मन्येतारिं यदा राजा सर्वथा बलवत्तरम् ।
तदा द्विधा बलं कृत्वा साधयेत्कार्यमात्मनः ॥ १७३ ॥

जब राजा शत्रुको सब प्रकार (अपनेसे) बलवान् समझे तब अपनी सेना को दो भागोंमें विभक्त कर (एक भागको शत्रुको रोकनेके लिये सेनापतिके अधीन कर) तथा दूसरे भागको आत्मरक्षार्थ

अपने अधीन (किला आदि सुरक्षित स्थानमें रखकर) अपना कार्य (मित्र आदि सहायक साधनों का संग्रह) करे ॥ १७३ ॥

यदा राजा सर्वप्रकारेण बलीयांसमशक्यसंधानं च शत्रुं बुध्येत्, तदा कतिचिद् बलसहितः स्वयं दुर्गमाश्रयेत् । बलैकदेशेन च शत्रुविरोधमाचरेत् । एवं द्विधा बलं कृत्वा मित्रसंग्रहादिकं स्वकार्यं साधयेत् ॥ १७३ ॥

यदा परबलानां तु गमनीयतमो भवेत् ।
तदा तु संश्रयेत्क्षिप्रं धार्मिकं बलिनं नृपम् ॥ १७४ ॥

जब राजा (अमात्यादिके दोषसे पूर्व श्लोकानुसार सेनाको दो भागोंमें विभक्त कर आत्मरक्षाका उपाय करने पर भी) शत्रु द्वारा अपनेको पराजित होने योग्य समझे, तब शीघ्र ही बलवान् (अग्रिम श्लोकोक्त गुणयुक्त) राजाका आश्रय करे ॥ १७४ ॥

यदा तु सैन्यानाममात्यादिप्रकृतिदोषादिनाऽतिशयेन ग्राह्यो भवति, बलं द्वैधं विधाय दुर्गाश्रयणेनापि नात्मरक्षाक्षमस्तदा शीघ्रमेव धार्मिकं बलवन्तं च राजानमाश्रयेत् ॥१७४॥

कीदृशं तं बलवन्तमित्याह—

निग्रहं प्रकृतीनां च कुर्याद्योऽरिबलस्य च ।
उपसेवेत तं नित्यं सर्वयत्नैर्गुरुं यथा ॥ १७५ ॥

जो राजा (बिगड़ी हुई अमात्य आदि ७।१५६-१५७) प्रकृतियों तथा शत्रुकी सेनाका निग्रह करे (दण्डित करे), उस राजाकी सेवा (दुर्बल राजा) करे ॥ १७५ ॥

यासां दोषेणासौ गमनीयतमो जातस्तासां प्रकृतीनां, यस्माच्च शत्रुबलादस्य भयमुत्पन्नं तयोर्द्वयोरपि यः संश्रितो निग्रहक्षमस्तं नृपं सर्वयत्नैर्गुरुमिव नित्यं सेवेत ॥ १७६ ॥

यदि तत्रापि संपश्येद्दोषं संश्रयकारितम् ।
सुयुद्धमेव तत्रापि निर्विशङ्कः समाचरेत् ॥ १७६ ॥

जब राजा उक्त प्रकारसे (७।१७४-१७५) संश्रय करने पर भी दोष (अपनी कार्यसिद्धिका अभाव) देखे; तब निर्भय होकर उस (दुर्बल) अवस्थामें भी पूरी शक्तिके साथ युद्ध करे ॥ १७६ ॥

अगतिका हि गतिः संश्रयो नाम । तत्रापि यदि संश्रयकृतं दोषं पश्येत्तदा निःसंशयो भूत्वा शोभनमेव युद्धं तस्मिन्काले समाचरेत् । दुर्बलेनापि बलवतो जयदर्शनान्निहतस्य च स्वर्गप्राप्तेः ॥ १७६ ॥

सर्वोपायैस्तथा कुर्यान्नीतिज्ञः पृथिवीपतिः ।
यथाऽस्याभ्यधिका न स्युर्मित्रोदासीनशत्रवः ॥ १७७ ॥

राजा सब उपायों (साम, दान, दण्ड और भेद) से ऐसा करे कि जिससे इसके शत्रु, मित्र तथा उदासीन अधिक न होवें ॥ १७७ ॥

सर्वैः सामादिभिरुपायैर्नीतिज्ञो राजा तथा यतेत, यथाऽस्य मित्रोदासीनशत्रवोऽभ्यधिका न भवन्ति । आधिक्ये हि तेषामसौ ग्राह्यो भवति, धनलोभेन मित्रस्यापि शात्रवापत्तेः॥१७७॥

आयतिं सर्वकार्याणां तदात्वं च विचारयेत् ।
अतीतानां च सर्वेषां गुणदोषौ च तत्त्वतः ॥ १७८ ॥

राजा उत्तरकाल (आगेवाले समय) वर्तमान काल और अतीत कालके गुणदोषोंका चिन्तन करे ॥ १७८ ॥

सर्वेषां कार्याणामल्पानां बहूनामप्यायतिमुत्तरकालं गुणदोषं विचारयेत्। वर्तमानकालं च शीघ्रसंपादनाद्यर्थं विचारयेत। अतीतानां च सर्वकार्याणां गुणदोषौ किमेषां कृतं विघटितं, किं वावशिष्टमित्येवं यथावद्विचारयेत् ॥ १७८ ॥

यस्मात्—

आयत्यां गुणदोषज्ञस्तदात्वे क्षिप्रनिश्चयः।
अतीते कार्यशेषज्ञः शत्रुभिर्नाभिभूयते ॥ १७९ ॥

भविष्य कालके कार्योंके गुण-दोषोंको जाननेवाला, वर्तमान कालके कार्योंके विषयमें शीघ्रनिश्चय करनेवाला और बीते हुए कार्यशेष को जाननेवाला राजा शत्रुओं से पराजित नहीं होता है ॥१७९॥

यः कार्याणामागामिकगुणदोषज्ञः स गुणवत्कार्यमारभते, दोषवत्परित्यजति। यश्च वर्तमानकाले क्षिप्रमेवावधार्य कार्यं करोति। अतीते कार्ये यः कार्यशेषज्ञः स तत्कार्यसमाप्तौ तत्फलं लभते। यस्मादेवंविधकालत्रयसावधानत्वान्न कदाचिच्छत्रुभिरभिभूयते ॥ १७९ ॥

किं बहुना—

यथैनं नाभिसंदध्युर्मित्रोदासीनशत्रवः।
तथा सर्वं संविदध्यादेष सामासिको नयः ॥ १८० ॥

शत्रु, मित्र या उदासीन राजा जिस कार्यके करनेसे उस राजाको पीडित (पराजित) न करे, संक्षेपमें यही राजानीति है ॥ १८० ॥

यथैनं राजानं मित्रादय उक्ता न बाधेरंस्तथा सर्वसंविधानं कुर्यात्। इत्येष सांक्षेपिको नयो नीतिः ॥ १८० ॥

यदा तु यानमातिष्ठेदरिराष्ट्रं प्रति प्रभुः।
तदाऽनेन विधानेन यायादरिपुरं शनैः ॥ १८१ ॥

जब राजा शत्रुपर अभियान (चढ़ाई) करे, तब इस (आगे कहे हुए) विधिसे धीरे-धीरे शत्रुके नगरकी ओर बढ़े ॥ १८१ ॥

यदा पुनः शक्तः सन् शत्रुराष्ट्रं प्रति यात्रामारभेत्तदाऽनेन वक्ष्यमाणप्रकारेण शत्रुदेशमत्वरमाणो गच्छेत् ॥ १८१ ॥

मार्गशीर्षे शुभे मासि यायाद्यात्रां महीपतिः।
फाल्गुनं वाऽथ चैत्रं वा मासौ प्रति यथाबलम् ॥ १८२ ।

राजा शुभ मार्गशीर्ष (अगहन) मासमें या फाल्गुन अथवा चैत्र मासमें अपनी सेनाके अनुसार शत्रुके नगर की ओर बढ़े ॥ १८२ ॥

यश्चतुरङ्गबलोपेतो राजा करिरथादिगमनविलम्बेन विलम्बितप्रयाणस्तथा हैमन्तिकसस्यबहुलं च परराष्ट्रं जिगमिषुः समुपगमनाय शोभने मार्गशीर्षे मासि यात्रां कुर्यात्। यः पुनरश्वबलप्रायो नृपतिः शीघ्रगतिर्वा सर्वसस्यबहुलं पराराष्ट्रं यियासुः स फाल्गुने चैत्रे वा मासि स्वबलयोग्यकालानतिक्रमेण यायात्। अत एवमन्वर्थव्यापारपरं संक्षेपेण याज्ञवल्क्यवचनम्—

यदा सस्यगुणोपेतं परराष्ट्रं तदा व्रजेत्। (या. स्मृ. २-३४८) ॥ १८२ ॥

अन्येष्वपि तु कालेषु यदा पश्येद् ध्रुवं जयम्।
तदा यायाद्विगृह्यैव व्यसने चोत्थिते रिपोः ॥ १८३ ॥

दूसरे समयमें भी जब राजा अपनी विजय निश्चित समझे अपने सैन्यबलसे युक्त हो, तब विग्रहकर शत्रुपर चढ़ाई करे और जब शत्रुको अमात्य आदिके विरोध (फूट-वैर) या कठोर दण्ड आदिसे व्यसनमें पड़ा हुआ समझे तब भी (ग्रीष्म आदि) अन्य समयमें शत्रुपर चढ़ाई करे ॥ १८३ ॥

उक्तकालव्यतिरिक्तेपु यदाऽऽत्मनो निश्चितं जयमवगच्छेत्तदा स्वबलयोग्यकाले ग्रीष्मादावपि हस्त्यश्वादिबलप्रायो विगृह्यैव यात्रां कुर्यात्। शत्रोश्चामात्यादिप्रकृतिगोचरदण्डपारुष्यादिव्यसने जातेऽरिपक्षभूतायां तत्प्रकृतावप्युक्तकालादन्यत्रापि यायात् ॥ १८३ ॥

कृत्वा विधानं मूले तु यात्रिकं च यथाविधि ।
उपगृह्यास्पदं चैव चारान्सम्यग्विधाय च ॥ १८४ ॥
संशोध्य त्रिविधं मार्गं षड्विधं च बलं स्वकम् ।
सांपरायिककल्पेन यायादरिपुरं शनैः ॥ १८५ ॥

अपने किला तथा देशकी रक्षाके लिये प्रधान पुरुषसे युक्त सेनाका एक भाग रखकर; यात्राके योग्य शास्त्रोक्त सवारी, शस्त्र, कवच आदि से युक्त होकर; दूसरे राजाके राज्यमें जानेपर मार्ग तथा स्थिति पानेके लिये उनके भृत्य आदिको अपने पक्षमें करके; कपटवेशधारी गुप्तचरोंको शत्रु-देशकी प्रत्येक बात मालूम करनेके लिये भेजकर; जङ्गल, अनूप तथा आटविक भेदसे तीन प्रकारके मार्गों को पेड़ लता झाड़ी कंटक आदि कटवाने तथा नीची ऊंची भूमिको बराबर करानेसे गमनके योग्य बनाकर और हाथी घोड़ा, रथ, पैदल, सेना एवं कार्यकर्तारूप छः प्रकार के बल (सेना) उचित भोजन-वस्त्र, मान-सत्कार एवं औषध आदि से शुद्धकर यात्राके योग्य विधानसे धीरे २ शत्रुके देश को प्रस्थान करे ॥ १८४-१८५ ॥

मूले स्वीयदुर्गराष्ट्ररूपे पार्ष्णिग्राहसंविधानं प्रधानपुरुषाधिष्ठितरक्षार्थं सैन्यैकदेशस्थापनरूपं प्रतिविधानं कृत्वा, यत्रोपयोगि च वाहनायुधवर्मयात्राविधानं यथाशास्त्रं कृत्वा, परमण्डलगतस्य च येनास्यावस्थानं भवति तदुपगृह्य, तदीयान्भृत्यपक्षानात्मसात्कृत्वा, चारांश्च कापटिकादीन्शत्रुदेशवार्ताज्ञापनार्थं प्रस्थाप्य, सम्यक्तया जाङ्गलानूपाटविकविषयभेदेन त्रिविधं पन्थानं मार्गं शोधिततरुगुल्मादिच्छेदनिम्नोन्नतादिसमीकरणादिना संशोध्य, तथा हस्त्यश्वरथपदातिसेनाकर्मकरात्मकं षड्विधं बलं यथोपयोगमाहारौषधसत्कारादिना संशोध्य, सांपरायिकं संपरायः संग्रामस्तदुपचितविधिना शत्रुदेशमत्वरया गच्छेत् ॥ १८४-१८५॥

शत्रुसेविनि मित्रे च गूढे युक्ततरो भवेत् ।
गतप्रत्यागते चैव स हि कष्टतरो रिपुः ॥ १८६ ॥

गुप्त रूपसे शत्रुकी ओर मिले हुए मित्रमें और पहले विरक्त होकर फिर वापस आये हुए व्यक्ति (सैनिक या गुप्तचर आदि) में अत्यन्त सावधानी, रखे, क्योंकि वे अत्यन्त कष्टकर (अत एव दुर्निग्रह) शत्रु है ॥ १८६ ॥

यन्मित्रं गूढं कृत्वा शत्रुं सेवते, यश्च भृत्यादिः पूर्वं विरागाद्गतः पश्चादागतस्तयोः सावधानो भवेत् , यस्मात्तावतिशयेन दुर्निग्रहौ रिपू ॥ १८६ ॥

दण्डव्यूहेन तन्मार्गं यायात्तु शकटेन वा ।
वराहमकराभ्यां वा सूच्या वा गरुडेन वा ॥ १८७ ॥

(राजा मार्गमें भय रहनेपर) दण्डव्यूहसे या शकटव्यूहसे या वराहव्यूहसे या मकरव्यूहसे या सूचीव्यूहसे मार्गमें चले ॥ १८७ ॥

दण्डाकृतिव्यूहरचनादिः दण्डव्यूहः। एवं शकटादिव्यूहा अपि। तत्राग्रे बलाध्यक्षो मध्ये राजा पश्चात्सेनातिः पार्श्वयोर्हस्तिनस्तत्समीपे घोटकास्ततः पदातय इत्येवं कृतरचनो दीर्घः सर्वतः समविन्यासो दण्डव्यूहस्तेन तद्यातव्यं मार्गं सर्वतो भये सति यायात्। सूच्याकाराग्रः पश्चात्पृथुलः शकटव्यूहस्तेन पृष्ठतो भये सति गच्छेत्। सूचममुखपश्चाद्भागः पृथुमध्यो वराहव्यूहः। एष एव पृथुतरमध्यो गरुडव्यूहस्ताभ्यां पार्श्वयोर्भये सति व्रजेत्। वराहविपर्ययेण मकरव्यूहस्तेनाग्रे पश्चाच्चोभयत्र भये सति गच्छेत्। पिपीलिकापङ्क्तिरिवाग्रपश्चाद्भावेन संहतरूपतया यत्र यत्र सैनिकावस्थानं स शीघ्रप्रवीरपुरुषमुखः सूचीव्यूहस्तेनाग्रतोभये सति यायात्॥ १८७॥

यतश्च भयमाशङ्केत्ततो विस्तारयेद्बलम्।
पद्मेन चैव व्यूहेन निविशेत सदा स्वयम्॥ १८८॥

(राजा) जिधरसे भयकी आशङ्का हो, उधर ही सेनाका विस्तार करे और स्वयं सर्वदा 'पद्मव्यूह' से (नगरसे निकाल कर कपटपूर्वक) शत्रुदेशमें प्रवेश करे॥ १८८॥

यस्या दिशः शत्रुभयमाशङ्केत तस्यामेव बलं विस्तारयेत्समविस्तृतपरिमण्डलो मध्योपविष्टजिगीषुः पद्मव्यूहस्तेन पुरान्निर्गत्य सर्वदा कपटनिवेशनं कुर्यात्॥ १८८॥

सेनापतिबलाध्यक्षौ सर्वदिक्षु निवेशयेत्।
यतश्च भयमाशङ्केत्प्राचीं तां कल्पयेद्दिशम्॥ १८९॥

(राजा) सेनापति तथा बलाध्यक्षको सब दिशाओंमें फैलाकर नियुक्त करे तथा जिस दिशाकी ओरसे भयकी आशङ्का हो, उस दिशाको पूर्व दिशा मानकर आगे उसी दिशाको करे॥ १८९॥

हस्त्यश्वरथपदात्यात्मकस्याङ्गदशकस्यैकः पतिः कार्यः स च पत्तिक उच्यते। पत्तिकदशकस्यैकः पतिः सेनापतिरुच्यते। तद्दशकस्यैकः सेनानायकः स एव च बलाध्यक्षः। सेनापतिबलाध्यौ समस्तासु दिक्षु संघर्षयुद्धार्थं नियोजयेत्। यस्याश्च दिशो यदा भयमाशंकेत्तदा तामग्रे दिशं कुर्यात्॥ १८९॥

गुल्मांश्च स्थापयेदाप्तान्कृतसंज्ञान्समन्ततः।
स्थाने युद्धे च कुशलानभीरूनविकारिणः॥ १९०॥

(राजा) रुकने, भागने या युद्ध करनेके लिये विश्वासपात्र, शंख, भेरी, नगाड़ा आदि वाद्योंके संकेतित; रुकनेमें तथा युद्धमें चतुर, निडर और कभी विकृत नहीं होनेवाले सेनाके एक भागको चारो तरफ दूर तक शत्रुके प्रवेशको रोकने तथा उसकी चेष्टाको मालूम करते रहनेके लिये नियुक्त करे॥ १९०॥

गुल्मान्सैन्यैकदेशानाप्तपुरुषाधिष्ठितान् स्थानापसरणयुद्धार्थं कृतभेरीपटहशङ्खादिसंकेतान् अवस्थायुद्धयोः प्रवीणान्निर्भयानव्यभिचारिणः सेनापतिबलाध्यक्षान्दूरतः सर्वदिक्षु पारक्यप्रवेशवारणाय शत्रुचेष्टापरिज्ञानाय च नियोजयेत्॥ १९०॥

संहतान्योधयेदल्पान्कामं विस्तारयेद्बहून्।
सूच्या वज्रेण चैवैतान्व्यूहेन व्यूह्य योधयेत्॥ १९१॥

(राजा) थोड़े योद्धा हो तो उन्हें थोड़ी दूरमें ही संगठित कर तथा अधिक योद्धा हों तो उन्हें दूर तक फैलाकर सूचीव्यूह (७।१८७ निष्कर्ष) या 'वज्रव्यूह' से मोर्चाबन्दी कर युद्ध करावे॥ १९१॥

अल्पान्योधान्संहतान्कृत्वा बहून्पुनर्यथेष्टं विस्तारयेत्। सूच्या पूर्वोक्तया वज्राख्येन व्यूहेन त्रिधा व्यवस्थितबलेन रचयित्वा योधान्योधयेत् ॥ १९१ ॥

स्यन्दनाश्वैः समे युद्ध्येदनूपे नौद्विपैस्तथा।
वृक्षगुल्मावृते चापैरसिचर्मायुधैः स्थले ॥ १९२ ॥

(राजा) समतल युद्धभूमिमें रथ और घोड़ोंसे, जलप्राय युद्धभूमि में नाव तथा हाथियोंसे, पेड़ तथा झाड़ियोंसे गहन युद्धभूमिमें धनुषोंसे और कंटक पत्थर आदिसे वर्जित युद्धभूमिमें ढाल-तलवार एवं भाला-बर्छा आदिसे युद्ध करे ॥ १९२ ॥

समभूभागे रथाश्वेन युध्येत, तत्र तेन युद्धसामर्थ्यात्। तथानुगतोदके नौकाहस्तिभिः। तरुगुल्मावृते धन्विभिः। गर्तकण्टकपाषाणादिरहितस्थले खड्गफलककुन्ताद्यैरायुधैर्युद्ध्येत ॥ १९२ ॥

कुरुक्षेत्रांश्च मत्स्यांश्च पञ्चालाञ्शूरसेनजान्।
दीर्घांल्लघूंश्चैव नरानग्रानीकेषु योजयेत् ॥ १९३ ॥

(राजा) कुरुक्षेत्र, मत्स्य (विराट), पाञ्चाल (कान्यकुब्ज तथा अहिक्षेत्र) और शूरसेन (मथुरा) देशमें उत्पन्न लम्बे कदवाले योद्धाओंको तथा अन्य देशोत्पन्न लम्बे या छोटे कदवाले युद्धाभिमानी योद्धाओंको युद्धके आगेवाले मोर्चे पर नियुक्त करे ॥ १९३ ॥

कुरुक्षेत्रभवान्, मत्स्यान्विराटदेशनिवासिनः पञ्चालान्कान्यकुंजाहिच्छत्रोद्भवान्, शूरसेनजान्माथुरान्, प्रायेण पृथुशरीरशौर्याहंकारयोगान्सेनाग्रे योजयेत्। तथान्यदेशोद्भवानपि दीर्घलघुदेहान्मनुष्यान्युद्धाभिमानिनः सेनाग्र एव योजयेत् ॥ १९३ ॥

प्रहर्षयेद्बलं व्यूह्य तांश्च सम्यक्परीक्षयेत्।
चेष्टाश्चैव विजानीयादरीन्योधयतामपि ॥ १९४ ॥

(राजा) मोर्चा बनाकर सैनिकोंको उत्साहित करे, उनको अच्छी तरह जांच करे तथा शत्रुओंसे लड़ते हुए उनकी चेष्टाओंकी मालूम करता रहे ॥ १९४ ॥

बलं रचयित्वा जये धर्मलाभः, अभिमुखहतस्य स्वर्गप्राप्तिः पलायने तु प्रभुदुरितग्रहणं नरकगमनं चेत्याद्यर्थवादैर्युद्धार्थं प्रोत्साहयेत्। तांश्च योधान्केनाभिप्रायेण हृष्यन्ति कुप्यन्ति वेति परीक्षयेत्। तथा योधानामरिभिः सह युध्यमानानामपि सोपध्यनुपधिचेष्टा बुद्धयेत ॥ १९४ ॥

उपरुध्यारिमासीत राष्ट्रं चास्योपपीडयेत्।
दूषयेच्चास्य सततं यवसान्नोदकेन्धनम् ॥ १९५ ॥

(राजा दुर्गमें या दुर्गके बाहर स्थित) शत्रुपर घेरा डालकर रहे, इसके देशको (लूट-पाट आदिसे) पीडित करे और इसके भूसा घास, अन्न जल और ईंधनको सर्वदा नष्ट करे अर्थात् दूषित द्रव्य (विष आदि) मिलाकर उपयोगके अयोग्य बना दे ॥ १९५ ॥

दुर्गाश्रयमदुर्गाश्रयं वा रिपुमयुध्यमानमप्यावेष्टयासीत। अस्य च देशमुत्सादयेत्। तथा घासान्नोदकेन्धनानि सर्वदाऽस्यापद्रव्यसंमिश्रणादिना दूषयेत् ॥ १९५ ॥

भिन्द्याच्चैव तडागानि प्राकारपरिखास्तथा।
समवस्कन्दयेच्चैनं रात्रौ वित्रासयेत्तथा ॥ १९६ ॥

(राजा) शत्रुके उपजीव्य तडाग, नहर कूप आदिको नष्ट कर दे; किले या नगरके परकोटे (चहारदिवारी) को तोड़ दे, खाईको मिट्टी आदिसे भर कर सुखा दे (सुप्रवेश्य कर दे) इस प्रकार निर्भय होकर शत्रुको दबा दे तथा रातमें नगाड़ा आदि युद्धके बाजाओंको बजवाकर शत्रुको भयभीत करता रहे ॥ १९६ ॥

शत्रोरुपजीव्यानि तडागादीनि नाशयेत, तथा दुर्गप्राकारादीन्भिन्द्यात, तत्परिखाश्च भेदेन पूरणादिना निरुदकाः कुर्यात। एवं च शत्रूनशङ्कितमेव सम्यगवस्कन्दयेत्तथा शक्तिं गृह्णीयात। रात्रौ च ढक्काकाहलिकादिशब्देन वित्रासयेत् ॥ १९६ ॥

उपजप्यानुपजपेद् बुध्येतैव च तत्कृतम्।
युक्ते च दैवे युध्येत जयप्रेप्सुरपेतभीः ॥ १९७ ॥

(राजा) राज्याभिलाषी तथा भेद योग्य, शत्रुके दायादों को या मन्त्री सेनापति आदि प्रकृतिको फोड़े (विजय होनेपर राज्य आदि का लोभ देकर अपने पक्षमें करे), उस (शत्रु) के द्वारा किये ऐसे कार्य (भेद) को स्वयं मालूम करे और विजयाभिलाषी राजा निर्भय होकर शुभ मुहूर्तमें शत्रुसे युद्ध करे ॥ १९७ ॥

उपजापार्हान् रिपुवंश्यान् राज्यार्थिनः लुब्धानमात्यादींश्च भेदयेत। उपजापेनात्मीयकृतां च तेषां चेष्टां जानीयात। शुभग्रहदशादिना शुभफलयुक्ते दैवेऽवगते निर्भयो जयेप्सुर्युध्येत ॥ १९७ ॥

साम्ना दानेन भेदेन समस्तैरथवा पृथक्।
विजेतुं प्रयतेतारीन्न युद्धेन कदाचन ॥ १९८ ॥

(राजा) साम (प्रेम-प्रदर्शन), दान, भेद (शत्रुके राज्यार्थी दायाद या मंत्री आदिको विजय होनेपर राज्य आदिका लोभ देकर अपने पक्षमें करना) इन तीनों उपायोंसे अथवा इनमें-से किसी एक या दो उपायोंसे शत्रुओं को जीतनेका प्रयत्न करें, (पहले) युद्धसे जीतनेकी कदापि चेष्टा न करे ॥ १९८ ॥

प्रीत्यादरदर्शनहितकथनाद्यात्मकेन साम्ना हस्त्यश्वरथहिरण्यादीनां च दानेन तत्प्रकृतीनां तदनुयायिनां च राज्यार्थिनां भेदेन। एतैः समस्तैर्व्यस्तैर्वा यथासामर्थ्यमरीञ्जेतुं यत्नं कुर्यान्न पुनः कदाचिद्युद्धेन ॥ १९८ ॥

अनित्यो विजयो यस्माद् दृश्यते युध्यमानयोः।
पराजयश्च संग्रामे तस्माद्युद्धं विवर्जयेत् ॥ १९९ ॥

क्योंकि युद्ध करते हुए दो पक्षोंकी विजय तथा पराजय युद्धमें अनिश्चित रहती है, इस कारण युद्धका त्याग करे ॥ १९९ ॥

यस्माद्युध्यमानयोर्बहुलबलत्वाद्यल्पबलत्वाद्यनपेक्षमेवानियमेन जयपराजयौ दृश्येते, तस्मात्सत्युपायान्तरे युद्धं परिहरेत ॥ १९९ ॥

त्रयाणामप्युपायानां पूर्वोक्तानामसम्भवे।
तथा युध्येत सम्पन्नो विजयेत रिपून्यथा ॥ २०० ॥

(राजा) पूर्वोक्त तीनों (साम, दान और भेद) उपायोंके साधक न होने पर ही सैन्यादि-शक्तिसे संयुक्त होकर वैसा युद्ध करें, जिससे शत्रुओंको जीत ले। (क्योंकि विजय होनेसे राज्यलाभ तथा युद्धमें सामने मरनेपर स्वर्गलाभ होता है। किन्तु यदि निश्चित रूपसे पराजयकी ही सम्भावना

हो तो युद्ध त्यागकर आत्मरक्षा करनी चाहिये—वहांसे हट जाना चाहिये, क्योंकि मरनेपर मनुष्य कोई कार्यसाधन नहीं कर सकता, जिससे वह सुखी हो। इसी कारण मनु भगवान्ने आगे (७।२१३) आत्मरक्षा करने पर जोर दिया है)॥ २००॥

पूर्वोक्तानां त्रयाणामपि सामादीनामुपायानामसाधकत्वे सति जयपराजयसंदेहेऽपि तथा प्रयत्नवान्सम्यग्युध्यते। यथा शत्रूञ्जयेत्। यतो जयेऽर्थलाभोऽभिमुखमरणे च स्वर्गप्राप्तिः। निःसंदिग्धे तु पराजये युद्धादपसरणं साधीयः। यथा वक्ष्यति "आत्मानं सततं रक्षेत्" (म. स्मृ. ७-२१३) इति [1]मेधातिथिगोविन्दराजौ॥ २००॥

जित्वा सम्पूजयेद् देवान्ब्राह्मणांश्चैव धार्मिकान्।
प्रदद्यात्परिहारांश्च ख्यापयेदभयानि च॥ २०१॥

विजयलाभ कर देवताओं तथा धार्मिक ब्राह्मणोंको गो, भूमि तथा सुवर्ण आदि दान देकर पूजा करे। 'जीती गयी वस्तुओंमें-से इतना अंश देवताओं तथा ब्राह्मणोंके लिये मैंने दान दिया' ऐसा वहांके निवासियोंसे घोषणा करे तथा 'राजभक्तिसे जिन लोगोंने अपने राजाका पक्ष लेकर मेरे विरुद्ध आचरण किया है उन्हें भी मैं अभयदान देता हूँ' (वे निर्भय होकर अपने-अपने कार्योंको करें) ऐसी भी घोषणा करे॥ २०१॥

परराष्ट्रं जित्वा तत्र ये देवास्तान्धर्मप्रधानांश्च ब्राह्मणान्भूमिसुवर्णादिदानसम्मानादिभिः पूजयेत्। जितद्रव्यैकदेशदानादिनैव चेदं पूजनम्। तदाह याज्ञवल्क्यः—

नातः परतरो धर्मो नृपाणां यद्रणार्जितम्।
विप्रेभ्यो दीयते द्रव्यं प्रजाभ्यश्चाभयं सदा॥ (या. स्मृ. १-३२३)।

तथा देवब्राह्मणार्थं मयैतद्दत्तमिति तद्देशवासिनां परिहारान्दद्यात्। तथा स्वामिभक्त्या यैरस्माकमपकृतं तेषां मया क्षान्तमिदानीं निर्भयाः सन्तः सुखं स्वव्यापारमनुतिष्ठन्त्वित्यभयानि ख्यापयेत्॥ २०१॥

सर्वेषां तु विदित्वैषां समासेन चिकीर्षितम्।
स्थापयेत्तत्र तद्वंश्यं कुर्याच्च समयक्रियाम्॥ २०२॥

उस शत्रु राजा तथा मंत्री एवं प्रजाके मुख्य लोगोंकी अभिलाषाको मालूम कर उसी वंशमें उत्पन्न व्यक्तिको उस राज्यमें पुनः अभिषिक्त करे और उसके साथ समय-क्रिया (शर्तनामा—अमुक-अमुक कार्य तुम्हें स्वेच्छानुसार करना होगा तथा अमुक-अमुक कार्य मेरी आज्ञासे करना होगा इत्यादि) करे॥ २०२॥

येषां शत्रुनृपामात्यानां सर्वेषामेव संक्षेपतोऽभिप्रायं ज्ञात्वा तस्मिन्राष्ट्रे बलनिहतराजवंश्यमेव राज्येऽभिषेचयेत्। इदं कार्यं त्वया, इदं नेति तस्य तदमात्यानां च नियमं कुर्यात्॥ २०२॥

प्रमाणानि च कुर्वीत तेषां धर्म्यान्यथोदितान्।
रत्नैश्च पूजयेदेनं प्रधानपुरुषैः सह॥ २०३॥

विजयी राजा उन (जीते हुए देशके निवासियों) के धार्मिक कार्योंको प्रमाणित करे (उन्हें पूर्ववत् चालू करे) और मंत्री आदि मुख्य लोगोंके साथ उस नवाभिषिक्त राजाको रत्न आदि भेंट देकर सत्कृत करे॥ २०३॥

---

१. यदा असंदिग्धः पराजयस्तदा अपक्रमणं युक्तम्, निर्गतो हि जीवो न कार्यमासादयति येन भद्राणि पश्यति स्वर्गमर्जयति मृत इति येन केनचित्प्रकारेण जित्वाऽरिम्।

तेषां च परकीयानां धर्मादनपेतानाचारान्देशधर्मतया शास्त्रेणाभ्युपेतान्प्रमाणीकुर्यात्। एवं चाभिषिक्तममात्यादिभिः सह रत्नादिदानेन पूजयेत् ॥ २०३ ॥

यस्मात्—

आदानमप्रियकरं दानं च प्रियकारकम्।
अभीप्सितानामर्थानां काले युक्तं प्रशस्यते ॥ २०४ ॥

(क्योंकि यद्यपि किसी की) अतिप्रिय वस्तुओंको ले लेना अप्रिय तथा दे देना प्रिय होता है, तथापि विशेष अवसरों पर ले लेना तथा दे देना—ये दोनों ही कार्य श्रेष्ठ होते हैं (अतः नये राजाके लिये रत्नादिका उपहार देना ही श्रेष्ठ है) ॥ २०४ ॥

यद्यप्यभिलषितानां द्रव्याणां ग्रहणमप्रियकरम्, दानं च प्रियकारकमित्युत्सर्गस्तथापि समयविशेषे दानमादानं च प्रशस्यते। तस्मात्तस्मिन्काल एवं पूजयेत् ॥ २०४ ॥

सर्वं कर्मेदमायत्तं विधाने दैवमानुषे।
तयोर्दैवमचिन्त्यं तु मानुषे विद्यते क्रिया ॥ २०५ ॥

[दैवेन विधिना युक्तं मानुष्यं यत्प्रवर्तते।
परिक्लेशेन महता तदर्थस्य समाधकम् ॥ १४ ॥
संयुक्तस्यापि दैवेन पुरुषकारेण वर्जितम्।
विना पुरुषकारेण फलं क्षेत्रं प्रयच्छति ॥ १५ ॥
चन्द्रार्काद्या ग्रहा वायुरग्निरापस्तथैव च।
इह दैवेन साध्यन्ते पौरुषेण प्रयत्नतः ॥ १६ ॥]

इस संसारमें जो कुछ कार्य हैं, वे सब भाग्य तथा मनुष्यके अधीन हैं; उनमें दैव (पूर्वजन्मकृत) कार्य अचिन्त्य हैं (कब क्या होने वाला है, इसे कोई नहीं जानता) और मानुष (मनुष्य सम्बन्धी अर्थात् वर्तमानमें किया जानेवाला) कार्यमें पर्यालोचन है (अत एव मनुष्यको स्व-कार्य-सिद्धिके लिए यत्न करते रहना चाहिये) ॥ २०५ ॥

[भाग्य-विधानके सहित जो मनुष्य-कार्य किया जाता है, वह बड़े कष्टसे सिद्ध होता है ॥ १४ ॥

भाग्यसे संयुक्त भी पुरुषार्थसे रहित कार्य, पुरुषार्थके विना खेतमें पड़े हुए बीजके समान फल देता है ॥ १५ ॥

चन्द्र, सूर्य आदि ग्रह तथा वायु, अग्नि और जल पुरुषार्थसे यत्नके द्वारा दैव (ईश्वरीय) पुरुषार्थसे इस संसारमें साधे जा रहे हैं ॥ १६ ॥]

यत्किंचित्संपाद्यं तत्प्राग्जन्मार्जितसुकृतदुष्कृतरूपे कर्मणि दैवशब्दाभिधेये, तथेहलोकार्जितमानुषशब्दवाच्ये व्यापारे आयत्तं, तयोर्मध्ये दैवं चिन्तयितुमशक्यम्। मानुषे तु पर्यालोचनमस्ति। अतो मानुषद्वारेणैव कार्यसिद्धये यतितव्यम् ॥ २०५ ॥

सह वाऽपि व्रजेद्युक्तः संधिं कृत्वा प्रयत्नतः।
मित्रं हिरण्यं भूमिं वा संपश्यंस्त्रिविधं फलम् ॥ २०६ ॥

(विजिगीषु राजा पूर्वोक्त प्रकारसे युद्ध करे) अथवा उसके साथ मित्रताकर उस शत्रु राजा द्वारा दिये गये सुवर्ण-(रत्नादि सम्पत्ति) तथा राज्यकी एक भाग भूमि--इन तीन (मित्र, सुवर्ण तथा भूमि) को युद्धयात्राका फल मानकर यत्नपूर्वक उस राजाके साथ सन्धि करे ॥ २०६ ॥

एवमुपक्रमणीयेन शत्रुणा युद्धं कार्यम्। यदि वा स एव मित्रं तेन च दत्तं हिरण्यं भूम्येकदेशो वाऽर्पितम् एतत्त्रयं यात्राफलम्, तेन सह संधिं कृत्वा यत्नवान्व्रजेत् ॥ २०६ ॥

पार्ष्णिग्राहं च संप्रेक्ष्य तथाक्रन्दं च मण्डले ।
मित्रादथाप्यमित्राद्वा यात्राफलमवाप्नुयात् ॥ २०७ ॥

(विजिगीपु राजा) पार्ष्णिग्राह तथा आक्रन्द राजाका अपने मण्डलमें ध्यान कर यात्रा करे और मित्र (सन्धि किया हुआ शत्रु) या अमित्र (हारा हुआ शत्रु) राजासे यात्राका फल (मित्रता, सुवर्ण तथा भूमि) को अवश्य लेवे ॥ २०७ ॥

विजिगीषोररिं प्रति निर्यातस्य यः पृष्ठवर्ती नृपतिर्देशाक्रमणाद्याचरति स पार्ष्णिग्राहस्तस्य तथा कुर्वतो यो नियामकस्तस्यानन्तरो नृपतिः स आक्रन्दस्तावपेक्ष्य यातव्यम्। मित्रीभूतादमित्राद्वा यात्राफलं गृह्णीयात्। तावनपेक्ष्य गृह्णन्कदाचित्तत्कृतेन दोषेण गृह्यते ॥ २०७ ॥

हिरण्यभूमिसम्प्राप्त्या पार्थिवो न तथैधते ।
यथा मित्रं ध्रुवं लब्ध्वा कृशमप्यायतिक्षमम् ॥ २०८ ॥

राजा मित्र तथा राज्यकी प्राप्तिसे वैसी उन्नति नहीं करता, जैसी वर्तमानमें दुर्बल होनेपर भी भविष्यमें उन्नति करनेवाले स्थायी मित्रकी प्राप्तिसे (उन्नति) करता है ॥ २०८ ॥

सुवर्णभूमिलाभेन तथा राजा न वृद्धिमेति यथेदानीं कृशमप्यागामिकाले वृद्धियुतं स्थिरं मित्रं लब्ध्वा वर्धते ॥ २०८ ॥

धर्मज्ञं च कृतज्ञं च तुष्टप्रकृतिमेव च ।
अनुरक्तं स्थिरारम्भं लघुमित्रं प्रशस्यते ॥ २०९ ॥

धर्मज्ञ, कृतज्ञ, सन्तुष्ट अमात्य आदि प्रकृतिवाला, अनुरक्त, स्थिर कार्यारम्भ करनेवाला छोटा भी मित्र श्रेष्ठ होता है ॥ २०९ ॥

धर्मज्ञं, कृतोपकारस्य स्मर्तृ, सानुरागमनुरक्तं, स्थिरकार्यारम्भं, प्रीतिमत्प्रकृतिकं यत्तन्मित्रमतिशयेन शस्यते ॥ २०९ ॥

प्राज्ञं कुलीनं शूरं च दक्षं दातारमेव च ।
कृतज्ञं धृतिमन्तं च कष्टमाहुररिं बुधाः ॥ २१० ॥

विद्वान्, कुलीन, शूरवीर, चतुर, दानी, कृतज्ञ, और (सुख-दुःखमें) धैर्ययुक्त शत्रुको विद्वान् लोग कष्टसाध्य (कठिनतासे जीतने योग्य) कहते हैं। (अत एव ऐसे शत्रु से सन्धि कर लेना चाहिये) ॥ २१० ॥

विद्वांसं, महाकुलं, विक्रान्तं, चतुरं, दातारं, उपकारस्मर्तारं, सुखदुःखयोरेकरूपं शत्रुं दुरुच्छेदं पण्डिता वदन्ति। तेनैवंविधशत्रुणा सह सन्धातव्यम् ॥ २१० ॥

आर्यता पुरुषज्ञानं शौर्यं करुणवेदिता ।
स्थौललक्ष्यं च सततमुदासीनगुणोदयः ॥ २११ ॥

सज्जनता, मनुष्योंकी पहचान करना, शूरता, कृपालुता और सर्वदा बहुत दान देना—ये सब उदासीन राजाके गुण हैं। (अत एव इस प्रकारके उदासीन राजाका आश्रय कर पूर्वोक्त (२।२१०) लक्षण-वाले शत्रुसे भी युद्ध करना चाहिये) ॥ २११ ॥

साधुत्वं, पुरुषविशेषज्ञता, विक्रान्तत्वं, कृपालुत्वं, सर्वदा च स्थौललक्ष्यं बहुप्रदत्वम्। अत एव—

स्युर्वदान्यस्थूललक्ष्यदानशौण्डा बहुप्रदे। (अ. को. ३-१-६)

इत्याभिधानिकाः। स्थौललक्ष्यमर्थेऽसूक्ष्मदर्शित्वमिति तु [1]मेधातिथिगोविन्दराजयोः पदार्थकथनमनागमम्। एतदुदासीनगुणसामग्र्यं, तस्मादेवंविधमुदासीनमाश्रित्योक्तलक्षणेनाप्यरिणा सह योद्धव्यम्॥ २११॥

क्षेम्यां सस्यप्रदां नित्यं पशुवृद्धिकरीमपि।
परित्यजेन्नृपो भूमिमात्मार्थमविचारयन्॥ २१२॥

(नीरोगता आदि गुणोंसे युक्त होनेके कारण) कल्याणप्रद, (नद, नहर, तडागादि होनेसे वृष्टिका अभाव होनेपर भी) धान्य उत्पादन करनेवाली, (अधिक घास आदि होनेसे) पशुओं की वृद्धिमें सहायक भूमिको राजा आत्मरक्षाके लिये बिना विचार किये छोड़ दे॥ २१२॥

अनामयादिकत्वया गक्षमामपि, नदीमातृकतया सर्वदा सर्वसस्यप्रदामपि, प्रचुरतृणादियोगात्पशुवृद्धिकरीमपि भूमिमात्मरक्षार्थमविलम्बमानो राजा निजरक्षाप्रकारान्तराभावात्परित्यजेत॥ २१२॥

यस्मात्सर्वविषयोऽयं धर्मः स्मर्यते—

आपदर्थं धनं रक्षेद्दारान्रक्षेद्धनैरपि।
आत्मानं सततं रक्षेद्दारैरपि धनैरपि॥ २१३॥

आपत्तिके लिये धनकी रक्षा करे, धनोंके द्वारा स्त्रियोंकी रक्षा करे और धन तथा स्त्रियोंके द्वारा सर्वदा अपनी रक्षा करे (यह सर्व-सामान्य धर्म माना गया है)॥ २१३॥

आपन्निवारणार्थं धनं रक्षणीयम्। धनपरित्यागेनापि दारान्रक्षेत्। आत्मानं पुनः सर्वदा दारधनपरित्यागेनापि रक्षेत् "सर्वत एवात्मानं गोपायीत" इति श्रुत्या शास्त्रीयमरणव्यतिरेकेणात्मरक्षेत्युपदेशात्॥ २१३॥

सह सर्वाः समुत्पन्नाः प्रसमीक्ष्यापदो भृशम्।
संयुक्तांश्च वियुक्तांश्च सर्वोपायान्सृजेद् बुधः॥ २१४॥

सब आपत्तियों (कोपक्षय, अमात्यादि प्रकृतिक्षोप तथा मित्रादिव्यसन प्रभृति) को अधिक मात्रामें एक साथ उपस्थित जानकर विद्वान् राजा (घबड़ावे नहीं, किन्तु) सम्मिलित या पृथक्-पृथक् सब उपायों (सम, दान, दण्ड और भेद) को काममें लावे॥ २१४॥

कोशक्षयप्रकृतिकोपमित्रव्यसनादिकाः सर्वा आपदो युगपदतिशयेनोत्पन्ना ज्ञात्वा न मोहमुपेयात्। अपि तु व्यस्तान्समस्तान्वा सामादीनुपायान्शास्त्रज्ञः संप्रयुञ्जीत॥ २१४॥

उपेतारमुपेयं च सर्वोपायांश्च कृत्स्नशः।
एतत्त्रयं समाश्रित्य प्रयतेतार्थसिद्धये॥ २१५॥

(राजा) उपेता (प्राप्तिकर्ता अर्थात् अपने), उपेय (प्राप्ति करने योग्य अर्थात् शत्रु) तथा परिपूर्ण सामादि सब उपाय-इन तीनोंको अवलम्बन कर प्रयोजन की सिद्धिके लिये प्रयत्न करे॥ २१५॥

उपेतारमात्मानं, उपेयं प्राप्तव्यं, उपायाः सामादयः सर्वे ते च परिपूर्णा एतत्त्रयमवलम्ब्य यथासामर्थ्यं प्रयोजनसिद्धये यत्नं कुर्यात्॥ २१५॥

---

१. स्थूललक्ष्यः प्रभूतस्याप्यर्थमेषां सर्वकालं क्षमते।

एवं सर्वमिदं राजा सह संमन्त्र्य मन्त्रिभिः ।
व्यायम्याप्लुत्य मध्याह्ने भोक्तुमन्तःपुरं विशेत् ॥ २१६ ॥

राजा इस प्रकार इन सब विषयोंको मन्त्रियोंके साथमें विचार (गुप्त परामर्श) कर (मुद्गर या अन्य शस्त्र आदिके अभ्याससे) व्यायाम कर दोपहरको स्नान (तथा मध्याह्नकृत्य-सन्ध्योपासनादि नित्यकर्मसे निवृत्त हो) कर भोजन करनेके लिये अन्तःपुर (रनिवास) में प्रवेश करे ॥

एवमुक्तप्रकारेण सर्वराजवृत्तं मन्त्रिभिः सह विचार्य अनन्तरमायुधाभ्यासादिना व्यायामं कृत्वा मध्याह्ने स्नानादिकं माध्याह्निकं कृत्यं निर्वाह्य भोक्तुमन्तःपुरं विशेत् ॥ २१६ ॥

तत्रात्मभूतैः कालज्ञैरहार्यैः परिचारकैः ।
सुपरीक्षितमन्नाद्यमद्यान्मन्त्रैर्विषापहैः ॥ २१७ ॥

वहां (अन्तःपुरमें) अपने तुल्य, भोजन-समयके ज्ञाता, किसी शत्रु आदिसे फोड़कर अपने पक्षमें नहीं करने योग्य परिचारकों (पाचक आदि) से बनाये गये एवं परीक्षा किये गये अन्न आदि (भोज्य, पेय, लेह्य, चोष्य आदि पदार्थ) को विषनाशक मन्त्रोंसे (गारुडादि मंत्रोंको जपकर) भोजन करे ॥ २१७ ॥

तत्रान्तःपुर आत्मतुल्यैर्भोजनकालवेदिभिरभेद्यैः सूपकारादिभिः कृतं सुष्ठु च परीक्षितं चकोरादिदर्शनेन । सविषमन्नं दृष्ट्वा चकोराक्षिणी रक्ते भवतः । विषापहैर्मन्त्रैर्जपितमन्नमद्यात् ॥ २१७ ॥

विषघ्नैरगदैश्चास्य सर्वद्रव्याणि योजयेत् ।
विषघ्नानि च रत्नानि नियतो धारयेत्सदा ॥ २१८ ॥

राजा विषनाशक औषधोंसे (खानेके लिये दिये गये) सब अन्नको संयुक्त करे तथा सावधान रहते हुए विषनाशक (गारुडादि) रत्नोंको सर्वदा धारण करे ॥ २१८ ॥

विषनाशिभिरौषधैः सर्वाणि भोज्यद्रव्याणि योजयेत् । विषहरणानि च रत्नानि यत्नवान्सर्वदा धारयेत् ॥ २१८ ॥

परीक्षिताः स्त्रियश्चैनं व्यजनोदकधूपनैः ।
वेषाभरणसंशुद्धाः स्पृशेयुः सुसमाहिताः ॥ २१९ ॥

(गुप्तचरोंके द्वारा) परीक्षित, (गुप्त शस्त्र रखने तथा विष-लिप्त भूषण आदि धारण करनेकी आशङ्कासे) नियत वेष तथा भूषणोंसे अच्छी तरह शुद्ध (दोषरहित) स्त्रियां (परिचारिकायें अर्थात् दासियाँ) चामर आदिसे हवा करने, स्नान तथा पीनेके लिये पानी देने और सुगन्धित धूप आदि करनेसे राजाकी सेवा करें ॥ २१९ ॥

स्त्रियश्च गूढचारद्वारेण कृतपरीक्षा गुप्तायुधग्रहणविषलिप्ताभरणधारणशङ्कया निरूपितवेषाभरणा अनन्यमनसः चामरस्नानपानाद्युदकधूपनैरेनं राजानं परिचरेयुः ॥ २१९ ॥

एवं प्रयत्नं कुर्वीत यानशय्यासनाशने ।
स्नाने प्रसाधने चैव सर्वालङ्कारकेषु च ॥ २२० ॥

राजा (अपने) यान (सवारी अर्थात् रथ, अश्व, गज आदि), शय्या (पलँग या शयनगृह), आसन (बैठनेके सिंहासन या अन्य चौकी आदि), अशन (भोजन), स्नान, प्रसाधन (तेल आदिका मर्दन या चन्दन आदिका) लेपन और सब प्रकारके भूषणोंके धारण करनेमें इसी प्रकार अच्छी तरह परीक्षा कर उन्हें अपने व्यवहारमें लानेका प्रबन्ध करे ॥ २२० ॥

एवंविधपरीक्षादिप्रयत्नं वाहनशय्यासनाशनस्नानानुलेपनेषु सर्वेषु चालङ्करणार्थेषु कुर्यात् ॥ २२० ॥

भुक्तवान्विहरेच्चैव स्त्रीभिरन्तःपुरे सह।
विहृत्य तु यथाकालं पुनः कार्याणि चिन्तयेत् ॥ २२१ ॥

भोजनकर राजा रनिवासमें रानियोंके साथ विहार (क्रीडा आदि) करे तथा यथासमय (दिनके सप्तम भागमें विहारकर) फिर (दिनके अष्टम भागमें) राजकार्योंका चिन्तन करे ॥२२१॥

कृतभोजनश्च तत्रैवान्तःपुरे भार्याभिः सह क्रीडेत्। कालानतिक्रमेण च सप्तमे दिवसस्य भागे तत्र विहृत्याष्टमे भागे पुनः कार्याणि चिन्तयेत् ॥ २२१ ॥

अलङ्कृतश्च सम्पश्येदायुधीयं पुनर्जनम्।
वाहनानि च सर्वाणि शस्त्राण्याभरणानि च ॥ २२२ ॥

अलङ्कार आदि पहना हुआ राजा फिर शस्त्रधारी सैनिकों, हाथी-घोड़ा आदि वाहनों, खड्ग, तोमर, कुन्तादि सब अस्त्र-शस्त्रों और भूषणोंका निरीक्षण करे ॥ २२२ ॥

कृतालङ्कारः सन्नायुधजोविनं, वाहनानि हस्त्यश्वादानि, सर्वाणि च शस्त्राणि खड्गादीनि, अलङ्काररचनादीनि च पश्येत् ॥ २२२ ॥

संध्यां चोपास्य शृणुयादन्तर्वेश्मनि शस्त्रभृत्।
रहस्याख्यायिनां चैव प्रणिधीनां च चेष्टितम् ॥ २२३ ॥
गत्वा कक्षान्तरं त्वन्यत्समनुज्ञाप्य तं जनम्।
प्रविशेद्भोजनार्थं च स्त्रीवृतोऽन्तःपुरं पुनः ॥ २२४ ॥

(फिर राजा) सायङ्कालका सन्ध्योपासन करके दूसरी कक्षा (ड्योढ़ी) के भीतर एकान्त स्थानमें स्वयं शस्त्रको धारणकर गुप्त समाचारोंको बतलानेवाले गुप्तचरोंके कामोंको सुने और उसके बाद उन्हें बिदाकर परिचारिकाओं (दासियों) से परिवृत होकर भोजनके लिये फिर अन्तःपुरमें प्रवेश करे ॥ २२३-२२४ ॥

ततः संध्योपासनं कृत्वा तस्मात्प्रदेशात्कक्षान्तरं विविक्तप्रकोष्ठावकाशमन्यद् गत्वा गृहाभ्यन्तरे धृतशस्त्रो रहस्याभिधायिनां चराणां स्वव्यापारं शृणुयात्। ततस्तं चरं संप्रेष्य परिचारिकास्त्रीवृतः पुनर्भोक्तुमन्तःपुरं विशेत् ॥ २२३-२२४ ॥

तत्र भुक्त्वा पुनः किंचित्तूर्यघोषैः प्रहर्षितः।
संविशेत्तु यथाकालमुत्तिष्ठेच्च गतक्लमः ॥ २२५ ॥

वहां (रनिवास) में बाजाओंके शब्दोंसे प्रहर्षित होकर फिर कुछ भोजनकर यथासमय सो जावे और श्रमरहित होकर शेष रात्रिमें उठ (जग) जावे ॥ २२५ ॥

तत्रान्तःपुरे वादित्रशब्दैः श्रुतिसुखैः प्रहर्षितः पुनः किंचिद् भुक्त्वा नातितृप्तः कालानतिक्रमेण गतार्धप्रहरायां रात्रौ स्वप्यात्। ततो रात्रेः पश्चिमयामे च विश्रान्तः सन्नुत्तिष्ठेत् ॥

एतद्विधानमातिष्ठेदरोगः पृथिवीपतिः।
अस्वस्थः सर्वमेतत्तु भृत्येषु विनियोजयेत् ॥ २२६ ॥

नीरोग राजा इन सब कार्योंको स्वयं करे तथा अस्वस्थ हो तब इन सब कार्योंको मुख्य मन्त्रियों (के उत्तरदायित्व) पर सौंपे ॥ २२६ ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

एतद्यथोक्तप्रकारप्रजारक्षणादिकं नीरोगो राजा स्वयमनुतिष्ठेत्। अस्वस्थः पुनः सर्वमेतद्योग्यश्रेष्ठामात्येषु समर्पयेत् ॥ २२६ ॥ (वे. श्लो. १६)।

इति श्रीकुल्लूकभट्टकृतायां मन्वर्थमुक्तावल्यां मनुवृत्तौ सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अथाष्टमोऽध्यायः

व्यवहारान्दिदृक्षुस्तु ब्राह्मणैः सह पार्थिव ।
मन्त्रज्ञैर्मन्त्रिभिश्चैव विनीतः प्रविशेत्सभाम् ॥ १ ॥

(प्रजाओंके वक्ष्यमाण—८।४—७) व्यवहार अर्थात् मुकदमोंको देखनेका इच्छुक राजा (आगे कहे जानेवाले लक्षणोंसे युक्त) ब्राह्मणों तथा पूर्वोक्त पञ्चाङ्गोंसे युक्त मन्त्रोंको जाननेवाले मन्त्रियोंके साथ नम्रभावसे (वचन, हाथ—पैर तथा नेत्रादि की चञ्चलतासे रहित होकर) राजसभा (न्यायालय) में प्रवेश करे ॥ १ ॥

एवंविधविपक्षमहीविजयः प्रजानां रक्षणादवाप्तवृत्तिस्तासामेवेतरेतरविवादजपीडापरिहारार्थम् ऋणादानाद्यष्टादशविवादे विरुद्धार्थार्थिप्रत्यर्थिवाक्यजनितसंदेहहारी विचार एव व्यवहारः । तदाह कात्यायनः—

"विना नार्थेऽव संदेहे हरणं हार उच्यते ।
नानासंदेहहरणाद्व्यवहार इति स्मृतः" ॥

तान्व्यवहारान्द्रष्टुमिच्छन्पृथिवीपतिर्वक्ष्यमाणलक्षणलक्षितैर्ब्राह्मणैरमात्यैश्च सप्तमाध्यायोक्तपञ्चाङ्गमन्त्रैः सह विनीतो वाक्पाणिपादचापल्यविरहादनुद्धतः । अविनीते हि नृपे वादिप्रतिवादिनां प्रतिभाक्षयादसम्यगभिधाने तत्त्वनिर्णयो न स्यात् । तादृशो वक्ष्यमाणां सभां प्रविशेत् । व्यवहारदर्शनं चेदं प्रजानामितरेतरपीडायां तत्त्वनिर्णयेन रक्षणार्थं, वक्ष्यमाणदृष्टादृष्टार्थकरणफलेनैव फलवत् ॥ १ ॥

तत्रासीनः स्थितो वाऽपि पाणिमुद्यम्य दक्षिणम् ।
विनीतवेषाभरणः पश्येत्कार्याणि कार्यिणाम् ॥ २ ॥

(राजा) वहाँपर अर्थात् न्यायालयमें बैठकर या खड़ा होकर दहने हाथको उठाकर विनम्र वेष—भूषासे युक्त होकर कार्यार्थियोंके कार्योंको देखे ॥ २ ॥

तस्यां च सभायां कार्यगौरवापेक्षायामुपविष्टो, लघुनि कार्ये उत्थितोऽपि वा । पाणिशब्दो बाहुपरः, दक्षिणपाणिमुद्यम्यानुद्धतवेषालंकारः, पूर्वत्रश्लोक इन्द्रियानौद्धत्यमुक्तम् । तादृशः कार्याणि विचारयेत् ॥ २ ॥

प्रत्यहं देशदृष्टैश्च शास्त्रदृष्टैश्च हेतुभिः ।
अष्टादशसु मार्गेषु निबद्धानि पृथक्पृथक् ॥ ३ ॥
[हिंसां यः कुरुते कश्चिद्देयं वा न प्रयच्छति ।
स्थाने ते द्वे विवादस्य भिन्नोऽष्टादशधा पुनः ॥ १ ॥]

अट्ठारह (८।४—७) व्यवहार—मार्गोंके कार्योंको देश, जाति तथा कुलके व्यवहारोंसे और साक्षी, द्रव्य आदि कारणोंसे प्रतिदिन पृथक्-पृथक् विचार करे ॥ ३ ॥

[जो कोई हिंसा करता है अर्थात् किसीको मारता या किसी प्रकार पीड़ित करता है तथा देय (देने योग्य धन, भूमि आदि) नहीं देता है, ये दो विवाद (झगड़े) के स्थान हैं और फिर वे १८ प्रकारके हैं ॥ १ ॥]

तानि च ऋणादानादीनि कार्याण्यष्टादशसु व्यवहारमार्गेषु विषयेषु पठितानि देशजातिकुलव्यवहारावगतैः शास्त्रावगतैः साक्षिद्रव्यादिभिर्हेतुभिः पृथक्पृथक् प्रत्यहं विचारयेत् ॥

तान्येवाष्टदश गणयति—

तेषामाद्यमृणादानं निक्षेपोऽस्वामिविक्रयः।
संभूय च समुत्थानं दत्तस्यानपकर्म च ॥ ४ ॥
वेतनस्यैव चादानं संविदश्च व्यतिक्रमः।
क्रयविक्रयानुशयो विवादः स्वामिपालयोः ॥ ५ ॥
सीमाविवादधर्मश्च पारुष्ये दण्डवाचिके।
स्तेयं च साहसं चैव स्त्रीसंग्रहणमेव च ॥ ६ ॥
स्त्रीपुंधर्मो विभागश्च द्यूतमाह्वय एव च।
पदान्यष्टादशैतानि व्यवहारस्थिताविह ॥ ७ ॥

१ ऋण लेना, २ धरोहर (थाती) रखना, ३ किसी वस्तु या भूमि आदिका स्वामी न होनेपर भी उसे बेंच देना, ४ अनेक व्यक्तियों (व्यापारी आदि) का मिलकर संयुक्त रूपसे कार्य करना, ५ दान आदिमें दी गयी सम्पत्ति या किसी वस्तुको क्रोध, लोभ या अपात्रताके कारण वापस ले लेना, ६ नौकरोंका वेतन या मजदूरोंकी मजदूरी नहीं देना, ७ पूर्व निर्णीत व्यवस्था (सन्धिपत्रादि) को नहीं मानना, ८ क्रय-विक्रय (खरीदना-बेचना) में विवाद उपस्थित होना, ९ स्वामी तथा पालक (रखवाली करनेवाले) में परस्पर विवाद होना, १० सीमाके विषयमें विवाद होना, ११ दण्ड-पारुष्य (अत्यधिक मार-पीट करना), १२ वाक्पारुष्य (अनधिकार गाली आदि देना), १३ चोरी करना, १४ अतिसाहस करना (डाका डालना, आग लगाना आदि), १५ स्त्रीका परपुरुषके साथ सम्भोग आदि करना, १६ स्त्री-पुरुषका धर्म, १७ पैतृक (पिताके) धन-सम्पत्ति या भूमि आदिका बटवारा करना और १८ जुआ खेलना या द्रव्यादि रखकर (बाजी लगाकर अर्थात् दांवपर धन आदि लगाकर) पशु (भेंड़ा, भैंसा आदि), पक्षी (मुर्गा, तीतर, बटेर आदि) को लड़ाना ये १८ स्थान व्यवहार (मुकदमे) की स्थितिमें कहे गये है ॥ ४–७ ॥

तेषामष्टादशानां मध्ये आदाविह ऋणादानं विचार्यते। तस्य स्वरूपमुक्तं नारदेन—

"ऋणं देयमदेयं च येन यत्र यथा च यत्।
दानग्रहणधर्माश्च तदृणादानमुच्यते" ॥

ततश्च स्वधनस्यान्यस्मिन्नर्पणरूपो निक्षेपः, अस्वामिना च कृतो विक्रयः। संभूय वणिगादीनां क्रियानुष्ठानम्। दत्तस्य धनस्यापात्रबुध्या क्रोधादिना वा ग्रहणम्। कर्मकरस्य भृतेरदानम्। कृतव्यवस्थाऽतिक्रमः। क्रये विक्रये च कृते पश्चात्तापाद्विप्रतिपत्तिः। स्वामिपशुपालयोर्विवादः। ग्रामादिसीमाविप्रतिपत्तिः। वाक्पारुष्यमाक्रोशनादि। दण्डपारुष्यं ताडनादि। स्तेयं निह्नवेन धनग्रहणम्। साहसं प्रसह्य धनहरणादि। स्त्रियाश्च परपुरुषसंपर्कः। स्त्रीसहितस्य पुंसो धर्मव्यवस्था। पैतृकादिधनस्य च विभागः। अक्षादिक्रीडा पणव्यवस्थापनपूर्वकम्। पक्षिमेषादिप्राणियोधनम्। इत्येवमष्टादश। एतानि व्यवहारप्रवृत्तेः स्थानानि। समाह्वयस्य प्राणिद्यूतरूपत्वेन द्यूतावन्तरविशेषत्वादष्टादशसंख्योपपत्तिः ॥४-७॥

एषु स्थानेषु भूयिष्ठं विवादं चरतां नृणाम्।
धर्मं शाश्वतमाश्रित्य कुर्यात्कार्यविनिर्णयम् ॥ ८ ॥

राजा इन व्यवहार-स्थानोंमें (मुकदमोंके विषयोंमें इसी प्रकारके अन्याय विवादस्थ विषयोंमें भी) परस्पर विवाद करते (झगड़ते) हुए लोगोंके वंशादि-क्रमागत नित्यधर्मका विचारकर निर्णय (न्याय) करे ॥ ८ ॥

एष्वृणादानादिषु व्यवहारस्थानेषु बाहुल्येन विवादं कुर्वतां मनुष्याणामनादिपारंपर्यागतत्वेन नित्यं धर्ममवलम्ब्य कार्यनिर्णयं कुर्यात्। भूयिष्ठशब्देनान्यान्यपि विवादपदानि सन्तीति सूचयति। तानि च प्रकीर्णकशब्देन नारदाद्युक्तानि। अत एव नारदः—

'न दृष्टं यच्च पूर्वेषु सर्वं तत्स्यात्प्रकीर्णकम्"। इति ॥ ८ ॥

यदा स्वयं न कुर्यात्तु नृपतिः कार्यदर्शनम्।
तदा नियुञ्ज्याद्विद्वांसं ब्राह्मणं कार्यदर्शने ॥ ९ ॥

यदि राजा स्वयं विवादों (मुकदमों) का न्याय (फैसला) न करे तो उस कार्यको देखनेके लिये विद्वान् ब्राह्मणको नियुक्त करे ॥ ९ ॥

यदा कार्यान्तराकुलतया रोगादिना वा राजा स्वयं कार्यदर्शनं न कुर्यात्तदा तद्दर्शनार्थं कार्यदर्शनाभिज्ञं ब्राह्मणं नियुञ्जीत ॥ ९ ॥

सोऽस्य कार्याणि संपश्येत्सभ्यैरेव त्रिभिर्वृतः।
सभामेव प्रविश्याग्र्यामासीनः स्थित एव वा ॥ १० ॥

वह (राजाके द्वारा नियुक्त विद्वान् ब्राह्मण) भी तीन सदस्यों (धार्मिक एवं कार्यज्ञ ब्राह्मणों) के साथ ही न्यायालयमें जाकर आसनपर बैठकर या खड़ा होकर (राजाके देखने योग्य उन) मुकदमोंका फैसला करे ॥ १० ॥

स ब्राह्मणोऽस्य राज्ञो द्रष्टव्यानि कार्याणि त्रिभिर्ब्राह्मणैः सभायां साधुभिर्धार्मिकैः कार्यदर्शनाभिज्ञैर्वृतस्तामेव सभां प्रविश्योपविश्य स्थितो वा, न तु चंक्रम्यमाणस्तस्य चित्तव्याक्षेपसंभवात्तादृशऋणादानादीनि कार्याणि पश्येत् ॥ १० ॥

यस्मिन्देशे निषीदन्ति विप्रा वेदविदस्त्रयः।
राज्ञश्चाधिकृतो विद्वान्ब्रह्मणस्तां सभां विदुः ॥ ११ ॥

जहाँपर वेदज्ञ (ऋक्, यजुष् तथा सामवेदके ज्ञाता) तीन ब्राह्मण तथा राजासे अधिकार-प्राप्त विद्वान् ब्राह्मण बैठते हैं, उसे (विद्वान् लोग चतुर्मुख अर्थात् ब्रह्माकी सभाके समान) 'सभा' कहते हैं ॥ ११ ॥

यस्मिन्स्थाने ऋग्यजुःसामवेदिनस्त्रयोऽपि ब्राह्मणा अवतिष्ठन्ते, राज्ञाऽधिकृतश्च विद्वान्ब्राह्मण एव प्रकृतत्वादवतिष्ठते, तां सभां चतुर्मुखसभामिव मन्यन्ते ॥ ११ ॥

धर्मो विद्धस्त्वधर्मेण सभां यत्रोपतिष्ठते।
शल्यं चास्य न कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः ॥ १२ ॥

जिस सभा (न्यायालय) में धर्म (सत्य भाषण) अधर्म (असत्य भाषण) से पीडित होकर रहता है अर्थात् असत्य बात कहकर सच्ची बात छिपायी जाती है, (और सभामें स्थित सदस्य) वे ब्राह्मण इस धर्म-पीडाकारक शल्यको दूर नहीं करते अर्थात् असत्य पक्षको छोड़कर सत्य पक्षका आश्रय नहीं लेते, सभामें (सदस्य अर्थात् न्यायाधीश रूपसे) स्थित वे ब्राह्मण ही अधर्मरूपी शल्यसे विद्ध (पीडित) होते हैं ॥ १२ ॥

भाः प्रकाशस्तया सह वर्तत इति विद्वत्संहतिरेवात्र सभाशब्देनाभिमता। यत्र देशे सभां विद्वत्संहतिरूपां धर्मः सत्याभिधानजन्योऽनृताभिधानजन्येनाधर्मेण पीडित आगच्छति, अ-

र्थिप्रत्यर्थिनोर्मध्ये एकस्य सत्याभिधानादपरस्य मृषावादात्ते च सभासदोऽस्य धर्मस्य पीडाकरत्वाच्छल्यमिवाधर्मं नोद्धरन्ति, तदा ते एव तेनाधर्मशल्येन विद्धा भवन्ति ॥ १२ ॥

सभां वा न प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं वा समञ्जसम् ।
अब्रुवन्विब्रुवन्वाऽपि नरो भवति किल्बिषी ॥ १३ ॥

या तो सभा (न्यायालय) में जाना ही नहीं चाहिये, या वहां जाकर सत्य ही बोलना चाहिये । सभामें जाकर कुछ नहीं कहता हुआ अर्थात् विवाद-विषयको जानकर भी किसीके भयसे या पक्ष लेकर सत्यभाषणको छिपानेके उद्देश्यसे कुछ नहीं कहता हुआ मनुष्य तत्काल पापभागी होता है ॥ १३ ॥

सभामवगम्य व्यवहारार्थं तत्प्रवेशो न कर्तव्यः । पृष्टश्चेत्तदा सत्यमेव वक्तव्यम् । अन्यथा तूष्णीमवतिष्ठमानो मृषा वा वदन्नुभयथाऽपि सद्यः पापी भवति । मेधातिथिना तु "सभा वा न प्रवेष्टव्या" इति । ऋज्वेव पठितम् ॥ १३ ॥

यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च ।
हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः ॥ १४ ॥

जिस सभा (न्यायालय) में सभासदों (न्यायाधीशों-जज, मजिस्ट्रेट आदि) के सामने (अर्थी तथा प्रत्यर्थी अर्थात् क्रमशः मुद्दई और मुद्दालह दोनोंके द्वारा या इनमेंसे किसी एकके द्वारा) धर्म अधर्मसे तथा सत्य असत्यसे पीडित होता (छिपाया जाता) है, उस सभामें वे सदस्य ही पापसे नष्ट होते हैं (अतः उनका कर्तव्य है कि वे असत्य बोलनेवालोंको दण्डित करें) ॥ १४ ॥

यस्यां सभायामर्थिप्रत्यर्थिभ्यामधर्मेण धर्मो न दृश्यते । यत्र च साक्षिभिः सत्यमनृतेन नाश्यते, सभासदां प्रेक्षमाणानांताननादृत्य ते प्रतीकारक्षमा न भवन्तीत्यर्थः । "षष्ठी चानादरे" (पा. सू. २।३।३८) इत्यनेन षष्ठी । तत्र त एव सभासदस्तेन पापेन हता भवन्ति ॥१४॥

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत् ॥ १५ ॥

नष्ट किया गया धर्म ही (इष्ट-अनिष्टके साथ) नष्ट करता है और सुरक्षित धर्म ही (इष्ट-अनिष्टके साथ) रक्षा करता है, अत एव धर्मको (असत्य भाषणसे) नष्ट नहीं करना चाहिये; क्योंकि नहीं नष्ट हुआ अर्थात् सुरक्षित धर्म ही नहीं मारता (रक्षा करता) है, अथवा—'नष्ट हुआ धर्म हम लोगोंको नष्ट नहीं करे' यह जानकर धर्मको नष्ट नहीं करना चाहिये (अपितु असत्य भाषण करने वालेको दण्डित कर भाषणके द्वारा धर्मकी रक्षा करनी चाहिये) ॥ १५ ॥

यस्माद्धर्म एवातिक्रान्त इष्टानिष्टाभ्यां सह नाशयति नार्थिप्रत्यर्थ्यादि । स एव नातिक्रान्तस्ताभ्यां सह रक्षति । तस्माद्धर्मो नातिक्रमणीयः । माऽस्मान् त्वत्सहितानतिक्रान्तो धर्मोऽवधीदिति सभ्यानामुत्पथप्रवृत्तस्य प्राड्विवाकस्य सम्बोधनमिदम् । अथवा नो निषेधेऽव्ययं, नो हतो धर्मो मावधीत्, न हन्त्यवेत्यभिप्रायः ॥ १५ ॥

वृषो हि भगवान्धर्मस्तस्य यः कुरुते ह्यलम् ।
वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद्धर्मं न लोपयेत् ॥ १६ ॥

भगवान् धर्मको 'वृष' (काम अर्थात् मनोभिलषितको वरसानेवाला) कहते हैं, जो मनुष्य उसका वारण (नाश) करता है, उसे देवता लोग 'वृषल' (धर्मको लेने या काटने वाला) अर्थात् शूद्र कहते हैं, अत एव धर्मका नाश न करे ॥ १६ ॥

कामान्वर्षतीति वृषः, वृषशब्देन धर्म एवाभिधीयत इति। अलंशब्दो वारणार्थः। यस्माद्धर्मस्य यो वारणं करोति तं देवा वृषलं जानन्ति, न जातिवृषलं, तस्माद्धर्मं नोच्छिन्द्यादिति धर्मव्यतिक्रमखण्डनार्थं वृषलशब्दार्थनिर्वचनम् ॥ १६ ॥

एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यद्धि गच्छति ॥ १७ ॥

इस संसारमें एक धर्म ही मित्र है, जो मरनेपर भी साथ जाता है और सब (स्त्री, पुत्र, धन, धान्यादि सम्पत्ति) तो शरीरके साथ ही नष्ट हो जाते हैं ॥ १७ ॥

धर्म एवैको मित्रम्, यो मरणेऽप्यभीष्टफलदानार्थमनुगच्छति, यस्मादन्यत्सर्वं भार्यापुत्रादि शरीरेणैव सहादर्शनं गच्छति। तस्मात्पुत्रादि स्नेहापेक्षयाऽपि धर्मो न हातव्यः ॥ १७ ॥

पादोऽधर्मस्य कर्तारं पादः साक्षिणमृच्छति।
पादः सभासदः सर्वान्पादो राजानमृच्छति ॥ १८ ॥

व्यवहार (मुददमे) को ठीक न देखनेपर (न्यायाधीशके उचित न्याय न करनेपर) अधर्म का प्रथम चतुर्थांश अधर्म करनेवालेको, द्वितीय चतुर्थांश गवाह (साक्षी) को, तृतीय चतुर्थांश सदस्यों (न्यायाधीशों—राजद्वारा नियुक्त जज, मजिस्ट्रेट आदि) को तथा चतुर्थ चतुर्थांश राजा को मिलता है ॥ १८ ॥

दुर्व्यवहारदर्शनादधर्मसम्बन्धी चतुर्थभागोऽर्थिनमधर्मकर्तारं प्रत्यर्थिनं वा गच्छति। परश्चतुर्थभागः साक्षिणमसत्यवादिनम्। अन्यपादः सभासदः सर्वानधर्मप्रवृत्त्यनिवारकान्व्याप्नोति। पादश्च राजानं व्रजति। सर्वेषां पापसंबन्धो भवतीत्यत्र विवक्षितम् ॥ १८ ॥

राजा भवत्यनेनास्तु मुच्यन्ते च सभासदः।
एनो गच्छति कर्त्तारं निन्दार्हो यत्र निन्द्यते ॥ १९ ॥

जिस सभा (न्यायालय = कचहरी) में निन्दनीय अर्थी (मुद्दई) तथा प्रत्यर्थी (मुद्दालह) निन्दित अर्थात् न्यायपूर्वक दण्डित होता है, उस सभा में पापकर्ता ही पापभागी होता है और राजा तथा सभासद (न्यायाधीश) को दोष नहीं लगता (अत एव राजाका कर्तव्य है कि वह धर्मात्मा सभासदोंको इस काममें नियुक्त करे तथा सभासदोंका कर्तव्य है कि वे धर्मको लक्ष्यकर अपराधके अनुसार अपराधीको दण्डित करें) ॥ १९ ॥

यस्यां पुनः सभायामसत्यवादी निन्दार्होऽर्थी प्रत्यर्थी वा सम्यक् न्यायदर्शनेन निन्द्यते, तत्र राजा निष्पापो भवति। सभासदश्च पापेन न संबध्यन्ते। अर्थ्यादिकमेव कर्तारं पापमुपैति ॥ १९ ॥

जातिमात्रोपजीवी वा कामं स्याद् ब्राह्मणब्रुवः।
धर्मप्रवक्ता नृपतेर्न तु शूद्रः कथंचन ॥ २० ॥

केवल जाति (ब्राह्मणमात्र) होने से अन्य जातिकी जीविका करनेवाला अर्थात् ब्राह्मण की वृत्तिको छोड़कर जीवन-निर्वाहके लिए क्षत्रिय या वैश्यका कार्य करनेवाला अथवा (ब्राह्मणत्वमें सन्देह होनेपर भी) अपनेको ब्राह्मण कहनेवाला किसी व्यवहार (मुकदमे) को देखनेमें राजाका धर्मप्रवक्ता (न्यायाधीश) हो सकता है, किन्तु किसी प्रकार (ब्राह्मण का कर्म करता हुआ या धर्मात्मा) भी शूद्र धर्मप्रवक्ता नहीं हो सकता ॥ २० ॥

ब्राह्मणजातिमात्रं यस्य विद्यते, न तु ब्राह्मणकर्मानुष्ठानं वणिगादिवत्साचयादिद्वारेण स्फुटन्यायान्यायनिरूपणक्षमः, ब्राह्मणजातिरपि वा यस्य संदिग्धा, आत्मानं ब्राह्मणं ब्रवीति, स वरम्। उक्तयोग्यब्राह्मणाभावे च क्वचित्कार्यदर्शने नृपतेर्धर्मप्रवक्ता भवेन्न तु धार्मिकोऽपि व्यवहारज्ञोऽपि शूद्रः। ब्राह्मणो धर्मप्रवक्तेति विधानादेव शूद्रनिवृत्तिः सिद्धा, पुनर्नतु शूद्र इति। शूद्रनिषेधो योग्यब्राह्मणाभावे क्षत्रियवैश्ययोरभ्यनुज्ञानार्थः। अत एव कात्यायनः—

यत्र विप्रो न विद्वान्स्यात्क्षत्रियं तत्र योजयेत्।
वैश्यं वा धर्मशास्त्रज्ञं शूद्रं यत्नेन वर्जयेत॥ २०॥

यस्मात्—

यस्य शूद्रस्तु कुरुते राज्ञो धर्मविवेचनम्।
तस्य सीदति तद्राष्ट्रं पङ्के गौरिव पश्यतः॥ २१॥

जिस राजाके राज्यमें विचार शूद्र करता है, उस राजाके देखते-देखते उसका राज्य कीचड़में फँसी हुई गौके समान दुःखित होता है॥ २१॥

यस्य राज्ञो धर्मविवेचनं शूद्रः कुरुते, तस्य पश्यत एव पङ्के गौरिव तद्राष्ट्रमवसन्नं भवति॥ २१॥

यद्राष्ट्रं शूद्रभूयिष्ठं नास्तिकाक्रान्तमद्विजम्।
विनश्यत्याशु तत्कृत्स्नं दुर्भिक्षव्याधिपीडितम्॥ २२॥

जो राज्य बहुतसे शूद्रों तथा नास्तिकों (परलोक तथा ईश्वरको नहीं माननेवालों) से व्याप्त तथा ब्राह्मणोंसे रहित है, दुर्भिक्ष तथा व्याधियोंसे पीड़ित वह सम्पूर्ण राज्य ही नष्ट हो जाता है॥ २२॥

यद्राष्ट्रं शूद्रबहुलं, बहुबपरलोकाभाववाद्याक्रान्तं, द्विजशून्यं, तत्सर्वं दुर्भिक्षरोगपीडीतं सत् शीघ्रं विनश्यति। "अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यक्" (म. स्मृ. ३.७६) इत्यस्याभावेन वृष्टिविरहादुपजातदुर्भिक्षरोगाद्युपसर्गशान्त्यर्थकर्माभावाच्च॥ २२॥

धर्मासनमधिष्ठाय संवीताङ्गः समाहितः।
प्रणम्य लोकपालेभ्यः कार्यदर्शनमारभेत्॥ २३॥

(धर्मकार्य देखनेके लिए) धर्मासनपर बैठकर, शरीरको ढँककर एकाग्रचित्त होकर तथा लोकपालोंको प्रणामकर सभासद कार्य अर्थात् मुकदमेको देखना आरम्भ करें॥ २३॥

धर्मदर्शनार्थमासन उपविश्य आच्छादितदेहोऽनन्यमना लोकपालेभ्यः प्रणामं कृत्वा कार्यदर्शनमनुतिष्ठेत्॥ २३॥

अर्थानर्थावुभौ बुद्ध्वा धर्माधर्मौ च केवलौ।
वर्णक्रमेण सर्वाणि पश्येत्कार्याणि कार्यिणाम्॥ २४॥

(सभासद क्रमशः प्रजापालन तथा प्रजोच्छेदरूप) अर्थ तथा अनर्थ और धर्म तथा अधर्मको जानकर सब कार्यार्थियों (मुद्दई-मुद्दालह) के कार्यों (मुकदमों) को वर्ण (ब्राह्मण-क्षत्रिय आदि) के क्रम से देखे॥ २४॥

प्रजारक्षणोच्छेदाद्यात्मकावैदिकावर्थानर्थौ बुद्ध्वा परलोकार्थं धर्माधर्मौ केवलावनुरुध्य यथा विरोधो न भवति तथा कार्यार्थिनां कार्याणि पश्येत्। बहुवर्णमेलके तु ब्राह्मणादिक्रमेण पश्येत्॥ २४॥

बाह्यैर्विभावयेल्लिङ्गैर्भावमन्तर्गतं नृणाम्।
स्वरवर्णेङ्गिताकारैश्चक्षुषा चेष्टितेन च॥ ॥ २५॥

(न्यायाधीश) बाहरी चिह्नोंसे, स्वर (बोलनेके समय रुकना घबड़ाना, गद्गद होना आदि), वर्ण मुखका उदास या प्रसन्न होना आदि), इङ्गित (सामने नहीं देख सकना अर्थात् नीचेकी ओर या इधर-उधर देखना), आकार (कम्पन, स्वेद, रोमाञ्च आदिका होना) और चेष्टित (हाथोंको मसलना, अङ्गुलियोंको चटखाना, अङ्गोंको मरोड़ना आदि) से मनुष्यों (अर्थी, प्रत्यर्थी, साक्षी आदि) के भीतरी भावोंको मालूम करे ॥ २५ ॥

बाह्यैः स्वरादिलिङ्गैरित्यभिधानादेवावधारितव्यापारैरर्थिप्रत्यर्थिनामन्तर्गतमभिप्रायं निरूपयेत। स्वरो गद्गदादिः, वर्णः स्वाभाविकवर्णादन्यादृशो मुखकालिमादिः, इङ्गितमनिरीक्षणादिः, आकारो देहभवस्वेदरोमाञ्चादिः, चेष्टा हस्तास्फालनादिः ॥ २५ ॥

आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषितेन च।
नेत्रवक्त्रविकारैश्च गृह्यतेऽन्तर्गतं मनः ॥ २६ ॥

आकार, इङ्गित, गमन, चेष्टा, भाषण तथा नेत्र एवं मुखके विकारोंसे (मनुष्योंका) भीतरी भाव मालूम होता है ॥ २६ ॥

आकारादिभिः पूर्वोक्तैः गत्या स्खलत्पादादिकया अन्तर्गतमनोबुद्धिरूपेण परिणतमवधार्यते ॥ २६ ॥

बालदायादिकं रिक्थं तावद्राजाऽनुपालयेत्।
यावत्स स्यात्समावृत्तो यावच्चातीतशैशवः ॥ २७ ॥

राजाको नाबालिग या अनाथके धनकी तबतक रक्षा करना चाहिये, जबतक उसका समावर्तन संस्कार (ब्रह्मचर्यकी पूर्तिके बादका तथा गृहस्थाश्रममें प्रवेशके पहलेका संस्कार विशेष) न हो जाय या उसकी अवस्था सोलह वर्षकी न हो जाय ॥ २७ ॥

अनाथबालस्वामिकं धनं पितृव्यादिभिरन्यायेन गृह्यमाणं तावद्राजा रक्षेत्, यावदसौ षट्त्रिंशदब्दादिकं ब्रह्मचर्यमित्याद्युक्तेन प्रकारेण गुरुकुलात्समावृत्तो न भवति, तादृशस्यावश्यकबाल्यविगमात्। यस्त्वशक्त्यादिना बाल एव समावर्तते, सोऽपि यावदतीतबाल्यो भवति तावत्तस्य धनं रक्षेत्। बाल्यं च षोडशवर्षपर्यन्तम्, "बाल आषोडशाद्वर्षात्" इति नारदवचनात् ॥ २७ ॥

वशाऽपुत्रासु चैवं स्याद्रक्षणं निष्कुलासु च।
पतिव्रतासु च स्त्रीषु विधवास्वातुरासु च ॥ २८ ॥
[एवमेव विधिः कुर्याद्योषित्सु पतितास्वपि।
वस्त्रान्नपानं देयं च वसेयुश्च गृहान्तिके ॥ २ ॥]

वन्ध्या, पुत्र या कुल (सपिण्ड) से हीन पतिव्रता विधवा और रोगिणी स्त्रियों की सम्पत्तिकी रक्षा भी पूर्वोक्त वचन (८।२७) के अनुसार ही राजाको करना चाहिये ॥ २८ ॥

[(राजा) पतित स्त्रियों (के धन) के विषयमें भी यह (८।२८) व्यवस्था करे; उनके लिये उचित भोजन वस्त्र (खानेके लिये अन्न तथा पहननेके लिये वस्त्र) दे और वे स्त्रियां घरके पास ही निवास करें ॥ २ ॥]

वशासु वन्ध्यासु कृतदारान्तरपरिग्रहः स्वामी निर्वाहार्थोपकल्पितधनोपायासु निरपेक्षः, अपुत्रासु च स्त्रीषु प्रोषितभर्तृकासु, निष्कुलासु सपिण्डरहितासु, साध्वीषु च स्त्रीषु, विधवासु, रोगिणीषु च यद्धनं तस्यापि बालधनस्येव राज्ञा रक्षणं कर्तव्यम्। अत्र चानेकशब्दोपादाने गोबलीवर्दन्यायेन पुनरुक्तिपरिहारः ॥ २८ ॥

जीवन्तीनां तु तासां ये तद्धरेयुः स्वबान्धवाः ।
ताञ्छिष्याच्चौरदण्डेन धार्मिकः पृथिवीपतिः ॥ २९ ॥

उन जीवित स्त्रियों (८-२८) का धन जो बान्धव आदि रक्षा करनेके बहानेसे या अन्य प्रकारसे दबाकर ले धर्मात्मा राजा चोरके समान दण्डित कर उनका शासन करे ॥ २९ ॥

वयमत्रानन्तराधिकारिणो रक्षाम इदं धनमित्यादिव्याजेन ये बान्धवास्तासां जीवन्तीनां तद्धनं गृह्णन्ति तान्वक्ष्यमाणचौरदण्डेन धार्मिको राजा दण्डयेत् ॥ २९ ॥

प्रणष्टस्वामिकं रिक्थं राजा त्र्यब्दं निधापयेत् ।
अर्वाक् त्र्यब्दाद्धरेत्स्वामी परेण नृपतिर्हरेत् ॥ ३० ॥

राजा अस्वामिक (लावारिस) धनको तीन वर्ष तक सुरक्षित रखे (यह किसका धन है ? कहां तथा किस प्रकार खो गया था ?' इत्यादि घोषणाकर राजद्वार आदि सबके देखने योग्य स्थान पर रखे), तीन वर्षके पहले उस धनका स्वामी (प्रमाण देकर) उन धनको ले जावे तथा तीन वर्षके बाद राजा उस धनको अपने अधीन कर ले अर्थात् अपने कोषमें सम्मिलित करले ॥ ३० ॥

अज्ञातस्वामिकं धनं राजा कस्य किं प्रणष्टमित्येवं पटहादिना उद्घोष्य राजद्वारादौ रक्षितं वर्षत्रयं स्थापयेत । वर्षत्रयमध्ये यदि धनस्वाम्यागच्छति तदा स एव गृह्णीयात् । तदूर्ध्वं तु नृपतिर्विनियुञ्जीत ॥ ३० ॥

ममेदमिति यो ब्रूयात्सोऽनुयोज्यो यथाविधि ।
संवाद्य रूपसंख्यादीन्स्वामी तत् द्रव्यमर्हति ॥ ३१ ॥

(उस अस्वामिक अर्थात् लावारिस धनको) जो कोई 'यह मेरा हैं' ऐसा कहे, उससे राजा विधिपूर्वक प्रश्न करे (धनका रंग, रूप, तौल या गिनती आदि प्रमाण, नष्ट होनेका स्थान तथा (समय तथा आदि पूछे) और उसके कहनेके अनुसार धनका रंग संख्या आदि प्रमाण ठीक-ठीक मिल जाय तो उस धनका वह मनुष्य अधिकारी होता है (अत एव राजा वह धन उस मनुष्यको दे दे)॥ ३१ ॥

मदीयं धनमिति यो वदति स किंरूपं, किंसंख्याकं, कुत्र प्रणष्टं तद्धनमित्यादिविधानेन प्रष्टव्यः । ततो यदि रूपसंख्यादीन् सत्यान्वदति तदा स तत्र धनस्वामी तद्धनं ग्रहीतुमर्हति ॥ ३१ ॥

अवेदयानो नष्टस्य देशं कालं च तत्त्वतः ।
वर्णं रूपं प्रमाणं च तत्समं दण्डमर्हति ॥ ३२ ॥

अस्वामिक (लावारिस) धनके नष्ट होने (भूलने) के स्थान, रंग, रूप तथा प्रमाणको ठीक-ठीक नहीं बतलानेपर (उस धन को अपना कहनेवाले) व्यक्तिसे जितना धन हो उतना ही दण्ड ले (जुर्माना करे) ॥ ३२ ॥

नष्टद्रव्यस्य देशकालावस्मिन्देशेऽस्मिन्काले नष्टमिति, तथा वर्णं शुक्लादि, आकारं कटकमुकुटादि, परिमाणं च यथावदजानन्नष्टद्रव्यसमदण्डमर्हति ॥ ३२ ॥

देशकालादिसंवादे पुनः—

आददीताथ षड्भागं प्रणष्टाधिगतान्नृपः ।
दशमं द्वादशं वाऽपि सतां धर्ममनुस्मरन् ॥ ३३ ॥

अस्वामिक (लावरिस) धनको अपना बतलानेवाला व्यक्ति (उस धनके रंग. रूप, नष्ट होने का स्थान, प्रमाण आदि ठीक-ठीक बतला दे, तब राजा उस धनमें से पात्रके अनुसार षष्ठांश, दशमांश या द्वादशांश धनको धर्मका स्मरण करता हुआ ('ऐसे अस्वामिक धनमें-से इतना भाग लेना राजाका धर्म है' यह मानता हुआ) ग्रहण करे (तथा शेष धन उस व्यक्तिको देवे) ॥ ३३ ॥

यदेतद्राज्ञा प्रणष्टद्रव्यं प्राप्तं तस्मात्षड्भागं दशमं द्वादशं वा रक्षादिनिमित्तं पूर्वेषां साधूनामयं धर्म इति जानन्राजा गृह्णीयात। धनस्वामिनो निर्गुणसगुणत्वापेक्षश्चायं षड्भागादिग्रहणविकल्पः। अवशिष्टं स्वामिने समर्पयेत् ॥ ३३ ॥

प्रणष्टाधिगतं द्रव्यं तिष्ठेद्युक्तैरधिष्ठितम्।
यांस्तत्र चौरान्गृह्णीयात्तान्राजेभेन घातयेत् ॥ ३४ ॥

यदि चोरी किये गये हुए धनको राजपुरुष (पुलिस आदिके) द्वारा प्राप्त करलें तो राजा योग्य रक्षकोंके द्वारा उस धनकी रक्षा करावे तथा उस धनके चोरको हाथीसे मरवा डाले ॥ ३४ ॥

यद्द्रव्यं कस्यापि प्रणष्टं सत् राजपुरुषैः प्राप्तं रक्षायुक्तै रक्षितं कृत्वा स्थाप्यम्। तस्मिंश्च द्रव्ये यांश्चौरान्गृह्णीयात्तान्हस्तिना घातयेत। गोविन्दराजस्तु "शतादभ्यधिके वधः" इति दर्शनादत्रापि शतसुवर्णस्य मौल्याधिकद्रव्यहरणे वधमाह, तन्न। तत्र सन्धिं कृत्वा तु ये चौर्यमिति स्वल्पेऽपि प्रणष्टराजरक्षितद्रव्यहरणेनैव विशेषेण वधविधानाच्छतादभ्यधिके वध इत्यस्य विशेषोपदिष्टवधेतरविषयत्वात् ॥ ३४ ॥

ममायमिति यो ब्रूयान्निधिं सत्येन मानवः।
तस्याददीत षड्भागं राजा द्वादशमेव वा ॥ ३५ ॥

स्वयं या राजपुरुष (पुलिस आदि) के द्वारा प्राप्त चोरी किये गये धनको जो मनुष्य सत्य-सत्य (उस धनका रंग, रूप, सङ्ख्या यादि प्रमाण, भूलने का स्थान आदि ठीक-ठीक) बतला दे, पष्ठांश या द्वादशांश लेकर शेष धन उस मनुष्यको वापस दे दे ॥ ३५ ॥

यो मानुषः स्वयं निधिं लब्ध्वा, अन्येन वा निधौ प्राप्ते ममायं निधिरिति वदति सत्येन प्रमाणेन च स्वसंबन्धं बोधयति, तस्य पुरुषस्य निर्गुणत्वसगुणत्वापेक्षया ततो निधानात् षड्भागं द्वादशभागं वा राजा गृह्णीयात। अवशिष्टं तस्यार्पयेत् ॥ ३५ ॥

अनृतं तु वदन्दण्ड्यः स्ववित्तस्यांशमष्टमम्।
तस्यैव वा निधानस्य संख्यायाल्पीयसीं कलाम् ॥ ३६ ॥

दूसरेके धनको अपना बतलानेवाले अपराधीको उसके धनका अष्टमांश या उसी धन (जिसे वह अपना बतलाता था) के बहुत थोड़े भागसे दण्डित करे अर्थात उससे जुर्माना वसूल करे ॥३६॥

अस्वीयं स्वीयमिति ब्रुवन्स्वधनस्याष्टमभागं दण्ड्यः। यद्वा तस्यैव निधेरत्यन्तात्पभागं गणयित्वा येनावसादं न गच्छति विनयञ्च लभते, तद्दण्ड्यः। अल्पीयसीमितीयसुन्नन्तनिर्देशात्पूर्वस्मादन्योऽयं दण्डः। विकल्पश्च निर्गुणसगुणापेक्षः ॥ ३६ ॥

विद्वांस्तु ब्राह्मणो दृष्ट्वा पूर्वोपनिहितं निधिम्।
अशेषतोऽप्याददीत सर्वस्याधिपतिर्हि सः ॥ ३७ ॥
[ब्राह्मणस्तु निधिं लब्ध्वा क्षिप्रं राज्ञे निवेदयेत्।
तेन दत्तं तु भुञ्जीत स्तेनः स्यादनिवेदयन् ॥ २ ॥]

विद्वान् ब्राह्मण तो पूर्वस्थापित धनको देखकर सब धन ले ले (षष्ठांश भाग भी राजाको न दे) क्योंकि वह (विद्वान् ब्राह्मण) सबका स्वामी है ॥ ३७ ॥

[ब्राह्मण निधि (स्थापित धन) को लेकर राजाके लिये निवेदन करे अर्थात् देवे, उससे दिये हुएका वह भोग करे, विना दिये (भोग करनेपर वह) चोर होता है ॥ ३ ॥]

विद्वान्पुनर्ब्राह्मणः पूर्वमुपनिहितं निधिं दृष्ट्वा सर्वं गृह्णीयात्। न षड्भागं दद्यात्। यस्मात्सर्वस्य धनजातस्य प्रभुः। अत एवोक्तम् "सर्वं स्वं ब्राह्मणस्येदम्" (म. स्मृ.१-१००) इति। तस्मात्परनिहितविषयमेतद्वचनम्। तथा च नारदः—

"परेण निहितं लब्ध्वा राजा ह्यपहरेन्निधिम्।
राजगामी निधिः सर्वं सर्वेषां ब्राह्मणादृते॥"

याज्ञवल्क्योऽप्याह—

राजा लब्ध्वा निधिं दद्याद्द्विजेभ्योऽर्धं द्विजः पुनः।
विद्वानशेषमादद्यात्स सर्वस्य प्रभुर्यतः॥ (या. स्मृ. २-३४)

अतो यन्मेधातिथिगोविन्दराजाभ्यां "ममायमिति यो ब्रूयात्" (म.स्मृ.८-३५) इत्युक्तं राजदेयार्थनिरासार्थं पित्रादिनिहितविषयत्वमेवास्य वचनस्य व्याख्यातं, तदनार्षम्।

नारदादिमुनिव्याख्याविपरीतं स्वकल्पितम्।
न मेधातिथिगोविन्दराजव्याख्यानमाद्रिये॥ ३७॥

यं तु पश्येन्निधिं राजा पुराणं निहितं क्षितौ।
तस्माद् द्विजेभ्यो दत्त्वार्धमर्धं कोशे प्रवेशयेत्॥ ३८॥

पृथ्वीमें गड़े हुए (अस्वामिक अर्थात् लावारिस) प्राचीन जिस धनको राजा देखे अर्थात् प्राप्त करे, उसमें-से आधा ब्राह्मणको दे और आधा अपने खजानेमें जमा करे॥ ३८॥

यं पुनरस्वामिकं पुरातनं भूम्यन्तर्गतं निधिं राजा लभते तस्मद् ब्राह्मणेभ्योऽर्धं दत्त्वार्धमात्मीयधनागारे च प्रवेशयेत्॥ ३८॥

निधीनां तु पुराणानां धातूनामेव च क्षितौ।
अर्धभाग्रक्षणाद्राजा भूमेरधिपतिर्हि सः॥ ३९॥

पृथ्वीमें गड़े हुए प्राचीन (ब्राह्मणको छोड़कर दूसरेके धनका तथा धातुओं के खानों) का आधा भाग रक्षा करनेसे राजा लेवे, क्योंकि वह पृथ्वीका स्वामी है॥ ३९॥

निधीनां पुरातनानामस्वकीयानां विद्वद्ब्राह्मणेतरलब्धानां सुवर्णाद्युत्पत्तिस्थानानां वार्धहरो राजा यस्मादसौ रक्षति, भूमेश्च प्रभुः॥ ३९॥

दातव्यं सर्ववर्णेभ्यो राज्ञा चौरैर्हृतं धनम्।
राजा तदुपयुञ्जानश्चौरस्याप्नोति किल्बिषम्॥ ४०॥

राजाको चोरोंके द्वारा चुराया गया धन (उन चोरोंसे लेकर) सब वर्णोंके लिये दे देना चाहिये। उस धनका उपयोग करता (अपने काममें लाता) हुआ राजा चोरके पापको प्राप्त करता है॥ ४०॥

यद्धनं चौरर्लोकानामपहृतं तद्राज्ञा चौरेभ्य आहृत्य धनस्वामिभ्यो देयम्। तद्धनं राजा स्वयमुपयुञ्जानश्चौरस्य पापं प्राप्नोति॥ ४४॥

---

१. विद्वान् ब्राह्मणः पूर्वैः पित्रादिभिरुपहितं निधिं यदा प्राप्नुयात्तदा सर्वमेवाददीत न राज्ञे पूर्वोक्तं भागं दद्यात्। अस्यार्थवादः—सर्वस्याधिपतिर्हि सः। तथा चोक्तं 'सर्वं स्वं ब्राह्मणस्येदम्" इति। एतच्चाशेषतो ग्रहणं, यो ब्राह्मणस्वामिक एव निधिः, यस्त्वविज्ञातस्तत्रैव।

जातिजानपदान्धर्माञ्छ्रेणीधर्मांश्च धर्मवित् ।
समीक्ष्य कुलधर्मांश्च स्वधर्मं प्रतिपादयेत् ॥ ४१ ॥

धर्मज्ञ (राजा) जातिधर्म (ब्राह्मणादिके लिए यज्ञ करना-कराना आदि), देशधर्म (देशानुसार शास्त्रानुकूल व्यवस्थित धर्म) श्रेणिधर्म (बनिया अर्थात् व्यापारी आदिके लिये नियत धर्म-विशेष) और कुलधर्म (वंशपरम्परानुसार नियत धर्म) को देखकर तदनुसार उनके अपने-अपने धर्मकी व्यावस्था करे ॥ ४१ ॥

धर्मान्ब्राह्मणादिजातिनियतान्याजनादीन् जानपदांश्च नियतदेशव्यवस्थितानाम्नायाविरुद्धान्, "देशजातिकुलधर्मांश्चाम्नायैरप्रतिषिद्धाः प्रमाणम्" इति गोतमस्मरणात्। श्रेणीधर्मांश्च वणिगादिधर्मान्प्रतिनियतकुलव्यवस्थितान्ज्ञात्वा तदविरुद्धान्राजा व्यवहारेषु तत्तद्धर्मान्व्यवस्थापयेत् ॥ ४१ ॥

यस्मात्—

स्वानि कर्माणि कुर्वाणा दूरे सन्तोऽपि मानवाः ।
प्रिया भवन्ति लोकस्य स्वे स्वे कर्मण्यवस्थिताः ॥ ४२ ॥

(जाति-देश-कुल-धर्मानुसार) अपने-अपने कार्यों को करते तथा अपने-अपने कार्यमें स्थित होकर दूर रहते हुए (साक्षात् नित्य-नैमित्तिक सन्बन्ध नहीं रहनेपर) भी मनुष्य लोकप्रिय हो जाते हैं ॥ ४२ ॥

जातिदेशकुलधर्मादीन्यात्मीयकर्माण्यनुतिष्ठन्तः, स्वे स्वे च नित्यनैमित्तिकादौ कर्मणि वर्तमानाः, दूरेऽपि सन्तः सान्निध्यनिबन्धनस्नेहाभावेऽपि लोकस्य प्रिया भवन्ति ॥४२॥

प्रासङ्गिकमिदमभिधाय पुनः प्रकृतमाह—

नोत्पादयेत्स्वयं कार्यं राजा नाप्यस्य पूरुषः ।
न च प्रापितमन्येन ग्रसेदर्थं कथंचन ॥ ४३ ॥

राजा या राजपुरुष स्वयं विवाद (झगड़े) को उत्पन्न (खड़ा-पैदा) न करे और दूसरे (अर्थी या प्रत्यर्थी अर्थात् मुद्दई या मुद्दालह) के लाये हुए विवादको किसी प्रकार (लोभ आदिके कारण) दबावे नहीं अर्थात् उसकी उपेक्षा नहीं करके उसका न्याय करे ॥ ४३ ॥

राजा राजनियुक्तो वा धनलोभादिना कार्यमृणादिविवादान्नोत्पादयेत्। तदाह कात्यायनः-

न राजा तु वशित्वेन धनलोभेन वा पुनः ।
स्वयं कर्माणि कुर्वीत नराणामविवादिनाम् ॥

न चार्थिना प्रत्यर्थिना वाऽऽवेदितं विवादं धनादिलोभेनोपेक्षेत ॥ ४३ ॥

यथा नयत्यसृक्पातैर्मृगस्य मृगयुः पदम् ।
नयेत्तथाऽनुमानेन धर्मस्य नृपतिः पदम् ॥ ४४ ॥

जिस प्रकार शिकारी मृगके रक्तपात (से चिह्नित मार्ग) से स्थानका निश्चय कर लेता है, उसी प्रकार राजाको अनुमान (८।२५-२६, या प्रत्यक्ष प्रमाण) से धर्मके तत्त्वका निर्णय करना चाहिये ॥ ४४ ॥

यथा मृगस्य शस्त्रहतस्य रुधिरपातैर्व्याधः पदं स्थानं प्राप्नोति, तथाऽनुमानेन दृष्टप्रमाणेन वा धर्मस्य तत्त्वं निश्चिनुयात् ॥ ४४ ॥

सत्यमर्थं च संपश्येदात्मानमथ साक्षिणः ।
देशं रूपं च कालं च व्यवहारविधौ स्थितः ॥ ४५ ॥

व्यवहार अर्थात् मुकदमा देखनेके लिये तैयार राजा सत्यसे युक्त व्यवहारको, अपनेको, (अन्याय करनेसे स्वर्गादि प्राप्ति नहीं होगी इत्यादि) साक्षियों (गवाहो) को देश, कालके अनुसार स्वरूप (छोटा या बड़ा इत्यादि) को देखे ॥ ४५ ॥

व्यवहारदर्शनप्रवृत्तो राजा छलमपहाय सत्यं पश्येत्तथार्थं च। अर्शं आदित्वान्मत्वर्थीयोऽच्। अर्थवन्तं गोहिरण्यादिधनविषयस्थं व्यवहारं पश्येत् , न त्वहमनेनाक्षिनिकोचनेनोपहसित इत्यादिस्वल्पापराधम्। आत्मानं च तत्त्वनिर्णये स्वर्गादिफलभागिनं, साक्षिणः सत्यवादिनः, देशं कालं च देशकालोचितं स्वरूपं, व्यवहारस्वरूपं गुरुलघुतादिकं पश्येत् ॥ ४५ ॥

सद्भिराचरितं यत्स्याद्धार्मिकैश्च द्विजातिभिः ।
तद्देशकुलजातीनामविरुद्धं प्रकल्पयेत् ॥ ४६ ॥

सज्जन (श्रेष्ठ विद्वान् एवं धार्मिक ब्राह्मणोंने जिसका पालन किया हो, देश कुल (वंश) तथा जातिके अनुसार उस व्यवहार का निर्णय करे ॥ ४६ ॥

विद्वद्भिर्धर्मप्रधानैर्द्विजातिभिर्यद् दृश्यमानशास्त्रमनुष्ठितं तद्देशकुलजात्यविरुद्धमादाय व्यवहारनिर्णयं प्रकल्पयेत् ॥ ४६ ॥

एतत्सकलव्यवहारसाधारणं परिभाषात्मकमुक्तम्। संप्रति ऋणादानमधिकृत्याह—

अधमर्णार्थसिद्ध्यर्थमुत्तमर्णेन चोदितः ।
दापयेद्धनिकस्यार्थमधमर्णाद्विभावितम् ॥ ४७ ॥

(यहां तक साधारण रूपसे व्यवहार देखनेकी विधि कहकर आगे ऋण लेनेपर व्यवहार देखनेकी विधि कहते हैं—) ऋण देनेवालेने अपना ऋण पानेके लिये राजाके यहां प्रार्थना की हो तो वह राजा (आगे कहे गये लेख, साक्षी आदि प्रमाणोंसे प्रमाणित) धनको ऋण लेनेवाले से ऋण देनेवालेके लिये दिलवावे ॥ ४७ ॥

अधमर्णार्थसिद्ध्यर्थं प्रयुक्तधनसिद्ध्यर्थं धनस्वामिना राजा बोधितो वक्ष्यमाणलेख्यादिप्रमाणप्रतिपादितं धनमुत्तमर्णस्याधमर्णं प्रदापयेत्। अधमर्णादुत्तमर्णाय दापयेदित्यर्थः॥

कथं दापयेदित्याह—

यैर्यैरुपायैरर्थं स्वं प्राप्नुयादुत्तमर्णिकः ।
तैस्तैरुपायैः संगृह्य दापयेदधमर्णिकम् ॥ ४८ ॥

जिन जिन उपायोंसे (उक्त लेख साक्षी आदि उपायोंसे प्रमाणित) धन ऋण देनेवालेको मिल सके, उन उन उपायोंसे ऋण लेनेवालेको वशमें करके राजा उक्त प्रमाणित धन ऋण देनेवालेको दिलवावे ॥ ४८ ॥

यैर्वक्ष्यमाणैरुपायैः संप्रयुक्तमर्थमुत्तमर्णो लभते तैस्तैरुपायैर्वशीकृत्य तमर्थं दापयेत् ॥

तानुपायानाह—

धर्मेण व्यवहारेण छलेनाचरितेन च ।
प्रयुक्तं साधयेदर्थं पञ्चमेन बलेन च ॥ ४९ ॥

धर्म, व्यवहार, छल, आचरण और पांचवे बलात्कारके द्वारा ऋण लेनेवाले व्यक्तिसे धनी (ऋण देनेवाले) का धन दिलवावे ॥ ४९ ॥

धर्मादिना प्रयुक्तमर्थं साधयेत् । अत्र धर्मानाह बृहस्पतिः—

सुहृत्संबन्धिसंदिष्टः साम्ना चानुगमेन च ।
प्रायेण वा ऋणी दाप्यो धर्म एष उदाहृतः ॥

देये धनेऽधमर्णस्याविप्रतिपत्तौ व्यवहारेण । तथा च वक्ष्यति—"अर्थेऽपव्ययमानं तु" (म. स्मृ. ८-५१) इति । मेधातिथिस्तु निःस्वो यः स व्यवहारेण दापयितव्यः । [1]अन्यत्कर्मोपकरणं धनं दत्त्वा कृषिवाणिज्यादिना व्यवहारयितव्यः । तदुत्पन्नं धनं तस्मात्तु गृह्णीयादित्याह । छलादीनि त्रीण्याह बृहस्पतिः—

छद्मना याचितं चार्थमानीय ऋणिकाद्धली ।
अन्याहृतादि वाहृत्य दाप्यते तत्र सोपधिः ।
दारपुत्रपशून्हत्वा कृत्वा द्वारोपवेशनम् ।
यत्रार्थी दाप्यतेऽर्थं स्वं तदाचरितमुच्यते ॥
बध्वा स्वगृहमानीय ताडनाद्यैरुपक्रमः ।
ऋणिको दाप्यते यत्र बलात्कारः प्रकीर्तितः ॥ ४९ ॥

यः स्वयं साधयेदर्थमुत्तमर्णोऽधमर्णिकात् ।
न स राज्ञाऽभियोक्तव्यः स्वकं संसाधयन्धनम् ॥ ५० ॥

जो ऋण देनेवाला ऋण लेनेवालेसे बल आदिके द्वारा अपना ऋणमें दिया हुआ धन वसूल करता हो, उसे राजा मना न करे अर्थात् अपना ऋण वसूल कर लेने दे ॥ ५० ॥

य उत्तमर्णः संप्रतिपन्नमर्थमधमर्णात्स्वयं बलादिना साधयति । स स्वीयं धनं सम्यक्साधयन्नस्मास्वनिवेद्य किमिति बलादिकं कृतवानसीति न राज्ञा निषेद्धव्यः ॥ ५० ॥

अर्थेऽपव्ययमानं तु करणेन विभावितम् ।
दापयेद्धनिकस्यार्थं दण्डलेशं च शक्तितः ॥ ५१ ॥
[यत्र तत्स्यात्कृतं यत्र करणं च न विद्यते ।
न चोपलम्भपूर्वोक्तस्तत्र दैवी क्रिया भवेत् ॥ ४ ॥]

यदि ऋण लेनेवाला ऋणको मुकर जाय अर्थात् मैंने नहीं ऋण लिया है ऐसे मना कर दे तथा लेख और साक्षीके द्वारा उसका ऋण लेना प्रमाणित हो जाय तो राजा ऋण लेनेवालेसे ऋणमें लिया हुआ धन ऋण-पूर्तिरूपमें तथा उक्त ऋणका दशमांश अतिरिक्त धन दण्डरूपमें ऋण देनेवाले के लिये (१०।१३९ के अनुसार) दिलवावे ॥ ५१ ॥

[जहांपर ऋण लिया गया हो, जहां साधन उत्तम साधन (लेख-साक्षी आदि) न हो और उसकी प्राप्ति न हो; वहांपर दैवी क्रिया करनी चाहिये ॥ ४ ॥

१. तत्र धर्मस्कन्धकरीत्या स्तोकं स्तोकं ग्रहणमिदमद्य इदं श्व इदं परश्वः यथा कुटुम्बसंवाहोऽस्यैवं वयमपि तव कुटुम्बभूताः संविभागयोग्या इत्यादिपठितप्रयोगो धर्मः । यस्तु निःस्वः स व्यवहारेण दापयितव्यः अन्यत्र कर्णोदकवद्धनं दत्त्वा कृषिवाणिज्यादिना व्यवहारयितव्यम् , तत्रोत्पन्नं धनं तस्माद् ग्रहीतव्यम् । यस्तु व्यवहारो राजनिवेद्यस्तस्य सर्वोपायपरिक्षये योज्यत्वाद् बलग्रहणेन च गृहीतत्वात । यस्तु साक्षान्न ददाति विद्यमानधनोऽपि स छलेन दातव्यः । केनचिदपदेशेन विवाहोत्सवादिना कटकाद्याभरणं गृहीत्वा न दातव्यं, यावदनेन तद्धनं न दत्तम् ।

नाहमस्मै धारयामीति धनविषयेऽपह्नुवानमधमर्णं करणेन लेख्यसाक्षिदिव्यादिना प्रतिपादितमर्थमुत्तमर्णस्य राजा प्रदापयेत्। दण्डलेशं च "अपह्नवे तद् द्विगुणम्" (म. स्मृ. ८·१३९) इति वक्ष्यमाणदशमभागदण्डान्न्यूनमपि दण्डं पुरुषशक्त्या दापयेत् ॥ ५१ ॥

अपह्नवेऽधमर्णस्य देहीत्युक्तस्य संसदि ।
अभियोक्ता दिशेद्देश्यं करणं वाऽन्यदुद्दिशेत् ॥ ५२ ॥

न्यायालयमें न्यायाधीशके 'इस धनी (ऋण देनेवाले) का धन दे दो' ऐसा कहनेपर ऋण देनेवाला यदि मुकर जाय (ऋण लेनेका निषेध कर दे) तो अर्थी (मुद्दई अर्थात् ऋणदेनेवाला) साक्षी या अन्यान्य प्रमाण (लेख आदि) बतलावे ॥ ५२ ॥

उत्तमर्णस्य धनं देहीति सभायां प्राड्विवाकेनोक्तस्याधमर्णस्य नास्मै धारयामीत्यपलापे सति अभियोक्ताऽर्थी देश्यं धनप्रयोगदेशवर्तिसाक्षिणं निर्दिशेत्। प्रायेण साक्षिभिरेव स्त्रीमूर्खादिसाधारणनिर्णयात्प्राक्साक्ष्युपन्यासः। अन्यद्वा करणं पत्रादि कथयेत् ॥ ५२ ॥

अदेश्यं यश्च दिशति निर्दिश्यापन्हुते च यः ।
यश्चाधरोत्तरानर्थान्विगीतान्नावबुध्यते ॥ ५३ ॥
अपदिश्यापदेश्यं च पुनर्यस्त्वपधावति ।
सम्यक्प्रणिहितं चार्थं पृष्टः सन्नाभिनन्दति ॥ ५४ ॥
असंभाष्ये साक्षिभिश्च देशे संभाषते मिथः ।
निरुच्यमानं प्रश्नं च नेच्छेद्यश्चापि निष्पतेत् ॥ ५५ ॥
ब्रूहीत्युक्तश्च न ब्रूयादुक्तं च न विभावयेत् ।
न च पूर्वापरं विद्यात्तस्मादर्थात्स हीयते ॥ ५६ ॥

यदि ऋणदाता ऐसे स्थानपर ऋण देना बतलावे जहाँ ऋण-ग्रहीताका उस समय रहना सर्वथा सम्भव हो, अथवा किसी स्थानको पहले कहकर बादमें उसे कहना स्वीकार न करे, बातको पूर्वापर विरुद्ध कहे (पहले कही हुई बातसे बादमें कही हुई बातका मिलान नहीं हो दोनों एक दूसरे के विरुद्ध पड़ती हों), पहले अपने हाथसे ऋण देना बतलाकर बादमें अपने पुत्र आदिके हाथसे ऋण देना कहने लगे, तथा न्यायाधीशके 'क्यों तुमने रातमें एकान्तमें या बिना किसी साक्षीके रहते या बिना कागज (स्टाम्प—हैंडनोट आदि) लिखवाये आदिके धन दिया, इत्यादि पूछने पर ऋणदाता सन्तोषजनक उत्तर न दे, जो ऋणदाता साक्षियोंको एकान्तमें ले जाकर बातचीत करे (साक्षीको सिखलावे), जो पूर्वकथित विषयकी दृढ़ताके लिये न्यायाधीश (या प्रतिपक्षी या उसके वकील आदि) से पूछे गये प्रश्नों (जिरहों) की चाहना न करे, जो कहे गये व्यवहारोंको पहले नहीं कहकर इधर-उधरकी बातें कहे, न्यायाधीशके 'कहो' ऐसा कहनेपर भी जो नहीं कहे, जो पूर्वकथित बातोंका समर्थन प्रमाणों द्वारा नहीं करे, 'कौन बात मुझे कहनी है ? यह (घबड़ानेके कारण) नहीं समझकर दूसरी (अपने प्रतिकूल एवं प्रतिपक्षीके अनुकूल) ही बात कहने लग जाय अर्थात् घबड़ानेसे आगे-पीछे की बात या अपने कार्यको सिद्ध करनेवाली बात नहीं कहकर चाहे जो कुछ कहे, वह ऋणदाता उक्त ऋणका (धनका) अधिकारी नहीं होता है ॥ ५३—५६ ॥

अदेश्यं यत्र देशेऽधमर्णस्य ऋणग्रहणकाले सर्वथाऽवस्थानं न संभवतीति। निर्दिश्य वा देशादिकं नैतन्मया निर्दिष्टमित्यपनयति। यश्च पूर्वोत्तरान् स्वोक्तानर्थान्विरुद्धान्नावगच्छति। यश्च मम हस्तात्सुवर्णस्य पलमनेन गृहीतमिति निर्दिश्य मत्पुत्रहस्ताद् गृहीतमित्येवमादिना यः पुनरपसरति। यश्च सम्यक्प्रतिज्ञातमर्थं कस्मात्त्वया रात्रावसाक्षिकं

दत्तमित्येवमादि प्राड्विवाकेन पृष्टः सन् न समाधत्ते। यश्च संभाषणानर्हनिर्जनादिदेशे साक्षिभिः सहान्योन्यं संभाषते। यश्च भाषार्थस्थिरीकरणाय नितरामुच्यमानं प्राड्विवाकेन प्रश्नं नेच्छेत्। यश्च निष्पतेत, उक्तांश्च व्यवहारान्पुराऽनाख्याय यथास्थानात्स्थानान्तरं गच्छेत्। यश्च ब्रूहीत्युक्तो न किंचिद् ब्रवीति। उक्तं साध्यं न प्रमाणेन प्रतिपादयति। पूर्वं साधनम्, अपरं साध्यम्, तद्यो न जानाति, असाधनमेव साधनत्वेन निर्दिशति। असाध्यमेव ममानेन 'शशशृङ्गकृतं धनुर्देयम्' इत्यादि साध्यत्वेन निर्दिशति, स तस्मात्साध्यादर्थाद्धीयते ॥ ५३–५६ ॥

साक्षिणः सन्ति मेत्युक्त्वा दिशेत्युक्तो दिशेन्न यः।
धर्मस्थः कारणैरेतैर्हीनं तमपि निर्दिशेत् ॥ ५७ ॥

जो (ऋणदाता) 'मेरे साक्षी हैं' ऐसा कहनेपर न्यायाधीशके 'उन साक्षियोंको यहाँ उपस्थित करो' ऐसा कहनेके बाद उन्हें नहीं उपस्थित कर सके; न्यायासनपर स्थित वह न्यायाधीश उन कारणोंसे उस ऋणदाताके लिये ऋणग्रहीतासे ऋणमें लिये हुए धनको न दिलवावे ॥ ५७ ॥

साक्षिणो मम विद्यन्त इत्युक्त्वा तान्निर्दिशेत्युक्तो यो न निर्दिशति तं पूर्वोक्तैरेभिः कारणैर्धर्मस्थः प्राड्विवाकः पराजितं कथयेत्। 'ज्ञातारः सन्ति मेत्युक्त्वा" इति वा पाठः। अत्र छान्दसमिकारस्य पूर्वरूपत्वम् ॥ ५७ ॥

अभियोक्ता न चेद् ब्रूयाद्बध्यो दण्ड्यश्च धर्मतः।
न चेत्त्रिपक्षात्प्रब्रूयाद्धर्मं प्रति पराजितः ॥ ५८ ॥

जो वादी (अर्थी = मुद्दई पहिले मुकदमा दायरकर) वादमें कुछ न कहे, वह धर्मानुसार (बड़े-छोटे मुकदमेके अनुसार) वध्य (फाँसी देने योग्य) या दण्डय (ताडन या अर्थदण्ड जुर्माना करने योग्य) है और यदि प्रत्यर्थी (मुद्दालह) तीन पक्षमें कुछ नहीं बोले अर्थात् मुद्दईकी बातोंका सन्तोषजनक उत्तर न दे तो वह धर्मानुसार (कपटपूर्वक नहीं) पराजित होता है ॥ ५८ ॥

योऽर्थी सन् राजस्थाने निवेद्य भाषायां न ब्रूयात्तदा विषयगौरवापेक्षया वध्यो लघुनि विषये दण्ड्यश्च धर्मतः स्यात्। प्रत्यर्थी पुनर्यदि पक्षत्रयमध्ये न ब्रूयात्तदा धर्मत एव पराजितः स्यान्न तु छलेन ॥ ५८ ॥

यो यावन्निन्हुवीतार्थं मिथ्या यावति वा वदेत्।
तौ नृपेण ह्यधर्मज्ञौ दाप्यौ तद् द्विगुणं धनम् ॥ ५९ ॥

जो प्रत्यर्थी (मुद्दालह) जितने धनको छिपावे अर्थात् अधिक धन लेकर भी जितना कम बतलावे तथा जो अर्थी (मुद्दई) जितने धनको असत्य बोले अर्थात् कम धन देकर भी जितने अधिक धनका दावा करे अधर्मको जाननेवाला राजा (या राज-नियुक्त न्यायाधीश) उसका दुगुने धनसे उन्हें दण्डित करे ॥ ५९ ॥

यः प्रत्यर्थी यत्परिमाणधनमपनयति, अर्थी वा यत्परिमाणधने मिथ्या वदति तावधार्मिकावपह्नुतमिथ्योक्तधनाद् द्विगुणं दण्डरूपं दापनीयौ। अधर्मज्ञाविति वचनाज्ज्ञानपूर्वापह्नवमिथ्योक्तिविषयमिदम्। प्रमादादिनाऽऽलापमिथ्यानियोगेऽपह्नवे द्विगुणमिति शतदशमभागं वक्ष्यति ॥ ५९ ॥

पृष्टोऽपव्ययमानस्तु कृतावस्थो धनैषिणा।
त्र्यवरैः साक्षिभिर्भाव्यो नृपब्राह्मणसंनिधौ ॥ ६० ॥

धन चाहनेवाले (मुद्दईके मुकदमा करनेपर मुद्दालह) धन लेना स्वीकार न करे तो राजाधिकारी ब्राह्मण (न्यायाधीश) के सामने वादी (मुद्दई) कमसे कम तीन साक्षियों (गवाहों) से अपनी बातको प्रमाणित करे ॥ ६० ॥

धनार्थिनोत्तमर्णेन राजपुरुषापकर्षं कृताह्वानः प्राड्विवाकेन पृष्टः सन्यदा न धारयामीत्यपह्नुवानो भवति, तदा नृपस्यधिकृतब्राह्मणसमक्षं न्यवरैः साक्षिभिस्त्रयोऽवरा न्यूना येषां तैरर्थिना भावनीयः ॥ ६० ॥

यादृशा धनिभिः कार्या व्यवहारेषु साक्षिणः ।
तादृशान्सम्प्रवक्ष्यामि यथावाच्यमृतं च तैः ॥ ६१ ॥

महर्षियोंसे भृगु मुनि कहते हैं कि—धन देनेवालों (साहूकार = महाजन) को मुकदमोंमें जैसे साक्षी बनाने चाहिये, उन्हें कहता हूँ तथा जिस प्रकार उनको सत्य कहना चाहिये वह भी कहता हूँ ॥ ६१ ॥

धनिभिरुत्तमर्णादिभिः ऋणादानादिव्यवहारेषु यथाविधाः साक्षिणः कर्तव्यास्तथाविधान्वदिष्यामि । यथा च तैरपि सत्यं वक्तव्यं तमपि प्रकारं वक्ष्यामि ॥ ६१ ॥

गृहिणः पुत्रिणो मौलाः क्षत्रविट्शूद्रयोनयः ।
अर्थ्युक्ताः साक्ष्यमर्हन्ति न ये केचिदनापदि ॥ ६२ ॥

गृहस्थ, पुत्रवाले, पहलेसे वहां निवास करनेवाले, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र जातिवाले ये लोग मुद्दईके साक्षी हो सकते हैं; आपत्तिकालको छोड़कर (धनादिके लेन-देनमें) चाहे जो कोई साक्षी नहीं हो सकता है ॥ ६२ ॥

कृतदारपरिग्रहाः पुत्रवन्तस्तद्देशजाः क्षत्रियवैश्यशूद्रजातीया अर्थिनिर्दिष्टाः सन्तः साक्षित्वयोग्या भवन्ति । ते हि कृतपरिकरपुत्रभयात्तद्देशवासिनां विरोधाच्च नान्यथा वदन्ति, न तु ये केचिदृणादानादिव्यवहारेषु साक्षिणः स्युः । आपदि तु वाग्दण्डपारुष्यस्त्रीसंग्रहणादिपूक्तव्यतिरिक्ता अपि साक्षिणो भवन्ति ॥ ६२ ॥

आप्ताः सर्वेषु वर्णेषु कार्याः कार्येषु साक्षिणः ।
सर्वधर्मविदोऽलुब्धा विपरीतांस्तु वर्जयेत् ॥ ६३ ॥

सब वर्णोंमें (ब्राह्मणोंमें भी) आप्तों (राग-द्वेषसे रहित होकर निष्पक्ष बोलनेवाले) को, सब धर्मोंके ज्ञाता, निर्लोभी—इन लोगोंको सब वर्णों (ब्राह्मणोंमें भी) में साक्षी बनाना चाहिये तथा इनके प्रतिकूल (राग-द्वेषपूर्वक पक्षपातसे बोलनेवाले, धर्मज्ञानशून्य तथा लोभी) लोगोंको (साक्षी बनानेमें) छोड़ देना चाहिये ॥ ६३ ॥

"क्षत्रविट्शूद्रयोनयः" (म. स्मृ. ८-६२) इत्युक्तत्वात्ततो ब्राह्मणपरिग्रहार्थं सर्वेषु वर्णेष्वित्यभिधानम् । सर्ववर्णेषु मध्ये ये यथार्थावगतवादिनः सर्वधर्मज्ञा लोभरहितास्ते साक्षिणः कर्तव्याः । उक्तविपरीतांश्च वर्जयेत् ॥ ६३ ॥

नार्थसम्बन्धिनो नाप्ता न सहाया न वैरिणः ।
न दृष्टदोषाः कर्तव्या न व्याध्यार्ता न दूषिताः ॥ ६४ ॥

ऋणादिके देने या लेनेके सम्बन्धवाले, मित्र, सहायक (नौकर आदि), शत्रु (मुद्दालहका विरोधी), जिसने दूसरे किसी बातमें झूठी गवाही दी हो वह रोग पीड़ित तथा महापातक आदिसे दूषित लोगोंको साक्षी न बनावे ॥ ६४ ॥

ऋणाद्यर्थसम्बन्धिनोऽधमर्णाद्याः, आप्ता मित्राणि, सहायास्तत्परिचारकाः, शत्रवः, स्थानान्तरावगतकौटसाक्ष्याः, रोगपीडिता महापातकादिदूषिताः साक्षिणो न कर्तव्याः। लोभरागद्वेषस्मृतिभ्रंशादीनामन्यथाऽभिधानहेतूनां सम्भवात् ॥ ६४ ॥

न साक्षी नृपतिः कार्यो न कारुककुशीलवौ।
न श्रोत्रियो न लिङ्गस्थो न सङ्गेभ्यो विनिर्गतः ॥ ६५ ॥

राजा, कारीगर (पाचक, बढ़ई, लोहार आदि), नट भाट आदि, वैदिक, ब्रह्मचारी तथा संन्यासी इनको साक्षी न बनावे ॥ ६५ ॥

प्रभुत्वात्साक्षिधर्मेण प्रष्टुमयोग्यत्वान्न राजा साक्षी कार्यः। कारुः सूपकारादिः, कुशीलवो नटादिः, तयोः स्वकर्मव्यग्रत्वात्प्रायेण धनलोभवत्त्वाच्चासाक्षित्वम्। श्रोत्रियोऽप्यध्ययनाग्निहोत्रादिकर्मव्यग्रतया न साक्षी। लिङ्गस्थो ब्रह्मचारी, सङ्गविनिर्गतः परिव्राजकस्तयोरपि स्वकर्मव्यग्रत्वाद् ब्रह्मनिष्ठत्वाच्चासाक्षित्वम्। श्रोत्रियग्रहणादध्ययनाग्निहोत्रादिव्यग्रेतरब्राह्मणस्यानिषेधः ॥ ६५ ॥

नाध्यधीनो न वक्तव्यो न दस्युर्न विकर्मकृत्।
न वृद्धो न शिशुर्नैको नान्त्यो न विकलेन्द्रियः ॥ ६६ ॥

अत्यन्त अधीन (गर्भ-दास या क्रीत-दास आदि) लोक निन्दित, चोर, क्रूर कर्म करनेवाला, वृद्धा, बालक, अकेला, चण्डाल और विकलेन्द्रिय इनको साक्षी नहीं बनाना चाहिये ॥ ६६ ॥

अध्यधीनोऽत्यन्तपरतन्त्रो गर्भदासः, (ना = नरः)न वक्तव्यो विहितकर्मत्यागाल्लोकाविगर्हितः, दस्युः क्रूरकर्मा, "न क्रुद्धो नापि तस्करः' (म. स्मृ. ८-६७) इति वक्ष्यमाणत्वात्। विकर्मकृन्निषिद्धकर्मकारी, एतेषां रागद्वेषादिसम्भवात्। न वृद्धः, प्रायेण स्मृतिभ्रंशसंभवात्। न बालः, अप्राप्तव्यवहारत्वात्। नैकः, विनाशप्रवासशङ्कया तस्य व्यवरैरिति विधानात्। अर्थप्रतिषेधसिद्धौ कस्यांचिदवस्थायां द्वयोरभ्यनुज्ञानार्थं निषेधवचनम्। अन्त्यश्चाण्डालादिः, धर्मानभिज्ञातत्वात्। विकलेन्द्रिय उपलब्धिवैकल्यान्न साक्षी कार्यः ॥ ६६ ॥

नार्तो न मत्तो नोन्मत्तो न क्षुत्तृष्णोपपीडितः।
न श्रमार्तो न कामार्तो न क्रुद्धो नापि तस्करः ॥ ६७ ॥

(बान्धवादिके विनाशादिके कारण) दुःखी, मत्त, पागल, भूख-प्याससे पीड़ित, थका, कामी, क्रोधी और चोर इनको साक्षी नहीं बनावे ॥ ६७ ॥

आर्तो बन्धुविनाशादिना, मत्तो मद्यादिना, उन्मत्त उत्क्षेपभूतावेशादिना, क्षुधापिपासादिना पीडितः, श्रमार्तो वर्त्मगमनादिना खिन्नः, कामार्तः, उत्पन्नक्रोधः, चौरश्च न साक्षी कार्य इति सर्वत्र सम्बध्यते। तत्रार्तादिबुद्धिवैकल्यात्, चौरस्त्वधार्मिकत्वात् ॥ ६७ ॥

स्त्रीणां साक्ष्यं स्त्रियः कुर्युर्द्विजानां सदृशा द्विजाः।
शूद्राश्च सन्तः शूद्राणामन्त्यानामन्त्ययोनयः ॥ ६८ ॥

स्त्रियोंके (व्यवहार-मुकदमेमें) स्त्रियोंको, द्विजोंके (व्यवहारमें) सदृश द्विजोंको शूद्रोंके (व्यवहारमें) शूद्रोंको तथा चाण्डालोंके (व्यवहारमें) चाण्डालोंको साक्षी बनाना चाहिये ॥६८॥

स्त्रीणामन्योन्यव्यवहारे ऋणादानादौ स्त्रियः साक्षिण्यो भवन्ति। द्विजानां ब्राह्मणक्षत्रियविशां सदृशाः सजातीयाः साक्षिणः स्युः। एवं शूद्राः साधवः शूद्राणाम्, चाण्डालादीनां

चाण्डालादयः साक्षिणो भवेयुः। एतच्च सजातीयसाक्ष्यभिधानम्। उक्तलक्षणसजातीयसाक्ष्यसम्भवे विजातीया अपि साक्षिणो भवन्ति। अत एव याज्ञवल्क्यः—

"यथाजाति यथावर्णं सर्वे सर्वेषु वा स्मृताः। (या. स्मृ. २. ६९) ॥ ६८ ॥

अनुभावी तु यः कश्चित्कुर्यात्साक्ष्यं विवादिनाम्।
अन्तर्वेश्मन्यरण्ये वा शरीरस्यापि चात्यये ॥ ६९ ॥

घरके भीतर, वन आदिमें, चोर आदिके द्वारा शरीरमें चोट आने या मारे जानेपर, जो भी कोई मिल जाय, उसे ही वादी और प्रतिवादी (मुद्दई और मुद्दालह)—दोनों पक्षका साक्षी बनाना चाहिये ॥ ६९ ॥

गृहाभ्यन्तरेऽरण्यादौ वा चौरादिकृतोपद्रवे देहोपघाते वाऽऽततायादिकृते यः कश्चिदुपलभ्यते स वादिनोरेव साक्षी भवति, न तु ऋणादानादिवदुक्तलक्षणोपेतः ॥ ६९ ॥

तदेवोदाहरणात्स्पष्टयति—

स्त्रियाऽप्यसम्भवे कार्यं बालेन स्थविरेण वा।
शिष्येण बन्धुना वाऽपि दासेन भृतकेन वा ॥ ७० ॥

उक्त स्थानों (८।६९) में दूसरे साक्षी नहीं मिलनेपर बालक, वृद्ध, शिष्य, बन्धु, दास और कर्मकर (नौकर) को साक्षी बनाना चाहिये ॥ ७० ॥

अन्तर्वेश्मादावुक्तसाक्ष्यभावे सति स्त्रीबालवृद्धशिष्यबन्धुदासकर्मकरा अपि साक्षिणः स्युः ॥ ७० ॥

नन्वस्थिरबुद्धित्वादिना स्त्रीबालादीनां कथमत्रापि साक्षित्वम् ? इत्यत्राह—

बालवृद्धातुराणां च साक्ष्येषु वदतां मृषा।
जानीयादस्थिरां वाचमुत्सिक्तमनसा तथा ॥ ७१ ॥

गवाहीमें असत्य बोलनेवाले बालक, स्त्री, वृद्ध और अस्थिर चित्तवालोंकी बातें अस्थिर होती हैं (अत एव अस्थिर बात कहनेपर न्यायाधीश उनकी गवाहीको असत्य माने) ॥ ७१ ॥

बालवृद्धव्याधितानामुपप्लुतमनसां च साक्ष्येऽनृतं वदतामस्थिरा वाग्भवति। अतस्तामनुमानेन जानीयात्। यथोक्तम् "बाह्यैर्विभावयेल्लिङ्गैः" (म. स्मृ. ८-२५) इति ॥ ७१ ॥

साहसेषु च सर्वेषु स्तेयसंग्रहणेषु च।
वाग्दण्डयोश्च पारुष्ये न परीक्षेत साक्षिणः ॥ ७२ ॥

साहस कार्य (घर या गल्ले आदिमें आग लगाना आदि), चोरी; आचार्य-स्त्री-संग्रहण, वचन तथा दण्डकी कठोरता—इनमें साक्षियोंकी परीक्षा (८।६२–६९ के अनुसार), नहीं करनी चाहिये (किन्तु ८।६९–७० के अनुसार स्त्री-बालक आदि साक्षियोंको भी स्वीकृत कर लेना चाहिये) ॥ ७२ ॥

गृहदाहादिषु साहसेष्वाचार्यस्त्रीसंग्रहणे वाग्दण्डपारुष्ये च 'गृहिणः' इत्युक्तसाक्षिपरीक्षा न कार्या। 'स्त्रियाऽप्यसम्भवे कार्यम्" (म. स्मृ. ८-७०) इत्यस्यैवायमुदाहरणप्रपञ्चः ॥७२॥

बहुत्वं परिगृह्णीयात्साक्षिद्वैधे नराधिपः।
समेषु तु गुणोत्कृष्टान्गुणिद्वैधे द्विजोत्तमान् ॥ ७३ ॥

साक्षियोंके परस्पर विरुद्ध वचन कहने पर राजा (या राजद्वारा नियुक्त न्यायाधीश) बहुमत

को तथा दोनोंके समान होनेपर श्रेष्ठ गुणवालोंको और उन (गुणियों) में भी विरोध आनेपर क्रियानिष्ठोंके (गोविन्दराजके मतसे ब्राह्मणोंको) प्रमाणित माने ॥ ७३ ॥

साक्षिणां परस्परविरुद्धानां बहुभिर्यदुक्तं तदेव निर्णयार्थत्वेन राजा गृह्णीयात्। समेषु तु विरुद्धार्थाभिधायिषु गुणवतः प्रमाणीकुर्यात्। गुणवतामेव विप्रतिपत्तौ द्विजोत्तमान् द्विजेषु य उत्तमाः, क्रियावन्त इत्यर्थः। अत एव बृहस्पतिः-"गुणिद्वैधे क्रियायुक्ताः" इति। गोविन्दराजस्तु गुणवतां विप्रतिपत्तौ द्विजोत्तमान्ब्राह्मणान्प्रमाणीकुर्यादित्याह ॥ ७३ ॥

समक्षदर्शनात्साक्ष्यं श्रवणाच्चैव सिद्ध्यति।
तत्र सत्यं ब्रुवन्साक्षी धर्मार्थाभ्यां न हीयते ॥ ७४ ॥

देखने योग्य विषयमें प्रत्यक्ष देखने तथा सुनने योग्य विषयमें स्वयं सुनने से साक्षित्व (गवाही) ठीक होता है, उस विषयमें सत्य कहनेवाला साक्षी धर्म-अर्थसे हीन नहीं होता है (अन्यथा असत्य कहनेवाला साक्षी धर्मच्युत तो होता ही है अर्थ दण्ड (जुर्माना आदि) होनेसे अर्थच्युत भी होता है) ॥ ७४ ॥

चक्षुर्ग्राह्ये साक्षाद्दर्शनात्, श्रोत्रग्राह्ये च श्रवणात्साक्ष्यं सिध्यति। यत्र साक्षी सत्यं वदन्धर्मार्थाभ्यां न मुच्यते। सत्यवचनेन धर्मोपपत्तेर्दण्डाभावेऽर्थहान्यभावात् ॥ ७४ ॥

साक्षी दृष्टश्रुतादन्यद्विब्रुवन्नार्यसंसदि।
अवाङ् नरकमभ्येति प्रेत्य स्वर्गाच्च हीयते ॥ ७५ ॥

यदि साक्षी देखे या सुने हुए विषयको न्यायालयमें असत्यमें असत्य कहता है, तो वह अधोमुख (उल्टा होकर नीचे मुख किये) नरकमें गिरता है तथा (अन्य पुण्य) कर्मोंसे प्राप्त होने वाला स्वर्ग भी उसे नहीं मिलता है ॥ ७५ ॥

साक्षी दृष्टश्रुतादन्यादृशं साधुसभायां वदन्नधोमुखो नरकं गच्छति। परलोके च कर्मान्तरजन्यस्वर्गरूपफलादानेन पापेन हीयते ॥ ७५ ॥

यत्रानिबद्धोऽपीक्षेत शृणुयाद्वाऽपि किञ्चन।
पृष्टस्तत्रापि तद् ब्रूयाद्यथादृष्टं यथाश्रुतम् ॥ ७६ ॥

वादी या प्रतिवादीके द्वारा साक्षी नहीं बनाये जानेपर ('मेरा साक्षी बनो' ऐसा उनके नहीं कहने पर) भी वह जैसा देखे तथा सुने, न्यायाधीशके पूछनेपर वैसा ही कहे ॥ ७६ ॥

त्वमस्मिन्विषये साक्षी भवेत्येवमकृतोऽपि यत्किञ्चिदृणादानादि पश्यति वाक्पारुष्यादिकं वा शृणोति तत्रापि साक्षी स पृष्टः सन् यथोपलब्धं कथयेत्। अयं त्वकृतसाक्षी सामान्येन मनुनोक्तः। अस्य "ग्रामश्च प्राड्विवाकश्च राजा च" इत्यादिना नारदादिभिः षाड्विध्यमुक्तम् ॥ ७६ ॥

एकोऽलुब्धस्तु साक्षी स्याद् बह्व्यः शुच्योऽपि न स्त्रियः।
स्त्रीबुद्धेरस्थिरत्वात्तु दोषैश्चान्येऽपि ये वृताः ॥ ७७ ॥

निर्लोभ एक भी साक्षी ठीक होता है, स्त्री-बुद्धिके अस्थिर होनेसे आत्मशुद्धियुक्त भी बहुत-सी स्त्रियां ठीक साक्षी नहीं होतीं; तथा चोरी आदिके दोषोंसे युक्त साक्षी भी (चाहे वे पुरुष ही क्यों न हों) ठीक नहीं होते ॥ ७७ ॥

एकोऽलुब्ध इत्यत्राकारप्रश्लेषो द्रष्टव्यः। एकोऽपि साक्षी लोभादिरहितः स्यात्। अत एव व्यासः—

शुचिक्रियश्च धर्मज्ञः साक्षी यत्रानुभूतवाक् ।
प्रमाणमेकोऽपि भवेत्साहसेषु विशेषतः ॥

[1]मेधातिथिगोविन्दराजाभ्यां "एको लुब्धस्त्वसाक्षी स्यात्" इति पठितम् , व्याख्यातं च-लोभात्मक एकः साक्षी न भवति। एवं चालुब्धो गुणवान्कस्यांचिदवस्थायामेकोऽपि भवतीति। स्त्रियः पुनरात्मशौचादियुक्ता बह्वयोऽप्यस्थिरबुद्धित्वादृणादानाद्यैः पर्यालोचितव्यवहारे साक्षिण्यो न भवन्ति। अपर्यालोचिते तु स्तेयवाग्दण्डपारुष्यादौ "स्त्रियाऽप्यसम्भवे कार्यम्" (म० स्मृ० ८-७०) इति साक्षित्वमुक्तम्। अन्येऽपि ये स्तेयादिदोषैर्व्याप्तास्तेऽपि पर्यालोचितव्यवहारे साक्षिणो न स्युः ॥ ७७ ॥

स्वभावेनैव यद् ब्रूयुस्तद्ग्राह्यं व्यावहारिकम् ।
अतो यदन्यद्विब्रूयुर्धर्मार्थं तदपार्थकम् ॥ ७८ ॥

साक्षी (भय या दवाव आदि न होनेपर) स्वभावतः जो कुछ कहे, न्यायाधीशको उसे ही ठीक मानना चाहिये; अन्य किसी कारण (भय, दवाव, शील या सङ्कोच आदि) से धर्मविरुद्ध निष्प्रयोजन बातें वह कहे तो उसे ठीक नहीं मानना चाहिये ॥ ७८ ॥

यत्साक्षिणो भयादिव्यतिरेकेण स्वभावाद्यद् ब्रूयुस्तद्व्यवहारनिर्णयार्थं ग्राह्यम्। यत्पुनः स्वाभाविकादन्यस्कुतोऽपि कारणाद्वदन्ति तद्धर्मविषये निष्प्रयोजनं, तन्न ग्राह्यम् ॥ ७८ ॥

सभान्तः साक्षिणः प्राप्तानर्थिप्रत्यर्थिसन्निधौ ।
प्राड्विवाकोऽनुयुञ्जीत विधिना तेन सान्त्वयन् ॥ ७९ ॥

वादी तथा प्रतिवादी (मुद्दई तथा मुद्दालह) के सामने न्यायालयमें उपस्थित साक्षियोंसे न्यायाधीश प्रियभाषण करता हुआ इस विधिसे (८।८०-८६) प्रश्ने करे ॥ ७९ ॥

सभामध्यं साक्षिणः संप्राप्तानर्थिप्रत्यर्थिसमक्षं राजाधिकृतो ब्राह्मणः प्रियोक्तिं रचयन्वक्ष्यमाणप्रकारेण पृच्छेत् ॥ ७९ ॥

यद् द्वयोरनयोर्वेत्थ कार्येऽस्मिंश्चेष्टितं मिथः ।
तद् ब्रूत सर्वं सत्येन युष्माकं ह्यत्र साक्षिता ॥ ८० ॥

तुम लोग इन दोनों (अर्थी-प्रत्यर्थियों) के व्यवहार (मुकदमे) में जो कुछ जानते हो, वन्हें सत्य-सत्य कहो, क्योंकि तुम लोगोंकी यहां गवाही है ॥ ८० ॥

यद् द्वयोरर्थिप्रत्यर्थिनोरनयोः परस्परमस्मिन्कार्ये चेष्टितं जानीथ, तत्सर्वं सत्येन कथयत। यतो युष्माकमत्र साक्षित्वम् ॥ ८० ॥

सत्यं साक्ष्ये ब्रुवन्साक्षी लोकानाप्नोति पुष्कलान् ।
इह चानुत्तमां कीर्तिं वागेषा ब्रह्मपूजिता ॥ ८१ ॥
(विक्रियाद्यो धनं किञ्चिद् गृह्णीयात्कुलसन्निधौ ।
क्रमेण स विशुद्धं हि न्यायतो लभते धनम् ॥ ५ ॥)

---

१. एकस्य पुनः प्रतिषेधो लोभादिरहितस्य प्रतिप्रसवार्थः। तेन सत्यवादितया निश्चित एकोऽपि साक्षी भवत्येव। स्त्रियस्तु न कथञ्चित्साक्ष्यमर्हन्त्यल्पावबोधा वा शुच्योऽपीति गुणवत्योऽपीत्यर्थः। अत्र हेतुः स्त्रीबुद्धेरस्थिरत्वादिति। प्रकृतिरेषा स्त्रीणां यद् बुद्धेश्चपलत्वं गुणास्तु यत्नोपार्जिता अपि प्रमादालस्यादिनान्यतया। यतः स्वाभाविकमस्थैर्यं तिष्ठेदेव, यथाऽऽमयाविनो घृतादिनोत्पत्तेः।

गवाहीमें सत्य कहनेवाला साक्षी मरनेपर श्रेष्ठ लोकों (स्वर्ग आदि) को पाता है और इस लोकमें श्रेष्ठ यश (नामवरी) पाता है, क्योंकि यह सत्यभाषण ब्रह्मासे पूजित है ॥ ८१ ॥

जो व्यक्ति व्यापारि-समूहके सामने किसी वस्तुको बेचे या खरीदे, वह व्यक्ति उस निर्दोष धनको न्यायानुसार प्राप्त करता है ॥ ५ ॥

साक्षी साक्ष्ये कर्मणि सत्यं वदन्सन्नुत्कृष्टान्ब्रह्मलोकादीन्प्राप्नोति पुष्कलान्, इह लोकेपु चात्युत्कृष्टां ख्यातिं लभते। यस्मादेषा सत्यात्मिका वाक् चतुर्मुखेन पूजिता ॥ ८१ ॥

साक्ष्येऽनृतं वदन्पाशैर्बध्यते वारुणैर्भृशम्।
विवशः शतमाजातीस्तस्मात्साक्ष्यं वदेदृतम् ॥ ८२ ॥
[ब्राह्मणो वै मनुष्याणामादित्यस्तेजसां दिवि।
शिरो वा सर्वगात्राणां धर्माणां सत्यमुत्तमम् ॥ ६ ॥
नास्ति सत्यात्परो धर्मो नानृतात्पातकं परम्।
साक्षिधर्मे विशेषेण तस्मात्सत्यं विशिष्यते ॥ ७ ॥
एकमेवाद्वितीयं तु प्रब्रुवन्नावबुध्यते।
सत्यं स्वर्गस्य सोपानं पारावारस्य नौरिव ॥ ८ ॥]

गवाही में असत्य बोलता हुआ मनुष्य वरुणके पाश (सर्परूप रस्सी) से बाँधा जाता है तथा जलोदर रोगके परवश होकर सौ जन्मतक पीडित होता है! इस कारण गवाहीमें सत्य बोलना चाहिये ॥ ८२ ॥

मनुष्योंमें ब्राह्मण, आकाशीय तेजोंमें सूर्य और सम्पूर्ण शरीरोंमें मस्तकके समान सब धर्मोंमें सत्य श्रेष्ठ है ॥ ६ ॥

सत्यसे बढ़कर दूसरा धर्म और असत्यसे बढ़कर दूसरा पाप नहीं है, इस कारण गवाहीमें विशेष रूपसे सत्य श्रेष्ठ माना जाता है ॥ ७ ॥

जो केवल सत्य ही बोलता है दूसरा (असत्य) यही बोलता, वह कदापि भूलता नहीं है, समुद्रकी नावमें समान सत्य स्वर्गकी सीढ़ी है ॥ ८ ॥

यस्मात्साक्षी मृषा वाचं कथयन्वरुणसंबन्धिभिः पाशैः सर्परज्जुभिर्जलोदरेण परतन्त्रीकृतः शतं जन्मानि यावदत्यर्थं पीड्यते। तस्मात्साक्ष्ये सत्यं ब्रूयात् ॥ ८२ ॥

सत्येन पूयते साक्षी धर्मः सत्येन वर्धते।
तस्मात्सत्यं हि वक्तव्यं सर्ववर्णेषु साक्षिभिः ॥ ८३ ॥

गवाह सत्यसे पवित्र होता (पापसे छूट जाता) है, सत्यसे उनका धर्म बढ़ता हे, इस कारण गवाहोंको सब वर्णोंके विषयमें सत्य ही बोलना चाहिये ॥ ८३ ॥

यस्मात्सत्येन पूर्वार्जितादपि पापात्साक्षी मुच्यते, धर्मश्चास्य सत्याभिधानेन वृद्धिमेति, तस्मात्सर्ववर्णविषये साक्षिभिः सत्यं वक्तव्यम् ॥ ८३ ॥

आत्मैव ह्यात्मनः साक्षी गतिरात्मा तथाऽऽत्मनः।
माऽवमंस्थाः स्वमात्मानं नृणां साक्षिणमुत्तमम् ॥ ८४ ॥

आत्मा ही शुभ और अशुभ कर्मोंका साक्षी (गवाह) है और आत्मा की गति भी आत्मा ही है, इस कारण मनुष्योंके श्रेष्ठ साक्षी आत्माका (असत्य बोलकर) अपमान मत करो ॥ ८४ ॥

यस्माच्छुभाशुभकर्मप्रतिष्ठ आत्मैवात्मनः शरणं, तस्मादेवं स्वमात्मानं नराणां मध्यमादुत्तमं साक्षिणं मृषाऽभिधाने नावज्ञासीः ॥ ८४ ॥

मन्यन्ते वै पापकृतो न कश्चित्पश्यतीति नः ।
तांस्तु देवाः प्रपश्यन्ति स्वस्यैवान्तरपूरुषः ॥ ८५ ॥

पापी पुरुष समझते हैं कि 'हमको कोई नहीं देखता'; किन्तु उनको (अग्रिम श्लोकमें कहे जानेवाले) देवता देखते हैं तब अपने ही अन्तःकरणमें स्थित पुरुष देखता है ॥ ८५ ॥

पापकारिण एवं मन्यन्तेऽस्मान् अधर्मप्रवृत्तान्न कश्चित्पश्यतीति । तान्पुनर्वक्ष्यमाणा देवाः पश्यन्ति, स्वस्यान्तरपुरुषः पश्यति ॥ ८५ ॥

द्यौर्भूमिरापो हृदयं चन्द्रार्काग्नियमानिलाः ।
रात्रिः संध्ये च धर्मश्च वृत्तज्ञाः सर्वदेहिनाम् ॥ ८६ ॥

आकाश, भूमि, जल, हृदय, चन्द्रमा, सूर्य, अग्नि, यम, वायु, रात्रि, दोनों सन्ध्याएं (प्रातः सन्ध्या तथा सायंसन्ध्या) और धर्म—ये शरीर धारियोंके व्यवहार (शुभाशुभ कर्म) को जानते हैं ॥ ८६ ॥

द्युलोकपृथिवीजलहृदयस्थजीवचन्द्रादित्याग्नियमवायुरात्रिसंध्याद्वयधर्माः सर्वशरीरिणां शुभाशुभकर्मज्ञाः । दिवादीनां चाधिष्ठातृदेवताऽस्ति, सा च शरीरिण्यैकत्रावस्थापिता तत्सर्वं जानातीत्यागमप्रामाण्याद्वेदान्तदर्शनं तदङ्गीकृत्येदमुक्तम् ॥ ८६ ॥

देवब्राह्मणसान्निध्ये साक्ष्यं पृच्छेदृतं द्विजान् ।
उदङ्मुखान्प्राङ्मुखान्वा पूर्वाह्णे वै शुचिः शुचीन् ॥ ८७ ॥

शुद्ध हृदय न्यायकर्ता देवताकी प्रतिमा और ब्राह्मणके पासमें पूर्व या उत्तर की ओर मुख करके खड़े हुए सत्यवक्ता द्विजोंसे (या अन्य जातीय साक्षियोंसे भी) पूर्वाह्ण समयके (दोपहरके पहले) गवाही लेवे ॥ ८७ ॥

प्रतिमादेवताब्राह्मणसन्निधाने शुचीन्द्विजातिप्रभृतीन्प्राङ्मुखानुदङ्मुखान्वा स्वयं प्रयतः प्राड्विवाकः पूर्वाह्णे काले याथातथ्यं साक्ष्यं पृच्छेत् ॥ १७ ॥

ब्रूहीति ब्राह्मणं पृच्छेत्सत्यं ब्रूहीति पार्थिवम् ।
गोबीजकाञ्चनैर्वैश्यं शूद्रं सर्वैस्तु पातकैः ॥ ८८ ॥

न्यायाधीश ब्राह्मणोंसे 'कहो', क्षत्रियोंसे 'सत्य कहो', वैश्योंसे 'गौ बीज और सोना चुराना पाप है। वह पाप तुम्हें असत्य गवाही देने पर लगेगा' तथा शूद्रों से 'तुम्हें सब पाप लगेंगे, यदि तुम असत्य गवाही दोगे' ऐसा (८।८९-१०१) कहकर गवाही लेवे ॥ ८८ ॥

ब्रूहीत्येवं शब्दमुच्चार्य ब्राह्मणं पृच्छेत् । सत्यं ब्रूहीति पार्थिवं क्षत्रियं पृच्छेत् । गोबीजसुवर्णापहारे यत्पापं तद्भवतोऽनृताभिधाने स्यादित्येवं वैश्यम् । शूद्रं पुनः सर्वैर्वक्ष्यमाणपापैः सम्बध्यसे यदि मृषा वदसीति पृच्छेत् ॥ ८८ ॥

ब्रह्मघ्नो ये स्मृता लोका ये च स्त्रीबालघातिनः ।
मित्रद्रुहः कृतघ्नस्य ते ते स्युर्ब्रुवतो मृषा ॥ ८९ ॥

ब्राह्मण, स्त्री तथा बालककी हत्या करनेवाले, मित्रद्रोही तथा कृतघ्नको जो नरक आदि लोक प्राप्त होते हैं, वे सब असत्य बोलते हुए तुम्हें प्राप्त होवें ॥ ८९ ॥

ब्राह्मणहन्तुः, स्त्रीघातिनो बालघातिनश्च ये नरकादिलोका ऋषिभिः स्मृताः, ये च मित्रद्रोहादिकारिणः, ये चोपकर्तुरपकारिणस्ते तव मिथ्यावदतो भवेयुः ॥ ८९ ॥

जन्मप्रभृति यत्किञ्चित्पुण्यं भद्र ! त्वया कृतम् ।
तत्ते सर्वं शुनो गच्छेद्यदि ब्रूयास्त्वमन्यथा ॥ ९० ॥

हे भद्र ! यदि तुम अन्यथा अर्थात् असत्य बोलो तो जन्मसे लेकर जो कुछ तुमने पुण्य किया है, वह सब कुत्तोंको प्राप्त हो अर्थात् वह सब पुण्य नष्ट हो जाय ॥ ९० ॥

हे शुभाचार ! यत्त्वया जन्मत आरभ्य किंचित्सुकृतं कृतं, तत्सर्वं त्वदीयं कुक्कुरादिकं संक्रामति, यदि त्वमसत्यो ब्रवीषि ॥ ९० ॥

एकोऽहमस्मीत्यात्मानं यत्त्वं कल्याण ! मन्यसे ।
नित्यं स्थितस्ते हृद्येष पुण्यपापेक्षिता मुनिः ॥ ९१ ॥

हे कल्याणकारी चरित्रवाले ! जो तम 'मैं अकेला हूँ' ऐसा आत्मा (जीवात्मा) को मानते हो (वैसा मत मानो, क्योंकि) पुण्य पापको देखनेवाला सर्वज्ञ (परमात्मा) तुम्हारे हृदयमें सर्वदा वर्तमान रहता है ॥ ९१ ॥

हे भद्र ! एक एवाहमस्मि जीवात्मक इति यदाऽऽत्मानं मन्यसे, मैवं मंस्थाः । यस्मादेवं पापानां पुण्यानां च द्रष्टा मननान्मुनिः सर्वज्ञस्तव हृदये परमात्मा नित्यमवस्थितः । तथा च श्रुतिः-"द्वा सुपर्णा सयुजा सखया समानं वृक्षं परिषस्वजाते । तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्ये अभिचाकशीति" ॥ ९१ ॥

यमो वैवस्वतो देवो यस्तवैष हृदि स्थितः ।
तेन चेदविवादस्ते मा गङ्गां मा कुरून्गमः ॥ ९२ ॥

तुम्हारे हृदयमें रहनेवाला जो यह यम अर्थात् दण्डकर्ता परमात्मा रहता है, उसके साथ यदि तुम्हारा विवाद नहीं है, तब तुम (असत्य-भाषणरूप पाप कर्म का प्रायश्चित्त करनेके लिए) गङ्गाजी और कुरुक्षेत्र मत जाओ अर्थात् सत्य बोलनेपर पाप नहीं लगनेके कारण तुम्हें गङ्गाजी या कुरुक्षेत्र जाकर प्रायश्चित्त करनेकी आवश्यकता नहीं है ॥ ९२ ॥

सर्वसंयमनाद्यमः, परमात्मा, वैवस्वत इति दण्डधारित्वात्, देवनाद्देवः, यस्तवैष हृदि तिष्ठति तेन सह यथार्थकथने यदि तवाविवादः यदा त्वन्मनोगतमसावन्यज्जानाति त्वं चान्यथा कथयसि तदान्तर्यामिणा सह विप्रतिपत्तिः स्यात् । एवं चात्र सत्याभिधानेनैव निःपापः कृतकृत्योऽसि । पापनिर्हरणार्थं मा गङ्गां मा च कुरुक्षेत्रं यासीः, मनूक्तमेवात्र । गङ्गाकुरुक्षेत्रयोः साम्यं मत्स्यपुराणे व्यासेन स्फुटीकृतम् - "कुरुक्षेत्रसमा गङ्गा यत्र तत्रावगाहिता" इति । [1]मेधातिथिगोविन्दराजौ तु विवस्वतः पुत्रो यो यमो दक्षिणदिक्पतिर्लोकतः कर्मगोचरीभूतत्वात्तव हृदये परिस्फुरति तेन सह यदि तवाधर्मकारित्वाभावाद्विवादो नास्ति तदा मा गङ्गां मा कुरुक्षेत्रं यासीरिति व्याचक्षाते ॥ ९२ ॥

---

१. कः पुनरसौ मुनिर्भयातिशयप्रदर्शनार्थमाह-यथैष सर्वप्राणिनां देहधनाद्युच्छेदकारीयातनाभिश्च निगृह्णीतेति श्रुतिपथमागतो भवतः सोऽयं तव हृदये वर्तते, न विप्रकृष्टः । स चापराधं मामेवं नयति मा चैवं मनसि कृथाः । एष आत्मा मदीयो मामुपेक्षिष्यत इति । न ह्येतस्य कश्चिदात्मीयस्तेन चेदविवादः स चेत्प्रसन्नः प्रत्ययितः किं गंगागमनेन स्नानार्थिनः पापशुद्धये किं कुरुक्षेत्रगमनेऽस्ति प्रयोजनं, तत्फलं पापक्रमोपलक्षणार्थं ततः पुण्यम्, तदिहैवाविसंवादिनि परमात्मनि । नहि पापकारिण आत्मा निर्विशङ्को भवति, किं मेऽतः स्यादेतेनेति । नास्तिकस्यापि किं कथिका भवत्येव गंगानदी पावयन्ती, कुरुक्षेत्रं देश एव पावनः ।

नग्नो मुण्डः कपालेन भिक्षार्थी क्षुत्पिपासितः ।
अन्धः शत्रुकुलं गच्छेद्यः साक्ष्यमनृतं वदेत् ॥ ९३ ॥

गवाहीमें जो व्यक्ति असत्य बोलता है, वह अगले जन्ममें नङ्गा, शिर मुड़ाया, अन्धा, भूख-प्याससे युक्त और कपाल (फूटा ठिकरा) लिये हुए भीख मांगनेके लिए शत्रुओंके यहां जाता है ॥ ९३ ॥

यः साक्ष्यमसत्यं वदेत्स नग्नः कृतमुण्डनपरिभवोऽन्धः कर्परेणोपलक्षितः भिक्षार्थी शत्रुकुलं गच्छेत् ॥ ९३ ॥

अवाक्शिरास्तमस्यन्धे किल्बिषी नरकं व्रजेत् ।
यः प्रश्नं वितथं ब्रूयात्पृष्टः सन् धर्मनिश्चये ॥ ९४ ॥

धर्मनिर्णय (गवाही) में न्यायाधीशके सामने पूछनेपर जो असत्य बोलता है, वह पापी अधोमुख होकर घोर अन्धकारवाले नरकको जाता है ॥ ९४ ॥

यो धर्मनिश्चयनिमित्तं पृष्टः सन्नसत्यं ब्रूयात्, स पापवानधोमुखो महान्धकारे यो नरकस्तं गच्छति ॥ ९४ ॥

अन्धो मत्स्यानिवाश्नाति स नरः कण्टकैः सह ।
यो भाषतेऽर्थवैकल्यमप्रत्यक्षं सभां गतः ॥ ९५ ॥

जो न्यायालयमें जाकर बातको अस्तव्यस्तकर (गड़बड़ करके असत्य) बोलता है या बिना देखी हुई बात कहता है, वह मनुष्य कांटे सहित मछलीको खानेवाले अन्धेके समान दुःखी होता है ॥ ९५ ॥

यः सभां प्राप्तोऽर्थस्य तत्त्वार्थस्य वैकल्यमयथार्थाभिप्रायमप्रत्यक्षमनुपलब्धमुत्कोचादिसुखलेशेन कथयति, स नरोऽन्ध इव सकण्टकान्मत्स्यान्भक्षयति, सुखबुद्ध्या प्रवृत्तो दुःखमेव महल्लभते ॥ ९५ ॥

यस्य विद्वान् हि वदतः क्षेत्रज्ञो नाभिशङ्कते ।
तस्मान्न देवाः श्रेयांसं लोकेऽन्यं पुरुषं विदुः ॥ ९६ ॥

गवाहीमें बोलते हुए जिस मनुष्यका सर्वज्ञ अन्तर्यामी ('यह असत्य बोलता है या सत्य' ऐसी शङ्का नहीं करता, किन्तु यह सत्य ही बोलता है, ऐसा) निःशङ्क रहता है अर्थात गवाही देनेवाले मनुष्यके मनमें कोई शंका नहीं होती; संसारमें उससे अधिक श्रेष्ठ किसी दूसरेको देवता लोग नहीं मानते हैं ॥ ९६ ॥

यस्य वदतः सर्वज्ञोऽन्तर्यामी किमयं सत्यं वदत्युतानृतमिति न शङ्केत, किन्तु सत्यमेवायं वदतीति निर्विशङ्कः सम्पद्यते । तस्मादन्यं प्रशस्ततरं पुरुषं देवा न जानन्ति ॥ ९६ ॥

यावतो बान्धवान्यस्मिन्हन्ति साक्ष्येऽनृतं वदन् ।
तावतः संख्यया तस्मिञ्छृणु सौम्यानुपूर्वशः ॥ ९७ ॥
[एवं संबन्धनात्तस्मान्मुच्यते नियतावृतः ।]
पशून्गोश्वपुरुषाणां हिरण्यं भूर्यथाक्रमम् ॥ ९ ॥

हे सौम्य ! गवाहीमें असत्य कहकर मनुष्य जितने बान्धवोंको नरकमें डालता है (या जितने बान्धवोंकी हत्या करनेका फल पाता है), उनकी संख्या क्रमशः मुझसे सुनो—॥ ९७ ॥

यस्मिन्पश्वादिनिमित्ते साक्ष्येऽनृतं वदन् यत्संख्याकान्पित्रादिबान्धवान्नरके योजयति, तत्संख्याकान्क्रमेण परिगणनया मयोच्यमानान् साधो ! शृणु । अथवा यावतो बान्धवान् यस्मिन्हन्ति. यावतां बान्धवानां हननफलं प्राप्नोति, तावत्संख्याकाञ्छृणु । पश्चाद्वयेऽप्यनृतनिन्दार्थमिदम् ॥ ९७ ॥

पञ्च पश्वनृते हन्ति दश हन्ति गवानृते ।
शतमश्वानृते हन्ति सहस्रं पुरुषानृते ॥ ९८ ॥

पशुके विषयमें असत्य बोलनेपर पांच, गौके विषयमें असत्य बोलनेपर दश, घोड़ेके विषयमें असत्य बोलनेपर सौ तथा मनुष्यके लिये असत्य बोलनेपर सहस्र बान्धवोंको नरकमें डालता (या उनकी हत्या करनेका फल पाता) है ॥ ९८ ॥

पशुविषयेऽनृते पञ्च बान्धवान्नरके योजयति, पञ्चानां बान्धवानां हननफलं प्राप्नोति । एवं दश गोविषये, शतमश्वविषये, सहस्रं पुरुषविषये । संख्यागौरवं चेदं प्रायश्चित्तगौरवार्थम् ॥ ९८ ॥

हन्ति जातानजातांश्च हिरण्यार्थेऽनृतं वदन् ।
सर्वं भूम्यनृते हन्ति मा स्म भूम्यनृतं वदीः ॥ ९९ ॥
[पशुवत्क्षौद्रघृतयोर्यच्चान्यत्पशुसंभवम् ।
गोवद्वस्त्रहिरण्येषु धान्यपुष्पफलेषु च ॥ १० ॥
अश्ववत्सर्वयानेषु खरोष्ट्रवतरादिषु ॥]

सुवर्णके विषयमें असत्य बोलता हुआ मनुष्य उत्पन्न (पिता, दादा आदि) तथा नहीं उत्पन्न हुए (पुत्र-पौत्र आदिको) नरकमें डालता (या उनकी हत्या करनेका फल पाता) है और पृथ्वीके विषयमें असत्य बोलनेपर सबको नरकमें डालता (या उनकी हत्या करनेका फल पाता) है, इस कारणसे भूमिके विषयमें असत्य (कभी) मत बोलो ॥ ९९ ॥

शहद तथा घृत और पशुसे उत्पन्न अन्य वस्तु (दूध, दही, मक्खन आदि) के विषयमें असत्य बोलनेपर पशुके विषयमें असत्य बोलनेके समान, कपड़ा, सोना, धान्य (गल्ला), फूल और फलके विषयमें असत्य बोलनेके समान; गधा-ऊँट, नाव आदि सवारियोंके विषयमें असत्य बोलनेपर घोड़ेके विषयमें असत्य बोलनेके समान मनुष्य पापी होता है अर्थात् क्रमशः पाँच, दश और सौ बान्धवोंको नरकोंमें डालता (या उनकी हत्या करनेके) समान फल पाता है ॥ १०½ ॥

हिरण्यार्थेऽनृतं वदञ्जातान् पित्रादीन् अजातांश्च पुत्रप्रभृतीन्नरके योजयति, एषां हननफलं प्राप्नोति । भूमिविषये चानृतं वदन्सर्वप्राणिनां हननफलं प्राप्नोति । तस्माद्भूविषयेऽनृतं मा वदीरिति विशिष्याभिधानम् ॥ ९९ ॥

वैदूर्यादिष्वनृतं ब्रुवतो भूमिवद्दोषमाह—

अप्सु भूमिवदित्याहुः स्त्रीणां भोगे च मैथुने ।
अब्जेषु चैव रत्नेषु सर्वेष्वश्ममयेषु ॥ १०० ॥
[पशुवत्क्षौद्रघृतयोर्यानेषु च तथाश्ववत् ।
गोवद्रजतवस्त्रेषु धान्ये ब्राह्मणवद्विधिः ॥ ११ ॥

पानी (तालाब, कूआँ, नहर आदि), स्त्री-भोग मैथुन, कमल, रत्न और पत्थरकी बनी सब प्रकारकी वस्तुओंके विषयमें असत्य बोलनेपर भूमिके विषयमें असत्य बोलनेके समान पाप लगता

है अर्थात् वह मनुष्य सब बान्धवोंको नरकमें डालता (या उनकी हत्या करनेके समान फल पाता है ॥ १०० ॥

शहद तथा घृतके विषयमें असत्य बोलनेपर पशुके विषयमें असत्य बोलनेके समान, सवारियोंके विषयमें असत्य बोलनेपर घोड़ेके विषयमें असत्य बोलनेके समान, चांदी तथा कपड़ोंके विषयमें असत्य बोलनेपर गौके विषयमें असत्य बोलनेके समान और धान्यके विषयमें असत्य बोलनेपर ब्राह्मणके विषयमें असत्य बोलनेके समान पाप लगता है अर्थात् पशु आदिके विषयमें असत्य बोलनेपर जितने-जितने बान्धवोंको नरकमें डालता (या उनके मारनेके समान फल पाता) है, शहद, घी आदिके विषयमें असत्य बोलकर उतने-उतने बान्धवोंको नरकमें डालता (या उनकी हत्या करनेके समान फल पाता है ॥ ११ ॥

तडागकूपप्राह्योदकविषयेऽनृते, स्त्रीणां च मैथुनाख्योपभोगविषये, अब्जेषु च, रत्नेषु च मुक्तादिषु, पाषाणमयेषु वैदूर्यादिष्वनृते भूमिवद्दोषमाहुः ॥ १०० ॥

एतान्दोषानवेक्ष्य त्वं सर्वाननृतभाषणे।
यथाश्रुतं यथादृष्टं सर्वमेवाञ्जसा वद ॥ १०१ ॥

(न्यायाधीश साक्षी (गवाह) से कहे कि—) तुम असत्य बोलनेपर इन (८।८०-१००) सब दोषोंको देख (जान) कर जैसा देखा और जैसा सुना है, वैसा ही सब कहो ॥ १०१ ॥

एतानसत्यभाषणदोषानधिगम्य दृष्टश्रुतानतिक्रमेण सर्वमेवाञ्जसा तत्त्वतो ब्रूहि ॥१०१॥

गोरक्षकान्वाणिजिकांस्तथा कारुकुशीलवान्।
प्रेष्यान्वार्धुषिकांश्चैव विप्रान् शूद्रवदाचरेत् ॥ १०२ ॥
[येऽप्यतीताः स्वधर्मेभ्यः परपिण्डोपजीविनः।
द्विजत्वमभिकाङ्क्षन्ति तांश्च शूद्रानिवाचरेत् ॥ १२ ॥]

गोरक्षा, व्यापार, बढ़ई-लोहार या सूप-डाला आदि बनाने, नाचने-गाने, दास (सन्देश पहुँचाने) और निन्द्रित कर्म करने (या सूद लेने) की जीविका करनेवाले ब्राह्मणोंसे (साक्षीके विषयमें प्रश्न करते समय राजा) शूद्रके समान वर्ताव करे ॥ १०२ ॥

जो अपने धर्मसे भ्रष्ट होकर भोजनके लिए दूसरोंके आश्रित हो तथा ब्राह्मण बनना चाहते हों; उनके साथ भी (साक्षीके विषयमें राजा) शूद्रके समान वर्ताव करे ॥ १२ ॥

गोरक्षणजीविनो, वाणिज्यजीविनः, सूपकारादिकारुकर्मजीविनः, दासकर्मजीविनः, नटकर्मनृत्यगीतादिजीविनः, प्रतिषिद्धजीविनो ब्राह्मणान्प्रकृतसाक्ष्यदर्शने शूद्रवत्पृच्छेत् ॥ १०२ ॥

तद्वदन्धर्मतोऽर्थेषु जानन्नप्यन्यथा नरः।
न स्वर्गाच्च्यवते लोकाद्दैवीं वाचं वदन्ति ताम् ॥ १०३ ॥

बातको जानता हुआ धर्म (दया, जीवरक्षा आदि) के कारण आगे वक्ष्यमाण विषयोंमें अन्यथा कहनेवाला मनुष्य स्वर्गलोकसे भ्रष्ट नहीं होता अर्थात् धर्मबुद्धिसे असत्य साक्षी देनेवालेका स्वर्ग नहीं बिगड़ता है (मनु आदि महर्षिगण) उस वाणीको दैवी (देव सम्बन्धिनी) वाणी कहते हे ॥ १०३ ॥

तदेतत्साक्ष्यमन्यथाऽपि जानन्मनुष्यो धर्मेण दयादिना व्यवहारेष्वन्यथा वदन्स्वर्गलोकान्न भ्रश्यति। यस्माद्यदेतन्निमित्तविशेषेणासत्याभिधानं, तां देवसम्बन्धिनीं वाचं मन्वादयो वदन्ति ॥ १०३ ॥

क्व पुनस्तदसत्यं वक्तव्यमित्यत आह—

शूद्रविट्क्षत्रविप्राणां यत्रर्तोक्तौ भवेद्वधः ।
तत्र वक्तव्यमनृतं तद्धि सत्याद्विशिष्यते ॥ १०४ ॥

जहां सत्य कहनेपर शूद्र वैश्य, क्षत्रिय या ब्राह्मणको प्राणदण्ड (फांसी) होवे; वहां असत्य कहना (गवाही देना) चाहिये, क्योंकि वह (असत्य कहना) सत्य कहनेसे श्रेष्ठ है ॥ १०४ ॥

यस्मिन्व्यवहारे सत्याभिधाने सति शूद्रवैश्यक्षत्रियब्राह्मणानां वधः सम्पद्यते, तत्रासत्यं वक्तव्यम् । यस्मात् यस्मिन्विषयेऽनृतं यत्तत्प्राणरक्षणेन सत्याद्विशिष्यते । एतच्च प्रमादस्खलिताधर्मविषयत्वे, नात्यन्ताधार्मिकसंधिकारस्तेनादिविषये । तथा गोतमः—"नानृतवदने दोषो यज्जीवनं चेत्तदधीनं, न तु पापीयसो जीवनम्" इति । न च—

न जातु ब्राह्मणं हन्यात्सर्वपापेष्वपि स्थितम् । (म० स्मृ० ८-३८०)

इति मनुनैव वधमागत्वान्न ब्राह्मणवधप्रसक्तिरिति वाच्यम्, उग्रदण्डत्वाद्राज्ञः कथञ्चित्सम्भवात् । अत्र वचने शूद्रादिक्रमेणाभिधानं, वधस्यामङ्गलत्वात् ॥ १०४ ॥

वाग्दैवत्यैश्च चरुभिर्यजेरंस्ते सरस्वतीम् ।
अनृतस्यैनसस्तस्य कुर्वाणा निष्कृतिं पराम् ॥ १०५ ॥

उस असत्यका निवारण करते हुए वे (असत्य कहनेवाले साक्षी) चरुओंसे वाणी हैं देवता जिसकी ऐसा सरस्वतीका याग करें ॥ १०५ ॥

ते साक्षिणोऽनृताभिधायिनो वाग्देवताकैश्चरुभिः सरस्वतीं यजेरन् । तस्यानृताभिधानजनितपापस्य प्रकृष्टां शुद्धिं कुर्वाणाः साक्षिबहुत्वापेक्षं चेदं, न त्वेकस्यैव साक्षिणः कपिञ्जलन्यायेन चरुत्रयम् । यद्यपि वाग्देवताके चरौ वाक्शब्देनैव देवतात्वं, न सरस्वतीशब्देन, "विधिशब्दस्य मन्त्रत्वे भावः स्यात्" इति न्यायात्तथापि "वाग्वै सरस्वती" इति श्रुतेर्वाक्सरस्वत्योरेकार्थत्वात्सरस्वतीमित्युपसंहारः । अत्र प्रकरणे चेदं प्रायश्चित्ताभिधानं लाघवार्थम् । तत्र क्रियमाणे 'शूद्रविट्क्षत्रियब्राह्मणवधविषयानृतवादिनः' इत्यपि वक्तव्यं स्यात् ॥ १०५ ॥

कूष्माण्डैर्वापि जुहुयाद् घृतमग्नौ यथाविधि ।
उदित्यृचा वा वारुण्या तृचेनाब्दैवतेन वा ॥ १०६ ॥

अथवा (उक्त असत्य कहनेवाला साक्षी उक्त दोषके निवारणार्थ) कुष्माण्ड (यद्देवा देवहेडनम् यजु० २०।१४) मन्त्रोंसे, या वरुण देवताको (वरुण है देवता जिसका ऐसे) 'उदुत्तमं वरुणपाशम् (यजु० १२।१२)' मन्त्रसे अथवा जल है देवता जिसका ऐसे 'आपो हि ष्ठा मयो भुवः' (यजु० ११।५०)' मन्त्रसे विधिपूर्वक (स्वगृह्योक्त परिस्तरणादिके साथ) अग्निमें हवन करे ॥१०६॥

कूष्माण्डमन्त्रा यजुर्वैदिकाः "यद्देवा देवहेडनम्" इत्येवमादयस्तैर्मन्त्रदेवतायै घृतमग्नौ जुहुयात् । यथाविधि परिस्तरणादि स्वात्मधर्मेण स्वगृह्योक्तेन । "उदुत्तमं वरुणपाशम्" इत्येतया वरुणदेवताकया "आपो हि ष्ठा" इति तृचेन वाग्देवताकेन जुहुयात् । घृतमग्नाविति सर्वत्रानुषङ्गः ॥ १०६ ॥

त्रिपक्षादब्रुवन्साक्ष्यमृणादिषु नरोऽगदः ।
तदृणं प्राप्नुयात्सर्वं दशबन्धं च सर्वतः ॥ १०७ ॥

यदि स्वस्थ रहता हुआ भी साक्षी तीन पक्ष (डेढ मास) तक ऋणके मुकदमेंमें साक्ष्य गवाही न दे तो ऋणी मनुष्य ऋणदाता (महाजन) को सब लिया हुआ धन देवे तथा राजाको दण्डस्वरूप उक्त ऋण द्रव्यका दशवां भाग देवे ॥ १०७ ॥

अव्याधितः साक्षी ऋणादानादिव्यवहारे त्रिपक्षपर्यन्तं यदि साक्ष्यं न वदेत्तदा तद्विवादास्पदं सर्वमृणमुत्तमर्णस्य दद्यात्, तस्य च सर्वस्यर्णस्य दशमं भागं राज्ञो दण्डं दद्यात् ॥ १०७ ॥

यस्य दृश्येत सप्ताहादुक्तवाक्यस्य साक्षिणः ।
रोगोऽग्निर्ज्ञातिमरणमृणं दाप्यो दमं च सः ॥ १०८ ॥

गवाही देनेवाले गवाहके यहां (गवाही देनेके बाद) एक सप्ताहमें रोग, आग लगना अथवा बान्धवों (पुत्रादि निकट सम्बन्धियों) का मरण हो जाय तो ऋणी महाजनको सब धन देवे तथा राजाको दण्डस्वरूप (ऋणद्रव्यका दशांश धन) देवे ॥ १०८ ।

यस्य साक्षिण उक्तसाक्ष्यस्य सप्ताहमध्ये व्याध्यग्निदाहसंनिहितपुत्रादिज्ञातिमरणानामन्यतमं भवति, दैवसूचितमिथ्याभिदोषत्वादृणमुत्तमर्णस्य दण्डं च राज्ञा दाप्यः ॥ १०८ ॥

असाक्षिकेषु त्वर्थेषु मिथो विवदमानयोः ।
अविन्दंस्तत्त्वतः सत्यं शपथेनापि लम्भयेत् ॥ १०९ ॥

विना साक्षीवाले मुकदमोंमें परस्पर विवाद करते हुए वादी तथा प्रतिवादी (मुद्दई तथा मुद्दालह) से ठीक-ठीक सचाई नहीं मालूम पड़नेपर राजा (न्यायाधीश) शपथ करके सच्चाईको मालूम करे ॥ १०९ ॥

अविद्यमानसाक्षिकेषु व्यवहारेषु परस्परं विविदमानयोस्तत्त्वतश्छलादिव्यतिरेकेण सत्यमलभमानः प्राड्विवाको वक्ष्यमाणेन शपथेन सत्यमुन्नयेत् ॥ १०९ ॥

महर्षिभिश्च देवैश्च कार्यार्थं शपथाः कृताः ।
वसिष्ठश्चापि शपथं शेपे पैजवने नृपे ॥ ११० ।

महर्षियों तथा देवोंने सन्दिग्ध कार्यके निर्णयार्थ शपथको बनाया ('इस वसिष्ठ मुनिने सौ पुत्रोंको भक्षण किया है' ऐसा विश्वामित्रके कहनेपर वसिष्ठने अपनेको निर्दोष बनानेके लिए) पैजवन (विजवनके पुत्र) 'सुदास्' नामक राजाके यहां शपथ किया था ॥ ११० ॥

सप्तर्षिभिर्देवैश्चेन्द्रादिभिः सन्दिग्धकार्यनिर्णयार्थं शपथाः कृताः, वसिष्ठोऽप्यनेन पुत्रशतं भक्षितमिति विश्वमित्रेणाक्रुष्टः स्वपरिशुद्धये पिजवनापत्ये सुदासि राजनि शपथं चकार । अनेकार्थत्वाद्धातूनां शपिरपि करोत्यर्थः ॥ ११० ॥

न वृथा शपथं कुर्यात्स्वल्पेऽप्यर्थे नरो बुधः ।
वृथा हि शपथं कुर्वन्प्रेत्य चेह च नश्यति ॥ १११ ॥

विद्वान् (समझदार) मनुष्य छोटे कामके लिए भी असत्य शपथ न करे, क्योंकि असत्य शपथ लेता हुआ मनुष्य परलोकमें (मरकर नरक पाने से) तथा इस लोकमें भी (अपयश बदनामी पानेसे) नष्ट होता है ॥ १११ ॥

स्वल्पेऽपि कार्ये न वृथा शपथं पण्डितः कुर्यात् । वृथा शपथं कुर्वन्परलोक इह लोके नरकप्राप्त्या अकीर्तिप्राप्त्या च नाशं प्राप्नोति ॥ १११ ॥

वृथाशपथप्रतिप्रसवार्थमाह—

कामिनीषु विवाहेषु गवां भक्ष्ये तथेन्धने।
ब्राह्मणाभ्युपपत्तौ च शपथे नास्ति पातकम् ॥ ११२ ॥

कामिनीके विषयमें (अनेक अपनी स्त्रियोंके रहनेपर 'मैं तुमसे ही बहुत प्रेम करता हूँ दूसरीसे नहीं' ऐसा शपथकर रति आदि करनेके विषयमें), विवाहोंमें मैं दूसरी स्त्रीके साथ विवाह नहीं करूंगा ऐसा, अथवा—कन्यादिके विवाहके विषयमें अर्थात् गुणवती एवं सुन्दरी है' इत्यादि कहकर कन्याके विवाह करानेमें भूसा-घास आदिके विषयमें, होनेके लिए लड़की लेनेके विषयमें तथा ब्राह्मणरक्षार्थ स्वीकृत धनादिके विषयमें असत्य शपथ करनेमें पाप नहीं होता है ॥ ११२ ॥

बहुभार्यस्य नान्यामहं कामये त्वमेव मत्प्रेयसीत्येवं विशिष्टः सुरतलाभार्थं कामिनीविषये, विवाहविषये च मयाऽन्या च वोढव्येत्यादौ, गवार्थे घासाद्युपहारे च अग्नौ होमार्थमिन्धनाद्युपहारे, ब्राह्मणरक्षार्थमङ्गीकृतधनादौ वृथा शपथे पापं न भवति ॥ ११२ ॥

सत्येन शापयेद्विप्रं क्षत्रियं वाहनायुधैः।
गोबीजकाञ्चनैर्वैश्यं शूद्रं सर्वैस्तु पातकैः ॥ ११३ ॥

ब्राह्मणको सत्यकी, क्षत्रियको वाहन (हाथी घोड़ा आदि) तथा शस्त्रकी, वैश्यको गौ, व्यापार तथा सुवर्ण आदि धनकी और शूद्रको सब पापोंका शपथ करावे ॥ ११३ ॥

ब्राह्मणं सत्यशब्दोच्चारणेन शापयेत्। क्षत्रियं वाहनायुधं मम निष्फलं स्यादित्येवम्। वैश्यं गोबीजकाञ्चनानि च मम निष्फलानि स्युरित्येवम्। शूद्रं च सर्वाणि मे पातकानि स्युरित्येवं शापयेत् ॥ ११३ ॥

कार्यगौरवलाघवापेक्षया—

अग्निं वाहारयेदेनमप्सु चैनं निमज्जयेत्।
पुत्रदारस्य वाप्येनं शिरांसि स्पर्शयेत्पृथक् ॥ ११४ ॥

अथवा (मुकदमेके बड़ा वा छोटा होनेकी अपेक्षा) इस शूद्रसे अग्नि लेकर सात कदम चलावे, जोंक आदिसे रहित पानीमें डुबावे अथवा इसके पुत्र यथा स्त्रीके शिरका पृथक्-पृथक् स्पर्श करावे ॥ ११४ ॥

अग्निसन्निभं पञ्चाशत्पलिकमष्टाङ्गुलमयःपिण्डं हस्तद्वयविन्यस्तसप्ताश्वत्थपत्रं शूद्रादिष्टं सप्त पदानि पितामहाद्युक्तविधानादाहारयेत् जलौकादिरहितजले चैनं निमज्जयेत्। अशेषेतिकर्तव्यता स्मृत्यन्तरे ज्ञेया। पुत्राणां दाराणां च पृथक् शिरस्येनं स्पर्शयेत् ॥ ११४ ॥

यमिद्धो न दहत्यग्निरापो नोन्मज्जयन्ति च।
न चार्तिमृच्छति क्षिप्रं स ज्ञेयः शपथे शुचिः ॥ ११५ ॥

(वैसा करनेपर) जिस साक्षी करनेवालेको अग्नि (तपाया हुआ लौह) नहीं जलावे, पानी ऊपरको नहीं फेंके तथा शीघ्र वह दुःख नहीं पावे; उस साक्षी करनेवालेको शपथमें सच्चा समझना चाहिये ॥ ११५ ॥

यं प्रदीप्तोऽग्निर्न दहति, आपश्च यं नोर्ध्वं नयन्ति, न चार्तिमेव महतीं प्राप्नोति स शपथे विशुद्धो ज्ञेयः ॥ ११५ ॥

अत्र प्रकृतमर्थवादमाह—

वत्सस्य ह्यभिशस्तस्य पुरा भ्रात्रा यवीयसा।
नाग्निर्ददाह रोमापि सत्येन जगतः स्पशः ॥ ११६ ॥

पूर्वकालमें (सौतेले) छोटे भाईके द्वारा 'तुम ब्राह्मण नहीं हो, शूद्रकी सन्तान हो' ऐसा दूषित वत्स ऋषिके रोमको (भी संसारके शुभाशुभ जाननेमें) गुप्तचर रूप अग्निने सत्यके कारणसे नहीं जलाया ॥ ११६ ॥

यस्मात्पूर्वकाले वत्सनाम्न ऋषेर्न त्वं ब्राह्मणः शूद्रापत्योऽसीत्येवं कनीयसा वैमात्रेयेणाभिक्रुष्टस्य नैतदेवमिति स यथार्थमग्निं प्रविष्टस्याग्निः सर्वस्य जगतः शुभाशुभकर्तव्ये चारभूतः सत्येन हेतुना रोमैकमपि वह्निर्न दग्धवान् ॥ ११६ ॥

यस्मिन्यस्मिन्विवादे तु कौटसाक्ष्यं कृतं भवेत् ।
तत्तत्कार्यं निवर्तेत कृतं चाप्यकृतं भवेत् ॥ ११७ ॥

जिस-जिस विवाद (झगड़े—मुकदमे) में असत्य गवाही हो, (न्यायाधीश) उस-उस विवाद को फिर विचार करे और जिस विवादमें दण्ड–विधानादि (जुर्माने आदिका फैसला) हो चुका हो, वह समाप्त होकर भी नहीं समाप्तके समान है (अतः उस पर भी पुनर्विचार करे) ॥ ११७ ॥

यस्मिन्यस्मिन्व्यवहारे साक्षिभिरनृतमुक्तमिति निश्चितं भवेत्तत्कार्यमसमाप्तं प्राड्विवाकः पुनरपि निवर्तयेत् । यदपि च दण्डसमाप्तिपर्यन्ततां नीतं तदपि पुनः परीक्षेत् ॥११७॥

वक्ष्यमाणविशेषार्थं लोभादीन्पृथङ् निर्दिशति—

लोभान्मोहाद्भयान्मैत्रात्कामात्क्रोधात्तथैव च ।
अज्ञानाद्बालभावाच्च साक्ष्यं वितथमुच्यते ॥ ११८ ॥

लोभ, मोह (विपरीत ज्ञान अर्थात् उल्टा समझना), भय, प्रेम, काम, क्रोध, अज्ञान तथा असावधानी (या लड़कपन) से साक्षी असत्य माना जाता है ॥ ११८ ॥

लोभेन, विपरीतज्ञानेन, भयेन, स्नेहेन, कामेन, क्रोधेन, अज्ञानेन, अनवधानेन साक्ष्यमसत्यमुच्यते ॥ ११८ ॥

एषामन्यतमे स्थाने यः साक्ष्यमनृतं वदेत् ।
तस्य दण्डविशेषांस्तु प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः ॥ ११९ ॥

(भृगु मुनि ऋषियोंसे कहते हैं कि—) उक्त (८।११८ , लोभादिमें से किसी एकके कारणसे (भी) जो असत्य गवाही दे, उसके दण्डविशेषको हम क्रमशः कहते हैं—॥ ११९ ॥

एषां लोभादीनां मध्यादन्यतमस्मिन्निमित्ते सति यो मिथ्या साक्ष्यं कथयेत्तस्य दण्डविशेषाणि क्रमशो वदिष्यामि ॥ ११९ ॥

लोभात्सहस्रं दण्ड्यस्तु मोहात्पूर्वं तु साहसम् ।
भयाद् द्वौ मध्यमौ दण्डौ मैत्रात्पूर्वं चतुर्गुणम् ॥ १२० ॥
कामाद्दशगुणं पूर्वं क्रोधात्तु त्रिगुणं परम् ।
अज्ञानाद् द्वे शते पूर्णे बालिश्याच्छतमेव तु ॥ १२१ ॥

लोभसे असत्य गवाही देनेपर १००० पण, मोहसे असत्य गवाही देनेपर प्रथम साहस, भयसे असत्य गवाही देनेपर दो मध्यम साहस, मित्रता (प्रेम) से असत्य गवाही देनेपर चौगुना अर्थात् चार प्रथम साहस, कामसे असत्य गवाही देनेपर दश गुना प्रथम साहस, क्रोधसे असत्य गवाही देनेपर तिगुना मध्यम साहस, अज्ञानसे असत्य गवाही देनेपर दो सौ पण और असावधानीसे

असत्य गवाही देने पर सौ पणका 'दण्ड' (जुर्माना, न्यायाधीश उस असत्य गवाही देनेवाले-पर) करे ॥ १२१ ॥

लोभेन मिथ्याऽभिधाने सति वक्ष्यमाणपणानां सहस्रं दण्ड्यः, मोहेन प्रथमं साहसं वक्ष्यमाणम्, भयेन च वक्ष्यमाणौ मध्यमसाहसौ, मैत्र्यात्प्रथमसाहसं चतुर्गुणम् ॥

स्त्रीसंभोगरूपकामानुरोधेन मिथ्यावदन्प्रथमसाहसं दशगुणं दण्ड्यः। क्रोधेन तु परं मध्यमसाहसं त्रिगुणं वक्ष्यमाणं, अज्ञानत्वाद् द्वे शते, बालिश्यादनवधानात्पणशतमेव दण्ड्य इति सर्वत्रानुषङ्गः ॥ १२०-१२१ ॥

एतानाहुः कौटसाक्ष्ये प्रोक्तान्दण्डान्मनीषिभिः।
धर्मस्याव्यभिचारार्थमधर्मनियमाय च ॥ १२२ ॥

(मनु आदि) विद्वानोंने धर्मके स्थापन तथा अधर्मके निवारणके लिये असत्य गवाहियोंमें इन (८।१२०-१२१) दण्डोंको बतलाया है ॥ १२२ ॥

सत्यरूपधर्मस्यापरिलोपार्थमसत्यरूपाधर्मस्य च वारणार्थमेतान्कौटसाक्ष्यविषये पूर्वैर्मुनिभिरुक्तान्दण्डान्मन्वादय आहुः। एतच्च सकृत्कौटसाक्ष्ये ॥ १२२ ॥

भूयोभूयः कौटसाक्ष्यकरणे तु—

कौटसाक्ष्यं तु कुर्वाणांस्त्रीन्वर्णान्धार्मिको नृपः।
प्रवासयेद्दण्डयित्वा ब्राह्मणं तु विवासयेत् ॥ १२३ ॥

धार्मिक राजा बार-बार असत्य गवाही देनेवाले तीन वर्णों (क्षत्रिय-वैश्य तथा शूद्र) को उक्त (८।१२०-१२१) प्रकारसे दण्डित कर राज्यसे निकाल दे और ब्राह्मणको केवल राज्यसे निकाल दे अर्थात् उसे दण्डित न करे ॥ १२३ ॥

क्षत्रियादींस्त्रीन्वर्णान्कौटसाक्ष्ये प्रवृत्तान् पूर्वोक्तेन दण्डेन दण्डयित्वा धार्मिको राजा स्वराष्ट्राद्विवासयेत्। ब्राह्मणं तु धनदण्डव्यतिरेकेण स्वराष्ट्रान्निःसारयेत्।

न जातु ब्राह्मणं हन्यात्सर्वपापेष्ववस्थितम्।
राष्ट्रादेनं बहिः कुर्यात्समग्रधनमक्षतम् ॥ (म. स्मृ. ८-३८०)

इति धनसहितनिर्वासनस्याभिधास्यमानत्वात्। गोविन्दराजस्तु ब्राह्मणं पुनः पूर्वदण्डेन दण्डयित्वा नग्नं कुर्यादिति व्याचष्टे। मेधातिथिस्तु ब्राह्मणस्य विवासनत्वं वासोऽपहरणं गृहभङ्गो वेत्याचष्टे ॥ १२३ ॥

दश स्थानानि दण्डस्य मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत्।
त्रिषु वर्णेषु यानि स्युरक्षतो ब्राह्मणो व्रजेत् ॥ १२४ ॥

ब्रह्माके पुत्र मनुने तीन वर्णों (क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र) के विषयमें दण्डके दश स्थानोंको (८।१२५) कहा है और ब्राह्मण तो पीड़ारहित अर्थात् बिना किसी प्रकार दण्डित किये केवल राज्यसे निकाल दिया जाता है ॥ १२४ ॥

हैरण्यगर्भो मनुर्दश दण्डस्थानान्युक्तवान्। यानि क्षत्रियादिवर्णत्रयविषये भवन्ति। ब्राह्मणः पुनर्महत्यपराधेऽक्षतशरीरो देशान्निस्सार्यते ॥ १२४ ॥

उपस्थमुदरं जिह्वा हस्तौ पादौ च पञ्चमम्।
चक्षुर्नासा च कर्णौ च धनं देहस्तथैव च ॥ १२५ ॥

उपस्थ (मूत्रमार्ग), पेट, जीभ, हाथ, पैर, नेत्र, नाक, कान, धन और देह (ये दण्डके दश स्थान हैं) ॥ १२५ ॥

लिङ्गादीन्येतानि दश दण्डस्थानानि, अतस्तत्तदङ्गेनापराधे सति अपराधलाघवगौरवापेक्षया तत्तदङ्गताडनवेदनादि कर्तव्यम् । अल्पापराधे यथाश्रुतं धनदण्डः । देहदण्डो मारणं महापातकादौ ॥ १२५ ॥

अनुबन्धं परिज्ञाय देशकालौ च तत्त्वतः ।
सारापराधौ चालोक्य दण्डं दण्ड्येषु पातयेत् ॥ १२६ ॥

(न्यायाधीश या राजा) बार बार किये गये अपराध, देश (ग्राम, वन आदि), काल (रात-दिन आदि), अपराधीकी शारीरिक तथा आर्थिक शक्ति और अपराधके गौरव-लाघवका वास्तविक विचारकर दण्डनीय व्यक्तिको दण्डित करे ॥ १२६ ॥

पुनः पुनरिच्छातोऽपराधकरणमवेक्ष्य ग्रामारण्यादि चापराधिस्थानं राज्यादिकं वाऽपराधस्यापेक्ष्य सारं चापराधकारिणो धनशरीरादिसामर्थ्यमपराधं च गुरुलघुभावेन चालोक्य दण्डनीयेषु दण्डं कुर्यात् । एतच्चाभिहिताभिधास्यमानदण्डशेषभूतम् ॥ १२६ ॥

अधर्मदण्डनं लोके यशोघ्नं कीर्तिनाशनम् ।
अस्वर्ग्यं च परत्रापि तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥ १२७ ॥

धर्मविरुद्ध दिया गया दण्ड (राजा) के यश (जीवित अवस्थामें प्रसिद्धि) तथा कीर्ति (मरनेपर प्रसिद्धि) का नाश करनेवाला तथा परलोकमें भी दूसरे धर्मसे प्राप्त होनेवाले स्वर्गका प्रतिबन्धक है; अत एव उसका त्याग करना चाहिये ॥ १२७ ॥

जीवतः ख्यातिर्यशः, मृतस्यः ख्यातिः कीर्तिः, यस्मादनुबन्धाद्यनपेक्ष्य दण्डनमिहलोके यशोनाशनं, मृतस्य च कीर्तिनाशनं परलोके च धर्मान्तरार्जितस्वर्गप्रतिबन्धकं, तस्मात्तत्परित्यजेत् ॥ १२७ ॥

अदण्ड्यान्दण्डयन्राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन् ।
अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति ॥ १२८ ॥

अदण्डनीयको दण्डित करता हुआ तथा दण्डनीयको छोड़ता हुआ राजा बड़ा अयश पाता है तथा नरकको भी जाता है ॥ १२८ ॥

राजा दण्डानर्हान्धनलोभादिना दण्डयन् , दण्डार्हांश्चानुरोधादिनोत्सृजन्महतीमख्यातिं प्राप्नोति, नरकं च व्रजति ॥ १२८ ॥

वाग्दण्डं प्रथमं कुर्याद्धिग्दण्डं तदनन्तरम् ।
तृतीयं धनदण्डं तु वधदण्डमतः परम् ॥ १२९ ॥

राजा गुणियोंको प्रथम बार अपराध करने पर वाग्दण्ड, उसके बाद (दूसरी बार अपराध करनेपर) धिग्दण्ड, तीसरी बार आर्थिक दण्ड (जुर्माना) और इसके बाद वधदण्ड (अपराधानुसार शरीरताडन अर्थात् कोड़े बेंतसे मारना या अङ्गच्छेद आदि या प्राणदण्ड) से दण्डित करे ॥ १२९ ॥

न साधु कृतवानसि, मैवं भूयः कार्षीरित्येवं वाङ्निर्भर्त्सनं प्रथमापराधे गुणवतः कुर्यात् । तथापि यदि नोपशाम्यति, तदा धिग् जाल्म मा जीवहानिस्ते पापस्य भूयादित्येवमादि तस्य कार्यम् । तथापि यद्यसन्मार्गान्न निवर्तते, तदा धनदण्डमस्य तृतीयं कुर्यात् । एव-

मपि चेन्नावतिष्ठते तदाऽतः परं वधदण्डं ताडनाद्यङ्गच्छेदरूपं तस्य कुर्यान्न मारणम्, यतो वक्ष्यति "वधेनापि यदा त्वेतान्" (म. स्मृ. ७·१३०) इति ॥ १२९ ॥

वधेनापि यदा त्वेतान्निग्रहीतुं न शक्नुयात् ।
तदैषु सर्वमप्येतत्प्रयुञ्जीत चतुष्टयम् ॥ १३० ॥

यदि (राजा या न्यायाधीश) वध (शरीरताडनच्छेदन आदि) से भी इसे (अपराधीको) वशमें नहीं कर सके तो इन चारों (८।१२९) प्रकारके दण्डोंसे एक साथ उसे दण्डित करे ॥१३०॥

यदा व्यस्तेनाङ्गच्छेदेनापि दण्डयान्वशे कर्तुं न शक्नुयात्तदा एतेषु सर्वं वाग्दण्डादिचतुष्टयं कुर्यात् ॥ १३० ॥

लोकसंव्यवहारार्थं याः संज्ञाः प्रथिता भुवि ।
ताम्ररूप्यसुवर्णानां ताः प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ १३१ ॥

(भृगुमुनि महर्षियोंसे कहते हैं कि—) लोगोंके व्यवहारके लिए तांबे, चांदी तथा सुवर्ण (सोने) की जो संज्ञायें (प्रमाण-विशेष) प्रसिद्ध हैं, उन सभीको मैं कहूँगा ॥ १३१ ॥

ताम्ररूप्यसुवर्णानां याः पणादिसंज्ञाः क्रयविक्रयादिलोकव्यवहारार्थं पृथिव्यां प्रसिद्धास्ता दन्डाद्युपयोगार्थं साकल्येन कथयिष्यामि ॥ १३१ ॥

जालान्तरगते भानौ यत्सूक्ष्मं दृश्यते रजः ।
प्रथमं तत्प्रमाणानां त्रसरेणुं प्रचक्षते ॥ १३२ ॥

खिड़की आदिके छिद्रसे सूर्य किरणके प्रवेश करते रहनेपर जो सूक्ष्म धूलि (चमकता हुआ धूलिकण) दिखलायी पडती हैं, उसे (दिखलायीं पड़नेवाले धूलिकणको) प्रमाणोंके बीचमें प्रथम प्रमाण 'त्रसरेणु'कहते हैं ॥ १३२ ॥

गवाक्षविवरप्रविष्टसूर्यरश्मिषु यत्सूक्ष्मं रजो दृश्यते, तद् दृश्यमानपरिमाणानां। प्रथमं त्रसरेणुं वदन्ति ॥ १३२ ॥

त्रसरेणवोऽष्टौ विज्ञेया लिक्षैका परिमाणतः ।
ता राजसर्षपस्तिस्रस्ते त्रयो गौरसर्षपः ॥ १३३ ॥

आठ त्रसरेणुका एक लिक्षा, तीन लिक्षाओंका एक 'राजसर्षप', तीन राजसर्षपोंका एक 'गौरसर्षप' जानना चाहिये ॥ १३३ ॥

अष्टौ त्रसरेणवो लिक्षैका परिमाणेन ज्ञेया। तास्तिस्रो लिक्षा राजसर्षपो ज्ञेयः। ते राजसर्षपास्त्रयो गौरसर्षपो ज्ञेयः ॥ १३३ ॥

सर्षपाः षट् यवो मध्यस्त्रियवं त्वेककृष्णलम् ।
पञ्चकृष्णलको माषस्ते सुवर्णस्तु षोडश ॥ १३४ ॥

छः गौर सर्षपोंका एक 'मध्ययव' (न अत्यन्त मोटा और न अत्यन्त महीन), तीन मध्ययवों का एक 'कृष्णल' (रत्ती), पांच कृष्णलों (रत्तियों) का एक 'मासा' (मासा अर्थात् एक आना भर) सोलह मासों (मासाओं = १६ आने भर) का एक सुवर्ण अर्थात् एक रुपया भर = ८० रत्तीभर (जानना चाहिये) ॥ १३४ ॥

गौरसर्षपाः षट् मध्यो, न स्थूलो नापि सूक्ष्मो, यवो भवति। त्रिभिर्यवैः कृष्णलं रक्तिकेति प्रसिद्धम्। पञ्चभिः कृष्णलैर्माषः। षोडश माषाः सुवर्णः स्यात्। पुंलिङ्गश्चायं परिमाणवचनः ॥ १३४ ॥

पलं सुवर्णाश्चत्वारः पलानि धरणं दश।
द्वे कृष्णले समधृते विज्ञेयो रौप्यमाषकः ॥ १३५ ॥

चार सुवर्णों (रुपये भर) का एक 'पल' (छटांक), दश पलोंका एक 'धरण' तथा दो कृष्णल (रत्तिओं) को काँटे (तराजू) पर रखनेपर उनके बराबर एक 'रौप्यमाषक' जानना चाहिये ॥ १३५ ॥

चत्वारः सुवर्णा पलं स्यात्। दश पलानि धरणम्। कृष्णलद्वयं समं कृत्वा तुलया धृतं रूप्यमाषको बोद्धव्यः ॥ १३५ ॥

ते षोडश स्याद्धरणं पुराणश्चैव राजतः।
कार्षापणस्तु विज्ञेयस्ताम्रिकः कार्षिकः पणः ॥ १३६ ॥

उन सोलह रौप्य माषकोंका एक 'रौप्यधरण' तथा 'राजत' अर्थात् चांदी का 'पुराण' और तांबेके कर्ष (पैसे) की 'कर्ष' तथा 'पण' कहते है ॥ १३६ ॥

ते षोडश रूप्यमाषका रौप्यधरणं पुराणश्च राजतो रजतसम्बन्धी स्यात्। कार्षिकस्ताम्रमयः कार्षापणः पण इति विज्ञेयः। कार्षिकश्च शास्त्रीयपलचतुर्थभागो बोद्धव्यः। अत एव "पलं कर्षचतुष्टयम्" (अ. को. २-९-८६) इत्याभिधानिकाः ॥ १३६ ॥

धरणानि दश ज्ञेयः शतमानस्तु राजतः।
चतुःसौवर्णिको निष्को विज्ञेयस्तु प्रमाणतः ॥ १३७ ॥

दश रौप्य (चांदीका) धरणोंका एक राजत (चांदीका) 'शतमान' जानना चाहिये और प्रमाणसे चार सुवर्णोंका एक 'निष्क' (अशर्फी) जानना चाहिये ॥ १३७ ॥

दश रूप्यधरणानि रौप्यशतमानो ज्ञातव्यः। चतुर्भिः सुवर्णैर्निष्कः प्रमाणेन बोद्धव्यः ॥ १३७ ॥

पणानां द्वे शते सार्धे प्रथमं साहसः स्मृतः।
मध्यमः पञ्च विज्ञेयः सहस्रं त्वेव चोत्तमः ॥ १३८ ॥

ढाई सौ पणोंका 'प्रथम (पहला) साहस' कहा गया है, पांच सौ पणोंका 'मध्यम साहस' तथा एक सहस्र पणोंका एक 'उत्तम साहस' जानना चाहिये ॥ १३८ ॥

पञ्चाशदधिके द्वे पणशते प्रथमसाहसो मन्वादिभिः स्मृतः। पणपञ्चशतानि मध्यमसाहसो ज्ञेयः। पणसहस्रं तूत्तमसाहसो ज्ञेयः ॥ १३८ ॥

ऋणे देये प्रतिज्ञाते पञ्चकं शतमर्हति।
अपह्नवे तद् द्विगुणं तन्मनोरनुशासनम् ॥ १३९ ॥

(न्यायालयमें ऋण लेनेवालेके) ऋण लेना स्वीकार कर लेनेपर ऋण द्रव्यका पांच प्रतिशत और असत्यतासे ऋण लेना स्वीकार नहीं करनेपर उसे दश प्रतिशत दण्डित करना चाहिये, ऐसा मनु भगवान्‌का आदेश है ॥ १३९ ॥

मयोत्तमर्णस्य धनं देयमिति सभायामधमर्णेनोक्ते सत्यधर्मणः पणशतात्पञ्च पणा इत्येवं दण्डमर्हति। यदा तु सभायामपि न किंचिदस्मै धारयामीत्येवमपलपति तदा पणशताद्दश पणा इत्येवं दण्डमर्हति। इत्येवं मनुस्मृतौ दण्डप्रकारः ॥ १३९ ॥

वसिष्ठविहितां वृद्धिं सृजेद्वित्तविवर्धिनीम्।
अशीतिभागं गृह्णीयान्मासाद्वार्धुषिकः शते ॥ १४० ॥

(सूद (व्याज) पर ऋण देने महाजन) वसिष्ठ मुनिद्वारा प्रतिपादित धनवर्द्धक सूद ले वह ऋणद्रव्यका $\frac{१}{८०}$ भाग अर्थात् सवा रुपया प्रतिशत मासिक सूद लेना चाहिये ॥ १४० ॥

वसिष्ठेनोक्तां वृद्धिं धर्म्यां धनवृद्धिकरीं वृद्धिजीवी गृह्णीयात् । तामेव दर्शयति—शते प्रयुक्तेऽशीतिभागं प्रतिमासं वृद्धिं गृह्णीयात् ॥ १४० ॥

द्विकं शतं वा गृह्णीयात्सतां धर्ममनुस्मरन् ।
द्विकं शतं हि गृह्णानो न भवत्यर्थकिल्बिषी ।। १४१ ।।

अथवा सज्जनोंके धर्मको स्मरण करता हुआ ऋणदाता दो प्रतिशत अर्थात् दो रुपये सैकड़ा प्रतिमास सूद ले, दो प्रतिशत सूद लेनेवाला ऋणदाता पापभागी नहीं होता ॥ १४१ ॥

साधूनामयं धर्म इति मन्यमानः पणशते प्रयुक्ते पणद्वयं वा प्रतिमासं गृह्णीयात् । यस्मात् द्विकं शतं हि गृह्णानो वृद्धिधनग्रहणे किल्बिषी न भवति ॥ १४१ ॥

द्विकं त्रिकं चतुष्कं च पञ्चकं च शतं समम् ।
मासस्य वृद्धिं गृह्णीयाद्वर्णानामनुपूर्वशः ।। १४२ ।।

अथवा—वर्णोंके अनुसार दो, तीन, चार और पांच प्रतिशत मासिक सूद ले अर्थात् ब्राह्मणसे दो रुपये सैकड़ा, क्षत्रियसे तीन रुपये सैकड़ा, वैश्यसे चार रुपये सैकड़ा और शूद्रसे पांच रुपये सैकड़ा सूद ले ॥ १४२ ॥

ब्राह्मणादिवर्णानां क्रमेण द्विकं त्रिकं चतुष्कं पञ्चकं शतसममितो नाधिकं मासस्य सम्बन्धिनीं वृद्धिं गृह्णीयात् ।

नन्वशीतिभागो लघु, द्विकशतग्रहणं गुरु, कथमिमौ ब्राह्मणस्य लघुगुरुकल्पौ विकल्पेताम् ? अत्र मेधातिथिगोविन्दराजौ तु पूर्ववृद्ध्या निर्वाहासम्भवे द्विकशतपरिग्रह इति व्याचक्षाते ।

इदं तु वदामः-सबन्धकेऽशीतिभागग्रहणं, बन्धकरहिते तु द्विकशतवृद्धिपरिग्रहः । याज्ञवल्क्यः—

अशीतिभागो वृद्धिः स्यान्मासि मासि सबन्धके ।
वर्णक्रमाच्छतं द्वित्रिचतुःपञ्चकमन्यथा ॥ (या. स्मृ. २–३७)
वेदान्तोद्गीतमहसो मुनेर्व्याख्यानमाद्रिये ।
तद्विरुद्धं स्वबुध्या च निबद्धमधुनातनैः ॥ १४२ ॥

न त्वेवाधौ सोपकारे कौसीदीं वृद्धिमाप्नुयात् ।
न चाधेः कालसंरोधान्निसर्गोऽस्ति न विक्रयः ।। १४३ ।।

भूमि (घर या खेत) तथा गौ आदि रेहन (गिरवी) रखकर ऋण लेनेपर उनका उपभोग करता हुआ ऋणदाता ऋणी (ऋण लेनेवाले) सूद नहीं लेता तथा अधिक समय बीत जानेपर (मूल धनराशिके दुगुना हो जानेपर) भी ऋणदाता रेहन रक्खी हुई सम्पत्ति (भूमि, गोधन आदि) को न तो किसी दूसरेको देनेका अधिकारी है और न बेचनेका ॥ १४३ ॥

---

१. ब्राह्मणादिवर्णक्रमेण चतुर्णां साकाशाद् द्विकादयश्चत्वारः कल्पयितव्या यथासङ्ख्येन ग्राह्यतयाऽनुज्ञायन्ते । समं न पादेन वाऽर्धेन वाऽधिकं तदाधिकोऽपि सपादद्विकं सार्द्धद्विकमिति द्विकादिव्यपदेशस्यानिवृत्तेराशङ्कानिवारणार्थं समग्रहणम् । यथा मात्रन्यत्वेऽपि संज्ञान्तरव्यपदेशं निवर्तयति । इदमपि पूर्वेणाजीवतः कल्पान्तरं यस्य वा महते धर्माय गृहारम्भो राजा च नातिधार्मिक-

भूमिगोधनादौ भोगार्थं बन्धके दत्ते धनप्रयोगभवामनन्तरोक्तां वृद्धिमुत्तमर्णो न लभते। कालसंरोधाच्चिरकालावस्थानाद् द्विगुणीभूतमूलधनप्रवेशेऽपि न निसर्गोऽन्यस्मै दानं, न वाऽन्यतो विक्रयः। [1]मेधातिथिगोविन्दराजौ तु आधेश्चिरकालावस्थानेऽपि न निसर्गो, नान्यत्र बन्धकेनार्पणमिति व्याचक्षाते। अत्र तु सर्वदेशीयशिष्टाचारविरोधः, बन्धकीकृतभूम्यादेरन्यत्राधीकरणसमाचारात् ॥ १४३ ॥

न भोक्तव्यो बलादाधिर्भुञ्जानो वृद्धिमुत्सृजेत् ।
मूल्येन तोषयेच्चैनमाधिस्तेनोऽन्यथा भवेत् ॥ १४४ ॥

ऋणदाता बन्धकमें रक्खी हुई वस्तु (वस्त्र, आभूषण आदि) का भोग न करे और यदि भोग करे तो वह ऋणीसे उस वस्तुके ऋणका (८।८४०-१४२) में कथित सूद न लेने तथा यदि बन्धक रक्खी हुई वस्तु नष्ट-भ्रष्ट हो (टूट-फूट) जाय तो उसका मूल्य देकर ऋणीको सन्तुष्ट करे अन्यथा ऋण देनेवालेको बन्धक रक्खी हुई वस्तुकी चोरीका पाप लगता है ॥ १४४ ॥

गोप्याधिविषयं वचनमिदम्। वस्त्रालङ्कारादिर्गोप्याधिर्बलान्न भोक्तव्यः, भुञ्जानो वृद्धिमुत्सृजेत्प्राङ् मूल्येनात्रैनं तोषयेत्। यद्वा भोगेनासारतामाधौ नीते सारावस्थाधिमूल्यदानेन-स्वामिनं तोषयेदन्यथा बन्धकचौरः स्यात् ॥ १४४ ॥

आधिश्चोपनिधिश्चोभौ न कालात्ययमर्हतः ।
अवहार्यौ भवेतां तौ दीर्घकालमवस्थितौ ॥ १४५ ॥

बन्धक रक्खी हुई या प्रेमसे भोगके लिए अर्थात् मंगनी दी हुई वस्तु समय अधिक बीत जानेपर भी समय बीतने के नियन्त्रणके योग्य नहीं होती हैं, अत एव नियत समय बीत जानेपर भी उन वस्तुओंको देनेवाला जब मांगे तभी वे वस्तुएं वापस कर देनी चाहिये ॥ १४५ ॥

स्तत्रायं विधिः। येऽसाधुभ्योऽर्थमादायेतिन्यायेन। समामिति पाठान्तरम्। संवत्सरं यावदेषा वृद्धिर्न परतोऽपि महत्त्वादिकत्वाद्द्वैगुण्यं स्यात्।

१. आधिन्तु भुञ्जानो नान्यां वृद्धि लभेत। गोप्येऽप्याधौ कालसंरोधाच्चिरमवस्थनाद् द्विगुणीभूतेऽप्यमोक्षमाणे न निसर्गोऽस्ति न विक्रयः। अन्यत्र च विधिना अर्पणं निसर्गः। अन्यत्र संक्रामितं द्विगुणीभूतमपि पुनर्वर्धते एव। तथा च पठिष्यति 'सकृदाहृता' इति विक्रियः प्रसिद्धः, सोपि न कर्तव्यः। न तर्हि कर्तव्यः। किं तर्हि अस्यामवस्थायां कर्तव्यम्। आधिं भुञ्जीत यावद् द्विगुणं धनं प्रविष्टं ततो मोच्य आधिस्तदुत्पन्ने प्रविष्टे द्विगुणे धने भोग्यस्तावदेवमभोग्यस्तावद् देयं भोग्यस्त्वाधिरस्य लाभं तिष्ठेद्यावद्वाधो न आगते तु वाधे कथञ्चिद्धनिको दरिद्रतामुपगतस्तावन्मात्रशेषधनः स कञ्चित् कालं प्रतीक्ष्य राजनि निवेद्य विक्रीणीत बन्धम्। ततो विक्रयादुत्पन्नं द्विगुणात्मनो बन्धनं गृहीत्वा शेषं मध्यस्थहस्ते ऋणिकसात्कुर्यात्। ननु च आधिः प्रणश्येद् द्विगुणे धने यदि न मोक्ष्येदिति पठ्यते। एतदुत्तरत्र व्याख्यास्यामः। प्रणाश्यत्वान्न पूर्वस्वामिनः स्वाम्यहानिः प्रयोक्तुश्च स्वत्वापत्तिः। यदि च निसर्गविक्रयौ न स्तः, कीदृश्यमस्य स्वाम्यमुच्यते। तस्मात् प्रतिषेधसामर्थ्येन प्रणाशवचनं प्रतिषिद्धभोगस्य भोगानुज्ञानार्थं व्याख्यायते वस्त्रादिविषयं वा। तस्य हि भज्यमानस्य प्रणाश एव न क्षेत्रादेरिव तिष्ठतः स्वरूपात्प्रच्यवमानस्य भोग्यता सम्भवति। तेनेतत्स्मृतिव्यवस्थायां व्याख्येयं गौणौ चात्र प्रणाशनिसर्गौ, विक्रयप्रतिषेधस्तु मुख्य एव। न ह्यसौ गौणतया प्रतिपत्तुं शक्यते। एतदेव प्रस्तुत्य न स्यातां विक्रयाधीने इति स्मृत्यन्तरपठितम्। अत इह निसर्गोऽन्यत्राधानं विक्रयसाहचर्याच्च सदृशौ हि तौ केनचिदंशेन।

आधिर्बन्धकः, उपनिधीयत इत्युपनिधिः प्रीत्या भोगार्थमर्पितं द्रव्यम्। नारदस्मृतिलक्षितौ च निक्षेपोपनिधी। तावेवात्रोपनिधिशब्देन गृह्येते। एतावाध्युपनिधी चिरकालावस्थितावपि न कालात्ययमर्हतः। यदैव स्वामिना प्रार्थितौ तदैव तस्यावहार्यौ समर्पणीयावित्यर्थः ॥ १४५ ॥

संप्रीत्या भुज्यमानानि न नश्यन्ति कदाचन।
धेनुरुष्ट्रो वहन्नश्वो यश्च दम्यः प्रयुज्यते ॥ १४६ ॥

प्रेमसे उपभोगमें लायी जाती हुई (दूधके लिए) गो, (सवारी करने या बोझ ढोने (लादने) के लिए) ऊट तथा घोडा, हल आदिमें जोतने योग्य बैल आदि परसे स्वामीका अधिकार कभी भी नष्ट नहीं होता अर्थात् ग्रहण करनेवालेके उपभोगमें आनेपर भी उनपर मालिकका ही अधिकार रहता है ॥ १४६ ॥

"यत्किञ्चिद्दश वर्षाणि" (म. स्मृ. ८-१४७) इत्यनन्तरं भोगेन स्वत्वहानिं वक्ष्यति, तदपवादार्थमिदम्। दुह्यमाना गौरुष्ट्रोऽश्वश्च वहन्दमनार्थं च प्रयुक्तो बलीवर्दादि एते प्रीत्याऽन्येन तु भुज्यमानाः कदाचिदपि स्वामिनो न नश्यन्ति। प्रदर्शनार्थमिदं प्रीत्योपभुज्यमानं न नश्यतीति विवक्षितम्। सामान्योपक्रमं चेदं विशेषाभिधानमिति नपुंसकलिङ्गता ॥ १४६ ॥

यत्किञ्चिद्दश वर्षाणि सन्निधौ प्रेक्षते धनी।
भुज्यमानं परैस्तूष्णीं न स तल्लब्धुमर्हति ॥ १४७ ॥

अपनी सम्पत्तिको दूसरेके द्वारा अपने काममें लायी जाती हुई देखता हुआ भी स्वामी दश वर्षों तक कुछ नहीं कहता अर्थात् नहीं रोकता तो वह स्वामी उस सम्पत्तिको पानेका अधिकारी नहीं है ॥ १४७ ॥

यत्किंचिद्धनजातं समक्षमेव प्रीत्यादिव्यतिरेकेण परैर्दश वर्षाणि भुज्यमानं स्वामी प्रेक्षते, मा भुङ्क्ष्वेत्यादिप्रतिषेधोक्तिं न रचयति, नासौ तल्लब्धुं योग्यो भवति। तस्य तत्र स्वाम्यं निवर्तत इति भावः ॥ १४७ ॥

अजडश्चेदपोगण्डो विषये चास्य भुज्यते।
भग्नं तद्व्यवहारेण भोक्ता तद् द्रव्यमर्हति ॥ १४८ ॥

यदि किसी सम्पत्तिका स्वामी जड (पागल आदि) या सोलह वर्षसे कम आयुवाला (नाबालिग) न हो और उसके सामने अर्थात् जानकारीमें ही उसकी सम्पत्ति (भूमि आदि का) उपभोग दूसरा कोई व्यक्ति दश वर्षसे कर रहा हो तब व्यवहारके अनुसार उस सम्पत्तिपर उसके स्वामीका अधिकार नष्ट हो जाता (नहीं रहता) है तथा भोग करनेवाला व्यक्ति उस सम्पत्तिको पाता है ॥ १४८ ॥

जडो बुद्धिविकलः, न्यूनषोडशवर्षः पोगण्डः। तथा च नारद —

बाल आषोडशाद्वर्षात्पोगण्डश्चापि शब्दितः।

स धनस्वामी यदि जडः पोगण्डश्च न भवति तदीयदर्शनविषये च तद्धनं भुज्यते, तदा स्वामिनो व्यवहारेण नष्टं, ततो भोक्तुरेव तद्धनं भवति ॥ १४८ ॥

आधिः सीमा बालधनं निक्षेपोपनिधिः स्त्रियः।
राजस्वं श्रोत्रियस्वं च न भोगेन प्रणश्यति ॥ १४९ ॥

[यद्विनाऽगमममत्यन्तं भुक्तपूर्वैस्त्रिभिर्भवे।
न तच्छक्यमपाहर्तुं क्रमात्त्रिपुरुषागतम् ॥ १३ ॥]

बन्धक, सीमा (सरहद), बच्चे (नाबालिग) का धन, धरोहर, किसी बक्स आदिमें रखकर मुहरबन्द करके रक्षार्थ सौंपी गयी वस्तु, स्त्री (दासी आदि), राजा तथा श्रोत्रियका धन इनका दूसरेके भोग करनेपर भी उनका स्वामित्व नष्ट नहीं होता अर्थात् उनको पानेका अधिकार उनके स्वामीको ही रहता है ॥ १४९ ॥

[आगमके बिना तीन पीढ़ियोंसे भोग किये गये धनको लेनेका अधिकारी उसका स्वामी नहीं होता है ॥ १३ ॥]

बन्धः, ग्रामादिमर्यादा, बालधनं, निक्षेपोपनिधी,
वासनस्थमनाख्याय समुद्रं यन्निधीयते।

इति नारदोक्त उपनिधिलक्षणः, दास्यादिस्त्रियः, राजश्रोत्रियधनानि, उक्तेन दशवर्षभोगेन न स्वामिनो नश्यन्ति, न भोक्तुः स्वत्वं भजन्ते ॥ १४९ ॥

यः स्वामिनाननुज्ञातमाधिं भुङ्क्तेऽविचक्षणः।
तेनार्धवृद्धिर्मोक्तव्या तस्य भोगस्य निष्कृतिः ॥ १५० ॥

बन्धक रक्खी हुई (वस्त्र, भूषण आदि) वस्तुओंका भोग जो नासमझ (व्यवहार ज्ञानशून्य) स्वामीकी आज्ञाको नहीं पाकर करता हो, उसे उन वस्तुओंके भोगके बदलेमें आधा सूद लेना चाहिये ॥ १५० ॥

यो वृद्ध्या दत्तं बन्धं स्वाम्यनुज्ञाव्यतिरेकेण मूर्खो निह्नवेन भुङ्क्ते, तेन तस्य भोगस्य संशुद्ध्यर्थमर्धवृद्धिर्मोक्तव्या। बलभोगेन तु भोक्तर्यो बलादधिभुञ्जाने सति सर्ववृद्धित्याग एवोक्तः ॥ १५० ॥

कुसीदवृद्धिर्द्वैगुण्यं नात्येति सकृदाहृता।
धान्ये सदे लवे वाह्ये नातिक्रामति पञ्चताम् ॥ १५१ ॥

मूल धनके एक साथ लिया गया सूद मूल धनके दुगुनेसे अधिक नहीं होता और अन्न, वृक्षका फल, ऊन, भारवाहक जीव (बैल ऊँट गधा आदि बहुत दिनोंके बाद भी) मूलके पंचगुनेसे अधिक नहीं होते ॥ १५१ ॥

वृद्ध्या धनप्रयोगः कुसीदं, तत्र या वृद्धिः सकृद् गृहीता सा द्वैगुण्यं नातिक्रामति मूलवृद्धिर्द्विगुणैव भवति। प्रतिदिनप्रतिमासादिग्राह्येति तात्पर्यम्। धान्ये पुनर्वृद्ध्यादिप्रयुक्ते, सदे वृक्षफले, लूयत इति लव ऊर्णादिलोम तस्मिन्, वाहनीये च बलीवर्दादौ प्रयुक्ते चिरेणापि कालेन मूलधान्यादिना सह पञ्चगुणतां नातिक्रामेदिति ॥ १५१ ॥

कृतानुसारादधिका व्यतिरिक्ता न सिद्ध्यति।
कुसीदपथमाहुस्तं पञ्चकं शतमर्हति ॥ १५२ ॥

पूर्वोक्त (८।१३९–१४२) प्रमाणसे अधिक सूद नहीं लेना चाहिये तथा शूद्रसे पांच प्रतिशत सूद लेनेका जो प्रमाण है, उतना सूद द्विजोंसे लेना भी (मनु आदि महर्षि) निन्दित बतलाते हैं ॥ १५२ ॥

कृता या वृद्धिर्द्विकं त्रिकमिति शास्त्रेण वर्णक्रमेणोक्ता, तस्याः शास्त्रानुसारादधिका व्यतिरिक्ता कृता। अतोऽन्या वृद्धिरकृतेत्यर्थः। किंतु कृताऽपि वृद्धिर्वर्णक्रमेण द्विकत्रिकशतादि-

रूपैर्वा मासे ग्राह्या। तथा च विष्णुः—"वृद्धिं दद्युरकृतामपि वत्सरातिक्रमे यथाभिहिता वर्णक्रमेण" द्विकत्रिकादिनेत्यर्थः। किं त्वकृतवृद्धावपि विशेषान्तरमाह—कुत्सितात्प्रसरत्ययं पन्था इति कुसीदपथः, अयधमर्णो यच्छूद्रविषयोक्त पञ्चकं शतं द्विजातेरपि गृह्णातीत्येवं कुत्सितपन्थाः, पूर्वोक्ताद्वृध्यर्थवृद्धिकरादपकृष्ट इत्येवं मन्वादय आहुः। इयं चाकृता वृद्धि-रुद्धारविषये याचनादूर्ध्वं बोद्धव्या। तदाह कात्यायनः—

प्रीतिदत्तं न वर्धेत यावन्न प्रतियाचितम्।
याच्यमानं न दत्तं चेद्वर्धते पञ्चकं शतम्॥ १५२॥

नातिसांवत्सरीं वृद्धिं न चादृष्टां पुनर्हरेत्।
चक्रवृद्धिः कालवृद्धिः कारिता कायिका च या॥ १५३॥
[अथ शक्तिविहीनः स्यादृणी कालविपर्ययात्।
प्रेदयश्च तमृणं दाप्यः काले देशे यथोदयम्॥ १४॥]

ऋणदाता ऋणीसे पहले ही 'प्रतिमास, प्रति दो मास, प्रति तीन मास तुम सूद दिया करना' ऐसा एक वर्ष तकका सूद चुकता कर देनेका निर्णय करा ले, किन्तु एक वर्षसे अधिक समयका सूद एक बारमें लेनेका नियम कभी भी न करे और शास्त्रमें (८(१३१-१४२) कहे हुये प्रमाणसे अधिक सूद भी कभी मत ले; चक्रवृद्धि, कालवृद्धि, कारित तथा कायिक सूद भी न ले॥ १५३॥

[यदि ऋणी समयके बदलनेसे शक्तिहीन हो जाय तब उसको देशकालमें उसकी उन्नतिके अनुसार ऋण दिलवाना चाहिये॥ १४॥]

ममैकस्मिन्मासि मासद्वये मासत्रये वा गते तस्य वृद्धिं विगणय्यैकदा दातव्येत्येवंविध-नियमपूर्वकवृद्धिग्रहणमुत्तमर्णः संवत्सरपर्यन्तं कुर्यात्। नातिक्रान्ते संवत्सरे नियमस्य वृद्धिं गृह्णीयात्। न च शास्त्रादद्दष्टामुक्तधर्म्यद्विकत्रिकशताद्यधिकां गृह्णीयात्, अधर्मत्वबोधनार्थो निषेधः। चक्रवृध्यादिचतुष्टयीं चाशास्त्रीयां न गृह्णीयात्। तासां स्वरूपमाह बृहस्पतिः—

कायिका कायसंयुक्ता मासग्राह्या च कालिका।
वृद्धेर्वृद्धिश्चक्रवृद्धिः कारिता ऋणिना कृता॥

तत्र चक्रवृद्धिः स्वरूपेणैव गर्हिता। कालवृद्धिस्तु द्विगुणाधिकग्रहणेन, कायिका चाति-वाहदोहादिना, कारिता ऋणिकेन चानापत्काल एवोत्तमर्णपीडया कृता। चतस्रोऽपि वृद्धी-रशास्त्रीया न गृह्णीयात्। तथा च बृहस्पतिः—

भागो यद् द्विगुणादूर्ध्वं चक्रवृद्धिश्च गृह्यते।
पूर्णे च सोदयं पश्चाद्वार्धुष्यं तद्विगर्हितम्॥

कात्यायनः—

ऋणिकेन कृता वृद्धिरधिका संप्रकल्पिता।
आपत्कालकृता नित्यं दातव्या कारिता तथा॥
अन्यथा कारिता वृद्धिर्न दातव्या कथंचन॥ १५३॥

ऋणं दातुमशक्तो यः कर्तुमिच्छेत्पुनः क्रियाम्।
स दत्त्वा निर्जितां वृद्धिं करणं परिवर्तयेत्॥ १५४॥

निर्धारित समय पर ऋण चुकानेमें असमर्थ ऋणी यदि फिर (हैण्डनोट आदि लिखना) चाहे तो वह वास्तविक सूद देकर हैण्डनोट आदिको बदल दे (नया लिख दे)॥ १५४॥

योऽधमर्णो धनदानासमार्थ्यात्पुनर्लेख्यादिक्रियां कर्तुमिच्छेत्स निर्जितामुक्तमार्गेण सत्यतयाऽऽत्मसात्कृतां वृद्धिं दत्त्वा करणं लेख्यं पुनः कुर्यात् ॥ १५४ ॥

अदर्शयित्वा तत्रैव हिरण्यं परिवर्तयेत् ।
यावती संभवेद् वृद्धिस्तावतीं दातुमर्हति ॥ १५५ ॥

यदि ऋणी सूद भी देनेमें असमर्थ हो तो सूदको मूल धनमें जोड़कर जो धनराशि हो उतनेका कागज (हैण्डनोट आदि) लिख दे, ऐसा करनेपर उस धन (सूद सहित मूल धन) का सूद भी ऋणीको (ऋणदाताके लिए) देना होगा ॥ १५५ ॥

यदि दैवगत्या वृद्धिहिरण्यमपि समये दातुं न शक्नोति, तदा तद् गृहीत्वैव तत्रैव पुनः क्रियमाणे लेख्यादौ वृद्धिहिरण्यादिशेषमारोपयेत । यत्प्रमाणं चक्रवृद्धिधनं तदानीं संभवति, तद्दातुमर्हति ॥ १५५ ॥

चक्रवृद्धिं समारूढो देशकालव्यवस्थितः ।
अतिक्रामन्देशकालौ न तत्फलमवाप्नुयात् ॥ १५६ ॥

देश तथा कालकी वृद्धि (भाड़ा—अमुक स्थान तक यह बोझ पहुँचानेका अथवा अमुक समयतक काम करनेका इतना धन लूंगा इस प्रकार) निश्चय करने के बादमें देश या समयका उल्लङ्घन करे (उस नियत स्थानतक बोझ नहीं पहुँचावे या उतने समय तक कार्य नहीं करे) तब वह उसका भाड़ा पानेका अधिकारी नहीं होता ॥ १५६ ॥

चक्रवृद्धिशब्देनात्र चक्रवच्छकटादिभाररूपा वृद्धिरभिमता । चक्रवृद्धिमाश्रित उत्तमर्णो देशकालव्यवस्थितो यदि वाराणसीपर्यन्तं लवणादि शकटेन वहामि तदा ममेदं यद्धनं दातव्यमिति वेतनरूपदेशव्यवस्थितिः । यदि मासं यावद्वहामि तदा मासं यद्धनं दातव्यमिति कालव्यवस्थितिः । एवमभ्युपगतदेशकालनियमस्थौ देशकालौ दैवादपूरयन्शकटादिना वहन् लाभरूपफलं सकलं न प्राप्नोति ॥ १५६ ॥

अपि तु—

समुद्रयानकुशला देशकालार्थदर्शिनः ।
स्थापयन्ति तु यां वृद्धिं सा तत्राधिगमं प्रति ॥ १५७ ॥

जलमार्ग तथा स्थलमार्गके जानकार तथा इतने स्थान या इतने समयमें इस विक्रेय वस्तु (सौदे) को पहुँचानेसे इतना लाभ होगा इसको यथावत समझने वाले व्यापारी आदि उस नियत स्थानतक पहुँचाने या उतने समय तक काम करने से जो वृद्धि (भाड़ा) निश्चित कर दे, उस स्थान तक वस्तु आदि पहुँचाने या उतने समयतक काम करनेकी वही वृद्धि (भाड़ा) प्रमाणित मानी जाती है ॥ १५७ ॥

स्थलपथजलपथयाने निपुणा इयद् देशपर्यन्तमियत्कालपर्यन्त्यमूह्यमाने सति एतावांल्लाभो ग्रहीतुं युक्त इत्येवं देशलाभधनज्ञा वणिगादयो यां वृद्धिं तथाविषये चावस्थापयन्ति, सैव तत्र व्यवस्था, तत्राधिगमं धनप्राप्तिं प्रति प्रमाणम् ॥ १५७ ॥

यो यस्य प्रतिभूस्तिष्ठेद्दर्शनायेह मानवः ।
अदर्शयन्स तं तस्य प्रयच्छेत्स्वधनादृणम् ॥ १५८ ॥

जो व्यक्ति ऋण लेनेमें ऋणीका प्रतिभू (जमानतदार) रहे, वह यदि (समय पर) उस ऋणीको उपस्थित नहीं करे तो अपनी सम्पत्तिसे उस ऋणको चुकता करे ॥ १५८ ॥

यो मनुष्यो यस्य दर्शनाय प्रतिभूस्तिष्ठेत धनदानकाले समायमधमर्णो दर्शनीय इति, स तं तस्मिन्काल उत्तमर्णस्यादर्शयंस्तद्धनं दातुं यतेत ॥ १५८ ॥

प्रातिभाव्यं वृथादानमाक्षिकं सौरिकं च यत् ।
दण्डशुल्कावशेषं च न पुत्रो दातुमर्हति ॥ १५९ ॥

प्रतिभू (जमानतदार) होनेसे दिया जानेवाला, हँसी-मजाक आदिमें भंड आदिको देनेके लिये कहा गया, जुआ खेलनेमें हारा या लिया गया, मद्यपानमें लिया गया, राजदण्ड (जुर्माने) का और नाव गाड़ी आदिके भाड़ेका बाँकी धन उसके पुत्रको नहीं देना पड़ता है ॥ १५९ ॥

प्रतिभूत्वेन यद् देयं धनं तत्प्रातिभाव्यं, वृथादानं परिहासनिमित्तं भण्डादिभ्यो देयत्वेन पित्राङ्गीकृतं, द्यूतनिमित्तं सुरानिमित्तं च, यद् देयं दण्डं दण्डनिमित्तं, शुल्कं घट्टादिदेयं तदवशेषं च पितृसम्बन्धिनं पितरि मृते पुत्रो दातुं नार्हति ॥ १५९ ॥

दर्शनप्रातिभाव्ये तु विधिः स्यात्पूर्वचोदितः ।
दानप्रतिभुवि प्रेते दायादानपि दापयेत् ॥ १६० ॥

उक्त विधान (जमानतदार होनेके कारण दिया जानेवाला ऋणदाताका धन जमानतदारके पुत्रको नहीं देना पड़ता) ऋणीको धनीके पास उपस्थित करनेमात्रके लिए (जमानतदार) होनेकी अवस्थाके लिए है, किन्तु यदि पिता यह कहकर प्रतिभू बना हो कि (यह ऋणी ऋण चुकता नहीं करेगा तो इससे चुकता करवा दूंगा या मैं चुकता कर दूंगा) ऐसी अवस्थामें ऋणीके द्वारा धनी (ऋणदाता) का ऋण नहीं देनेपर पिताके मरनेपर भी वह ऋण उस (प्रतिभू) के पुत्रको देना पड़ता है ॥ १६० ॥

सुरानिमित्तं च यद् देयं दण्डं प्रातिभाव्यं न पुत्रो दातुमर्हतीति योऽयं पूर्वोपदेशः । स दर्शनप्रतिभुवः पितुर्देयो ज्ञेयः । दानप्रतिभुवि तु पितरि मृते पुत्रं ऋणं दापयेत ॥ १६० ॥

अदातरि पुनर्दाता विज्ञातप्रकृतावृणम् ।
पश्चात्प्रतिभुवि प्रेते परीप्सेत्केन हेतुना ॥ १६१ ॥

अदाता (जो ऋण देनेकी जमानत नहीं लिया हो, किन्तु केवल ऋणीको ऋणदाताके सामने नियत समयपर उपस्थित करनेकी ही जमानत ली हो, तथा यह) प्रतिभूकी प्रतिज्ञा (शर्त) ऋणदाताको मालूम हो उस प्रतिभूके मरनेपर (ऋणदाता) किसी कारण (उसके पुत्र आदिसे) ऋण लेनेकी इच्छा करेगा अर्थात् नहीं करेगा (ऐसे जमानतदार पिताके मरनेपर उसके पुत्रको वह ऋण देना नहीं पड़ता) ॥ १६१ ॥

अदातरि दानप्रतिभुवोऽन्यस्मिन्दर्शनप्रतिभुवि प्रत्ययप्रतिभुवि वा विज्ञातप्रातिभाव्यकारणमूलशोधनोचितधनग्रहणं यस्य तस्मिन्मृते दातोत्तमर्णः पश्चात्केन हेतुना धनं प्राप्तुमिच्छेत् ॥ १६१ ॥

प्रतिभुवो मृतत्वात्तत्पुत्रस्य चादानप्रतिभूत्वेनादातृत्वादित्याशङ्क्याह—

निरादिष्टधनश्चेत्तु प्रतिभूः स्यादलंधनः ।
स्वधनादेव तद्दद्यान्निरादिष्ट इति स्थितिः ॥ १६२ ॥

पूर्व (८।१६१) श्लोकोक्त प्रतिभूको यदि ऋणीने ऋणका धन दे दिया है तथा ऋणदाताने धन वापस देनेको नहीं कहा है, ऐसी अवस्थामें यदि वह प्रतिभू मर जाय और उसका पुत्र

उस ऋणके धनको अपनी सम्पत्तिमें चुकाने में समर्थ हो तो वह ऋणीके ऋणको चुकता कर दे, ऐसी शास्त्र मर्यादा है ॥ १६२ ॥

असौ दर्शनप्रतिभूः प्रत्ययप्रतिभूर्वा यदि निरादिष्टधनोऽधमर्णेन निसृष्टधनो यावता धनेनासौ प्रतिभूस्तच्छोधनपर्याप्तधनस्तस्मात्मधनादेव तद्धनं निरादिष्टोऽत्र निराबिष्टधनपुत्रो कल्पगोच्यते । ऋणमुत्तमर्णाय दद्यादिति शास्त्रसम्प्रदायः ॥ १६२ ॥

मत्तोन्मत्तार्ताध्यधीनैर्बालेन स्थविरेण वा ।
असंबद्धकृतश्चैव व्यवहारो न सिद्ध्यति ॥ १६३ ।

मत्त (मदिरा आदिके नशेसे मतवाला), उन्मत्त (पागल), रोगी, सेवक, बालक (१६ वर्षसे कम आयुवाला अर्थात् नाबालिग) और बूढ़ा-इनको पिता-भाई आदि सम्बन्धियोंकी सम्मतिने विना दिया गया ऋण व्यवहार (शास्त्रमर्यादा) के प्रतिकूल होता है ॥ १६३ ॥

मद्यादिना मत्तः, उन्मत्तो, व्याध्यादिपीडितोऽपहतोऽस्वतन्त्रबालवृद्धैरस्वतन्त्रत्वेन पितृभ्रातृनियुक्तादिव्यतिरेकेण कृतऋणादानव्यवहारो न सिद्ध्यति ॥ १६३ ॥

सत्या न भाषा भवति यद्यपि स्यात्प्रतिष्ठिता ।
बहिश्चेद्भाष्यते धर्मान्नियताद्व्यावहारिकात् ॥ १६४ ॥

'मैं ऐसा करूंगा' इस प्रकारकी बात लेख आदि के द्वारा निर्णीत करनेपर भी यदि (शास्त्र-मर्यादा), कुलपरम्परा और व्यवहारसे प्रतिकूल कही गयी हो तो वह सत्य (प्रामाणिक) नहीं होती ॥ १६४ ॥

इदं मयानुष्ठेयमित्येवमादिका भाषा लेख्यादिना स्थिरीकृताऽपि यदि शास्त्रीयधर्मात्पार-म्पर्यात्सद्व्यवहाराच्च बहिर्भाष्यते, सा सत्या न भवति तदर्थो नानुष्ठेयः ॥ १६४ ॥

योगाधमनविक्रीतं योगदानप्रतिग्रहम् ।
यत्र वाऽप्युपधिं पश्येत्तत्सर्वं विनिवर्तयेत् ॥ १६५ ॥

जो वस्तु कपटसे बन्धक रक्खी गयी हो, बेची गयी हो, दी गयी हो या दान ली गयी हो अथवा जहांपर कपट व्यवहार देखा गया हो; वह सब नहीं कियेके बराबर हो जाता है अर्थात् अमान्य होता है ॥ १६५ ॥

योगशब्दश्छलवाची । छलेन ये बन्धकविक्रयदानप्रतिग्रहाः क्रियन्ते, न तत्त्वातोऽन्यत्रापि निक्षेपादौ यत्र छद्म जानीयात् । वस्तुतो यत्र निक्षेपादि न कृतं, तत्सर्वं निवर्तते ॥

ग्रहीता यदि नष्टः स्यात्कुटुम्बार्थं कृतो व्ययः ।
दातव्यं बान्धवैस्तत्स्यात्प्रविभक्तैरपि स्वतः ॥ १६६ ॥

ऋणी यदि मर जाय तथा उसने ऋणद्रव्यको अलग हुए या सम्मिलित परिवारके लिए व्यय किया हो तो वह ऋण उस मृत ऋणीके अलग हुए या सम्मिलित परिवारवालोंको चुकाना चाहिये ॥ १६६ ॥

ऋणग्रहीता यदि मृतः स्यात्तेन पूर्वविभक्ताविभक्तसर्वभ्रातृकुटुम्बसम्बन्धनार्थं तदृण-व्ययः कृतः, तदा तदृणं विभक्तैरविभक्तैश्च स्वधनाद्दातव्यम् ॥ १६६ ॥

कुटुम्बार्थेऽध्यधीनोऽपि व्यवहारं यमाचरेत् ।
स्वदेशे वा विदेशे वा तं ज्यायान्न विचालयेत् ॥ १६७ ॥

स्वामी (घरके मालिक) के देश या विदेशमें रहनेपर अधीनस्वरूप सेवक आदिने भी कुटुम्बके पालन-पोषणादिके लिए जो ऋण लिया हो उसे स्वामी चुकता कर दे ॥ १६७ ॥

तद्देशस्थे देशान्तरस्थे वा स्वामिनि स्वामिसम्बन्धिकुटुम्बव्ययनिमित्तं दासोऽपि यद् ऋणादायादि कुर्यात्स्वामी तत्तथाप्यनुमन्येत ॥ १६७ ॥

बलाद्दत्तं बलाद् भुक्तं बलाद्यच्चापि लेखितम् ।
सर्वान्बलकृतानर्थानकृतान्मनुरब्रवीत् ॥ १६८ ॥

बलात्कारसे जो (नहीं देने योग्य वस्तु) दिया गया हो, जो (भूमि, भूषण आदि) भोगा गया हो, अथवा (ऋण लेने या चक्रवृद्धि आदि सम्बन्धि) लेख (हैण्डनोट, दस्तावेज आदि) लिखवाया गया हो; बलात्कारसे कराये गये उन सब कार्योंको मनुने नहीं किया गया अर्थात् अमान्य बतलाया है ॥ १६८ ॥

बलाद्दत्तमप्रतिग्राह्यादि, बलाद्भुक्तं भूम्यादि, बलाल्लेखितं चक्रवृद्धिपत्रादि । प्रदर्शनं चैतत् । सर्वान्बलकृतान्व्यवहारान्निवर्तनीयान्मनुराह ॥ १६८ ॥

त्रयः परार्थे क्लिश्यन्ति साक्षिणः प्रतिभूः कुलम् ।
चत्वारस्तूपचीयन्ते विप्र आढ्यो वणिङ् नृपः ॥ १६९ ॥

(धर्म अर्थ तथा व्यवहार अर्थात् मुकदमे देखनेवाले क्रमशः) गवाह, जमानतदार तथा कुल अर्थात् स्वजन दूसरोंके लिए क्लेश पाते हैं और (दान लेने, ऋण देने, विक्रय करने और) व्यवहार देखनेसे क्रमशः) ब्राह्मण, ऋणदाता (महाजन), व्यापारी और राजा - ये चारों धनकी वृद्धि करते हैं ॥ १६९ ॥

साक्षिणः, प्रतिभूः, कुलं च धर्मार्थव्यवहारद्रष्टारस्त्रय एते परार्थं क्लेशमनुभवन्ति । तस्माद्बलेन साक्ष्यं, प्रातिभाव्यं, व्यवहारेक्षणं च नाङ्गीकारयितव्याः । चत्वारः पुनः ब्राह्मणोत्तमर्णवणिग्राजानः परार्थं दानफलोपादानऋणद्रव्यार्पणविक्रयव्यवहारेक्षणरूपं कुर्वाणा धनोपचयं प्राप्नुवन्ति । तस्माद्विप्रा दातारं, आढ्योऽधमर्णं, वणिक् क्रेतारं, राजा व्यवहर्तारं बलेन न प्रवर्तयेत् । पूर्वश्लोकाभिहितबलनिषेधस्यैवायं प्रपञ्चः ॥ १६९ ॥

अनादेयं नाददीत परिक्षीणोऽपि पार्थिवः ।
न चादेयं समृद्धोऽपि सूक्ष्ममप्यर्थमुत्सृजेत् ॥ १७० ॥

धनादि से क्षीण भी राजाको अग्राह्य धन नहीं लेना चाहिये तथा समृद्धिमान् होते हुए भी (राजाको) ग्राह्य थोड़ा भी धन नहीं छोड़ना चाहिये ॥ १७० ॥

क्षीणधनोऽपि राजा नाग्राह्यमर्थं गृह्णीयात् । समृद्धोऽपि स्वल्पमपि ग्राह्यं धनं न त्यजेत् ॥ १७० ॥

अनादेयस्य चादानादादेयस्य च वर्जनात् ।
दौर्बल्यं ख्याप्यते राज्ञः स प्रेत्येह च नश्यति ॥ १७१ ॥

अग्राह्य धनके लेने तथा धनके छोड़नेसे (नागरिकों प्रजाओंमें) राजाको असमर्थ समझा जाता है तथा वह राजा अधर्मके कारणसे मरकर तथा अपयशके कारणसे यहांपर अर्थात् जीता हुआ नष्ट होता है ॥ १७१ ॥

अग्राह्यग्रहणाच्छास्त्रीयग्राह्यपरित्यागाच्च राज्ञः पौरैरसामर्थ्यं ख्याप्यते । ततश्च स प्रेत्याधर्मेण नरकादिभोगादिहाकीर्त्या विनश्यति ॥ १७१ ॥

स्वादानाद्वर्णसंसर्गात्त्वबलानां च रक्षणात् ।
बलं संजायते राज्ञः स प्रेत्येह च वर्धते ॥ १७२ ॥

(शास्त्रीय वचनानुसार) ग्राह्य धनको लेने तथा सजातियोंके साथ (विवाहादि-) सम्बन्धसे और दुर्बलोंकी रक्षासे राजाकी शक्ति बढ़ती है और वह मरकर (स्वर्गादि लाभसे) तथा यहां पर अर्थात् जीते हुए (ख्याति आदिसे) समृद्धिमान् होता है ॥ १७२ ॥

न्यायधनग्रहणाद्वर्णानां सजातीयैः शास्त्रीयपरिणयनादिसम्बन्धात् । यद्वा वर्णसंसर्गाद्वर्णसंस्कारादित्यपि रक्षणादिति योजनीयम् । प्रजानां दुर्बलानां बलवद्भ्योऽपि रक्षणात्सामर्थ्यमुपजायते नृपस्य । ततश्चासाविहलोकपरलोकयोश्च वर्धते ॥ १७२ ॥

एत एवम्—

तस्माद्यम इव स्वामी स्वयं हित्वा प्रियाप्रिये ।
वर्तेत याम्यया वृत्त्या जितक्रोधो जितेन्द्रियः ॥ १७३ ॥

इसलिए राजा क्रोध तथा इन्द्रियोंको वशमें करके और अपने प्रिय तथा अप्रियका त्यागकर यमराजके समान सर्वत्र समव्यवहार रखते हुए बर्ताव करे । १७३ ॥

तस्माद्यम इव राजा वशीकृतक्रोधो जितेन्द्रियः स्वकीयेऽपि प्रियाप्रिये परित्यज्य यमस्य चेष्टया सर्वत्र साम्यरूपया वर्तेत ॥ १७३ ॥

यस्त्वधर्मेण कार्याणि मोहात्कुर्यान्नराधिपः ।
अचिरात्तं दुरात्मानं वशे कुर्वन्ति शत्रवः ॥ १७४ ॥

जो राजा लोभादिके कारण अधर्म कार्योंको करता है, उस दुरात्मा राजाको शत्रुलोग शीघ्र वश में कर लेते हैं ॥ १७४ ॥

यः पुनर्नृपतिर्लोभादिभ्यवहारादधर्मेण व्यवहारदर्शनादीनि कार्याणि कुरुते, दुष्टचित्तं प्रकृतिपौरविरागात्क्षिप्रमेव शत्रवो निगृह्णन्ति ॥ १७४ ॥

कामक्रोधौ तु संयम्य योऽर्थान्धर्मेण पश्यति ।
प्रजास्तमनुवर्तन्ते समुद्रमिव सिन्धवः ॥ १७५ ॥

जो राजा काम और क्रोधको छोड़कर धर्मपूर्वक कार्यों (व्यवहारों—मुकदमों) को देखता हैं; प्रजा उस राजाका अनुगमन इस प्रकार करता है, जिस प्रकार नदियां समुद्रका ॥ १७५ ॥

यो राजा रागद्वेषौ विहाय धर्मेण कार्याणि निरूपयति तं राजानं प्रजा भजन्ते, समुद्रमिव नद्यः । नद्यो यथा समुद्रान्न निवर्तन्ते तेनैवैकतां यान्ति, प्रजा अपि तस्मान्नृपादनिवर्तिन्यस्तदेकताना भवन्तीति साम्यम् ॥ १७५ ॥

यः साधयन्तं छन्देन वेदयेद्धनिकं नृपे ।
स राज्ञा तच्चतुर्भागं दाप्यस्तस्य च तद्धनम् ॥ १७६ ॥

('मैं राजा का प्रियपात्र हूँ' इत्यादि अभिमानसे) धन वसूल करते हुए ऋणदाताको जो ऋणी निवेदन (शिकायत) करे, राजा उसे ऋण धनके चतुर्थांश धनसे दण्डित करे तथा उसका वह धन भी दिलवा दे ॥ १७६ ॥

योऽधमर्णो राजवल्लभोऽहमिति गर्वादुत्तमर्णं स्वेच्छया धनं साधयन्तं नृपे निवेदयेत्, राज्ञा ऋणचतुर्थभागं दण्ड्यः, तस्य तद्धनं दापनीयम् ॥ १७६ ॥

कर्मणाऽपि समं कुर्याद्धनिकायाधमर्णिकः।
समोऽवकृष्टजातिस्तु दद्याच्छ्रेयांस्तु तच्छनैः॥ १७७॥

यदि ऋणी ऋणको देनेमें असमर्थ हो तथा ऋणदाता की जातिवाला या उससे छोटी जातिवाला हो तो वह ऋणी उस ऋणदाताके यहां (अपनी जातिके अनुरूप) काम करके ऋणको बराबर (चुकता) करे तथा यदि ऋणी ऋणदातासे बड़ी जातिवाला हो तो ऋणको धीरे-धीरे (किस्तोंमें) चुकता करे॥ १७७॥

समानजातिरपकृष्टजातिश्चाधमर्णो धनाभावे सति स्वजात्यनुरूपकर्मकरणेनापि समं कुर्यात्। निवृत्तोत्तमर्णाधमर्णव्यपदेशतया धनिकसमात्मानं कुर्यात्। समजातिरत्र ब्राह्मणेतरः, कर्मणा क्षत्रविट्शूद्रान्समानजातीयान् "हीनांस्तु दापयेत्" इति कात्यायनेन विशेषितत्वात्। श्रेयान्पुनरुत्कृष्टजातिर्न कर्म कारयितव्यः, किन्तु शनैः शनैर्यथासम्भवं तद्धनं दद्यात्॥ १७७

अनेन विधिना राजा मिथो विवदतां नृणाम्।
साक्षिप्रत्ययसिद्धानि कार्याणि समतां नयेत्॥ १७८॥

इस प्रकार आपसमें विवाद करते हुए मनुष्यों (वादियों तथा प्रतिवादियों) के साक्षियों तथा लेख आदिसे निर्णीत कार्यको पूरा करे॥ १७८॥

अनेन प्रोक्तप्रकारेण परस्परं विवदमानानामर्थिप्रत्यर्थिनां लेख्यादिप्रमाणेन निर्णीतार्थानि कार्याणि विप्रतिपत्तिखण्डनेन राजा समीकुर्यात्॥ १७८॥

कुलजे वृत्तसंपन्ने धर्मज्ञे सत्यवादिनि।
महापक्षे धनिन्यार्ये निक्षेपं निक्षिपेद् बुधः॥ १७९॥

कुलीन, सदाचारी, धर्मज्ञाता, सत्यवादी, बहुत परिवारवाले धनी और सज्जनके पास विद्वान् मनुष्य धरोहर रक्खे॥ १७९॥

सत्कुलप्रसूते, सदाचारवति, धर्मवेदिनि, सत्याभिधायिनि, बहुपुत्रादिपरिजने, ऋजुप्रकृतौ मनुष्ये व्यभिचाराभावान्निक्षेपं स्थापयेत्॥ १७९॥

यो यथा निक्षिपेद्धस्ते यमर्थं यस्य मानवः।
स तथैव ग्रहीतव्यो यथा दायस्तथा ग्रहः॥ १८०॥

जो मनुष्य जिस प्रकार (मुहर बन्द या बिना मुहर बन्द; गवाहके समाने या एकान्तमें इत्यादि) से जिसके हाथमें जो धन (धरोहरके रूपमें) रक्खे, उस धनको उसी प्रकार (मुहरबन्द या बिना मुहरबन्द, गवाहके सामने या एकान्तमें) उसी लेनेवालेके हाथसे वह (धरोहर रखनेवाला) वापस ले; क्योंकि जिस रूपमें दिया जाता है, उसी रूपमें लेना न्यायसङ्गत है॥ १८०॥

यो मनुष्यो येन प्रकारेण मुद्रारहितं समुद्रं वा ससाक्षिकमसाक्षिकं वा यमर्थं सुवर्णादि यस्य हस्ते निक्षिपेत्सोऽर्थस्तेन निक्षेप्त्रा तथैव ग्राह्यो, यस्माद्येन प्रकारेण समर्पणं तेनैव प्रकारेण ग्रहणं न्याय्यम्। समुद्रस्थापितसुवर्णादेर्निक्षेप्ता स्वयमेव मुद्रां भित्त्वा यदा वदति ममेदं तुलयित्वा समर्पयेत्यभिधानं दण्डाद्यर्थम्॥ १८०॥

यो निक्षेपं याच्यमानो निक्षेप्तुर्न प्रयच्छति।
स याच्यः प्राड्विवाकेन तन्निक्षेप्तुरसन्निधौ॥ १८१॥

यदि धरोहर लेनेवालेसे धरोहर देनेवाला स्वामी अपना धरोहर वापस मांगे और वह वापस नहीं दे तो न्यायाधीश धरोहर देनेवाले स्वामीसे परोक्षमें धरोहर रखनेवालेसे (इस वक्ष्यमाण (८।१८१) प्रकारसे धरोहरको वापस मांगे ॥ १८१ ॥

यः पुरुषो देहि मे निक्षिप्तं हिरण्यादि द्रव्यमित्येवं निक्षेप्त्रा प्रार्थ्यमानस्तस्य यदा न समर्पयति, तदा निक्षेप्त्रा ज्ञापिते प्राड्विवाकेन तस्य निक्षेप्तुरसन्निधौ याचनीयः ॥१८१॥

किं कृत्वा, किं याचनीय ? इत्याह—

साक्ष्यभावे प्रणिधिभिर्वयोरूपसमन्वितैः ।
अपदेशैश्च संन्यस्य हिरण्यं तस्य तत्त्वतः ॥ १८२ ॥

दिये गये धरोहरके साक्षी नहीं होनेपर न्यायाधीश वय (बचपनको छोड़कर युवा वृद्ध आदि) तथा रूप (सौन्दर्य आदि) से युक्त गुप्तचरों से चोरी होने या राजाके छीन लेने आदि उपद्रवोंका बहाना कराकर वास्तविक सुवर्ण या रुपया आदि) को उसी धरोहर लेनेवालेके यहां धरोहरके रूपमें रखवा दे तथा उस धरोहर लेनेवालेसे उस धरोहरको मांगे अर्थात् उन गुप्तचरोंसे मांगनेको कहे ॥ १८२ ॥

प्रथमनिक्षेपे साक्ष्यभावे स्वकीयसभ्यैश्चारपुरुषैरतिक्रान्तबाल्यैः सौम्यादिभिर्नृपोपद्रवादिव्याजाभिधायिभिर्हिरण्यानि तत्त्वेन तत्र निक्षेपयित्वा तैरेव चारपुरुषैः स निक्षेपधारी प्राड्विवाकेन चारपुरुषनिक्षिप्तसुवर्णं याच्यः ॥ १८२ ॥

स यदि प्रतिपद्येत यथान्यस्तं यथाकृतम् ।
न तत्र विद्यते किंचिद्यत्परैरभियुज्यते ॥ १८३ ॥

फिर यदि धरोहर लेनेवाला वह व्यक्ति ज्योंका त्यों उसे वापस कर दे तो न्यायाधीश समझे कि पहले धरोहर वापस नहीं देनेकी शिकायत करनेवाले व्यक्तिने उसके यहां धरोहर नहीं रक्खा था ॥ १८३ ॥

स निक्षेपधारी यथान्यस्तं समुद्रं वा यथाकृतं कटकमुकुटाकारेण रचितं यदि तथैव प्रतिपद्येत, सत्यमस्ति गृह्यतामिति, तदा परेण पूर्वनिक्षेप्त्रा प्राड्विवाकवेदिना यन्निक्षिप्तमित्यभियुज्यते तत्र न किञ्चिदस्तीति ज्ञातव्यम् ॥ १८३ ॥

तेषां न दद्याद्यदि तु तद्धिरण्यं यथाविधि ।
उभौ निगृह्य दाप्यः स्यादिति धर्मस्य धारणा ॥ १८४ ॥

और यदि उन गुप्तचरोंके दिये हुए सुवर्णादि धरोहरको लेनेवाला व्यक्ति ज्योंका त्यों वापस नहीं दे तो न्यायाधीश ताडन आदि दण्डसे उसे (धरोहर लेनेवाले व्यक्तिको) वशमें करके धरोहरके उन दोनों धनोंको दिलवावे, यह धर्मका निर्णय है ॥ १८४ ॥

तेषां चारपुरुषाणां यन्निक्षिप्तं हिरण्यं यथान्यस्तं यदि तन्न दद्यात्तदा द्वावपि निक्षेपौ ज्ञापकचारसम्बन्धिनौ सम्पीड्य दापनीयः स्यादित्येवंरूपो धर्मस्य धारणा निश्चयः। "यो निक्षेपम्" (म. स्मृ. ८-१८१-८४) इत्यादिश्लोकचतुष्टयस्य चेदृश एव पाठक्रमो मेधातिथिभोजदेवादिभिर्निश्रितः। गोविन्दराजेन तु "साक्ष्यभावे प्रणिधिभिः" (म. स्मृ. ८-१८२) इति श्लोकोऽन्त एव पठितः, तदा च नार्थसङ्गतिः, न वा वृद्धाम्नायादरः ॥ १८४ ॥

निक्षेपोपनिधी नित्यं न देयौ प्रत्यनन्तरे ।
नश्यतो विनिपाते तावनिपाते त्वनाशिनौ ॥ १८५ ॥

निक्षेप तथा उपनिधि पिताके जीवित रहनेपर उसके पुत्र या अन्य उत्तराधिकरीको नहीं देना चाहिये, क्योंकि उसको देनेवालेके मर जानेपर वे (निक्षेप तथा उपनिधि) नष्ट हो जाते हैं और जीवित रहनेपर कभी नष्ट नहीं होते (इस कारण अनर्थ होनेके भयसे वैसा न करे) ॥ १८५ ॥

निक्षिप्यत इति निक्षेपः। मुद्राङ्कितमगणितं वा यन्निधीयते स उपनिधिः। ब्राह्मणपरिव्राजकवदुपदेशभेदः। तौ निक्षेपोपनिधी निक्षेप्तर्युपनिधातरि जीवति प्रत्यनन्तरे तदीयपुत्रादौ तदनन्तरे तद्धनाधिकारिणि कदाचिन्न निक्षेपधारिणा देयौ। यतस्तस्य पुत्रादेरपि पितुरसमर्पणविनाशे तौ निक्षेपोपनिधी नश्यतः। पुत्रादेः पितुश्च पुनरविनाशे समर्पणे च कदाचिदविनाशिनौ स्याताम्। तस्मादनर्थसंदेहान्न देयौ ॥ १८५ ॥

स्वयमेव तु यो दद्यान्मृतस्य प्रत्यनन्तरे।
न स राज्ञा नियोक्तव्यो न निक्षेप्तुश्च बन्धुभिः ॥ १८६ ॥

धरोहर देनेवालेके मर जानेपर यदि उसके पुत्र या उत्तराधिकारीके लिये उस धरोहरको लेने वाला स्वयं वापस लौटा दे तो राजा या धरोहर देनेवाले स्वामीके उत्तराधिकारी बान्धवादि (या पुत्र) को धरोहर वापस करनेवाले उस व्यक्तिपर अन्य द्रव्यके बाकी रह जानेका आक्षेप नहीं करना चाहिये ॥ १८६ ॥

निक्षेप्तुर्मृतस्य निक्षेपधारी तद्धनाधिकारिणि पुत्रादौ तदनभ्यर्थितः स्वयमेव यः समर्पयति, स राज्ञा निक्षेप्तुः पुत्रादिभिर्वाऽन्यदपि त्वयि निक्षिप्तमस्तीति नाक्षेप्तव्यः ॥ १८६ ॥

यदि कथञ्चिद् भ्रान्तिः स्यात्तदा—

अच्छलेनैव चान्विच्छेत्तमर्थं प्रीतिपूर्वकम्।
विचार्य तस्य वा वृत्तं साम्नैव परिसाधयेत् ॥ १८७ ॥

(उस धरोहर वापस लौटनेवालेपर और धरोहर बाकी रह जानेका सन्देह होने पर उस धरोहर देनेवाले व्यक्तिका बान्धवादि उत्तराधिकारी) निष्कपट होकर प्रेमपूर्वक ही उस शेष बचे हुए धरोहरका निश्चय करे तथा उसके व्यवहारको विचारकर अर्थात् 'यह धर्मात्मा है' ऐसा मानकर सामके प्रयोगसे ही निर्णय करे ॥ १८७ ॥

तत्रस्थे धदान्तरसद्भावलक्षणवाक्छलादिपरिहारेणैव प्रीतिपूर्वकं निश्चिनुयात, न तु झटिति दिव्यादिदानेन। तस्य निक्षेपधारिणः शीलमवेक्ष्य धार्मिकोऽयमिति ज्ञात्वा सामप्रयोगेण निश्चिनुयात् ॥ १८७ ॥

निक्षेपेष्वेषु सर्वेषु विधिः स्यात्परिसाधने।
समुद्रे नाप्नुयात्किञ्चिद्यदि तस्मान्न संहरेत् ॥ १८८ ॥

सब प्रकारके धरोहरोंके देनेको अस्वीकार करनेपर उसका निर्णय करनेके लिए उक्त विधान ('साक्ष्यभावे–' (८।१८२ आदि) कहा गया है। यदि मुहरबन्द धरोहर लेनेवाला ज्यों का त्यों (ठीक-ठीक मुहरबन्द) धरोहरको वापस कर दे तथा उसे खोलनेपर उसमें से कुछ नहीं ले तो धरोहर देनेवाले स्वामीको कुछ नहीं मिलता है ॥ १८८ ॥

सर्वेषु निक्षेपेष्वपक्रियमाणेष्वेव "साक्ष्यभावे" (म. स्मृ. ८-१८२) इत्यादिपूर्वोक्तविधिर्निर्णयसिद्धौ स्यात्। मुद्रितादौ पुनस्तस्य निक्षेपधारी यदि प्रतिमुद्रादिना न किमप्यपहरेत्तदा तन्मिन्नपि तेन किं दूषणं प्राप्नुयात् ॥ १८८ ॥

चौरैर्हृतं जलेनोढमग्निना दग्धमेव वा।
न दद्याद्यदि तस्मात्स न संहरति किञ्चन ॥ १८९ ॥

धरोहर रक्खे हुए द्रव्यमें से धरोहरको लेनेवाला स्वयं कुछ नहीं ले और वह धरोहरका द्रव्य चोरी हो जाय, पानीकी बाढ़में बह जाय या आग लगने से जल जाय, तो धरोहर लेनेवालेसे धरोहर देने वाला कुछ नहीं पाता है। १८९ ॥

चौरमुंषितं, उदकेन देशान्तरं प्रापितं, अग्निना वा दग्धं निक्षेपं निक्षेपधारी न दद्यात्। यदि स्वयं तस्मान्न किञ्चिदप्यपहरति ॥ १८९ ॥

निक्षेपस्यापहर्तारमनिक्षेप्तारमेव च।
सर्वैरुपायैरन्विच्छेच्छपथैश्चैव वैदिकैः ॥ १९० ॥

धरोहरका अपहरण करनेवाले (लेकर वापस नहीं देनेवाले) और बिना धरोहर दिये ही मांगनेवाले व्यक्तियोंका निर्णय सामादि उपायों तथा वेदोक्त शपथोंके द्वारा न्यायाधीशको करना चाहिये ॥ १९० ॥

निक्षेपस्यापह्नोतारमनिक्षिप्य याचितारं सर्वैः सामादिभिरुपायैर्वैदिकैश्च शपथैरग्निहरणादिभिर्नृपो निरूपयेत् ॥ १९० ॥

यो निक्षेपं नार्पयति यश्चानिक्षिप्य याचते।
तावुभौ चौरवच्छास्यौ दाप्यौ वा तत्समं दमम् ॥ १९१ ॥

जो दिये हुए धरोहरोंको वापस नहीं करता तथा जो धरोहरको बिना दिये ही मांगता है; उन दोनोंको न्यायाधीश (सोना, मोती और मणि (जवाहरात) आदि उत्तम द्रव्यका विषय होनेपर) चोरके समान दण्डित करे तथा (तांबा आदि सामान्य द्रव्यका विषय होनेपर) उसके बराबर अर्थदण्डसे दण्डित करे अर्थात् उतना रुपया जुर्माना करे ॥ १९१ ॥

निक्षिप्तधनं यो न समर्पयति, यश्चानिक्षिप्तं प्रार्थयति, तौ द्वौ सुवर्णमणिमुक्तादौ महति विषये चौरवद्दण्ड्यौ, स्वल्पविषये ताम्रादौ तत्समं दण्डनीयौ ॥ १९१ ॥

निक्षेपस्यापहर्तारं तत्समं दापयेद्दमम्।
तथोपनिधिहर्तारमविशेषेण पार्थिवः ॥ १९२ ॥

राजा (या न्यायाधीश) निक्षेपका हरण करने (वापस नहीं देने) वाले मनुष्यसे उतना ही धन दिलवा दे तथा उपनिधिको हरण करनेवाले मनुष्यको भी वही (उतना ही) दण्ड दे धरोहरके बराबर धन दिलवा दे ॥ १९२ ॥

निक्षेपापहारिणं निक्षिप्तसमधनं दण्डयेत्। समशिष्टत्वादनिक्षिप्य याचितारमपि। न च पुनरुक्तिः, महत्यपराधे ब्राह्मणेतरस्य चौरवदिति पूर्वश्लोकेन शारीरदण्डस्यापि प्राप्तौ तन्निवृत्त्यर्थमिदम्, दापयेदिति धनदण्डनियमात्। न चानेन पूर्वश्लोकवैयर्थ्यम्, अस्य प्रथमापराधविषयत्वात्पूर्वोक्ते चाभ्यासे चौरोक्तमहासाहसादिधनदण्डावरोधकत्वात्। उपनिधिमुंद्रादिचिह्नितं निहितधनं, तस्यापहर्तारं कथितविशेषणं राजा दण्डयेत् ॥ १९२ ॥

उपधाभिश्च यः कश्चित्परद्रव्यं हरेन्नरः।
ससहायः स हन्तव्यः प्रकाशं विविधैर्वधैः ॥ १९३ ॥

जो मनुष्य कपटसे ('तुम पर राजा क्रुद्ध हैं, इतना धन मुझे दोगे तो मैं तुम्हारी रक्षा कर दूंगा' इस प्रकार कहकर या धनादिका लोभ देकर) दूसरेका धनहरण करे, उसे इस काममें

सहायता देनेवालोंके साथ सब लोगोंके सामने राजा अनेक प्रकारके वधों (हाथ-पैर काटने, बांधने या कोड़े या बेतोंसे मारने) से मारे ॥ १९३ ॥

राजा त्वयि दृष्टस्तस्मात्त्वां रक्षामि मम धनं देहि, धनधान्यादिलोभोपकरणं वाऽनृतमभिधाय, छद्मभिर्यः परद्रव्यं गृह्णाति, स छद्मधनसहकारिसहितो बहुजनसमक्षं करचरणशिरश्छेदादिभिर्नानाप्रकारैर्वधोपायै राज्ञा हन्तव्यः ॥ १९३ ॥

निक्षेपो यः कृतो येन यावांश्च कुलसन्निधौ ।
तावानेव स विज्ञेयो विब्रुवन्दण्डमर्हति ॥ १९४ ॥

साक्षीके सामने जिसने जितना धरोहर रक्खा है, (उस विषयके परिणामके विषयमें विवाद उपस्थित होनेपर साक्षी जितना कहे) उतना ही वह धरोहर समझना चाहिये और उसके विरुद्ध कहनेवाला दण्डके योग्य है ॥ १९४ ॥

यः सुवर्णादिर्यावत्परपरिमितो येन साक्षिसमक्षं निक्षेपः कृतस्तत्र परिमाणादिविप्रतिपत्तौ साक्षिवचनात्तावानेव विज्ञातव्यः । विप्रतिपत्तिं कुर्वन्नप्येतदुक्तानुसारेण दण्डं दाप्यः ॥१९४॥

मिथो दायः कृतो येन गृहीतो मिथ एव वा ।
मिथ एव प्रदातव्यो यथा दायस्तथा ग्रहः ॥ १९५ ॥

जिसने जिस प्रकार एकान्त में धरोहर दिया है और जिसने एकान्तमें ही लिया है उसे एकान्तमें ही लेना तथा वापस करना चाहिये; क्योंकि जिस प्रकार दिया जाता है, उसी प्रकार वापस किया जाता है ॥ १९५ ॥

रहसि येन निक्षेपोऽर्पितो निक्षेपधारिणा च रहस्येव गृहीतः, स निक्षेपो रहस्येव प्रत्यर्पणीयः, न प्रत्यर्पणे साक्ष्यपेक्षा । यस्माद्येनैव प्रकारेण दानं तेनैव प्रकारेण प्रत्यर्पणं दातव्यमिति श्रवणान्निक्षेपधारिणोऽयं नियमविधिः । "यो यथा निक्षिपेद्धस्ते" (म. स्मृ. ८-१८०) इति तु निक्षेप्तुर्नियमार्थं, ग्रहीतव्य इति श्रवणात्, अतो न पौनरुक्त्यम् ॥ १९५ ॥

निक्षिप्तस्य धनस्यैवं प्रीत्योपनिहितस्य च ।
राजा विनिर्णयं कुर्यादक्षिण्वन्न्यासधारिणम् ॥ १९६ ॥

राजा (या न्यायाधीश) मुहरबन्द या बिना मुहरबन्द दिये गये धरोहरका अथवा भोगार्थ प्रेमपूर्वक दी गयी (धन, वस्त्र-आभूषणादि) मंगनीकी वस्तुओंका निर्णय लेनेवालेको यथासम्भव अपीडित करता हुआ करे ॥ १९६ ॥

राज्ञा निक्षिप्तस्य धनस्यामुद्रस्य मुद्रादियुतस्य वोपनिधिरूपस्य तथा प्रीत्या कतिचित्कालं भोगार्थमर्पितस्यानेनोक्तप्रकारेण न्यस्तधनधारिणमपीडयन्निर्णयं कुर्यात् ॥ १९६ ॥

विक्रीणीते परस्य स्वं योऽस्वामी स्वाम्यसंमतः ।
न तं नयेत साक्ष्यं तु स्तेनमस्तेनमानिनम् ॥ १९७ ॥

जो मनुष्य (किसी वस्तुका स्वामी नहीं होता हुआ भी उस वस्तुके) स्वामीकी आज्ञा लिये बिना ही दूसरेकी कोई वस्तु बेंच दे । और (इस प्रकार) चोर होता हुआ भी वह अपनेको चोर नहीं माने तो राजा उसके साक्षीको प्रमाणित नहीं माने ॥ १९७ ॥

अस्वामी यः स्वामिना चाननुमतः परकीयं द्रव्यं विक्रीणीते, वस्तुतश्चौरमचौरमात्मानं मन्यमानं तं साक्षित्वं न कारयेत् । न कुत्रचिदपि प्रमाणीकुर्यादित्यर्थः ॥ १९७ ॥

अवहार्यो भवेच्चैव सान्वयः षट्शतं दमम् ।
निरन्वयोऽनपसरः प्राप्तः स्याच्चौरकिल्बिषम् ॥ १९८ ॥

यदि दूसरेकी वस्तु उक्त प्रकार (८।१९३) से बेचनेवाला (उस बेची गयी वस्तुके स्वामीके) वंशका (पुत्र आदि सम्बन्धी) हो तो उसे राजा ६०० पण दण्ड (जुर्माना) करे और उस बेची गयी वस्तुके स्वामीके वंशका नहीं हो, और उस वस्तुके स्वामी या उसके पुत्र आदिसे वह (बेची गयी) वस्तु दानमें या बेचनेसे नहीं मिली हो तो उस वस्तुको बेचनेवाला वह मनुष्य चोरके पापको प्राप्त करता है अर्थात् राजाको उसे चोरके समान दण्डित करना चाहिये ॥ १९८ ॥

एष परस्वविक्रयी यदि स्वामिनो भ्रात्रादिरूपत्वेन सान्वयः सम्बन्धी भवति, तदा षट् पणशतान्यपहार्यो दण्डनीयः। यदि पुनः स्वामिनः सम्बन्धी न भवति, अनपसरश्च स्यात्, अपसरत्यनेनास्मात्सकाशाद्धनमित्यपसरः प्रतिग्रहक्रयादिः, स यस्य स्वामिसम्बन्धिपुत्रादेः सकाशान्नास्ति, तदा चौरसम्बन्धि पापं प्राप्नोति। तद्वद्दण्डनीय इत्यर्थः ॥१९८॥

अस्वामिना कृतो यस्तु दायो विक्रय एव वा।
अकृतः स तु विज्ञेयो व्यवहारे यथा स्थितिः ॥ १९९ ॥
[अनेन विधिना शास्ता कुर्वन्नस्वामिविक्रयम्।
अज्ञानाज्ज्ञानपूर्वं तु चौरवद्दण्डमर्हति ॥ १५ ॥]

स्वामी नहीं होनेपर भी जो किया जाय, दिया जाय या बेचा जाय; उसे किया हुआ, दिया हुआ या बेचा हुआ नहीं मानना चाहिये; क्योंकि व्यवहारमें जैसी मर्यादा है, वैसा नहीं किया गया है ॥ १९९ ॥

[शासक (शासन करनेवाला राजा या न्यायाधीश) किसी वस्तु के स्वामी नहीं होनेपर भी उस वस्तुको अज्ञानपूर्वक बेचनेवालेका शासन (दण्डित) करे और ज्ञानपूर्वक (जान-बूझकर) बेचनेवाले व्यक्तिको चोरके समान दण्डित करे ॥ १५ ॥]

अस्वामिना यत्कृतं यद्दत्तं विक्रीतं वा, तदकृतमेव बोद्धव्यम्। व्यवहारे यथा मर्यादा तथा कृतं न भवतीत्यर्थः ॥ १९९ ॥

सम्भोगो दृश्यते यत्र न दृश्येतागमः क्वचित्।
आगमः कारणं तत्र न संभोग इति स्थितिः ॥ २०० ॥

जिस किसी वस्तुका उपभोग देखा गया हो और उसके मिलनेका साधन नहीं देखा जाय अर्थात् यह वस्तु इस मनुष्यके यहां खरीदनेसे आयी या दानादिसे, ऐसा प्रमाणीभूत साधन नहीं देखा जाय तो उस वस्तुके आनेके कारणको ही मुख्य मानना चाहिये, उपभोग को नहीं ऐसी शास्त्रमर्यादा है ॥ २०० ॥

यस्मिन् वस्तुनि संभोगो विद्यते क्रयादिरूपस्त्वागमो नास्ति, तत्र प्रथमपुरुषगोचर आगम एव प्रमाणं, न संभोग इति शास्त्रमर्यादा ॥ २०० ॥

विक्रयाद्यो धनं किञ्चिद् गृह्णीयात्कुलसन्निधौ।
क्रयेण स विशुद्धं हि न्यायतो लभते धनम् ॥ २०१ ॥

जो कोई वस्तु विक्रय (बेचनेके) स्थान (बाजार या दूकान आदि) से बेचनेवालों अर्थात् अनेक व्यापारियोंके प्रत्यक्ष में खरीदी जाती है, उसी दोषरहित धन को न्यायपूर्वक खरीदनेवाला बेचनेवालेसे प्राप्त करता है अर्थात् वस्तुका स्वामी नहीं होनेपर सर्वप्रत्यक्ष बेची गयी उस वस्तु का मूल्य खरीददार को बेचनेवालेसे प्राप्तव्य होता है ॥ २०१ ॥

विक्रीयतेऽस्मिन्निति विक्रयदेशो विक्रयः, ततो यत्क्रेयधनं किञ्चिद्व्यवहर्तृसमूहसमक्षं क्रियतेऽनेनेति क्रयो मूल्यं तेन यस्माद् गृह्णीयात्। अतो न्यायत एवास्वामिविक्रेतृसकाशात्क्रयणाद्विशुद्धं धनं लभते ॥ २०१ ॥

अथ मूलमनाहार्यं प्रकाशक्रयशोधितः।
अदण्ड्यो मुच्यते राज्ञा नाष्टिको लभते धनम् ॥ २०२ ॥

स्वामी नहीं होनेपर किसी वस्तुको बेचनेवालेसे निश्चित रूपसे सर्व प्रत्यक्ष (बाजारमें) खरीदनेवाला यदि उस बेचनेवालेको परदेश चले जाने या मर जाने आदिके कारण नहीं ला सके तो खरीदनेवाले अदण्डनीय उस व्यक्तिको राजा छोड़ दे (दण्डित न करे), किन्तु बेचे हुए उस वस्तु को खरीदनेवाले से उस वस्तु का स्वामी प्राप्त करता है ॥ २०२ ॥

अथ मूलमस्वामी विक्रेता मरणाद् देशान्तरादिगमनादिना वा हर्तुं न शक्यते प्रकाशक्रयणे चासौ निश्चितस्तदा दण्डानर्ह एव क्रेता राज्ञा मुच्यते। नष्टधनस्वामी च यदस्वामिना विक्रीतं द्रव्यं तत्क्रेतुर्हस्ताल्लभ्यते। अत्र च विषयाऽर्धमूल्यं क्रेतुर्दत्त्वा स्वधनं स्वामिना ग्राह्यम्। तदाह बृहस्पतिः—

"वणिग्वीथीपरिगतं विज्ञातं राजपूरुषैः।
अविज्ञाताश्रयात्क्रीतं विक्रेता यत्र वा मृतः ॥
स्वामी दत्त्वाऽर्धमूल्यं तु प्रगृह्णीयात्स्वकं धनम्।
अर्धं द्वयोरपहृतं तत्र स्याद्व्यवहारतः ॥ २०२ ॥

नान्यदन्येन संसृष्टरूपं विक्रयमर्हति।
न चासारं न च न्यूनं न दूरेण तिरोहितम् ॥ २०३ ॥

अधिक मूल्यवाली वस्तु में थोड़े मूल्यवाली वस्तु (यथा-कुङ्कुममें कुसुम्भ, घीमें वनस्पति, इत्यादि) को मिलाकर साधारण वस्तुको अत्युत्तम बतलाकर तौलमें कम और या अन्धकार आदि के कारण जिसका वास्तविक रूप नहीं मालूम पड़ता ऐसी वस्तुएं नहीं बेची जा सकतीं ॥ २०३ ॥

कुङ्कुमादि द्रव्यं कुसुम्भादिना मिश्रीकृत्य न विक्रेतव्यम्। न चासारं सारमित्यभिधाय। न च तुलादिना न्यूनम्। न परोक्षावस्थितम्। न रागादिना स्थगितरूपम्। अत्रास्वामिविक्रयसादृश्यादस्वामिविक्रये दण्ड एव स्यात् ॥ २०३ ॥

अन्यां चेद्दर्शयित्वाऽन्या वोढुः कन्या प्रदीयते।
उभे त एक शुल्केन वहेदित्यब्रवीन्मनुः ॥ २०४ ॥

दूसरी सुन्दरी या विदुषी कन्याको दिखाकर बादमें यदि उससे भिन्न दूसरी कन्याके साथ (विवाह कराकर उसे) विवाह करनेवाले (पति) के लिए दी जाय तो वह (विवाह करनेवाला पति) उसी मूल्यमें उन दोनों कन्याओंसे विवाह करे ऐसा मनुने कहा है ॥ २०४ ॥

शुल्कदेयां शुल्कव्यवस्थाकाले निरवद्यां दर्शयित्वा यदि सावद्या वराय दीयते, तदा द्वे अपि कन्ये तेनैवैकेन शुल्केनासौ वरः परिणयेदिति मनुराह। शुल्कग्रहणपूर्वककन्याया दानस्य विक्रयरूपत्वादर्थक्रयविक्रयसाधर्म्येणास्यात्राभिधानम् ॥ २०४ ॥

नोन्मत्ताया न कुष्ठिन्या न च या स्पृष्टमैथुना।
पूर्वं दोषानभिख्याप्य प्रदाता दण्डमर्हति ॥ २०५ ॥

पगली, कुष्ठ रोगवाली और क्षतयोनि (विवाहसे पहले मैथुन की हुई) कन्याके दोषोंको पहले बतलाकर कन्यादान करनेवाला दण्डभागी नहीं होता ॥ २०५ ॥

उन्मत्तायास्तथा कुष्ठवत्या या चानुभूतमैथुना तस्या ब्राह्मादिविवाहात्पूर्वमुन्मादादीन्दोषान्वरस्य कथयित्वा दण्डार्हो न भवति। तेनाकथने दण्ड इति गम्यते। "यस्तु दोषवतीं कन्यां" (म. स्मृ. ८-२२४) इति वक्ष्यति ॥ २०५ ॥

अथ संभूयसमुत्थानमाह—

ऋत्विग्यदि वृतो यज्ञे स्वकर्म परिहापयेत्।
तस्य कर्मानुरूपेण देयोऽंशः सह कर्तृभिः ॥ २०६ ॥

यज्ञमें यदि वरण किया हुआ ऋत्विक् (रोगादिके कारण) अपना काम नहीं करावे तो उसके किये गये कामके अनुसार बाकी कामको पूरा करनेवालोंको उसका भाग देना चाहिये ॥२०६॥

यज्ञे कृतवरण ऋत्विक् यदि किञ्चित्कर्म कृत्वा व्याध्यादिना कर्म त्यजति, तदा तस्येतरर्त्विग्भिः पर्यालोच्य कृतानुसारेण दक्षिणांशो देयः ॥ २०६ ॥

दक्षिणासु च दत्तासु स्वकर्म परिहापयन्।
कृत्स्नमेव लभेतांशमन्येनैव च कारयेत् ॥ २०७ ॥

(माध्यन्दिन यज्ञादिमें) सब दक्षिणा लेकर कामको (रोगादिके कारण-शठतादि दुर्भावनाके कारण नहीं) छोड़ता हुआ ऋत्विक् सब दक्षिणा का भागी होता है (इस अवस्थामें यज्ञकर्ताको) बाकी कार्य दूसरोंसे करवाना तथा) अलग दूसरी दक्षिणा उसको देनी चाहिये ॥ २०७ ॥

माध्यंदिनसवनादौ दक्षिणाकाले दक्षिणासु दत्तासु व्याध्यादिना कर्म परित्यजन्न तु शाठ्यात्स कृत्स्नमेव दक्षिणाभागं लभेत। कर्मशेषं प्रकृतमन्येन कारयेत् ॥ २०७ ॥

यस्मिन्कर्मणि यास्तु स्युरुक्ताः प्रत्यङ्गदक्षिणाः।
स एव ता आददीत भजेरन्सर्व एव वा ॥ २०८ ॥

आधानादि जिस कर्ममें प्रत्येक अङ्गकी जो दक्षिणा बतलायी गयी है, उनकी वही (उस अङ्गका कार्य करानेवाली ही) ऋत्विक् ले अथवा उन सब अङ्गोंकी दक्षिणाओंको विभक्तकर सब ऋत्विक् परस्पर बांट लें ॥ २०८ ॥

यस्मिन्कर्मण्याधानादौ अङ्गमङ्गं प्रति या दक्षिणा यत्सम्बन्धेन श्रुताः स्युः, स एव ता आददीत न तत्तद्भागमात्रं सर्वे विभज्य गृह्णीरन्निति संशयः ॥ २०८ ॥

अत्र सिद्धान्तमाह—

रथं हरेत चाध्वर्युर्ब्रह्माधाने च वाजिनम्।
होता वाऽपि हरेदश्वमुद्गाता चाप्यनः क्रये ॥ २०९ ॥

किन्हीं शाखावालोंके आधानमें अध्वर्यु रथको, ब्रह्मा तेज घोड़ेको, होता घोड़ेको तथा उद्गाता सोमलताको खरीदनेपर उसे वहन करने (ढोने या लाने) वाली गाड़ीको प्राप्त करता है ॥२०९॥

केषाञ्चिच्छाखिनामाधानेऽध्वर्यवे रथो देयत्वेनाम्नायते, ब्रह्मणे वेगवानश्वः होत्रे चाश्वः, उद्गात्रे सोमक्रयवहनशकटम्, अतो व्यवस्थाम्नानसामर्थ्याद्या दक्षिणा यत्सम्बन्धत्वेन श्रूयते स एव तामाददीत ॥ २०९ ॥

सम्प्रतिपत्तिविधाने दक्षिणाविभागमाह—

सर्वेषामर्धिनो मुख्यास्तदर्धेनार्धिनोऽपरे।
तृतीयिनस्तृतीयांशाश्चतुर्थांशाश्च पादिनः ॥ २१० ॥

सब ऋत्विज् उन प्रथम मुख्य चार ऋत्विज् सब दक्षिणाका आधाभाग, द्वितीय चार ऋत्विज् उन प्रथम चार ऋत्विजोंसे अर्धांश, तृतीय चार ऋत्विज् तृतीयांश और चतुर्थ चार ऋत्विज् चतुर्थांश दक्षिण प्राप्त करते हैं ॥ २१० ॥

"तं शतेन दीक्षयति" इति श्रूयते। तत्र सर्वेषां षोडशानामृत्विजां मध्ये ये मुख्या ऋत्विजो होत्रध्वर्युब्रह्मोद्गातारः समग्रदक्षिणायास्तेऽर्धहरा अष्टचत्वारिंशद्गोभाजो भवन्ति। अत एव कात्यायनेन—"यद् द्वादशाद्येभ्यः" इति प्रत्येकं द्वादशगोदानं विहितम्। यद्यपि तस्यार्धं पञ्चाशद्भवति तथापीह न्यूनार्धग्रहणेनापि इमेऽर्धिन उच्यन्ते, सामीप्यात्। अपरे मैत्रावरुणप्रतिप्रस्थातृब्राह्मणाच्छंसिप्रस्तोतारस्ते मुख्यर्त्विग्गृहीतदक्षिणार्धग्रहणेनार्धिन उच्यन्ते। तृतीयिनोऽच्छावाकनेष्ट्राग्नीध्रप्रतिहर्तारस्ते मुख्यर्त्विग्गृहीतस्य तृतीयमंशं लभन्ते। पादिनस्तु ग्रावस्तुदुन्नेतृपोतृसुब्रह्मण्या, एते मुख्यर्त्विग्गृहीतस्य चतुर्थमंशं लभन्ते। एतच्च "षट् षट् द्वितीयेभ्यश्चतस्रश्चतस्रश्च तृतीयेभ्यस्तिस्रस्तिस्रश्चतुर्थेभ्यः" इति सूत्रयता कात्यायनेन स्फुटीकृतम् ॥ २१० ॥

> सम्भूय स्वानि कर्माणि कुर्वद्भिरिह मानवैः।
> अनेन विधियोगेन कर्तव्यांशप्रकल्पना ॥ २११ ॥

मिलकर काम करने वाले मनुष्यों (कारीगरों आदि) को इसी विधि (पूर्वोक्त यज्ञ-दक्षिणा भाग के अनुसार (विज्ञान व्यापार, कला आदिकी कुशलताका ध्यान रखते हुए) हिस्सेका बटवारा कर लेना चाहिये ॥ २११ ॥

मिलित्वा गृहनिर्माणादीनि स्वकर्माणि लोके स्थपतिसूत्रधारादिभिश्च मनुष्यैः कुर्वद्भिरनेन यज्ञदक्षिणाविधिनाश्रयणेन विज्ञानव्यापाराद्यपेक्षया भागकल्पना कार्या ॥ २११ ॥

इदानीं दत्तानपकर्माह—

> धर्मार्थं येन दत्तं स्यात्कस्मैचिद्याचते धनम्।
> पश्चाच्च न तथा तत्स्यान्न देयं तस्य तद्भवेत् ॥ २१२ ॥

धर्मार्थ (यज्ञादि कार्यके लिये) मांगनेवाले किसीको धन दे दिया गया हो (अथवा देनेका वचन दिया गया हो) और वह धन धर्मकार्यमें नहीं लगाया जाय तो दाता उस दिये गये धनको वापस ले लेवे (अथवा देने का वचन दिया हो तो मत देवे) ॥ २१२ ॥

येन यागादिकर्मार्थं कस्मैचिद्याचमानाय धनं दत्तं प्रतिश्रुतं वा, पश्चाच्च तद्धनमसौ यागार्थं न विनियुञ्जीत, तदा तद्दत्तमपि धनं ग्राह्यं प्रतिश्रुतं च न देयम्। यदाह गौतमः— "प्रतिश्रुत्याऽप्यधर्मसंयुक्ताय न दद्यात्" ॥ २१२ ॥

> यदि संसाधयेत्तत्तु दर्पाल्लोभेन वा पुनः।
> राज्ञा दाप्यः सुवर्णं स्यात्तस्य स्तेयस्य निष्कृतिः ॥ २१३ ॥

यदि धर्मार्थ कहकर लिया हुआ धन वह (याचक धर्मकार्यमें नहीं लगाते हुए भी) दाताको मांगनेपर मद या लोभके कारण वापस नहीं लौटावे (अर्थात् स्वीकृत धनको दातामें बलपूर्वक ग्रहण करे) तो राजा उस चोरीके पापकी निवृत्ति (दूर करने) के लिए उसे (उक्त धन नहीं लौटाने वालेको) एक सुवर्ण (८।१३४) से दण्डित करे (और दाताको उक्त धन को दिलवाही दे) ॥२१३॥

यदि तद्दत्तमसौ गृहीत्वा लोभादहङ्काराद्वा न त्यजति, प्रतिश्रुतं वा धनं बलेन गृह्णाति, तदा तस्य चौर्यपापस्य संशुद्ध्यर्थं राज्ञा स्वर्णं दण्डं दापनीयो भवति ॥ २१३ ॥

दत्तस्यैषोदिता धर्म्या यथावदनपक्रिया ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि वेतनस्यानपक्रियाम् ॥ २१४ ॥

(महर्षि भृगुजी ऋषियोंसे कहते हैं कि—) दिये गये धनको नहीं लौटानेपर यह धर्मयुक्त विधान कहा, इसके बाद वेतन नहीं देनेपर विधानको मैं कहूँगा ॥ २१४ ॥

एतद्दत्तस्याप्रतिपादनं धर्मादनपेतं तदुक्तम् । अतोऽनन्तरं भृतेरसमर्पणादिकं वक्ष्यामि ॥

भृतो नार्तो न कुर्याद्यो दर्पात्कर्म यथोदितम् ।
स दण्ड्यः कृष्णलान्यष्टौ न देयं चास्य वेतनम् ॥ २१५ ॥

वेतन पानेवाला जो कर्मचारी स्वस्थ रहता हुआ भी कहनेके अनुसार काम नहीं करे तो राजा उसे आठ कृष्णल (रत्ती) सुवर्ण आदिसे दण्डित करे और उनका वेतन नहीं दिलवावे ॥ २१५॥

यो भृतिपरिक्रीतो व्याध्यपीडितो यथानिरूपितं कर्माहङ्कारान्न कुर्यात्स कर्मानुरूपेण सुवर्णादिकृष्णलान्यष्टौ दण्डनीयः । वेतनं चास्य न देयम् ॥ २१५ ॥

आर्तस्तु कुर्यात्स्वस्थः सन् यथाभाषितमादितः ।
स दीर्घस्यापि कालस्य तल्लभेतैव वेतनम् ॥ २१६ ॥

वेतन पानेवाला जो कर्मचारी रोगी रहता हुआ काम नहीं करे तथा पुनः स्वस्थ होकर कहनेके अनुसार करने लगे तो वह बहुत समयके बाद भी आरम्भसे वेतन पाता है ॥ २१६ ॥

यदा व्याध्यादिपीडया कर्म न करोति स्वस्थः सन् यादृग्भाषितं तादृक्कर्म कुर्याद्वेतनं च चिरकालादपि लभेतैव ॥ २१६ ॥

यथोक्तमार्तः सुस्थो वा यस्तत्कर्म न कारयेत् ।
न तस्य वेतनं देयमल्पोनस्यापि कर्मणः ॥ २१७ ॥

जो कर्मचारी कहे हुए कामको स्वयं रोगी होकर दूसरेसे नहीं करावे तथा स्वस्थ होकर स्वयंभी नहीं करे तो वह कुछ किये गये कामका भी वेतन नहीं पाता है ॥ २१७ ॥

यत्कर्म यथाभाषितं पीडितोऽन्येन न कारयेत्सुस्थो वा न कुर्यान्नापि कारयेत् तस्य किञ्चिच्छेषस्य कृतस्य कर्मणोऽपि वेतनं न देयम् ॥ २१७ ॥

एष धर्मोऽखिलेनोक्तो वेतनादानकर्मणः ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि धर्मं समयभेदिनाम् ॥ २१८ ॥

(महर्षि भृगुजी ऋषियों से कहते हैं कि—) वेतन लेनेके कामका यह (८।२१५-२१७) सम्पूर्ण धर्म मैंने कहा, अब आगे समय-भङ्ग करने (शर्त तोड़ने) वालोंका धर्म (दण्डादिकी व्यवस्था) कहता हूँ ॥ २१८ ॥

एषा व्यवस्था वेतनादानाख्यकर्मणो निःशेषेणोक्ता । अतोऽनन्तरं संविल्लङ्घयतिक्रमकारिणां दण्डादिव्यवस्थां वक्ष्यामि ॥ २१८ ॥

यो ग्रामदेशसङ्घानां कृत्वा सत्येन सम्विदम् ।
विसंवदेन्नरो लोभात्तं राष्ट्राद्विप्रवासयेत् ॥ २१९ ॥

ग्रामवासी, देशवासी या व्यापारी आदिके समुदाय (कम्पनी आदि) का जो व्यक्ति सत्यादि शपथपूर्वक किये गये समय ('यह काम मैं इतने दिनोमें पूरा करूंगा' इत्यादि रूपमें शर्त-ठेका) को लोभ आदिके कारण भङ्ग करे, उसे देशसे निकाल दे— ॥ २१९ ॥

ग्रामदेशशब्दाभ्यां तद्वासिनो लक्ष्यन्ते। सङ्घो वणिगादिसमूहः, इदमस्माभिः कर्त्तव्यं परिहार्यंतामित्येवंरूपं संकेतं सत्यादिशपथेन कृत्वा, तन्मध्ये यो नरो लाभादिना निष्क्रामेत्तं राजा राष्ट्रान्निर्वासयेत् ॥ २१९ ॥

निगृह्य दापयेच्चैनं समयव्यभिचारिणम्।
चतुःसुवर्णान्षण्णिष्कांश्छतमानं च राजतम् ॥ २२० ॥

अथवा उक्त समय-भङ्ग करने (शर्त तोड़ने) वालेको राजा निग्रहकर उससे चार 'सुवर्ण' (८।१३४), छः 'निष्क' (८।१३७) या 'शतमान' (८।१३६) अर्थात् ३२० रत्ती चांदीका दण्ड (जुर्माना) दिलावे ॥ २२० ॥

अथ चैनं संविद्व्यतिक्रमकारिणं निबोध्य चतुरः सुवर्णान्षण्णिष्कान्प्रत्येकं चतुःसुवर्णपरिमितान् राजतं च शतमानं विंशत्यधिकरक्तिकाशतत्रयपरिमाणं त्रयमेतद्विषयलाघवगौरवापेक्षया समन्वितं व्यस्तं वा राजा दण्डं दापयेत् ॥ २२० ॥

एतद्दण्डविधिं कुर्याद्धार्मिकः पृथिवीपतिः।
ग्रामजातिसमूहेषु समयव्यभिचारिणाम् ॥ २२१ ॥

(महर्षि भृगुजी ऋषियोंसे कहते हैं कि—) धर्मात्मा राजा ग्राम या जाति-समूहमें समय-भङ्ग करने (शर्त तोड़ने) वालोंके लिए यह (८।२१९-२२०) दण्ड-विधान करे ॥ २२१ ॥

ग्रामेषु ब्राह्मणजातिसमूहेषु संविद्व्यतिक्रमकारिणामेतद्दण्डविधिं धर्मप्रधानो राजाऽनुतिष्ठेत् ॥ २२१ ॥

क्रीत्वा विक्रीय वा किञ्चिद्यस्येहानुशयो भवेत्।
सोऽन्तर्दशाहात्तद् द्रव्यं दद्याच्चैवाददीत वा ॥ २२२ ॥

कोई वस्तु) शीघ्र नष्ट होनेवाली अचल सम्पत्ति या बहुत समय बाद नष्ट होनेवाली भूमि, घर बगीचा आदि अचल सम्पत्ति) खरीदकर या बेचकर जिसको पश्चात्ताप होने लगे तो वह दश दिनके भीतर (यदि सामान खरीदा हो तो) वापस कर दे तथा (यदि बेचा हो तो) वापस ले ले ॥ २२२ ॥

क्रीत्वा विक्रीय वा किञ्चिद् द्रव्यं विनश्वररूपं स्थिरार्थं भूमिताम्रपट्टादि यस्य लोके पश्चात्तापो जायते न साधु मया क्रीतमिति स क्रीतं दशाहमध्ये प्रत्यर्पयेत्। विक्रीतं वा गृह्णीयात् ॥ २२२ ॥

परेण तु दशाहस्य न दद्यान्नापि दापयेत्।
आददानो ददच्चैव राज्ञा दण्ड्यः शतानि षट् ॥ २२३ ॥
[स्याच्चतुर्विंशतिपणे दण्डस्तस्य व्यतिक्रमे।
पणस्य दशमे भागे दाप्यः स्यादतिपातिनि ॥ १६ ॥
क्रीत्वा विक्रीय वा पण्यमगृह्णन्न ददतस्तथा।
पणा द्वादश दाप्यश्च मनुष्याणां च वत्सरान् ॥ १७ ॥
पणा द्वादश दाप्यः स्यात्प्रतिबोधे न चेद्भवेत्।
पशूनामप्यनाख्याने त्रिपदादर्पणं भवेत् ॥ १८ ॥]

दश दिनके बाद तो (खरीदी हुई वस्तुको) नहीं वापस दे और बेची (हुई वस्तुको राजा) नहीं वापस दिलवावे । (बेची हुई वस्तुको) बलात्कारसे लेता हुआ और (खरीदी हुई वस्तुको) देता हुआ ६०० पण (२।१३६) से राजाद्वारा दण्डनीय होता है ॥ २२३ ॥

दशाहादूर्ध्वं क्रीतं न त्यजेत् । नापि विक्रीतं विक्रयिको बलेन दापयेत् । विक्रीतं बलेन गृह्णन्परित्यजन्राज्ञा षट् शतानि पणान् दण्ड्यः ॥ २२३ ॥

यस्तु दोषवतीं कन्यामनाख्याय प्रयच्छति ।
तस्य कुर्यान्नृपो दण्डं स्वयं षण्णवतिं पणान् ॥ २२४ ॥

जो दोषयुक्त कन्याके दोषको नहीं कहकर उस कन्याका दान कर दे अर्थात् उसके साथ विवाह करा दे, राजा उसको स्वयं ९६ पण (८।१३६) दण्डित करे ॥ २२४ ॥

नोन्मत्ताया इति सामान्येनोक्तं दण्डविशेषाभिधानार्थमिदम् । उन्मादादिदोषान् अकथयित्वा दोषवतीं कन्यां वराय यः प्रयच्छति, तस्य राजा स्वयमादरेण षण्णवतिं पणान्दण्डं कुर्यात् । अनुशयप्रसंगेनैतत्कन्यागतमुच्यते ॥ १२४ ॥

अकन्येति तु यः कन्यां ब्रूयाद् द्वेषेण मानवः ।
स शतं प्राप्नुयाद्दण्डं तस्या दोषमदर्शयन् ॥ २२५ ॥

जो मनुष्य द्वेषसे कन्याको 'यह कन्या नहीं है' अर्थात् क्षतयोनि हो गयी है ऐसा कहे, (और पूछनेपर) वह उस कन्या का दोष नहीं प्रमाणित करे तब उसको राजा सौ पण (८।१३६) से दण्डित करे ॥ २२५ ॥

नेयं कन्या, क्षतयोनिरियमिति यो मनुष्यो द्वेषेण ब्रूयात्तस्या उक्तदोषमविभावयन्पणशतं राजा दण्डं प्रकल्पयेत् ॥ २२५ ॥

युक्तश्चास्याकन्येति वादिनो दण्डः । यस्मात्—

पाणिग्रहणिका मन्त्राः कन्यास्वेव प्रतिष्ठिताः ।
नाकन्यासु क्वचिन्नॄणां लुप्तधर्मक्रिया हि ताः ॥ २२६ ॥

विवाह-सम्बन्धी मन्त्र कन्याओंके ही विषयमें नियत हैं, अकन्याओंके (क्षतयोनि होनेसे दूषित कन्याओं) के विषयमें कहीं (किसी शास्त्रोंमें) भी नहीं; क्योंकि वे (दूषित कन्याएँ) धर्मकार्यसे हीन हैं ॥ २२६ ॥

"अर्यमणं नु देवं कन्या अग्निमयक्षत" इत्येवमादयो वैवाहिका मनुष्याणां मन्त्राः कन्याशब्दश्रवणात्कन्यास्वेव व्यवस्थिताः, नाकन्याविषये । क्वचिच्छास्त्रे धर्मविवाहसिद्धये व्यवस्थिता, असमवेतार्थत्वात् । अत एवाह—ताः क्षतयोनयो वैवाहिकमन्त्रैः संस्क्रियमाणा अपि यस्मादपगतधर्मविवाहादिशालिन्यो भवन्ति । नासौ धर्म्यो विवाह इत्यर्थः । न तु क्षतयोनेर्वैवाहिकमन्त्रहोमादिनिषेधकमिदम्, "या गर्भिणी संस्क्रियते" (म. स्मृ. ९-१७३) तथा "वोढुः कन्यासमुद्भवम्" (म. स्मृ. ९-१७२) इति क्षतयोनेरपि मनुनैव विवाहसंस्कारस्य वक्ष्यमाणत्वात् । देवलेन तु—

गान्धर्वेषु विवाहेषु पुनर्वैवाहिको विधिः ।
कर्तव्यश्च त्रिभिर्वर्णैः समयेनाग्निसाक्षिकैः ॥ इति ।

गान्धर्वेषु विवाहेषु होममन्त्रादिविधिरुक्तः । गान्धर्वश्चोपगमनपूर्वकोऽपि भवति । तस्य क्षत्रियविषये सुधर्मत्वं मनुनोक्तम् । अतः सामान्यविशेषन्यायादितरविषयोऽयं क्षतयोनिविवाहस्याधर्मत्वोपदेशः ॥ २२६ ॥

पाणिग्रहणिका मन्त्रा नियतं दारलक्षणम् ।
तेषां निष्ठा तु विज्ञेया विद्वद्भिः सप्तमे पदे ॥ २२७ ॥

विवाह-सम्बन्धी मन्त्र भार्यात्व (सहधर्मिणीपन) में निश्चित रूपसे कारण हैं, उन (विवाह सम्बन्धी मन्त्रों) की सिद्धि विद्वानोंको सप्तपदी होनेपर जाननी चाहिये ॥ २२७ ॥

वैवाहिका मन्त्रा नियतं निश्चितं भार्यात्वे निमित्तम्, मन्त्रैर्यथाशास्त्रप्रयुक्तैर्भार्यात्वेन निष्पत्तेः । तेषां तु मन्त्राणां "सखा सप्तपदी भव" इति मन्त्रेण कल्पनया सप्तमे पदे दत्ते भार्यात्वनिष्पत्तेः शास्त्रज्ञैर्निष्पत्तिर्विज्ञेया । एवं च सप्तपदीदानात्प्राग्भार्यात्वानिष्पत्तेः सत्यनुशये जह्यालोर्ध्वम् ॥ २२७ ॥

यस्मिन्यस्मिन्कृते कार्ये यस्येहानुशयो भवेत् ।
तमनेन विधानेन धर्म्ये पथि निवेशयेत् ॥ २२८ ॥

जिस जिस कार्यके करनेके बाद मनुष्यको पश्चात्ताप हो, उस उस कार्यमें इसी प्रकार (दश दिनोंके भीतर—८।२२२) धर्मयुक्त मार्गमें राजा उसे स्थापित करे ॥ २२८ ॥

न केवलं क्रय एव, अन्यत्रापि यस्मिन्यस्मिन्सम्बन्धित्वेनादौ कार्ये यस्य पश्चात्तापो जायते तमनेन दशाहविधिना धर्मादनपेते मार्गे नृपः स्थापयेत् ॥ २२८ ॥

पशुषु स्वामिनां चैव पालानां च व्यतिक्रमे ।
विवादं सम्प्रवक्ष्यामि यथावद्धर्मतत्त्वतः ॥ २२९ ॥

(भृगुमुनि ऋषियोंसे कहते हैं कि—) अब मैं पशुओंके मालिकों तथा रक्षको (रखवाली करनेवालों या चरवाहों) में मतभेद होनेपर धर्म-तत्त्वके अनुसार यथोचित व्यवहार (मतभेद दूर करने मार्ग) को कहूँगा ॥ २२९ ॥

गवादिपशुविषये स्वामिनां पालानां व्यतिक्रमे जाते विवादं सम्यग्धर्म्यं यथा तथा व्यवस्थया वक्ष्यामि ॥ २२९ ॥

दिवा वक्तव्यता पाले रात्रौ स्वामिनि तद्गृहे ।
योगक्षेमेऽन्यथा चेत्तु पालो वक्तव्यतामियात् ॥ २३० ॥

स्वामी द्वारा (रखवालोंको सौंपे गये पशुओंके योगक्षेमकी निन्दा रातमें स्वामीकी होती है, अन्यथा (स्वामीके घरमें पशु रखवालों द्वारा नहीं सौंपे गये हों अर्थात् रखवालोंके जिम्मे ही रातमें भी वे पशु हों तब) उनके योगक्षेमकी निन्दा रखवालोंकी ही होती है ॥ २३० ॥

दिवा पशूनां पालहस्तन्यस्तानां योगक्षेमविषये पालस्य गर्हणीयता । रात्रौ पुनः पालप्रत्यर्पितानां स्वामिगृहस्थितानां स्वामिनो दोषः । अन्यथा तु यदि रात्रावपि पालहस्तगता भवन्ति तत्र दोष उत्पन्ने पाल एव गर्हणीयतां प्राप्नोति ॥ २३० ॥

गोपः क्षीरभृतो यस्तु स दुह्याद्दशतो वराम् ।
गोस्वाम्यनुमते भृत्यः सा स्यात्पालेऽभृते भृतिः ॥ २३१ ॥

जो गोरक्षक गायोंके स्वामीसे वेतनके स्थानमें धन नहीं लेकर दूध लेता हो वह दश गायोंमें एक अच्छी गौ चुनकर वेतनके बदले उसीका दूध लिया करे ॥ २३१ ॥

यो गोपालाख्यो भृत्यः क्षीरेण न भक्तादिना स्वस्वाम्यनुज्ञया धर्षितो गोभ्यः श्रेष्ठमेकां गां भृत्यर्थं दुह्यात्सा भक्तादिरहिते गोपाले भृतिः स्यात् । एवं चैकगवीक्षीरदानेव दश गाः पालयेदित्युक्तम् ॥ २३१ ॥

नष्टं विनष्टं कृमिभिः श्वहतं विषमे मृतम् ।
हीनं पुरुषकारेण प्रदद्यात्पाल एव तु ॥ २३२ ॥

यदि कोई पशु, भूल जाय, कृमि आदिसे; कुत्तेके काटनेसे, ऊंचे-नीचे स्थान या मार्गमें गिरनेसे या फंसनेसे मर जाय, अथवा रखवालेकी (उपेक्षाजन्य) पुरुषार्थशून्यतासे मर या भाग जाय तो उस पशुका देनदार रखवाला ही होता है ॥ २३२ ॥

नष्टं दृष्टिपथातीतं, कृमिभिर्नाशितं, श्वभिः खादितं हतं, विवरादिपातमृतम् । प्रदर्शनं चैतत् । पालस्वन्धिरक्षकाख्यपुरुषव्यापाररहितं मृतं पलायितं गवादि, पशुपाल एव तु स्वामिने दद्यात् ॥ २३२ ॥

विघुष्य तु हृतं चौरैर्न पालो दातुमर्हति ।
यदि देशे च काले च स्वामिनः स्वस्य शंसति ॥ २३३ ॥

यदि घोषणाकर पशुकी चोरी होनेके स्थानके पासमें रहनेपर रखवाला स्वामीको उसकी चोरी होनेकी उसी समय सूचना दे दे (अथवा-ओरसे चिल्लाकर स्वामीको सूचित कर दे), तब वह उस चुराये गये पशुका देनदार नहीं होता है ॥ २३३ ॥

चौरैः पुनः पटहादि विघुष्य हृतं पालो दातुं नार्हति । विघुष्येति चौराणां बहुत्वं प्रबलत्वकथनपरम् । सन्निहिते देशे हरणकालानन्तरमेवात्मीयस्वामिनः कथयति ॥ २३३ ॥

कर्णौ चर्म च बालांश्च बस्तिं स्नायुं च रोचनाम् ।
पशुषु स्वामिनां दद्यान्मृतेष्वङ्कानि दर्शयेत् ॥ २३४ ॥

पशुओं (या एक पशु) के स्वयं मरनेपर रखवाला उस (पशु) के कान, चमड़ा बाल (पूंछके बाल), चर्बी, गोरोचन और अन्य चिह्न (खुर, सींग आदि) लाकर गो-स्वामीको दिखलावे ॥ २३४ ॥

स्वयं मृतेषु पशुषु कर्णचर्मलाङ्गूलप्रवालान्नाभेरधोभागस्नायुरोचनाः स्वामिनां दद्यात् । अन्यानि च चिह्नानि शृङ्गखुरादीनि दर्शयेत् ॥ २३४ ॥

अजाविके तु संरुद्धे वृकैः पाले त्वनायति ।
यां प्रसह्य वृको हन्यात्पाले तत्किल्बिषं भवेत् ॥ २३५ ॥

बकरी या भेड़ को भेंड़िया द्वारा रोके जानेपर यदि रखवाला बचानेके लिए नहीं आवे और उस बकरी या भेंड़को भेंड़िया ले जाय बलात्कार पूर्वक तो उसका दोषी रखवाला होता है ॥ २३५ ॥

अजाश्चाविकाश्चाजाविकं "गवाश्वप्रभृतीनि च" (पा. सू. २।४।११) इति द्वन्द्वैकवद्भावः। तस्मिन्नजाविके वृकैः परिवृते सति पालेऽनागच्छति यामजामेडकां वा वने वृको हन्यात्स पालस्य दोषः स्यात् ॥ २३५ ॥

तासां चेदवरुद्धानां चरन्तीनां मिथो वने ।
यामुत्प्लुत्य वृको हन्यान्न पालस्तत्र किल्बिषी ॥ २३६ ॥

रखवालेके द्वारा घेरनेपर वनमें झुण्ड बनाकर चरती हुई बकरी या भेंड़को यदि छलांग मारता हुआ (या चुपचाप अर्थात् धीरेसे एकाएक) आकर भेड़िया मार डाले (या ले जाय) तो उसका दोषी चरवाहा नहीं होता है ॥ २३६ ॥

तासामजाविकानां पालेन नियमितानां संघीभूय वनेचरन्तीनां यत्नाद्यदि कश्चित्कुतश्चिदुत्प्लुत्यालक्षितो यां काञ्चिद्धन्यान्न पालस्तत्र दोषभाक् ॥ २३६ ॥

धनुःशतं परीहारो ग्रामस्य स्यात्समन्ततः।
शम्यापातस्त्रयो वाऽपि त्रिगुणो नगरस्य तु ॥ २३७ ॥

ग्रामके चारों तरफ १०० धनुष अर्थात् ४०० हाथ तक तीनबार छड़ी फेंकनेसे जितनी दूर तक और नगरके चारों तरफ ग्रामसे तिगुनी भूमि पशुओंके घूमने फिरनेके लिए छोड़नी चाहिये (उतनी दूरीतक कोई पौधा या फसल नहीं बोनी चाहिये) ॥ २३७ ॥

चतुर्हस्तो धनुः। शम्या यष्टिस्तस्याः पातः प्रक्षेपो ग्रामसमीपे सर्वासु दिक्षु चत्वारि हस्तशतानि, त्रीन्वा यष्टिप्रक्षेपान्यावत्पशुप्रचारार्थं सस्यवपनादिसंरोधपरिहारः कार्यः। नगरसमीपे पुनरयं त्रिगुणः कर्तव्यः ॥ २३७ ॥

तत्रापरिवृतं धान्यं विहिंस्युः पशवो यदि।
न तत्र प्रणयेद्दण्डं नृपतिः पशुरक्षिणाम् ॥ २३८ ॥

उतनी (८।२३७) भूमिके भीतर कांटे आदिका घेरा बनाकर बोये गये धान्य आदिको यदि कोई पशु नष्ट कर दे तो राजा पशु के रखवालेको दण्डित न करे ॥ २३८ ॥

तस्मिन्परिहारस्थाने यदि केनचिददत्तावृतिकं धान्यमुप्यते, तच्चेत्पशवो भक्षेयुः, तत्र पशुपालानां नृपो दण्डं न कुर्यात् ॥ २३८ ॥

वृतिं तत्र प्रकुर्वीत यामुष्ट्रो न विलोकयेत्।
छिद्रं च वारयेत्सर्वं श्वसूकरमुखानुगम् ॥ २३९ ॥

उतनी (८।२३७) भूमिके भीतर धान्य आदि बोए गये खेतका घेरा यदि इतना ऊंचा हो कि बाहरसे ऊंट धान्यको नहीं देख सके तथा उस घेरेके छिद्रसे कुत्ते या सूअरका मुंह भीतर नहीं जा सके इस प्रकार खेतका स्वामी छिद्रोंको बन्द कर दे ॥ २३९ ॥

तत्र परिहारस्थाने क्षेत्रे वृतिं कण्टकादिमयीं तथाविधामुच्छ्रितां कुर्यात्। यामपरपार्श्वे उष्ट्रो न विलोकयेत्, तस्यां च यत्किंचिच्छिद्रं श्वसूकरमुखप्रवेशयोग्यं तत्सर्वमावृणुयात् ॥२३९॥

पथि क्षेत्रे परिवृते ग्रामान्तीयेऽथवा पुनः।
सपालः शतदण्डार्हो विपालान्वारयेत्पशून् ॥ २४० ॥

रास्ते या ग्राम वा नगरके पास उक्त (७।२३९) घेरेवाले खेतके धान्यादि फसल को पशु रखवालेके रोकनेसे किसीप्रकार घुसकर चरने लगे तो राजा उस रखवालेको सौ पण (८।१३६) से दण्डित करे तथा यदि रखनेवालेके नहीं रहनेपर उक्त खेतमें पशु चरने लगे तो खेतका स्वामी उसे भगा दे ॥ २४० ॥

वर्त्मसमीपग्रामसमीपवर्तिनि वा परिहारस्थे क्षेत्रे दत्तवृतौ सपालः पशुः पालानिवारितो द्वारादिना कथंचित्प्रविष्टो यदा भक्षयति तदा पणशतं दण्ड्यः। पशोश्च दण्डासम्भवात्पाल एव दण्ड्यः। विपालान्पुनर्भक्षणप्रवृत्तान्क्षेत्ररक्षको निवारयेत् ॥ २४० ॥

क्षेत्रेष्वन्येषु तु पशुः सपादं पणमर्हति।
सर्वत्र तु सदो देयः क्षेत्रिकस्येति धारणा ॥ २४१ ॥

रास्ता तथा ग्राम या नगरके दूर (८।२३७) प्रमाणके बाद खेतमें पशुके चरनेपर रखवालेको सवा पण (८।१३७) से दण्डित करना चाहिये तथा सम्पूर्ण (या अत्यधिक) खेतके पशुद्वारा चरे जानेपर (अपराधके अनुसार) रखवालेसे या पशुस्वामीसे पूरी क्षतिको खेतके स्वामीके लिये दिलवाना चाहिये ऐसा निश्चय है ॥ २४१ ॥

वर्त्मग्रामान्तव्यतिरिक्तेषु पशुर्भक्षयन्सपादं पणं दण्डमर्हति। अत्रापि पाल एव दण्ड्यः। सर्वत्र क्षेत्रे पशुभक्षितं फलं स्वामिने पालेन स्वामिना वा यथापराधं दातव्यमिति निश्चयः॥

अनिर्दशाहां गां सूतो वृषान्देवपशूंस्तथा।
सपालान्वा विपालान्वा न दण्ड्यान्मनुरब्रवीत्॥ २४२॥

दश दिनके भीतरकी ब्याई हुई गाय, (चक्रत्रिशूलसे चिह्नितकर वृषोत्सर्गमें छोड़ा गया) साड़, और (काली, शिव या विष्णु आदि) देवताओंके उद्देश्यसे छोड़ा गया पशु रखवालेके साथ हो या बिना रखवालेके हों और खेतको चर जांय तो रखवाला दण्डनीय नहीं होता है ऐसा मनु भगवान्ने कहा है॥ २४२॥

प्रसूतां गामनिर्गतदशाहां, तथा च चक्रशूलाङ्कितोत्सृष्टवृषाह्वरिहरादिप्रतिमासम्बन्धिपशून्पालसहितान्पालरहितान्वा सस्यभक्षणप्रवृत्तान्मनुरदण्ड्यानाह। उत्सृष्टवृषाणामपि गर्भार्थं गोकुले पालैर्धारणात्सपालत्वसम्भवः॥ २४२॥

क्षेत्रियस्यात्यये दण्डो भागाद्दशगुणो भवेत्।
ततोऽर्धदण्डो भृत्यानामज्ञानात्क्षेत्रिकस्य तु॥ २४३॥

किसानके दोषसे उसीके पशुद्वारा खेत चरे जानेके कारण अथवा असमयमें बोनेके कारण जितने राजदेय भाग (राजाको कररूपमें देने योग्य अन्न) की हानि हो, उसका दशगुना दण्ड उस किसानको होता है तथा यदि किसानकी अज्ञानकारीमें नौकरोंके दोषसे उक्त प्रकारकी हानि हो तो उस हानिका पांचगुना दण्ड उस किसानको होता है॥ २४३॥

क्षेत्रकर्षकस्यात्मपशुसस्यभक्षणेऽयथाकालं वपनादौ वाऽपराधे सति यावतो राजभागस्य तेन हानिः कृता ततो दशगुणदण्डः स्यात्। क्षेत्रिकाविदिते भृत्यानामुक्तापराधे क्षेत्रिकस्यैव दशगुणार्धदण्डः। क्षेत्रसस्यप्रसङ्गाच्चेदमुक्तम्॥ २४३॥

एतद्विधानमातिष्ठेद्धार्मिकः पृथिवीपतिः।
स्वामिनां च पशूनां च पालानां च व्यतिक्रमे॥ २४४॥

धर्मात्मा राजा पशुओंके स्वामी तथा रखवालोंमें पशु-रक्षा नहीं होनेके अपराध तथा खेत आदि चरनेके व्यतिक्रम होनेपर उस नियम (८।२३०-२४३) को लागू करे॥ २४४॥

स्वामिनां पालानां चारत्क्षणादपराधे पशूनां च सस्यभक्षणरूपे व्यतिक्रमे धर्मप्रधानो भूपतिरेतत्पूर्वोक्तं कर्तव्यमनुतिष्ठेत॥ २४४॥

सीमां प्रति समुत्पन्ने विवादे ग्रामयोर्द्वयोः।
ज्येष्ठे मासि नयेत्सीमां सुप्रकाशेषु सेतुषु॥ २४५॥

(राजा) दो गांवोंमें सीमाका विवाद होनेपर ज्येष्ठ मासमें सीमाके चिह्नोंके स्पष्ट हो जानेपर उसका निर्णय करे॥ २४५॥

द्वयोर्ग्रामयोर्मर्यादां प्रति विप्रतिपत्तावुत्पन्नायां ज्येष्ठे मासि ग्रीष्मरवितापसंशुष्कतृणत्वात्प्रकटीभूतेषु सीमालिङ्गेषु राजा सीमां निश्चिनुयात्॥ २४५॥

सीमावृक्षांश्च कुर्वीत न्यग्रोधाश्वत्थकिंशुकान्।
शाल्मलीन्सालतालांश्च क्षीरिणश्चैव पादपान्॥ २४६॥

(राजा) सीमापर बड़, पीपल, पलाश (ढाक), सेमल, साल, ताड़ और दूध वाले (गूलर आदि) पेड़ोंको (सीमाके चिह्नको स्थिर बने रहनेके लिये) लगवावे॥ २४६॥

न्यग्रोधादीन्वृक्षान्क्षीरिण उदुम्बरादींश्चिरस्थायित्वात्सीमालिङ्गभूतान्कुर्वीत ॥ २४६ ॥

गुल्मान्वेणूंश्च विविधाञ्छमीवल्लीस्थलानि च ।
शरान्कुब्जकगुल्मांश्च तथा सीमा न नश्यति ॥ २४७ ॥

(राजा) गुल्म, अनेक प्रकारके बांस, शमी, लता, ऊँचे-ऊँचे मिट्टीके टीले, मूंज, कुब्जके गुल्मोंको सीमापर करे (यथायोग्य लगावे या बनावे), वैसा करनेसे सीमा नष्ट नहीं होती है ॥ २४७ ॥

गुल्मान्, प्रकाण्डरहितान्वेणूंश्च, प्रचुरकण्टकत्वाल्पकण्टकत्वादिभेदेन नानाप्रकारान्सीमावृक्षान्, वल्लीर्लताः, स्थानानि कृत्रिमोन्नतभूभागान्, शरान्, कुब्जकगुल्मांश्च प्रचुरोपभोगत्वेनादरार्थं पृथङ् निर्दिष्टान्सीमालिङ्गभूतान्कुर्यात्। एवं कृते सीमा न नश्यति ॥२४७॥

तडागान्युदपानानि वाप्यः प्रस्रवणानि च ।
सीमासन्धिषु कार्याणि देवतायतनानि च ॥ २४८ ॥

(राजा) तडाग, कुएँ, बावड़ी, झरने और देवोंके मन्दिरोंको दो सीमाओंके सन्धि-स्थल बनवावे ॥ २४८ ॥

तडागकूपदीर्घिकाजलनिर्गममार्गदेवगृहाणि सीमारूपेषु ग्रामद्वयसन्धिस्थानेषु कर्तव्यानि। एतेषु सीमानिर्णयाय विख्याप्य कृतेषूदकाद्यर्थिजना अपि श्रुतिपरम्परया चिरकालेऽपि साक्षिणो भवन्ति ॥ २४८ ॥

उपच्छन्नानि चान्यानि सीमालिङ्गानि कारयेत् ।
सीमाज्ञाने नृणां वीक्ष्य नित्यं लोके विपर्ययम् ॥ २४९ ॥

संसारमें सीमाके विषयमें मनुष्योंका मतभेद सर्वदा देखकर (राजा) दूसरे प्रकारके (आगे कहे गये) गुप्त (नहीं दिखलायी पड़नेवाले) सीमाचिह्नोंको भी बनवावे ॥ २४९ ॥

सीमानिर्णये सर्वदाऽस्मिंल्लोके मनुष्याणां विभ्रममज्ञानं दृष्ट्वाऽभिहितव्यतिरिक्तानि गूढानि वक्ष्यमाणानि सीमाचिह्नानि कारयेत् ॥ २४९ ॥

अश्मनोऽस्थीनि गोवालांस्तुषान्भस्म कपालिकाः ।
करीषमिष्टकाङ्गारांश्छर्करा वालुकास्तथा ॥ २५० ॥
यानि चैवं प्रकाराणि कालाद्भूमिर्न भक्षयेत् ।
तानि सन्धिषु सीमायामप्रकाशानि कारयेत् ॥ २५१ ॥

पत्थर, हड्डियां, गौ (पशुओं) के बाल, भूसा, राख, खोपड़ियां, सूखा गोबर, ईंट, कोयला, कङ्कड़ और रेत—॥ २५० ॥

तथा इस प्रकारकी जिन वस्तुओंको पृथ्वी बहुत दिनों तक गलाकर अपनेमें न मिला ले, अर्थात् जो वस्तु पृथ्वीमें बहुत दिनों तक गड़े रहनेपर भी गलकर मिट्टी न बन जाय (जैसे उक्त वस्तुओंके अतिरिक्त– कपास अर्थात् रूई, काला अञ्जन इत्यादि), उन्हें सीमापर अप्रकट रूपमें स्थापित करे अर्थात् भूमिके नीचे गाड़ दे ॥ २५१ ॥

प्रस्तरास्थिगोवालतुषभस्मकर्पटिकाशुष्कगोमयपक्वेष्टकाङ्गारपाषाणकर्परसिकता अन्यान्यप्येवं प्रकाराणि कालाञ्जनकार्पासास्थिप्रभृतानि यानि चिरकालेनापि भूमिरात्मसान्न करोति, तानि ग्रामयोः सन्धिषु सीमायाम् ।

प्रक्षिप्य कुम्भेष्वेतानि सीमान्तेषु निधापयेत् ।

इति बृहस्पतिवचनात्स्थूलपाषाणव्यतिरिक्तानि कुम्भेषु कृत्वा प्रच्छन्नानि भूमौ निखाय धारयेत् ॥ २५०–२५१ ॥

एतैर्लिङ्गैर्नयेत्सीमां राजा विवदमानयोः ।
पूर्वभुक्त्या च सततमुदकस्यागमेन च ॥ २५२ ॥

राजा परस्परमें विवाद करते हुए दो ग्रामोंकी सीमाका निश्चय इन (८।२४५२५१) चिह्नोंसे, लोगोंके उपभोगसे और नदी नाला आदिके प्रवाहसे करे ॥ २५२ ॥

विवदमानयोर्ग्रामयोः प्रागुक्तैरेतैरुक्तचिह्नै राजा सीमामुन्नयेत् । वसतोः पुनरविच्छिन्नया भुक्त्या सीमानिर्णयो न तु त्रिपुरुषादिकतया, तस्य "आधिः सीमा" इति पर्युदस्तत्वात् । ग्रामद्वयसंधिस्थनद्यादिप्रवाहेण च पारावारग्रामयोः सीमां निश्चिनुयात् ॥ २५२ ॥

यदि संशय एव स्याल्लिङ्गानामपि दर्शने ।
साक्षिप्रत्यय एव स्यात्सीमावादविनिर्णयः ॥ २५३ ॥

यदि सीमाके (बाहरी ८।२४६–२४८) तथा भीतरी (८।२५०–२५१) ये चिह्नोंके देखने पर भी सन्देह ही बना रहे तो साक्षीका कहना ही सीमाके विवाद में निर्णय (प्रमाण) होता है ॥ २५३ ॥

यदि प्रच्छन्नप्रकाशलिङ्गदर्शनेऽपि प्रच्छन्नाङ्गारस्तुषादिकुम्भा अमी स्थानान्तरं नीत्वा निखाता 'नायं सीमातरुर्न्यग्रोधः' 'स नष्ट' इत्यादि समस्त एव यदि सन्देहः स्यात्तदा साक्षिप्रमाण एव सीमाविवादनिश्चयो भवेत् ॥ २५३ ॥

ग्रामीयककुलानां च समक्षं सीम्नि साक्षिणः ।
प्रष्टव्या सीमलिङ्गानि तयोश्चैव विवादिनोः ॥ २५४ ॥

(राजा) ग्रामवालों तथा सीमाके विषयमें विवाद करनेवाले वादियों एवं प्रतिवादियोंके सामने साक्षियोंसे सीमाके चिह्नोंको पूछे ॥ २५४ ॥

ग्रामकजनसमूहानां ग्रामद्वयस्थनियुक्तयोर्वादिप्रतिवादिनोश्च समक्षं सीमाविषये सीमालिङ्गसन्देहे लिङ्गानि साक्षिणः प्रष्टव्याः ॥ २५४ ॥

ते पृष्टास्तु यथा ब्रूयुः समस्ताः सीम्नि निश्चयम् ।
निबध्नीयात्तथा सीमां सर्वांस्तांश्चैव नामतः ॥ २५५ ॥

(राजाके) पूछने पर वे साक्षी सीमाके विषयमें जैसा निश्चय कहें (राजा) उस सीमा तथा उन गवाहोंके नामोंको लिख ले ॥ २५५ ॥

ते पृष्टाः साक्षिणः समस्ता न द्वैधेन सीमाविषये येन प्रकारेण निश्चयं ब्रूयुस्तेन प्रकारेणाविस्मरणार्थं पत्रे सीमां लिखेत् । तांश्च सर्वानेव साक्षिणो नामविभागतो लिखेत् ॥ २५५ ॥

शिरोभिस्ते गृहीत्वोर्वीं स्रग्विणो रक्तवाससः ।
सुकृतैः शापिताः स्वैः स्वैर्नयेयुस्ते समञ्जसम् ॥ २५६ ॥

लाल फूलोंकी माला तथा लाल कपड़ा पहने हुए वे साक्षी शिरपर मिट्टी (के ढेलों) को रखकर अपने–अपने पुण्योंकी शपथ (यदि मैं असत्य वचन इस सीमा निर्णयके विषयमें कहूँ तो मेरे आज तक उपार्जित सब पुण्य नष्ट हो जांय इस प्रकार शपथ) कर उस सीमाका यथाशक्ति निर्णय करें ॥ २५६ ॥

ते साक्षिण इति सामान्यश्रवणेऽपि "रक्तस्रग्वाससः सीमां नयेयुः" (या. स्मृ. २·१५२) इति याज्ञवल्क्यवचनाद्रक्तपुष्पमालाधारिणो लोहितवाससो मस्तके मृल्लोष्ठानि गृहीत्वा यदस्माकं सुकृतं तन्निष्फलं स्यादित्येवमात्मीयैः सुकृतैः शापिताः सन्तस्तां सीमां यथाशक्ति निर्णयेयुः ॥ २५६ ॥

यथोक्तेन नयन्तस्ते पूयन्ते सत्यसाक्षिणः ।
विपरीतं नयन्तस्तु दाप्याः स्युर्द्विशतं दमम् ॥ २५७ ॥

शास्त्रानुसार सत्य कहनेवाले वे साक्षी निर्दोष होते हैं तथा असत्य कहनेवालों पर (राजा) दो सौ पण (८।१३७) दण्ड करे ॥ २५७ ॥

ते सत्यप्रधानाः साक्षिणः शास्त्रोक्तेन विधानेन निर्णयस्था निष्पापा भवन्ति । अतथ्येन तु निश्चिन्वन्तः प्रत्येकं पणशतद्वयं दण्डं दाप्या भवेयुः ॥ २५७ ॥

साक्ष्यभावे तु चत्वारो ग्रामाः सामन्तवासिनः ।
सीमाविनिर्णयं कुर्युः प्रयता राजसन्निधौ ॥ २५८ ॥

सीमाके साक्षीके नहीं मिलनेपर समीपस्थ चार ग्रामोंके निवासी शुद्धचित्त होकर राजाके सामने सीमाका निर्णय करें ॥ २५८ ॥

ग्रामद्वयसम्बन्धिसीमाविवादसाक्ष्यभावे चतुर्दिशं समन्तभवाः सामन्तास्तद्वासिनश्चत्वारो ग्रामवासिनः साक्षिधर्मेण राजसमक्षं सीमानिर्णयं कुर्युः ॥ २५८ ॥

सामन्तानामभावे तु मौलानां सीम्नि साक्षिणाम् ।
इमानप्यनुयुञ्जीत पुरुषान्वनगोचरान् ॥ २५९ ॥

समीपस्थ चार ग्रामोंमें तथा ग्राम निर्माणके समयसे वंश-परम्परा द्वारा निवास करनेवालों के अभावमें (साक्षी करनेके लिए उपस्थित नहीं होनेपर) राजा इन (८।२६० में कथित) वनेचर (सर्वदा या प्रायः वनमें ही रहनेवाले) पुरुषोंसे भी पूछे ॥ २५९ ॥

साक्षिधर्मेण राजसमक्षमनुभवेन निर्णयमकुर्वतां ग्रामवासिनां ग्रामनिर्माणकालादारभ्य मौलानां पुरुषक्रमेण तद्ग्रामस्थानां सीमासाक्षिणामभावे इमान्वक्ष्यमाणान्सन्निहितवनचारिणः पृच्छेत् ॥ २५९ ॥

व्याधाञ्छाकुनिकान्गोपान्कैवर्तान्मूलखानकान् ।
व्यालग्राहानुञ्छवृत्तीनन्यांश्च वनचारिणः ॥ २६० ॥

व्याधा, बहेलिया (चिड़ियामार), गायों (या भैंस आदि पशुओं) का रखवाला, मल्लाह, जड़ खोदकर जीविका करनेवाला अर्थात् कन्द-मूल (या जड़ी बूटी बेचनेवाला सपेरा) शिल तथा उञ्छ (४।५) करनेवाला तथा दूसरे प्रकारके भी वनवासी, इनसे-राजा सीमाके विषयमें प्रश्न करे ॥ २६० ॥

लुब्धकान्, पक्षिवधजीविनः, गोपालान्, मत्स्यजीविनः, मूलोत्पाटनजीविनः, सर्पग्राहिणः, शिलोञ्छवृत्तीनन्यांश्च फलपुष्पेन्धनाद्यर्थं वनव्यवहारिणः पृच्छेत् । एते हि स्वप्रयोजनार्थं तेन ग्रामेण सर्वदा वनं गच्छेयुस्तद्ग्रामसीमाभिज्ञाः सम्भवन्ति ॥ २६० ॥

ते पृष्टास्तु यथा ब्रूयुः सीमासन्धिषु लक्षणम् ।
तत्तथा स्थापयेद्राजा धर्मेण ग्रामयोर्द्वयोः ॥ २६१ ॥

(राजाके) पूछने पर वे लोग दो ग्रामोंकी सन्धि (मिलनेका स्थान) पर जैसा चिह्न बतलावें, राजा उस सीमाको धर्मानुसार उसी प्रकार स्थापित करे ॥ २६१ ॥

ते व्याधादयः पृष्टाः सीमारूपेषु ग्रामसन्धिषु येन प्रकारेण चिह्नं ब्रूयुस्तत्तेनैव प्रकारेण राजा द्वयोर्ग्रामयोः सीमां व्यवस्थापयेत् ॥ २६१ ॥

क्षेत्रकूपतडागानामारामस्य गृहस्य च ।
सामन्तप्रत्ययो ज्ञेयः सीमासेतुविनिर्णयः ॥ २६२ ॥

एक ग्राममें ही खेत, कुंआ, तालाब, बगीचा तथा घरकी सीमाका विवाद उपस्थित होनेपर राजा उस ग्राममें रहनेवाले सब लोगोंके कहनेके अनुसार ही सीमाके चिह्न निश्चय करे ॥ २६२ ॥

एकग्रामेऽपि क्षेत्रकूपतडागोद्यानगृहाणां सीमासेतुविवादे समस्तदेशवासिसाक्षिप्रमाणक एव मर्यादा चिह्ननिश्चयो विज्ञेयो न व्याधादिप्रमाणकः ॥ २६२ ॥

सामन्ताश्चेन्मृषा ब्रूयुः सेतौ विवदतां नृणाम् ।
सर्वे पृथक्पृथग्दण्ड्या राज्ञा मध्यमसाहसम् ॥ २६३ ॥

दो ग्राम-वासियोंमें परस्पर सीमाविषयक विवाद उपस्थित होनेपर सामन्त (समीपस्थ ग्रामवासी) यदि असत्य कहें तो राजा उनमें-से प्रत्येकको मध्यम साहस (८।१३८) से दण्डित करे ॥ २६३ ॥

सीमाचिह्ननिमित्तं विवदमानानां मनुष्याणां यदि सामन्ता देशवासिनो मिथ्या ब्रूयुस्तदा ते सर्वे प्रत्येकं राज्ञा मध्यमसाहसं दण्डनीयाः । एवं चासामन्तरूपाणां पूर्वोक्तद्विशतो दमो ज्ञेयः ॥ २६३ ॥

गृहं तडागमारामं क्षेत्रं वा भीषया हरन् ।
शतानि पञ्च दण्ड्यः स्यादज्ञानाद् द्विशतो दमः ॥ २६४ ॥

यदि कोई भय दिखाकर घर, तडाग; बगीचा और खेत ले ले (स्वाधीन कर ले), तो राजा ५०० पणोंसे दण्डित करे तथा अज्ञानसे स्वाधीन करनेपर २०० पणों (८।१३६) से दण्डित करे ॥ २६४ ॥

गृहतडागोद्यानक्षेत्राणामन्यतमं मारणबन्धनादिभयकथनपूर्वमाक्रम्य हरणे पञ्च पणशतानि दण्डनीयः स्यात् । स्वस्वभ्रान्त्या हरतो द्विशतो दमः ॥ २६४ ॥

सीमायामविषह्यायां स्वयं राजैव धर्मवित् ।
प्रदिशेद्भूमिमेतेषामुपकारादिति स्थितिः ॥ २६५ ॥
[ध्वजिनी मत्सिनी चैव निधानी भयवर्जिता ।
राजशासननीता च सीमा पञ्चविधा स्मृताः ॥ १९ ॥]

चिह्नों (८।२४५-२५१) तथा साक्षियोंके अभावसे सीमाका निर्णय नहीं होने पर धर्मज्ञ राजा ही ग्रामवासियोंके उपकारका लक्ष्यकर स्वयं सीमाका निर्णय कर दे, ऐसी शास्त्रमर्यादा है ॥२६५॥

[ध्वजिनी, मत्सिनी, निधानी, भयवर्जिता और राजशासननीता—सीमाके ये पांच भेद हैं ॥ १९ ॥]

लिङ्गसाक्ष्याद्यभावे सीमायां परिच्छेत्तुमशक्यायां राजैव धर्मज्ञः पक्षपातरहितो ग्रामद्वयमध्यवर्तिनीं विवादविषयां भूमिं येषामेव ग्रामवासिनामुपकारातिशयो भवति, यद्व्यतिरेकेण च महाननिर्वाहस्तेषामेव दद्यादिति शास्त्रव्यवस्था ॥ २६५ ॥

एषोऽखिलेनाभिहितो धर्मः सीमाविनिर्णये ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि वाक्पारुष्यविनिर्णयम् ॥ २६६ ॥

(महर्षि भृगुजी ऋषियोंसे कहते हैं कि—) सीमाके निश्चय करनेसे सब धर्मों को मैंने कहा, अब कठोर वचनके निश्चयको कहूँगा ॥ २६६ ॥

एष सीमानिश्चयो धर्मो निःशेषेणोक्तः, अत ऊर्ध्वं वाक्पारुष्यं वक्ष्यामि । दण्डपारुष्याद्वाक्पारुष्यप्रवृत्तेः पूर्वमभिधानम् । अनुक्रमश्रुत्यां तु "पारुष्ये दण्डवाचिके" (म. स्मृ. ८–६) इति दण्डशब्दस्याल्पस्वरत्वात्पूर्वनिर्देशः ॥ २६६ ॥

शतं ब्राह्मणमाक्रुश्य क्षत्रियो दण्डमर्हति ।
वैश्योऽप्यर्धशतं द्वे वा शूद्रस्तु वधमर्हति ॥ २६७ ॥

ब्राह्मणसे ('तुम चोर हो' इत्यादि) कटु वचन कहनेवाला क्षत्रिय सौ पण, वैश्य डेढ़ सौ या दो सौ पण और शूद्र (ताड़न-मारण आदि) वधसे दण्डनीय होते हैं ॥ २६७ ॥

द्विजस्य चौरेत्याक्षेपरूपं परुषमुक्त्वा क्षत्रियः पणशतं दण्डमर्हति। एवं सार्धशतं द्वे वा शते लाघवगौरवापेक्षया वैश्यः। शूद्रोऽप्येवं ब्राह्मणाक्रोशे ताडनादिरूपं वधमर्हति ॥२६७॥

पञ्चाशद् ब्राह्मणो दण्ड्यः क्षत्रियस्याभिशंसने ।
वैश्ये स्यादर्धपञ्चाशच्छूद्रे द्वादशको दमः ॥ २६८ ॥

ब्राह्मण ('तुम चोर हो' इत्यादि) कटु वचन क्षत्रियसे कहे तो पचास पण, वैश्यसे कहे तो पच्चीस पण और शूद्रसे कहे तो बारह पणसे वह दण्डनीय होता है ॥ २६८ ॥

ब्राह्मणः क्षत्रियस्य रूपाक्षेपे कृते पञ्चाशत्पणान्दण्ड्यः । वैश्ये शूद्रे च यथोक्ताक्रोशे कृते पञ्चविंशतिर्द्वादश पणाः क्रमेण ब्राह्मणस्य दण्डः स्यात् ॥ २६८ ॥

समवर्णे द्विजातीनां द्वादशैव व्यतिक्रमे ।
वादेष्ववचनीयेषु तदेव द्विगुणं भवेत् ॥ २६९ ॥
[विप्रक्षत्रियवत्कार्यो दण्डो राजन्यवैश्ययोः ।
वैश्यक्षत्रिययोः शूद्रे विप्रे यः क्षत्रशूद्रयोः ॥ २० ॥
समुत्कर्षापकर्षास्तु विप्रदण्डस्य कल्पनाः ।
राजन्यवैश्यशूद्राणां धनवर्जमिति स्थितिः ॥ २१ ॥]

समान वर्णवालेसे ('तुम चोर हो' इत्यादि) कटु वचन कहनेवाला द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) बारह पणसे दण्डनीय होता है तथा निन्दनीय कटु वचन (मां-आदिकी गाली) कहनेपर उक्त दण्डों (८।२६७–२६८½) को दुगुने पणोंसे वह दण्डनीय होता है ॥ २६९ ॥

[क्षत्रिय तथा वैश्यमें ब्राह्मण तथा क्षत्रियके समान, शूद्रमें वैश्य क्षत्रियके समान तथा ब्राह्मणमें क्षत्रिय शूद्रके समान दण्ड करना चाहिये ॥ २० ॥

ब्राह्मणके लिये दण्ड देनेकी कल्पना ऊंचे या नीचे वर्णके अनुसार अधिक तथा कम दण्ड करना चाहिये । क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रोंको धनवर्जित दण्ड करना चाहिये ऐसी शास्त्रमर्यादा है ॥ २१ ॥]

द्विजातीनां समानजातिविषये यथोक्ताक्रोशे कृते द्वादशपणो दण्डः । अवचनीयेषु पुनराक्रोशवादेषु मातृभगिन्याद्यश्लीलरूपेषु तदेवेति नपुंसकनिर्देशात् "शतं ब्राह्मणमाक्रुश्य" (म. स्मृ. ८–२६७) इत्यादि यदुक्तं, तदेव द्विगुणं दण्डरूपं भवेत् ॥ २६९ ॥

एकजातिर्द्विजातींस्तु वाचा दारुणता क्षिपन्।
जिह्वायाः प्राप्नुयाच्छेदं जघन्यप्रभवो हि सः॥ २७०॥

द्विज (ब्राह्मण तथा क्षत्रिय) को दारुण वचनसे आक्षेप करनेवाले शूद्रको उसकी जीभ काटकर दण्डित करना चाहिये, क्योंकि वह नीचसे उत्पन्न है॥ २७०॥

शूद्रो द्विजातीन्पातकाभियोगिन्या वाचाक्रुश्य जिह्वाच्छेदं लभेत। यस्मादसौ पादाख्यान्निकृष्टाङ्गाज्जातः॥ २७०॥

नामजातिग्रहं त्वेषामभिद्रोहेण कुर्वतः।
निक्षेप्योऽयोमयः शङ्कुर्ज्वलन्नास्ये दशाङ्गुलः॥ २७१॥

इन (द्विजातियों—ब्राह्मणादि तीनों वर्णों) के नाम तथा जातिका उच्चारण कर ('रे यज्ञदत्त! तुम नीच ब्राह्मण हो'…) कटु वचन कहनेवाले शूद्रके मुखमें जलती हुई दश अङ्गुल लम्बी लोहेकी कील डालनी चाहिये॥ २७१॥

अभिद्रोह आक्रोशः। ब्राह्मणादीनां 'रे त्वं यज्ञदत्त ब्राह्मणापसद' इत्याक्रोशेन नामजात्यादिग्रहणं कुर्वतो लोहकीलोऽग्निना प्रदीप्तो दशाङ्गुलं मुखेषु क्षेप्तव्यः॥ २७१॥

धर्मोपदेशं दर्पेण विप्राणामस्य कुर्वतः।
तप्तमासेचयेत्तैलं वक्त्रे श्रोत्रे च पार्थिवः॥ २७२॥

राजा अभिमानपूर्वक ब्राह्मणोंके लिये धर्मोपदेश ('तुम्हें इस प्रकार या यह धर्म करना चाहिये'…) करनेवाले शूद्रके मुख तथा कानमें गर्म तेल डलवावे॥ २७२॥

कथंचिद्धर्मलेशमवगम्य 'अयं ते धर्मोऽनुष्ठेयः' इति ब्राह्मणस्याहंकारादुपदिशतोऽस्य शूद्रस्य मुखे कर्णयोश्च ज्वलत्तैलं राजा प्रक्षेपयेत्॥ २७२॥

श्रुतं देशं च जातिं च कर्म शारीरमेव च।
वितथेन ब्रुवन्दर्पाद्दाप्यः स्याद् द्विशतं दमम्॥ २७३॥

श्रुत ('तुमने यह नहीं सुना या पढ़ा'……), देश (तुम देशमें नहीं पैदा हुए हो'……), जाति (तुम्हारी यह जाति नहीं है'…), शरीर सम्बन्धी संस्कारादि कर्म (तुम्हारा शरीर संस्कार—यज्ञोपवीत आदि कर्म नहीं हुआ है'…) को अभिमानके कारण असत्य कहनेवाले समान वर्णके व्यक्तिको राजा दो सौ पणों (८।१३६) से दण्डित करे॥ २७३॥

समानजातिविषयमिदं दण्डलाघवात्, न तु शूद्रस्य द्विजात्याक्षेपविषयम्। 'न त्वयैतच्छ्रुतं, 'न भवान् तद्देशजातः', 'न तवेयं जातिः, 'न तव शरीरसंस्कारमुपनयनादिकमं कृतम्' अहङ्कारेण मिथ्या ब्रुवन्द्विशतं दण्डं दाप्यः स्यात्। वितथेनेति तृतीयाविधाने "प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्" इति तृतीया॥ २७३॥

काणं वाऽप्यथवा खञ्जमन्यं वाऽपि तथाविधम्।
तथ्येनापि ब्रुवन्दाप्यो दण्डं कार्षापणावरम्॥ २७४॥

किसीको काना, लंगड़ा या इसी प्रकार और कुछ (यथा—बहरा, अन्धा, छांगुर……) यथार्थमें होनेपर भी उसी दूषित नामका उच्चारणकर कहनेवाले को राजा कमसे कम एक पण (८।१३६) से दंडित करे॥ २७४॥

एकाक्षिविकलं पादविकलमन्यमपि वा तथाविधं हस्ताद्यङ्गविकलं सत्येनापि काणादिशब्देन ब्रुवन्नत्यन्ताल्पं तदा कार्षापणं दण्डं दाप्यः॥ २७४॥

मातरं पितरं जायां भ्रातरं तनयं गुरुम्।
आक्षारयञ्छतं दाप्यः पन्थानं चाददद् गुरोः॥ २७५॥

(राजा) माता, पिता, स्त्री, भाई, गुरुको पातकादिका दोष लगाकर निन्दा करते हुए तथा गुरुके लिए मार्ग नहीं देते (किनारे होकर मार्ग नहीं छोड़ते) हुए व्यक्तिसे सौ पण (८।१३६) दण्ड दिलवावे॥ २७५॥

"आचारितः क्षारितोऽभिशप्तः" (अ. को. ३-१-४३) इत्याभिधानिकाः। मात्रादीन्पातकादिनाऽभिशपन्, गुरोश्च पन्थानमत्यजन्दंड्यः। भार्यादीनां गुरुलघुपापाभिशापेन दण्डसाम्यं समाधेयम्। [1]मेधातिथिस्तु आक्षारणं भेदनमित्युक्त्वा मातृपुत्रपित्रादीनां परस्परभेदनकर्तुरयं दण्डविधिरिति व्याख्यातवान्॥ २७५॥

ब्राह्मणक्षत्रियाभ्यां तु दण्डः कार्यो विजानता।
ब्राह्मणे साहसः पूर्वः क्षत्रिये त्वेव मध्यमः॥ २७६॥

दंडशास्त्रज्ञ (राजा) ब्राह्मण तथा क्षत्रियके परस्परमें पातक-सम्बन्धी निन्दा करनेपर (क्षत्रिय को निन्दा करनेवाले) ब्राह्मणपर एक प्रथम साहस अर्थात् (८।१३८) अर्थात् ·०० पण दण्ड करे॥ २७६॥

ब्राह्मणक्षत्रियाभ्यां परस्परं पतनीयाक्रोशे कृते दण्डशास्त्रज्ञेन राज्ञा दण्डः कार्यः। दण्डमेव विशेषेणाह—ब्राह्मण इति। ब्राह्मणे क्षत्रियाक्रोशिनि प्रथमसाहसः कार्यः। ब्राह्मणाक्रोशिनि पुनः क्षत्रिये मध्यमसाहसः॥ २७६॥

विट्शूद्रयोरेवमेव स्वजातिं प्रति तत्त्वतः।
छेदवर्जं प्रणयनं दण्डस्येति विनिश्चयः॥ २७७॥
[पतितं पतितेत्युक्त्वा चौरं चौरेति वा पुनः।
वचनात्तुल्यदोषः स्यान्मिथ्या द्विर्दोषतां व्रजेत्॥ २२॥]

वैश्य तथा शूद्रके परस्पर अपनी जातिके प्रति पातक सम्बन्धी निन्दा करने पर जिह्वाच्छेद (जीभ काटना) छोड़कर इसी प्रकार (८।१३८) दण्ड देना चाहिये यह शास्त्रनिर्णय है॥ २७७॥

[वास्तविकमें पतितको पतित तथा चोरको चोर परस्परमें कहनेवाला समान दोषी और मिथ्या उक्त वचन कहनेवाला दुगुना दोषी होता है॥ २२॥]

वैश्यशूद्रयोरन्योन्यजातिं प्रति पतनीयाक्रोशे ब्राह्मणक्षत्रियवद्वैश्ये शूद्राक्रोशिनि प्रथमसाहसः। शूद्रे वैश्याक्रोशिनि मध्यमसाहस इत्येवंरूपं दण्डस्य प्रणयनं जिह्वाच्छेदरहितं यथावत्कर्तव्यमिति शास्त्रनिश्चयः। एवं च "एकजातिर्द्विजातींस्तु" (म. स्मृ. ८-२७०) इति प्रागुक्तजिह्वाच्छेदो वैश्ये निवारितो ब्राह्मणक्षत्रियाक्रोशविषय एवावतिष्ठते॥ २७७॥

एष दण्डविधिः प्रोक्तो वाक्पारुष्यस्य तत्त्वतः।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि दण्डपारुष्यनिर्णयम्॥ २७८॥

(महर्षि भृगुजी ऋषियोंसे कहते हैं कि) यह (८। ६८–२७७) मैंने वाक्पारुष्य (कठोर वचन कहने) का यथार्थ दण्ड कहा है, इसके आगे दण्डपारुष्य (मारने-पीटने आदिकी कठोरता) का निर्णय कहूँगा॥ २७८॥

---

१. आक्षारणं भेदनम्, अनृतेन एषा ते माता न स्नेहवर्ती, द्वितीये पुत्रे अत्यन्ततृष्णावती कनकमयमङ्गुलीयकं रहसि तस्मै दत्तवती इत्येवमाद्युक्त्वा भेदयति।

एषोऽनन्तरोक्तो वाक्पारुष्यस्य यथावद्दण्डविधिरुक्तः, अनन्तरं ताडनादेर्दण्डपारुष्यस्य निर्णयं वक्ष्यामि ॥ २७८ ॥

येन केनचिदङ्गेन हिंस्याच्चेच्छ्रेष्ठमन्त्यजः।
छेत्तव्यं तत्तदेवास्य तन्मनोरनुशासनम् ॥ २७९ ॥

शूद्र जिस किसी अङ्ग (हाथ आदि) से द्विजातिको मारे (ताडित करे); राजा उसके उसी अङ्गको कटवा डाले, यह मनुका आदेश है ॥ २७९ ॥

अन्त्यजः शूद्रो येन केनचित्करचरणादिनाऽङ्गेन साक्षाद् दण्डादिनाऽव्यवहितेन प्रहरेत्तदेवाङ्गमस्य छेत्तव्यमित्ययं मनोरुपदेशः। मनुग्रहणमादरार्थम् ॥ २७९ ॥

अस्यैवोत्तरत्र प्रपञ्चः—

पाणिमुद्यम्य दण्डं वा पाणिच्छेदनमर्हति।
पादेन प्रहरन्कोपात्पादच्छेदनमर्हति ॥ २८० ॥

(राजा) हाथ उठाकर या डण्डे (लाठी या छड़ी आदि) से ब्राह्मणको मारनेवाले शूद्रका हाथ कटवाले तथा पैरसे ब्राह्मणको मारनेवाले शूद्रका पैर कटवाले ॥ २८० ॥

प्रहर्तुं पाणिं दण्डं वोद्यम्य पाणिच्छेदं लभते। पादेन कोपात्प्रहरणे पादच्छेदं प्राप्नोति ॥ २८० ॥

सहासनमभिप्रेप्सुरुत्कृष्टस्यापकृष्टजः।
कट्यां कृताङ्को निर्वास्यः स्फिचं वास्यावकर्तयेत् ॥ २८१ ॥

(राजा) ब्राह्मणके साथ एक आसनपर बैठे हुए शूद्रकी कमरको तपाये गये लोहेसे दगवाकर निकाल दे अथवा (जिससे मरने नहीं पावे इस प्रकार) उसके नितम्बको कटवा ले ॥ २८१ ॥

ब्राह्मणेन सहासनोपविष्टः शूद्रः कट्यां तप्तलोहकृतचिह्नोऽपदेशो निर्वासनीयः। स्फिचं वाऽस्य यथा न म्रियेत तथा छेदयेत् ॥ २८१ ॥

अवनिष्ठीवतो दर्पाद् द्वावोष्ठौ छेदयेन्नृपः।
अवमूत्रयतो मेढ्रमवशर्धयतो गुदम् ॥ २८२ ॥

शूद्र यदि ब्राह्मणका अपमान दर्पके कारण थूक फेककर करे तो राजा उस (शूद्र) के दोनों ओष्ठोंको, मूत्र फेंककर करे तो उसके लिङ्ग (मूत्रेन्द्रिय) को तथा अपशब्द (वाद) कर करे तो उसके गुदा को कटवा ले ॥ २८२ ॥

दर्पेण श्लेष्मणा ब्राह्मणानपमानयतः शूद्रस्य राजा द्वावोष्ठौ छेदयेत्। मूत्रप्रक्षेपेणापमानयतो मेढ्रम्। शर्धनं कुत्सितो गुदशब्दस्तेनावमानयतो दर्पान्न प्रमादाद् गुदं छेदयेत् ॥ २८२ ॥

केशेषु गृह्णतो हस्तौ छेदयेदविचारयन्।
पादयोर्दाढिकायां च ग्रीवायां वृषणेषु च ॥ २८३ ॥

शूद्र यदि अभिमानसे ब्राह्मणके बालोंको पकड़ ले तो राजा (उस ब्राह्मणको इससे कष्ट हुआ है अथवा नहीं, इसका) विना विचार किये उस शूद्रके दोनों हाथों को कटवा ले और अभिमानपूर्वक मारनेके लिए ब्राह्मणके दोनों पैरों, दाढ़ी, गर्दन तथा अण्डकोषको शूद्र यदि पकड़ ले तो उसे वही (दोनों हाथ कटवाने) का दण्ड करे ॥ २८३ ॥

दर्पादित्यनुवर्तते । अहंकारेण क्लेशेषु ब्राह्मणं गृह्णतः शूद्रस्य पीडाऽस्य जाता न जाता वेत्यविचारयन्हस्तौ छेदयेत् । पादयोः श्मश्रूणि च ग्रीवायां वृषणे च हिंसार्थं गृह्णतो हस्तद्वयच्छेदमेव कुर्यात् ॥ २८३ ॥

त्वग्भेदकः शतं दण्ड्यो लोहितस्य च दर्शकः ।
मांसभेत्ता तु षण्निष्कान्प्रवास्यस्त्वस्थिभेदकः ॥ २८४ ॥

समान जातिवाला यदि (मरने से) किसीका चमड़ा निकाल दे अर्थात् ऐसा मारे कि आहत व्यक्तिका चमड़ा छूट जाय या रक्त बहने लगे तो सौ पणका दण्ड, मांस निकल आवे तो ६ निष्क (८।१३७) का दण्ड और हड्डी टूट जाय तो राज्यके बाहर निर्वासनका दण्ड अपराधीको राजा दे ॥ २८४ ॥

चर्ममात्रभेदकृत्समानजातिर्न शूद्रो ब्राह्मणस्य दण्डलाघवं पणशतं दण्डनीयः । तथा रक्तोत्पादकोऽपि पणशतमेव दण्ड्यः । मांसभेदी षण्निष्कान्दाप्यः । अस्थिभेदकस्तु देशान्निर्वास्यः ॥ २८४ ॥

वनस्पतीनां सर्वेषामुपभोगं यथायथा ।
तथातथा दमः कार्यो हिंसायामिति धारणा ॥ २८५ ॥

वृक्ष आदि सब पौधोंके फल, फूल, पत्ता तथा लकड़ी आदिके द्वारा जैसा-जैसा उपभोग होता हो, उनको (काटने आदिसे) नष्ट करनेवाले अपराधीको वैसा-वैसा ही दण्ड (उत्तम साहस आदि) देना चाहिये ऐसा शास्त्र-निर्णय है ॥ ८५ ॥

वृक्षागुल्मादीनां सर्वेषां येन येन प्रकारेण उपभोगः फलपुष्पपत्रादिना उत्तममध्यमाल्पो भवति, तथातथा हिंसायामप्युत्तमसाहसादिर्दण्डो विधेय इति निश्चयः । तथा च विष्णुः— 'फलोपभोगद्रुमच्छेदी तूत्तमं साहसं, पुष्पोपभोगद्रुमच्छेदी मध्यमं वल्लीगुल्मलताच्छेदी कार्षापणशतं तृणच्छेद्येकं कार्षापणं च पण एव मनुनाऽप्युक्तो वेदितव्यः' ॥ १८५ ॥

मनुष्याणां पशूनां च दुःखाय प्रहृते सति ।
यथा यथा महद् दुःखं दण्डं कुर्यात्तथा तथा ॥ २८६ ॥

मनुष्यों या पशुओंको दुःखित करनेके लिए मारनेपर उन्हें (मनुष्यों या पशुओंको) जैसी-जैसी (कम या अधिक) पीडा हो; उस पीडाके अनुसार ही (कम या अधिक) दण्डसे उक्त पीडा पहुँचानेवाले व्यक्तिको दण्डित करना चाहिये ॥ २८६ ॥

मनुष्याणां पशूनां पीडोत्पादनार्थं प्रहारे कृते सति यथा यथा पीडाऽऽधिक्यं तथा तथा दण्डमप्यधिकं कुर्यात् । एवं च मर्मस्थानादौ त्वग्भेदनादिषु कृतेषु "त्वग्भेदकः शतं दण्ड्यः" (म. स्मृ. ८-२८४) इत्युक्तादप्यधिको दण्डो दुःखविशेषापेक्षया कर्तव्यः ॥ २८६ ॥

अङ्गावपीडनायां च व्रणशोणितयोस्तथा ।
समुत्थानव्ययं दाप्यः सर्वदण्डमथापि वा ॥ २८७ ॥

अङ्गके कटने, टूटने, घाव होने या रक्त बहनेपर रोगी (आहत व्यक्ति) के पूर्वावस्थामें आने अर्थात् स्वस्थ होनेतक (औषधादिमें) जो व्यय हो, उसे राजा अपराधीसे दिलवावे (और यदि अपराधी उक्त व्ययको नहीं देना चाहे तब राजा) उक्त (औषधादिके) व्ययको और पीडा पहुँचानेपर विहित शास्त्रोक्त दण्डको भी दिलवावे ॥ २८७ ॥

अङ्गानां करचरणादीनां व्रणशोणितयोश्च पीडनायां सत्यां समुत्थानव्ययं यावता कालेन पूर्वावस्थाप्राप्तिः, समुत्थानसम्बन्धो भवति तावत्कालेन पथ्यौषधादिना यावान्व्ययो भवति तमसौ दापनीयः। अथ तं व्ययं पीडोत्पादको न दातुमिच्छति, तदा यः समुत्थानव्ययो यश्च दण्डस्तमेनं दण्डत्वेन राज्ञा दाप्यः ॥ २८७ ॥

द्रव्याणि हिंस्याद्यो यस्य ज्ञानतोऽज्ञानतोऽपि वा।
स तस्योत्पादयेत्तुष्टिं राज्ञे दद्याच्च तत्समम् ॥ २८८ ॥

जो मनुष्य जिसकी किसी वस्तुको जान-बूझकर या अज्ञानावस्थामें नष्ट करे तो वह मनुष्य नष्ट हुई वस्तुका (वास्तविक) मूल्य उस वस्तुके स्वामीको तथा उतना ही मूल्य दण्ड-स्वरूप राजाको दे ॥ २८८ ॥

द्रव्याण्यनुक्तविशेषदण्डानि कटकानि ताम्रघटादीनि यो यस्य ज्ञानादज्ञानाद्वा नाशयेत्स तस्य द्रव्यान्तरादिना तुष्टिमुत्पादयेत्, राज्ञश्च विनाशितद्रव्यसमं दण्डं दद्यात् ॥ २८८ ॥

चर्मचार्मिकभाण्डेषु काष्ठलोष्टमयेषु च।
मूल्यात्पञ्चगुणो दण्डः पुष्पमूलफलेषु च ॥ २८९ ॥

चमड़ा, चमड़ेसे बने पदार्थ (रस्सी, घी-तेलका कुप्पा, जूता आदि), लकड़ी और मिट्टीके बर्तन, फूल, मूल (कन्द) तथा फलको नष्ट करनेवाला व्यक्ति नष्ट हुए पदार्थोंके मूल्यका पांचगुना धन राजाको दण्ड-स्वरूपमें दे (तथा उन पदार्थोंके स्वामीको उन नष्ट पदार्थोंका मूल्य देकर तुष्ट करे) ॥ २८९ ॥

चर्मणि चर्मघटितवरत्रादौ चर्मकाष्ठमृत्तिकानिर्मितेषु च भाण्डेषु पुष्पमूलफलेषु परस्य नाशितेषु मूल्यात्पञ्चगुणो दण्डो राज्ञो देयः। स्वामिनश्च तुष्टिरुत्पादनीयैव ॥ २८९ ॥

यानस्य चैव यातुश्च यानस्वामिन एव च।
दशातिवर्तनान्याहुः शेषे दण्डो विधीयते ॥ २९० ॥

रथ गाड़ी आदि सवारी, सारथि (उनका चालक गाड़ीवान, एक्कावान, कोचवान आदि और स्वामी, इनपर वक्ष्यमाण (८।२९१–२९२) दस अवस्थाओंमें किसीके मर जाने या किसी सामानके नष्ट हो जानेपर दण्ड नहीं किया जाता तथा इन (वक्ष्यमाण—८।२९१–२९२) दस अवस्थाओंके अतिरिक्त अवस्थामें दण्ड किया जाता है ॥ २९० ॥

यानस्य रथादेर्यातुः सारथ्यादेर्यानस्वामिनश्च यस्य तद्यानं तेषां छिन्नास्यादीनि दश निमित्तानि दण्डमतिक्रम्य वर्तन्ते। एषु निमित्तेषु सत्सु प्राणिमारणे द्रव्यनाशे च प्रकृते यानस्वामिनां दण्डो न भवतीति मन्वादय आहुः। एतद्व्यतिरिक्तनिमित्ते च पुनर्दण्डोऽनुष्ठीयते ॥ २९० ॥

छिन्ननास्ये भग्नयुगे तिर्यक्प्रतिमुखागते।
अक्षभङ्गे च यानस्य चक्रभङ्गे तथैव च ॥ २९१ ॥
छेदने चैव यन्त्राणां योक्त्ररश्म्योस्तथैव च।
आक्रन्दे चाप्यपैहीति न दण्डं मनुरब्रवीत् ॥ २९२ ॥

(१) बैलके नाथ टूट जानेपर, (२) जूआके टूट जानेपर, (३) भूमिके ऊंची-नीची होनेसे गाड़ीके तिर्छा (एकवाई) हो जानेपर, (४) उलट जानेपर, (५) धूरा टूट जानेपर, (६)

पहिया टूट जानेपर, (७) चमड़े (या रस्सी आदि) के जोड कट (या खुल जानेपर), (८) जोता (बैल आदि रथवाहक पशुके गलेमें लगी हुई रस्सी) के टूट जानेपर, (९) रास (सारथिके हाथद्वारा पकड़ी जानेवाली रस्सी) के टूट जानेपर और (१०) 'हट जावो, हट जावो' ऐसा सारथिके चिल्लानेपर (यदि कोई वस्तु नष्ट हो जाय या कोई मर जाय तो सारथि आदि) कोई दण्डनीय नहीं होता है ऐसा मनुने कहा है ॥ २९१-२९२ ॥

नासायां भवं नास्यम्, शरीरावयवत्वाद्यत्। सा चेह बलीवर्दनासासम्बन्धिनी रज्जुः। छिन्ननास्यरज्जौ बलीवर्दादिके, भग्नयुगाख्ये काष्ठे, रथादौ भूमिवैषम्यादिना तिरश्चीनं वा गते, तथा चक्रान्तःप्रविष्टाक्षकाष्ठभङ्गे, यन्त्राणां चर्मबन्धनानां छेदने, योक्त्रस्य पशुग्रीवा-रज्ज्वोः, रश्मेः प्रहरगस्य च छेदने, अपसरापसरेत्युच्चैःशब्दे सारथ्यादिना कृते च यानेन प्राणिहिंसाद्रव्यविनाशयोः कृतयोः सारथ्यादेर्दण्डो नास्तीति मनुराह ॥ २९१-२९२ ॥

यत्रापवर्तते युग्यं वैगुण्यात्प्राजकस्य तु।
तत्र स्वामी भवेद्दण्ड्यो हिंसायां द्विशतं दमम् ॥ २९३ ॥

जहां सारथिकी मूर्खतासे रथके इधर-उधर अर्थात् उल्टा सीधा होनेके कारण कोई मर जाय तो (मूर्ख सारथि रखनेके कारण उसके स्वामीपर) दो सौ पण (८।१३६) दण्ड होता है ॥ २९३ ॥

यत्र सारथेरकौशलाद्यानमन्यथा व्रजति तत्र हिंसायामशिक्षितसारथ्यनियोगस्वामी द्विशतं दण्डं दाप्यः स्यात् ॥ २९३ ॥

प्राजकश्चेद्भवेदाप्तः प्राजको दण्डमर्हति।
युग्यस्थाः प्राजकेऽनाप्ते सर्वे दण्ड्याः शतं शतम् ॥ २९४ ॥

यदि सारथि चतुर हो (और कोई वस्तु नष्ट हो जाय) तो वही (सारथि ही) दो सौ पणसे दण्डनीय होता है तथा यदि सारथि चतुर नहीं हो तो उस सारथिवाले सवारीपर चढ़नेके कारण) सौ-सौ पणसे दण्डनीय होते हैं (और स्वामीको दो सौ पणसे दन्डनीय होनेका विधान पहले (८। ९३) कह ही चुके हैं) ॥ २९४ ॥

यदि सारथिः कुशलः स्यात्तदा सारथिरेवोक्तद्विशतं दमं वक्ष्यमाणं च "मनुष्यमारणे" (म. स्मृ. ८-२९६) इत्यादिकं दण्डमर्हति न स्वामी। अकुशले तु तस्मिन्सारथिस्वामिव्य-तिरिक्ता अन्येऽपि यानारूढा अकुशलसारथिकयानारोहणात्सर्वे प्रत्येकं शतं शतं दण्ड्याः ॥ २९४ ॥

स चेत्तु पथि संरुद्धः पशुभिर्वा रथेन वा।
प्रमापयेत्प्राणभृतस्तत्र दण्डोऽविचारितः ॥ २९५ ॥

मार्गमें रथ पशुओं या रथादिसे रुका हुआ भी सारथि रथ (गाडी आदि) हांके और (उसी कारण) किसीकी मृत्यु हो जाय तो राजा विना विचार किये अर्थात् शीघ्र ही उस सारथिको दण्डित करे ॥ २९५ ॥

स चेत्प्राजकः संमुखागतैः प्रचुरगवादिभी रथान्तरेण वा संरुद्धः स्वरथगमनानवधाना-त्प्रत्यक्सर्पणाक्षमः सङ्कटेऽपि स्वरथतुरगान्प्रेरयन्, तुरगै रथेन वा रथावयवैर्वा प्राणिनो व्यापादयति तत्राविचारितो दण्डः कर्तव्य एव ॥ २९५ ॥

सकृदपराधे कीदृश इत्याह—

मनुष्यमारणे क्षिप्रं चौरवत्किल्बिषं भवेत्।
प्राणभृत्सु महत्स्वर्धं गोगजोष्ट्रहयादिषु ॥ २९६ ॥

(अब एक बार अपराध होनेपर दण्ड-विधान कहते हैं—) सारथिकी असावधानीसे मनुष्यके मर जानेपर उसे (सारथिको) चोरके समान पाप लगता है (अतः वह 'उत्तम साहस' अर्थात् १००० पणसे दण्डनीय होता है), तथा बड़े जीव ऊट, गाय, बैल, हाथी, घोड़ा आदिके मरनेपर आधा पाप लगता है (अतः वह 'मध्यम साहस' अर्थात् ५०० पणसे दण्डनीय होता है) ॥२९६॥

तत्र मनुष्यमारणे प्राजकस्यानवधानाद्यानेन कृतं शीघ्रमेव चौरदण्डोत्तमसाहसं भवेन्न तु मारणरूपः, "प्राणभृत्सु महत्स्वर्धम्" इति श्रवणात्। गोगजादिषु महत्सु प्राणिषु मारितेषु उत्तमसाहसस्यार्धं पञ्चशतपणो दण्डो भवेत् ॥ २९६ ॥

क्षुद्रकाणां पशूनां तु हिंसायां द्विशतो दमः।
पञ्चाशत्तु भवेद्दण्डः शुभेषु मृगपक्षिषु ॥ २९७ ॥

(स्वरूप अर्थात् कद या आयुमें) छोटे पशुओंके मर जानेपर दो सौ पण तथा शुभ मृग (रुरु, पृषत् आदि जातिका हरिण) और शुभ पक्षी (शुक, मैना, हंस, सारस आदि) के मर जानेपर पचास पणसे वह सारथि दण्डनीय होता है ॥ २९७ ॥

क्षुद्रकाणां पशूनां जातितो विशेषापदिष्टेतरेषां वनचरादीनां वयसा च किशोरादीनां मारणे द्विशतो दण्डः स्यात्। शुभेषु मृगेषु रुरुपृषतादिषु पक्षिषु च शुकहंससारसादिषु पक्षिषु हतेषु पञ्चाशद्दण्डो भवेत् ॥ २९७ ॥

गर्दभाजाविकानां तु दण्डः स्यात्पञ्चमाषिकः।
माषिकस्तु भवेद्दण्डः श्वसूकरनिपातने ॥ २९८ ॥

गधा, बकरी, भेंड़के मर जानेपर पांच मासा (चांदी) तथा कुत्ता और सूअरसे मर जानेपर एक मासा चांदीसे वह सारथि दण्डनीय होता है ॥ २९८ ॥

गर्दभच्छागैडकादीनां पुनर्मारणे पञ्चरूप्यमाषकपरिमाणो दण्डः स्यात्। न चात्र हैरण्यमाषग्रहणं, उत्तरोत्तरलघुदण्डाभिधानात्। श्वसूकरमारणेषु पुना रौप्यमाषपरिमाणो दण्डः स्यात् ॥ २९८ ॥

भार्या पुत्रश्च दासश्च प्रेष्यो भ्राता च सोदरः।
प्राप्तापराधास्ताड्याः स्यू रज्ज्वा वेणुदलेन वा ॥ २९९ ॥

स्त्री, पुत्र, दास, प्रेष्य (बाहर भेजा जानेवाला नौकर), सहोदर (छोटा) भाई यदि अपराध करे तो उसे रस्सीसे या पतली बांसकी छडीसे (शिक्षार्थ) ताडन करना चाहिये ॥ २९९ ॥

भार्यापुत्रादयः कृतापराधा रज्ज्वा वाऽतिलघुवेणुशलाकया ताड्या भवेयुः। शिक्षार्थं ताडनविधानादत्र दण्डापवादः ॥ २९९ ॥

पृष्ठतस्तु शरीरस्य नोत्तमाङ्गे कथञ्चन।
अतोऽन्यथा तु प्रहरन्प्राप्तः स्याच्चौरकिल्बिषम् ॥ ३०० ॥

(अभिभावक) उन्हें (रस्सी या पतली बांसकी छडी) से पीठपर मारे, मस्तकपर कदापि न मारे अन्यथा मस्तकपर मारता हुआ मनुष्य चोरके समान पाप (वाग्दण्ड, बन्धन—दण्डादिका) भागी होता है ॥ ३०० ॥

रज्ज्वादिभिरपि देहस्य पृष्ठदेशे ताडनीयाः, न तु शिरसि। उक्तव्यतिरेकेण प्रहरणे वाग्दण्डधनदण्डरूपं चौरदण्डं प्राप्नुयात् ॥ ३०० ॥

एषोऽखिलेनाभिहितो दण्डपारुष्यनिर्णयः।
स्तेनस्यातः प्रवक्ष्यामि विधिं दण्डविनिर्णये ॥ ३०१ ॥

(महर्षियोंसे भृगुजी कहते हैं कि—मैंने) यह (८।२७९-३००) दण्डकी कठोरताका निर्णय पूर्णतया कहा, अब इससे आगे (७।३०१-३४४) चोरके दण्डके निर्णयका विधान कहूँगा ॥३०१॥

एष दण्डपारुष्यनिर्णयो निःशेषेणोक्तः । अत ऊर्ध्वं चौरदण्डविनिर्णये विधानं वक्ष्यामि ॥ ३०१ ॥

परमं यत्नमातिष्ठेत्स्तेनानां निग्रहे नृपः ।
स्तेनानां निग्रहादस्य यशो राष्ट्रं च वर्धते ॥ ३०२ ॥

राजा चोरोंका निग्रह करनेके लिये पूर्णतया प्रयत्न करे, क्योंकि चोरोंके निग्रहसे इस (राजा) के यश तथा राज्यकी वृद्धि होती है ॥ ३०२ ॥

चौराणां नियमने राजा परममुत्कृष्टं यत्नं कुर्यात् । यस्माच्चौरनिग्रहाद्राज्ञः ख्यातिर्निरुपद्रवतया राष्ट्रं च वृद्धिमेति ॥ ३०२ ॥

अभयस्य हि यो दाता स पूज्यः सततं नृपः ।
सत्रं हि वर्धते तस्य सदैवाभयदक्षिणम् ॥ ३०३ ॥

जो राजा (प्रजाओंको चोरोंसे) अभय करनेवाला है वह अवश्यमेव पूज्य (प्रशंसनीय) है, क्योंकि उस (चोरोंसे अभय करनेवाला राजा) का अभयरूपी दक्षिणावाला यज्ञ सर्वदैव बढ़ता है॥

हिरवधारणे। चौराणां नियमनेन यो नृपतिः साधूनामभयं ददाति, स एव पूज्यः पूर्वेषां श्लाघ्यो भवति । सत्रं गवामयनादिक्रतुविशेषः, यद्यस्मात्सत्रमिव सत्रं तदभयदानाच्चौरनिग्रहरूपाभयदक्षिणं सर्वदैव तस्य वृद्धिमेति। अन्यद्धि नियतकालीनं नियतदक्षिणं च, एतत्सर्वकालीनमभयदक्षिणं चेति वाक्यं व्यतिरेकालङ्कारः ॥ ३०३ ॥

सर्वतो धर्मषड्भागो राज्ञो भवति रक्षतः ।
अधर्मादपि षड्भागो भवत्यस्य ह्यरक्षतः ॥ ३०४ ॥

प्रजाओंकी रक्षा करनेवाले राजाको सबके धर्मका छठा भाग प्राप्त होता है और (प्रजाकी) रक्षा नहीं करनेवाले राजाको अधर्मका भी छठा भाग प्राप्त होता है ॥ ३०४ ॥

प्रजा रक्षतो राज्ञः सर्वस्य भृतिदातुर्वणिगादेर्भृत्यदातुश्च श्रोत्रियादेः सकाशाद्धर्मषड्भागो भवति। अरक्षतश्चाधर्मादपि लोकेन कृतात्षड्भागः स्यात् । तस्माद्यत्नतः स्तेननिग्रहेण राजा रक्षणं कुर्यात् ।

न च भृतिक्रीतत्वाद्राज्ञो धर्मषड्भागो न युक्त इति वाच्यम्, भृत्या धर्मषड्भागेन च परिक्रीतस्य शास्त्रीयत्वात् ॥ ३०४ ॥

यदधीते यद्यजते यद्ददाति यदर्चति ।
तस्य षड्भागभाग्राजा सम्यग्भवति रक्षणात् ॥ ३०५ ॥

(राज्यमें रहनेवाली प्रजा) जो (वेदादि) पढ़ती है, यज्ञ करती है, दान देती है तथा (देवादिका) पूजन करता है; उस (पुण्य) का छठा भाग अच्छी तरह (प्रजाकी) रक्षा करनेवाले राजाको प्राप्त होता है ॥ ३०५ ॥

यः कश्चिज्जपयागदानदेवतार्चादीनि करोति, तस्य राजा पालनेन षड्भागं प्राप्नोति ॥

रक्षन्धर्मेण भूतानि राजा वध्यांश्च घातयन् ।
यजतेऽहरहर्यज्ञैः सहस्रशतदक्षिणैः ॥ ३०६ ॥

(निरापराध–स्थावर–जङ्गम सब) जीवोंकी धर्मपूर्वक रक्षा करता हुआ तथा वधयोग्य जीवोंका वध करता हुआ राजा प्रतिदिन सहस्रों–सैकड़ों दक्षिणावाले यज्ञोंको करता रहता है ॥ ३०६ ॥

भूतानि सर्वाणि स्थावरजङ्गमादीनि यथाशास्त्रं दण्डप्रणयनरूपेण धर्मेण रक्षन्, वध्यांश्च स्तेनादींस्ताडयन्, प्रत्यहं लक्षगोदक्षिणैर्यज्ञैर्यजते । तज्जन्यं पुण्यं प्राप्नोतीति भावः ॥

योऽरक्षन्बलिमादत्ते करं शुल्कं च पार्थिवः ।
प्रतिभागं च दण्डं च स सद्यो नरकं व्रजेत् ॥ ३०७ ॥

(प्रजाओंकी) रक्षा नहीं करता हुआ जो राजा बलि, कर, शुल्क (टैक्स) तथा प्रतिभाग दण्डको (प्रजाओंसे) लेता है; (मरकर) तत्काल नरकको जाता है ॥ ३०७ ॥

यो राजा रक्षामकुर्वन् बलिं धान्यादः षड्भागं, ग्रामवासिभ्यः प्रतिमासं वा भाद्रपौषनियमेन ग्राह्यं शुल्कं स्थलजलपथादिना वणिज्याकारितेभ्यो नियतस्थानेषु द्रव्यानुसारेण ग्राह्यं दानमिति प्रसिद्धं, प्रतिभागं फलकुसुमशाकतृणाद्युपायनं, प्रतिदिनग्राह्यं दण्डं व्यवहारादौ गृह्णाति, स मृतः सन्सद्य एव नरकं याति ॥ ३०७ ॥

अरक्षितारं राजानं बलिषड्भागहारिणम् ।
तमाहुः सर्वलोकस्य समग्रमलहारकम् ॥ ३०८ ॥

(निर्दोष प्रजाकी दुष्ट चौरादिसे) रक्षा नहीं करता हुआ तथा (प्रजासे) छठे भागके रूपमें बलि (राजग्राह्य भाग) को लेता हुआ राजा सब लोगोंके सब पापोंका हरण (ग्रहण) करनेवाला होता है, ऐसा मनु आदि ऋषि कहते हैं ॥ ३०८ ॥

यो राजा न रक्षति, अथ च धान्यादिषड्भागं बलिरूपं गृह्णाति, तं सर्वलोकानां सकलपापहारिणं मन्वादय आहुः ॥ ३०८ ॥

अनपेक्षितमर्यादं नास्तिकं विप्रलुम्पकम् ।
अरक्षितारमत्तारं नृपं विद्यादधोगतिम् ॥ ३०९ ॥

शास्त्रमर्यादाको नहीं माननेवाले, नास्तिक, (लोभादिके वशीभूत होकर) अनुचित दण्ड आदिके द्वारा धन लेनेवाले, रक्षा नहीं करनेवाले और (कर, बलि आदिका) भोग करनेवाले राजा की अधोगति जाननी चाहिये ॥ ३०९ ॥

लङ्घितशास्त्रमर्यादं, परलोकाभावशालिनम् , अनुचितदण्डादिना धनग्राहिणं, रक्षणरहितं, करबल्यादेर्भक्षितारं, राजानं नरकगामिनं जानीयात ॥ ३०९ ॥

अधार्मिकं त्रिभिर्न्यायैर्निगृह्णीयात्प्रयत्नतः ।
निरोधनेन बन्धेन विविधेन वधेन च ॥ ३१० ॥

(अत एव धार्मिक राजा अपराधके अनुसार) विरोध (हवालात या कैदखानेमें बन्द) करना, बन्धन (हथकड़ी, बेड़ी आदि डालना) और अनेक प्रकारके वध (ताडन–मारण आदि ; इन तीन उपायोंसे अधार्मिक (चोर आदि) का प्रयत्नपूर्वक निग्रह (उन्हें दण्डित) करे ॥ ३१० ॥

अधार्मिकं चौरादिकमपराधापेक्षया त्रिभिरुपायैः प्रयत्नेन नियमयेत् । तानाह—कारागारप्रवेशनेन, निगडादिबन्धनेन, करचरणच्छेदनादिनानाप्रकारहिंसनेन ॥ ३१० ॥

निग्रहेण हि पापानां साधूनां संग्रहेण च ।
द्विजातय इवेज्याभिः पूयन्ते सततं नृपाः ॥ ३११ ॥

पापियोंके निग्रह (दण्डितकर रोक थाम करने) तथा सज्जनोंपर अनुग्रह करनेसे राजा, यज्ञोंसे द्विजातियोंके समान सर्वदा पवित्र अर्थात् पुण्यवान् होता है ॥ ३११ ॥

पापशालिनां निग्रहेण, साधूनां संग्रहेण, द्विजातय इव महायज्ञादिभिः सर्वकालं नृपतयः पवित्रीभवन्ति। तस्मादधार्मिकान्निगृह्णीयात्साधूंश्चानुगृह्णीयात् ॥ ३११ ॥

क्षन्तव्यं प्रभुणा नित्यं क्षिपतां कार्यिणां नृणाम्।
वालवृद्धातुराणां च कुर्वता हितमात्मनः ॥ ३१२ ॥

स्व-हित-कर्ता राजा (दुःखित) वादी तथा प्रतिवादी (मुद्दई और मुद्दालह) के और बालक, बूढे और आर्त (रोगी आदि) के आक्षेपोंको सहन करे ॥ ३१२ ॥

कार्यार्थिप्रत्यर्थिनां दुःखेनाक्षेपोक्तिं रचयतां तथा बालवृद्धव्याधितानामाक्षिपतां वक्ष्यमाणमात्मीयमुपकारमिच्छता प्रभुणा क्षमणीयम् ॥ ३१२ ॥

यः क्षिप्तो मर्षयत्यार्तैस्तेन स्वर्गे महीयते।
यस्त्वैश्वर्यान्न क्षमते नरकं तेन गच्छति ॥ ३१३ ॥

दुःखितोंसे आक्षिप्त जो राजा (कठोर वचनोंको) सहता है, उससे वह स्वर्गमें पूजित होता (आदर पाता) है; किन्तु जो ऐश्वर्य (स्वामित्वके अभिमान) से (दुःखितोंके आक्षेपोंको) नहीं सहता है, वह उससे नरक जाता है ॥ ३१३ ॥

दुःखितैराक्षिप्तः सहते यस्तेन स्वर्गलोके पूजां लभते। प्रभुत्वदर्पान्न सहते यः स तेन नरकं गच्छति ॥ ३१३ ॥

राजा स्तेनेन गन्तव्यो मुक्तकेशेन धावता।
आचक्षाणेन यत्स्तेयमेवंकर्मास्मि शाधि माम् ॥ ३१४ ॥
स्कन्धेनादाय मुसलं लगुडं वाऽपि खादिरम्।
शक्तिं चोभयतस्तीक्ष्णामायसं दण्डमेव वा ॥ ३१५ ॥
[गृहीत्वा मुसलं राजा सकृद्धन्यात्तु तं स्वयम्।
वधेन शुध्यते स्तेनो ब्राह्मणस्तपसैव वा ॥ २२ ॥]

ब्राह्मणमें सुवर्णको चुरानेवाला चोर कन्धेपर मुसल, या खैर (कत्थे) की लाठी या दोनों ओर धारवाली बर्छी) या लोहेका डण्डा लिये तथा बालोंको खोले हुए दौड़कर राजाके पास जाकर 'मैंने ऐसा कार्य (ब्राह्मणके सुवर्णकी चोरी) किया है, मुझे दण्डित कीजिए' ऐसा राजासे कहे ॥ ३१४-३१५ ॥

[राजा मुसल (या चोरके कन्धेपर रखकर लाये गये लाठी आदि) से स्वयं उस चोरको एकबार मारे, उस मारनेसे चोर शुद्ध अर्थात निष्पाप हो जाता है और ब्राह्मण तपस्यासे ही शुद्ध होता है अर्थात् ब्राह्मणका सुवर्ण चुरानेवाले ब्राह्मणजातीय चोरको राजा उस मुसलादिसे मारे नहीं, किन्तु वह ब्राह्मणजातीय चोर तपस्या (प्रायश्चित्त) करके आत्मशुद्धि कर ले ॥ २२ ॥]

यद्यपि "सुवर्णस्तेयकृद्विप्रः" (म. स्मृ. ११-९९) इत्यादि प्रायश्चित्तप्रकरणे वक्ष्यति, तथापि सुवर्णस्तेयं प्रति राजदण्डरूपतामस्य दण्डप्रकरणे दर्शयितुं पाठः। ब्राह्मणसुवर्णस्य चौरेण मुक्तकेशेन वेगाद्गच्छता मया ब्राह्मणसुवर्णमपहृतमिति संख्यापयता मुसलाख्यमायुधं खादिरमयं वा दण्डमुभयतस्तीक्ष्णां शक्तिं लोहमयं वा दण्डं स्कन्धे गृहीत्वा राजसमीपं गन्तव्यं ततो ब्राह्मणसुवर्णहार्यहमतोऽनेन मुसलादिना मां व्यापादयेत्येवं राज्ञे वक्तव्यम् ॥ ३१४-३१५ ॥

शासनाद्वा विमोक्षाद्वा स्तेनः स्तेयाद्विमुच्यते।
अशासित्वा तु तं राजा स्तेनस्याप्नोति किल्बिषम् ॥ ३१६ ॥

(मुसल आदि—पूर्व श्लोकोक्त (८।३१५) शस्त्रोंमेंसे जिस शस्त्रको चोर लाया हो उससे) एक बार राजाके द्वारा मारनेके कारण प्राणत्याग करनेसे या मरे हुएके समान जीवित भी उस चोरको छोड़ देनेसे वह चोर चोरीके पापसे छूट जाता है; किन्तु (दया आदिके कारण) उसे दण्डित नहीं करनेवाला उस चोरके पापको प्राप्त करता है ॥ ३१६ ॥

सकृन्मुसलादिप्रहारेण प्राणपरित्याजनान्मृतककल्पस्य जीवतोऽपि परित्यागाद्वा स चौरस्तस्मात्पापात्प्रमुच्यते। अत एव याज्ञवल्क्यः—

मृतकल्पः प्रहारार्तो जीवन्नपि विशुद्ध्यति (या. स्मृ. ३–२४८) इति।

तं पुनस्तेनं करुणादिभिरहत्वा स्तेनस्य यत्पापं तद्राजा प्राप्नोति ॥ ३१६ ॥

अन्नादे भ्रूणहा मार्ष्टि पत्यौ भार्यापचारिणी।
गुरौ शिष्यश्च याज्यश्च स्तेनो राजनि किल्बिषम् ॥ ३१७ ॥

भ्रूणहत्या करनेवाला अपने (भ्रूणहत्या करनेवाले का) अन्न खानेवालेको, व्यभिचारिणी स्त्री (जारको सहने अर्थात् मना नहीं करनेवाले) पतिको, शिष्य (सन्ध्या-वन्दनादि नित्य कृत्यत्याग को सहनेवाले) गुरुको, याज्य अर्थात् यजमान (विधिका त्यागकर यज्ञादि कर्म करते रहनेपर भी उसे सहन करनेवाले अर्थात् विधिपूर्वक यज्ञादि कर्मको करनेके लिए प्रेरित नहीं करनेवाले) गुरुको और चोर (दण्डित नहीं करनेवाले) राजाको अपना अपना अपराध (पापजन्य दोष) दे देते हैं ॥ ३१७ ॥

ब्रह्महा यस्तत्सम्बन्धि योऽन्नमत्ति तस्मिन्नसौ स्वपापं संक्रामयति। भ्रूणहान्नभोक्तुः पापं भवतीत्येतदत्र विवक्षितं, न तु ब्रह्मघ्नः पापं नश्यति। तथा भार्या व्यभिचारिणी जारपतिं क्षममाणे भर्तरि पापं संश्लेषयति। शिष्यश्च संध्याग्निकार्याद्यकरणजन्यं पापं गुरौ सहमाने न्यस्यति। याज्यश्च विधिमतिक्रामन्याजके क्षममाणे पापं निक्षिपति। स्तेनश्च राजन्युपेक्षमाणे पापं समर्पयति। तस्माद्राज्ञा स्तेनो निग्रहीतव्यः ॥ ३१७ ॥

राजभिः कृतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः।
निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा ॥ ३१८ ॥

मनुष्य पाप करके राजासे दण्डित होकर पापरहित हो (अपने दूसरे पुण्य कर्मोंके प्रभावसे), पुण्यात्माओंके समान स्वर्गको जाते हैं ॥ ३१८ ॥

सुवर्णस्तेयादीनि पापानि कृत्वा पश्चाद्राजभिर्विहितदण्डा मनुष्याः सन्तः प्रतिबन्धकदुरिताभावात्पूर्वार्जितपुण्यवशेन साधवः सुकृतकारिण इव स्वर्गं गच्छन्ति। एवं प्रायश्चित्तवद्दण्डस्यापि पापक्षयहेतुत्वमुक्तम् ॥ ३१८ ॥

यस्तु रज्जुं घटं कूपाद्धरेद्भिद्याच्च यः प्रपाम्।
स दण्डं प्राप्नुयान्माषं तच्च तस्मिन्समाहरेत् ॥ ३१९ ॥

जो कुएँकी रस्सी या घड़ा चुराता है, अथवा प्याऊ (पौसरा) तोड़ता है; वह एक मासे सुवर्णसे दण्डनीय होता है और उसे उक्त चोरित रस्सी तथा घड़ेको लाना तथा प्याऊको बनवाना भी पड़ता है ॥ ३१९ ॥

कूपसमीपे रज्जुघटयोर्जलोद्धारणाय धृतयो रज्जुं घटं वा हरेत्। यो वा पानीयदानगृहं विदारयेत्स सौवर्णं माषं दण्डं प्राप्नुयात्,

यन्निर्दिष्टं तु सौवर्णं माषं तत्र प्रकल्पयेत्।

इति कात्यायनवचनात्। तच्च रज्ज्वादि तस्मिन्कूपे समर्पयेत्॥ ३१९॥

धान्यं दशभ्यः कुम्भेभ्यो हरतोऽभ्यधिकं वधः।
शेषेऽप्येकादशगुणं दाप्यस्तस्य च तद्धनम्॥ ३२०॥

राजा दस कुम्भसे अधिक धान्य (अन्न) चुरानेवालेको वध (चुरानेवाले तथा धान्यके स्वामीके गुणादिके अनुसार ताडन, अङ्गच्छेदन एवं वध तक) से दण्डित करे। शेष एक कुम्भसे अधिक दश कुम्भतक धान्य चुरानेके अपराध) में चुराये हुए धान्यके ग्यारहगुने धान्यसे चोरको दण्डित करे और धान्यके स्वामीका जितना धान्य चुराया गया हो उतना वापस दिलवा दे॥ ३२०॥

द्विपलशतं द्रोणो, विंशतिद्रोणश्च कुम्भः, दशसंख्येभ्यः कुम्भेभ्योऽधिकं धान्यं हरतो वधः। स च हर्तृस्वामिगुणवत्तापेक्षया ताडनाङ्गच्छेदमारणात्मको ज्ञेयः। शेषे पुनरेकस्मादारभ्य दश कुम्भपर्यन्तहरणे निह्नुतैकादशगुणं दण्डं दाप्यः। स्वामिनश्चापहृतं दाप्यः॥ ३२०॥

तथा धरिममेयानां शतादभ्यधिके वधः।
सुवर्णरजतादीनामुत्तमानां च वाससाम्॥ ३२१॥

और काँटेसे तौलने योग्य सोना, चांदि आदि तथा उत्तम वस्त्र सौ पलसे अधिक चुरानेवालेको राजा वध (देश, काल चोर, द्रव्यके स्वामीकी जाति तथा गुणकी अपेक्षासे ताडन, अङ्गच्छेदन और मारण तक) से दण्डित करे॥ ३२१॥

यथा धान्येन वध उक्तस्तथा तुलापरिच्छेद्यानां सुवर्णरजतादीनामुत्कृष्टानां च वाससां पट्टादीनां पलशताधिकेऽपहृते वधः कर्तव्य एव। विषयसमीकरणं चात्र देशकालापहर्तृद्रव्यस्वामिजातिगुणापेक्षया परिहरणीयम्। एवमुत्तरत्रापि ज्ञेयम्॥ ३२१॥

पञ्चाशतस्त्वभ्यधिके हस्तच्छेदनमिष्यते।
शेषे त्वेकादशगुणं मूल्याद्दण्डं प्रकल्पयेत्॥ ३२२॥

(सोना, चांदि आदि काँटेपर तौलकर बेची जानेवाली वस्तु तथा बहुमूल्य रेशमी वस्त्रादिको) ५० पल से अधिक १०० पल तक चुरानेवालेका हाथ काटनेका दण्ड (मनु आदिने) कहा है और शेष (एक पलसे पचास पलतक उक्त वस्तुओंको चुरानेके अपराध) में राजा चोरित वस्तुका ग्यारहगुना दण्ड निश्चित करे॥ ३२२॥

पूर्वोक्तानां पञ्चाशदूर्ध्वं शतं यावदपहारे कृते हस्तच्छेदनं मन्वादिभिरभिहितम्। शेषेत्वेकपलादारभ्य पञ्चाशत्पलपर्यन्तापहारे अपहृतगुणादेकादशगुणं दण्डं दाप्यः॥ ३२२॥

पुरुषाणां कुलीनानां नारीणां च विशेषतः।
मुख्यानां चैव रत्नानां हरणे वधमर्हति॥ ३२३॥

श्रेष्ठ कुलमें उत्पन्न पुरुष तथा विशेषतः स्त्रियों और मुख्य रत्न (माणिक्य, हीरा, वैडूर्य आदि) की चोरी करनेवाला वधके योग्य होता है अर्थात् राजाको उक्त चोरी करनेवालेका वध करना चाहिये॥ ३२३॥

महाकुलजातानां मनुष्याणां विशेषेण स्त्रीणां महाकुलप्रसूतानां श्रेष्ठानां च रत्नानां वज्रवैदूर्यादीनामपहारे वधमर्हति ॥ ३२२ ॥

महापशूनां हरणे शस्त्राणामौषधस्य च।
कालमासाद्य कार्यं च दण्डं राजा प्रकल्पयेत् ॥ ३२४ ॥

बड़े पशु (हाथी, घोड़ा, ऊँट, बैल, गाय, भैंस आदि) के, तलवार आदि शस्त्रोंके और औषधोंके चुरानेपर राजा समय (अकाल, दुर्भिक्ष आदि), कार्य (चोरितका भले-बुरे कार्योंमें उपयोग आदि) को देखकर चोरके लिए दण्डका निश्चय करे ॥ ३२४ ॥

महतां पशूनां हस्त्यश्वादिगोमहिष्यादीनां, तथा खड्गादीनां शस्त्राणां, कल्याणघृतादेश्चौषधस्य च दुर्भिक्षादिरूपं कालं कार्यं प्रयोजनं च सदसद्विनियोगरूपं निरूप्य राजा ताडनाङ्गच्छेदवधरूपं दण्डं प्रकल्पयेत् ॥ ३२४ ॥

गोषु ब्राह्मणसंस्थासु छुरिकायाश्च भेदने।
पशूनां हरणे चैव सद्यः कार्योऽर्धपादिकः ॥ ३२५ ॥

ब्राह्मणकी गाय चुरानेपर, वन्ध्या गायको लादनेके लिए नाथनेपर और यज्ञार्थ लाये गये बकरा आदि पशुको चुरानेपर राजा अपराधी (चोर) का आधा पैर तत्काल कटवा दे ॥ ३२५ ॥

ब्राह्मणसम्बन्धिनीनां गवामपहारे वन्ध्यायाश्च गोर्वाहनार्थं नासाच्छेदने पशूनां चाजैडकानां दण्डभूयस्त्वाद्यागार्थानां हरणेऽनन्तरमेव छिन्नार्धपादिकः कार्यः ॥ ३२५ ॥

सूत्रकार्पासकिण्वानां गोमयस्य गुडस्य च।
दध्नः क्षीरस्य तक्रस्य पानीयस्य तृणस्य च ॥ ३२६ ॥
वेणुवैदलभाण्डानां लवणानां तथैव च।
मृन्मयानां च हरणे मृदो भस्मन एव च ॥ ३२७ ॥
मत्स्यानां पक्षिणां चैव तैलस्य च घृतस्य च।
मांसस्य मधुनश्चैव यच्चान्यत्पशुसम्भवम् ॥ ३२८ ॥
अन्येषां चैवमादीनां मद्यानामोदनस्य च।
पक्वान्नानां च सर्वेषां तन्मूल्याद् द्विगुणो दमः ॥ ३२९ ॥

(ऊन आदिका) सूत, कपास (रूई), सुरा-बीज, गोबर, गुड़, दहीं, दूध छाछ, पेय (पीने योग्य शर्बत या जल आदि) पदार्थ, घास-

बांसके बने सर्वविध बर्तन (या पानी लानेके लिए महीन बांसके टुकड़ोंसे बने विशेष प्रकारके बर्तन), नमक, मिट्टीके बर्तन या खिलौने आदि, मिट्टी, राख-

मछली, पक्षी, तैल, घी, मांस, मधु (शहद) और पशुओंसे उत्पन्न होनेवाले पदार्थ (जैसे सींग, खुर, चमड़ा आदि; हाथीके दांत और हड्डी आदि)-

इसी प्रकारके दूसरे पदार्थ (मैनसिल, शिलाजीत आदि), मद्य बारह प्रकारके मादक पदार्थ या मदिरा), भात तथा सब प्रकारके पकवान (पूआ, पूडी, कचौडी, मिठाई आदि) के चुरानेपर चोरित वस्तुका दुगुना दण्ड चोरपर करना चाहिये ॥ ३२६-३२९ ॥

ऊर्णादिसूत्रकार्पासिकस्य च किण्वस्य सुराबीजद्रव्यस्य च, सूक्ष्मवेणुखण्डनिर्मितजलाहरणभाण्डादीनां, यदप्यन्यत्पशुसम्भवं च मृगचर्मखड्गश्रृङ्गादि, अन्येषामप्येवंविधानामसारप्रायाणां मनःशिलादीनां, मद्यानां द्वादशानां, पक्वान्नानामोदनव्यतिरिक्तानामप्य-

पूपमोदकादीनां च, कार्पासादिशब्दार्थानां प्रसिद्धानां चापहारे कृते मूल्याद् द्विगुणो दण्डः कार्यः ॥ ३२६-३२९ ॥

पुष्पेषु हरिते धान्ये गुल्मवल्लीनगेषु च ।
अन्येष्वपरिपूतेषु दण्डः स्यात्पञ्चकृष्णलः ॥ ३३० ॥

फूल, हरा धान्य, विना घेरे हुए गुल्म, वेलि, वृक्ष, विना साफ किये (नहीं ओसाये गये) धान्यके (बांधकर भरपूर बोझका) चुरानेवालेपर (देश, काल, पात्र आदिके अनुसार सोने या चाँदीका) पांच 'कृष्णल' (८।१३४) अर्थात् एक आनाभर दण्ड करना चाहिये ॥ ३३० ॥

पुष्पेषु, हरिते क्षेत्रस्थे धान्ये, गुल्मलतावृक्षेष्वपरिवृतेषु अनपावृतवृक्षेषु, वक्ष्यमाणश्लोके धान्यादिषु निर्देशात्परिपवनसम्भवाच्च धान्येषु, अन्येषु समर्थपुरुषभारहार्येषु हृतेषु देशकालाद्यपेक्षया सुवर्णस्य रौप्यस्य वा पञ्चकृष्णलमापपरिमाणो दण्डः स्यात् ॥३३०॥

परिपूतेषु धान्येषु शाकमूलफलेषु च ।
निरन्वये शतं दण्डः सान्वयेऽर्धशतं दमः ॥ ३३१ ॥

साफ किये हुए धान्य, शाक, मूल (कन्द या जड़), फलको चौर्य पदार्थके स्वामीके साथ किसी प्रकारका (एक गांवमें रहना आदि) सम्बन्ध नहीं रहनेपर चोरी करनेवाले व्यक्तिपर सौ पण तथा चौर्य वस्तुके स्वामीके साथ किसी प्रकारका सम्बन्ध रहनेपर चोरी करनेवाले व्यक्तिपर पचास पण (८।१३६) दण्ड करना चाहिये ॥ ३३१ ॥

निष्पुलाकीकृतेषु व्रीहिषु, धान्येषु, शाकादिषु चापहृतेषु अन्वयो द्रव्यस्वामिनां सम्बन्धः, येन सह कश्चिदपि सम्बन्धो नास्त्येकग्रामवासादिस्तत्र शतं दण्ड्यः । सान्वये तु पञ्चाशत्पणो देयः । खलस्थेषु च धान्येष्वयं दण्डस्तत्र हि परिपूयते । गृहेष्वेकादशगुणो दण्डः प्रागुक्तः ॥ ३३१ ॥

स्यात्साहसं त्वन्वयवत्प्रसभं कर्म यत्कृतम् ।
निरन्वयं भवेत्स्तेयं हृत्वाऽपव्ययते च यत् ॥ ३३२ ॥

वस्तु स्वामीके सामनेसे बलात्कारपूर्वक किसी वस्तुका अपहरण करना 'साहस' (डाका डालना) और वस्तुस्वामीके परोक्षमें (नहीं रहनेपर चुपकेसे) किसी वस्तुका अपहरण कर भाग जाना (या अपहरण करनेके बादमें अस्वीकार करना) 'स्तेय' (चोरी करना) कहलाता है ॥३३२॥

यद्धान्यापहारादिकं कर्म द्रव्यस्वामिसमक्षं बलाद् धृतं तत्साहसं स्यात्, सहो बलं तद्भवं साहसम् । अत इह स्तेयदण्डो न कार्यः । एतदर्थः स्तेयप्रकरणेऽस्य पाठः, यत्पुनः स्वामिपरोक्षापहृतं तत्स्तेयं भवेत् । यच्च हृत्वाऽपह्नुते तदपि स्तेयमेव ॥ ३३२ ॥

यस्त्वेतान्युपक्लृप्तानि द्रव्याणि स्तेनयेन्नरः ।
तमाद्यं दण्डयेद्राजा यश्चाग्निं चोरयेद् गृहात् ॥ ३३३ ॥

जो साफ-सुथरी करके उपभोगमें लाने योग्य बनायी गयी सूत्र आदि (८।३२६-३२९) वस्तुओंकी तथा अग्निहोत्रसे 'त्रेताग्नि' की चोरी करे, राजा उसको प्रथम साहस (८।१३८ अर्थात् २५० पण) से दण्डित करे ॥ ३३३ ॥

यः पुनरेतानि सूत्रादिद्रव्याण्युपभोगार्थं कृतसंस्काराणि मनुष्यश्चोरयेत्, यश्च त्रेताग्निं गृह्याग्निं वाऽग्निगृहाच्चोरयेत्तं राजा प्रथमं साहसं दण्डयेत्। अग्निस्वामिनश्चाधानापेक्षयो

दातव्यः। गोविन्दराजस्तु लौकिकाग्निमपि चोरयतो दण्ड इत्याह। तदयुक्तम्, अल्पापराधे गुरुदण्डस्यान्याय्यत्वात्॥ ३३३॥

येन येन यथाङ्गेन स्तेनो नृषु विचेष्टते।
तत्तदेव हरेत्तस्य प्रत्यादेशाय पार्थिवः॥ ३३४॥

चोर जिस-जिस अङ्ग (हाथ, पैर आदि) से जिस प्रकार मनुष्योंमें कुचेष्टा (चोरी करना, सेंध मारना आदि दुष्कर्म) करे; राजा फिर वैसा अवसर नहीं आवे' इसके लिए उस चोरके उस-उस अंगको कटवा ले॥ ३३४॥

येन येनाङ्गेन हस्तपादादिना येन प्रकारेण संधिच्छेदादिना चौरो मनुष्येषु विरुद्धं धनापहारादिकं चेष्टते, तस्य तदेवाङ्गं प्रसङ्गनिवारणाय राजा छेदयेत्। तत्र धनस्वाम्युत्कर्षापेक्षयाऽयमङ्गच्छेदः॥ ३३४॥

पिताऽऽचार्यः सुहृन्माता भार्या पुत्रः पुरोहितः।
नादण्ड्यो नाम राज्ञोऽस्ति यः स्वधर्मे न तिष्ठति॥ ३३५॥

पिता, आचार्य, मित्र, माता, स्त्री, पुत्र और पुरोहित, इनमें जो अपने धर्ममें तत्पर नहीं रहता, वह क्या राजाका दण्डनीय नहीं है? अर्थात् पूज्य या निकट सम्बन्धी होनेपर भी वह दण्डनीय ही है॥ ३३५॥

पित्राचार्यमित्रभ्रातृमातृपत्नीपुत्रपुरोहितानां मध्यात्स्वधर्मं यो नावतिष्ठते, स राज्ञोऽदण्डनीयो नास्ति? अपि तु दण्डनीय एव॥ ३३५॥

कार्षापणं भवेद्दण्ड्यो यत्रान्यः प्राकृतो जनः।
तत्र राजा भवेद्दण्ड्यः सहस्रमिति धारणा॥ ३३६॥

जिस अपराधमें साधारण मनुष्य एक पणसे दण्डनीय है, उसी अपराधमें राजा सहस्र पणसे दण्डनीय है, ऐसा शास्त्रका निर्णय है॥ ३३६॥

यत्रापराधे राजव्यतिरिक्तो जनः कार्षापणं दण्डनीयो भवेत्तस्मिन्नपराधे राजा पणसहस्रं दण्डनीय इति निश्चयः। स्वार्थदण्डं स्वप्सु प्रवेशयेद् ब्राह्मणेभ्यो वा दद्यात्, "ईशो दण्डस्य वरुणः" (म० स्मृ० ९-२४५) इति वक्ष्यमाणत्वात्॥ ३३६॥

अष्टापाद्यं तु शूद्रस्य स्तेये भवति किल्बिषम्।
षोडशैव तु वैश्यस्य द्वात्रिंशत्क्षत्रियस्य च॥ ३३७॥
ब्राह्मणस्य चतुःषष्टिः पूर्णं वाऽपि शतं भवेत्।
द्विगुणा वा चतुःषष्टिस्तद्दोषगुणविद्धि सः॥ ३३८॥

चोरीके गुण तथा दोषको जाननेवाले शूद्रके चोरी करनेपर चोरीके विषयमें शूद्रको अठगुना, वैश्यको सोलहगुना, क्षत्रियको बत्तीसगुना और ब्राह्मणको चौंसठगुना या सौगुना या एक सौ अठ्ठाइसगुना पाप होता है; क्योंकि वह उस (चोरी) के गुण और दोष का जानकर है। (अत एव अपराधानुसार उक्त शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण उत्तरोत्तर अधिक दण्डीय होते हैं॥३३७-३३८॥

'तद्दोषगुणविद्धि सः' इति सर्वत्र सम्बध्यते। यस्मिंस्तेये यो दण्ड उक्तः स स्तेयगुणदोषज्ञस्य शूद्रस्याष्टभिरापाद्यते, गुण्यत इत्यष्टगुणः कर्तव्यः। षोडशगुणो गुणदोषज्ञस्य वैश्यस्य, द्वात्रिंशद् गुणस्तथाविधक्षत्रियस्य, चतुःषष्टिगुणो गुणदोषविदुषो ब्राह्मणस्य, शतगुणो वाऽष्टाविंशत्यधिकशतगुणो वा गुणातिशयापेक्षया ब्राह्मणस्यैव॥ ३३७-३३८॥

वानस्पत्यं मूलफलं दार्वग्न्यर्थं तथैव च ।
तृणं च गोभ्यो ग्रासार्थमस्तेयं मनुरब्रवीत् ॥ ३३९ ॥

(बिना घेरी हुई) वनस्पतियोंके मूल तथा फल, अग्निहोत्रके लिए समिधा (हवनकाष्ठ) और गोग्रासके लिए घास ग्रहण करनेको मनुने चोरी नहीं कहा है ॥ ३३९ ॥

"वीरुद्वनस्पतीनां पुष्पाणि स्ववदाददीत फलानि चापरिवृतानां' इति गोतमवचनादपरिवृतवानस्पत्यादीनां मूलफलं, होमीयाग्न्यर्थं च दारु, गोग्रासार्थं च तृणं परकीयमस्तेयं मनुराह । तस्मान्न दण्डो नाप्यधर्मः ॥ ३३९ ॥

योऽदत्तादायिनो हस्ताल्लिप्सेत ब्राह्मणो धनम् ।
याजनाध्यापनेनापि यथा स्तेनस्तथैव सः ॥ ३४० ॥

जो ब्राह्मण नहीं दी गयी वस्तु (या धन) को चुरानेवाले चोरके हाथसे यज्ञ कराने या पढ़ाने की दक्षिणा भी ('यह दूसरेका है' ऐसा जानता हुआ) लेनेकी इच्छा करे तो जैसा चोर है वैसा वह ब्राह्मण भी है, (अत एव ऐसा ब्राह्मण भी चोरके समान दण्डनीय है) ॥ ३४० ॥

अदत्तादायिनश्चौरस्य हस्ताद्यो ब्राह्मणो याजनाध्यापनप्रतिग्रहैरपि परकीयधनं ज्ञात्वा लब्धुमिच्छेत, स चौरवच्चौरतुल्यो ज्ञेयः, अतः स इव दण्ड्यः ॥ ३४० ॥

द्विजोऽध्वगः क्षीणवृत्तिर्द्वाविक्षू द्वे च मूलके ।
आददानः परक्षेत्रान्न दण्डं दातुमर्हति ॥ ३४१ ॥

पाथेय (रास्तेके कलेवा) से रहित द्विज पथिक यदि दूसरेके खेतसे दो गन्ने (ऊख) या दो मूली ग्रहण कर ले तो वह दण्डनीय नहीं होता है ॥ ३४१ ॥

द्विजातिः, पथिकः, क्षीणपाथेयो, द्वाविक्षुदण्डौ द्वे वा मूलके परकीयक्षेत्रात् गृह्णन् दण्डदानयोग्यो न भवति ॥ ३४१ ॥

असंदितानां संदाता संदितानां च मोक्षकः ।
दासाश्वरथहर्ता च प्राप्तः स्याच्चोरकिल्बिषम् ॥ ३४२ ॥

बिना बंधे हुये दूसरेके पशु (घोड़ा, गाय, बैल, बछवा आदि) को बांधलेनेवाला, बांधे हुए दूसरोंके पशुओंको खोल देनेवाला तथा दास, घोड़ा तथा रथ (गाड़ी, तांगा, एक्का आदि सवारी को) चुरानेवाला (बड़े-छोटे अपराधके अनुसार अधिक या कम) चोरके समान (मारण, अङ्गच्छेदन, धनादि ग्रहण अर्थात् जुर्माना आदि) दण्डके द्वारा दण्डनीय होता है ॥ ३४२ ॥

अबद्धानामश्वादीनां परकीयानां यो दर्पेण बन्धयिता, बद्धानां मन्दुरादौ मोचयिता, यो दासाश्वरथापहारी स चौरदण्डं प्राप्नुयात् । स च गुरुलघ्वपराधानुसारेण मारणाङ्गच्छेदधनाद्यपहाररूपो बोद्धव्यः ॥ ३४२ ॥

अनेन विधिना राजा कुर्वाणः स्तेननिग्रहम् ।
यशोऽस्मिन्प्राप्नुयाल्लोके प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ॥ ३४३ ॥

इस विधि (३०१-३४२) से चोरको दण्डित करता हुआ राजा इस लोकमें ख्याति तथा मरकर परलोकमें अनुत्तम सुख पाता है ॥ ३४३ ॥

अनेनोक्तविधानेन राजा चौरनियमनं कुर्वाण इह लोके ख्यातिं, परलोके चोत्कृष्टसुखं प्राप्नुयात् ॥ ३४३ ॥

इदानीं साहसमाह—

ऐन्द्रं स्थानमभिप्रेप्सुर्यशश्चाक्षयमव्ययम् ।
नोपेक्षेत क्षणमपि राजा साहसिकं नरम् ॥ ३४४ ॥

ऐन्द्र पद (सबका आधिपत्यरूप सर्वश्रेष्ठ) अक्षय पद तथा अव्यय यशको चाहनेवाला राजा क्षणमात्र भी साहसिक (बलात्कारसे गृहदाह तथा धन-जनका अपहरण करनेवाले अर्थात् डाकू) व्यक्तिकी उपेक्षा न करे, (किन्तु तत्काल उन्हें दण्डित करे) ॥ ३४४ ॥

सर्वाधिपत्यलक्षणं पदं ख्यातिं चाविनाशिनीमनुपक्षयां चातिशयेन प्राप्तुमिच्छन्राजा बलेन गृहदाहधनग्रहणकारिणं मनुष्यं क्षणमपि नोपेक्षेत ॥ ३४४ ॥

वाग्दुष्टात्तस्कराच्चैव दण्डेनैव च हिंसतः ।
साहसस्य नरः कर्ता विज्ञेयः पापकृत्तमः ॥ ३४५ ॥

कटु वचन बोलनेवाला, चोर और डण्डे (या लाठी या शस्त्रादि) से मारपीट करनेवाला, इन तीनोंकी अपेक्षा साहस (बलात्कापूर्वक धन-जनका अपहरण) करनेवाला मनुष्य अधिक पापी होता है ॥ ३४५ ॥

वाक्पारुष्यकृताच्चोराच्च दण्डपारुष्यकारिणश्च मनुष्यात्साहसकृन्मनुष्योऽतिशयेन पापकारी बोद्धव्यः ॥ ३४५ ॥

साहसे वर्तमानं तु यो मर्षयति पार्थिवः ।
स विनाशं व्रजत्याशु विद्वेषं चाधिगच्छति ॥ ३४६ ॥

साहस (बलात्कारसे धन-जनापहरण आदि) कर्ममें तत्पर मनुष्यको जो राजा क्षमा करता है, वह शीघ्र ही नष्ट होता तथा प्रजाका विद्वेषपात्र भी बनता है ॥ ३४६ ॥

यो राजा साहसे वर्तमानं क्षमते, स पापकृतानुपेक्षणादधर्मबुद्ध्या विनश्यति । अपक्रियमाणराष्ट्रतया जनविद्वेषं च गच्छति ॥ ३४६ ॥

न मित्रकारणाद्राजा विपुलाद्वा धनागमात् ।
समुत्सृजेत्साहसिकान्सर्वभूतभयावहान् ॥ ३४७ ॥

राजा मित्रता या अधिक धन-प्राप्तिके कारणसे, सम्पूर्ण प्रजाओंको आतङ्कित करनेवाले साहसिक (डाकू) को भी न छोड़े अर्थात् उसे अवश्य दण्डित करे ॥ ३४७ ॥

मित्रवाक्येन बहुधनप्राप्त्या वा सर्वभूतभयजनकान्साहसिकान् राजा न त्यजेत् ॥

शस्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यं धर्मो यत्रोपरुध्यते ।
द्विजातीनां च वर्णानां विप्लवे कालकारिते ॥ ३४८ ॥
आत्मनश्च परित्राणे दक्षिणानां च सङ्गरे ।
स्त्रीविप्राभ्युपपत्तौ च घ्नन्धर्मेण न दुष्यति ॥ ३४९ ॥

साहसी (डाकू मनुष्योंके कारण द्विजों तथा ब्रह्मचर्य आदि आश्रमवासियोंके धर्मका अवरोध होनेमें समय-प्रभावसे राज्यके अराजक हो जानेके कारण युद्ध आदिकी सम्भावनामें, आत्मरक्षामें, दक्षिणा-द्रव्य (गौ आदि) के अपहरण सम्बन्धी युद्धमें तथा स्त्रियों और ब्राह्मणोंकी रक्षामें द्विजातियोंको शस्त्रग्रहण करना चाहिये; क्योंकि धर्मपूर्वक अपराधीको मारता हुआ मनुष्य पापी नहीं होता है ॥ ३४८-४९ ॥

ब्राह्मणादिभिस्त्रिभिर्वर्णैः खड्गाद्यायुधं ग्रहीतव्यम्। यस्मिन्काले वर्णानामाश्रमिणां च साहसकारादिभिर्धर्मः कर्तुं न दीयते। तथा त्रैवर्णिकानामराजकेषु राष्ट्रेषु परचक्रागमनादिकालजनिते सङ्करादौ प्राप्ते, तथाऽऽत्मरक्षार्थं, दक्षिणाधनगवाद्यपहारनिमित्ते च संग्रामे, स्त्रीब्राह्मणरक्षार्थं च धर्मयुद्धेनानन्यगतिकतया परान् हिंसन्न दोषभाग्भवति। परमारणेऽप्यत्र साहसदण्डो न कार्यः॥ ३४८॥ ३४९॥

गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्॥ ३५०॥
[अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः।
क्षेत्रदारहरश्चैव षडेते ह्याततायिनः॥ २२॥
उद्यतासिर्विषाग्निभ्यां शापोद्यतकरस्तथा।
आथर्वणेन हन्ता च पिशुनश्चापि राजनि॥ २४॥
भार्यारिक्थापहारी च रन्ध्रान्वेषणतत्परः।
एवमाद्यान्विजानीयात्सर्वानेवाततायिनः॥ २५॥]

गुरु, बालक, बूढ़ा अथवा बहुश्रुत ब्राह्मण भी आततायी होकर आता हो तो उसे बिना विचारे अर्थात् तत्काल मारना चाहिये॥ ३५०॥

[(घर-गल्ला आदिमें) आग लगानेवाला, विष देनेवाला, (निश्शस्त्रपर) शस्त्र उठानेवाला, धनापहरण करनेवाला, खेत तथा स्त्रीको चुरानेवाला; ये ६ 'आततायी' होते हैं॥ २३॥

(मारनेके लिए) तलवार उठाया हुआ, विष लिया हुआ, आग लिया हुआ, शाप देनेके लिए हाथ उठाया हुआ, अथर्व-विधि (मारणादि तान्त्रिक विधि) से मारनेवाला, राजाकी चुगली करनेवाला॥ २४॥

स्त्रीके धनका अपहरण करनेवाला, छिद्रान्वेषी (सर्वदा दूसरोंका दोष ही ढूंढनेमें लगा हुआ,) इत्यादि; इस प्रकारके सभी लोगोंको आततायी ही जानना चाहिये॥ २५॥]

गुरुबालवृद्धबहुश्रुतब्राह्मणानामन्यतमं वधोद्यतमागच्छन्तं विद्यावित्तादिभिरुत्कृष्टं पलायनादिभिरपि स्वनिस्तरणाशक्तौ निर्विचारं हन्यात्। अत एवोशनाः—"गृहीतशस्त्रमाततायिनं हत्वा न दोषः"। कात्यायनश्च भृगुशब्दोल्लेखेन मनूक्तश्लोकमेव व्यक्तं व्याख्यातवान्—

आततायिनि चोत्कृष्टे तपःस्वाध्यायजन्मनः।
वधस्तत्र तु नैव स्यात्पापं हीने वधो भृगुः॥

[1]मेधातिथिगोविन्दराजौ तु—

स्त्रीविप्राभ्युपपत्तौ च घ्नन्धर्मेण न दुष्यति। (म. स्मृ. ८-३४९)

---

१. आत्मपरित्राणार्थमविचारेण योद्धव्यम्। तदनुदर्शयति–आतोनाय्युद्यत यः शरीरधनदारपुत्रनाशे। सर्वप्रकारमुद्यततममविचारयन् हन्यात्। गुर्वादिग्रहणमर्थवादः-एतेऽपि हन्तव्याः किमुतान्य इति। एतेषां त्वाततायित्वेऽपि वधो नास्ति। आचार्यं च प्रवक्तारमित्यनेनापकारिणामपि वधो निषिद्धः। गुरुमाततायिनमिति शक्यः सम्बन्धः, तथा सत्याततायिविशेषणमेतत्। ततो गुर्वादिव्यतिरिक्तस्याततायिनः प्रतिषेधः कुतः स्यात? वाक्यान्तराभावात्। अथ नाततायिवधे दोष इत्येतद्वाक्यान्तरं सामान्येनाभ्यनुज्ञापकमिति। तदपि न, विधेरश्रवणात्। पूर्वशेषतयाऽर्थवादत्वे प्रकृतवचनत्वात्। इह भवन्तस्त्वाहुर्यथाऽऽततायिनमित्येवविधिः अवशिष्टोऽर्थवादस्तथापि गुर्वादीनां वधानुज्ञानम्। यतोऽन्यदपकारित्वमन्यदाततायित्वम्। यो ह्यस्यां काञ्चनपीडां करोति न सर्वेण शरीरादिना सोऽपकारी-

इति पूर्वस्यायमनुवादः, गुर्वादिकमपि हन्यात्किमुतान्यमपीति व्याचक्षते ॥ ३५० ॥

नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन ।
प्रकाशं वाऽप्रकाशं वा मन्युस्तं मन्युमृच्छति ॥ ३५१ ॥

सबके सामने या एकान्तमें (मारने आदिके लिये उद्यत) आततायीके वध करनेमें वधकर्ताको दोष नहीं होता है, क्योंकि मारनेवाले अर्थात् आततायीका क्रोध मारे जाते हुएके क्रोधको बढ़ाता है ॥ ३५१ ॥

जनसमक्षं रहसि वा वधोद्यतस्य मारणे हन्तुर्न कश्चिदप्यधर्मदण्डः प्रायश्चित्ताख्यो दोषो भवति। यस्माद्धन्तृगतो मन्युः क्रोधाभिमानिनी देवता हन्यमानगतं क्रोधं विवर्धयति। साहसे चापराधगौरवापेक्षया मारणाङ्गच्छेदनधनग्रहणादयो दण्डाः कार्याः ॥ ३५१ ॥

इदानीं स्त्रीसंग्रहणमाह—

परदाराभिमर्शेषु प्रवृत्तान्नॄन्महीपतिः ।
उद्वेजनकरैर्दण्डैश्छिन्नयित्वा प्रवासयेत् ॥ ३५२ ॥

परस्त्री-सम्भोगमें प्रवृत्त होनेवाले मनुष्योंको राजा व्याकुल करनेवाले दण्डों (नाक, ओष्ठ, कान आदि कटवा लेने) से दण्डित करके उसे देशसे निकाल दे ॥ ३५२ ॥

परदारसंभोगाय प्रवृत्तान्मनुष्यगणानुद्वेजनकरदण्डैर्नासौष्ठकर्तनादिभिरङ्कयित्वा देशान्निःसारयेत् ॥ ३५२ ॥

तत्समुत्थो हि लोकस्य जायते वर्णसंकरः ।
येन मूलहरोऽधर्मः सर्वनाशाय कल्पते ॥ ३५३ ॥

क्योंकि परस्त्री सम्भोगमें वर्णसङ्कर (दोगला) पुत्र उत्पन्न होता है, जिस वर्णसङ्करसे मूलको नष्ट करनेवाला अधर्म सबके नाशके लिए समर्थ होता है ॥ ३५३ ॥

यस्मात्परदाराभिगमनात्संभूतो वर्णस्य संकरः संपद्यते। येन वर्णसंकरेण विशुद्धपत्नीकयजमानाभावात्।

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठति । (म० स्मृ० ३-७६)

अस्याभावे सति वृष्ट्याख्यजगन्मूलविनाशोऽधर्मो जगन्नाशाय संपद्यते ॥ ३५३ ॥

परस्य पत्न्या पुरुषः संभाषां योजयन् रहः ।
पूर्वमाक्षारितो दोषैः प्राप्नुयात्पूर्वसाहसम् ॥ ३५४ ॥

पहले परस्त्री-सम्भोग-विषयक निन्दासे युक्त जो पुरुष एकान्तमें परस्त्रीसे बात-चीत करता हो, उसे प्रथम साहस (८।१३८, अर्थात् २५० पण) से दण्डित करना चाहिये ॥ ३५४ ॥

नत्वाततायी। तथा च पठ्यते—"उद्यतासिविषाग्निभ्यां शापोद्यतकरस्तथा। आथर्वणेन हन्ता च पिशुनश्चापि राजतः॥ भार्याऽतिक्रमकारी च रन्ध्रान्वेषणतत्परः। एवमाद्यान्विजानीयात्सर्वानेवाततायिनः" ॥ आयान्तमिति वचनादात्तशस्त्रो हन्तुमभिधावन्दारान्वा जिहीर्षन्हन्तव्यः। कृते तु दोषे किमन्यत्करिष्यतीत्युपेक्षा इति ब्रुवते। तदयुक्तम्, यतः प्रकाशमप्रकाशं चेति वक्ष्यति। समानौ होतौ करिष्यन्कृतवांश्च दृष्टश्चेदिति। तस्मादायान्तमित्यनुवादः। कर्तुमागतं कृत्वा वाऽऽगतमिति आततायित्वाच्चासौ हन्यते। न च कृतवचन आततायित्वमुपैति नास्यात्मनो रक्षार्थं एव वधः, आत्मनश्च परित्राण इति नोक्तम्।

तत्स्त्रीप्रार्थनादिदोषैः पूर्वमुत्पन्नाभिरपवादप्रार्थनाभिशापादिभिः पुरुषः उचितकारणव्यतिरेकेण परभार्यया संभाषणं कुर्वन्प्रथमसाहसं दण्डं प्राप्नुयात् ॥ ३५४ ॥

यस्त्वनाक्षारितः पूर्वमभिभाषेत कारणात् ।
न दोषं प्राप्नुयात् किंचिन्न हि तस्य व्यतिक्रमः ॥ ३५५ ॥

पहले कभी भी परस्त्री-सम्भोगके विषयमें अनिन्दित पुरुष किसी कारणसे परस्त्रीके साथ लोगों के सामने बात-चीत करे तो वह कुछ भी दोषी नहीं होता है, क्योंकि उसका कोई अपराध नहीं है ॥ ३५५ ॥

यः पुनः पूर्वं तत्स्त्रीप्रार्थनाभिशापरहितः केनचित्कारणेन जनसमक्षमभिभाषणं कुर्यान्न स पुनर्दण्डयत्वादिदोषं प्राप्नुयात् । तस्मान्न कश्चित्तस्यापराधोऽस्ति ॥ ३५५ ॥

परस्त्रियं योऽभिवदेत्तीर्थेऽरण्ये वनेऽपि वा ।
नदीनां वाऽपि संभेदे स संग्रहणमाप्नुयात् ॥ ३५६ ॥

पहले परस्त्री सम्भोगके विषयमें अनिन्दित भी जो पुरुष नदीके किनारे, (लता-गुल्म आदिसे घिरे हुए) अरण्यमें, घने वृक्ष आदिसे युक्त वनमें, अथवा नदियोंके सङ्गम स्थान अर्थात् एकान्तमें परस्त्रीके साथ बातचीत करता है; वह पुरुष 'स्त्री-संग्रहण' (८।३५७) के दण्ड १००० पण) से दण्डनीय है ॥ ३५६ ॥

तीर्थाद्यरण्यवनादिकं निर्जनदेशोपलक्षणमात्रम् । यः पुरुषः परस्त्रियमुदकावतरणमार्गेऽरण्ये, ग्रामाद्बहिर्गुल्मलताकीर्णे निर्जने वने बहुवृक्षसतते नदीनां संगमे पूर्वमनाक्षारितोऽपि कारणादपि संभाषेत, स संग्रहणं सहस्रपणदण्डं वक्ष्यमाणं प्राप्नुयात् । सम्यग्गृह्यते ज्ञायते येन परस्त्रीसंभोगाभिलाष इति संग्रहणम् ॥ ३५६ ॥

उपचारक्रिया केलिः स्पर्शो भूषणवाससाम् ।
सह खट्वासनं चैव सर्वं संग्रहणं स्मृतम् ॥ ३५७ ॥

परस्त्रीके पास सुगन्धित तेल-फुलेल आदि भेजना, केलि (हंसी-मजाक आदि) करना, उसके भूषण तथा वस्त्रोंका स्पर्श करना और साथमें एक खाटपर बैठना (यहां सर्वत्र निर्जन अर्थात् बिलकुल एकान्त स्थानमें तात्पर्य है) ये सब कार्य मनु आदि ऋषियोंके द्वारा 'संग्रहण' कहा गया है ॥ ३५७ ॥

स्रग्गन्धानुलेपनप्रेषणाद्युपचारकरणं, केलिः परिहासालिङ्गनादिः, अलंकारवस्त्राणां स्पर्शनम्, एकखट्वासनमित्येतत्सर्वं संग्रहणं मन्वादिभिः स्मृतम् ॥ ३५७ ॥

[स्त्रियं स्पृशेददेशे यः स्पृष्टो वा मर्षयेत्तया ।
परस्परस्यानुमते सर्वं संग्रहणं स्मृतम् ॥ ३५८ ॥
[कामाभिपातिनी या तु नरं स्वयमुपव्रजेत् ।
राज्ञा दास्ये नियोज्या सा कृत्वा तद्दोषघोषणम् ॥ २६ ॥]

यदि पुरुष परस्त्रीके अस्पृश्य अङ्ग (जङ्घा, स्तन, गाल आदि अङ्ग) का स्पर्श करे, या उसके द्वारा अपने अङ्गके स्पर्श करनेपर सहन करे (रुष्ट नहीं होवे), ये सब कार्य परस्परमें अनुमति (राजीखुशी) से हों तो ये 'संग्रहण' कहे गये हैं ॥ ३५८ ॥

[यदि कामके वशीभूत होकर स्त्री पुरुषके पास स्वयं जावे तो राजा उसके दोषको घोषित (सर्वप्रत्यक्ष) कर इसे दासीके कर्ममें नियुक्त कर ले ॥ २६ ॥]

यः स्प्रष्टुमनुचिते स्तनजघनादिदेशे स्त्रियं स्पृशेत्तया वा वृषणादिके स्पृष्टः क्षमते, तदाऽन्योन्याङ्गीकरणे सर्वसंग्रहणं मन्वादिभिः स्मृतम् ॥ ३५८ ॥

अब्राह्मणः संग्रहणे प्राणान्तं दण्डमर्हति ।
चतुर्णामपि वर्णानां दारा रक्ष्यतमाः सदा ॥ ३५९ ॥

अब्राह्मण अर्थात् शूद्र पुरुष यदि सम्भोगादिकी इच्छा नहीं करनेवाली ब्राह्मणीका 'संग्रहण' (८।३५७-३५८) करे तो वह प्राणदण्ड (फांसी देने) के योग्य होता है; क्योंकि चारों वर्णोंकी स्त्रियाँ सर्वदा रक्षणीय हैं ॥ ३५९ ॥

अब्राह्मणोऽत्र शूद्रः, दण्डभूयस्त्वात् । ब्राह्मण्यामनिच्छन्त्यामुत्तमे संग्रहणे प्राणान्तं दण्डं प्राप्नोति । चतुर्णामपि ब्राह्मणादीनां वर्णानां धनपुत्रादीनामतिशयेन दाराः सर्वदा रक्षणीयाः । तेन प्रसङ्गनिवृत्त्यर्थमुत्कृष्टसंग्रहणादपि सर्ववर्णैर्भार्या रक्षणीया ॥ ३५९ ॥

भिक्षुका बन्दिनश्चैव दीक्षिताः कारवस्तथा ।
संभाषणं सह स्त्रीभिः कुर्युरप्रतिवारिताः ॥ ३६० ॥

भिक्षुक, बन्दी (चारण भाट आदि), दीक्षित (यज्ञके लिए दीक्षा ग्रहण किया हुआ), रसोइया (पाचक) परस्त्रीके साथ अनिवारितरूपमें बातचीत करें अर्थात् इनका बात-चीत करना 'संग्रहण' नहीं है अत एव परस्त्रीके साथ बातचीत करनेपर ये दण्डनीय भी नहीं हैं ॥ ३६० ॥

भिक्षाजीविनः, स्तुतिपाठकाः, यज्ञार्थं कृतदीक्षिकाः, सूपकारादयः, भिक्षादिस्वकार्यार्थं गृहिस्त्रीभिः सह संभाषणमनिवारिताः कुर्युः । एवं चैषां संग्रहणाभावः ॥ ३६० ॥

न संभाषां परस्त्रीभिः प्रतिषिद्धः समाचरेत् ।
निषिद्धो भाषमाणस्तु सुवर्णं दण्डमर्हति ॥ ३६१ ॥

(स्वामी, स्त्रीका पति या अन्य अभिभावकके) मना करनेपर पुरुष परस्त्रीके साथ बातचीत न करे, मना करनेपर (परस्त्रीके साथ) बातचीत करता हुआ पुरुष सौ सुवर्ण (७।१३४) से दण्डनीय होता है ॥ ३६१ ॥

स्वामिना निषिद्धः स्त्रीभिः संभाषणं न कुर्यात् । प्रतिषिद्धः संभाषणमाचरन्राज्ञः षोडशमाषात्मकसुवर्णदानयोग्यो भवति ॥ ३६१ ॥

नैष चारणदारेषु विधिर्नात्मोपजीविषु ।
सज्जयन्ति हि ते नारीर्निगूढाश्चारयन्ति च ॥ ३६२ ॥

स्त्रियोंके साथ बातचीत करनेके निषेधका यह (८।३५४-३६१) विधान नट तथा गायकोंकी स्त्रियोंके साथ बातचीत करनेमें नहीं है, क्योंकि वे (नट, गायक आदि) अपनी स्त्रियोंको (शृङ्गार आदिके द्वारा) सुसज्जित कर दूसरोंसे मिलाते तथा छिपकर स्त्रियोंके साथ सम्भोग करते हुए पर-पुरुषोंको देखते हैं ॥ ३६२ ॥

"परस्त्रियं योऽभिवदेत्" (म. स्मृ. ८-३५६) इत्यादिसंभाषणनिषेधविधिर्नटगायनादिदारेषु नास्ति । तथा "भार्या पुत्रः स्वका तनुः" (म० स्मृ० ४-१८४) इत्युक्तत्वाद्भार्यैवात्माऽनयोपजीवन्ति धनलाभाय तस्या जारं क्षमन्ते ये, तेषु नटादिव्यतिरिक्तेष्वपि ये दारास्तेष्वप्येवं निषेधविधिर्नास्ति । यस्माच्चारणा आत्मोपजीविनश्च परपुरुषानानीय तैः स्वभार्यां संश्लेषयन्ते । स्वयमागतांश्च परपुरुषान्प्रच्छन्ना भूत्वा स्वाज्ञानं विभावयन्तो व्यवहारयन्ति ॥ ३६२ ॥

किञ्चिदेव तु दाप्यः स्यात्संभाषां ताभिराचरन्।
प्रैष्यासु चैकभक्तासु रहः प्रव्रजितासु च ॥ ३६३ ॥

(तथापि) चारणादिकी स्त्रियों, दासियों, बौद्धमतावलम्बिनी स्त्रियों, ब्रह्मचारियोंसे एकान्तमें बातचीत करते हुए मनुष्यको राजा साधारणतम दण्डित करे, क्योंकि ये सब भी परस्त्री ही हैं, अत एव उनके साथ एकान्तमें बातचीत करनेसे दोष लगता ही है) ॥ ३६३ ॥

निर्जनदेशे चारणात्मोपजीविभिः स्त्रीभिः संभाषणं कुर्वन्स्वल्पदण्डलेशं राज्ञा दाप्यः, तासामपि परदारत्वात्। तथा दासीभिरवरुद्धाभिर्बौद्धाभिर्ब्रह्मचारिणीभिः संभाषां कुर्वन्किञ्चिद्दण्डमात्रं दाप्यः स्यात् ॥ ३६३ ॥

योऽकामां दूषयेत्कन्यां स सद्यो वधमर्हति।
सकामां दूषयंस्तुल्यो न वधं प्राप्नुयान्नरः ॥ ३६४ ॥

समानजातीय कोई पुरुष सम्भोगकी इच्छा नहीं करती हुई कन्याको सम्भोगके द्वारा दूषित करे तो वह (ब्राह्मणेतर जातिका होनेपर) शीघ्र ही लिङ्गच्छेदन आदि रूप वधसे दन्डनीय होता है और सम्भोगकी इच्छा करती हुई कन्याको दूषित करनेवाला समानजातीय पुरुष (उक्त लिङ्गच्छेदनादि) वधसे दन्डनीय नहीं होता, (क्योंकि उक्त कार्य गान्धर्व विवाह (३।३२) माना जाता है) ॥ ३६४ ॥

यस्तुल्यजातिरनिच्छन्तीं कन्यां गच्छति स तत्क्षणादेव ब्राह्मणेतरो लिङ्गच्छेदनादिकं वधमर्हति। इच्छन्तीं पुनर्गच्छन्वधार्हो मनुष्यो न भवति ॥ ३६४ ॥

कन्यां भजन्तीमुत्कृष्टं न किञ्चिदपि दापयेत्।
जघन्यं सेवमानां तु संयतां वासयेद् गृहे ॥ ३६५ ॥

अपनेसे श्रेष्ठ जातिवाले पुरुषके साथ सम्भोग करती हुई कन्याको (राजा) थोड़ा भी दन्डित न करे, किन्तु अपनेसे हीन जातिवाले पुरुषका सेवन करती हुई कन्याको यत्नपूर्वक घरमें रोक रक्खे (जिससे उसकी कामेच्छा निवृत्त हो जाय) ॥ ३६५ ॥

कन्यां संभोगार्थमुत्कृष्टजातिपुरुषं सेवमानां स्वल्पमपि दण्डं न दापयेत्। हीनजातिं पुनः सेवमानां यत्नात्स्थापयेत्। यथा वा निवृत्तकामा स्यात् ॥ ३६५ ॥

उत्तमां सेवमानस्तु जघन्यो वधमर्हति।
शुल्कं दद्यात्सेवमानः समामिच्छेत्पिता यदि ॥ ३६६ ॥

हीनजातीय पुरुष अपनेसे श्रेष्ठ जातिवाली (सम्भोगकी इच्छा करती हुई या नहीं करती हुई) कन्याके साथ सम्भोग करे तो वह (जात्यनुसार लिङ्गच्छेदन, ताडन या मारण आदि) वधके योग्य है, तथा समान जातिवाली कन्याके साथ सम्भोग करे और उस कन्याका पिता उस कर्मको स्वीकार करे तो उसे उचित मात्रामें धन देवे (तथा उस कन्याके साथ विवाह कर ले) ॥ ३६६ ॥

हीनजातिरुत्कृष्टामिच्छन्तीमनिच्छन्तीं वा गच्छन् जात्यपेक्षयाङ्गच्छेदनमारणात्मकं वधमर्हति। समानजातीयां पुनरिच्छन्तीं गच्छन्यदि पिता मन्यते तदा पितुः शुल्कानुरूपमर्थं वा दद्यान्न च दण्ड्यः। सा च कन्या तेनैव वोढव्या ॥ ३६६ ॥

अभिषह्य तु यः कन्यां कुर्याद्दर्पेण मानवः।
तस्याशु कर्त्ये अङ्गुल्यौ दण्डं चार्हति षट्शतम् ॥ ३६७ ॥

जो पुरुष समानजातिवाली कन्याके साथ सम्भोग न करके बलात्कारपूर्वक उसकी योनि (मूत्रमार्ग) में अङ्गुलि डालकर उसे दूषित करे, राजा उसकी अंगुलिको शीघ्र कटवा ले तथा उसे ६०० पण (८।१३६) से दण्डित करे ॥ ३६७ ॥

यो मनुष्यः प्रसह्य बलात्कारेण समानजातीयां गमनवर्जमहंकारेणाङ्गुलिप्रक्षेपमात्रेणैव नाशयेत्तस्य शीघ्रमेवाङ्गुलिद्वयच्छेदः कर्तव्यः। षट्पणशतानि चायं दण्डयः स्यात् ॥३६७॥

सकामां दूषयंस्तुल्यो नाङ्गुलिच्छेदमाप्नुयात्।
द्विशतं तु दमं दाप्यः प्रसङ्गविनिवृत्तये । ३६८ ॥

समान जातिवाली कामवासनायुक्त कन्याके साथ सम्भोग न करके उसकी योनिमें अङ्गुलि डालकर जो पुरुष उस कन्याको दूषित करे, राजा उस पुरुषकी अङ्गुलि तो नहीं कटवावे, किन्तु भविष्यमें ऐसे प्रसङ्गको रोकनेके लिए उसे २०० पण (८।१३६) से दण्डित करे ॥ ३६८ ॥

समानजातिरिच्छन्तीं कन्यामङ्गुलिप्रक्षेपमात्रेण नाशयन्नाङ्गुलिच्छेदमाप्नोति। किंत्व-तिप्रसक्तिनिवारणाय द्विशतं दण्डं दाप्यः ॥ ३६८ ॥

कन्यैव कन्यां या कुर्यात्तस्याः स्याद् द्विशतो दमः।
शुल्कं च द्विगुणं दद्याच्छिफाश्चैवाप्नुयाद् दश । ३६९ ॥

यदि कोई कन्या ही किसी दूसरी कन्याकी योनिमें अङ्गुलि डालकर उस कन्याको दूषित करे, दुगुना (४०० पण) उस दूषित कन्याके पिताके लिए दिलवावे तथा दस कोड़े या बेंत से उसे ताडित करे ॥ ३६९ ॥

या कन्यैव परामङ्गुलिप्रक्षेपेण नाशयेत्तस्याः द्विशतो दण्डः स्यात्। कन्याशुल्कं च द्विगुणं कन्यापितुर्दद्याच्छिफाः प्रहारांश्च दश प्राप्नुयात् ॥ ३६९ ॥

या तु कन्यां प्रकुर्यात्स्त्री सा सद्यो मौण्ड्यमर्हति।
अङ्गुल्योरेव वा छेदं खरेणोद्वहनं तथा ॥ ३७० ॥

यदि कोई स्त्री किसी कन्याकी योनिमें अङ्गुलि डालकर उस कन्याको दूषित करे तो राजा तत्काल उस स्त्रीका शिर मुँड़वा दे, अङ्गुलि कटवा ले तथा गधेपर चढ़ाकर उस स्त्रीको सड़कोंपर घुमावावे ॥ ३७० ॥

या पुनः कन्यामङ्गुलिप्रक्षेपेण स्त्री नाशयेत्सा तत्क्षणादेव शिरोमुण्डनं अनुबन्धापेक्षया-ङ्गुल्योरेव छेदनं, गर्दभेण च राजमार्गे वहनमर्हति ॥ ३७० ॥

भर्तारं लङ्घयेद्या तु स्त्री ज्ञातिगुणदर्पिता।
तां श्वभिः खादयेद्राजा संस्थाने बहुसंस्थिते ॥ ३७१ ॥

जो स्त्री पिता या बान्धवोंके अधिक धनी होने या अपने सौन्दर्यके अभिमान से परपुरुषके साथ सङ्गति करके अपने पतिका अपमान करे, उसे राजा बहुत लोगोंसे युक्त स्थानोंमें (सबके सामने) कुत्तोंसे कटवावे ॥ ३७१ ॥

या स्त्री प्रबलधनिकपित्रादिबान्धवदर्पेण, सौन्दर्यादिगुणदर्पेण च पतिं पुरुषान्तरोप-गमनाल्लङ्घयेत्तां राजा बहुजनाकीर्णे देशे श्वभिर्भक्षयेत् ॥ ३७१ ॥

पुमांसं दाहयेत्पापं शयने तप्त आयसे।
अभ्यादध्युश्च काष्ठानि तत्र दह्येत पापकृत् ॥ ३७२ ॥

और उस पापी जारको तपाये हुए लोहेकी खाटपर सुलाकर जलावे तथा उस खाटपर जल्लाद लोग लकड़ी डाल दें, जिससे वह पुरुष जल (मर मर) जाय ॥ ३७२ ॥

अनन्तरोक्तं जारं पापकारिणं पुरुषमयोमयशयने प्रज्वलिते राजा दाहयेत्। तत्र शयने वध्यघातिनः काष्ठानि निःक्षिपेयुर्यावत्पापकारी दग्धः स्यात् ॥ ३७२ ॥

संवत्सराभिशस्तस्य दुष्टस्य द्विगुणो दमः।
व्रात्यया सह संवासे चाण्डाल्या तावदेव तु ॥ ३७३ ॥

परस्त्री-गमनसे दूषित (अदण्डित भी) पुरुष एक वर्षके बीतनेपर पुनः परस्त्रीगमन रूप अपराध करे तो उसे पूर्वोक्त दण्डसे दुगुना दण्ड होता है; तथा व्रात्या (१०।२०) तथा चाण्डाली (१०।२६-२७) के साथ गमन (सम्भोग) करनेपर भी उतना (दुगुना) ही दण्ड होता है ॥३७३॥

परस्त्रीगमनेन दुष्टस्य पुंसोऽदण्डितस्य च संवत्सरातिक्रमेणाभिशस्तस्य पूर्वदण्डाद् द्विगुणो दमः कार्यः। तथा व्रात्यजायागमने यो दण्डः परिकल्पितः चाण्डाल्या सह निर्देशाच्चाण्डालीगमनरूपः, तथा चाण्डालीगमने यो दण्डः "सहस्रं त्वन्त्यजस्त्रियम्" (म. स्मृ. ८-३८५) इति, संवत्सरे त्वतीते यदि तामेव व्रात्यजायां तामेव चाण्डालीं पुनर्गच्छति तदा द्विगुणः कर्तव्यः। एतत्पूर्वस्यैवोदाहरणद्वयं व्रात्यजायागमनेऽपि चाण्डाली-गमनदण्डप्रदर्शनार्थम्। सर्वस्यैव तु पूर्वाभिशस्तदण्डितस्य संवत्सरातिक्रमे पुनस्तामेव गच्छतः पूर्वाद् द्विगुणो दण्डो बोद्धव्यः ॥ ३७३ ॥

शूद्रो गुप्तमगुप्तं वा द्वैजातं वर्णमावसन्।
अगुप्तमङ्गसर्वस्वैर्गुप्तं सर्वेण हीयते ॥ ३७४ ॥

(पति या अभिभावकके द्वारा) सुरक्षित या असुरक्षित द्विज-स्त्रीके साथ सम्भोग करनेवाले शूद्रको असुरक्षित द्विज स्त्रीके साथ सम्भोग करनेपर उसके लिङ्गको कटवाकर तथा धनको जप्तकर दण्डित करे तथा सुरक्षित द्विज-स्त्रीके साथ सम्भोग करनेपर उसकी सब सम्पत्तिको जप्तकर उसे प्राणदण्डसे दण्डित करे ॥ ३७४ ॥

भर्त्रादिभी रक्षितामरक्षितां वा द्विजातिस्त्रियं यदि शूद्रो गच्छेत्तदाऽरक्षितां रक्षारहितां गच्छंल्लिङ्गसर्वस्वाभ्यां वियोजनीयः। अत्राङ्गविशेषाश्रवणेऽपि आर्यस्त्र्यभिगमने लिङ्गोद्धारः। "सर्वस्वहरणं गुप्ता चेद्वधोऽधिकः" इति गोतमवचनाल्लिङ्गच्छेदः। रक्षितां तु गच्छञ्छरीरधनहीनः कर्तव्यः ॥ ३७४ ॥

वैश्यः सर्वस्वदण्डः स्यात्संवत्सरनिरोधतः।
सहस्रं क्षत्रियो दण्ड्यो मौण्ड्यं मूत्रेण चार्हति ॥ ३७५ ॥
ब्राह्मणीं यद्यगुप्तां तु गच्छेतां वैश्यपार्थिवौ।
वैश्यं पञ्चशतं कुर्यात्क्षत्रियं तु सहस्रिणम् ॥ ३७६ ॥

(पति आदिसे सुरक्षित ब्राह्मणीके साथ संभोग करने पर) वैश्यको १ वर्ष तक जेलमें रखनेके बाद सर्वस्व हरणका दण्ड (जुर्माना) देना चाहिये और क्षत्रियको १००० पणोका दण्ड देना चाहिये एवं उसका शिर गधेके मूत्रसे मुंडवा देना चाहिये (पति या अभिभावकादिके असुरक्षित द्वारा) ब्राह्मण-स्त्रीके साथ यदि वैश्य सम्भोग करे तो राजा उसपर ५०० पण तथा यदि क्षत्रिय गमन करे तो उसपर १००० पण दण्ड (जुर्माना) करे ॥ ३७५-३७६ ॥

वैश्यस्य गुप्तब्राह्मणीगमने संवत्सरबन्धादनन्तरं सर्वस्वग्रहणरूपो दण्डः कार्यः। क्षत्रियागमने तु "वैश्यश्चेत्क्षत्रियाम्" (म. स्मृ. ८-३८२) इति वक्ष्यति। क्षत्रियो गुप्तब्राह्मणीगमने सहस्रं दण्डनीयः। खरमूत्रेण चास्य मुण्डनं कर्तव्यम् ॥ ३७५ ॥

अरक्षितां तु ब्राह्मणीं यदि वैश्यक्षत्रियौ गच्छतस्तदा वैश्यं पञ्चशतदण्डयुक्तं कुर्यात्। क्षत्रियं पुनः सहस्रदण्डोपेतम्। वैश्ये चायं पञ्चशतदण्डः शूद्राभ्रमादिना निर्गुणजातिमात्रोपजीविब्राह्मणीगमनविषयः। तदितरब्राह्मणीगमने वैश्यस्यापि सहस्रं दण्ड एव ॥ ३७६ ॥

उभावपि तु तावेव ब्राह्मण्या गुप्तया सह।
विप्लुतौ शूद्रवद्दण्ड्यौ दग्धव्यौ वा कटाग्निना ॥ ३७७ ॥

(पति आदिसे सुरक्षित तथा) गुणवती ब्राह्मणीके साथ यदि वे दोनों (वैश्य तथा क्षत्रिय मैथुन करें तो वे शूद्रके समान (८।३७४) दण्डनीय हैं या तृणाग्निमें जलाने योग्य हैं ॥ ३७७ ॥

तावेवोभावपि क्षत्रियवैश्यौ ब्राह्मण्या रक्षितया सह कृतमैथुनौ शूद्रवत्सर्वेण हीयेते इति दण्ड्यौ। यद्वा कटेनावेष्ट्य दग्धव्यौ। तत्र "वैश्यं लोहितदर्भैः क्षत्रियं शरपत्रैर्वावेष्ट्य" इति वसिष्ठोक्तो विशेषो ग्राह्यः। पूर्वं "सहस्रं क्षत्रियो दण्ड्यो" "वैश्यः सर्वस्वम्" (म. स्मृ. ८-३७५) इत्युक्तत्वादयं प्राणान्तिकदण्डो गुणवद्ब्राह्मणीगमनविषयो बाद्धव्यः ॥ ३७७ ॥

सहस्रं ब्राह्मणो दण्ड्यो गुप्तां विप्रां बलाद् व्रजन्।
शतानि पञ्च दण्ड्यः स्यादिच्छन्त्या सह संगतः ॥ ३७८ ॥

(पति या अभिभावकके द्वारा) सुरक्षित ब्राह्मणीके साथ बलात्कारपूर्वक सम्भोग करनेवाला ब्राह्मण १००० पणसे तथा सम्भोगकी इच्छा करनेवाली ब्राह्मणीके साथ सम्भोग करनेवाला ब्राह्मण ५०० पण (८।१३६) से दण्डनीय होता है ॥ ३७८ ॥

रक्षितां विप्रां ब्राह्मणो बलेनोपगच्छन्सहस्रं दण्ड्यः स्यात्। इच्छन्त्या पुनः सकृन्मैथुने पञ्च शतानि दण्डनीयो भवेत् ॥ ३७८ ॥

मौण्ड्यं प्राणान्तिको दण्डो ब्राह्मणस्य विधीयते।
इतरेषां तु वर्णानां दण्डः प्राणान्तिको भवेत् ॥ ३७९ ॥

ब्राह्मणको प्राणदण्ड होनेपर उसका मुण्डन करा देना ही उसका प्राण दण्ड होता है तथा अन्य वर्णों (क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) का प्राणनाश करना ही प्राणदण्ड होता है ॥ ३७९ ॥

ब्राह्मणस्य वधदण्डस्थाने शिरोमुण्डनं दण्डः शास्त्रेणोपदिश्यते। क्षत्रियादीनां पुनरुक्तेन घातेन दण्डो भवति ॥ ३७९ ॥

न जातु ब्राह्मणं हन्यात्सर्वपापेष्वपि स्थितम्।
राष्ट्रादेनं बहिः कुर्यात्समग्रधनमक्षतम् ॥ ३८० ॥

राजा समस्त पाप करनेवाले भी ब्राह्मणका वध कभी न करे, किन्तु सम्पूर्ण धनके साथ अक्षत शरीरवाले उस (ब्राह्मण) को राज्यसे निर्वासित कर दे ॥ ३८० ॥

ब्राह्मणं सर्वपापकारिणमपि कदाचिन्न हन्यात्। अपि तु सर्वस्वयुक्तमक्षतशरीरं राष्ट्रान्निर्वासयेत् ॥ ३८० ॥

न ब्राह्मणवधाद् भूयानधर्मो विद्यते भुवि।
तस्मादस्य वधं राजा मनसाऽपि न चिन्तयेत् ॥ ३८१ ॥

ब्राह्मणवधके समान पृथ्वीपर दूसरा कोई बड़ा पाप नहीं है, अत एव राजा मनसे भी ब्राह्मणके वध करनेका विचार न करे ॥ ३८१ ॥

ब्राह्मणवधान्महान्पृथिव्यामधर्मो नास्ति । तस्माद्राजा सर्वपापकारिणो ब्राह्मणस्य मनसाऽपि वधं न चिन्तयेत् ॥ ३८१ ॥

वैश्यश्चेत्क्षत्रियां गुप्तां वैश्यां वा क्षत्रियो व्रजेत् ।
यो ब्राह्मण्यामगुप्तायां तावुभौ दण्डमर्हतः ॥ ३८२ ॥
[क्षत्रियां चैव वैश्यां च गुप्तां तु ब्राह्मणो व्रजन् ।
न मूत्रमुण्डः कर्तव्यो दाप्यस्तूत्तमसाहसम् ॥ २७ ॥]

(पति आदिके द्वारा सुरक्षित) क्षत्रियाके साथ वैश्य तथा वैश्याके साथ क्षत्रिय सम्भोग करे तो वे अरक्षित ब्राह्मणीके साथ सम्भोग करनेपर कहे गये दण्डसे (८।३७६ के अनुसार वैश्य ५०० पण तथा क्षत्रिय १००० पण) से दण्डनीय हैं ॥ ३८२ ॥

(पति या अभिभावकादिसे सुरक्षित) क्षत्रिया अथवा वैश्याके साथ गमन (सम्भोग) करने वाले ब्राह्मणपर मूत्रमुण्ड (गधे के मूत्रसे शिर मुंडवाने का दण्ड) नहीं करना चाहिये, किन्तु एक उत्तम साहस (८।१३८ अर्थात् १००० पण) का दण्ड करना चाहिये ॥ २७ ॥]

रक्षितां क्षत्रियां यदि वैश्यां गच्छेत्क्षत्रियो वा यदि रक्षितां वैश्यां तदा तयोर्ब्राह्मण्यामगुप्तायां गमने यौ दण्डावुक्तौ "वैश्य पञ्चशतं कुर्यात्क्षत्रियं तु सहस्रिणम्" (म. स्मृ. ८-३७६) इति द्वावेव दण्डौ वैश्यक्षत्रिययोर्भवतः । अयं च वैश्यस्य रक्षितक्षत्रियागमने पञ्चशतरूपो दण्डो लघुत्वाद् गुणवद्वैश्यस्य निर्गुणजातिमात्रोपजीविक्षत्रियायाः शूद्राभ्रान्त्यादिगमनविषयो बोद्धव्यः । क्षत्रियस्य रक्षितवैश्यायां ज्ञानतो युक्तः सहस्रं दण्डः ॥ ३८२ ॥

सहस्रं ब्राह्मणो दण्डं दाप्यो गुप्ते तु ते व्रजन् ।
शूद्रायां क्षत्रियविशोः साहस्रो वै भवेद्दमः ॥ ३८३ ॥

(पति या अभिभावकादिसे सुरक्षित) क्षत्रिया तथा वैश्याके साथमें सम्भोग करनेवाला ब्राह्मण १००० पणसे दण्डनीय है तथा सुरक्षित शूद्राके साथमें सम्भोग करनेवाले क्षत्रिय और वैश्य भी १०००-१००० पण (८।३६) से ही दण्डनीय होते हैं ॥ ३८३ ॥

क्षत्रियावैश्ये रक्षिते ब्राह्मणो व्रजन्सहस्रं दण्डं दापनीयः । शूद्रायां रक्षितायां क्षत्रियवैश्ययोर्गमने सहस्रमेव दण्डः स्यात् ॥ ३८३ ॥

क्षत्रिययामगुप्तायां वैश्ये पञ्चशतं दमः ।
मूत्रेण मौण्ड्यमिच्छेत्तु क्षत्रियो दण्डमेव वा ॥ ३८४ ॥

(पति आदिसे) अरक्षित क्षत्रियोंके साथ सम्भोग करनेवाले वैश्यको ५०० पण दण्ड होता है और क्षत्रियको गधेके मूत्रसे शिर मुंडवावे या ५०० पण का दण्ड होता है ॥ ३८४ ॥

अरक्षितक्षत्रियागमने वैश्यस्य पञ्चशतानि दण्डः स्यात् । क्षत्रियस्य त्वरक्षितागमने गर्दभमूत्रेण मुण्डनं पञ्चशतरूपं वा दण्डमाप्नुयात् ॥ ३८४ ॥

अगुप्ते क्षत्रियावैश्ये शूद्रां वा ब्राह्मणो व्रजन् ।
शतानि पञ्च दण्ड्यः स्यात्सहस्रं त्वन्त्यजस्त्रियम् ॥ ३८५ ॥
[शूद्रोत्पन्नांशपापीयान्न वै मुच्येत किल्विषात् ।
तेभ्यो दण्डाहृतं द्रव्यं न कोशे संप्रवेशयेत् ॥ २८ ॥

अयाजिकं तु तद्राजा दद्याद् भृतकवेतनम्।
यथादण्डगतं वित्तं ब्राह्मणेभ्यस्तु लंभयेत् ॥ २९ ॥
भार्यापुरोहितस्तेना ये चान्ये तद्विधा जनाः ॥ ३० ॥]

(पति आदिसे असुरक्षित) क्षत्रिया, वैश्या अथवा शूद्राके साथ सम्भोग करनेवाला ब्राह्मण ५०० पणसे तथा अन्त्यज स्त्री (चाण्डाली आदि सर्वाधम स्त्री) के साथ सम्भोग करनेवाला (ब्राह्मण) १००० पणसे दण्डनीय होता है ॥ ३८५ ॥

[राजा शूद्रोत्पन्न पाप-सम्बन्धी दोषसे नहीं मुक्त होता है, अत एव उनसे प्राप्त दण्ड-द्रव्यको खजानेमें नहीं जमा करावे ॥ २८–३० ॥]

अरक्षितां क्षत्रियां वैश्यां शूद्रां वा ब्राह्मणो गच्छन्पञ्चशतानि दण्ड्यः स्यात्। अन्ते भवोऽन्त्यजः यस्मादधमो नास्ति चाण्डालादिस्तस्य स्त्रियं गच्छन्सहस्रं दण्ड्यः ॥ ३८५ ॥

यस्य स्तेनः पुरे नास्ति नान्यस्त्रीगो न दुष्टवाक्।
न साहसिकदण्डघ्नौ स राजा शक्रलोकभाक् ॥ ३८६ ॥

जिस (राजा) के राज्यमें चोर, परस्त्री-सम्भोग करनेवाला, कठोर वचन बोलनेवाला, गृह-दाह आदि साहस कार्य करनेवाला तथा कठोर दण्ड (ताडन-मारण आदि दण्ड पारुष्य) करनेवाला पुरुष नहीं है, वह (राजा) स्वर्गगमन करता है ॥ ३८६ ॥

यस्य राज्ञो राष्ट्रे चौरः, परदारगामी, परुषवादी, गृहदाहादिसाहसकारी, दण्डपारुष्य-कर्ता च नास्ति स राजा शक्रपुरं याति ॥ ३८६ ॥

एतेषां निग्रहो राज्ञः पञ्चानां विषये स्वके।
साम्राज्यकृत्सजात्येषु लोके चैव यशस्करः ॥ ३८७ ॥

इन पांचो (चोर, परस्त्री सम्भोगकर्ता, कटुभाषणकर्ता, साहसकर्मकर्ता और चण्डपारुष्यकर्ता) का अपने राज्यमें निग्रह करनेवाला राजा समानजातीय राजाओं में साम्राज्य करनेवाला तथा इस लोकमें यशस्वी होता है ॥ ३८७ ॥

एतेषां स्तेनादीनां पञ्चानां स्वराष्ट्रे निग्रहः समानजातीयेषु राजसु मध्ये राजा साम्राज्य-कृदिह लोके च यशस्करो भवति ॥ ३८७ ॥

ऋत्विजं यस्त्यजेद्याज्यो याज्यं चर्त्विक्त्यजेद्यदि।
शक्तं कर्मण्यदुष्टं च तयोर्दण्डः शतं शतम् ॥ ३८८ ॥

जो यजमान (कर्मानुष्ठानमें समर्थ) पुरोहितका और पुरोहित (अधार्मिकपातकादि दोष-वर्जित) यजमानका त्याग करे, वह (त्यागकर्ता यजमान या पुरोहित) १००–१०० पणसे दण्डनीय होता है ॥ ३८८ ॥

यो याज्यः ऋत्विजं कर्मानुष्ठानसमर्थमतिपातकादिदोषरहितमृत्विग्वा याज्यमदुष्टं त्यज-ति, तयोः शतं शतं दण्डः कार्य इति दण्डप्रसङ्गादिदमुक्तम् । ३८८ ॥

न माता न पिता न स्त्री न पुत्रस्त्यागमर्हति।
त्यजन्नपतितानेतान् राज्ञा दण्ड्यः शतानि षट् ॥ ३८९ ॥

माता, पिता, स्त्री और पुत्र त्यागके योग्य नहीं हैं, (अत एव अपतित) इनमेंसे किसीका त्याग करनेवालेको राजा ६०० पणसे दण्डित करे ॥ ३८९ ॥

मातृपितृभार्यापुत्रास्त्यागमपोषणशुश्रूषणाद्यकरणात्मकं नार्हन्ति। तस्मादेतान्पातकादिरहितान्परित्यजन्नेकैकपरित्यागे राज्ञा षट् शतानि दण्ड्यः ॥ ३८९ ॥

आश्रमेषु द्विजातीनां कार्ये विवदतां मिथः।
न विब्रूयान्नृपो धर्मं चिकीर्षन्हितमात्मनः ॥ ३९० ॥

(गार्हस्थ्यादि) आश्रम सम्बन्धी धार्मिक विषयोंमें ('शास्त्रका ऐसा अभिप्राय है, तुम्हारे कहने के अनुसार नहीं है' इत्यादि रूपमें) परस्पर विवाद करते हुए द्विजातियोंके कार्यमें अपना हित चाहनेवाला राजा 'इस प्रकारका धर्म (शास्त्रवचन) है' ऐसा कोई निर्णय न करे ॥ ३९० ॥

द्विजातीनां गार्हस्थ्याद्याश्रमविषये कार्येऽयं शास्त्रार्थो नायं शास्त्रार्थ इति परस्परं जातविवादानां राजा स्वीयहितं चिकीर्षुरयं शास्त्रार्थ इति सहसान्विशेषेण न ब्रूयात् ॥ ३९० ॥

यथार्हमेतानभ्यर्च्य ब्राह्मणैः सह पार्थिवः।
सांत्वेन प्रशमय्यादौ स्वधर्मं प्रतिपादयेत् ॥ ३९१ ॥

राजा उनकी यथोचित पूजा (आदर-सत्कार) कर ब्राह्मणोंके साथ सान्त्व (शमप्रधान) वचनोंसे उन्हे शान्त करके इनका अपना जो धर्म हैं, उसे समझावे ॥ ३९१ ॥

यो यादृशीं पूजामर्हति तं तथा पूजयित्वा अन्यैर्ब्राह्मणैः सह प्रथमं प्रीत्या अपगतकोपं कृत्वा तत एषां यः स्वमर्मस्तं बोधयेत् ॥ ३९१ ॥

प्रातिवेश्यानुवेश्यौ च कल्याणे विंशतिर्द्विजे।
अर्हावभोजयन्विप्रो दण्डमर्हति माषकम् । ३९२ ॥

किसी शुभ कार्यमें बीस ब्राह्मणोंको भोजन कराना हो तो प्रातिवेशी और अनुवेशी योग्य ब्राह्मणोंको नहीं भोजन करानेवाला ब्राह्मण एक माशे चांदीसे दंडनीय होता है ॥ ३९२ ॥

निरन्तरगृहवासी प्रातिवेश्यः तदन्तरगृहवास्यनुवेश्यः, यस्मिन्नुत्सवे विंशतिरन्ये ब्राह्मणा भोज्यन्ते तत्र प्रातिवेश्यानुवेश्यौ "प्रातिवेश्यब्राह्मणातिक्रमकारा च" इति विष्णुवचनाद्। ब्राह्मणौ भोजनार्हावभोजयन्ब्राह्मण उत्तरत्र हैरण्यादिग्रहणादिह रौप्यमाषं दण्डमर्हति ॥ ३९२ ॥

श्रोत्रियः श्रोत्रियं साधुं भूतिकृत्येष्वभोजयन्।
तदन्नं द्विगुणं दाप्यो हिरण्यं चैव माषकम् ॥ ३९३ ॥

प्रतिवेशी या अनुवेशी सज्जन श्रोत्रियको विवाहादि शुभ कार्योंमें नहीं भोजन करानेवाले श्रोत्रिय से (राजा) उस (भोजन नहीं कराये गये) श्रोत्रियके लिए दुगुना अन्न तथा एक माशा सोना दण्ड-स्वरूप दिलवावें ॥ ३९३ ॥

विद्याचारवांस्तथाविधमेव गुणवन्तं विभवकार्येषु विवाहादिषु प्रकृतत्वात्प्रातिवेश्यानुवेश्यावभोजयन् तदन्नं भोजिताद् द्विगुणमन्नं दाप्यो हिरण्यमाषकं च राज्ञः ॥ ३९३ ॥

अन्धो जडः पीठसर्पी सप्तत्या स्थविरश्च यः।
श्रोत्रियेषूपकुर्वंश्च न दाप्याः केनचित्करम् ॥ ३९४ ॥

अन्धा, जड, पङ्गु, सत्तर वर्षसे अधिक बूढ़ा और आदि से श्रोत्रियोंका उपकार करते रहनेवाला इन लोगों से कोई (क्षीणकोपवाला भी) राजा कर (टेक्स) नहीं लेवे ॥ ३९४ ॥

अन्धो, बधिरः, पङ्गुः, संपूर्णसप्ततिवर्षः, सप्तत्येति "प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्" इति तृतीया। श्रोत्रियेषु धनधान्यशुश्रूषादिनोपकारकाः केनचिदपि क्षीणकोशेनापि राज्ञा त्वनुग्राह्याः, करं न दापनीयाः ॥ ३९४ ॥

श्रोत्रियं व्याधितार्तौ च बालवृद्धावकिञ्चनम्।
महाकुलीनमार्यं च राजा संपूजयेत्सदा ॥ ३९५ ॥

श्रोत्रिय (विद्वान् तथा आचारवान् ब्राह्मण), रोगी, (पुत्रादिके विरहसे) दुःखी, बालक, वृद्ध, दरिद्र, श्रेष्ठ कुलमें उत्पन्न और उत्तम चरित्रवालेकी राजा सदैव पूजा (दान, मान आदि हिताचरणसे सत्कार) करता रहे ॥ ३९५ ॥

विद्याचारवन्तं ब्राह्मणं रोगिणं पुत्रवियोगादिदुःखिनं बालवृद्धदरिद्रमहाकुलप्रसूतोदारचरितान् राजा दानमानहितकरणैः संपूजयेत्सदा ॥ ३९५ ॥

शाल्मलीफलके श्लक्ष्णे नेनिज्यान्नेजकः शनैः।
न च वासांसि वासोभिर्निर्हरेन्न च वासयेत् ॥ ३९६ ॥

धोबी सेमलकी लकड़ीके बने हुए चिकने पाढ (मोटे तख्ते) पर धीरे-धीरे कपड़ोंको धोवे, किसीके कपड़ेको दूसरोंके कपड़ोंमें नहीं मिलावे और दूसरेको पहननेके लिए नहीं देवे। (यदि वह ऐसा नहीं करे तो राजाके द्वारा दण्डनीय होता है) ॥ ३९६ ॥

शाल्मल्यादिवृक्षसंबन्धिफलके अपरुषे रजकः शनैः शनैर्वासांसि प्रक्षालयेन्न परकीयैर्वस्त्रैरन्यवस्त्राणि नयेत्, न चान्यवासांस्यन्यपरिधानार्थं दद्यात्। यद्येवं कुर्यात्तदाऽसौ दण्ड्यः स्यात् ॥ ३९६ ॥

तन्तुवायो दशपलं दद्यादेकपलाधिकम्।
अतोऽन्यथा वर्तमानो दाप्यो द्वादशकं दमम् ॥ ३९७ ॥

कपड़ा बुननेवाला (जुलाहा आदि) दश पल सूतके बदलेमें (मांड़ी आदि लगनेसे बढ़ जानेके कारण) ग्यारहपल कपड़ा दे, इसके विपरीत करने (कम कपड़ा देने) वालेको राजा बारह पण (८।१३६) दण्ड दिलवावे (तथा स्वामी अर्थात् सूतके बदलेमें कपड़ा लेनेवालेको उचित कपड़ा दिलवाकर सन्तुष्ट करे) ॥ ३२७ ॥

तन्तुवायो वस्त्रनिर्माणार्थं दश पलानि सूत्रं गृहीत्वा पिष्टभक्ताद्यनुप्रवेशादेकादशपलं वस्त्रं दद्यात्। यदि ततो न्यूनं दद्यात्तदा द्वादश पणान् राज्ञा दाप्यः स्वामिनश्च तुष्टिः कर्तव्यैव ॥ ३९७ ॥

शुल्कस्थानेषु कुशलाः सर्वपण्यविचक्षणाः।
कुर्युरर्घं यथापण्यं ततो विंशं नृपो हरेत् ॥ ३९८ ॥

स्थल तथा जलके मार्गसे व्यापार करनेमें चतुर और बाजारके सौदोंके मूल्य लगनेमें निपुण व्यक्ति बाजारके अनुसार जिस वस्तुका जो मूल्य निश्चित करें, उसके लाभमें से राजा बीसवां भाग कररूपमें ग्रहण करे ॥ ३९८ ॥

स्थलजलपथव्यवाहरतो राजग्राह्यो भागः शुल्कम्। तद्यावस्थानेषु ये कुशलास्तथा सर्वपण्यानां सारासारज्ञास्ते पण्येषु यमर्घं मूल्यमनुरूपं कुर्युस्ततो लाभधनाद्विंशतिभागं राजा गृह्णीयात् ॥ ३९८ ॥

राज्ञः प्रख्यातभाण्डानि प्रतिषिद्धानि यानि च ।
तानि निर्हरतो लोभात्सर्वहारं हरेन्नृपः ॥ ३९९ ॥

राजासे सम्बद्ध बिक्री करने योग्य विख्यात (बर्तन या राजोपयोगी हाथी, घोड़ा, गाड़ी आदि) सामान तथा निर्यात (निकासी) के लिये मना किये गये पदार्थ (यथा-दुर्भिक्षके कारण अन्नादि, पशून्नति आदिके लिए गाय, भैंस, बैल आदि, या इसी प्रकार अन्यान्य पदार्थ) को लोभ (अधिक लाभ होनेकी आशा) से दूसरे देश (या स्थान) में ले जानेवाले व्यापारीकी सम्पूर्ण सम्पत्तिको राजा हरण (जप्त) कर ले ॥ ३९९ ॥

राज्ञः सम्बन्धितया यानि विक्रेयद्रव्याणि प्रख्यातानि राजोपयोगीनि हस्त्यश्वादीनि च तद्देशोद्भवानि च प्रतिषिद्धानि च। यथा दुर्भिक्षे धान्यं देशान्तरं न नेयमिति तानि लोभाद् देशान्तरं नयतो वणिजः सर्वहरणं राजा कुर्यात् ॥ ३९९ ॥

शुल्कस्थानं परिहरन्नकालेक्रयविक्रयी ।
मिथ्यावादी च संख्याने दाप्योऽष्टगुणमत्ययम् ॥ ४०० ॥

शुल्क (चुंगी-कस्टम) से बचनेके लिए चुंगीघरका रास्ता छोड़कर दूसरे रास्तासे सौदा ले जानेवाला असमय (रात्रि आदिमें गुप्त रूपसे) विक्रय करनेवाला, व्यापारी चुंगीके वास्तविक मूल्यके अठगुने द्रव्यसे दण्डनीय होता है ॥ ४०० ॥

शुल्कमोषणायोत्पथेन गच्छति। अकाले रात्र्यादौ वा क्रयविक्रयं करोति। शुल्कखंडनार्थं विक्रेयद्रव्यास्याल्पां संख्यां वक्ति। राजदेयमपलपितमष्टगुणं दंडरूपतया दाप्यः ॥ ४०० ॥

आगमं निर्गमं स्थानं तथा वृद्धिक्षयावुभौ ।
विचार्य सर्वपण्यानां कारयेत्क्रयविक्रयौ ॥ ४०१ ॥

(राजा) आयात-निर्यातकी दूरी, स्थान, कितने दिनोंतक रखे रहनेसे कितना लाभ होगा, कितना बढ़ेगा, कर्मचारियों या अन्य कूली आदि तथा कीड़े आदिके कारण कितना माल घटेगा; इत्यादि सब बातोंका विचारकर बाजारमें बेचने योग्य सब सौदों (अन्न, वस्त्र, शस्त्र, काष्ठ आदि सामान) का मूल्य निश्चित कर उनका क्रय-विक्रय (खरीद-बेची) करावे ॥ ४०१ ॥

कियतो दूरादागतमिति देशान्तरीयद्रव्यस्यागमनं, कियद्दूरं नीयत इति स्वदेशोद्भवस्य निर्गमं, कियत्कालस्थितं कियन्मूल्यं लभत इति स्थितं, तथा कियती वृद्धिरित्यत्र कर्मकाराणां भक्ताच्छादनादिना कियानपचय इत्येवं विचार्य, तथा वणिजां क्रेतॄणां यथा पीडा न भवति तथा सर्वपण्यानां क्रयविक्रयौ कारयेत् ॥ ४०१ ॥

पञ्चरात्रे पञ्चरात्रे पक्षे पक्षेऽथवा गते ।
कुर्वीत चैषां प्रत्यक्षमर्घसंस्थापनं नृपः ॥ ४०२ ॥

राजा पांच-पांच या पन्द्रह-पन्द्रह दिनोंके बाद मुख्य व्यापारियोंके सामने (उनसे विचार-विनिमय करके सौदोंके) मूल्यका निर्धारण करता रहे ॥ ४०२ ॥

आगमनिर्गमोपाययोगादेः पण्यानामनियतत्वादस्थिरार्घादीनां पञ्चरात्रे पञ्चरात्रे गते स्थिरप्रायार्घाणां पक्षे पक्षे गते वणिजामर्घविदां प्रत्यक्षं नृपतिराप्तपुरुषैर्व्यवस्थां कुर्यात् ॥ ४०२ ॥

तुलामानं प्रतीमानं सर्वं च स्यात्सुलक्षितम् ।
षट्सु षट्सु च मासेषु पुनरेव परीक्षयेत् ॥ ४०३ ॥

तुलामान, प्रतीमान और तराजूको राजा अच्छी तरह जांचकर परीक्षा करे तथा प्रति छः मास पर उनकी जांच कराता रहे ॥ ४०३ ॥

तुलमानं सुवर्णादीनां परिच्छेदार्थं यत्क्रियते, प्रतीमानं प्रस्थद्रोणादि तत्सर्वं स्वनिरूपितं यथा स्यात। षट्सु षट्सु मासेषु गतेषु पुनस्तत्सर्वं सभ्यपुरुषैर्नृपतिः परीक्षयेत् ॥ ४०३ ॥

पणं यानं तरे दाप्यं पौरुषोऽर्धपणं तरे।
पादं पशुश्च योषिच्च पादार्धं रिक्तकः पुमान् ॥ ४०४ ॥

(नदी आदिको) नावसे पार करनेमें मनुष्य खाली गाड़ीका एक पण, एक आदमीके बोझ (लगभग एक मन) का आधा पण, गौ आदि पशु तथा स्त्रीका चौथाई पण तथा खाली (बोझ-रहित) मनुष्यका अष्टमांश पण (८।१३६) नावका भाड़ा (खेवाई) देवे ॥ ४०४ ॥

'भाण्डपूर्णानि यानानि' (म. स्मृ. ८-४०५) इति वक्ष्यति। तेन रिक्तशकटादि यानं तरविषये पणं दाप्यम्। एवं पुरुषभारोऽर्धपणं तरपण्यं दाप्यः। पशुश्च गवादिः पणचतुर्थभागं, भाररहितो मनुष्यः पणाष्टभागं दापनीयः ॥ ४०४ ॥

भाण्डपूर्णानि यानानि तार्यं दाप्यानि सारतः।
रिक्तभाण्डानि यत्किंचित्पुमांसश्चापरिच्छदाः ॥ ४०५ ॥

सामानसे भरी हुई गाड़ी या ठेले आदिकी खेवाई उनके हलकापन तथा भारीपनके अनुसार देवे तथा खाली बर्तन और दरिद्र मनुष्यका भाड़ा जो भी कुछ अर्थात् अत्यन्त थोड़ा देवे ॥ ४०५ ॥

पण्यद्रव्यपूर्णानि शकटादीनि द्रव्यगतोत्कर्षापेक्षया तरं दाप्यानि। द्रव्यरहितानि च गोणीकम्बलादीनि यत्किंचित्स्वल्पं तार्यं दाप्यम्। अपरिच्छदा दरिद्रा उक्तपदार्थदानापेक्षया यत्किंचिद् दापनीयाः ॥ ४०५ ॥

दीर्घाध्वनि यथादेशं यथाकालं तरो भवेत्।
नदीतीरेषु तद्विद्यात्समुद्रे नास्य लक्षणम् ॥ ४०६ ॥

दूरतक जानेके लिए नदीकी प्रबलता (तेज बहाव), स्थिरता, गर्मी तथा वर्षा आदिके समयके अनुसार नावभाड़ा (खेवाई) होता है; इसको नदी-तटके लिए समझना चाहिये। समुद्रमें नदीसे भिन्न स्थिति होनेसे यह नियम (८।४०४-४०५) नहीं है (अत एव उसका भाड़ा उचित ही लेना चाहिये) ॥ ४०६ ॥

पूर्वं पारावारे तरणार्थमुक्तम्। इदानीं नदीमार्गे दूराध्वनि गन्तव्ये प्रबलवेगस्थिरोदकनद्यादिदेशग्रीष्मवर्षादिकालापेक्षया तरमूल्यं कल्पनीयम्। एतच्च नदीतीरे बोद्धव्यम्। समुद्रे तु वाताधीनपोतगमनत्वात्स्वायत्तत्वाभावे तरपण्यविशेषज्ञापकं नदीवद् वियोजनादिकं नास्ति। ततस्तत्रोचितमेव तरपण्यं ग्राह्यम् ॥ ४०६ ॥

गर्भिणी तु द्विमासादिस्तथा प्रव्रजितो मुनिः।
ब्राह्मणा लिङ्गिनश्चैव न दाप्यास्तारिकं तरे ॥ ४०७ ॥

दो माससे अधिक गर्भवाली स्त्री, संन्यास, ब्राह्मण और ब्रह्मचारीसे नदीके पार जानेमें कोई नावभाडा नहीं लेना चाहिये ॥ ४०७ ॥

संजातगर्भा स्त्री मासद्वयादूर्ध्वं, तथा प्रव्रजितो भिक्षुर्मुनिर्वानप्रस्थो ब्राह्मणाश्च, लिङ्गिनो ब्रह्मचारिणः तरमूल्यं तरे न दाप्याः ॥ ४०७ ॥

यन्नावि किंचिद्दाशानां विशीर्येतापराधतः।
तद्दाशैरेव दातव्यं समागम्य स्वतोऽशतः ॥ ४०८ ॥

मल्लाहोंकी गलतीसे जो सामान नष्ट हो जाय उनकी पूर्ति सब मल्लाहों को मिलकर अपने-अपने हिस्सेमें-से करनी चाहिये ॥ ४०८ ॥

नोकारूढानां यत्किंचिन्नाविकापराधेन नष्टं द्रव्यं, तन्नाविकैरेव मिलित्वा यथाभागं दातव्यम् ॥ ४०८ ॥

एष नौयायिनामुक्तो व्यवहारस्य निर्णयः।
दाशापराधतस्तोये दैविके नास्ति निग्रहः ॥ ४०९ ॥

(भृगुजी ऋषियोंसे कहते हैं कि—) नावसे पार जानेवालोंके लिये यह निर्णय कहा गया है। नाविकों (नावपर काम करनेवाले) मल्लाहोंकी असावधानी से नष्ट हुए सामानके देनदार नाविक होते हैं, किन्तु दैवी उपद्रव (आंधी-तूफान आदि) से सामानके नष्ट होनेपर उसके देनदार नाविक नहीं होते, वह हानि नष्ट हुए सामानके स्वामीको भोगनी पड़ती है ॥ ४०९ ॥

नाविकापराधादुदके नष्ट नाविकैरेव दातव्यमिति पूर्वोक्तमनूदितं "नाविके नास्ति निग्रहः" इति विधातुं नौयायिनामेष व्यवहारस्य निर्णय उक्तः। दैवोपजातवातादिना नौभङ्गेन धनादिनाशे नाविकानां न दण्डः ॥ ४०९ ॥

वाणिज्यं कारयेद्वैश्यं कुसीदं कृषिमेव च।
पशूनां रक्षणं चैव दास्यं शूद्रं द्विजन्मनाम् ॥ ४१० ॥

राजा वैश्योंसे व्यापार, व्याज (सूद) की जीविका, खेती तथा पशु-पालन और शूद्रोंसे द्विजों की सेवा करावे ॥ ४१० ॥

वाणिज्यं कुसीदकृषिपशुरक्षणानि वैश्यं कारयेत्। शूद्रं च राजा द्विजातीनां दास्यं कारयेत्। अकुर्वाणौ वैश्यशूद्रौ राज्ञो दण्ड्याविरत्येवमर्थोऽयमिहोपदेशः ॥ ४१० ॥

क्षत्रियं चैव वैश्यं च ब्राह्मणो वृत्तिकर्शितौ।
बिभृयादानृशंस्येन स्वानि कर्माणि कारयन् ॥ ४११ ॥

जीविका (के अभाव) से दुःखित क्षत्रिय तथा वैश्यको उनसे अपनी जाति के अनुसार रक्षण तथा खेती आदि करवाता हुआ धनवान् ब्राह्मण करुणापूर्वक पालन करे ॥ ४११ ॥

ब्राह्मणः क्षत्रियवैश्यौ भृत्यभावेन पीडितौ करुणया स्वानि कर्माणि रक्षणकृष्यादीनि कारयन् ग्रासाच्छादनादिना पोषयेत। एवं बलवान्ब्राह्मणस्तावुपगतावबिभ्रन् राज्ञा दण्डनीय इति प्रकरणसामर्थ्याद् गम्यते ॥ ४११ ॥

दास्यं तु कारयँल्लोभाद् ब्राह्मणः संस्कृतान्द्विजान्।
अनिच्छतः प्राभवत्याद्राज्ञा दण्ड्यः शतानि षट् ॥ ४१२ ॥

सम्पत्तिशाली होनेके कारण यदि ब्राह्मण लोभसे यज्ञोपवीत संस्कारयुक्त द्विजसे उसकी इच्छा के विना दासकर्म करावे तो वह ब्राह्मण राजाके द्वारा ६०० पण (८।१३६) से दण्डनीय होता है ॥ ४१२ ॥

प्रभवतो भावः प्राभवत्यम्। ब्राह्मणः कृतोपनयनान्द्विजातीननिच्छतः प्रभुत्वेन लोभाद्दास्यकर्म पादधावनादि कारयन् षट् शतानि दण्ड्यः ॥ ४१२ ॥

शूद्रं तु कारयेद्दास्यं क्रीतमक्रीतमेव वा।
दास्यायैव हि सृष्टोऽसौ ब्राह्मणस्य स्वयंभुवा ॥ ४१३ ॥

किन्तु वेतन देकर या नहीं देकर (जैसा वे चाहें वैसा करके) शूद्रसे दास कर्मको करावे; क्योंकि ब्रह्माने ब्राह्मणोंकी सेवाके लिए ही शूद्रोंकी सृष्टि की है ॥ ४१३ ॥

शूद्रं पुनर्भक्तादिभृतमभृतं वा दास्यं कारयेत्। यस्मादसौ ब्राह्मणस्य दास्यायैव प्रजापतिना सृष्टः ॥ ४१३ ॥

न स्वामिना निसृष्टोऽपि शूद्रो दास्याद्विमुच्यते।
निसर्गजं हि तत्तस्य कस्तमात्तदपोहति ॥ ४१४ ॥

स्वामीके द्वारा छोड़ा गया भी शूद्र दासत्वसे छुटकारा नहीं पाता है, क्योंकि वह (दासत्व) उसका स्वाभाविक कर्म है, (अत एव) उस (दासत्व कर्म) से उसको कौन मुक्त कर सकता है? अर्थात् कोई नहीं ॥ ४१४ ॥

यस्मादसौ ध्वजाहृतत्वादिना दासत्वं गतः, स तेन त्यक्तः, स्वदास्याभावेपि शूद्रो ब्राह्मणस्य दास्यान्न विमुच्यते। तस्माद्दास्यं शूद्रस्य सहजम्। कः शूद्रत्वजातिमिव दास्यमपनयति। अदृष्टार्थमप्यवश्यं शूद्रेण ब्राह्मणादिद्विजशुश्रूषा कर्तव्येत्येवं परमेतत्। अन्यथा वक्ष्यमाणदास्यकरणपरिगणनमनर्थकं स्यात् ॥ ४१४ ॥

ध्वजाहृतो भक्तदासो गृहजः क्रीतदत्रिमौ।
पैत्रिको दण्डदासश्च सप्तैते दासयोनयः ॥ ४१५ ॥

(१) युद्धमें स्वामीके पाससे जीता गया, (२) भोजन करने आदिके लोभसे आया हुआ, (३) दासी-पुत्र, (४) मूल्य देकर खरीदा गया, (५) किसीके देनेसे प्राप्त हुआ, (६) पिताकी परम्परासे चला आता हुआ, (७) दण्ड (ऋण आदि) को चुकानेके लिए स्वीकृत किया गया, दासोंकी ये सात योनियां (कारण) हैं ॥ ४१५ ॥

संग्रामे स्वामिसकाशाज्जितो, भक्तलोभाद्युपगतदास्यो भक्तदासः, तथा दासीपुत्रः, मूल्येन क्रीतः, अन्येन दत्तः, पित्रादिक्रमागतः दण्डादिधनशुद्ध्यर्थं स्वीकृतदास्यभावः, इत्येतानि सप्त ध्वजाहृतत्वादीनि दासत्वकारणानि ॥ ४१५ ॥

भार्या पुत्रश्च दासश्च त्रय एवाधनाः स्मृताः।
यत्ते समधिगच्छन्ति यस्य ते तस्य तद्धनम् ॥ ४१६ ॥

स्त्री, पुत्र तथा दास, इन तीनोंको (मनु आदि महर्षियोंने) निर्धन ही कहा है, ये जो कुछ उपार्जन करते हैं, वह उसका होता है जिसके वे (भार्या, पुत्र या दास हैं) ॥ ४१६ ॥

पुत्रभार्यादासाख्त्रयोऽमी निर्धना एव मन्वादिभिः स्मृताः। यस्माद्यद्धनं तेऽर्जयन्ति यस्य ते भार्यादयस्तस्य तद्धनं भवति। एतच्च भार्यादीनां पारतन्त्र्यप्रदर्शनार्थपरम्। अध्यग्न्यादेः षड्विधस्य स्त्रीधनस्य वक्ष्यमाणत्वात्, धनसाध्यादृष्टार्थकर्मोपदेशार्थं च भार्यादीनां पत्न्यधिकरणे पत्न्यर्थेऽपि यागाधिकारस्योक्तत्वात्। स्त्रीपुंसयोर्मध्ये एकधने चानुमतिद्वारेण स्त्रिया अपि कर्तृत्वात् ॥ ४१६ ॥

विस्रब्धं ब्राह्मणः शूद्राद् द्रव्योपादानमाचरेत्।
न हि तस्यास्ति किञ्चित्स्वं भर्तृहार्यधनो हि सः ॥ ४१७ ॥

ब्राह्मण बिना विकल्प किये (दास) शूद्रसे धनको ले लेवे, क्योंकि उस (दास-शूद्र) का निजी धन कुछ नहीं है और वह (दास शूद्र) स्वामीसे ग्रहण करने योग्य धनवाला है अर्थात् उस शूद्रके धनको ग्रहण करनेका अधिकार उसके स्वामीको है ॥ ४१७ ॥

निर्विचिकित्समेव प्रकृताद्दासशूद्राद्धनग्रहणं कुर्याद् ब्राह्मणः। यतस्तय किंचिदपि स्वनास्ति, यस्माद्भर्तृग्राह्यधनोऽसौ। एवं चापदि बलादपि दासाद् ब्राह्मणो धनं गृह्णन्न राजा दण्डनीय इत्येवमर्थमेतदुच्यते ॥ ४१७ ॥

वैश्यशूद्रौ प्रयत्नेन स्वानि कर्माणि कारयेत्।
तौ हि च्युतौ स्वकर्मभ्यः क्षोभयेतामिदं जगत् ॥ ४१८ ॥

राजा वैश्य तथा शूद्रसे यत्नपूर्वक अपने-अपने कर्मों (वैश्यसे व्यापार, पशुपालन और खेती आदि तथा शूद्रसे द्विजसेवा) को करवाता रहे, क्योंकि अपने-अपने कर्मसे भ्रष्ट ये दोनों (वैश्य तथा शूद्र, अन्यायोपार्जित धनादिके अभिमानसे) इस संसारको क्षुभित कर देंगे ॥ ४१८ ॥

वैश्यं कृष्यादीनि शूद्रं च द्विजातिशुश्रूषादीनि कर्माणि यत्नतो राजा कारयेत्। यस्मात्तौ स्वकर्मभ्यश्च्युतावशास्त्रीयोपार्जितधनग्रहणमदादिना जगदाकुलीकुर्याताम् ॥ ४१८ ॥

अहन्यहन्यवेक्षेत कर्मान्तान्वाहनानि च।
आयव्ययौ च नियतावाकरान्कोशमेव च ॥ ४१९ ॥

राजा प्रतिदिन (उन-उन विभागीय अधिकारियोंके द्वारा) आरम्भ किये गये कार्योंकी समाप्ति, हाथी-घोड़ा आदि वाहन, आय, व्यय, (कोयला, अभ्रक, लोहा, सोना आदिकी) खान, और कोष; इनको अनेक कार्यमें फंसे रहनेपर भी सदैव देखता रहे ॥ ४१९ ॥

प्रत्यहं तदधिकृतद्वारेण प्रारब्धदृष्टादृष्टार्थकर्मजां निष्पत्तिं नृपतिर्निरूपयेत्। तथा हस्त्यश्वादीनि किमद्य प्रविष्टं किं निःसृतमिति, सुवर्णरत्नोत्पत्तिस्थानानि, भाण्डागारं चावेक्षेत। व्यवहारदर्शनासक्तोऽपि राजा धर्मान्न परित्यजेदिति दर्शयितुमुक्तस्यापि पुनर्वचनम् ॥ ४१९ ॥

एवं सर्वानिमान्राजा व्यवहारान्समापयन्।
व्यपोह्य किल्बिषं सर्वं प्राप्नोति परमां गतिम् ॥ ४२० ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां राजधर्मे व्यवहारनिर्णये
सामान्यव्यवहारो नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

इस प्रकार सब व्यवहारोंको समाप्त (पूरा) करता हुआ राजा सब पापोंको दूरकर उत्तम गतिको प्राप्त करता है ॥ ४२० ॥

एवमुक्तप्रकारेणैतान्सर्वान्नृणादानादीन्व्यवहारांस्तत्त्वतो निर्णयेनान्तं नयन्पापं सर्वमपहाय स्वर्गादिप्राप्तिरूपामुत्कृष्टां गतिं लभते ॥ ४२० ॥ क्षे० ३० ॥

इति श्रीकुल्लूकभट्टविरचितायां मन्वर्थमुक्तावल्यामष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

अथ नवमोऽध्यायः

पुरुषस्य स्त्रियाश्चैव धर्मे वर्त्मनि तिष्ठतोः ।
संयोगे विप्रयोगे च धर्मान्वक्ष्यामि शाश्वतान् ॥ १ ॥

(महर्षि भृगुजी ऋषियोंसे कहते हैं कि-अब मैं) धर्ममार्गमें रहते हुए स्त्री-पुरुषके संयोग और वियोग होने (साथ और अलग रहने) पर नित्य (सनातन) धर्म कहूँगा ॥ १ ॥

पुरुषस्य पत्न्याश्च धर्माय हि ते अन्योन्याव्यभिचारिलक्षणे वर्त्मनि वर्तमानयोः संयुक्तवियुक्तयोश्च धर्मान्पारंपर्यागतत्वेन नित्यान्वक्ष्यामि । दम्पत्योः परस्परधर्मव्यतिक्रमे सत्यन्यतरज्ञाने दण्डेनापि स्वधर्मव्यवस्थानं राज्ञा कर्तव्यमिति व्यवहारमध्येऽस्योपदेशः ॥ १ ॥

अस्वतन्त्राः स्त्रियः कार्याः पुरुषैः स्वैर्दिवानिशम् ।
विषयेषु च सज्जन्त्यः संस्थाप्या आत्मनो वशे ॥ २ ॥

पति आदि आत्मीय जनोंको चाहिये कि वे रात-दिन स्त्रियोंको स्वाधीन रखें (उनको देखभाल किया करें—उन्हें स्वाधीन न रहने दें), अनिषिद्ध (रूप-रस आदि) विषयोंमें आसक्त होती हुई उन्हें अपने वशमें करें ॥ २ ॥

स्वीयैर्भर्त्रादिभिः सदा स्त्रियः स्वाधीनाः कार्याः । अनिषिद्धेष्वपि रूपरसादिविषयेषु प्रसक्ता अपि आत्मवशाः कार्याः ॥ २ ॥

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने ।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥ ३ ॥

पिता विवाहात्पूर्वं स्त्रियं रक्षेत्पश्चाद्भर्ता तदभावे पुत्राः । तस्मान्न स्त्री कस्यांचिदप्यवस्थायां स्वातन्त्र्यं भजेत् । भर्ता रक्षति यौवने इत्यादि प्रायिकम्, अभर्तृपुत्रायाः संनिहितायाः पित्रादिभिरपि रक्षणात् ॥ ३ ॥

कालेऽदाता पिता वाच्यो वाच्यश्चानुपयन्पतिः ।
मृते भर्तरि पुत्रस्तु वाच्यो मातुररक्षिता ॥ ४ ॥

स्त्रीकी रक्षा बचपनमें पिता करता है, युवावस्थामें पति करता है और वृद्धावस्थामें पुत्र करते हैं; स्त्री स्वतन्त्र रहनेके योग्य नहीं है । (पति-पुत्रहीन स्त्रीकी रक्षा युवावस्थामें पिता आदि स्वजन भी कर सकते हैं, अत एव युवावस्थामें पतिका रक्षा करना प्रायिक समझना चाहिये) ॥ ३ ॥

समयपर (ऋतुमती होनेके पूर्व) नहीं देने (विवाह नहीं करने) वाला पिता निन्दनीय है, समय (ऋतुमती होनेपर शुद्धिके बाद) सम्भोग नहीं करनेवाला पति निन्दनीय होता है और पतिके मर जानेपर माताकी रक्षा नहीं करनेवाला पुत्र निन्दनीय होता है ॥ ४ ॥

प्रदानकाले पिता तामददन् गर्ह्यो भवति । "प्रदानं प्रागृतोः" इति गौतमवचनादृतोः प्राक्प्रदानकालः । पतिश्च ऋतुकाले पत्नीमगच्छन्गर्हणीयो भवति । पत्यौ मृते मातरमरक्षन्पुत्रो निन्द्यः स्यात् ॥ ४ ॥

सूक्ष्मेभ्योऽपि प्रसङ्गेभ्यः स्त्रियो रक्ष्या विशेषतः ।
द्वयोर्हि कुलयोः शोकमावहेयुररक्षिताः ॥ ५ ॥

[भार्यायां रक्ष्यमाणायां प्रजा भवति रक्षिता ।
प्रजायां रक्ष्यमाणायामात्मा भवति रक्षितः ॥ १ ॥]

साधारणतम प्रसङ्गों, (दुःशीलता-सम्पादक अवसरों) से स्त्रियोंको विशेष रूपसे बचाना चाहिये, क्योंकि अरक्षित स्त्रियां दोनों (पिता तथा पतिके) कुलोंको सन्तप्त करती हैं ॥ ५ ॥

[स्त्रीकी रक्षा करनेपर सन्तान सुरक्षित होती है तथा सन्तानके सुरक्षित होनेपर आत्मा सुरक्षित होता है ॥ १ ॥]

स्वल्पेभ्योऽपि दुःसङ्गेभ्यो दौःशील्यसंपादकेभ्यो विशेषेण स्त्रियो रक्षणीयाः किं पुनर्महद्भ्यः । यस्मादुपेक्षितरक्षणाद् द्वयोः पितृभर्तृगणयोः संतापं दापयेयुः ॥ ५ ॥

इमं हि सर्ववर्णानां पश्यन्तो धर्ममुत्तमम् ।
यतन्ते रक्षितुं भार्यां भर्तारो दुर्बला अपि ॥ ६ ॥

(ब्राह्मण-क्षत्रियादि) समस्त वर्णोंके इस उत्तम धर्मको देखते हुए दुर्बल (अन्धे, लंगड़े, रोगी, निर्धन आदि) भी पति स्त्रीकी रक्षा करनेके लिए यत्न करते हैं ॥ ६ ॥

सर्वेषां ब्राह्मणादिवर्णानां भार्यारक्षणलक्षणं धर्मं वक्ष्यमाणश्लोकरीत्या सर्वधर्मेभ्य उत्कृष्टं जानन्तोऽन्धपङ्ग्वादयोऽपि भार्यां रक्षितुं यतेरन् ॥ ६ ॥

स्वां प्रसूतिं चरित्रं च कुलमात्मानमेव च ।
स्वं च धर्मं प्रयत्नेन जायां रक्षन्हि रक्षति ॥ ७ ॥

(प्रयत्न-पूर्वक) स्त्रीकी रक्षा करता हुआ मनुष्य अपनी सन्तान, आचरण, कुल, आत्मा और धर्म-इनकी रक्षा करता है; (इस कारण स्त्रियोंकी रक्षा करनेके लिए यत्न करना चाहिये) ॥७॥

यस्माद्भार्यां रक्षतो रक्षणमसंकीर्णविशुद्धापत्योत्पादनेन स्वसंततिं तथा शिष्टसमाचारं पितृपितामहाद्यन्वयमात्मानं विशुद्धसंताननिमित्तौर्ध्वदेहिकलाभेन स्वधर्मं च विशुद्धभार्यस्याधानादावप्यधिकाराद्भवति । तस्मात्स्त्रियो रक्षितुं यतेतेति पूर्वस्य विशेषः ॥ ७ ॥

पतिर्भार्यां संप्रविश्य गर्भो भूत्वेह जायते ।
जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः ॥ ८ ॥

पति वीर्यरूपसे स्त्रीमें प्रवेशकर गर्भ होकर पुत्ररूपसे उत्पन्न होता है, जाया (स्त्री) का वही जायात्व (स्त्रीपन) है; जो इस (स्त्री) में (पुत्ररूपसे पति) पुनः उत्पन्न होता है ॥ ८ ॥

पतिः शुक्ररूपेण भार्यां संप्रविश्य गर्भमापाद्य तस्यां भार्यायां पुत्ररूपेण जायते । तथा च श्रुतिः "आत्मा वै पुत्रनामासि" इति । जायायास्तदेव जायात्वं यतोऽस्यां पतिः पुनर्जायते । तथा च बह्वृचब्राह्मणम्—पतिर्जायां प्रविशति गर्भो भूत्वा स मातरम् । तस्यां पुनर्नवो भूत्वा दशमे मासि जायते ॥ तज्जाया जाया भवति यदस्यां जायते पुनः ॥ (पंचिका ७ अ० ३) ततश्चासौ रक्षणीयेत्येतदर्थं नामनिर्वचनम् ॥ ८ ॥

यादृशं भजते हि स्त्री सुतं सूते तथाविधम् ।
तस्मात्प्रजाविशुद्ध्यर्थं स्त्रियं रक्षेत्प्रयत्नतः ॥ ९ ॥

स्त्री जिस प्रकारके (शास्त्रानुकूल या शास्त्रप्रतिकूल) पतिका सेवन (सम्भोग) करती है, उसी प्रकारके (श्रेष्ठ या नीच) सन्तानको उत्पन्न करती है, अत एव स्त्रीकी यत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिये ॥ ९ ॥

यस्माद्यादृशं पुरुषं शास्त्रेण विहितं प्रतिषिद्धं वा तादृशशास्त्रोक्तपुरुषसेवनेनोत्कृष्टं निषिद्धपुरुषसेवनेन च निकृष्टं पुत्रं जनयति । तस्मादपत्यविशुध्यर्थं पत्नीं यत्नतो रक्षेत् ॥९॥

कथं रक्षणीयेत्यत आह—

न कश्चिद्योषितः शक्तः प्रसह्य परिरक्षितुम् ।
एतैरुपाययोगैस्तु शक्यास्ताः परिरक्षितुम् ॥ १० ॥

कोई (पिता, पति, पुत्रादि) बलात्कारकर स्त्रीकी रक्षा नहीं कर सकता, किन्तु इन (आगे कहे जानेवाले) उपायोंसे उन (स्त्रियों) की रक्षा की जा सकती है ॥ १० ॥

कश्चिद्बलात्संरोधादिनाऽपि स्त्रियो रक्षितुं न शक्तः, तत्रापि व्यभिचारदर्शनात् । किन्त्वेतैर्वक्ष्यमाणै रक्षणोपायप्रयोगैस्ता रक्षयितुं समर्थाः ॥ १० ॥

तानुपायानाह—

अर्थस्य संग्रहे चैनां व्यये चैवं नियोजयेत् ।
शौचे धर्मेऽन्नपक्त्यां च पारिणाह्यस्य वेक्षणे ॥ ११ ॥

(पिता, पति या पुत्रादि अभिभावक) उस (स्त्री) को धनके संग्रह, व्यय, वस्तु तथा पदार्थों की शुद्धि, पति तथा अग्निकी सेवा (पति एवं गुरुजनकी शुश्रूषा तथा अग्निहोत्र कर्म); घर तथा घरके बर्तन आदिकी सफाईमें नियुक्त करे ॥ ११ ॥

धनस्य संग्रहणे विनियोगे च द्रव्यशरीरशुद्धौ भर्त्रग्निशुश्रूषादिकेऽन्नसाधने पारिणाह्यस्य गृहोपकरणस्य शय्याऽऽसनकुण्डकटाहादेरवेक्षणे एनां नियोजयेत् । वेक्षणे अवस्य आदिलोपः ॥ ११ ॥

अरक्षिता गृहे रुद्धाः पुरुषैराप्तकारिभिः ।
आत्मानमात्मना यास्तु रक्षेयुस्ताः सुरक्षिताः ॥ १२ ॥

(यदि स्त्रियां धर्मविरुद्ध बुद्धि होनेसे अपनी रक्षा स्वयं नहीं करतीं तो) आप्त एवं आज्ञाकारी पुरुषोंसे घरमें रोकी गयी भी वे स्त्रियां अरक्षित हैं, जो स्त्रियां धर्मानुकूल बुद्धि होनेसे अपनी रक्षा स्वयं करती हैं, वे ही सुरक्षित हैं (अतः पति आदि अभिभावकोंको चाहिये कि धर्मका सत्फल बतलाकर उन्हें संयममें रहनेका उपदेश दें) ॥ १२ ॥

आप्ताश्च ते आज्ञाकारिणश्च तैः पुरुषैर्गृहे रुद्धा अप्यरक्षिता भवन्ति, याः दुःशीलतया नात्मानं रक्षन्ति । यास्तु धर्मज्ञतया आत्मानमात्मना रक्षन्ति ता एव सुरक्षिता भवन्ति । अतो धर्माधर्मफलस्वर्गनरकप्राप्त्याद्युपदेशेनासां संयमः कार्य इति मुख्यरक्षणोपायकथनपरमिदम् ॥ १२ ॥

पानं दुर्जनसंसर्गः पत्या च विरहोऽटनम् ।
स्वप्नोऽन्यगेहवासश्च नारीसंदूषणानि षट् ॥ १३ ॥

(मद्यादि मादक द्रव्योंका) पीना (या प्रकारान्तरसे सेवन करना), दुष्टोंका संसर्ग, पतिके साथ विरह, इधर-उधर घूमना, (असमयमें) सोना और दूसरेके घरमें निवास करना—ये स्त्रियोंके छः दोष हैं (अत एव इनसे इन स्त्रियोंको बचाना चाहिये) ॥ १३ ॥

मद्यपानं, असत्पुरुषसंसर्गः, भर्त्रा सह विरहः, इतस्ततश्च भ्रमणं, अकालस्वापः, परगृहनिवासः इत्येतानि षट् स्त्रिया व्यभिचाराख्यदोषजनकानि । तस्मादेतेभ्य एता रक्षणीयाः ॥ १३ ॥

नैता रूपं परीक्षन्ते नासां वयसि संस्थितिः।
सुरूपं वा विरूपं वा पुमानित्येव भुञ्जते ॥ १४ ॥

ये (स्त्रियां पुरुषके) सुन्दर रूपकी परीक्षा नहीं करतीं, युवावस्था आदिमें आदर (विशेष चाहना) नहीं करतीं, किन्तु 'पुरुष है' इसी विचारसे सुन्दर या कुरूप पुरुषके साथ सम्भोग करती है ॥ १४ ॥

नैताः कमनीयरूपं विचारयन्ति। न चासां यौवनादिके वयस्यादरो भवति। किन्तु सुरूपं कुरूपं वा पुमानित्येतावतैव तमुपभुञ्जते ॥ १४ ॥

पौंश्चल्याच्चलचित्ताच्च नैस्नेह्याच्च स्वभावतः।
रक्षिता यत्नतोऽपीह भर्तृष्वेता विकुर्वते ॥ १५ ॥

व्यभिचारिता (सम्भोगादिकी अतिशय इच्छा होने) से, चित्तकी चञ्चलतासे और स्वभावतः स्नेहका अभाव होनेसे यत्नपूर्वक (पति आदिके द्वारा) सुरक्षित भी ये (स्त्रियां व्यभिचारादि दोपसे) पतियोंमें विकृत (विपरीत प्रकृतिवाली) हो जाती हैं ॥ १५ ॥

पुंसो दर्शने सम्भोगाद्यभिलाषशीलत्वात्, चित्तस्थैर्याभावाद, स्वभावतः स्नेहरहितत्वाच्च। एता यत्नेनापि लोके रक्षिताः सत्या व्यभिचाराश्रयणेन भर्तृषु विक्रियां गच्छन्ति ॥ १५ ॥

एवं स्वभावं ज्ञात्वाऽऽसां प्रजापतिनिसर्गजम्।
परमं यत्नमातिष्ठेत्पुरुषो रक्षणं प्रति ॥ १६ ॥

ब्रह्माकी सृष्टिसे ही इनका ऐसा स्वभाव जानकर पुरुष इनकी रक्षाके लिए विशेष यत्न करे ॥

एवं श्लोकद्वयोक्तमासां स्वभावं हिरण्यगर्भसृष्टिकालजनितं ज्ञात्वा रक्षणार्थं प्रकृष्टं यत्नं पुरुषः कुर्यात् ॥ १६ ॥

शय्याऽऽसनमलङ्कारं कामं क्रोधमनार्जवम्।
द्रोहभावं कुचर्यां च स्त्रीभ्यो मनुरकल्पयत् ॥ १७ ॥

शय्या, आसन, आभूषण, काम, क्रोध, कुटिलता, द्रोहभाव और दुराचरण—इनको स्त्रियोंके लिए मनुने सृष्टिके प्रारम्भमें ही बनाया (अत एव यत्नपूर्वक इनसे स्त्रियोंको बचाना चाहिये) ॥

शयनोपवेशनालङ्करणशीलत्वं कामक्रोधानार्जवपरहिंसाकुत्सिताचारत्वानि सर्गादौ मनुः स्त्रीभ्यः कल्पितवान्। तस्माद्यत्नतो रक्षणीयाः ॥ १७ ॥

नास्ति स्त्रीणां क्रिया मन्त्रैरिति धर्मे व्यवस्थितिः।
निरिन्द्रिया ह्यमन्त्राश्च स्त्रीभ्योऽनृतमिति स्थितिः ॥ १८ ॥

इन (स्त्रियों) का जातकर्मादि संस्कार (वेदोक्त) मन्त्रोंसे नहीं होता, यह धर्मशास्त्रकी मर्यादा है; धर्मप्रमाण-श्रुति स्मृतिसे हीन और पापनाशक (वेदोक्त अघमर्पणादि) मन्त्रोंके जपका अधिकार नहीं होनेसे पापयुक्त (वे स्त्रियां) असत्यके समान अपवित्र हैं यह शास्त्रकी मर्यादा है (अत एव इनकी रक्षा यत्नपूर्वक करनी चाहिये) ॥ १८ ॥

जातकर्मादिक्रिया स्त्रीणां मन्त्रैर्नास्तीत्येषा शास्त्रमर्यादा व्यवस्थिता। ततश्च मन्त्रवत्संस्कारगणाभावान्न निष्पापान्तःकरणाः। इन्द्रियं प्रमाणं, धर्मप्रमाणश्रुतिस्मृतिरहितत्वान्न धर्मज्ञाः। अमन्त्राः पापापनोदनमन्त्रजपरहितत्वाज्जातेऽपि पापे तन्निर्णंजनाक्षमाः। अनृतवदशुभाः स्त्रिय इति शास्त्रमर्यादा। तस्माद्यत्नतो रक्षणीया इत्यत्र तात्पर्यम् ॥ १८ ॥

तथा च श्रुतयो बह्व्यो निगीता निगमेष्वपि ।
स्वालक्षण्यपरीक्षार्थं तासां शृणुत निष्कृतीः ॥ १९ ॥

(स्त्री-स्वभावको व्यभिचारशील बतलाकर अब उसमें प्रमाण कहते हैं—) और शास्त्रोंमें बहुत-सी श्रुतियां ('न चैतद्विद्मो ब्राह्मणाः स्मोऽब्राह्मणा वा' इत्यादि वेदवाक्य (व्यभिचारकी परीक्षाके लिए पढ़ी गयी हैं, उनमेंसे प्रायश्चित्तरूप (एक) श्रुतिको (आप लोग) सुनें ॥ १९ ॥

व्यभिचारशीलत्वं स्त्रीणां स्वभाव इत्युक्तं, तत्र श्रुतिं प्रमाणतयोपन्यस्यति। तथा बह्व्यः श्रुतयो बहूनि श्रुतिवाक्यानि "न चैतद्विद्मो ब्राह्मणाः स्मोऽब्राह्मणा वा" इत्येवमादीनि निगमेषु स्वालक्षण्यं व्यभिचारशीलत्वं तत्परिज्ञानार्थं पठितानि । तासां श्रुतीनां मध्ये या निष्कृतिरूपा व्यभिचारप्रायश्चित्तभूतास्ताः श्रुतीः शृणुत । एकस्याः श्रुतेर्वक्ष्यमाणत्वाच्छ्रुतिं शृणुतेत्यर्थः । "सुपां सुपो भवन्ति' इति द्वितीयैकवचने बहुवचनम् । १९ ॥

यन्मे माता प्रलुलुभे विचरन्त्यपतिव्रता ।
तन्मे रेतः पिता वृक्तामित्यस्यैतन्निदर्शनम् ॥ २० ।

'दूसरेके घरमें विचरण करती (जाती) हुई मेरा माता अपतिव्रता होती हुई परपुरुषके प्रति लोभयुक्त अर्थात आकृष्ट हुई, उस (परपुरुष संकल्प) से दूषित माताके रजोरूप वीर्यको मेरे पिता शुद्ध करें' यही पादत्रय स्त्रीके व्यभिचारका उदाहरण है ॥ २० ॥

कश्चित्पुत्रो मातुर्मानसव्यभिचारमवगम्य ब्रूते । मनोवाक्कायकर्मभिः पतिव्यतिरिक्तं पुरुषं या न कामयते सा पतिव्रता, ततोऽन्याऽपतिव्रता । मम माता अपतिव्रता सती परगृहान्गच्छन्ती यत्प्रलुलुभे परपुरुषं प्रति संजातलोभाऽभूत्तत्पुरुषसङ्कल्पदुष्टं मातृरजोरूपं रेतो मम पिता शोधयत्वित्यस्य स्त्रिया व्यभिचारशीलत्वस्यैतदितिकरणान्तं मन्त्रपादत्रयं ज्ञापकम् । अयं च मन्त्रश्चातुर्मास्यादिषु विनियुक्तः ॥ २० ॥

सम्प्रति मानसव्यभिचारप्रायश्चित्तरूपतामस्य मन्त्रस्याह—

ध्यायत्यनिष्टं यत्किञ्चित्पाणिग्राहस्य चेतसा ।
तस्यैष व्यभिचारस्य निह्नवः सम्यगुच्यते ॥ २१ ॥

स्त्री परपुरुष-गमनरूप जो पतिका अहित मनसे सोंचती है, उसी मानसिक व्यभिचारको शुद्ध करनेवाला यह मन्त्र मनु आदि महर्षियोंने कहा है ॥ २१ ॥

भर्तुरप्रियं यत्किञ्चित्पुरुषान्तरगमनं स्त्री मनसा चिन्तयति, तस्य मानसस्य व्यभिचारस्यैष प्रकृतो मन्त्रः सम्यक् शोधनो मन्वादिभिरुच्यते । मातेति श्रवणात्पुत्रस्यैवायं प्रायश्चित्तरूपो मन्त्रो न मातुः ॥ २१ ॥

यादृग्गुणेन भर्त्रा स्त्री संयुज्येत यथाविधि ।
तादृग्गुणा सा भवति समुद्रेणेव निम्नगा ॥ २२ ॥

स्त्री जैसे गुणवाले (सद्गुणी या दुर्गुणी) पतिके साथ विधिवत विवाहित होती है, वह समुद्रमें मिली हुई नदीके समान वैसे ही गुणवाली (सद्गुणी पतिके साथ सद्गुणवती और दुर्गुणी पति के साथ दुर्गुणवती) हो जाती है ॥ २२ ॥

यथारूपेण भर्त्रा साधुनाऽसाधुना वा स्त्री विवाहविधिना संयुज्यते, सा भर्तृसदृशगुणा भवति । यथा समुद्रेण संयुज्यमाना नदी स्वादूदकाऽपि क्षारजला जायते । भर्तुरात्मसम्मानाख्यस्त्रीरक्षणोपायान्तरोपदेशार्थमिदम् ॥ २२ ॥

अत्रोत्कर्षदृष्टान्तमाह—

अक्षमाला वसिष्ठेन संयुक्ताऽधमयोनिजा।
शारङ्गी मन्दपालेन जगामाभ्यर्हणीयताम्॥ २३॥

नीच योनिमें उत्पन्न हुई 'अक्षमाला' नामकी स्त्री वसिष्ठसे तथा 'शारङ्गी' नामकी स्त्री 'मन्दपाल' ऋषिसे विवाहित होकर पुज्यताको प्राप्त हुई॥ २३॥

अक्षमालाख्या निकृष्टयोनिजा वसिष्ठेन परिणीता, तथा चटका मन्दपालाख्येन ऋषिणा सङ्गता पूज्यतां गता॥ २३॥

एताश्चान्याश्च लोकेऽस्मिन्नपकृष्टप्रसूतयः।
उत्कर्षं योषितः प्राप्ताः स्वैः स्वैर्भर्तृगुणैः शुभैः॥ २४॥

इन (पूर्व श्लोकोक्त 'अक्षमाला' तथा 'शारङ्गी') और दूसरी ('सत्यवती' आदि) नीच कुलोत्पन्न स्त्रियोंने पतिके अपने-अपने शुभ गुणोंसे श्रेष्ठताको प्राप्त किया है॥ २४॥

यद्यपि द्वे प्रकृते, तथापि प्रदर्शनार्थत्वमनयोर्मत्वा एता इति बहुवचनं कृतम्। एताश्चान्याश्च सत्यवत्यादयो निकृष्टप्रसूतयः स्वभर्तृगुणैः प्रकृष्टैरस्मिंल्लोके उत्कृष्टतां प्राप्ताः॥ २४॥

एषोदिता लोकयात्रा नित्यं स्त्रीपुंसयोः शुभा।
प्रेत्येह च सुखोदर्कान्प्रजाधर्मान्निबोधत॥ २५॥

(महर्षि भृगुजी ऋषियोंसे कहते हैं कि—मैंने) स्त्री-पुरुषोंका सदा शुभ यह लोकाचार कहा, अब इस लोकमें तथा परलोकमें सुखदायक सन्तानोंके धर्मोंको (कहूँगा, उन्हें आप लोग) सुनें॥२५॥

एष लोकाचारो जायापतिविषयः सदा शुभ उक्तः। इदानीमिहलोके परलोके चोत्तरकालशुभसुखहेतून् "किं क्षेत्रिणोऽपत्यमुत बीजिनः" इत्यादीन्प्रजाधर्मान्शृणुत॥ २५॥

प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हा गृहदीप्तयः।
स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन॥ २६॥

(भृगुजी महर्षियोंसे कहते हैं कि) हे महाभाग (मुनियों)! सन्तानोत्पादन के लिये वस्त्राभूषणसे आदर-सत्कारके योग्य घरकी शोभारूपिणी ये स्त्रियां और लक्ष्मी (या—लक्ष्मियां = शोभाएं) घरोंमें समान हैं (जिस प्रकार शोभाके विना घर सुन्दर नहीं लगता, उसी प्रकार स्त्री के विना भी घर सुन्दर नहीं लगता; अतः श्री तथा स्त्रीमें कोई भेद नहीं)॥ २६॥

यद्यप्यासां रक्षणार्थं दोषा उक्तास्तथापि शक्यप्रतीकारत्वादिह दोषाभावः। एताः स्त्रियो महोपकारा गर्भोत्पादनार्थं बहुकल्याणभाजनभूता वस्त्रालङ्कारादिदानेन संमानार्हाः स्वगृहे शोभाकारिण्यः स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु तुल्यरूपाः। नानयोर्विशेषो विद्यते। यथा निःश्रीकं गृहं न राजत एवं निःस्त्रीकमिति॥ २६॥

अपि च—

उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम्।
प्रत्यहं लोकयात्रायाः प्रत्यक्षं स्त्रीनिबन्धनम्॥ २७॥

सन्तानोत्पादन, उत्पन्न हुई सन्तानकी रक्षा (पालन-पोषण) और प्रतिदिनके लोक-व्यवहार (अतिथि-मित्रादि-भोजनादिरूप गृहप्रबन्ध) का मुख्य कारण स्त्रियां ही हैं॥ २७॥

अपत्यस्य जननं, जातस्य परिपालनं, प्रतिदिनं चातिथिमित्रभोजनादेर्लोकव्यवहारस्य प्रत्यक्षं भार्यैव निदानम्॥ २७॥

अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा।
दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितॄणामात्मनश्च ह ॥ २८ ॥

सन्तान (को उत्पन्न करना), धर्मकृत्य (अग्निहोत्र, यज्ञादि कार्य), शुश्रूषा (पति, सास-श्वशुरादि गुरुजनोंकी सेवा), श्रेष्ठ रति और पितरोंका तथा अपना (सन्तानोत्पादनादिद्वारा) स्वर्ग-ये सब स्त्रियोंके अधीन हैं । २८ ॥

अपत्योत्पादनमुक्तमप्येतदभ्यर्हितत्वज्ञापनार्थं पुनरभिधानम् । धर्मकार्याण्यग्निहोत्रादीनि, परिचर्या, उत्कृष्टा रतिः, पितॄणामात्मनश्चापत्यजननादिना स्वर्ग इत्येतत्सर्वं भार्याधीनम् ॥ २८ ॥

पतिं या नाभिचरति मनोवाग्देहसंयता।
सा भर्तृलोकानाप्नोति सद्भिः साध्वीति चोच्यते । २९ ॥

जो (स्त्री) मन, वचन तथा काय (शरीर) को संयत रखती हुई पतिका उल्लङ्घन (अनादर या परपुरुष-सम्भोग) नहीं करती; वह (मरकर) पतिलोकोंको पाती है तथा (जीती हुई) इस लोकमें सज्जनोंसे पतिव्रता कही जाती है ॥ २९ ॥

या स्त्री मनोवाग्देहसंयता सतीति विशेषणोपादानसामर्थ्यान्मनोवाग्देहैरव न व्यभिचरति, सा भर्त्रा सहार्जितान्स्वर्गादिलोकान्प्राप्नोति । इह लोके च विशिष्टैः साध्वीत्युच्यते ॥ २९ ॥

व्यभिचारात्तु भर्तुः स्त्री लोके प्राप्नोति निन्द्यताम् ।
सृगालयोनिं चाप्नोति पापरोगैश्च पीड्यते ॥ ३० ॥

स्त्री परपुरुषके संसर्गसे इस लोकमें निन्दित होती है, (मरकर) शृगालकी योनि पाती (स्यारिन होती) है और (कुष्ठ आदि) पापरोगोंसे पीड़ित होती है ॥ ३० ॥

पुरुषान्तरसम्पर्कात्स्त्री लोके निन्द्यतां जन्मान्तरे च सृगालजातिं प्राप्नोति । पापरोगादिभिश्च पीड्यते । पञ्चमाध्याये स्त्रीधर्मे उक्तमप्येतच्छ्लोकद्वयं सदपत्यसम्पत्त्यर्थत्वेन महाप्रयोजनतया पुनः पठितम् ॥ ३० ॥

पुत्रं प्रत्युदितं सद्भिः पूर्वजैश्च महर्षिभिः ।
विश्वजन्यमिमं पुण्यमुपन्यासं निबोधत ॥ ३१ ॥

(महर्षियोंसे भृगुजी कहते हैं कि—) श्रेष्ठ (मनु आदि) तथा प्राचीन महर्षियोंने पुत्रके विषयमें सर्वहितकारी एवं पवित्र जो विचार कहा है, उसे (आप लोग) सुनें ॥ ३१ ॥

पुत्रमधिकृत्य शिष्टैर्मन्वादिभिः पूर्वमुत्पन्नैश्च महर्षिभिरभिहितमिमं वक्ष्यमाणं सर्वजनहितं विचारं शृणुत ॥ ३१ ॥

भर्तुः पुत्रं विजानन्ति श्रुतिद्वैधं तु भर्तरि ।
आहुरुत्पादकं केचिदपरे क्षेत्रिणं विदुः ॥ ३२ ॥

पुत्र पति (भर्ता) का होता है (ऐसा मुनिलोग) मानते हैं पतिके विषयमें दो प्रकारकी श्रुति है (उनमें से पहली श्रुति यह है कि) कुछ मुनि पुत्रोत्पादक अविवाहित पतिको भी पुत्रसे पुत्री (पुत्रवाला) मानते हैं (तथा दूसरी श्रुति यह है कि—) अन्य (मुनि लोग) विवाहकर्ता

(परन्तु स्वयं पुत्रोत्पादन नहीं करनेवाले पति) को (अन्य पुरुषोत्पादित) पुत्रसे पुत्री (पुत्र वाला) मानते हैं ॥ ३२ ॥

भर्तुः पुत्रो भवतीति मुनयो मन्यन्ते। भर्तरि द्विःप्रकारा श्रुतिर्वर्तते। केचिदुत्पादकमवोढारमपि भर्तारं तेन पुत्रेण पुत्रिणमाहुः। अन्ये तु वोढारं भर्तारमनुत्पादकमप्यन्यजनितेन पुत्रेण पुत्रिणमाहुः ॥ ३२ ॥

क्षेत्रभूता स्मृता नरी वीजभूतः स्मृतः पुमान्।
क्षेत्रबीजसमायोगात्सम्भवः सर्वदेहिनाम् ॥ ३३ ॥

स्त्री क्षेत्ररूप (धान्य बोनेके खेत तुल्य) है और पुरुष बीजरूप (धान्यादिके बीजतुल्य) है। क्षेत्र तथा बीज (स्त्री-पुरुष) के संसर्गसे सब प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है ॥ ३३ ॥

व्रीह्याद्युत्पत्तिस्थानं क्षेत्रं, तत्तुल्या स्त्री मुनिभिः स्मृता। पुरुषश्च व्रीह्यादिबीजतुल्यः स्मृतः। यद्यपि रेतो बीजं तथापि तदधिकरणत्वात्पुरुषो बीजमिति व्यपदिश्यते। क्षेत्रबीजसमायोगात्सर्वप्राणिनामुत्पत्तिः। एवं चोभयोः कारणत्वस्याविशिष्टत्वाद्युक्ता विप्रतिपत्तिः, किं यत्सम्बन्धि क्षेत्रं तस्यापत्यमुत यदीयं बीजं तस्येति ॥ ३३ ॥

विशिष्टं कुत्रचिद्बीजं स्त्रीयोनिस्त्वेव कुत्रचित्।
उभयं तु समं यत्र सा प्रसूतिः प्रशस्यते ॥ ३४ ॥

कहीं पर बीज प्रधान है और कहींपर क्षेत्र प्रधान है। जहांपर बीज तथा क्षेत्र (पुरुष तथा स्त्री)—दोनों समान हैं अर्थात् उन दोनोंके मध्यमें तीसरा कोई नहीं हैं। वह सन्तान श्रेष्ठ मानी जाती है ॥ ३४ ॥

क्वचिद्बीजं प्रधानं "जाता ये त्वनियुक्तायाम्" इति न्यायेनोत्पन्नो बीजिनो बुध इव सोमस्य तथा व्यासर्ष्यश्रृङ्गादयो बीजिनामेव सुताः। क्वचित्क्षेत्रस्य प्राधान्यं यथाऽयं तल्पजः प्रमीतस्येति वक्ष्यति। अत एव विचित्रवीर्यक्षेत्रे क्षत्रियायां ब्राह्मणोत्पादिता अपि धृतराष्ट्रादयः क्षत्रियाः क्षेत्रिण एव पुत्रा बभूवुः। यत्र पुनर्बीजयोन्योः साम्यं तत्र वोढैव जनयिता तदपत्यं प्रशस्तं भवति, तत्र बीजप्राधान्यापेक्षं तावदाहुः ॥ ३४ ॥

बीजस्य चैव योन्याश्च बीजमुत्कृष्टमुच्यते।
सर्वभूतप्रसूतिर्हि बीजलक्षणलक्षिता ॥ ३५ ॥

बीज तथा क्षेत्रमें बीज ही श्रेष्ठ कहा जाता है। अत एव सब जीवोंकी सन्तान बीज के लक्षणोंसे युक्त ही उत्पन्न होती है ॥ ३५ ॥

बीजक्षेत्रयोर्बीजं प्रधानमभिधीयते। यस्मात्सर्वेषां भूतानामुत्पत्तिर्बीजगतवर्णस्वरूपादिचिह्निता दृश्यते ॥ ३५ ॥

यादृशं तूप्यते बीजं क्षेत्रे कालोपपादिते।
तादृग्रोहति तत्तस्मिन्बीजं स्वैर्व्यञ्जितं गुणैः ॥ ३६ ॥

समयपर जोते तथा सींचे गये खेतमें जैसा (जिस जातिवाला) बीज बोया जाता है, अपने गुणोंसे युक्त वह बीज उस खेतमें वैसा (अपनी जातिके समान) ही उत्पन्न होता है ॥ ३६ ॥

यज्जातीयं बीजं व्रीह्यादि ग्रीष्मादकाले वर्षादिना संस्कृते क्षेत्रे उप्यते, तज्जातीयमेव तद्बीजमात्मीयैर्वर्णादिभिरुपलक्षितं तस्मिन्क्षेत्रे जायते ॥ ३६ ॥

एवमन्वयप्रकारेण बीजप्राधान्यं प्रदर्श्य व्यतिरेकमुखेन दर्शयितुमाह—

इयं भूमिर्हि भूतानां शाश्वती योनिरुच्यते ।
न च योनिगुणान्कांश्चिद्बीजं पुष्यति पुष्टिषु ॥ ३७ ॥

यह भूमि भूत (के द्वारा आरब्ध वृक्ष, लता, गुल्म आदि) की नित्य (अनादि कालागत) क्षेत्ररूप कारण कही गयी है, किन्तु कोई बीज योनि (क्षेत्र अर्थात् खेत) के किन्हीं गुणों को अपने अङ्कुर आदिमें धारण नहीं करता; (अत एव योनि (क्षेत्र अर्थात् खेत) के गुणका बीजके द्वारा अनुवर्तन नहीं होनेसे क्षेत्रको प्रधानता नहीं होती है) ॥ ३७ ॥

हिरवधारणे । इयमेव भूमिर्भूतारब्धानां तरुगुल्मलतादीनां नित्या योनिः कारणं क्षेत्रात्मकं सर्वलोकैरुच्यते । न च भूम्याख्ययोनिधर्मान्कांश्चिदपि मृत्स्वरूपत्वादीन्बीजं स्वविकारेष्वङ्कुरकाण्डाद्यवस्थासु भजते । भजत्यर्थत्वात्पुष्यतेः सकर्मता । तस्माद्योनिगुणानुवर्तनाभावान्न क्षेत्रप्राधान्यम् ॥ ३७ ॥

अपि च—

भूमावप्येककेदारे कालोप्तानि कृषीवलैः ।
नानारूपाणि जायन्ते बीजानीह स्वभावतः ॥ ३८ ॥

भूमिमें किसानोंके द्वारा एक खेतमें भी समय-समयपर बोये गये (विभिन्न जातीय) बीज अपने-अपने स्वभाव के अनुसार भिन्न-भिन्न रूपवाले उत्पन्न होते हैं (भूमिका एक रूप होनेपर भी बीजोंका एक रूप नहीं होता, अत एव बीजको ही प्रधान मानना चाहिये) ॥ ३८ ॥

भूमावेकस्मन्नपि केदारे कर्षकैर्वपनकालोप्तानि व्रीहिमुद्गादीनि नानारूपाण्येव बीजस्वभावाज्जायन्ते, न तु भूमेरेकत्वादेकरूपाणि भवन्ति ॥ ३८ ॥

तथा हि—

व्रीहयः शालयो मुद्गास्तिला माषास्तथा यवाः ।
यथा बीजं प्ररोहन्ति लशुनानीक्षवस्तथा ॥ ३९ ॥

व्रीहि (साठी धान), शालि (अगहनी धान), मूंग, तिल, उड़द, यव, लहसुन तथा गन्ना—ये (अनेक प्रकारके) बीज खेतमें उत्पन्न होते हैं ॥ ३९ ॥

व्रीहयः षष्टिकाः, शालयः, कलमाद्याः तथा मुद्गादयो बीजस्वभावानतिक्रमेण नानारूपा जायन्ते ॥ ३९ ॥

एवं च सति—

अन्यदुप्तं जातमन्यदित्येतन्नोपपद्यते ।
उप्यते यद्धि तद्बीजं तत्तदेव प्ररोहति ॥ ४० ॥

दूसरा (बीज) बोया गया और दूसरा (उससे भिन्न) ही उत्पन्न हो गया, ऐसा कभी भी नहीं हुआ, किन्तु जो बीज बोया जाता है, वही बीज उत्पन्न होता है ॥ ४० ॥

व्रीहिरुप्तो मुद्गादिर्जायत इत्येतन्न सम्भवति। यस्माद्यदेव बीजमुप्यते तत्तदेव जायते । एवं बीजगुणानुवर्तनात्क्षेत्रधर्माननुवृत्तेश्च व्रीह्यादौ मनुष्येष्वपि बीजप्राधान्यम् ॥ ४० ॥

सम्प्रति क्षेत्रप्राधान्यमाह—

तत्प्राज्ञेन विनीतेन ज्ञानविज्ञानवेदिना ।
आयुष्कामेन वप्तव्यं न जातु परयोषिति ॥ ४१ ॥

इस कारणसे विद्वान्, विनीत, ज्ञान (वेद) तथा विज्ञान (वेदाङ्गादि सब शास्त्र) का ज्ञाता और आयुष्य चाहनेवाले पुरुषको परस्त्रीमें बीजवपन (सम्भोगद्वारा वीर्यपात) कभी नहीं करना चाहिये ॥ ४१ ॥

तद्बीजं सहजप्रज्ञावता पित्रादिभिरनुशिष्टेन 'ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं' वेदः. एवं विज्ञानमपि तदङ्गादिशास्त्राणि तद्वेदिनाऽऽयुरिच्छता न कदाचित्परजायायां वपनीयम् ॥ ४१ ॥

अत्र गाथा वायुगीताः कीर्तयन्ति पुराविदः ।
यथा बीजं न वप्तव्यं पुंसा परपरिग्रहे ॥ ४२ ॥

पूर्वकालके ज्ञाता लोग इस विषयमें वायुकी कही गयी गाथा (वचन) कहते हैं कि पुरुषको परस्त्रीमें कभी नहीं बीज बोना (सम्भोग द्वारा वीर्य निषेक करना) चाहिये ॥ ४२ ॥

अतीतकालज्ञा अस्मिन्नर्थे वायुप्रोक्ता गाथाश्छन्दोविशेषयुक्तानि वाक्यानि कथयन्ति । यथा परपुरुषेण परपत्न्यां बीजं न वप्तव्यमिति ॥ ४२ ॥

नश्यतीषुर्यथा विद्धः खे विद्धमनुविद्ध्यतः ।
तथा नश्यति वै क्षिप्रं बीजं परपरिग्रहे ॥ ४३ ॥

जिस प्रकार किसी शिकारी या व्याधाके द्वारा मारे गये मृग-शरीरके उसी (पूर्व शिकारीसे विद्ध) स्थानमें दूसरे शिकारी या व्याधाका बाण नष्ट हो जाता है अर्थात् उस मृगको पानेका अधिकार पहले शिकारी या व्याधाको ही होता है, दूसरेको नहीं उसी प्रकार परस्त्रीमें छोड़ा गया बीज (वीर्य) शीघ्र ही नष्ट हो जाता है, क्योंकि उससे उत्पन्न सन्तानको पानेका अधिकार वीर्य निषेक करनेवालेको नहीं होता, अपि तु उस क्षेत्र (स्त्री) के पतिको होता है, अत एव परस्त्री संभोग नहीं करना चाहिये) ॥ ४३ ॥

यथाऽन्येन विद्धं मृगं कृष्णसारं तस्मिन्नेव छिद्रे पश्चादन्यस्य विद्ध्यत आविद्धः क्षिप्तः शरो निष्फलो भवति, पूर्वहन्त्रैव हतत्वात्तस्यैव तन्मृगलाभात् । एवं परपत्न्यामुप्तं बीजं शीघ्रमेव निष्फलं भवति, गर्भग्रहणानन्तरं क्षेत्रिणः सद्यः फललाभात् ॥ ४३ ॥

पृथोरपीमां पृथिवीं भार्यां पूर्वविदो विदुः ।
स्थाणुच्छेदस्य केदारमाहुः शाल्यवतो मृगम् ॥ ४४ ॥

पुराविद् (प्राचीन इतिहासके ज्ञाता महर्षि आदि) लोग इस पृथ्वीको पृथु की भार्या मानते हैं, खुत्थ (ठूठ पेड़) काट (कर भूमिको समतल करके खेत बनाने) वाले का खेत मानते हैं और पहले बाण मारनेवालेका मृग मानते हैं ॥ ४४ ॥

इमामपि पृथ्वीं पृथुना पूर्वं परिगृहीतत्वादनेकराजसम्बन्धेऽपि पृथोर्भार्यामित्यतीतज्ञा जानन्ति । तस्मात्स्थाणुं छिन्दति स्थाणुच्छेदः, कर्मण्यण् । येन स्थाणुमुत्पाट्य क्षेत्रं कृतं तस्यैव तत्क्षेत्रं वदन्ति । तथा शराद्वि शल्यं येन पूर्वं मृगे क्षिप्तं तस्यैव तं मृगमाहुः । एवं च पूर्वपरिग्रहीतुः स्वामित्वाद्वोढुरेवापत्यं भवति, न जनयितुः ॥ ४४ ॥

एतावानेव पुरुषो यज्जायाऽऽत्मा प्रजेति ह ।
विप्राः प्राहुस्तथा चैतद्यो भर्ता सा स्मृताङ्गना ॥ ४५ ॥

'केवल पुरुष कोई वस्तु नहीं होता अर्थात् अपूर्ण ही रहता है; किन्तु स्त्री, स्वदेह तथा सन्तान—ये तीनों मिलकर ही पुरुष (पूर्णरूप) होता है, ऐसा (वेद ज्ञाता) ब्राह्मण कहते हैं और

जो पति है, वही स्त्री, है अत एव उस स्त्रीमें (पर पुरुषसे भी) उत्पन्न सन्तान उस स्त्रीके पतिका ही होता है ॥ ४५ ॥

नैकः पुरुषो भवति अपि तु भार्यास्वदेहमपत्यानीत्येतत्परिमाण एव पुरुषः। तथा च वाजसनेयब्राह्मणम्— 'अर्द्धो ह वा एष आत्मनस्तस्माद्यज्जायां न विन्दते नैतावत्प्रजायते असर्वो हि तावद्भवति, अथ तदैव जायां विन्दतेऽथ प्रजायते तर्हि सर्वो भवति, तथा चैतद्वेदविदो विप्रा वदन्ति यो भर्ता सैव भार्या स्मृता'' इति। एवं च तस्यामुत्पादितं भर्तुरेवापत्यं भवतीति ॥ ४५ ॥

यतश्च दम्पत्योरैक्यमतः—

न निष्क्रयविसर्गाभ्यां भर्तुर्भार्या विमुच्यते।
एवं धर्मं विजानीमः प्राक्प्रजापतिनिर्मितम् ॥ ४६ ॥

'बेचने या त्याग करनेसे स्त्रीके पतिके स्त्री पतिके स्त्रीत्वसे मुक्त नहीं होती' पहले ब्रह्माके बनाये हुए ऐसे धर्मको हम जानते है। (अत एव पति स्त्रीको छोड़ दे या द्रव्य लेकर बेच दे तो भी उस स्त्रीमें परपुरुषोत्पादित सन्तान पूर्व पतिकी ही होती है, सन्तानोत्पादक दूसरे पतिकी नहीं) ॥ ४६॥

निष्क्रयो विक्रयः, विसर्गस्त्यागः, न ताभ्यां स्त्री चतुर्भार्यात्वादपैति। एवं पूर्वं प्रजापतिना स्मृतं नित्यं धर्मं मन्यामहे। एवं च क्रयादिनाऽपि परस्त्रियमात्मसात्कृत्वा तदुत्पादितापत्यं क्षेत्रिण एव भवति, न बीजिनः ॥ ४६ ॥

सकृदंशो निपतति सकृत्कन्या प्रदीयते।
सकृदाह ददानीति त्रीण्येतानि सतां सकृत् ॥ ४७ ॥

पिता पुत्रादिके हिस्सेको एक बार ही बाँटता है (उसे बार-बार बदलता नहीं), कन्या एक ही बार (पिता आदिके द्वारा पतिके लिए) दी जाती है (फिर उसे पति आदि कोई भी व्यक्ति द्रव्य लेकर या विना द्रव्य लेकर या विना द्रव्य लिये दूसरेको नहीं दे सकता अर्थात् विवाह कर्ता पति आदि कोई भी उस स्त्रीको न तो बेंच सकता है न त्यागकर दूसरेके लिए दे ही सकता है) और गौ आदिको 'देता हूँ' ऐसा वचन एक ही बार कहा जाता है (दान की हुई गौको बार-बार दान नहीं किया जा सकता)। सज्जनोंके ये तीनों दानकार्य एक ही बार होते हैं, अनेक बार नहीं ॥ ४७ ॥

पित्रादिधनविभागो भ्रातॄणां धर्मतः कृतः सकृदेव भवति, न पुनरन्यथा क्रियत इति। तथा कन्या पित्रादिना सकृदेकस्मै दत्ता न पुनरन्यस्मै दीयते। एवं चान्येन पूर्वमन्यस्मै दत्तायां पश्चात्पित्रादिभिः प्राप्तायामपि जनितमपत्यं न बीजिनो भवतीत्येतदर्थमस्योपन्यासः। तथा कन्यातोऽन्यस्मिन्नपि गवादिद्रव्ये सकृदेव ददामीत्याह न पुनस्तदन्यस्मै दीयत इति त्रीण्येतानि साधूनां सकृद्भवन्ति। यद्यपि कन्यादानस्य सत्कृत्करणं प्रकृतोपयुक्तं तथापि प्रसङ्गादंशदानयोरपि सकृताभिधानम्। "सकृदाहं ददानि" इत्यनेनैव कन्यादानस्यापि सकृत्करणसिद्धौ प्रकृतोपयोगित्वादेव पृथगभिधानम् ॥ ४७ ॥

यथा गोऽश्वोष्ट्रदासीषु महिष्यजाविकासु च।
नोत्पादकः प्रजाभागी तथैवान्याङ्गनास्वपि ॥ ४८ ॥

जिस प्रकार गाय, घोड़ी, ऊंटिनी, दासी, भैंस, बकरी और भेडमें उत्पन्न सन्तानको पानेका अधिकारी सन्तानोत्पादक नहीं होता (किन्तु उक्त गाय आदिका स्वामी ही होता है); उसी प्रकार दूसरे पुरुषकी स्त्रियोंमें उत्पादित सन्तानको पाने का अधिकारी (उन स्त्रियोंका) पति ही होता है, (उत्पन्न करने वाला दूसरा पुरुष नहीं ॥ ४८ ॥

यथा गवादिषु परकीयेष्वात्मवृषभादिकं नियुज्य वत्सोत्पादको न तद्भागी, तथा परकीयभार्यास्वपि नोत्पादकः प्रजाभागी भवति ॥ ४८ ॥

येऽक्षेत्रिणो बीजवन्तः परक्षेत्रप्रवापिणः ।
ते वै सस्यस्य जातस्य न लभन्ते फलं क्वचित् ॥ ४९ ॥

जो क्षेत्र (खेत) का स्वामी नहीं होकर भी दूसरेके क्षेत्रमें बीज बोते हैं, वे उस (क्षेत्र) में उत्पन्न होनेवाले अन्नके फलको कहीं (किसी देश आदिमें) भी नहीं पाते हैं ॥ ४९ ॥

क्षेत्रस्वामिनो ये न भवन्ति, अथ बीजस्वामिनः सन्तः परक्षेत्रे बीजं वपन्ति, ते तत्र क्षेत्रजातस्य धान्यादेः फलं क्वचिदपि देशे न लभन्त इति प्रकृतस्य दृष्टान्तः ॥ ४९ ॥

यदन्यगोषु वृषभो वत्सानां जनयेच्छतम् ।
गोमिनामेव ते वत्सा मोघं स्कन्दितमार्षभम् ॥ ५० ॥

जो दूसरेकी गायमें साँड़ सैकड़ों बछड़ोंको उत्पन्न कर दे, वे सब बछड़े गायके स्वामीके होते हैं (और साँड़के स्वामीके नहीं होते, अतः) साँड़का वीर्यक्षरण करना व्यर्थ है ॥ ५० ॥

यदन्यदीयगवीषु वृषभो वत्सशतमपि जनयेत्सर्वे ते वत्साः स्त्रीगवीस्वामिनो भवन्त्येव न वृषभस्वामिनः । वृषभस्य यच्छुक्रसेचनं तद् वृषभस्वामिनो निष्फलमेव भवति । "यथा गोऽश्वोष्ट्र" (म. स्मृ. ९-४८) इत्यनेनोत्पादकस्य प्रजाभागित्वं न भवतीत्येतत्येतत्परत्वेन दृष्टान्त उक्तः, अयं तु क्षेत्रस्वामिनः प्रजाभागित्वं भवतीत्येतत्परत्वेन । अतो न पुनरुक्तिः ॥ ५० ॥

तथैवाक्षेत्रिणो बीजं परक्षेत्रप्रवापिणः ।
कुर्वन्ति क्षेत्रिणामर्थं न बीजी लभते फलम् ॥ ५१ ॥

उसी प्रकार (स्त्रीरूप) क्षेत्रका स्वामी नहीं होते हुए जो पुरुष दूसरेके (स्त्रीरूपी) क्षेत्रमें बीज बोते (वीर्यक्षरण) करते हैं, वे क्षेत्र-स्वामियोंका ही अर्थ साधन (सन्तानोत्पादनरूप कार्यसिद्धि करते) हैं, और बीजवाला (परस्त्री में वीर्यक्षरण करनेवाला पुरुष, सन्तानरूपी) फलको नहीं प्राप्त करता ॥ ५१ ॥

यथा गवादिगर्भेषु तथैवापत्यरहिताः सन्तः परकीयभार्यायां ये बीजं वपन्ति, ते क्षेत्रस्वामिनामेवापत्यलक्षणमर्थं कुर्वन्ति । बीजसेक्ता स्वपत्याख्यं फलं न लभते ॥ ५१ ॥

फलं त्वनभिसंधाय क्षेत्रिणां बीजिनां तथा ।
प्रत्यक्षं क्षेत्रिणामर्थो बीजाद्योनिर्गरीयसी ॥ ५२ ॥

खेतवाला और बीज बोनेवाला—ये दोनों परस्पर में फल (उत्पन्न होनेवाले अन्न-फल आदि) के विषयमें नियम (इस खेतमें तुम्हारे बीज बोनेपर जो अन्न उत्पन्न होगा, वह हम दोनोंका होगा, ऐसी शर्त) नहीं करे तो उस खेतमें उत्पन्न (अन्न-फल आदि) खेतवालेका होता है; क्योंकि बीजकी अपेक्षा क्षेत्र (खेत) ही प्रधान है (यही नियम सन्तानोत्पत्तिके विषयमें भी जानना चाहिये) ॥

यदस्यामुत्पत्स्यतेऽपत्यं तदावयोरुभयोरेवैवं यत्र नियमो न कृतस्तत्र निःसंदिग्धमेव क्षेत्रिणोऽपत्यम् । उक्तरीत्या बीजात्क्षेत्रं बलवत् ॥ ५२ ॥

क्रियाऽभ्युपगमात्त्वेतद्बीजार्थं यत्प्रदीयते ।
तस्येह भागिनौ दृष्टौ बीजी क्षेत्रिक एव च ॥ ५३ ॥

खेतका स्वामी बीज बोनेवालेसे नियम (इस खेतमें तुम्हारे बीज होनेपर उत्पन्न अन्नादि हम दोनोंका होगा, ऐसी शर्त) करके जो खेत देता है, इस लोकमें उस उत्पन्न अन्नादिका स्वामी दोनों-खेतके स्वामी तथा बीज बोनेवालेको होते देखा गया है ॥ ५३ ॥

यदात्रापत्यं भविष्यति तदावयोरेवेति नियम्यैतत्क्षेत्रं स्वामिना बीजवपनार्थं यद्वीजिनो दीयते तस्यापत्यस्य लोके बीजिक्षेत्रिणौ द्वावपि भागिनौ दृष्टौ ॥ ५३ ॥

ओघवाताहृतं बीजं यस्य क्षेत्रे प्ररोहति।
क्षेत्रिकस्यैव तद्बीजं न वप्ता लभते फलम् ॥ ५४ ॥

पानी या हवाके वेगसे (दूसरेके खेतमें बोया गया) जो बीज बहकर या उड़कर दूसरेके खेतमें जाता (अङ्कुरित होता) है, वह बीज उस बीजका फल—अन्न) खेत (जिसमें बीज जाता है, उस खेत) के स्वामीका ही होता है, बीज बोनेवाला उसका कुछ भी फल (लाभ) नहीं पाता ॥ ५४ ॥

यद्बीजं जलवेगवाताभ्यामन्यदीयक्षेत्रादानीतं यस्य क्षेत्रे जायते, तत्क्षेत्रस्वामिन एव तद्बीजं भवति, न तु येन बीजमुप्तं स तत्फलं लभते। एवं च स्वभार्याभ्रमेणापरभार्यागमने ममायं पुत्रो भवितेत्यवगमेऽपि क्षेत्रिण एवापत्यमित्यनेन दर्शितम् ॥ ५४ ॥

एष धर्मो गवाश्वस्य दास्युष्ट्राजाविकस्य च।
विहङ्गमहिषीणां च विज्ञेयः प्रसवं प्रति ॥ ५५ ॥

यही (९।४९-५४ में कथित व्यवस्था गाय, घोड़ा, दासी, ऊँट; बकरी, भेंड, पक्षी और भैंसकी सन्तानके प्रति भी जाननी चाहिये ॥ ५५ ॥

एषैव व्यवस्था गवाश्वादीनां संततिं प्रति ज्ञातव्या। यत्क्षेत्रस्वाम्येव गवाश्वादेः सन्ततिस्वामी, न तु वृषभादिस्वामी। नियमे तु कृते सत्येतयोरेव संततिस्वाम्यम् ॥ ५५ ॥

एतद्वः सारफल्गुत्वं बीजयोन्योः प्रकीर्तितम्।
अतः परं प्रवक्ष्यामि योषितां धर्ममापदि ॥ ५६ ॥

(भृगु मुनि महर्षियोंसे कहते हैं कि—मैंने) बीज तथा क्षेत्रकी प्रधानता और अप्रधानताको तुमलोगोंसे कहा, इसके बाद आपत्तिमें (सन्तान नहीं होनेपर) स्त्रियोंके धर्मको कहूँगा ॥ ५६ ॥

एतद्बीजयोन्योः प्राधान्याप्राधान्यं युष्माकमुक्तम्। अतोऽनन्तरं स्त्रीणां सन्तानाभावे यत्कर्तव्यं तद्वक्ष्यामि ॥ ५६ ॥

भ्रातुर्ज्येष्ठस्य भार्या या गुरुपत्न्यनुजस्य सा।
यवीयसस्तु या भार्या स्नुषा ज्येष्ठस्य सा स्मृता ॥ ५७ ॥

बड़े भाईकी स्त्री छोटे भाईकी गुरुपत्नी (के तुल्य) होती है और छोटे भाईकी स्त्री बड़े भाईकी स्नुषा (पुत्रवधू अर्थात् पतोहूके तुल्य) होती है ॥ ५७ ॥

ज्येष्ठस्य भ्रातुर्या भार्या सा कनिष्ठस्य भ्रातुर्गुरुपत्नी भवति। कनिष्ठस्य च भ्रातुर्या भार्या सा ज्येष्ठभ्रातुः मुनिभिः स्मृता ॥ ५७ ॥

ज्येष्ठो यवीयसो भार्यां यवीयान्वाग्रजस्त्रियम्।
पतितौ भवतो गत्वा नियुक्तावप्यनापदि ॥ ५८ ॥

(अत एव) बड़ा भाई छोटी भाईकी स्त्री (भवह) के साथ तथा छोटा भाई बड़े भाईकी स्त्री (भौजाई) के साथ आपत्तिकालके विना नियुक्त होनेपर भी सम्भोग करके पतित हो जाते हैं ॥५८॥

ज्येष्ठकनिष्ठभ्रातरावितरेतरभार्यां गत्वा सन्तानाभावं विना नियुक्तावपि पतितौ स्याताम् ॥ ५८ ॥

देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिया सम्यङ् नियुक्तया ।
प्रजेप्सिताधिगन्तव्या सन्तानस्य परिक्षये ॥ ५९ ॥

सन्तानके अभाव होनेपर पति या गुरुसे नियुक्त (आज्ञप्त) स्त्रीको देवर (पतिका छोटा भाई) या सपिण्डसे साथ (९।६० श्लोकमें वर्णित विधिके अनुसार) सन्तान प्राप्त करना चाहिये ॥५९॥

सन्तानाभावे स्त्रिया पत्यादिगुरुनियुक्तया देवरादन्यस्माद्वा सपिण्डाद्वक्ष्यमाणघृताक्तादिनियमवत्पुरुषगमनेनेष्टाः प्रजा उत्पादयितव्या । ईप्सितेत्यभिधानमर्थात्कार्यक्षमपुत्रोत्पत्तौ पुनर्गमनार्थम् ॥ ५९ ॥

विधवायां नियुक्तस्तु घृताक्तो वाग्यतो निशि ।
एकमुत्पादयेत्पुत्रं न द्वितीयं कथञ्चन ॥ ६० ॥

विधवा स्त्रीमें पति या गुरुसे नियुक्त देवर या सपिण्ड पुरुष सम्पूर्ण शरीरमें घी लगाकर तथा मौन होकर रातमें (सम्भोग करके) एक पुत्रको उत्पन्न करे, द्वितीय पुत्रको कदापि उत्पन्न नहीं करे ॥ ६० ॥

विधवायामित्यपत्योत्पादनयोग्यपत्यभावपरमिदम् । जीवत्यपि पत्यौ अयोग्यपत्यादिगुरुनियुक्तो घृताक्तसर्वगात्रो मौनी रात्रावेकं पुत्रं जनयेन्न कथंचिद् द्वितीयम् ॥ ६० ॥

द्वितीयमेके प्रजनं मन्यन्ते स्त्रीषु तद्विदः ।
अनिर्वृतं नियोगार्थं पश्यन्तो धर्मतस्तयोः ॥ ६१ ॥

नियोगसे पुत्रोत्पादन विधिके ज्ञाता कुछ आचार्य ('अपुत्र एकपुत्र' अर्थात् 'एक पुत्रवाला पुत्रहीन है, इस शिष्ट-वचनके अनुसार) एक पुत्रकी उत्पत्ति होने से वियोगके उद्देश्य की पूर्णता नहीं मानकर दूसरे पुत्रको उत्पन्न करनेके लिए भी उन्हें (देवर या सपिण्डके पुरुषको) अनुमति देते हैं ॥ ६१ ॥

अन्ये पुनराचार्या नियोगात्पुत्रोत्पादनविधिज्ञा अपुत्र एकपुत्र इति शिष्टप्रवादादनिष्पन्नं नियोगप्रयोजनं मन्यमानाः स्त्रीषु पुत्रोत्पादनं द्वितीयं धर्मतो मन्यन्ते ॥ ६१ ॥

विधवायां नियोगार्थे निर्वृत्ते तु यथाविधि ।
गुरुवच्च स्नुषावच्च वर्तेयातां परस्परम् ॥ ६२ ॥

विधवा (९।६० का विमर्श देखें) में नियोगके उद्देश्य (गर्भधारण आदि) के विधिवत् पूरा हो जानेपर (बड़े भाई तथा छोटे भाई की स्त्रीमें क्रमशः) गुरु तथा स्नुषा (पुत्रवधू) के समान परस्पर बर्ताव करें ॥ ६२ ॥

विधवादिकायां नियोगप्रयोजने गर्भधारणे यथाशास्त्रं सम्पन्ने सति ज्येष्ठो भ्राता कनिष्ठभ्रातृभार्या च परस्परं गुरुवत्स्नुषावच्च व्यवहरेताम् ॥ ६२ ॥

नियुक्तौ यौ विधिं हित्वा वर्तेयातां तु कामतः ।
तावुभौ पतितौ स्यातां स्नुषागगुरुतल्पगौ ॥ ६३ ॥

जो नियुक्त छोटा या बड़ा भाई परस्परकी स्त्रीके साथ विधि (९।६० में वर्णित समस्त अङ्गमें घृतलेपन, मौन तथा रात्रिकाल) को छोड़कर कामवशीभूत हो सम्भोग करते हैं, वे दोनों (बड़ा

भाई तथा छोटा भाई क्रमशः) स्नुषासम्भोग तथा गुरुपत्नी, सम्भोगके पापभागी होकर पतित हो जाते हैं ॥ ६३ ॥

ज्येष्ठकनिष्ठभ्रातरौ यौ परस्परभार्यायां नियुक्तौ घृताक्तादिविधानं त्यक्त्वा स्वेच्छातो वर्तेयातां तौ स्नुषागगुरुदारगौ पतितौ भवेताम् ॥ ६३ ॥

एवं नियोगमभिधाय दूषयितुमाह—

नान्यस्मिन्विधवा नारी नियोक्तव्या द्विजातिभिः।
अन्यस्मिन्हि नियुञ्जाना धर्मं हन्युः सनातनम् ॥ ६४ ॥

ब्राह्मणादि (गुरु या पति आदि) विधवा को दूसरे (देवर या सपिण्ड पुरुष) में नियुक्त न करे अर्थात सन्तान न होनेपर भी सन्तानोत्पादन करनेकी देवर आदिको आज्ञा न दे, क्योंकि दूसरे (देवर या सपिण्ड पुरुष) में स्त्रीको नियुक्त करते हुए (वे ब्राह्मणादि) सनातन धर्मको नष्ट करते हैं ॥ ६४ ॥

ब्राह्मणादिभिर्विधवा स्त्री भर्तुरन्यस्मिन्देवरादौ न नियोजनीया। स्त्रियमन्यस्मिन्नियुञ्जानास्ते स्त्रीणामेकपतित्वधर्ममनादिसिद्धं नाशयेयुः ॥ ६४ ॥

नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित्।
न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः ॥ ६५ ॥

विवाह सम्बन्धी किन्हीं मन्त्रोंमें किसी भी शाखामें नियोगको नहीं कहा गया है और न विवाहकी विधिमें विधवाको पुनः देने (दूसरे पुरुषके साथ पुनर्विवाह करने) को ही कहा गया है ॥ ६५ ॥

"अर्यमणं नु देवम्" इत्येवमादिषु विवाहप्रयोगजनकेषु मन्त्रेषु क्वचिदपि शाखायां न नियोगः कथ्यते। न च विवाहविधायकशास्त्रेऽन्येन पुरुषेण स पुनर्विवाह उक्तः ॥ ६५ ॥

अयं द्विजैर्हि विद्वद्भिः पशुधर्मो विगर्हितः।
मनुष्याणामपि प्रोक्तो वेने राज्यं प्रशासति ॥ ६६ ॥

राजा वेनके शासनकालमें मनुष्योंके लिए भी कहे गये इस पशुधर्मकी विद्वान् द्विजोंने निन्दा की है ॥ ६६ ॥

यस्मादयं पशुसम्बन्धी मनुष्याणामपि व्यवहारो विद्वभिर्निन्दितः। योऽयमधार्मिके वेने राज्ञि राज्यं कुर्वाणे तेन कर्तव्यतया प्रोक्तः। अतो वेनादरभ्य प्रवृत्तोऽयमादिमानिति निन्द्यते ॥ ६६ ॥

स महीमखिलां भुञ्जन्राजर्षिप्रवरः पुरा।
वर्णानां सङ्करं चक्रे कामोपहतचेतनः ॥ ६७ ॥

समस्त पृथ्वीका पालन करते हुए राजर्षि प्रवर वेनने कामसे नष्ट बुद्धि होकर (मनुष्योंको भाईकी स्त्रीके साथ सम्भोगका नियम चालूकर) वर्णसङ्कर बनाया ॥ ६७ ॥

स वेनो महीं समग्रां पूर्वं पालयन्नत एव राजर्षिश्रेष्ठो, न तु धार्मिकत्वात्, कामोपहतबुद्धिर्भ्रातृभार्यागमनरूपं वर्णसंकरं प्रावर्तयत् ॥ ६७ ॥

ततः प्रभृति यो मोहात्प्रमीतपतिकां स्त्रियम्।
नियोजयत्यपत्यार्थं तं विगर्हन्ति साधवः ॥ ६८ ॥

तब ('वेन'-शासन-काल) से जो मनुष्य मृतपतिवाली विधवा स्त्रीको सन्तानके लिये (देवर आदिके साथ) मोहवश नियुक्त करता है; उसकी सज्जन लोग निन्दा करते हैं ॥ ६८ ॥

वेनकालात्प्रभृति यो मृतभर्तृकादिस्त्रियं शास्त्रार्थाज्ञानादपत्यनिमित्तं देवरादौ नियोजयति, तं साधवो नियतं गर्हयन्ते। अयं च स्वोक्तनियोगनिषेधः कलियुगविषयः। तदाह बृहस्पतिः—

"उक्तो नियोगो मुनिना निषिद्धः स्वयमेव तु।
युगक्रमादशक्योऽयं कर्तुमन्यैर्विधानतः॥
तपोज्ञानसमायुक्ताः कृयत्रेतायुगे नराः।
द्वापरे च कलौ नृणां शक्तिहानिर्हि निर्मिता॥
अनेकधा कृताः पुत्रा ऋषिभिश्च पुरातनैः।
न शक्यन्तेऽधुना कर्तुं शक्तिहीनैरिदन्तनैः॥

अतो यद् गोविन्दराजेन युगविशेषव्यवस्थामज्ञात्वा सर्वदैव सन्तानाभावे नियोगादनियोगपक्षः श्रेयानिति स्वमनीषया कल्पितं तन्मुनिव्याख्याविरोधान्नाद्रियामहे।

प्रायशो मनुवाक्येषु मुनिव्याख्यानमेव हि।
नापराध्योऽस्मि विदुषां काहं सर्वविदः कुधीः॥ ६८॥

नियोगप्रकरणत्वात्कन्यागतं विशेषमाह—

यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः।
तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः॥ ६९॥

वाग्दान करनेके बाद जिस कन्याका पति मर जाय, उस कन्याके साथ उसका अपना देवर (उसी मृत पतिका छोटा सहोदर भाई) इसके आगे (९।७०) कथित विधिसे विवाह (उस कन्याको प्राप्त) करे ॥ ६९ ॥

यस्याः कन्याया वाग्दाने कृते सति भर्ता म्रियेत-तामनेन वक्ष्यमाणेनानुष्ठानेन भर्तुः सोदरभ्राता परिणयेत्॥ ६९ ॥

यथाविध्यधिगम्यैनां शुक्लवस्त्रां शुचिव्रताम्।
मिथो भजेताप्रसवात्सकृत्सकृदृतावृतौ ॥ ७० ॥

वह देवर (वाग्दत्त कन्याके मृत पतिका सहोदर छोटा भाई) विधिपूर्वक इसे स्वीकारकर (कायिक, वाचिक और मानसिक शुद्धिवाली उस (वाग्दत्ता मृतपतिका कन्या) के प्रत्येक साथ ऋतुकालमें १-१ बार गर्भ-धारण होने तक सम्भोग करे ॥ ७० ॥

स देवरो विवाहविधिना एनां स्वीकृत्य, शुक्लवस्त्रां कायवाङ्मनःशौचशालिनीमागर्भग्रहणाद्रहसि ऋतावृतावेकैकवारं गच्छेत् एवं कन्याया नियोगप्रकारत्वाद्विवाहस्याग्रहाच्च गमनोपदेशाद्यस्मै वाग्दत्ता तस्यैव तदपत्यं भवति॥ ७० ॥

न दत्त्वा कस्यचित्कन्यां पुनर्दद्याद्विचक्षणः।
दत्त्वा पुनः प्रयच्छन्हि प्राप्नोति पुरुषानृतम्॥ ७१॥

चतुर (शास्त्रज्ञानी मनुष्य) कन्याका किसीके लिए वाग्दानकर उस पतिके मर जानेपर पुनः उस कन्याको दूसरेके लिए न दे, क्योंकि उक्त कन्याकों दूसरे पतिके लिए देता हुआ वह 'पुरुषानृत' दोषको प्राप्त करता है, और 'सहस्रं त्वेव चोत्तमः (८।१३८) में कथित दण्डका भागी होता है ॥ ७१ ॥

कस्मैचिद्वाचा कन्यां दत्त्वा तस्मिन्मृते दानगुणदोषज्ञस्तामन्यस्मै न दद्यात्। यस्मादेकस्मै दत्त्वाऽन्यस्मै ददत् पुरुषानृतं "सहस्रम्" (म. स्मृ. ८-९३८) इत्युक्तदोषं प्राप्नोति। सप्तपदीकरणस्याजातत्वाद्भार्यात्वानिष्पत्तेः पुनर्दानाशङ्कायामिदं वचनम् ॥ ९७ ॥

विधिवत्प्रतिगृह्यापि त्यजेत्कन्यां विगर्हिताम्।
व्याधितां विप्रदुष्टां वा छद्मना चोपपादिताम् ॥ ७२ ॥

विधि (३।३५) के अनुसार कन्याको ग्रहणकर भी विधवाके लक्षणोंसे युक्त, रोगिणी, क्षतयोनि (या शापादि) दोषसे युक्त अथवा (अधिकाङ्गी या हीनाङ्गी होनेपर भी उस दोषको छिपाकर) कपटपूर्वक दी गयी कन्याको द्विज सप्तपदी होनेके पहले छोड़ दे ॥ ७२ ॥

"अद्भिरेव द्विजाग्र्याणाम्" (म. स्मृ. ३-३५) इत्येवमादिविधिना प्रतिगृह्यापि कन्यां वैधव्यलक्षणोपेतां, रोगिणीं, क्षतयोनित्वाद्यभिशापवतीमधिकाङ्गादिगोपनच्छद्मोपपादितां सप्तपदीकरणात्प्राग्ज्ञातां त्यजेत्। ततश्च तत्त्यागे दोषाभाव इत्येतदर्थं, न तु त्यागार्थम् ॥

यस्तु दोषवतीं कन्यामनाख्यायोपपादयेत्।
तस्य तद्वितथं कुर्यात्कन्यादातुर्दुरात्मनः ॥ ७३ ॥

जो (कन्याका पिता, भ्राता या अन्य अभिभावक आदि) दोषयुक्त कन्याको (उसका दोष नहीं कहकर) दान करता है, कन्या-दान करनेवाले उस दुरात्माके दानको (वर) व्यर्थ कर दे अर्थात् वैसी कन्याको ग्रहण करना अस्वीकार कर दे ॥ ७३ ॥

यः पुनर्दोषवतीं कन्यां दोषाननभिधाय ददाति तस्य कन्यादातुर्दुरात्मनो दानं तत्प्रत्यर्पणेन व्यर्थं कुर्यात्। एतदपि त्यागे दोषाभावकथनार्थम् ॥ ७३ ॥

विधाय वृत्तिं भार्यायाः प्रवसेत्कार्यवान्नरः।
अवृत्तिकर्षिता हि स्त्री प्रदुष्येत्स्थितिमत्यपि ॥ ७४ ॥

आवश्यक कार्यवाला मनुष्य स्त्रीकी जीविका (भोजन, वस्त्र आदि) का प्रबन्ध कर प्रवास करे (दूसरे देश या नगर आदिको जाय); क्योंकि जीविकाके अभावसे पीडित शीलवती भी स्त्री (परपुरुषसंसर्ग आदिसे) दूषित हो जाती है ॥ ७४ ॥

कार्ये सति मनुष्यः पत्न्या ग्रासाच्छादनादि प्रकल्प्य देशान्तरं गच्छेत्। यस्माद् ग्रासाद्यभावपीडिता स्त्री शीलवत्यपि पुरुषान्तरसंपर्कं भजेत् ॥ ७४ ॥

विधाय प्रोषिते वृत्तिं जीवेन्नियममास्थिता।
प्रोषिते त्वविधायैव जीवेच्छिल्पैरगर्हितैः ॥ ७५ ॥

जीविका (भोजन, वस्त्र आदि) का प्रबन्ध कर पतिके परदेश जानेपर स्त्री नियम पालती (शृङ्गार, परगृहगमन आदिका त्याग करती) हुई जीए तथा (भोजन, वस्त्र आदिका) प्रबन्ध बिना किये ही पतिके परदेश चले जानेपर स्त्री अनिन्दित शिल्प (सीना, पिरोना, सूत कातना आदि कार्यों) से जीए ॥ ७५ ॥

भक्ताच्छादनादि दत्त्वा पत्यौ देशान्तरं गते देहप्रसाधनपरगृहगमनरहिता जीवेत्। अदत्त्वा पुनर्गते सूत्रनिर्माणादिभिरनिन्दितशिल्पेन जीवेत् ॥ ७५ ॥

प्रोषितो धर्मकार्यार्थं प्रतीक्ष्योऽष्टौ नरः समाः।
विद्यार्थं षड् यशोऽर्थं वा कामार्थं त्रींस्तु वत्सरान् ॥ ७६ ॥

स्त्री धर्मकार्यार्थ परदेश गये हुए पतिकी आठ वर्ष तक, विद्या (पढ़ने) या (विद्यादि गुण-प्रचारके द्वारा) यशके लिए परदेश गये हुए पतिकी छः वर्षतक और भोग आदि अन्य साधनोंके लिए परदेश गये हुए पतिकी तीन वर्षतक प्रतीक्षा करे (इसके बाद वह स्त्री पतिके पास चली जावे) ॥ ७६ ॥

गुर्वाज्ञासंपादनादिधर्मकार्यनिमित्तं प्रोषितः पतिरष्टौ वर्षाणि पत्न्या प्रतीक्षणीयः, ऊर्ध्वं पतिसंनिधिं गच्छेत् । तदाह वसिष्ठः—"प्रोषितपत्नी पञ्च वर्षाण्युपासीत, ऊर्ध्वं पतिसकाशं गच्छेत्" इति । विद्यार्थं प्रोषितः षड् वर्षाणि प्रतीक्ष्यः, निजविद्याविभाजनेन यशोऽर्थमपि प्रोषितः पतिः षडेव । भार्यान्तरोपभोगार्थं गतस्त्रीणि वर्षाणि ॥ ७६ ॥

संवत्सरं प्रतीक्षेत द्विषन्तीं योषितं पतिः ।
ऊर्ध्वं संवत्सरात्त्वेनां दायं हृत्वा न संवसेत् ॥ ७७ ॥

पति अपने (पतिके) साथ द्वेष करनेवाली स्त्रीको एक वर्षतक (उसके सुधार द्वेषत्यागके लिए) प्रतीक्षा करे, इसके बाद उसके लिए दिये गये भूषण आदिको उससे लेकर उसके साथ सहवास करनेका त्याग कर दे, (किन्तु आभरण लेकर भी उसके भोजन वस्त्रकी व्यवस्था तो करे ही ॥ ७७ ॥

पतिविषयसंजातद्वेषां स्त्रियं वर्षं यावत्प्रतीक्षेत । तत ऊर्ध्वमपि द्विषन्तीं स्वदत्तमलङ्कारादि धनं हृत्वा नोपगच्छेत् । ग्रासाच्छादनमात्रं तु देयमेव ॥ ७७ ॥

अतिक्रामेत्प्रमत्तं या मत्तं रोगार्तमेव वा ।
सा त्रीन्मासान्परित्याज्या विभूषणपरिच्छदा ॥ ७८ ॥

जो स्त्री (जुआरी आदि होनेसे) प्रमादयुक्त, (मदपान आदिसे) मतवाले तथा रोगसे पीडित पतिकी उपेक्षा (सेवा आदि न) करे, पति उसका भूषण आदि लेकर तीन माह तक त्याग कर दे (उसके साथ सहवास न करे) ॥ ७८ ॥

या स्त्री द्यूतादिप्रमादवन्तं मदजनकपानादिना मत्तं व्याधितं वा शुश्रूषाद्यकरणेनावजानाति सा विगतालङ्कारशय्यादिपरिच्छदा त्रीन्मासान्नोपगन्तव्या ॥ ७८ ॥

उन्मत्तं पतितं क्लीबमबीजं पापरोगिणम् ।
न त्यागोऽस्ति द्विषन्त्याश्च न च दायापवर्तनम् ॥ ७९ ॥

(वायु आदिके दोषसे) उन्मत्त (पागल), पतित (११।१७०-१७८), नपुंसक, निर्वीर्य (जिसका वीर्य स्थिर नहीं रहे) और पापरोगी (कोढ़ी आदि) की सेवा नहीं करनेवाली स्त्रीका पति न तो त्याग करे और न उसके धन या भूषण आदिका ही ग्रहण करे ॥ ७९ ॥

वातादिक्षोभादप्रकृतिस्थं, पतितमेकादशाध्याये वक्ष्यमाणं, नपुंसकम्, अबीजं बाध्यरेतस्त्वादिना बीजरहितं, कुष्ठाद्युपेतं च पतिमपरिचरन्त्यास्त्यागो न करणीयो, न च धनग्रहणं करणीयम् ॥ ७९ ॥

मद्यपाऽसाधुवृत्ता च प्रतिकूला च या भवेत् ।
व्याधिता वाऽधिवेत्तव्या हिंस्रार्थघ्नी च सर्वदा ॥ ८० ॥

(निषिद्ध) मद्यपान करनेवाली, दुराचारवाली, (पतिके) प्रतिकूल रहनेवाली, (कुष्ठ यक्ष्मा आदि) रोगवाली, (दास-दासी आदिको सदा) मारने या फटकारनेवाली और अधिक धन-व्यय करनेवाली स्त्री हो तो पति उसके जीवित रहनेपर भी दूसरा विवाह कर ले ॥ ८० ॥

निषिद्धमद्यपानरेता, असाध्वाचारा, भर्तुः प्रतिकूलाचरणशीला, कुष्ठादिव्याधियुक्ता, भृत्याद्विताडनशीला, सततमतिव्ययकारिणी या भार्या भवेत्साऽधिवेत्तव्या, तस्यां सत्यामन्यो विवाहः कार्यः ॥ ८० ॥

वन्ध्याष्टमेऽधिवेद्याब्दे दशमे तु मृतप्रजा ।
एकादशे स्त्रीजननी सद्यस्त्वप्रियवादिनी ॥ ८१ ॥

सन्तान-हीन स्त्रीकी आठवें वर्षमें, मृत सन्तान स्त्रीकी दसवें वर्षमें, कन्याको ही उत्पादन करनेवाली स्त्रीकी ग्यारहवें वर्षमें और अप्रियवादिनी स्त्रीकी तत्काल उपेक्षा करके उसके जीवित रहनेपर भी पति दूसरा विवाह कर ले ॥ ८१ ॥

प्रथमर्तुमारभ्याविद्यमानप्रसूता अष्टमे वर्षेऽधिवेदनीया, मृतापत्या दशमे वर्षे, स्त्रीजनन्येकादशे, अप्रियवादिनी सद्य एव यद्यपुत्रा भवति । पुत्रवत्यां तु तस्यां "धर्मप्रजासम्पन्ने दारे नान्यां कुर्वीत, अन्यतरापाये तु कुर्वीत" इत्यापस्तम्बनिषेधादधिवेदनं न कार्यम् ॥८१॥

या रोगिणी स्यात्तु हिता सम्पन्ना चैव शीलतः ।
सानुज्ञाप्याधिवेत्तव्या नावमान्या च कर्हिचित् ॥ ८२ ॥

जो स्त्री रोगिणी हो परन्तु पतिकी हिताभिलाषिणी तथा शीलवती हो, पति उससे सम्मति लेकर दूसरा विवाह करे तथा उसका अपमान कदापि न करे ॥ ८२ ॥

या पुनर्व्याधिता सती पत्युरनुकूला भवति, शीलवती च स्यात्तामनुज्ञाप्यान्यो विवाहः कार्यः । कदाचिच्चासौ नावमाननीया ॥ ८२ ॥

अधिविन्ना तु या नारी निर्गच्छेद्रुषिता गृहात् ।
सा सद्यः संनिरोद्धव्या त्याज्या वा कुलसन्निधौ ॥ ८३ ॥

•(उक्त (९।८०-८१) अवस्थामें) पतिके दूसरा विवाह करनेपर जो स्त्री कुपित होकर घरसे निकल जाय (या निकलना चाहे) तो पति उसे (क्रोध शान्त होने तक रस्सी आदिसे) बांधकर रोके अथवा पिता आदिके पास पहुँचा कर छोड़ दे ॥ ८३ ॥

या पुनः कृताधिवेदना स्त्री कुपिता निर्गच्छति सा तदहरेव रज्ज्वादिना बद्ध्वा स्थापनीया, आकोपनिवृत्तेः । पित्रादिकुलसंनिधौ वा त्याज्या ॥ ८३ ॥

प्रतिषिद्धापि चेद्या तु मद्यमभ्युदयेष्वपि ।
प्रेक्षासमाजं गच्छेद्वा सा दण्ड्या कृष्णलानि षट् ॥ ८४ ॥

जो (क्षत्रिया आदि) स्त्री (पति आदि स्वजनोंके) मना करनेपर भी विवाहादि उत्सवोंमें भी (निषिद्ध) मद्यका पान करे अथवा सबके सामने नाचने गाने आदिमें सम्मिलित हो तब राजा उसे ६ कृष्णल (रत्ती) सुवर्णसे दण्डित करे ॥ ८४ ॥

या पुनः क्षत्रियादिका स्त्री भर्त्रादिनिवारिता विवाहाद्युत्सवेष्वपि निषिद्धमद्यं पिबेन्नृत्यादिस्थानजनसमूहौ वा गच्छेत्सा सुवर्णकृष्णलानि षट् व्यवहारप्रकरणाद्राज्ञा दण्डनीया ॥ ८४ ॥

यदि स्वाश्चापराश्चैव विन्देरन्योषितो द्विजाः ।
तासां वर्णक्रमेण स्याज्ज्यैष्ठ्यं पूजा च वेश्म च ॥ ८५ ॥

यदि द्विज सजातीय (समान जातिवाली) तथा विजातीय (भिन्न जातिवाली) स्त्रियोंके साथ विवाह कर ले तो उनके वर्ण-क्रमके अनुसार मापण, दाय (भाग हिस्सा) वस्त्राभूषणादिसे

सत्कार तथा (निवासके लिए) घर होते हैं अर्थात् उच्च वर्णवाली पत्नीके लिये श्रेष्ठ तथा हीन-वर्णवाली पत्नीके लिए उसकी अपेक्षा हीन वे सब प्राप्त होते हैं ॥ ८५ ॥

यदि द्विजातयः स्वजातीया विजातीयाश्चोद्वहेयुस्तदा तासां द्विजातिक्रमेण वाससमान-दायविभागोत्कर्षार्थं ज्येष्ठत्वं पूजा च वस्त्रालंकारादिदानेन गृहं च प्रधानं स्यात् ॥ ८५ ॥

भर्तुः शरीरशुश्रूषां धर्मकार्यं च नैत्यकम् ।
स्वा चैव कुर्यात्सर्वेषां नास्वजातिः कथञ्चन ॥ ८६ ॥

उन (सजातीय तथा विजातीय स्त्रियों) में भोजन आदि देकर पतिकी सेवा तथा नित्य (भिक्षादान, अतिथिभोजन, अग्निहोत्रकर्म आदि) धर्म कार्य सजातीय (समान जातिवाली ही) स्त्री करे, अन्य जातिवाली स्त्री कदापि न करे ॥ ८६ ॥

भर्तुर्देहपरिचर्यामन्नदानादिरूपां धर्मकार्यं च भिक्षाशनातिथिपरिवेषणहोमीयद्रव्योप-कल्पनादि प्रात्यहिकं सर्वेषां द्विजातीनां सजातिभार्यैव कुर्यान्न तु कदाचिद्विजातीयेति ॥८६॥

यस्तु तत्कारयेन्मोहात्सजात्या स्थितयाऽन्यया ।
यथा ब्राह्मणचाण्डालः पूर्वदृष्टस्तथैव सः ॥ ८७ ॥

जो पति सजातीया (समान जातिवाली) स्त्रीके सन्निहित रहनेपर मोहवश विजातीया (दूसरी जातिवाली) स्त्रीके द्वारा शरीर-सेवादि कार्य करवाता है, वह ब्राह्मण चण्डाल (ब्राह्मणी स्त्रीमें शूद्रपतिसे उत्पन्नपुत्रके तुल्य) प्राचीन ऋषियोंद्वारा देखा (माना) जाता है ॥ ८७ ॥

यः पुनः स्वजातीयया संनिहितया देहशुश्रूषादिकं कर्तव्यं विजातीयया मौर्ख्यात्कारयेत्स यथा ब्राह्मण्यां शूद्राज्जातो ब्राह्मणचाण्डालस्तथैव पूर्वैर्ऋषिभिर्दृष्ट इति पूर्वानुवादः ॥८७॥

उत्कृष्टायाभिरूपाय वराय सदृशाय च ।
अप्राप्तामपि तां तस्मै कन्यां दद्याद्यथाविधि ॥ ८८ ॥
[प्रयच्छेन्नग्निकां कन्यामृतुकालभयान्वितः ।
ऋतुमत्यां हि तिष्ठन्त्यामेनो दातारमृच्छति ॥ १ ॥]

कुल तथा आचारमें श्रेष्ठ, सुन्दर, और योग्यवर मिल जाय तो (पिता या अन्य अभिभावक आदि) कन्याकी अवस्था (आयु) विवाह योग्य न होनेपर अर्थात् 'दक्ष' के वचनानुसार आठ वर्षसे कम आयु रहनेपर भी उस कन्याको उस वरके लिए ब्राह्मविधि (३।३७) से दान (विवाहित) कर दे ॥ ८८ ॥

[ऋतुमती होनेके समयके भयसे युक्त (पिता आदिकन्याके अभिभावक जन) 'नग्निका' (नव या दस वर्षसे कम अवस्थावाली) कन्याको (वरके लिए) दे, ऋतुमती कन्याके हो जानेपर दान करनेवालेको उसका पाप प्राप्त होता है ॥ १ ॥]

कुलाचाराभिरुत्कृष्टाय सुरूपाय समानजातीयाय वरायाप्राप्तकालामपि ।
'विवाहयेदष्टवर्षामेवं धर्मो न हीयते ।'
इति दक्षस्मरणात् । तस्मादपि कालात्प्रागपि कन्यां ब्राह्मविवाहविधिना दद्यात् ॥८८॥

काममामरणात्तिष्ठेद् गृहे कन्यर्तुमत्यपि ।
न चैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित् ॥ ८९ ॥

ऋतुमती भी कन्या जीवनपर्यन्त पिताके घरमें भले ही रह जाय, (किन्तु पिता आदि अभिभावक) इसे (ऋतुमती भी कन्याको) गुणहीन वरके लिये कदापि न देवे ॥ ८९ ॥

सञ्जातार्तवाऽपि कन्या वरं मरणपर्यन्तं पितृगृहे तिष्ठेन्न पुनरेनां विद्यागुणरहिताय कदाचित्पित्रादिर्दद्यात् ॥ ८९ ॥

त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यृतुमती सती ।
ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद्विन्देत सदृशं पतिम् ॥ ९० ॥

कन्या ऋतुमती होनेपर तीन वर्षतक (पिता आदिके द्वारा योग्यतर पतिके लिए दान करनेकी) प्रतीक्षा करे, इसके बाद (योग्यतर पति नहीं मिलनेपर) समान योग्यतावाले भी पतिको स्वयं वरण कर ले ॥ ९० ॥

पित्रादिभिर्गुणवद्वरायादीयमाना कन्या संजातार्तवा सती त्रीणि वर्षाणि प्रतीक्षेत। वर्षत्रयात्पुनरूर्ध्वमधिकगुणवरालाभे समानजातिगुणं वरं स्वयं वृणीत ॥ ९० ॥

अदीयमाना भर्तारमधिगच्छेद् यदि स्वयम् ।
नैनः किञ्चिदवाप्नोति न च यं साधिगच्छति ॥ ९१ ॥

(पिता आदिके द्वारा किसी योग्यतर) वरके लिए नहीं दान करनेपर जो (ऋतुमती कन्या ऋतुकालसे तीन वर्ष तक प्रतीक्षा कर अपनी समान योग्यता वाले) पतिका स्वयं वरण कर लेती है तो वह कन्या तथा पति थोड़ा भी दोषभागी नहीं होते हैं ॥ ९१ ॥

पित्रादिभिरदीयमाना कुमारी यथोक्तकाले यदि भर्तारं स्वयं वृणुते, तदा सा न किञ्चित्पापं प्राप्नोति, न च तत्पतिः पापं प्राप्नोति ॥ ९१ ॥

अलंकारं नाददीत पित्र्यं कन्या स्वयंवरा ।
मातृकं भ्रातृदत्तं वा स्तेना स्याद्यदि तं हरेत् ॥ ९२ ॥

(उक्त नियम (९।९०) के अनुसार पतिका) स्वयं वरण करनेवाली कन्या पिता, भाई, माता (या अन्य किसी अभिभावक) के दिये हुए अलङ्कारको न लेवे, (किन्तु उन्हें वापस लौटा दे), यदि वह (पिता आदिके दिये हुए अलङ्कारको) लेती है तो चोर होती है ॥ ९२ ॥

स्वयंवृतपतिका कन्या वरस्वीकरणात्पूर्वं पितृमातृभ्रातृभिर्दत्तमलङ्कारं तेभ्यः समर्पयेत्। यदा नार्पयेत्तदा चौरी स्यात् ॥ ९२ ॥

पित्रे न दद्याच्छुल्कं तु कन्यामृतुमतीं हरन् ।
स हि स्वाम्यादतिक्रामेदृतूनां प्रतिरोधनात् ॥ ९३ ॥

ऋतुमती कन्याको ग्रहण (उसके साथ विवाह) करनेवाला पति (कन्याके) पिताके लिए धन न देवे, क्योंकि वह पिता ऋतु (के कार्यरूप सन्तानोत्पादन) के रोकनेसे (उस कन्याके) स्वामित्वसे हीन हो जाता है ॥ ९३ ॥

ऋतुयुक्तां कन्यां वरः परिणयन्पित्रे शुल्कं न दद्यात् । यस्मात्स पिता ऋतुकार्यापत्योत्पत्तिनिरोधात्कन्यायाः स्वामित्वाद्धीयते ॥ ९३ ॥

त्रिंशद्वर्षोद्वहेत्कन्यां हृद्यां द्वादशवार्षिकीम् ।
त्र्यष्टवर्षोऽष्टवर्षां वा धर्मे सीदति सत्वरः ॥ ९४ ॥

तीस वर्षकी अवस्थावाला पति बारह वर्षकी अवस्थावाली सुन्दरी कन्याके साथ विवाह करे, अथवा (गार्हस्थ्य धर्मके सङ्कटावस्थामें रहनेके कारणसे) शीघ्रता करनेवाला चौबीस वर्षकी अवस्थावाला पति आठ वर्षकी कन्याके साथ विवाह करे ॥ ९४ ॥

त्रिंशद्वर्षः पुमान् द्वादशवर्षवयस्कां मनोहारिणीं कन्यामुद्वहेत्। चतुर्विंशतिवर्षो वाऽष्टवर्षां गार्हस्थ्यधर्मेऽवसादं गच्छति त्वरावान्। एतच्च योग्यकालप्रदर्शनपरं न तु नियमार्थं, प्रायेणैतावता कालेन गृहीतवेदो भवति, त्रिभागवयस्का च कन्या वोढुर्यूनो योग्या, इति गृहीतवेदश्चोपकुर्वाणको गृहस्थाश्रमं प्रति न विलम्बेतेति सत्वर इत्यस्यार्थः ॥ ९४ ॥

देवदत्तां पतिर्भार्यां विन्दते नेच्छयात्मनः।
तां साध्वीं बिभृयान्नित्यं देवानां प्रियमाचरन् ॥ ९५ ॥

पति (सूर्य आदि) देवोंके द्वारा ही दी गयी स्त्रीको प्राप्त करता है, अपनी इच्छासे नहीं प्राप्त करता; अत एव (उन) देवोंका प्रिय करता हुआ (वह पति) उस सदाचारिणी स्त्रीका अन्न, वस्त्र तथा आभूषण आदिसे सर्वदा पोषण करे ॥ ९० ॥

"भगो अर्यमा सविता पुरंधिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः" इत्यादिमन्त्रलिङ्गाव, या देवैर्दत्ता भार्या तां पतिर्लभते, न तु स्वेच्छया। तां सतीं देवानां प्रियं कुर्वन्ग्रासाच्छादनादिना सदा द्वेषाद्युपेतामपि पोषयेत् ॥ ९१ ॥

प्रजनार्थं स्त्रियः सृष्टाः सन्तानार्थं च मानवाः।
तस्मात्साधारणो धर्मः श्रुतौ पत्न्या सहोदितः ॥ ९६ ॥

गर्भ-ग्रहण करनेके लिए स्त्रियोंकी तथा गर्भाधान करनेके लिए पुरुषोंकी सृष्टि हुई है; इस कारण वेदमें अग्न्याधान आदि साधारण धर्म भी (गर्भधारण तथा गर्भाधानके समान) पुरुषका स्त्रीके साथ ही कहा गया है (अतः पुरुषका कर्तव्य है कि वह स्त्रीका अन्न-वस्त्र तथा आभूषण आदिसे पोषण करे) ॥ ९६ ॥

यस्माद्गर्भग्रहणार्थं स्त्रियः सृष्टा गर्भाधानार्थं च मनुष्यास्तस्माद्गर्भोत्पादनमिवानयोरग्न्याधानादिरपि धर्मः पत्न्या सह साधारणः "क्षौमे वसानावग्नीनादधीयातां" इत्यादिर्वेदेऽभिहितः। तस्माद्भार्यां बिभृयादिति पूर्वोक्तस्य शेषः ॥ ९६ ॥

कन्यायां दत्तशुल्कायां म्रियेत यदि शुल्कदः।
देवराय प्रदातव्या यदि कन्याऽनुमन्यते ॥ ९७ ॥

कन्याका मूल्य (उसके पिता आदिको) देकर (विवाहके पहले ही) यदि पति मर जाय तो उस कन्याकी अनुमति होनेपर उसे (उसके) देवरके लिए दे देना चाहिये ॥ ९७ ॥

कन्यायां दत्तशुल्कायां सत्यामसञ्जातविवाहायां यदि शुल्कदो वरो म्रियते, तदा देवराय पित्रादिभिर्वाऽसौ कन्या दातव्या, यदि सा स्वीकरोति। "यस्या म्रियेत" (म. स्मृ. ९-६९) इति प्रागुक्तं नियोगरूपं, इदं तु शुल्कग्रहणविषयम् ॥ ९७ ॥

आददीत न शूद्रोऽपि शुल्कं दुहितरं ददन्।
शुल्कं हि गृह्णन्कुरुते छन्नं दुहितृविक्रयम् ॥ ९८ ॥

कन्या-दान करता हुआ (शास्त्र ज्ञानहीन) शूद्र भी (मूल्य आदिके रूपमें कोई) धन पतिसे न लेवे (जब शूद्रतकके लिए निषेध है तो द्विजको तो कन्याका मूल्य कदापि नहीं लेना चाहिये), क्योंकि पतिसे धन लेता हुआ (पिता आदि कन्याभिभावक) छिपकर कन्याको बेंचता है ॥ ९८ ॥

शास्त्रानभिज्ञः शूद्रोऽपि पुत्रीं ददच्छुल्कं न गृह्णीयात्किं पुनः शास्त्रविद् द्विजातिः। यस्माच्छुल्कं गृह्णन्गुप्तं दुहितृविक्रयं कुरुते। "न कन्यायाः पिता" (म. स्मृ० ३-५१)

इत्यनेन निषिद्धमपि शुल्कग्रहणं कन्यायामपि गृहीतशुल्कायां शास्त्रीयनियमदर्शनाच्छुल्क-ग्रहणे शास्त्रीयत्वशङ्कायां पुनस्तन्निषिध्यते ॥ ९८ ॥

एतत्तु न परे चक्रुर्नापरे जातु साधवः ।
यदन्यस्य प्रतिज्ञाय पुनरन्यस्य दीयते ॥ ९९ ॥

(महर्षि भृगुजी मुनियोंसे कहते हैं—कि) कन्याको दूसरेके लिए देनेका वचन देकर पुनः वह किसी दूसरे के लिए दे दी जाय, ऐसा न तो किसी पुराने सज्जनने किया और न वर्तमानमें ही कोई सज्जन करता है ॥ ९९ ॥

एतत्पुनः पूर्वे शिष्टा न कदाचित्कृतवन्तः, नाप्यपरे वर्तमानकालाः कुर्वन्ति, यदन्यस्य कन्यामङ्गीकृत्य पुनरन्यस्मै दीयत इति । एतच्च गृहीतशुल्ककन्यामदत्वा कस्यचित् कन्यायामिति तु ग्रहीतशुल्कविषयम् ॥ ९९ ॥

नानुशुश्रुम जात्वेतत्पूर्वेष्वपि हि जन्मसु ।
शुल्कसंज्ञेन मूल्येन छन्नं दुहितृविक्रयम् ॥ १०० ॥

(महर्षि भृगुजी मुनियोंसे पुनः कहते हैं कि—हमने) पूर्व जन्मोंमें भी यह नहीं सुना कि 'शुल्क' नामक मूल्यसे किसी सज्जनने कभी भी गुप्तरूपसे कन्याको बेचा हो ॥ १०० ॥

पूर्वकल्पेष्वप्येतद् वृत्तमिति कदाचिद्वयं न श्रुतवन्तः, यच्छुल्काभिधानेन मूल्येन कश्चित्साधुर्गूढं दुहितृविक्रमकार्षीदिति शुल्कनिषेधार्थवादः ॥ १०० ॥

अन्योन्यस्याव्यभिचारो भवेदामरणान्तिकः ।
एष धर्मः समासेन ज्ञेयः स्त्रीपुंसयोः परः ॥ १०१ ॥

मरण-पर्यन्त स्त्री-पुरुषका परस्परमें व्यभिचार अर्थात् धर्मार्थकाम-विषयक कार्योंमें पार्थक्य (अलगाव) न होवे, यही संक्षेपमें स्त्री-पुरुषका धर्म जानाना चाहिये ॥ १०१ ॥

भार्यापत्योर्मरणान्तं यावद्धर्मार्थकामेषु परस्पराव्यभिचारः स्यादित्येव संक्षेपतः स्त्रीपुंसयोः प्रकृष्टो धर्मो ज्ञातव्यः ॥ १०१ ॥

तथा च सति—

तथा नित्यं यतेयातां स्त्रीपुंसौ तु कृतक्रियौ ।
यथा नाभिचरेतां तौ वियुक्तावितरेतरम् ॥ १०२ ॥

(अत एव) विवाह किये हुए स्त्री-पुरुषको ऐसा यत्न करना चाहिये कि 'वे परस्परमें (धर्मार्थकाम-विषयक कार्योंमें) कभी पृथक् न होवें ॥ १०२ ॥

स्त्रीपुंसौ कृतविवाहौ तथा सदा यत्नं कुर्यातां, यथा धर्मार्थकामविषये वियुक्तौ परस्परं न व्यभिचरेताम् ॥ १०२ ॥

एष स्त्रीपुंसयोरुक्तो धर्मो वो रतिसंहितः ।
आपद्यपत्यप्राप्तिश्च दायभागं निबोधत ॥ १०३ ॥

(भृगुजी महर्षियोंसे कहते हैं—मैंने) आप लोगोंसे रति (स्नेह—अनुराग) युक्त स्त्री-पुरुषके धर्म तथा उनके आपत्कालमें सन्तान-प्राप्तिके विधानको कहा (अब आप लोग) दायभाग (पिता आदिके धनके विभाजन—बटवारा) को सुनें ॥ १०३ ॥

एष भार्यापत्योरन्योन्यानुरागयुक्तो धर्मो युष्माकमुक्तः। सन्तानाभावे चापत्यप्राप्तिरुक्ता। इदानीं दीयत इति दायः पित्रादिधनं तस्य विभागव्यवस्थां शृणुत ॥ १०३ ॥

भ्रातरो मिलित्वा पितृमरणादूर्ध्वं पैतृकं मातृमरणादूर्ध्वं मातृकं धनं समं कृत्वा विभजेरन्। ज्येष्ठगोचरतयोद्धारस्य वक्ष्यमाणत्वात् समभागोऽयं ज्येष्ठभ्रातर्युद्धारमनिच्छति बोद्धव्यः। पित्रोर्मरणादूर्ध्वं विभागहेतुमाह—

ऊर्ध्वं पितुश्च मातुश्च समेत्य भ्रातरः समम्।
भजेरन्पैतृकं रिक्थमनीशास्ते हि जीवतोः॥ १०४ ॥

माता-पिताके मरनेपर सब भाई एकत्रित होकर पैतृक (पितृ-संबन्धी) सम्पत्तिको बराबर बाँट लें, क्योंकि (वे पुत्र) उन दोनों (माता-पिता) के जीवित रहते उनकी सम्पत्तिको लेनेमें असमर्थ रहते हैं ॥ १०४ ॥

यस्मात्ते पुत्रा जीवतोः पित्रोस्तदीयधने स्वामिनो न भवन्ति। मातुरपि प्रकृतत्वात्पैतृकमित्यनेन मातृकस्यापि ग्रहणम्। अयं च पितृमरणानन्तरं विभागो जीवतः पितुरिच्छाभावे द्रष्टव्यः। पितुरिच्छया जीवत्यपि तस्मिन्विभागः। तदाह याज्ञवल्क्यः—

"विभागं चेत्पिता कुर्यादिच्छया विभजेत्सुतान्" (या. स्मृ. २-११४) इति ॥ १०४ ॥

यदा पुनर्ज्येष्ठो धार्मिको भवति, तदा—

ज्येष्ठ एव तु गृह्णीयात्पित्र्यं धनमशेषतः।
शेषास्तमुपजीवेयुर्यथैव पितरं तथा॥ १०५ ॥

अथवा बड़ा भाई ही पिताके सब-धनको प्राप्त करे और अन्य छोटे भाई पिताके समान उस बड़े भाईसे भोजन वस्त्र आदि पाते हुए जीवें अर्थात् उसीके साथमें सम्मिलित होकर रहें। (ज्येष्ठ भाईके धार्मिक एवं भ्रातृवत्सल होनेपर ही ऐसा हो सकता है) ॥ १०५ ॥

ज्येष्ठ एव पितृसम्बन्धि धनं गृह्णीयात्। कनिष्ठाः पुनर्जेष्ठं भक्ताच्छादनार्थं पितरमिवोपजीवेयुः। एवं सर्वेषां सहैवावस्थानम् ॥ १०५ ॥

ज्येष्ठेन जातमात्रेण पुत्री भवति मानवः।
पितृणामनृणश्चैव स तस्मात्सर्वमर्हति॥ १०६ ॥

मनुष्य ज्येष्ठ पुत्र की उत्पत्तिमात्रसे (उसके संस्कारयुक्त नहीं होनेपर भी) पुत्रवान् हो जाता है और पितृ ऋण से छूट जाता है; अत एव वह (ज्येष्ठ पुत्र पिताकी सब सम्पत्ति पानेके योग्य है) ॥ १०६ ॥

उत्पन्नमात्रेण ज्येष्ठेन संस्काररहितेनापि मनुष्यः पुत्रवान्भवति। ततश्च "नापुत्रस्य लोकोऽस्ति" (ब० ब्रा० पञ्चिका ७ अ० ३) इति श्रुतेः, पुण्यलोकाभावपरिहारो भवति। तथा "प्रजया पितृभ्यः" इति श्रुतेः, "पुत्रेण जातमात्रेण पितृणामनृणश्च सः" इति। अतो ज्येष्ठ एव सर्वधनमर्हति पूर्वस्य। अनुजास्तेन साम्ना वर्तेरन् ॥ १०६ ॥

यस्मिन्नृणं संनयति येन चानन्त्यमश्नुते।
स एव धर्मजः पुत्रः कामजानितरान्विदुः॥ १०७ ॥

पिता जिस पुत्रके उत्पन्न होनेसे पितृ-ऋणसे छूट जाता है और अमृतत्वको प्राप्त करता है, वही (ज्येष्ठ पुत्र) धर्म से उत्पन्न है अन्य (शेष-छोटे पुत्र) कामवासना से उत्पन्न हैं, ऐसा (मुनि लोग) मानते हैं (अत एव वही ज्येष्ठ पुत्र पिताकी सम्पूर्ण सम्पत्ति का अधिकारी होनेके योग्य है) ॥ १०७ ॥

यस्मिन् जाते ऋणं शोधयति। येन जातेनामृतत्वं प्राप्नोति। तथा च श्रुतिः-"ऋणमस्मिन्सन्नयत्यमृतत्वं च गच्छति। पिता पुत्रस्य जातस्य पश्येच्चेज्जीवतो मुखम्" (ब्र. ब्रा. पञ्चिका ७ अ. ३) इति। स एव पितुर्धर्मेण हेतुना जातः पुत्रो भवति, तेनैकेनैव ऋणापनयनाद्युपकारस्य कृतत्वात्। इतरांस्तु कामजान्मुनयो जानन्ति। ततश्च सर्वं धनं गृह्णीयादित्यस्यैवायमपि विशेषः॥ १०७॥

पितेव पालयेत्पुत्राञ्ज्येष्ठो भ्रातॄन्यवीयसः।
पुत्रवच्चापि वर्तेरञ्ज्येष्ठे भ्रातरि धर्मतः॥ १०८॥

ज्येष्ठ भाई छोटे भाईयोंका पालन पिताके समान करे तथा छोटे भाई ज्येष्ठ भाईमें धर्मके लिए पुत्रके समान बर्ताव करें अर्थात् ज्येष्ठ भाईको पिता मानें॥ १०८॥

ज्येष्ठो भ्राता विभागाभावेऽनुजान् भ्रातॄन्भक्ताच्छादनादिभिः पितेव बिभृयात्। अनुजाश्च भ्रातरः पुत्रा इव ज्येष्ठे भ्रातरि धर्माय वर्तेरन्॥ १०८॥

ज्येष्ठः कुलं वर्धयति विनाशयति वा पुनः।
ज्येष्ठः पूज्यतमो लोके ज्येष्ठः सद्भिरगर्हितः॥ १०९॥

धर्मात्मा ज्येष्ठ (भाई) ही कुलकी उन्नति करता है अथवा (अधर्मात्मा होकर कुलका) नाश करता है। गुणवान् ज्येष्ठ भाई संसार में पूज्य तथा सज्जनों से अनिन्दनीय होता है॥१०९॥

अकृतविभागो ज्येष्ठो यदि धार्मिको भवति तदानुजानामपि तदनुयायित्वेन धार्मिकत्वाज्ज्येष्ठः कुलं वृद्धिं नयति। यद्यधार्मिको भवति तदानुजानामपि तदनुयायित्वाज्ज्येष्ठः कुलं नाशयति। तथा गुणवाञ्ज्येष्ठो लोके पूज्यतमः साधुभिश्चागर्हितो भवति॥ १०९॥

यो ज्येष्ठो ज्येष्ठवृत्तिः स्यान्मातेव स पितेव सः।
अज्येष्ठवृत्तिर्यस्तु स्यात्स संपूज्यस्तु बन्धुवत्॥ ११०॥

यदि ज्येष्ठ भाई (छोटे भाइयोंके साथ) ज्येष्ठ अर्थात् पिता आदिके समान (लालन-पालन आदि उत्तम) बर्ताव करे तो वह (छोटे भाइयोंके द्वारा) माता-पिताके समान पूज्य है तथा यदि (वह ज्येष्ठ भाई छोटे भाइयोंके साथ) ज्येष्ठ के समान बर्ताव न करे तो उसके साथ (छोटे भाइयोंको) बन्धु (मामा आदि बन्धुजन के तुल्य व्यवहार करना चाहिये॥ ११०॥

यो ज्येष्ठोऽनुजेषु भ्रातृषु पितृवद्वर्तेत, स पितेव मातेवागर्हणीयो भवति। य पुनस्तथा न वर्तते स मातुलादिबन्धुवदर्चनीयः॥ ११०॥

एवं सह वसेयुर्वा पृथग्वा धर्मकाम्यया।
पृथग्विवर्धते धर्मस्तस्माद्धर्म्या पृथक् क्रिया॥ १११॥

इस प्रकार (९।१०५-११०) वे (छोटे भाई) एक-साथ रहें अथवा धर्मकी इच्छासे अलग-अलग रहें। अलग-अलग रहनेसे (पञ्चमहायज्ञादि कार्य सब भाइयोंको अलग-अलग ही करनेके कारण) धर्मवृद्धि होती है, अत एव भाइयोंको अलग-अलग रहना भी धर्मयुक्त है॥ १११॥

एवमविभक्ता भ्रातरः सह संवसेयुः। यदि वा धर्मकामनया कृतविभागाः पृथग्वसेयुः। यस्मात्पृथगवस्थाने सति पृथक् पृथक् पञ्चमहायज्ञाद्यनुष्ठानधर्मस्तेषां वर्धते, तस्माद्विभागक्रिया धर्मार्था। तथा च बृहस्पतिः—

एकपाकेन वसतां पितृदेवद्विजार्चनम्।
एकं भवेद्विभक्तानां तदेव स्याद् गृहे गृहे॥ १११॥

ज्येष्ठस्य विंश उद्धारः सर्वद्रव्याच्च यद्वरम् ।
ततोऽर्धं मध्यमस्य स्यात्तुरीयं तु यवीयसः ॥ ११२ ॥

पिताके सम्पूर्ण धनमेंसे ज्येष्ठ भाईका बीसवां भाग तथा श्रेष्ठ पदार्थ (चाहे वह एक ही हो), कनिष्ठ (सबसे छोटे) भाईका अस्सीवां भाग और मध्यम (मझिला) भाईका चालीसवां भाग 'उद्धार' होता है ॥ ११२ ॥

उद्ध्रियत इत्युद्धारः, ज्येष्ठस्याविभक्तसाधारणधनादुद्धृतस्य विंशतितमो भागः सर्वद्रव्येभ्यश्च यच्छ्रेष्ठं तद्दातव्यम् । मध्यमस्य चत्वारिंशत्तमो भागो देयः । कनिष्ठस्य पुनरशीतितमो भागो दातव्यः । अवशिष्टं धनं समं कृत्वा विभजनीयम् ॥ ११२ ॥

ज्येष्ठश्चैव कनिष्ठश्च संहरेतां यथोदितम् ।
येऽन्ये ज्येष्ठकनिष्ठाभ्यां तेषां स्यान्मध्यमं धनम् ॥ ११३ ॥

(यदि तीनसे अधिक भाई हों तो) सबसे बड़े तथा छोटे भाईका 'उद्धार' क्रमशः बीसवां तथा अस्सीवां भाग और अन्य मध्यम (मझिला, सझिला आदि) भाइयोंका चालीसवां भाग 'उद्धार' भाग पितृधनमें निकालना चाहिये। पहले ही पूर्ववर्णित क्रमसे निकालकर शेष धनका समान भाग सब भाइयोंको प्राप्तव्य होता है) ॥ ११३ ॥

ज्येष्ठकनिष्ठौ पूर्वश्लोके यथोक्तमुद्धारं गृह्णीयाताम् । ज्येष्ठकनिष्ठव्यतिरिक्ता ये मध्यमास्तेषामेवावान्तरज्येष्ठकनिष्ठतामनपेक्ष्य मध्यमस्योक्तचत्वारिंशद्भागः प्रत्येकं दातव्यः । मध्यमानामवान्तरज्येष्ठकनिष्ठदेयभागे वैषम्यवारणार्थमिदम् ॥ ११३ ॥

सर्वेषां धनजातानामाददीताग्र्यमग्रजः ।
यच्च सातिशयं किंचिद्दशतश्चाप्नुयाद्वरम् ॥ ११४ ॥

सम्पूर्ण सम्पत्तिमेंसे श्रेष्ठ वस्तु ज्येष्ठ भाईको मिलती है, यदि एक ही श्रेष्ठ वस्तु हो तो भी वह उसे ही मिलती है तथा दस-दस गाय आदि पशुओंमें से एक-एक श्रेष्ठ भाईको मिलती है ॥ ११४ ॥

सर्वेषां धनप्रकाराणां मध्याद्यच्छ्रेष्ठं धनं, ज्येष्ठः तद्धनं गृह्णीयात्। "सर्वद्रव्याच्च यद्वरम्" (म. स्मृ. ९-११२) इत्युक्तमनूदितसमुच्चयबोधनाय । यच्चैकमपि प्रकृष्टं द्रव्यं विद्यते तदपि ज्येष्ठ एव गृह्णीयात्। तथा "दशतः पशूनाम्" इति गोतमस्मरणाद्दशभ्यो गवादिपशुभ्य एकैकं श्रेष्ठं ज्येष्ठो लभते। इदं च यदि ज्येष्ठो गुणवानितरे निर्गुणास्तद्विषयम् ॥ ११४ ॥

सर्वेषां समगुणत्वे तु—

उद्धारो न दशस्वस्ति संपन्नानां स्वकर्मसु ।
यत्किंचिदेव देयं तु ज्यायसे मानवर्धनम् ॥ ११५ ॥

सब छोटे भाइयोंके अपने-अपने कर्मोंमें युक्त रहनेपर पूर्वश्लोकोक्त दस-दस गाय आदि पशुओंमें-से एक-एक गाय आदि पशु 'उद्धार' रूपमें ज्येष्ठ भाईको नहीं प्राप्तव्य होता; किन्तु ज्येष्ठ भाईके मानको बढ़ानेके लिए उसे कुछ भी अधिक भाग देना चाहिये ॥ ११५ ॥

"दशतश्चाप्नुयाद्वरम्" (म. स्मृ. ९-११४) इति योऽयमुद्धार उक्तः सोऽयमध्ययनादिकर्मसमृद्धानां भ्रातॄणां ज्येष्ठस्य नास्ति, तत्रापि यत्किंचिदस्य देयमिति । द्रव्यं पूजावृद्धिकरं ज्येष्ठाय देयम् । एवं च समगुणेषूद्धारप्रतिषेधदर्शनात्पूर्वत्र गुणोत्कर्षाविशेषापेक्षयोद्धारवषम्यं बोद्धव्यम् ॥ ११५ ॥

एवं समुद्धृतोद्धारे समानंशान्प्रकल्पयेत्।
उद्धारेऽनुद्धृते त्वेषामियं स्यादंशकल्पना ॥ ११६ ॥

इस प्रकार (९।११२-११५) सबके 'उद्धार' (अतिरिक्त भाग-विशेष) को पृथक्कर (शेष धन-राशिको) समान भाग कर ले, 'उद्धार' पृथक् नहीं करनेपर उन भाइयों के भागकी कल्पना इस (९।११७) प्रकार करे ॥ ११६ ॥

एवमुक्तप्रकारेण समुद्धृतविंशद्भागाधिके धने समान्भागान् भ्रातॄणां कल्पयेत्। विंशतितमभागादौ पुनरनुद्धृत इयं वक्ष्यमाणभागकल्पना भवेत् ॥ ११६ ॥

एकाधिकं हरेज्ज्येष्ठः पुत्रोऽध्यर्धं ततोऽनुजः।
अंशमंशं यवीयांस इति धर्मो व्यवस्थितः ॥ ११७ ॥

(पितृ-धन-राशिमें से) ज्येष्ठ भाई दो भाग, उससे छोटा भाई डेढ़ भाग तथा उससे छोटा (या तीन भाईसे अधिक होनेपर छोटा) भाई एक ले; यह व्यवस्थित धर्म हैं ॥ ११७ ॥

एकाधिकमंशं द्वावंशाविति यावत्, ज्येष्ठपुत्रो गृह्णीयात्। अधिकमर्धं यत्रांशे सार्धमंशं ज्येष्ठादनन्तरजातो गृह्णीयात्। कनिष्ठाः पुनरेकैकमंशं गृह्णीयुरिति व्यवस्थितो धर्मः। इदं तु ज्येष्ठतदनुजयोर्विद्यादिगुणवत्त्वापेक्षया कनिष्ठानां च निर्गुणवत्त्वे बोद्धव्यम्, ज्येष्ठतदनुजयोरधिकदानदर्शनात् ॥ ११७ ॥

स्वेभ्योऽशेभ्यस्तु कन्याभ्यः प्रदद्युर्भ्रातरः पृथक्।
स्वात्स्वादंशाच्चतुर्भागं पतिताः स्युरदित्सवः ॥ ११८ ॥

अपने-अपने भाग का चतुर्थांश भाग (अविवाहित सोदर्या) बहनोंके लिए (ब्राह्मणादि चारो वर्णके) भाई देवें। यदि वे (उन बहनोंके विवाह-संस्कारार्थ) चतुर्थांश नहीं देना चाहते हैं तो वे पतित होते हैं ॥ ११८ ॥

ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राश्चत्वारो भ्रातरः स्वजात्यपेक्षया स्वेभ्यश्चतुरोंऽशान् हरेयुः। विप्र- इत्यादिना वक्ष्यमाणेभ्यो भागेभ्य आत्मीयादात्मीयाद्भागाच्चतुर्थभागं पृथक् कन्याभ्योऽनूढाभ्यो भगिनीभ्यो या यस्य सोदर्या भगिनी स तस्या एव संस्कारार्थमिति एवं दद्युः। सोदर्याभावे विमातृजैरुत्कृष्टैरपि संस्कार्यैव। तथा च याज्ञवल्क्यः—

असंस्कृतास्तु संस्कार्या भ्रातृभिः पूर्वसंस्कृतैः।
भगिन्यश्च निजादंशाद्दत्वांऽशं तु तुरीयकम् ॥ (या. स्मृ. २-१२४)

यदि भगिनीसंस्कारार्थं चतुर्भागं दातुं नेच्छन्ति, तदा पतिता भवेयुः। एतेनैकजातीयवैमात्रेयबहुपुत्रभगिनीसद्भावेऽपि सोदर्यभगिनीभ्यश्चतुर्थभागदानमवगन्तव्यम् ॥ ११८ ॥

अजाविकं सैकशफं न जातु विषमं भजेत्।
अजाविकं तु विषमं ज्येष्ठस्यैव विधीयते ॥ ११९ ॥

बकरा (खस्सी), भेंड़ तथा घोड़ा आदिके विषम होने (भाइयोंमें समान भाग नहीं विभाजित हो सकने) पर वह बड़े भाईका ही भाग होता है, उसे विषम नहीं किया जाता अर्थात् समान भाग करनेके लिए उसे बेचकर या उसके बराबर धनको सब भाइयोंमें नहीं विभाजित किया जाता ॥ ११९ ॥

एकशफा अश्वादयः। छागमेषाद्येकशफसहितं विभागकाले समं कृत्वा विभक्तुमशक्यं तन्न विभजेत्किंतु ज्येष्ठस्यैव तत्स्यान्न तु तत्तुल्यद्रव्यान्तरदानेन समीकृत्य विक्रीय वा तन्मूल्यं विभजेत्। अजाविकमिति पशुद्वन्द्वाद्विभाषैकवद्भावः ॥ ११९ ॥

यवीयाञ्ज्येष्ठभार्यायां पुत्रमुत्पादयेद्यदि।
समस्तत्र विभागः स्यादिति धर्मो व्यवस्थितः॥ १२०॥

यदि छोटा भाई ज्येष्ठ भाईकी स्त्रीमें 'नियोग' (९।५९-६२) द्वारा पुत्र उत्पन्न करे तो वह (क्षेत्रज) पुत्र अपने चाचाओंके बराबर हीं भाग पानेका अधिकारी होता है अर्थात् उसके ज्येष्ठ भाईके पुत्र होनेके कारण वह 'उद्धार' (९।११२-११४) अर्थात् अतिरिक्त भागका अधिकारीं नहीं होता, ऐसी धर्मकी व्यवस्था है॥ १२०॥

कनिष्ठो यदि ज्येष्ठभ्रातृभार्यायां नियोगेन पुत्रं जनयेत्तदा तेन पितृपितृव्येण सह तस्य क्षेत्रजस्य समो विभागः स्यान्न तु पितृवत्सोद्धारो भवतीति विभागव्यवस्था नियता। अनियोगोत्पन्नस्यानंशित्वं वक्ष्यति। यद्यपि "समेत्य भ्रातरः समम्" (म. स्मृ. ९-१०४) इत्युक्तं, तथाप्यस्मादेव लिङ्गात्पौत्रस्यापि मृतपितृकस्य पैतामहे धने पितृव्यवद्विभागोऽस्तीति गम्यते॥ १२०॥

ज्येष्ठभ्रातुः क्षेत्रजः पुत्रोऽपि पितेव सोद्धारविभागी युक्त इतीमां शङ्कां निराकृत्य पूर्वोक्तमेव द्रढयति—

उपसर्जनं प्रधानस्य धर्मतो नोपपद्यते।
पिता प्रधानं प्रजने तस्माद्धर्मेण तं भजेत्॥ १२१॥

उपसर्जन (छोटे भाईके द्वारा ज्येष्ठ भाईकी स्त्रीमें 'नियोग' (९।५९-६१) से उत्पन्न अप्रधान) पुत्र धर्मानुसार प्रधान (साक्षात् पिताके द्वारा उत्पन्न पुत्रके भाग ('उद्धार' (९।११२-११४) अर्थात् अतिरिक्त भागको) पानेका अधिकारी नहीं होता। क्योंकि अपने क्षेत्र (स्त्री) में सन्तान उत्पन्न करनेमें पिता ही मुख्य है, अतः धर्मसे उस पुत्रको पितृव्योंके साथ पूर्व वचनके अनुसार समान भाग लेना चाहिये॥ १२१॥

अप्रधानं क्षेत्रजः पुत्रः प्रधानस्य क्षेत्रिणः पितृधर्मेण सोद्धारविभागग्रहणरूपेण न संबध्यते। क्षेत्र्यपि पिता तद्द्वारेणापत्योत्पादने प्रधानम्। तस्मात्पूर्वोक्तेनैव धर्मेण विभागव्यवस्थारूपेण पितृव्येण सह तं क्षेत्रजं विभजेदिति पूर्वस्यैव शेषः॥ १२१॥

पुत्रः कनिष्ठो ज्येष्ठायां कनिष्ठायां च पूर्वजः।
कथं तत्र विभागः स्यादिति चेत्संशयो भवेत्॥ १२२॥

यदि बड़ी (प्रथम विवाहित) स्त्रीका पुत्र छोटा हो तथा छोटी (बादमें विवाहित) स्त्रीका पुत्र बड़ा हो तो वहां ('माताओंके विवाहक्रमसे उन पुत्रोंकी बड़ाई-छोटाईका विचार होगा या पुत्रोंके जन्म-क्रमसे होगा?' ऐसा सन्देह उपस्थित होनेपर) विभाजन (धनका बटवारा) किस प्रकार किया जाय अर्थात् किस पुत्रको बड़ा तथा किस पुत्रको छोटा मानकर पितृ-धनको भाइयोंमें बांटा जाय एवं किस पुत्रका कितना 'उद्धार' (९।११२-११४) हो ऐसा सन्देह होतो—॥ १२२॥

यदि प्रथमोढायायां कनीयान्पुत्रो जातः, पश्चादूढायां च ज्येष्ठस्तदा तत्र कथं विभागो भवेदिति संशयो यदि स्यात्किं मातुरुद्वाहक्रमेण पुत्रस्य ज्येष्ठत्वमुत स्वजन्मक्रमेणेति तत्राह॥ १२२॥

एकं वृषभमुद्धारं संहरेत स पूर्वजः।
ततोऽपरे ज्येष्ठवृषास्तदूनानां स्वमातृतः॥ १२३॥

पहली (प्रथम विवाहिता) स्त्रीका छोटा पुत्र (पितृ-सम्पत्तिमेंसे) एक श्रेष्ठ बैल 'उद्धार' (अतिरिक्त भाग—९।११२-११४) लेवे, इसके बाद उससे बचे जो श्रेष्ठ बैल हैं उनमेंसे एक-एक बैल अपनी माता (विवाहके) क्रमसे उत्पन्न पुत्र लेवें ॥ १२३ ॥

पूर्वस्यां जातः पूर्वजः। "ङ्यापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुलकम्" (पा. सू. ६।३।६३) इति ह्रस्वत्वम्। स कनिष्ठोऽप्येकं वृषभमुद्धारं गृह्णीयात्ततः श्रेष्ठवृषभादन्ये ये सन्त्यश्रेष्ठाः श्रेष्ठवृषभास्ते तस्माज्ज्येष्ठिनेयान्मातृत ऊनानां कनिष्ठेयानां प्रत्येकमेकैकशो भवन्तीति मात्रुद्वाहक्रमेण ज्यैष्ठ्यम् ॥ १२३ ॥

ज्येष्ठस्तु जातो ज्येष्ठायां हरेद्वृषभषोडशाः।
ततः स्वमातृतः शेषा भजेरन्निति धारणा ॥ १२४ ॥

ज्येष्ठ (प्रथम विवाहित) मातामें उत्पन्न (जन्म-कालानुसार भी) ज्येष्ठ पुत्र पन्द्रह गायोंके साथ एक बैल ले, तदनन्तर शेष स्त्रियोंमें उत्पन्न पुत्र माताओंके विवाह-क्रमसे बचे हुए धनमेंसे अपना-अपना भाग लें ॥ १२४ ॥

प्रथमोढायां पुनर्यो जातो जन्मना च भ्रातृभ्यो ज्येष्ठः स वृषभः षोडशो यासां गवां ता गृह्णीयात, पञ्चदश गा एकं वृषभमित्यर्थः। ततोऽनन्तरं येऽन्ये बह्वीभ्यो जातास्ते स्वमातृभागत ऊढज्येष्ठापेक्षया शेषा भागादि विभजेरन्निति निश्चयः ॥ १२४ ॥

सदृशस्त्रीषु जातानां पुत्राणामविशेषतः।
न मातृतो ज्यैष्ठ्यमस्ति जन्मतो ज्यैष्ठ्यमुच्यते ॥ १२५ ॥

समान (एक) जातिवाली स्त्रियोंसे उत्पन्न सन्तानमें जातिसम्बन्धी विशेषता नहीं होनेसे माताके क्रमसे ज्येष्ठत्व नहीं होता, किन्तु जन्म (के क्रम) से ही ज्येष्ठत्व कहा जाता है ॥ १२५ ॥

समानजातीयस्त्रीषु जातानां पुत्राणां जातिगतविशेषाभावे सति न मातृक्रमेण ज्यैष्ठ्यमृषिभिरुच्यते। जन्मज्येष्ठानां तु पूर्वोक्त एव विंशतिभागादिरुद्धारो बोद्धव्यः। एवं च मातृज्यैष्ठ्यस्य विहितप्रतिषिद्धत्वात्षोडशीग्रहणाग्रहणवद्विकल्पः। स च गुणवन्निर्गुणतया भ्रातृणां गुरुलघुत्वावगमाद्व्यवस्थितः। अत एव—

जन्मविद्यागुणज्येष्ठो द्व्यंशं दायादवाप्नुयात्।

इति बृहस्पत्यादिभिर्जन्मज्येष्ठस्य विद्याद्युत्कर्षेणोद्धारोत्कर्ष उक्तः। "निर्गुणस्यैकवृषभम्" इति मन्दगुणस्य "वृषभषोडशाः" (म. स्मृ. ९-१२४) इति मातृज्यैष्ठ्याश्रयणेनोद्धारो बोद्धव्यः। मातृज्यैष्ठ्यविधिं त्वनुवादं[1] मेधातिथिरवदत्। गोविन्दराजस्त्वन्यमतं जगौ ॥ १२५ ॥

न केवलं विभागे जन्मज्यैष्ठ्यं, किंतु—

जन्मज्येष्ठेन चाह्वानं सुब्रह्मण्यास्वपि स्मृतम्।
यमयोश्चैव गर्भेषु जन्मतो ज्येष्ठता स्मृता ॥ १२६ ॥

---

(१) मेधातिथिना नवमाध्यायस्य चतुर्विंशत्यधिकशततश्लोके "ज्येष्ठस्तु जातो ज्येष्ठायाम्" इत्यादौ अज्येष्ठायामिति विभज्य व्याख्यातम्। तद्यथा—उद्धारान्तरं वैकल्पिकमेषामुच्यते—अज्येष्ठायां ज्येष्ठो जातः पञ्चदश गा हरेत षोडशा वृषभाः। वृषभसम्बन्धाद्गावो लभ्यन्ते। यथास्य गोर्द्वितीयेनार्थं इति। अन्ये शेषा गा हरेरन् स्वमातृतः यथैवैषां माता गरीयसी कनीयसीमाहरेव। अथवा ज्यैष्ठिने यस्यायमुद्धारोऽधिक उच्यते पूर्वस्तु स्थित एव नात्रानडुत्प्रक्षेपः। शेषाः कनीयांसः स्वमातृतो हरेरन् स्वमातृत इति विविच्यते श्लोकद्वयस्यार्थवादत्वान्न विवेके यत्नः। उपक्रममात्रमेतत्। सिद्धान्तस्त्वयमुच्यते।

(इन्द्रके आह्वानके लिए प्रयुक्त होनेवाले) 'सुब्रह्मण्या' नामक मन्त्रमें भी जन्मसे ही ज्येष्ठत्व कहा गया है तथा गर्भके एक कालमें आधान होनेपर भी यमज सन्तानोंमें भी जन्मसे ही ज्येष्ठत्व कहा गया है ॥ १२६ ॥

सुब्रह्मण्याख्यो मन्त्रो ज्योतिष्टोम इतीन्द्रस्याह्वानार्थं प्रयुज्यते। तत्र प्रथमपुत्रेण पितरमुद्दिश्याह्वानं क्रियते। अमुकपिता यजत इत्येवमृषिभिः स्मृतम्। तथा यमयोर्गर्भे एककालं निषिक्तयोरपि जन्मक्रमेणैव ज्येष्ठता स्मृता। गर्भेष्विति बहुवचनं स्त्रीबहुत्वापेक्षया ॥१२६॥

अपुत्रोऽनेन विधिना सुतां कुर्वीत पुत्रिकाम्।
यदपत्यं भवेदस्यां तन्मम स्यात्स्वधाकरम् ॥ १२७ ॥
[अभ्रातृकां प्रदास्यामि तुभ्यं कन्यामलंकृताम्।
अस्यां यो जायते पुत्रः स मे पुत्रो भवेदिति ॥ ३ ॥]

पुत्र-हीन पिता कन्या-दान करते समय—'इस कन्यासे जो पुत्र होगा, वह मेरी श्राद्धादि पारलौकिक क्रिया करनेवाला होगा' ऐसा जामाता (जमाई—दामाद) से कहकर उस कन्याको 'पुत्रिका' करे ॥ १२७ ॥

['भाईसे हीन अलङ्कृत इस कन्याको मैं तुम्हारे लिए दे रहा हूँ, इससे जो पुत्र हो वह मेरा पुत्र हो ॥ ३ ॥]

अविद्यमानपुत्रो यदस्यामपत्यं जायेत तन्मम श्राद्धाद्यौर्ध्वदेहिककरं स्यादिति कन्यादानकाले जामात्रा सह सम्प्रतिपत्तिरूपेण विधानेन दुहितरं पुत्रिकां कुर्यात् ॥ १२७ ॥

अत्र परप्रतिपत्तिरूपमनुवादमाह—

अनेन तु विधानेन पुरा चक्रेऽथ पुत्रिकाः।
विवृद्ध्यर्थं स्ववंशस्य स्वयं दक्षः प्रजापतिः ॥ १२८ ॥

अपने वंशकी वृद्धिके लिए दक्ष प्रजापतिने पुरातन कालमें इस विधिसे 'पुत्रिका' की थी ॥ १२८ ॥

दक्षः प्रजापतिः पुत्रोत्पादनविधिज्ञः स्ववंशवृध्यर्थमनेनोक्तविधानेन कृत्स्ना दुहितरः पूर्वं पुत्रिकाः स्वयं कृतवान्। कात्स्न्र्येऽथशब्दः ॥ १२८ ॥

ददौ स दश धर्माय कश्यपाय त्रयोदश।
सोमाय राज्ञे सत्कृत्य प्रीतात्मा सप्तविंशतिम् ॥ १२९ ॥

प्रसन्न आत्मावाले उस (दक्ष प्रजापति) ने (वस्त्र-अलङ्कार आदिसे) अलङ्कृत कर धर्मराजके लिए दस, कश्यपके लिए तेरह और सोम (चन्द्रमा) के लिए सत्ताइस कन्याओंको दिया था ॥ १२९ ॥

स दक्षो भाविपुत्रिकापुत्रलाभेन प्रीतात्माऽलङ्कारादिना सत्कृत्य दश पुत्रिका धर्माय, त्रयोदश कश्यपाय, सप्तविंशतिं चन्द्राय द्विजानामोषधीनां च राज्ञे दत्तवान्। सत्कारवचनमन्येषामपि पुत्रिकाकरणे लिङ्गम्। दशेत्यादि च बह्वीनामपि पुत्रिकाकरणज्ञापकम् ॥ १२९ ॥

यथैवात्मा तथा पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा।
तस्यामात्मनि तिष्ठन्त्यां कथमन्यो धनं हरेत् ॥ १३० ॥

('आत्मा वै पुत्रनामासि' इत्यादि श्रुतिवचनोंसे) पुत्र पिताकी आत्मा हैं और जैसा पुत्र है, (अत एव) आत्म-स्वरूप उस (पुत्री) के वर्तमान रहनेपर दूसरा (दायाद आदि, मरे हुए पिताकी) सम्पत्तिको कैसे लेगा (अत एव 'पुत्रिका' को ही मरे हुए पिताके धन लेनेका अधिकर न्यायप्राप्त है, दूसरेको नहीं) ॥ १३० ॥

आत्मस्थानीयः पुत्रः, "आत्मा वै पुत्रनामासि" इति मन्त्रलिङ्गात्तत्समा च दुहिता, तस्या अप्यङ्गेभ्य उत्पादनात्। अतस्तस्यां पुत्रिकायां पितुरात्मस्वरूपायां विद्यमानायामपुत्रस्य मृतस्य पितुर्धनं पुत्रिकाव्यतिरिक्तः कथमन्यो हरेत् ॥ १३० ॥

मातुस्तु यौतकं यत्स्यात्कुमारीभाग एव सः ।
दौहित्र एव च हरेदपुत्रस्याखिलं धनम् ॥ १३१ ॥

माताका (विवाहादि-कालमें पिता या माता आदिसे प्राप्त हुआ) धन उसकी कन्या (अविवाहित पुत्री) का ही भाग होता है तथा पुत्रहीन नानाके सब धनको दौहित्र (धेवता, नाती अर्थात् पूर्व (९।१२७) वचनानुसार 'पुत्रिका' की गयी कन्या का पुत्र) ही प्राप्त करता है ॥ १३१ ॥

मातुर्यद्धनं तत्तस्यां मृतायां कुमारीभाग एव स्यान्न पुत्राणां तत्र भागः। कुमारी चानूढाभिप्रेता। तथा गोतमः—"स्त्रीधनं दुहितॄणामदत्तानामप्रतिष्ठितानां च" अपुत्रस्य च मातामहस्य दौहित्र एव प्रकृतत्वात्पौत्रिकेयः समग्रं धनं गृह्णीयात् इति ॥ १३१ ॥

दौहित्रो ह्यखिलं रिक्थमपुत्रस्य पितुर्हरेत् ।
स एव दद्याद् द्वौ पिण्डौ पित्रे मातामहाय च ॥ १३२ ॥

नाती ('पुत्रिका' (९।१२७) का पुत्र) ही दूसरे पुत्रके नहीं रहनेपर पिताका भी सब धन प्राप्त करे और वही अपने पिता तथा नानाके लिए दो पिण्ड देवे ॥ १३२ ॥

दौहित्रः प्रकृतत्वात्पौत्रिकेय एव, तस्य मातामहधनग्रहणमनन्तरोक्तं जनकधनग्रहणं च। पिण्डदानार्थोऽयमारम्भः, पितृशब्दस्य तत्रैव प्रसिद्धत्वात्। अन्यस्य पौत्रिकेयः पुत्रान्तररहितस्य जनकस्य समग्रं धनं गृह्णीयात्स एव पितृमातामहाभ्यां द्वौ पिण्डौ दद्यात्। पिण्डदानं श्राद्धोपलक्षणार्थम् । पौत्रिकेयत्वेन जनकधनग्रहणपिण्डदानव्यामोहनिरासार्थं वचनम् ॥ १३२ ॥

पौत्रदौहित्रयोर्लोके न विशेषोऽस्ति धर्मतः ।
तयोर्हि मातापितरौ सम्भूतौ तस्य देहतः ॥ १३३ ॥

संसारमें पौत्र (पुत्रका पुत्र=पोता) तथा दौहित्र (धेवता, नाती अर्थात् 'पुत्रिका' (९।१२७) से पुत्र) में कोई भेद नहीं है, क्योंकि उन दोनोंके मातापिता उसीके शरीरसे उत्पन्न हुए हैं ॥ १३३ ॥

पौत्रपौत्रिकेययोर्लोके धर्मकृत्ये न कश्चिद्विशेषोऽस्ति। यस्मात्तयोर्मातापितरौ तस्य देहादुत्पन्नाविति पूर्वस्यैवानुवादः ॥ १३३ ॥

पुत्रिकायां कृतायां तु यदि पुत्रोऽनु जायते ।
समस्तत्र विभागः स्याज्ज्येष्ठता नास्ति हि स्त्रियाः ॥ १३४ ॥

'पुत्रिका' (९।१२७) करनेके बाद यदि किसीको पुत्र उत्पन्न हो जाय तो उन दोनों (पुत्रिका-पुत्र अर्थात् धेवता तथा पौत्र अर्थात् पोता) को समान भाग मिलते हैं, क्योंकि उसके ज्येष्ठ होनेपर अतिरिक्त भाग निकालनेमें ज्येष्ठत्व नहीं होता ॥ १३४ ॥

कृतायां पुत्रिकायां यदि तत्कर्तुः पुत्रोऽनन्तरं जायते, तदा तयोर्विभागकाले समो विभागो भवेत्। नोद्धारः पुत्रिकायै देयः। यस्माज्ज्येष्ठाया अपि तस्या उद्धारविषये ज्येष्ठता नादरणीया ॥ १३४ ॥

अपुत्रायां मृतायां तु पुत्रिकायां कथञ्चन।
धनं तत्पुत्रिकाभर्ता हरेतैवाविचारयन् ॥ १३५ ॥

किसी प्रकार (दुर्भाग्य आदिके कारणसे) विना पुत्र उत्पन्न किये ही 'पुत्रिका' (९।१२७) यदि मर जाय तो उसके पिता (श्वशुर) के धनको 'पुत्रिका' का पति ही निःसन्देह कहकर ग्रहण करे ॥ १३५ ॥

अपुत्रायां पुत्रिकायां कथञ्चन मृतायां तदीयधनं तद्भर्तैवाविचारयन्गृह्णीयात्। पुत्रिकायाः पुत्रसमत्वेनानपत्यस्य, पत्नीरहितस्य, मृतपुत्रस्य पितुर्धनग्रहणप्रसक्तौ तन्निवारणार्थमिदं वचनम् ॥ १३५ ॥

अकृता वा कृता वाऽपि यं विन्देत्सदृशात्सुतम्।
पौत्री मातामहस्तेन दद्यात्पिण्डं हरेद्धनम् ॥ १३६ ॥

'पुत्रिका' (९।१२७) की गयी अथवा नहीं की गयी पुत्रीके गर्भसे समान जातिवाले पतिके द्वारा उत्पन्न पुत्रसे ही नाना पुत्रवान् होता है, (अत एव वह) (पुत्र) ही नानाके लिए पिण्डदान करे तथा पुत्र उसका सब धन प्राप्त करे ॥ १३६ ॥

अकृता वा कृता वेति पुत्रिकाया एव द्वैविध्यं, तत्र—

"यदपत्यं भवेदस्यां तन्मम स्यात्स्वधाकरम्। (म. स्मृ. ९-१२७)

इत्यभिधाय कन्यादानकाले वरानुमत्या या क्रियते सा कृता अकृतात्वभिसन्धिमात्रकृता वाग्व्यवहारेण न कृता। तथा गोतमः—"अभिसन्धिमात्रात्पुत्रिकामेकेषाम्"। अत एव "पुत्रिकाधर्मशङ्कया" (म. स्मृ. ३-११) इति प्रागविवाह्यत्वमुक्तम्। पुत्रिकेव कृताऽकृता वा पुत्रं समानजातीयाद्वोढुरुत्पादयेत्तेन दौहित्रेण पौत्रकार्यकरणात्पौत्रियकेवान्मातामहः पौत्री। तथा चासौ तस्मै पिण्डं दद्यात्। गोविन्दराजस्तु "अकृता वा" इत्यपुत्रिकैव दुहिता तत्पुत्रोऽपि मातामहधने पौत्रिकेय इव मातामह्यादिसत्त्वेऽप्यधिकारीत्याह। तन्न, पुत्रिकायाः पुत्रतुल्यत्वादपुत्रिकातत्पुत्रयोरतुल्यत्वेन तत्पुत्रयोस्तुल्यत्वायोग्यत्वादिति ॥ १३६ ॥

पुत्रेण लोकाञ्जयति पौत्रेणानन्त्यमश्नुते।
अथ पुत्रस्य पौत्रेण ब्रध्नस्याप्नोति विष्टपम् ॥ १३७ ॥

(पिता) पुत्रसे स्वर्ग आदि उत्तम लोकोंको प्राप्त करता है, पौत्र (पुत्रके पुत्र – पोते) से उन लोकोंमें अनन्त कालतक निवास करता है तथा प्रपौत्र (पुत्रके पौत्र—परपोते) से सूर्य लोक को प्राप्त करता है ॥ १३७ ॥

पुत्रेण जातेन स्वर्गादिलोकान्प्राप्नोतीति। पौत्रेण तेष्वेव चिरकालमवतिष्ठते। तदनन्तरं पुत्रस्य पौत्रेणादित्यलोकं प्राप्नोति। अस्य च दायभागप्रकरणेऽभिधानं पितुर्धने पत्न्यादिसद्भावेऽपि पुत्रस्य तदभावे पौत्रस्येत्येवं पुत्रसन्तानाधिकारबोधनार्थम् ॥ १३७ ॥

पुंनाम्नो नरकाद्यस्मात्त्रायते पितरं सुतः।
तस्मात्पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयंभुवा ॥ १३८ ॥

जिस कारण पुत्र 'पुं' नामक नरकसे पिताको रक्षा करता है, उस कारणसे स्वयं ब्रह्माने उसे 'पुत्र' कहा है ॥ १३८ ॥

यस्मात्पुंनामधेयनरकात्सुतः पितरं त्रायते तस्मात्त्राणादात्मनैव ब्रह्मणा पुत्र इति प्रोक्तः। तस्मान्महोपकारकत्वात्पुत्रस्य युक्तं, तदीयपुंसन्तानस्य दायभागित्वमिति पूर्वदार्ढ्यार्थमिदम् ॥ १३८ ॥

पौत्रदौहित्रयोर्लोके विशेषो नोपपद्यते।
दौहित्रोऽपि ह्यमुत्रैनं सन्तारयति पौत्रवत् ॥ १३९ ॥

संसारमें पौत्र (पोता–पुत्रके पुत्र) तथा दौहित्र (धेवता–पुत्रीके पुत्र) में भेद नहीं सिद्ध होता; क्योंकि दौहित्र भी पौत्रके समान ही इस (नाना) का परलोक में उद्धार कर देता है ॥१३९॥

दौहित्रः पुत्रिकापुत्रः। पुत्रदौहित्रयोर्लोके कश्चिद्विशेषो न सम्भाव्यते, यस्माद्दौहित्रोऽपि मातामहं परलोके पौत्रवन्निस्तारयति। एतच्च पौत्रिकेयस्य पौत्रेण साम्यप्रतिपादनार्थं पुत्रिकाकरणानन्तरजातपुत्रेण सह धने तुल्यभागबोधनार्थम् ॥ १३९ ॥

मातुः प्रथमतः पिण्डं निर्वपेत्पुत्रिकासुतः।
द्वितीयं तु पितुस्तस्यास्तृतीयं तत्पितुः पितुः ॥ १४० ॥

पुत्रिका-पुत्र (नाती — धेवता अर्थात् पुत्रीका पुत्र, श्राद्ध करते समय) पहला पिण्ड माताके लिए, दूसरा पिण्ड उसके पिता (अपने नाना) के लिए और तीसरा पिण्ड माताके पितामह (अपने परनाना) के लिए दे ॥ १४० ॥

पौत्रिकेयः प्रथमं मात्रे पिण्डं, द्वितीयं मातुः पित्रे, तृतीयं मातुः पितामहाय दद्यात्। पित्रादीनां तु "पित्रे मातामहाय च" (म. स्मृ. ९–१३२) इत्युक्तत्वात्पितृक्रमेणैव पिण्डदानम् ॥ १४० ॥

उपपन्नो गुणैः सर्वैः पुत्रो यस्य तु दत्त्रिमः।
स हरेतैव तद्रिक्थं सम्प्राप्तोऽप्यन्यगोत्रतः ॥ १४१ ॥

जिसका दत्तक पुत्र सब गुणोंसे युक्त हो, परन्तु अन्य गोत्रसे आया हो; तथापि वह पिताके धन को पाता ही है ॥ १४१ ॥

'पुत्रा रिक्थहराः पितुः" (म. स्मृ. ९–१८५) इति द्वादश पुत्राणामेव रिक्थहरत्वं वक्ष्यति। "दशापरे तु क्रमशः" (म. स्मृ. ९–१६५) इत्यौरसक्षेत्रजाभावे दत्तकस्य पितृ रिक्थहरत्वं प्राप्तमेव। अतः सत्यप्यौरसपुत्रे दत्तकस्य सर्वगुणोपपन्नस्य पितृरिक्थभागप्राप्त्यर्थमिदं वचनम्। यस्य दत्तकः पुत्रोऽध्ययनादिसर्वगुणोपपन्नो भवति, सोऽन्यगोत्रादागतोऽपि सत्यप्यौरसे पितृरिक्थभागं गृह्णीयात। अत्र—

एक एवौरसः पुत्र पित्र्यस्य वसुनः प्रभुः। (म. स्मृ. ९–१६३)

इत्यौरसस्य सर्वोत्कर्षाभिधानात्तेन नास्य समभागित्वं, किन्तु क्षेत्रजोक्तषष्ठभागित्वमेवास्य न्याय्यम्। गोविन्दराजस्त्वौरसक्षेत्रजाभावे सर्वगुणोपपन्नस्यैव दत्तकस्य पितृरिक्थभागित्वार्थमिदं वचनमित्यवोचत्। तन्न, कृत्रिमादीनां निर्गुणानां पितृरिक्थभागित्वं, दत्तकस्य तु तत्पूर्वपठितस्यापि सर्वगुणोपपन्नस्यैवेत्यन्याय्यत्वात् ॥ १४१ ॥

गोत्ररिक्थे जनयितुर्न हरेद्दत्त्रिमः क्वचित्।
गोत्ररिक्थानुगः पिण्डो व्यपैति ददतः स्वधा ॥ १४२ ॥

दत्तक पुत्र अपने पिता (जिससे उसका जन्म हुआ है) के गोत्र तथा धन कहीं भी नहीं प्राप्त करता है, इस लिए पुत्रको दूसरेके लिए देते हुए (उत्पन्न करनेवाले) पिताके गोत्र तथा धन सम्बन्धी स्वधा (श्रद्धादि-कर्माधिकार) नष्ट हो जाते हैं ॥ १४२ ॥

गोत्रधने जनकसम्बन्धिनी दत्तको न कदाचित्प्राप्नुयात्। पिण्डश्च गोत्ररिक्थानुगामी यस्य गोत्ररिक्थे भजते तस्यैव स पिण्डो दीयते। तस्मात्पुत्रं ददतो जनकस्य स्वधापिण्डश्राद्धादि तत्पुत्रकर्तृकं निवर्तते ॥ १४२ ॥

अनियुक्तासुतश्चैव पुत्रिण्याप्तश्च देवरात्।
उभौ तौ नार्हतो भारं जारजातककामजौ ॥ १४३ ॥

अनियोग (९।५९-६१) से उत्पन्न अथवा पुत्रवती स्त्रीमें नियोग (गुरु आदिकी आज्ञासे देवरादिसे) उत्पन्न पुत्र क्रमशः जार तथा कामवासनासे उत्पन्न होनेसे पितृ-धनके भागी नहीं होते हैं ॥ १४३ ॥

यो गुर्वादिनियोगं विना जातो, यश्च सपुत्राया नियोगेनापि देवरादेः कामादुत्पादितस्तावुभौ क्रमेण जारोत्पन्नकामाभिलाषजौ धनभागं नार्हतः ॥ १४३ ॥

नियुक्तायामपि पुमान्नार्यां जातोऽविधानतः।
नैवार्हः पैतृकं रिक्थं पतितोत्पादितो हि सः ॥ १४४ ॥

नियुक्त (गुरु आदिकी आज्ञा प्राप्तकी हुई) स्त्रीमें भी विधिहीन (९।५९-६१ के अनुसार घृताक्त आदि न होकर) उत्पन्न किया गया पुत्र पितृ-धनका भागी नहीं होता है, क्योंकि वह (९।६३ के अनुसार) पतितसे उत्पन्न हुआ है ॥ १४४ ॥

नियुक्तायामपि स्त्रियां घृताभ्यक्तत्वादिनियोगेतिकर्तव्यतां विना पुत्रो जातः स क्षेत्रिकस्य पितुर्धनं लब्धुं नार्हति। यस्मादसौ पतितेनोत्पादितः। "नियुक्तौ यौ विधिं हित्वा" (म. स्मृ. ९-६३) इत्यनेन पतितस्योक्तत्वात् ॥ १४४ ॥

हरेत्तत्र नियुक्तायां जातः पुत्रो यथौरसः।
क्षेत्रिकस्य तु तद्बीजं धर्मतः प्रसवश्च सः ॥ १४५ ॥

नियुक्त (९।५९-६१) स्त्रीमें उत्पन्न पुत्र और पुत्रके समान पिताके धन का भागी होता है; क्योंकि वह क्षेत्रज (स्त्रीका बीज) है और धर्मानुसार सन्तान भी है ॥ १४५ ॥

तत्र नियुक्तायां यो जातः क्षेत्रजः पुत्र औरस इव धनं हरेत्। यस्मात्तस्य कारणभूतं बीजं तत्क्षेत्रस्वामिन एव, तत्कार्यकरणत्वात्। अपत्यमपि च धर्मतस्तदीयं तत्,

यवीयाञ्ज्येष्ठभार्यायां पुत्रमुत्पादयेद्यदि। (म. स्मृ. ९-१२०)

इत्यनेन क्षेत्रजस्य पितामहधने पितृव्येण सह समभागस्य प्रोक्तत्वात्। गुणवतः क्षेत्रजस्य औरसवत्स्वोद्धारभागप्राप्त्यर्थमिदमौरसतुल्यत्वाभिधानम् ॥ १४५ ॥

धनं यो बिभृयाद् भ्रातुर्मृतस्य स्त्रियमेव च।
सोऽपत्यं भ्रातुरुत्पाद्य दद्यात्तस्यैव तद्धनम् ॥ १४६ ॥

निःसन्तान मरे हुए (बड़े) भाईके धन तथा स्त्रीकी जो भाई रक्षा करे, वह (छोटा भाई अर्थात् उस स्त्रीका देवर) नियोग (९।५९-६१) धर्मसे उस स्त्रीमें सन्तान उत्पन्न करके मृत भाईका सब धन उसी पुत्रको दे देवे ॥ १४६ ॥

यो मृतस्य भ्रातुः स्थावरजङ्गमं धनं पत्न्या रक्षणाक्षमया समर्पितं रक्षेत्तां च पुष्णीयात्स नियोगधर्मेण तस्यामुत्पादितस्य भ्रातुरपत्यस्य दद्यात्। एतच्च "धनं यो बिभृयाद् भ्रातुः" इत्यभिधानाद्विभक्तभ्रातृविषयम्, "यवीयाञ्ज्येष्ठभार्यायाम्" (म. स्मृ. ९-१२०) इति समभागाभिधानात्॥ १४६॥

या नियुक्ताऽन्यतः पुत्रं देवराद्वाऽप्यवाप्नुयात्।
तं कामजमरिक्थीयं वृथोत्पन्नं प्रचक्षते॥ १४७॥

कामवशीभूत जो स्त्री नियोग (९।५९-६१) से दूसरे सपिण्ड व्यक्ति) या देवरसे पुत्र प्राप्त करे, उस पुत्रको मनु आदि महर्षि कामजन्य, पितृ-धनका अनधिकारी और वृथोत्पन्न बतलाते हैं॥ १४७॥

या स्त्री गुर्वादिभिरनुज्ञाता देवराद्वाऽन्यतो वा सपिण्डात्पुत्रमुत्पादयेत्स यदि कामजो भवति, तदा तमरिक्थभाजं मन्वादयो वदन्ति। अकामज एव रिक्थभागी। स च व्याहृतो नारदेन—

"मुखान्मुखं परिहरन्गात्रैर्गात्राण्यसंस्पृशन्।
कुले तदवशेषे च सन्तानार्थं न कामतः॥" इति॥ १४७॥

एतद्विधानं विज्ञेयं विभागस्यैकयोनिषु।
बह्वीषु चैकजातानां नानास्त्रीषु निबोधत॥ १४८॥

(भृगुमुनि ऋषियोंसे कहते हैं कि—) समान जातिवाली स्त्रियोंमें एक पतिसे उत्पन्न पुत्रोंका यह (९।१०३-१४७) विभाग विधान (बटवारेका नियम) जानना चाहिये। अब अनेक जातियोंवाली बहुत-सी स्त्रियोंमें उत्पन्न पुत्रोंके विभाग (हिस्से) को (आपलोग) ज्ञात करें॥१४८॥

समानजातीयासु भार्यासु एकेन भर्त्रा जातानामेव विभागविधिर्वोद्धव्यः। इदानीं नानाजातीयासु स्त्रीषु बह्वीषूत्पन्नानां पुत्राणां विभागं शृणुत॥ १४८॥

ब्राह्मणस्यानुपूर्व्येण चतस्रस्तु यदि स्त्रियः।
तासां पुत्रेषु जातेषु विभागेऽयं विधिः स्मृतः॥ १४९॥

यदि ब्राह्मण (पति) की ब्राह्मणी आदि चारो वर्णो (ब्राह्मणी, क्षत्रिया, वैश्या तथा शूद्रा) की स्त्रियां हों, तो उनमें उत्पन्न पुत्रोंका यह (९।१५०-१५५ में कहा जानेवाला) विधान है॥१४९॥

ब्राह्मणस्य यदि क्रमेण ब्राह्मण्याद्याश्चतस्रो भार्या भवेयुस्तदा तासां त्रिषूत्पन्नेष्वयं वक्ष्यमाणो विभागविधिर्मन्वादिभिरुक्तः॥ १४९॥

कीनाशो गोवृषो यानमलङ्कारश्च वेश्म च।
विप्रस्यौद्धारिकं देयमेकांशश्च प्रधानतः॥ १५०॥

ब्राह्मणीमें उत्पन्न पुत्रके लिए खेती करने योग्य एक बैल, (या हल तथा बैल), सवारी (घोड़ा आदि), भूषण, घर, इनमें से जो श्रेष्ठ हों, उनको सब भागोंमेंसे एक भाग देना चाहिये॥ १५०॥

कीनाशः कर्षकः, गवां सक्तो वृषः, यानमश्वादि, अलंकारोऽङ्गुलीयकादि, वेश्म गृहं च प्रधानं, यावन्तश्चांशास्तेष्वेकः प्रधानभूतोंऽश इत्येतद् ब्राह्मणीपुत्रस्योद्धारार्थं देयम्। अवशिष्टं वक्ष्यमाणरीत्या विभजनीयम्॥ १५०॥

त्र्यंशं दायाद्धरेद्विप्रो द्वावंशौ क्षत्रियासुतः।
वैश्याजः सार्धमेवांशमंशं शूद्रासुतो हरेत्॥ १५१॥

(पूर्व (९-१५०) वचनानुसार 'उद्धार' भाग करनेके बाद बचे हुए पितृधनमेंसे) तीन भाग ब्राह्मणीका पुत्र, दो भाग क्षत्रियाका पुत्र, डेढ़ भाग वैश्याका पुत्र, और एक भाग शूद्राका पुत्र पाता है ॥ १५१ ॥

त्रीनंशान्ब्राह्मणो धनाद् गृह्णीयात्, द्वौ क्षत्रियापुत्रः, सार्धं वैश्यापुत्रः, अंशं शूद्रासुतः। एवं च यत्र ब्राह्मणीक्षत्रियापुत्रौ द्वावेव विद्येते, तत्र पञ्चधा कृते धने त्रयो भागा ब्राह्मणस्य, द्वौ क्षत्रियापुत्रस्य । अनयैव दिशा ब्राह्मणीवैश्यापुत्रादौ द्विबहुपुत्रादौ च कल्पना कार्या ॥ १५१ ॥

सर्वं वा रिक्थजातं तद्दशधा परिकल्प्य च ।
धर्म्यं विभागं कुर्वीत विधिनाऽनेन धर्मवित् ॥ १५२ ॥

अथवा सम्पूर्ण (पूर्व (९।१५०) के अनुसार 'उद्धार' भाग निकालनेपर (बचे हुए) पितृ धनके दस भागकर धर्मज्ञाता पुरुष इस (९।१५३) प्रकारसे विभाजन करें ॥ १५२ ॥

यद्वा सर्वं रिक्थप्रकारमनुद्धृतोद्धारं दशधा कृत्वा, विभागधर्मज्ञो धर्मादनपेतं विभागमनेन वक्ष्यमाणविधिना कुर्वीत ॥ १५२ ॥

चतुरोंऽशान् हरेद्विप्रस्त्रीनंशान्क्षत्रियासुतः ।
वैश्यापुत्रो हरेद् द्व्यंशमंशं शूद्रासुतो हरेत् ॥ १५३ ॥

पूर्वोक्त वचनानुसार दस भाग किये गये पितृ-धनमेंसे चार भाग ब्राह्मणीका पुत्र, तीन भाग क्षत्रियाका पुत्र, दो भाग वैश्याका पुत्र और एक भाग शूद्राका पुत्र लेवे ॥ १५३ ॥

चतुरो भागान्ब्राह्मणो गृह्णीयात्। त्रीन्क्षत्रियापुत्रः, द्वौ वैश्यापुत्रः, एकं शूद्राजः। अत्रापि ब्राह्मणीक्षत्रियापुत्रसद्भावे सप्तधा धने कृते चत्वारो भागा ब्राह्मणस्य, त्रयः क्षत्रियापुत्रस्य। एवं ब्राह्मणीवैश्यापुत्रादौ द्विबहुपुत्रेषु च कल्पना कार्या ॥ १५३ ॥

यद्यपि स्यात्तु सत्पुत्रोऽप्यसत्पुत्रोऽपि वा भवेत् ।
नाधिकं दशमाद्दद्याच्छूद्रापुत्राय धर्मतः ॥ १५४ ॥

(ब्राह्मण) यद्यपि समान जातिवाली स्त्रियोंमें उत्पन्न पुत्रवाला हो या पुत्रहीन हो, किन्तु धर्मानुसार शूद्रापुत्रके लिए दशमांशसे अधिक धन पिता ब्राह्मण न देवे ॥ १५४ ॥

यदि ब्राह्मणो द्विजातिस्त्रीषु सर्वासु विद्यमानपुत्रः स्यादविद्यमानपुत्रो वा, तथापि शूद्रापुत्रायानन्तराधिकारी यस्तेषु दशमभागादधिकं धर्मतो न दद्यात्। अयं च शूद्रापुत्रविषये निषेधस्तस्मादविद्यमानसजातिपुत्रस्य क्षत्रियावैश्यापुत्रौ सर्वरिक्थहरौ स्याताम् ॥ १५४ ॥

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्रापुत्रो न रिक्थभाक् ।
यदेवास्य पिता दद्यात्तदेवास्य धनं भवेत् ॥ १५५ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य पितासे धनका भागी शूद्रा स्त्रीमें उत्पन्न पुत्र नहीं होता किन्तु इसका पिता जो कुछ इसके लिए दे देता है, वही इस (शूद्राके पुत्र) का धन होता है ॥ १५५ ॥

ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यानां शूद्रापुत्रो धनभाङ् न भवति, किंतु यदेव धनमस्मै पिता दद्यात्तदेव तस्य भवेत्। एवं च पूर्वोक्तविभागनिषेधाद्विकल्पः, स च गुणवद्गुणापेक्षः। अथवा अनूढशूद्रापुत्रविषयोऽयं दशमभागनिषेधः ॥ १५५ ॥

समवर्णासु ये जाताः सर्वे पुत्रा द्विजन्मनाम्।
उद्धारं ज्यायसे दत्त्वा भजेरन्नितरे समम्॥ १५६॥

द्विजाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य) की समान जातिवाली स्त्रियोंमें उत्पन्न पुत्र बड़े भाईके लिए 'उद्धार' (९।११२-११५ के अनुसार अतिरिक्त भाग) देकर पिताके शेष धनको बराबर-बराबर ले लेवें॥ १५६॥

द्विजातीनां समानजातिभार्यासु ये पुत्रा जातास्ते सर्वे ज्येष्ठायोद्धारं दत्त्वावशिष्टं समभागं कृत्वा ज्येष्ठेन सहान्ये विभजेरन्॥ १५६॥

शूद्रस्य तु सवर्णैव नान्या भार्या विधीयते।
तस्यां जाताः समांशाः स्युर्यदि पुत्रशतं भवेत्॥ १५७॥

शूद्रकी स्त्री शूद्रा ही होती है दूसरी (श्रेष्ठवर्णकी या नीच जातीया) नहीं तथा (शूद्रा स्त्री) में यदि सौ पुत्र भी उत्पन्न हों तो वे सब समान ही भाग (पितृ-धनमेंसे) प्राप्त करते हैं अर्थात् पूर्व (९।११२-११५) कथित 'उद्धार' भाग उनमेंसे ज्येष्ठ पुत्रके लिए पृथक् नहीं दिया जाता॥१५७॥

शूद्रस्य पुनः समानजातीयैव भार्योपदिश्यते नोत्कृष्टापकृष्टा वा। तस्यां च ये जातास्ते यदि पुत्रशतमपि तदा समभागा एव भवेयुः, तेनोद्धारः कस्यचिन्न देयः॥ १५७॥

पुत्रान्द्वादश यानाह नृणां स्वायंभुवो मनुः।
तेषां षड् बन्धुदायादाः षडदायादबान्धवाः॥ १५८॥

(महर्षि भृगुजी मुनियोंसे कहते हैं कि) ब्रह्माके पुत्र मनुने मनुष्योंके जिन बारह पुत्रोंको (९।१५९-१६०) कहा है, उनमेंसे प्रथम ६ पुत्र दायाद (पितृधनके भागी) तथा बान्धव (तिलोदक देनेके अधिकारी)—दोनों ही होते हैं और अन्तिम ६ पुत्र केवल बान्धवमात्र हैं॥ १५८॥

यान्द्वादश पुत्रान्हैरण्यगर्भो मनुराह, तेषां मध्यादाद्याः षड्बान्धवाः गोत्रदायादाश्च, तस्माद् बान्धवत्वेन सपिण्डसमानोदकानां पिण्डोदकदानादि कुर्वन्ति, अन्तराभावे च गोत्रदायं गृह्णन्ति, पितृरिक्थभाक्त्वस्य "पुत्रा रिक्थहराः पितुः" (म० स्मृ० ९-१८५) इति द्वादशविधपुत्राणामेव वक्ष्यमाणत्वात्। उत्तरे षट् न गोत्रधनहरा भवन्ति। बान्धवास्तु भवन्ति, ततश्च बन्धुकार्यमुदक्रियादि कुर्वन्ति। [1]मेधातिथिस्तु—'षडदायादबान्धवाः' इत्याद्युत्तरषट्कस्यादायादत्वमबान्धवत्वं चाह। तन्न, बौधायनेन बन्धुत्वस्याभिहितत्वात्। तदाह—

कानीनं च सहोढं च क्रीतं पौनर्भवं तथा।
स्वयं दत्तं निषादं च गोत्रभाजः प्रचक्षते॥ १८॥

औरसः क्षेत्रजश्चैव दत्तः कृत्रिम एव च।
गूढोत्पन्नोऽपविद्धश्च दायादा बान्धवाश्च षट्॥ १५९॥

औरस, क्षेत्रज, दत्तक, कृत्रिम, गूढोत्पन्न तथा अपविद्ध; ये ६ प्रकारके पुत्र दायाद (पितृधनके भागी) तथा बान्धव (पिण्डोदक देने अर्थात् श्राद्ध एवं तर्पण करनेवाले) होते हैं॥ १५९॥

औरसादयो वक्ष्यमाणाः षड्रिक्थभाजो बान्धवाश्च भवन्ति॥ १५९॥

---

१. बन्धुशब्दो बान्धवपर्यायः। गोत्रहरा दायहराश्च षडितरे विपरीताः।

कानीनश्च सोढश्च क्रीतः पौनर्भवस्तथा ।
स्वयंदत्तश्च शौद्रश्च षडदायादबान्धवाः ॥ १६० ॥

कानीन (कन्या-पुत्र), सहोढ, क्रीत, पौनर्भव (विधवा-पुत्र), स्वयंदत्त तथा शौद्र (शूद्रा-पुत्र) ये ७ प्रकारके पुत्र दायाद (धनके भागी) नहीं हैं किन्तु बान्धव (तिलोदकादि देनेके अधिकारी हैं) ॥ १६० ॥

कानीनादयो वक्ष्यमाणलक्षणाः षड्गोत्ररिक्थहरा न भवन्ति, बान्धवाश्च भवन्तीति व्याख्यातम् ॥ १६० ॥

औरसेन सह क्षेत्रकादीनां पाठात्तुल्यत्वाशङ्कायां तन्निरासार्थमाह—

यादृशं फलमाप्नोति कुप्लवैः संतरञ्जलम् ।
तादृशं फलमाप्नोति कुपुत्रैः सन्तरंस्तमः ॥ १६१ ॥

तृण आदिकी बनी हुई दूषित नावसे पानीको पार करता हुआ मनुष्य जैसा फल पाता है वैसा ही फल (क्षेत्रज आदि) कुपुत्रोंके द्वारा अन्धकार (रूप पारलौकिक दुःख) को पार करता हुआ पाता है (अत एव क्षेत्रजादि के पुत्र औरस पुत्रके समान सम्पूर्ण कार्य करनेमें समर्थ नहीं होते, किन्तु पारलौकिकक दुःखको पार करनेमें औरस पुत्र ही समर्थ होता है) ॥ १६१ ॥

तृणादिनिर्मितकुत्सितोडुपादिभिरुदकं तरन् यथाविधं फलं प्राप्नोति, तथाविधमेव कुपुत्रैः क्षेत्रजादिभिः पारलौकिकं दुःखं दुस्तरं प्राप्नोति । इत्यनेन क्षेत्रजादीनां मुख्यौरसपुत्रवत्सं-पूर्णकार्यकरणक्षमत्वं न भवतीति दर्शितम् ॥ १६१ ॥

यद्येकरिक्थिनौ स्यातामौरसक्षेत्रजौ सुतौ ।
यस्य यत्पैतृकं रिक्थं स तद् गृह्णीत नेतरः ॥ १६२ ॥

यदि एक व्यक्तिके धनके अधिकारी औरस तथा क्षेत्रज—दोनों ही—पुत्र हों तो वह धन जिसके पिताका है, वही अर्थात् औरस पुत्र ही ग्रहण करे, दूसरा अर्थात् क्षेत्रज पुत्र नहीं ॥ १६२ ॥

अपुत्रेण परक्षेत्रे नियोगोत्पादितः सुतः ।
उभयोरप्यसौ रिक्थी पिण्डदाता च धर्मतः ॥ (या. स्मृ. २-१२७)

इति याज्ञवल्क्योक्तविषये, यदा क्षेत्रियस्यपितुः क्षेत्रजानन्तरमौरसः[1]पुत्रो भवति, तदा तावौरसक्षेत्रजावेकरिक्थिनावेकस्य पितुर्यद्यपि रिक्थार्हौ भवतस्तथापि यद्यस्य जनकसम्बन्धि तदेव स गृह्णीयान्नाक्षेत्रजः क्षेत्रिकपितुः । यत्तु वक्ष्यति—

षष्ठं तु क्षेत्रजस्यांशं प्रदद्यात्पैतृकाद्धनात् ।
औरसो विभजन्दायम् (म. स्मृ. ९-१६४)

इति तत्पुत्रबहुलस्य । यत्तु याज्ञवल्क्येनोभयसंबन्धि रिक्थहरत्वमुक्तं तत्क्षेत्रिकपितु-रौरसपुत्राभावे बोद्धव्यम् । [1]मेधातिथिगोविन्दराजौ तु औरसमनियुक्तापुत्रं च विषयी-

---

१, क्लीवस्य प्रागुपात्ते क्षेत्रजे यत्तत्पजप्रमीतस्य व्याधितस्य वेति पश्चादौषधेन कथञ्चित् क्लीवत्वनिवृत्तौ सम्भवति तदीयमेवासौ रिक्थं लभेतेति जनयितुर्यदि नाम पितृव्यपदेशः स्यादपि जनको हेतुः, तस्मादपि पुत्रः सुतोऽयमुपचारात्क्षेत्रज इत्युक्तस्तत्रौरसे बाले मातृधने गृहीते कथञ्चिदपचारिणः पुत्रमपत्यमुत्पादितम्भवतीति । न च तदायत्तमेव प्रीत्यादिना धनं कृतं, न चाग्य सपिण्डाः सन्ति, अस्यामवस्थायां यद्यस्य पित्र्यमुपपद्यते लिङ्गमनियुक्ता सुतादयोऽसत्सु सपिण्डेषु जनयितू रिक्थहरा भवन्तीति ।

कृत्येमं श्लोकं व्याचक्षते—तन्न, अनियुक्तापुत्रस्याक्षेत्रजत्वात्। अनियुक्तापुतश्च" (म. स्मृ. ९-१४३) इत्यनेन तस्य रिक्थग्रहणनिषेधात् "यद्येकरिक्थिनौ" इत्यनन्वयाच्च ॥१६२॥

एक एवौरसः पुत्रः पित्र्यस्य वसुनः प्रभुः ।
शेषाणामानृशंस्यार्थं प्रदद्यात्तु प्रजीवनम् ॥ १६३ ॥

केवल औरस पुत्र ही पिताके धनका स्वामी होता है, शेष (क्षेत्रज पुत्रको छोड़कर बाकी दत्तक आदि) पुत्रोंको दोषनिवृत्तिके लिये भोजन—वस्त्र आदि (खोरिशके रूपमें) देना चाहिये ॥१६३॥

व्याध्यादिना प्रथमौरसपुत्राभावे क्षेत्रजादिषु कृतेषु पश्चादौषधादिना विगतव्याधेरौरस उत्पन्ने सतीदमुच्यते। औरस एवैकः पुत्रः पितृधनस्वामी । शेषाणां क्षेत्रजव्यतिरिक्तानां तस्य षष्ठांशादेर्वंचमाणत्वात्पापसंबन्धपरिहारार्थं ग्रासाच्छादानं दद्यात् ॥ १६३ ॥

षष्ठं तु क्षेत्रजस्यांशं प्रदद्यात्पैतृकाद्धनात् ।
औरसो विभजन्दायं पित्र्यं पञ्चममेव वा ॥ १६४ ॥

पिताके धनमें से विभाजन (बँटवारा) करता हुआ औरस पुत्र, क्षेत्रज पुत्रका षष्ठांश या पञ्चमांश दे देवे ॥ १६४ ॥

औरसः पुत्रः पितृसम्बन्धि दायं विभजन्, क्षेत्रजस्य षष्ठमंशं पञ्चमं वा दद्यात्। निर्गुणसगुणापेक्षश्चायं विकल्पः ॥ १६४ ॥

औरसक्षेत्रजौ पुत्रौ पितृरिक्थस्य भागिनौ ।
दशापरे तु क्रमशो गोत्ररिक्थांशभागिनः ॥ १६५ ॥

(बारह प्रकार (९।१५९-१६०) के पुत्रोंमें से) केवल औरस तथा क्षेत्रज—ये दो ही पुत्र पिताके धनके भागी होते हैं, शेष दस प्रकारके पुत्र तो क्रमशः गोत्र के समान पितृधनके भागी होते हैं ॥ १६५ ॥

औरसक्षेत्रजौ पुत्रावुक्तप्रकारेण पितृधनहरौ स्याताम्। अन्ये पुनर्दश दत्तकादयः पुत्रगोत्रभाजो भवन्ति, "पूर्वाभावे परः परः" (या० स्मृ० २-१३२) इत्येवं क्रमेण धनांशहराश्च ॥ १६५ ॥

स्वक्षेत्रे संस्कृतायां तु स्वयमुत्पादयेद्धियम् ।
तमौरसं विजानीयात्पुत्रं प्रथमकल्पितम् ॥ १६६ ॥

विधिपूर्वक विवाहित समान जातिवाली स्त्रीमें पुरुष स्वयं जिस पुत्रको उत्पन्न करता है, उसे मुख्य (सब प्रकारके पुत्रोंमें प्रधान) 'औरस' पुत्र जानना चाहिये ॥ १६६ ॥

स्वभार्यायां कन्याऽवस्थायामेव कृतविवाहसंस्कारायां यं स्वमुत्पादयेत्तं पुत्रमौरसं विद्यात्। "सवर्णायां संस्कृतायामुत्पादितमौरसपुत्रं विद्यात्" इति बोधायनदर्शनात्सजातीयायामेव स्वयमुत्पादित औरसो ज्ञेयः ॥ १६६ ॥

यस्तल्पजः प्रमीतस्य क्लीबस्य व्याधितस्य वा ।
स्वधर्मेण नियुक्तायां स पुत्रः क्षेत्रजः स्मृतः ॥ १६७ ॥

मरे हुए, रोगी अथवा नपुंसक पुरुषकी स्त्रीमें 'नियोग विधि' (९।५१-६२) से उत्पन्न पुत्र 'क्षेत्रज' कहा गया है ॥ १६७ ॥

यो मृतस्य नपुंसकस्य प्रसवविरोधिव्याध्युपेतस्य वा भार्यायां घृताक्तत्वादिनियोगधर्मेण गुरुनियुक्तायां जातः स क्षेत्रजः पुत्रो मन्वादिभिः स्मृतः ॥ १६७ ॥

माता पिता वा दद्यातां यमद्भिः पुत्रमापदि ।
सदृशं प्रीतिसंयुक्तं स ज्ञेयो दात्त्रिमः सुतः ॥ १६८ ॥

माता या पिता (ग्रहण करनेवालेके) समान जातिवाले जिस पुत्रको (पुत्रके अभावरूप) आपत्तिकालमें प्रेमपूर्वक (भय या लोभसे नहीं) जलके साथ अर्थात् संकल्पकर देते हैं, उस 'कृत्रिम' (दत्तक, दत्त) पुत्र जानना चाहिये ॥ १६८ ॥

"शुक्रशोणितसंभवः पुरुषो मातापितृनिमित्तकस्तस्य प्रदानविक्रयपरित्यागेषु मातापितरौ प्रभवतः" इति वसिष्ठस्मरणान्माता पिता वा परस्परानुज्ञया यं पुत्रं परिग्रहीतुः समानजातीयं तस्यैव पुत्राभावनिमित्तायामापदि प्रीतियुक्तं न तु भयादिना उदकपूर्वं दद्यात्स दत्त्रिमाख्यः पुत्रो विज्ञेयः॥ १६८ ॥

सदृशं तु प्रकुर्याद्यं गुणदोषविचक्षणम् ।
पुत्रं पुत्रगुणैर्युक्तं स विज्ञेयश्च कृत्रिमः ॥ १६९ ॥

मनुष्य, गुण तथा दोष (समान जातिवाले माता-पिताके श्राद्ध आदि पारलौकिक क्रिया करना दोष) को जाननेवाले एवं (माता-पिता आदिकी कार्य) से युक्त समान जातिवाले जिस पुत्रको अपना पुत्र मान लेता हैं, वह 'कृत्रिम' पुत्र कहा जाता है ॥ १६९ ॥

यं पुनः समानजातीयपित्रोः पारलौकिकश्राद्धादिकरणाकरणाभ्यां गुणदोषौ भवत इत्येवमादिज्ञं, पुत्रगुणैश्च मातापित्रोराराधनादियुक्तं पुत्रं कुर्यात्स कृत्रिमाख्यः पुत्रो वाच्यः ॥ १६९ ॥

उत्पद्यते गृहे यस्य न च ज्ञायेत कस्य सः ।
स गृहे गूढ उत्पन्नस्तस्य स्याद्यस्य तल्पजः ॥ १७० ॥

जिसके घरमें स्त्रीको पुत्र उत्पन्न हो तथा 'यह पुत्र समान जातिवाला है' ऐसा ज्ञान होते हुआ है ?' यह मालूम नहीं हो; इस प्रकार गुप्त रूपसे घरमें उत्पन्न होता है उसीके पतिका 'गूढ' पुत्र कहा जाता है ॥ १७० ॥

यस्य गृहेऽवस्थितायां भार्यायां पुत्र उत्पद्यते, सजातीयोऽयं भवतीति ज्ञानेऽपि कस्मात्पुरुषविशेषाज्जातोऽसाविति न ज्ञायते, स गृहेऽप्रकाशमुत्पन्नस्तस्य पुत्रः स्याद्यदीयायां भार्यायां जातः ॥ १७० ॥

मातापितृभ्यामुत्सृष्टं तयोरन्यतरेण वा ।
यं पुत्रं परिगृह्णीयादपविद्धः स उच्यते ॥ १७१ ॥

माता-पिता (दोनों) या माता या पिता (किसी एक) द्वारा त्यक्त जिस पुत्रको मनुष्य स्वीकार कर लेता है, वह 'अपविद्ध' पुत्र कहा जाता है ॥ १७१ ॥

मातापितृभ्यां त्यक्तं, तयोरन्यतरमरणेनान्यतरेण वा त्यक्तं पुत्रं यः स्वीकुर्यात्सोपविद्धाख्यः पुत्र उच्यते ॥ १७१ ॥

पितृवेश्मनि कन्या तु यं पुत्रं जनयेद्रहः ।
तं कानीनं वदेन्नाम्ना वोढुः कन्यासमुद्भवम् ॥ १७२ ॥

पितृ-गृहमें रहती हुई कन्या (अविवाहित पुत्री) गुप्तरूपसे जिस पुत्रको उत्पन्न करती है, उसे 'कानीन' पुत्र कहते हैं, तथा वह पुत्र उस कन्याके साथ विवाह करनेवाले पतिका होता है ॥१७२॥

पितृगृहे कन्या यं पुत्रमप्रकाशं जनयेत्तं कन्यापरिणेतुः पुत्रं नाम्ना कानीनं वदेत् ॥ १७२ ॥

या गर्भिणी संस्क्रियते ज्ञाताज्ञाताऽपि वा सती ।
वोढुः स गर्भो भवति सहोढ इति चोच्यते ॥ १७३ ॥

ज्ञातावस्था (जानकारी) में या अज्ञातावस्था (अनजानकारी) में जिस गर्भिणी कन्याका विवाह किया जाता है, उस गर्भसे उत्पन्न वह पुत्र विवाहकर्ता पतिका होता है तथा उस पुत्रको 'सहोढ' पुत्र कहते हैं ॥ १७३ ॥

या गर्भवती अज्ञातगर्भा ज्ञातगर्भा वा परिणीयते, स गर्भस्तस्यां जातः परिणेतुः पुत्रो भवति, सहोढ इति व्यपदिश्यते ॥ १७३ ॥

क्रीणीयाद्यस्त्वपत्यार्थं मात्रापित्रोर्यमन्तिकात् ।
स क्रीतकः सुतस्तस्य सदृशोऽसदृशोऽपि वा ॥ १७४ ॥

माता-पिताको मूल्य देकर समान जातिवाले या असमान जातिवाले जिस पुत्र को अपना पुत्र बनानेके लिए मनुष्य खरीदता है, खरीदे हुए उस पुत्रको 'क्रीत' पुत्र कहते हैं ॥ १७४ ॥

यः पुत्रार्थं मातापित्रोः सकाशाद्यं क्रीणीयात्स क्रीतकस्तस्य पुत्रो भवति । क्रेतुर्गुणैस्तुल्यो हीनो वा भवेन्न तत्र जातितः सादृश्यवैसादृश्ये ।

"सजातीयेष्वयं प्रोक्तस्तनयेषु मया विधिः" (या. स्मृ. २–१३३)

इति याज्ञवल्क्येन सर्वेषामेव पुत्राणां सजातीयत्वाभिधानत्वेन मानवेऽपि क्रीतव्यतिरिक्ताः सर्वे पुत्राः सजातीयाः बोद्धव्याः ॥ १७४ ॥

या पत्या वा परित्यक्ता विधवा वा स्वयेच्छया ।
उत्पादयेत्पुनर्भूत्वा स पौनर्भव उच्यते ॥ १७५ ॥

पतिसे छोड़ी गयी या विधवा स्त्री अपनी इच्छासे दूसरेको पति बनाकर जिस पुत्रको उत्पन्न करती है, उसे 'पौनर्भव' पुत्र कहते हैं ॥ १७५ ॥

या भर्त्रा परित्यक्ता मृतभर्तृका वा स्वेच्छयान्यस्य पुनर्भार्या भूत्वा यमुत्पादयेत्स उत्पादकस्य पौनर्भवः पुत्र उच्यते ॥ १७५ ॥

सा चेदक्षतयोनिः स्याद्गतप्रत्यागतापि वा ।
पौनर्भवेन भर्त्रा सा पुनः संस्कारमर्हति ॥ १७६ ॥

यदि अक्षतयोनि वह स्त्री दूसरे पतिके पास जावे और द्वितीय पति विवाह कर ले, अथवा कुमारावस्थावाले पतिको छोड़कर दूसरे पतिके पास जाकर पुनः प्रथम पतिके पास आनेपर उस स्त्रीके साथ वह प्रथम कुमार पति विवाह कर ले, तो वह स्त्री उसकी 'पुनर्भू' स्त्री कहलाती है ॥ १७६ ॥

सा स्त्री यद्यक्षतयोनिः सत्यन्यमाश्रयेत्तदा तेन पौनर्भवेन भर्त्रा पुनर्विवाहाख्यं संस्कारमर्हति । यद्वा कौमारं पतिमुत्सृज्यान्यमाश्रित्य पुनस्तमेव प्रत्यागता भवति तदा तेन कौमारेण भर्त्रा पुनर्विवाहाख्यं संस्कारमर्हति ॥ १७६ ॥

मातापितृविहीनो यस्त्यक्तो वा स्यादकारणात् ।
आत्मानं स्पर्शयेद्यस्मै स्वयंदत्तस्तु स स्मृतः ॥ १७७ ॥

माता-पितासे हीन अथवा उनसे निष्कारण त्यक्त (छोड़ा गया) पुत्र जिस पुरुषके लिए (पुत्ररूप होकर) अपनेको समर्पण कर दे, वह पुत्र उस पुरुषका 'स्वयंदत्त' पुत्र कहलाता है ॥ १७७ ॥

यो मृतमातापितृकस्त्यागोचितकारणं विना द्वेषादिना ताभ्यां त्यक्तो वाऽऽत्मानं यस्मै ददाति स स्वयंदत्ताख्यस्तस्य पुत्रो मन्वादिभिः स्मृतः ॥ १७७ ॥

यं ब्राह्मणस्तु शूद्रायां कामादुत्पादयेत्सुतम् ।
स पारयन्नेव शवस्तस्मात्पारशवः स्मृतः ॥ १७८ ॥

स्व-विवाहिता शूद्रामें जिस पुत्रको उत्पन्न करता है, वह जीता हुआ भी मरे हुएके समान होनेसे 'पारशव' पुत्र कहलाता है ॥ १७८ ॥

"विन्नास्वेष विधिः स्मृतः" (या. स्मृ. १-९२) इति याज्ञवल्क्यदर्शनात्परिणीतायामेव शूद्रायां ब्राह्मणः कामार्थं पुत्रं जनयेत्स जीवन्नेव शवतुल्य इति पारशवः स्मृतः । यद्यप्ययं पित्रुपकारार्थं श्राद्धादि करोत्येव तथाप्यसम्पूर्णोपकारकत्वाच्छवव्यपदेशः ॥ १७८ ॥

दास्यां वा दासदास्यां वा यः शूद्रस्य सुतो भवेत् ।
सोऽनुज्ञातो हरेदंशमिति धर्मो व्यवस्थितः ॥ १७९ ॥

दासी (८।४१५) में, दासकी दासमें जो पुत्र शूद्रसे उत्पन्न होता है, वह पितासे 'तुम भी विवाहित स्त्रियोंके पुत्रोंके बराबर धनका भाग (हिस्सा) लो' इस प्रकार आज्ञा पाकर (पितृ-धनका) बराबर भाग लेनेवाला होता है, ऐसी धर्मकी व्यवस्था है ॥ १७९ ॥

ध्वजाहृताद्युक्तलक्षणायां दास्यां दाससंबन्धिन्यां वा दास्यां शूद्रस्य यः पुत्रो जायते स पित्रानुज्ञातः परिणीतापुत्रैः समांशभागो भवान्भवत्वित्यनुज्ञातस्तुल्यभागं लभत इति शास्त्रव्यवस्था नियता ॥ १७९ ॥

क्षेत्रजादीन्सुतानेतानेकादश यथोदितान् ।
पुत्रप्रतिनिधीनाहुः क्रियालोपान्मनीषिणः ॥ १८० ॥

इन 'क्षेत्रज' आदि ('औरस' पुत्रको छोड़कर शेष (९।१५९-१७८) ग्यारह प्रकारके पुत्रोंको 'श्राद्ध आदि क्रियाका अभाव न हो' इसलिए मुनियोंने पुत्र ('औरस' पुत्र) का प्रतिनिधि कहा है ॥ १८० ॥

एतान्क्षेत्रजादीनेकादश पुत्रान् , पुत्रोत्पादनविधिलोपः पुत्रकर्तव्यश्राद्धादिलोपश्च मा भूदित्येवमर्थं पुत्रप्रतिच्छन्दकान्मुनय आहुः ॥ १८० ॥

य एतेऽभिहिताः पुत्राः प्रसङ्गादन्यबीजजाः ।
यस्य ते बीजतो जातास्तस्य ते नेतरस्य तु ॥ १८१ ॥

('औरस' पुत्रके वर्णनके) प्रसङ्गसे 'दूसरेके वीर्यसे उत्पन्न' जो ये ('क्षेत्रज' आदि पुत्र ९।१५९-१७८) कहे गये हैं, वे जिसके वीर्यसे उत्पन्न होते हैं उसीके हैं, दूसरे (क्षेत्रियके) नहीं; (अतः 'औरस' पुत्र (९।१५८) तथा 'पुत्रिका' (९।१२७) के विद्यमान रहनेपर उन क्षेत्रजादि पुत्रोंको नहीं करना चाहिये) ॥ १८१ ॥

य एते क्षेत्रजादयोऽन्यबीजोत्पन्नाः पुत्रा औरसपुत्रप्रसङ्गेनोक्तास्ते यद्बीजोत्पन्नास्तस्यैव पुत्रा भवन्ति न क्षेत्रिकादेरिति सत्यौरसे पुत्रे पुत्रिकायां च सत्यां न ते कर्तव्या इत्येवंपर-

मिदम्, अन्यबीजजा इत्येकादशपुत्रोपलक्षणार्थम्। स्वबीजजातावपि पौनर्भवशौद्रौ न कर्तव्यौ। अत एव वृद्धबृहस्पतिः—

'आज्यं विना यथा तैलं सद्भिः प्रतिनिधिः स्मृतः।
तथैकादश पुत्रास्तु पुत्रिकौरसयोर्विना" ॥ १८१ ॥

भ्रातॄणामेकजातानामेकश्चेत्पुत्रवान्भवेत् ।
सर्वास्तांस्तेन पुत्रेण पुत्रिणो मनुरब्रवीत् ॥ १८२ ॥

एक माता तथा पितामें उत्पन्न अर्थात् सहोदर भाइयोंमेंसे यदि एक भाईको पुत्र हो तो उसीसे (पुत्रहीन भी) अन्य सभी भाई पुत्रवान् होते हैं ऐसा मनुने कहा है ॥ १८२ ॥

भ्रातॄणामेकमातापितृकाणां मध्ये यद्येकः पुत्रवान्स्यादन्ये च पुत्ररहितास्तदा तेनैकपुत्रेण सर्वान्भ्रातॄन्सपुत्रान्मनुराह। ततश्च तस्मिन्सत्यन्ये पुत्रप्रतिनिधयो न कर्तव्याः। स एव पिण्डदोंऽशहरश्च भवतीत्यनेनोक्तम्। एतच्च—

"पत्नी दुहितरश्चैव पितरौ भ्रातरस्तथा। तत्सुता" (या. स्मृ. २–१३५)

इति याज्ञवल्क्यवचनाद् भ्रातृपर्यन्ताभावे बोद्धव्यम् ॥ १८२ ॥

सर्वासामेकपत्नीनामेका चेत्पुत्रिणी भवेत् ।
सर्वास्तास्तेन पुत्रेण प्राह पुत्रवतीर्मनुः ॥ १८३ ॥

एकपतिवाली स्त्रियोंमेंसे यदि एक स्त्रीको पुत्र उत्पन्न हो जाय तो (पुत्रहीना शेष भी सब स्त्रियां) उसी पुत्रसे पुत्रवती होती हैं, ऐसा मनुने कहा है ॥ १८३ ॥

एकपतिकानां सर्वासां स्त्रीणां मध्ये यद्येका पुत्रवती स्यात्तदा तेन पुत्रेण सर्वास्ताः पुत्रयुक्ता मनुराह। ततश्च सपत्नीपुत्रे सति स्त्रिया न दत्तकादिपुत्राः कर्तव्या इत्येतदर्थमिदम् ॥ १८३ ॥

श्रेयसः श्रेयसोऽलाभे पापीयान्रिक्थमर्हति ।
बहवश्चेत्तु सदृशाः सर्वे रिक्थस्य भागिनः ॥ १८४ ॥

(पूर्वोक्त (९।१५९–१६०) बारह प्रकारके पुत्रोंमें से) उत्तम-उत्तम पुत्रके अभावमें हीन–हीन पुत्र (पिताके) धनका भागी होता है और सबके समान गुणी होनेपर सभी समान धन पानेके अधिकारी होते हैं ॥ १८४ ॥

औरसादीनां सर्वेषां पुत्राणां प्रकृतत्वादौरसादीनुपक्रम्य तेषां पूर्वः पूर्वः श्रेयान्स एव दायहरः, "स चान्यान्बिभृयात्' इति विष्णुवचनात्। औरसादीनां पुत्राणां पूर्वपूर्वाभावे परः परो रिक्थमर्हति। पूर्वसद्भावे परसंवर्धनं स एव कुर्यात्। एवञ्च सिद्धे शूद्रापुत्रस्य द्वादशपुत्रमध्ये पाठः क्षेत्रजादिसद्भावे धनार्हत्वज्ञापनार्थत्वे सार्थकः। अन्यथा तु क्षत्रियावैश्यापुत्रवदौरसत्वात्क्षेत्रजादिसद्भावेऽपि धनं लभेत्पूर्वस्य परसंवर्धनमात्रं चापवादेतरविषये द्रष्टव्यम्, क्षेत्रजगुणवद्दत्तकपुत्रयोः पञ्चमं षष्ठं वा भागमौरसो दद्यादिति विहितत्वात्। यदि तु समानरूपाः पौनर्भवादयो बहवः पुत्रास्तदा सर्व एव विभज्य रिक्थं गृह्णीयुः ॥ १८४ ॥

न भ्रातरो न पितरः पुत्रा रिक्थहराः पितुः ।
पिता हरेदपुत्रस्य रिक्थं भ्रातर एव च ॥ १८५ ॥

(पिताके) धन पानेका अधिकारी सहोदर भाई या पिता नहीं होते, किन्तु 'औरस' पुत्र (९।१६६) के अभावमें 'क्षेत्रज' आदि पुत्र (९।१६६–१७६) ही पिताके धन पानेका अधिकारी

होता है। पुत्र (मुख्य पुत्र तथा स्त्री और कन्या) से हीन पुरुषके धनका भागी पिता या भाई होते हैं ॥ १८५ ॥

न सोदरभ्रातरो, न पितरः, किन्तु औरसाभावे क्षेत्रजादयो गौणपुत्राः पितृरिक्थहरा भवन्तीत्यनेनोच्यते। औरसस्य तु "एक एवौरसः पुत्रः" (म. स्मृ. ९-१६३) इत्यनेनैव सिद्धत्वात्। अविद्यमानमुख्यपुत्रस्य पत्नीदुहितृरहितस्य च पिता धनं गृह्णीयात्तेषां मातुश्चाभावे भ्रातरो धनं गृह्णीयुः। एतच्चानन्तरं प्रपञ्चयिष्यामः ॥ १८५ ॥

इदानीं क्षेत्रजानामप्यपुत्रपितामहादिधनेऽप्यधिकारं दर्शयितुमाह—

त्रयाणामुदकं कार्यं त्रिषु पिण्डः प्रवर्तते।
चतुर्थः संप्रदातैषां पञ्चमो नोपपद्यते ॥ १८६ ॥
[असुतास्तु पितुः पत्न्यः समानांशाः प्रकीर्तिताः।
पितामह्यश्च ताः सर्वा मातृकल्पाः प्रकीर्तिताः ॥ ४ ॥]

तीन (पिता पितामह और प्रपितामह) का उदक (तर्पण, तिलाञ्जलिदान) करना चाहिये और तीनका ही पिण्डदान (श्राद्ध) होता हैं; चौथा इनको देनेवाला होता है, इनके साथ पांचवें किसीका कोई सम्बन्ध नहीं होता ॥ १८६ ॥

[पुत्रहीना पिताकी स्त्रियां समान भागवाली कही गयी हैं तथा पितामहकी स्त्रियां भी मातृतुल्य कही गयी हैं ॥ ४ ॥]

त्रयाणां पित्रादीनामुदकदानं कार्यं, त्रिभ्य एव च तेभ्यः पिण्डो देयः। चतुर्थश्च पिण्डोदकयोर्दाता। पञ्चमस्यात्र सम्बन्धो नास्ति। तस्माद् युक्तोऽपुत्रपितामहादिधने गौणपौत्राणामधिकारः। औरसपुत्रपौत्रयोश्च "पुत्रेण लोकाञ्जयति" (म. स्मृ. ९-१३७) इत्यनेनैवात्र पितामहादिधनभागित्वमुक्तम् ॥ १८६ ॥

अनन्तरः सपिण्डाद्यस्तस्य तस्य धनं भवेत्।
अत ऊर्ध्वं सकुल्यः स्यादाचार्यः शिष्य एव वा ॥ १८७ ॥
[हरेरन्नृत्विजो वापि न्यायवृत्ताश्च याः स्त्रियः ॥ ५ ॥]

सपिण्डोंमें निकट सम्बन्धी मृतव्यक्तिके धनका भागी (हकदार) होता है, तथा इसके बाद (सपिण्डके अभावमें) क्रमशः समानोदक (सजातीय), आचार्य तथा शिष्य मृतव्यक्तिके धनका भागी होता है ॥ १८७ ॥

[अथवा जो ऋत्विक्की स्त्रियां धर्मपरायण सती-साध्वी हो, वे (मृतव्यक्तिके धनको) ग्रहण करें ॥ ५ ॥]

अस्य सामान्यवचनस्योक्तौरसादिसपिण्डमात्रविषयत्वे वैयर्थ्यात्ततश्चानुक्तपत्न्यादिदायप्राप्त्यर्थमिदम्। सपिण्डमध्यात्संनिकृष्टतरो यः सपिण्डः पुमान् स्त्री वा तस्य मृतधनं भवति। तत्र "एक एवौरसः पुत्रः" (म. स्मृ. ९-१६३) इत्युक्तत्वात्स एव मृतधने स्वाधिकारी। क्षेत्रजगुणवद् दत्तकयोस्तु यथोक्तं पञ्चमं षष्ठं वा भागं दद्यात्। कृत्रिमादिपुत्राणां संवर्धनमात्रं कुर्यात् औरसाभावे पुत्रिका तत्पुत्रश्च—

"दौहित्र एव च हरेदपुत्रस्याखिलं धनम्"। (म. स्मृ. ९-१३१)

इत्युक्तत्वादौरसपुत्ररहित एव तत्रापुत्रो विवक्षितः। तदभावे क्षेत्रजादय एकादश पुत्राः क्रमेण पितृधनाधिकारिणः। परिणीतशूद्रापुत्रस्तु दशभागमात्राधिकारी। "नाधिकं दश-

माद्द्याच्छूद्रापुत्राय" (म० स्मृ० ९-१५४) इत्याद्युक्तत्वात्। दशमभागावशिष्टं धनं सन्निकृष्टसपिण्डो गृह्णीयात्। त्रयोदशविधपुत्राभावे पत्नी सर्वभर्तृधनभागिनी। यदाह याज्ञवल्क्यः—

"पत्नी दुहितरश्चैव पितरौ भ्रातरस्तथा।
तत्सुतो गोत्रजो बन्धुः शिष्यः सब्रह्मचारिणः॥
एषामभावे पूर्वस्य धनभागुत्तरोत्तरः।
स्वर्यातस्य ह्यपुत्रस्य सर्ववर्णेष्वयं विधिः॥" (या. स्मृ २-१३५-३६)

बृहस्पतिरप्याह—

"आम्नाये स्मृतितन्त्रे च लोकाचारे च सूरिभिः।
शरीरार्धं स्मृता जाया पुण्यापुण्यफले समा॥
यस्य नोपरता भार्या देहार्धं तस्य जीवति।
जीवत्यर्धशरीरे तु कथमन्यः स्वमाप्नुयात्॥
सकुल्यैर्विद्यमानैस्तु पितृमातृसनाभिभिः।
अपुत्रस्य प्रमीतस्य पत्नी तद्भागहारिणी॥
पूर्वप्रमीताग्निहोत्रं मृते भर्तरि तद्धनम्।
विन्देत्पतिव्रता नारी धर्म एष सनातनः॥
जङ्गमं स्थावरं हेम कुप्यं धान्यमथाम्बरम्।
आदाय दापयेच्छ्राद्धं मासषाण्मासिकादिकम्॥
पितृव्यगुरुदौहित्रान्भर्तृस्वस्रीयमातुलान्।
पूजयेत्कव्यपूर्ताभ्यां वृद्धानप्यतिथींस्त्रियः॥
तत्सपिण्डा बान्धवा वा ये तस्याः परिपन्थिनः।
हिंस्युर्धनानि तान्राजा चौरदण्डेन शासयेत्॥"

वृद्धमनुः—

"अपुत्रा शयनं भर्तुः पालयन्ती व्रते स्थिता।
पत्न्येव दद्यात्तत्पिण्डं कृत्स्नमर्थं लभेत च॥"

यदुक्तम्—"स्त्रीणां तु जीवनं दद्यात्" इति सम्वर्धनमात्रवचनं, तद्दुःशीलाधार्मिकसविकारयौवनस्थपत्नीविषयम्। अतो यन्मेधातिथिना पत्नीनामंशभागित्वं निषिद्धमुक्तम्। तदसम्बद्धम्—

"पत्नीनामंशभागित्वं बृहस्पत्यादिसम्मतम्।
मेधातिथिर्निराकुर्वन्न प्रीणाति सतां मनः॥"

पत्न्यभावेऽप्यपुत्रिका दुहिता, तदभावे पिता। माता च तयोरभावे सोदर्यभ्राता, तदभावे तत्सुतः—

"मातर्यपि च वृत्तायां पितुर्माता हरेद्धनम्" (म. स्मृ. ९-२१७)

इति वक्ष्यमाणत्वात्। पितृमाता तदभावेऽन्योऽपि सन्निकृष्टसपिण्डो मृतधनं गृह्णीयात्। तद्यथा पितामहसंतानेऽविद्यमाने प्रपितामहसन्तान एव। तदप्युक्तम्। अत ऊर्ध्वं सपिण्डसन्तानाभावे समानोदक आचार्यः क्रमेण धनं गृह्णीयात्॥ १८७॥

सर्वेषामप्यभावे तु ब्राह्मणा रिक्थभागिनः।
त्रैविद्याः शुचयो दान्तास्तथा धर्मो न हीयते॥ १८८॥

सब (औरस पुत्र, पत्नी, सपिण्ड आदि) के अभावमें वेदत्रय (ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद) के पढ़नेवाले, शुद्ध (शरीरसम्बन्धी बाह्य शुद्धि तथा मनःसम्बन्धी आभ्यन्तर शुद्धिसे युक्त), जितेन्द्रिय ब्राह्मण ही मृत व्यक्ति के धन पानेके अधिकारी होते हैं, इस प्रकार धर्म (मृत व्यक्तिके पिण्डादानादि क्रिया) की हानि नहीं होती है ॥ १८८ ॥

एषामभाव इति वक्तव्ये सर्वेषामभाव इति यदुक्तं तत्सब्रह्मचर्यादेरपि धनहारित्वार्थम् । सर्वेषामभावे ब्राह्मणा वेदत्रयाध्यायिनो बाह्यान्तरशौचयुक्ता जितेन्द्रिया धनहारिणो भवन्ति, त एव च पिण्डदाः, तथा सति धनिनो मृतस्य श्राद्धादिधर्महानिर्न भवति ॥१८८॥

अहार्यं ब्राह्मणद्रव्यं राज्ञा नित्यमिति स्थितिः ।
इतरेषां तु वर्णानां सर्वाभावे हरेन्नृपः ॥ १८९ ॥

ब्राह्मणके धनको राजा कदापि (मृत ब्राह्मणके धन लेनेवाले औरस पुत्रादिके किसीके नहीं रहने पर भी) नहीं लेवे यह शास्त्र मर्यादा है । दूसरे (क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) वर्णोंके धनको सब (औरस पुत्रादि उत्तराधिकारी किसी भी व्यक्ति) के नहीं रहनेपर राजा ग्रहण करे ॥१८९॥

ब्राह्मणसम्बन्धि धनं न राज्ञा कदाचिद् ग्राह्यमिति शास्त्रमर्यादा । किन्तूक्तलक्षणब्राह्मणाभावे ब्राह्मणमात्रेभ्योऽपि देयम् । क्षत्रियादिधनं पुनः पूर्वोक्तरिक्थहराभावे राजा गृह्णीयात् ॥ १८९ ॥

संस्थितस्यानपत्यस्य सगोत्रात्पुत्रमाहरेत् ।
तत्र यद्रिक्थजातं स्यात्तत्तस्मिन्प्रतिपादयेत् ॥ १९० ॥

सन्तानहीन मृत पतिकी स्त्री नियोग धर्म (९।५९-६२) के द्वारा सगोत्रसे पुत्र उत्पन्न करे तथा मृत पतिका जो २ धन हो, उसे उस पुत्रके लिए दे देवे ॥ १९० ॥

अनपत्यस्य मृतस्य भार्या समानगोत्रात्पुंसो गुरुनियुक्ता सती नियोगधर्मेण पुत्रमुत्पादयेत् । तस्मिन्मृतविषये यद्धनजातं भवेत्तत्तस्मिन्पुत्रे समर्पयेत् । 'देवराद्वा सपिण्डाद्वा" (म. स्मृ. ९-५९) इत्युक्तत्वात् । सगोत्रान्नियोगप्राप्त्यर्थं तज्जस्य च रिक्थभागित्वार्थमिदम् ॥ १९० ॥

द्वौ तु यौ विवेदयातां द्वाभ्यां जातौ स्त्रिया धने ।
तयोर्यद्यस्य पित्र्यं स्यात्तत्स गृह्णीत नेतरः ॥ १९१ ॥

दो पिताओंसे उत्पन्न दो पुत्र स्त्री (माता) के धनके विषयमें विवाद करें तो जो पुत्र जिस पिता से उत्पन्न हुआ है, वह पुत्र उसी (अपने ही) पिताके धन पानेका अधिकारी होता है, दूसरा पुत्र नहीं ॥ १९१ ॥

"यद्येकरिक्थिनौ स्याताम्" (म. स्मृ. ९-१६२) इत्यौरसक्षेत्रजयोरुक्तम्, इदं त्वौरसपौनर्भवविषयम् । यद्योत्पन्नौरसभर्तुर्मृतत्वाद्बालापत्यतया स्वामिधनं स्वीकृत्य पौनर्भवभर्तुः सकाशात्पुत्रान्तरं जनयेत्तस्यापि च पौनर्भवस्य भर्तुर्मृतत्वाद्रिक्थहरान्तराभावाद्धनं गृहीतवती, पश्चात्तौ द्वाभ्यां जातौ यदि विवदेयातां स्त्रीहस्तगतधने, तदा तयोर्यस्य यज्जनकस्य धनं स तदेव गृह्णीयान्न त्वन्यपितृजोऽन्यजनकस्य ॥ १९१ ॥

जनन्यां संस्थितायां तु समं सर्वे सहोदराः ।
भजेरन्मातृकं रिक्थं भगिन्यश्च सनाभयः ॥ १९२ ॥

माताके मरनेपर सब सहोदर भाई तथा अविवाहित सहोदरी बहनें उसके धनको बराबर भागमें पाती हैं ॥ १९२ ॥

मातरि मृतायां सोदर्यभ्रातरो भगिन्यश्च सौदर्या अनूढा मातृधनं समं कृत्वा गृह्णीयुः। ऊढास्तु धनानुरूपं सम्मानं लभन्ते। तदाह बृहस्पतिः—

"स्त्रीधनं स्यादपत्यानां दुहिता च तदंशिनी।
अपुत्रा चेत्समूढा तु लभते मानमात्रकम्॥"

ततश्चानूढानां पितृधनं इवोढानां मातृधनं अत्रा स्यादंशाच्चतुर्थभागो देयः॥ १९२॥

यास्तासां स्युर्दुहितरस्तासामपि यथार्हतः।
मातामह्या धनात्किंचित्प्रदेयं प्रीतिपूर्वकम्॥ १९३॥

उन (सहोदरी) पुत्रियोंकी जो अविवाहित पुत्रियां (पोतियां) हों, उनके सम्मानार्थ भी नानीके धनमें से कुछ भाग उनके लिए प्रेमपूर्वक देना चाहिये॥ १९३॥

तासां दुहितॄणां या अनूढा दुहितरस्ताभ्योऽपि मातामहीधनाद्यथा तासां पूजा भवति तथा प्रीत्या किंचिद्दातव्यम्॥ १९३॥

अध्यग्न्यध्यावाहनिकं दत्तं च प्रीतिकर्मणि।
भ्रातृमातृपितृप्राप्तं षड्विधं स्त्रीधनं स्मृतम्॥ १९४॥

(१) विवाहकालमें अग्निसाक्षित्वके समय पिता आदिके द्वारा दिया गया, (२) पिताके घरसे पतिके घर लायी जाती हुई कन्याके लिए दिया गया, (३) प्रेम-सम्बन्धी किसी शुभवसरपर पति आदिके द्वारा दिया गया, तथा (४) भाई, (५) माता और (६) पिताके द्वारा विविध अवसरोंपर दिया गया ६ प्रकारका धन 'स्त्री-धन' कहलाता है॥ १९४॥

अध्यग्नीति "अव्ययं विभक्तिसमीप-" (पा. सू. २।१।६) इत्यादिसूत्रेण समीपार्थेऽव्ययीभावः। विवाहकाले अग्निसन्निधौ यत्पित्रादिदत्तं तदध्यग्नि स्त्रीधनम्। तदाह कात्यायनः—

"विवाहकाले यत्स्त्रीभ्यो दीयते ह्यग्निसन्निधौ।
तदध्यग्निकृतं सद्भिः स्त्रीधनं परिकीर्तितम्॥"

यत्तु पितृगृहाद्भर्तुर्गृहं नीयमानया लब्धं तदध्यावाहनिकम्। तथा च कात्ययनः—

"यत्पुनर्लभते नारी नीयमाना तु पैतृकात्।
अध्यावाहनिकं नाम तत्स्त्रीधनमुदाहृतम्॥"

यत्तु प्रीतिहेतुकर्मणि भर्त्रादिदत्तं तथा भ्रात्रा पित्रा च समयान्तरे यद् दत्तम्। एवं षट् प्रकारकं स्त्रीधनं स्मृतम्॥ १९४॥

अन्वाधेयं च यद्दत्तं पत्या प्रीतेन चैव यत्।
पत्यौ जीवति वृत्तायाः प्रजायास्तद्धनं भवेत्॥ १९५॥

विवाहके बाद पतिकुलमें या पितृकुलमें प्राप्त हुए स्त्रीके धनको पानेका अधिकार उसके पतिके जीवित रहनेपर भी पुत्रों या पुत्रियोंको ही होता है॥ १९५॥

अन्वाधेयं व्याख्यातं कात्यायनेन—

"विवाहात्परतो यत्तु लब्धं भर्तृकुले स्त्रिया।
अन्वाधेयं तदुक्तं तु सर्वबन्धुकुले तथा॥"

विवाहादूर्ध्वं भर्तृकुले पितृकुले वा यत्स्त्रिया लब्धं भर्त्रा च प्रीतेन दत्तं यदध्यग्न्यादि पूर्वश्लोके उक्तं, तद्भर्तरि जीवति मृतायाः स्त्रियाः सर्वधनं तदपत्यानां भवति॥ १९५॥

ब्राह्मदैवार्षगान्धर्वप्राजापत्येषु यद्वसु ।
अप्रजायामतीतायां भर्तुरेव तदिष्यते ॥ १९६ ॥

ब्राह्म, दैव, आर्ष, गान्धर्व और प्राजापत्य संज्ञक (क्रमशः ३।२७, २८, २९, ३२ और ३०) विवाहोंमें प्राप्त सन्तानहीना स्त्रीके पूर्वोक्त (९।१९४) छः प्रकारके धनका अधिकारी पति ही होता है, ऐसा मनु आदिका मत है ॥ १९६ ॥

ब्राह्मादिषु पञ्चसु विवाहेषूक्तलक्षणेषु यत्स्त्रियाः षड्विधं धनं तदनपत्यायां मृतायां भर्तुरेव मन्वादिभिरिष्यते ॥ १९६ ॥

यत्त्वस्याः स्याद्धनं दत्तं विवाहेष्वासुरादिषु ।
अप्रजायामतीतायां मातापित्रोस्तदिष्यते ॥ १९७ ॥

आसुर आदि (आसुर, राक्षस तथा पैशाच-क्रमशः ३।३१, ३३ और ३४) संज्ञक विवाहोंमें स्त्रीके लिए जो धन दिया गया हो, सन्तानहीन उस स्त्रीके मरनेपर पूर्वोक्त (९।१९४) ६ प्रकार के स्त्रीधनको पानेके अधिकारी उसके माता-पिता होते हैं ॥ १९७ ॥

यत्पुनः स्त्रिया आसुरराक्षसपैशाचेषूक्तलक्षणेषु विवाहेषु यत्स्त्रियाः षड्विधं धनमपि तदनपत्यायां मृतायां मातापित्रोरिष्यते ॥ १९७ ॥

स्त्रियां तु यद्भवेद्वित्तं पित्रा दत्तं कथंचन ।
ब्राह्मणी तद्धरेत्कन्या तदपत्यस्य वा भवेत् ॥ १९८ ॥

ब्राह्मणकी अनेक जातिवाली सन्तानहीन क्षत्रियादि वर्णोंवाली स्त्रियोंके मरनेपर उनके पिता आदिके द्वारा दिये गये पूर्वोक्त (९।१९४) छः प्रकारके स्त्री-धनको पानेका अधिकार सजातीय या विजातीय सपत्नियों की सन्तान रहनेपर भी ब्राह्मण जातीया सपत्नीकी कन्याको ही होता है, और उसके अभावमें उसकी (पुत्री) को अधिकार होता है ॥ १९८ ॥

ब्राह्मणस्य नानाजातीयासु स्त्रीषु क्षत्रियादिस्त्रियामनपत्यपतिकायां मृतायां, तस्याः पितृदत्तं धनं सजातिविजातिसापत्न्यकन्यापुत्रसद्भावेऽपि ब्राह्मणी सापत्नेयी कन्या गृह्णीयात । तदभावे तदपत्यस्य तद्धनं भवेत् ॥ १९८ ॥

न निर्हारं स्त्रियः कुर्युः कुटुम्बाद्बहुमध्यगात् ।
स्वकादपि च वित्ताद्धि स्वस्य भर्तुरनाज्ञया ॥ १९९ ॥

स्त्री-भाई आदि बहुत परिवारवाले धनमें-से तथा अपने पतिके धनमें-से भी पतिकी आज्ञाके विना अलङ्कार आदिके लिए धनका संग्रह न करे (अत एव उक्त धन 'स्त्री-धन' नहीं होता है) ॥

भ्रात्रादिबहुसाधारणात्कुटुम्बधनाद्भार्यादिभिः स्त्रीभी रत्नालङ्काराद्यर्थं धनसंचयं न कर्तव्यम् । नापि च भर्तुराज्ञां विना भर्तृधनादपि कार्यम् । ततश्च नेदं स्त्रीधनम् ॥ १९९ ॥

पत्यौ जीवति यः स्त्रीभिरलंकारो धृतो भवेत् ।
न तं भजेरन्दायादा भजमानाः पतन्ति ते ॥ २०० ॥

पतिके जीवित रहनेपर स्त्रियां जिन भूषणोंको पहनती हों, उनको भाई आदि हिस्सेदार न लेवें, यदि वे उन्हें लेते हैं तो वे पतित हो जाते हैं ॥ २०० ॥

भर्तरि जीवति तत्सम्मताभिर्योऽलंकारः स्त्रीभिर्धृतस्तस्मिन्मृते विभागकाले तं पुत्रादयो न भजेरन् । भजमानाः पापिनो भवन्ति ॥ २०० ॥

अनंशौ क्लीबपतितौ जात्यन्धबधिरौ तथा ।
उन्मत्तजडमूकाश्च ये च केचिन्निरिन्द्रियाः ॥ २०१ ॥

नपुंसक, पतित, जन्मान्ध, बहरा, पागल, जड़, गूंगा और जो किसी इन्द्रिय से शून्य (लंगड़ा, लूला) हों, वे धनके भागी (हिस्सेदार) नहीं होते हैं, (किन्तु भोजन–वस्त्रमात्र पाते रहनेके अधिकारी होते हैं) ॥ २०१ ॥

नपुंसकपतितजात्यन्धश्रोत्रविकलोन्मत्तजडमूकाश्च ये च कुणिपङ्ग्वादयो विकलेन्द्रियास्ते पित्रादिधनहरा न भवन्ति किन्तु ग्रासाच्छादनभागिनः ॥ २०१ ॥

तदेवाह—

सर्वेषामपि तु न्याय्यं दातुं शक्त्या मनीषिणा ।
ग्रासाच्छादनमत्यन्तं पतितो ह्यददद्भवेत् ॥ २०२ ॥

सब (पूर्व श्लोकोक्त नपुंसक आदि) के धनको न्यायपूर्वक लेनेवाला शास्त्रज्ञ विद्वान् उन (नपुंसक-पतित आदि) के लिए भोजन-वस्त्र यथाशक्ति देवे, और नहीं देनेवाला पतित होता है ॥ २०२ ॥

सर्वेषामेषां क्लीबादीनां शास्त्रज्ञेन रिक्थहारिणा यावज्जीवं स्वशक्त्या ग्रासाच्छादनं देयम् । अददत्पापी स्यात् ॥ २०२ ॥

यद्यर्थिता तु दारैः स्यात्क्लीबादीनां कथंचन ।
तेषामुत्पन्नतन्तूनामपत्यं दायमर्हति ॥ २०३ ॥

इन नपुंसक, पतित आदि (९।२०१) को किसी प्रकार विवाह करने की इच्छा हो तो (इनके विवाह होनेपर) उत्पन्न (नपुंसककी क्षेत्रज तथा पतितादि की औरस) सन्तान उनके धन पानेकी अधिकारिणी होती है ॥ २०३ ॥

कथंचनेत्यभिधानात्क्लीबादयो विवाहानर्हा इति सूचितम्। यदि कथंचिदेषां विवाहेच्छा भवेत्तदा क्लीबस्य क्षेत्रज उत्पन्नेऽन्येषामुत्पन्नापत्यानामपत्यं धनभाग्भवति ॥ २०३ ॥

यत्किंचित्पितरि प्रेते धनं ज्येष्ठोऽधिगच्छति ।
भागो यवीयसां तत्र यदि विद्यानुपालितः ॥ २०४ ॥

पिताके मरनेके बाद यदि बड़ा भाई अपने पुरुषार्थसे धनोपार्जन करे तो उस धनमें पढ़े-लिखे छोटे भाइयोंका भाग होता है (मूर्खोंका नहीं) ॥ २०४ ॥

पितरि मृते सति भ्रातृभिः सहाविभक्तो ज्येष्ठः किंचित्स्वेन पौरुषेण धनं लभते । ततो धनाद्विद्याभ्यासवतां कनिष्ठभ्रातॄणां भागो भवति, नेतरेषाम् ॥ २०४ ॥

अविद्यानां तु सर्वेषामीहातश्चेद्धनं भवेत् ।
समस्तत्र विभागः स्यादपित्र्य इति धारणा ॥ २०५ ॥

विना पढ़े-लिखे सब भाइयोंके प्रयत्न (खेती, व्यापार आदि) से यदि धन प्राप्त हो तब पितृ–धनको छोड़कर उस प्रयत्नोपार्जित धनमेंसे सब भाइयोंका समान भाग होता है, पूर्व वचन (९।११२–११५) के अनुसार ज्येष्ठ भाईका उद्धार (अतिरिक्त भाग) नहीं होता, (किंतु पिताके धनमें से ही वह उद्धार भाग होता है) ऐसा शास्त्रीय निर्णय है ॥ २०५ ॥

सर्वेषां भ्रातॄणां कृषिवाणिज्यादिचेष्टया यदि धनं स्यात्तदा पित्र्यवर्जिते तन्मिन्धने स्वार्जिते समो विभागः स्यान्न तूद्धारोऽपित्र्य इति निश्चयः ॥ २०५ ॥

विद्याधनं तु यद्यस्य तत्तस्यैव धनं भवेत् ।
मैत्र्यमौद्वाहिकं चैव माधुपर्किकमेव च ॥ २०६ ॥

विद्यासे, मित्रसे, विवाहमें और मधुपर्कके समय पूज्यताके कारण जिसको जो धन प्राप्त हो; वह धन उसीका होता है ॥ २०६ ॥

विद्यामैत्रीविवाहार्जितं माधुपर्किकं मधुपर्कदानकाले पूज्यतया यल्लब्धं तस्यैव तत्स्यात्। 'यत्किञ्चित्पितरि' (म. स्मृ. ९।२०४) इत्युक्तस्यायमपवादः । विद्याधनं च व्याहृतं कात्यायनेन—

"परभक्तप्रदानेन प्राप्ता विद्या यदान्यतः ।
तया प्राप्तं च विधिना विद्याप्राप्तं तदुच्यते ॥
उपन्यस्ते च यल्लब्धं विद्यया पणपूर्वकम् ।
विद्याधनं तु तद्विद्याद्विभावे न विभज्यते ॥
शिष्यादार्त्विज्यतः प्रश्नात्संदिग्धप्रश्ननिर्णयात् ।
स्वज्ञानशंसनाद्वादाल्लब्धं प्राज्यधनाच्च यत् ॥
विद्याधनं तु तत्प्राहुर्विभागे न विभज्यते ।।"

अतो यन्मेधातिथिगोविन्दराजाभ्यां माधुपर्किकमार्त्विज्यधनं व्याख्यातम् । तदयुक्तम्, विद्याधनत्वात् ॥ २०६ ॥

भ्रातॄणां यस्तु नेहेत धनं शक्तः स्वकर्मणा ।
स निर्भाज्यः स्वकादंशात्किंचिद्दत्त्वोपजीवनम् ॥ २०७ ॥

भाइयोंमें से अपने उद्योगसे समर्थ जो भाई पिताके धन-से भाग लेना नहीं चाहे, तब सब भाई पिताके धनमेंसे कुछ भाग देकर उसे अलग कर दें ॥ २०७ ॥

राजानुगमनादिकर्मणा यो धनमर्जितुं शक्तो भ्रातॄणां साधारणं धनं नेच्छति स स्वीयादंशात्किंचिदुपजीवनं दत्त्वा भ्रातृभिः पृथक्कार्यः । तेन तत्पुत्रास्तत्र धने कालान्तरे न विवदन्ते ॥ २०७ ॥

अनुपघ्नन्पितृद्रव्यं श्रमेण यदुपार्जितम् ।
स्वयमीहितलब्धं तन्नाकामो दातुमर्हति ॥ २०८ ॥

पिताके धनको नष्ट नहीं करता हुआ यदि कोई पुत्र केवल अपने पुरुषार्थ (व्यापार आदि) से उपार्जित धनमें से किसीके लिए कुछ नहीं देना चाहे तो वह (अपने पुरुषार्थसे उपार्जित धन-मेंसे) किसीको कुछ नहीं देवे ॥ २०८ ॥

पितृधनानुपघातेन यत्कृष्यादिक्लेशादर्जयेत्तत्स्वचेष्टाप्राप्तमनिच्छन्भ्रातृभ्यो दातुं नार्हति ॥

पैतृकं तु पिता द्रव्यमनवाप्तं यदाप्नुयात् ।
न तत्पुत्रैर्भजेत्सार्धमकामः स्वयमर्जितम् ॥ २०९ ॥

पिता अपनी असामर्थ्यके कारण उपेक्षित जिस पैतृक धनको नही पा सका है, उस (पैतामहिक) धनको धनको यदि पुत्र अपने पुरुषार्थसे प्राप्त कर ले और उसमेंसे दूसरे भाइयोंको भाग नहीं देना चाहे तो न देवे ॥ २०९ ॥

यत्पुनः पितृसम्बन्धि धनं तेनासामर्थ्येनोपेक्षितत्वादनवाप्तं पुत्रः स्वशक्त्या प्राप्नुयात्तत्स्वयमर्जितमनिच्छन्पुत्रैः सह न विभजेत् ॥ २०९ ॥

विभक्ताः सह जीवन्तो विभजेरन्पुनर्यदि ।
समस्तत्र विभागः स्याज्ज्यैष्ठ्यं तत्र न विद्यते ॥ २१० ॥

पहले कभी अलग हुए भाई पुनः सम्मिलित होकर एकत्र रहने लगे और फिर कभी अलग होना चाहे तो उस समय सब भाइयोंका समान भाग होता है, बड़े भाईका 'उद्धार' (९।११२–११५) अर्थात् अतिरिक्त भाग नहीं मिलता है ॥ २१० ॥

पूर्वं सोद्धारं निरुद्धारं वा विभक्ता भ्रातरः पश्चादेकीकृत्य धनं सह जीवन्तो यदि पुनर्विभागं कुर्वन्ति, तदा तत्र समो विभागः कार्यः । ज्येष्ठस्योद्धारो न देयः ॥ २१० ॥

येषां ज्येष्ठः कनिष्ठो वा हीयेतांशप्रदानतः ।
म्रियेतान्यतरो वापि तस्य भागो न लुप्यते ॥ २११ ॥

जिन भाइयोंमेंसे बड़ा या छोटा भाई (विदेश जाने या संन्यासी होने आदि के कारण) भागसे रहित हो जाय अर्थात् अपना भाग नहीं पावे या मर जाय तो उसके भागका लोप (नाश) नहीं होता है ॥ २११ ॥

येषां भ्रातॄणां मध्ये कश्चिद्विभागकाले प्रव्रज्यादिना स्वांशाद्धीयेन्मृतो वा भवेत्तस्य भागो न लुप्यते ॥ २११ ॥

किन्तु—

सोदर्या विभजेरंस्तं समेत्य सहिताः समम् ।
भ्रातरो ये च संसृष्टा भगिन्यश्च सनाभयः ॥ २१२ ॥

(किन्तु उसके पिता, माता, स्त्री या पुत्र नहीं हों तो) सब सहोदर भाई और बहनें तथा सपत्नी पुत्रों (सौतेले भाइयों) में से जो सम्मिलित रहते हों; सभी मिलकर उसके भागमें समान-समान भाग परस्परमें बाट लें ॥ २१२ ॥

सोदर्या भ्रातरः समागम्य सहिताः भगिन्यश्च सोदर्यास्तमंशं समं कृत्वा विभजेरन्सोदर्याणां सापत्न्यानामपि मध्याद्ये मिश्रीकृतधनत्वेनैकयोगक्षेमास्ते विभजेयुः समं सर्वे सोदर्या सापत्न्यो वा । एतच्च पुत्रपत्नीपितृमात्रभावे द्रष्टव्यम् ॥ २१२ ॥

यो ज्येष्ठो विनिकुर्वीत लोभाद् भ्रातॄन्यवीयसः ।
सोऽज्येष्ठः स्यादभागश्च नियन्तव्यश्च राजभिः ॥ २१३ ॥

जो ज्येष्ठ भाई लोभसे छोटे लोभाइयोंको ठगे (पिताके धनमें से उन्हें उचित भाग न दे या कम दे), वह ज्येष्ठ भाईके आदरको नहीं पाता, उसका 'उद्धार' (अतिरिक्त भाग–९।११२–११५) भी नहीं मिलता तथा वह राजाके द्वारा दण्डनीय होता है ॥ २१३ ॥

यो ज्येष्ठो भ्राता लोभात्कनीयसो भ्रातॄन्वञ्चयेत्स ज्येष्ठभ्रातृपूजाशून्यः सोद्धारभागरहितश्च राजदण्ड्यश्च स्यात् ॥ २१३ ॥

सर्व एव विकर्मस्था नार्हन्ति भ्रातरो धनम् ।
न चादत्त्वा कनिष्ठेभ्यो ज्येष्ठः कुर्वीत यौतकम् ॥ २१४ ॥

(पतित नहीं होनेपर भी) शास्त्रविरुद्ध कर्म (जुवा खेलना, मद्य पीना, वेश्या गमन करना आदि) करनेवाले सभी भाई पिताके धनके भागी (हकदार) नही होते हैं तथा ज्येष्ठ भाई छोटे भाइयोंके भागको विना पृथक् किये अपने लिए कुछ भी धन (पिताके धनमेंसे) नहीं लेवे ॥ २१४ ॥

अपतिता अपि ये भ्रातरो द्यूतवेश्यासेवादिविकर्मासक्तास्ते रिक्थं नार्हन्ति। न च कनिष्ठेभ्योऽननुकल्प्य ज्येष्ठः साधारणधनादात्मार्थमसाधारणधनं कुर्यात् ॥ २१४ ॥

भ्रातॄणामविभक्तानां यद्युत्थानं भवेत्सह।
न पुत्रभागं विषमं पिता दद्यात्कथञ्चन ॥ २१५ ॥

यदि सम्मिलित रहते हुए सब भाई साथमें ही धनोपार्जन करे तो पिता किसी प्रकार भी किसी पुत्रको अधिक भागको कदापि न देवे ॥ २१५ ॥

भ्रातॄणां पित्रा सहात्रस्थितानामविभक्तानां यदि सह धनार्जनार्थमुत्थानं भवेत्तदा विभागकाले न कस्यचित्पुत्रस्याधिकं पित्रा कदाचिद्दद्यात् ॥ २१५ ॥

ऊर्ध्वं विभागाज्जातस्तु पित्र्यमेव हरेद्धनम्।
संसृष्टास्तेन वा ये स्युर्विभजेत स तैः सह ॥ २१६ ॥

पिताके जीवित रहते हीं उन पुत्रोंकी इच्छासे उनमें धनका विभाजन (बटवारा) होनेपर यदि कोई पुत्र उत्पन्न हो तो वह पुत्र पिता के मरनेपर उसके धनका भागी होता है तथा यदि कुछ भाई विभाजन होनेपर भी पिताके साथ मिलकर रहने लगें तो बादमें उत्पन्न पुत्र पिताके मरनेपर उसके साथ मिलकर रहनेवाले भाइयोंके साथ सभी धनमें से समान भाग प्राप्त करता है ॥ २१६ ॥

यदा जीवतैव पित्रा पुत्राणामिच्छया विभागः कृतस्तदा विभागादूर्ध्वं जातः पुत्रः पितरि मृते पितृरिक्थमेव गृह्णीयात्। ये कृतविभागाः पित्रा सह पुनर्मिश्रीकृतधनास्तैः सहासौ पितरि मृते विभजेत् ॥ २१६ ॥

अनपत्यस्य पुत्रस्य माता दायमवाप्नुयात्।
मातर्यपि च वृत्तायां पितुर्माता हरेद्धनम् ॥ २१७ ॥

सन्तानहीन पुत्रके धनको माता लेवे तथा माता मर गयी हो तो पिताकी माता (दादी) लेवे ॥ २१७ ॥

अनपत्यस्य पुत्रस्य धनं माता गृह्णीयात्। पूर्वं "पिता हरेदपुत्रस्य रिक्थम्" (म. स्मृ. ९-१८५) इत्युक्तत्वात्, इह माता हरेदित्यादि याज्ञवल्क्येन "पितरौ" (या. स्मृ. २·१३५) इत्येकशेषकरणात्। विष्णुना च-"अपुत्रस्य धनं पत्न्यभिगामि तदभावे दुहितृगामि तदभावे पितृगामि" इत्येकशेषस्यैव कृतत्वात्, मातापितरौ विभज्य गृह्णीयाताम्। मातरि मृतायां पत्नीपितृभ्रातृभ्रातृजाभावे पितुर्माता धनं गृह्णीयात् ॥ २१७ ॥

ऋणे धने च सर्वस्मिन्प्रविभक्ते यथाविधि।
पश्चाद् दृश्येत यत्किंचित्तत्सर्वं समतां नयेत् ॥ २१८ ॥

पिताके धन तथा ऋणका विधिपूर्वक विभाजन (बटवारा) करनेके बाद यदि पिताका कोई धन या उसके द्वारा लिया हुआ ऋण शेष रह गया हो तो उसको सब भाई बराबर-बराबर बाँट लें (उस धनमेंसे ज्येष्ठ भाईको 'उद्धार' अर्थात् अतिरिक्त (९।११२-११५) नहीं मिलेगा ॥२१८॥

ऋणे पित्रादिधार्यमाणे धने च तदीये सर्वस्मिन्यथाशास्त्रं विभक्ते सति पश्चाद्यत्किञ्चित्पैतृकं ऋणं धनं वा विभागकालेऽज्ञातमुपलभ्येत तत्सर्वं समं कृत्वा विभजनीयम्, न तु शोध्यं ग्राह्यं न वा ज्येष्ठस्योद्धारो देयः ॥ २१८ ॥

वस्त्रं पत्रमलंकारं कृतान्नमुदकं स्त्रियः ।
योगक्षेमं प्रचारं च न विभाज्यं प्रचक्षते ॥ २१९ ॥

वस्त्र, वाहन, आभूषण पक्वान्न, जल (कूप आदि सार्वजनिक जलस्थान), स्त्रियां (दासियाँ), मन्त्री, पुरोहित आदि योगक्षेमसाधक मार्ग इनको (मनु आदि महर्षि) अविभाज्य मानते हैं ॥

वस्त्रं वाहनमाभरणमविभागकाले यद्येनोपभुक्तं तत्तस्यैव न विभाज्यम् । एतच्च नातिन्यूनाधिकमूल्यविषयम् । यत्तु बहुमूल्यमाभरणादिकं तद्विभाज्यमेव । तद्विषयमेव "विक्रीय वस्त्राभरणम्" इति बृहस्पतेर्विभागवचनम् । कृतान्नमोदनसक्त्वादि तन्न विभजनीयम् । तत्रातिप्रचुरतरमूल्यं सक्त्वादि तावन्मात्रमूल्यधनेन ।

"कृतान्नं चाकृतान्नेन परिवर्त्य विभज्यते ।"

इति बृहस्पतिवचनाद्विभजनीयमेव । उदकं कूपादिगतं सर्वैरुपभोग्यमविभजनीयम् । स्त्रियो दास्याद्या यास्तुल्यभागा न भवन्ति ता न विभाज्याः । किंतु तुल्यं कर्म कारयितव्याः । योगक्षेमं मन्त्रिपुरोहितादि योगक्षेमहेतुत्वात्, प्रचारो गवादीनां प्रचारमार्गः, एतत्सर्वं मन्वादयोऽविभाज्यमाहुः ॥ २१९ ॥

अयमुक्तो विभागो वः पुत्राणां च क्रियाविधिः ।
क्रमशः क्षेत्रजादीनां द्यूतधर्मं निबोधत ॥ २२० ॥

(महर्षि भृगुजी मुनियोंसे कहते हैं कि मैंने) आपलोगोंसे यह विभाजनका विधान तथा (क्षेत्रज आदि) पुत्रोंके भाग (हिस्से) का प्रकार क्रमशः कहा, अब आपलोग द्यूतकर्मको सुनिये ॥ २२० ॥

एष दायभागः पुत्राणां क्षेत्रजादीनां क्रमेण विभागकरणप्रकारो युष्माकमुक्तः । इदानीं द्यूतव्यवस्थां शृणुत ॥ २२० ॥

द्यूतं समाह्वयं चैव राजा राष्ट्रान्निवारयेत् ।
राजान्तकरणावेतौ द्वौ दोषौ पृथिवीक्षिताम् ॥ २२१ ॥

राजाको अपने राज्यसे द्यूत तथा समाह्वय (९।२२३) को दूर करना चाहिये, क्योंकि ये दोनों दोष राजाके राज्यको नष्ट करनेवाले हैं ॥ २२१ ॥

द्यूतसमाह्वयौ वक्ष्यमाणलक्षणौ राजा स्वराष्ट्रान्निवर्तयेत् । यस्मादेतौ द्वौ दोषौ राज्ञां राज्यविनाशकारिणौ ॥ २२१ ॥

प्रकाशमेतत्तास्कर्यं यद्‌ देवनसमाह्वयौ ।
तयोर्नित्यं प्रतीघाते नृपतिर्यत्नवान्भवेत् ॥ २२२ ॥

द्यूत तथा समाह्वय (९।२२३) ये दोनों ही प्रत्यक्षमें चोरी करना (डाका डालना) अत एव उनको रोकनेमें राजाको सर्वदा प्रयत्नशील रहना चाहिये ॥ २२२ ॥

प्रकटमेतच्चौर्यं यद्द्यूतसमाह्वयौ, तस्मात्तन्निवारणे राजा नित्यं यत्नयुक्तः स्यात् ॥२२२॥

अप्राणिभिर्यत्क्रियते तल्लोके द्यूतमुच्यते ।
प्राणिभिः क्रियते यस्तु स विज्ञेयः समाह्वयः ॥ २२३ ॥

बिना प्राणी (कौड़ी, पाशा, तास, तीर आदि की निशानेबाजी तथा सट्टा आदि) के द्वारा बाजी लगाकर खेलना 'द्यूत' (जुआ) तथा प्राणियों (मुर्गा, तीतर, बटेर आदि पक्षियों एवं भेड़ा आदिको

लड़ाकर कुत्ता, घोड़ा आदि दौड़ा कर-कुत्तारेस, घोड़ारेस आदि) के द्वारा बाजी लगाकर खेलना 'समाह्वय' कहलाता है ॥ २२३ ॥

अक्षशलाकादिरप्राणैर्यत्क्रियते तल्लोके द्यूतं कथ्यते । यः पुनः प्राणिभिर्मेषकुक्कुटादिभिः पणपूर्वकं क्रियते स समाह्वयो ज्ञेयः । लोकप्रसिद्धयोरप्यनयोर्लक्षणकथनं परिहारार्थम् ॥२२३॥

द्यूतं समाह्वयं चैव यः कुर्यात्कारयेत वा ।
तान्सर्वान्घातयेद्राजा शूद्रांश्च द्विजलिङ्गिनः ॥ २२४ ॥

जो मनुष्य द्यूत तथा समाह्वय (९।१२३) खेलें या खेलावें, उनको तथा यज्ञोपवीत आदि ब्राह्मणके चिह्नोंको धारण करनेवाले शूद्रोंको (राजा) हाथ आदि कटवाकर दण्डित करे ॥२२४॥

द्यूतसमाह्वयौ यः कुर्याद्यो वा सभिकः कारयेत्तेषामपराधापेक्षया राजा हस्तच्छेदादि वधं कुर्यात् । यज्ञोपवीतादिद्विजचिह्नधारिणः शूद्राह्वन्यात् ॥ २२४ ॥

कितवान्कुशीलवान्क्रूरान्पाषण्डस्थांश्च मानवान् ।
विकर्मस्थाञ्छौण्डिकांश्च क्षिप्रं निर्वासयेत्पुरात् ॥ २२५ ॥

जुआरियों (जुआ खेलने या खेलानेवाले), कुशीलवों (नाचने गानेवाले), वेद-शास्त्रके विरोधियों, पाखण्डियों (श्रुति स्मृतिमें अकथित व्रतादि धारण करनेवाले), आपत्तिकाल नहीं होने-पर भी दूसरोंकी जिविका करनेवाले और मद्य बनानेवाले मनुष्योंको राजा राज्यसे शीघ्र ही बाहर निकाल दे ॥ २२५ ॥

द्यूतादिसेविनो, नर्तकगायकान्, वेदविद्विषः, श्रुतिस्मृतिबाह्यव्रतधारिणः, अनापदि परकर्मजीविनः, शौण्डिकान्मद्यकरान्मनुष्यान् क्षिप्रं राजा राष्ट्रान्निर्वासयेदिति । कितवप्रसङ्गे-नान्येषामप्यभिधानम् ॥ २२५ ॥

अत्र हेतुमाह—

एते राष्ट्रे वर्तमाना राज्ञः प्रच्छन्नतस्कराः ।
विकर्मक्रियया नित्यं बाधन्ते भद्रिकाः प्रजाः ॥ २२६ ॥

राज्यमें रहनेवाले गुप्त चौर ये (पूर्व श्लोकोक्त कितव आदि) विरुद्धाचरणसे सज्जन प्रजाओंको पीडित करते रहते हैं ॥ २२६ ॥

एते कितवादयो गूढचौरा राष्ट्रे वसन्तो नित्यं वञ्चनात्मकक्रियया सज्जनान्पीडयन्ति ॥

द्यूतमेतत्पुरा कल्पे दृष्टं वैरकरं महत् ।
यस्माद्द्यूतं न सेवेत हास्यार्थमपि बुद्धिमान् ॥ २२७ ॥

(केवल इस समयमें ही नहीं, किन्तु) पूर्वकालमें भी यह द्यूत (जुआ) बड़ा विरोधकारक देखा गया है, इस कारण बुद्धिमान् मनुष्य हंसी-मजाकके लिए भी द्यूतका सेवन न करे ॥२२७॥

नेदानीमेव परं किन्तु पूर्वस्मिन्नपि कल्पे द्यूतमेतदतिशयेन वैरकरं दृष्टम् । अतः प्राज्ञः परिहासार्थमपि तन्न सेवेत ॥ २२७ ॥

प्रच्छन्नं वा प्रकाशं वा तन्निषेवेत यो नरः ।
तस्य दण्डविकल्पः स्याद्यथेष्टं नृपतेस्तथा ॥ २२८ ॥

जो छिपकर या प्रकट रूपमें द्यूत (जुआ) खेलता है, उसके लिए राजाकी जैसी इच्छा होती है, उसीके अनुसार दण्ड होता है ॥ २२८ ॥

यो मनुष्यस्तद् द्यूतं गूढं प्रकटं वा कृत्वा सेवेत तस्य यथा नृपतेरिच्छा भवति तथाविधो दण्डो भवति ॥ २२८ ॥

इदानीं पराजितानां धनाभावे सतीदमाह—

क्षत्रविट्शूद्रयोनिस्तु दण्डं दातुमशक्नुवन् ।
आनृण्यं कर्मणा गच्छेद्विप्रो दद्याच्छनैः शनैः ॥ २२९ ॥

राजाके द्वारा दण्डित क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र दण्डद्रव्य (जुर्माना) देनेमें असमर्थ हों तो राजा उनसे काम कराकर दण्डद्रव्यकी पूर्ति (वसूली) करे और ब्राह्मण यदि दण्डद्रव्य देनेमें असमर्थ हो तो राजा उससे धीरे-धीरे दण्डद्रव्य (जुर्माना) को ग्रहण करे (किन्तु ब्राह्मणसे काम कराकर पूर्ति न करावे) ॥ २२९ ॥

क्षत्रवैश्यशूद्रजातीयो निर्धनत्वेन दण्डं दातुमसमर्थस्तदुचितकर्मकरणेन दण्डशोधनं कुर्यात् । ब्राह्मणः पुनर्यथालाभं क्रमेण दद्यान्न कर्म कारयितव्यः ॥ २२९ ॥

स्त्रीबालोन्मत्तवृद्धानां दरिद्राणां च रोगिणाम् ।
शिफाविदलरज्ज्वाद्यैर्विदध्यान्नृपतिर्दमम् ॥ २३० ॥

स्त्री, बालक, उन्मत्त (पागल), वृद्ध, दरिद्र और रोगी मनुष्योंको पेड़ोंकी (जड़) या बांससे मारकर या रस्सीसे बांधकर राजा दण्डित करे (इनपर अर्थदण्ड अर्थात् जुर्माना न करे ॥ २३० ॥

स्त्रीबालादीनां पुनः शिफावेणुदलप्रहाररज्जुबन्धनादिभिर्दमनं राजा कुर्यात् ॥ २३० ॥

ये नियुक्तास्तु कार्येषु हन्युः कार्याणि कार्यिणाम् ।
धनोष्मणा पच्यमानास्तान्निःस्वान्कारयेन्नृपः ॥ २३१ ॥

राजाके द्वारा कार्यमें नियुक्त जो राजाधिकारी पुरुष घूस आदिके धनकी गर्मी (घमण्ड) से कार्यको नष्ट कर दें तो राजा उनकी सम्पत्तिको अपने अधीन कर ले ॥ २३१ ॥

ये व्यवहारावेक्षणादिषु कार्येषु राज्ञा नियुक्ता उत्कोचधनतेजसा विकारं भजन्तः स्वाम्यादीनां कार्यं नाशयेयुस्तान्गृहीतसर्वस्वान् राजा कारयेत् ॥ २३१ ॥

कूटशासनकर्तॄंश्च प्रकृतीनां च दूषकान् ।
स्त्रीबालब्राह्मणघ्नांश्च हन्याद् द्विट्सेविनस्तथा ॥ २३२ ॥

कपटपूर्वक राजाज्ञा लिखनेवाले, प्रकृति (मन्त्री, सेनापति आदि राजपरिजनों) को फोड़नेवाले तथा स्त्री, बालक और ब्राह्मणोंकी हत्या करनेवालों एवं शत्रुका सेवन करनेवालोंका वधकरके दण्डित करे ॥ २३२ ॥

कूटराजाज्ञालेखकान् अमात्यानां च भेदकान्, स्त्रीबालब्राह्मणघातिनः शत्रुसेविनश्च राजा हन्यात् ॥ २३२ ॥

तीरितं चानुशिष्टं च यत्र क्वचन यद्भवेत् ।
कृतं तद्धर्मतो विद्यान्न तद्भूयो निवर्तयेत् ॥ २३३ ॥
[तीरितं चानुशिष्टं च यो मन्येत विकर्मणा ।
द्विगुणं दण्डमास्थाय तत्कार्यं पुनरुद्धरेत् ॥ ६ ॥]

जिस किसी व्यवहार (मुकदमे) में जो शास्त्रव्यवस्थाके अनुसार निर्णीत कर लिया गया हो, और जो दण्डविधान कर दिया गया हो, उसे धर्मपूर्वक किया हुआ जानना चाहिये और उसमें

(निष्कारण) परिवर्तन नहीं करना चाहिये (तथा किसी कारण-विशेषके होनेपर तो परिवर्तन भी करना ही चाहिये ॥ २३३ ॥

[जिस किसी व्यवहार (मुकदमे) में निर्णय कर लिया गया हो और दण्ड भी कर दिया गया हो, किन्तु राजा उसे न्याययुक्त नहीं समझे तो अधिकारियोंको दुगुना दण्डित करके उस कार्यको फिरसे देखें ॥ ६ ॥]

यत्र क्वचिदृणादानादिव्यवहारे यत्कार्यं धर्मतस्तीरितम् । "पार तीर कर्मसमाप्तौ" इति चुरादौ पठ्यते । शास्त्रव्यवस्थानिर्णीतम् । अनुशिष्टं दण्डपर्यन्ततां च नीतं स्यात्तत्कृतमङ्गीकुर्यान्न पुनर्निवर्तयेत् । एतच्चाकारणात् । अतः कारणकृतं निवर्तयेदेव ॥ २३३ ॥

अमात्याः प्राड्विवाको वा यत्कुर्युः कार्यमन्यथा ।
तत्स्वयं नृपतिः कुर्यात्तान्सहस्रं च दण्डयेत् ॥ २३४ ॥

मन्त्री या न्यायाधीश (जज आदि राजाधिकारी) जिस कार्यको ठीक (न्यायपूर्वक) किये हों, उस कार्यको राजा स्वयं करे और उन्हें सहस्र पण (८।१३६) से दण्डित नहीं करे ॥ २३४ ॥

राजामात्याः प्राड्विवाको वा व्यवहारेक्षणे नियुक्तो यदसम्यग्व्यवहारनिर्णयं कुर्युस्तत्स्वयं राजा कुर्यात्पणसहस्रं च तान्दण्डयेत् । इदं चोत्कोचधनग्रहणेतरविषयम् । उत्कोचग्रहणे "नियुक्तास्तु" (म. स्मृ. ९-२३१) इत्युक्तत्वात् ॥ २३४ ॥

ब्रह्महा च सुरापश्च स्तेयी च गुरुतल्पगः ।
एते सर्वे पृथग्ज्ञेया महापातकिनो नराः ॥ २३५ ॥

(१) ब्राह्मणकी हत्या करनेवाला, (२) मद्य पीनेवाला ("पैष्टी' मद्य को पीनेवाला) द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य) और "पैष्टी-माध्वी-गौडी' (क्रमशः आटा, महुआ तथा गुड़से बने हुए) मद्यको पीनेवाला ब्राह्मण, (३) (ब्राह्मणके सुवर्णको) चुरानेवाला एवं (४) गुरुपत्नीके साथ सम्भोग करनेवाला और पृथक्-पृथक् कर्म करनेवाले इन सबको महापातकी जानना चाहिये ॥ २३५ ॥

यो मनुष्यो ब्राह्मणं हतवान्स ब्रह्महा, सुरापो द्विजातिः पैष्ट्याः पाता ब्राह्मणश्च पैष्टीमाध्वीगौडीनां, तस्करो ब्राह्मणसुवर्णहारी मनुष्यः, यश्च कश्चिद् गुरुपत्नीगामीत्येते सर्वे प्रत्येकं महापातकिनो बोद्धव्याः ॥ २३५ ॥

चतुर्णामपि चैतेषां प्रायश्चित्तमकुर्वताम् ।
शारीरं धनसंयुक्तं दण्डं धर्म्यं प्रकल्पयेत् ॥ २३६ ॥

राजा प्रायश्चित्त नहीं करनेवाले इन चारों प्रकारके महापातकियोंको शारीरिक तथा अपराधानुसार आर्थिक दण्डसे धर्मानुसार (आगे (९।२३७-२४०) कहे गये दण्डसे) दण्डित करे ॥ २३६ ॥

चतुर्णामप्येषां महापातकिनां प्रायश्चित्तमकुर्वतां शारीरं धनग्रहणेन च धनसम्बन्धमपराधानुसारेण धर्मादनपेतं वक्ष्यमाणं दण्डं कुर्यात् ॥ २३६ ॥

गुरुतल्पे भगः कार्यः सुरापाने सुराध्वजः ।
स्तेये च श्वपदं कार्यं ब्रह्महण्यशिराः पुमान् ॥ २३७ ॥

गुरुपत्नीके साथ सम्भोग करनेवाले (के ललाट) में भगका चिह्न, मद्य पीनेवाले (के ललाट) में सुरापात्रका चिह्न, ब्राह्मणके सुवर्णको चुरानेवाला (के ललाट) में कुत्तेके पैरका चिह्न तथा ब्राह्मणकी हत्या करनेवाले (के ललाट) में शिरकटे मनुष्यका चिह्न (तपाये हुए लोहेसे) करा देवे ॥ २३७ ॥

"नाङ्क्या राज्ञा ललाटे स्युः" (म० स्मृ० ९-२४०) इति वक्ष्यमाणत्वाल्ललाटमेवाङ्कनस्थानमवगम्यते। तत्र गुरुपत्नीगमने यावज्जीवस्थायि तप्तलोहेन ललाटे भगाकृति गुरुपत्नीगमनचिह्नं कार्यम् , एवं सुरापाने कृते पात्रुर्दीर्घं सुराध्वजाकारं, सुवर्णापहारे सत्यपहर्तुः कुक्कुरपादरूपं कार्यम्। ब्रह्महणि कबन्धः पुमान्कर्तव्यः ॥ २३७ ॥

असम्भोज्या ह्यसंयाज्या असंपाठ्याऽविवाहिनः।
चरेयुः पृथिवीं दीनाः सर्वधर्मबहिष्कृताः ॥ २३८ ॥

ये चतुर्विध (९।२३५) महापातकी) असम्भोज्य (अन्न आदि खिलोनेके अयोग्य), असंयाज्य (यज्ञादि सत्कर्म करानेके अयोग्य), असम्पाठ्य (पढ़ानेके अयोग्य), अविवाह्य (विवाहके अयोग्य) समस्त धर्म—(कार्यों) से बहिष्कृत एवं दीन होकर पृथ्वीपर घूमा करें ॥ २३८ ॥

अन्नादिकं नैते भोजयितव्याः,न चैते याजनीयाः, नाप्येतेऽध्यापनीयाः, नाप्येतैः कन्यादानसम्बन्धः कर्तव्यः। एते च निर्धनत्वाद्याचनादिदैन्ययुक्ताः सर्वश्रौतादिकर्मवर्जिताः पृथिवीं पर्यटेयुः ॥ २३८ ॥

ज्ञातिसम्बन्धिभिस्त्वेते त्यक्तव्याः कृतलक्षणाः।
निर्दया निर्नमस्कारास्तन्मनोरनुशासनम् ॥ २३९ ॥

उक्त (९।२३७) चिह्नोंसे चिह्नित ये जातिवालों तथा (मामा आदि) सम्बन्धियोंसे त्याज्य हैं, दयाके अयोग्य है और नमस्कारके अयोग्य हैं; ऐसा मनुका आदेश है ॥ २३९ ॥

ज्ञातिभिः सम्बन्धिभिर्मातुलाद्यैरेते कृताङ्कास्त्यजनीयाः न चैषां दया कार्या, नाप्येते नमस्कार्या इतीयं मनोराज्ञा ॥ २३९ ॥

प्रायश्चित्तं तु कुर्वाणाः सर्ववर्णा यथोदितम्।
नाङ्क्या राज्ञा ललाटे स्युर्दाप्यास्तूत्तमसाहसम् ॥ २४० ॥

शास्त्रोक्त प्रायश्चित्त करनेवाले इन सब वर्णोंके ललाटमें राजा (तपाये लोहेसे) चिह्न न करे, किन्तु उत्तम साहस (८।१३८–१००० पणों) से दण्डित करे ॥ २४० ॥

शास्त्रविहितं प्रायश्चित्तं पुनः कुर्वाणा ब्राह्मणादयस्त्रयोवर्णा राज्ञा ललाटेऽङ्कनीया न भवेयुः। उत्तमसाहसं पुनर्दण्डनीयाः ॥ २४० ॥

आगःसु ब्राह्मणस्यैव कार्यो मध्यमसाहसः।
विवास्यो वा भवेद्राष्ट्रात्सद्रव्यः सपरिच्छदः ॥ २४१ ॥

इन (९।२३५) अपराधोंको अकामपूर्वक करनेवाले गुणवान् ब्राह्मणको मध्यम साहस (५०० पण) से दण्डित करना चाहिये तथा सकाम होकर करनेपर धन-धान्यादिके सम्पत्ति तथा साधनोंके साथ देशसे निकाल देना चाहिये ॥ २४१ ॥

"इतरे कृतवन्तस्तु" इत्युत्तरश्लोके श्रूयमाणम् "अकामतः" (म०स्मृ० ९-२४२) इति चात्रापि योजनीयम्। तेनाकामत इत्येतेष्वपराधेषु गुणवतो ब्राह्मणस्य मध्यमसाहसो दण्डः कार्यः। पूर्वोक्तस्तूत्तमसाहसो निर्गुणस्य द्रष्टव्यः। कामतस्तेष्वपराधेषु धनधान्यादिपरिच्छदसहितो ब्राह्मणो देशान्निर्वास्यः ॥ २४१ ॥

इतरे कृतवन्तस्तु पापान्येतान्यकामतः ।
सर्वस्वहारमर्हन्ति कामतस्तु प्रवासनम् ॥ २४२ ॥

अकामपूर्वक इन (९।२३५) अपराधोंको करनेवाले क्षेत्रियों, वैश्यों व शूद्रोंको सर्वस्व हरणकर दण्डित करे तथा कामपूर्वक अपराध करनेवाले इनको वधरूप दण्ड दे ॥ २४२ ॥

ब्राह्मणाद्न्ये पुनः क्षत्रियादय एतानि पापान्यनिच्छन्तः कृतवन्तः सर्वस्वहरणमर्हन्ति। इदं च सर्वस्वहरणं पूर्वोक्तेनोत्तमसाहसेन वृत्यपेक्षया व्यवस्थापनीयम्। इच्छया पुनरेषामेतेष्वपराधेषु प्रवासनं वधोऽर्हति ।

"प्रवासनं परासनं निपूदनं निर्हिंसनम्" (अ० को० २-८-११३)

इति वधपर्यायं प्रवासनशब्दं पठन्त्याभिधानिकाः ॥ २४२ ॥

नाददीत नृपः साधुर्महापातकिनो धनम् ।
आददानस्तु तल्लोभात्तेन दोषेण लिप्यते ॥ २४३ ॥

धर्मात्मा राजा महापातकियों (९।२३५) के धनको नहीं ग्रहण करे, लोभसे उनके धनको ग्रहण करता हुआ राजा उस (महापातक) दोषसे युक्त होता है ॥ २४३ ॥

धार्मिको राजा महापातकसम्बन्धि धनं दण्डरूपं न गृह्णीयात्। लोभात्पुनस्तद् गृह्णन्महापातकदोषेण संयुज्यते ॥ २४३ ॥

का तर्हि दत्तधनस्य प्रतिपत्तिरित्येतदर्थमाह—

अप्सु प्रवेश्य तं दण्डं वरुणायोपपादयेत् ।
श्रुतवृत्तोपपन्ने वा ब्राह्मणे प्रतिपादयेत् ॥ २४४ ॥

(अत एव) राजा उन महापातकियोंसे लिये गये धनको पानीमें डालकर वरुणके लिए दे देवे, अथवा शास्त्र तथा सदाचारसे युक्त विद्वान् ब्राह्मणके लिए दे देवे ॥ २४४ ॥

तद् दण्डधनं नद्यादिजले प्रक्षिपेद्वरुणाय दद्याच्छ्रुतवृत्तसम्पन्नब्राह्मणाय वा दद्यात् ॥२४४॥

ईशो दण्डस्य वरुणो राज्ञां दण्डधरो हि सः ।
ईशः सर्वस्य जगतो ब्राह्मणो वेदपारगः ॥ २४५ ॥

क्योंकि महापातकियों (९।२३५) के अर्थदण्डको ग्रहण करनेवाला स्वामी वरुण है, अत एव वही राजाओंके भी अर्थदण्डको ग्रहण करनेवाला है तथा वेदपारङ्गत (एवं सदाचारी) ब्राह्मण सम्पूर्ण संसारका स्वामी है, (इस कारण उन महापातियोंके धन को) वे ही दोनों (वरुण या वेदपारङ्गत सदाचारी ब्राह्मण ही) ग्रहण करनेके अधिकारी हैं ॥ २४५ ॥

महापातकिदण्डधनस्य वरुणः स्वामी यस्माद्राज्ञामपि दण्डधारित्वात्प्रभुः। तथा ब्राह्मणः समस्तवेदाध्यायी सर्वस्य जगतः प्रभुः। अतः प्रभुत्वात्तौ दण्डधनमर्हतः ॥ २४५ ॥

यत्र वर्जयते राजा पापकृद्भ्यो धनागमम् ।
तत्र कालेन जायन्ते मानवा दीर्घजीविनः ॥ २४६ ॥
निष्पद्यन्ते च सस्यानि यथोप्तानि विशां पृथक् ।
बालाश्च न प्रमीयन्ते विकृतं न च जायते ॥ २४७ ॥

जिस राज्यमें राजा महापातकियों (९।२३५) के धनको दण्डरूपमें भी नहीं लेता है (अपितु 'अप्सु प्रवेश्य...... (९।२४४)' के अनुसार पानीमें डाल देता या सदाचार-सम्पन्न वेदपारगामी

ब्राह्मण के लिए दे देता है), उस राज्य में यथासमय मनुष्य उत्पन्न होते हैं, वे दीर्घजीवी होते हैं ॥ २४६ ॥

वैश्यों (कृषकों) के द्वारा खेतोंमें बोये गये बीज यथावत् पृथक्—पृथक् उत्पन्न होते हैं, (अकालमें) बालक नहीं मरते हैं और कोई प्राणी विकृत (किसी अङ्गसे हीन या विकारयुक्त) नहीं उत्पन्न होता है ॥ २४७ ॥

यत्र देशे प्रकृतं महापातकिधनं राजा न गृह्णाति तत्र परिपूर्णेन कालेन मनुष्या उत्पद्यन्ते, दीर्घायुषश्च भवन्ति। वैश्यानां च यथैव धान्यादिसस्यान्युप्तानि तथैव पृथक् पृथक् जायन्ते। अकाले न बाला म्रियन्ते। दीर्घंजीविन इत्युक्तेऽप्यादरार्थं बालानां पुनर्वचनम्। व्यङ्गं च न किंचिद् भूतमुत्पद्यते ॥ २४६–२४७ ॥

ब्राह्मणान्बाधमानं तु कामादवरवर्णजम्।
हन्याच्चित्रैर्वधोपायैरुद्वेजनकरैर्नृपः ॥ २४८ ॥

जान-बूझकर (शरीर-पीडा तथा धन आदि चुराकर) ब्राह्मणको पीडित करनेवाले शूद्रको राजा उद्वेगकारक विचित्र वधों (हाथ-पैर आदिको काटने) से मार डाले ॥ २४८ ॥

शरीरपीडाधनग्रहणादिना शूद्रमिच्छातो ब्राह्मणान्बाधमानं छेदादिभिरुद्वेगकरैर्वधोपायैर्नृपो हन्यात् ॥ २४८ ॥

यावानवध्यस्य वधे तावान्वध्यस्य मोक्षणे।
अधर्मो नृपतेर्दृष्टो धर्मस्तु विनियच्छतः ॥ २४९ ॥

अवध्य (नहीं मारने योग्य) को वध करनेमें जितना अधर्म होता है, उतना ही अधर्म (अपराधके कारण) वध करने योग्य व्यक्तिको छोड़नेमें राजाको होता है और शास्त्रानुसार दण्डित करनेवाले राजाका धर्म देखा जाता है (अतः राजा दण्डनीय व्यक्तिको अवश्य दण्डित करे) ॥ २४९ ॥

अवध्यस्य वधे यावानधर्मो नृपतेः शास्त्रेण ज्ञातस्तावानेव वध्यस्य त्यागेऽपि। यथाशास्त्रं दण्डं तु कुर्वतो धर्मः स्यात्तस्मात्तं कुर्यात् ॥ २४९ ॥

उदितोऽयं विस्तरशो मिथो विवदमानयोः।
अष्टादशसु मार्गेषु व्यवहारस्य निर्णयः ॥ २५० ॥

(महामुनि भृगुजी मुनियोंसे कहते हैं कि —मैंने) परस्परमें विवाद करते हुए वादी तथा प्रतिवादियों (मुद्दई तथा मुद्दालहों) के अट्ठारह प्रकारके (८।४–७) विवादोंमें व्यवहार (मुकदमे) के निर्णयको विस्तारपूर्वक कहा ॥ २५० ॥

अष्टादशसु ऋणादानादिषु व्यवहारपदेषु परस्परं विवदमानयोरर्थिप्रत्यर्थिनोः कार्यनिर्णयोऽयं विस्तरेणोक्तः ॥ २५० ॥

एवं धर्म्याणि कार्याणि सम्यक्कुर्वन्महीपतिः।
देशानलब्धांल्लिप्सेत लब्धांश्च परिपालयेत् ॥ २५१ ॥

धर्मयुक्त कार्योंको इस प्रकार अच्छी तरह करता हुआ राजा अप्राप्त देशोंको प्राप्त करनेकी इच्छा करे तथा प्राप्त हुए देशोंका यथावत् पालन करे ॥ २५१ ॥

अनेनोक्तप्रकारेण धर्मादनपेतान् व्यवहारान् निर्णयन् राजा जनानुरागादलब्धान्देशांल्लब्धुमिच्छेल्लब्धांश्च सम्यक्पालयेत्। एवं सम्यग्व्यवहारदर्शनस्यालब्धप्रदेशप्राप्त्यर्थत्वमुक्तम् ॥ २५१ ॥

सम्यङ् निविष्टदेशस्तु कृतदुर्गश्च शास्त्रतः ।
कण्टकोद्धरणे नित्यमातिष्ठेद्यत्नमुत्तमम् ॥ २५२ ॥

राजा पूर्व (७।६९) कथित सस्यादि-सम्पन्न देशका आश्रयकर वहाँ दुर्ग (७।७० में वर्णित दुर्गोंमें से किसी एक प्रकारका दुर्ग = किला) बनवाकर कण्टकों (चोरों, तथा साहस कर्म करनेवाले अर्थात् आग लगाने वाले, डाँका डालनेवाले आदि व्यक्तियों) को दूर करनेमें सर्वदा अच्छी तरह प्रयत्न करता रहे ॥ २५२ ॥

"जाङ्गलं सस्यसम्पन्नम्" (म. स्मृ. ७-६९) इत्युक्तरीत्या सम्यगाश्रितदेशस्तत्र सप्तमाध्यायोक्तप्रकारेण कृतदुर्गश्चौरसाहसिकादिकण्टकनिराकरणे प्रकृष्टं यत्नं सदा कुर्यात् ॥ २५२ ॥

रक्षणादार्यवृत्तानां कण्टकानां च शोधनात् ।
नरेन्द्रास्त्रिदिवं यान्ति प्रजापालनतत्पराः ॥ २५३ ॥

सदाचारियोंकी रक्षा तथा कण्टकों (चोरों तथा साहस कर्म करनेवालों-आग लगानेवालों या डाँका डालनेवालों आदि) के शोधन (दण्डितकर नष्ट) करनेसे प्रजापालनमें तत्पर राजा (मरने पर) स्वर्गको जाते है (अत एव आर्यरक्षण तथा कण्टकशोधनमें राजाको प्रयत्नशील रहना चाहिये) ॥ २५३ ॥

यस्मात्साध्वाचाराणां रक्षणाच्चोरादीनां च शासनात्प्रजापालनोद्युक्ता राजानः स्वर्गं गच्छन्ति । तस्मात्कण्टकोद्धरणे यत्नं कुर्यात् ॥ २५३ ॥

अशासंस्तस्करान्यस्तु बलिं गृह्णाति पार्थिवः ।
तस्य प्रक्षुभ्यते राष्ट्रं स्वर्गाच्च परिहीयते ॥ २५४ ॥

जो राजा चौर आदिका शासन नहीं करता हुआ, प्रजाओंसे कर (राजग्राह्य भाग-विशेष-टैक्स) लेता है, उसके राज्यमें निवास करनेवाले लोग क्रुद्ध हो जाते हैं तथा वह राजा स्वर्ग पाने के अधिकारसे हीन हो जाता है ॥ २५४ ॥

यथा पुनर्नृपतिश्चौरादीननिराकुर्वन् षड्भागाद्युक्तं करं गृह्णाति तस्मै राष्ट्रवासिनो जनाः कुप्यन्ति । कर्मान्तरार्जिताप्यस्य स्वर्गप्राप्तिरनेन दुष्कृतेन प्रतिबध्यते ॥ २५४ ॥

निर्भयं तु भवेद्यस्य राष्ट्रं बाहुबलाश्रितम् ।
तस्य तद्वर्धते नित्यं सिच्यमान इव द्रुमः ॥ २५५ ॥

जिस राजाके बाहुबलके आश्रयसे राज्य (चोर आदिसे) निर्भय होता है, उस राजाका राज्य सींचे गये वृक्षके समान वृद्धि को पाता है ॥ २५५ ॥

यस्य राज्ञो बाहुवीर्याश्रयेण राष्ट्रं चौरादिभयरहितं भवति तस्य नित्यं तद् वृद्धिं गच्छति । उदकसेकेनेव वृक्षः ॥ २५५ ॥

द्विविधांस्तस्करान्विद्यात्परद्रव्यापहारकान् ।
प्रकाशांश्चाप्रकाशांश्च चारचक्षुर्महीपतिः ॥ २५६ ॥

(गुप्तचरोंके द्वारा सब काम देखनेसे) चारचक्षुष (गुप्तचर ही हैं नेत्र जिसके ऐसा) राजा गुप्त (छिपकर) तथा प्रकाश (प्रकट रूपमें) दुसरोंके धन को चुरानेवाले दो प्रकारके चोरोंको मालूम करे ॥ २५६ ॥

चार एव चौरज्ञानहेतुत्वाच्चक्षुरिव यस्यासौ राजा, चारैरेव प्रकटतया गूढतया द्विप्रकाराञ्न्यायेन परधनग्राहिणो जानीयात् ॥ २५६ ॥

प्रकाशवञ्चकास्तेषां नानापण्योपजीविनः।
प्रच्छन्नवञ्चकास्त्वेते ये स्तेनाटविकादयः ॥ २५७ ॥

उन दो प्रकारके चोरोंमेंसे मूल्य तथा तौल या नापमें लोगोंके देखते-देखते सोना, कपड़ा आदि बेचते समय ठगनेवाले प्रथम (प्रत्यक्ष) चोर हैं, तथा सेंध डालकर या जङ्गल आदिमें छिप कर रहते हुए दूसरोंके धनको चुरानेवाले द्वितीय (परोक्ष) चोर हैं ॥ २५७ ॥

तेषां पुनश्चौरादीनां मध्याद्ये तुलाप्रतिमानलोष्टचयादिना हिरण्यादिपण्यविक्रयिणः परधनमनुचितेन गृह्णन्ति ते प्रकाशवञ्चकाः स्तेनाश्चौराः सन्धिच्छेदादिना गुप्ताटव्याश्रयाश्च परधनं गृह्णन्ति ते प्रच्छन्नवञ्चकाः ॥ २५७ ॥

किंच—

उत्कोचकाश्चौपधिका वञ्चकाः कितवास्तथा।
मङ्गलादेशवृत्ताश्च भद्राश्चेक्षणिकैः सह ॥ २५८ ॥
असम्यक्कारिणश्चैव महामात्राश्चिकित्सकाः।
शिल्पोपचारयुक्ताश्च निपुणाः पण्ययोषितः ॥ २५९ ॥

(और) घूसखोर, डराकर धन लेनेवाले ठग, जुआरी (९।२२३ में वर्णित द्यूत या समाह्वयसे धन लेनेवाले) धन या पुत्रादिके लाभ होनेकी असत्य बातें कहकर लोगोंसे धन लेनेवाले, उत्तम (साधु, संन्यासी आदि) का वेष धारण कर अपने दूषित कर्मको छिपाकर लोगोंसे धन लेनेवाले, हस्तरेखा आदिको देखकर नहीं जानते हुए भी फलको बतलाकर धन लेनेवाले ॥ २५८ ॥

अशिक्षित हाथीवान् , अशिक्षित चिकित्सक (वैद्य डाक्टर, हकीम), चित्रकार आदि शिल्पी, परद्रव्यापहरणमें चतुर वेश्या ॥ २५९ ॥

एवमादीन्विजानीयात्प्रकाशाँल्लोककण्टकान्।
निगूढचारिणश्चान्याननार्यानार्यलिङ्गिनः ॥ २६० ॥

इन्हें तथा इस प्रकारके अन्य लोगोंको तथा ब्राह्मणादिका वेष धारणकर गुप्त रूपसे जनताको ठगनेवाले शूद्र आदिको प्रत्यक्ष कण्टक (प्रकटरूपमें चोर) जानना चाहिये ॥ २६० ॥

उत्कोचका ये कार्यिभ्यो धनं गृहीत्वा कार्यमयुक्तं कुर्वन्ति। औपधिका भयदर्शनाद्ये धनमुपजीवन्ति। वञ्चका ये सुवर्णादि द्रव्यं गृहीत्वा परद्रव्यप्रक्षेपेण वञ्चयन्ति। कितवा द्यूतसमाह्वयदेविनः। धनपुत्रलाभादिमङ्गलमादिश्य ते वर्तन्ते ते मङ्गलदेशवृत्ताः। भद्राः कल्याणाकारप्रच्छन्नपापा ये धनग्राहिणः। ईक्षणिका हस्तरेखाद्यवलोकनेन शुभाशुभफलकथनजीविनः। महामात्रा हस्तिशिक्षाजीविनः चिकित्सकाश्चिकित्साजीविनः। असम्यक्कारिण इति महामात्रचिकित्सकविशेषणम्। शिल्पोपचारयुक्ताश्चित्रलेखाद्युपायजीविनः तेऽप्यनुपजीव्यमानशिल्पोपायप्रोत्साहनेन धनं गृह्णन्ति। पण्यस्त्रियश्च परवशीकरणकुशला इत्येवमादीन्प्रकाशं लोकवञ्चकांश्चारैर्जानीयात्। अन्यानपि प्रच्छन्नचारिणः शूद्रादीन्ब्राह्मणादिवेषधारिणो धनग्राहिणो जानीयात् ॥ २५८-२६० ॥

तान्विदित्वा सुचरितैर्गूढैस्तत्कर्मकारिभिः।
चारैश्चानेकसंस्थानैः प्रोत्साद्य वशमानयेत् ॥ २६१ ॥

उन्हींके कर्मों को करनेवाले, गुप्त, सदाचारी एवं विविध वेष धारण किये हुए दूतों (७।६३-६४) से उन वञ्चकों (ठगों) को मालूम करके उनका शासनकर उन्हें वशमें करे ॥ २६१ ॥

तानुक्तान्वञ्चकान्सभ्यैः प्रच्छन्नैस्तत्कर्मकारिभिर्वणिजां स्तेये वणिग्भिरित्येवमादिभिः पुरुषैरेतद्व्यतिरिक्तैः सप्तमाध्यायोपदिष्टकापटिकादिभिश्चारैरनेकस्थानस्थैर्ज्ञात्वा प्रोत्साद्य स्ववशान्कुर्यात् ॥ २६१ ॥

तेषां दोषानभिख्याप्य स्वे स्वे कर्मणि तत्त्वतः ।
कुर्वीत शासनं राजा सम्यक्सारापराधतः ॥ २६२ ॥

राजा उन वञ्चकों (प्रत्यक्ष या परोक्ष चोरों) के जो गुप्त या प्रत्यक्षकृत अपराध हों, उन्हें सबके सामने कहकर उनके अपराध, शरीर एवं धनके अनुसार उनको दण्डित करे ॥ २६२ ॥

तेषां प्रकाशाप्रकाशतस्कराणां स्वकर्मणि चौर्यादौ ये पारमार्थिका दोषाः संधिच्छेदादयस्ताँल्लोके प्रख्याप्य तद्गतधनशरीरादिसामर्थ्यापेक्षयाऽपराधापेक्षया च राजा दण्डं कुर्यात् ॥ २६२ ॥

न हि दण्डादृते शक्यः कर्तुं पापविनिग्रहः ।
स्तेनानां पापबुद्धीनां निभृतं चरतां क्षितौ ॥ २६३ ॥

इन चोरों, पापबुद्धियों तथा गुप्तरूपसे विचरण करनेवालोंका पाप विना दण्डित किये नहीं रोका जा सकता है (अत एव इन्हें दण्डित करना राजाका धर्म है) ॥ २६३ ॥

यस्माच्चौराणां पापाचरणबुद्धीनां विनीतवेषेण पृथिव्यां चरतां दण्डव्यतिरेकेण पापक्रियायां नियमं कर्तुमशक्यमत एषां दण्डं कुर्यात् ॥ २६३ ॥

सभाप्रपापूपशालावेशमद्यान्नविक्रयाः ।
चतुष्पथाश्चैत्यवृक्षाः समाजाः प्रेक्षणानि च ॥ २६४ ॥
जीर्णोद्यानान्यरण्यानि कारुकावेशनानि च ।
शून्यानि चाप्यगाराणि वनान्युपवनानि च ॥ २६५ ॥
एवंविधान्नृपो देशान्गुल्मैः स्थावरजङ्गमैः ।
तस्करप्रतिषेधार्थं चारैश्चाप्यनुचारयेत् ॥ २६६ ॥

सभास्थान, प्याऊ (पौसरा), पूआ-पूड़ी आदि बेचनेकी दूकान (होटल आदि), गल्लेकी दूकान, चौरास्ता, मन्दिर, बड़े-बड़े प्रसिद्ध वृक्षोंकी जड़ (के नीचे का भाग), अनेक लोगोंके एकत्रित होनेका स्थान, प्रदर्शनी आदि दर्शनीय स्थान ॥ २६४ ॥

पुराने उद्यान, जङ्गल, शिल्पियों (विविध प्रकारके कारीगरों–चित्रकार आदि) के घर, सूने घर, बन, फुलवारी ॥ २६५ ॥

ऐसे गुप्त स्थानोंमें घूमने-फिरने तथा एक स्थानमें रहनेवाले चोरोंको रोकनेके लिए राजा गुप्तचरो (या पहरेदारों) को नियुक्त करे ॥ २६६ ॥

सभा ग्रामनगरादौ नियतं जनसमूहस्थानं, प्रपा जलदानगृहं, अपूपविक्रयवेश्म, पण्यस्त्रीगृहं, मद्यान्नविक्रयस्थानानि, चतुष्पथाः, प्रख्यातवृक्षमूलानि, जनसमूहस्थानानि, जीर्णवाटिकाः, अटव्यः, शिल्पगृहाणि, शून्यगृहाणि, आम्रादिवनानि, कृत्रिमोद्यानानि । एवं प्रकारान्देशान्सैन्यैः पदातिसमूहैः स्थावरजङ्गमैरेकस्थानस्थितैः प्रचारिभिश्चारैस्तस्क-

रनिवारणार्थं चारयेत्। प्रायेणैवंविधे देशेऽन्नपानस्त्रीसम्भोगस्वप्रहर्त्राद्यन्वेषणार्थं तस्करा अवतिष्ठन्ते ॥ २६४–२६६ ॥

तत्सहायैरनुगतैर्नानाकर्मप्रवेदिभिः ।
विद्यादुत्सादयेच्चैव निपुणैः पूर्वतस्करैः ॥ २६७ ॥

उन चोरोंके सहायक, उनके विविध कार्यों (सेंध मारना आदि) के जानकार जो पहले निपुण चोर हों; ऐसे गुप्तचरोंसे उन चोरोंको मालूमकर राजा उनका नाश करे ॥ २६७ ॥

तेषां साहाय्यं प्रतिपद्यमानैस्तच्चरितानुवृत्तिभिः संधिच्छेदादिकर्मानुष्ठानवेदिभिः पूर्वचौरैश्चाररूपैश्चारमायानिपुणैस्तस्कराञ्जानीयादुत्सादयेच्च ॥ २६७ ॥

भक्ष्यभोज्योपदेशैश्च ब्राह्मणानां च दर्शनैः ।
शौर्यकर्मापदेशैश्च कुर्युस्तेषां समागमम् ॥ २६८ ॥

वे गुप्तचर भक्ष्य-भोज्य पदार्थोंका लोभ दिखाकर (तुम लोग मेरे यहाँ या अमुक स्थानपर चलकर उत्तमोत्तम पदार्थ भोजन करेंगे इत्यादि प्रकारसे खानेका लोभ देकर), ब्राह्मणोंके दर्शन (अमुक स्थानोंमें सब बातोंके ज्ञाता एक सिद्ध ब्राह्मण रहते हैं, उनका दर्शनकर हमलोग अपना मनोरथ पूर्ण करें) इत्यादि कहनेसे साहस कर्मके कपटसे (अमुक व्यक्तिके यहां एक बड़ा शूरवीर रहता हैं; वह अकेला ही अनेक आदमियोंके साध्य कार्यको कर सकता है आदि कपट युक्त वचनोंसे), उन चोरोंको एकत्रितकर राजाके द्वारा नियुक्त शासक पुरुषों (सैनिकों, सिपाहियों) से उनका समागम करा दे अर्थात् उन्हें गिरफ्तार करा दे ॥ २६८ ॥

ते पूर्वचौराश्चारभूता आगच्छतास्मद्गृहं, गच्छामस्तत्र, मोदकपायसादीन्यश्नीम इत्येवं भक्ष्यभोज्यव्याजेन, अस्माकं देशे ब्राह्मणोऽस्ति सोऽभिलषितार्थसिद्धिं जानाति तं पश्याम इत्येवं ब्राह्मणानां दर्शनैः कश्चिदेक एव बहुभिः सह योत्स्यते तं पश्याम इत्येवं शौर्यकर्मव्याजेन तेषां चौराणां राज्ञो दण्डधारकपुरुषैः समागमं कुर्युर्ग्राहयेयुश्च ॥ २६८ ॥

ये तत्र नोपसर्पेयुर्मूलप्रणिहिताश्च ये ।
तान्प्रसह्य नृपो हन्यात्समित्रज्ञातिबान्धवान् ॥ २६९ ॥

जो चोर उन गुप्तचरोंके उस प्रकार (पूर्व श्लोकमें कथित भक्ष्य-भोज्यादि विषयक कपटयुक्त वचनों) से अपने पकड़े जानेकी शङ्कासे वहां (गुप्तचरके सङ्केतित स्थानमें) नहीं आवें तथा उन गुप्तचरोंसे सावधान ही रहते हों; उन चोरोंको राजा अपने गुप्तचरोंसे मालूम कर मित्र, ज्ञाति तथा बान्धवोंके सहित उनपर आक्रमण कर उन्हें दण्डित करे ॥ २६९ ॥

ये चौरास्तत्र भक्ष्यभोज्यादौ निग्रहणशङ्कया नोपसर्पन्ति ये च मूले राजनियुक्तपुराणचौरवर्गे प्रणिहिताः सावधानभूताः तैः सह सङ्गतिं भजन्ते ताँश्चौरांस्तेभ्य एव ज्ञात्वा तदेकतापन्नमित्रपित्रादिज्ञातिस्वजनसहितान्बलादाक्रम्य राजा हन्यात् ॥ २६९ ॥

न होढेन विना चौरं घातयेद्धार्मिको नृपः ।
सहोढं सोपकरणं घातयेदविचारयन् ॥ २७० ॥

धार्मिक राजा चुराये गये धन तथा सेंध मारने आदिके शस्त्रादि साधनोंका पता नहीं लगनेसे चोरका पूर्णतः निर्णय नहीं होनेसे उनका वध नहीं करे तथा चुराये गये धन तथा सेंध मारनेके शस्त्रादि साधनोंके द्वारा चोरका निर्णय हो जानेपर बिना विचारे (दूसरा विकल्प उठाये) उस चोरका वध (अपराधानुसार उन्हें दण्डित) करे ॥ २७० ॥

धार्मिको राजा हृतद्रव्यसंधिच्छेदोपकरणव्यतिरेकेणानिश्चितचौरभावं न घातयेत्किन्तु हृतद्रव्येण चौर्योपकरणेन च निश्चितचौरभावमविचारयन्घातयेत् ॥ २७० ॥

ग्रामेष्वपि च ये केचिच्चौराणां भक्तदायकाः ।
भाण्डावकाशदाश्चैव सर्वांस्तानपि घातयेत् ।। २७१ ।।

गाँवोंमें भी जो कोई चोरोंके लिए भोजन, चोरीके उपयोगी बर्तन या शस्त्रादि देते हों; राजा उनका भी वध (या निरन्तर अथवा एक बार किये गये अपराधके अनुसार दण्डित) करे ॥२७१॥

ग्रामादिष्वपि ये केचिच्चौराणां चौरत्वं ज्ञात्वा भक्तदाः, चौर्योपयुक्तभाण्डादि गृहावस्थं ये ददति तानपि नैरन्तर्याद्यपराधगोचरापेक्षया घातयेत् ॥ २७१ ॥

राष्ट्रेषु रक्षाधिकृतान्सामन्तांश्चैव चोदितान् ।
अभ्याघातेषु मध्यस्थाञ्छिष्याच्चौरानिव द्रुतम् ।। २७२ ।।

राज्यकी रक्षामें नियुक्त तथा सीमाके रक्षक राजपुरुष भी चोरी करनेमें मध्यस्थ होकर चोरोंके सहायक होते हैं, (अत एव राजा) उनको भी चोरोंके समान ही शीघ्र दण्डित करे ॥ २७२ ॥

ये राष्ट्रेषु रक्षानियुक्ताः, ये च सीमान्तवासिनः क्रराः सन्तश्चौर्योपदेशे मध्यस्था भवन्ति तांश्चौरवत्क्षिप्रं दण्डयेत् ॥ २७२ ॥

यश्चापि धर्मसमयात्प्रच्युतो धर्मजीवनः ।
दण्डेनैव तमप्योषेत्स्वकाद्धर्माद्धि विच्युतम् ।। २७३ ।।

धर्मजीवन (यज्ञ करानेसे तथा दान लेकर दूसरोंमें यज्ञादि धर्मप्रवृत्ति उत्पन्नकर जीविका करनेवाला) ब्राह्मण यदि धर्म मर्यादासे भ्रष्ट हो जाय तो राजा उसे भी दण्डद्वारा शासित करे ॥

याजनप्रतिग्रहादिना परस्य यागदानादिधर्ममुत्पाद्य यो जीवति स धर्मजीवनो ब्राह्मणः सोऽपि यो धर्ममर्यादायाश्च्युतो भवति, तमपि स्वधर्मात्परिभ्रष्टं दण्डेनोपतापयेत् ।। २७३ ।।

ग्रामघाते हिताभङ्गे पथि मोषाभिदर्शने ।
शक्तितो नाभिधावन्तो निर्वास्याः सपरिच्छदाः ।। २७४ ।।

चौरादिके द्वारा गाँवके लूटनेमें, पुल या बांधके टूटनेमें (मेधातिथिके मतसे खेतमें उत्पन्न अन्नके नष्ट होनेमें तथा जीविका नाश होनेमें) तथा रास्तेमें चोर आदिके दिखलाई पड़नेपर यथाशक्ति दौड़कर रक्षा नहीं करनेवाले पार्श्ववर्ती (समीपमें रहनेवाले) लोगोंको शय्या, गौ, घोड़ा आदि गृहसाधनोंके साथ देशसे बाहर निकाल दे ॥ २७४ ॥

ग्रामलुण्ठने तस्करादिभिः क्रियमाणे, हिताभङ्गे जलसेतुभङ्गे जाते। "क्षेत्रोत्पन्नसस्यनाशने वृत्तिभङ्गे च" इति मेधातिथिः। पथि चौरदर्शने तन्निकटवर्तिनो यथाशक्तितो ये रक्षां न कुर्वन्ति ते शय्यागवाश्वादिपरिच्छिदसहिता देशान्निर्वासनीयाः ।। २७४ ।।

राज्ञः कोषापहर्तॄंश्च प्रतिकूलेषु च स्थितान् ।
घातयेद्विविधैर्दण्डैररीणां चोपजापकान् ।। २७५ ।।

राजाके कोष (खजाने) से धन चुरानेवाले, राजाज्ञाको नहीं माननेवाले तथा शत्रु पक्षवालोंसे मिलकर राजकीय लोगोंमें फूट पैदा करनेवाले लोगोंको राजा अनेक प्रकारके (हाथ-पैर जीभे आदि काटकर) वधसे दण्डित करे ।। २७५ ।।

राज्ञो वनगृहाद्धनापहारिणस्तथा तदाज्ञाव्याघातकारिणः शत्रूणां च राज्ञा सहवैरिवृद्धिकारिणोऽपराधापेक्षया करचरणजिह्वाच्छेदनादिभिर्नानाप्रकारदण्डैर्घातयेत् ॥ २७५ ॥

संधिं छित्त्वा तु ये चौर्यं रात्रौ कुर्वन्ति तस्कराः ।
तेषां छित्त्वा नृपो हस्तौ तीक्ष्णे शूले निवेशयेत् ॥ २७६ ॥

जो चोर रातमें सेंध मारकर चोरी करते हैं, राजा उनके हाथोंको कटवाकर तेज शूलीपर चढ़ा दे ॥ २७६ ॥

ये रात्रौ संधिच्छेदं कृत्वा परधनं तस्करा मुष्णन्ति, तेषां राजा हस्तद्वयं छित्त्वा तीक्ष्णे शूले तानारोपयेत् ॥ २७६ ॥

अङ्गुलीर्ग्रन्थिभेदस्य छेदयेत्प्रथमे ग्रहे ।
द्वितीये हस्तचरणौ तृतीये वधमर्हति ॥ २७७ ॥

राजा गांठ काटनेवाले (गिरहकट, या जेबकट) चोरको पहली बार पकड़े जानेपर उसकी (अंगूठा तथा तर्जनी) अंगुलियोंको कटवा ले, दूसरी बार पकड़े जानेपर उसके हाथ-पैर कटवा ले और तीसरी बार पकड़े जानेपर उसका वध कर दे ॥ २७७ ॥

पटप्रान्तादिक्षिप्तं सुवर्णादिकं ग्रन्थिमोक्षणेन यश्चोरयति स ग्रन्थिभेदस्तस्य प्रथमे द्रव्यग्रहणेऽङ्गुलीश्छेदयेत् । ते चाङ्गुष्ठतर्जन्यौ ।

"उत्क्षेपकग्रन्थिभेदौ करसंदंशहीनकौ" (या० स्मृ० २–२७४)

इति याज्ञवल्क्यवचनात् । द्वितीये ग्रहणे हस्तपादौ छेदयेत् । तृतीये ग्रहणे वधार्हो भवति ॥ २७७ ॥

अग्निदान्भक्तदांश्चैव तथा शस्त्रावकाशदान् ।
संनिधातॄंश्च मोषस्य हन्याच्चौरमिवेश्वरः ॥ २७८ ॥

जो लोग (गिरहकट आदिको जानकर) अग्नि, अन्न, शस्त्र तथा अवसर (चोरीका मौका) देते हों और चुराये हुए धनको रखते हों; राजा उन लोगोंको भी चोरके समान ही दण्डित करे ॥

ग्रन्थिभेदादिकारिणो विज्ञायाग्निभक्तशस्त्रावस्थानप्रदान्मुष्यत इति मोषश्चौरधनं तस्यावस्थापकांश्चौरवद्राजा निगृह्णीयात् ॥ २७८ ॥

तडागभेदकं हन्यादप्सु शुद्धवधेन वा ।
यद्वापि प्रतिसंस्कुर्याद्दाप्यस्तूत्तमसाहसम् ॥ २७९ ॥

तडाग (पोखरा, अहरा आदि सर्वजनीय जलाशय) के बांध या पुल तोड़नेवालोंको राजा पानीमें डुबाकर या दूसरे प्रकारसे वध करे; अथवा यदि वह उस तोड़े हुए पुल या बांधको ठीक करा दे तो उसे उत्तम साहस (८।१३८ एक सहस्र पण) से दण्डित करे ॥ २७९ ॥

यः स्नानदानादिना जनोपकारकं तडागं सेतुभेदादिना विनाशयति तमप्सु मज्जनेन प्रकारान्तरेण वा हन्यात् । यद्वा यदि तडागं पुनः संस्कुर्यात्तदोत्तमसाहसं दण्ड्यः ॥ २७९ ॥

कोष्ठागारायुधागारदेवतागारभेदकान् ।
हस्त्यश्वरथहर्तॄंश्च हन्यादेवाविचारयन् ॥ २८० ॥

राजा राज्यके अन्नभण्डार, शस्त्रागार तथा देवमन्दिर तोड़नेवालों तथा घोड़ा हाथी और रथ आदि चुरानेवालोंको विना विचारे (दूसरे प्रकारके दण्ड देनेका) विकल्पको छोड़कर शीघ्र ही) वध करे ॥ २८० ॥

राजसम्बन्धिधान्यादिषु धनागारायुधगृहयोर्देवप्रतिमागृहस्य च बहुधनव्ययसाध्यस्य विनाशकान्हस्त्यश्वरथस्य चापहर्तॄन् शीघ्रमेव हन्यात्। यत्तु संक्रमध्वजयष्टिदेवताप्रतिमाभेदिनः पञ्चशतदण्डं वक्ष्यति सोऽस्मादेव देवतागारभेदकस्य वधविधानान्मृन्मयपूजितोज्झितदेवताप्रतिमाविषयोऽत्र द्रष्टव्यः ॥ २८० ॥

यस्तु पूर्वनिविष्टस्य तडागस्योदकं हरेत्।
आगमं वाप्यपां भिद्यात्स दाप्यः पूर्वसाहसम् ॥ २८१ ॥

पुत्र आदिके लिए बनवाये गये तडाग आदिके पानीको जो कोई चुरावे अर्थात् चोरीकर खेत आदिकी सिंचाई करे अथवा उसके पानी जानेके मार्गको बांध आदि बांधकर रोके या नष्ट करदे, उस व्यक्तिको राजा प्रथम साहस (८।१३८–२५० पण) से दण्डित करे ॥ २८१ ॥

यः पुनः प्रजार्थं पूर्वं केनचित्कृतस्य तडागस्योदकमेव गृह्णाति कृत्स्नतडागोदकनाशने वधदण्डः प्रागुक्तः। तथोदकागमनमार्गं सेतुबन्धादिना यो नाशयति स प्रथमसाहसं दण्ड्यः ॥ २८१ ॥

समुत्सृजेद्राजमार्गे यस्त्वमेध्यमनापदि।
स द्वौ कार्षापणौ दद्यादमेध्यं चाशु शोधयेत् ॥ २८२ ॥

स्वस्थ रहता हुआ जो व्यक्ति राजमार्ग (प्रधान सड़क सार्वजनिक रास्ते) पर मल-मूत्र करदे (या फेंक दे), राजा उसे दो कार्षापण (८।१३६) से दण्डित करे तथा उसीसे उस मल-मूत्रको शीघ्र साफ करावे ॥ २८२ ॥

अनार्तः सन्यो राजपथेषु पुरीषं कुर्यात्स कार्षापणद्वयं दण्डं दद्यात्स चामेध्यं शीघ्रमेवापसारयेत् ॥ २८२ ॥

आपद्गतोऽथवा वृद्धा गर्भिणी बाल एव वा।
परिभाषणमर्हन्ति तच्च शोध्यमिति स्थितिः ॥ २८३ ॥

रोगी (या आपत्तिमें फंसा हुआ), बूढ़ा, गर्भिणी अथवा बालक राजमार्गपर मल-मूत्र करदे (या कूड़ा-करकट डालकर उसे गन्दा कर दे) तो ('तुमने यह क्या किया, सावधान ? फिर कभी ऐसा मत करना' इत्यादि रूपसे) निषेध कर दे, तथा उस स्थानकी सफाई करा ले (उसे आर्थिक दण्ड न दे) ऐसी शास्त्र-मर्यादा है ॥ २८३ ॥

व्याधितवृद्धगर्भिणीबाला न दण्डनीयाः किंतु ते पुनः किं कृतमिति परिभाषणीयाः। तच्चामेध्यं शोधनीया इति शास्त्रमर्यादा ॥ २८३ ॥

चिकित्सकानां सर्वेषां मिथ्या प्रचरतां दमः।
अमानुषेषु प्रथमो मानुषेषु तु मध्यमः ॥ २८४ ॥

चिकित्सा करनेवाला यदि अज्ञातवश पशुओंकी ठीक चिकित्सा न करे तो उसे प्रथम साहस (२५० पण—८।१३८) तथा मनुष्योंकी ठीक चिकित्सा न करे तो उसे मध्यम साहस (५०० पण—८।१३८) से राजा दण्डित करे ॥ २८४ ॥

सर्वेषां कायशल्यादिभिषजां दुश्चिकित्सां कुर्वतां दण्डः कर्तव्यः। तत्र गवाश्वादिविषये दुश्चिकित्सायां प्रथमसाहसदण्डो मानुषविषये पुनर्मध्यमसाहसः ॥ २८५ ॥

संक्रमध्वजयष्टीनां प्रतिमानां च भेदकः।
प्रतिकुर्याच्च तत्सर्वं पञ्च दद्याच्छतानि च ॥ २८५ ॥

संक्रम (नाले या छोटी नहर आदिको पार करनेके लिए रक्खे गये पत्थर या काष्ठ आदि) ध्वज (राजचिह्न या देवताओंकी ध्वजा) यष्टि (जाठ—तालाब, पोखरा, बावली आदिके बीचमें गाड़े गये लकड़ी या पत्थरका खम्भा आदि), प्रतिमा (मिट्टी आदिकी छोटी-छोटी पूजित मूर्तियां) इनको तोड़ने या किसी प्रकार नष्ट करनेवालेसे राजा उन्हें ठीक करावे तथा उस व्यक्तिको पांच सौ पणों (८।१३६) से दण्डित करे ॥ २८५ ॥

संक्रमो जलोपरि गमनार्थं काष्ठशिलादिरूपः, ध्वजश्चिह्नं राजद्वारादौ, यष्टिः पुष्करिण्यादौ प्रतिमाश्च क्षुद्रा मृन्मय्यादयस्तासां विनाशकः पञ्चशतपणान्दद्यात्तच्च विनाशितं सर्वं पुनर्नवं कुर्यात् ॥ २८५ ॥

अदूषितानां द्रव्याणां दूषणे भेदने तथा ।
मणीनामपवेधे च दण्डः प्रथमसाहसः ॥ २८६ ॥

शुद्ध पदार्थमें अशुद्ध पदार्थ मिलाकर दूषित करनेवाले, नहीं छेदने योग्य माणिक्य आदिको छेदनेवाले, और छेदनेके योग्य मोती-माणिक्य आदिको ठीक-ठीक योग्य नहीं छेदनेवाले व्यक्तिको राजा प्रथम साहस (ढाई सौ पण-८।१३८) से दण्डित करे तथा जिसके उपर्युक्त पदार्थ नष्ट या दूषित हो गये हों, उसे उन पदार्थोंका मूल्य देकर वह (पदार्थ-दूषक मनुष्य) प्रसन्न करे ॥ २८६ ॥

अदुष्टद्रव्याणामपद्रव्यप्रक्षेपेण दूषणे, मणीनां च माणिक्यादीनामभेद्यानां विदारणे, वेध्यानामपि मुक्तादीनामनवस्थानवेधने प्रथमसाहसो दण्डः कार्यः। सर्वत्र परकीयद्रव्यनाशे द्रव्यान्तरदानादिना स्वामितुष्टिः कार्या ॥ २८६ ॥

समैर्हि विषमं यस्तु चरेद्वै मूल्यतोऽपि वा ।
समाप्नुयाद्दमं पूर्वं नरो मध्यममेव वा ॥ २८७ ॥

जो मनुष्य समान मूल्य देनेवाले किसीको अच्छी या अधिक वस्तु दे तथा किसीको निकृष्ट या कम वस्तु दे अथवा समान मूल्यकी कोई वस्तु किसीको कम मूल्यमें दे और किसीको अधिक मूल्यमें दे तो वह मनुष्य (वस्तुके मूल्य आदिके अनुसार) प्रथम साहस (२५० पण) या मध्यम साहस (५०० पण—८।१३८) से दण्डित होता है ॥ २८७ ॥

समैः सममूल्यदातृभिः सहोत्कृष्टापकृष्टद्रव्यदानेन यो विषमं व्यवहरति सममूल्यं द्रव्यं दत्त्वा यः कस्यचिद्बहुमूल्यं कस्यचिदल्पमूल्यमिति विषमं मूल्यं गृह्णाति सोऽनुबन्धविशेषापेक्षया प्रथमसाहसं मध्यमसाहसं वा दण्डं प्राप्नुयात् ॥ २८७ ॥

बन्धनानि च सर्वाणि राजा मार्गे निवेशयेत् ।
दुःखिता यत्र दृश्येरन्विकृताः पापकारिणः ॥ २८८ ॥
प्राकारस्य च भेत्तारं परिखाणां च पूरकम् ।
द्वाराणां चैव भङ्क्तारं क्षिप्रमेव प्रवासयेत् ॥ २८९ ॥

राजा सब प्रकारके बन्धनगृह (जेल हवालात आदि) को सड़कपर बनवावे । (हथकड़ी-बेडी पहननेसे) दूषित, दाढ़ी-मूंछ आदि बढ़नेसे विकृत तथा भूख आदिसे दुर्बल अपराधी बन्दियों (कैदियों) को लोग देखें ॥ २८८ ॥

प्राकार (नगर या मकानका परकोटा अर्थात् चहारदिवारी) को तोड़नेवाले परिखा (खाई) को मिट्टी आदिसे भरनेवाले और द्वार (राजद्वार या नगरद्वार) को तोड़ने वाले (राजा) शीघ्र ही देशसे बाहर निकाल दे ॥ २८९ ॥

बन्धनगृहाणि सर्वजनदृश्ये राजमार्गे कुर्यात्। यत्र निगडबन्धनाद्युपेताः क्षुत्तृष्णाभिभूता दीर्घकेशनखश्मश्रवः कृशाः पापकारिणोऽन्यैरकार्यकारिभिरकार्यनिवृत्त्यर्थं दृश्येरन्, राजगृहपुरादिसम्बन्धिनः प्राकारस्य भेदकं तदीयानामेव परिखाणां पूरयितारं तद्गतानां द्वाराणां भञ्जकं शीघ्रमेव देशान्निर्वासयेत् ॥ २८८–२८९ ॥

अभिचारेषु सर्वेषु कर्तव्यो द्विशतो दमः।
मूलकर्मणि चानाप्तेः कृत्यासु विविधासु च ॥ २९० ॥

सब प्रकारसे अभिचार (शास्त्रोक्त—हवनादि करके तथा लौकिक चरणकी धूलि लेकर या केशको भूमिमें गाड़कर इत्यादि रूप मारणोपाय) कर्म जिसके लिए किया गया हो वह मनुष्य नहीं मरे तो उक्त कर्म करनेवालेपर दो सौ पण (८।१३६) दण्ड होता है (तथा यदि वह मनुष्य मर गया हो तो उक्त कर्म करनेवालेको प्राणदण्ड होता है) और माता-पिता-स्त्री आदिको छोड़कर दूसरे झूठे लोगोंद्वारा मोहितकर धन आदि लेनेके लिए वशीकरण और उच्चाटन आदि कर्म करनेवाले पर दो सौ पण (८।१३६) दण्ड होता है ॥ २९० ॥

अभिचारहोमादिषु शास्त्रीयेषु मारणोपायेषु लौकिकेषु च मूलनिखननपदपांशुग्रहणादिषु कृतेष्वनुत्पन्नमरणफलेषु द्विशतपणग्रहणरूपो दण्डः कर्तव्यः। मरणे तु मानुषमारणदण्डः। एवं मातृपितृभार्यादिव्यतिरिक्तैरसत्यैर्व्यामोह्य धनग्रहणाद्यर्थं वशीकरणे तथा कृत्यासूच्चाटनापाटवादिहेतुषु क्रियमाणासु नानाप्रकारासु द्विशतपणदण्ड एव कर्तव्यः ॥ २९० ॥

अबीजविक्रयी चैव बीजोत्कृष्टं तथैव च।
मर्यादाभेदकश्चैव विकृतं प्राप्नुयाद्वधम् ॥ २९१ ॥

जो मनुष्य नहीं जमनेवाले बीजको जमनेवाला कहकर बेचे तथा अच्छे बीज में दूषित बीज मिलाकर बेचे और (ग्राम-नगर आदिकी) सीमाको नष्ट करे उसे राजा विकृत वध (हाथ, नाक, कान आदि अङ्गोंको काटने) से दण्डित करे ॥ २९१ ॥

अबीजं बीजप्ररोहासमर्थं व्रीह्यादि प्ररोहसमर्थमिति कृत्वा यो विक्रीणीते, तथापकृष्टमेव कतिपयोत्कृष्टप्रक्षेपेण सर्वमिदं सोत्कर्षमिति कृत्वा यो विक्रीणीते, यश्च ग्रामनगरादिसीमां विनाशयति स विकृतनासाकरचरणकर्णादिरूपं वधं प्राप्नुयात् ॥ २९१ ॥

सर्वकण्टकपापिष्ठं हेमकारं तु पार्थिवः।
प्रवर्तमानमन्याये छेदयेल्लवशः क्षुरैः ॥ २९२ ॥

सब कण्टकों (चोरी आदि पाप कर्म करनेसे राज्यमें कण्टकतुल्य लोगों) में अधिक पापी सोनार यदि अन्याय करने (किस प्रकार सोना-चांदी आदि चुराने, या अच्छे धातुके साथ हीन धातु मिलाकर देने) वाला प्रमाणित हो जाय तो राजा उसके प्रत्येक शरीरको शस्त्रोंसे टुकड़े-टुकड़े कटवा डाले ॥ २९२ ॥

सर्वकण्टकानां मध्येऽतिशयेन पापतमं सुवर्णकारं तुलाच्छद्मकषपरिवर्तापद्रव्यप्रक्षेपादिना हेमादिचौर्ये प्रवर्तमानमनुबन्धापेक्षयाङ्गविशेषेण सर्वदेहं वा खण्डशश्छेदयेत् ॥ २९२ ॥

सीताद्रव्यापहरणे शस्त्राणामौषधस्य च।
कालमासाद्य कार्यं च राजा दण्डं प्रकल्पयेत् ॥ २९३ ॥

खेतीके साधन हल-कुदाल आदि, तलवार आदि शस्त्र और दवाको चुराने पर चुरायी गयी वस्तुओंकी समयोपयोगिताका विचारकर तदनुसार दण्डविधान करे ॥ २९३ ॥

कृष्यमाणभूमिद्रव्याणां हलकुद्दालादीनामपहरणे, खड्गादीनां च शस्त्राणां, औषधस्य च कल्याणघृतादेश्चौर्ये सत्युपयोगकालेतरकालापेक्षया प्रयोजनापेक्षया च राजा दण्डं कुर्यात् ॥ २९३ ॥

स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्रं कोशदण्डौ सुहृत्तथा ।
सप्त प्रकृतयो ह्येताः सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते ॥ २९४ ॥

(१) स्वामी (राजा), (२) मन्त्री, (३) पुर (किला, परकोटा, खाई आदिसे सुरक्षित राजधानी), (४) राज्य, (५) कोष, (६) दण्ड (चतुरङ्गिणी अर्थात् हयदल, गजदल रथदल और पैदल सेना) तथा (७) मित्र; ये सात राजप्रकृतियां हैं, इनसे युक्त 'सप्ताङ्ग' (सात अङ्गों वाला) राज्य कहलाता है ॥ २९४ ॥

स्वामी राजा, अमात्यो मन्त्र्यादिः, पुरं राज्ञः कृतदुर्गनिवासनगरं, राष्ट्रं देशः, कोशो वित्तनिचयः, दण्डो हस्त्यश्वरथपादातं, मित्रं त्रिविधं सप्तमाध्यायोक्तमित्येताः सप्त प्रकृतयोऽङ्गानि । सप्ताङ्गमिदं राज्यमित्युच्यते ॥ २९४ ॥

ततः किमित्याह—

सप्तानां प्रकृतीनां तु राज्यस्यासां यथाक्रमम् ।
पूर्वं पूर्वं गुरुतरं जानीयाद्व्यसनं महत् ॥ २९५ ॥

राज्यकी इन (९।२९४) सात प्रकृतियोंमें क्रमशः पूर्व-पूर्वकी आपत्तिको राजा अधिक समझे ॥ २९५ ॥

आसां राज्यप्रकृतीनां सप्तानां क्रमोक्तानामुत्तरस्याविनाशमपेक्ष्य पूर्वस्याः पूर्वस्या विनाशविषये गरीयो व्यसनं जानीयात् । तथा हि—मित्रव्यसनात्स्वबलव्यसनं गरीयः सम्पन्नबलस्यैवामित्रानुग्रहे सामर्थ्यात् । एवं बलात्कोशो गरीयान् , कोशनाशे बलस्यापि नाशात् । कोशाद्राष्टं गरीयः राष्ट्रनाशे कुतः कोशोत्पत्तिः । एवं राष्ट्राद् दुर्गनाशोऽपि, दुर्गादेव यवसेन्धनादिसंपन्नाद्राज्यरक्षासिद्धिः । दुर्गादमात्यो गरीयान् , प्रधानामात्यनाशे सर्वाङ्गवैकल्यात् । अमात्यादप्यात्मा, सर्वस्यात्मार्थत्वात् । तस्मादुत्तरापेक्षया पूर्वं यत्नतो रक्षेत् ॥ २९५ ॥

सप्ताङ्गस्येह राज्यस्य विष्टब्धस्य त्रिदण्डवत् ।
अन्योन्यगुणवैशेष्यान्न किंचिदतिरिच्यते ॥ २९६ ॥

त्रिदण्ड (टिकटी–तिपाई) के समान परस्परमें सम्बद्ध सप्ताङ्ग (९।२९४) राज्यमें इन अङ्गोंको परस्परमें विलक्षण उपकारक होनेसे कोई भी अङ्ग एक दूसरेसे बढ़कर नहीं है ॥ २९६ ॥

उक्तसप्ताङ्गवतो लोके राष्ट्रस्य त्रिदण्डवदन्योन्यसंबन्धस्य परस्परविलक्षणोपकारणान्न किञ्चिदङ्गमधिकं भवति । यद्यपि पूर्वश्लोके पूर्वपूर्वाङ्गस्याधिक्यमुक्तं तथाप्येषामङ्गानांमध्यादन्यस्याङ्गसम्बन्धिनमपकारमन्यदङ्गं कर्तुं न शक्नोति, तस्मादुत्तरोत्तराङ्गमप्यपेक्षणीयमित्येवंपरोऽयमानाधिक्यनिषेधः । तत्र प्रसिद्धं यतित्रिदण्डमेव दृष्टान्तः । तद्धि चतुरङ्गुलगोवालवेष्टनादन्योन्यसम्बन्धं, न च तन्मध्ये त्रिदण्डधारणशास्त्रार्थे कश्चिद्दण्डोऽधिको भवति ॥ २९६ ॥

तेषु तेषु तु कृत्येषु तत्तदङ्गं विशिष्यते ।
येन यत्साध्यते कार्यं तत्तस्मिन् श्रेष्ठमुच्यते ॥ २९७ ॥

(उन (९।२९४) सात प्रकृतियोंमें से) उन उन कार्योंमें उन-उन प्रकृतियोंका विशिष्ट स्थान होता हैं, (अत एव) जो कार्य जिस प्रकृतिसे सिद्ध होता है उस कार्यमें वह प्रकृति श्रेष्ठ मानी जाती है (इस प्रकार कार्यकी अपेक्षासे समयानुसार सबकी श्रेष्ठता है) ॥ २९७ ॥

यस्मात्तेषु तेषु सम्पाद्येषु कार्येषु तत्तदङ्गस्यातिशयो भवति, तत्कार्यमन्येन कर्तुमशक्तेः। एवञ्च येनाङ्गेन यत्कार्यं सम्पाद्यते तस्मिन्कार्ये तदेव प्रधानमुच्यते। ततश्चान्योन्यविशेषादि यदुक्तं तदेवानेन स्फुटीकृतम् ॥ २९७ ॥

चारेणोत्साहयोगेन क्रिययैव च कर्मणाम्।
स्वशक्तिं परशक्तिं च नित्यं विद्यान्महीपतिः ॥ २९८ ॥

राजा गुप्तचरोंसे, सेनाके उत्साहसम्बन्धसे और कार्यों (मार्ग-निर्माणादि) के करनेसे उत्पन्न अपनी तथा शत्रुकी शक्तिको सर्वदा मालूम करता रहे ॥ २९८ ॥

सप्तमाध्यायोक्तकापटिकादिना बलस्योत्साहयोगेन कर्मणां च हस्तिबन्धवणिक्पथादीनामनुष्ठानेन जातां शत्रोरात्मनश्च राजा सदा जानीयात् ॥ २९८ ॥

पीडनानि च सर्वाणि व्यसनानि तथैव च।
आरभेत ततः कार्यं संचिन्त्य गुरुलाघवम् ॥ २९९ ॥

(राजा अपने तथा शत्रुके राज्यमें काम तथा क्रोधसे किये गये मारण-ताडन आदि) पीडन और व्यसनोंकी कमी-वेशी को मालूमकर और विचारकर इसके बाद कार्य (सन्धि-विग्रह आदि) को आरम्भ करे ॥ २९९ ॥

पीडनानि मारकादीनि कामक्रोधोद्भवानि, दुःखानि च स्वपरचक्रगतानि तेषां च गुरुलघुभावं पर्यालोच्य सन्धिविग्रहादि कार्यमारभेत ॥ २९९ ॥

आरभेतैव कर्माणि श्रान्तः श्रान्तः पुनः पुनः।
कर्माण्यारभमाणं हि पुरुषं श्रीर्निषेवते ॥ ३०० ॥

राजा शत्रुकृत कपट आदिसे बार-बार कार्य नाश होनेपर भी अपने राज्यको समुन्नत करनेवाले कार्योंको बार-बार करता ही रहे, क्योंकि बराबर कार्यारम्भ करनेवाले (उद्योगशील) मनुष्यको श्री (विजयलक्ष्मी) निश्चित ही सेवन करती है ॥ ३०० ॥

राजा स्वराज्यवृद्धिपरापचयनिमित्तानि कार्याणि कथञ्चिदिदं सञ्जातमिति छलान्यप्यारभ्यात्मना खिन्नः पुनः पुनस्तान्यारभेतैव। यस्मात्कर्माणि सृज्यमानं पुरुषं श्रीर्नितरां सेवते। तथा नाब्राह्मणे नानाश्रये श्रीरस्तीति प्ररोहितापि शोषमेति ॥ ३०० ॥

न च युगानुरूपेण कर्माणि फलन्तीति राज्ञोदासितव्यं, यतः—

कृतं त्रेतायुगं चैव द्वापरं कलिरेव च।
राज्ञो वृत्तानि सर्वाणि राजा हि युगमुच्यते ॥ ३०१ ॥

सत्ययुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग, तथा कलियुग, ये चारो युग राजाके ही चेष्टाविशेष (आचार, व्यवहार) से होते हैं, अत एव राजा ही 'युग' कहलाता है (इस कारण युगके अनुसार कार्य फल देते हैं, ऐसा विचारकर राजाको कार्यारम्भसे उदासीन कभी नहीं होना चाहिये) ॥ ३०१ ॥

कृतत्रेताद्वापरकलयो राज्ञ एव चेष्टितविशेषास्तैरेव सत्यादिविशेषप्रवृत्तेः। तस्माद्राजैव कृतादियुगमभिधीयते ॥ ३०१ ॥

कीदृक्चेष्टितः कृतादियुगमित्यत आह—

कलिः प्रसुप्तो भवति स जाग्रद्द्वापरं युगम्।
कर्मस्वभ्युद्यतस्त्रेता विचरंस्तु कृतं युगम् ॥ ३०२ ॥

सोते हुए (अज्ञान तथा आलस्यादिके कारण उद्यमहीन) राजाके होनेपर कलियुग, जागते हुए (जानते हुए भी उद्यम नहीं करनेवाले) राजाके होनेपर द्वापरयुग, कर्म (सन्धि-विग्रहादि राजकार्य) में लगे हुए राजाके होनेपर त्रेतायुग और शास्त्रानुसार विचरण करनेवाले राजा के होनेपर सत्ययुग होता है ॥ ३०२ ॥

अज्ञानालास्यादिना यदा निरुद्यमो राजा भवति तदा कलिः स्यात्। यदा जानन्नपि नानुतिष्ठति तदा द्वापरम्। यदा कर्मानुष्ठानेऽवस्थितस्तदा त्रेता यथाशास्त्रं पुनः कर्माण्यनुतिष्ठन्विचरति प्रदा कृतयुगम्। तस्माद्राज्ञा कर्मानुष्ठानपरेण भाव्यमित्यत्र तात्पर्यम्, न तु वास्तवकृतयुगाद्यपलापे ॥ ३०२ ॥

इन्द्रस्यार्कस्य वायोश्च यमस्य वरुणस्य च।
चन्द्रस्याग्नेः पृथिव्याश्च तेजोवृत्तं नृपश्चरेत् ॥ ३०३ ॥

राजाको इन्द्र, सूर्य, वायु, यम, वरुण, चन्द्रमा, अग्नि और पृथिवीके तेजका आचरण करना चाहिये। (राज्यके कण्टकभूत चोर आदिके वशमें करनेके लिए प्रताप = दण्ड तथा स्नेह—दोनों का ही समयानुसार कार्यमें प्रयोग करना चाहिये) ॥ ३०३ ॥

इन्द्रादिसम्बन्धिनो वीर्यस्यानुरूपं चरितं राजानुतिष्ठेत्। तथा च राजा कण्टकोद्धारेण प्रतापानुरागाभ्यां संयुक्तः स्यात् ॥ ३०३ ॥

कथमिन्द्रादिचरितमनुतिष्ठेदित्याह—

वार्षिकांश्चतुरो मासान् यथेन्द्रोऽभिप्रवर्षति।
तथाभिवर्षेत्स्वं राष्ट्रं कामैरिन्द्रव्रतं चरन् ॥ ३०४ ॥

जिस प्रकार इन्द्र श्रावण आदि चार मासोंमें (अन्नादिकी वृद्धिकेलिए) जल बरसाते हैं, उसी प्रकार इन्द्रके व्रतका आचरण करता हुआ राजा अपने राज्यमें आए हुए साधु-महात्माओंकी इच्छाको पूरा करे ॥ ३०४ ॥

ऋतुसंवत्सरपक्षाश्रयणेनेदमुच्यते। यथा श्रावणादींश्चतुरो मासानिन्द्रः सस्यादिसिद्ध्ये वर्षत्येवमिन्द्रचरितमनुतिष्ठन् राजा स्वदेशायातसाधूनभिलषितार्थैः पूरयेत् ॥३०४॥

अष्टौ मासान् यथादित्यस्तोयं हरति रश्मिभिः।
तथा हरेत्करं राष्ट्रान्नित्यकर्मव्रतं हि तत् ॥ ३०५ ॥

जिस प्रकार सूर्य अगहन आदि आठ मासोंमें किरणोंके द्वारा जलको हरण करता (लेता = सुखाता) है, उसी प्रकार राजा राज्यसे करको लेवे वह राजाका 'सूर्य-व्रत' है ॥ ३०५ ॥

यथा सूर्यो मार्गशीर्षाद्यष्टमासान् रश्मिभिः स्तोकं स्तोकं रसमीषत्तापेनादत्ते, तथा राजा शास्त्रीयकरानपीडया सदा राष्ट्राद् गृह्णीयात। यस्मादेतदस्यार्कव्रतम् ॥ ३०५ ॥

प्रविश्य सर्वभूतानि यथा चरति मारुतः।
तथा चारैः प्रवेष्टव्य व्रतमेतद्धि मारुतम् ॥ ३०६ ॥

जिस प्रकार वायु सब प्राणियोंमें प्रवेशकर विचरण करती है, उसी प्रकार राजाको गुप्तचरों द्वारा सर्वत्र प्रवेश करना चाहिये यह राजाका 'वायुव्रत' है ॥ ३०६ ॥

यथा प्राणाख्यो वायुः सर्वजन्तुष्वन्तः प्रविश्य विचरत्येवं चारद्वारेण स्वपरमण्डलजालेषु चिकीर्षितार्थज्ञानार्थमन्तःप्रवेष्टव्यम् । यस्मादेतन्मारुतं चरितम् ॥ ३०६ ॥

यथा यमः प्रियद्वेष्यौ प्राप्ते काले नियच्छति ।
तथा राज्ञा नियन्तव्याः प्रजास्तद्धि यमव्रतम् ॥ ३०७ ॥

जिस प्रकार यमराज समय आनेपर प्रिय और अप्रिय सबको मारता है, उसी प्रकार राजा समय आने (अपराध करने) पर प्रिय-अप्रिय सब प्रजाओंको दण्डित करे; यह राजाका 'यमव्रत' है ॥ ३०७ ॥

यद्यपि यमस्य शत्रुमित्रे न स्तस्तथापि तन्निन्दकार्चकयोः शत्रुमित्रयोर्यथा यमः शत्रुमित्रमरणकाले तुल्यवन्नियमयत्येवं राज्ञाऽपराधकाले रागद्वेषपरिहारेण प्रजाः प्रमापणीयाः । यस्मादेतदस्य याम्यं व्रतम् ॥ ३०७ ॥

वरुणेन यथा पाशैर्बद्ध एवाभिदृश्यते ।
तथा पापान्निगृह्णीयाद् व्रतमेतद्धि वारुणम् ॥ ३०८ ॥

जिस प्रकार बन्धनकेयोग्य मनुष्य वरुणके पाससे बँधा हुआ ही दीखता (अवश्य बांधा जाता) है, उसी प्रकार राजा पापियों (अपराधियोंको, जब तक वे सन्मार्गपर नहीं आ जाय तबतक) निग्रह करे, यह राजाका 'वरुणव्रत' ॥ ३०८ ॥

यो वरुणस्य रज्जुभिर्बन्धयितुमिष्टः स यथा तेनाविशङ्कितः पाशैर्बद्ध एव लक्ष्यते । तथा पापकारिणोऽविशङ्कितानेव यावन्न पारयन्ते तावच्छासयेत् । यस्मादेतदस्य वारुणं व्रतम् ॥

परिपूर्णं यथा चन्द्रं दृष्ट्वा हृष्यन्ति मानवाः ।
तथा प्रकृतयो यस्मिन्स चान्द्रव्रतिको नृपः ॥ ३०९ ॥

जिस प्रकार परिपूर्ण चन्द्रमाको देखकर मनुष्य हर्षित होते हैं, उसी प्रकार अमात्य आदि प्रकृति (९।२९४ तथा समस्त प्रजा) जिस राजाको देखकर हर्षित हों, वह राजा चान्द्रव्रतिक ('चन्द्रव्रत'वाला) है ॥ ३०९ ॥

यथा पूर्णेन्दुदर्शनेन मनुष्या हर्षमुत्पादयन्त्येवममात्यादयो यस्मिन्दृष्टे तुष्टिमुपगच्छन्ति स चन्द्राचारचारी नरेन्द्रः ॥ ३०९ ॥

प्रतापयुक्तस्तेजस्वी नित्यं स्यात्पापकर्मसु ।
दुष्टसामन्तहिंस्रश्च तदाग्नेयं व्रतं स्मृतम् ॥ ३१० ॥

राजा पापियों (अपराधियों) को दण्डित करनेमें सर्वदा प्रचण्ड तथा असह्य तेजवाला होवे तथा दुष्ट (प्रतिकूल व्यवहार करनेवाले) मन्त्री आदिका वध करनेवाला होवे, यह राजाका 'आग्नेयव्रत' है ॥ ३१० ॥

पापकारिषु सदा दण्डपातेन प्रचण्डोऽसहनः स्यात्तथा प्रतिकूलामात्यहिंसनशीलो भवेत् । तदस्याग्निसम्बन्धि व्रतं स्मृतम् ॥ ३१० ॥

यथा सर्वाणि भूतानि धरा धारयते समम् ।
तथा सर्वाणि भूतानि बिभ्रतः पार्थिवं व्रतम् ॥ ३११ ॥

जिस प्रकार पृथ्वी सब प्राणियोंको समान भावसे धारण करती है, उसी प्रकार सब प्रजाओंका समान भावसे पालन करते हुए राजाका वह 'पार्थिव (पृथिवी-सम्बन्धी) व्रत' है ३११ ॥

यथा पृथिवी सर्वाण्युच्चावचानि स्थावरजङ्गमान्युत्कृष्टापकृष्टानि समं कृत्वा धारयते, तद्वद्विद्वद्धनिकगुणवद्भूतानि, तदितराणि च दीनानाथादिसर्वभूतानि रक्षणधनदानादिना सामान्येन धारयतः पृथिवीसम्बन्धि व्रतं भवति ॥ ३११ ॥

एतैरुपायैरन्यैश्च युक्तो नित्यमतन्द्रितः ।
स्तेनान्राजा निगृह्णीयात्स्वराष्ट्रे पर एव च ॥ ३१२ ॥

राजा इन सब तथा अपनी बुद्धिसे प्रयुक्त दूसरे उपायोंसे युक्त एवं सर्वदा आलस्यहीन होकर अपने राज्यमें रहनेवाले तथा दूसरे राज्यमें रहते हुए अपने राज्यमें आकर चोरी करनेवाले चोरोंका निग्रह करे (उन्हें दण्डित कर रोके) ॥ ३१२ ॥

एतैरुक्तोपायैरन्यैश्चानुक्तैरपि स्वबुद्धिप्रयुक्तो राजानलसः सन् स्वराष्ट्रे ये चौरा वसन्ति, ये च परराष्ट्रे वसन्तस्तद्देशमागत्य मुष्णन्ति तानुभयप्रकारान्निगृह्णीयात् । "सोऽग्निर्भवति वायुश्च" (म० स्मृ. ७-७) इत्यादिना पूर्वसिद्धवदुक्तमग्न्यादिरूपत्वमिह तु तद्गुणयोगेन स्फुटीकृतमित्यपुनरुक्तिः ॥ ३१२ ॥

परामप्यापदं प्राप्तो ब्राह्मणान्न प्रकोपयेत् ।
ते ह्येनं कुपिता हन्युः सद्यः सबलवाहनम् ॥ ३१३ ॥

(कोपक्षयादि रूप) महाविपत्तिमें फसा हुआ भी राजा ब्राह्मणोंको क्रुद्ध न करे, क्योंकि क्रुद्ध वे ब्राह्मण सेना-वाहनके सहित इस राजाको (शाप तथा अभिचार मारण-मोहनादि कर्म से) तत्काल नष्ट कर देते हैं ॥ ३१३ ॥

कोशक्षयादिना प्रकृष्टामप्यापदं प्राप्तो राजा ब्राह्मणान्न प्रकोपयेत् । यस्मात्ते रुष्टाः सबलवाहनमेनं सद्य एव शापाभिचाराभ्यां हन्युः ॥ ३१३ ॥

तथाहि—

यैः कृतः सर्वभक्ष्योऽग्निरपेयश्च महोदधिः ।
क्षयी चाप्यायितः सोमः को न नश्येत्प्रकोप्य तान् ॥ ३१४ ॥

जिन ब्राह्मणोंने (शाप देकर अग्निको सर्वभक्षी, समुद्रको अपेत (नहीं पीने योग्य—खारे पानी वाला), और चन्द्रमाको क्षययुक्त कर पीछे पूरा किया, उन (ब्राह्मणों) को क्रुद्धकर कौन नष्ट नहीं हो जायेगा ? अर्थात् सभी नष्ट हो जायेंगे (अत एव ब्राह्मणोंको क्रुद्ध कदापि नहीं करना चाहिये) ॥ ३१४ ॥

यैर्ब्राह्मणैरभिशापेन सर्वभक्ष्योऽग्निः कृतः, समुद्रश्चापेयजलः, चन्द्रश्च क्षययुक्तः पश्चात्पूरितस्तान्कोपयित्वा को न नश्येत् ॥ ३१४ ॥

किंच—

लोकानन्यान्सृजेयुर्ये लोकपालांश्च कोपिताः ।
देवान्कुर्युरदेवांश्च कः क्षिण्वंस्तान्समृध्नुयात् ॥ ३१५ ॥

जो ब्राह्मण दूसरे स्वर्ग आदि दूसरे लोकों तथा लोकपालोंकी रचना कर सकते हैं तथा क्रोधित करनेपर शाप आदिसे देवोंको भी अदेव (मनुष्य आदि) कर सकते हैं; उन ब्राह्मणोंको पीडित करता हुआ कौन मनुष्य उन्नतिको पा सकता है ? ॥ ३१५ ॥

ये स्वर्गादिलोकान्परानन्यांश्च लोकपालान्सृजन्तीति सम्भाव्यते । देवांश्च शापेन मानुषादीन्कुर्वन्ति तान्पीडयन् कः समृद्धिं प्राप्नुयात् ॥ ३१५ ॥

अपि च—

यानुपाश्रित्य तिष्ठन्ति लोका देवाश्च सर्वदा ।
ब्रह्म चैव धनं येषां को हिंस्यात्ताञ्जिजीविषुः ॥ ३१६ ॥

यज्ञको करने-करानेवाले जिन ब्राह्मणोंका आश्रयकर (पृथ्वी आदि) लोक तथा (इन्द्र आदि) देव स्थिति पाते हैं और ब्रह्म (वेद) ही जिनका धन है उन ब्राह्मणोंको जीनेका इच्छुक कौन व्यक्ति मारेगा ? अर्थात् कोई नहीं ॥ ३१६ ॥

यान्ब्राह्मणान् यजनयाजनकर्तृकानाश्रित्य "अग्नौ प्रास्ताहुतिः" (म०स्मृ०३-७६) इति न्यायेन पृथिव्यादिलोका देवाश्च स्थितिं लभन्ते, वेद एव च येषां धनमभ्युदयसाधनतया याजनाध्यापनादिना धनोपायत्वाच्च, ताञ्जीवितुमिच्छन् को हिंस्यात् ॥ ३१६ ॥

एवं तर्हि विद्वांसं ब्राह्मणं सेवेतेत्यत आह—

अविद्वांश्चैव विद्वांश्च ब्राह्मणो दैवतं महत् ।
प्रणीतश्चाप्रणीतश्च यथाग्निर्दैवतं महत् ॥ ३१७ ॥

जिस प्रकार शास्त्र-विधिसे स्थापित अग्नि तथा सामान्य अग्नि—ये दोनों ही श्रेष्ठ देवता हैं, उसी प्रकार मूर्ख तथा विद्वान् दोनों ही ब्राह्मण श्रेष्ठ देवता हैं (इस कारण मूर्ख ब्राह्मणका भी निरादर नहीं करना चाहिये) ॥ ३१७ ॥

यथाऽऽहितोऽनाहितो वाग्निर्महती देवता, एवं मूर्खो विद्वांश्च ब्राह्मणः प्रकृष्टा देवतेति ॥

श्मशानेष्वपि तेजस्वी पावको नैव दुष्यति ।
हूयमानश्च यज्ञेषु भूय एवाभिवर्धते ॥ ३१८ ॥

जिस प्रकार तेजस्वी अग्नि श्मशानोंमें भी (शवको जलाती हुई) दूषित नहीं होती, और यज्ञोंमें हवन करनेपर फिर अधिक बढ़ती ही है ॥ ३१८ ॥

यथाग्निर्महातेजाः श्मशाने शवं दहन्कार्येऽपि नैव दुष्टो भवति किन्तु पुनरपि यज्ञेषु हूयमानोऽभिवर्धते ॥ ३१८ ॥

एवं यद्यप्यनिष्टेषु वर्तन्ते सर्वकर्मसु ।
सर्वथा ब्राह्मणाः पूज्याः परमं दैवतं हि तत् ॥ ३१९ ॥

उसी प्रकार यद्यपि ब्राह्मण निन्दित कर्मोंमें भी प्रवृत्त होते हैं, तथापि सब प्रकारसे ब्राह्मण पूज्य हैं, क्योंकि वे उत्तम देवता हैं ॥ ३१९ ॥

एवं कुत्सितकर्मस्वपि सर्वेषु यद्यपि ब्राह्मणाः प्रवर्तन्ते तथापि सर्वप्रकारेण पूज्याः । यस्मात् प्रकृष्टं तद् दैवतम् । स्तुत्यर्थत्वाच्चास्य न यथाश्रुतार्थविरोधः शङ्कनीयः ॥ ३१९ ॥

क्षत्रस्यातिप्रवृद्धस्य ब्राह्मणान्प्रति सर्वशः ।
ब्रह्मैव सन्नियन्तृ स्यात्क्षत्रं हि ब्रह्मसंभवम् ॥ ३२० ॥

अत्यन्त समृद्ध (तेजस्वी) भी क्षत्रिय यदि ब्राह्मणको पीडित करे तो उसका (शाप आदि के द्वारा) शासन करनेवाला ब्राह्मण ही है, क्योंकि क्षत्रिय ब्राह्मण (की बाहु) से उत्पन्न है ॥ ३२० ॥

क्षत्रियस्य ब्राह्मणान्प्रति सर्वथा पीडानुवृत्तस्य ब्राह्मणा एव शापाभिचारादिना सम्यक् नियन्तारः । यस्मात्क्षत्रियो ब्राह्मणात्सम्भूतः, ब्रह्मणो बाहुप्रसूतत्वात् ॥ ३२० ॥

तथा च—

अद्भ्योऽग्निर्ब्रह्मतः क्षत्रमश्मनो लोहमुत्थितम् ।
तेषां सर्वत्रगं तेजः स्वासु योनिषु शाम्यति ॥ ३२१ ॥

पानीसे अग्नि, ब्राह्मणसे क्षत्रिय और पत्थरसे लोहा (परम्परा द्वारा तलवार बाण आदि शस्त्र) उत्पन्न हुए हैं, सर्वतोगामी उनका तेज अपनी योनि (उत्पन्न करनेवाले) में शान्त (शक्तिहीन) हो जाता है ॥ ३२१ ॥

जलब्राह्मणपाषाणेभ्योऽग्निक्षत्रियशस्त्राणि जातानि तेषां सम्बन्धि तेजः सर्वत्र दहनाभिभवच्छेदनात्मकं कार्यं करोति । स्वकारणेषु जलब्राह्मणपाषाणाख्येषु दहनाभिभवच्छेदनात्मकं कार्यं न करोति ॥ ३२१ ॥

नाब्रह्म क्षत्रमृध्नोति नाक्षत्रं ब्रह्म वर्धते ।
ब्रह्म क्षत्रं च संपृक्तमिह चामुत्र वर्धते ॥ ३२२ ॥

ब्राह्मणके बिना क्षत्रिय तथा क्षत्रियके बिना ब्राह्मण समृद्धिको नहीं पा सकते, (किन्तु) मिले हुए ब्राह्मण तथा क्षत्रिय इस लोकमें तथा परलोकमें (धर्मार्थ-काममोक्ष रूप चतुर्विध पुरुषार्थको पानेसे) समृद्धिको पाते हैं ॥ ३२२ ॥

ब्राह्मणरहितक्षत्रियो वृद्धिं न याति, शान्तिकपौष्टिकव्यवहारेक्षणादिधर्मविरहात् । एवं क्षत्रियरहितोऽपि ब्राह्मणो न वर्धते, रक्षां विना यागादिकर्मानिष्पत्तेः । किन्तु ब्राह्मणः क्षत्रियश्च परस्परसम्बद्ध एवेह लोके परलोके च धर्मार्थकाममोक्षावाप्त्या वृद्धिमेति । दण्डकरणे चेयं ब्राह्मणस्तुतिर्ब्राह्मणानामपराधिनामपि लघुदण्डप्रयोगनियमार्था ॥ ३२२ ॥

यदा तु विशिष्टदर्शनेनाचिकित्स्यव्याधिना वासन्नमृत्युर्भवति तदा—

दत्त्वा धनं तु विप्रेभ्यः सर्वदण्डसमुत्थितम् ।
पुत्रे राज्यं समासृज्य कुर्वीत प्रायणं रणे ॥ ३२३ ॥

सब दण्डों (जुर्माने) से प्राप्त धनको ब्राह्मणोंके लिए देकर तथा राज्यको पुत्रके लिए सौंपकर (क्षत्रिय राजा) युद्धमें प्राणत्याग करे (और युद्धके असम्भव होनेपर) अनशन आदिसे प्राणत्याग करे ॥ ३२३ ॥

महापातकिधनव्यतिरिक्तविनियुक्तावशिष्टसर्वदण्डधनं ब्राह्मणेभ्यो दत्त्वा, पुत्रे राज्यं समर्प्यासन्नमृत्युः फलातिशयप्राप्तये संग्रामे प्राणत्यागं कुर्यात् । संग्रामासम्भवे त्वनशनादिनापि ॥ ३२३ ॥

एवं चरन् सदा युक्तो राजधर्मेषु पार्थिवः ।
हितेषु चैव लोकस्य सर्वान्भृत्यान्नियोजयेत् ॥ ३२४ ॥

इस प्रकार (सप्तमसे नवम अध्याय तकमें वर्णित) राजधर्मोंमें तत्पर होकर व्यवहार करता हुआ राजा लोक-हितकर कार्योंमें समस्त भृत्योंको नियुक्त करे ॥ ३२४ ॥

एवमध्यायत्रयोक्तराजधर्मेषु व्यवहार्यमाणो राजा सर्वदा यत्नवान्प्रजाहितेषु सर्वान्भृत्यान्विनियोजयेत् ॥ ३२४ ॥

एषोऽखिलः कर्मविधिरुक्तो राज्ञः सनातनः ।
इमं कर्मविधिं विद्यात्क्रमशो वैश्यशूद्रयोः ॥ ३२५ ॥

(भृगुजी महर्षियोंसे कहते हैं कि—मैंने) राजाके इस समस्त सनातन कर्मविधानको कहा, अब क्रमशः वैश्य तथा शूद्रके वक्ष्यमाण कर्मविधानको जानना चाहिये ॥ ३२५ ॥

एतद्राज्ञः कर्मानुष्ठानं पारंपर्यागततया नित्यं समग्रमुक्तम् । इदानीं वैश्यशूद्रक्रमेण वक्ष्यमाणमिदं कर्मानुष्ठानं जानीयात् ॥ ३२५ ॥

वैश्यस्तु कृतसंस्कारः कृत्वा दारपरिग्रहम् ।
वार्तायां नित्ययुक्तः स्यात्पशूनां चैव रक्षणे ॥ ३२६ ॥

वैश्य यज्ञोपवीत संस्कार होनेके बाद विवाहको करके खेती आदि करने तथा पशुपालनमें सर्वदा लगा रहे ॥ ३२६ ॥

वैश्यः कृतोपनयनपर्यन्तसंस्कारो विवाहादिकं कृत्वा जीविकायां वक्ष्यमाणायां कृष्यादिकार्यार्थं पशुपालने च सदा समायुक्तः स्यात । पशुरक्षणस्य वार्तात्वेऽपि प्राधान्यख्यापनार्थं पृथग्विधानम् । तथा चोत्तरश्लोकाभ्यां प्राधान्यं दर्शयति ॥ ३२६ ॥

प्रजापतिर्हि वैश्याय सृष्ट्वा परिददे पशून् ।
ब्राह्मणाय च राज्ञे च सर्वाः परिददे प्रजाः ॥ ३२७ ॥

ब्रह्माने पशुओंकी सृष्टि करके पालन (करनेके लिए) वैश्योंको दिया तथा सब प्रजाओंकी सृष्टि करके (रक्षा करनेके लिये) ब्राह्मण तथा राजाको दिया ॥ ३२७ ॥

यस्माद् ब्रह्मा पशून्सृष्ट्वा रक्षणार्थं वैश्याय दत्तवानतो वैश्येन रक्षणीयाः पशव इति पूर्वानुवादः । प्रजाश्च सर्वाः सृष्ट्वा ब्राह्मणाय राज्ञे च रक्षणार्थं दत्तवानिति प्रसङ्गादेतदुक्तम् ॥

न च वैश्यस्य कामः स्यान्न रक्षेयं पशूनिति ।
वैश्ये चेच्छति नान्येन रक्षितव्याः कथंचन ॥ ३२८ ॥

'मैं पशुपालन नहीं करूँ' ऐसी इच्छा वैश्यको कदापि नहीं करनी चाहिये और वैश्यको पशुपालनकी इच्छा करते रहनेपर राजाको दूसरेसे पशु-पालन नहीं कराना चाहिये ॥ ३२८ ॥

पशुरक्षणं न करोमीति वैश्येनेच्छा न कार्या । अतः कृष्यादिवृत्तिसम्भवेऽपि वैश्येन पशुरक्षणमवश्यं करणीयम् । वैश्ये च पशुरक्षणं कुर्वत्यन्यः पशुरक्षणं न कारयितव्यः ॥

किंच—

मणिमुक्ताप्रवालानां लोहानां तान्तवस्य च ।
गन्धानां च रसानां च विद्यादर्घबलाबलम् ॥ ३२९ ॥

मणि, मोंती, मूंगा, लोहा, कपड़ा, गन्ध (कर्पूर आदि), और रस (नमक आदि) के मूल्य की कमी-वेशीको वैश्य देशकालानुसार मालूम करे ॥ ३२९ ॥

मणिमुक्ताविद्रुमलोहवस्त्राणां, गन्धानां कर्पूरादीनां, रसानां लवणादीनामुत्तममध्यमानां देशकालापेक्षया मूल्योत्कर्षापकर्षं वैश्यो जानीयात् ॥ ३२९ ॥

बीजानामुप्तिविच्च स्यात्क्षेत्रदोषगुणस्य च ।
मानयोगं च जानीयात्तुलायोगांश्च सर्वशः ॥ ३३० ॥

सब बीजोंको बोनेकी विधि (कौन बीज किस समयमें कैसे खेतमें, कितने प्रमाणमें किस प्रकार बोया जाता है इत्यादि विधि), खेतोंके गुण तथा दोष, तौल (मन, आधमन, पसेरी, सेर, छटाक आदि तथा तोला, मासा रत्ती आदि) तथा तौलनेके उपाय; इन सबको वैश्य अच्छी तरह मालूम करे ॥ ३३० ॥

बीजानां सर्वेषां वपनविधिज्ञः स्यात्। इदं बीजमस्मिन्काले तत्र संहतं चोप्तं प्ररोहत्य-स्मिन्नेत्येवं तथेदमूपरमिदं सस्यप्रदमित्यादिक्षेत्रदोषगुणज्ञश्च स्यात्। मानोपायांश्च प्रस्थद्रो-णादीन् तुलोपायांश्च सर्वान् तत्त्वतो जानीयात्। यथाऽन्यो न वञ्चयति ॥ ३३० ॥

सारासारं च भाण्डानां देशानां च गुणागुणान्।
लाभालाभं च पण्यानां पशूनां परिवर्धनम् ॥ ३३१ ॥

वस्तुओंकी सारता (अच्छापन) तथा निःसारता (खराबी) देशोंके गुण तथा दोष, सौदों (बेचे जानेवाली वस्तुओं) के लाभ तथा हानि, पशुओंको बढ़ानेके उपाय (किस समयमें कैसा कार्य करनेसे पशुओंकी उन्नति होगी इत्यादि उपाय) ॥ ३३१ ॥

इदमुत्कृष्टमेतदपकृष्टमित्येकजातीनामपि द्रव्याणां विशेषं जानीयात्तथा देशानां प्राक्प-श्चिमादीनां क किमल्पमूल्यं किं बहुमूल्यं चेत्यादि देशगुणदोषौ बुध्येत। विक्रयद्रव्याणां चेयता कालेन इयानपचय उपचयो वेति विद्यात्। तथाऽस्मिन् देशे कालेऽनेन च तृणोदक-यवादिना पशवो वर्धन्तेऽनेन क्षीयन्त इत्येतदपि जानीयात् ॥ ३३१ ॥

भृत्यानां च भृतिं विद्याद्भाषाश्च विविधा नृणाम्।
द्रव्याणां स्थानयोगांश्च क्रयविक्रयमेव च ॥ ३३२ ॥

नौकरों (या मजदूरों) का (देश, काल तथा परिश्रमके अनुसार) वेतन, मनुष्योंकी अनेक देश की भाषा; वस्तुओंके योग्य स्थान तथा मिलावट (अमुक वस्तु अमुक स्थानमें रखनेपर तथा मिलानेपर बिगड़ेगी या सुरक्षित रहेगी, इत्यादि), क्रय-विक्रयका ज्ञान (अमुक वस्तुको अमुक स्थान तथा समयमें खरीदने तथा बेचने से लाभ होगा, इत्यादि) इन सब विषयोंको वैश्य अच्छी तरह मालूम करे ॥ ३३२ ॥

गोपालमहिषपालानामितीदमस्य देयमिति देशकालकर्मानुरूपं वेतनं जानीयात्। गौड-दाक्षिणात्यादीनां च मनुष्याणां नानाप्रकारा भाषा विक्रयाद्यर्थं विद्यात्तथेदं द्रव्यमेवं स्थाप्य-तेऽनेन च संयुक्तं चिरं तिष्ठतीति बुद्ध्येत, तथेदं द्रव्यमस्मिन्देशे काले चेयता विक्रीयत इत्येतदपि जानीयात् ॥ ३३२ ॥

धर्मेण च द्रव्यवृद्धावातिष्ठेद्यत्नमुत्तमम्।
दद्याच्च सर्वभूतानामन्नमेव प्रयत्नतः ॥ ३३३ ॥

वैश्य इस प्रकार (९।३२६-३३२) धर्मसे (व्यापार, पशुपालन तथा खेतीके द्वारा) धन बढ़ानेका उद्योग करता रहे तथा सब प्राणियोंके लिए प्रयत्नपूर्वक अन्नका ही अधिक दान करता रहे ॥ ३३३ ॥

धर्मेण विक्रयादिनोक्तप्रकारेण धनवृद्धौ प्रकृष्टं यत्नं कुर्यात्। हिरण्यादिदानमपेक्ष्यान्न-मेव प्राणिभ्यो विशेषेण दद्यात् ॥ ३३३ ॥

विप्राणां वेदविदुषां गृहस्थानां यशस्विनाम्।
शुश्रूषैव तु शूद्रस्य धर्मो नैश्रेयसः परः ॥ ३३४ ॥

वेदज्ञाता ब्राह्मणों तथा यशस्वी सद्गृहस्थोंकी सेवा करना ही शूद्रका कल्याणकारण उत्तम धर्म है ॥ ३३४ ॥

शूद्रस्य पुनर्वेदविदां गृहस्थानां स्वधर्मानुष्ठानेन यशोयुक्तानां ब्राह्मणां या परिचर्या सैव प्रकृष्टस्वर्गादिश्रेयोहेतुर्धर्मः ॥ ३३४ ॥

शुचिरुत्कृष्टशुश्रूषुर्मृदुवागनहंकृतः ।
ब्राह्मणाद्याश्रयो नित्यमुत्कृष्टां जातिमश्नुते ॥ ३३५ ॥

शुद्ध (बाहरी शारीरिक शुद्धि तथा भीतरी मानसिक शुद्धिसे युक्त), अपनेसे श्रेष्ठ जातिवालों की सेवा करनेवाला, मधुर भाषण करनेवाला, अहङ्कारसे रहित और सदा ब्राह्मणादिके आश्रयमें रहनेवाला शूद्र श्रेष्ठ जातिको प्राप्त करता है ॥ ३३५ ॥

बाह्याभ्यन्तरशौचोपेतः, स्वजात्यपेक्षयोत्कृष्टद्विजातिपरिचरणशीलः, अपरुषभाषी, निरहङ्कारः, प्राधान्येन ब्राह्मणाश्रयस्तदभावे क्षत्रियवैश्याश्रयोऽपि स्वजातित उत्कृष्टां जातिं प्राप्नोति ॥ ३३५ ॥

एषोऽनापदि वर्णानामुक्तः कर्मविधिः शुभः ।
आपद्यपि हि यस्तेषां क्रमशस्तन्निबोधत ॥ ३३६ ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

(भृगुजी महर्षियोंसे कहते हैं कि—मैंने) आपत्तिकाल नहीं रहनेपर वर्णों (ब्राह्मणादि चारों वर्णों) के कल्याणकारक कर्मको कहा, उन (ब्राह्मणादि वर्णों के आपत्तिकालमें भी जो धर्म है, उसे (आपलोग कहते हुए मुझसे) मालूम कीजिये ॥ ३३६ ॥

एष वर्णानामनापदि चतुर्णामपि कर्मविधिर्धर्म उक्तः, आपद्यपि यस्तेषां धर्मः तं सङ्कीर्णश्रवणादूर्ध्वं च क्रमेण शृणुत ॥ ३३६ ॥ से० श्लो० ॥ ६ ॥

इति श्रीकुल्लूकभट्टविरचितायां मन्वर्थमुक्तावल्यां नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

अथ दशमोऽध्यायः

अधीयीरंस्त्रयो वर्णाः स्वकर्मस्था द्विजातयः ।
प्रब्रूयाद् ब्राह्मणस्त्वेषां नेतराविति निश्चयः ॥ १ ॥

अपने-अपने कर्ममें तत्पर तीनों (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) वर्णवाले द्विज (वेदको) पढें तथा ब्राह्मण उन तीनों वर्णोंको पढ़ावे, दूसरे दोनों (क्षत्रिय तथा वैश्य) वर्ण नहीं पढ़ावें, ऐसा शास्त्रीय निर्णय है ॥ १ ॥

वैश्यशूद्रधर्मानन्तरं "सङ्कीर्णानां च सम्भवम्" (म० स्मृ० १–११६) इति प्रतिज्ञातत्वात्तस्मिन्वाच्ये वर्णेभ्य एव सङ्कीर्णानामुत्पत्तेः वर्णानुवादार्थं त्रैवर्णिकस्य प्रधानधर्ममध्ययनं ब्राह्मणस्य चाध्यापनमनुवदति । ब्राह्मणादयस्त्रयो वर्णा अध्ययनाङ्गभूतस्वकर्मानुष्ठातारो वेदं पठेयुः । एषां पुनर्मध्ये ब्राह्मण एवाध्यापनं कुर्यान्न क्षत्रियवैश्याविल्ययं निश्चयः । प्रब्रूयाद् ब्राह्मणस्त्वेषामित्यनेनैव क्षत्रियवैश्ययोरध्यापननिषेधसिद्धौ नेतराविति पुनर्निषेधवचनं प्रायश्चित्तगौवार्थम् ॥ १ ॥

किंच—

सर्वेषां ब्राह्मणो विद्याद्वृत्त्युपायान् यथाविधि ।
प्रब्रूयादितरेभ्यश्च स्वयं चैव तथा भवेत् ॥ २ ॥

ब्राह्मण सबों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र वर्णों) की जीविका के उपायको स्वयं मालूम करे, उनका उन्हें उपदेश दे तथा स्वयं भी वैसा ही (शास्त्रोक्त नियमानुसार आचरण करने वाला) होवे ॥ ॥

सर्वेषां वर्णानां जीवनोपायं यथाशास्त्रं ब्राह्मणो जानीयात्तेभ्यश्चोपदिशेत्स्वयं च यथोक्तवन्नियममनुतिष्ठेत् ॥ २ ॥

अत्रानुवादः—

वैशेष्यात्प्रकृतिश्रैष्ठ्यान्नियमस्य च धारणात् ।
संस्कारस्य विशेषाच्च वर्णानां ब्राह्मणः प्रभुः ॥ ३ ॥

जातिकी विशिष्टतासे, उत्पत्ति-स्थान (ब्रह्माके मुख) की श्रेष्ठतासे (अध्ययन अध्यापन एवं व्याख्यान आदिके द्वारा नियम (श्रुति–स्मृति विहित आचरण) के धारण करनेसे और यज्ञोपवीत संस्कार आदिकी श्रेष्ठतासे सब वर्णों में ब्राह्मण ही वर्णोंका स्वामी है) ॥ ३ ॥

जात्युत्कर्षात , प्रकृतिः कारणं हिरण्यगर्भोत्तमाङ्गरूपकारणोत्कर्षात नियम्यतेऽनेनेति नियमो वेदस्तस्याध्ययनाध्यापनव्याख्यानादियुक्तसातिशयवेदधारणात् । अत एव "ब्रह्मणश्चैव धारणात्" (म० स्मृ० १–९३) इति सातिशयवेदधारणेनव ब्राह्मणोत्कर्ष उक्तः । गोविन्दराजस्तु स्नातकव्रतानां धारणादिति व्याख्यातवान् । तन्न, क्षत्रियादिसाधारण्यात् । संस्कारस्योपनयनाख्यस्य क्षत्रियाद्यपेक्षया प्राधान्यविधाने विशेषाद्वर्णानामध्यापनवृत्त्युपदेशयोर्ब्राह्मण एवेश्वरः ॥ ३ ॥

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः ।
चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रो नास्ति तु पञ्चमः ॥ ४ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, ये तीन वर्ण 'द्विजाति' (या द्विज') हैं, और चौथा एक वर्ण शूद्र है; पांचवा (वर्ण कोई भी) नहीं है ॥ ४ ॥

ब्राह्मणादयस्त्रयो वर्णा द्विजाः, तेषामुपनयनविधानात्। शूद्रः पुनश्चतुर्थो वर्ण एकजातिः, उपनयनाभावात्। पञ्चमः पुनर्वर्णो नास्ति। संकीर्णजातीनां त्वश्वतरवन्मातापितृजातिव्यतिरिक्तजात्यन्तरत्वान्न वर्णत्वम्। अयं च जात्यन्तरोपदेशः शास्त्रे संव्यवहरणार्थः ॥ ४ ॥

सर्ववर्णेषु तुल्यासु पत्नीष्वक्षतयोनिषु।
आनुलोम्येन सम्भूता जात्या ज्ञेयास्त एव ते ॥ ५ ॥

(इन पूर्वोक्त) सब वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र) अथवा योनिसमान जातिवाली स्त्रियोंमें क्रमशः उत्पन्न सन्तान 'सजातीय' कहलाते हैं ॥ ५ ॥

ब्राह्मणादिषु वर्णेषु चतुर्ष्वपि, समानजातीयासु यथाशास्त्रं परिणीतास्वक्षतयोनिष्वानुलोम्येन ब्राह्मणेन ब्राह्मण्यां क्षत्रियेण क्षत्रियायामित्यनेनानुक्रमेण ये जातास्ते मातापित्रोर्जात्या युक्तास्तज्जातीया एव ज्ञातव्याः। आनुलोम्यग्रहणं चात्र मन्दोपयुक्तमुत्तरश्लोक उपयोक्ष्यते। गवाश्वादिवदवयवसन्निवेशस्य ब्राह्मणजात्यभिव्यञ्जकाभावादेतद् ब्राह्मणादिलक्षणमुक्तम्। अत्र च पत्नीग्रहणादन्यपत्नीजनितानां न ब्राह्मणादिजातित्वम्।

तथा च देवलः—

"द्वितीयेन तु यः पित्रा सवर्णायां प्रजायते।
अववाट इति ख्यातः शूद्रधर्मा स जातितः॥
व्रतहीना न संस्कार्याः स्वतन्त्रास्वपि ये सुताः।
उत्पादिताः सवर्णेन व्रात्या इव बहिष्कृताः॥"

व्यासः—

"ये तु जाता समानासु संस्कार्याः स्युरतोऽन्यथा।"

याज्ञवल्क्योऽपि—

"सवर्णेभ्यः सवर्णासु जायन्ते हि सजातयः" (या० स्मृ० १-९०)

इत्यभिधाय "विन्नास्वेष विधिः स्मृतः" (या० स्मृ० १-९२) इति ब्रुवाणः प्रत्युत्पादितस्यैव ब्राह्मणादिजातित्वं निश्चिकाय ॥ २ ॥

स्त्रीष्वनन्तरजातासु द्विजैरुत्पादितान्सुतान्।
सदृशानेव तानाहुर्मातृदोषविगर्हितान् ॥ ६ ॥

द्विजाति (१०।४) के द्वारा बादवाले वर्णकी स्त्रियोंमें (ब्राह्मणसे क्षत्रियामें, क्षत्रियसे वैश्यामें तथा वैश्यसे शूद्रामें) उत्पन्न किये हुए माताके (हीन वर्णवाली होनेसे) दोषसे निन्दित पुत्रोंको पिताके समान जातिवाला कहा गया है ॥ ६ ॥

आनुलोम्येनाव्यवहितवर्णजातीयासु भार्यासु द्विजातिभिर्ये उत्पादिताः पुत्राः, यथा ब्राह्मणेन क्षत्रियायां, वैश्यायां, वैश्येन शूद्रायां तन्मातुर्हीनजातीयत्वदोषाद्गर्हितान्पितृसदृशान्न तु पितृसजातीयान्मन्वादय आहुः। पितृसदृशग्रहणान्मातृजातेरुत्कृष्टाः पितृजातितो निकृष्टा ज्ञेयाः। एतेषां च नामानि मूर्धावसिक्तमाहिष्यकारणाख्यानि याज्ञवल्क्यादिभिरुक्तानि, वृत्तयश्चैषामुशनसोक्ताः—"हस्त्यश्वरथशिक्षासाधारणं च मूर्धावसिक्तानां, नृत्यगीतनक्षत्रजीवनं सस्यरक्षा च माहिष्याणां, द्विजातिशुश्रूषा धनधान्याध्यक्षता राजसेवा दुर्गान्तःपुररक्षा च पारशवोग्रकरणानाम्" इति ॥ ६ ॥

अनन्तरासु जातानां विधिरेष सनातनः।
द्व्येकान्तरासु जातानां धर्म्यं विद्यादिमं विधिम् ॥ ७ ॥

(भृगुजी महर्षियोंसे कहते हैं कि) अनन्तर वर्णवाली स्त्रियोंमें उत्पन्न पुत्रोंका यह सनातन विधान है। एक या दो वर्णोंके अनन्तरवाली स्त्रीमें (क्रमशः एक वर्णकी अनन्तरवाली जैसे ब्राह्मणसे वैश्यामें, क्षत्रियसे शूद्रामें, दो वर्णोंकी अनन्तर वाली जैसे - ब्राह्मणसे शूद्रामें उत्पन्न पुत्रका विधान यह (आगे कहा हुआ) समझना चाहिये ॥ ७ ॥

एष पारम्पर्यागततया नित्यो विधिरनन्तरजातिभार्योत्पन्नानामुक्तः। एकेन द्वाभ्यां च वर्णाभ्यां व्यवहितासूत्पन्नानां यथा ब्राह्मणेन वैश्यायां क्षत्रियेण शूद्रायां ब्राह्मणेन शूद्रायामिमं वक्ष्यमाणं धर्मादनपेतं विधिं जानीयात् ॥ ७ ॥

ब्राह्मणाद्वैश्यकन्यायामम्बष्ठो नाम जायते।
निषादः शूद्रकन्यायां यः पारशव उच्यते ॥ ८ ॥

ब्राह्मणसे (विवाहिता) वैश्यामें उत्पन्न 'अम्बष्ठ' नामक शूद्रामें उत्पन्न 'निषाद' नामान्तरसे 'पारशव' नामक पुत्र होता है ॥ ८ ॥

कन्याग्रहणादत्रोढायामित्यध्याहार्यम्, "विन्नास्वेष विधिः स्मृतः" (या० स्मृ० १-९२) इति याज्ञवल्क्येन स्फुटीकृतत्वाच्च। ब्राह्मणाद्वैश्यकन्यायामूढायामम्बष्ठाख्यो जायते। शूद्रकन्यायामूढायां निषाद उत्पद्यते। यः संज्ञान्तरेण पारशवश्चोच्यते ॥ ८ ॥

क्षत्रियाच्छूद्रकन्यायां क्रूराचारविहारवान्।
क्षत्रशूद्रवपुर्जन्तुरुग्रो नाम प्रजायते ॥ ९ ॥

क्षत्रियसे (विवाहित) शूद्र वर्णवाली स्त्रीमें उत्पन्न पुत्र क्रूरकर्मा तथा क्रूर चेष्टावाला एवं क्षत्रिय-शूद्रके स्वभाववाला 'उग्र' नामक पुत्र होता है ॥ ९ ॥

क्षत्रियाच्छूद्रकन्यायामूढायां क्रूरचेष्टः क्रूरकर्मरतिश्च क्षत्रशूद्रस्वभाव उग्राख्यः पुत्रो जायते ॥ ९ ॥

विप्रस्य त्रिषु वर्णेषु नृपतेर्वर्णयोर्द्वयोः।
वैश्यस्य वर्णे चैकस्मिन्षडेतेऽपसदाः स्मृताः ॥ १० ॥

ब्राह्मणसे तीन (क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र) वर्णवाली स्त्रियोंमें; क्षत्रियसे दो (वैश्य तथा शूद्र) वर्णवाली स्त्रियोंमें और वैश्यसे एक (शूद्र) वर्णवाली स्त्रीमें उत्पन्न-ये ६ प्रकारके पुत्र निकृष्ट कहे गये हैं ॥ १० ॥

ब्राह्मणस्य क्षत्रियादित्रयस्त्रीषु. क्षत्रियस्य वैश्यादिवर्णद्वयोः स्त्रियोः, वैश्यस्य च शूद्रायां, वर्णत्रयाणामेते षट् पुत्राः सवर्णपुत्रकार्यापेक्षयापसदा अवसन्ना निकृष्टाः स्युः ॥ १० ॥

एवमनुलोमानुक्त्वा प्रतिलोमानाह—

क्षत्रियाद्विप्रकन्यायां सूतो भवति जातितः।
वैश्यान्मागधवैदेहौ राजविप्राङ्गनासुतौ ॥ ११ ॥

क्षत्रियसे ब्राह्मण वर्णकी कन्यामें उत्पन्न पुत्र 'सूत' वैश्यसे क्षत्रिय वर्णकी कन्यामें उत्पन्न पुत्र 'मागध' और ब्राह्मण वर्णकी कन्यामें उत्पन्न पुत्र 'वैदेह' संज्ञक होता है ॥ ११ ॥

अत्र विवाहासम्भवात्कन्याग्रहणं स्त्रीमात्रप्रदर्शनार्थम्। अत्रैव श्लोके राजविप्राङ्गनासुताविति ब्राह्मण्यां क्षत्रियाज्जात्या सूतनामा संजायते। वैश्याद्यथाक्रमं क्षत्रियाब्राह्मण्योर्मागधवैदेहाख्यौ पुत्रौ भवतः। एषां च वृत्तयो मनुनैवाभिधास्यन्ते ॥ ११ ॥

शूद्रादायोगवः क्षत्ता चण्डालश्चाधमो नृणाम्।
वैश्यराजन्यविप्रासु जायन्ते वर्णसंकराः ॥ १२ ॥

शूद्रसे वैश्य; क्षत्रिय तथा ब्राह्मणकी कन्यामें उत्पन्न पुत्र क्रमशः 'आयोगव, क्षत्ता' और मनुष्योंमें नीचतम 'चण्डाल' संज्ञक होता है ॥ १२ ॥

शूद्राद्वैश्याक्षत्रियाब्राह्मणीषु क्रमेणायोगवः क्षत्ता नृणामधमश्चण्डालश्च वर्णानां संकरो येषु जनयितव्येषु ते वर्णसंकरा जायन्ते ॥ १२ ॥

एकान्तरे त्वानुलोम्यादम्बष्ठोग्रौ यथा स्मृतौ।
क्षत्तृवैदेहकौ तद्वत्प्रातिलोम्येऽपि जन्मनि ॥ १३ ॥

अनुलोम क्रमसे (उच्च वर्णवाले पुरुषसे नीच वर्णवाली स्त्रीमें) एक वर्णके अन्तरवाली स्त्रीमें उत्पन्न 'अम्बष्ठ' (१०।८) तथा 'उग्र' (१०।९) संज्ञक पुत्र जिस प्रकार स्पर्शादिके योग्य हैं, उसी प्रकार प्रतिलोम क्रमसे (नीच वर्णवाले पुरुषसे उच्च वर्णवाली स्त्रीमें एक वर्णके अन्तरवाली स्त्रीमें) उत्पन्न 'क्षत्ता' (१०।९) तथा 'वैदेह' (१०।११) संज्ञक पुत्र भी स्पर्शादिके योग्य हैं ॥ १३ ॥

एकान्तरेऽपि वर्णे ब्राह्मणाद्वैश्यकन्यायामम्बष्ठः, क्षत्रियाच्छूद्रकन्यायामुग्रः, एतावानुलोम्येन यथा स्पर्शाद्यर्हौ तद्वदेकान्तरे प्रतिलोमजननेऽपि शूद्रात्क्षत्रियायां क्षत्ता, वैश्याद् ब्राह्मण्यां वैदेहः, एतावपि स्पर्शादियोग्यौ विज्ञेयौ। एकान्तरोत्पन्नयोः स्पर्शाद्यनुज्ञानादनन्तरोत्पन्नानां सूतमागधायोगवानां स्पर्शादियोग्यत्वं सिद्धं भवति। अतश्चण्डाल एवैकः प्रतिलोमतः स्पर्शादौ निरस्यते ॥ १३ ॥

पुत्रा येऽनन्तरस्त्रीजाः क्रमेणोक्ता द्विजन्मनाम्।
ताननन्तरनाम्नस्तु मातृदोषात्प्रचक्षते ॥ १४ ॥

द्विजों (१०।४) से अनन्तर (ब्राह्मणसे क्षत्रियामें, क्षत्रियसे वैश्यामें तथा वैश्यसे शूद्रामें), एकान्तर (ब्राह्मणसे वैश्यामें तथा क्षत्रियसे शूद्रामें) और द्व्यन्तर (ब्राह्मणसे शूद्रामें) वर्णवाली स्त्रियोंमें उत्पन्न पुत्र जो कहे गये हैं; मातृदोष (माताकी नीचवर्णता) से उत्पन्न उनके संस्कार आदि माताकी जातिके अनुसार ही मन्वादि महर्षियोंने बतलाया है ॥ १४ ॥

मातुर्दोषादिति हेतूपन्यासादनन्तरग्रहणमनन्तरवच्चैकान्तरद्व्यन्तरप्रदर्शनार्थम्। ये द्विजातीनामनन्तरैकान्तरद्व्यन्तरजातिस्त्रीष्वानुलोम्येनोत्पन्नाः पूर्वमुक्ताः पुत्रास्तान्हीनजातिमातृदोषान्मातृजातिव्यपदेश्यानाचक्षते। मातापितृव्यतिरिक्तसङ्कीर्णजातित्वेऽप्येषां मातृजातिव्यपदेशकथनं मातृजातिसंस्काराविधर्मप्राप्त्यर्थम् ॥ १४ ॥

ब्राह्मणादुग्रकन्यायामावृतो नाम जायते।
आभीरोऽम्बष्ठकन्यायामायोगव्यां तु धिग्वणः ॥ १५ ॥

ब्राह्मणसे 'उग्र' (१०।९) 'अम्बष्ठ' (१०।८) तथा 'आयोगव' (१०।१२)। की कन्याओंमें उत्पन्न पुत्र क्रमशः 'आवृत, आभीर और धिग्वण' संज्ञक होते हैं ॥ १५ ॥

क्षत्रियेण शूद्रायामुत्पन्नोग्रा, उग्रा वासौ कन्या चेत्युग्रकन्या तस्यां ब्राह्मणादावृतनामा जायते। ब्राह्मणेन वैश्यायामुत्पन्नाऽम्बष्ठा तस्यां ब्राह्मणादाभीराख्यो जायते। शूद्रेण वैश्यायामुत्पन्ना आयोगवी तस्यां ब्राह्मणाद्धिग्वणो जायते ॥ १५ ॥

आयोगवश्च क्षत्ता च चण्डालश्चाधमो नृणाम्।
प्रातिलोम्येन जायन्ते शूद्रादपसदास्त्रयः ॥ १६ ॥

शूद्रसे प्रतिलोमक्रमसे (नीच वर्णके पुरुषसे उच्च वर्णकी कन्यामें) उत्पन्न 'आयोगव, क्षत्ता तथा चण्डाल' संज्ञक पुत्र शूद्रकी अपेक्षाहीन तथा मनुष्योंमें अधम होते हैं ॥ १६ ॥

आयोगवः क्षत्ता चण्डालश्च मनुष्याणामधमा इत्येते त्रयो व्युत्क्रमेण वैश्याक्षत्रियाब्राह्मणीषु पुत्रकार्यादपगतास्त्रयः शूद्रा जायन्ते। पुत्रकार्याक्षमत्वप्रतिपादनार्थमुक्तानामप्येषां पुनर्वचनम्। एवमुत्तरश्लोकोक्तानामपि ॥ १६ ॥

वैश्यान्मागधवैदेहौ क्षत्रियात्सूत एव तु।
प्रतीपमेते जायन्ते परेऽप्यपसदास्त्रयः ॥ १७ ॥

प्रतिलोम क्रमसे वैश्यसे (क्रमशः क्षत्रिय तथा ब्राह्मणकी कन्याओंमें) उत्पन्न 'मागध तथा वैदेह' और क्षत्रियसे (ब्राह्मणकी कन्यामें) उत्पन्न 'सूत' (१०।११) संज्ञक ये तीनों पुत्र भी (पुत्रकार्यकी अपेक्षा) नीच माने गये हैं ॥ १७ ॥

क्षत्रियाब्राह्मण्योर्मागधवैदेहौ, क्षत्रियाद् ब्राह्मण्यां सूत इत्येवं प्रातिलोम्येनापरेऽपि त्रयः पुत्रकार्यादपसदा जायन्ते ॥ १७ ॥

जातो निषादाच्छूद्रायां जात्या भवति पुक्कसः।
शूद्राज्जातो निषाद्यां तु स वै कुक्कुटकः स्मृतः ॥ १८ ॥

'निषाद' (१०।८) से शूद्र वर्णकी कन्यामें उत्पन्न पुत्र 'पुक्कस' और शूद्रमें 'निषाद' की कन्यामें उत्पन्न पुत्र 'कुक्कुट' संज्ञक कहा गया है ॥ १८ ॥

निषादाच्छूद्रायां जातो जात्या पुक्कसो भवति। निषाद्यां पुनः शूद्राद्यो जातः स कुक्कुटकनामा स्मृतः ॥ १८ ॥

क्षत्तुर्जातस्तथोग्रायां श्वपाक इति कीर्त्यते।
वैदेहकेन त्वम्बष्ठ्यामुत्पन्नो वेण उच्यते ॥ १९ ॥

क्षत्ता (१०।१२) से 'उग्र' (१०।२१) की कन्यामें उत्पन्न पुत्र 'श्वपाक' संज्ञक कहा जाता है और 'वैदेह' (१०।११) से 'अम्बष्ठ' (१०।१२) की कन्यामें उत्पन्न पुत्र 'वेण' संज्ञक कहा गया है ॥ १९ ॥

शूद्रेण क्षत्रियायां जातः क्षत्ता, क्षत्रियेण शूद्रायां जाता उग्रा, तेन तस्यां जातः श्वपाक इत्युच्यते। वैदेहकेनाम्बष्ठ्यां ब्राह्मणेन वैश्याजातायां वेण इति कथ्यते ॥ १९ ॥

द्विजातयः सवर्णासु जनयन्त्यव्रतांस्तु यान्।
तान्सावित्रीपरिभ्रष्टान्व्रात्यानिति विनिर्दिशेत् ॥ २० ॥

द्विज (१०।४) द्वारा अपने समान वर्णवाली स्त्रियोंमें उत्पादित यज्ञोपवीत संस्कारके अयोग्य एवं सावित्रीसे भ्रष्ट पुत्रोंको 'व्रात्य' कहा जाता है ॥ २० ॥

द्विजातयः सवर्णासु स्त्रीषु यान्पुत्रानुत्पादयन्ते ते चेदुपनयनाख्यव्रतहीना भवन्ति तदा तानकृतोपनयनान्व्रात्येत्यनया संज्ञया व्यपदिशेत्। "अत ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते" (म० स्मृ० २-३९) इत्युक्तमपि व्रात्यलक्षणं प्रतिलोमजपुत्रवदस्याप्युपकाराक्षमपुत्रत्वप्रदर्शनार्थमस्मिन्संकीर्णप्रकरणेऽनूदितम् ॥ २० ॥

व्रात्यात्तु जायते विप्रात्पापात्मा भूर्जकण्टकः।
आवन्त्यवाटधानौ च पुष्पधः शैख एव च ॥ २१ ॥

'व्रात्य' (१०।२०) संज्ञक ब्राह्मणसे ब्राह्मणीमें 'भूर्जकण्टक' संज्ञक पापी पुत्र उत्पन्न होता है। देशभेदसे इसीके 'आवन्त्य, वाटधान, पुष्पध और शैख' संज्ञाएं भी हैं ॥ २१ ॥

व्रात्याद् ब्राह्मणाच्च "सवर्णासु" (म० स्मृ० १०-२०) इत्यनुवृत्तेर्ब्राह्मण्यां पापस्वभावो भूर्जकण्टको जायते। तथा आवन्त्यवाटधानपुष्पधशैखा जायन्ते। एकस्य चैतानि देशभेदप्रसिद्धानि नामानि ॥ २१ ॥

झल्लो मल्लश्च राजन्याद्व्रात्यान्निच्छिविरेव च।
नटश्च करणश्चैव खसो द्रविड एव च ॥ २२ ॥

'व्रात्य' (१०।२०) संज्ञक क्षत्रियसे क्षत्रियामें उत्पन्न 'झल्ल, मल्ल, निच्छिवि, नट, करण, खस और द्रविड' संज्ञक पुत्र उत्पन्न होते हैं। (ये सब संज्ञाएं भी देशभेदसे एक ही पुत्रकी हैं) ॥२२॥

क्षत्रियाद् व्रात्यात्सवर्णायां झल्लमल्लनिच्छिविनटकरणखसद्रविडाख्या जायन्ते। एतान्यप्येकस्यैव नामानि ॥ २२ ॥

वैश्यात्तु जायते व्रात्यात्सुधन्वाचार्य एव च।
कारुषश्च विजन्मा च मैत्रः सात्वत एव च ॥ २३ ॥

'व्रात्य' (१०।२०) संज्ञक वैश्यसे वैश्यामें उत्पन्न पुत्र 'सुधन्वाचार्य (सुधन्वा तथा आचार्य), कारुष, विजन्मा, मैत्र और सात्वत' संज्ञक होते हैं। (ये सब संज्ञाएं भी देशभेदसे एक ही पुत्रकी हैं) ॥ २३ ॥

वैश्यात्पुनर्व्रात्यात्सवर्णायां सुधन्वाचार्यकारुषविजन्ममैत्रसात्वताख्या जायन्ते। एकस्य चैतान्यपि नामानि ॥ २३ ॥

व्यभिचारेण वर्णानामवेद्यावेदनेन च।
स्वकर्मणां च त्यागेन जायन्ते वर्णसंकराः ॥ २४ ॥

ब्राह्मणादि वर्णोंके (परस्पर-परस्त्रीके साथ) व्यभिचारसे, एक गोत्रमें विवाह करनेसे और यज्ञोपवीत संस्कार आदि अपने कर्मों को छोड़नेसे 'वर्णसङ्कर' सन्तानें उत्पन्न होती हैं ॥ २४ ॥

ब्राह्मणादिवर्णानामन्यान्यस्त्रीगमनेन, सगोत्रादिविवाहेन, उपनयनरूपस्वकर्मत्यागेन वर्णसंकरो नाम जायते। अतो युक्तमस्मिन्प्रकरणे व्रात्यानामभिधानम् ॥ २४ ॥

सङ्कीर्णयोनयो ये तु प्रतिलोमानुलोमजाः।
अन्योन्यव्यतिषक्ताश्च तान्प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ २५ ॥

(भृगुजी महर्षियोंसे कहते हैं कि —) जो प्रतिलोम (नीचवर्ण पुरुषसे उच्चवर्णा स्त्रीमें) और अनुलोम (उच्चवर्ण पुरुष तथा नीचवर्णा स्त्रीमें) क्रमसे उत्पन्न होनेवाली परस्परमिश्रित जो 'सङ्कीर्ण' योनियां अर्थात् 'वर्णसङ्कर' जातियां हैं; उन्हें (मैं) विशेष रूपसे कहूँगा ॥ २५ ॥

ये संकीर्णयोनयः प्रतिलोमैरनुलोमैश्च परस्परसम्बन्धाज्जायन्ते तान्विशेषेण वक्ष्यामि ॥२५॥

सूतो वैदेहकश्चैव चण्डालश्च नराधमः।
मागधः क्षत्रजातिश्च तथाऽयोगव एव च ॥ २६ ॥

सूत, वैदेह, नराधम चण्डाल, मागध, क्षत्ता और आयोगव— ॥ २६ ॥

एते षड्युक्तलक्षणाः सूतादय उत्तरार्थमनूद्यन्ते ॥ २६ ॥

एते षट् सदृशान्वर्णाञ्जनयन्ति स्वयोनिषु।
मातृजात्यां प्रसूयन्ते प्रवरासु च योनिषु ॥ २७ ॥

ये ६ प्रतिलोमज (नीच पुरुषसे उच्चवर्णा स्त्रियोंमें उत्पन्न) पुरुष अपनी-अपनी जातिवाले, अपनी-अपनी माताओंकी जाति, अपनेसे श्रेष्ठ क्षत्रियादि जाति तथा नीच शूद्रादि जातिवाली स्त्रियों में अपने ही समान जातिवाले हीन वर्णोंको उत्पन्न करते हैं ॥ २७ ॥

एते पूर्वोक्ताः षट् प्रतिलोमजाः स्वयोनिषु सुतोत्पत्तिं कुर्वन्ति। यथा शूद्रेण वैश्यायां जात आयोगवः, आयोगव्यामेव। मातृजातौ वैश्यायां, प्रवरासु क्षत्रियाब्राह्मणीयोनिषु,। चकारादपकृष्टायामपि शूद्रजातौ, सर्वत्र सदृशान्वर्णाञ्जनयन्ति। सदृशत्वं च न पित्रपेक्षया किन्तु मातृजात्यादिषु चातुर्वर्ण्यस्त्रीष्वेव पितृतोऽधिकगर्हितपुत्रोत्पत्तेर्वक्ष्यमाणत्वात्, तत्सदृशान्पितृतोऽधिकगर्हितान्, स्वजातावपि जनयन्तीत्येतावदेवाप्राप्तत्वादनेन विधीयते। किन्तु जघन्यवर्णेनोत्तमवर्णस्त्रीषु जनितत्वात्क्रियादुष्टा आयोगवाद्याः प्रतिलोमजाः क्रियादुष्टाभ्यां मातापितृभ्यां तुल्याभ्यामपि जनिते आयोगवादिपुत्रे ब्रह्महन्तृमातापितृजनितवदधिकदुष्ट एव न्याय्यः। शुद्धब्राह्मणादिजातीयेन शुद्धब्राह्मण्यादिसजातीयायां जनितः पितृतुल्य एवोचितो न तु क्रियादुष्टोभयजनितोऽपि ॥ २७ ॥

यथा त्रयाणां वर्णानां द्वयोरात्मास्य जायते।
आनन्तर्यात्स्वयोन्यां तु तथा बाह्येष्वपि क्रमात् ॥ २८ ॥

जिस प्रकार तीन वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य) में से दो वर्णों क्षत्रिय तथा वैश्या) में इस (ब्राह्मण) की आत्मा (द्विज) सन्तान उत्पन्न होती है और अपनी सवर्णा (ब्राह्मणी) में द्विज सन्तान उत्पन्न होती है, उसी प्रकार बाह्य वर्णों (वैश्य तथा क्षत्रियसे क्षत्रिया तथा ब्राह्मणीमें भी) क्रमसे द्विज सन्तान होती है ॥ २८ ॥

यथा त्रयाणां वर्णानां क्षत्रियवैश्यशूद्राणां मध्याद् द्वयोर्वर्णयोः क्षत्रियवैश्ययोर्गमने ब्राह्मणस्यानुलोम्याद् द्विज उत्पद्यते, सजातीयायां च द्विजो जायते। एवं बाह्येष्वपि क्षत्रियवैश्याभ्यां वैश्यक्षत्रियाभ्यां क्षत्रियाब्राह्मण्योर्जातिषूत्कर्षापक्रमो भवति। शूद्रजातप्रतिलोमापेक्षया द्विजाद्युत्पन्नप्रतिलोमप्राशस्त्यार्थमिदम्।

मेधातिथिस्तु–द्विजत्वप्रतिपादकमेतदेषां वचनमुपनयार्थमित्याह। तन्न, "प्रतिलोमजास्तु धर्महीनाः" इति गौतमेन संस्कारनिषेधात् ॥ २८ ॥

---

१. अस्य ब्राह्मणस्य त्रयाणां वर्णानामात्मा जायते–द्वयोर्वर्णयोः क्षत्रियवैश्ययोर्द्विजत्वं जायते, तथा स्वयोनौ, एवं त्रयाणां वर्णानां ब्राह्मणो द्विजान् जनयति। एवं बाह्येष्वपि प्रातिलोम्येन वैश्यक्षत्रियाभ्यां क्षत्रियब्राह्मण्योरात्मा द्विजत्वं भवति। सति च द्विजत्वे उपनयनं कर्तव्यम्। वक्ष्यति च–'एते षट् द्विजधर्माणः' इति। एतावांस्तु विशेषः—अनुलोमता मातृजात्या। मातृजातीया स्तुतिमात्रमिदं वक्ष्यामः।

ते चापि बाह्यान्सुबहूंस्ततोऽप्यधिकदूषितान् ।
परस्परस्य दारेषु जनयन्ति विगर्हितान् ॥ २९ ॥

वे आयोगव (१०-१२) आदि ६ वर्णशङ्कर जातिवाले पुरुष परस्पर जातीवाली स्त्रियोंमें बहुत, अनुलोमज सन्तानसे भी अधिक दूषित तथा (सत्कार्योंमें) निन्दित सन्तानोंको उत्पन्न करते हैं ॥ २९ ॥

ते चायोगवादयः षट् परस्परजातीयासु भार्यासु सुबहूनानुलोम्येऽप्यधिकदुष्टान्सत्क्रियाबहिर्भूताञ्जनयन्ति । तद्यथा—आयोगवः क्षत्तृजायायामात्मनो हीनतरं जनयति, तथा क्षत्ताप्यायोगव्यामात्मनो हीनतरमुत्पादयति । एवमन्येष्वपि प्रतिलोमेषु द्रष्टव्यम् ॥ २९ ॥

यथैव शूद्रो ब्राह्मण्यां बाह्यं जन्तुं प्रसूयते ।
तथा बाह्यतरं बाह्यश्चातुर्वर्ण्ये प्रसूयते ॥ ३० ॥

जिस प्रकार शूद्र पुरुष ब्राह्मणीमें सर्वदा त्याज्य चण्डाल' (१०।१२) जातिवाली सन्तानको उत्पन्न करता है, उसी प्रकार 'चण्डाल' भी ब्राह्मणी आदि चारों वर्णवाली स्त्रियोंमें अपनेसे भी अधिक हीन सन्तानको उत्पन्न करता है ॥ ३० ॥

यथा ब्राह्मण्यां शूद्रोऽपकृष्टं चण्डालाख्यं प्राणिनं प्रसूयते जनयत्येवं बाह्यश्चण्डालादिवर्णचतुष्टये चण्डालादिभ्योऽप्यपकृष्टं पुत्रं प्रसूयते ॥ ३० ॥

तदेव विस्तारयति—

प्रतिकूलं वर्तमाना बाह्या बाह्यतरान्पुनः ।
हीना हीनान्प्रसूयन्ते वर्णान्पञ्चदशैव तु ॥ ३१ ॥

(द्विज प्रतिलोमजोंकी अपेक्षा हीन होनेसे) प्रतिलोमज अर्थात् आयोगव, क्षत्ता तथा चण्डाल (१०-१२)—ये तीनों (चारों वर्णवाली स्त्रियां (ब्राह्मणी, क्षत्रिया, वैश्या तथा शूद्रा) में और एक आयोगवीमें) कुल मिलाकर १५ प्रकारकी अपनेसे बाह्य (सर्वकर्मबहिर्भूत) तथा हीन सन्तानों को उत्पन्न करते हैं ॥ ३१ ॥

अत्र [1]मेधातिथिगोविन्दराजयोर्व्याख्यानं—चातुर्वर्ण्यबाह्याश्चण्डालक्षत्रायोगवाः शूद्र-

---

(१) एकैकस्य तु वर्णस्य सङ्कीर्णयोनयो भवन्ति । कस्यचिदनुलोमाः कस्यचित्प्रतिलोमाः कस्यचिदनुलोमप्रतिलोमाः । ब्राह्मणस्यानुलोमाः शूद्रस्य प्रतिलोमा एव । क्षत्रियवैश्ययोरनुलोमाः प्रतिलोमाश्च । क्षत्रियस्य द्वावनुलोमौ, एकः प्रतिलोमः, वैश्यस्यैकोऽनुलोमो द्वौ प्रतिलोमौ, एवमेते द्वादशानुलोमप्रतिलोमा; । एतेषामेकैकस्य चतुर्षु गच्छतश्चत्वारो भेदा भवन्ति । ते च केचिद्धीना बाह्यतरास्तु सर्व एव । बाह्यतरत्वं मातापितृजातेर्विप्रकर्षः कर्मभ्यो हीनत्वात । तदेतदुदाहरणैः स्फुटीक्रियते-प्रतिलोमांस्तावद् गृहीत्वा वक्ष्यामः । आयोगवो वैश्यायां शूद्राज्जातः शूद्रायां वैश्यायां क्षत्रियायां ब्राह्मण्यां चतुरो जनयति सोऽयमात्मना सह पञ्चधाऽऽयोगवः । एवं क्षतृचण्डाला अपि । एवं शूद्राः त्रयः पञ्चकाः पञ्चदशधा भवन्ति । एवं वैश्यप्रभवौ द्वौ प्रतिलोमौ-क्षत्रियायां मागधो, ब्राह्मण्यां वैदेहकः । शूद्रायामनुलोमस्तत्र यः शूद्रायां जातः स यदा चातुर्वर्ण्यं जनयति तदैष एव प्रकारः । स यदा शूद्रां गच्छति तदा हीनतरो वर्णो जायते तदपेक्षया । एवं वैश्यां गच्छन् हीनतरं जनयति । एवं क्षत्रियायां ब्राह्मण्यां च केवलं शूद्राज्जातोत्कृष्टा एवमित्यपेक्षावशाद्धीनांश्चाहीनांश्च । एवं क्षत्रिये ब्राह्मणे च द्रष्टव्यम् । ब्राह्मणस्य त्वयं विशेषोऽनुलोमा एव तस्य भवन्ति एवं चतुर्वर्णानां प्रत्येकं पञ्चदशधा भेदाः षष्टि सम्पद्यन्तो मुख्याश्चत्वारो वर्णाः सा चतुःषष्टिर्भवति । परस्परसम्पर्कात्तेषामन्येऽनन्तभेदा

प्रभवास्त्रयश्चातुर्वर्ण्यं गच्छन्त आत्मनो हीनतरान् परस्परापेक्षयापकृष्टोत्कृष्टत्वर्णप्रभवत्वात्प-ञ्चदशवर्णान् संपादयन्ति। तद्यथा—चण्डालः शूद्रायामात्मनो हीनतरं वैश्याक्षत्रियाब्राह्मणी-जातेभ्य उत्कृष्टं जनयति। एवं वैश्यायां ततोऽप्यपसदं, क्षत्रियायां ब्राह्मणीजातादुत्कृष्टं जन-यति। ततोऽपसदं क्षत्रियायां, ब्राह्मणीजातादुत्कृष्टम्। ततोऽपि हीनं ब्राह्मण्यां जनयति। एवं क्षत्त्रायोगवावपि चातुर्वर्ण्ये चतुरश्चतुरो जनयतः। इत्येते शूद्रप्रभवचण्डालक्षत्त्रायोग-वेभ्यश्चातुर्वर्ण्यंद्वादशप्रभेदा उत्पद्यन्ते। आत्मना च चण्डालक्षत्त्रायोगवास्त्रय इत्येवं शूद्र-प्रभवाः पञ्चदश उत्पद्यन्ते। एवं वैश्यक्षत्रियब्राह्मणप्रभवाः प्रत्येकं पञ्चदश संभवन्ति। एवं षष्टिश्चातुर्वर्ण्येन सह चतुःषष्टिप्रभेदा भवन्ति। ते तु परस्परगमनेन नानावर्णाञ्जनयन्तीति।

नैतन्मनोहरम्, पूर्वश्लोके षण्णां प्रतिलोमजानां प्रकृतत्वात्तद्विस्तारकथनत्वाच्चास्य। अत्रापि श्लोके प्रतिकूलं वर्तमाना इत्युपादानात्प्रतिलोमजमात्रविषयोऽयं श्लोको नानु-लोमजविषयः। तथा च वैश्यक्षत्रियब्राह्मणप्रभवाश्च प्रत्येकं पञ्चदश संभवन्त्येवं षष्टिरिति न सङ्गच्छते। नच सम्भवात्रैणैवेयं षष्टिरुक्ता न दुष्टतया, शूद्रप्रभवायोगवक्षत्तृचण्डाला एव चातुर्वर्ण्यसंतानोपेताः पञ्चदश गर्हिता इति वाच्यम्, यतो वैश्यक्षत्रियाभ्यामपि प्रति-लोमत उत्पादितानां त्रयाणां हीनत्वात्तैरपि चातुर्वर्ण्ये जनितानां गर्हितत्वस्य सम्भवात्।

'तथा बाह्यतरं बाह्यश्चातुर्वर्ण्यं प्रसूयते। (म. स्मृ. १०-३०)

इति मनुनैवानन्तरं स्फुटमुक्तत्वात्। युवाभ्यामपि तथैव व्याख्यातत्वाच्चातुर्वर्ण्येन सह चतुःषष्टिरिति सर्वथैवाप्रकृतम्। नहि सङ्कीर्णप्रकरणे शुद्धचातुर्वर्ण्यगणनोचिता। किञ्च "वर्णान्पञ्चदश प्रसूयन्त" इति श्रूयमाणद्वादशजनानुक्त्वा ते चात्मना चण्डालक्षत्त्रायोग-वास्त्रय इत्येवं शूद्रप्रभवाः पञ्चदशेति न युक्तम्। अपि चात्मना सह पञ्चदश सम्पादयन्तीति न सगच्छते, असम्पाद्यत्वात्। आत्मनः पञ्चदश सम्पद्यन्त इति च व्याख्यानेऽध्याहार एव दोषस्तस्मादेवं व्याख्यायते—प्रतिकूलं वर्तमानाः प्रतिलोमजाः बाह्याः, द्विजप्रतिलोमजेभ्यो निकृष्टत्वात्। शूद्रप्रभवायोगवक्षत्तृचण्डालास्त्रयः। पूर्वश्लोकादनुवर्तमाने चातुर्वर्ण्यं स्वजातौ "एते षट् सदृशान्" (म. स्मृ. १०-२७) इत्यत्र सजात्युत्पन्नस्य पितृतो गर्हितत्वाभिधा-नादात्मापेक्षया बाह्यतरान्प्रत्येकं पञ्चदश पुत्राञ्जनयन्ति। तद्यथा-आयोगवश्चातुर्वर्ण्यस्त्रीषु चायोगव्यामात्मनो निकृष्टान्पञ्च पुत्राञ्जनयति। एवं क्षत्तृचाण्डालावपि प्रत्येकं पञ्च पुत्रा-ञ्जनयतः। इत्थं बाह्यास्त्रयः पञ्चदश पुत्राञ्जनयन्ति। तथाऽनुलोमजेभ्यो हीना वैश्यक्षत्रिय-प्रभवा मागधवैदेहसूता आत्मापेक्षया हीनान्पूर्ववच्चातुवर्ण्यस्त्रीषु सजातौ प्रत्येकं पञ्च पुत्रा-ञ्जनयन्तो हीना अपि त्रयः पञ्चदशैव पुत्राञ्जनयन्ति। एवं त्रिंशदेते भवन्ति।

अथवा बाह्यशब्दो हीनशब्दश्च षडेव प्रतिलोमजानाह। अत्र बाह्यश्चण्डालक्षत्त्रायोग-ववैदेहमागधसूताः षड्यथोत्तरमुत्कर्षान्प्रातिलोम्येन स्त्रीषु वर्तमाना बाह्यातरान्पञ्चदशैव पुत्राञ्जनयन्ति। तद्यथा—चण्डालः क्षत्रादिषु पञ्चसु स्त्रीषु, क्षत्ताऽऽयोगव्यादिषु चत-सृषु, आयोगवो वैदेह्यादितिसृषु, वैदेहो मागधीसूत्योः, मागधः सूत्यां, सूतस्तु प्रतिलोमाभा-वात्प्रातिलोम्येन पञ्चदशैव पुत्राञ्जनयति। पुनरिति निर्देशाद्धीनाः सूतादयश्चण्डालान्ताः षड्यथोत्तरमपकर्षादानुलोम्येनापि प्रतिलोमोक्तरीत्या स्वापेक्षया हीनान्पञ्चदशव पुत्राञ्ज-नयन्ति। एवं त्रिंशदेते भवन्ति॥ ३१॥

भवन्ति। तदुक्तं "ते चापि बाह्यायां सुबहून्" इति प्रतिकूलं शास्त्रव्यतिक्रमेण वर्तमाना मिथुनीभवन्ति हीनाहीनानित्येकं पदम्। अथवा हीनाः सन्तोऽहीनान्प्रसूयन्ते जनयन्तीत्यर्थः। वर्णान्पञ्चदशैवेति। नास्ति तु पञ्चम इति पञ्चमस्य वर्णाभावात्पञ्चदशसु वर्णत्वमुपचाराद् द्रष्टव्यम्।

प्रसाधनोपचारज्ञमदासं दासजीवनम् ।
सैरिन्ध्रं वागुरावृत्तिं सूते दस्युरयोगवे ॥ ३२ ॥

'दस्यु' (१०।४५) जातिवाला पुरुष 'आयोगव' (१०।१२) जातिवाली स्त्रीमें केश सँवारनेमें चतुर (जूठा नहीं खानेसे) दास-भिन्न, (पादसंवाहन-पैर दबाना—आदि सेवा कार्य करनेसे) दासकी जीविका वाला (देवकार्य = यज्ञ और पितृकार्य = श्राद्धकेलिए) मृगवधादि कार्यसे जीविका चलानेवाला 'सैरन्ध्र' जातिका पुत्र उत्पन्न करता है ॥ ३२ ॥

केशरचनादिः प्रसाधनस्तस्योपचारज्ञम्, अदासमुच्छिष्टभक्षणादिदासकर्मरहितमङ्ग-संवाहनादिदासकर्मजीवनं, पाशबन्धनेन मृगादिवधाख्यवृत्त्यन्तरजीवनं सैरिन्ध्रनामानं, "मुखबाहूरुपज्जानाम्" (म. स्मृ. १०-४५) इति श्लोके वक्ष्यमाणो दस्युरायोगवस्त्री-जातौ शूद्रेण वैश्यायामुत्पन्नायां जनयति तच्चास्य मृगादिमारणं देवपित्र्यौपधार्थं वेदितव्यम् ॥ ३२ ॥

मैत्रेयकं तु वैदेहो माधूकं संप्रसूयते ।
नॄन्प्रशंसत्यजस्रं यो घण्टाताडोऽरुणोदये ॥ ३३ ॥

'वैदेह' (१०।११) जातिवाला पुरुष 'आयोगव' (१०।१२) स्त्रीमें 'मैत्रेयक' संज्ञक जातिवाले मधुरभाषी पुत्रको उत्पन्न करता है, जो प्रातःकाल घण्टा बजाकर राजा आदि बड़े लोगोंकी स्तुति करता हुआ जीविका करता है ॥ ३३ ॥

वैश्याद् ब्राह्मण्यां जातो वैदेहः प्रकृतायामायोगव्यां मैत्रेयाख्यं मधुरभाषिणं जनयति । यः प्रातर्घण्टामाहत्य राजप्रभृतीन्सततं वृत्त्यर्थं स्तौति ॥ ३३ ॥

निषादो मार्गवं सूते दासं नौकर्मजीविनम् ।
कैवर्तमिति यं प्राहुरार्यावर्तनिवासिनः ॥ ३४ ॥

'निषाद' (१०।८) जातिवाला पुरुष ('आयोगव' (१०।१२) जातिवाली स्त्रीमें) नावसे जीविका करनेवाले 'मार्गव' या 'दास' संज्ञक पुत्रको उत्पन्न करता है, जिसे आर्यावर्तके निवासी लोग 'कैवर्त' (केवट–मल्लाह) कहते हैं ॥ ३४ ॥

ब्राह्मणेन शूद्रायां जातो निषादः प्रागुक्तायामायोगव्यां मार्गवं दासापरनामानं नौव्य-हारजीविनं जनयति । आर्यावर्तदेशवासिनः कैवर्तशब्देन यं कीर्तयन्ति ॥ ३४ ॥

मृतवस्त्रभृत्सु नारीषु गर्हितान्नाशनासु च ।
भवन्त्यायोगवीष्वेते जातिहीनाः पृथक् त्रयः ॥ ३५ ॥

कफन (सूतका वस्त्र) पहननेवाली, क्रूर और (जूठा आदि) निन्दित अन्न खानेवाली 'आयोगव' (१०।१२) जातिवाली स्त्रियोंमें हीनजातीय ये तीनों (सैरिन्ध्र; मैत्रेयक और मार्गव) पृथक् पृथक् उत्पन्न होते हैं ॥ ३५ ॥

सैरिन्ध्रमैत्रेयमार्गवा हीनजातीयास्त्रयः मृतवस्त्रपरिधानासु क्रूरासूच्छिष्टादिभक्तान्नाश-नायोगवीषु पितृभेदाद्भिन्ना भवन्ति ॥ ३५ ॥

कारावरो निषादत्तु चर्मकारः प्रसूयते ।
वैदेहिकादन्ध्रमेदौ बहिर्ग्रामप्रतिश्रयौ ॥ ३६ ॥

'निषाद' (१०।८) जातिवाला पुरुष ('वैदेह' (१०।१७) जातीवाली स्त्रीमें) 'कारावर' संज्ञक चर्मकार (चमार) जातिवाले पुत्रको उत्पन्न करता है और 'वैदेहक' (१०।१७) जातिवाला

पुरुष ('निषाद' (१०।८) तथा 'कारावर' (१०।३६) जातिवाली स्त्रियोंमें क्रमशः) 'अन्ध्र' और 'मेद' संज्ञक जातिवाले पुत्रोंको उत्पन्न करता है, ये दोनों ग्रामके बाहर निवास करते हैं ॥ ३६ ॥

"वैदेह्यामेव जायते" (म. स्मृ. १०-३७) इत्युत्तरत्र श्रवणात, अत्राप्याशङ्कायां सैव सम्बध्यते। निषादाद्वैदेह्यां जातः कारावराख्यश्चर्मच्छेदनकारी जायते। अत एव औशनसे कारावराणां चर्मच्छेदनाचरणमेव वृत्तित्वेनोक्तम्। वैदेहकादन्ध्रमेदाख्यौ ग्रामबहिर्वासिनौ। अन्तरानिर्देशाद्वैदेहकेन च वैदेह्यां जातस्य गर्हितवैदेहकस्याप्युचितत्वात्, कारावरनिषादजात्योश्चात्र श्लोके सन्निधानात, कारावरनिषादस्त्रियोरेव क्रमेण जायते ॥ ३६ ॥

चण्डलात्पाण्डुसोपाकस्त्वक्सारव्यवहारवान्।
आहिण्डिको निषादेन वैदेह्यामेव जायते ॥ ३७॥

'वैदेह' (१०।१७) जातिवाली स्त्रीमें 'चण्डाल' (१०।१२) जातिवाला पुरुष बांसके व्यवहारसे जीविका करनेवाले 'पाण्डुसोपाक' संज्ञक जातिवाले पुत्रको तथा 'निषाद' (१०।८) जातिवाला पुरुष 'आहिण्डक' संज्ञक जातिवाले पुत्रको उत्पन्न करता है ॥ ३७ ॥

वैदेह्यां चण्डालात्पाण्डुसोपाकाख्यो वेणुव्यवहारजीवी जायते। निषादेन च वैदेह्यामेवाहिण्डिकाख्यो जायते। अस्य च "बन्धनस्थानेषु बाह्यसंरक्षणादाहिण्डिकानाम्" इत्यौशनसे वृत्तिरुक्ता। समानमातापितृकत्वेऽपि कारावराहिण्डिकयोर्वृत्तिभेदसंश्रवणाद्व्यपदेशभेदः ॥ ३७ ॥

चण्डालेन तु सोपाको मूलव्यसनवृत्तिमान्।
पुक्कस्यां जायते पापः सदा सज्जनगर्हितः ॥ ३८॥
निषादस्त्री तु चण्डालात्पुत्रमन्त्यावसायिनम्।
श्मशानगोचरं सूते बाह्यानामपि गर्हितम् ॥ ३९॥

'चण्डाल' (१०।१२) जातिवाले पुरुषसे 'पुक्कस' (१०।१८) जातिवाली स्त्रीमें 'सोपाक' संज्ञक पुत्र उत्पन्न होता है, सज्जनोंसे निन्दित यह पापी 'जल्लाद' (अपराधियोंको राजाज्ञासे फांसी देनेवाले) का काम करके जीविका करता है ॥ ३८-३९ ॥

शूद्रायां निषादेन जातायां पुक्कस्यां चण्डालेन जातः सोपाकाख्यः पापात्मा, सर्वदा साधुभिर्निन्दितो, मारणोचितापराधस्य मूलं वध्यस्तस्य व्यसनं राजादेशेन मारणं तेन वृत्तिर्यस्य स जायते।

निषादी चण्डालादन्त्यावसायिसंज्ञं चण्डालादिभ्योऽपि दुष्टतमं श्मशानवासिनं तद्वृत्तिं च जनयति ॥ ३८-३९ ॥

संकरे जातयस्त्वेताः पितृमातृप्रदर्शिताः।
प्रच्छन्ना वा प्रकाशा वा वेदितव्याः स्वकर्मभिः ॥ ४० ॥

'वर्णसङ्कर' के विषयमें इन जातियोंको इसका यह माता है और यह पिता है तथा इसकी अमुक जाति है। यह माता-पिताके कहनेसें दिखाया गया है और छिपकर या प्रकट रूपसे उत्पन्न इनको इनके कर्मों (जीविकाओं) से जानना चाहिये ॥ ४० ॥

वर्णसङ्करविषये एता जातयो, यस्येयं जनयित्री, अयं जनकः, स एवं जातीय इत्येवं पितृमातृकथनपूर्वकं दर्शिताः। तथा गूढाः प्रकटा वा तज्जात्युचितकर्मानुष्ठानेन ज्ञातव्याः ॥

सजातिजानन्तरजाः षट् सुता द्विजधर्मिणः।
शूद्राणां तु सधर्माणः सर्वेऽपध्वंसजाः स्मृताः ॥ ४१ ॥

द्विजों (१०।४) से (विधिवत् विवाहित एवं) सजातीया (अपने समान जातिवाली) तथा अनन्तर (अपने बादकी जातिवाली) स्त्रियोंमें उत्पन्न ६ पुत्र, (ब्राह्मणसे, ब्राह्मणीमें, क्षत्रियसे क्षत्रियामें और वैश्यसे वैश्यामें उत्पन्न तीन पुत्र, तथा ब्राह्मणसे क्षत्रिया तथा वैश्यामें, क्षत्रियसे वैश्यामें तीन-प्रकार ३+२+१=६ पुत्र) द्विजधर्मा (द्विजके धर्मवाले यज्ञोपवीत संस्कारके योग्य) हैं तथा प्रतिलोमज (उच्चवर्णवाली स्त्रियोंमें नीच वर्णवाले पुरुषसे उत्पन्न 'सूत, मागध, वैदेह' (१०।११) आदि जातिवाले) जो पुत्र हैं; वे शूद्रोंके समान धर्मवाले (यज्ञोपवीत संस्कार अयोग्य) कहे गये हैं ॥ ४१ ॥

द्विजातिसमानजातीयासु जाताः, तथाऽऽनुलोम्येनोत्पन्नाः ब्राह्मणेन क्षत्रियावैश्ययोः क्षत्रियेण वैश्यायामेवं षट् पुत्रा द्विजधर्मिण उपनेयाः । "ताननन्तरनाम्नस्तु" (म० स्मृ० १०-१४) इति यदुक्तं तत्तज्जातिव्यपदेशार्थं न संस्कारार्थमिति कस्यचिद् भ्रमस्यादत एषां द्विजातिसंस्कारार्थमिदं वचनम् । ये पुनरन्ये द्विजात्युत्पन्ना अपि सूतादयः प्रतिलोमजास्ते शूद्रधर्माणो नैषामुपनयनमस्ति ॥ ४१ ॥

तपोबीजप्रभावैस्तु ते गच्छन्ति युगे युगे ।
उत्कर्षं चापकर्षं च मनुष्येष्विह जन्मतः ॥ ४२ ॥

वे (१०।४१ में वर्णित सजातीय वर्णोंसे उत्पन्न तीन तथा अनन्तर जातीय वर्णोंसे अनुलोम क्रमसे उत्पन्न तीन—कुल ६ प्रकारके) पुत्र तपस्या तथा वीर्यके प्रभावोंसे (तपस्याके प्रभावसे विश्वामित्रके समान तथा वीर्यके प्रभावसे ऋष्यश्रृङ्गके समान) मनुष्योंमें श्रेष्ठ तथा नीच जातिको प्राप्त करते हैं ॥ ४२ ॥

सजातिजानन्तरजाः तपःप्रभावेण विश्वामित्रवत्, बीजप्रभावेण ऋष्यश्रृङ्गादिवत्, कृत-त्रेतादौ मनुष्यमध्ये जात्युत्कर्षं गच्छन्ति । अपकर्षं च वक्ष्यमाणहेतुना यान्ति ॥ ४२ ॥

शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः ।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च ॥ ४३ ॥

इन क्षत्रिय जातियोंने धीरे धीरे क्रिया (यज्ञोपवीत संस्कार तथा सन्ध्यावन्दनादि क्रिया) के लोप होने (छूट जाने) तथा ब्राह्मणोंके दर्शन (के बिना यज्ञ, अध्ययन तथा प्रायश्चित्तादि) के अभाव होनेसे लोकमें शूद्रत्वको प्राप्त कर लिया है ॥ ४३ ॥

इमा वक्ष्यमाणाः क्षत्रियजातय उपनयनादिक्रियालोपेन ब्राह्मणानां च याजनाध्यापन प्रायश्चित्ताद्यर्थदर्शनाभावेन शनैः शनैर्लोके शूद्रतां प्राप्ताः ॥ ४३ ॥

पौण्ड्रकाश्चौड्रद्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः ।
पारदाः पह्लवाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः ॥ ४४ ॥

पौण्ड्रक, चौड्र द्रविड, काम्बोज, यवन, शक, पारद, पह्लव, चीन, किरात, दरद, और शक (—ये भूतपूर्व क्षत्रिय जातियां क्रियालोपादिके कारण शूद्रत्वको प्राप्त हो गयी हैं) ॥ ४४ ॥

पौण्ड्रादिदेशोद्भवाः सन्तः क्रियालोपादिना शूद्रत्वमापन्नाः ॥ ४४ ॥

मुखबाहूरुपज्जानां या लोके जातयो बहिः ।
म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः ॥ ४५ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्योंके (क्रियालोपादि होनेसे) म्लेच्छ-भाषाभाषी या आर्य-भाषाभाषी जो बाह्य जातियां हैं, वे सभी 'दस्यु' कहलाती हैं ॥ ४५ ॥

ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राणां क्रियालोपादिना या जातयो बाह्या जाता म्लेच्छभाषायुक्ता आर्यभाषोपेता वा ते दस्यवः सर्वे स्मृताः ॥ ४५ ॥

ये द्विजानामपसदा ये चापध्वंसजाः स्मृताः ।
ते निन्दितैर्वर्तयेयुर्द्विजानामेव कर्मभिः ॥ ४६ ॥

द्विजोंमें (पिताके उच्चवर्ण होनेसे) जो 'अपसद' (१०।१०) अनुलोमज तथा (पिताके नीचवर्ण होनेसे) जो 'अपध्वंसज' प्रतिलोमज पुत्र हैं; उन सभीको द्विजोंके ही (उपकारक) निन्दित (वक्ष्यमाण १०।४७–५६) कर्म अपनी वृत्तिके लिये करने चाहिये ॥ ४६ ॥

ये द्विजानामानुलोम्येनोत्पन्नाः "षडेतेऽपसदाः स्मृताः" (म० स्मृ० १०-१०) इति । तेषामपि पितृतो जघन्यत्वेनापसदशब्देन प्रागभिधानादपध्वंसजास्ते द्विजात्युपकारकैरेव निन्दितैर्वक्ष्यमाणैः कर्मभिर्जीवेयुः ॥ ४६ ॥

सूतानामश्वसारथ्यमम्बष्ठानां चिकित्सनम् ।
वैदेहकानां स्त्रीकार्यं मागधानां वणिक्पथः ॥ ४७ ॥

'सूतों' (१०।११) का कोचवानी (रथ आदि हांकना) 'अम्बष्ठों' (१०।८) का चिकित्सा, 'वैदेहक' (१०।११) का अन्तःपुर रक्षा, 'मागधों (१०।११) का स्थल मार्गसे व्यापार करना (कर्म है) ॥ ४७ ॥

सूतानामश्वदमनयोजनादि रथसारथ्यं जीवनार्थम् । अम्बष्ठानां रोगशान्त्यादि चिकित्सा वैदेहकानामन्तःपुररक्षणम्, मागधानां स्थलपथवणिज्या ॥ ४७ ॥

मत्स्यघातो निषादानां त्वष्टिस्त्वायोगवस्य च ।
मेदान्ध्रचुञ्चुमद्गूनामारण्यपशुहिंसनम् ॥ ४८ ॥

'निषादों' (१०।८) का मत्स्यकार्य (मछली मारना आदि), 'आयोगव' (१०।१२) का बढ़ईगिरी, 'मेद तथा आन्ध्र' (११।३६) एवं 'चुञ्चु तथा मद्गु' जातिवालोंका जङ्गली पशुओंको मारना—(कर्म है) ॥ ४८ ॥

निषादानामुक्तानां मत्स्यवधः, आयोगवस्य काष्ठतक्षणं, मेदान्ध्रचुञ्चुमद्गूनामारण्यपशुमारणम् । चुञ्चुर्मद्गुश्च वैदेहकवन्दिस्त्रियोर्ब्राह्मणेन जातौ बौधायनेनोक्तौ बोद्धव्यौ । वन्दिस्त्री च क्षत्रियेण शूद्रायां जाता सोग्रैव ग्राह्या ॥ ४८ ॥

क्षत्त्रुग्रपुक्कसानां तु बिलौकोवधबन्धनम् ।
धिग्वणानां चर्मकार्यं वेणानां भाण्डवादनम् ॥ ४९ ॥

'क्षत्ता (१०।१२), उग्र (१०।१) और पुक्कसों' (१०।१८) का विलमें रहनेवाले (गोह, खरगोश आदि) जीवोंको मारना या फसाना, 'धिग्वणों' (१०।१५) का चर्मकार्य, और 'वेणों' (१०।१९) का कांसे, मुरज आदि बाजाओंको बजाना ये कर्म है ॥ ४९ ॥

क्षत्रादीनां बिलनिवासिगोधादिवधबन्धनं, धिग्वणानां चर्मकरणं "चर्मकार्यं तद्विक्रयश्च जीवनं धिग्वणानाम्" इत्यौशनसदर्शनात् । अत एव कारावरेभ्य एषां वृत्तिच्छेदः । वेणानां कांस्यमुरजादिवाद्यभाण्डवादनम् ॥ ४९ ॥

चैत्यद्रुमश्मशानेषु शैलेषूपवनेषु च ।
वसेयुरेते विज्ञाना वर्तयन्तः स्वकर्मभिः ॥ ५० ॥

इन वर्णसङ्कर जातियोंको चैत्यद्रुम (ग्रामके पास प्रसिद्ध वृक्ष), श्मसान, पहाड़, और उपवनों में अपनी-अपनी जीविका (१०।४७-४९) के कर्म करते हुए निवास करना चाहिये ॥ ५० ॥

ग्रामादिसमीपे ख्यातवृक्षश्चैत्यद्रुमः तन्मूले श्मशानपर्वतवनसमीपेषु चामी प्रकाशकाः स्वकर्मभिर्जीवन्तो वसेयुः ॥ ५० ॥

चण्डालश्वपचानां तु बहिर्ग्रामात्प्रतिश्रयः ।
अपपात्राश्च कर्तव्या धनमेषां श्वगर्दभम् ॥ ५१ ॥
वासांसि मृतचेलानि भिन्नभाण्डेषु भोजनम् ।
कार्ष्णायसमलंकारः परिव्रज्या च नित्यशः ॥ ५२ ॥

'चण्डाल' (१०।१२) तथा 'श्वपच' (१०।१९) गाँवके बाहर निवास करें, अपपात्र हो, उनका धन कुत्ते तथा गधे हों (बैल, गाय, घोड़ा आदि नहीं) ॥ ५१ ॥

कफन इनका वस्त्र हो, फूटे वर्तनोंमें ये भोजन करें, इनके भूषण लोहेके बने हों और ये सर्वदा भ्रमण करते रहे (एक स्थानपर बहुत दिनोंतक निवास नहीं करें) ॥ ५२ ॥

प्रतिश्रयो निवासः, चण्डालश्वपाकानां तु ग्रामाद्बहिर्निवासः स्यात् । पात्ररहिताः कर्तव्या यत्र लोहादिपात्रे तैर्भुक्तं तत्संस्कृत्यापि न व्यवहर्त्तव्यं, धनं चैषां कुक्कुरखरं न वृषभादि, वासांसि च शववस्त्राणि, छिन्नशरावादिषु च भोजनं लौहवलयादि चालंकरणं, सर्वदा च भ्रमणशीलत्वम् ॥ ५१-५२ ॥

न तैः समयमन्विच्छेत्पुरुषो धर्ममाचरन् ।
व्यवहारो मिथस्तेषां विवाहः सदृशैः सह ॥ ५३ ॥

धर्माचरण करनेवाला मनुष्य इन (चण्डाल तथा श्वपाकको—१०।१२,१९) के साथ बातचीत न करे उन्हें मत देखें और उनका व्यवहार (लेन-देन तथा विवाह आदि) अपनी जातिवालोंके साथ ही होवे ॥ ५३ ॥

धर्मानुष्ठानसमये चण्डालश्वपाकैः सह दर्शनादिव्यवहारं न कुर्यात् । तेषां च ऋणदान-ग्रहणादिव्यवहारो विवाहश्च समानजातीयैः सहान्योन्यं स्यात् ॥ ५३ ॥

अन्नमेषां पराधीनं देयं स्याद्भिन्नभाजने ।
रात्रौ न विचरेयुस्ते ग्रामेषु नगरेषु च ॥ ५४ ॥

इन (चण्डाल तथा श्वपाकों—१०।१२,१९) का भोजन पराधीन (दूसरेके भरोसे) होवे, (नौकरोंके द्वारा) टूटे-फूटे वर्तनोंमें इनके लिए अन्न दिलवा दें, रातके समय गावों या नगरोंमें ये नहीं घूमें ॥ ५४ ॥

अन्नमेषां परायत्तं कार्यं, साक्षादेभ्यो न देयं किन्तु प्रेष्यैर्भिन्नपात्रे दातव्यम् । ते च रात्रौ ग्रामनगरयोर्न पर्यटेयुः ॥ ५४ ॥

दिवा चरेयुः कार्यार्थं चिह्निता राजशासनैः ।
अबान्धवं शवं चैव निर्हरेयुरिति स्थितिः ॥ ५५ ॥

राजाज्ञासे चिह्नविशेष धारण किये हुए ये (चण्डाल तथा श्वपाक-१०।१२, १९) कामके लिए दिनमें घूमें और बन्धु-बान्धवोंसे रहित (लावारिस) मुर्देको गाँवसे बाहर (श्मशानोंमें) ले जावें, यह (शास्त्रोक्त) मर्यादा है ॥ ५५ ॥

दिवा ग्रामादौ क्रयविक्रयादिकार्यार्थं राजाज्ञया चिह्नाङ्किताः सन्तः पर्यटेयुः । अनाथं च शवं ग्रामान्निर्हरेयुरिति शास्त्रमर्यादा ॥ ५५ ॥

वध्यांश्च हन्युः सततं यथाशास्त्रं नृपाज्ञया ।
वध्यवासांसि गृह्णीयुः शय्याश्चाभरणानि च ॥ ५६ ॥

(ये) वध्य (प्राणदण्डकी आज्ञा पाये हुए) मनुष्योंको शास्त्रानुसार राजाज्ञासे मारें अर्थात् जल्लादका काम करें और उनके कपड़े शय्या तथा आभूषणादिको ग्रहण करें ॥ ५६ ॥

वध्यांश्च शास्त्रानतिक्रमेण शूलारोपणादिना सर्वदा राजाज्ञया हन्युस्तद्वस्त्रशय्यालंकारांश्च गृह्णीयुः ॥ ५६ ॥

वर्णापेतमविज्ञातं नरं कलुषयोनिजम् ।
आर्यरूपमिवानार्यं कर्मभिः स्वैर्विभावयेत् ॥ ५७ ॥

वर्णभ्रष्ट (हीन वर्णवाले), अप्रसिद्ध, नीच जातिसे उत्पन्न, देखनेमें सज्जन (उच्च जातिवाले किन्तु वास्तविकमें) नीच जातिवाले मनुष्यको उसके कर्मों (बर्तावों) से जानना चाहिये ॥ ५७ ॥

वर्णत्वादपेतं मनुष्यं सङ्करजातं लोकतस्तथात्वेनाविज्ञातमत एवार्यसदृशं वस्तुतः पुनरनार्यं, निन्दितयोन्यनुरूपाभिश्चेष्टाभिर्वक्ष्यमाणाभिर्निश्चिनुयात् ॥ ५७ ॥

अनार्यता निष्ठुरता क्रूरता निष्क्रियात्मता ।
पुरुषं व्यञ्जयन्तीह लोके कलुषयोनिजम् ॥ ५८ ॥

इस लोकमें अनार्यता, निष्ठुरता, क्रूरता, क्रिया (यज्ञ-सन्ध्यावन्दनादि कार्य—) हीनता, ये सब नीच जातिमें उत्पन्न पुरुषको मालूम करा देती हैं अर्थात् इन गुणोंसे युक्त मनुष्यको नीच जातिवाला जानना चाहिये ॥ ५८ ॥

निष्ठुरत्वपरुषभाषित्वहिंस्रत्वविहिताननुष्ठातृत्वानि सङ्करजातित्वमस्मिँल्लोके प्रकटीकुर्वन्ति ॥ ५८ ॥

यस्मात्—

पित्र्यं वा भजते शीलं मातुर्वोभयमेव वा ।
न कथंचन दुर्योनिः प्रकृतिं स्वां नियच्छति ॥ ५९ ॥

[क्योंकि] ये नीच जातिमें उत्पन्न मनुष्य पिताके, माताके या दोनोंके शीलको प्राप्त करते हैं, वे अपने स्वभावको किसी प्रकार नहीं छिपा सकते ॥ ५९ ॥

असौ सङ्करजातो दुष्टयोनिः पितृसम्बन्धि दुष्टस्वभावत्वं सेवते, मातृसम्बन्धि वोभयसम्बन्धि वा । न कदाचिदसावात्मकारणं गोपयितुं शक्नोति ॥ ५९ ॥

कुले मुख्येऽपि जातस्य यस्य स्याद्योनिसंकरः ।
संश्रयत्येव तच्छीलं नरोऽल्पमपि वा बहु ॥ ६० ॥

उत्तम कुलमें उत्पन्न मनुष्य भी गुप्त रूपसे यदि वर्णसङ्कर [दोगला] होता है तो थोड़ा या बहुत अपने उत्पादक (पिता] के स्वभावको प्राप्त करता ही है ॥ ६० ॥

महाकुलप्रसूतस्यापि यस्य योनिसङ्करः प्रच्छन्नो भवति, स मनुष्यो जनकस्वभावं स्तोकं, प्रचुरं वा सेवत एव ॥ ६० ॥

यत्र त्वेते परिध्वंसाज्जायन्ते वर्णदूषकाः ।
राष्ट्रिकैः सह तद्राष्ट्रं क्षिप्रमेव विनश्यति ॥ ६१ ॥

जिस राज्यमें वर्णोंको दूषित करनेवाले ये वर्णसङ्कर [दोगले] उत्पन्न होते हैं, वह राज्य प्रजाओंके सहित शीघ्र ही नष्ट हो जाता है, [अत एव राजाको इनकी उत्पत्ति रोकनी चाहिये ॥६१॥

यस्मिन्राष्ट्रे एते वर्णसङ्करा वर्णानां दूषका जायन्ते तद्राष्ट्रं राष्ट्रवासिजनैः सह शीघ्रमेव नाशमेति । तस्माद्राज्ञा वर्णानां शङ्करो निरसनीयः ॥ ६१ ॥

ब्राह्मणार्थे गवार्थे वा देहत्यागोऽनुपस्कृतः ।
स्त्रीबालाभ्युपपत्तौ च बाह्यानां सिद्धिकारणम् ॥ ६२ ॥

ब्राह्मण, गौ, स्त्री या बालक इनमें से किसीके लिए सद्भावनासे बाह्य (वर्णसङ्कर) जातिवाले मनुष्यका प्राणत्याग करना सिद्धि (स्वर्गादि प्राप्ति) का कारण होता है ॥ ६२ ॥

गोब्राह्मणस्त्रीबालानामन्यतरस्यापि परित्राणार्थं दृष्टप्रयोजनानपेक्षः प्राणत्यागः प्रतिलोमजानां स्वर्गप्राप्तिकारणम् ॥ ६२ ॥

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
[श्राद्धकर्मातिथेयं च दानमस्तेयमार्जवम् ।
प्रजनं स्वेषु दारेषु तथा चैवानसूयता ॥ १ ॥]
एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः ॥ ६३ ॥

अहिंसा (दूसरेको किसी प्रकारका कष्ट न पहुँचाना), सत्य, अस्तेय (विना पूछे किसीकी कोई वस्तु नहीं लेना), शुद्धता (आन्तरिक अर्थात् भीतरी मानसिक तथा बाह्य अर्थात् शरीर आदिकी स्वच्छता), इन्द्रियोंको (उनके विषयोंसे) रोकना—

[श्राद्धकर्म, अतिथिसत्कार, दान, अस्तेय, सरलता, अपनी स्त्रियोंमें सन्तानोत्पादन और अनसूया अर्थात् दूसरेके शुभमें द्वेषका न होना ॥ १ ॥]

यह संक्षेपमें चारों वर्णों (तथा प्रकरण-सामर्थ्यसे सङ्कीर्ण जातियों) का धर्म मनुने कहा है ॥६३॥

हिंसात्यागो, यथार्थाभिधानम्, अन्यायेन परधनस्याग्रहणं, मृज्जलादिना विशुद्धिः, इन्द्रियसंयम इत्येवं धर्मं संक्षेपतश्चातुर्वर्ण्यानुष्ठेयं मनुराह । प्रकरणसामर्थ्यात्संकीर्णानामप्ययं धर्मो वेदितव्यः ॥ ६३ ॥

इदानीं "सर्ववर्णेषु तुल्यासु" (म. स्मृ. १०-५) इत्युक्तलक्षणव्यतिरेकेणापि ब्राह्मण्यादि दर्शयितुमाह –

शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातः श्रेयसा चेत्प्रजायते ।
अश्रेयान् श्रेयसीं जातिं गच्छत्यासप्तमाद् युगात् ॥ ६४ ॥

ब्राह्मणसे शूद्रोंमें उत्पन्न (पारशव'—१०।८) जातिकी कन्या ब्राह्मणसे विवाह कर कन्या उत्पन्न करे (इस प्रकार) वह सप्तम जन्म (पीढ़ी) में श्रेष्ठ जातिको प्राप्त करती है ॥ ६४ ॥

शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातः पारशवाख्यो वर्णः प्रजायत इति सामर्थ्यात्स्त्रीरूपः स्यात, सा यदि स्त्री ब्राह्मणेनोढा सती प्रसूयते सा दुहितरमेव जनयति । साप्यन्येन ब्राह्मणेनोढा सती दुहितरमेव जनयति । साप्येवमेव सप्तमे युगे जन्मनि स पारशवाख्यो वर्णो बीजप्राधान्याद् ब्राह्मण्यं प्राप्नोति । आसप्तमाद्युगादित्यभिधानात्सप्तमे जन्मनि ब्राह्मणः सम्पद्यत इत्यर्थः ॥ ६४ ॥

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च ॥ ६५ ॥

(पूर्व १०।६४) श्लोकके अनुसार सातवें जन्ममें) शूद्र ब्राह्मण (पारशव' १०।८) शूद्रत्वको प्राप्त करता है। इसी प्रकार क्षत्रिय तथा वैश्यत्व रूप उत्कर्षको तथा इसी क्रमसे अपकर्षको प्राप्त करती है ॥ ६५ ॥

एवं पूर्वश्लोकोक्तरीत्या शूद्रो ब्राह्मणतां याति ब्राह्मणश्च शूद्रतामेति। ब्राह्मणोऽत्र ब्राह्मणाच्छूद्रायामुत्पन्नः पारशवो ज्ञेयः। स यदि पुमान्केवलशूद्रोद्वाहेन तस्यां पुमांसमेव जनयति, सोऽपि केवलशूद्रोद्वाहेनापरं पुमांसमेव जनयति, सोऽप्येवं, तदा स ब्राह्मणः सप्तमं जन्म प्राप्तः केवलशूद्रतां बीजनिकर्षात्क्रमेण प्राप्नोति। एवं क्षत्रियाद्वैश्याच्च शूद्रायां जातस्योत्कर्षापकर्षौ जानीयात्। किन्तु जातेरपकर्षात्

जात्युत्कर्षो युगे ज्ञेयः सप्तमे पञ्चमेऽपि वा। (या. स्मृ. १–९६)

इति याज्ञवल्क्यदर्शनाच्च क्षत्रियाज्जातस्य पञ्चमे जन्मन्युत्कर्षापकर्षौ बोद्धव्यौ। वैश्याज्जातस्य ततोऽप्युत्कर्षात्। याज्ञवल्क्येनापि वाशब्देन पक्षान्तरस्य संगृहीतत्वाद् वृद्धव्याख्यानुरोधाच्च तृतीयजन्मन्युत्कर्षापकर्षौ ज्ञेयौ। अनेनैव न्यायेन ब्राह्मणेन वैश्यायां जातस्य पञ्चमे जन्मन्युत्कर्षापकर्षौ, क्षत्रियायां जातस्य तृतीये, क्षत्रियेण वैश्यायां जातस्य तृतीय एव बोद्धव्यौ ॥ ६५ ॥

अनार्यायां समुत्पन्नो ब्राह्मणात्तु यदृच्छया।
ब्राह्मण्यामप्यनार्यात्तु श्रेयस्त्वं क्वेति चेद्भवेत् ॥ ६६ ॥

ब्राह्मणमें यदृच्छासे अर्थात् अविवाहित शूद्रामें उत्पन्न (पारशव) तथा शूद्रसे अविवाहित ब्राह्मणीमें उत्पन्न (चण्डाल) इन दोनोंमें कौन श्रेष्ठ है ? (ऐसी शङ्का उत्पन्न होनेपर) ॥ ६६ ॥

एकः शूद्रायां यदृच्छया अनूढायामपि ब्राह्मणादुत्पन्नोऽन्यश्च ब्राह्मण्यां शूद्राज्जातः द्वयोर्मध्ये क चोत्पन्नस्य श्रेयस्त्वमिति चेत्संशयः स्यात्संशयबीजं च यथा बीजोत्कर्षात्। ब्राह्मणाच्छूद्रायां जातः साधुः शूद्रः, एवं क्षेत्रोत्कर्षाद् ब्राह्मण्यामपि शूद्रेण जातः किमिति साधुः शूद्रो न स्यात् ॥ ६६ ॥

तत्र निर्णमाह—

जातो नार्यामनार्यायामार्यादार्यो भवेद् गुणैः।
जातोऽप्यनार्यादार्यायामनार्य इति निश्चयः ॥ ६७ ॥

ब्राह्मणसे शूद्रामें उत्पन्न पुत्र गुणयुक्त होनेसे श्रेष्ठ है और शूद्रासे ब्राह्मणीमें उत्पन्न पुत्र गुणहीन होनेसे श्रेष्ठ नहीं है, ऐसा (शास्त्र) का निर्णय है ॥ ६७ ॥

शूद्रायां स्त्रियां ब्राह्मणाज्जातः स्मृत्युक्तैः पाकयज्ञादिभिर्गुणैरनुष्ठीयमानैर्युक्तः प्रशस्यो भवति। शूद्रेण पुनर्ब्राह्मण्यां जातः प्रतिलोमत उत्पन्नतया शूद्रधर्मेष्वप्यनधिकारादप्रशस्य इति निश्चयः। न्यायप्राप्तोऽप्यर्थो वचनप्रामाण्यादत्र बोध्यते ॥ ६७ ॥

तावुभावप्यसंस्कार्याविति धर्मो व्यवस्थितः।
वैगुण्याज्जन्मनः पूर्व उत्तरः प्रतिलोमतः ॥ ६८ ॥

(किन्तु उन दोनोंमें उक्त निर्णयानुसार एकके श्रेष्ठ होनेपर भी) पूर्वोक्त दोनोंमें पहला (पारशव'–१०।८) शूद्रामें उत्पन्न होनेके कारण जातिकी हीनता तथा दूसरा ('चण्डाल'— १०।१२),

प्रतिलोम क्रमसे ब्राह्मणीमें उत्पन्न होनेसे दोनों ही यज्ञोपवीत संस्कारके अयोग्य हैं, ऐसा शास्त्र-निर्णीत धर्म है ॥ ६८ ॥

पारशवचाण्डालौ द्वावप्यनुपनेयाविति व्यवस्थिता शास्त्रमर्यादा । पूर्वः पारशवः शूद्राजातत्वेन जातिवैगुण्यादनुपनेयः । प्रातिलोम्येन शूद्रेण ब्राह्मण्यां जातत्वादित्युत्तरत्वेनानुपनेयः ॥ ६८ ॥

सुबीजं चैव सुक्षेत्रे जातं सम्पद्यते यथा ।
तथार्याज्जात आर्यायां सर्वं संस्कारमर्हति ॥ ६९ ॥

जिस प्रकार सुन्दर (उपजाऊ) खेतमें बोया गया श्रेष्ठ सुन्दर बीज श्रेष्ठ पौधा उत्पन्न करता है, उसी प्रकार आर्य (द्विज) से आर्या (द्विज स्त्री) में उत्पन्न पुत्र सब (श्रौत तथा स्मार्त) संस्कारके योग्य होता है, (अतः उक्त पारशव तथा चण्डाल अनार्योत्पन्न होनेसे संस्कारके योग्य नहीं होते) ॥ ६९ ॥

यथा शोभनबीजं शोभनक्षेत्रे जातं समृद्धं भवत्येवं द्विजातेर्द्विजातिस्त्रियां सवर्णायामानुलोम्येन च क्षत्रियावैश्ययोर्जातः सवर्णसंस्कारं क्षत्रियवैश्यसंस्कारं च सर्वं श्रौतं स्मार्तं चार्हति । न च पारशवचण्डालाविति पूर्वोक्तदार्ढ्यार्थमेतत् ॥ ६९ ॥

दर्शनान्तराण्युक्तस्यैवार्थस्य स्थैर्यार्थमाह—

बीजमेके प्रशंसन्ति क्षेत्रमन्ये मनीषिणः ।
बीजक्षेत्रे तथैवान्ये तत्रेयं तु व्यवस्थितिः ॥ ७० ॥

कोई आचार्य बीजकी, कोई आचार्य क्षेत्रकी तथा कोई आचार्य बीज और क्षेत्र दोनोंकी प्रशंसा करते (प्रधानता मानते) हैं, उनमें ऐसी शास्त्र-व्यवस्था है ॥ ७० ॥

केचित्पण्डिता बीजं स्तुवन्ति, हरिण्याद्युत्पन्नऋष्यशृङ्गादेर्ब्रह्ममुनित्वदर्शनात् । अपरे पुनः क्षेत्रं स्तुवन्ति, क्षेत्रस्वामिपुत्रत्वदर्शनात् । अन्ये पुनर्बीजक्षेत्रे उभे अपि स्तुवन्ति, सुबीजस्य सुक्षेत्रे समृद्धिदर्शनात् । एतस्मिन्मतभेदे वक्ष्यमाणेयं व्यवस्था ज्ञेया ॥ ७० ॥

अक्षेत्रे बीजमुत्सृष्टमन्तरैव विनश्यति ।
अबीजकमपि क्षेत्रं केवलं स्थण्डिलं भवेत् ॥ ७१ ॥

ऊसर खेतमें बोया गया बीज फल देनेसे पहले ही नष्ट हो जाता है (कुछ फल नहीं देता) और विना बीज बोया हुआ उत्तम (उपजाऊ) खेत भी भूमिमात्र ही रह जाता है (इसलिये बीज तथा खेत दोनोंको ही श्रेष्ठ होना आवश्यक है) ॥ ७१ ॥

ऊषरप्रदेशे बीजमुप्तं फलमददन्तराल एव विनश्यति । शोभनमपि क्षेत्रं बीजरहितं स्थण्डिलमेव केवलं स्यान्न तु सस्यमुत्पद्यते । तस्मात्प्रत्येकनिन्दया "सुबीजं चैव सुक्षेत्रे" (म॰ स्मृ॰ १०-६९) इति प्रागुक्तमुभयप्राधान्यमेवाभिहितम् ॥ ७१ ॥

इदानीं बीजप्राधान्यपक्षे दृष्टान्तमाह—

यस्माद्बीजप्रभावेण तिर्यग्जा ऋषयोऽभवन् ।
पूजिताश्च प्रशस्ताश्च तस्माद्बीजं प्रशस्यते ॥ ७२ ॥

जिस कारण बीजके प्रभावसे तिर्यग् योनि (हरिणी आदि) में उत्पन्न (ऋष्य शृङ्ग आदि) पवित्रतासे ऋषि, नमस्कारादिके योग्य होनेसे पूजित तथा ज्ञान प्राप्ति करनेसे श्रेष्ठ हुए; इस कारण बीज (वीर्य) ही श्रेष्ठ माना जाता है ॥ ७२ ॥

यस्माद्बीजमाहात्म्येन तिर्यग्जातिहरिण्यादिजाता अपि ऋष्यश्रृङ्गादयो मुनित्वं प्राप्ताः, पूजिताश्चाभिवाद्यत्वादिना, वेदज्ञानादिना प्रशस्ता वाचा संस्तुतास्तस्माद् बीजं प्रस्तूयते। एतच्च बीजप्राधान्यनिगमनं बीजयोन्योर्मध्ये बीजोत्कृष्टा जातिः प्रधानमित्येवंपरतया बोद्धव्यम् ॥ ७२ ॥

अनार्यमार्यकर्माणमार्यं चानार्यकर्मिणम्।
सम्प्रधार्याब्रवीद्धाता न समौ नासमाविति ॥ ७३ ॥

द्विजोंका कार्य करनेवाले शूद्र तथा शूद्रोंका कर्म करनेवाले द्विजका विचारकर 'ये दोनों न तो समान हैं और न असमान हैं' ऐसा ब्रह्माने कहा है ॥ ७३ ॥

शूद्रं द्विजातिकर्मकारिणं द्विजातिं च शूद्रकर्मकारिणं ब्रह्मा विचार्य "न समौ नासमौ" इत्यवोचत्। यतः शूद्रो द्विजातिकर्मापि न द्विजातिसमः, तस्यानधिकारिणो द्विजातिकर्माचरणेऽपि तत्साम्याभावात्। एवं शूद्रकर्मापि द्विजातिर्न शूद्रसमः, निषिद्धसेवनेन जात्युत्कर्षस्यानपायात्। नाप्यसमौ निषिद्धाचरणेनोभयोः साम्यात्। तस्माद्यद्यस्य विगर्हितं तत्तेन न कर्तव्यमिति सङ्करपर्यन्तवर्णधर्मोपदेशः ॥ ७२ ॥

इदानीं ब्राह्मणानामापद्धर्म प्रतिपादयिष्यन्निदमाह—

ब्राह्मणा ब्रह्मयोनिस्था ये स्वकर्मण्यवस्थिताः।
ते सम्यगुपजीवेयुः षट् कर्माणि यथाक्रमम् ॥ ७४ ॥

जो ब्राह्मण (ब्रह्मप्राप्तिके कारणभूत) ब्रह्म ध्यानमें लीन तथा अपने कर्ममें संलग्न हैं, उन्हें षट् कर्मों (१०।७५) का यथावत् पालन करना चाहिये ॥ ७४ ॥

ये ब्राह्मणा ब्रह्मप्राप्तिकारणब्रह्मध्याननिष्ठाः स्वकर्मानुष्ठाननिरताश्च ते षट् कर्माणि वक्ष्यमाणान्यध्यापनादीनि क्रमेण सम्यगनुतिष्ठेयुः ॥ ७४ ॥

तानि कर्माण्याह—

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहश्चैव षट्कर्माण्यग्रजन्मनः ॥ ७५ ॥

(साङ्ग वेदोंका) अध्यापन, अध्ययन, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना तथा दान लेना—ये छः कर्म ब्राह्मणोंके हैं ॥ ७५ ॥

अध्यापनाध्ययने साङ्गस्य वेदस्य, तथा यजनयाजने, दानप्रतिग्रहौ चेत्येतानि षट् कर्माणि ब्राह्मणस्य वेदितव्यानि ॥ ७५ ॥

षण्णां तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका।
याजनाध्यापने चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः ॥ ७६ ॥

इन ६ (१०।७५) कर्मों में-से तीन कर्म (साङ्ग वेदाध्यापन, यज्ञ कराना और विशुद्धसे (द्विजमात्रसे शूद्रसे नहीं दान लेना) ब्राह्मणकी जीविकाके लिये हैं ॥ ७६ ॥

अस्य ब्राह्मणस्यैषामध्यापनादीनां षण्णां कर्मणां मध्याद्याजनमध्यापनं विशुद्धप्रतिग्रहः "द्विजातिभ्यो धनं लिप्सेत्प्रशस्तेभ्यो द्विजः" इति वचननिर्देशाद्द्विजातेः प्रतिग्रह इत्येतानि त्रीणि कर्माणि जीवनार्थानि ज्ञेयानि ॥ ७६ ॥

त्रयो धर्मा निवर्तन्ते ब्राह्मणात्क्षत्रियं प्रति।
अध्यापनं याजनं च तृतीयश्च प्रतिग्रहः ॥ ७७ ॥

ब्राह्मणकी अपेक्षा क्षत्रियोंके तीन कर्म (वेदाध्ययन, यज्ञ कराना तथा दान लेना) निवृत्त (वर्जित) होते हैं (अतः क्षत्रियोंको इन तीन कर्मोंको छोड़कर शेष तीन कर्म (वेदाध्ययन, यज्ञ करना तथा दान देना) ही करने चाहिये) ॥ ७७ ॥

ब्राह्मणापेक्षया क्षत्रियस्याध्यापनयाजनप्रतिग्रहाख्यानि वृत्त्यर्थानि त्रीणि कर्माणि निवर्तन्ते। अध्ययनयागदानानि तु तस्यापि भवन्ति ॥ ७७ ॥

वैश्यं प्रति तथैवैते निवर्तेरन्निति स्थितिः।
न तौ प्रति हि तान्धर्मान्मनुराह प्रजापतिः ॥ ७८ ॥

उसी (१०।७७) प्रकार वैश्योंके भी ये तीन कर्म (वेदाध्यापन, यज्ञ कराना और दान लेना) निवृत्त (वर्जित) होते हैं, ऐसी शास्त्र-मर्यादा है; क्योंकि उन दोनों (क्षत्रियों तथा वैश्यों) के प्रति उन धर्मों (वेदाध्यापन, यज्ञ कराना तथा दान लेना) को प्रजापति मनुने नहीं कहा है ॥

यथा क्षत्रियस्याध्यापनयाजनप्रतिग्रहा निवर्तन्ते तथा वैश्यस्यापीति शास्त्रव्यवस्था। यस्मान्मनुः प्रजापतिस्तौ क्षत्रियवैश्यौ प्रति तानि वृत्त्यर्थानि कर्माणि कर्तव्यत्वेन नोक्तवान्। एवं वैश्यस्याप्यध्ययनयागदानानि भवन्ति ॥ ७८ ॥

शस्त्रास्त्रभृत्त्वं क्षत्रस्य वणिक्पशुकृषिर्विशः।
आजीवनार्थं धर्मस्तु दानमध्ययनं यजिः ॥ ७९ ॥

जीविकाके लिए शस्त्र (हाथमें पकड़े हुए चलाने योग्य तलवार, भाला आदि) तथा अस्त्र (हाथसे फेंककर चलाने योग्य वाण आदि) क्षत्रियका और व्यापार, पशुपालन, खेती करना वैश्यका कर्म है। (और दोनोंका) दान देना, साङ्ग वेदका अध्ययन करना और यज्ञ करना धर्म है ॥ ७९ ॥

शस्त्रं खड्गादि, अस्त्रं बाणादि एतद्धारणं प्रजारक्षणाय क्षत्रियस्य च वृत्त्यर्थम्। वाणिज्यपशुरक्षणकृषिकर्माणि वैश्यस्य जीवनार्थानि। धर्मार्थाः पुनरनयोर्दानाध्ययनयागा भवन्ति ॥ ७९ ॥

वेदाभ्यासो ब्राह्मणस्य क्षत्रियस्य च रक्षणम्।
वार्ता कर्मैव वैश्यस्य विशिष्टानि स्वकर्मसु ॥ ८० ॥

ब्राह्मणका साङ्ग वेदाध्यापन, क्षत्रियका रक्षा करना और वैश्यका पशुपालन करना—ये कर्म इनकी जीविकार्थ अपने कर्मोंमें कर्म कहे गये हैं ॥ ८० ॥

वेदाभ्यासो वेदाध्यापनं रक्षावार्ताभ्यां वृत्त्यर्थाभ्यां सहोपदेशात्तद् ब्राह्मणस्य, प्रजारक्षणं क्षत्रियस्य, वाणिज्यं पाशुपाल्यं वैश्यस्य एतान्येतेषां वृत्त्यर्थकर्मसु श्रेष्ठानि ॥ ८० ॥

अधुना आपद्धर्ममाह—

अजीवंस्तु यथोक्तेन ब्राह्मणः स्वेन कर्मणा।
जीवेत्क्षत्रियधर्मेण स ह्यस्य प्रत्यनन्तरः ॥ ८१ ॥

ब्राह्मण यदि अपने कर्म (१०।७५-७६) से जीवन-निर्वाह नहीं कर सके तो क्षत्रियका कर्म (१०।७७-७९) करता हुआ जीवन-निर्वाह करे, क्योंकि वह क्षत्रिय कर्म उस (ब्राह्मण कर्म) का समीपवर्ती है ॥ ८१ ॥

यथोक्तेनाध्यापनादिस्वकर्मणा ब्राह्मणो नित्यकर्मानुष्ठानकुटुम्बसम्वर्धनपूर्वकमजीवन् क्षत्रियकर्मणा ग्रामनगररक्षणादिना जीवेत्। यस्मात्क्षत्रियधर्मोऽस्य सन्निकृष्टा वृत्तिः ॥ ८१ ॥

उभाभ्यामप्यजीवंस्तु कथं स्यादिति चेद्भवेत्।
कृषिगोरक्षमास्थाय जीवेद्वैश्यस्य जीविकाम् ॥ ८२ ॥

दोनों (ब्राह्मणकर्म—१०।७५-७६) तथा (क्षत्रियकर्म—१०।७७-७९) से जीवन-निर्वाह नहीं कर सकता हुआ ब्राह्मण किस प्रकार रहे ? ऐसा सन्देह उपस्थित हो जाय तो वह वैश्यके कर्म खेती, गोपालने और व्यपारसे जीविका करे ॥ ८२ ॥

ब्राह्मण उभाभ्यां स्ववृत्तिक्षत्रियवृत्तिभ्यामजीवन्केन प्रकारेण वर्ततेति यदि संशयः स्यात्तदा कृषिपशुरक्षणे आश्रित्य वैश्यस्य वृत्तिमनुतिष्ठेत्। कृषिगोरक्षग्रहणं वाणिज्यदर्शनार्थम्। तथा च विक्रेयाणि वक्ष्यति। स्वयंकृतं चेदं कृष्यादि ब्राह्मणापद्वृत्तिः। अस्वयंकृतस्य "ऋतामृताभ्यां जीवेत्तु" (म. स्मृ. ४-४) इत्यनापद्येव विहितत्वात् ॥ ८२ ॥

संप्रति कृष्यादेर्बलाबलमाह—

वैश्यवृत्त्यापि जीवंस्तु ब्राह्मणः क्षत्रियोऽपि वा।
हिंसाप्रायां पराधीनां कृषिं यत्नेन वर्जयेत् ॥ ८३ ॥

वैश्यवृत्ति (१०।७९) से जीविका करता हुआ भी ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय हिंसा प्रधान (बैल आदिके अधीन होनेसे) पराधीन कृषि कर्म (खेती) प्रयत्न-पूर्वक छोड़ दे ॥ ८३ ॥

ब्राह्मणः क्षत्रियोऽपि वा वैश्यवृत्त्यापि जीवन्भूमिष्ठजन्तुहिंसाबहुलां बलीवर्दादिपराधीनां कृषिं यत्नतस्त्यजेत्। अतः पशुपालनाद्यभावे कृषिः कार्येति द्रष्टव्यम्। क्षत्रियोऽपि वा इत्युपादानात्क्षत्रियस्याप्यात्मीयवृत्त्यभावे वैश्यवृत्तिरस्तीत्यभिगम्यते ॥ ८३ ॥

कृषिं साध्विति मन्यन्ते सा वृत्तिः सद्विगर्हिता।
भूमिं भूमिशयांश्चैव हन्ति काष्ठमयोमुखम् ॥ ८४ ॥

कुछ लोग कृषि (खेती) को उत्तम कर्म मानते हैं, किन्तु वह जीविका सज्जनोंसे निन्दित है, क्योंकि लोहेके मुख (फार) वाला काष्ठ अर्थात् हल भूमि तथा भूमिमें स्थित जीवोंको मार डालता है ॥ ८४ ॥

साध्विदं जीवनमिति कृषिं केचिन्मन्यन्ते, सा पुनर्जीविका साधुभिर्निन्दिता, यस्माद्धलकुद्दालादिलोहप्रान्तं काष्ठं भूमिं भूमिष्ठजन्तूंश्च हन्ति ॥ ८४ ॥

इदं तु वृत्तिवैकल्यात् त्यजतो धर्मनैपुणम्।
विट्पण्यमुद्धृतोद्धारं विक्रेयं वित्तवर्धनम् ॥ ८५ ॥

जीविकाके अभावसे धर्मकी निष्ठाको छोड़ते हुए ब्राह्मण तथा क्षत्रियको (आगे कही जानेवाली) वस्तुओंको छोड़कर वैश्योंसे बेची जानेवाली धनवर्द्धक शेष वस्तुओंको बेचना चाहिये ॥ ८५ ॥

ब्राह्मणस्य क्षत्रियस्य चात्मीयवृत्तेरसम्भवे, धर्मं प्रति यथोक्तनिष्णातत्वं त्यजतो, वैश्येन यद्विक्रेतव्यं द्रव्यजातं तद्वक्ष्यमाणवर्जनीयवर्जितं धनवृद्धिकरं विक्रेयम् ॥ ८५ ॥

तानि वर्जनीयान्याह—

सर्वान् रसानपोहेत कृतान्नं च तिलैः सह।
अश्मनो लवणं चैव पशवो ये च मानुषाः ॥ ८६ ॥

सब रस, पकान्न, तिल, पत्थर, नमक, पशु और मनुष्य (दास-दासी आदि) को (आपत्तिकालमें भी ब्राह्मण क्षत्रिय नहीं बेचे) ॥ ८६ ॥

सर्वान् चोच्यमानान् रसान् यथा सिद्धान्नतिलपाषाणलवणपशुमनुष्यान् न विक्रीणीत। रसत्वेनैव लवणस्य निषेधसिद्धौ विशेषेण निषेधो दोषगौरवज्ञापनार्थः। तच्च प्रायश्चित्तगौरवार्थमेवमन्यस्यापि पृथङ् निषेधो व्याख्येयः ॥ ८६ ॥

सर्वं च तान्तवं रक्तं शाणक्षौमाविकानि च।
अपि चेत्स्युररक्तानि फलमूले तथौषधीः ॥ ८७ ॥

सब प्रकारके सूत्र-निर्मित और रंगे गये सन, अलसी तथा उनके वस्त्र और बिना रंगे हुए वस्त्र, फल, मूल तथा ओषधि (गुडूची आदि दवाओं) को (आपत्तिकालमें भी ब्राह्मण-क्षत्रिय नहीं बेचे) ॥ ८७ ॥

सर्वं तन्तुनिर्मितं वस्त्रं कुसुम्भादिरक्तं वर्जयेत्। शणक्षुमातन्तुमयान्याविकलोमभवानि च यद्यलोहितान्यपि भवेयुस्तथापि न विक्रीणीत। तथा फलमूलगुडूच्यादीनि वर्जयेत् ॥ ८७ ॥

अपः शस्त्रं विषं मांसं सोमं गन्धांश्च सर्वशः।
क्षीरं क्षौद्रं दधि घृतं तैलं मधु गुडं कुशान् ॥ ८८ ॥

जल, शस्त्र (सब प्रकारका हथियार या लोहा), विष, मांस, सोम नामक लता, सर्वविध गन्ध (कर्पूर, कस्तूरी आदि), दूध, मधु (शहद), दही, घी, तेल, मोम, गुड और कुश (को आपत्तिकालमें भी ब्राह्मण-क्षत्रिय नहीं बेचे) ॥ ८८ ॥

जललोहविषमांससोमक्षीरदधिघृततैलगुडदर्भान् तथा गन्धवन्ति सर्वाणि कर्पूरादीनि, क्षौद्रं माक्षिकं, मधु मधूच्छिष्टं "शस्त्रासवमधूच्छिष्टम्" (या. स्मृ. ३-३७) इति याज्ञवल्क्येन पठितं वर्जयेत् ॥ ८८ ॥

आरण्यांश्च पशून्सर्वान्दंष्ट्रिणश्च वयांसि च।
मद्यं नीलिं च लाक्षां च सर्वांश्चैकशफांस्तथा ॥ ८९ ॥
[त्रपु सीसं तथा लोहं तैजसानि च सर्वशः।
बालांश्चर्म तथास्थीनि सस्नायूनि विवर्जयेत् ॥ २ ॥]

सब प्रकारके जङ्गली (हाथी आदि) पशु, दांतवाले (सिंह, बाघ, चित्ता, कुत्ता आदि) पशु, पक्षी, जलजन्तु (मछली, मगर, कच्छप आदि), मदिरा, नील, लाख (चपड़ा लाही), एक खुरवाले (घोड़ा आदि पशु) को (आपत्तिकालमें पड़ा हुआ भी ब्राह्मण-क्षत्रिय नहीं बेचे) ॥८९॥

[रांगा, सीसा, लोहा सब प्रकारके तैजस पदार्थ, केश, चमड़ा, हड्डी, चर्बीको (आपत्तिकालमें पड़ा हुआ भी क्षत्रिय) छोड़ दे अर्थात् नहीं बेचे ॥ २ ॥]

आरण्यान्सर्वान्पशून् हस्त्यादीन्, दंष्ट्रिणः सिंहादीन्, तथा पक्षिजलजन्तून्, मद्यादीन्, एकशफांश्चाश्वादीन् न विक्रीणीत ॥ ८९ ॥

काममुत्पाद्य कृष्यां तु स्वयमेव कृषीवलः।
विक्रीणीत[1] तिलाञ्छूद्रान्धर्मार्थमचिरस्थितान् ॥ ९० ॥

(आपत्तिमें पड़नेके कारण) कृषि (द्वारा जीविका निर्वाह) करनेवाला (ब्राह्मण-क्षत्रिय) खेतमें स्वयं तिलों को पैदा करके दूसरे पदार्थोंके साथ मिलाकर (लाभार्थ) बहुत समय तक नहीं रखकर धर्म (यज्ञ-हवन आदि) के लिए बेच दे ॥ ९० ॥

---

१. 'तिलाञ्छूद्रो' इति. नि. सा. मु. पु. पाठः, अत्र 'तिलान्मिश्रान्' इति पाठः समीचीन इति प्रतिभाति।

कर्षकः स्वयमेव कर्षणेन तिलानुत्पाद्य, द्रव्यान्तरेण मिश्रानुत्पत्त्यनन्तरमेव न तु लाभार्थं कालान्तरं प्रतीक्ष्य धर्मनिमित्तमिच्छातो विक्रीणीत, निषिद्धस्य तिलविक्रयस्य धर्मार्थमयं प्रतिप्रसवः ॥ ९० ॥

भोजनाभ्यञ्जनाद्दानाद्यदन्यत्कुरुते तिलैः।
कृमिभूतः श्वविष्ठायां पितृभिः सह मज्जति ॥ ९१ ॥

खाने (उबटन आदिके रूपमें), (शरीरमें) मलने तथा दान देनेके अतिरिक्त तिलोंसे जो दूसरा कार्य (विक्रय, तेल निकालना आदि) मनुष्य करता है, वह (उस निषिद्ध कर्माचरणके कारण) पितरोंके साथ कीड़ा होकर कुत्तेकी विष्ठामें गिरता है ॥ ९१ ॥

भोजनाभ्यङ्गदानव्यतिरिक्तं यदन्यन्निषिद्धं विक्रयादि तिलानां कुरुते, तेन पितृभिः सह कृमित्वं प्राप्तः कुक्कुरपुरीषे मज्जति ॥ ९१ ॥

सद्यः पतति मांसेन लाक्षया लवणेन च।
त्र्यहेण शूद्रो भवति ब्राह्मणः क्षीरविक्रयात् ॥ ९२ ॥

(आपत्तिमें पड़ा हुआ भी ब्राह्मण) मांस, लाख और नमकको बेचनेसे तत्काल पतित (के तुल्य) होता है और दूध बेचनेसे तीन दिनमें शूद्र (के तुल्य) होता है ॥ ९२ ॥

मांसलाक्षालवणविक्रयैर्ब्राह्मणस्तत्क्षणादेव पततीति दोषगौरवव्याख्यानार्थमेतत्, पञ्चानामेव महापातकिनां पातित्यहेतूनां वक्ष्यमाणत्वात्। क्षीरविक्रयात्त्र्यहेण शूद्रतां प्राप्नोति। एतदपि दोषगौरवात्प्रायश्चित्तगौरवख्यापनार्थम् ॥ ९२ ॥

इतरेषां तु पण्यानां विक्रयादिह कामतः।
ब्राह्मणः सप्तरात्रेण वैश्यभावं नियच्छति ॥ ९३ ॥

शास्त्रवर्जित (१०।८६—८९) अन्य पदार्थोंको इच्छापूर्वक बेचनेवाला ब्राह्मण सात रात्रिमें वैश्यत्वको प्राप्त करता है ॥ ९३ ॥

ब्राह्मण उक्तेभ्यो मांसादिभ्योऽन्येषां प्रतिषिद्धानां पण्यानामिच्छातो न तु प्रमादाद् द्रव्यान्तरसंश्लिष्टानां सप्तरात्रविक्रयणेन वैश्यत्वं गच्छति ॥ ९३ ॥

रसा रसैर्निमातव्या न त्वेव लवणं रसैः।
कृतान्नं चाकृतान्नेन तिला धान्येन तत्समाः ॥ ९४ ॥

(गुड आदि) रसोंको (घृत आदि) रसोंसे बदलना चाहिये, किन्तु नमकको किसी रससे नहीं बदलना चाहिये। पक्वान्न (पके हुए-सिद्ध-अन्नको) अपक-कच्चे-अन्नसे तथा तिलको (प्रस्थ परिमाण) धान्यसे बदलना चाहिये ॥ ९४ ॥

रसा गुडादयो रसैर्घृतादिभिः परिवर्तनीयाः। लवणं पुना रसान्तरेण न परिवर्तनीयं, सिद्धान्नं चामान्नेन परिवर्तनीयं, तिला धान्येन वान्यप्रस्थेनेत्येवं तत्समाः परिवर्तनीयाः ॥९४॥

जीवेदेतेन राजन्यः सर्वेणाप्यनयं गतः।
न त्वेव ज्यायसीं वृत्तिमभिमन्येत कर्हिचित् ॥ ९५ ॥

(जीविका-साधन नहीं मिलनेसे) आपत्तिमें पड़ा हुआ क्षत्रिय इन सब (ब्राह्मणके लिए निषिद्ध रसादि विक्रय रूप) कार्योंसे (वैश्यके समान) जीविका कर ले, किन्तु (ब्राह्मणकी) श्रेष्ठवृत्ति (अध्यापन, यज्ञ कराना और दान लेना) को कदापि स्वीकार न करे ॥ ९५ ॥

क्षत्रिय आपदं प्राप्तः एतेनेत्यभिधाय सर्वेण इत्यभिधानाद् ब्राह्मणगोचरतया निषिद्धेनापि रसादिविक्रयणेन वैश्यवज्जीवेन्न पुनः कदाचिद् ब्राह्मणजीविकामाश्रयेत्। न केवलं क्षत्रियः क्षत्रियवदन्योऽपि ॥ ९५ ॥

यो लोभादधमो जात्या जीवेदुत्कृष्टकर्मभिः।
तं राजा निर्धनं कृत्वा क्षिप्रमेव प्रवासयेत् ॥ ९६ ॥

नीच जातिवाला जो मनुष्य अपनेसे ऊँची जातिवालेकी वृत्तिको लोभसे ग्रहण कर जीविका करे तो राजा उसे निर्धनकर (उसकी सब सम्पत्ति छीनकर) राज्यसे बाहर निकाल दे ॥ ९६ ॥

यो निकृष्टजातिः सन्, लोभादुत्कृष्टजातिविहितकर्मभिर्जीवेत्तं राजा गृहीतसर्वस्वं कृत्वा तदानीमेव देशान्निःसारयेत् ॥ ९६ ॥

वरं स्वधर्मो विगुणो न पारक्यः स्वनुष्ठितः।
परधर्मेण जीवन् हि सद्यः पतति जातितः ॥ ९७ ॥

अपना हीन धर्म भी श्रेष्ठ है, किन्तु दूसरेका अच्छा धर्म भी श्रेष्ठ नहीं है; क्योंकि दूसरेके धर्मसे जीविका करनेवाला तत्काल जातिभ्रष्ट हो जाता है ॥ ९७ ॥

विगुणमपि स्वकर्म कर्तुं न्याय्यं, न परकीयं संपूर्णमपि। यस्माज्जात्यन्तरविहितकर्मणा जीवन् तत्क्षणादेव स्वजातितः पततीति दोषो वर्जनार्थः ॥ ९७ ॥

वैश्योऽजीवन्स्वधर्मेण शूद्रवृत्त्यापि वर्तयेत्।
अनाचरन्नकार्याणि निवर्तेत च शक्तिमान् ॥ ९८ ॥

अपने धर्म (१०।७८, ७९) से जीवन निर्वाह नहीं कर सकनेवाला वैश्य निषिद्ध कर्मोंका त्याग करता हुआ अर्थात् द्विज-सेवादि करते समय जूठा आदि नहीं खाता हुआ शूद्रकी वृत्ति (द्विज-सेवा) से जीविका करे और समर्थ होकर अर्थात् आपत्कालके दूर हो जानेपर (उस शूद्र कर्मसे) निवृत्त हो जाय ॥ ९८ ॥

वैश्यः स्ववृत्त्या जीवितुमशक्नुवन् शूद्रवृत्त्यापि द्विजातिशुश्रूषयोच्छिष्टभोजनादीन्यकुर्वन् वर्तेत। निस्तीर्णापत्क्रमशः शूद्रवृत्तितो निवर्तेत ॥ ९८ ॥

अशक्नुवंस्तु शुश्रूषां शूद्रः कर्तुं द्विजन्मनाम्।
पुत्रदारात्ययं प्राप्तो जीवेत्कारुककर्मभिः ॥ ९९ ॥

द्विजों (१०।४) की सेवा करनेमें असमर्थ शूद्र (भूख आदिसे) स्त्री-पुत्रादि के पीड़ित होनेपर सूप आदि बनानेके कार्योंसे जीविका करे ॥ ९९ ॥

शूद्रः द्विजातिशुश्रूषां कर्तुमक्षमः क्षुदवसन्नपुत्रकलत्रः सूपकारादिकर्मभिर्जीवेत ॥ ९९ ॥

यैः कर्मभिः प्रचरितैः शुश्रूष्यन्ते द्विजातयः।
तानि कारुककर्माणि शिल्पानि विविधानि च ॥ १०० ॥

जिन कर्मोंके करनेसे द्विजों (१०।४) की सेवा हो जाय, उन (बढ़ई तथा चित्रकार आदिके) कार्योंको शूद्र करे ॥ १०० ॥

पूर्वोक्तकारुककर्मविशेषाभिधानार्थमिदम्। यैः कर्मभिः कृतैर्द्विजातयः परिचर्यन्ते तानि च कर्माणि तक्षणादीनि शिल्पानि च चित्रलिखितादीनि नानाप्रकाराणि कुर्यात् ॥ १०० ॥

वैश्यवृत्तिमनातिष्ठन्ब्राह्मणः स्वे पथि स्थितः।
अवृत्तिकर्षितः सीदन्निमं धर्मं समाचरेत् ॥ १०१ ॥

जीविकाके अभावसे पीडित होता हुआ भी अपने [धर्म] मार्ग पर स्थित ब्राह्मण इस [आगे [१०।१०२–१०३] कहे जानेवाले] कर्मको करे ॥ १०१ ॥

ब्राह्मणो वृत्त्यभावपीडितोऽवसादं गच्छन् क्षत्रियवैश्यवृत्तिमनातिष्ठन् "वरं स्वधर्मो विगुणः" (म. स्मृ. १०–९७) इत्युक्तत्वात्स्ववृत्तावेव वर्तमान इमां वक्ष्यमाणां वृत्तिमनुतिष्ठेत्। अतश्च विगुणप्रतिग्रहादिस्ववृत्त्यसम्भवे परवृत्त्याश्रयणं ज्ञेयम् ॥ १०१ ॥

सर्वतः प्रतिगृह्णीयाद् ब्राह्मणस्त्वनयं गतः।
पवित्रं दुष्यतीत्येतद्धर्मतो नोपपद्यते ॥ १०२ ॥

[जीविका नहीं मिलनेसे] आपत्तिमें पड़ा हुआ ब्राह्मण सबसे [नीचसे भी] दान ग्रहण करे, क्योंकि आपत्तिमें पड़ा हुआ पवित्र [गङ्गाजल, ब्राह्मणादि] [नालीका पानी या निषिद्धाचरणसे] दूषित होता है यह [शास्त्र] संगत नहीं होता है ॥ १०२ ॥

ब्राह्मण आपदं प्राप्तः सर्वेभ्योऽपि निन्दिततमेभ्यः क्रमेण प्रतिग्रहं कुर्यात्। अत्रार्थान्तरन्यासो नामालंकारः। यस्मात्पवित्रं गङ्गादि रथ्योदकादिना दुष्यतीत्येतच्छास्त्रस्थित्या नोपपद्यते ॥ १०२ ॥

यस्मात्—

नाध्यापनाद्याजनाद्वा गर्हिताद्वा प्रतिग्रहात्।
दोषो भवति विप्राणां ज्वलनाम्बुसमा हि ते ॥ १०३ ॥

निन्दितों [अनधिकारियों] को अध्यापन करानेसे, यज्ञ करानेसे ओर उनका दिया हुआ दान लेनेसे (आपत्तिमें पड़े हुए] ब्राह्मणोको दोष नहीं होता; क्योकि वे (ब्राह्मण] अग्नि तथा पानीके समान [पवित्र] हैं ॥ १०३ ॥

ब्राह्मणानामापदि गर्हिताध्यापनयाजनप्रतिग्रहैरधर्मो न भवति। यस्मात्स्वभावतः पवित्रत्वेनाग्न्युदकतुल्यास्ते ॥ १०३ ॥

जीवितात्ययमापन्नो योऽन्नमत्ति यतस्ततः।
आकाशमिव पङ्केन न स पापेन लिप्यते ॥ १०४ ॥

जीविकाके नहीं मिलनेसे संशयित प्राणोंवाला जो (ब्राह्मणादि) जहां-तहां (अनुलोम एवं प्रतिलोमज आदि हीन जातिवाले) से भी अन्नको खाता है, वह पङ्कसे आकाशके समान पापसे लिप्त (दूषित) नहीं होता है ॥ १०४ ॥

यः प्राणात्ययं प्राप्तः प्रतिलोमजादन्नमश्नाति सोऽन्तरिक्षमिव कर्दमेन पापेन न सम्बध्यते ॥ १०४ ॥

अत्र परकृतिरूपार्थवादमाह—

अजीगर्तः सुतं हन्तुमुपासर्पद् बुभुक्षितः।
न चालिप्यत पापेन क्षुत्प्रतीकारमाचरन् ॥ १०५ ॥

(क्योंकि पूर्व समयमें) भूखसे पीडित 'अजीगर्त' नामक ऋषि ('शुनःशेप' नामक पुत्रको बेचकर पुनः यज्ञमें सौ गौओंको पानेके लिये यज्ञस्तम्भमें बंधे हुए) उसी पुत्रको मारनेके लिए

तैयार हो गये और भूखकी निवृत्तिके लिए वैसा (अति निषिद्ध कर्म) करते हुए वे पापयुक्त नहीं हुए ॥ १०५ ॥

ऋषिरजीगर्ताख्यो बुभुक्षितः सन् , पुत्रं शुनःशेपनामानं स्वयं विक्रीतवान् यज्ञे गोशत-लाभाय यज्ञयूपे बध्वा विशसिता भूत्वा हन्तुं प्रचक्रमे । न च क्षुत्प्रतीकार्थं तथा कुर्वन्पापेन लिप्तः । एतच्च बह्वृचब्राह्मणे शुनःशेपाख्यानेषु व्यक्तमुक्तम् ॥ १०५ ॥

श्वमांसमिच्छन्नार्तोऽत्तुं धर्माधर्मविचक्षणः ।
प्राणानां परिरक्षार्थं वामदेवो न लिप्तवान् ॥ १०६ ॥

धर्म तथा अधर्म (के गुण तथा दोष) को जाननेवाले 'वामदेव' ऋषि भूखसे पीडित होकर प्राणोंकी रक्षाके लिए कुत्तेके मांसको खानेकी इच्छा करते हुए भी (पापसे) लिप्त (दूषित) नहीं हुए ॥ १०६ ॥

वामदेवाख्य ऋषिर्धर्माधर्मज्ञः क्षुधार्तः प्राणत्राणार्थं श्वमांसं खादितुमिच्छन्दोषेण न लिप्तवान् ॥ १०६ ॥

भरद्वाजः क्षुधार्तस्तु सपुत्रो विजने वने ।
बह्वीर्गाः प्रतिजग्राह वृधोस्तक्ष्णो महातपाः ॥ १०७ ॥

निर्जन वनमें पुत्रसहित निवास करते हुए महातपस्वी 'भारद्वाज' मुनि भूखसे पीडित होकर 'वृधु' नामक बढ़ईसे सौ गौओंका प्रतिग्रह (दान) लिये (तथा हीन जातिसे दान लेकर भी निन्दित कर्मके आचरण करनेसे पाप-दूषित नहीं हुए) ॥ १०७ ॥

भरद्वाजाख्यो मुनिः महातपस्वी पुत्रसहितो निर्जने वनेऽरण्ये उषित्वा क्षुत्पीडितो वृधु-नाम्नस्तक्ष्णो बह्वीर्गाः प्रतिगृहीतवान् ॥ १०७ ॥

क्षुधार्तश्चात्तुमभ्यागाद्विश्वामित्रः श्वजाघनीम् ।
चण्डालहस्तादादाय धर्माधर्मविचक्षणः ॥ १०८ ॥

धर्माधर्म (के गुण-दोष) को जाननेवाले 'विश्वामित्र' मुनि भूखसे पीडित होकर चण्डालके हाथसे कुत्तेकी जङ्घाके मांसको लेकर खानेकी इच्छा किये (तथा उस निषिद्ध मांस-भक्षणके खानेकी इच्छासे पापदूषित नहीं हुए) ॥ १०८ ॥

ऋषिर्विश्वामित्रो धर्माधर्मज्ञः क्षुत्पीडितश्चण्डालहस्ताद् गृहीत्वा कुक्कुरजघनमांसं भक्षितुमध्यवसितवान् ॥ १०८ ॥

प्रतिग्रहाद्याजनाद्वा तथैवाध्यापनादपि ।
प्रतिग्रहः प्रत्यवरः प्रेत्य विप्रस्य गर्हितः ॥ १०९ ॥

ब्राह्मणके लिए नीचोंको पढ़ाना, यज्ञ कराना तथा उनसे दान लेना-इन तीनों कर्मोंमें नीचसे प्रतिग्रह (दान) लेना निकृष्ट है, और मरनेपर यही परलोकमें नरक का कारण होता है अत एव जीविका-निर्वाह नहीं होनेसे आपत्तिमें पड़े हुए ब्राह्मणको यदि नीचोंको अध्यापन तथा यज्ञ करानेसे भी जीवननिर्वाह नहीं हो सके तभी उसे उन नीचोंसे प्रतिग्रह लेना चाहिये ॥ १०९ ॥

गर्हितानामप्यध्यापनयाजनप्रतिग्रहाणां मध्याद् ब्राह्मणस्यासत्प्रतिग्रहो निकृष्टः, पर-लोके नरकहेतुः । ततश्चापदि प्रथमं निन्दिताध्यापनयाजनयोः प्रवर्तितव्यं तदसम्भवे स्वस-त्प्रतिग्रह इत्येवं परमेतत् ॥ १०९ ॥

अत्र हेतुमाह—

याजनाध्यापने नित्यं क्रियेते संस्कृतात्मनाम् ।
प्रतिग्रहस्तु क्रियते शूद्रादप्यन्त्यजन्मनः ॥ ११० ॥

यज्ञ कराना तथा पढ़ाना—ये दोनों कर्म संस्कारयुक्त आत्मावाले (द्विजों) को ही कराये जाते हैं तथा प्रतिग्रह तो निकृष्ट जन्मवाले शूद्रसे भी लिया जाता है (अतएव निकृष्ट गत कर्म होनेसे प्रतिग्रह लेना निन्दित कर्म है, इस कारण यथा शक्य उसका त्यान करना चाहिये) ॥११०॥

याजनाध्यापने आपद्यनापदि च उपनयनसंस्कृतात्मनां द्विजातीनामेव क्रियेते । प्रतिग्रहः पुनर्निकृष्टजातेः शूद्रादपि क्रियते तस्मादसौ ताभ्यां गर्हितः ॥ ११० ॥

जपहोमैरपैत्येनो याजनाध्यापनैः कृतम् ।
प्रतिग्रहनिमित्तं तु त्यागेन तपसैव च ॥ १११ ॥

नीचों को पढ़ाने तथा यज्ञ करानेसे उत्पन्न पाप (गायत्री आदि मन्त्रोंके) जप तथा हवनसे नष्ट हो जाता है, किन्तु नीचके दान लेनेसे उत्पन्न पाप उस दान लिये गये पदार्थके त्याग तथा आगे (१०।११२) कहे जानेवाले तपसे नष्ट होता है ॥ १११ ॥

एनो ग्रहणादसत्प्रतिग्रहयाजनाध्यापनैर्यदुपपन्नं पापं तत्प्रायश्चित्तप्रकरणे वक्ष्यमाणक्रमेण जपहोमैर्नश्यति । असत्प्रतिग्रहजनितं पुनः प्रतिगृहीतद्रव्यस्त्यागेन 'मासं गोष्ठे पयः पीत्वा' इत्येवमादिवक्ष्यमाणतपसाऽपगच्छति ॥ १११ ॥

शिलोञ्छमप्याददीत विप्रोऽजीवन्यतस्ततः ।
प्रतिग्रहाच्छिलः श्रेयांस्ततोऽप्युञ्छः प्रशस्यते ॥ ११२ ॥

अपनी जीविका (१०।७५-७६) से जीवन-निर्वाह नहीं होने पर ब्राह्मण जहां कहींसे भी 'शिल' तथा 'उञ्छ'को स्वीकार करे (किन्तु निन्दितसे दान न लेवे, क्योंकि उस दानसे) 'शिल' से 'उञ्छ' श्रेष्ठ है ॥ ११२ ॥

ब्राह्मणः स्ववृत्त्याऽजीवन्यतस्ततोऽपि शिलोञ्छं गृह्णीयान्न तु तत्सम्भवेऽसत्प्रतिग्रहं कुर्यात् । यस्मादसत्प्रतिग्रहाच्छिलः प्रशस्तः । मञ्जर्यात्मकानेकधान्योन्नयनं शिलस्ततोऽप्युञ्छः श्रेष्ठः । एकैकधान्यादिगुडकोच्चयनमुञ्छः ॥ ११२ ॥

सीदद्भिः कुप्यमिच्छद्भिर्धने वा पृथिवीपतिः ।
याच्यः स्यात्स्नातकैर्विप्रैरदित्संस्त्यागमर्हति ॥ ११३ ॥

धन-धान्यके अभावसे दुःखित परिवारवाले अत एव भोजन, वस्त्र तथा यज्ञादि कार्यके लिए सोना-चांदि आदि धन चाहनेवाले स्नातकको राजा (क्षत्रीय) से भी याचना करनी चाहिये और यदि वह (कृपणता आदिसे) नहीं देना चाहे तो उस (से याचना करने) का त्याग कर देना चाहिये ॥ ११३ ॥

स्नातकैर्ब्राह्मणैर्धनाभावाद्धर्मार्थं कुटुम्बावसादं गच्छद्भिः सुवर्णरजतव्यतिरिक्तं धान्यवस्त्रादि कुप्यं धनं यागाद्युपयुक्तं हिरण्याद्यध्यापत्प्रकरणात्क्षत्रियोऽप्युच्छास्त्रवर्ती याचितव्यः स्यात् । यश्च दातुं नेच्छति कृपणत्वेनावधारितः स त्याज्यो न याचनीय इत्यर्थः । [1]मेधातिथिगोविन्दराजौ तु "त्यागमर्हतीति तस्य देशे न वस्तव्यम्" इति व्याचक्षाते ॥ ११३ ॥

---

१. आदित्सन् याचितः सन् दातुं यो नेच्छति स त्यागमर्हति तस्य विषये न वस्तव्यम् । अथवा त्यागो हानिः, अन्यस्य चानिर्देशाद्धर्महानिं प्राप्नोति ।

अकृतं च कृतात्क्षेत्राद्गौरजाविकमेव च।
हिरण्यं धान्यमन्नं च पूर्वं पूर्वमदोषवत् ॥ ११४ ॥

जोती हुई भूमिकी अपेक्षा विना जोती हुई भूमि, गौ, बकरी, भेंड़, सोना, धान्य (कच्चा—विना सिद्ध हुआ – अन्न) और पकाया (सिद्ध) हुआ अन्न; इनमें से पूर्व-पूर्व निर्दोष अर्थात् कम दोषवाला है ॥ ११४ ॥

अकृतमनुप्तसस्यं क्षेत्रं तत्कृतादुप्तसस्यात्प्रतिग्रहे दोषरहितं तथा गोच्छागमेषहिरण्यधान्यसिद्धान्नानां मध्यात्पूर्वं पूर्वमदुष्टम् । ततश्चैषां पूर्वपूर्वासम्भवे परः परो ज्ञेयः ॥ ११४ ॥

सप्त वित्तागमा धर्म्या दायो लाभः क्रयो जयः।
प्रयोगः कर्मयोगश्च सत्प्रतिग्रह एव च ॥ ११५ ॥

(१) दाय (धर्मयुक्त पितृ-सम्पत्तिका भाग) (२) लाभ (मूलधन या मित्रादिसे प्राप्त) (३) खरीदा हुआ, (४) जय (धर्मपूर्वक किये गये युद्धमें विजयसे प्राप्त), (५) प्रयोग (ब्याज अर्थात् सूद आदिके द्वारा प्राप्त), (६) कर्मयोग (खेती तथा व्यापार आदि उद्योग करनेसे प्राप्त) (७) सत्प्रतिग्रह (शास्त्रोक्त दानसे प्राप्त); ये सात धनके लाभ होनेके स्थान धर्मयुक्त कहे गये हैं ॥ ११५ ॥

दायाद्याः सप्त धनागमाः यथाधनाधिकारं धर्मादनपेताः तत्र दायोऽन्वयागतधनं, लाभो निध्यादेः मैत्र्यादिलब्धस्य च, क्रयः प्रसिद्धः, एते त्रयश्चतुर्णामपि वर्णानां धर्म्याः । जयधनं विजयत्वेन क्षत्रियस्य धर्म्यंप्रयोगो वृद्ध्यादिधनस्य, कर्मयोगश्च कृषिवाणिज्ये, एतौ प्रयोगौ वैश्यस्य धर्म्यौ, सत्प्रतिग्रहो ब्राह्मणस्य धर्म्यः । एवं चैतेषां धर्मत्ववचनादेतदभावेऽन्येष्वनापद्विहितेषु वृत्तिकर्मसु प्रवर्तितव्यम् । तदभावे चापद्विहितेषु प्रकृतेष्वित्येतदर्थमेतदिहोच्यते ॥ ११५ ॥

विद्या शिल्पं भृतिः सेवा गोरक्ष्यं विपणिः कृषिः ।
धृतिर्भैक्ष्यं कुसीदं च दश जीवनहेतवः ॥ ११६ ॥

(१) विद्या (वेद-वेदाङ्गादिका तथा वैद्यक, तर्क, विष-निराकरण आदिकी विद्या) (२) शिल्प (वस्त्र-तैलादिको सुगन्धित करना), (३) भृति (दूतादि बनकर वेतन लेना) (४) सेवा (दूसरे की दासता नोकरी करना), (५) गोरक्षण (गौ तथा अन्य पशुओंका पालन संवर्धन आदि) (६) व्यापार, (७) खेती, (८) धैर्य (थोड़े धनमें भी सन्तोषसे निर्वाह करना) (९) भिक्षा-समूह और (१०) सूद; ये दस जीवन-निर्वाहके हेतु हैं ॥ ११६ ॥

आपत्प्रकरणाज्जीवनहेतव इति निर्देशादेषां मध्ये यया वृत्त्या यस्यानापदि न जीवनं तया तस्यापद्यभ्यनुज्ञायते । यथा ब्राह्मणस्य भृतिसेवादि । एवं शिल्पादावपि ज्ञेयम् । विद्या वेदविद्याव्यतिरिक्ता वैद्यतर्कविषापनयनादिविद्या सर्वेषामापदि जीवनार्थं न दुष्यति । शिल्पं गन्धयुक्त्यादिकरणं, भृतिः प्रैष्यभावेन वेतनग्रहणं, सेवा पराज्ञासम्पादनं, गोरक्ष्यं पशुपाल्यं, विपणिर्वणिज्या, कृषिः स्वयं कृता, धृतिः सन्तोषस्तस्मिन्सत्यल्पकेनापि जीव्यते, भैक्ष्यं भिक्षासमूहः कुसीदं वृद्ध्या धनप्रयोगः स्वयं कृतोऽपीत्येभिर्दशभिरापदि जीवनीयम् ॥ ११६ ॥

ब्राह्मणः क्षत्रियो वापि वृद्धिं नैव प्रयोजयेत् ।
कामं तु खलु धर्मार्थं दद्यात्पापीयसेऽल्पिकाम् ॥ ११७ ॥

ब्राह्मण तथा क्षत्रिय सूदके लिए धनको कभी भी नहीं देवे, किन्तु इस निकृष्ट कर्मसे धर्मके लिए थोड़ी सूदपर ऋण रूपमें धनको देवे ॥ ११७ ॥

ब्राह्मणः क्षत्रियो वापि वृद्ध्यादिधनमापद्यपि न प्रयुञ्जीत किन्तु निकृष्टकर्मणा धर्मार्थमल्पिकया वृद्ध्या प्रयुञ्जीत ॥ ११७ ॥

इदानीं राज्ञामापद्धर्ममाह—

चतुर्थमाददानोऽपि क्षत्रियो भागमापदि ।
प्रजा रक्षन्परं शक्त्या किल्विषात्प्रतिमुच्यते ॥ ११८ ॥

(राजाको प्रजाके धान्यका षष्ठांश या अष्टमांश या द्वादशांश लेनेका शास्त्रसम्मत (७।१३०) विधान होनेपर भी) आपत्तिकालमें (उतना कर लेनेसे राज्यकार्य चलना असम्भव होनेपर) प्रजाके धान्यका चतुर्थांश लेता हुआ और यथाशक्ति प्रजाओंकी रक्षा करता हुआ राजा अधिक कर लेनेके पापसे छूट जाता (दूषित नहीं होता) है ॥ ११८ ॥

राज्ञो धान्यादीनामष्टम इत्याद्युक्तं स आपदि धान्यादेश्चतुर्थमपि भागं करार्थं गृह्णन्परया शक्त्या प्रजा रक्षन्नधिककरग्रहणपापेन न संबध्यते ॥ ११८ ॥

कस्मात्पुनरापद्यपि राज्ञो रक्षणमुच्यते, यस्मात्—

स्वधर्मो विजयस्तस्य नाहवे स्यात्पराङ्मुखः ।
शस्त्रेण वैश्यान्रक्षित्वा धर्म्यमाहारयेद्बलिम् ॥ ११९ ॥

विजय पाना राजाओंका अपना धर्म है (प्रजाकी रक्षा करते हुए भी यदि राजाको कहींसे भय-कारण उपस्थित हो जावे तो उसे) युद्धसे (डरकर) विमुख नहीं होना चाहिये और शस्त्रोंसे वैश्योंकी रक्षाकर उनसे आगे (१०।१२०) कहे हुए धर्मयुक्त करको (आप्त पुरुषोंके द्वारा) ग्रहण करना चाहिये ॥ ११९ ॥

राज्ञः शत्रुविजयः स्वधर्मो विजयफलं युद्धमित्यर्थः । प्रजारक्षणप्रयुक्तस्य यदि कुतश्चिद्भयं स्यात्तदा स युद्धपराङ्मुखो न भवेत् । एवं च शस्त्रेण वैश्यान्दस्युभ्यो रक्षित्वा तेभ्यो धर्मादनपेतमाप्तपुरुषैर्बलिमाहारयेत् ॥ ११९ ॥

कोऽसौ बलिस्तमाह—

धान्येऽष्टमं विशां शुल्कं विंशं कार्षपणावरम् ।
कर्मोपकरणाः शूद्राः कारवः शिल्पिनस्तथा ॥ १२० ॥

राजाको आपत्तिकालमें वैश्यके धान्यमेंसे आठवां भाग (विशेष आपत्तिकालमें पूर्व (१०।११८) वचनके अनुसार चौथा भाग और सोने-चांदी आदिमें-से बीसवां भाग (आपत्तिकाल नहीं होने पर (पूर्व (७।१३०) वचनके अनुसार पचासवां भाग) कर लेना चाहिये और शूद्र, बढ़ई तथा अन्य कारीगरोंसे कोई कर नहीं लेना चाहिये, क्योंकि वे तो काम (बेगार) के द्वारा ही राजाका उपकार करते हैं ॥ १२० ॥

धान्यविषये उपचये वैश्यानामष्टमं भागं शुल्कमाहारयेत् । धान्यानां द्वादशोऽपि भाग उक्तः । आपद्ययमष्टम उच्यते । अत्यन्तापदि प्रागुक्तश्चतुर्थो वेदितव्यः तथा हिरण्यादीनां कार्षापणान्तानां विंशतितमं भागं शुल्कं गृह्णीयात्तत्रापि ।

पञ्चाशद्भाग आदेयो राज्ञा पशुहिरण्ययोः (म. स्मृ. ७–१३०)

इत्यनापदि पञ्चाशद्भाग उक्तः । आपद्ययं विंश उच्यते । यथा शूद्राः, कारवः सूपकारादयः, शिल्पिनः तक्षादयः, कर्मणैवोपकुर्वन्ति न तु तेभ्य आपद्यपि करो ग्राह्यः ॥ १२० ॥

शूद्रस्तु वृत्तिमाकाङ्क्षन्क्षत्रमाराधयेद्यदि ।
धनिनं वाप्युपाराध्य वैश्यं शूद्रो जिजीविषेत् ॥ १२१ ॥

ब्राह्मणकी सेवाद्वारा जीवन-निर्वाह नहीं होनेसे जीविकाको चाहनेवाला शूद्र क्षत्रिय अथवा धनिक वैश्यकी सेवा करता हुआ जीवन-निर्वाह करे ॥ १२१ ॥

शूद्रो ब्राह्मणशुश्रूषयाऽजीवन्यदि वृत्तिमाकाङ्क्षेत्तदा क्षत्रियं परिचर्य तदभावे धनिनं वैश्यं परिचर्य जीवितुमिच्छेत् । द्विजातिशुश्रूषणासामर्थ्ये तु प्रागुक्तानि कर्माणि कुर्यात् ॥१२१॥

स्वर्गार्थमुभयार्थं वा विप्रानाराधयेत्तु सः ।
जातब्राह्मणशब्दस्य सा ह्यस्य कृतकृत्यता ॥ १२२ ॥

वह (शूद्र) स्वर्ग अथवा स्वर्ग तथा जीविका दोनोंके लिए ब्राह्मणकी सेवा करे । 'यह ब्राह्मणाश्रित है' इतनेसे ही शूद्र कृतकृत्य हो जाता है ॥ १२२ ॥

स्वर्गप्राप्त्यर्थं स्वर्गस्ववृत्तिलिप्सार्थं ब्राह्मणानेव शूद्रः परिचरेत् । तस्माज्जाता ब्राह्मणाश्रितोऽयमिति शब्दो यस्य । शाकपार्थिवादित्वात्समासः । साऽस्य शूद्रस्य कृतकृत्यता तद्व्यपदेशतयाऽसौ कृतकृत्यो भवति ॥ १२२ ॥

यत एवम् , अतः—

विप्रसेवैव शूद्रस्य विशिष्टं कर्म कीर्त्यते ।
यदतोऽन्यद्धि कुरुते तद्भवत्यस्य निष्फलम् ॥ १२३ ॥

ब्राह्मणोंकी सेवा करना ही शूद्रोंका मुख्य कर्म कहा गया है, इसके अतिरिक्त वह शूद्र जो कुछ करता है, उसका कर्म निष्फल होता है ॥ १२३ ॥

ब्राह्मणपरिचर्यैव शूद्रस्य कर्मान्तरेभ्यः प्रकृष्टं कर्म शास्त्रेऽभिधीयते । यस्मादेतद्व्यतिरिक्तं यदसौ कर्म कुरुते तदस्य निष्फलं भवतीति पूर्वस्तुत्यर्थं न त्वन्यनिवृत्तये । पाकयज्ञादीनामपि तस्य विहितत्वात् ॥ १२३ ॥

प्रकल्प्या तस्य तैर्वृत्तिः स्वकुटुम्बाद्यथार्हतः ।
शक्तिं चावेक्ष्य दाक्ष्यं च भृत्यानां च परिग्रहम् ॥ १२४ ॥

ब्राह्मणोंको चाहिये कि—वे अपनी सेवा करनेवाले शूद्रके लिए उसके काम करनेकी शक्ति, उत्साह और परिवारके निर्वाहके प्रमाणको (विचारकर तदनुसार) उसकी जीविका निश्चित कर दे ॥ १२४ ॥

तस्य परिचारकशूद्रस्य परिचर्यासामर्थ्यं कर्मोत्साहं पुत्रदारादिभर्तव्यपरिमाणं चावेक्ष्य तैर्ब्राह्मणैः स्वगृहादनुरूपा जीविका कल्पनीया ॥ १२४ ॥

उच्छिष्टमन्नं दातव्यं जीर्णानि वसनानि च ।
पुलाकाश्चैव धान्यानां जीर्णाश्चैव परिच्छदाः ॥ १२५ ॥

सेवक शूद्रके लिए जूठा अन्न, पुराने वस्त्र, अन्नोंके पुआल तथा पुराने खाट वर्तन आदि ब्राह्मण देवें ॥ १२५ ॥

तस्मै प्रकृताश्रितशूद्राय भुक्तावशिष्टान्नं ब्राह्मणैर्देयम् । एवं च
"न शूद्राय मतिं दद्यान्नोच्छिष्टम्' (म॰ स्मृ. ४-८०)
इत्यनाश्रितशूद्रविषयमवतिष्ठते । तथा जीर्णवस्त्रासारधान्यजीर्णशय्यापरिच्छदा अस्मै देयाः ॥ १२५ ॥

न शूद्रे पातकं किंचिन्न च संस्कारमर्हति ।
नास्याधिकारो धर्मेऽस्ति न धर्मात्प्रतिषेधनम् ॥ १२६ ॥

(लहसुन, प्याज आदि अभक्ष्य पदार्थ खानेपर भी) शूद्रको कोई पातक (दोष) नहीं होता, क्योंकि उसका (यज्ञोपवीत आदि) संस्कार नहीं होता, इसे (अग्निहोत्र आदि) धर्म-कार्य करनेका अधिकार नहीं है और (पाकयज्ञ आदि) धर्मकार्य करनेका निषेध भी नहीं है ॥ १२६ ॥

लशुनादिभक्षणेन शूद्रे न किंचित्पातकं भवति नतु ब्रह्मवधादावपि । "अहिंसा सत्यं" (या. स्मृ. १-२२) इत्यादेश्चातुर्वर्ण्यसाधारणत्वेन विहितत्वात् । न चाप्युपनयनादिसंस्कारमर्हति, नास्याग्निहोत्रादिधर्मेऽधिकारोऽस्ति, अविहितत्वात् । न च शूद्रविहितत्वात्पाकयज्ञादिधर्मादस्य निषेधः । एवं चास्य सर्वस्य सिद्धार्थत्वादयं श्लोक उत्तरार्थाऽनुवादः ॥

धर्मेप्सवस्तु धर्मज्ञाः सतां वृत्तमनुष्ठिताः ।
मन्त्रवर्ज्यं न दुष्यन्ति प्रशंसां प्राप्नुवन्ति च ॥ १२७ ॥

(अत एव) धर्मके इच्छुक और जाननेवाले तथा द्विजोंके अविरुद्ध आचरण करनेवाले शूद्र मन्त्रहीन (नमस्कारमात्र करके) पञ्चमहायज्ञोंको करते हुए निन्दित नहीं होते, अपितु प्रशंसाको प्राप्त करते हैं ॥ १२७ ॥

ये पुनः शूद्राः स्वधर्मवेदिनो धर्मप्राप्तिकामास्त्रैवर्णिकानामाचारमनिषिद्धमाश्रितास्ते—

नमस्कारेण मन्त्रेण पञ्चयज्ञान्न हापयेत् । (या. स्मृ. १-१२१)

इति याज्ञवल्क्यवचनान्नमस्कारमन्त्रेण मन्त्रान्तररहितं पञ्चयज्ञादिधर्मान्कुर्वाणा न प्रत्यवयन्ति ख्यातिं च लोके लभन्ते ॥ १२७ ॥

यथा यथा हि सद्वृत्तमातिष्ठत्यनसूयकः ।
तथा तथेमं चामुं च लोकं प्राप्नोत्यनिन्दितः ॥ १२८ ॥

परगुणोंकी निन्दा नहीं करनेवाला शूद्र जैसे जैसे शास्त्रानुकूल द्विजाचरणको करता है, वैसे वैसे लोकमें प्रशंसित होकर परलोक (स्वर्ग) को प्राप्त करता है ॥ १२८ ॥

परगुणानिन्दकः शूद्रो यथा यथा द्विजात्याचारमनिषिद्धमनुतिष्ठति तथा तथा जनैरनिन्दित इह लोके उत्कृष्टः स्मृतः स्वर्गादिलोकं च प्राप्नोति ॥ १२८ ॥

शक्तेनापि हि शूद्रेण न कार्यो धनसंचयः ।
शूद्रो हि धनमासाद्य ब्राह्मणानेव बाधते ॥ १२९ ॥

(धनोपार्जनमें) समर्थ भी शूद्रको धनसंग्रह नहीं करना चाहिये, क्योंकि धन को प्राप्तकर (शास्त्रका वास्तविक ज्ञान नहीं होनेके कारण धनमदसे शास्त्र-विरुद्धाचरण तथा ब्राह्मण-सेवाके त्याग करनेसे) वह ब्राह्मणोंको ही पीडित करने लगता है ॥ १२९ ॥

धनार्जनसमर्थेनापि शूद्रेण पोष्यवर्गसत्त्वर्धनपञ्चयज्ञाद्युचितादधिकबहुधनसंचयो न कर्तव्यः । यस्माच्छूद्रो धनं प्राप्य शास्त्रानभिज्ञत्वेन धनमदाच्छुश्रूषायाश्चाकरणाद् ब्राह्मणानेव पीडयतीत्युक्तस्यानुवादः ॥ १२९ ॥

एते चतुर्णां वर्णानामापद्धर्माः प्रकीर्तिताः ।
यान् सम्यगनुतिष्ठन्तो व्रजन्ति परमां गतिम् ॥ १३० ॥

(भृगुजी महर्षियोंसे कहते हैं कि—मैंने) चारो वर्णोंके लिए आपत्तिकालके इस (१०।८१-१२९) धर्मको कहा, इसका यथायोग्य पालन करते हुए वे (ब्राह्मणादि चारो वर्ण) श्रेष्ठ गतिको प्राप्त करते हैं ॥ १३० ॥

अमी चतुर्णां वर्णानामापद्यनुष्ठेया धर्मा उक्ताः। यान् सम्यगाचरन्तो विहितानुष्ठानान्निषिद्धानाचरणाच्च निष्पापतया ब्रह्मज्ञानलाभेन परमां गतिं मोक्षलक्षणां लभन्ते ॥ १३० ॥

एष धर्मविधिः कृत्स्नश्चातुर्वर्ण्यस्य कीर्तितः।
अतः परं प्रवक्ष्यामि प्रायश्चित्तविधिं शुभम् ॥ १३१ ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

(भृगुजी महर्षियों से पुनः कहते हैं कि मैंने) चारो वर्णोंके सम्पूर्ण धर्मको कहा, इसके बाद (एकादश अध्यायमें) शुभ प्रायश्चित्त-विधान को कहूँगा ॥ १३१ ॥

अयं चतुर्णां वर्णानामाचारः समयः कथितः। अत ऊर्ध्वं प्रायश्चित्तानुष्ठानं शुभमभिधास्यामि ॥ १३१ ॥ क्षे. श्लो. २ ॥

इति श्रीकल्लूकभट्टविरचितायां मन्वर्थमुक्तावल्यां मनुवृत्तौ दशमोऽध्यायः ॥

अथ एकादशोऽध्यायः

ननु—

सांतानिकं यक्ष्यमाणमध्वगं सर्ववेदसम्।
गुर्वर्थं पितृमात्रर्थं स्वाध्यायार्थ्युपतापिनः ॥ १ ॥
नवैतान्स्नातकान्विद्याद् ब्राह्मणान्धर्मभिक्षुकान्।
निःस्वेभ्यो देयमेतेभ्यो दानं विद्याविशेषतः ॥ २ ॥

सन्तानार्थ विवाहेच्छुक, यज्ञ करनेका इच्छुक, पथिक, विश्वजित् आदि यज्ञ में अपनी समस्त सम्पत्तिको दान किया हुआ, गुरु-पिता-माताके लिए भोजन-वस्त्र देनेका इच्छुक, पढ़नेके लिए भोजन वस्त्रका इच्छुक और रोगी ॥ १ ॥

इन नव स्नातक ब्राह्मणोंको धर्मभिक्षुक जानना चाहिये तथा निर्धन इनके लिए विद्या-विशेषके अनुसार (गौ, सोना, अन्न और वस्त्र आदि) दान देना चाहिये ॥ २ ॥

अतः परं प्रवक्ष्यामि प्रायश्चित्तविधिं शुभम्। (म. स्मृ. १०-१३१)

इति प्रायश्चित्तस्य वक्तव्यतया प्रतिज्ञातत्वात्सांतानिकादिभ्यो देयमित्यादेः कः प्रस्तावः। उच्यते, "दानेनाकार्यकारिणः" (म. स्मृ. ५-१०७) इति प्रागुक्तत्वात्।

दानेन वधनिर्णेकं सर्पादीनामशक्नुवन्। (म. स्मृ. ११-१३९)

इत्यादेश्च वक्ष्यमाणत्वात्प्रकृष्टप्रायश्चित्तात्मकदानपात्रोपन्यासः प्रकृतोपयुक्त एव। वर्णाश्रमधर्मादिव्यतिरिक्तप्रायश्चित्तादिनैमित्तिकधर्मकथनार्थत्वाच्चाध्यायस्यान्यस्यापि नैमित्तिकधर्मस्यात्रोपन्यासो युक्तः। संतानप्रयोजनत्वाद्विवाहस्य सांतानिको विवाहार्थी, यक्ष्यमाणोऽवश्यकर्तव्यज्योतिष्टोमादि यागं चिकीर्षुः, अध्वगः पान्थः, सर्ववेदसः कृतसर्वस्वदक्षिणविश्वजिद्यागः, विद्यागुरोर्ग्रासाच्छादनाद्यर्थः प्रयोजनं यस्य स गुर्वर्थः, एवं पितृमात्रर्थावपि, स्वाध्यायार्थी स्वाध्यायाध्ययनकालीनाच्छादनाद्यर्थी ब्रह्मचारी, उपतापी रोगी एतान्नव ब्राह्मणान्धर्मभिक्षाशीलान्स्नातकाञ्जानीयात्। एतेभ्यो निर्धनेभ्यो गोहिरण्यादि दीयत इति दानं विद्याविशेषानुरूपेण दद्यात् ॥ १-२ ॥

एतेभ्यो हि द्विजाग्र्येभ्यो देयमन्नं सदक्षिणम्।
इतरेभ्यो बहिर्वेदि कृतान्नं देयमुच्यते ॥ ३ ॥

इन नव (११।१) ब्राह्मणस्नातकोंके लिए वेदी (चौके) के भीतर सिद्ध (पक्व—पका हुआ) अन्न देना चाहिये तथा अन्य वर्णवालोंके लिए वेदीके बाहर सिद्धान्न देना चाहिये ॥ ३ ॥

एतेभ्यो नवभ्यो ब्राह्मणश्रेष्ठेभ्योऽन्तर्वेदि सदक्षिणमन्नं दातव्यम्। एतद्व्यतिरिक्तेभ्यः पुनः सिद्धान्नं बहिर्वेदि देयत्वेनोपदिश्यते। धनदाने त्वनियमः ॥ ३ ॥

सर्वरत्नानि राजा तु यथार्हं प्रतिपादयेत्।
ब्राह्मणान्वेदविदुषो यज्ञार्थं चैव दक्षिणाम् ॥ ४ ॥

राजाको वेदज्ञाता ब्राह्मणोंके लिये यज्ञविधानार्थ (मोती, माणिक्य आदि) सब प्रकारके रत्न और दक्षिणाके लिए धन देना चाहिये ॥ ४ ॥

राजा पुनः सर्वरत्नानि मणिमुक्तादीनि यागोपयोग्यानि च दक्षिणार्थं धनं विद्यानुरूपेण वेदविदो ब्राह्मणान्स्वीकारयेत् ॥ ४ ॥

कृतदारोऽपरान्दारान्भिक्षित्वा योऽधिगच्छति ।
रतिमात्रं फलं तस्य द्रव्यदातुस्तु संततिः ॥ ५ ॥

एक बार विवाहकर सस्त्रीक जो ब्राह्मण दूसरोंसे धन मांगकर द्वितीय विवाह करता है, उसे केवल रति (स्त्रीसम्भोग) मात्र ही फल होता है, क्योंकि उस स्त्रीमें उत्पन्न सन्तान तो धन देनेवालेकी होती है ॥ ५ ॥

यः सभार्यः संतत्यर्थादिनिमित्तमन्तरेणापरान्दारान् भिक्षित्वा करोति तस्य रतिमात्रं फलं, धनदातुः पुनस्तदुत्पन्नान्यपत्यानि भवन्तीति निन्दातिशयः । नैवंविधेन धनं याचित्वाऽन्यो विवाहः कर्तव्यो नाप्येवं विधाय नियमतो धनं देयमिति ॥ ५ ॥

धनानि तु यथाशक्ति विप्रेषु प्रतिपादयेत् ।
वेदवित्सु विविक्तेषु प्रेत्य स्वर्गं समश्नुते ॥ ६ ॥

जो मनुष्य वेदज्ञाता तथा पुत्र-स्त्री आदि परिवारसे युक्त ब्राह्मणके लिए धन (गौ, भूमि, सुवर्ण अन्न आदि) को देता है, वह मरकर स्वर्गको भोगता है ॥ ६ ॥

धनानि गोभूहिरण्यादीनि शक्त्यनतिक्रमेण ब्राह्मणेषु वेदज्ञेषु विविक्तेषु पुत्रकलत्राद्यवसक्तेषु प्रतिपादयेत्तद्वशाच्च स्वर्गप्राप्तिर्भवतीति ॥ ६ ॥

यस्य त्रैवार्षिकं भक्तं पर्याप्तं भृत्यवृत्तये ।
अधिकं वापि विद्येत स सोमं पातुमर्हति ॥ ७ ॥

जिसके पास अपने परिवार तथा भृत्योंके तीन वर्षतक या इससे भी अधिक समयतक पालन-पोषणके लिए अन्न हो, वह मनुष्य काम्य सोमयज्ञ करनेके योग्य (अधिकारी) होता है ॥ ७ ॥

यस्यावश्यपोष्यभरणार्थं वर्षत्रयपर्याप्तं तदधिकं वा भक्तादि स्यात्स काम्यसोमयागं कर्तुमर्हति । नित्यस्य पुनर्यथाकथंचिदवश्यकर्तव्यत्वान्नायं निषेधः । अत एव "सामन्ते सौमिकैर्मखैः (म. स्मृ. ४-२६) इति नित्यविषयत्वमुक्तवान् ॥ ७ ॥

अतः स्वल्पीयसि द्रव्ये यः सोमं पिबति द्विजः ।
स पीतसोमपूर्वोऽपि न तस्याप्नोति तत्फलम् ॥ ८ ॥

अत एव (अपने परिवार तथा भृत्योंके तीन वर्षसे कम पालन-पोषणके लिए अन्न रहनेपर) जो सोमपान (सोमयज्ञ) करता है, वह नित्य सोमयागके फलको भी नहीं पाता है ॥ ८ ॥

त्रैवार्षिकधनादल्पधने सति यः सोमयागं करोति तस्य प्रथमसोमयागो नित्योऽपि न सम्पन्नो भवति । सुतरां द्वितीययागः काम्यः ॥ ८ ॥

शक्तः परजने दाता स्वजने दुःखजीविनि ।
मध्वापातो विषास्वादः स धर्मप्रतिरूपकः ॥ ९ ॥

दान देनेमें समर्थ जो मनुष्य अपने परिवारवालोंके दुःखित रहनेपर (अपने यश तथा प्रसिद्धि-के लिए) दान देता है वह (समाजमें यश एवं प्रसिद्धि होनेमें) पहले मधु (शहद) के समान मीठा और बादमें (परिवारवालोंके दुःखित होनेके कारण नरक पानेसे) विषके समान कडु धर्मका पाखण्डी है (अत एव ऐसे दानको नहीं करना चाहिये) ॥ ९ ॥

यो बहुधनत्वाद्दानशक्तः सन्नवश्यभरणीये पितृमात्रादिज्ञातिजने दौर्गत्या दुःखोपेते सति यशोऽर्थमन्येभ्यो ददाति स तस्य दानविशेषो धर्मप्रतिरूपको न तु धर्म एव। मध्वापातो मधुरोपक्रमः प्रथमं यशस्करत्वात्। विपास्वादश्चान्ते नरकफलत्वात्तस्मादेतन्न कार्यम् ॥ ९ ॥

भृत्यानामुपरोधेन यत्करोत्यौर्ध्वदेहिकम्।
तद्भवत्यसुखोदर्कं जीवतश्च मृतस्य च ॥ १० ॥
[वृद्धौ च मातापितरौ साध्वी भार्या शिशुः सुतः।
अप्यकार्यशतं कृत्वा भर्तव्या मनुरब्रवीत् ॥ १ ॥]

जो मनुष्य स्त्री-पुत्रादि पालनीय परिवारको पीडितकर पारलौकिक सुखकी इच्छासे श्राद्धादि दान करता है, उस मनुष्यका वह दान जीते हुए तथा मरनेपर भी दुःखदायी होता है ॥ १० ॥

[वृद्ध माता-पिता, पतिव्रता स्त्री और बालक पुत्र, इनका सैकड़ों अकार्य करके भी पालन-पोषण करना चाहिये, ऐसा मनुने कहा है ॥ १ ॥]

पुत्रदाराद्यवश्यभर्तव्यपीडनेन यत्पारलौकिकधर्मबुद्ध्या दानादि करोति तस्य दातुर्जीवतो मृतस्य च तद्दानं दुःखफलं भवतीति पूर्वं कीर्त्यादिदृष्टार्थदानप्रतिषेधः। अयं त्वदृष्टार्थदानप्रतिषेधः ॥ १० ॥

यज्ञश्चेत्प्रतिरुद्धः स्यादेकेनाङ्गेन यज्वनः।
ब्राह्मणस्य विशेषेण धार्मिके सति राजनि ॥ ११ ॥
यो वैश्यः स्याद्बहुपशुर्हीनक्रतुरसोमपः।
कुटुम्बात्तस्य तद् द्रव्यमाहरेद्यज्ञसिद्धये ॥ १२ ॥

यज्ञ करते हुए क्षत्रियका, विशेषकर ब्राह्मणका यज्ञ यदि एक अङ्गसे (धनाभावके कारण) पूरा नहीं हो रहा हो तो राजाके धर्मात्मा रहनेपर वह ब्राह्मण या क्षत्रिय यज्ञकर्ता बहुत पशुवाले, पाक-यज्ञादि नहीं करनेवाले तथा सोमयज्ञसे भी हीन जो वैश्य हो; उसके परिवारसे बाकी यज्ञके पूर्ण होनेके लिए (याचनासे नहीं देनेपर बलात्कार या चोरीसे भी) धन लावे। (ऐसे करनेवाले क्षत्रिय या विशेष कर ब्राह्मण यज्ञकर्ताको धर्मात्मा राजा उक्तापराधमें दण्डित नहीं करे) ॥ ११-१२ ॥

क्षत्रियादेर्यजमानस्य विशेषतो ब्राह्मणस्य यदि यज्ञ इतराङ्गसम्पत्तौ सत्यामेकेनाङ्गेनासंपूर्णः स्यात्तदा यो वैश्यो बहुपश्वादिधनः पाकयज्ञादिरहितोऽसोमयाजी तस्य गृहात्तदङ्गोचितं द्रव्यं बलेन चौर्येण वाऽऽहरेत्। एतच्च धर्मप्रधाने सति राजनि कार्यम्। स हि शास्त्रार्थमनुतिष्ठन्तं न निगृह्णाति ॥ ११-१२ ॥

आहरेत्त्रीणि वा द्वे वा कामं शूद्रस्य वेश्मनः।
न हि शूद्रस्य यज्ञेषु कश्चिदस्ति परिग्रहः ॥ १३ ॥

यज्ञ दो या तीन अङ्गोंसे (धनाभावके कारण) पूरा नहीं से रहा हो तो, उसकी पूर्णताके लिए वैश्यके यहांसे धन नहीं मिलनेपर (बलात्कार या चोरी से धनवान् शूद्रके) यहांसे धन लावे; क्योंकि शूद्रका यज्ञसे कोई सम्बन्ध नहीं होता है ॥ १३ ॥

यज्ञस्य द्वित्र्यङ्गवैकल्ये सति तानि त्रीणि चाङ्गानि द्वे वैश्यादलाभे सति निर्विशङ्कं शूद्रस्य गृहाद्बलेन चौर्येण वाऽऽहरेत्। यस्माच्छूद्रस्य क्वचिदपि यज्ञसम्बन्धो नास्ति।

"न यज्ञार्थं धनं शूद्राद्विप्रो भिक्षेत" (म. स्मृ. ११-२४)

इति वक्ष्यमाणप्रतिषेधः शूद्राद्याचनस्य, न तु बलग्रहणादेः ॥ १३ ॥

योऽनाहिताग्निः शतगुरयज्वा च सहस्रगुः ।
तयोरऽपि कुटुम्बाभ्यामाहरेदविचारयन् ॥ १४ ॥

जो ब्राह्मण या क्षत्रिय सौ यज्ञ करने योग्य धन होनेपर भी अग्निहोत्र नहीं करता हो तथा एक सहस्र गौ या इतना धन होनेपर भी सोमयज्ञ नहीं करता हो ऐसे ब्राह्मण या क्षत्रियके परिवारसे (धनाभावके कारण) यज्ञ दो या तीन अङ्गोंसे पूर्ण नहीं हो तो यज्ञकर्ता ब्राह्मण (बलात्कार या चोरीसे) धन लावे ॥ १४ ॥

योऽनाहिताग्निर्गोशतपरिमाणधन आहिताग्निर्वाऽसोमयाजी गोसहस्रपरिमितिधनः द्वयोरपि गृहाभ्यां प्रकृतमङ्गद्वयं त्रयं वा शीघ्रं सम्पादयितुं ब्राह्मणेन द्वाभ्यामाहरणीयं ब्राह्मणक्षत्रियाभ्यामपि ब्राह्मण आहरेत्। क्षत्रियस्तु अदस्युक्रियावद् ब्राह्मणस्वहरणं निषेधयिष्यति ॥ १४ ॥

आदाननित्याच्चादातुराहरेदप्रयच्छतः ।
तथा यशोऽस्य प्रथते धर्मश्चैव प्रवर्धते ॥ १५ ॥

सर्वदा दान आदिका धन लेनेवाला तथा इष्टापूर्त और दान आदि नहीं करने वाला (ब्राह्मण) यज्ञके दो या तीन अङ्गोंकी पूर्णताके लिए यदि याचना करनेपर भी यजमान (यज्ञकर्ता) को धन नहीं दे तो यजमान उनको (बलात्कार या चोरीसे) लावे, ऐसा करनेसे धन लानेवाले यज्ञकर्ताकी ख्याति और धर्मकी वृद्धि भी होती है ॥ १५ ॥

प्रतिग्रहादिना आदानं धनग्रहणं नित्यं यस्यासावादाननित्या ब्राह्मणस्तस्मादिष्टापूर्तदानरहिताद्यज्ञाङ्गद्वयत्रयार्थायां याचनायां कृतायामददतो बलेन चौर्येण वाऽऽहरेत्। तथा कृतेऽपहर्तुः ख्यातिः प्रकाशते धर्मश्च वृद्धिमेति ॥ १५ ॥

तथैव सप्तमे भक्ते भक्तानि षडनश्नता ।
अश्वस्तनविधानेन हर्तव्यं हीनकर्मणः ॥ १६ ॥

छः जून (तीन दिन-तीन रात) जिसने भोजन नहीं किया हो, वह मनुष्य चौथे दिन भी (कहीं भोजन का ठिकाना नहीं लगने पर) हीन दानादि शुभकर्मसे वर्जित) कर्मवाले पुरुषके यहांसे भी एक दिन भोजन करने योग्य अन्न (चोरी या बलात्कारसे भी) लावे ॥ १६ ॥

सायम्प्रातर्भोजनोपदेशात्त्रिरात्रोपवासे वृत्ते चतुर्थेऽहनि प्रातः सप्तमे भक्ते दानादिधर्मरहितादेकदिनपर्याप्तमथं चौर्यादिना हर्तव्यम् ॥ १६ ॥

खलात्क्षेत्रादगाराद्वा यतो वाप्युपलभ्यते ।
आख्यातव्यं तु तत्तस्मै पृच्छते यदि पृच्छति ॥ १७ ॥

खलिहानसे, खेतसे, घरसे अथवा जहां कहींसे भी मिल सके वहींसे यागादि सत्कर्मसे वर्जित और हीन कर्म करनेवाले के भी धान्य (अन्न) को (छः शामका उपवास किया हुआ मनुष्य चौथे दिन भी उपायान्तरसे अन्न प्राप्त होनेका ठिकाना नहीं लगने पर चोरी आदिसे) लावे और यदि उस धान्यका स्वामी पूछे कि 'तूने मेरा धान्य क्यों लिया ?' तो उस पूछनेवाले धान्य-स्वामीसे कह दे कि 'मैंने खानेके लिए लिया' ॥ १७ ॥

धान्यादिमर्दनस्थानात्क्षेत्राद्वा गृहाद्वा यतो वाऽन्यस्मात्प्रदेशाद्धान्यं हीनकर्मसम्बन्धि लभ्यते ततो हर्तव्यं, यदि वाऽसौ धनस्वामी पृच्छति किं निमित्तं कृतमिति पृच्छते निमित्तं चौर्यादि वक्तव्यम् ॥ १७ ॥

ब्राह्मणस्वं न हर्तव्यं क्षत्रियेण कदाचन।
दस्युनिष्क्रिययोस्तु स्वमजीवन् हर्तुमर्हति ॥ १८ ॥

इन आपत्तियों (११।११–१७) के उपस्थित होनेपर भी क्षत्रिय ब्राह्मणके धनको कदापि नहीं लावे, किन्तु निषिद्ध (चोरी आदि) कार्य करनेवाले तथा विहित (यज्ञ, वेदाध्ययन, दानादि) कार्य नहीं करनेवाले ब्राह्मणके भी धनको क्षत्रिय लावे ॥ १८ ॥

उक्तेष्वपि निमित्तेषु क्षत्रियेण ब्राह्मणस्य धनं ततोऽपकृष्टत्वान्न हर्तव्यं, समानन्यायतया तु वैश्यशूद्राभ्यामुत्कृष्टजातितो न हर्तव्यम्। प्रतिषिद्धकृद्विहितानुष्ठायिनोः पुनर्ब्राह्मणक्षत्रिययोरत्यन्तापदि क्षत्रियो हर्तुमर्हति ॥ १८ ॥

योऽसाधुभ्योऽर्थमादाय साधुभ्यः सम्प्रयच्छति।
स कृत्वा प्लवमात्मानं सन्तारयति तावुभौ ॥ १९ ॥

जो मनुष्य (उक्त निमित्त (११।११–१८) के आनेपर) दुष्टोंसे धन लाकर सज्जनों (यज्ञाङ्ग-साधक ऋत्विक् आदि) के लिए देता है, वह अपने को नाव बनाकर उन दोनोंको (धनवालेके धनको पुण्यकर्ममें लगानेसे उसके पुण्यको बढ़ाकर धनस्वामीको तथा दान लेनेवालेके यज्ञादिको पूरा होनेसे उसकी आपत्तिको दूरकर दान लेनेवालेको, दुःखसे) पार कर देता है ॥ १९ ॥

यो हीनकर्मादिभ्य उत्कृष्टेभ्योऽभिहितेष्वपि निमित्तेषूक्तानुरूपं यज्ञाङ्गादि साधनं साधुभ्य उत्कृष्टेभ्य ऋत्विगादिभ्यो धनं ददाति स यस्यापहरति तद्दुरितं नाशयति यस्मै तद्ददाति तद्दौर्गत्याभिघातादित्येवं द्वावप्यात्मानमुडुपं कृत्वा दुःखान्मोचयति ॥ १९ ॥

यद्धनं यज्ञशीलानां देवस्वं तद्विदुर्बुधाः।
अयज्वनां तु यद्वित्तमासुरस्वं तदुच्यते ॥ २० ॥

नित्य यज्ञ करनेवालोंका जो धन है, उसे विद्वान् लोग 'देवोंका धन' कहते हैं और यज्ञ नहीं करनेवालोंका जो धन है, उसे 'असुरोंका धन' कहते हैं (अत एव उस 'असुरोंके धन'को लेकर यज्ञमें लगानेसे 'देवोंका धन' बनाना चाहिये) ॥ २० ॥

यज्ञशीलानां यद्धनं तद्यागादौ विनियोगाद्देवस्वं विद्वांसो मन्यन्ते। यागादिशून्यानां तु यद् द्रव्यं तद्धर्मविनियोगाभावादासुरस्वमुच्यते। अतस्तदप्यपहृत्य यागसम्पादनात्तद्देवस्वं कर्तव्यम् ॥ २० ॥

न तस्मिन्धारयेद्दण्डं धार्मिकः पृथिवीपतिः।
क्षत्रियस्य हि बालिश्याद् ब्राह्मणः सीदति क्षुधा ॥ २१ ॥

धार्मिक राजा पहले (११।११–१८) आपत्तिकालोंमें दूसरेके धनको (चोरी या बलात्कारसे भी) लेनेवाले ब्राह्मणको दण्डित न करे, क्योंकि क्षत्रिय अर्थात् राजाकी मूर्खतासे ही ब्राह्मण क्षुधा-पीड़ित होता है। (अतः उसका उक्त प्रकारसे धन लाना अपराध नहीं है) ॥ २१ ॥

तस्मिन्नुक्तनिमित्ते चौर्यबलात्कारं कुर्वाणे धर्मप्रधानो राजा दण्डं न कुर्यात्। यस्माद्राज्ञो मूढत्वाद् ब्राह्मणः क्षुधावसादं प्राप्नोति ॥ २१ ॥

ततश्च—

तस्य भृत्यजनं ज्ञात्वा स्वकुटुम्बान्महीपतिः।
श्रुतशीले च विज्ञाय वृत्तिं धर्म्यां प्रकल्पयेत् ॥ २२ ॥

(इस कारणसे) राजा उस ब्राह्मणके पालन-पोषण करने योग्य (स्त्री-पुत्र आदि) तथा उसके आचरण एवं शीलको मालूमकर तदनुसार धर्मयुक्त जीविकाको अपने कुटुम्बसे नियत करे ॥ २२ ॥

तस्य ब्राह्मणस्यावश्यभरणीयपुत्रादिवर्गं ज्ञात्वा श्रुताचारोचिततदनुरूपां वृत्तिं स्वगृहाद्राजा कल्पयेत् ॥ २२ ॥

कल्पयित्वाऽस्य वृत्तिं च रक्षेदेनं समन्ततः।
राजा हि धर्मषड्भागं तस्मात्प्राप्नोति रक्षितात् ॥ २३ ॥

राजा इस (क्षुधा-पीडित ब्राह्मण) की जीविका नियतकर चोर आदि सब प्रकारसे उसकी रक्षा करे, क्योंकि सुरक्षित उस ब्राह्मणके धर्मका षष्ठांश (छठा भाग) राजा प्राप्त करता है ॥ ३२ ॥

अस्य ब्राह्मणस्य जीविकां विधाय शत्रुचौरादेः सर्वतो रक्षयेत्। यस्मात् ब्राह्मणाद्रक्षितात्तस्य धर्मषड्भागं प्राप्नोति ॥ २३ ॥

न यज्ञार्थं धनं शूद्राद्विप्रो भिक्षेत कर्हिचित्।
यजमानो हि भिक्षित्वा चण्डालः प्रेत्य जायते ॥ २४ ॥

ब्राह्मणको यज्ञके लिए (भी) शूद्रसे कभी भी धन नहीं मांगना चाहिये, क्योंकि (शूद्रसे धनको मांगकर उससे) यज्ञ करनेवाला ब्राह्मण मरकर चण्डाल होता है (अतः यहांपर माँगनेका निषेध करनेसे विना मांगे यज्ञके लिए शूद्रसे धन मिल जानेपर शास्त्रविरुद्ध नहीं होता) ॥ २४ ॥

यज्ञसिद्धये धनं ब्राह्मणः कदाचिन्न शूद्राद्याचेत। यस्माच्छूद्राद्याचित्वा यज्ञं कुर्वाणो मृतश्चण्डालो भवति। अतो याचननिषेधाच्छूद्रादयाचितोपस्थितं यज्ञार्थमप्यविरुद्धम् ॥२४॥

यज्ञार्थमर्थं भिक्षित्वा यो न सर्वं प्रयच्छति।
स याति भासतां विप्रः काकतां वा शतं समाः ॥ २५ ॥

जो मनुष्य यज्ञके लिए धन मांगकर सब धनको दान नहीं कर देता है, वह (मरकर) सौ वर्षोंतक भास या कौएका जन्म पाता है ॥ २५ ॥

यज्ञसिद्ध्यर्थं धनं याचित्वा यो यज्ञे सर्वं न विनियुङ्क्ते स शतं वर्षाणि भासत्वं काकत्वं वा प्राप्नोति ॥ २५ ॥

देवस्वं ब्राह्मणस्वं वा लोभेनोपहिनस्ति यः।
स पापात्मा परे लोके गृध्रोच्छिष्टेन जीवति ॥ २६ ॥

जो मनुष्य लोभसे देवता (प्रतिमा आदि) तथा ब्राह्मणके धनको लेता है, वह पापी (मरकर) परलोकमें गीधका जूठा खाकर जीता है ॥ २६ ॥

प्रतिमादिदेवतार्थमुत्सृष्टं धनं देवस्वं, ब्राह्मणस्वं च यो लोभादपहरति स पापस्वभावो जन्मान्तरे गृध्रोच्छिष्टेन जीवति ॥ २६ ॥

इष्टिं वैश्वानरीं नित्यं निर्वपेदब्दपर्यये।
क्लृप्तानां पशुसोमानां निष्कृत्यर्थमसंभवे ॥ २७ ॥

वर्ष (संवत) के बदलनेके समय अर्थात् चैत्र शुक्लके आरम्भमें शास्त्रविहित सोमयज्ञको नहीं कर सकनेपर उसके दोषकी शान्तिके लिए (शूद्रादिसे धन लेकर भी) वैश्वानर यज्ञ करना चाहिए ॥ २७ ॥

समाप्ते वर्षे द्वितीयवर्षस्य प्रवृत्तिरब्दपर्यये चैत्रशुक्लादिवर्षप्रवृत्तिस्तत्र वर्षान्तरे वैश्वानरीमिष्टिं विहितसोमयागासम्भवे तदकरणदोषनिर्हरणार्थं सर्वदा शूद्रादितो धनग्रहणेन उक्तरूपामिष्टिं कुर्यात् ॥ २७ ॥

आपत्कल्पेन यो धर्मं कुरुतेऽनापदि द्विजः ।
स नाप्नोति फलं तस्य परत्रेति विचारितम् ॥ २८ ॥

जो द्विज आपत्तिकालके नहीं रहनेपर भी आपत्तिकालके विधान से धर्म (यज्ञादि कर्म) करता है, वह (मरकर) परलोकमें उस यज्ञके फलको नहीं पाता है अर्थात् उसका वह यज्ञ करना निष्फल होता है, ऐसा (मनु आदि महर्षियोंने) कहा है ॥ २८ ॥

आपद्विहितेन विधिना योऽनापदि धर्मानुष्ठानं द्विजः कुरुते तस्य तत्परलोके निष्फलं भवतीति मन्वादिभिर्विचारितम् ॥ २८ ॥

विश्वैश्च देवैः साध्यैश्च ब्राह्मणैश्च महर्षिभिः ।
आपत्सु मरणाद्भीतैर्विधेः प्रतिनिधिः कृतः ॥ २९ ॥

विश्वेदेव, साध्यगण (देवयोनि-विशेष) और महर्षि ब्राह्मणोंने मृत्युसे डरकर आपत्तिकालमें विधि (शास्त्रोक्त प्रधान विधि सोमयज्ञादि) के प्रतिनिधि (वैश्वानर यज्ञ आदि) को किया है (अतः समर्थ नहीं होने पर ही मुख्य विधि सोमयज्ञादिको छोड़कर उसके प्रतिनिधि वैश्वानर यज्ञादिको करना चाहिये) ॥ २९ ॥

विश्वेदेवाख्यैर्देवैः साध्यैश्च तथा महर्षिभिर्ब्राह्मणैर्मरणाद्भीतैरापत्सु मुख्यस्य विधेः सोमादेर्वैश्वानर्यादिः प्रतिनिधिरनुष्ठितोऽसौ मुख्यासम्भवे कार्यो न तु मुख्यसम्भवे ॥ २९ ॥

प्रभुः प्रथमकल्पस्य योऽनुकल्पेन वर्तते ।
न सांपरायिकं तस्य दुर्मतेर्विद्यते फलम् ॥ ३० ॥

जो मनुष्य मुख्य यज्ञको करनेमें समर्थ होकर भी अनुकल्प (मुख्यका प्रतिनिधि) आपत्तिकालके लिए सम्मत अप्रधान पक्ष से यज्ञको करता है, उस दुर्बुद्धिको पारलौकिक वृद्धि तथा पापनाशरूप फल प्राप्त नहीं होता ॥ ३० ॥

यो मुख्यानुष्ठानसंपन्नः सन्नापद्विहितेन प्रतिनिधिनाऽनुष्ठानं करोति तस्य दुर्बुद्धेः पारलौकिकमभ्युदयरूपं प्रत्यवायपरिहारार्थं फलं च न भवति । "आपत्कल्पेन यो धर्मम्" (म. स्मृ. ११-२८) इत्यनेनोक्तमप्येतच्छास्त्रादरार्थं पुनरुच्यते ॥ ३० ॥

न ब्राह्मणोऽवेदयेत किंचिद्राजनि धर्मवित् ।
स्ववीर्येणैव ताञ्छिष्यान्मानवानपकारिणः ॥ ३१ ॥

धर्मज्ञाता ब्राह्मण किसीके किसी अपराधको राजासे न कहे (किसीपर राजाके यहां मुकदमा न करे), किन्तु उन अपराधी मनुष्योंको अपने पराक्रम (आगे कहे जानेवाली शक्ति) से दण्डित करे ॥ ३१ ॥

धर्मज्ञो ब्राह्मणः किञ्चिदप्यपकृतं न राज्ञः कथयेत् । अपि तु स्वशक्त्यैव वक्ष्यमाणाभिचारादिनाऽपकारिणो मनुष्यान्निगृह्णीयात् । ततश्च स्वकीयधर्मविरोधादपकृष्टापराधकरणे

सत्यभिचारादि न दोषायेत्येवंपरमेतत् । न त्वभिचारो विधीयते राजनिवेदनं वा निषिध्यते ॥ ३१ ॥

स्ववीर्याद्राजवीर्याच्च स्ववीर्यं बलवत्तरम् ।
तस्मात्स्वेनैव वीर्येण निगृह्णीयादरीन्द्विजः ॥ ३२ ॥

(ब्राह्मणके लिए) अपने (ब्राह्मणके) पराक्रम तथा राजाके पराक्रमसे अपना (ब्राह्मणका) पराक्रम ही अधिक बलवान् है, अत एव ब्राह्मण अपने पराक्रमसे ही शत्रुओंका निग्रह करे ॥ ३२ ॥

यस्मात्स्वसामर्थ्याद्राजसामर्थ्याच्च पराधीनराजसामर्थ्यापेक्षया स्वसामर्थ्यमेव स्वाधीनत्वाद् बलीयः । तस्मात्स्वेन वीर्यणैव शत्रून्ब्राह्मणो निगृह्णीयात् ॥ ३२ ॥

तत्किं स्ववीर्यमित्याह—

श्रुतीरथर्वाङ्गिरसीः कुर्यादित्यविचारयन् ।
वाक्शस्त्रं वै ब्राह्मणस्य तेन हन्यादरीन् द्विजः ॥ ३३ ॥
[तदस्त्रं सर्ववर्णानामनिवार्यं च शक्तितः ।
तपोवीर्यप्रभावेण अवध्यानपि बाधते ॥ २ ॥]

ब्राह्मण अपने वेदके आङ्गिरस श्रुति (दुष्ट मन्त्रों) को विना विचारे ही (शीघ्र ही, शत्रुपर) प्रयोग करे, क्योंकि ब्राह्मणका (अभिचारमन्त्रोच्चारणरूप) वचन ही शस्त्र है, अत एव उस (वचनरूपी शस्त्र) से ब्राह्मण शत्रुओंको नष्ट करे (राजाके यहां उसके अपराधको कहकर दण्डित न करावे, किन्तु अभिचार प्रयोगसे उसे स्वयं दण्डित करे) ॥ ३३ ॥

[तपोबलके प्रभावसे वह अस्त्र अवध्योंको भी पीडित करता है, शक्तिके द्वारा वह सब वर्णोंसे अनिवार्य (नहीं रोका जानेवाला) है ॥ २ ॥]

अथर्ववेदस्य आङ्गिरसीर्दुष्टाभिचारश्रुतीरविचारयन्कुर्यात् । तदर्थमभिचारमनुतिष्ठेदित्यर्थः । यस्मादभिचारमन्त्रोच्चारगामिका ब्राह्मणस्य वागेव शस्त्रकार्यकरणाच्छस्त्रं, तेन ब्राह्मणः शत्रून्हन्यान्नतु शत्रुनियमाय राज्ञा वाच्यः ॥ ३३ ॥

क्षत्रियो बाहुवीर्येण तरेदापदमात्मनः ।
[तद्धि कुर्वन्यथाशक्ति प्राप्नोति परमां गतिम् ॥ ३ ॥]
धनेन वैश्यशूद्रौ तु जपहोमैर्द्विजोत्तमः ॥ ३४ ॥

क्षत्रिय अपने बाहुबलसे (शत्रुकृत पराभवसे उत्पन्न) अपनी आपत्तिको पार करे ।

[शक्तिके अनुसार वह कार्य करता हुआ (वह क्षत्रिय) परम गतिको पाता है ॥ ३ ॥]

वैश्य तथा शूद्र (प्रतिकार करनेवालेके लिए) धन देकर और ब्राह्मण (अभिचार-संबन्धी) जप तथा हवनोंसे (शत्रुकृत पराभवसे उत्पन्न) अपनी विपत्तिको पार करे ॥ ३४ ॥

क्षत्रियः स्वपौरुषेण शत्रुतः परिभवलक्षणामात्मन आपदं निस्तरेत् । वैश्यशूद्रौ पुनः प्रतिकर्त्रे धनदानेन । ब्राह्मणस्त्वभिचारात्मकैर्जपहोमैः ॥ ३४ ॥

विधाता शासिता वक्ता मैत्रो ब्राम्हण उच्यते ।
तस्मै नाकुशलं ब्रूयान्न शुष्कां गिरमीरयेत् ॥ ३५ ॥

शास्त्रोक्त कर्मोंको करनेवाला, पुत्र-शिष्यादिका शासन करनेवाला, प्रायश्चित्त विधि आदिको कहनेवाला ब्राह्मण सबका मित्ररूप है; अत एव उससे ('इसको पकड़ों, दण्डित करो' इत्यादि) अशुभ वचन तथा रूखी बात नहीं कहना चाहिये ॥ ३५ ॥

विहितकर्मणामनुष्ठाता, पुत्रशिष्यादीनां शास्ता, प्रायश्चित्तादिधर्माणां वक्ता, सर्वभूत-मैत्रीप्रधानो ब्राह्मण उच्यते। तस्मै निगृह्यतामयमित्येवमनिष्टं न ब्रूयान्नापि साक्रोशां वाचं वाग्दण्डरूपां तस्योच्चारयेत् ॥ ३५ ॥

न वै कन्या न युवतिर्नाल्पविद्यो न बालिशः।
होता स्यादग्निहोत्रस्य नार्तो नासंस्कृतस्तथा ॥ ३६ ॥

अविवाहित कन्या, विवाहित भी युवति, थोड़ा पढ़ा हुआ मूर्ख; रोगी और यज्ञोपवीत संस्कारसे हीन मनुष्योंको अग्निहोत्रका हवन नहीं करना चाहिये ॥ ३६ ॥

कन्याऽनूढा ऊढापि तरुणी, तथा अल्पाध्यायिमूर्खव्याध्यादिपीडितानुपनीताः श्रौता-न्सायम्प्रातर्होमान्न कुर्युः। "हावयेत्" इति प्रसक्तावयं कन्यादीनां प्रतिषेधः ॥ ३६ ॥

नरके हि पतन्त्येते जुह्वन्तः स च यस्य तत्।
तस्माद्वैतानकुशलो होता स्याद्वेदपारगः ॥ ३७ ॥

हवन करते हुए ये लोग (११।३६) तथा जिसकी तरफ से हवन करते हैं वे नरकमें पड़ते हैं, अत एव वैदिक कर्ममें प्रवीण तथा वेदके परागामीको ही हवनकर्ता बनाना चाहिये ॥ ३७ ॥

एते कन्यादयो होमं कुर्वाणा नरकं गच्छन्ति। यस्य तदग्निहोत्रं प्रतिनिधिरूपेण कुर्व-न्ति सोऽपि नरकं गच्छति। तस्माच्छ्रौतकर्मप्रवीणः समस्तवेदाध्यायी होता कार्यः ॥ ३७ ॥

प्राजापत्यमदत्त्वाश्वमग्न्याधेयस्य दक्षिणाम्।
अनाहिताग्निर्भवति ब्राह्मणो विभवे सति ॥ ३८ ॥

सम्पत्ति रहनेपर भी जो द्विज अग्न्याधानके समय प्रजापति देवताको (प्रजापति हैं देवता जिसके ऐसा) घोड़ा दक्षिणामें न देकर अग्निहोत्र ग्रहण करता है, उसे अग्निहोत्रका फल नहीं मिलता (इस कारण सामर्थ्य रहनेपर अग्न्याधान करते समय घोड़ेको दक्षिणामें अवश्य देना चाहिये) ॥ ३८ ॥

आधाने प्राजापत्यमश्वं प्रजापतिदेवताकं धनसम्पत्तौ सत्यां ब्राह्मणो दक्षिणामदत्त्वा कृतेऽ-प्याधानेऽनाहिताग्निर्भवत्याधानफलं न लभते। तस्मादाधानेऽश्वं दक्षिणां दद्यात् ॥ ३८ ॥

पुण्यान्यन्यानि कुर्वीत श्रद्दधानो जितेन्द्रियः।
न त्वल्पदक्षिणैर्यज्ञैर्यजेतेह कथञ्चन ॥ ३९ ॥

श्रद्धालु तथा जितेन्द्रिय मनुष्यको दूसरे पुण्यकार्य (तीर्थयात्रा आदि) करने चाहिये, परन्तु शास्त्रोक्त विधानसे कम दक्षिणा देकर यज्ञ कभी नहीं करना चाहिये ॥ ३९ ॥

श्रद्धावान्वशीकृतेन्द्रियो यज्ञव्यतिरिक्तानि तीर्थयात्रादीनि कर्माणि पुण्यानि कुर्वीत न तु शास्त्रोक्तदक्षिणातोऽल्पदक्षिणैर्यजेत। परोपकारार्थत्वाद्दक्षिणायाः स्वल्पेनाप्यृत्विगादि-तोषसिद्धौ निषेधार्थमिदं वचनम् ॥ ३९ ॥

इन्द्रियाणि यशः स्वर्गमायुः कीर्तिं प्रजाः पशून्।
हन्त्यल्पदक्षिणो यज्ञस्तस्मान्नाल्पधनो यजेत् ॥ ४० ॥
[अन्नहीनो दहेद्राष्ट्रं मन्त्रहीनस्तु ऋत्विजः।
दीक्षितं दक्षिणाहीनो नास्ति यज्ञसमो रिपुः ॥ ४ ॥]

शास्त्रोक्त विधानसे कम दक्षिणा देकर किया गया यज्ञ इन्द्रिय, यश, स्वर्ग, आयु, कीर्ति, प्रजा और पशु; इन सबोंको नष्ट कर देता है, इस कारणसे थोड़े धनवालेको यज्ञ नहीं करना चाहिये ॥ ४० ॥

चक्षुरादीनीन्द्रियाणि, जीवतः ख्यातिरूपं यशः, स्वर्गायुषी, मृतस्य ख्यातिरूपां कीर्तिं, अपत्यानि, पशूंश्चाल्पदक्षिणो यज्ञो नाशयति । तस्मादल्पदक्षिणादानेन यागं न कुर्यात् ॥ ४० ॥

अग्निहोत्र्यपविध्याग्नीन्ब्राह्मणः कामकारतः ।
चान्द्रायणं चरेन्मासं वीरहत्यासमं हि तत् ॥ ४१ ॥

जो अग्निहोत्री ब्राह्मण इच्छापूर्वक प्रातःकाल तथा सायंकाल अग्निहोत्र नहीं करे, उसे एक मास चान्द्रायण व्रत (११ । २१६) करना चाहिये; क्योंकि अग्निहोत्रका त्याग वीरहत्या (पुत्रहत्या) के समान है ॥ ४१ ॥

अग्निहोत्री ब्राह्मण इच्छातोऽग्निषु सायंप्रातर्होमानकृत्वा मासं चान्द्रायणं चरेत् । यस्माद्वीरः पुत्रस्तस्य हत्या हननं तत्तुल्यमेतत् । तथा च श्रुतिः—"वीरहा वा एष देवानां भवति योऽग्निमुद्वासयते" । अन्ये तु मासमपविध्येति समर्थयन्ति ॥ ४१ ॥

ये शूद्रादधिगम्यार्थमग्निहोत्रमुपासते ।
ऋत्विजस्ते हि शूद्राणां ब्रह्मवादिषु गर्हिताः ॥ ४२ ॥

जो शूद्रसे धन लेकर अग्निहोत्र करता है, वह शूद्रका ही याजक (शूद्रको यज्ञ करानेवाला है अर्थात् उस यज्ञका फल अग्निहोत्र करनेवालेको नहीं मिलता है) और वह वेदपाठियोंमें निन्दित होता है ॥ ४२ ॥

ये शूद्रादधिगम्यार्थं प्राप्य सामान्याभिधानेन याचनेन वाऽर्थं स्वीकृत्य "वृषलाग्न्युपसेविनाम्" (म० स्मृ० ११-४३) इति वक्ष्यमाणलिङ्गादाधानपूर्वकमग्निहोत्रमनुतिष्ठन्ति । ते शूद्राणामेव याजका न तु तेषां तत्फलं भवत्यतस्ते वेदवादिषु निन्दिताः ॥ ४२ ॥

तेषां सततमज्ञानां वृषलाग्न्युपसेविनाम् ।
पदा मस्तकमाक्रम्य दाता दुर्गाणि संतरेत् ॥ ४३ ॥

शूद्रसे धन लेकर अग्निहोत्र करनेवाले उन अग्निहोत्रियोंके मस्तकपर पैर रखकर (धनको देनेवाला) शूद्र दुःखोंको पार करता है । (और उन अग्निहोत्रियोंको अग्निहोत्रका फल कुछ भी नहीं मिलता) ॥ ४३ ॥

तेषां शूद्रधनाहिताग्निपरिचारिणां मूर्खाणां मूर्ध्नि पादं दत्त्वा शूद्रस्तेन दानेन सततं परलोके दुःखेभ्यो निस्तरति न तु यजमानानां फलं भवति ॥ ४३ ॥

अकुर्वन्विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन् ।
प्रसक्तश्चेन्द्रियार्थेषु प्रायश्चित्तीयते नरः ॥ ४४ ॥

शास्त्रोक्त कर्म (नित्य सन्ध्योपासन, शवस्पर्श करनेपर स्नान आदि) को नहीं करता हुआ तथा शास्त्रप्रतिषिद्ध कर्म (हिंसा, चोरी, मद्यपान, द्यूत आदि) को करता हुआ और इन्द्रियोंके विषयोंमें अत्यन्त आसक्त होता हुआ मनुष्य प्रायश्चित्त करनेके योग्य होता है ॥ ४४ ॥

नित्यं यद्विहितं संध्योपासनादि, नैमित्तिकं च शवस्पर्शादौ स्नानादि, तदकुर्वन् तथा प्रतिषिद्धं हिंसाद्यनुतिष्ठन्नविहितनिषिद्धेष्वप्यत्यन्तासक्तिं कुर्वन्नरो मनुष्यजातिमात्रं प्रायश्चित्तमर्हति । ननु—

इन्द्रियार्थेषु सर्वेषु न प्रसज्येत कामतः । (म. स्मृ. ४-१६)

इति निषेधान्निन्दितपदेनैव प्रसक्तश्चेन्द्रियार्थेष्वित्यपि संगृहीतमतः पृथङ् न वक्तव्यम् । उच्यते, अस्य स्नातकव्रतेषु पाठात्तत्र "व्रतानीमानि धारयेत्" (म. स्मृ. ४-१३) इत्युपक्रमाच्चायं प्रतिषेधः, किन्तु व्रतविधिः । तर्हि "अकुर्वन्विहितं कर्म" इत्यनेनैव प्राप्तत्वात्पृथङ् न वक्तव्यमिति चेन्न, स्नातकेतरविषयत्वेनास्य सविषयत्वात् ॥ ४४ ॥

अकामतः कृते पापे प्रायश्चित्तं विदुर्बुधाः ।
कामकारकृतेऽप्याहुरेके श्रुतिनिदर्शनात् ॥ ४५ ॥

कुछ पण्डित लोग अज्ञानसे किये गये पापमें प्रायश्चित्त करनेको कहते हैं और कुछ आचार्य ज्ञानसे किये गये पापमें भी श्रुतिको देखनेसे प्रायश्चित्त करने को कहते हैं ॥ ४५ ॥

अबुद्धिकृते पापे प्रायश्चित्तं भवतीत्याहुः पण्डिताः । एके पुनराचार्याः कामतः कृते पापे प्रायश्चित्तं भवतीत्याहुः । एतच्च पृथवक्तृत्वाभिधानं प्रायश्चित्तगौरवार्थं श्रुतिनिदर्शनादिति । "इन्द्रो यतीन्सालावृकेभ्यः प्रायच्छत्तमश्लीला वागेत्यावदत्स प्रजापतिमुपाधावत्तस्मात्तमुपहव्यं प्रायच्छत" इति । अस्यार्थः—इन्द्रो यतीन् बुद्धिपूर्वकं श्वभ्यो दत्तवान्, स प्रायश्चित्तार्थं प्रजापतिसमीपमगमत, तस्मै प्रजापतिरुपहव्याख्यं कर्म प्रायश्चित्तं दत्तवान् । अतः कामकारकृतेऽप्यस्ति प्रायश्चित्तम् ॥ ४५ ॥

अकामतः कृतं पापं वेदाभ्यासेन शुध्यति ।
कामतस्तु कृतं मोहात्प्रायश्चित्तैः पृथग्विधैः ॥ ४६ ॥

अनिच्छापूर्वक किया गया पाप वेदाभ्याससे नष्ट हो जाता है तथा राग-द्वेषादि मोहवश इच्छापूर्वक किया गया पाप अनेक प्रकारके प्रायश्चित्तोंसे नष्ट होता है ॥ ४६ ॥

अनिच्छातः कृतं पापं वेदाभ्यासेन शुध्यति नश्यति । वेदाभ्यासेनेति कामकृतविषयप्रायश्चित्तापेक्षया लघुप्रायश्चित्तोपलक्षणार्थम् । प्रायश्चित्तान्तराणामपि विधानाद्रागद्वेषादिव्यामूढतया पुनरनिच्छातः कृतं नानाप्रकारैः प्रायश्चित्तैर्विद्याध्ययनतपोभिः शुध्यतीति गुरुप्रायश्चित्तपरम् । अतः पूर्वोक्तस्यैवायं व्यापारः । यद्यप्यधिकारनिरूपणं प्रकृतं प्रायश्चित्तं त्वनन्तरं वक्ष्यति तथाप्यज्ञानाल्लघुप्रायश्चित्ताधिकारी ज्ञानाद् गुरुप्रायश्चित्तेऽधिक्रियत इत्यधिकारिनिरूपणमेवेदम् ॥ ४६ ॥

प्रायश्चित्तीयतां प्राप्य दैवात्पूर्वकृतेन वा ।
न संसर्गं व्रजेत्सद्भिः प्रायश्चित्तेऽकृते द्विजः ॥ ४७ ॥
[प्रायो नाम तपः प्रोक्तं चित्तं निश्चय उच्यते ।
तपोनिश्चयसंयुक्तं प्रायश्चित्तमिति स्मृतम् ॥ ५ ॥

भाग्यवश (या प्रमादवश) पूर्वजन्मकृत पापोंसे प्रायश्चित्तके योग्य द्विज विना प्रायश्चित्त किये सज्जनोंके साथ (याजन-यजनादि) सम्बन्ध न करे ॥ ४७ ॥

['प्रायः' तपको कहते हैं और 'चित्त' निश्चयको कहते हैं, अत एव तपका निश्चयके साथ संयुक्त होना 'प्रायश्चित' कहा जाता है ॥ ५ ॥]

दैवात्प्रमादादन्यशरीरकृतेन पूर्वजन्मार्जितदुष्कृतेन क्षयरोगादिभिः सूचितेन प्रायश्चित्तीयतां प्राप्याकृते प्रायश्चित्ते साधुभिः सह याजनादिना संसर्गं न गच्छेत् ॥ ४७ ॥

इह दुश्चरितैः केचित्केचित्पूर्वकृतैस्तथा ।
प्राप्नुवन्ति दुरात्मानो नरा रूपविपर्ययम् ॥ ४८ ॥

कुछ दुष्ट लोग इस जन्मके दुराचरणोंसे तथा कुछ दुष्ट लोग पूर्व जन्ममें किये गये दुराचरणोंसे कुरूपताको पाते हैं ॥ ४८ ॥

इह जन्मनि निषिद्धाचरणैः केचित्पूर्वजन्मकृतैर्दुष्टस्वभावा मनुष्या कौनख्यादिकं रूपविपर्ययं प्राप्नुवन्ति ॥ ४८ ॥

सुवर्णचौरः कौनख्यं सुरापः श्यावदन्तताम् ।
ब्रह्महा क्षयरोगित्वं दौश्चर्म्यं गुरुतल्पगः ॥ ४९ ॥
पिशुनः पौतिनासिक्यं सूचकः पूतिवक्त्रताम् ।
धान्यचौरोऽङ्गहीनत्वमातिरेक्यं तु मिश्रकः ॥ ५० ॥
अन्नहर्ताऽऽमयावित्वं मौक्यं वागपहारकः ।
वस्त्रापहारकः श्वैत्र्यं पङ्गुतामश्वहारकः ॥ ५१ ॥
एवं कर्मविशेषेण जायन्ते सद्भिर्गर्हिताः ।
जडमूकान्धबधिरा विकृताकृतयस्तथा ॥ ५२ ॥
[दीपहर्ता भवेदन्धः काणो निर्वापको भवेत् ।
हिंसया व्याधिभूयस्त्वमरोगित्वमहिंसया ॥ ६ ॥]

सुवर्णको चुराने कुनखी (खराब नखोंवाला), मद्य-पानकर्ता काले दाँतों वाला, ब्राह्मणका हत्यारा क्षयरोगी, गुरुपत्नीसे सम्भोग करनेवाला दुश्चर्मरोगी ॥

विद्या आदिके दोषको कहनेवाला दुर्गन्धित नाकवाला चुगलखोर दुर्गन्धित मुखवाला, धान्यका चोर अङ्गहीन, शुद्ध अन्नादिमें दूषित अन्नादि मिलाकर विक्रय आदि करनेवाला अधिक अङ्गवाला (छांगुर-आदि) ॥

अन्नका चोर मन्दाग्नि रोगी, गुरुके विना पढ़ाये पढ़नेवाला मूक (गूंगा), कपड़ेका चोर श्वेतकुष्ठ रोगी, घोड़े का चोर लंगड़ा होता है ॥

[दीपक चुरानेवाला अन्धा, दीपक बुझानेवाला काना, हिंसा करनेवाला अधिक रोगी और अहिंसासे नीरोगी होता है ॥ ६ ॥]

इस प्रकार कर्मविशेषसे सज्जनोंसे निन्दित जड, गूंगे, अन्धे, बहरे और कुरूप उत्पन्न होते हैं ॥ ४९-५२ ॥

ब्राह्मणसुवर्णचौरः कुत्सितनखत्वं प्राप्नोति । निषिद्धसुरापः श्यावदन्ततां, ब्रह्महा क्षयरोगित्वं, गुरुभार्यागामी विकोशमेहनत्वम्, पिशुनो विद्यमानदोषाभिधायी दुर्गन्धिनासत्वं, अविद्यमानदोषाभिधायको दुर्गन्धिमुखत्वं, धान्यचौरोऽङ्गहीनत्वं, धान्यादेरपद्रव्येण मिश्रणकर्ताऽतिरिक्ताङ्गत्वं, अन्नचौरो मन्दानलत्वं, अननुज्ञाताध्यायी मूकत्वं, वस्त्रचौरः श्वेतकुष्ठत्वं, अश्वचौरः खञ्जत्वम् । एवं बुद्धिवाक्चक्षुःश्रोत्रविकला विकृतरूपाः साधुविगर्हिताश्च प्राग्जन्मार्जितोपभुक्तदुष्कृतशेषेणोत्पद्यन्ते ।

दीपहर्ता भवेदन्धः काणो निर्वापकस्तथा ।
हिंसारुचिः सदा रोगी वाताङ्गः पारदारिकः ॥ ४९-५२ ॥

चरितव्यमतो नित्यं प्रायश्चित्तं विशुद्धये।
निन्द्यैर्हि लक्षणैर्युक्ता जायन्तेऽनिष्कृतैनसः ॥ ५३ ॥

(प्रायश्चित्तके द्वारा) पापनाश नहीं किये हुए मनुष्य (११।४९-५१) निन्द्य लक्षणोंसे युक्त होते हैं, अत एव पाप-निवृत्तिके लिए प्रायश्चित्त करना चाहिये ॥ ५३ ॥

यस्मादनिष्कृतमनाशितमेनो यैस्तेऽनिष्कृतैनसोऽकृतप्रायश्चित्ताः परलोकोपभुक्तदुष्कृतशेषेण निन्द्यैर्लक्षणैः कुनखित्वादिभिर्युक्ता जायन्ते। तस्माद्विशुद्धये पापनिर्हरणार्थं प्रायश्चित्तं सदा कर्तव्यम्। एवं "भिन्ने जुहोति" इतिवन्न नैमित्तिकमात्रं प्रायश्चित्तं किन्त्वनिष्कृतैनस इत्युपादानात्तथा विशुद्धये चरितव्यमित्युपदेशात्पापक्षयार्थिन एवाधिकारः। तथा हि—प्रायश्चित्तं हि चरितव्यमिति विधावधिकारापेक्षायां फलमात्रनिर्देशादिति रात्रिसत्रन्यायेन श्रूयमाणमेव विशुद्धय इति फलमधिकारिविशेषणं युक्तम्। इममेवार्थं स्फुटयति याज्ञवल्क्यः—

'विहितस्याननुष्ठानान्निन्दितस्य च सेवनात्।
अनिग्रहाच्चेन्द्रियाणां नरः पतनमृच्छति ॥
तस्मात्तेनेह कर्तव्यं प्रायश्चित्तं विशुद्धये ॥ (या. स्मृ. ३-२१९-२२०)'

पतनमृच्छति पापं प्राप्नोतीत्यर्थः। विशुद्धये पापविनाशाय।

'बहून्वर्षगणान्घोरान्नरकान्प्राप्य तत्क्षयात्।
संसारान्प्रतिपद्यन्ते महापातकिनस्त्विमान् ॥ (म. स्मृ. १२-५४)।'

इत्यादिना महापातक्यादीनां नरकादिप्राप्तिं वक्ष्यति। न तन्नैमित्तिकमात्रत्वं प्रायश्चित्तानां सङ्गच्छते। तस्माद् ब्रह्मवधादिजनितपापक्षयार्थिन एव प्रायश्चित्तविधावधिका इति ज्ञेयम् ॥ ५३ ॥

ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागमः।
महान्ति पातकान्याहुः संसर्गश्चापि तैः सह ॥ ५४ ॥

(१) ब्रह्महत्या करना, (२) निषिद्ध मद्यका पीना, (३) (ब्राह्मणके) सुवर्णको चुराना (४) गुरु (२।१५२) की भार्याके साथ संभोग करना, और (५) इन (चारोंमें से किसी एक) के साथ भी एक वर्षतक संसर्ग-ये पांच महापातक हैं ॥ ५४ ॥

ब्राह्मणप्राणवियोगफलको व्यापारो ब्रह्महत्या स च साक्षादन्यं वा नियुज्य तथा गोहिरण्यग्रहणादिनिमित्तकार्यकस्यापि तदुद्देशेन ब्राह्मणमरणे ब्रह्महत्या। नन्वेवमिषुकारस्यापीषूत्पादनद्वारेण तथा वध्यस्यापि हन्तृगतमन्यूत्पादनद्वारा ब्रह्महत्या स्यात्। उच्यते, शास्त्रतो यस्य ब्राह्मणहन्तृत्वं प्रतीयते स एव ब्रह्महन्ता। अत एव शातातपः—

'गोभूहिरण्यग्रहणे स्त्रीसम्बन्धकृतेऽपि वा।
यमुद्दिश्य त्यजेत्प्राणांस्तमाहुर्ब्रह्मघातकम् ॥'

एवं चान्यान्यपि शास्त्रीयाण्येव ब्रह्मवधनिमित्तानि ज्ञेयानि ॥ तथा—

'रागाद् द्वेषात्प्रमादाद्वा स्वतः परत एव वा।
ब्राह्मणं घातयेद्यस्तु तमाहुर्ब्रह्मघातकम् ॥'

इति प्रयोजकस्यापि हन्तृत्वं शास्त्रीयम्। तथा निषिद्धसुरापानं, ब्राह्मणसुवर्णहरणं, गुरुभार्यागमनं गुरुश्च पिता 'निषेकादीनि कर्माणि'त्यादिना तस्य गुरुत्वेन विधानात्। तैश्च

सह संसर्गः संवत्सरेण पततीत्येतानि महापातकान्याहुः। महापातकसंज्ञा चेयं वक्ष्यमाणस्योपपातकादिसंज्ञालाघवार्थम् ॥ ५४ ॥

अनृतं च समुत्कर्षे राजगामि च पैशुनम्।
गुरोश्चालीकनिर्बन्धः समानि ब्रह्महत्यया ॥ ५५ ॥

जातिश्रेष्ठताके लिए असत्य-भाषण, राजासे (दूसरेके मृत्युकारक) चुगलखोरी गुरुसे असत्य कहना—ये ब्रह्महत्या समान हैं ॥ ५५ ॥

जात्युत्कर्षनिमित्तमुत्कर्षभाषणं यथा ब्राह्मणोऽहमिति अब्राह्मणो ब्रवीति, राजनि वा स्तेनादीनां परेषां मरणफलकं दोषाभिधानं, गुरोश्चानृताभिशंसनम्। तथा च गौतमः—'गुरोरनृताभिशंसनम्' इति। महापातकसमानीत्येतानि ब्रह्महत्यासमानीति ॥ ५५ ॥

ब्रह्मोज्झता वेदनिन्दा कौटसाक्ष्यं सुहृद्वधः।
गर्हितानाद्ययोर्जग्धिः सुरापानसमानि षट् ॥ ५६ ॥

पढ़े हुए वेदका (अभ्यास नहीं करनेसे) विस्मरण, (असत् शास्त्रका आश्रयकर) वेदकी निन्दा करना, गवाही में असत्य कहना, (अब्राह्मण भी) मित्रकी हत्या, निन्दित (लहसुन, प्याज आदि) तथा अभक्ष्य (मल-मूत्रादि) पदार्थोंका भोजन—ये ६ मद्यपानके समान हैं ॥ ५६ ॥

ब्राह्मणोऽधीतवेदस्यानभ्यासेन विस्मरणम्, असच्छास्त्राश्रयणेन वेदकुत्सनम्, साक्ष्ये मृषाभिधानम्, मित्रस्याब्राह्मणस्य वधः, निषिद्धस्य लशुनादेर्भक्षणम्, अनाद्यस्य पुरीषादेरदनम्।[1] मेधातिथिस्तु—न भोक्ष्यत इति सङ्कल्प्य यद्भुज्यते तदनाद्यमित्याचष्टे। एतानि सुरापानसमानि ॥ ५६ ॥

निक्षेपस्यापहरणं नराश्वरजतस्य च।
भूमिवज्रमणीनां च रुक्मस्तेयसमं स्मृतम् ॥ ५७ ॥

ब्राह्मणके सुवर्णके अतिरिक्त धरोहरको हड़पनेवाला और मनुष्य (दास-दासी) घोड़ा, चांदी, भूमि' हीरा, मणि चुरानेवाला सुवर्ण चुरानेके समान हैं ॥ ५७ ॥

ब्राह्मणसुवर्णव्यतिरिक्तनिक्षेपस्य हरणं तथा मनुष्यतुरगरूप्यभूमिहीरकमणीनां हरणं सुवर्णस्तेयतुल्यम् ॥ ५७ ॥

रेतःसेकः स्वयोनीषु कुमारीष्वन्त्यजासु च।
सख्युः पुत्रस्य च स्त्रीषु गुरुतल्पसमं विदुः ॥ ५८ ॥

स्वयोनि (सहोदर बहन), कुमारी, चण्डाली, मित्र तथा पुत्रकी स्त्रीमें वीर्यपात अर्थात् उनके साथ सम्भोग करना, ये गुरु (२।१४२) की पत्नीके साथ सम्भोग करनेके समान हैं ॥ ५८ ॥

सोदर्यभगिनीकुमारीचण्डालीसखिपुत्रभार्यासु यो रेतःसेकस्तं गुरुभार्यागमनसमानमाहुः। एतेषां भेदेन समीकरणं यद्येन समीकृतं तस्य तेन प्रायश्चित्तार्थम्। यत्कौटसाक्ष्यसुहृद्वधयोः सुरापानसमीकृतयोर्ब्रह्महत्याप्रायश्चित्तं वक्ष्यति तद्विकल्पार्थम्, यत्पुनर्गुरोरलीकनिर्बन्धस्य ब्रह्महत्यासमीकृतस्य पुनरुपरिष्टाद् ब्रह्महत्याप्रायश्चित्तनिर्देशः तत्समीकृतानां न्यूनप्रायश्चित्तं भवतीति ज्ञापनार्थम्। तथा च लोके राजसमः सचिव इत्युक्ते

---

१. गर्हितानाद्ययोः गर्हितं शास्त्रप्रतिषिद्धं लशुनादि, अनाद्यममनस्तुष्टिदं यत् न भोक्ष्ये इति सङ्कल्प्य भोक्ष्यते।

सचिवस्य न्यूनतैव गम्यते। अत्रोपदेशिकप्रायश्चित्ते आतिदेशिकप्रायश्चित्तानां तन्न्यूनं प्रायश्चित्तं समीकृतानां च ॥ ५८ ॥

इदानीमुपपातकान्याह—

गोवधोऽयाज्यसंयाज्यपारदार्यात्मविक्रयाः ।
गुरुमातृपितृत्यागः स्वाध्यायाग्न्योः सुतस्य च ॥ ५९ ॥
परिवित्तिताऽनुजेऽनूढे परिवेदनमेव च ।
तयोर्दानं च कन्यायास्तयोरेव च याजनम् ॥ ६० ॥
कन्याया दूषणं चैव वार्धुष्यं व्रतलोपनम् ।
तडागारामदाराणामपत्यस्य च विक्रयः ॥ ६१ ॥
व्रात्यता बान्धवत्यागो भृत्याध्यापनमेव च ।
भृत्या चाध्ययनादानमपण्यानां च विक्रयः ॥ ६२ ॥

गोवध, अयाज्य-याजन, परस्त्री-गमन, आत्मविक्रय; गुरु, माता और पिताका त्याग अर्थात् उनकी सेवा-शुश्रूषा नहीं करना; ब्रह्मयज्ञ (वेदाध्ययन), स्मार्त अग्नि और पुत्रका त्याग (पुत्रको-संस्कृत तथा भूषणादिसे अलङ्कृत नहीं करना) ॥

परिवित्ति तथा परिवेत्ता (३।१७१) को कन्यादान देना और यज्ञ कराना ॥ ६० ॥

कन्यादूषण (कन्याकी योनिमें अङ्गुल्यादि डालकर कन्याको क्षतयोनि करना), सूद लेना, व्रत (ब्रह्मचर्य आदि) को (मैथुनकर्मादिसे) नष्ट करना, तडाग, उद्यान (बगीचा, फुलवाड़ी आदि), स्त्री और सन्तानको बेचना ॥

व्रात्यभाव (२।३९), (चाचा-ताऊ आदि) बान्धवोंका त्याग (उनके अनुकूल नहीं रहना), वेतन लेकर पढ़ाना, वेतन देकर पढ़ना, अविक्रेय (नहीं बेचने योग्य) सौदोंको बेचना ॥५९-६२॥

गोहननं, जातिकर्मदुष्टानां याजनं परपत्नीगमनं, आत्मविक्रयः, मातृपितृगुरूणां च शुश्रूषाद्यकरणं, सर्वदा ब्रह्मयज्ञत्यागः, न वेदविस्मरणं "ब्रह्मोज्झता (म. स्मृ. ११-५६) इत्यनेनोक्तत्वात्। अग्नेश्च स्मार्तस्य त्यागः, श्रौतानां "अग्निहोत्र्यपविध्याग्नीन्" (म. स्मृ. ११-४१) इत्युक्तत्वात्, सुतस्य च संस्कारभरणाद्यकरणं, कनीयसा आदौ विवाहे कृते ज्येष्ठस्य परिवित्तित्वं भवति। "दाराग्निहोत्रसंयोगं" (म. स्मृ. ३-१७१) इत्यादिना प्रागुक्तं कनिष्ठस्य परिवेत्तृत्वं तयोश्च कन्याया दानं तयोरेव विवाहहोमादियागेष्वार्त्विज्यं, कन्याया मैथुनवर्जमङ्गुलिप्रक्षेपादिना दूषणं, रेतःसेकपर्यन्तमैथुनेषु तु।

'रेतःसेकः स्वयोनीषु कुमारीष्वन्त्यजासु च। (म. स्मृ. ११. ५८)'

इत्युक्तत्वात्प्रतिषिद्धं, वृद्धिजीवनं, ब्रह्मचारिणो मैथुनं, तडागोद्यानभार्यापत्यानां विक्रयः, यथाकालमनुपनयनं व्रात्यता। तथा चोक्तम्—

'अत ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते यथाकालमसंस्कृताः। (म. स्मृ. २-३९)' इति।

बान्धवानां पितृव्यादीनामननुवृत्तिः, प्रतिनियतवेतनग्रहणपूर्वकमध्यापनं, प्रतिनियतवेतनप्रदानपूर्वकमध्ययनं च, अविक्रय्यादीनां तिलादीनां विक्रयः ॥ ५९-६२ ॥

सर्वाकरेष्वधीकारो महायन्त्रप्रवर्तनम् ।
हिंसौषधीनां स्त्र्याजीवोऽभिचारो मूलकर्म च ॥ ६३ ॥
इन्धनार्थमशुष्काणां द्रुमाणामवपातनम् ।
आत्मार्थं च क्रियारम्भो निन्दितान्नादनं तथा ॥ ६४ ॥

अनाहिताग्निता स्तेयमृणानामनपक्रिया ।
असच्छास्त्राधिगमनं कौशीलव्यस्य च क्रिया ॥ ६५ ॥
धान्यकुप्यपशुस्तेयं मद्यपस्त्रीनिषेवणम् ।
स्त्रीशूद्रविट्क्षत्रवधो नास्तिक्यं चोपपातकम् ॥ ६६ ॥

सब आकरों (खान सुवर्ण आदिकी खानों) में राजाज्ञासे अधिकार होना, (ठेका लेना), बड़े-बड़े यन्त्रों (नदी आदिके प्रवाहको रोकनेवाले-आदि मशीनों) को चलाना, औषधियोंकी हिंसा, स्त्रीकी कमाई (अध्यापना, शिल्प आदि विहित तथा परपुरुष सम्भोग, नृत्य, गायन आदि निषिद्ध कर्मोंसे स्त्रीका उपार्जित धन) खाना, (श्येनादि यज्ञके द्वारा मारण आदि) अभिचार कर्म करना, (मन्त्र प्रयोगसे) वशीकरण ॥

इन्धनके लिए हरे पेड़ोंको (काट या कटवाकर) गिराना, (स्वस्थ रहते हुए) अपने लिए (देवता या पितरोंके उद्देश्यसे नहीं) क्रियारम्भ (पाक क्रियादि) करना और निन्दित (५।५-२०), त्याज्य लहसुन आदि पदार्थको इच्छापूर्वक खाना ॥

(शास्त्रानुसार) अधिकार होनेपर भी यज्ञ नहीं करना, चोरी करना, ऋण नहीं चुकाना, निन्दित शास्त्रोंको पढ़ना और कुशीलवका (नाच या-गाना, बजाना आदि) कर्म करना ॥

धान्य, सुवर्ण आदि धातु तथा पशुओंकी चोरी करना, मद्यपान करनेवाली द्विज स्त्रीके साथ सम्भोग करना, स्त्री, शूद्र, वैश्य तथा क्षत्रियका वध करना, और नास्तिकता—ये (१-१ भी) उपपातक हैं ॥ ६३-६६ ॥

सुवर्णाद्युत्पत्तिस्थानेषु राजाज्ञयाऽधिकारः, महतां प्रवाहप्रतिबन्धहेतूनां सेतुबन्धादीनां प्रवर्तनम् औषधीनां जातिमात्रादीनां हिंसनम् । एतच्च ज्ञानपूर्वकाभ्यासहिंसायां प्राय-श्चित्तगौरवात् । यत्तु "कृष्टजानामोषधीनां" (म. स्मृ. ११-११४) इत्यादिना वक्ष्यति तत्सकृद्धिंसायां प्रायश्चित्तलाघवात् । भार्यादिस्त्रीणां वेश्यात्वं कृत्वा तदुपजीवनं, श्येना-दियज्ञेनानपराद्धस्य मारणं, मन्त्रौषधिना वशीकरणं, पाकादिदृष्टप्रयोजनार्थमात्रमेव वृक्ष-च्छेदनं, अनातुरस्य देवपित्राद्युद्देशमन्तरेण पाकाद्यनुष्ठानं, निन्दितान्नस्य लशुनादेः सकृदनिच्छया भक्षणम् , इच्छापूर्वकाभ्यासभक्षणे पुनः 'गर्हितानाद्ययोर्जग्धिः" (म. स्मृ. ११-५६) इत्युक्तत्वात् । सत्यधिकारेऽग्न्यनाधानं, सुवर्णादन्यस्य सारद्रव्यस्याप-हरणम् , ऋणानां च ऋणैस्त्रिभिर्ऋणवान्नरो जायते तदनपकरणं, श्रुतिस्मृतिविरुद्ध-शास्त्रशिक्षणं, नृत्यगीतवादित्रोपसेवनं धान्यताम्रलोहादेः पशूनां च शौर्यं, द्विजातीनां पीतमद्यायाः स्त्रिया गमनं, स्त्रीशूद्रवैश्यक्षत्रियहननम् , अदृष्टार्थकर्मा भावबुद्धिः, एतत्प्र-त्येकमुपपातकम् । "बान्धवत्यागः" (म. स्मृ. ११-६२) इत्यनेनैव मात्रादीनां त्याग-प्राप्तौ पृथग्वचनं निन्दार्थम् । पितृव्यादिबान्धवत्यागेनावश्यमेव प्रायश्चित्तं भवति किंतु मात्रादित्यागप्रायश्चित्तान्न्यूनमपि भवति ॥ ६२-६६ ॥

ब्राह्मणस्य रुजः कृत्वा घ्रातिरघ्रेयमद्ययोः ।
जैह्म्यं च मैथुनं पुंसि जातिभ्रंशकरं स्मृतम् ॥ ६७ ॥

ब्राह्मणको (डण्डा या थप्पड़ आदिसे) पीडित करना (मारना), नहीं सूंघने योग्य (लहसुन, प्याज, विष्ठा आदि) वस्तु तथा मद्यको सूंघना, कुटिलता और (गुदा या मुखमें) मैथुन करना—ये (प्रत्येक कर्म) मनुष्यको जातिभ्रष्ट करनेवाले हैं ॥ ६७ ॥

ब्राह्मणस्य दण्डहस्तादिना पीडाक्रिया, यदतिशयदुर्गन्धितयाघ्रेयं लशुनपुरीषादि तस्य

मद्यस्य चाघ्राणं, कुटिलत्वं वक्रता, पुंसि च मुखादौ मैथुनमित्येतत्प्रत्येकं जातिभ्रंशकरं स्मृतम् ॥ ६७ ॥

खराश्वोष्ट्रमृगेभानामजाविकवधस्तथा ।
संकरीकरणं ज्ञेयं मीनाहिमहिषस्य च ॥ ६८ ॥

गधा, कुत्ता, मृग (हिरण), हाथी, अज (खसी), भेंड़, मछली, साँप और भैंसा, इनमेंसे प्रत्येकको मारना भी मनुष्यको वर्णसङ्कर करनेवाला है ॥ ६८ ॥

गर्दभतुरगोष्ट्रमृगहस्तिच्छागमेषमत्स्यसर्पमहिषाणां प्रत्येकं वधः संकरीकरणं ज्ञेयम् ॥

निन्दितेभ्यो धनादानं वाणिज्यं शूद्रसेवनम् ।
अपात्रीकरणं ज्ञेयमसत्यस्य च भाषणम् ॥ ६९ ॥

जिससे दान नहीं लेना चाहिये उससे दान लेना, व्यापार, शूद्रकी सेवा और असत्य बोलना (प्रत्येक) मनुष्यको अपात्र करनेवाले हैं ॥ ६९ ॥

अप्रतिग्राह्यधनेभ्यः प्रतिग्रहो, वाणिज्यं, शूद्रस्य परिचर्या, अनृताभिधानमित्येतत्प्रत्येकमपात्रीकरणं ज्ञेयम् ॥ ६९ ॥

कृमिकीटवयोहत्या मद्यानुगतभोजनम् ।
फलैधःकुसुमस्तेयमधैर्यं च मलावहम् ॥ ७० ॥

कृमि (अत्यन्त छोटे कीड़े), कीट (कृमिसे कुछ बड़े कीड़े) तथा पक्षियोंका वध करना, मद्यके साथ (एक पात्रमें) लाये गये पदार्थका भोजन; फल, लकड़ी तथा फूलको चुराना और (साधारण-अनिष्ट-कारक कष्टादिमें भी) अधीरता—ये (प्रत्येक कर्म) मनुष्यको मलिन करनेवाले हैं ॥ ७० ॥

कृमयः क्षुद्रजन्तवस्तेभ्यः ईषत्स्थूलाः कीटास्तेषां वधः, पक्षिणां च। मद्यानुगतं यद्दोष्यमपि शाकाद्येकत्र पिटकादौ कृत्वा मद्येन सहानीतं तस्य भोजनम्। मेधातिथिस्तु-मद्यानुगतं मद्यसंस्पृष्टमाह। तन्न, तत्र प्रायश्चित्तगौरवात्। फलकाष्ठपुष्पाणां च चौर्यमल्पेऽपच्येऽप्यत्यन्तवैक्लव्यम्। एतत्सर्वं प्रत्येकं मलिनीकरणम् ॥ ७० ॥

एतान्येनांसि सर्वाणि यथोक्तानि पृथक्पृथक् ।
यैर्यैर्व्रतैरपोह्यन्ते तानि सम्यङ् निबोधत ॥ ७१ ॥

(भृगुजी महर्षियोंसे कहते हैं कि—) ये सब (११।५४-७०) पृथक्-पृथक् कहे गये पाप जिन-जिन व्रतों (प्रायश्चित्तों) से नष्ट होते हैं, उन्हें (आपलोग मुझसे) अच्छी तरह सुनें ॥ ७१ ॥

एतानि ब्रह्महत्यादीनि सर्वाणि पापानि भेदेन यथोक्तानि यैर्व्रतैः प्रायश्चित्तरूपैर्नाश्यन्ते तानि यथावत् शृणुत ॥ ७१ ॥

ब्रह्महा द्वादश समाः कुटीं कृत्वा वने वसेत् ।
भैक्षाश्यात्मविशुद्ध्यर्थं कृत्वा शवशिरोध्वजम् ॥ ७२ ॥

ब्राह्मणका वधकरनेवाला मनुष्य अपने पापकी शुद्धि (निवृत्ति) के लिये कुटिया बनाकर उस (मृत-ब्राह्मणके तथा नहीं मिलनेपर दूसरे किसी) के शिरको चिह्न स्वरूप लेकर भिक्षान्नके भोजनको करता हुआ (अग्रिम (११।७८) वचनके अनुसार मुण्डित मस्तक होकर) बारह वर्षोंतक वनमें निवास करे ॥ ७२ ॥

यो ब्राह्मणं हतवान्स वने कुटीं कृत्वा हतस्य शिरःकपालं तदभावेऽन्यस्यापि चिह्नं कृत्वाऽरण्ये भैक्षभुगात्मनः पापनिर्हरणाय द्वादश वर्षाणि वसेत् व्रतं कुर्यात्। अत्रापि "कृतवापनो निवसेत्" (म. स्मृ. ११-७८) इति वक्ष्यति। मुन्यन्तरोक्ता अपि विशेषा ग्राह्याः। तथा च यमः—

'सप्तागाराण्यपूर्वाणि यान्यसंकल्पितानि च।
संविशेत्तानि शनकैर्विधूमे भुक्तवज्जने॥
भ्रूणघ्ने देहि मे भिक्षामेनो विख्याप्य संचरेत्।
एककालं चरेद्भैक्ष्यं तदलब्ध्वोदकं पिबेत्॥'

अयं च द्वादशवार्षिकविधिर्ब्राह्मणस्याज्ञानकृतब्राह्मणवधे,

'इयं विशुद्धिरुदिता प्रमाप्याकामतो द्विजम्। (म. स्मृ. ११-८९)'

इति वक्ष्यमाणत्वात्। क्षत्रियवैश्यशूद्राणां तु क्रमेणैतद्द्वादशवार्षिकं द्विगुणं त्रिगुणं चतुर्गुणं च द्रष्टव्यम्। यथोक्तं भविष्यपुराणे—

'द्विगुणाः क्षत्रियाणां तु वैश्यानां त्रिगुणाः स्मृताः।
चतुर्गुणास्तु शूद्राणां पर्षदुक्ता महात्मनाम्॥
पर्षदुक्तव्रतं प्रोक्तं शुद्धये पापकर्मणाम्॥'

यावद्भिर्ब्राह्मणैर्ब्राह्मणानां सभा, ततो द्विगुणैः क्षत्रियाणां दृष्टव्यवहारदर्शनार्थां सभा भवेत्, त्रिगुणैर्वैश्यैर्वैश्यानां, चतुर्भिः शूद्राणामिति। संभवाच्च क्षत्रियादीनां त्रयाणां व्रतमपि द्विगुणत्रिगुणचतुर्गुणमित्यर्थः। एतानि च मनूक्तब्रह्मवधप्रायश्चित्तवचनानि गुणवत्कृतनिर्गुणब्राह्मणहननविषयत्वेन भविष्यपुराणे व्याख्यातानि।

'हन्ता चेद् गुणवान्वीर अकामान्निर्गुणो हतः।
कर्तव्यानि मनूक्तानि कृत्वा वै आश्वमेधिकम्॥
ब्रह्महा द्वादशाब्दानि कुटीं कृत्वा वने वसेत्।
गच्छेदवभृथं वापि अकामान्निर्गुणे हते॥
जातिशक्तिगुणापेक्षं सकृद् बुद्धिकृतं तथा।
अनुबन्धादि विज्ञाय प्रायश्चित्तं प्रकल्पयेत्॥'

इति विश्वामित्रवचनात्प्रायश्चित्ताधिक्यमूहनीयम्। कामकृते तु ब्राह्मणवधे द्विगुणं ब्रह्मवधप्रायश्चित्तं चतुर्विंशतिवर्षम्। तदाहाङ्गिराः—

'अकामतः कृते पापे प्रायश्चित्तं न कामतः।
स्यात्त्वकामकृते यत्तु द्विगुणं बुद्धिपूर्वके॥ ७२॥'

लक्ष्यं शस्त्रभृतां वा स्याद्विदुषामिच्छयाऽऽत्मनः।
प्रास्येदात्मानमग्नौ वा समिद्धे त्रिरवाक्शिराः॥ ७३॥

'यह ब्रह्मघाती है' यह जाननेवाले शस्त्रधारियोंके (बाणका) स्वेच्छासे (मरने या मरनेके समान होनेतक) निशाना बने, या 'जलती हुई अग्निमें नीचे शिर करके तीन बार अपनेको डाले (जिससे मर जावे)॥ ७३॥

धनुःशराद्यायुधधारिणां ब्रह्मवधपापक्षयार्थमयं लक्ष्यभूत इत्येवं जानतां स्वेच्छया बाणलक्ष्यभूतो वावतिष्ठेत्। यावन्मृतो मृतकल्पो वा विशुध्येत्। तदाह याज्ञवल्क्यः—

'संग्रामे वा हतो लक्ष्यभूतः शुद्धिमवाप्नुयात्।
मृतकल्पः प्रहारार्तो जीवन्नपि विशुद्ध्यति॥ (या. स्मृ. ३-२४८)'

अग्नौ प्रदीप्ते वाऽधोमुखस्त्रीन्वारान्शरीरं प्रक्षिपेत्। "तथा प्रास्येत् यथा म्रियेत" इत्यापस्तम्बवचनादेवं प्रक्षिपेत्। एतत्प्रायश्चित्तद्वयमनन्तरे वक्ष्यमाणं च। "यजेत वाश्वमेधेन" (म. स्मृ. ११-७४) इत्येवं प्रायश्चित्तत्रयमिदं कामतः क्षत्रियस्य ब्राह्मणवधविषयम्। मनुश्लोकमेव लिखित्वा यथाव्याख्यातं भविष्यपुराणे—

'लक्ष्यं शस्त्रभृतां वा स्याद्विदुषामिच्छयाऽऽत्मनः।
प्रास्येदात्मानमग्नौ वा समिद्धे त्रिरवाक्शिराः॥
यजेत वाश्वमेधेन क्षत्रियो विप्रघातकः।
प्रायश्चित्तत्रयं ह्येतत्क्षत्रियस्य प्रकीर्तितम्॥
क्षत्रियो निर्गुणो धीरं ब्राह्मणं वेदपारगम्।
निहत्य कामतो वीर लक्ष्यः शस्त्रभृतो भवेत्॥
चतुर्वेदविदं धीरं ब्राह्मणं चाग्निहोत्रिणम्।
निहत्य कामादात्मानं क्षिपेदग्नाववाक्शिराः॥
निर्गुणं ब्राह्मणं हत्वा कामतो गुणवान्गुह।
यष्ट्वा वा अश्वमेधेन क्षत्रियो यो महीपतिः॥ ७३॥'

यजेत वाऽश्वमेधेन स्वर्जिता गोसवेन वा।
अभिजिद्विश्वजिद्भ्यां वा त्रिवृताग्निष्टुतापि वा॥ ७४॥

अथवा अश्वमेध यज्ञ करे, तथा स्वर्जित, गोमेध, अभिजित, विश्वजित, त्रिवृत अग्निष्टुत, इनमें से कोई एक यज्ञ (अज्ञानसे) ब्रह्महत्या करनेवाला द्विजाति (१०।४) करे॥ ७४॥

'यजेत वाऽश्वमेधेन' इत्यनन्तरं व्याख्यातम्। स्वर्जिता योगविशेषेण वा गोसवेन अभिजिता विश्वजिता वा त्रिवृताग्निष्टुता वा याजयेत्। एतानि चाज्ञामतो ब्रह्मवधे प्रायश्चित्तानि त्रैवर्णिकस्य विकल्पितानि। तदुक्तं भविष्यपुराणे—

'स्वर्जितादेश्च यद्वीर कर्मणा पृतनापते।
अनुष्ठानं द्विजातीनां वधे ह्यमतिपूर्वके॥ ७४॥'

जपन्वाऽन्यतमं वेदं योजनानां शतं व्रजेत्।
ब्रह्महत्यापनोदाय मितभुङ् नियतेन्द्रियः॥ ७५॥

अथवा स्वल्पाहार करता हुआ जितेन्द्रिय होकर किसी एक वेदको जपता हुआ ब्रह्महत्या (के दोष) के विनाश के लिए सौ योजन (४०० कोश) तक गमन करे॥ ७५॥

वेदानां मध्यादेकं वेदं जपन्स्वल्पाहारः संयतेन्द्रियो ब्रह्महत्यापापनिर्हरणाय योजनानां शतं गच्छेत्। एतदप्यज्ञानकृते जातिमात्रब्राह्मणवधे त्रैवर्णिकस्य प्रायश्चित्तम्। तथा च भविष्यपुराणेऽयमेव श्लोकः पठितो व्याख्यातश्च—

'जातिमात्रं यदा विप्रं हन्यादमतिपूर्वकम्।
वेदविच्चाग्निहोत्री च तदा तस्य भवेदिदम्॥ ७५॥'

सर्वस्वं वेदविदुषे ब्राह्मणायोपपादयेत्।
धनं वा जीवनायालं गृहं वा सपरिच्छदम्॥ ७६॥

अथवा वेदज्ञाता ब्राह्मणके लिए सर्वस्व (समस्त सम्पत्ति) को दे देवे, या उसके जीवनपर्यन्त खाने-पहननेके लिए या सब सामग्रियोंके सहित घरको देवे॥ ७६॥

सर्वस्वं वा वेदविदे ब्राह्मणाय दद्यात्। यावद्धनं जीवनाय समर्थं गृहं वा गृहोपयोगिधनधान्यादियुतम् अतः सर्वस्वं वा गृहं वा सपरिच्छदं दद्यात्। जीवनायालमिति वचनाज्जीवनपर्याप्तं सर्वस्वं गृहं वा दद्यान्न ततोऽल्पम्। एतच्चाज्ञानतो जातिमात्रब्राह्मणवधे ब्राह्मणस्य प्रायश्चित्तम्। तथा च भविष्यपुराणम्—

'जातिमात्रं यदा हन्याद्ब्राह्मणं ब्राह्मणो गुह।
वेदाभ्यासविहीनो वै धनवानग्निवर्जितः॥
प्रायश्चित्तं तदा कुर्यादिदं पापविशुद्धये।
धनं वा जीवनायालं गृहं वा सपरिच्छदम्॥ ७६॥'

हविष्यभुग्वाऽनुसरेत्प्रतिस्रोतः सरस्वतीम्।
जपेद्वा नियताहारस्त्रिर्वै वेदस्य संहिताम्॥ ७७॥

अथवा (नीवार-तीनी आदि) हविष्यान्नको खाता हुआ प्रसिद्ध स्रोतसे लेकर (पश्चिम) समुद्र तक (जहांतक सरस्वती नदी बहती है वहां तक) जावे, अथवा नियमित (अत्यन्त थोड़ा) भोजन करता हुआ वेदकी संहिताको तीन बार जपे॥ ७७॥

नीवारादिहविष्यान्नभोजी विख्यातप्रस्रवणादारभ्यापश्चिमोदधेः स्रोतः प्रतिसरस्वतीं यायात्। एतच्च ज्ञातिमात्रब्राह्मणवधे ज्ञानपूर्वके। तथा भविष्यपुराणे—

'जातिमात्रे हते विप्रे देवेन्द्र मतिपूर्वकम्।
हन्ता यदा वेदहीनो धनेन च भवेद् भृतः॥
तदैतत्कल्पयेत्तस्य प्रायश्चित्तं निबोध मे।
हविष्यभुक्चरेद्वापि प्रतिस्रोतः सरस्वतीम्॥
अथवा परिमिताहारस्त्रीन्वारान्वेदसंहिताम्॥'

संहिताग्रहणात्पदक्रमव्युदासः। अत्रापि भविष्यपुराणीयो विशेषः—

'जातिमात्रं तु यो हन्याद्विप्रं स्वमतिपूर्वकम्।
ब्राह्मणोऽत्यन्तगुणावांस्तेनेदं परिकल्पयेत्॥
जपेद्वा नियताहारस्त्रिर्वै वेदस्य संहिताम्।
ऋचो यजूंषि समानि त्रैविद्याख्यं सुरोत्तम॥ ७७॥'

इदानीम् 'समाप्ते द्वादशे वर्षे' इत्युपदेशाद् द्वादशवार्षिकस्य विशेषमाह—

कृतवापनो निवसेद् ग्रामान्ते गोव्रजेऽपि वा।
आश्रमे वृक्षमूले वा गोब्राह्मणहिते रतः॥ ७८॥

अथवा मुण्डन कराकर गौओं तथा ब्राह्मणोंका हित करता हुआ गांवके पास गोशालामें पवित्र (साधु आदिके) आश्रममें या पेड़के नीचे निवास करे॥ ७८॥

लूनकेशनखश्मश्रुगोब्राह्मणरहिते रतो गोब्राह्मणोपकारान्कुर्वन्ग्रामसमीपे गोष्ठपुण्यदेशवृक्षमूलान्यतमे निवसेत्। वने कुटीं कृत्वेत्यस्य विकल्पार्थमिदम्॥ ७८॥

ब्राह्मणार्थे गवार्थे वा सद्यः प्राणान्परित्यजेत्।
मुच्यते ब्रह्महत्याया गोप्ता गोर्ब्राह्मणस्य च॥ ७९॥

(पूर्व ११।७२ या ७८) वचनानुसार किसी स्थानमें रहकर बारह वर्षतक प्रायश्चित करनेका नियम लिया हुआ ब्रह्मघाती मनुष्य (अग्नि, व्याघ्र आदि हिंसक या जल आदि से आक्रान्त)

ब्राह्मण या गौ (की रक्षा) के लिए तत्काल प्राणोंको छोड़ दे, अथवा उनकी रक्षार्थ प्राणपणसे चेष्टा करता हुआ वह मनुष्य जीकर भी बारह (या अपने वर्णके अनुसार नियत) वर्षके समाप्त नहीं होनेपर (वह ब्राह्मण-रक्षक) ब्रह्महत्याके दोषसे छूट जाता है ॥ ७९ ॥

प्रक्रान्ते द्वादशवार्षिकेऽन्तरान्युदकहिंसकाद्याक्रान्तब्राह्मणस्य गोर्वा परित्राणार्थं प्राणान्परित्यजन्ब्रह्महत्याया मुच्यते । गोब्राह्मणं वा ततः परित्राणायामृतोऽप्यसमाप्तद्वादशवर्षोऽपि मुच्यते ॥ ७९ ॥

त्रिवारं प्रतिरोद्धा वा सर्वस्वमवजित्य वा ।
विप्रस्य तन्निमित्ते वा प्राणालाभे विमुच्यते ॥ ८० ॥

ब्राह्मण धनके चुरानेवालोंसे निष्कपट तथा यथाशक्ति तीन बार उस धनको छुड़ानेका प्रयत्न करनेपर, या एक दो बारमें ही उन चोरोंको जीतकर उस चोरित धनको उसके स्वामी ब्राह्मणके लिए देनेपर, अथवा चुराये हुए अपने धनको बराबर धन देकर उस ब्राह्मणकी प्राणरक्षा करनेसे वह ब्रह्महत्याके दोषसे छूट जाता है ॥ ८० ॥

स्तेनादिभिर्ब्राह्मणसर्वस्वेऽपह्रियमाणे तदानयनार्थं निर्व्याजं यथाशक्ति प्रयत्नं कुर्वंस्तत्र त्रिवारान् युद्धे प्रवर्तमानो नानीतेऽपि सर्वस्वे ब्रह्महत्यापापात्प्रमुच्यते । अथवा प्रथमवार एव विप्रसर्वस्वमपहृतं जित्वाऽर्पयति तथापि मुच्यते । यद्वा धनापहारकत्वेन स्वेनैव ब्राह्मणो युद्धेन मरणे प्रवर्तते तदा यद्यप्यपहृतसमधनदानेन तं जीवयति तदापि तन्निमित्ते तस्य प्राणलाभे ब्रह्महत्यापापान्मुच्यते । एतदितरप्रकारेण तु रक्षणे 'गोप्ता गोर्ब्राह्मणस्य चे'त्यपुनरुक्तिः ॥ ८० ॥

एवं दृढव्रतो नित्यं ब्रह्मचारी समाहितः ।
समाप्ते द्वादशे वर्षे ब्रह्महत्यां व्यपोहति ॥ ८१ ॥

इस प्रकार (११।७२-८०) सर्वदा नियमयुक्त ब्रह्मचर्य धारण किया हुआ, सावधान चित्तवाला (ब्रह्मघाती मनुष्य) बारह (और क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र क्रमशः २४, ३६, ४८) वर्षपर ब्रह्महत्यासे छूट जाता है ॥ ८१ ॥

एवमुक्तप्रकारेण सर्वदा नियमोपहितः स्त्रीसंयोगादिशून्यः संयतमनाः समाप्ते द्वादशे वर्षे ब्रह्महत्यापापं नाशयति । एवं "ब्राह्मणार्थे" (म. स्मृ. ११-७९) इत्यादि सर्वं प्रक्रान्तद्वादशवार्षिकस्य बोद्धव्यम् ॥ ८१ ॥

शिष्ट्वा वा भूमिदेवानां नरदेवसमागमे ।
स्वमेनोऽवभृथस्नातो हयमेधे विमुच्यते ॥ ८२ ॥

अथवा अश्वमेध यज्ञमें ब्राह्मणों तथा राजाओंके समागम (एकत्रित) होनेपर अपने पापको ('मैंने ब्रह्महत्या की है' इस प्रकार) बतलाकर अवभृथ (यज्ञ समाप्तिके बाद किया जानेवाला) स्नान करके (ब्रह्महत्या करनेवाला उस पापसे) छूट जाता है ॥ ८२ ॥

अश्वमेधे ब्राह्मणानामृत्विजां क्षत्रियस्य यजमानस्य समागमे ब्रह्महत्यापापं शिष्ट्वा निवेद्यावभृथस्नातो ब्रह्महत्यापापान्मुच्यते, द्वादशवार्षिकस्योपसंहृतत्वात् । स्वतन्त्रमेवेदं प्रायश्चित्तम् । तथा च भविष्यपुराणे—

'यदा तु गुणवान्विप्रो हत्वा विप्रं तु निर्गुणम् ।
अकामतस्तदा गच्छेत्स्नानं चैवाश्वमेधिकम् ॥'

गोविन्दराजस्तु—अश्वमेधविवर्जितसकलप्रायश्चित्तविशेषतोऽस्य प्रक्रान्तद्वादशवार्षिकप्रायश्चित्तस्यान्तरावभृथस्नाने तेनैव शुद्धिरित्याह । तदयुक्तम्, भविष्यपुराणवचनविरोधात् ॥ ८२ ॥

धर्मस्य ब्राह्मणो मूलमग्रं राजन्य उच्यते ।
तस्मात्समागमे तेषामेनो विख्याप्य शुद्ध्यति ॥ ८३ ॥

क्योंकि ब्राह्मणको धर्मका मूल तथा क्षत्रियको धर्मका अग्रभाग (मनु आदि महर्षियोंने) कहा है, इस कारण (वह ब्रह्मघाती पुरुष) उनके एकत्रित होनेपर अपने पापको निवेदनकर (अवभृथ स्नान करनेसे) शुद्ध हो जाता है ॥ ८३ ॥

यस्मात् ब्राह्मणो धर्मस्य कारणं ब्राह्मणेन धर्मोपदेशे कृते धर्मानुष्ठानाद्राजा तस्याग्रं प्रान्तं मन्वादिभिरुच्यते, ताभ्यां ब्राह्मणक्षत्रियाभ्यां समूलाग्रधर्मतत्त्वनिष्पत्तेः । तस्मात्तेषां समागमेऽश्वमेधे पापं निवेद्यावभृथस्नातः शुद्ध्यतीत्यस्यैव विशेषः ॥ ८३ ॥

ब्राह्मणः सम्भवेनैव देवानामपि दैवतम् ।
प्रमाणं चैव लोकस्य ब्रह्मात्रैव हि कारणम् ॥ ८४ ॥

ब्राह्मण जन्मसे ही देवताओंका भी देवता (पूज्य) है, मनुष्योंका (प्रत्यक्षयुक्त) प्रमाण है, क्योंकि इसमें वेद ही कारण है ॥ ८४ ॥

ब्राह्मण उत्पत्तिमात्रेणैव किं पुनः श्रुतादिभिर्देवानामपि पूज्यः सुतरां मनुष्याणां लोकस्य च प्रत्यक्षवत्प्रमाणम्, तदुपदेशस्य प्रामाण्यात् । यस्मात्तत्र वेद एव कारणं वेदमूलकत्वादुपदेशस्य ॥ ८४ ॥

यत एवमतः—

तेषां वेदविदो ब्रूयुस्त्रयोऽप्येनः सुनिष्कृतम् ।
सा तेषां पावनाय स्यात्पवित्रा विदुषां हि वाक् ॥ ८५ ॥

(इस कारण अर्थात् ब्राह्मणकी पूज्यता होनेसे) उन ब्राह्मणोंमेंसे वेदज्ञाता तीन ब्राह्मण पापशुद्धिके लिए जो प्रायश्चित्त कहें, वह उन पापियोंको शुद्ध (पाप रहित) करनेवाला है, क्योंकि विद्वानोंका वचन पवित्र होता हैं ॥ ८५ ॥

तेषां विदुषां ब्राह्मणानां मध्ये वेदज्ञास्त्रयोऽपि किमुताधिकाः यत्पापनिर्हरणाय प्रायश्चित्तं ब्रूयुस्तत्पापिनां विशुद्धये भवति । यस्माद्विदुषां वाक्पावयित्री ततश्च प्रकाशप्रायश्चित्तार्थं विदुषामपि परिषदवश्यं कार्या । रहस्यप्रायश्चित्ते पुनरेतन्नास्ति, रहस्यत्वविरोधात् ॥ ८५ ॥

अतोऽन्यतममास्थाय विधिं विप्रः समाहितः ।
ब्रह्महत्याकृतं पापं व्यपोहत्यात्मवत्तया ॥ ८६ ॥

अत एव ब्राह्मण (आदि पापकर्ता) सावधान होकर आत्मवान् होनेसे पूर्वोक्त ११।७२-८३) प्रायश्चित्तोंमेंसे किसी एक प्रायश्चित्तको करके शुद्ध (पापहीन) हो जाता है ॥ ८६ ॥

अस्मात्प्रायश्चित्तगणादन्यतमं प्रायश्चित्तं ब्राह्मणादिः संयतमना आश्रित्य प्रशस्तार्थतया ब्रह्महत्याकृतं पापमपनुदति । एतच्च ब्रह्मवधादिप्रायश्चित्तविधानं सकृत्पापकरणविषयं, पापावृत्तौ त्वावर्तनीयम् । 'एनसि गुरुणि गुरूणि लघुनि लघूनि' इति गोतमस्मरणात् ।

'पूर्णे चानस्यनस्थ्नान्तु शूद्रहत्याव्रतं चरेत् । (म. स्मृ. ११-१४०)'

इति बहुमारणे प्रायश्चित्तबहुत्वस्य वक्ष्यमाणत्वाच्च ।

'विधेः प्राथमिकादस्माद् द्वितीये द्विगुणं स्मृतम् ।

तृतीये त्रिगुणं प्रोक्तम्' इति गोतमस्मरणात् । गृहादाहादिना युगपदनेकब्राह्मणहनने तु भविष्यपुराणीयो विशेषः—

'ब्राह्मणो ब्राह्मणं वीर ब्राह्मणौ वा बहून्गुह ।
निहत्य युगपद्वीर एकं प्राणान्तिकं चरेत् ॥
कामतस्तु यदा हन्यात् ब्राह्मणान् सुरसत्तम ।
तदात्मानं दहेदग्नौ विधिना येन तच्छृणु ॥'

एतच्च ज्ञानविषयं सर्वमेवैतत् । तथा—

'अकामतो यदा हन्याद् ब्राह्मणान्ब्राह्मणो गुह ।
चरेद्वने तथा घोरे यावत्प्राणपरिच्चयम् ॥'

एतच्चाज्ञानवधे प्रकृतत्वाद्युगपन्मारणविषयम् । क्रममारणे तु 'विधेः प्राथमिकादस्मात्' इत्यावृत्तिविधायकं वेदवचनम् ॥ ८६ ॥

हत्वा गर्भमविज्ञातमेतदेव व्रतं चरेत् ।
राजन्यवैश्यौ चेजानावात्रेयीमेव च स्त्रियम् ॥ ८७ ॥
[जन्मप्रभृतिसंस्कारैः संस्कृता मन्त्रवाचया ।
गर्भिणी त्वथवा स्यात्तामात्रेयीं च विदुर्बुधाः ॥ ७ ॥]

अज्ञात (स्त्रीपुरुष या नपुंसकका ज्ञानरहित) गर्भ, यज्ञ करते हुए क्षत्रिय तथा वैश्य और आत्रेयीकी हत्या करके (इसी ब्रह्महत्याके) प्रायश्चित्तको करे ॥ ८७ ॥

[जन्मसे लेकर मन्त्रपूर्वक संस्कारोंसे संस्कृत स्त्री वा गर्भिणीको विद्वान् लोग 'आत्रेयी' कहते हैं ॥ ७ ॥]

प्रकृतत्वाद्ब्राह्मणगर्भविषयं स्त्रीपुंनपुंसकत्वेनाविज्ञातं क्षत्रियं वैश्यं च यागप्रवृत्तं हत्वा-आत्रेयीं च स्त्रियं ब्राह्मणीं 'तथाऽऽत्रेयीं च ब्राह्मणीम्' इति यमस्मरणात् हत्वा ब्रह्महत्या-प्रायश्चित्तं कुर्यात् । आत्रेयी च रजस्वला ऋतुस्नातोच्यते । "रजस्वलामृतुस्नातमात्रेयीम्" इति वसिष्ठस्मरणात् । एवं चानात्रेयीब्राह्मणीवधे त्रैवार्षिकमुपपातकम् । यथोक्तम्—'स्त्रीशूद्रविट्क्षत्रवधः' (म. स्मृ. ११-६६) इति । यत्तूत्तरश्लोके 'कृत्वा च स्त्रीसुहृद्वधम्' (म. स्मृ. ११-८८) इति तदाहिताग्निब्राह्मणस्य ब्राह्मणीभार्याविषयम् । तथा चाङ्गिराः—

'आहिताग्नेर्ब्राह्मणस्य हत्वा पत्नीमनिन्दिताम् ।
ब्रह्महत्याव्रतं कुर्यादात्रेयीघ्नस्तथैव च ॥ ८७ ॥'

उक्त्वा चैवानृतं साक्ष्ये प्रतिरुध्य गुरुं तथा ।
अपहृत्य च निःक्षेपं कृत्वा च स्त्रीसुहृद्वधम् ॥ ८८ ॥

सुवर्ण या भूमि आदिकी गवाहीमें असत्य बोलनेपर, गुरुपर मिथ्या दोष लगानेपर, धरोहरका अपहरणकर तथा (अग्निहोत्री ब्राह्मणकी) स्त्री और मित्रकी हत्या करनेपर (ब्रह्महत्याके समान प्रायश्चित्त करे) ॥ ८८ ॥

हिरण्यभूम्यादियुक्तसाक्ष्येऽनृतमुक्त्वा, गुरोश्च मिथ्याभिशापमुत्पाद्य, निक्षेपं च ब्राह्मण-सुवर्णादन्यद्रजतादि द्रव्यं क्षत्रियादेः सुवर्णमपि चापहृत्य, स्त्रीवधं च यथाव्याख्यातं कृत्वा मित्रं चाब्राह्मणं हत्वा ब्रह्महत्याप्रायश्चित्तं कुर्यात् ॥ ८८ ॥

इयं विशुद्धिरुदिता प्रमाप्याकामतो द्विजम् ।
कामतो ब्राह्मणवधे निष्कृतिर्न विधीयते ॥ ८९ ॥

यह प्रायश्चित्त अनिच्छा (अज्ञान) से ब्राह्मणकी हत्या करनेपर कहा गया है, इच्छासे (जानबूझकर) ब्राह्मणकी हत्या करनेपर निस्तार नहीं है ॥ ८९ ॥

एतत्तु प्रायश्चित्तं विशेषोपदेशमन्तरेणाकामतो ब्राह्मणवधेऽभिहितम् । कामतस्तु ब्राह्मणवधेनेयं निष्कृतिर्नैतत्प्रायश्चित्तम् । किंत्वतो द्विगुणादिकरणात्मकमिति प्रायश्चित्तगौरवार्थं न तु प्रायश्चित्ताभावार्थम् ।

'कामतस्तु कृतं मोहात्प्रायश्चित्तैः पृथग्विधैः । (म. स्मृ. ११-४६)'

इति पूर्वोक्तविरोधात् ॥ ८९ ॥

सुरां पीत्वा द्विजो मोहादग्निवर्णां सुरां पिबेत् ।
तया स काये निर्दग्धे मुच्यते किल्बिषात्ततः ॥ ९० ॥

द्विज मोहवश मदिराको पीकर अग्निके समान गर्म मदिराको पीवे, उस (अग्निके समान जलती हुई मदिरा) से शरीर अर्थात् मुखके जलने (के कारण मर जाने) पर मनुष्य उस (मदिरा पीनेसे उत्पन्न पाप) से छूट जाता है ॥ ९० ॥

सुराशब्दः पैष्टीमात्रे मुख्यो न तु गौडीमाध्वीपैष्टीषु त्रितयानुगतैकरूपाभावात्प्रत्येकं च शक्तिकल्पने शक्तित्रयकल्पनागौरवप्रसङ्गात् । गौड्यादिमदिरासु गुणवृत्त्यापि सुराशब्दप्रयोगोपपत्तेः । अत एव भविष्यपुराणे—

'सुरा च पैष्टी मुख्योक्ता न तस्यास्त्वितरे समे ।
पैष्ट्याः पानेन चैतासां प्रायश्चित्तं निबोधत ॥
यमेनोक्तं महाबाहो समासव्यासयोगतः ।'

एतासामिति निर्धारणे षष्ठी । एतासां गौडीमाध्वीपैष्टीनां प्रकृतानां मध्ये पैष्टीपाने मनूक्तं प्रायश्चित्तं सुरां पीत्वा द्विजो मोहादिति निबोधतेत्यर्थः । मुख्यां सुरां पैष्टीं रागादिव्यामूढतया द्विजो ब्राह्मणादिश्च पीत्वाऽग्निवर्णां सुरां पिबेत्तया सुरया शरीरे निर्दग्धे सति द्विजस्तस्मात्पापान्मुच्यते । एतच्च गुरुत्वात्कामकारकृतसुरापानविषयम् । तथा च बृहस्पतिः—

'सुरापाने कामकृते ज्वलन्तीं तां विनिःक्षिपेत् ।
मुखे तया स निर्दग्धो मृतः शुद्धिमवाप्नुयात् ॥ ९० ॥'

गोमूत्रमग्निवर्णं वा पिबेदुदकमेव वा ।
पयो घृतं वाऽऽमरणाद् गोशकृद्रसमेव वा ॥ ९१ ॥

अथवा (सन्तप्त होनेसे) अग्निके समान वर्णवाले गोमूत्र, पानी, दूध, घी या गोबरके रसको मरनेतक पीवे ॥ ९१ ॥

गोमूत्रजलगोक्षीरगव्यघृतगोमयरसानामन्यतममग्निस्पर्शं कृत्वा यावन्मरणं पिबेत् ॥

कणान्वा भक्षयेदब्दं पिण्याकं वा सकृन्निशि ।
सुरापानापनुत्त्यर्थं वालवासा जटी ध्वजी ॥ ९२ ॥

अथवा बालसे बने वस्त्रको पहनता हुआ, जटाधारण करता हुआ और सुरापात्रके चिह्नको धारण करता हुआ मदिरा पीनेवाला मनुष्य मदिरा पीनेके दोष छूटनेके लिए एक वर्षतक कण (अन्नकी चुन्नी खुद्दी) या खलीको रातमें एक बार खावे ॥ ९२ ॥

अथवा गोरोमादिकृतवासा जटावान् सुराभाजनचिह्नः सूक्ष्मतण्डुलावयवान् आकृष्टतैलं तिलं वा रात्रावेकवारं संवत्सरपर्यन्तं सुरापानपापनाशनार्थं भक्षयेत्। इदमबुद्धिपूर्वकम-मुख्यसुरापाने द्रष्टव्यं नतु गुणान्तरवैकल्पिकं लघुत्वात् ॥ ९२ ॥

सुरां वै मलमन्नानां पाप्मा च मलमुच्यते।
तस्माद्ब्राह्मणराजन्यौ वैश्यश्च न सुरां पिबेत् ॥ ९३ ॥

सुरा (मदिरा) अन्नों (खाद्य पदार्थों) का मल है और पापी भी मल कहा जाता है, इस कारणसे ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्योंको सुरा नहीं पीना चाहिये ॥ ९३ ॥

यस्मात्तण्डुलपिष्टसाध्यत्वात्सुराऽन्नमलं मलशब्देन च पापमुच्यते। तस्माद् ब्राह्मणक्षत्रियवैश्याः पैष्टीं सुरां न पिबेयुरित्यनेन प्रतिषेधे सत्येतदतिक्रमेण 'सुरां पीत्वा' (म.स्मृ. ११–९०) इति प्रायश्चित्तम्। अन्नमलानुवादाच्च पैष्टीनिषेध एव स्फुटस्त्रैवर्णिकस्य मनुनैवोक्तः ॥ ९३ ॥

गौडी पैष्टी च माध्वी च विज्ञेया त्रिविधा सुरा।
यथैवैका तथा सर्वा न पातव्या द्विजोत्तमैः ॥ ९४ ॥

(१) गौडी, (२) पैष्टी और (३) माध्वी अर्थात् क्रमशः गुड़, आटे और महुएके फूलसे बनी हुई तीन प्रकारकी सुरा (मदिरा) होती है; जिस प्रकारकी सभी हैं, इस कारण द्विजोत्तमों (श्रेष्ठ द्विजों ब्राह्मणादि वर्णत्रय) को उसका पान नहीं करना चाहिये ॥ ९४ ॥

या गुडेन कृता सा गौडी, एवं पिष्टेन कृता पैष्टी, मधुकवृक्षो मधुस्तत्पुष्पैः कृता सा माध्वी, एवं त्रिप्रकारा सुरा जायते। मुख्यसुरासाम्यनिबोधनमितरसुरापेक्षया ब्राह्मणस्य गौडीमाध्वीपाने प्रायश्चित्तगौरवार्थम्। यथा वैका पैष्टी मुख्या सुरा पूर्ववाक्यान्निषिद्धत्वात्त्रैवर्णिकस्यापेक्षया तथा सर्वा गौडी माध्वी च द्विजोत्तमैर्न पातव्या ॥ ९४ ॥

यक्षरक्षःपिशाचान्नं मद्यं मांसं सुरासवम्।
तद्ब्राह्मणेन नात्तव्यं देवानामश्नता हविः ॥ ९५ ॥

मद्य, मांस, सुरा और आसव ये चारों यक्ष-राक्षसों तथा पिशाचोंके अन्न (भक्ष्य पदार्थ) हैं, अत एव देवताओंके हविष्य खानेवाले ब्राह्मणोंको उनका भोजन (पान) नहीं करना चाहिये ॥ ९५ ॥

मद्यमत्र निषिद्धपैष्टीगौडीमाध्वीव्यतिरिक्तं नवविधं बोद्धव्यम्। तान्याह पुलस्त्यः—

'पानसद्राक्षमाध्वीकं खार्जूरं तालमैक्षवम्।
माध्वीकं टाङ्कमाद्वीकमैरेयं नालिकेलजम् ॥
सामान्यानि द्विजातीनां मद्यान्येकादशैव च।
द्वादशं तु सुरामद्यं सर्वेषामधमं स्मृतम् ॥'

मांसं च प्रतिषिद्धम्। सुरा च त्रिप्रकारा प्रोक्ता। आसूयत इत्यासवो मद्यानामवस्थाविशेषः। सद्यः कृतसंधानोऽसंजातमद्यस्वभावः। यमधिकृत्येदं पुलस्त्योक्तप्रायश्चितम्—

'द्राक्षेक्षुटङ्कखर्जूरपनसादेश्च यो रसः।
सद्यो जातं च पीत्वा तु त्र्यहाच्छुध्येद् द्विजोत्तमः ॥'

एवं मद्यादि चतुष्टयं यक्षरक्षःपिशाचसंबन्ध्यन्नं ततस्तद् ब्राह्मणेन देवानां हविर्भक्षयता नाशितव्यम्। निषिद्धायाः सुरायाः इहोपादानं यक्षरक्षःपिशाचान्नतया निन्दा-

र्थम् । अत्र केचित् "देवानामश्नता हविः" इति पुंलिङ्गनिर्देशाद् ब्राह्मणस्य पुंस एव मद्यप्रतिषेधो न स्त्रिया इत्याहुस्तदसत्,

'पतिलोकं न सा याति ब्राह्मणी या सुरां पिबेत् ।
इहैव सा शुनी गृध्री सूकरी चोपजायते ॥' (या. स्मृ. ३-२५६)

इति याज्ञवल्क्यादिस्मृतिविरोधात् ॥ ९५ ॥

अमेध्ये वा पतेन्मत्तो वैदिकं वाप्युदाहरेत् ।
अकार्यमन्यत्कुर्याद्वा ब्राह्मणो मदमोहितः ॥ ९६ ॥

(क्योंकि मद्यपानसे मतवाला) ब्राह्मण अपवित्र (मल-मूत्रादिसे अशुद्ध नाली आदि) में गिरेगा, वेदवाक्यका उच्चारण करेगा और निषिद्ध कर्म (अहिंस्य-हिंसा आदि) करेगा (अत एव उसे मद्यपान नहीं करना चाहिये) ॥ ९६ ॥

ब्राह्मणो मद्यपानमदमूढबुद्धिः सन्नशुचौ वा पतेत्, वेदवाक्यं वोच्चारयेत्, ब्रह्महत्याद्यकार्यं वा कुर्यादतस्तेन मद्यपानं न कार्यमिति पूर्वस्यैवानुवादः ॥ ९६ ॥

यस्य कायगतं ब्रह्म मद्येनाप्लाव्यते सकृत् ।
तस्य व्यपैति ब्राह्मण्यं शूद्रत्वं च स गच्छति ॥ ९७ ॥

जिस ब्राह्मणका शरीरस्थ ब्रह्म (वेद-संस्कार रूपसे अवस्थित एक शरीर होनेसे जीवात्मा) एक बार भी मद्यसे आप्लावित होता है अर्थात् जो ब्राह्मण एक बार भी मद्य पीता है, तो उसका ब्राह्मणत्व नष्ट हो जाता है तथा वह शूद्रत्वको प्राप्त करता है ॥ ९७ ॥

यस्य ब्राह्मणस्य कायगतं ब्रह्म वेदः संस्काररूपेणावस्थितः एकदेहत्वात् जीवात्मा एकवारमपि मद्येनाप्लाव्यते तथा चैकवारमपि यो ब्राह्मणो मद्यं पिबति तस्य ब्राह्मण्यं व्यपैति शूद्रतां समाप्नोति । तस्मान्मद्यं सर्वथैव न पातव्यम् ॥ ९७ ॥

एषा विचित्राभिहिता सुरापानस्य निष्कृतिः ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि सुवर्णस्तेयनिष्कृतिम् ॥ ९८ ॥

(महर्षियोंसे भृगुजी कहते हैं कि—) यह (११।९०–९७) सुरा पीनेकी शुद्धि (मैंने) कही, अब इसके आगे (११।९९–१०१) सोना चुरानेकी शुद्धि (प्रायश्चित्त) को मैं कहूँगा ॥ ९८ ॥

इदं सुरापानजनितपापस्य नानाप्रकारं प्रायश्चित्तमभिहितम् । अतः परं ब्राह्मणसुवर्णहरणपापस्य निष्कृतिं वक्ष्यामि ॥ ९८ ॥

सुवर्णस्तेयकृद्विप्रो राजानमभिगम्य तु ।
स्वकर्म ख्यापयन्ब्रूयान्मां भवाननुशास्त्विति ॥ ९९ ॥

(ब्राह्मणका) सुवर्ण चुरानेवाला ब्राह्मण अपने अपराधको कहता हुआ राजाके पास जाकर कहे कि—'आप मुझे दण्डित करें' ॥ ९९ ॥

'अपहृत्य सुवर्णं तु ब्राह्मणस्य यतः स्वयम् ।'

इति शातातपस्मरणाद् ब्राह्मणसुवर्णचौरो ब्राह्मणो राजानं गत्वा ब्राह्मणसुवर्णापहारं स्वीयं कर्म कथयन्मम निग्रहं करोत्विति ब्रूयात् । ब्राह्मणग्रहणं मनुष्यमात्रप्रदर्शनार्थम् । 'प्रायश्चित्तीयते नरः' (म. स्मृ. ११-४४) इति प्रकृतत्वात्क्षत्रियादीनां प्रायश्चित्तान्तरानभिधानात् ॥ ९९ ॥

गृहीत्वा मुसलं राजा सकृद्धन्यात्तु तं स्वयम्।
वधेन शुध्यति स्तेनो ब्राह्मणस्तपसैव तु॥ १००॥

तब राजाको चाहिये कि (पूर्व (८।३१५) वचनके अनुसार उक्त चोर जिस मुसलको कन्धेपर रखकर लाया है, उसी) मुसलको लेकर उससे चोरको स्वयं मारे, उसे मरने (या मारनेके कारण मृततुल्य होने) से (वह चोर) शुद्ध (पापहीन) हो जाता है और ब्राह्मण आगे (११।१०१) कही हुई तपस्यासे शुद्ध हो जाता है॥ १००॥

"स्कन्धेनादाय मुसलम्" (म; स्मृ. ८-३१५) इत्यादेरुक्तत्वात्तेनार्पितं मुसलादिकं गृहीत्वा स्तेयकारिणं मनुष्यमेकवारं राजा स्वयं हन्यात्। स च स्तेनो वधेन मुसलाभिघातेन 'हतो मुक्तोऽपि वा शुचिः'(या. स्मृ. ३२-२५७) इति याज्ञवल्क्यस्मरणान्मृतो वा मृतकल्पो वा जीवंस्तस्मात्पापान्मुच्यते। ब्राह्मणः पुनस्तपसैव वेत्येवकारदर्शनात्। तथा च—

'न जातु ब्राह्मणं हन्यात्सर्वपापेष्ववस्थितम्। (म. स्मृ. ८-३८०)'

इति तपसैव शुध्यति। अत एव मन्वर्थव्याख्यानपरे भविष्यपुराणे—

'यदेतद्वचनं वीर ब्राह्मणस्तपसैव वा।
तत्रैव कारणाद्विद्वन् ब्राह्मणस्य सुराधिप॥
तपसैवेत्यनेनेह प्रतिषेधो वधस्य तु।'

वाशब्दश्च क्षत्रियादीनामपि तपोविकल्पार्थः। ब्राह्मणस्य तु तप एवेति नियमो नतु ब्राह्मणस्यैव तपः। अत एव भविष्यपुराणे—

'इतरेषामपि विभो तपो न प्रतिषिध्यते।' इति॥ १००॥

तदेव तप आह—

तपसापनुनुत्सुस्तु सुवर्णस्तेयजं मलम्।
चीरवासा द्विजोऽरण्ये चरेद् ब्रह्महणो व्रतम्॥ १०१॥

(ब्राह्मणके) सुवर्णको चुरानेसे उत्पन्न दोषको दूर करनेका इच्छुक द्विज (ब्राह्मण आदि तीनों वर्ण) पुराने वस्त्रको धारण करता हुआ वनमें जाकर ब्रह्महत्याके लिए कहे गये (११।७२) प्रायश्चित्तको करे॥ १०१॥

तपसा स्वर्णस्तेयोत्पन्नं पापं द्विजो निर्हर्तुमिच्छुश्चरण्यग्रहणात्प्राथम्याच्च ब्रह्महणि यद् व्रतमुक्तं तत्कुर्यात्। एतच्च द्वादशवार्षिकं क्लेशगौरवात्क्षत्रियादीनां मरणेन विकल्पितत्वाच्च ब्राह्मणसम्बन्धिनः सुवर्णापहरणे—

'पञ्चकृष्णलको माषस्ते सुवर्णस्तु षोडश (म. स्मृ. ८-१३४)'

इति सुवर्णपरिमाणं द्रष्टव्यं न ततो न्यूनस्य। परिमाणापेक्षायां मनूक्तपरिमाणस्य ग्रहीतुं न्याय्यत्वात्। यत्त्वधिकपरिमाणं भविष्यपुराणे श्रूयते तत्तथानुबन्धविशिष्टापहारे तथाविधप्रायश्चित्तविषयमेव। तथा भविष्यपुराणे—

'क्षत्रियाद्यास्त्रयो वर्णा निर्गुणा ह्यघतत्पराः।
गुणाढ्यस्य तु विप्रस्य पञ्च निष्कान्हरन्ति चेत्॥
निष्कानेकादश तथा दग्ध्वाऽऽत्मानं तु पावके।
शुद्ध्येयुर्मरणाद्वीर चरेद् ब्रह्मात्मशुद्धये॥ १०१॥'

एतैर्व्रतैरपोहेत पापं स्तेयकृतं द्विजः।
गुरुस्त्रीगमनीयं तु व्रतैरेभिरपानुदेत्॥ १०२॥

(भृगुजी महर्षियोंसे कहते हैं कि—) द्विज इन (११।९९-१०१) व्रतोंसे (ब्राह्मणके) सुवर्णको चुरानेसे उत्पन्न पापको दूर करे और गुरु-स्त्रीसम्भोगसे उत्पन्न पापको इन (११।१०३-१०६) व्रतों से दूर करे ॥ १०२ ॥

ब्राह्मणसुवर्णस्तेयजनितपापमेभिर्व्रतैर्द्विजो निर्हरेत् । व्रततपसोर्द्वयोरुक्तत्वादेतैरिति बहुवचनं सम्बन्धापेक्षया मनूक्तमपि प्रायश्चित्तं कल्पनीयमिति ज्ञापनार्थम् । गुरुस्त्रीगमन-निमित्तं पुनः पापमेभिर्वक्ष्यमाणैः प्रायश्चित्तैर्निर्हरेत् ॥ १०२ ॥

गुरुतल्प्यभिभाष्यैनस्तप्ते स्वप्यादयोमये ।
सूर्मीं ज्वलन्तीं स्वाश्लिष्येन्मृत्युना स विशुद्ध्यति ॥ १०३ ॥

गुरु (२।१४२) की स्त्रीके साथ सम्भोग करनेवाला मनुष्य अपना पाप कहकर तपाये गये लोहेकी शय्यापर सोवे तथा जलती हुई लोहमयी स्त्री-प्रतिमाको आलिङ्गन कर मरनेसे वह पापी शुद्ध (पापहीन) होता है ॥ १०३ ॥

'निषेकादीनि कर्माणि' (म. स्मृ. २-१४२) इत्युक्तत्वाद् गुरुः पिता, तल्पं भार्या, गुरुतल्पं गुरुभार्या तद्गामी गुरुभार्यागमनपापं विख्याप्य लोहमये तप्तशयने स्वप्यात् । लोह-मयीं स्त्रीप्रतिकृतिं कृत्वा ज्वलन्तीमालिङ्ग्य मृत्युना स विशुद्धो भवति ॥ १०३ ॥

स्वयं वा शिश्नवृषणावुत्कृत्याधाय चाञ्जलौ ।
नैर्ऋतीं दिशमातिष्ठेदानिपातादजिह्मगः ॥ १०४ ॥

अथवा अपने लिङ्ग तथा अण्डकोषको स्वयं काटकर उन्हें अञ्जलिमें लेकर सीधा होकर (कुटिल भावनाका त्यागकर) जबतक गिरे अर्थात् मरे नहीं तबतक नैर्ऋत्य दिशाकी ओर चले ॥ १०४ ॥

आत्मनैव वा लिङ्गवृषणौ छित्त्वाऽञ्जलौ कृत्वा यावच्छरीरपातमवक्रगतिः सन्दक्षिण-पश्चिमां दिशं गच्छेत् । एवं चोक्तप्रायश्चित्तद्वयं गुरुत्वात्सवर्णगुरुभार्याविषयं ज्ञानतो रेतो-विसर्गपर्यन्तमैथुनविषयम् ॥ १०४ ॥

खट्वाङ्गी चीरवासा वा श्मश्रुलो विजने वने ।
प्राजापत्यं चरेत्कृच्छ्रमब्दमेकं समाहितः ॥ १०५ ॥

अथवा खट्वाङ्ग धारण करता हुआ पुराना वस्त्र पहने एवं केश तथा नख बढ़ाये हुए उस (गुरुपत्नी-सम्भोगकर्ता) को निर्जन वनमें सावधान होकर एक वर्षतक प्राजापत्य नामक (११।२११) कृच्छ्रव्रत करना चाहिये ॥ १०५ ॥

खट्वाङ्गभृद्वस्त्रखण्डाच्छन्नोऽच्छिन्नकेशनखलोमश्मश्रुधारी संयतमना निर्जने वने वर्षमेकं प्राजापत्यव्रतं चरेत् । एवं च वक्ष्यमाणप्रायश्चित्तलघुत्वात्स्वभार्यादिभ्रमेणाज्ञानविषयं बो-द्धव्यम् ॥ १०५ ॥

चान्द्रायणं वा त्रीन्मासानभ्यस्येन्नियतेन्द्रियः ।
हविष्येण यवाग्वा वा गुरुतल्पापनुत्तये ॥ १०६ ॥

अथवा—गुरुपत्नी-सम्भोगजन्य पापकी निवृत्तिके लिए जितेन्द्रिय होकर हविष्यान्नसे नीवार आदिकी यवागू (लपसी) से तीन मासतक चान्द्रायण व्रत (१०।२१६-२२०) करे ॥ १०६ ॥

यद्वा गुरुभार्यागमनपापनिर्हरणाय संयतेन्द्रियः फलमूलादिना हविष्येण नीवारादि-कृतयवाग्वा वा त्रीन्मासांश्चान्द्रायणान्याचरेत् । एतच्च पूर्वोक्तादपि लघुत्वादसाध्वीम-सवर्णां वा गुरुभार्यां गच्छतो द्रष्टव्यम् ॥ १०६ ॥

एतैर्व्रतैरपोहेयुर्महापातकिनो मलम् ।
उपपातकिनस्त्वेवमेभिर्नानाविधैर्व्रतैः ॥ १०७ ॥

(भृगुजी महर्षियोंसे कहते हैं) कि इन (११।१०८–११९) से महापातकी (११।५४) लोग अपने पापोंको नष्ट करें तथा उपपातकी लोग इन (११।५९–६६) अनेक प्रकारके व्रतोंसे अपने पापको दूर करे ॥ १०७ ॥

एभिरुक्तव्रतैर्ब्रह्महत्यादिमहापातककारिणः पापं निर्हरेयुः । गोवधाद्युपपातककारिणः पुनर्वक्ष्यमाणप्रकारेणानेकरूपव्रतैः पापानि निर्हरेयुः ॥ १०७ ॥

उपपातकसंयुक्तो गोघ्नो मासं यवान्पिवेत् ।
कृतवापो वसेद्गोष्ठे चर्मणा तेन संवृतः ॥ १०८ ॥
चतुर्थकालमश्नीयादक्षारलवणं मितम् ।
गोमूत्रेणाचरेत्स्नानं द्वौ मासौ नियतेन्द्रियः ॥ १०९ ॥
दिवानुगच्छेद् गास्तास्तु तिष्ठन्नूर्ध्वं रजः पिवेत् ।
शुश्रूषित्वा नमस्कृत्य रात्रौ वीरासनं वसेत् ॥ ११० ॥
तिष्ठन्तीष्वनुतिष्ठेत्तु व्रजन्तीष्वप्यनुव्रजेत् ।
आसीनासु तथाऽऽसीनो नियतो वीतमत्सरः ॥ १११ ॥
आतुरामभिशस्तां वा चौरव्याघ्रादिभिर्भयैः ।
पतितां पङ्कलग्नां वा सर्वोपायैर्विमोचयेत् ॥ ११२ ॥
उष्णे वर्षति शीते वा मारुते वाति वा भृशम् ।
न कुर्वीतात्मनस्त्राणं गोरकृत्वा तु शक्तितः ॥ ११३ ॥
आत्मनो यदि वान्येषां गृहे क्षेत्रेऽथवा खले ।
भक्षयन्तीं न कथयेत्पिबन्तं चैव वत्सकम् ॥ ११४ ॥
अनेन विधिना यस्तु गोघ्नो गामनुगच्छति ।
स गोहत्याकृतं पापं त्रिभिर्मासैर्व्यपोहति ॥ ११५ ॥

उपपातकसे युक्त गोधातक शिखासहित मुण्डन कराकर उस (मारी हुई) गायके चमड़ेसे शरीरको ढककर एक मास (पतले) यवको पीता हुआ गोशाला में निवास करे ॥

इसके बाद दो मासतक (द्वितीय तथा तृतीय मासमें) गोमूत्रसे स्नान करता हुआ जितेन्द्रिय होकर चौथे काल (आज प्रातःकाल भोजन कर फिर दूसरे दिन सायङ्काल–इसी क्रमसे सर्वदा) कृत्रिम नमकसे रहित (सेंधा नमक खाया जा सकता है) थोड़ा हविष्यान्न भोजन करे ॥

दिनमें प्रातःकाल (चरनेके लिए वन आदिको जाती हुई) गायोंके पीछे-पीछे जाय और रुककर उनके खुरोंके आघातसे उड़ती हुई धूलिका पान करे तथा (मच्छर हांकने आदिसे) उनकी सेवा तथा नमस्कार करके रात्रिमें (उनकी रक्षार्थ) वीरासनसे बैठे ॥

पवित्र तथा क्रोधरहित होकर उन गायोंके खड़ा होनेपर खड़ा होवे, चलनेपर चले तथा बैठनेपर बैठे ॥

रोग या चोर अथवा व्याघ्रादि हिंसक जन्तुओंसे भयभीत या गिरी हुई या कीचड़ आदिमें फंसी हुई गौको सब उपायोंसे रक्षा करे ॥

गर्मी, वर्षा या शीत रहनेपर या आंधी चलनेपर यथाशक्ति गौकी बिना रक्षा किये अपनी रक्षा न करे ॥

अपने या दूसरे घर, खेत या खलिहानमें खाती हुई गायको तथा पीते हुए बछवेको (किसीसे रोकनेके लिए) न कहे ॥

इस विधि (११।१०८-११४) से जो गोघातक तीन मासतक गौका अनुसरण (सेवन) करता है, वह गोहत्यासे उत्पन्न पापको नष्ट कर देता है ॥ १०८-११५ ॥

'अनेन विधिना यस्तु' इति यावत्कुलकम्। उपपातकयुक्तो गोघाती शिथिलयवागूरूपेण प्रथममासं यवान्पिबेत्। सशिखं मुण्डितशिरा लूनश्मश्रुस्तेन हतगोचर्मणाऽऽच्छादितदेहो मासत्रयमेव गोष्ठे वसेत्। गोमूत्रेणाचरेत्स्नानं संयतेन्द्रियः कृत्रिमलवणवर्जितं हविष्यमन्नमेकाहं भुक्त्वा द्वितीयेऽह्नि सायं द्वितीयतृतीयमासावश्नीयात्। मासत्रयमेव दिवा प्रातस्ता गा अनुगच्छेत्। तासां च गवां खुरप्रहारादूर्ध्वमुत्थितं रजस्तिष्ठन्नास्वादयेत्। कण्डूयनादिना ताः परिचर्य प्रणम्य च रात्रौ भित्त्यादिकमनुवेष्ट्योपविष्ट आसीत्। तथा शुचिर्विगतक्रोध उत्थितासु गोषु पश्चादुत्तिष्ठेत्। वने च परिभ्रमन्तीषु पश्चात्ततः परिभ्रमेत्। उपविष्टासु गोषूपविशेत्। व्याधितां चौरव्याघ्रादिभयहेतुभिराक्रान्तां पतितां कर्दमलग्नां वा यथाशक्ति मोचयेत्। तथा उष्ण आदित्ये तपति मेघे च वर्षति शीते चोपस्थिते मारुते चात्यर्थं वाति गोर्यथाशक्ति रक्षामकृत्वाऽऽत्मनस्त्राणं न कुर्यात्। तथाऽऽत्मनोऽन्येषां वा गेहे क्षेत्रे खलेषु सस्यादि भक्षणं कुर्वन्तीं वत्सं च क्षीरं पिबन्तं न कथयेत्। अनेनोक्तविधानेन यो गोघ्नो गाः परिचरति स गोवधजनितपापं त्रिभिर्मासैरपनुदति ॥ १०८—११५ ॥

वृषभैकादशा गाश्च दद्यात्सुचरितव्रतः।
अविद्यमाने सर्वस्वं वेदविद्भ्यो निवेदयेत् ॥ ११६ ॥

इस प्रकार (११।१०८-११४) व्रतको समाप्तकर दश गाय तथा एक बैल ब्राह्मणके लिए दान कर देवे तथा इनकी सम्पत्ति नहीं होनेपर अपना सर्वस्व (सर्व धन) वेदज्ञाता ब्राह्मणके लिए दान कर दे ॥ ११६ ॥

वृषभ एकादशो यासां ताः सम्यगनुष्ठितप्रायश्चित्तो दद्यात्। अविद्यमाने तावति धने सर्वस्वं वेदज्ञेभ्यो ब्राह्मणेभ्यो दद्यात् ॥ ११६ ॥

एतदेव व्रतं कुर्युरुपपातकिनो द्विजाः।
अवकीर्णिवर्ज्यं शुद्ध्यर्थं चान्द्रायणमथापि वा ॥ ११७ ॥

अवकीर्णी (११।१२०) छोड़कर शेष उपपातक (११।५९-६६) करनेवाला मनुष्य गोहत्यानिवारक इसी (११।१०८-११५) व्रतको करे अथवा चान्द्रायण व्रत (११।२१६-२१९) को करे ॥ ११७ ॥

अपरे तूपपातकिनो वक्ष्यमाणावकीर्णिवर्जिताः पापनिर्हरणार्थमेतदेव गोवधप्रायश्चित्तं चान्द्रायणं वा लघुत्वात्कुर्युः। चान्द्रायणं तु लघुन्युपपातके जातिशक्तिगुणाद्यपेक्षय वा योजनीयम् ॥ ११७ ॥

अवकीर्णी तु काणेन गर्दभेन चतुष्पथे।
पाकयज्ञविधानेन यजेत निर्ऋतिं निशि ॥ ११८ ॥

'अवकीर्णी' (११।१२०) पुरुष रातमें काने गधे (की चर्बी) से चौरास्तेपर पाकयज्ञकी विधिसे 'निर्ऋति' नामक देवताके उद्देश्यसे यज्ञ करे ॥ ११८ ॥

अवकीर्णी वच्यमाणः काणेन गर्दभेन रात्रौ चतुष्पथे पाकयज्ञेन तन्त्रेण निर्ऋत्याख्यां देवतां यजेत ॥ ११८ ॥

हुत्वाऽग्नौ विधिवद्धोमानन्ततश्चसमेत्यृचा ।
वातेन्द्रगुरुवह्नीनां जुहुयात्सर्पिषाऽऽहुतीः ॥ ११९ ॥

(पूर्व (११।११८) वचनके अनुसार काने गधेकी चर्बीसे) विधिपूर्वक 'निर्ऋति' नामक देवताके उद्देश्यसे हवनकर 'संमासिञ्चन्तु मरुतः····' इस मन्त्रसे वायु, इन्द्र, गुरु तथा अग्निके उद्देश्यसे घीकी आहुति देकर हवन करे ॥ ११९ ॥

ततो निर्ऋत्यै गर्दभवपादिहोमान् यथावच्चतुष्पथे कृत्वा तदन्ते 'सम्मासिञ्चन्तु मरुतः' इत्येतया ऋचा मारुतेन्द्रबृहस्पत्यग्नीनां घृतेनाऽऽहुतीर्जुहुयात् ॥ ११९ ॥

अप्रसिद्धत्वादवकीर्णवतो लक्षणमाह –

कामतो रेतसः सेकं व्रतस्थस्य द्विजन्मनः ।
अतिक्रमं व्रतस्याहुर्धर्मज्ञा ब्रह्मवादिनः ॥ १२० ॥

ब्रह्मचर्यावस्थामें रहनेवाला जो द्विज इच्छापूर्वक (स्त्रीके साथ सम्भोग करता हुआ) वीर्यपात-कर (ब्रह्मचर्य) व्रतका भङ्ग करता है, उसे 'अवकीर्णी' कहते हैं ॥ १२० ॥

इच्छातो द्विजः

'अवकीर्णी भवेद् गत्वा ब्रह्मचारी च योषितम् ।'

इति वचनात्स्त्रीयोनौ शुक्रोत्सर्गं ब्रह्मचर्यस्यातिक्रममवकीर्णरूपं सर्वज्ञा वेदविदः प्राहुः ॥ १२० ॥

मारुतं पुरुहूतं च गुरुं पावकमेव च ।
चतुरो व्रतिनोऽभ्येति ब्राह्मं तेजोऽवकीर्णिनः ॥ १२१ ॥

व्रती (ब्रह्मचर्य व्रतवाले) का नियमानुष्ठान तथा वेदाध्ययन आदिसे उत्पन्न तेज वायु, इन्द्र, गुरु तथा अग्नि; इन चारोंके पास जाता है (अत एव इन चारोंके उद्देश्यसे 'अवकीर्णी' को आहुति देनेका पूर्व (११।११९) वचनसे विधान किया गया है) ॥ १२१ ॥

व्रतचारिणो वेदाध्ययननियमानुष्ठानजं तेजः तदवकीर्णिनः सतो मरुदिन्द्रबृहस्पतिपावकांश्चतुरः संक्रामत्यतस्तेभ्य आज्याहुतीर्जुहुयादित्याज्याहुतेरयमनुवादः ॥ १२१ ॥

एतस्मिन्नेनसि प्राप्ते वसित्वा गर्दभाजिनम् ।
सप्तागारांश्चरेद्भैक्षं स्वकर्म परिकीर्तयन् ॥ १२२ ॥

इस (११।१२०) पापके करनेपर (पूर्वोक्त ११।११८–११९) विधिसे याग तथा हवन करके वह क्षतव्रत ब्रह्मचारी) गधेका चमड़ा ओढ़कर अपने पापको कहता हुआ सात घरोंमें भिक्षा मांगे ॥ १२२ ॥

एतस्मिन्नवकीर्णाख्ये पापं उत्पन्ने पूर्वोक्तं गर्दभयगादि कृत्वा 'गर्दभचर्म परिधाय' इति हारीतस्मरणात्स गर्दभसम्बन्धिचर्मप्रावृतोऽवकीर्ण्यहमिति स्वकर्मख्यापनं कुर्वन्सप्त गृहाणि भैक्षं चरेत् ॥ १२२ ॥

तेभ्यो लब्धेन भैक्षेण वर्तयन्नेककालिकम् ।
उपस्पृशंस्त्रिषवणं त्वब्देन स विशुद्ध्यति ॥ १२३ ॥

उन सात घरोंसे मिले हुए भिक्षान्नको एक साम खाता हुआ तथा त्रिकाल (प्रातः, मध्याह्न तथा सायंकाल) स्नान करता हुआ वह 'अवकीर्णी' एक वर्षमें शुद्ध (पापरहित) हो जाता है ॥१२३॥

तेभ्यः सप्तगृहेभ्यो लब्धेन भैक्षेणैककालमाहारं कुर्वन्सायम्प्रातर्मध्यन्दिनेषु च स्नानमाचरन्सोऽवकीर्णी सम्वत्सरेणैव विशुध्यति ॥ १२३ ॥

जातिभ्रंशकरं कर्म कृत्वान्यतममिच्छया ।
चरेत्सान्तपनं कृच्छ्रं प्राजापत्यमनिच्छया ॥ १२४ ॥

जातिभ्रंशकर कर्मों (११।६७) में-से किसी एकको ज्ञानपूर्वक करनेवाला मनुष्य सान्तपन कृच्छ्र (११।२१२) तथा अज्ञानपूर्वक करनेवाला प्राजापत्य (११।२११) व्रतको करे ॥ १२४ ॥

'ब्राह्मणस्य रुजः कृत्वा' (म. स्मृ. ११—६७) इत्यादि जातिभ्रंशकर्मोक्तं तन्मध्यादन्यतमं कर्मविशेषमिच्छातः कृत्वा वक्ष्यमाणं सान्तपनं सप्ताहसाध्यं कुर्यात्। अनिच्छातः पुनः कृत्वा प्राजापत्यं वक्ष्यमाणं चरेत् ॥ १२४ ॥

सङ्करापात्रकृत्यासु मासं शोधनमैन्दवम् ।
मलिनीकरणीयेषु तप्तः स्याद्यावकैस्त्र्यहम् ॥ १२५ ॥

(ज्ञानपूर्वक) सङ्करीकरण (११।६८) तथा अपात्रीकरण (११।६९) कर्मोंमेंसे किसी एक कर्मको करनेवाला एक मासतक चान्द्रायण (११।२१६–२२०) व्रत करे और अपात्रीकरण (११।६९) कर्मोंमेंसे किसी एक कर्मको करनेवाला तीन दिनतक गर्म यवागू (लपसी) खावे ॥ १२५ ॥

'खराश्वोष्ट्र' (म. स्मृ. ११—६८) इत्यादिना सङ्कीरणान्युक्तानि । 'निन्दितेभ्यो धनादानम्' (म. स्मृ. ११—६९) इत्यादिना चापात्रीकरणान्युक्तानि । तेषां मध्यादन्यतममिच्छातः कृत्वा चान्द्रायणं मासं शुद्धये कुर्यात । 'कृमिकीटवयोहत्या' (म. स्मृ. ११—७०) इत्यादिना मलिनीकरणान्युक्तानि । तन्मध्यादेकमिच्छातः कृत्वा त्रिरात्रं यवागूं क्वथितामश्नीयात ॥ १२५ ॥

तुरीयो ब्रह्महत्यायाः क्षत्रियस्य वधे स्मृतः ।
वैश्येऽष्टमांशो वृत्तस्थे शूद्रे ज्ञेयस्तु षोडशः ॥ १२६ ॥

ब्रह्महत्याका चौथाई भाग क्षत्रियके वध करनेपर, आठवा भाग सदाचारी वैश्यका वध करनेपर और सोलहवां भाग शूद्रके वध करनेपर पाप होता है ॥ १२६ ॥

ब्रह्महत्यातुरीयो भागः त्रैवार्षिकरूपः, द्वादशवार्षिकस्य चतुर्थो भागः । एतच्च प्रायश्चित्तं 'स्त्रीशूद्रविट्क्षत्रवधः' (म. स्मृ. ११—६६) इत्युपपातकत्वेनोपदिष्टं त्रैमासिकापेक्षया गुरुत्वाद् वृत्तस्थक्षत्रियस्य कामतो वधे द्रष्टव्यम् । वैश्ये साध्वाचारे कामतो हतेऽष्टमो भागः सार्धवार्षिकं व्रतम् । शूद्रे वृत्तस्थे कामतो हते नवमासिकं द्रष्टव्यम् ॥ १२६ ॥

अकामतस्तु राजन्यं विनिपात्य द्विजोत्तमः ।
वृषभैकसहस्रा गा दद्यात्सुचरितव्रतः ॥ १२७ ॥

अनिच्छापूर्वक क्षत्रियका वध करनेवाला ब्राह्मण अच्छी तरह व्रतकर एक बैलके साथ सहस्र गायोंको ब्राह्मणके लिए देवे ॥ १२७ ॥

अबुद्धिपूर्वकं पुनः क्षत्रियं निहत्य वृषभेणैकेनाधिकं सहस्रं यासां गवां ता आत्मशुद्ध्यर्थं ब्राह्मणेभ्यो दद्यात् ॥ १२७ ॥

त्र्यब्दं चरेद्वा नियतो जटी ब्रह्महणो व्रतम् ।
वसन् दूरतरे ग्रामाद् वृक्षमूलनिकेतनः ॥ १२८ ॥

अथवा संयमी तथा जटाधारी होकर ग्रामसे अधिक दूर पेड़के नीचे निवास करता हुआ तीन वर्ष तक ब्रह्महत्याके प्रायश्चित्तको करे ॥ १२८ ॥

यद्वा संयतो जटावान्ग्रामाद्विप्रकृष्टवृक्षमूले कृतनिवासो ब्रह्महणि यदुक्तम् 'ब्रह्महा द्वादशसमाः' (म. स्मृ. ११—७२) इत्यादि तद्वर्षत्रयं कुर्यात् । ननु 'तुरीयो ब्रह्महत्यायाः' (म. स्मृ. ११—१२७) इत्यनेन पुनरुक्तिर्वाच्या,

'जटी दूरतरे ग्रामाद् वृक्षमूलनिकेतनः ।'

इति वचनाद्व्यतिरिक्तशवशिरोध्वजधारणादि सकलधर्मनिवृत्त्यर्थत्वादस्य ग्रन्थस्य । अकामाधिकाराच्चेदकामतः । अत एवाङ्गलाघवाद्युचितम् ॥ १२८ ॥

एतदेव चरेदब्दं प्रायश्चित्तं द्विजोत्तमः ।
प्रमाप्य वैश्यं वृत्तस्थं दद्याच्चैकशतं गवाम् ॥ १२९ ॥

(अनिच्छापूर्वक) सदाचारी वैश्यका वध करनेवाला ब्राह्मण इसी (११।१२८) प्रायश्चित्तको करे तथा एक बैलके साथ सौ गायोंको (ब्राह्मणके लिए) दे ॥ १२९ ॥

एतदेव द्वादशवार्षिकव्रतमकामतः साध्वाचारं वैश्यं निहत्य वर्षमेकं ब्राह्मणादिः कुर्यादेकाधिकं वा गोशतं दद्यात् ॥ १२९ ॥

एतदेव व्रतं कृत्स्नं षण्मासान् शूद्रहा चरेत् ।
वृषभैकादशा वापि दद्याद्विप्राय गाः सिताः ॥ १३० ॥

(अनिच्छापूर्वक सदाचारी) शूद्रका वध करनेवाला ब्राह्मण छः मासतक इसी (११।१२८) व्रतको करे तथा एक बैल के साथ सौ गायोंको ब्राह्मणके लिए दे ॥ १३० ॥

एतदप्यकामत इदमेव व्रतं शूद्रहा षण्मासं चरेत् । वृषभ एकादशो यासां गवां ताः शुक्लवर्णा ब्राह्मणाय दद्यात् ॥ १३० ॥

मार्जारनकुलौ हत्वा चाषं मण्डूकमेव च ।
श्वगोधोलूककाकांश्च शूद्रहत्याव्रतं चरेत् ॥ १३१ ॥

बिल्ली, नेवला, चाष (नीलकण्ठ) पक्षी, मेढ़क, कुत्ता, गोह, उल्लू और कौवा; इनमेंसे किसीको मारकर शूद्रहत्याके व्रत (प्रायश्चित्त) को करे ॥ १३१ ॥

बिडालनकुलचापभेककुक्कुरगोधापेचककाकानामेकैकं हत्वा शूद्रहत्याव्रतं 'स्त्रीशूद्रवध' इत्युपपातकप्रायश्चित्तं गोवधव्रतं चान्द्रायणं चरेत्, न तु 'शूद्रे ज्ञेयस्तु षोडशः' (म. स्मृ. ११—१२६) इत्यादि प्रायश्चित्तम्, पापस्य लघुत्वात् । चान्द्रायणमप्येतत्कामतोऽभ्यासादिविषये द्रष्टव्यम् ॥ १३१ ॥

पयः पिबेत्त्रिरात्रं वा योजनं वाऽध्वनो व्रजेत् ।
उपस्पृशेत्स्रवन्त्यां वा सूक्तं वाऽब्दैवतं जपेत् ॥ १३२ ॥

अथवा (उक्त ११।१३१) मार्जार आदिको मारनेवाला तीन रात दूध पीवे, या एक योजन (चार कोश) गमन करे, या नदीमें स्नान करे अथवा 'अब्दैवत' सूक्त (वरुण है देवता जिसका ऐसा 'आपो हिष्ठा मयो भुवः………' इस मन्त्र) को जपे ॥ १३२ ॥

अबुद्धिपूर्वकं मार्जारादीनां वधे त्रिरात्रं क्षीरं पिबेत्। अथ मन्दानलत्वादिना न समर्थस्त्रिरात्रं प्रति योजनमध्वनो व्रजेत्। अत्राशक्तस्त्रिरात्रं नद्यां स्नायात्। तत्राप्यक्षमस्त्रिरात्रम् 'आपो हि ष्ठा' इत्यादिसूक्तं जपेत्। यथोत्तरं लघुत्वात्पूर्वपूर्वासम्भवे उत्तरोत्तरपरिग्रहो न तु वैकल्पिकः ॥ १३२ ॥

अभ्रिं कार्ष्णायसीं दद्यात्सर्पं हत्वा द्विजोत्तमः।
पलालभारकं षण्ढे सैसकं चैकमाषकम् ॥ १३३ ॥

द्विजश्रेष्ठ सांपको मारकर काले लोहेका बना तीक्ष्णाग्र डण्डा तथा नपुंसकको मारकर एक भार (१ गाड़ी—२० मन) पुआल और एक मासा सीसा ब्राह्मणके लिए दान करे ॥ १३३ ॥

सर्पं हत्वा ब्राह्मणाय तीक्ष्णाग्रं लोहदण्डं दद्यात्। नपुंसकं हत्वा पलालभारं सीसकं च माषकं ब्राह्मणाय दद्यात् ॥ १३३ ॥

घृतकुम्भं वराहे तु तिलद्रोणं तु तित्तिरौ।
शुके द्विहायनं वत्सं क्रौञ्चं हत्वा त्रिहायनम् ॥ १३४ ॥

सूअरका वध करनेपर घीसे भरा घड़ा, तीतरके वध करनेपर एक द्रोण (१६ सेर) तिल, तोतेका वध करनेपर दो वर्षका बछवा और क्रौञ्च पक्षीका वध करनेपर तीन वर्षका बछवा दान करे ॥ १३४ ॥

सूकरे हते घृतपूर्णं घटं ब्राह्मणाय दद्यात्। तित्तिरिसंज्ञिनि पक्षिणि हते चतुराढकपरिमाणं तिलं दद्यात्। शुके हते द्विवर्षं वत्सम्। क्रौञ्चाख्यं पक्षिणं हत्वा त्रिवर्षं वत्सं ब्राह्मणाय दद्यात् ॥ १३४ ॥

हत्वा हंसं बलाकां च बकं बर्हिणमेव च।
वानरं श्येनभासौ च स्पर्शयेद् ब्राह्मणाय गाम् ॥ १३५ ॥

हंस, बलाका, बगुला, मोर, वानर, बाज़ और भासको मारकर तीन वर्षका बछवा दान करे ॥ १३५ ॥

हंसबलाहकाबकमयूरवानरश्येनभासाख्यपक्षिणामन्यतमं हत्वा ब्राह्मणाय गां दद्यात् ॥

वासो दद्याद्धयं हत्वा पञ्च नीलान्वृषान्गजम्।
अजमेषावनड्वाहं खरं हत्वैकहायनम् ॥ १३६ ॥

घोड़ेका वधकर कपड़ा, हाथीका वधकर पांच नीले बैल, अज (खसी) तथा भेंड़का वधकर बैल और गधेका वधकर एक वर्षका बछवा दान करे ॥ १३६ ॥

अश्वं हत्वा वस्त्रं दद्यात्। हस्तिनं हत्वा पञ्च नीलान्वृषभान्दद्यात्। प्रत्येकं छागमेषौ हत्वा वृषभं दद्यात्। गर्दभं हत्वैकवर्षं वत्सं दद्यात् ॥ १३६ ॥

क्रव्यादांस्तु मृगान्हत्वा धेनुं दद्यात्पयस्विनीम्।
अक्रव्यादान्वत्सतरीमुष्ट्रं हत्वा तु कृष्णलम् ॥ १३७ ॥

क्रव्याद (कच्चे मांस खानेवाले बाघ आदि) पशुका वधकर दुधार गाय, अक्रव्याद (मांस नहीं खानेवाले मृग आदि) पशुका वधकर प्रौढ़तर बछिया तथा ऊँटका वधकर एक कृष्णल (रत्ती-८।१३४) सोना दान करे ॥ १३७ ॥

आममांसभक्षिणो मृगान्व्याघ्रादीन् हत्वा बहुक्षीरां धेनुं दद्यात्। आममांसाभक्षकान् हरिणादीन् हत्वा प्रौढवत्सिकां दद्यात्। उष्ट्रं हत्वा सुवर्णकृष्णकं रक्तिकां दद्यात् ॥ १३७ ॥

जीनकार्मुकबस्तावीन्पृथग्दद्याद्विशुद्धये ।
चतुर्णामपि वर्णानां नारीर्हत्वाऽनवस्थिताः ॥ १३८ ॥
[वर्णानामानुपूर्व्येण त्रयाणामविशेषतः ।
अमत्या च प्रमाप्य स्त्रीं शूद्रहत्याव्रतं चरेत् ॥ ८ ॥]

लोभसे ऊँच-नीच पुरुषके साथ व्यभिचार करनेवाली ब्राह्मणादि चारों वर्णोंकी स्त्रियोंका वध करनेपर क्रमशः चर्मपुट (चमड़ेका कुप्पा), धनुष, बकरा और भेंड़ दान करे ॥ १३८ ॥

[क्रमशः तीनों वर्णोंमें-से किसी स्त्रीका भूलसे वधकर शूद्रहत्याका व्रत (प्रायश्चित्त ११।१३०) करे ॥ ८ ॥]

ब्राह्मणादिवर्णस्त्रियो लोभादुत्कृष्टापकृष्टपुरुषव्यभिचारिणीर्हत्वा ब्राह्मणादिक्रमेण चर्मपुटधनुश्छागमेषान् शुद्ध्यर्थं दद्यात ॥ १३८ ॥

दानेन वधनिर्णेकं सर्पादीनामशक्नुवन् ।
एकैकशश्चरेत्कृच्छ्रं द्विजः पापापनुत्तये ॥ १३९ ॥

साँप आदिके वधका निवारण पूर्वोक्त (११।१३३-१३८) दानोंको करनेमें असमर्थ द्विज एक-एक पापकी निवृत्तिके लिए एक-एक कृच्छ्र (प्राजापत्य) (११।२१२) व्रत करे ॥ १३९ ॥

अभ्रिप्रभृतीनामभावाद् दानेन सर्वपापनिर्हरणं कर्तुमसमर्थो ब्राह्मणादिः प्रत्येकं वधे कृच्छ्रं प्राथम्यात्प्राजापत्यं द्विजः पापनिर्हरणार्थं चरेत् । सर्पादयश्च 'अभ्रिं कार्ष्णीयसीं दद्यात (म. स्मृ. ११—१३३)' इत्येवमारभ्यैतत्पर्यन्ता गृह्यन्ते ॥ १३९ ॥

अस्थिमतां तु सत्त्वानां सहस्रस्य प्रमापणे ।
पूर्णे चानस्यनस्थ्नां तु शूद्रहत्याव्रतं चरेत् ॥ १४० ॥

हड्डीवाले (गिरगिट आदि) एक सहस्र क्षुद्र जीवोंको तथा बिना हड्डीवाले (खटमल, लीख, जूं, मच्छड़, ढील, चीलर आदि) एक गाड़ी क्षुद्र जीवोंको मारकर शूद्रहत्या व्रत (११।१३०) करे ॥ १४० ॥

अनस्थिसाहचर्यादस्थिमतां प्राणिनां कृकलासादीनां सहस्रस्य वधे शूद्रवधप्रायश्चित्तमौपदेशिकं कुर्यात , अस्थिरहितानां च मत्कुणादीनां शकटपरिमितानां वधे तदेव प्रायश्चित्तं कुर्यात ॥ १४० ॥

किञ्चिदेव तु विप्राय दद्यादस्थिमतां वधे ।
अनस्थ्नां चैव हिंसायां प्राणायामेन शुद्ध्यति ॥ १४१ ॥

हड्डीवाले (गिरगिट आदि) क्षुद्रजन्तुओंमें से किसी एकका वध करनेपर ब्राह्मणके लिए कुछ दान करे और बिना हड्डीवाले (खटमल आदि) में से किसी एकका वध करनेपर मनुष्य प्राणायामसे शुद्ध (दोषरहित) हो जाता है ॥ १४१ ॥

अस्थिमतां क्षुद्रजन्तूनां कृकलासादीनां प्रत्येकं वधे किञ्चिदेव दद्यात् । अस्थिमतां वधे 'पणो देयः सुवर्णस्य' इति सुमन्तुस्मरणात्किञ्चिदेवेति पणो बोद्धव्यः । अनस्थिमतां तु यूकामत्कुणादीनां प्रत्येकं वधे प्राणायामेन शुद्धो भवति । प्राणायामश्च—

'सव्याहृतिकां सप्रणवां सावित्रीं शिरसा सह ।
त्रिः पठेदायतप्राणः प्राणायामः स उच्यते ॥'

इति वसिष्ठप्रोक्तलक्षणो ग्राह्यः ॥ १४१ ॥

फलदानां तु वृक्षाणां छेदने जप्यमृक्शतम् ।
गुल्मवल्लीलतानां च पुष्पितानां च वीरुधाम् ॥ १४२ ॥

फल देनेवाले (आम जामुन आदिके) पेड़, गुल्म (गुडूची आदि), वल्ली (पेड़की डालियों पर चढ़ी हुई) लता और फूली हुई (कद्दू-काशीफल आदि) बेलके काटनेपर सावित्र्यादि ऋक्-शतका जप करे ॥ १४२ ॥

फलदानामाम्रादीनां वृक्षाणां, गुल्मानां कुब्जकादीनां, वल्लीनां, गुडूच्यादीनां, लतानां वृक्षशाखासक्तानां, पुष्पितानां च वीरुधां कूष्माण्डादीनां प्रत्येकं छेदने पापप्रमोचनार्थं सावित्र्यादि ऋक्शतं जपनीयम् ।

'इन्धनार्थमशुष्काणां द्रुमाणामवपातनम् । (म. स्मृ. ११-६४)'

इत्यादेरुपपातकमध्ये पठितस्य गुरुप्रायश्चित्ताभिधानात् । इदं फलवद्वृक्षादिच्छेदने लघुप्रायश्चित्तं सकृदबुद्धिपूर्वकविषयं वेदितव्यम् ॥ १४२ ॥

अन्नाद्यजानां सत्त्वानां रसजानां च सर्वशः ।
फलपुष्पोद्भवानां च घृतप्राशो विशोधनम् ॥ १४३ ॥

सब अन्न (गुड आदि) रस, फल तथा फूलोंमें उत्पन्न होनेवाले जीवोंको मारकर पापनिवृत्तिके लिए घी खाना चाहिये ॥ १४३ ॥

अन्नादिषु जातानां, गुडादिरसजातानां चोदुम्बरादिफलसम्भवानां, मधूकादिपुष्पोद्भवानां च सर्वप्राणिनां वधे घृतप्राशनं पापशोधनम् ॥ १४३ ॥

कृष्टजानामोषधीनां जातानां च स्वयं वने ।
वृथालम्भेऽनुगच्छेद्गां दिनमेकं पयोव्रतः ॥ १४४ ॥

खेतीसे उत्पन्न (साठी आदि) तथा वन आदिमें स्वयं उत्पन्न (नीवार आदि) ओषधियों (१।४६) को निष्प्रयोजन नष्ट करने पर केवल दूधका आहार लेकर (पूर्वोक्त (११।१००-११४) विधिसे) एक दिन गौका अनुगमन (सेवन) करे ॥ १४४ ॥

कर्षणपूर्वकजातानामोषधीनां षष्टिकादीनां, वने च स्वयमुत्पन्नानां नीवारादीनां निःप्रयोजनच्छेदने क्षीराहारः एवैकमहो गोरनुगमनं कुर्यात् ॥ १४४ ॥

एतैर्व्रतैरपोह्यं स्यादेनो हिंसासमुद्भवम् ।
ज्ञानाज्ञानकृतं कृत्स्नं शृणुतानाद्यभक्षणे ॥ १४५ ॥

(भृगुजी महर्षियोंसे कहते हैं कि —) ज्ञान या अज्ञानसे की गयी हिंसासे उत्पन्न सब पाप इन (११।७२-११४) व्रतोंसे नष्ट होते हैं । अब अभक्ष्य-भक्षणके प्रायश्चितको (आप लोग) सुने ॥ १४५ ॥

एभिरुक्तप्रायश्चित्तैर्हिंसाजनितपापं ज्ञानाज्ञानकृतं निर्हरणीयम् । इदानीमभक्ष्यभक्षणप्रायश्चित्तं वक्ष्यमाणं शृणुत ॥ १४५ ॥

अज्ञानाद्वारुणीं पीत्वा संस्कारेणैव शुद्ध्यति ।
मतिपूर्वमनिर्देश्यं प्राणान्तिकमिति स्थितिः ॥ १४६ ॥

द्विज अज्ञानसे वारुणीको पीकर पुनः संस्कार (११।१५१) से ही शुद्ध (पापरहित) होता है तथा ज्ञानसे पीकर मरकर ही शुद्ध होता है, ऐसी (शास्त्रकी) मर्यादा है ॥ १४६ ॥

महापातकप्रकरणव्यवधानेनाख्यातान्नानात्वेदं मुख्यपैष्टीसुराविषयं वचनं किन्तु तदितरविषयम्। तत्र 'यथा चैका तथा सर्वा' गौडीमाध्व्योर्मुख्यसुरासाम्यबोधनमितरमद्यापेक्षया ब्राह्मणस्य प्रायश्चित्तगौरवार्थमित्युक्तम्। तेनाबुद्धिपूर्वकं गौडीं माध्वीं च पीत्वा गौतमोक्तं तप्तकृच्छ्रं कृत्वा पुनः संस्कारेणैव शुध्यति। तथा च गोतमः—'अमत्या मद्यपाने पयोघृतमुदकं वायुं प्रत्यहं तप्तकृच्छ्रस्ततोऽस्य संस्कारः।' इत्थमेव व्याख्यातं भविष्यपुराणे—

'अकामतः कृते पाने गौडीमाध्व्योर्नराधिप।
तप्तकृच्छ्रविधानं स्याद् गोतमेन यथोदितम्॥'

बुद्धिपूर्वकं तु पैष्टीतरमद्यपाने 'प्राणान्तिकमनिर्देश्यम्' इति शास्त्रमर्यादा। तथा गौडीमाध्व्योर्ज्ञानात्पाने मरणनिषेधादितरमद्यापेक्षया गुरुत्वाच्च मानवमेव 'कणान्वा भक्षयेदब्दम्' (म. स्मृ. ११-९२) इति प्रायश्चित्तमुक्तम्। अत एव गौडीमाध्व्योः कामतः पानानुवृत्तौ भविष्यपुराणे—

'यद्वाऽस्मिन्नेव विषये मानवीयं प्रकल्पयेत्।
कणान्वा भक्षयेदब्दं पिण्याकं वा सकृन्निशि॥
सुरापापापनुत्त्यर्थं बालवासा जटी ध्वजी।' इति।

पैष्टीगौडीमाध्वीव्यतिरिक्तपुलस्त्योक्तपानसादिनवविधमद्यस्य प्रत्येकं पाने लघुत्वात् संस्कारमात्रमेव केवलमन्यद्वा लघुत्वात्प्रायश्चित्तं ब्राह्मणस्य युक्तम्। बुद्धिपूर्वं पानसादिमद्यपाने तु—

'मतिपूर्वं सुरापाने कृते वै ज्ञानतो गुह।
कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ भवतः पुनः संस्कार एव हि॥'

इति भविष्यपुराणीयमन्यद् द्विविधं मुन्यन्तरोक्तम्॥ १४६॥

अपः सुराभाजनस्था मद्यभाण्डस्थितास्तथा।
पञ्चरात्रं पिबेत्पीत्वा शङ्खपुष्पीश्रितं पयः॥ १४७॥

पैष्टी (आटेकी बनी हुई) सुरा तथा दूसरे प्रकारसे बनी हुई मदिराके वर्तन का जल पीकर शङ्खपुष्पी (शङ्खाहुली–कवडेना) नामक ओषधियों को डालकर पकाये हुए दूधको पीना चाहिये॥

पैष्टीसुराभाण्डे तदितरमद्यभाण्डेऽवस्थिता अपः सुरारसगन्धवर्जिताः पीत्वा शङ्खपुष्प्याख्यौषधिप्रक्षेपेण पक्वं क्षीरं न तूदकं

'शंखपुष्पीविपक्वेन त्र्यहं क्षीरेण वर्तयेत्।'

इति बौधायनस्मरणात्पञ्चरात्रं पिबेत्। सुरामद्ययोः सर्वत्रैव गुरुलघुप्रायश्चित्ताभिधानादिहापि ज्ञानाज्ञानादिप्रकारभेदेन विषयसमीकरणं समाधेयम्। वाचनिकमेव प्रायश्चित्तं साध्यमिति मेधातिथिराह॥ १४७॥

स्पृष्ट्वा दत्त्वा च मदिरां विधिवत्प्रतिगृह्य च।
शूद्रोच्छिष्टाश्च पीत्वापः कुशवारि पिबेत्त्र्यहम्॥ १४८॥

मदिराको छूकर, देकर, ('स्वस्ति' कथनपूर्वक) विधिवत् दान लेकर और शूद्रका जूठा पानी पीकर तीन दिन तक कुश (को उबालकर उस) का पानी पीवे॥ १४८॥

सुरां स्पृष्ट्वा दत्त्वा च स्वस्तिवाचनपूर्वकं च प्रतिगृह्य शूद्रोच्छिष्टाश्च अपः पीत्वा प्रतिगृह्याभ्युपादानाद् ब्राह्मणो दर्भक्वथितमुदकं त्र्यहं पिबेत्॥ १४८॥

ब्राह्मणस्तु सुरापस्य गन्धमाघ्राय सोमपः।
प्राणानप्सु त्रिरायम्य घृतं प्राश्य विशुध्यति ॥ १४९ ॥

सोमयाजी (सोमयज्ञ करनेवाला) ब्राह्मण मद्य पीनेवाले (के मुख) का गन्ध सूंघकर जलमें तीन बार प्राणायामकर घीका भक्षण करनेसे शुद्ध होता है ॥ १४९ ॥

ब्राह्मणः पुनः कृतसोमयागः सुरापस्य मुखसम्बन्धिनं गन्धं घ्रात्वा जलमध्ये प्राणायामत्रयं कृत्वा घृतं प्राश्य विशुद्धो भवति ॥ १४९ ॥

अज्ञानात्प्राश्य विण्मूत्रं सुरासंस्पृष्टमेव च।
पुनः संस्कारमर्हन्ति त्रयो वर्णा द्विजातयः ॥ १५० ॥

(मनुष्यके) मल, मूत्र या मद्यसे स्पृष्ट अन्नादि रसको अज्ञानपूर्वक खाकर तीनों वर्णके द्विज फिरसे (यज्ञोपवीत) संस्कार करने (११।१५१) के योग्य होते हैं ॥ १५० ॥

विड्वराहादीनां वक्ष्यमाणत्वादबुद्धिपूर्वकं मनुष्यसम्बन्धिमूत्रं पुरीषं वा प्राश्य मद्यसुरासंस्पृष्टं च भक्तादिरसं वा प्राश्य द्विजातयस्त्रयो वर्णाः पुनरुपनयनमर्हन्ति ॥ १५० ॥

वपनं मेखला दण्डो भैक्षचर्या व्रतानि च।
निवर्तन्ते द्विजातीनां पुनःसंस्कारकर्मणि ॥ १५१ ॥

द्विजोंके पुनः संस्कार करनेमें मुण्डन, मेखला, (पलाश आदिका) दण्ड, भिक्षा मांगना, (मधु-मांस-स्त्रीत्यागादि) व्रत नहीं होते हैं ॥ १५१ ॥

शिरोमुण्डनं मेखलाधारणं दण्डधारणं भैक्षाणि व्रतानि च मधुमांसस्त्रीवर्जनयुतानि प्रायश्चित्तानि पुनरुपनयने द्विजातीनां न भवन्ति ॥ १५१ ॥

अभोज्यानां तु भुक्त्वान्नं स्त्रीशूद्रोच्छिष्टमेव च।
जग्ध्वा मांसमभक्ष्यं च सप्तरात्रं यवान्पिबेत् ॥ १५२ ॥

जिनका अन्न नहीं खाना चाहिये उन (४।२०५-२२०) का अन्न, (द्विजातियों की) स्त्रियोंका तथा शूद्रका जूठा, अभक्ष्य (११।१५६) मांसको खाकर सात रात तक (पतलाकर) यवको पीवे ॥ १५२ ॥

अभोज्यान्नानाम् 'नाश्रोत्रियकृते यज्ञे' (म. स्मृ. ४-२०५) इत्याद्युक्तानामन्नं भुक्त्वा जलमिश्रितसक्तुरूपेण यवागूरूपेण वा यवान्पानयोग्यान्कृत्वा सप्तरात्रं पिबेत्। अमुष्मिन्नेव विषये 'मत्या भुक्त्वाचरेत्कृच्छ्रम्' इति चतुर्थाध्याये (म. स्मृ. ४-२२२) प्रायश्चित्तमुक्तं तेन सह वैकल्पिकम्। विकल्पश्च कर्तृशक्त्यपेक्षः। तथा द्विजातिस्त्रीणामुच्छिष्टं शूद्रोच्छिष्टं वा भुक्त्वैतदेव कुर्यात्। तथा 'क्रव्यादसूकरोष्ट्राणाम्' (म. स्मृ. ११-१५६) इत्यादिना यद्विशेषप्रायश्चित्तं तन्निषिद्धमांसं भुक्त्वेदमेव कुर्यात् ॥ १५२ ॥

शुक्तानि च कषायांश्च पीत्वा मेध्यान्यपि द्विजः।
तावद्भवत्यप्रयतो यावत्तन्न व्रजत्यधः ॥ १५३ ॥

पवित्र भी शुक्त तथा (उबाले हुए बहेड़े, हर्रे आदि) कसैले पदार्थको पीकर द्विज तबतक अपवित्र रहता है, जबतक ये पदार्थ पच नहीं जाते ॥ १५३ ॥

यानि स्वभावतो मधुरादिरसानि कालयोगेनोदकपरिमाणादिनाम्लभावं व्रजन्ति तानि शुक्तानि, कषायान्विभीतकादीन्, क्वथितान्यप्रतिषिद्धान्यपि पीत्वा यावन्न जीर्णानि भवन्ति तावदशुचिः पुरुषो भवति ॥ १५३ ॥

विड्वराहखरोष्ट्राणां गोमायोः कपिकाकयोः ।
प्राश्य मूत्रपुरीषाणि द्विजश्चान्द्रायणं चरेत् ॥ १५४ ॥

ग्राम्य सूकर, गधा, ऊंट, सियार, वानर और कौवा, इनके मलमूत्रको खाकर द्विज चान्द्रायण (११।२१६–२२०) व्रत करे ॥ १५४ ॥

ग्राम्यसूकरखरोष्ट्रश्रृगालवानरकाकानां मूत्रं पुरीषं वा द्विजातिर्भुक्त्वा चान्द्रायणं कुर्याच्छोधनम् । यत्तु 'छत्राकं विड्राहं च' (म. स्मृ. ५–१९) इत्यनेन विड्वराहग्रामकुक्कुटयोर्बुद्धिपूर्वकभक्षणे पञ्चमाध्याये प्रायश्चित्तमुक्तं तदभ्यासविषये व्याख्यातम् । इदं त्वनभ्यासविषये तप्तकृच्छ्रमित्यविरोधः ॥ १५४ ॥

शुष्काणि भुक्त्वा मांसानि भौमानि कवकानि च ।
अज्ञातं चैव सूनास्थमेतदेव व्रतं चरेत् ॥ १५५ ॥

सूखा मांस, भूमिपर उत्पन्न कवक (छत्राक यह वर्षातमें भूमि या पेड़ आदिपर श्वेत–कृष्ण वर्णका छत्राकार उत्पन्न होता है), अज्ञात मांस (यह हरिण आदि भक्ष्य जीवका मांस है या अभक्ष्य गधे आदिका, ऐसा नहीं मालूम हुआ मांस) और कसाईखाने का वधिकके यहांका मांस खाकर द्विज इसी चान्द्रायण व्रत (११।२१६–२२०) को करे ॥ १५५ ॥

वाय्वादिना शोषितानि मांसानि भुक्त्वा भूम्यादिप्रभवाणि छत्राकाणि भुक्त्वा
'भूमिजं वा वृक्षजं वा छत्राकं भक्षयन्ति ये ।
ब्रह्मघ्नांस्तान्विजानीयाद्' इति यमेन वृक्षजस्यापि निषेधात । हरिणमांसं वा रासभमांसमिति भक्ष्याभक्ष्यतया यन्न ज्ञातं तथा हिंसास्थानं सूना ततो यदानीतं तत् भुक्त्वा चान्द्रायणमेव कुर्यात् ॥ १५५ ॥

क्रव्यादसूकरोष्ट्राणां कुक्कुटानां च भक्षणे ।
नरकाकखराणां च तप्तकृच्छ्रं विशोधनम् ॥ १५६ ॥

क्रव्याद (कच्चा मांस खानेवाले बाघ, सिंह, भेंड़िया आदि), ग्राम्य सूअर, ऊंट, मुर्गा, मनुष्य, कौवा और गधा, इनको खाकर द्विज पापनिवृत्तिके लिए तप्तकृच्छ्र व्रत (११।२१४) करे ॥ १५६ ॥

आममांसभक्षिणां ग्राम्यसूकरोष्ट्रग्राम्यकुक्कुटानां तथा मानुषकाकगर्दभानां प्रत्येकं बुद्धिपूर्वकं मांसभक्षणे वक्ष्यमाणं तप्तकृच्छ्रं प्रायश्चित्तम् । ग्राम्यसूकरकुक्कुटयोर्बुद्धिपूर्वकभक्षणे पञ्चमाध्याये पातित्यमुक्तं तदभ्यासविषये व्याख्यातम् , इदं तु नाभ्यासविषये तप्तकृच्छ्रमित्यविरोधः ॥ १५६ ॥

मासिकान्नं तु योऽश्नीयादसमावर्तको द्विजः ।
स त्रीण्यहान्युपवसेदेकाहं चोदके वसेत् ॥ १५७ ॥

मासिक श्राद्धान्नको खानेवाला ब्रह्मचर्याश्रमस्थ द्विज तीन दिन उपवास करे तथा एक दिन पानी में रहे ॥ १५७ ॥

यो ब्रह्मचारी ब्राह्मणो मासिकश्राद्धसंबन्ध्यन्नमश्नाति । एतच्च सपिण्डीकरणात्पूर्वमेकोद्दिष्टश्राद्धार्थोपलक्षणम् । स त्रिरात्रमुपवसेत् । त्रिरात्रमध्ये एकस्मिन्नहनि जलमावसेत् ॥ १५७ ॥

ब्रह्मचारी तु योऽश्नीयान्मधु मांसं कथंचन ।
स कृत्वा प्राकृतं कृच्छ्रं व्रतशेषं समापयेत् ॥ १५८ ॥

जो ब्रह्मचर्यावस्थामें रहनेवाला द्विज किसी प्रकार (अज्ञानसे या आपत्तिकाल से) मधु (शहद) या मांस का भक्षण कर ले तो वह प्राजापत्य व्रत (११।२११) करके अपने शेष ब्रह्मचर्य व्रतको पूरा करे ॥ १५८ ॥

यो ब्रह्मचारी माक्षिकं मांसं वा अनिच्छात आपदि वाऽश्नाति स प्राजापत्यं कृत्वा प्रारब्धब्रह्मचर्यव्रतशेषं समापयेत् ॥ १५८ ॥

बिडालकाकाखूच्छिष्टं जग्ध्वा श्वनकुलस्य च ।
केशकीटावपन्नं च पिबेद् ब्रह्मसुवर्चलाम् ॥ १५९ ॥

मार्जार, कौवा, चूहा, कुत्ता, नेवला ; इनका जूठा बाल और कीड़े आदिसे दूषित अन्न आदि को खाकर उष्ण पानी पीवे ॥ १५९ ॥

बिडालकाकमूषककुक्कुरनकुलानामुच्छिष्टं केशकीटरूपसंसर्गदुष्टं वा कृतमृत्क्षेपविशुद्धिकं ज्ञात्वा भुक्त्वा ब्रह्मसुवर्चलां क्वथितमुदकं पिबेत् ॥ १५९ ॥

अभोज्यमन्नं नात्तव्यमात्मनः शुद्धिमिच्छता ।
अज्ञानभुक्तं तूत्तार्यं शोध्यं वाप्याशु शोधनैः ॥ १६० ॥

अपनी शुद्धि चाहनेवालेको अभक्ष्य अन्नादि नहीं खाना-पीना चाहिये, अज्ञानपूर्वक खाये हुए उन पदार्थोंका वमन कर देना चाहिये (और उसके असम्भव होनेपर) शुद्धिकारक प्रायश्चित्तोंसे शुद्धि कर लेनी चाहिये ॥ १६० ॥

आत्मनः शुद्धिकामेन प्रतिषिद्धमन्नं नादनीयम् । प्रमादात्तु भुक्तं वमितव्यम् । तदसंभवे प्रायश्चित्तैः क्षिप्रं शोधनीयम् । वमनपक्षे तु लघुप्रायश्चित्तं भवत्येव । ज्ञानतः पुनः पूर्वोक्तं प्रायश्चित्तम् ॥ १६० ॥

एषोऽनाद्यादनस्योक्तो व्रतानां विविधो विधिः ।
स्तेयदोषापहर्तॄणां व्रतानां श्रूयतां विधिः ॥ १६१ ॥

(भृगुजी महर्षियोंसे कहते हैं कि —) अभक्ष्य भक्षण करनेपर प्रायश्चित्तोंके इस (११।१४६–१६०) विविध विधानको (मैंने) कहा, अब चोरीके दोषको नष्ट करनेवाले प्रायश्चित्तोंके विधानको (११।१६२–१६६) आप लोग सुनें ॥ १६१ ॥

अभक्ष्यभक्षणे यानि प्रायश्चित्तानि तेषामेतन्नानाप्रकारविधानमुक्तम् । स्तेयपापहारिणां विधानमधुना श्रूयताम् ॥ १६१ ॥

धान्यान्नधनचौर्याणि कृत्वा कामाद् द्विजोत्तमः ।
स्वजातीयगृहादेव कृच्छ्राब्देन विशुध्यति ॥ १६२ ॥

ब्राह्मण ब्राह्मणके घरसे धान्य, अन्न आदि धनको ज्ञानपूर्वक चुराकर एक वर्षतक प्राजापत्य व्रत (११।२११) करनेसे शुद्ध (दोषरहित) होता है ॥ १६२ ॥

ब्राह्मणो ब्राह्मणगृहाद्धान्यभक्ताद्यन्नरूपाणि धनचौर्याणीच्छातः कृत्वा न स्वात्मीयभ्रान्त्या नीत्वा संवत्सरं प्राजापत्यव्रताचरणेन शुद्ध्यति । एतच्च देशकालद्रव्यपरिमाणस्वामिगुणाद्यपेक्षया महत्त्वादि बोद्धव्यम् । एवमुत्तरत्रापि ॥ १६२ ॥

मनुष्याणां तु हरणे स्त्रीणां क्षेत्रगृहस्य च ।
कूपवापीजलानां च शुद्धिश्चान्द्रायणं स्मृतम् ॥ १६३ ॥

मनुष्य, स्त्री, खेत, घर, कूएं तथा बावड़ी (अहरा, पोखरा आदि सिचाईके साधनभूत जलाशय) का सम्पूर्ण पानीकी चोरी करनेपर (मनु आदि महर्षियोंने) चान्द्रायण (११।२१६-२२०) व्रतसे शुद्धि बतलायी है ॥ १६३ ॥

पुरुषस्त्रीक्षेत्रगृहाणामन्यतमहरणे कूपजलस्य वापीजलस्य वा समस्तस्य वा हरणे चान्द्रायणं प्रायश्चित्तं मन्वादिभिः स्मृतम् ॥ १६३ ॥

द्रव्याणामल्पसाराणां स्तेयं कृत्वाऽन्यवेश्मतः ।
चरेत्सांतपनं कृच्छ्रं तन्निर्यात्यात्मशुद्धये ॥ १६४ ॥

दूसरेके घरसे थोड़े मूल्य (तथा प्रयोजन) की वस्तुको चुराकर अपनी शुद्धिके लिए चुरायी हुई वस्तु उसके स्वामीको देकर सान्तपन कृच्छ्र (११।२१२) व्रत करे ॥ १६४ ॥

द्रव्याणामल्पार्घाणामल्पप्रयोजनानां चानुक्तप्रायश्चित्तविशेषाणां त्रपुसीसकादीनां परगृहाच्चौर्यं कृत्वा तदपहृतं द्रव्यं स्वामिने दत्त्वा सान्तपनं कृच्छ्रं प्रायश्चित्तं वक्ष्यमाणं वात्मशुद्धये कुर्यात् । स्वामिनेऽपहृतं द्रव्यं निर्यातयेति सर्वस्तेयप्रायश्चित्तशेषः ॥ १६४ ॥

भक्ष्यभोज्यापहरणे यानशय्यासनस्य च ।
पुष्पमूलफलानां च पञ्चगव्यं विशोधनम् ॥ १६५ ॥

भक्ष्य (मिठाई लड्डू आदि), भोज्य (खीर आदि), सवारी (गाड़ी, रथ, पालकी, रेक्सा, सायकिल, मोटर आदि) शय्या, आसन, फूल, मूल और फल; इन्हें चुराकर पञ्चगव्य पीनेसे शुद्धि (पापनिवृत्ति) होती है ॥ १६५ ॥

भक्ष्यस्य मोदकादेः, भोज्यस्य पायसादेः यानस्य शकटादेः, शय्यायाः, आसनस्य च पुष्पमूलफलानां च प्रत्येकमपहरणे पञ्चगव्यपानं विशोधनम् ॥ १६५ ॥

तृणकाष्ठद्रुमाणां च शुष्कान्नस्य गुडस्य च ।
चेलचर्मामिषाणां च त्रिरात्रं स्यादभोजनम् ॥ १६६ ॥

तृण, लकड़ी, पेड़, सूखा अन्न (गेहूँ, धान आ चावल आदि), गुड, कपड़ा, चमड़ा और मांस; इनके चुरानेपर तीन रात उपवास करे ॥ १६६ ॥

तृणकाष्ठवृक्षाणां शुष्कान्नस्य च तण्डुलादेर्वस्त्रचर्ममांसानां मध्ये एकस्याप्यपहरणे त्रिरात्रमुपवासं चरेत् ॥ १६६ ॥

मणिमुक्ताप्रवालानां ताम्रस्य रजतस्य च ।
अयःकांस्योपलानां च द्वादशाहं कणान्नता ॥ १६७ ॥

मणि (पन्ना, माणिक्य आदि), मोती, मूंगा, तांबा, चांदी लोहा, कांसा और पत्थर, इनको चुराकर बारह दिन तक अन्नका कण (खुद्दी), ही खावे ॥ १६७ ॥

मणिमुक्ताविद्रुमताम्ररूप्यलोहकांस्योपलानां च प्रत्येकमपहरणे द्वादशाहं तण्डुलकणभक्षणं कुर्यात् । सर्वत्र चात्र सकृदभ्यासदेशकालद्रव्यस्वामिगुणादौ शक्त्यपेक्षयोत्कृष्टापकृष्टद्रव्यापहारिविषयसमीकरणं समाधेयम् ॥ १६७ ॥

कार्पासकीटजीर्णानां द्विशफैकशफस्य च ।
पक्षिगन्धौषधीनां च रज्ज्वाश्चैव त्र्यहं पयः ॥ १६८ ॥

रूई, रेशम, ऊन (या सूती, रेशमी, ऊनी कपड़ा) दो खुरोंवाले (गाय, बैल, भैंस आदि), एक खुरवाले (घोड़ा, गधा आदि) पशु, पक्षी, गन्ध (कर्पूर, कस्तूरी, चन्दन आदि), औषधि रस्सी; इनको चुराकर तीन दिन तक केवल दुग्धपान करे ॥ १६८ ॥

कार्पासकृमिकोशजीर्णानां वस्त्राणां द्विशफैकशफस्य गोरश्वादेः । पक्षिणां शुकादीनां गन्धानां च चन्दनप्रभृतीनां रज्ज्वाश्च प्रत्येकं हरणे त्र्यहं क्षीराहारः स्यात् । अत्रापि पूर्ववद्विषयसमीकरणपरिहारः स्वामिनश्चोरकृष्टापकृष्टद्रव्यसमर्पणादपि वचनादेकरूपप्रायश्चित्ताविरोधः ॥ १६८ ॥

एतैर्व्रतैरपोहेत पापं स्तेयकृतं द्विजः ।
अगम्यागमनीयं तु व्रतैरेभिरपानुदेत् ॥ १६९ ॥

(भृगुजी महर्षियोंसे कहते हैं कि—) द्विज इन (११।१६२–१६८) व्रतोंसे चोरीके पापको दूर करे और अगम्यागमन (सम्भोगके अयोग्य स्त्रीके साथ सम्भोग करने) के पापको इन (११।१७६–१७८) व्रतों (प्रायश्चित्तों) से दूर करे ॥ १६९ ॥

एतैरुक्तैः प्रायश्चित्तैः स्तेयजनितपापं द्विजातिरपानुदेत् । अगम्यागमननिमित्तं पुनरेभिर्वक्ष्यमाणैर्व्रतैर्निर्हरेत् ॥ १६९ ॥

गुरुतल्पव्रतं कुर्याद्रेतः सिक्त्वा स्वयोनिषु ।
सख्युः पुत्रस्य च स्त्रीषु कुमारीष्वन्त्यजासु च ॥ १७० ॥

सोदर भगिनी (सगी बहन), मित्र-स्त्री पुत्र-स्त्री, कुमारी तथा चण्डालीके साथ (सम्भोग में) वीर्यपातकर गुरुपत्नीके साथ सम्भोग करनेका (११।१०३–१०६) प्रायश्चित्त करना चाहिये ॥ १७० ॥

स्वयोनिषु सोदर्यभगिनीषु तथा मित्रभार्यासु, पुत्रपत्नीषु कुमारीषु, चाण्डालीषु, प्रत्येकं रेतः सिक्त्वा गुरुदारगमनप्रायश्चित्तं कुर्यात् । अत्रापि ज्ञानाभ्यासाद्यनुबन्धापेक्षया मरणान्तिकम् । अत एव—

'रेतः सिक्त्वा कुमारीषु चाण्डालीष्वन्त्यजासु च ।
सपिण्डापत्यदारेषु प्राणत्यागो विधीयते ॥'

इति यमेन मरणान्तिकमुपदिष्टमज्ञानात्तद् व्रतम् ॥ १७० ॥

पैतृष्वसेयीं भगिनीं स्वस्रीयां मातुरेव च ।
मातुश्च भ्रातुस्तनयां गत्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥ १७१ ॥

फूआकी, मौसीकी और मामाकी पुत्रीसे सम्भोगकर (मनुष्य दोष निवृत्तिके लिए) चन्द्रायण (११।२१६–२२०) व्रत करे ॥ १७१ ॥

पितृष्वसुर्मातृष्वसुश्च दुहितरं भगिनीं मातुश्च सोदर्यभ्रातुर्दुहितरं सोदर्यभगिनीमिव निषिद्धगमनां गत्वा चान्द्रायणं कुर्यात् । सकृदज्ञानव्यभिचरिताविषयमल्पत्वात् ॥ १७१ ॥

एतास्तिस्रस्तु भार्यार्थे नोपयच्छेत्तु बुद्धिमान् ।
ज्ञातित्वेनानुपेयास्ताः पतति ह्युपयन्नधः ॥ १७२ ॥

उन तीनों (११।१७१) प्रकारकी बहनोंको विद्वान् पुरुष भार्याके रूप में स्वीकार (उनके साथ विवाह) न करे क्योंकि बान्धव होनेसे विवाहके अयोग्य उनके साथ विवाह करता हुआ मनुष्य नरकको जाता है ॥ १७२ ॥

तिस्र एताः पैतृष्वसेय्याद्या भार्यार्थे प्राज्ञो नोद्वहेत्। ज्ञातित्वेन बान्धवत्वेन ता नोपेतव्याः। यस्मादेना उपयन्नुपागच्छन्नरकं याति । 'असपिण्डा च या मातुः' (म. स्मृ. ३-५) इत्यनेन निषेधसिद्धौ दाक्षिणात्याचारदर्शननिषेधदार्ढ्यार्थं पुनर्वचनम् ॥ १७२ ॥

अमानुषीषु पुरुष उदक्यायामयोनिषु ।
रेतः सिक्त्वा जले चैव कृच्छ्रं सान्तपनं चरेत् ॥ १७३ ॥

अमानुषी (गायको छोड़कर घोड़ी, बकरी, भेंड़ आदि), रजस्वला स्त्री, अयोनि (मुख-गुदा आदि), तथा पानीमें वीर्यपात करके पुरुषको कृच्छ्रसान्तपन (११।२१२) व्रत करना चाहिये ॥ १७३ ॥

अमानुषीषु वडवाद्यासु न गवि। 'गोष्ववकीर्णो सम्वत्सरं प्राजापत्यं चरेत्' इति शङ्खलिखितादिभिर्गुरुप्रायश्चित्ताभिधानात्। तथा रजस्वलायां योनितश्चान्यत्र स्त्रियां जले रेतःसेकं कृत्वा पुरुषः सान्तपनं कृच्छ्रं कुर्यात् ॥ १७३ ॥

मैथुनं तु समासेव्य पुंसि योषिति वा द्विजः ।
गोयानेऽप्सु दिवा चैव सवासाः स्नानमाचरेत् ॥ १७४ ॥

पुरुषके साथ मैथुनकर तथा बैलगाड़ीपर, पानीमें और दिनमें स्त्रीके साथ मैथुनकर द्विजको सवस्त्र स्नान करना चाहिये ॥ १७४ ॥

यत्र देशे क्वापि पुरुषे मैथुनं सेवित्वा स्त्रियां गोयाने शकटादौ, जले, दिवाकाले मैथुनं च सेवित्वा सवस्त्रश्च स्नायात् ॥ १७४ ॥

चण्डालान्त्यस्त्रियो गत्वा भुक्त्वा च प्रतिगृह्य च ।
पतत्यज्ञानतो विप्रो ज्ञानात्साम्यं तु गच्छति ॥ १७५ ॥

चण्डाली तथा अन्त्यज (म्लेच्छ आदि) की स्त्रीके साथ अज्ञानपूर्वक सम्भोगकर, भोजनकर और उनसे दान लेकर मनुष्य पतित होता है और ज्ञानपूर्वक उक्त कार्योंको करनेपर उनके समान (भ्रष्ट) हो जाता है ॥ १७५ ॥

चण्डालस्यान्त्यजानां च म्लेच्छशरीरादीनामज्ञानतो ब्राह्मणः स्त्रियो गत्वा तेषां चान्नं भुक्त्वा तेभ्यः प्रतिगृह्य पतति । पतितस्य प्रायश्चित्तं कुर्यात। एतच्च गुरुत्वाच्चाभ्यासतो भोजनप्रतिग्रहविषयम् । ज्ञानात्तु तेषां गमनं कृत्वा समानतां गच्छति । एतच्च प्रायश्चित्तगौरवार्थम् ॥ १७५ ॥

विप्रदुष्टां स्त्रियं भर्ता निरुन्ध्यादेकवेश्मनि ।
यत्पुंसः परदारेषु तच्चैनां चारयेद् व्रतम् ॥ १७६ ॥

अत्यन्त दूषित (स्वेच्छापूर्वक यत्र-तत्र व्यभिचार करनेवाली) स्त्रीको पति एक घरमें रोके और पुरुषके लिए पर-स्त्रीसम्भोगमें जो प्रायश्चित है; वह प्रायश्चित्त इस (व्यभिचारिणी एवं घरमें रोकी गयी) स्त्रीसे करावे ॥ १७६ ॥

विशेषेण प्रदुष्टाम् इच्छया व्यभिचारिणीमित्यर्थः। भर्ता निरुन्ध्यात्परत्नीं कार्येभ्यो निवर्त्य निगडबद्धामिवैकगृहे धारयेत। यच्च पुरुषस्य सजातीयपरदारगमने प्रायश्चित्तं तदेवैनां कारयेत। ततश्च "स्त्रीणामर्धं प्रदातव्यम्" इति यद्वसिष्ठादिभिरुक्तं तदनिच्छया व्यभिचारे च कर्तव्यम् ॥ १७६ ॥

सा चेत्पुनः प्रदुष्येत्तु सदृशेनोपयन्त्रिता।
कृच्छ्रं चान्द्रायणं चैव तदस्याः पावनं स्मृतम् ॥ १७७ ॥
[ब्राह्मणक्षत्रियविशां स्त्रियः शूद्रेऽपसंगताः।
अप्रजाता विशुध्येयुः प्रायश्चित्तेन नेतराः ॥ ९ ॥]

सजातीय पुरुष (के साथ सम्भोग करने) से दूषित वह स्त्री (प्रायश्चित्त करनेके बाद) पुनः सजातीयके कहने (पर उसके साथ सम्भोग करने) से दूषित हो जाय तो उसे पवित्र करनेवाले कृच्छ्र तथा चान्द्रायण (क्रमशः ११।१२,-२१६-२२०) व्रत कहे गये हैं ॥ १७७ ॥

[ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्यकी स्त्रियां शूद्रके साथ सम्भोग करनेसे दूषित होकर यदि सन्तान उत्पन्न नहीं करें तो प्रायश्चित्तसे शुद्ध (पापहीन) होती है, दूसरी (सन्तान उत्पन्न करनेवाली) नहीं ॥ ९ ॥]

सा स्त्री सजातीयगमने सकृद् दुष्टा कृतप्रायश्चित्ता यदि पुनः सजातीयेनाभ्यर्थिता सती तद्गमनं कुर्यात्तदास्याः प्रायश्चित्तं प्राजापत्यं कृच्छ्रचान्द्रायणं च मन्वादिभिः स्मृतम् ॥ १७७॥

यत्करोत्येकरात्रेण वृषलीसेवनाद् द्विजः।
तद्भैक्ष्यभुग्जपन्नित्यं त्रिभिर्वर्षैर्व्यपोहति ॥ १७८ ॥

द्विज एक रात चाण्डाली-सम्भोग करके जो पाप उपार्जित करता है, उसे वह तीन वर्षतक भिक्षा मांगकर भोजन तथा गायत्री जपसे नष्ट करता है ॥ १७८ ॥

वृषल्यत्र चण्डाली प्रायश्चित्तगौरवात्। चण्डालीगमने यदेकरात्रेण ब्राह्मणः पापमर्जयति तद्भैक्षाशी नित्यं सावित्र्यादिकं जपंस्त्रिभिर्वर्षैरपनुदति। तथा चापस्तम्बः—'यदेकरात्रेण करोति पापं कृष्णं वर्णं ब्राह्मणः सेवमानः। चतुर्थकाल उदक आत्मजापी भैक्षचारी त्रिभिर्वर्षैस्तद्व्यपोहति पापम् ॥' मेधातिथिस्तु इत्थमेव व्याख्यातवान्। गोविन्दराजस्त्वक्रमपरिणीतशूद्रागमनप्रायश्चित्तमिदमाह ॥ १७८ ॥

एषा पापकृतामुक्ता चतुर्णामपि निष्कृतिः।
पतितैः सम्प्रयुक्तानामिमाः शृणुत निष्कृतीः ॥ १७९ ॥

(भृगुजी महर्षियोंसे कहते हैं कि—) यह (११।१७०-१६८ मैंने अगम्यागमनपर) पाप करनेवाले चारो वर्णोंका निस्तार (प्रायश्चित्त) कहा, (अब आप लोग) पतितोंके साथसे हुए पापोंके निस्तारको सुनिये ॥ १७९ ॥

इयं हिंसाभक्ष्यभक्षणस्तेयागम्यागमनकारिणां चतुर्णामपि पापकृतां विशुद्धिरुक्ता। इदानीं साक्षात्पापकृद्भिः सह संसर्गिणामिमा वक्ष्यमाणाः संशुद्धीः शृणुत ॥ १७९ ॥

सम्वत्सरेण पतति पतितेन सहाचरन्।
याजनाध्यापनाद्यौनान्न तु यानासनाशनात् ॥ १८० ॥

पतितके साथ संसर्ग (सवारी करने, एक आसन पर बैठने और एक पङ्क्ति में बैठकर भोजन करने) से एक वर्षमें तथा यज्ञ करने समन्त्र यज्ञोपवीत संस्कारकर गायत्रीका उपदेश देने और योनि-सम्बन्ध (विवाह आदि) करनेसे तत्काल पतित हो जाता है ॥ १८० ॥

पतितेन सह संसर्गमाचरन् एकयानगमनैकासनोपवेशनैकपङ्क्तिभोजनरूपान्संसर्गानाचरन्सम्वत्सरेण पतति। नतु याजनाध्यापनाद्यौनात्संवत्सरेण पतति। किन्तु सद्य एवेत्यर्थः।

अध्यापनमन्त्रोपनयनपूर्वकं सावित्रीश्रावणम् । याजनादीनां च सद्यः पातित्यमाह देवलः—

'याजनं योनिसम्बन्धं स्वाध्यायं सह भोजनम् ।
कृत्वा सद्यः पतन्त्येते पतितेन न संशयः ॥'

विष्णुः—

'आ सम्वत्सरात्पतति पतितेन सहाचरन् ।
सहयानासनाभ्यासाद्यौनात्तु सद्य एव हि ॥'

बौधायनः—

'सम्वत्सरेण पतति पतितेन सहाचरन् ।
याजनाध्यापनाद्यौनात्सद्यो न शयनासनात् ॥' इति ।

गोविन्दराजस्तु याजनादीनां त्रयाणां संवत्सरेण पातित्यहेतुत्वं सहासनादीनां लघुत्वान्न सम्वत्सरेण किन्तु तस्मादूर्ध्वमपीति व्याचष्टे । अस्मदीयमनुव्याख्या मुनिव्याख्यानुसारिणी । नैनां गोविन्दराजस्य कल्पनामनुरुन्धमहे ॥ १८० ॥

यो येन पतितेनैषां संसर्गं याति मानवः ।
स तस्यैव व्रतं कुर्यात्तत्संसर्गविशुद्धये ॥ १८१ ॥

इन पतितोंमें से जिस पतितके साथ जो मनुष्य संसर्ग करे, वह उन्हीं पतितोंके पापके (चतुर्थांश कर्म) प्रायश्चित्त उस संसर्गजन्य पापकी शुद्धिके लिए करे ॥ १८१ ॥

पतितशब्दोऽयं पापकारिवचनः सकलपापिनामविशेषपाठात् । एषां पतितानां मध्ये यो येन पापकारिणा सह पूर्वोक्तं संसर्गं करोति स तस्यैव व्रतरूपं प्रायश्चित्तं कुर्यान्नतु मरणान्तिकमित्यभिहितं तदपि व्रतं संसर्गिणा क्रियमाणम् 'ब्रह्महा द्वादश समाः' (म. स्मृ. ११ ७२) इत्यादिकं पादहीनं कर्त्तव्यम् । तथा च व्यासः—

'यो येन संसृजेद्वर्षं सोऽपि तत्समतामियात् ।
पादन्यूनं चरेत्सोऽपि तस्य तस्य व्रतं द्विजः ॥ १८१ ॥'

पतितस्योदकं कार्यं सपिण्डैर्बान्धवैर्बहिः ।
निन्दितेऽहनि सायाह्ने ज्ञात्यृत्विग्गुरुसन्निधौ ॥ १८२ ॥

महापातकी (११।५४) के जीवित रहनेपर ही उनके निमित्त जलदान (तर्पण) को (अग्रिम श्लोकोक्त विधिसे) गांवके बाहर जाति, ऋत्विक् तथा गुरुओंके समक्षमें निन्दित दिन (नवमी तिथि) में सायङ्काल करे ॥ १८२ ॥

महापातकिनो जीवत एव प्रेतस्योदकक्रिया वक्ष्यमाणरीत्या सपिण्डैः समानोदकैश्च ग्रामाद्बहिर्गत्वा ज्ञात्यृत्विग्गुरुसंनिधाने रिक्तायां नवम्यां तिथौ दिनान्ते कर्तव्या ॥ १८२ ॥

दासी घटमपां पूर्णं पर्यस्येत्प्रेतवत्पदा ।
अहोरात्रमुपासीरन्नशौचं बान्धवैः सह ॥ १८३ ॥

उन सपिण्डो तथा समानोदक बान्धवोंसे प्रेरित दासी जलसे भरे तथा काममें लाये गये अर्थात पुराने घड़ेको दक्षिण दिशाकी ओर मुखर पैरसे ठोकर मार दे (जिससे घड़ेका पानी गिर जाय), फिर वे सपिण्ड समानोदकोंके साथ दिन रात अशौच मनावें ॥ १८३ ॥

सपिण्डसमानोदकप्रयुक्ता दासी उदकपूर्णं घटं प्रेतवदिति दक्षिणाभिमुखीभूय पादेन क्षिपेत् यथा स निरुदको भवति । तदनु ते सपिण्डाः समानोदकैः सहाहोरात्रमशौचमाचरेयुः ॥ १८३ ॥

निवर्तेरंश्च तस्मात्तु सम्भाषणसहासने।
दायाद्यस्य प्रदानं च यात्रा चैव हि लौकिकी ॥ १८४ ॥

उस महापातकीके साथ बातचीत करना, बैठना, हिस्सा देना, लेना तथा लोक व्यवहार (वार्षिक आदि कार्योंमें निमन्त्रित करना आदि) को छोड़ दे ॥ १८४ ॥

तस्मात्पतितात्सपिण्डादीनां सम्भाषणमेकासनोपवेशनं च तस्मै ऋक्थप्रदानं सांवत्सरिकादौ निमन्त्रणादिरूपो लोकव्यवहार एतानि निवर्तेरन् ॥ १८४ ॥

ज्येष्ठता च निवर्तेत ज्येष्ठावाप्यं च यद्धनम्।
ज्येष्ठांशं प्राप्नुयाच्चास्य यवीयान्गुणतोऽधिकः ॥ १८५ ॥

यदि वह महापातकी ज्येष्ठ (बड़ा भाई) हो तो उसकी ज्येष्ठता नहीं रहती (अतः उसके लिए अभ्युत्थानादि न करे) और ज्येष्ठके लिए प्राप्य पैतृक धनमें से भाग तथा 'उद्धार' (९।११२-११४ अतिरिक्त हिस्सा) उसे नहीं मिलता, किन्तु ज्येष्ठ होने के कारण मिलनेवाला 'उद्धार' भाग उस (महापातकी) का गुणवान् छोटा भाई प्राप्त करता है ॥ १८५ ॥

ज्येष्ठस्य यत्प्रत्युत्थानादिकं कार्यं तत्तस्य न कार्यम्। ज्येष्ठलभ्यं च तस्य विंशत्युद्धारादिकं धनं न देयम्। यद्यपि ऋक्थप्रदानप्रतिषेधादेवाप्युद्धारप्रतिषेधः सिद्धस्तथापि यवीयसस्तत्प्राप्त्यर्थमनूद्यते। तस्यैव ज्येष्ठस्य सम्बन्धि धनं सोद्धारांशं तदनुजो गुणाधिको लभते ॥ १८५ ॥

प्रायश्चित्ते तु चरिते पूर्णकुम्भमपां नवम्।
तेनैव सार्धं प्रास्येयुः स्नात्वा पुण्ये जलाशये ॥ १८६ ॥

पतितके प्रायश्चित्त कर लेनेपर उसके सपिण्ड तथा समानोदक बन्धु उसके साथ शुद्ध जलाशय (तडाग, नदी, आदि) में स्नानकर जलसे पूर्ण नये घड़ेको (उस जलाशयमें) छोड़ दें ॥ १८६ ॥

कृते पुनः पतितेन प्रायश्चित्ते सपिण्डसमानोदकास्तेनैव कृतप्रायश्चित्तेन सह पवित्रे जलाशये स्नात्वा जलपूर्णं नवं घटं प्रक्षिपेयुः। इह नवघटग्रहणाद्दासीघटस्त्विह्यत्र कृतोपयोगिघटः प्रतीयते ॥ १८६ ॥

स त्वप्सु तं घटं प्रास्य प्रविश्य भवनं स्वकम्।
सर्वाणि ज्ञातिकार्याणि यथापूर्वं समाचरेत् ॥ १८७ ॥

(प्रायश्चित्त किया हुआ) वह उस घड़ेको फेंककर अपने घर जाकर जाति-सम्बन्धी सब कार्यों को पहलेके समान करे ॥ १८७ ॥

स कृतप्रायश्चित्तः तं पूर्वोक्तघटं जलमध्ये क्षिप्त्वा ततः स्वकीयभवनं प्रविश्य यथापूर्वं सर्वाणि ज्ञातिकर्माणि कुर्यात् ॥ १८७ ॥

एतदेव विधिं कुर्याद्योषित्सु पतितास्वपि।
वस्त्रान्नपानं देयं तु वसेयुश्च गृहान्तिके ॥ १८८ ॥

पतित हुई स्त्रियोंके साथ भी यही (११।१८२-१८७) विधि करे, तथा उसके बान्धव लोग उस (पतित स्त्री) के लिए भोजन-वस्त्र और रहनेके लिए घरके पास स्थान देवें ॥ १८८ ॥

स्त्रीष्वपि पतितास्वेवमेव पतितस्योदकं कार्यमित्यादिविधिं भर्त्रादिसपिण्डसमानोदकवर्गः कुर्यात् । अन्नाच्छादनानि पुनराभ्यो देयानि । गृहसमीपे चासां वासार्थं कुटीर्दद्युः॥ १८८ ॥

एनस्विभिरनिर्णिक्तैर्नार्थं किंचित्सहाचरेत् ।
कृतनिर्णेजनांश्चैव न जुगुप्सेत कर्हिचित् ॥ १८९ ॥

प्रायश्चित्त नहीं किये हुए पापियों (पतितों) के साथ कुछ भी व्यवहार (लेनदेन, भोजन, सहवास आदि) नहीं करे, तथा जिस पापीने प्रायश्चित्त कर लिया है, उसकी कभी भी (पूर्व दुष्कर्मोंके सम्बन्धमें) निन्दा न करे ॥ १८९ ॥

पापकारिभिरकृतप्रायश्चित्तैः सह दानप्रतिग्रहादिकमर्थं किञ्चिन्नानुतिष्ठेत् । कृतप्रायश्चित्तान्नैव कदाचिदपि पूर्वकृतपापत्वेन निन्देत्किन्तु पूर्ववद्व्यवहरेत् ॥ १८९ ॥

अस्यापवादमाह—

बालघ्नांश्च कृतघ्नांश्च विशुद्धानपि धर्मतः ।
शरणागतहन्तॄंश्च स्त्रीहन्तॄंश्च न संवसेत् ॥ १९० ॥

बालककी हत्या करनेवाला, कृतघ्न, शरणागतकी हत्या करनेवाला और स्त्री की हत्या करनेवाला; इसके साथ प्रायश्चित्त द्वारा इसके शुद्ध हो जानेपर भी संसर्ग न करे ॥ १९० ॥

बालं यो हतवान्, कृतोपकारमपकाराचरणेन यो विनाशितवान्, प्राणरक्षार्थमागतं यो हतवान्, स्त्रियं च यो व्यापादितवानेतान्यथावत्कृतप्रायश्चित्तानपि संसर्गितया न परिवसेत् ॥ १९० ॥

येषां द्विजानां सावित्री नानूच्येत यथाविधि ।
तांश्चारयित्वा त्रीन्कृच्छ्रान्यथाविध्युपनाययेत् ॥ १९१ ॥

जिन द्विजोंका यज्ञोपवीत संस्कार अनुकल्पिक समय (ब्राह्मणका १६ वें क्षत्रियका २२ वें तथा वैश्यका २४ वें वर्ष) में भी नहीं हुआ हो, उनसे तीन कृच्छ्र (प्राजापत्य ११।२११) व्रत कराकर विधिपूर्वक उसका यज्ञोपवीत संस्करण करना चाहिये ॥ १९१ ॥

येषां ब्राह्मणक्षत्रियविशाम् आनुकल्पिककाल उपनयनं यथाशास्त्रं न कृतवान् तान्प्राजापत्यत्रयं कारयित्वा यथाशास्त्रमुपनयेत् । यत्तु याज्ञवल्क्यादिभिर्व्रात्यस्तोमादि प्रायश्चित्तमुक्तं तेन सहास्य गुरुलाघवमनुसंधाय जातिशक्त्याद्यपेक्षो विकल्पो मन्तव्यः ॥ १९१ ॥

प्रायश्चित्तं चिकीर्षन्ति विकर्मस्थास्तु ये द्विजाः ।
ब्राह्मणा च परित्यक्तास्तेषामप्येतदादिशेत् ॥ १९२ ॥

निषिद्ध (शूद्रसेवा आदि) कार्य करनेवाले यज्ञोपवीत संस्कारसे युक्त भी वेदको नहीं पढ़े हुए जो द्विज प्रायश्चित्त करना चाहें, उनके लिए भी इसी (तीन प्राजापत्य व्रत ११।२११) प्रायश्चित्तको करनेका उपदेश देना चाहिये ॥ १९२ ॥

ये प्रतिषिद्धशूद्रसेविनो द्विजास्ते चोपनाता अप्यनधीतवेदाः प्रायश्चित्तं कर्तुमिच्छन्ति तेषामप्येतत्प्राजापत्यादित्रयमुपदिशेत् ॥ १९२ ॥

यद्गर्हितेनार्जयन्ति कर्मणा ब्राह्मणा धनम् ।
तस्योत्सर्गेण शुध्यन्ति जप्येन तपसैव च ॥ १९३ ॥

ब्राह्मण लोग जिस निषिद्ध (अग्राह्य दानादि लेना, व्रात्यों (२।३९) का यज्ञ कराना, दूसरोंका श्राद्ध कराना, मारण-मोहन-उच्चाटनादि अभिचार कर्म करना आदि) कर्मोंके आचरणसे धनका उपार्जन करते हैं, उस धनका त्याग तथा आगे (११।१९४-१९७) कहे जानेवाले जप और तप से वे ब्राह्मण शुद्ध (दोषरहित) होते हैं ॥ १९३ ॥

गर्हितेन कर्मणा निषिद्धदुःप्रतिग्रहादिना ब्राह्मणा यद्धनमर्ज्यन्ति तस्य धनस्य त्यागेन जपतपोभ्यां वक्ष्यमाणाभ्यां शुध्यन्ति । धनत्यागेन च प्रायश्चित्तविधानाद् बहुमूल्ये च करितुरगादावल्पमूल्ये च लोहादौ परिगृहीते तुल्यप्रायश्चित्ताभिधानमुपपन्नम् । एवमविक्रय्यविक्रयादावपि ॥ १९३ ॥

जपित्वा त्रीणि सावित्र्याः सहस्राणि समाहितः ।
मासं गोष्ठे पयः पीत्वा मुच्यतेऽसत्प्रतिग्रहात् ॥ १९४ ॥

ब्राह्मण तीन सहस्र गायत्री जपकर तथा एक मासतक गोशालामें केवल दुग्धाहारकर असत्प्रतिग्रह (नीच या शूद्रसे दान लेने) के दोषसे छूट जाता है ॥ १९४ ॥

त्रीणि सावित्रीसहस्राणि जपित्वा गोष्ठे वा मासं क्षीराहारोऽसत्प्रतिग्रहजनितात्पापान्मुक्तो भवति । शूद्रप्रतिग्रहादावप्येतदेव प्रायश्चित्तम् । द्रव्यदोषेण च दातृदोषेणापि प्रतिग्रहस्य गर्हितत्वाविशेषादिति ॥ १९४ ॥

उपवासकृशं तं तु गोव्रजात्पुनरागतम् ।
प्रणतं प्रति पृच्छेयुः साम्यं सौम्येच्छसीति किम् ? ॥ १९५ ॥

(गोशालामें केवल दुग्धाहार लेनेसे) दुर्बल तथा गोशालासे वापस लौटे हुए उस (प्रायश्चित्तकर्ता) ब्राह्मणसे 'हे सौम्य ! क्या हम लोगोंकी समानता चाहते हो ?' ऐसा ब्राह्मण लोग पूछे ॥१९५॥

केवलक्षीराहारेण इतरभोजनव्यावृत्त्या कृशदेहं गोष्ठात्प्रत्यागतं प्रणतं नम्रीभूतं किमस्माभिः सह साम्यमिच्छसि पुनरसत्प्रतिग्रहं न करीष्यसीत्येवं धर्मं ब्राह्मणाः परिपृच्छेयुः ॥१९५॥

सत्यमुक्त्वा तु विप्रेषु विकिरेद्यवसं गवाम् ।
गोभिः प्रवर्तिते तीर्थे कुर्युस्तस्य परिग्रहम् ॥ १९६ ॥

फिर 'हां' (पुनः 'निन्दत दान नहीं लूँगा') ऐसा प्रश्नकर्ता ब्राह्मणोंसे कहकर यह प्रायश्चित्तकर्ता ब्राह्मण गौओंके लिए घास डाल दे तथा गौओंके घास खानेसे पवित्र तीर्थरूप उस भूमिमें ब्राह्मण लोग उस ब्राह्मणको अपने व्यवहारमें ग्रहण करना स्वीकार कर लें ॥ १९६ ॥

सत्यमेतत्पुनरसत्प्रतिग्रहं न करिष्यामीत्येवं ब्राह्मणेषूक्त्वा घासं गवां दद्यात् । तस्मिन्यवसं भक्ष्यमाणे देशे गोभिः पवित्रीकृतत्वात्तीर्थीभूते ब्राह्मणास्तस्य संव्यवहारे स्वीकारं कुर्युः ॥ १९६ ॥

व्रात्यानां याजनं कृत्वा परेषामन्त्यकर्म च ।
अभिचारमहीनं च त्रिभिः कृच्छ्रैर्व्यपोहति ॥ १९७ ॥

व्रात्यों (२।३९) का यज्ञ कराकर, (पिता, माता, गुरु आदिसे) अन्य लोगोंका और्ध्वदेहिक दाह-श्राद्धादि कर्म करके अभिचार (मारण, मोहन, उच्चाटनादि कर्म) और अहीन अर्थात यागविशेष करके (द्विज) तीन कृच्छ्र (प्राजापत्य ११।२११) व्रत करके शुद्ध होता है ॥ १९७ ॥

व्रात्यानाम् 'अत ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते' (म. स्मृ. १२-३९) इत्युक्तानां व्रात्यस्तोमादियाजनं कृत्वा पितृगुर्वादिव्यतिरिक्तानां च निषिद्धौर्ध्वदेहिकदाहश्राद्धादि कृत्वाऽभिचारं

च श्येनादिकम् । अभिचारोऽनभिचारणीयस्य । अहीनं यागविशेषः । 'अहीनयजनमशुचिकरम्' इति श्रुतेः । त्रिरात्रादि तस्य याजनं कृत्वा त्रिभिः कृच्छ्रैर्विशुध्यति ॥ १९७ ॥

शरणागतं परित्यज्य वेदं विप्लाव्य च द्विजः ।
सम्वत्सरं यवाहारस्तत्पापमपसेधति ॥ १९८ ॥

शरणागतका त्यागकर तथा वेद पढ़नेके अनधिकारीको वेद पढ़ाकर द्विज एक वर्षतक यवका आहार कर उस पापको दूर करता है ॥ १९८ ॥

शरणागतं परित्राणार्थमुपगतं शक्तः सन्नुपेक्षते द्विजातिरनध्याप्यं च वेदमध्याप्य तज्जनितं पापं सम्वत्सरं यवाहारोऽपनुदति ॥ १९८ ॥

श्वसृगालखरैर्दष्टो ग्राम्यैः क्रव्याद्भिरेव च ।
नराश्वोष्ट्रवराहैश्च प्राणायामेन शुध्यति ॥ १९९ ॥
[शुनाऽऽघ्रातावलीढस्य दन्तैर्विदलितस्य च ।
अद्भिः प्रक्षालनं प्रोक्तमग्निना चोपचूलनम् ॥ १० ॥]

कुत्ता, सियार, गधा, कच्चे मांस खानेवाले ग्राम्य पशु (बिल्ली आदि), मनुष्य, घोड़ा, ऊँट और सूअर—इनके काटनेपर (द्विज) प्राणायाम करनेसे शुद्ध होता है ॥ १९९ ॥

[कुत्तेके सूँघे, चाटे और दांतोंसे काटे गये पदार्थकी शुद्धि पानीसे धोने और आगमें जलाने (तपाने) से कही गयी है ॥ १० ॥]

कुक्कुरसृगालगर्दभनराश्ववराहाद्यैर्ग्राम्यैश्चाममांसादैर्मार्जारादिभिर्दष्टः प्राणायामेन शुध्यति ॥ १९९ ॥

षष्ठान्नकालता मासं संहिताजप एव वा ।
होमाश्च सकला नित्यमपाङ्क्त्यानां विशोधनम् ॥ २०० ॥

पङ्क्तिबाह्य (३।१ ०—१६६) मनुष्यों (तथा जिनके लिए कोई पृथक् प्रायश्चित्त नहीं किया गया है, उन) की शुद्धि एक मासतक छठे साम (दो दिन दो रात तथा तीसरे दिन पूर्वाह्नमें कुछ न खाकर साम) भोजन, वेद संहिताका जप और 'दैवकृतस्यैनसोऽवयजनमसि' इत्यादि आठ मन्त्रोंसे हवन करनेसे होती है ॥ २०० ॥

अपाङ्क्त्याः 'ये स्तेनपतितक्लीबाः' (म. स्मृ. ३—१५०) इत्यादिनोक्तास्तेषां विशेषतोऽनुपदिष्टप्रायश्चित्तानां मासं त्र्यहमभुक्त्वा तृतीयेऽह्नि सायं भोजनं वेदसंहिताजपो 'देवकृतस्यैनसोऽवयजनमसि' इत्यादिभिरष्टभिर्मन्त्रैर्होमः प्रत्येकं कार्यः । एतत्समुद्दिष्टं पापशोधनम् ॥ २०० ॥

उष्ट्रयानं समारुह्य खरयानं तु कामतः ।
स्नात्वा तु विप्रो दिग्वासाः प्राणायामेन शुध्यति ॥२०१॥

ब्राह्मण ऊँटगाड़ी या गधागाड़ी पर इच्छापूर्वक (ज्ञानपूर्वक) चढ़कर जल में नग्न स्नानकर प्राणायाम करके शुद्ध होता है ॥ २०१ ॥

उष्ट्रैर्युक्तं यानं शकटादि एवं खरयानमपि तत्कामत आरुह्याऽभ्यवधान उष्ट्रखराभ्यां याने प्राणायामबहुत्वं नग्नश्च कामतः स्नानं कृत्वा प्राणायामेन शुद्धो भवति ॥ २१० ॥

विनाद्भिरप्सु वाप्यार्तः शारीरं सन्निवेश्य च ।
सचैलो बहिराप्लुत्य गामालभ्य विशुध्यति ॥ २०२॥

मल-मूत्र त्याग करनेके वेगसे युक्त मनुष्य जलरहित हो (पासमें जल नहीं ले) कर या जलमें मल-मूत्रका त्याग (पेशाब या टट्टी) करके वस्त्रसहित स्नान कर गांवके बाहरमें गौका स्पर्शकर मनुष्य शुद्ध होता है ॥ २०२ ॥

असन्निहितजलो जलमध्ये वा वेगार्तो मूत्रं पुरीषं वा कृत्वा सवासाः बहिर्ग्रामान्नद्यादौ स्नात्वा गां च स्पृष्ट्वा विशुद्धो भवति ॥ २०५ ॥

वेदोदितानां नित्यानां कर्मणां समतिक्रमे ।
स्नातकव्रतलोपे च प्रायश्चित्तमभोजनम् ॥ २०३ ॥

वेदोक्त कर्म (अग्निहोत्र आदि) का उल्लङ्घन होने (बीचमें छूट जाने) पर तथा ब्रह्मचर्य व्रतका लोप होने पर एक दिन उपवास करना चाहिये ॥ २०३ ॥

वेदविहितानां कर्मणामग्निहोत्रादीनामनुपदिष्टप्रायश्चित्तविशेषाणां च परिलोपे स्नातकव्रतानां चतुर्थाध्यायोक्तानामतिक्रमे सत्येकाहोपवासं प्रायश्चित्तं कुर्यात् ॥ २०३ ॥

हुङ्कारं ब्राह्मणस्योक्त्वा त्वङ्कारं च गरीयसः ।
स्नात्वाऽनश्नन्नहःशेषमभिवाद्य प्रसादयेत् ॥ २०४ ॥

ब्राह्मणसे 'हूँ' (थोड़ा क्रुद्ध होकर 'चुप रहो') ऐसा कहनेपर और विद्या एवं आयुमें बड़े लोगोंको 'तू' कहनेपर स्नान करके शेष दिन उपवास कर उन्हें प्रणाम कर प्रसन्न करना चाहिये ॥ २०४ ॥

हुं तूष्णीं स्थीयतामित्याक्षेपं ब्राह्मणस्य कृत्वा त्वङ्कारं च विद्याद्यधिकस्योक्त्वाऽभिवादनकालादारभ्याहःशेषं यावत्स्नात्वा भोजननिवृत्तः पादोपग्रहणेनापगतकोपं कुर्यात् ॥

ताडयित्वा तृणेनापि कण्ठे वाऽऽबध्य वाससा ।
विवादे वा विनिर्जित्य प्रणिपत्य प्रसादयेत् ॥ २०५ ॥

ब्राह्मणको तिनकेसे भी मारकर, उसके गलेमें कपड़ा (गमछा आदि, घसीटने-आगे खैंचनेके लिए) डालकर और विवादमें जीतकर प्रणाम करनेसे उस (ब्राह्मण) को प्रसन्न करना चाहिये ॥ २०५ ॥

प्राकृतं ब्राह्मणं तृणेनापि ताडयित्वा कण्ठे वाऽऽबध्य वाससा वा वाक्कलहेन जित्वा प्रणिपातेन प्रसादयेत् ॥ २०५ ॥

अवगूर्य त्वब्दशतं सहस्रमभिहत्य च ।
जिघांसया ब्राह्मणस्य नरकं प्रतिपद्यते ॥ २०६ ॥

ब्राह्मणको मारनेके लिए डण्डा उठाकर सौ वर्ष तथा डण्डे से मारकर सहस्र वर्षतक मनुष्य नरकमें वास करता है ॥ २०६ ॥

ब्राह्मणस्य हननेच्छया दण्डमुद्यम्य वर्षशतं नरकं प्राप्नोति । दण्डादिना पुनः प्रहृत्य वर्षसहस्रं नरकं प्राप्नोति ॥ २०६ ॥

शोणितं यावतः पांसून्संगृह्णाति महीतले ।
तावन्त्यब्दसहस्राणि तत्कर्ता नरके वसेत् ॥ २०७ ॥

आहत (पीटे गये) ब्राह्मणके शरीरसे गिरे हुए रक्तके द्वारा धूलिके जितने कण पिण्डित होते (साने जाते-गीले होते अर्थात् भींगते) हैं, वह रक्त बहानेवाला मनुष्य उतने सहस्र वर्षोंतक नरक में निवास करता है ॥ २०७ ॥

प्रहतस्य ब्राह्मणस्य रुधिरं यावत्संख्याकान् रजःकणान्भूमौ पिण्डीकरोति तावत्संख्याकानि वर्षसहस्राणि तच्छोणितोत्पादको नरके वसेत् ॥ २०७ ॥

अवगूर्य चरेत्कृच्छ्रमतिकृच्छ्रं निपातने ।
कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ कुर्वीत विप्रस्योत्पाद्य शोणितम् ॥ २०८ ॥

ब्राह्मणको मारने (पीटने) इच्छासे डण्डा उठाकर कृच्छ्र (प्राजापत्य ११।२११) व्रत, डण्डेसे मारकर अतिकृच्छ्र (११।२१३) व्रत और मारनेसे उसका रक्त बहाकर कृच्छ्र तथा अतिकृच्छ्र—दोनों—व्रत पापनिवृत्तिके लिए करना चाहिये ॥ २०८ ॥

ब्राह्मणस्य हननेच्छया दण्डाद्युद्यमने कृच्छ्रं कुर्यात् । दण्डादिप्रहारे दत्तेऽतिकृच्छ्रं वक्ष्यमाणं चरेत् । रुधिरमुत्पाद्य कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ कुर्वीत ॥ २०८ ॥

अनुक्तनिष्कृतीनां तु पापानामपनुत्तये ।
शक्तिं चावेक्ष्य पापं च प्रायश्चित्तं प्रकल्पयेत् ॥ २०९ ॥

जिनका प्रायश्चित्त नहीं कहा गया है (जैसे प्रतिलोमजका वध करने आदि पर) उनसे उत्पन्न दोषकी निवृत्तिके लिए शक्ति (शरीर, धन, सामर्थ्य आदि) और पाप (ज्ञानपूर्वक, अज्ञानपूर्वक इत्यादि कारणोंसे पापोंका गौरव-लाघव आदि) का विचारकर प्रायश्चित्तकी कल्पना (धर्मशास्त्रियोंको) करनी चाहिये ॥ २०९ ॥

अनुक्तप्रायश्चित्तानां यथा प्रतिलोमवधादिकृतानां निर्हरणार्थं कर्तुः शरीरधनानि सामर्थ्यमवेक्ष्य पापं च ज्ञात्वा ज्ञानाज्ञानसकृदावृत्त्यनुबन्धादिरूपेण प्रायश्चित्तं प्रकल्पयेत् ॥ २०९ ॥

यैरभ्युपायैरेनांसि मानवो व्यपकर्षति ।
तान्वोऽभ्युपायान्वक्ष्यामि देवर्षिपितृसेवितान् ॥ २१० ॥

(भृगुजी महर्षियोंसे कहते हैं कि—) मनुष्य जिन उपायोंसे पापोंको नष्ट करता है; देव, ऋषि तथा पितरोंसे सेवित उन उपायोंको (मैं) आप लोगोंसे कहूँगा ॥ २१० ॥

यैर्हेतुभिर्मनुष्यः पापान्यपनुदति तान्पापनाशहेतून्देवर्षिपितृभिरनुष्ठितान् युष्माकं वक्ष्यामि ॥ २१० ॥

त्र्यहं प्रातस्त्र्यहं सायं त्र्यहमद्यादयाचितम् ।
त्र्यहं परं च नाश्नीयात्प्राजापत्यं चरन्द्विजः ॥ २११ ॥

प्राजापत्य व्रत करनेवाला द्विज पहले तीन दिन प्रातःकाल (मध्याह्नके पूर्व दिनके भोजनकाल में), तीन दिन सायङ्काल (सन्ध्याके बीतनेपर रात्रि के भोजन कालमें) तीन दिन बिना मांगे (जो कुछ मिल जाय उसे ही) भोजन करे और तीन दिन उपवास करे ॥ २११ ॥

प्राजापत्याख्यं कृच्छ्रमाचरन् द्विजातिराद्यं दिनत्रयं प्रातर्भुञ्जीत। प्रातःशब्दोऽयं भोजनानामौचित्यप्राप्तदिवाकालपरः । अत एव वसिष्ठः—'त्र्यहं दिवा भुङ्क्ते नक्तमत्ति च त्र्यहं त्र्यहं नक्ताशी दिवाशी च ततस्त्र्यहम् । त्र्यहमयाचितव्रतस्त्र्यहं नाश्नाति किंचन ॥' इति कृच्छ्रद्वादशरात्रस्य विधिः । अपरं च दिनत्रयं सायंसंध्यायामतीतायां भुञ्जीत । अन्यद्दिनत्रयमयाचितं तावदन्नं भुञ्जीत। शेषं च दिनत्रयं न किंचिदश्नीयात्। अत्र ग्राससंख्यापरिमाणापेक्षायां पराशरः—

'सायं द्वात्रिंशतिर्ग्रासाः प्रातः षड्विंशतिस्तथा ।
अयाचिते चतुर्विंशत्परं चानशनं स्मृतम् ॥

कुक्कुटाण्डप्रमाणं च यावांश्च प्रविशेन्मुखम्।
एतं ग्रासं विजानीयाच्छुद्ध्यर्थं ग्रासशोधनम्॥
हविष्यं चान्नमश्नीयाद्यथा रात्रौ तथा दिवा।
त्रींस्त्रीण्यहानि शास्त्रीयान्ग्रासान्संख्याकृतान्यथा॥
अयाचितं तथैवाद्यादुपवासस्त्र्यहं भवेत्॥ २११॥'

गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम्।
एकरात्रोपवासश्च कृच्छ्रं सांतपनं स्मृतम्॥ २१२॥

गोमूत्र, गोबर, दूध, दही, घी और कुशाका जल; इनमें से प्रत्येकको १-१ दिन भोजन करे इस प्रकार ६ दिन इन्हें भोजन कर सातवें दिन उपवास करे, यह 'कृच्छ्र सान्तपन' व्रत कहा गया है॥ २१२॥

गोमूत्राद्येकीकृत्य एकैकस्मिन्नहनि भक्षयेन्नान्यत्किंचिद्यात्। अपरदिने चोपवास इत्येतत्सांतपनं कृच्छ्रं स्मृतम्। यदा तु गोमूत्रादिषट् प्रत्येकं षट् दिनान्युपभुज्य सप्तमे दिने चोपवासस्तदा महासांतपनं भवति। तथा च याज्ञवल्क्यः—

'कुशोदकं च गोक्षीरं दधि मूत्रं शकृद् घृतम्।
जग्ध्वापरेऽह्न्युपवसेत्कृच्छ्रं सांतपनं चरन्॥
पृथक् सांतपनद्रव्यैः षडहः सोपवासिकः।
सप्ताहेन तु कृच्छ्रोऽयं महासांतपनं स्मृतम्॥ २१२॥'

एकैकं ग्रासमश्नीयात्त्र्यहाणि त्रीणि पूर्ववत्।
त्र्यहं चोपवसेदन्त्यमतिकृच्छ्रं चरन्द्विजः॥ २१३॥

'अतिकृच्छ्र' व्रतको करनेवाला द्विज पूर्ववत् (११।२११) तीन दिन प्रातःकाल तीन दिन सायङ्काल तथा तीन दिन अयाचित (बिना मांगे मिला हुआ) १-१ ग्रास भोजन करे और अन्तमें तीन दिन उपवास करे॥ २१३॥

अतिकृच्छ्रं द्विजातिरनुतिष्ठन्प्रातः सायमयाचितादिरूपेणैकैकं ग्रासं त्र्यहाणि त्रीणि त्रीणि पूर्ववत्। अन्यच्च त्र्यहं न किंचिद् भुञ्जीत॥ २१३॥

तप्तकृच्छ्रं चरन्विप्रो जलक्षीरघृतानिलान्।
प्रतित्र्यहं पिबेदुष्णान्सकृत्स्नायी समाहितः॥ २१४॥
[अपां पिबेच्च त्रिपलं पलमेकं च सर्पिषः।
पयः पिबेत्तु त्रिपलं त्रिमात्रं चोक्तमानतः॥ ११]

'तप्तकृच्छ्र'को करता हुआ ब्राह्मण (द्विज) तीन दिन गरम जल, तीन दिन गरम दूध, तीन दिन गरम घी और अन्तमें तीन दिन केवल गरम वायुको पीकर रहे तथा एक बार प्रतिदिन स्नान करता रहे॥ २१४॥

तप्तकृच्छ्रं चरन्द्विजातिः त्र्यहमुष्णोदकं त्र्यहमुष्णक्षीरं त्र्यहमुष्णघृतं त्र्यहमुष्णवायुमेकवारं स्नानं कुर्वन्संयमवान्पिबेत्। अत्र पराशरोक्तो विशेषः—

'षट्पलं तु पिबेदम्भस्त्रिपलं तु पयः पिबेत्।
पलमेकं पिबेत्सर्पिस्तप्तकृच्छ्रं विधीयते॥ २१४॥'

यतात्मनोऽप्रमत्तस्य द्वादशाहमभोजनम् ।
पराको नाम कृच्छ्रोऽयं सर्वपापापनोदनः ॥ २१५ ॥

सावधान तथा जितेन्द्रिय होकर बारह दिनतक भोजन नहीं करना 'पराक' नामक कृच्छ्रव्रत है, यह व्रत सब प्रकारके (क्षुद्र, मध्यम तथा महान्) पापोंको नष्ट करनेवाला है ॥ २१५ ॥

विगतानवधानस्य संयतेन्द्रियस्य द्वादशाहमभोजनमेव पराकाख्यः कृच्छ्रः सकृदावृत्तितारतम्येन गुरुलघुसमफलपापापनोदनः ॥ २१५ ॥

एकैकं ह्रासयेत्पिण्डं कृष्णे शुक्ले च वर्धयेत् ।
उपस्पृशंस्त्रिषवणमेतच्चान्द्रायणं स्मृतम् ॥ २१६ ॥

त्रिकाल (प्रातः, मध्याह्न तथा सायङ्काल) स्नान करता हुआ (पूर्णिमाको १५ ग्रास भोजनकर) कृष्णपक्षमें प्रतिदिन १-१ ग्रास भोजन घटाता जाय तथा शुक्लपक्षमें प्रतिदिन १-१ ग्रास भोजन बढ़ाता जाय, यह 'चान्द्रायण' (पिपीलिका मध्य चन्द्रायण) व्रत है ॥ २१६ ॥

सायंप्रातर्मध्यान्हेषु स्नानं कुर्वाणः पौर्णमास्यां पञ्चदश ग्रासानशित्वा ततः कृष्णप्रतिपत्क्रमेणैकैकं ग्रासं ह्रासयेत्तथा चतुर्दश्यामेको ग्रासः संपद्यते। ततोऽमावास्यायामुपोष्य शुक्लप्रतिपत्प्रभृतिभिरेकैकं ग्रासं वृद्धिं नयेत्। एवं पौर्णमास्यां पञ्चदश ग्रासाः संपद्यन्ते। एतत्पिपीलिकामध्याख्यं चान्द्रायणं स्मृतम् ॥ २१६ ॥

एतमेव विधिं कृत्स्नमाचरेद्यवमध्यमे ।
शुक्लपक्षादिनियतश्चरंश्चान्द्रायणं व्रतम् ॥ २१७ ॥

मध्यम चान्द्रायण व्रतको करता हुआ व्रती (त्रिकाल स्नान करता हुआ) शुक्लपक्षको पहले तथा कृष्णपक्षको बादमें करके इसी समस्त विधि (११।२१६) को करे ॥ २१७ ॥

एतमेव पिण्डह्रासवृद्धित्रिषवणस्नानात्मकं विधानं यवमध्याख्ये चान्द्रायणे शुक्लपक्षमादितः कृत्वा संयतेन्द्रियश्चान्द्रायणमनुतिष्ठन्नाचरेत्। ततश्च शुक्लप्रतिपदमारभ्य एकैकं पिण्डं वर्धयेत्। यथा पौर्णमास्यां पञ्चदश ग्रासाः संपद्यन्ते। ततः कृष्णप्रतिपदमारभ्य एकैकं पिण्डं ह्रासयेत्। यथाऽमावास्यायामुपवासो भवति ॥ २१७ ॥

अष्टावष्टौ समश्नीयात्पिण्डान्मध्यंदिने स्थिते ।
नियतात्मा हविष्याशी यतिचान्द्रायणं चरन् ॥ २१८ ॥

'यति चान्द्रायण' व्रतको करता हुआ संयतेन्द्रिय द्विज (शुक्लपक्ष या कृष्णपक्षसे आरम्भकर) एक मासतक प्रतिदिन मध्याह्नकालमें ८-८ ग्रास हविष्यान्न भोजन करे ॥ २१८ ॥

यतिचान्द्रायणमनुतिष्ठन् शुक्लपक्षात्कृष्णपक्षाद्वाऽऽरभ्य मासमेकं संयतेन्द्रियः प्रत्यहमष्टावष्टौ ग्रासान्मध्यंदिने भुञ्जीत। मध्यंदिन इति गृहस्थब्रह्मचारिणोः सायंभोजननिवृत्त्यर्थम् ॥ २१८ ॥

चतुरः प्रातरश्नीयात्पिण्डान्विप्रः समाहितः ।
चतुरोऽस्तमिते सूर्ये शिशुचान्द्रायणं स्मृतम् ॥ २१९ ॥

सावधानचित्त ब्राह्मण (द्विज) चार ग्रास प्रातःकाल तथा चार ग्रास सूर्यास्त होनेपर एक मासतक प्रतिदिन भोजन करे तो यह 'शिशुचान्द्रायण' व्रत कहा गया है ॥ २१९ ॥

प्रातश्चतुरो ग्रासानश्नीयात। अस्तमिते च सूर्ये चतुरो ग्रासान्भुञ्जीत। एतच्छिशुचान्द्रायणं मुनिभिः स्मृतम् ॥ २१९ ॥

यथाकथंचित्पिण्डानां तिस्रोऽशीतीः समाहितः ।
मासेनाश्नन्हविष्यस्य चन्द्रस्यैति सलोकताम् ॥ २२० ॥

सावधानचित्त द्विज (नीवारादि) हविष्यान्नके तीन अस्सी अर्थात् दो सौ चालिस ग्रासोंको एक मासमें जिस किसी प्रकार (कभी १०, कभी ५ तो कभी १६ ग्रास खाकर और कभी उपवास कर एक मासमें कुल २४० ग्रास) भोजनकर चन्द्रलोकको प्राप्त करता है ॥ २२० ॥

नीवारादिहविष्यसंबन्धिनां ग्रासानां द्वे शते चत्वारिंशदधिके कदाचिद्दश कदाचित्पञ्च कदाचित्षोडश कदाचिदुपवासं इत्येवमाद्यनियमेन यथाकथंचित्पिण्डान्मासेन संयतवा- न्भुञ्जानश्चन्द्रसलोकतां याति एवं पापक्षयार्थमभ्युदयार्थं चेदमुक्तम्। अत एव याज्ञवल्क्यः—

'धर्मार्थं यश्चरेदेतच्चन्द्रस्यैति सलोकताम् ।
कृच्छ्रकृच्छ्रमर्मकामस्तु महतीं श्रियमाप्नुयात् ॥ (या. स्मृ. ३-३२६-२७)'

अतः प्राजापत्यादिकृच्छ्रमप्यभ्युदयफलमिति याज्ञवल्क्येनोक्तम् ॥ २२० ॥

एतद्रुद्रास्तथादित्या वसवश्चाचरन्व्रतम् ।
सर्वाकुशलमोक्षाय मरुतश्च महर्षिभिः ॥ २२१ ॥

इस चान्द्रायण व्रतको रुद्र, सूर्य, वसु, वायु तथा महर्षियोंने सब पापोंके नाशके लिए किया था ॥ २२१ ॥

एतच्चान्द्रायणाख्यं व्रतं रुद्रादित्यवसुमरुतश्च महर्षिभिः सह सर्वपापनाशाय गुरुलघु- पापापेक्षया सकृदावृत्तिप्रकारेण कृतवन्तः ॥ २२१ ॥

महाव्याहृतिभिर्होमः कर्तव्यः स्वयमन्वहम् ।
अहिंसासत्यमक्रोधमार्जवं च समाचरेत् ॥ २२२ ॥

द्विज महाव्याहृतियों (भूः भुवः स्वः) से प्रतिदिन घृतसे स्वयं हवन करे तथा अहिंसा, सत्यभाषण, क्रोधत्याग और सरलताका आचरण करे ॥ २२२ ॥

'महाव्याहृतिभिर्भूर्भुवःस्वरेताभिः ।
आज्यं हविरनादेशे जुहोतिषु विधीयते ॥'

इति परिशिष्टवचनादाज्येन प्रत्यहं होमं कुर्यात् । अहिंसासत्याक्रोधाकौटिल्यानि चा- नुतिष्ठेत् । यद्यप्येतानि पुरुषार्थतया विहितानि तथापि व्रताङ्गतयाप्युपदेशः ॥ २२२ ॥

त्रिरह्नस्त्रिर्निशायां च सवासा जलमाविशेत् ।
स्त्रीशूद्रपतितांश्चैव नाभिभाषेत कर्हिचित् ॥ २२३ ॥

पिपीलिकामध्य (११।२१६) तथा यवमध्य (११।२१७) नामक चान्द्रायण व्रतको करता हुआ दिन तथा रात्रिमें तीन-तीन बार सवस्त्र स्नान करे तथा व्रत पूर्ण होनेतक स्त्री, शूद्र तथा पतितोंके साथ कभी बातचीत न करे ॥ २२३ ॥

अहनि रात्रावादिमध्यवसानेषु स्नानार्थं सचैलो नद्यादिजलं प्रविशेत् । एतच्च पिपीलि- कामध्ययवमध्यचान्द्रायणेतरचान्द्रायणविषयम् । तयोः 'उपस्पृशंस्त्रिषवणम्' (म. स्मृ. ६-२४) इत्युक्तत्वात् । स्त्रीशूद्रपतितैश्च सह यावद् व्रतं कदाचित्संभाषणं न कुर्यात् ॥२२३॥

स्थानासनाभ्यां विहरेदशक्तोऽधः शयीत वा ।
ब्रह्मचारी व्रती च स्यादु गुरुदेवद्विजार्चकः ॥ २२४ ॥

और रात तथा दिनमें खड़ा रहे, टहलता रहे या बैठे (किन्तु सोवे (लेटे) नहीं, अथवा इतनी शक्ति नहीं रहनेपर भूमिपर सोवे, ब्रह्मचारी तथा व्रती रहे और गुरु, देव तथा ब्राह्मणोंकी पूजा (आदर-सत्कार) करे ॥ २२४ ॥

अहनि रात्रौ च उत्थित आसीनः स्यान्न तु शयीत। असामर्थ्ये तु स्थण्डिले शयीत न खट्वादौ। ब्रह्मचारी स्त्रीसंयोगरहितव्रतः। व्रती मौञ्जीदण्डादियुक्तः।

'पालाशं धारयेद्दण्डं शुचिर्मौञ्जीं च मेखलाम्।'

इति यमस्मरणात्। गुरुदेवब्राह्मणानां च पूजको भवेत् ॥ २२४ ॥

सावित्रीं च जपेन्नित्यं पवित्राणि च शक्तितः।
सर्वेष्वेव व्रतेष्वेवं प्रायश्चित्तार्थमादृतः ॥ २२५ ॥

सावित्री तथा पवित्र (अघमर्षण आदि) मन्त्रोंका सर्वदा जप करे। इस (११।२२२-२२४) विधिको चान्द्रायण व्रतके समान अन्य (प्राजापत्य आदि) व्रतोंमें भी यत्नपूर्वक करे ॥ २२५ ॥

सावित्रीं च सदा जपेत्। पवित्राणि चाघमर्षणादीनि यथाशक्ति जपेत्। एतच्च यथा चान्द्रायणे तथा प्राजापत्यादिकृच्छ्रेष्वपि यत्नवान्प्रायश्चित्तार्थमनुतिष्ठेत् ॥ २२५ ॥

एतैर्द्विजातयः शोध्या व्रतैराविष्कृतैनसः।
अनाविष्कृतपापांस्तु मन्त्रैर्होमैश्च शोधयेत् ॥ २२६ ॥

सर्वविदित पापवाले द्विजातियोंको इन पूर्वोक्त (११।२११-२२५) प्रायश्चित्तों के द्वारा आगे वक्ष्यमाण परिषद् अर्थात् विद्वत्समिति शुद्धि करे तथा जनतामें अविदित पापवाले द्विजातियोंको मन्त्रोंके जप तथा हवनोंके द्वारा शुद्ध करे ॥ २२६ ॥

लोकविदितपापा द्विजातय एभिरुक्तप्रायश्चित्तैर्वक्ष्यमाणपरिषदा शोधनीयाः। अप्रकाशितपापांस्तु मानवान्मन्त्रैर्होमैश्च परिषदेव शोधयेत्। यद्यपि परिषदि निवेदने रहस्यत्वस्य नाशस्तथाप्यमुकपापे कृते केनापि लोकाविदिते किं प्रायश्चित्तं स्यादिति सामान्यप्रश्ने न विरोधः ॥ २२६ ॥

ख्यापनेनानुतापेन तपसाऽध्ययनेन च।
पापकृन्मुच्यते पापात्तथा दानेन चापदि ॥ २२७ ॥

अपने पापको सर्वसाधारणमें कहनेसे, पश्चात्ताप ('ऐसे कुकर्ममें प्रवृत्त होनेवाले मुझ पापीको बार-बार धिक्कार है' इत्यादि प्रकारसे निरन्तर पछतावा) करनेसे, कठिन तपश्चरणसे, (वेद आदिके) अध्ययन (पाठ, जप आदि) से और (इन सब कार्योंकी शक्ति नहीं रहनेपर) दान करनेसे पापी मनुष्य पापसे छूट जाता है ॥ २२७ ॥

पापकारी नरो लोकेषु निजपापकथनेन धिङ्मामतिपापकारिणमिति पश्चात्तापेन शुध्यति। तपसा चोग्ररूपेण सावित्रीजपादिना च पापान्मुच्यते। तपस्यशक्तो दानेन च पापान्मुक्तो भवति ख्यापनं चेदं प्रकाशप्रायश्चित्ताङ्गं न रहस्यप्रायश्चित्ताङ्गं रहस्यत्वहानिप्रसङ्गात्। अनुतापश्च प्रकाशरहस्याङ्गमेव। दानेनेति प्राजापत्यव्रत एकधेनुविधानात्। धेनुश्च पञ्चपुराणीया त्रिपुराणीया वेति। एतेन ब्रह्महत्यानिमित्तके द्वादशवार्षिकव्रते मासि सार्धद्वयप्राजापत्यात् वत्सरे त्रिंशद्धेनवो भवन्ति। द्वादशभिर्वर्षैः षष्ठ्यधिकशतत्रयं धेनवो भवन्तीति ॥ २२७ ॥

यथा यथा नरोऽधर्मं स्वयं कृत्वाऽनुभाषते।
तथा तथा त्वचेवाहिस्तेनाधर्मेण मुच्यते ॥ २२८ ॥

पापी मनुष्य पाप करके जैसे-जैसे अपने पापको लोगोसे कहता है, वैसे-वैसे कांचलीसे साँपके समान वह मनुष्य उस पापसे छूटता (अलग होता) जाता है ॥ २२८ ॥

यथा यथा स्वयं पापं कृत्वा नरो भाषते लोके ख्यापयति तथा तथा तेन पापेन सर्प इव जीर्णत्वचा मुच्यत इति ख्यापनविधेरनुवादः ॥ २२८ ॥

यथा यथा मनस्तस्य दुष्कृतं कर्म गर्हति ।
तथा तथा शरीरं तत्तेनाधर्मेण मुच्यते ॥ २२९ ॥

और उस पापीका मन जैसे-जैसे उस दूषित कर्मकी निन्दा करता है, वैसे-वैसे उस पापसे छूटता जाता है ॥ २२९ ॥

तस्य पापकारिणो मनो यथा यथा दुष्कृतं कर्म निन्दति तथा तथा शरीरं जीवात्मा तेनाधर्मेण मुक्तो भवति अयमनुतापानुवाद इति ॥ २२९ ॥

कृत्वा पापं हि संतप्य तस्मात्पापात्प्रमुच्यते ।
नैवं कुर्यां पुनरिति निवृत्त्या पूयते तु सः ॥ २३० ॥

पापी मनुष्य पाप कर्म करके उसके लिए अनुताप (पछतावा) कर पापसे छूट जाता है तथा 'फिर मैं ऐसा निन्दित कर्म नहीं करूंगा' इस प्रकार सङ्कल्परूपसे उसका त्यागकर वह पवित्र हो जाता है ॥ २३० ॥

पापं कृत्वा पश्चात्संतप्य तस्मात्पापान्मुच्यत इत्युक्तमपि नैवं कुर्यां पुनरित्येवमनूदितम् । यदा तु पश्चात्तापो नैवं पुनः करिष्यामीत्येवं निवृत्तिरूपसंकल्पफलकः स्यात्तदा सुतरां तस्मात्पापात्पूतो भवतीति । एतच्च निवृत्तिसंकल्पस्य प्रकाशाप्रकाशप्रायश्चित्ताङ्गविधानार्थम् ॥ २३० ॥

एवं संचिन्त्य मनसा प्रेत्य कर्मफलोदयम् ।
मनोवाङ्मूर्तिभिर्नित्यं शुभं कर्म समाचरेत् ॥ २३१ ॥

मनुष्य इस प्रकार मनसे शुभ तथा अशुभ कर्मोंको परलोक में (क्रमशः) इष्ट तथा अनिष्ट (भला-बुरा) फल देनेवाला विचारकर मन, वचन तथा कर्मसे सर्वदा अच्छे कर्मोंको करे ॥ २३१ ॥

एवं शुभाशुभानां कर्मणां परलोक इष्टानिष्टफलं मनसा विचार्य मनोवाक्कायैः शुभमेव सर्वं कर्म कुर्यात्, इष्टफलत्वात् । नाशुभं, नरकादिदुःखहेतुत्वात् ॥ २३१ ॥

अज्ञानाद्यदि वा ज्ञानात्कृत्वा कर्म विगर्हितम् ।
तस्माद्विमुक्तिमन्विच्छन्द्वितीयं न समाचरेत् ॥ २३२ ॥

ज्ञान या अज्ञानसे पाप कर्म करनेपर उससे मुक्ति (छुटकारा) चाहता हुआ मनुष्य फिर दुबारा उस निन्दित कर्मको मत करे, अन्यथा दुबारा पाप करनेपर उसका प्रायश्चित्त भी दुगुना करना पड़ता है ॥ २३२ ॥

प्रमादादिच्छातो वा निषिद्धं कर्म कृत्वा तस्मात्पापान्मुक्तिमिच्छन्पुनस्तन्न कुर्यात् । एतच्च पुनः करणे प्रायश्चित्तगौरवार्थम् । अत एव देवलः—

'विधेः प्राथमिकादस्माद् द्वितीये द्विगुणं भवेत् ।' इति ॥ २३२ ॥

यस्मिन्कर्मण्यस्य कृते मनसः स्यादलाघवम् ।
तस्मिंस्तावत्तपः कुर्याद्यावत्तुष्टिकरं भवेत् ॥ २३३ ॥

पापी मनुष्यका मन जिस प्रायश्चित्तको करनेपर हल्का (सुप्रसन्न--इतना व्रत नियमादि प्रायश्चित्त करनेसे मेरा पाप अवश्य दूर हो गया होगा' इस प्रकार दृढ़ आत्मविश्वास) न हो, तब तक वह व्रत नियम आदि तपका आचरण करता रहे ॥ २३३ ॥

अस्य पापकारिणो यस्मिन्प्रायश्चित्ताख्ये कर्मण्यनुष्ठिते न चित्तस्य संतोषः स्यात्तस्मिंस्तदेव प्रायश्चित्तं तावदावर्तयेद्यावन्मनसः संतोषः प्रसादः स्यात् ॥ २३३ ॥

तपोमूलमिदं सर्वं दैवमानुषकं सुखम् ।
तपोमध्यं बुधैः प्रोक्तं तपोऽन्तं वेददर्शिभिः ॥ २३४ ॥

देवों तथा मनुष्योंके सुखकी जड़ तप ही है, वह सुख तपसे स्थिर रहता है और उस सुखका अन्तिम लक्ष्य तप ही है; ऐसा वेद (मन्त्रों) के द्रष्टा महर्षियोंका कथन है ॥ २३४ ॥

यदेतत्सर्वं देवानां मनुष्याणां च सुखं तस्य तपः कारणम् । तमसैव तस्य स्थितिः । तपोऽन्तः प्रतिनियतविधिरेव देवादिसुखस्य तपसा जननादादिष्टं वेदार्थैरुक्तम् । उक्तप्राजापत्यादिप्रायश्चित्तात्मकं तपः । प्रसङ्गेन चेदं वक्ष्यमाणं च सर्वंतपोमाहात्म्यकथनम् ॥२३४॥

ब्राह्मणस्य तपो ज्ञानं तपः क्षत्रस्य रक्षणम् ।
वैश्यस्य तु तपो वार्ता तपः शूद्रस्य सेवनम् ॥ २३५ ॥

ब्राह्मणका तप ज्ञान (ब्रह्मचर्यरूप वेदान्तज्ञान), क्षत्रियका तप प्रजा तथा आर्तका रक्षण, वैश्यका तप वार्ता (खेती, व्यापार और पशुपालनादि) और शूद्रका तप ब्राह्मणकी सेवा करना है ॥ २३५ ॥

ब्राह्मणस्य ब्रह्मचर्यात्मकवेदान्तावबोधनं तपः, राजन्यस्य रक्षणं तपः, वैश्यस्य कृषिवाणिज्यपाशुपाल्यादिकं तपः, शूद्रस्य ब्राह्मणपरिचर्या तप इति वर्णविशेषेणोत्कर्षबोधनार्थम् ॥

ऋषयः संयतात्मानः फलमूलानिलाशनाः ।
तपसैव प्रपश्यन्ति त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥ २३६ ॥

(काय, वचन और मनसे) संयम रखनेवाले तथा फल—मूल एवं वायुका भक्षण करनेवाले महर्षिलोग तपसे ही चराचरसहित त्रैलोक्यको देखते हैं ॥ २३६ ॥

ऋषयो वाङ्मनःकायनियमोपेताः फलमूलवायुभक्षास्तपसैव जङ्गमस्थावरसहितं पृथिव्यन्तरिक्षस्वर्गात्मकं लोकत्रयमेकदेशस्थाः सन्तो निष्पापान्तःकरणाः प्रकर्षेण पश्यन्ति ॥ २३६ ॥

औषधान्यगदो विद्या दैवी च विविधा स्थितिः ।
तपसैव प्रसिध्यन्ति तपस्तेषां हि साधनम् ॥ २३७ ॥

औषध, नीरोगता, (वेदादि ज्ञानरूप) विद्या-देवोंकी (स्वर्ग आदि) अनेक लोकोंमें स्थिति, ये सब तपसे ही प्राप्त होते हैं, अत एव तप ही इनकी प्राप्तिका कारण है ॥ २३७ ॥

औषधानि व्याध्युपशमनहेतुकानि । अगदो गदाभावः नैरुज्यमिति यावत् । विद्या ब्रह्मधर्मचर्यात्मकवेदार्थज्ञानं वेदसम्बन्धिनी च नानारूपा स्वर्गादाववस्थितिरित्येतानि तपसैव प्राप्यन्ते तस्मात्तप एषां प्राप्तिनिमित्तम् ॥ २३७ ॥

यद् दुस्तरं यद् दुरापं यद् दुर्गं यच्च दुष्करम् ।
सर्वं तु तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम् ॥ २३८ ॥

जो दुस्तर (कठिनतासे पार होने योग्य ग्रहबाधा आदि है), जो दुर्लभ (कठिनतासे प्राप्त होने योग्य-यथा क्षत्रिय होकर भी विश्वामित्रका ब्राह्मण होना आदि) है, जो दुर्गम (कठिनतासे चलने योग्य सुमेरु-शिखर आदि) है, जो दुष्कर (कठिनतासे करने योग्य गौ, भूमि, धन आदिका अपरिमित मात्रामें दान करना आदि) है, क्योंकि तप उलङ्घनके योग्य नहीं होता है ॥ २३८ ॥

यद्दुःखेन तीर्यते ग्रहदोषसूचितापदादि, यद्दुःखेन प्राप्यते क्षत्रियादिना यथा विश्वामित्रेण तेनैव शरीरेण ब्राह्मण्यादि. यद्दुःखेन गम्यते मेरुपृष्ठादि, यद्दुःखेन क्रियते गोः प्रचुरदानादि तत्सर्वं तपसा साधितुं शक्यते। यस्मादतिदुष्करकार्यकरणं सर्वं तपसा साध्यते । तपो दुर्लङ्घमशक्ति ॥ २३८ ॥

महापातकिनश्चैव शेषाश्चाकार्यकारिणः ।
तपसैव सुतप्तेन मुच्यन्ते किल्बिषात्ततः ॥ २३९ ॥

इस कारणसे (११।२४-२३८) महापातकी (ब्रह्महत्या आदि करनेवाले—११।५४) तथा शेष अकार्यकारी (गोहत्या आदि उपपातक करनेवाले—११।५९६६) अच्छी तरह किये गये तपके द्वारा ही पापसे छूट जाते हैं ॥ २३९ ॥

ब्रह्महत्यादिमहापातककारिणोऽन्ये उपपातकाद्यकार्यकारिणस्तपसैव उक्तरूपेणानुष्ठितेन तस्मात्पापान्मुच्यन्ते । उक्तस्यापि पुनर्वचनं प्रायश्चित्तस्तुत्यर्थम् ॥ २३९ ॥

कीटाश्चाहिपतङ्गाश्च पशवश्च वयांसि च ।
स्थावराणि च भूतानि दिवं यान्ति तपोबलात् ॥ २४० ॥

कीट (क्षुद्र जीव), सर्प, पतङ्ग (फुनंगे—उड़नेवाले फतिङ्गे), पशु, पक्षी तथा सम्पूर्ण चराचर (वृक्ष, लता, गुल्म आदि) जीव तपके बलसे ही स्वर्गको जाते हैं ॥ २४० ॥

कीटसर्पशलभपशुपक्षिणः स्थावराणि च वृक्षगुल्मादीनि भूतानि तपोमाहात्म्येन स्वर्गं यान्ति । इतिहासादौ कपोतोपाख्यानादिषु पक्षिणोऽप्यग्निप्रवेशादिकं तपस्तपन्तीति श्रूयते। कीटानां यज्जातिसहजं दुःखं तत्सम तपस्तेन च क्षीणकल्मषा अधिकारिणो जन्मान्तरकृतेन सुकृतेन दिवं यान्ति ॥ २४० ॥

यत्किञ्चिदेनः कुर्वन्ति मनोवाङ्मूर्तिभिर्जनाः ।
तत्सर्वं निर्दहन्त्याशु तपसैव तपोधनाः ॥ २४१ ॥

मनुष्य मन, वचन तथा कायसे जो कुछ पाप करते हैं; उन सब पापोंको वे तपस्वी लोग तपसे ही भस्म कर देते है ॥ २४१ ॥

यत्किञ्चित्पापं मनोवाग्देहैर्मानवाः कुर्वन्ति तत्सर्वं पापं निर्दहन्ति तपसैव तपोधना इति । तप एव धनमिव रक्षणीयं येषां ते तपोधनाः ॥ २४१ ॥

तपसैव विशुद्धस्य ब्राह्मणस्य दिवौकसः ।
इज्याश्च प्रतिगृह्णन्ति कामान्संवर्धयन्ति च ॥ २४२ ॥

तपसे ही अत्यन्त शुद्ध ब्राह्मणके यज्ञमें देवता लोग हविष्यको लेते और उनके मनोरथको पूर्ण करते हैं ॥ २४२ ॥

प्रायश्चित्ततपसा क्षीणपापस्य ब्राह्मणस्य यागे हवींषि देवाः प्रतिगृह्णन्ति । अभिलषितार्थांश्च प्रयच्छन्ति ॥ २४२ ॥

प्रजापतिरिदं शास्त्रं तपसैवासृजत्प्रभुः।
तथैव वेदानृषयस्तपसा प्रतिपेदिरे ॥ २४३ ॥

तपसे ही (सम्पूर्ण लोकोंकी सृष्टि, पालन तथा नाश करनेमें) समर्थ ब्रह्माने इस शास्त्रको बनाया तथा तपसे ही (वसिष्ठ आदि) ऋषियोंने (मन्त्र तथा ब्राह्मण रूप) वेदको प्राप्त किया ॥ २४३ ॥

हिरण्यगर्भः सकललोकोत्पत्तिस्थितिप्रलयप्रभुः तपःकरणपूर्वकमेवेमं ग्रन्थमकरोत्। तथैव ऋषयो वसिष्ठादयस्तपसैव मन्त्रब्राह्मणात्मकान्वेदान्प्राप्तवन्तः ॥ २४३ ॥

इत्येतत्तपसो देवा महाभाग्यं प्रचक्षते।
सर्वस्यास्य प्रपश्यन्तस्तपसः पुण्यमुत्तमम् ॥ २४४ ॥
[ब्रह्मचर्यं जपो होमः काले शुद्धाल्पभोजनम्।
अरागद्वेषलोभाश्च तप उक्तं स्वयम्भुवा ॥ १२ ॥]

इन समस्त प्राणियोंके दुर्लभ एवं पुण्यमय जन्मके प्राप्त होता हुआ देखकर देवता लोग तपके बड़े भारी माहात्म्यको कहते हैं ॥ २४४ ॥

[ब्रह्मचर्य, जप, हवन, यथासमय शुद्ध तथा स्वल्प भोजन; राग-द्वेष तथा लोभका त्याग; इनको ब्रह्माने तप कहा है ॥ १२ ॥]

सर्वस्यास्य जन्तोर्यद् दुर्लभं जन्म तपसः प्रकाशादित्येवं देवाः प्रपश्यन्तः 'तपोमूलमिदं सर्वम्' (म० स्मृ० ११-२३४) इत्यादि तपोमाहात्म्यं प्रवदन्ति ॥ २४४ ॥

वेदाभ्यासोऽन्वहं शक्त्या महायज्ञक्रिया क्षमा।
नाशयन्त्याशु पापानि महापातकजान्यपि ॥ २४५ ॥

प्रतिदिन यथाशक्ति वेदका अभ्यास, पञ्चमहायज्ञ (३।७०) तथा क्षमा; ये सब महापातकसे भी उत्पन्न पापोंको नष्ट कर देते हैं (फिर साधारण पापोंके विषयमें क्या कहना है, अतः इनका आचरण यथाशक्ति करते रहना चाहिये) ॥ २४५ ॥

यथाशक्ति प्रत्यहं वेदाध्ययनं पञ्चमहायज्ञानुष्ठानमपराधसहिष्णुत्वमित्येतानि महापातकजनितान्यपि पापानि शीघ्रं नाशयन्ति किमुतान्यानि ॥ २४५ ॥

यथैधस्तेजसा वह्निः प्राप्तं निर्दहति क्षणात्।
तथा ज्ञानाग्निना पापं सर्वं दहति वेदवित् ॥ २४६ ॥

जिस प्रकार अग्नि अपने तेज (दाहकर शक्ति) मे काष्ठादि समीपवर्ती पदार्थोंको तत्काल जला देती है, उसी प्रकार वेदज्ञाता ब्राह्मण अपने ज्ञानरूप अग्निसे सब पापोंको नष्ट कर देता है ॥ २४६ ॥

यथाग्निः काष्ठान्यासन्नानि क्षणेनैव तेजसा निःशेषं करोति तथा ज्ञानाग्निना पापं सर्वं वेदार्थज्ञो ब्राह्मणो नाशयति। इत्येतत्परमार्थज्ञानस्यैतत्पापक्षयोत्कर्षज्ञापनार्थमेतत् ॥२४६॥

इत्येतदेनसामुक्तं प्रायश्चित्तं यथाविधि।
अत ऊर्ध्वं रहस्यानां प्रायश्चित्तं निबोधत ॥ २४७ ॥

(भृगुजी महर्षियोंसे कहते हैं कि—ब्रह्महत्या आदि) पापोंका यह (११।७२–२४६) प्रायश्चित्त विधिपूर्वक (मैंने) कहा, यहांसे आगे (११।२४८–२६५) रहस्यों (गुप्त पापों) से प्रायश्चित्तको (आपलोग) सुनें ॥ २४७ ॥

इत्येतद् ब्रह्महत्यादीनां पापानां प्रकाशानां प्रायश्चित्तं यथाविध्यभिहितम् । अत ऊर्ध्वमप्रकाशानां पापानां प्रायश्चित्तं शृणुत । अयं श्लोको गोविन्दराजेनालिखितः । मेधातिथिना तु लिखित एव ॥ २४७ ॥

सव्याहृतिप्रणवकाः प्राणायामास्तु षोडश ।
अपि भ्रूणहणं मासात्पुनन्त्यहरहः कृताः ॥ २४८ ॥

व्याहृति तथा प्रणव (ओंकार) से युक्त सोलह प्राणायाम प्रतिदिन एक मास तक करनेसे ब्रह्मघातीको भी 'अपि' (शब्दसे आतिदेशिक ब्रह्महत्याके प्रायश्चित्तके अधिकारीको भी) शुद्ध कर देते हैं ॥ २४८ ॥

सव्याहृतिसप्रणवाः सावित्रीशिरोयुक्ताः पूरककुम्भकरेचकादिविधिना प्रत्यहं षोडश प्राणायामाः कृता मासाद् ब्रह्मघ्नमपि निष्पापं कुर्वन्ति । अपिशब्दादातिदेशिकब्रह्महत्याप्रायश्चित्ताधिकृतमपि । एतच्च प्रायश्चित्तं द्विजातीनामेव न स्त्रीशूद्रादेर्मन्त्रानधिकारात् ॥ २४८ ॥

कौत्सं जप्त्वाप इत्येतद्वासिष्ठं च प्रतीत्यृचम् ।
माहित्रं शुद्धवत्यश्च सुरापोऽपि विशुध्यति ॥ २४९ ॥

कौत्स ऋषिसे देखा गया 'अप नः शोशुचदघम्' यह सूक्त, वसिष्ठ ऋषिसे देखा गया 'प्रतिस्तोमेभिरुषसं वसिष्ठाः' यह ऋचा, माहित्र 'माहित्रीणामवोऽस्तु' यह सूक्ति तथा शुद्धवती 'एतोन्विन्द्रं स्तवाम शुद्धम्····' इन तीन ऋचाओंको प्रतिदिन १६-१६ वार (एक मास तक) जपकर मदिरा पीनेवाला भी ('अपि' शब्दसे आतिदेशिक मदिरापानके प्रायश्चित्तका अधिकारी भी) शुद्ध हो जाता है ॥ २४९ ॥

कौत्सेन ऋषिणा दृष्टम् 'अप नः शोशुचदघम्' इत्येतत्सूक्तं, वसिष्ठेन ऋषिणा दृष्टं च 'प्रतिस्तोमेभिरुषसं वसिष्ठाः' इत्येवं ऋचं, माहित्रम् 'महित्रीणामवोस्तु' इत्येतत्सूक्तं, शुद्धवत्यः 'एतोन्विन्द्रं स्तवाम शुद्धम्' इत्येतास्तिस्र ऋचः, प्रकृतं मासमहरहः षोडशकृत्वोऽपि जपित्वा सुरापोऽपि विशुध्यति । अपिशब्दादातिदेशिकसुरापानप्रायश्चित्ताधिकृतोऽपि ॥

सकृज्जप्त्वास्य वामीयं शिवसंकल्पमेव च ।
अपहृत्य सुवर्णं तु क्षणाद्भवति निर्मलः ॥ २५० ॥

सुवर्णको चुरानेवाला ब्राह्मण 'अस्य वामीय' 'अस्य वामस्य पलितस्य···' इस सूक्तको, और वाजसनेयकमें पठित 'यज्जाग्रतो दूरमुदेति···' इस शिवशङ्कल्पको एक वार भी (एक मास तक) जपकर तत्काल दोषरहित हो जाता है ॥ २५० ॥

ब्राह्मणः सुवर्णमपहृत्य 'अस्य वामस्य पलितस्य' । इत्येतत्सूक्तं प्रकृतत्वान्मासमेकं प्रत्यहमेकवारं जपित्वा, शिवसङ्कल्पं च 'यज्जाग्रतो दूरम्' इत्येतद्वाजसनेयके यत्पठितं तज्जपित्वा सुवर्णमपहृत्य क्षिप्रमेव निष्पापो भवति ॥ २५० ॥

हविष्पान्तीयमभ्यस्य नतमंह इतीति च ।
जपित्वा पौरुषं सूक्तं मुच्यते गुरुतल्पगः ॥ २५१ ॥

'हविष्पान्तीय' (हविष्पान्तमजरं स्वर्विदि) इत्यादि उन्नीस ऋचाओंको, 'नतमंह' (नतमंहो न दुरितम्) इत्यादि आठ ऋचाओंको, 'इति' ('इति वा इति मे मनः' तथा 'शिवसङ्कल्पमस्तु' यह सूक्तद्वय) और पुरुषसूक्त ('सहस्रशीर्षा पुरुषः' आदि १६ मन्त्र) को एक मासतक प्रतिदिन (१६-१६ वार) जपकर गुरुपत्नीके साथ सम्भोग करनेवाला पापसे छूट जाता है ॥ २५१ ॥

'हविष्पान्तमजरं स्वर्विदि' त्येकोनविंशतिऋचः 'नतमंहो न दुरितम्' इत्यष्टौ, 'इति वा इति मे मनः,' 'शिवसङ्कल्प' इति च सूक्तं, 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' इत्येतच्च षोडशर्चसूक्तं मासमेकं प्रत्यहमभ्यस्येति श्रवणात्प्रकृतत्वात् षोडशाभ्यासाज्जपित्वा गुरुदारगस्तस्मात्पापान्मुच्यते ॥ २५१ ॥

एनसां स्थूलसूक्ष्माणां चिकीर्षन्नपनोदनम् ।
अवेत्यृचं जपेदब्दं यत्किंचेदमितीति वा ॥ २५२ ॥

स्थूल (ब्रह्महत्यादि महापातक–११।५४) तथा सूक्ष्म (गोहत्यादि उपपातक–११।५९–६६) पापोंकी शुद्धि चाहनेवाला मनुष्य 'अव' 'अव ते हेलो वरुण नमोभिः' इस ऋचाको, या 'यत्किञ्चेदं' 'यत्किञ्चेदं वरुण दैव्ये जने' इस ऋचाको, या 'इति' 'इति वा इति मे मनः' इस सूक्तको एक वर्षतक प्रतिदिन १–१ बार जपे ॥ २५२ ॥

स्थूलानां पापानां महापातकानां सूक्ष्माणां चोपपातकादीनां निर्हरणं कर्तुमिच्छन् 'अव ते हेळो वरुण नमोभिः' इत्येतामृचं, 'यत्किंचेदं वरुण दैव्ये जने'इत्येतां च ऋचं, 'इति वा इति मे मनः' इत्येतत्सूक्तं संवत्सरमेकवारं प्रत्यहं जपेत् ॥ २५२ ॥

प्रतिगृह्याप्रतिग्राह्यं भुक्त्वा चान्नं विगर्हितम् ।
जपंस्तरत्समन्दीयं पूयते मानवस्त्र्यहात् ॥ २५३ ॥

अग्राह्य दान लेकर तथा अभक्ष्यका भक्षणकर मनुष्य 'तरत्समन्दीयं' 'तरत्समन्दी धावति' इन चार ऋचाओंको तीन दिन तक जपकर उस पापसे छूट जाता है ॥ २५३ ॥

स्वरूपतो महापातकिधनत्वादिना वाऽप्रतिग्राह्यं चान्नं स्वभावकालप्रतिग्रहसंसर्गदुष्टं भुक्त्वा 'तरत्समन्दी धावति' इत्येता ऋचश्चतस्रो जपित्वा त्र्यहं तस्मात्पापान्मनुष्यः पूतो भवति ॥ २५३ ॥

सोमारौद्रं तु बह्वेना मासमभ्यस्य शुध्यति ।
स्रवन्त्यामाचरन्स्नानमर्यम्णामिति च तृचम् ॥ २५४ ॥

बहुत पापोंको करनेवाला मनुष्य 'सोमारौद्र' (सोमारुद्रा धारयेथामसुर्यम्) इन चार ऋचाओं को, 'अर्यमणम्' (अर्यमणं वरुणं मित्रं च) इन तीन ऋचाओंको नदीमें स्नानकर (एक मासतक प्रत्येकका जपकर) शुद्ध हो जाता है ॥ २५४ ॥

'सोमारुद्रा धारयेथामसुर्यम्' इति चतस्रः । 'अर्यमणं वरुणं मित्रं च' इति ऋक्त्रयं नद्यां च स्नानं कृत्वा मासमेकं प्रत्येकमभ्यस्य बहुपापो विशुध्यति । बहुष्वपि पापेषु तन्त्रेणैकं प्रायश्चित्तं कार्यमिति ज्ञापकमिदम् ॥ २५४ ॥

अब्दार्धमिन्द्रमित्येतदेनस्वी सप्तकं जपेत् ।
अप्रशस्तं तु कृत्वाप्सु मासमासीत भैक्षभुक् ॥ २५५ ॥

पापी (किसी पाप-विशेषका उल्लेख नहीं होनेसे सर्वविध पापको करनेवाला) मनुष्य 'इन्द्रं' (इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निम्) इत्यादि सात ऋचाओंको ६ मासतक प्रतिदिन जप करे तथा जलमें मल-मूत्रका त्यागकर एक मास तक भिक्षा माँगकर भोजन करे ॥ २५५ ॥

एनस्वीत्यविशेषात्सर्वेष्वेव पापेषु 'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निम्' इत्येताः सप्त ऋचः षण्मासं जपेत् । अप्रशस्तं मूत्रपुरीषोत्सर्गादिकं जले कृत्वा मासं भैक्षभोजी भवेत् ॥ २५५ ॥

मन्त्रैः शाकलहोमीयैरब्दं हुत्वा घृतं द्विजः।
सुगुर्वप्यपहन्त्येनो जप्त्वा वा नम इत्यृचम् ॥ २५६ ॥

द्विज ('देवकृतस्य' इत्यादि) शाकल होममन्त्रोंसे एक वर्षतक प्रतिदिन घीका हवनकर, अथवा 'नमः' (नम इन्द्रश्च) इस ऋचाको एक वर्षतक जपकर बड़े पापको भी नष्ट कर देता है ॥ २५६ ॥

'देवकृतस्य' इत्यादिभिः शाकलहोममन्त्रैः संवत्सरं घृतहोमं कृत्वा 'नम इन्द्रश्च' इत्येतां वा ऋचं संवत्सरं जपित्वा महापातकमपि पापं द्विजातिरपहन्ति ॥ २५६ ॥

महापातकसंयुक्तोऽनुगच्छेद्गाः समाहितः।
अभ्यस्याब्दं पावमानीर्भैक्षाहारो विशुध्यति ॥ २५७ ॥

महापातक (ब्रह्महत्या—११।५४) से युक्त मनुष्य जितेन्द्रिय होकर एक वर्षतक गौओंके पीछे-पीछे चलते (११।१०८–११४ के अनुसार उनकी सेवा करते) हुए भिक्षान्नका भोजन करनेसे तथा 'पावमानी' (यः पावमानीरध्येति इत्यादि) ऋचाओंका प्रतिदिन अभ्यास (जप) करनेसे शुद्ध (पापरहित—निर्दोष) हो जाता है ॥ २५७ ॥

ब्रह्महत्यादिमहापातकयुक्तो भिक्षालब्धाहारो वर्षमेकं संयतेन्द्रियो गवामनुगमनं कुर्वन् 'यः पावमानीरध्येति' इत्यादि ऋचोऽन्वहमभ्यासेन जपित्वा तस्मात्पापाद्विशुद्धो भवति ॥

अरण्ये वा त्रिरभ्यस्य प्रयतो वेदसंहिताम्।
मुच्यते पातकैः सर्वैः पराकैः शोधितस्त्रिभिः ॥ २५८ ॥

अथवा तीन 'पराक' कृच्छ्रव्रत (११।२१५) से शुद्ध होकर वनमें (मन्त्रब्राह्मणरूप) वेद-संहिताका तीन बार अभ्यास (पाठ) कर बाह्य (शारीरिक) तथा आभ्यन्तर (मानसिक) शुद्धियुक्त मनुष्य सब महापातकोंसे मुक्त हो जाता है ॥ २५८ ॥

त्रिभिः पराकैः पूतो मन्त्रब्राह्मणात्मिकां वेदसंहितामरण्ये वारत्रयमभ्यस्य वा प्रयतो बाह्याभ्यन्तरशौचयुक्तः सर्वैर्महापातकैर्मुच्यते ॥ २५८ ॥

त्र्यहं तूपवसेद्युक्तस्त्रिरह्नोऽभ्युपयन्नपः।
मुच्यते पातकैः सर्वैस्त्रिर्जपित्वाऽघमर्षणम् ॥ २५९ ॥

तीन दिनतक उपवास तथा त्रिकाल (प्रातः, मध्याह्न तथा सायंकाल) स्नान करता हुआ और जलमें डूब (गोता लगा) कर ही 'अघमर्षण' (ऋतञ्च सत्यं च) इस सूक्तका तीन बार जप कर मनुष्य सब पापोंसे छूट जाता है ॥ २५९ ॥

त्रिरात्रमुपवसन्संयतः प्रत्यहं प्रातर्मध्याह्नसायंकालेषु स्नानं कुर्वन् त्रिषवणस्नानकाल एव जले निमज्ज्य 'ऋतं च सत्यं च' इति सूक्तमघमर्षणं त्रिरावृत्तं जपित्वा सर्वैः पापैर्मुच्यते। तत्र गुरुलघुपापापेक्षया पुरुषशक्त्याद्यपेक्षया चावर्तनीयम् ॥ २५९ ॥

यथाश्वमेधः क्रतुराट् सर्वपापापनोदनः।
तथाऽघमर्षणं सूक्तं सर्वपापापनोदनम् ॥ २६० ॥

जिस प्रकार सब यज्ञोंका राजा अश्वमेध यज्ञ सब पापोंको नष्ट करनेवाला है, उसी प्रकार 'अघमर्षण' सूक्त ('ऋतं च सत्यं च' यह मन्त्र) सब पापोंको नष्ट करनेवाला है ॥ २६० ॥

यथाऽश्वमेधयागः सर्वयागश्रेष्ठः सर्वपापक्षयहेतुस्तथाघमर्षणसूक्तमपि सर्वपापक्षयहेतुरित्यघमर्षणसूक्तोत्कर्षः ॥ २६० ॥

हत्वा लोकानपीमांस्त्रीनश्नन्नपि यतस्ततः ।
ऋग्वेदं धारयन्विप्रो नैनः प्राप्नोति किंचन ॥ २६१ ॥

इन तीनों (स्वर्ग, मृत्यु तथा पाताल) लोकोंकी हत्या कर तथा जहाँ कहीं (महापातकी आदि वर्जित लोगोंके यहाँ) भी भोजन करनेवाला ऋग्वेदको धारण (अभ्यास) करता हुआ ब्राह्मण किसी भी दोषसे लिप्त नहीं होता है ॥ २६१ ॥

भूरादिलोकत्रयमपि हत्वा महापातक्यादीनामप्यन्नमश्नन् ऋग्वेदं धारन्विप्रादिर्न किंचित्पापं प्राप्नोति ॥ २६१ ॥

ऋग्वेदं रहस्यप्रायश्चितार्थमुक्तं ततश्च रहस्यपापे कृते ऋक्संहितां मन्त्रब्राह्मणात्मिकामभ्यसेत्तदाह—

ऋक्संहितां त्रिरभ्यस्य यजुषां वा समाहितः ।
साम्नां वा सरहस्यानां सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ २६२ ॥

मन्त्र-ब्राह्मणात्मक (ब्राह्मण-सहित मन्त्रभागको, केवल मन्त्रभागको ही नहीं) ऋग्वेदको, अथवा (मन्त्र-ब्राह्मणसहित) यजुर्वेदको, अथवा ब्राह्मणोपनिषद्के सहित सामवेदको समाहितचित्त होकर तीन बार अभ्यास (पाठ) करके सब पापोंसे छूट जाता है ॥ २६२ ॥

ऋक्संहितां मन्त्रब्राह्मणात्मिकां नतु मन्त्रमात्रात्मिकाम् अनन्तरम् 'वेदे त्रिवृति' इति प्रत्यवमर्शात् । यजुषां वा मन्त्रब्राह्मणानां संहितां साम्नां वा ब्राह्मणोपनिषत्संहितां वारत्रयमभ्यस्य सर्वपापैः प्रमुक्तो भवति ॥ २६२ ॥

यथा महाह्रदं प्राप्य क्षिप्तं लोष्टं विनश्यति ।
तथा दुश्चरितं सर्वं वेदे त्रिवृति मज्जति ॥ २६३ ॥

जिस प्रकार महाह्रद (बड़े जलाशय) में गिरा हुआ (मिट्टीका) ढ़ेला (पिघलकर) नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार 'त्रिवृत' (११।२६४) वेदमें सब पाप नष्ट हो जाते है ॥ २६३ ॥

ऋगाद्यात्मना त्रिरावर्तत इति त्रिवृत् । यथा महाह्रदं प्रविश्य लोष्टं विशीर्यते तथा दुश्चरितं त्रिवृति वेदे विनश्यति ॥ २६३ ॥

त्रिवृत्त्वमेवाह—

ऋचो यजूंषि चान्यानि सामानि विविधानि च ।
एष ज्ञेयस्त्रिवृद्वेदो यो वेदैनं स वेदवित् ॥ २६४ ॥

ऋग्वेदके मन्त्र, यजुर्वेदके मन्त्र और (बृहद्रथन्तर आदि) अनेकविध सामवेद; इन तीनोंके पृथक्-पृथक् मन्त्र तथा ब्राह्मण भागरूप 'त्रिवृत' वेद को जानना चाहिये, जो इसे जानता है, वही वेदज्ञाता है ॥ २६४ ॥

ऋच ऋङ्मन्त्राः, यजूंषि यजुर्मन्त्राः, सामानि बृहद्रथन्तरादीनि नानाप्रकाराण्यन्यानि एषां त्रयाणां पृथक् पृथक् मन्त्रब्राह्मणानि एष त्रिवृद्वेदो ज्ञातव्यः । य एनं वेद स वेदविद्भवति ॥ २६४ ॥

आद्यं यत्त्र्यक्षरं ब्रह्म त्रयी यस्मिन्प्रतिष्ठिताः ।
स गुह्योऽन्यस्त्रिवृद्वेदो यस्तं वेद स वेदवित् ॥ २६५ ॥

[एष वोऽभिहितः कृत्स्नः प्रायश्चित्तस्य निर्णयः ।
निःश्रेयसं धर्मविधिं विप्रस्येमं निबोधत ॥ १३ ॥
पृथक् ब्राह्मणकल्पाभ्यां स हि वेदस्त्रिवृत्स्मृतः ॥ १४ ॥]

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायामेकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

सब वेदोंका आदि सारभूत जो तीन अक्षरों (अकार उकार तथा मकार) वाला ब्रह्म (प्रणव अर्थात् 'ॐ') है और जिसमें त्रयी (ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद) प्रतिष्ठित हैं; वही दूसरा 'त्रिवृत्' वेद अर्थात् प्रणव 'ॐ' गोपनीय है, जो उसको (स्वरूप तथा अर्थसे) जानता है, वही वेदज्ञाता हैं ॥ २६५ ॥

[(भृगुजी महर्षियोंसे कहते हैं कि—) यह (मैंने) प्रायश्चित्तके समस्त निर्णयको आपलोगोंसे कहा, अब ब्राह्मणके इस मोक्षविधानको (आप लोग) सुनें ।

ब्राह्मण तथा कल्पसे पृथक् यह 'त्रिवृत्' वेद कहा गया है ॥ १४ ॥]

सर्ववेदानामाद्यं यत् ब्रह्म वेदसारम् अकारोकारमकारात्मकत्वेन त्र्यक्षरं यत्र त्रयो वेदाः स्थिताः सोऽन्यस्त्रिवृद्वेदः प्रणवाख्यो गुह्यो गोपनीयः वेदमन्त्रश्रेष्ठत्वात्, परमार्थाभिधायकत्वात्परमार्थकत्वेन धारणजपाभ्यां मोक्षहेतुत्वाच्च । यस्तं स्वरूपतोऽर्थतश्च जानाति स वेदवित् ॥ २६५ ॥ क्षे. श्लो. ॥ १४ ॥

प्रायश्चित्ते बहुमुनिमतालोचनाद्यन्मयोक्तं
सद्व्याख्यानं खलु सुजिगिरो तद्भजध्वं गुणज्ञाः ।
नैतन्मेधातिथिरभिदधे नापि गोविन्दराजो
व्याख्यातारो नजगुरपरेऽप्यन्यतो दुर्लभं वः ॥ १ ॥

इति श्रीकुल्लूकभट्टविरचितायां मन्वर्थमुक्तावल्यां मनुवृत्तावेकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

अथ द्वादशोऽध्यायः

चातुर्वर्ण्यस्य कृत्स्नोऽयमुक्तो धर्मस्त्वयानघ।
कर्मणां फलनिर्वृत्तिं शंस नस्तत्त्वतः पराम् ॥ १ ॥

(महर्षियोंने भृगुजीसे पूछा कि—) हे निष्कल्मष भृगुजी ! (आपने अवान्तर भेदोंसे सहित) चारो वर्णोंके समस्त धर्मको कहा, (अब जन्मान्तरके शुभाशुभ) कर्मोंके परमार्थ रूपसे फलकी प्राप्तिको हमलोगोंसे आप कहिये ॥ १ ॥

हे पापरहित, ब्राह्मणादिवर्णचतुष्टयस्य सान्तरप्रभवस्यायं धर्मस्त्वयोक्तः। इदानीं कर्मणां शुभाशुभफलप्राप्तिं परां जन्मान्तरप्रभवां परमार्थरूपामस्माकं ब्रूहीति महर्षयो भृगुमवोचन् ॥ १ ॥

स तानुवाच धर्मात्मा महर्षीन्मानवो भृगुः।
अस्य सर्वस्य शृणुत कर्मयोगस्य निर्णयम् ॥ २ ॥

धर्मात्मा मनुपुत्र भृगुजीने उन (महर्षियों) से कहा कि—इन सब कर्म सम्बन्धके निर्णयको (आपलोग) सुनिये ॥ २ ॥

स धर्मप्रधानो मनोरपत्यात्मा भृगुरस्य सर्वस्य कर्मसम्बन्धस्य फलनिश्चयं शृणुतेति तान्महर्षीनब्रवीत् ॥ २ ॥

शुभाशुभफलं कर्म मनोवाग्देहसंभवम्।
कर्मजा गतयो नृणामुत्तमाधममध्यमाः ॥ ३ ॥

मनुष्योंके कायिक, वाचिक तथा मानसिक कर्म शुमाशुभ फल देनेवाले होते हैं और उनसे उत्पन्न होनेवाली मनुष्योंकी उत्तम (देव): मध्यम (मनुष्य आदि) तथा अधम (तिर्यक् आदि) गतियां (जन्म) भी होती हैं ॥ ३ ॥

मनोवाग्देहहेतुकं कर्म विहितनिषिद्धरूपं सुखदुःखफलकं तज्जन्या एव मनुष्यतिर्यगादिभावेनोत्कृष्टमध्यमाधमापेक्षया मनुष्याणां गतयो जन्मान्तरप्राप्तयो भवन्ति। कर्मशब्दश्चात्र न कायचेष्टायामेव किन्तु ममेदं स्वमिति संकल्परूपयोगादिध्यानाचरणादावपि क्रियामात्रे वर्तते ॥ ३ ॥

तस्येह त्रिविधस्यापि त्र्यधिष्ठानस्य देहिनः।
दशलक्षणयुक्तस्य मनो विद्यात्प्रवर्तकम् ॥ ४ ॥

(उत्तम; मध्यम तथा अधम भेदसे) तीन प्रकारके तथा (मन, वचन तथा शरीरके आश्रित होनेसे) तीन अधिष्ठानवाले दस लक्षणों (१२।५-७) से युक्त देही (जीव) के मनको (कर्ममें) प्रवृत्त करनेवाला जानो ॥ ४ ॥

तस्य देहिसम्बन्धिनः कर्मण उत्कृष्टमध्यमाधमतया त्रिप्रकारस्यापि मनोवाक्कायाश्रितस्य वक्ष्यमाणदशलक्षणोपेतस्य मन एव प्रवर्तकं जानीयात्। मनसा हि संकल्पितमुच्यते क्रियते च। तथा तैत्तिरीयोपनिषदि 'तस्माद्यत्पुरुषो मनसाभिगच्छति तद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति' इति ॥ ४ ॥

तानि दशलक्षणानि कर्माणि दर्शयितुमाह—

परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसानिष्टचिन्तनम् ।
वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्म मानसम् ॥ ५ ॥

(१) दूसरेके द्रव्यको अन्यायसे भी लेनेका विचार करना, (२) मनसे निषिद्ध कार्य (ब्रह्महत्यादि पाप कर्म) करनेकी इच्छा करना, (३) असत्य हठ (परलोक आदि कुछ भी नहीं है, यह देह ही आत्मा है, इत्यादि रूपसे दुराग्रह) करना; ये तीन प्रकारके मानसिक (अशुभ) कर्म हैं ॥ ५ ॥

कथं परधनमन्यायेन गृह्णामीत्येवं चिन्तनम्, मनसा ब्रह्मवधादि निषिद्धाकाङ्क्षा, नास्ति परलोकः देह एवात्मेत्येतद् ग्रहश्चेत्येवं त्रिप्रकारमशुभफलं मानसं कर्म। एतत्त्रयविपरीतबुद्धिश्च त्रिविधं शुभफलं मानसं कर्म। 'शुभाशुभफलं कर्म' इत्युभयस्यैव प्रक्रान्तत्वात् ॥ ५ ॥

पारुष्यमनृतं चैव पैशून्यं चापि सर्वशः ।
असंबद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम् ॥ ६ ॥

(४) कटु बोलना, (५) झूठ बोलना, (६) परोक्षमें किसीका दोष कहना और (७) निष्प्रयोजन (बेमतलबकी) बातें करना; ये चार प्रकारके वाचिक (अशुभ) कर्म हैं ॥ ६ ॥

अप्रियाभिधानम्, असत्यभाषणं, परोक्षे परदूषणकथनं, सत्यस्यापि राजदेशपौरवार्तादेर्निष्प्रयोजनं वर्णनम्, इत्येवं चतुःप्रकारमशुभफलं वाचिकं कर्म भवेत्। एतद्विपरीतं प्रियसत्यपरगुणाभिधानं श्रुतिपुराणादौ च राजादिचरित्रकथनं शुभफम् ॥ ६ ॥

अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाविधानतः ।
परदारोपसेवा च शारीरं त्रिविधं स्मृतम् ॥ ७ ॥

(८) विना दी हुई (दूसरेकी) वस्तुको लेना, (९) शास्त्र-वर्जित हिंसा करना और (१०) परस्त्रीके साथ सम्भोग करना; ये तीन प्रकारके शारीरिक (अशुभ) कर्म हैं (इस प्रकार ये १० प्रकारके (अशुभ) कर्म हैं) ॥ ७ ॥

अन्यायेन परस्वग्रहणमशास्त्रीयहिंसा परदारगमनमित्येवं त्रिप्रकारमशुभफलं शारीरं कर्म। एतद्विपरीतं त्रयं शुभफलम् ॥ ७ ॥

मानसं मनसैवायमुपभुङ्क्ते शुभाशुभम् ।
वाचा वाचाकृतं कर्म कायेनैव च कायिकम् ॥ ८ ॥
[त्रिविधं च शरीरेण वाचा चैव चतुर्विधम् ।
मनसा त्रिविधं कर्म दशाधर्मपथांस्त्यजेत् ॥ १ ॥]

यह (देही—जीव) मानसिक कर्मोंके फलको मनसे वाचिक कर्मोंके फलको वचनसे और शारीरिक कर्मोंके फलको शरीरसे ही भोगता है ॥ ८ ॥

[शरीर से त्रिविध (१२।७), वचनसे चतुर्विध (१२।६) और मनसे त्रिविध (१२।५) अधर्म—मार्गों (अशुभ कर्मों) को छोड़ देना चाहिये ॥ १ ॥]

मनसा यत्सुकृतं दुष्कृतं वा कर्म कृतं तत्फलं सुखदुःखमिह जन्मनि जन्मान्तरे वा मनसैवायमुपभुङ्क्ते। एवं वाचा कृतं शुभाशुभं वाग्द्वारेण मधुरगद्गदभाषित्वादिना, शारीरं

शुभाशुभं शरीरद्वारेण स्रक्चन्दनादिप्रियोपभोगव्याधितत्वादिनाऽनुभवति । तस्मात्प्रयत्नेन शारीरमानसवाचिकानि धर्मरहितानि च वर्जयेन्न कुर्याच्च ॥ ८ ॥

शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः ।
वाचिकैः पक्षिमृगतां मानसैरन्त्यजातिताम् ॥ ९ ॥

मनुष्य शारीरिक (१२।७) कर्मके दोषोंसे स्थावर (वृक्ष, लता, गुल्म, पर्वत आदि) योनिको, वाचिक (१२।६) कर्मके दोषोंसे पक्षी, मृग (पशु, कीट, पतङ्ग आदि) योनिको मानसिक (१२।५) कर्मके दोषोंसे अन्त्य जाति (चण्डाल आदि हीन जाति) को प्राप्त करता है ॥ ९ ॥

[शुभैः प्रयोगैर्देवत्वं व्यामिश्रैर्मानुषो भवेत् ।
अशुभैः केवलैश्चैव तिर्यग्योनिषु जायते ॥ २ ॥
वाग्दण्डो हन्ति विज्ञानं मनोदण्डः परां गतिम् ।
कर्मदण्डस्तु लोकांस्त्रीन्हन्यादपरिरक्षितः ॥ ३ ॥
वाग्दण्डोऽथ भवेन्मौनं मनोदण्डस्त्वनाशनम् ।
शारीरस्य हि दण्डस्य प्राणायामो विधीयते ॥ ४ ॥
त्रिदण्डं धारयेद्योगी शारीरं न तु वैणवम् ।
वाचिकं कायिकं चैव मानसं च यथाविधि ॥ ५ ॥]

[मनुष्य शुभ कर्मोंसे देवयोनिको, मिश्रित (शुभ तथा अशुभ-दोनों) कर्मोंसे मनुष्ययोनिको और केवल अशुभ कर्मोंसे तिर्यग्योनि (पशु, पक्षी, वृक्ष, लतादि) योनिको प्राप्त करता है ॥ २ ॥

अरक्षित वाग्दण्ड विज्ञानको, मनोदण्ड उत्तम (स्वर्ग, मोक्ष आदि) गतिको और कर्मदण्ड तीनों लोकोंको नष्ट कर देता है ॥ ३ ॥

मौनको वाग्दण्ड, अनशनको मनोदण्ड और प्राणायामको शरीरदण्ड कहा जाता है ॥ ४ ॥

योगी मनुष्य वाग्दण्ड, मनोदण्ड और शरीरदण्ड–अर्थात मौन, अनशन और प्राणायामरूप शरीर सम्बन्धी त्रिदण्डको धारण करे, बांसके 'त्रिदण्ड' (तीन डण्डों) को नहीं ॥ ५ ॥]

यद्यपि पापिष्ठानां शारीरवाचिकमानसिकान्येव त्रीणि पापानि सम्भवन्ति तथापि स यदि प्रायशोऽधर्ममेव सेवते, धर्ममल्पमिति बाहुल्याभिप्रायेणेति व्याख्यातम् । बाहुल्येन शरीरकर्मजपापैर्युक्तः स्थावरत्वं मानुषः प्राप्नोति । बाहुल्येन वाक्कृतैः पक्षित्वं मृगत्वं वा । बाहुल्येन मनसा कृतैश्चाण्डालादित्वं प्राप्नोति ॥ ९ ॥

वाग्दण्डोऽथ मनोदण्डः कायदण्डस्तथैव च ।
यस्यैते निहिता बुद्धौ त्रिदण्डीति स उच्यते ॥ १० ॥

जिनकी बुद्धि (विचार-मन) में वाग्दण्ड, मनोदण्ड और शरीरदण्ड; ये तीनों स्थित हैं, वही (सच्चा) 'त्रिदण्डी' (तीन दण्डोंवाला - संन्यासी) कहा जाता है, (केवल बांसका तीन दण्ड धारण करनेवाला ही संन्यासी नहीं है) ॥ १० ॥

दमनं दण्डः, यस्य वाङ्मनःकायानां दण्डा निषिद्धाभिधानासत्संकल्पप्रतिषिद्धव्यापारत्यागेन बुद्धाववस्थिताः स त्रिदण्डीत्युच्यते । नतु दण्डत्रयधारणमात्रेणेत्याभ्यन्तरदण्डत्रयप्रशंसा ॥ १० ॥

त्रिदण्डमेतन्निक्षिप्य सर्वभूतेषु मानवः ।
कामक्रोधौ तु संयम्य ततः सिद्धिं नियच्छति ॥ ११ ॥

जब मनुष्य काम तथा क्रोधको रोककर सब जीवोंमें इस त्रिदण्ड (कायिक वाचिक, तथा मानसिक दण्ड) को व्यवहृत करता है, तब सिद्धि (मुक्ति) को प्राप्त करता है ॥ ११ ॥

एवं निषिद्धवागादीनां सर्वभूतगोचरतया दमनं कृत्वैतद्दमनार्थमेव कामक्रोधौ तु नियम्य ततो मोक्षावाप्तिलक्षणां सिद्धिं मनुष्यो लभते ॥ ११ ॥

कोऽसौ सिद्धिमाप्नोतीत्यत आह—

योऽस्यात्मनः कारयिता तं क्षेत्रज्ञं प्रचक्षते ।
यः करोति तु कर्माणि स भूतात्मोच्यते बुधैः ॥ १२ ॥

जो इसे (शरीरको) कार्योंमें प्रवृत्त करता है उसे पण्डित लोग 'क्षेत्रज्ञ' और कार्योंको करता है उसे 'भूतात्मा' कहते हैं ॥ १२ ॥

अस्य लोकसिद्धस्यात्मोपकारकत्वादात्मनः शरीराख्यस्य यः कर्मसु प्रवर्तयिता तं क्षेत्रज्ञं पण्डिता वदन्ति । यः पुनरेष व्यापारान्करोति शरीराख्यः सः पृथिव्यादिभूतारब्धत्वाद् भूतात्मैवेति पण्डितैरुच्यते ॥ १२ ॥

जीवसंज्ञोऽन्तरात्मान्यः सहजः सर्वदेहिनाम् ।
येन वेदयते सर्वं सुखं दुःखं च जन्मसु ॥ १३ ॥

सब प्राणियोंका सहज (एक साथमें उत्पन्न) 'जीव' नामका दूसरा ही आत्मा अर्थात् जीवात्मा' है, जो प्रतिजन्ममें सब सुख-दुःखका अनुभव करता है ॥ १३ ॥

जीवशब्दोऽयं महत्परः, तेनेति करणविभक्तिनिर्देशात् । उत्तरश्लोके च—

तावुभौ भूतसंपृक्तौ महान्क्षेत्रज्ञ एव च ।

इति तच्छब्देन प्रत्यवमर्शाच्छारीरक्षेत्रज्ञातिरिक्तोऽन्तःशरीरमात्माख्यत्वादात्मा जीवाख्यः सर्वक्षेत्रज्ञानां सहज आत्मा । तत्प्राप्तैस्तैस्तस्य विनियोगात् । येनाहंकारेन्द्रियरूपतया परिणतेन कारणभूतेन क्षेत्रज्ञः प्रतिजन्म सुखं दुःखं चानुभवति ॥ १३ ॥

तावुभौ भूतसंपृक्तौ महान्क्षेत्रज्ञ एव च ।
उच्चावचेषु भूतेषु स्थितं तं व्याप्य तिष्ठतः ॥ १४ ॥
[उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्ययमीश्वरः ॥ ६ ॥]

पञ्च महाभूत (पृथ्वी, जल, वायु, तेज और आकाश) से मिले हुए वे दोनों महान् तथा क्षेत्रज्ञ— छोटे-बड़े सब भूतात्माओंमें स्थित उस परमात्मामें व्याप्त होकर रहते हैं ॥ १४ ॥

[उत्तम पुरुष तो दूसरा ही है, जो 'परमात्मा' कहलाता है तथा अविनाशशील एवं सर्वसमर्थ जो तीनों लोकोंको आविष्ट होकर पालन करता है ॥ ६ ॥]

तौ द्वौ महत्क्षेत्रज्ञौ पृथिव्यादिपञ्चभूतसंपृक्तौ वक्ष्यमाणं सर्वलोकवेदस्मृतिपुराणादिप्रसिद्धया तमिति निर्दिष्टं परमात्मानमुत्कृष्टापकृष्टसत्त्वेषु व्यवस्थितमाश्रित्य तिष्ठतः ॥ १४ ॥

असंख्या मूर्तयस्तस्य निष्पतन्ति शरीरतः ।
उच्चावचानि भूतानि सततं चेष्टयन्ति याः ॥ १५ ॥

उस (परमात्मा) के शरीरसे असङ्ख्य जीव उत्पन्न (अग्निसे चिनगारीके सामान प्रकट) होते हैं, जो छोटे-बड़े प्राणियोंको कर्मोंमें प्रवृत्त करते रहते हैं ॥ १५ ॥

अस्य परमात्मनः शरीरादसंख्यमूर्तयो जीवाः क्षेत्रज्ञशब्देनानन्तरमुक्ता लिङ्गशरीरावच्छिन्ना वेदान्त उक्तप्रकारेणाग्निरिव स्फुलिङ्गा निःसरन्ति। या मूर्तय उत्कृष्टापकृष्टभूताग्निदेवरूपतया परिणतानि सर्वदा कर्मसु प्रेरयन्ति ॥ १५ ॥

पञ्चभ्य एव मात्राभ्यः प्रेत्य दुष्कृतिनां नृणाम् ।
शरीरं यातनार्थीयमन्यदुत्पद्यते ध्रुवम् ॥ १६ ॥

पञ्च महाभूतों (पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश) से ही पापी मनुष्योंकी यातनाओं (पापजन्य नरकादि पीडाओं) को भोगनेके लिए दूसरा (जरायुजसे भिन्न) शरीर निश्चित रूपसे उत्पन्न होता है ॥ १६ ॥

पञ्चभ्य एव पृथिव्यादिभूतेभ्यो दुष्कृतकारिणां मनुष्याणां पीडानुभवप्रयोजकं जरायुजादिदेहव्यतिरिक्तं दुःसहिष्णु शरीरं परलोके जायते ॥ १६ ॥

तेनानुभूयता यामीः शरीरेणेह यातनाः ।
तास्वेव भूतमात्रासु प्रलीयन्ते विभागशः ॥ १७ ॥

उस शरीरसे यमसम्बन्धिनी यातनाओंको भोगकर वे यथायोग्य उन्हीं पञ्चमहाभूतों (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश) में लीन हो जाते हैं ॥ १७ ॥

तेन निर्गतेन शरीरेण ता यमकारिता यातना दुष्कृतिनो जीवाः सूक्ष्मानुभूतस्थूलशरीरनाशे तेष्वेवारम्भकभूतभागेषु यथास्वं प्रलीयन्ते । तत्संयोगिनो भूत्वा अवतिष्ठन्त इत्यर्थः ॥ १७ ॥

सोऽनुभूयासुखोदर्कान्दोषान्विषयसङ्गजान् ।
व्यपेतकल्मषोऽभ्येति तावेवोभौ महौजसौ ॥ १८ ॥

वे शरीर विषय-संसर्गसे उत्पन्न प्रमुख फलोंको भोगकर निष्पाप हो महाबलवान् उन्हीं दोनों (महान् तथा परमात्मा) का आश्रय करते हैं । (उसमें लीन होते हैं) ॥ १८ ॥

स शरीरी भूतसूक्ष्मादिलिङ्गशरीरावच्छिन्नो निषिद्धशब्दस्पर्शरूपरसगन्धाख्यविषयोपभोगजनितयमलोकदुःखाद्यनुभूयानन्तरं भोगादपहतपाप्मा तावेव महत्परमात्मानौ महावीर्यो द्वावाश्रयति ॥ १८ ॥

तौ धर्मं पश्यतस्तस्य पापं चातन्द्रितौ सह ।
याभ्यां प्राप्नोति संपृक्तः प्रेत्येह च सुखासुखम् ॥ १९ ॥

वे दोनों (महान् तथा परमात्मा) निरालस होकर उस जीवके (भोगनेसे बचे हुए) धर्म तथा पापको एक साथ देखते (विचार करते) हैं, जिनसे संयुक्त जीव मरकर (परलोकमें) तथा इस लोकमें (धर्मसे) सुख तथा (पापसे) दुःखको पाता है ॥ १९ ॥

तौ महत्परमात्मानौ अनलसौ तस्य जीवस्य धर्मं भुक्तशेषं च पापं सह विचारयतः । याभ्यां धर्माधर्माभ्यां युक्तो जीवः परलोकेहलोकयोः सुखदुःखे प्राप्नोति ॥ १९ ॥

यद्याचरति धर्मं स प्रायशोऽधर्ममल्पशः ।
तैरेव चावृतो भूतैः स्वर्गे सुखमुपाश्नुते ॥ २० ॥

यदि प्राणी मनुष्य-शरीरमें अधिक धर्म तथा थोड़ा पाप करता है तो स्थूल शरीरसे परिणत उन्हीं पञ्चमहाभूत (पृथ्वी आदि) से स्वर्गमें सुखको भोगता है ॥ २० ॥

स यदि जीवो मानुषदशायां बाहुल्येन धर्ममनुतिष्ठति अल्पं चाधर्मं तदा तैरेव पृथिव्यादिभूतैः स्थूलशरीररूपतया परिणतैर्युक्तः स्वर्गसुखमनुभवति ॥ २० ॥

यदि तु प्रायशोऽधर्मं सेवते धर्ममल्पशः ।
तैर्भूतैः स परित्यक्तो यामीः प्राप्नोति यातनाः ॥ २१ ॥

यदि प्राणी मनुष्य-शरीरमें अधिक पाप तथा थोड़ा पुण्य करता है तो (मनुष्य-शरीरसे परिणत) उन्हीं पञ्चभूतों (पृथ्वी आदि) से त्यक्त होकर अर्थात् मरकर यम-यातनाओं भोगता है ॥ २१ ॥

यदि पुनः स जीवो मानुषदशायां बाहुल्येन पापमनुतिष्ठति अल्पं च पुण्यं तदा तैरेव भूतैर्मानुषदेहरूपतया परिणतैस्त्यक्तो मृतः सन्ननन्तरं पञ्चभ्य एव मात्राभ्य इत्युक्तरीत्या यातनानुभवोचितसंपातकठिनदेहो यामीः पीडा अनुभवति ॥ २१ ॥

यामीस्ता यातनाः प्राप्य स जीवो वीतकल्मषः ।
तान्येव पञ्च भूतानि पुनरप्येति भागशः ॥ २२ ॥

यम-यातनाओंको भोगकर निष्पाप वह जीव उन्हीं पञ्च महाभूतों (पृथ्वी आदि) के भागोंको प्राप्त करता है अर्थात् मानवजन्म लेता है ॥ २२ ॥

स जीवो यमकारितास्ताः पीडास्तेन कठिनदेहेनानुभूय ततो भोगेनापहतपाप्मा तान्पञ्च जरायुजादिशरीरारम्भकान्पृथिव्यादिभूतभागानधितिष्ठति । मानुषादि शरीरं गृह्णातीत्यर्थः ॥ २२ ॥

एता दृष्ट्वास्य जीवस्य गतीः स्वेनैव चेतसा ।
धर्मतोऽधर्मतश्चैव धर्मे दध्यात्सदा मनः ॥ २३ ॥

(मनुष्य) इस जीवकी धर्म तथा अधर्मके कारण हुई इन गतियोंको अपने ही मनसे देख (विचार) कर सर्वदा धर्मके तरफ मनको लगावे ॥ २३ ॥

अस्य जीवस्य एता धर्माधर्महेतुकाः स्वर्गनरकाद्युपभोगोचितप्रियाप्रियदेहप्राप्तीरन्तःकरणे ज्ञात्वा धर्मानुष्ठाने मनः सदा संगतं कुर्यात् ॥ २३ ॥

सत्त्वं रजस्तमश्चैव त्रीन्विद्यादात्मनो गुणान् ।
यैर्व्याप्येमान्स्थितो भावान्महान्सर्वानशेषतः ॥ २४ ॥

आत्मा (महान्) के सत्त्व, रज तथा तम; ये तीन गुण हैं, जिनसे युक्त यह महान् (आत्मा) सम्पूर्ण (चराचर पदार्थों) में व्याप्त होकर स्थित है ॥ २४ ॥

सत्त्वरजस्तमांसि त्रीणि वक्ष्यमाणगुणलक्षणानि आत्मोपकारकत्वादात्मनो महतो गुणाञ्जानीयात् । यैर्व्याप्तो महानिमान्स्थावरजङ्गमरूपान्पदार्थान्निःशेषेण व्याप्य स्थितः ॥२४॥

यो यदैषां गुणो देहे साकल्येनातिरिच्यते ।
स तदा तद्गुणप्रायं तं करोति शरीरिणम् ॥ २५ ॥

(यद्यपि यह सम्पूर्ण जगत् इन तीनों ही गुणों (सत्त्व, रज और तम) से व्याप्त है, तथापि) इन गुणोंमें-से जो गुण सबसे अधिक होता है, वह गुण उस देहधारीको उस गुणकी (अपनी) अधिकतासे युक्त कर देता है ॥ २५ ॥

यद्यपि सर्वमेवेदं त्रिगुणं तथापि यत्र देहे येषां गुणानां मध्ये यो गुणो यदा साकल्येनाधिको भवति तदा तद्गुणलक्षणबहुलं तं देहिनं करोति ॥ २५ ॥

संप्रति सत्त्वादीनां लक्षणमाह—

सत्त्वं ज्ञानं तमोऽज्ञानं रागद्वेषौ रजः स्मृतम् ।
एतद्व्याप्तिमदेतेषां सर्वभूताश्रितं वपुः ॥ २६ ॥

(वस्तुका यथार्थ) ज्ञान सत्त्वगुण, प्रतिकूल ज्ञान तमोगुण और राग-द्वेष (रूप मानसिक कार्य) रजोगुण कहलाता है । सब प्राणियोंका आश्रित शरीर इन गुणोंका आश्रित है ॥ २६ ॥

यथार्थावभासो ज्ञानं तत्सत्त्वस्य लक्षणम् । एतद्विपरीतमज्ञानं तत्तमोलक्षणम् । विषादाभिलाषं मानसकार्यं रजोलक्षणम् । स्वरूपं तु सत्त्वरजस्तमसां प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकम् । तथा च पठन्ति 'प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः । अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः ॥' (सां. का. १२) एतच्चैषां स्वरूपमनन्तरश्लोकत्रयेण वक्ष्यति । एतेषां सत्त्वादिगुणानामेतज्ज्ञानादि सर्वप्राणिव्यापकं लक्षणम् ॥ २६ ॥

तत्र यत्प्रीतिसंयुक्तं किंचिदात्मनि लक्षयेत् ।
प्रशान्तमिव शुद्धाभं सत्त्वं तदुपधारयेत् ॥ २७ ॥

उस आत्मामें जो कुछ प्रीति (सुख) से युक्त, क्लेशरहित एवं प्रकाशमान लक्षित हो; उसे 'सत्त्वगुण' जानना चाहिये ॥ २७ ॥

तस्मिन्नात्मनि यत्संवेदनं प्रीतियुक्तं प्रत्यस्तमितक्लेशं प्रकाशरूपमनुभवेत्तत्सत्त्वं जानीयात् ॥ २७ ॥

यत्तु दुःखसमायुक्तमप्रीतिकरमात्मनः ।
तद्रजो प्रतीपं विद्यात्सततं हारि देहिनाम् ॥ २८ ॥

जो दुःखयुक्त, अप्रीतिकारक तथा शरीरियोंको विषयोंकी ओर आकृष्ट करनेवाला प्रतीत हो; उसे तत्त्वज्ञानका प्रतिपक्षी (विरोधी) 'रजोगुण' जानना चाहिये ॥ २८ ॥

यत्पुनः संवेदनं दुःखानुविद्धमत एव सत्त्वशुद्धात्प्रीतेरजनकं सर्वदा च शरीरिणां विषयस्पृहोत्पादकं तत्त्वानिवारकत्वात्प्रतिपक्षं रजो जानीयात् ॥ २८ ॥

यत्तु स्यान्मोहसंयुक्तमव्यक्तं विषयात्मकम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं तमस्तदुपधारयेत् ॥ २९ ॥

जो मोहयुक्त (सत्-असत् अर्थात् भले-बुरे विचारसे शून्य) हो, जिसके विषयका आकार अस्पष्ट हो तथा जो तर्कसे शून्य एवं (अन्तःकरण और बहिष्करण द्वारा) दुर्ज्ञेय हो; उसे 'तमोगुण' समझना चाहिये ॥ २९ ॥

यत्पुनः सदसद्विवेकशून्यमस्फुटविषयाकारस्वभावमतर्कणीयस्वरूपमन्तःकरणबहिःकरणाभ्यां दुर्ज्ञातं तत्तमो जानीयात् । एषां च गुणानां स्वरूपकथनं सत्त्ववृत्त्यवस्थितौ यत्नवता भवितव्यमित्येतत्प्रयोजनकम् ॥ २९ ॥

त्रयाणामपि चैतेषां गुणानां यः फलोदयः ।
अग्र्यो मध्यो जघन्यश्च तं प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ ३० ॥

(भृगुजी महर्षियोंसे कहते हैं कि—) इन (१२।२४) तीनों गुणोंका (क्रमशः) उत्तम, मध्यम और जघन्य (तुच्छ) जो फलोदय है, उसे अशेषतः (सम्पूर्ण रूपसे, मैं) कहूँगा ॥ ३० ॥

एतेषां सत्त्वादीनां त्रयाणामपि गुणानां यथाक्रममुत्तममध्यमाधमरूपो यः फलोत्पादकस्तं विशेषेण वक्ष्यामि ॥ ३० ॥

वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धर्मक्रियात्मचिन्ता च सात्त्विकं गुणलक्षणम् ॥ ३१ ॥

वेदोंका अभ्यास, (प्राजापत्यादि) तप, (शास्त्रोंके अर्थका) ज्ञान, (मिट्टी जल आदिके द्वारा) शुद्धि, इन्द्रियसंयम, (दान आदि) धर्मकार्य और आत्मा (परमात्मा) का चिन्तन; ये सब 'सत्त्वगुण'के लक्षण (कार्य) हैं ॥ ३१ ॥

वेदाभ्यासः, प्राजापत्याद्यनुष्ठानं, शास्त्रार्थावबोधः, मृद्वार्यादिशौचं, इन्द्रियसंयमः, दानादिधर्मानुष्ठानम्, आत्मध्यानपरता एतत्सत्त्वाख्यगुणस्य कार्यम् ॥ ३१ ॥

आरम्भरुचिताऽधैर्यमसत्कार्यपरिग्रहः ।
विषयोपसेवा चाजस्रं राजसं गुणलक्षणम् ॥ ३२ ॥

(फलप्राप्त्यर्थ) आरम्भ किये गये काममें रुचि होना, धैर्यका अभाव, शास्त्रवर्जित कर्मका आचरण, तथा सर्वदा (रूप, रस, शब्द आदि) विषयोंमें आसक्ति, ये 'राजसिक गुण' के लक्षण हैं ॥ ३२ ॥

फलार्थं कर्मानुष्ठानशीलता, अल्पेऽप्यर्थे वैक्लव्यं, निषिद्धकर्माचरणम् अजस्रं शब्दादिविषयोपभोग इत्येतद्रजोभिधानगुणस्य कार्यम् ॥ ३२ ॥

लोभः स्वप्नोऽधृतिः क्रौर्यं नास्तिक्यं भिन्नवृत्तिता ।
याचिष्णुता प्रमादश्च तामसं गुणलक्षम् ॥ ३३ ॥

लोभ, निद्रा, अधैर्य, क्रूरता, नास्तिकता, नित्य कर्मका त्याग, मांगनेका स्वभाव होना और प्रमाद; ये 'तामसिक' गुणके लक्षण हैं ॥ ३३ ॥

अधिकाधिकधनस्पृहा, निद्रालुता, कातर्यं, पैशून्यं, परलोकाभावबुद्धिः, आचारपरिलोपः, याचनशीलत्वं, संभवेऽपि धर्मादिष्वनवधानं, इत्येतत्तामसाभिधानस्य गुणस्य लक्षणम् ॥ ३३ ॥

त्रयाणापि चैतेषां गुणानां त्रिषु तिष्ठताम् ।
इदं सामासिकं ज्ञेयं क्रमशो गुणलक्षणम् ॥ ३४ ॥

तीनों (भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान) कालमें रहनेवाले इन तीनों गुणों (१२।२४) के गुणलक्षणको क्रमशः संक्षेपमें यह (१२।३५–३८) जानना ॥ ३४ ॥

एषां सत्त्वादीनां त्रयाणामपि गुणानां त्रिषु कालेषु भूतभविष्यद्वर्तमानेषु विद्यमानानामिदं वक्ष्यमाणसाक्षेपिकं क्रमेण गुणलक्षणं ज्ञातव्यम् ॥ ३४ ॥

यत्कर्म कृत्वा कुर्वंश्च करिष्यंश्चैव लज्जति ।
तज्ज्ञेयं विदुषां सर्वं तामसं गुणलक्षणम् ॥ ३५ ॥

मनुष्य जिस कामको करके, करता हुआ तथा भविष्यमें करनेवाला होकर लज्जित होता है; उन सबको विद्वान् 'तामस गुण'का लक्षण समझे ॥ ३५ ॥

यत्कर्म कृत्वा, कुर्वन्, करिष्यंश्च लज्जावान्भवति। कालत्रये द्वयोरन्यत्र वेति विवक्षितं तत्सर्वं तमःकार्यत्वात्तमोऽभिधानं गुणलक्षणं शास्त्रविदा बोद्धव्यम् ॥ ३५ ॥

येनास्मिन्कर्मणा लोके ख्यातिमिच्छति पुष्कलाम्।
न च शोचत्यसंपत्तौ तद्विज्ञेयं तु राजसम् ३६ ॥

इस लोकमें मनुष्य जिस काममें अत्यधिक प्रसिद्ध (नामवरी) को चाहता है और उस कामके असफल होनेपर शोक नहीं करता, उसे 'राजस गुण' का लक्षण समझे ॥ ३६ ॥

इह लोके महतीं श्रियं प्राप्नोतीत्येदर्थमेव यो यत्कर्म करोति न परलोकार्थं नच तत्कर्मफलासंपत्तौ दुःखी भवति तद्रजःकार्यत्वाद्रजोगुणलक्षणं विज्ञेयम् ॥ ३६ ॥

यत्सर्वेणेच्छति ज्ञातुं यन्न लज्जति चाचरन्।
येन तुष्यति चात्मास्य तत्सत्त्वगुणलक्षणम् ॥ ३७ ॥

मनुष्य जिस काम (वेदार्थ) को सम्पूर्ण आत्मासे अर्थात् सब प्रकार मन लगाकर जानना चाहता है तथा जिस कामको करता हुआ लज्जित नहीं होता और जिस कामसे आत्मा प्रसन्न होता है; उसे 'सात्त्विक गुण'का लक्षण समझना चाहिये ॥ ३७ ॥

यत्कर्म वेदार्थं सर्वात्मना ज्ञातुमिच्छति, यच्च कर्माचरन्कालत्रयेऽपि न लज्जति, येन कर्मणाऽस्यात्मतुष्टिर्जायते, तत्सत्त्वाख्यस्य गुणस्य लक्षणं ज्ञेयम् ॥ ३७ ॥

तमसो लक्षणं कामो रजसस्त्वर्थ उच्यते।
सत्त्वस्य लक्षणं धर्मः श्रैष्ठ्यमेषां यथोत्तरम् ॥ ३८ ॥

तमोगुणका लक्षण काम, रजोगुणका लक्षण अर्थ और सत्त्वगुणका लक्षण धर्म होता है; इनमें-से पहलेवालेकी अपेक्षा आगेवाला श्रेष्ठ होता है अर्थात् तमोगुणकी अपेक्षा रजोगुण तथा रजोगुणकी अपेक्षा सत्त्वगुण श्रेष्ठ होता है ॥ ३८ ॥

कामप्रधानता तमसो लक्षणम्। अर्थनिष्ठता रजसः। धर्मप्रधानता सत्त्वस्य। एषां च कामादीनामुत्तरोत्तरस्य श्रेष्ठत्वम्। कामादर्थः श्रेयानर्थमूलत्वात्कामस्य। ताभ्यां च धर्मस्तन्मूलत्वात्तयोः ॥ ३८ ॥

येन यस्तु गुणेनैषां संसारान्प्रतिपद्यते।
तान्समासेन वक्ष्यामि सर्वस्यास्य यथाक्रमम् ॥ ३९ ॥

(भृगु मुनि महर्षियोंसे कहते हैं कि—) इन तीनों गुणोंमें-से जो मनुष्य जिस गुणके द्वारा जिन संसारों अर्थात् गतियोंको प्राप्त करता है, उन सबको संक्षेपसे इस संसारके क्रमसे कहूँगा ॥ ३९ ॥

एषां सत्त्वादीनां गुणानां मध्ये येन गुणेन स्वकार्येण या गतीर्जीवः प्राप्नोति ताः सर्वस्यास्य जगतः संक्षेपतः क्रमेण वक्ष्यामि ॥ ३९ ॥

देवत्वं सात्त्विका यान्ति मनुष्यत्वं च राजसाः।
तिर्यक्त्वं तामसा नित्यमित्येषा त्रिविधा गतिः ॥ ४० ॥

सात्त्विक (सत्त्वगुणका व्यवहार करनेवाले) देवत्वको, राजस (रजोगुणका व्यवहार करनेवाले) मनुष्यत्वको और तामस (तमोगुणका व्यवहार करनेवाले) तिर्यक्त्व (पशु-पक्षी, वृक्ष लता-गुल्म आदिकी योनि) को प्राप्त करते हैं; ये तीन प्रकारकी गतियां हैं ॥ ४० ॥

ये सत्त्ववृत्ताववस्थितास्ते देवत्वं यान्ति। ये तु रजोवृत्त्यव्यवस्थितास्ते मनुष्यत्वम्। ये तमोवृत्तिस्थास्ते तिर्यक्त्वं चेत्येषा त्रिविधा जन्मप्राप्तिः ॥ ४० ॥

त्रिविधा त्रिविधैषा तु विज्ञेया गौणिकी गतिः।
अधमा मध्यमाग्र्या च कर्मविद्या विशेषतः ॥ ४१ ॥

(सत्त्वादि तीनों गुणोंके कारण) तीन प्रकारकी ये गतियां (देवगति, मनुष्य गति तथा तिर्यंगति) कर्म तथा विद्या आदिकी विशेषतासे जघन्य, मध्यम तथा उत्तम—पुनः तीन प्रकारकी अप्रधान गतियां होती हैं। (इस प्रकार ३ + ३ = ९ अप्रधान गतियां होती हैं) ॥ ४१ ॥

या सत्त्वादिगुणत्रयनिमित्ता त्रिविधा जन्मान्तरप्राप्तिरुक्ता सा देशकालादिभेदेन संसार-हेतुभूतकर्मभेदाज्ज्ञानभेदाच्चाधममध्यमोत्तमभेदेन पुनस्त्रिविधा बोद्धव्या ॥ ४१ ॥

स्थावराः कृमिकीटाश्च मत्स्याः सर्पाः सकच्छपाः।
पशवश्च मृगाश्चैव जघन्या तामसी गतिः ॥ ४२ ॥

स्थावर (वृक्ष, लता, गुल्म, पर्वत आदि अचर), कृमि (सूक्ष्म कीड़े), कीट [कुछ बड़े कीड़े], मछली, सर्प, कछुवा, पशु, मृग; ये सब जघन्य [हीन] तामसी गतियां हैं ॥ ४२ ॥

स्थावरा वृक्षादयः, कृमयः सूक्ष्माः प्राणिनः, तेभ्य ईषत्स्थूलाः कीटाः, तथा मत्स्यसर्पकूर्मपशुमृगाश्चेत्येषा तमोनिमित्ता जघन्या गतिः ॥ ४२ ॥

हस्तिनश्च तुरंगाश्च शूद्रा म्लेच्छाश्च गर्हिताः।
सिंहा व्याघ्रा वराहाश्च मध्यमा तामसी गतिः ॥ ४३ ॥

हाथी, घोड़ा, शूद्र, निन्दित म्लेच्छ, सिंह, बाघ और सूअर; ये मध्यम तामसी गतियां हैं ॥४३॥

हस्त्यश्वशूद्रम्लेच्छसिंहव्याघ्रसूकरास्तमोगुणनिमित्ता मध्यमा गतिः। गर्हिता इति म्लेच्छानां स्वरूपानुवादः ॥ ४३ ॥

चारणाश्च सुपर्णाश्च पुरुषाश्चैव दाम्भिकाः।
रक्षांसि च पिशाचाश्च तामसीषूत्तमा गतिः ॥ ४४ ॥

चारण (बन्दी-भाट आदि), सुपर्ण (पक्षि-विशेष), कपटाचारी मनुष्य, राक्षस और पिशाच; ये उत्तम तामसी गतियां हैं ॥ ४४ ॥

चारणा नटादायः, सुपर्णाः पक्षिणः, छद्मना कर्मकारिणः पुरुषाः, राक्षसाः, पिशाचाश्चेत्येषा तामसीषूत्तमा गतिः ॥ ४४ ॥

झल्ला मल्ला नटाश्चैव पुरुषाः शस्त्रवृत्तयः।
द्यूतपानप्रसक्ताश्च जघन्या राजसी गतिः ॥ ४५ ॥

झल्ल, मल्ल (१०।२२), नट (रङ्गमञ्चपर अभिनयकर जीविका करनेवाले), शस्त्रजीवी (सिपाही, सैनिक आदि), जुआरी तथा मद्यपी पुरुष; ये जघन्य (हीन) राजसी गतियां हैं ॥४५॥

झल्ला मल्लाः क्षत्रियाद् व्रात्यात्सवर्णायामुत्पन्ना दशमाध्यायोक्ता ज्ञेयाः। तत्र झल्ला यष्टिप्रहरणाः मल्ला बाहुयोधिनः, रङ्गावतारका नटाः शस्त्रजीविद्यूतपानप्रसक्ताश्च पुरुषा अधमा राजसी गतिर्ज्ञेया ॥ ४५ ॥

राजानः क्षत्रियाश्चैव राज्ञां चैव पुरोहिताः।
वादयुद्धप्रधानाश्च मध्यमा राजसी गतिः ॥ ४६ ॥

राजा, क्षत्रिय, राजाओंके पुरोहित, शास्त्रार्थ आदिके विवादको पसन्द करनेवाले; ये सब मध्यम राजसी गतियां हैं ॥ ४६ ॥

राजानोऽभिषिक्ता जनपदेश्वराः। तथा क्षत्रिया राजपुरोहिताश्च शास्त्रार्थकलहप्रियाश्च राजसी गतिर्मध्यमा बोद्धव्या ॥ ४६ ॥

गन्धर्वा गुह्यका यक्षा विबुधानुचराश्च ये।
तथैवाप्सरसः सर्वा राजसीषूत्तमा गतिः ॥ ४७ ॥

गन्धर्व, गुह्यक, यक्ष, देवानुचर (विद्याधर आदि) और अप्सराएं; ये सब उत्तम राजसी गतियां हैं ॥ ४७ ॥

गन्धर्वाः, गुह्यकाः, यक्षा जातिविशेषाः पुराणादिप्रसिद्धाः, ये च देवानुयायिनो विद्याधरादयः, अप्सरसश्च देवगणिकाः सर्वा इत्येषा राजसीमध्य उत्कृष्टा गतिः ॥ ४७ ॥

तापसा यतयो विप्रा ये च वैमानिका गणाः।
नक्षत्राणि च दैत्याश्च प्रथमा सात्त्विकी गतिः ॥ ४८ ॥

तपस्वी (वानप्रस्थ), यति (संन्यासी–भिक्षु), ब्राह्मण, वैमानिक गण (पुष्पक आदि देव–विमानोंसे गमन करनेवाले देवगण), नक्षत्र और दैत्य (प्रह्लाद, बलि आदि); ये जघन्य सात्त्विकी गतियां हैं ॥ ४८ ॥

वानप्रस्थाः, भिक्षवः, ब्राह्मणाश्च, अप्सरसो व्यतिरिक्ताः पुष्पकादिविमानचारिणः, नक्षत्राणि, दैत्याश्चेत्येषा सत्त्वनिमित्ताऽधमा गतिः ॥ ४८ ॥

यज्वान ऋषयो देवा वेदा ज्योतींषि वत्सराः।
पितरश्चैव साध्याश्च द्वितीया सात्त्विकी गतिः ॥ ४९ ॥

यज्वा (विधिपूर्वक यज्ञानुष्ठान किये हुए), ऋषि, देव, वेद (इतिहास-प्रसिद्ध शरीरधारी वेदाभिमानी देवविशेष), ज्योति (ध्रुव आदि), वर्ष (इतिहास-प्रसिद्ध शरीरधारी संवत्सर), पितर (सोमप आदि) और साध्य (देव–योनि-विशेष); ये मध्यम सात्त्विकी गतियां हैं ॥ ४९ ॥

यागशीलाः, तथर्षयः, देवाः, वेदाभिमानिन्यश्च देवता विग्रहवत्य इतिहासप्रसिद्धाः ज्योतींषि ध्रुवादीनि, वत्सरा इतिहासदृष्ट्या विग्रहवन्तः, पितरः सोमपादयः, साध्याश्च देवयोनिविशेषा सत्त्वनिमित्ता मध्यमा गतिः ॥ ४९ ॥

ब्रह्मा विश्वसृजो धर्मो महानव्यक्तमेव च।
उत्तमां सात्त्विकीमेतां गतिमाहुर्मनीषिणः ॥ ५० ॥

ब्रह्मा (चतुर्मुख), विश्वस्रष्टा (मरीचि आदि), (शरीरधारी) धर्म, महान् , अव्यक्त (साङ्ख्यप्रसिद्ध दो तत्त्व-विशेष); इनको विद्वान् उत्तम सात्त्विक गतियां कहते हैं ॥ ५० ॥

चतुर्वदनः, विश्वसृजश्च मरीच्यादयः, धर्मो विग्रहवान् , महान् , अव्यक्तं च सांख्यप्रसिद्धं च तत्त्वद्वयं, तदधिष्ठातृदेवताद्वयमिह विवक्षितम्। अचेतनगुणत्रयमात्रस्योत्तमसात्त्विकगतित्वानुपपत्तेः। एतां चतुर्वदनाद्यात्मिकसत्त्वनिमित्तामुत्कृष्टां गतिं पण्डिता वदन्ति ॥५०॥

एष सर्वः समुद्दिष्टस्त्रिप्रकारस्य कर्मणः।
त्रिविधस्त्रिविधः कृत्स्नः संसारः सार्वभौतिकः ॥ ५१ ॥

(भृगुजी महर्षियोंसे कहते हैं कि—) मन, वचन तथा शरीरके भेदसे तीन प्रकारके कर्मोंको, (सत्त्व, रज और तमोरूप) तीन प्रकारके गुणोंको और उनके भी सब प्राणि-सम्बन्धी (जघन्य, मध्यम तथा उत्तम भेदसे) तीन-तीन प्रकारकी सब गतियोंको (मैंने) कहा ॥ ५१ ॥

एषा मनोवाक्कायरूपत्रयभेदेन त्रिप्रकारस्य कर्म सत्त्वरजस्तमोभेदेन त्रिविधः पुनः प्रथममध्यमोत्तमभेदेन त्रिविधः सर्वप्राणिगत समग्रो गतिविशेषः कार्त्स्न्येनोक्तः। सार्वभौतिक हत्यभिधानादनुक्ता अप्यत्र गतयो द्रष्टव्याः। उक्ता गतयस्तु प्रदर्शनार्थाः ॥ ५१ ॥

इन्द्रियाणां प्रसंगेन धर्मस्यासेवनेन च।
पापान् संयान्ति संसारानविद्वांसो नराधमाः ॥ ५२ ॥

इन्द्रियोंकी (अपने अपने विषयोंमें) अत्यधिक आसक्ति होनेसे, (निषिद्ध कर्म करनेपर भी उसकी निवृत्तिके लिए विहित प्रायश्चित्त आदि) धर्मकार्य नहीं करनेसे मूर्ख तथा अधम मनुष्य निन्दित गतियोंको पाते हैं ॥ ५२ ॥

इन्द्रियाणां विषयेषु प्रसंगेन निषिद्धाचरणेन च प्रायश्चित्तादिधर्माननुष्ठानेन मूढा मनुष्यापसदाः कुत्सिता गतीः प्राप्नुवन्ति ॥ ५२ ॥

यां यां योनिं तु जीवोऽयं येन येनेह कर्मणा।
क्रमशो याति लोकेऽस्मिंस्तत्तत्सर्वं निबोधत ॥ ५३ ॥

(भृगुजी महर्षियोंसे पुनः कहते हैं कि—) यह जीव इस लोकमें जिस-जिस कर्म (के करने) से जिस-जिस योनिको प्राप्त करता है, उस सबको (आप लोग) सुनें ॥ ५३ ॥

अयं जीवो येन येन पापेन कर्मणा इह लोके कृतेन यद्यज्जन्म प्राप्नोति तत्सर्वं क्रमेण श्रृणुत ॥ ५३ ॥

बहून्वर्षगणान्घोरान्नरकान्प्राप्य तत्क्षयात्।
संसारान्प्रतिपद्यन्ते महापातकिनस्त्विमान् ॥ ५४ ॥

महापातकी (ब्रह्महत्या आदि महापातक (११।५४) करनेवाले बहुत वर्ष समूहोंतक भयङ्कर नरकोंको पाकर उनके उपभोगके क्षयसे इन) आगे (१२।५५-४०) कही जानेवाली गतियोंको प्राप्त करते हैं ॥ ५४ ॥

ब्रह्महत्यादिमहापातककारिणो बहून्वर्षसमूहान् भयङ्करान्नरकान्प्राप्य तदुपभोगक्षयाद् दुष्कृतशेषेण वक्ष्यमाणान् जन्मविशेषान्प्राप्नुवन्ति ॥ ५४ ॥

श्वसूकरखरोष्ट्राणां गोजाविमृगपक्षिणाम्।
चण्डालपुक्कसानां च ब्रह्महा योनिमृच्छति ॥ ५५ ॥

ब्रह्मघाती मनुष्य कुत्ता, सूअर, गधा, ऊँट, गौ, बकरी, भेंड़, मृग, पक्षी, चण्डाल (१०।१६) तथा पुक्कस (१०।१८) की योनिको प्राप्त करता है ॥ ५५ ॥

कुक्कुरसूकरगर्दभोष्ट्रगोच्छागमेषमृगपक्षिचण्डालानां पुक्कसानां च निषादेन शूद्रायां जातानां सम्बन्धिनीं जातिं ब्रह्महा प्राप्नोति, तत्र पापशेषगौरवलाघवापेक्षया क्रमेण सर्वयोनिप्राप्तिर्बोद्धव्या। एवमुत्तरत्रापि ॥ ५५ ॥

कृमिकीटपतङ्गानां विड्भुजां चैव पक्षिणाम्।
हिंस्राणां चैव सत्त्वानां सुरापो ब्राह्मणो व्रजेत् ॥ ५६ ॥

सुरा पीने वाला ब्राह्मण कृमि (बहुत सूक्ष्म कीड़े), कीट (कृमियोंसे कुछ बड़े कीड़े), पतङ्ग (उड़नेवाले फतिङ्गे यथा–शलभ, टिड्डी आदि), विष्ठा खानेवाले (कौवा आदि) तथा हिंसक (बाघ, सिंह, भेड़िया आदि) जीवोंकी योनिको प्राप्त करता है ॥ ५६ ॥

कृमिकीटशलभानां पुरीषभक्षिणां हिंसनशीलानां च व्याघ्रादीनां प्राणिनां जातिं सुरापो ब्राह्मणो गच्छति ॥ ५६ ॥

लूताहिसरटानां च तिरश्चां चाम्बुचारिणाम् ।
हिंस्राणां च पिशाचानां स्तेनो विप्रः सहस्रशः ॥ ५७ ॥

सोनेको चुराने वाला ब्राह्मण मकड़ी, साँप, गिगिट, जलचर जीव (मगर आदि), हिंसाशील तथा प्रेतोंकी योनिको हजारों बार प्राप्त करता है ॥ ५७ ॥

ऊर्णनाभसर्पकृकलासानां, जलचराणां च, तिरश्चां कुम्भीरादीनां, हिंसनशीलानां च योनिं सुवर्णहारी ब्राह्मणः सहस्रवारान्प्राप्नोति ॥ ५७ ॥

तृणगुल्मलतानां च क्रव्यादां दंष्ट्रिणामपि ।
क्रूरकर्मकृतां चैव शतशो गुरुतल्पगः ॥ ५८ ॥

गुरुतल्पग (गुरु (२।१४२) की स्त्रीके साथ सम्भोग करनेवाला) मनुष्य तृण, गुल्म, लता, कच्चे मांसको खानेवाले (गीध आदि) तथा दंष्ट्री (बाघ, सिंह, कुत्ता आदि) जीव और क्रूर कर्म करनेवाले (बाघ, सिंह या जल्लाद आदि) की योनिकों सैकड़ों बार प्राप्त करते हैं ॥ ५८ ॥

तृणानां दूर्वादीनां, गुल्मानामप्रकाण्डादीनां, लतानां गुडूच्यादीनां, आममांसभक्षिणां गृध्रादीनां, दंष्ट्रिणां सिंहादीनां, क्रूरकर्मशालिनां वधशीलानां च व्याघ्रादीनां जातिं शतवारान्प्राप्नोति गुरुदारगामी ॥ ५८ ॥

हिंस्रा भवन्ति क्रव्यादाः कृमयोऽभक्ष्यभक्षिणः ।
परस्परादिनः स्तेनाः प्रेत्यान्त्यस्त्रीनिषेविणः ॥ ५९ ॥

हिंसक (सदा हिंसा करनेवाले बहेलिया, शिकारी आदि) मनुष्य क्रव्याद (कच्चे मांस खानेवाले बिलाव आदि) होते हैं, अभक्ष्य पदार्थोंको खानेवाले मनुष्य कृमि (विष्टादिके बहुत छोटे-छोटे कीड़े) होते हैं, (महापातकसे भिन्न) चोर परस्परमें एक दूसरेको खानेवाले होते हैं और चण्डाल आदि हीनतम जातियोंकी स्त्रियोंके साथ सम्भोग करनेवाले प्रेत होते हैं ॥ ५९ ॥

ये प्राणिवधशीलास्त आममांसाशिनो मार्जारादयो भवन्ति। अभक्ष्यभक्षिणो ये ते कृमयो जायन्ते। महापातकव्यतिरिक्ताश्चौरास्ते परस्परं मांसस्यादिनो भवन्ति। ये चाण्डालादिस्त्रीगामिनस्ते प्रेताख्याः प्राणिविशेषा जायन्ते। प्रेतान्त्यस्त्रीनिषेविण इति छन्दःसमानत्वात्स्मृतीनां, सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्त इति विसर्गलोपे च। यद्वा यलोपे च सवर्णदीर्घः ॥ ५९ ॥

संयोगं पतितैर्गत्वा परस्यैव च योषितम् ।
अपहृत्य च विप्रस्वं भवति ब्रह्मराक्षसः ॥ ६० ॥

पतितोंके साथ संसर्ग (११।१८०) कर, परस्त्रीके साथ सम्भोग कर और ब्राह्मणके (सुवर्णभिन्न) धनका अपहरण कर मनुष्य ब्रह्मराक्षस होता है ॥ ६० ॥

यावत्कालीनपतितसंयोगेन पतितो भवति तावन्तं कालं ब्रह्महादिभिश्चतुर्भिः सह संसर्गं कृत्वा परेषां च स्त्रियं गत्वा ब्राह्मणसुवर्णादन्यदपहृत्य एकैकपापकारेण ब्रह्मराक्षसो भूतविशेषो भवति ॥ ६० ॥

मणिमुक्ताप्रवालानि हृत्वा लोभेन मानवः ।
विविधानि च रत्नानि जायते हेमकर्तृषु ॥ ६१ ॥

मनुष्य मणि, मोती, मूंगा और अनेक प्रकारके रत्नोंको लोभसे (आत्मीय होनेके भ्रमसे नहीं) हरणकर सुनार (या 'हेमकार' पक्षी) की योनिमें उत्पन्न होता है ॥ ६१ ॥

मणीन्माणिक्यादीनि, मुक्ताविद्रुमौ च नानाविधानि च रत्नानि वैदूर्यहीरकादीनि लोभेन हृत्वाऽऽत्मीयभ्रमाद्विना सुवर्णकारयोनौ जायते। केचित्तु हेमकारपक्षिणमाचक्षते ॥६१॥

धान्यं हृत्वा भवत्याखुः कांस्यं हंसो जलं प्लवः ।
मधु दंशः पयः काको रसं श्वा नकुलो घृतम् ॥ ६२ ॥

मनुष्य धान्य चुराकर चूहा, काँसा चुराकर हंस, जल चुराकर प्लव नामक पक्षी, शहद चुराकर दंश (डांस), दूध चुराकर कौवा, (विशिष्ट रूपसे कथित गुड, नमक आदिके अतिरिक्त) गन्ने आदिका रस चुराकर कुत्ता और घी चुराकर नेवला होता है ॥ ६२ ॥

धान्यमपहृत्य मूषिको भवति । कांस्यं हृत्वा हंसः, जलं हृत्वा प्लवाख्यः पक्षी, माक्षिकं हृत्वा दंशः, क्षीरं हृत्वा काकः, विशेषोपदिष्टगुडलवणादिव्यतिरिक्तमिक्ष्वादि रसं हृत्वा श्वा भवति । घृतं हृत्वा नकुलो भवति ॥ ६२ ॥

मांसं गृध्रं वपां मद्गुस्तैलं तैलपकः खगः ।
चीरीवाकस्तु लवणं बलाका शकुनिर्दधि ॥ ६३ ॥

मांस चुराकर गीध, चर्बी चुराकर मद्गु नामक जलचर, तैल चुराकर तैलपक नामक पक्षी (या 'तेलचटा' नामक उड़नेवाला कीड़ा), नमक चुराकर झींगुर और दही चुराकर बलाका पक्षी होता है ॥ ६३ ॥

मांसं हृत्वा गृध्रो भवति । वपां हृत्वा मद्गुनामा जलचरो भवति । तैलं हृत्वा तैलपायिकाख्यः पक्षी, लवणं हृत्वा चीराख्य उच्चैःस्वरः कीटः, दधि हृत्वा बलाकाख्यः पक्षी जायते ॥ ६३ ॥

कौशेयं तित्तिरिर्हृत्वा क्षौमं हृत्वा तु दर्दुरः ।
कार्पासतान्तवं क्रौञ्चो गोधा गां वाग्गुदो गुडम् ॥ ६४ ॥

रेशमी वस्त्र (या सूत) चुराकर तीतर पक्षी, क्षौम (तीसी आदिके छालसे बना) वस्त्र चुराकर मण्डूक (मेढक), रूईसे बना अर्थात् सूती वस्त्र चुराकर क्रौञ्च पक्षी, गौको चुराकर गोह और गुड चुराकर वाग्गुद पक्षी होता है ॥ ६४ ॥

कीटकोशनिर्मितं वस्त्रं हृत्वा तित्तिरिनामा पक्षी भवति । क्षौमकृतं वस्त्रं हृत्वा मण्डूकः कार्पासमयं पटं हृत्वा क्रौञ्चाख्यः प्राणी, गां हृत्वा गोधा, गुडं हृत्वा वाग्गुदनामा शकुनिर्भवति ॥ ६४ ॥

छुच्छुन्दरिः शुभान्गन्धान्पत्रशाकं तु बर्हिणः ।
श्वावित्कृतान्नं विविधमकृतान्नं तु शल्यकः ॥ ६५ ॥

उत्तम गन्ध (कस्तूरी, कर्पूर आदि) चुराकर छुछुन्दरी, पत्तोंवाला (बथुआ पालक आदि) शाक चुराकर मोर, सिद्धान्न (मोदक, लड्डू, सत्तू, भात आदि) चुराकर शाही (कांटेदार सम्पूर्ण शरीरवाला छोटे कुत्तोंके बराबर ऊँचा पशुविशेष), कच्चा अन्न (चावल, धान, गेहूँ, जौ, चना, दाल आदि) चुराकर शल्यक होता है ॥ ६५ ॥

सुगन्धिद्रव्याणि कस्तूर्यादीनि हृत्वा छुच्छुन्दरिर्भवति। वास्तूकादिपत्रशाकं हृत्वा मयूरः, सिद्धान्नमोदनसक्त्वादि नानाप्रकारकं हृत्वा श्वाविधाख्यः प्राणी, अकृतान्नं तु व्रीहियवादिकं हृत्वा शल्यकसंज्ञो जायते ॥ ६५ ॥

वको भवति हृत्वाग्निं गृहकारी ह्युपस्करम्।
रक्तानि हृत्वा वासांसि जायते जीवजीवकः ॥ ६६ ॥

अग्नि चुराकर बगुला, गृहोपयोगी (सूप, चालन, ओखली, मूसल आदि) साधन चुराकर लोहनी नामक कीडा (जो मिट्टीसे लम्बा या गोल आकारवाले अपने घरको दिवालों या धरन आदि काष्ठोंपर बनता है) और (कुसुम्भ आदि से) रंगा गया वस्त्र चुराकर चकोर पक्षी होता है ॥ ६६ ॥

अग्निं हृत्वा वकाख्यः पक्षी जायते। गृहोपयोगि शूर्पमुसलादि हृत्वा भित्त्यादिषु मृत्तिकादिगृहकारी सपक्षः कीटो भवति। कुसुम्भादिरक्तानि वासांसि हृत्वा चकोराख्यः पक्षी जायते ॥ ६६ ॥

वृको मृगेभं व्याघ्रोऽश्वं फलमूलं तु मर्कटः।
स्त्रीमृक्षः स्तोकको वारि यानान्युष्ट्रः पशूनजः ॥ ६७ ॥

मृग (हरिण) या हाथी चुराकर भेड़िया, घोड़ा चुराकर बाघ, फल तथा मूल चुराकर वानर, स्त्री चुराकर भालू, (पीनेके लिए) पानी चुराकर चातक पक्षी, (एक्का, तांगा, रेक्सा गाडी आदि) सवारी चुराकर ऊँट और (इस प्रकरणमें अकथित) पशुओंको चुराकर छाग होता है ॥६७॥

मृगं हस्तिनं वा हृत्वा वृकाख्यो हिंस्रः पशुर्भवति। घोटकं हृत्वा व्याघ्रो भवति। फलमूलं हृत्वा मर्कटो भवति। स्त्रियं हृत्वा भल्लूको भवति। पानार्थमुदकं हृत्वा चातकाख्यः पक्षी। यानानि शकटादीनि हृत्वा उष्ट्रो भवति। पशूनुक्तेतरान् हृत्वा छागो भवति ॥६७॥

यद्वा तद्वा परद्रव्यमपहृत्य बलान्नरः।
अवश्यं याति तिर्यक्त्वं जग्ध्वा चैवाहुतं हविः ॥ ६८ ॥

मनुष्य दूसरेकी निःसार (साधारणतम) भी वस्तुको बलात्कारसे लेकर तथा विना हवन किये (पुरोडश आदि) हविष्यको खाकर अवश्य ही तिर्यग्योनिको पाता है ॥ ६८ ॥

यत्किञ्चिदसारमपि परद्रव्यमिच्छातो मानुषोऽपहृत्य पुरोडाशादिकं तु हविरहुतं भुक्त्वा निश्चितं तिर्यक्त्वं प्राप्नोति ॥ ६८ ॥

स्त्रियोऽप्येतेन कल्पेन हृत्वा दोषमवाप्नुयुः।
एतेषामेव जन्तूनां भार्यात्वमुपयान्ति ताः ॥ ६९ ॥

इस प्रकार स्त्रियां भी इच्छापूर्वक (इन वस्तुओंका) चुराकर दोषभागिनी होती हैं और वे इन्हीं (१२।६२-६८) जीवोंकी स्त्रियां होती हैं ॥ ६९ ॥

स्त्रियोऽप्येतेन प्रकारेणेच्छातः परस्वमपहृत्य पापं प्राप्नुवन्ति। तेन पापेनोक्तानां जन्तूनां भार्यात्वं प्रतिपद्यन्ते ॥ ६९ ॥

एवं निषिद्धाचरणफलान्यभिधायाधुना विहिताकारणफलविपाकमाह—

स्वेभ्यः स्वेभ्यस्तु कर्मभ्यश्च्युता वर्णा ह्यनापदि।
पापान्संसृत्य संसारान्प्रेष्यतां यान्ति शत्रुषु ॥ ७० ॥

(इस प्रकार शास्त्रनिषिद्ध कर्मोंके आचरण करनेपर फलोंको कहकर, अब शास्त्र-विहित कर्मोंके नहीं करनेपर होनेवाले फलोंको कहते हैं—) वर्ण (ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र) आपत्तिकाल नहीं होनेपर भी अपने-अपने कर्मोंसे भ्रष्ट होकर (शास्त्रविहित पञ्चमहायज्ञ आदि कर्मोंको छोड़कर) निन्दित योनियोंको पाकर जन्मान्तरमें शत्रुओंके यहां दास होते हैं ॥ ७० ॥

ब्राह्मणादयश्चत्वारो वर्णा आपदं विना पञ्चयज्ञादिकर्मत्यागिनो वक्ष्यमाणाः कुत्सिता योनीः प्राप्य ततो जन्मान्तरे शत्रुदासत्वं प्राप्नुवन्ति ॥ ७० ॥

वान्ताश्युल्कामुखः प्रेतो विप्रो धर्मात्स्वकाच्च्युतः ।
अमेध्यकुणपाशी च क्षत्रियः कटपूतनः ॥ ७१ ॥

अपने धर्मसे भ्रष्ट ब्राह्मण वान्तभोजी (वमन किये हुए अन्नादिको खानेवाला) तथा ज्वालायुक्त (ज्वलनशील-जलते हुए) मुखवाला प्रेत होता है और (अपने धर्मसे भ्रष्ट) क्षत्रिय अपवित्र (विष्ठा) तथा शवको खानेवाला 'कटपूतन' नामक प्रेत होता है ॥ ७१ ॥

ब्राह्मणः स्वकर्मभ्रष्टश्छर्दितभुक् ज्वालामुखः प्रेतविशेषो जायते । क्षत्रियः पुनर्नष्टकर्मा पुरीषशवभोजी कटपूतनाख्यः प्रेतविशेषो भवति ॥ ७१ ॥

मैत्राक्षज्योतिकः प्रेतो वैश्यो भवति पूयभुक् ।
चैलाशकश्च भवति शूद्रो धर्मात्स्वकाच्च्युतः ॥ ७२ ॥

अपने कर्मसे भ्रष्ट हुआ वैश्य पीब खानेवाला 'मैत्राक्षज्योतिष्क' नामक प्रेत होता है (इसका गुद ही कर्मेन्द्रिय होता है) और अपने धर्ममें भ्रष्ट शूद्र 'चैलाशक' (वस्त्रोंकी 'जूं' को खानेवाला) नामक प्रेत होता है ॥ ७२ ॥

वैश्यो भ्रष्टकर्मा मैत्राक्षज्योतिकनामा पूयभक्षः प्रेतो जन्मान्तरे भवति । मित्रदेवताकत्वान्मैत्रः पायुस्तदेवाक्षं कर्मेन्द्रियं तत्र ज्योतिर्यस्य स मैत्राक्षज्योतिकः । पृषोदरादित्वाज्ज्योतिषः षकारलोपः । शूद्रः पुनर्भ्रष्टकर्मा चैलाशकाख्यः प्रेतो भवति । चैलं वस्त्रं तत्सम्बन्धिनीं यूकामश्नातीति चैलाशकः । गोविन्दराजस्तु चेलाशकाख्यः कीटश्चैल इत्युच्यते तद्भक्षश्च स भवतीत्याह तदयुक्तं, प्रेताख्यप्राणिविशेषप्रकरणात् ॥ ७२ ॥

यथा यथा निषेवन्ते विषयान्विषयात्मकाः ।
तथा तथा कुशलता तेषां तेषूपजायते ॥ ७३ ॥

विषयी मनुष्य विषयोंको जैसे-जैसे (जितनी अधिक मात्रामें) सेवन करते हैं, उन (विषयों) में वैसे-वैसे (उतनी अधिक मात्रामें कुशलता प्रवीणता अर्थात् वृद्धि-आसक्ति) होती जाती है ॥७३॥

यथा यथा शब्दादिविषयान्विषयलोलुपा नितान्तं सेवन्ते तथा तथा विषयेष्वेव तेषां प्रावीण्यं भवतीति ॥ ७३ ॥

ततः—

तेऽभ्यासात्कर्मणां तेषां पापानामल्पबुद्धयः ।
संप्राप्नुवन्ति दुःखानि तासु तास्विह योनिषु ॥ ७४ ॥

(अतः) वे मन्दबुद्धि उन पाप कर्मोंके अभ्यास (निरन्तर सेवन) से उन-उन योनियोंमें दुःखोंको प्राप्त करते हैं ॥ ७४ ॥

तेऽल्पधियस्तेषां निषिद्धविषयोपभोगानामभ्यासतारतम्यात्तासु तासु गर्हितगर्हिततरगर्हिततमासु तिर्यगादियोनिषु दुःखमनुभवन्ति ॥ ७४ ॥

तामिस्रादिषु चाग्रेषु नरकेषु विवर्तनम् ।
असिपत्रवनादीनि बन्धनच्छेदनानि च ॥ ७५ ॥

(वे क्षुद्रबुद्धि पापी मनुष्य) (४।८८-९०) तामिस्र आदि घोर नरकोंमें दुःख पाते हैं तथा असिपत्रवन आदि नरकोंको और बन्धन, छेदन आदि दुःखोंको पाते हैं ॥ ७५ ॥

'संप्राप्नुवन्ति' (म. स्मृ. १२-७४) इति पूर्वश्लोकस्थमिहोत्तरत्रानुवर्तते । तामिस्रादिषु चतुर्थाध्यायोक्तेषु घोरेषु नरकेषु दुःखानुभवं प्राप्नुवन्ति। तथाऽसिपत्रवनादीनि बन्धनच्छेदनात्मिकान्नरकान्प्राप्नुवन्ति ॥ ७५ ॥

विविधाश्चैव संपीडाः काकोलूकैश्च भक्षणम् ।
करम्भवालुकातापान्कुम्भीपाकांश्च दारुणान् ॥ ७६ ॥

(वे क्षुद्रबुद्धि पापी मनुष्य) अनेक प्रकारकी पीडाओंको भोगते हैं, उन्हें कौवे और उल्लू खाते हैं, वे सन्तप्त बालू (रेत) में सन्तापको पाते हैं और कुम्भीपाक आदि दारुण नरकोंको भोगते हैं ॥ ७६ ॥

विविधपीडनं काकाद्यैर्भक्षणं तथा तप्तवालुकादीन् कुंभीपाकादींश्च नरकान्दारुणान्प्राप्नुवन्ति ॥ ७६ ॥

संभवांश्च वियोनीषु दुःखप्रायासु नित्यशः ।
शीतातपाभिघातांश्च विविधानि भयानि च ॥ ७७ ॥

(वे क्षुद्रबुद्धि पापी मनुष्य) अधिक दुःखदायी (तिर्यक् आदि) निषिद्ध योनियोंमें उत्पत्ति (जन्म) को और शीत तथा आतप (ठंडक तथा धूप) की भयङ्कर विविध पीडाओंको प्राप्त करते हैं ॥ ७७ ॥

संभवान् तिर्यगादिजातिषु नित्यं दुःखबहुलासूत्पत्तिं प्राप्नुवन्ति । तत्र शीतातपादिपीडनादि नानाप्रकाराणि च प्राप्नुवन्ति ॥ ७७ ॥

असकृद्गर्भवासेषु वासं जन्म च दारुणम् ।
बन्धनानि च काष्ठानि परप्रेष्यत्वमेव च ॥ ७८ ॥

(वे क्षुद्रबुद्धि पापी मनुष्य) अनेक बार गर्भमें निवास, जन्मग्रहण अनेक प्रकारके कष्टकारक बन्धन (जन्य पीडाओं) को पाते हैं तथा दूसरोंके दास बनते हैं ॥ ७८ ॥

पुनः पुनर्गर्भस्थानेषु वासः समुत्पत्तिं च योनियन्त्रादिभिर्दुःखावहामुत्पन्नाश्च श्रृङ्खलादिभिर्बन्धनादिपीडामनुभवन्ति । परव्दासत्वं च प्राप्नुवन्ति ॥ ७८ ॥

बन्धुप्रियवियोगांश्च संवासं चैव दुर्जनैः ।
द्रव्यार्जनं च नाशं च मित्रामित्रस्य चार्जनम् ॥ ७९ ॥

(वे क्षुद्रबुद्धि पापी मनुष्य) प्रियबन्धुओंके वियोग, दुष्टोंके सहवास धनोपार्जन प्रयास, नाश, कष्टसे मित्रोंका लाभ और शत्रुओंका प्रादुर्भाव (नये-नये शत्रुओंका होना) को प्राप्त करते हैं ॥७९॥

बान्धवैः सुहृद्भिः सह वियोगान्, दुर्जनैश्च सहैकत्रावस्थानं, धनार्जनप्रयासं, धनविनाशं, कष्टेन मित्रार्जनं, शत्रुप्रादुर्भावं प्राप्नुवन्ति च ॥ ७९ ॥

जरां चैवाप्रतीकारां व्याधिभिश्चोपपीडनम् ।
क्लेशांश्च विविधांस्तांस्तान्मृत्युमेव च दुर्जयम् ॥ ८० ॥

(वे क्षुद्रबुद्धि पापी मनुष्य) प्रतिकाररहित बुढ़ापा, व्याधियोंसे उपपीडन (भूख-प्यास आदिसे) अनेक प्रकारके क्लेश और दुर्जय मृत्युको पाते हैं ॥ ८० ॥

जरां चाविद्यमानप्रतीकारां व्याधिभिश्चोपपीडनं क्षुत्पिपासादिना च नानाप्रकारान् क्लेशान्मृत्युं च दुर्वारं प्राप्नुवन्ति ॥ ८० ॥

यादृशेन तु भावेन यद्यत्कर्म निषेवते ।
तादृशेन शरीरेण तत्तत्फलमुपाश्नुते ॥ ८१ ॥

मनुष्य जिस प्रकारके (भले या बुरे) भावोंसे जिन-जिन (भले या बुरे) कर्मोंका सेवन करता है, वह वैसे (भले या बुरे) शरीरसे उन-उन (भले या बुरे) कर्मफलोंको प्राप्त करता है ॥८१॥

यथाविधेन सात्त्विकेन राजसेन तामसेन वा चेतसा यद्यत्कर्म स्नानदानयोगाद्यनुतिष्ठति तादृशेनैव शरीरेण सात्त्विकेन, रजोऽधिकेन, तमोऽधिकेन वा तत्तत्स्नानादिफलमुपभुङ्क्ते ॥ ८१ ॥

एष सर्वः समुद्दिष्टः कर्मणां वः फलोदयः ।
नैःश्रेयसकरं कर्म विप्रस्येदं निबोधत ॥ ८२ ॥

(भृगुजी महर्षियोंसे कहते हैं कि—मैंने) आप लोगोंसे इस (१·५५–८१) कर्मोंके फलकी सम्पूर्ण उत्पत्तिको कहा, अब मोक्षके लिए ब्राह्मणके कर्मको आपलोग सुनें ॥ ८२ ॥

एष युष्माकं विहितप्रतिषिद्धानां कर्मणां सर्वः फलोदय उक्तः, इदानीं ब्राह्मणस्य निःश्रेयसाय मोक्षाय हितं कर्मानुष्ठानमिदं शृणुत ॥ ८२ ॥

वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानमिन्द्रियाणां च संयमः ।
अहिंसा गुरुसेवा च निःश्रेयसकरं परम् ॥ ८३ ॥

(उपनिषद्के सहित) वेदका अभ्यास, (प्राजापत्य आदि) तप, (ब्रह्मविषयक) ज्ञान, इन्द्रियोंका संयम, अहिंसा और गुरुजनों की सेवा; ये ब्राह्मणके लिए श्रेष्ठ मोक्षसाधक छः कर्म हैं ॥ ८३ ॥

उपनिषदादेर्वेदस्य ग्रन्थतोऽर्थतश्चावर्तनं, तपः कृच्छ्रादि, ज्ञानं ब्रह्मविषयं, इन्द्रियजयः, अविहितहिंसावर्जनं, गुरुशुश्रूषेत्येतत्प्रकृष्टं मोक्षसाधनम् ॥ ८३ ॥

सर्वेषामपि चैतेषां शुभानामिह कर्मणाम् ।
किंचिच्छ्रेयस्करतरं कर्मोक्तं पुरुषं प्रति ॥ ८४ ॥

इन सब (१२।८३) शुभ कर्मोंमें भी मनुष्यके लिए अधिक शुभकारक कोई कर्म है ॥ ८४ ॥

सर्वेषामप्येतेषां वेदाभ्यासादीनां शुभकर्मणां मध्ये किंचित्कर्मातिशयेन मोक्षसाधनं स्यादिति वितर्के ऋषीणां जिज्ञासाविशेषादुत्तरश्लोकेन निर्णयमाह ॥ ८४ ॥

सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम् ।
तद्ध्यग्र्यं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः ॥ ८५ ॥

इस सब (१२।८३) कर्मोंमें भी उपनिषद्वर्णित ब्रह्मज्ञान ही सर्वश्रेष्ठ कहा गया है, वही सब विद्याओंमें प्रधान है, इस कारण उससे अमृत (मोक्ष) की प्राप्ति होती है ॥ ८५ ॥

एषां वेदाभ्यासादीनां सर्वेषामपि मध्ये उपनिषदुक्तपरमार्थज्ञानं प्रकृष्टं स्मृतं यस्मात्सर्वविद्यानां प्रधानम् । अत्रैव हेतुमाह । यतो मोक्षस्तस्मात्प्राप्यते ॥ ८५ ॥

षण्णामेषां तु सर्वेषां कर्मणां प्रेत्य चेह च।
श्रेयस्करतरं ज्ञेयं सर्वदा कर्म वैदिकम् ॥ ८६ ॥

इन (१२।८३) सब छः कर्मोंमें से मरनेके बाद (परलोकमें) तथा (जीवित रहनेपर) इस संसारमें वैदिक कर्मको सर्वदा कल्याणकारक समझना चाहिये ॥ ८६ ॥

एषां पुनः षण्णां पूर्वोक्तानां वेदाभ्यासादीनां कर्मणां मध्ये वैदिकं कर्म परमात्मज्ञानमैहिकामुष्मिकश्रेयस्करतरं ज्ञातव्यम्। पूर्वश्लोके मोक्षहेतुत्वमात्मज्ञानस्योक्तम्, इह तु ऐहिकामुष्मिकश्रेयोऽन्तरहेतुत्वमुच्यत इत्यपौनरुक्त्यम्। तथाहि प्रतीकोपासनानां संशयोदयं 'नाम ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य कामचारी भवति'। गोविन्दराजस्तु एषां पूर्वश्लोकोक्तानां वेदाभ्यासादीनां षण्णां कर्मणां मध्यात्स्मार्त्तकर्मापेक्षया वैदिकं कर्म सर्वदेहपरलोके सातिशयं सातिशयेन कीर्तिस्वर्गनिःश्रेयसाधनं ज्ञेयमिति व्याख्यातवान्। तदयुक्तम्, वेदाभ्यासादीनां षण्णामपि प्रत्येकं श्रुतिविहितत्वात्। तेषु मध्ये स्मार्तापेक्षया किंचिदेवं किंचिच्च नेति न संभवति। ततश्च कथं निर्धारणे षष्ठी। तस्माद्यथोक्तैव व्याख्या ॥ ८६ ॥

इदानीमैहिकामुष्मिकश्रेयःसाधनत्वमेवात्मज्ञानस्य स्पष्टयति—

वैदिके कर्मयोगे तु सर्वाण्येतान्यशेषतः।
अन्तर्भवन्ति क्रमशस्तस्मिंस्तस्मिन्क्रियाविधौ ॥ ८७ ॥

(परमात्मोपासनारूप) वैदिक कर्मयोगमें ये सभी (ऐहलौकिक तथा पारलौकिक कल्याण) उस उपासना विधिमें सम्पूर्ण भावसे क्रमशः अन्तर्भूत हो जाते हैं। अथवा-वैदिक कर्मयोगमें ये (१२।८३) सभी वेदाभ्यासादि षट्कर्म परमात्मज्ञानमें अन्तर्भूत हो जाते हैं ॥ ८७ ॥

वैदिके पुनः कर्मयोगे परमात्मोपासनारूपे सर्वाण्येतानि पूर्वश्लोकोक्तान्यैहिकामुष्मिकश्रेयांसि तस्मिन्नुपासनाविधौ क्रमशः संभवन्ति। अथवा सर्वाण्येतानीति वेदाभ्यासादीन्येव परामृश्यन्ते। परात्मज्ञाने वेदाभ्यासादीनि 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' इति श्रुतिविहिताङ्गत्वेनान्तर्भवन्ति ॥ ८७ ॥

सुखाभ्युदयिकं चैव नैःश्रेयसिकमेव च।
प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम् ॥ ८८ ॥

वैदिक कर्म दो प्रकारके होते हैं—पहला स्वर्गादि सुखसाधक संसारमें प्रवृत्ति करानेवाला (ज्योतिष्टोमादिरूप) प्रवृत्त कर्म तथा दूसरा निःश्रेयस (मुक्ति) साधक संसारसे निवृत्ति करानेवाला (प्रतीकोपासनादिरूप) निवृत्त कर्म ॥ ८८ ॥

वैदिकं कर्मात्र ज्योतिष्टोमादि प्रतीकोपासनादि च गृह्यते। स्वर्गादिसुखप्राप्तिकरसंसारप्रवृत्तिहेतुत्वात्प्रवृत्ताख्यं वैदिकं कर्म, तथा निःश्रेयसं मोक्षस्तदर्थं कर्म नैःश्रेयसिकं संसारनिवृत्तिहेतुत्वान्निवृत्ताख्यमित्येवं वैदिकं कर्म द्विप्रकारकं वेदितव्यम् ॥ ८८ ॥

एतदेव स्पष्टयति—

इह चामुत्र वा काम्यं प्रवृत्तं कर्म कीर्त्यते।
निष्कामं ज्ञानपूर्वं तु निवृत्तमुपदिश्यते ॥ ८९ ॥
[अकामोपहतं नित्यं निवृत्तं च विधीयते।
कामतस्तु कृतं कर्म प्रवृत्तमुपदिश्यते ॥ ७ ॥]

इस लोकमें या परलोकमें इच्छापूर्वक (सकाम भावसे) किया गया (ज्योतिष्टोमादि यज्ञरूप) कर्म (संसार-प्रवृत्तिसाधक होनेसे) 'प्रवृत्त कर्म' कहा जाता है और इच्छारहित (निष्काम भावसे ब्रह्मज्ञानके अभ्यासपूर्वक किया गया कर्म (संसार-निवृत्ति-साधक होनेसे) 'निवृत्त कर्म' कहा जाता है ॥ ८९ ॥

[सदा निष्काम किया गया कर्म 'निवृत्त कर्म' कहा जाता है और सकाम किया गया कर्म 'प्रवृत्त कर्म' कहा जाता है ॥ ७ ॥]

इह काम्यसाधनं वृष्टिहेतुकारि यागादिरत्र स्वर्गादिफलसाधनं ज्योतिष्टोमादि यत्कामतया क्रियते तत्संसारप्रवृत्तिहेतुत्वात्प्रवृत्तमित्युच्यते । दृष्टादृष्टफलकामनारहितं पुनर्ब्रह्मज्ञानाभ्यासपूर्वकं संसारनिवृत्तिहेतुत्वान्निवृत्तमित्युच्यते ॥ ८९ ॥

प्रवृत्तं कर्म संसेव्य देवानामेति साम्यताम् ।
निवृत्तं सेवमानस्तु भूतान्यत्येति पञ्च वै ॥ ९० ॥

(मनुष्य) प्रवृत्तकर्मका सेवनकर देवोंकी समानता (स्वर्ग) पाता है और निवृत्त कर्मका सेवन करता हुआ पञ्चभूत (पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश) का अतिक्रमण करता अर्थात् पुनर्जन्मरहित होकर मोक्ष पाता है ॥ ९० ॥

प्रवृत्तकर्माभ्यासेन देवसमानगतित्वं तत्फलं कर्मणा प्राप्नोति । एतच्च प्रदर्शनार्थमन्यफलकेन कर्मणा प्रवृत्तेन फलान्तरमपि प्राप्नोति । निवृत्तकर्माभ्यासेन पुनः शरीरारम्भकानि पञ्च भूतान्यतिक्रामति । मोक्षं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ९० ॥

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति ॥ ९१ ॥

सम्पूर्ण (चराचर) जीवोंमें आत्माको तथा आत्मामें सम्पूर्ण (चराचर) जीवोंको देखता हुआ आत्मयाजी (ब्रह्मार्पण न्यायसे ज्योतिष्टोमादि करनेवाला) ब्रह्मत्व अर्थात् मुक्तिको पाता है ॥ ९१ ॥

सर्वभूतेषु स्थावरजङ्गमात्मकेष्वहमेवात्मरूपेणास्मि सर्वाणि भूतानि परमात्मपरिणामसिद्धानि मय्येव परमात्मन्यासत इति सामान्येन जानन्नात्मयाजी ब्रह्मार्पणन्यायेन ज्योतिष्टोमादि कुर्वन् स्वेन राजते प्रकाशत इति स्वराट् ब्रह्म तस्य भावः स्वाराज्यं ब्रह्मत्वं लभते । मोक्षमाप्नोतीत्यर्थः । तथा च श्रुतिः—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत' । तथा यजुर्वेदमन्त्रः—'यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति । सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते' ॥ ९१ ॥

यथोक्तान्यपि कर्माणि परिहाय द्विजोत्तमः ।
आत्मज्ञाने शमे च स्याद्वेदाभ्यासे च यत्नवान् ॥ ९२ ॥

द्विजोत्तम (ब्राह्मण) शास्त्रोक्त (अग्निहोत्रादि) कर्मोंका त्यागकर भी ब्रह्म ध्यान, इन्द्रियनिग्रह और (प्रणव, उपनिषद् आदि) वेदके अभ्यासमें प्रयत्नशील रहे ॥ ९२ ॥

शास्त्रचोदितान्यप्यग्निहोत्रादीनि कर्माणि परित्यज्य ब्रह्मध्यानेन्द्रियजयप्रणवोपनिषदादिवेदाभ्यासेषु ब्राह्मणो यत्नं कुर्यात् । एतच्चैषां मोक्षोपायान्तरङ्गोपायत्वप्रदर्शनार्थं न त्वग्निहोत्रादिपरित्यागपरत्वमुक्तम् ॥ ९२ ॥

एतद्धि जन्मसाफल्यं ब्राह्मणस्य विशेषतः ।
प्राप्यैतत्कृतकृत्यो हि द्विजो भवति नान्यथा ॥ ९३ ॥

यही (आत्मज्ञान, वेदाभ्यासादि ही) द्विजको, विशेषकर ब्राह्मणके जन्मकी सफलता है; क्योंकि इसे पाकर द्विज कृतकृत्य हो जाता है, अन्यथा (दूसरे किसी प्रकारसे कृतकृत्य) नहीं होता ॥ ९३ ॥

एतदात्मज्ञानवेदाभ्यासादि द्विजातेर्जन्मसाफल्यापादकत्वाज्जन्मनः साफल्यं विशेषेण ब्राह्मणस्य । यस्मादेतत्प्राप्य द्विजातिः कृतकृत्यो भवति न प्रकारान्तरेण ॥ ९३ ॥

पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम् ।
अशक्यं चाप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः ॥ ९४ ॥

पितर, देव तथा मनुष्योंका सनातन नेत्र वेद ही है, यह वेद अपौरुषेय (किसी पुरुषका नहीं बनाया हुआ) और अप्रमेय (मीमांसा, न्याय आदिसे निरपेक्ष) है; ऐसी शास्त्र-व्यवस्था है ॥९४॥

पितृदेवमनुष्याणां हव्यकव्यान्नदानेषु वेद एव चक्षुरिव चक्षुरनश्वरं तत्प्रमाणत्वादसन्निकृष्टफलकव्यदानादौ प्रमाणान्तरानवकाशात् । अशक्यं च वेदशास्त्रं कर्तुम् । अनेनापौरुषेयतोक्ता, अप्रमेयं च मीमांसादिन्यायनिरपेक्षतयानवगम्यमानप्रमेयमेवं व्यवस्था । ततश्च मीमांसया व्याकरणाद्यङ्गैश्च सर्वब्रह्मात्मकं वेदार्थं जानीयादिति व्यवस्थितम् ॥ ९४ ॥

या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः ।
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तपोनिष्ठा हि ताः स्मृताः ॥ ९५ ॥

जो स्मृतियां वेदबाह्य (अवेदमूलक) हैं तथा जो कोई कुदृष्टि (चार्वाकादिकृत शास्त्र) हैं वे सब परलोकमें निष्फल हैं; क्योंकि उन्हें (मनु आदि महर्षि ने तमःप्रधान कहा है) ॥ ९५ ॥

याः स्मृतयो वेदमूला न भवन्ति दृष्टार्थवाक्यानि चैत्यवन्दनात्स्वर्गो भवतीत्यादीनि । यानि चासत्तर्कमूलानि देवतापूर्वादिनिराकरणात्मकानि वेदविरुद्धानि चार्वाकदर्शनानि सर्वाणि परलोके निष्फलानि यस्मान्नरकफलानि तानि मन्वादिभिः स्मृतानि ॥ ९५ ॥

एतदेव स्पष्टयति—

उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च यान्यतोऽन्यानि कानिचित् ।
तान्यर्वाक्कालिकतया निष्फलान्यनृतानि च ॥ ९६ ॥

इस (वेद) से भिन्न जो शास्त्र रचे जाते तथा नष्ट होते हैं, वे सब अर्वाक् (आधुनिक अर्थात इस समयके रचे हुए) होनेसे निष्फल तथा असत्य हैं ॥ ९६ ॥

यान्यतो वेदादन्यमूलानि च कानिचिच्छास्त्राणि पौरुषेयत्वादुत्पद्यन्ते एवमाशु विनश्यन्ति । तानि च इदानींतनत्वान्निष्फलानि असत्यरूपाणि च । स्मृत्यादीनां तु वेदमूलत्वादेव प्रामाण्यम् ॥ ९६ ॥

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक् ।
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात्प्रसिध्यति ॥ ९७ ॥

पृथक्-पृथक् चारों वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र), तीनो लोक (स्वर्ग, मृत्यु और पाताल), चारों आश्रम (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास) और भूत, भविष्य तथा वर्तमान (क्रमशः जो कुछ हुआ, होगा तथा हो रहा है) वह सब वेदसे ही प्रसिद्ध होते हैं ॥ ९७ ॥

'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' इत्यादिवेदादेव चातुर्वर्ण्यं प्रसिध्यति । ब्राह्मणीभूतमातापितृजनितत्वमिति तदुपजीवितया स्वर्गादिलोकोऽपि वेदादेव प्रसिद्धः । एवं ब्रह्मचर्याद्याश्रमा अपि चत्वारो वेदमूलकत्वाद्वेदादेव प्रसिध्यन्ति । किं बहुना, यत्किंचिदतीतं वर्तमानं

भविष्यं च तत्सर्वं 'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यग्' (म. स्मृ. ३-७६) इत्यादिन्यायेन वेदादेव प्रसिध्यति ॥ ९७ ॥

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च पञ्चमः ।
वेदादेव प्रसूयन्ते प्रसूतिगुणकर्मतः ॥ ९८ ॥

(इस लोक तथा परलोकमें) शब्द, स्पर्श, रूप, रस और पांचवां गन्ध; ये सब गुण (सत्त्व रज और तम) निमित्त वैदिक कर्महेतुक होनेसे वेदसे ही प्रसिद्ध होते हैं ॥ ९८ ॥

य इह लोके परलोके च शब्दादयो विषयाः प्रसूयन्ते प्रयुज्यन्ते एतैरिति प्रसूतयः प्रसूतयश्च गुणाश्चेति सत्त्वरजस्तमोरूपाः तन्निबन्धनवैदिककर्महेतुत्वाद्वेदादेव प्रसिध्यन्ति ॥ ९८ ॥

बिभर्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम् ।
तस्मादेतत्परं मन्ये यज्जन्तोरस्य साधनम् ॥ ९९ ॥

सनातन (नित्य) यह वेदशास्त्र सम्पूर्ण भूतोंको धारण करता है, इस कारणसे (मैं) इस जीवका उत्तम पुरुषार्थ-साधन वेदको मानता हूँ ॥ ९९ ॥

वेदशास्त्रं नित्यं सर्वभूतानि धारयति । तथा च 'हविरग्नौ हूयते सोऽग्निरादित्यमुपसर्पति तत्सूर्यो रश्मिभिर्वर्षति तेनान्नं भवति 'अथेह भूतानामुत्पत्तिस्थितिश्चेति हविर्जायते' इति ब्राह्मणम् । तस्माद्वेदशास्त्रमस्य जन्तोर्वैदिककर्माधिकारिपुरुषस्य प्रकृष्टं पुरुषार्थसाधनं जानन्ति ॥ ९९ ॥

सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च ।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥ १०० ॥

वेदज्ञाता मनुष्य सेनापतित्व, राज्य, दण्डप्रणेतृत्व (न्यायाधीश—जज आदि होने) और सम्पूर्ण लोकोंके स्वामित्वके योग्य है ॥ १०० ॥

सेनापत्यं, राज्यं, दण्डप्रणेतृत्वं, सर्वभूम्याधिपत्यादीन्येतत्सर्वमुक्तप्रयोजनं वेदात्मकशास्त्रज्ञ एवार्हति ॥ १०० ॥

यथा जातबलो वह्निर्दहत्यार्द्रानपि द्रुमान् ।
तथा दहति वेदज्ञः कर्मजं दोषमात्मनः ॥ १०१ ॥
[न वेदबलमाश्रित्य पापकर्मरुचिर्भवेत् ।
अज्ञानाच्च प्रमादाच्च दहते कर्म नेतरत् ॥ ८ ॥]

जिस प्रकार प्रबल (धधकती हुई) अग्नि गीले (नहीं सूखे हुए) वृक्षोंको भी जला देती है, उसी प्रकार वेदज्ञाता मनुष्य अपने निषिद्ध कर्मों (से उत्पन्न पापों) को भी नष्ट कर देता है ॥ १०१ ॥

[मनुष्यको वेदबलका आश्रयकर पापकर्म करनेकी इच्छा नहीं करनी चाहिये, (क्योंकि वह वेद) अज्ञान और प्रमादसे किये गये कर्म (पाप) को जलाता नष्ट करता) है, दूसरे (ज्ञानपूर्वक किये गये) कर्मको नहीं जलाता ॥ ८ ॥]

यथा वृद्धोऽग्निरार्द्रानपि द्रुमान्दहत्येवं ग्रन्थतोऽर्थतश्च वेदज्ञः प्रतिषिद्धाद्याचरणादिकर्मजनितं पापमात्मनो नाशयति । एवं च न वेदः केवलं स्वर्गापवर्गादिहेतुः किं त्वहितनिवृत्तिहेतुरिति दर्शितः ॥ १०१ ॥

वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसन्।
इहैव लोके तिष्ठन्स ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ १०२ ॥

वेदशास्त्रके वास्तविक अर्थको जाननेवाला जिस किसी आश्रममें रहता हुआ इसी लोकमें ब्रह्म-भावके लिए समर्थ होता है ॥ १०२ ॥

यस्तत्त्वतो वेदं तदर्थं च कर्म ब्रह्मात्मकं जानाति स नित्यनैमित्तिककर्मानुगृहीतब्रह्मज्ञा-नेन ब्रह्मचर्याद्याश्रमात्रस्थितोऽस्मिन्नेव लोके तिष्ठन् ब्रह्मत्वाय कल्पते ॥ १०२ ॥

अज्ञेभ्यो ग्रन्थिनः श्रेष्ठा ग्रन्थिभ्यो धारिणो वराः।
धारिभ्यो ज्ञानिनः श्रेष्ठा ज्ञानिभ्यो व्यवसायिनः ॥ १०३ ॥

अज्ञों (कुछ अंश पढ़े हुए) से सम्पूर्ण ग्रन्थ पढ़े हुए लोग श्रेष्ठ हैं, उन (सम्पूर्ण ग्रन्थको पढ़े हुए लोगों) से उस सम्पूर्ण ग्रन्थको धारण करनेवाले श्रेष्ठ हैं, उन (सम्पूर्ण ग्रन्थ धारण करनेवालों) से ज्ञानी (पढ़े हुए सम्पूर्ण ग्रन्थके अर्थको जाननेवाले) श्रेष्ठ हैं और उन (ज्ञानियों) से व्यवसायी (वेदविहित कर्मोंका आचरण करनेवाले) श्रेष्ठ हैं ॥ १०३ ॥

उभयोः प्रशस्यत्वे सत्यन्यतरातिशयविवक्षायां श्रेष्ठ इतीष्ठनो विधानादीषदध्ययना आज्ञास्तेभ्यः समग्रग्रन्थाध्येतारः श्रेष्ठाः। तेभ्योऽधीतग्रन्थधारणसमर्थाः श्रेष्ठाः। तेन ग्रन्थिनः पठितविस्मृतग्रन्था बोद्धव्याः। धारिभ्योऽधीतग्रन्थार्थज्ञाः प्रकृष्टास्तेभ्योऽनुष्ठातारः ॥ १०३ ॥

तपो विद्या च विप्रस्य निःश्रेयसकरं परम्।
तपसा किल्विषं हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥ १०४ ॥

तप (ब्रह्मचर्य, गृहस्थादि आश्रमोक्त धर्म) और विद्या (आत्मज्ञान) ये दोनों ब्राह्मणके लिए उत्तम मोक्षसाधन हैं, उनमें वह तपसे पापको नष्ट करता है तथा विद्यासे मोक्षको प्राप्त करता है ॥

'तपः स्वधर्मवृत्तित्वमि'ति भारतदर्शनात् आश्रमविहितं कर्म आत्मज्ञानं च ब्राह्मणस्य मोक्षसाधनम्। तत्र तपसोऽवान्तरव्यापारमाह। तपसा पापमपहन्ति। ब्रह्मज्ञानेन मोक्षमा-प्नोति। तथा च श्रुतिः—'विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते' ॥ विद्यातोऽन्यदविद्या कर्म मृत्युवद्दुःखसाधनत्वान्मृत्युः पापम्। श्रुत्यर्थ एवायं मनुना व्याख्यायोक्तः ॥ १०४ ॥

प्रत्यक्षं चानुमानं च शास्त्रं च विविधागमम्।
त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता ॥ १०५ ॥

धर्मके तत्त्वको जाननेके इच्छुकको (धर्म-साधनभूत द्रव्य-गुण-जातित्वके ज्ञानके लिए) प्रत्यक्ष तथा अनुमानका और अनेकविध धर्मस्वरूपके ज्ञानके लिए वेदमूलक विविध स्मृत्यादिरूप शास्त्र-का ज्ञान अच्छी तरह करना चाहिये; ये ही तीनों (प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शास्त्र) मनु सम्मत प्रमाण हैं। (उपमान, अर्थापत्ति आदि प्रमाणोंका अनुमानमें अन्तर्भाव समझना) ॥ १०५ ॥

धर्मस्य तत्त्वावबोधमिच्छता प्रत्यक्षमनुमानं च धर्मसाधनभूतद्रव्यगुणजातित्वज्ञानाय शास्त्रं च वेदमूलं स्मृत्यादिरूपं नानाप्रकारधर्मस्वरूपविज्ञानाय सुविदितं कर्तव्यम्। तदेव-च प्रमाणत्रयं मनोरभिमतम्। उपमानार्थापत्त्यादेश्चानुमानान्तर्भावः ॥ १०५ ॥

आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राऽविरोधिना।
यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः ॥ १०६ ॥

जो मनुष्य ऋषिदृष्ट वेद तथा तन्मूलक स्मृति शास्त्रोंको वेदानुकूल तर्कसे विचारता है, वही धर्मज्ञ है, दूसरा नहीं ॥ १०६ ॥

ऋषिदृष्टत्वादार्षं वेदं धर्मोपदेशं च तन्मूलस्मृत्यादिकं यस्तदविरुद्धेन मीमांसादिन्यायेन विचारयति स धर्मं जानाति न तु मीमांसानभिज्ञः। धर्मे करणं वेदः, मीमांसा चेतिकर्तव्यतास्थानीया। तदुक्तं भट्टवार्तिककृता—

'धर्मे प्रमीयमाणे हि वेदेन करणात्मना।
इतिकर्तव्यताभागं मीमांसा पूरयिष्यति ॥ १०६ ॥'

नैःश्रेयसमिदं कर्म यथोदितमशेषतः।
मानवस्यास्य शास्त्रस्य रहस्यमुपदिश्यते ॥ १०७ ॥

(भृगुजी महर्षियोंसे कहते हैं कि—) मुक्तिसाधक इस (१२।८३–१०६) सम्पूर्ण कर्मको (मैंने) यथावत् कहा, अब (मैं) इस मानव (मनु भगवान्‌के रचे हुए) शास्त्रके रहस्य (गोपनीय विषय) को (१२।१०८–११५) कहता हूं, (उसे आपलोग सुनें) ॥ १०७ ॥

एतन्निःश्रेयससाधनं कर्म निःशेषेण यथावदुदितम्। अत ऊर्ध्वमस्य मानवशास्त्रस्य रहस्यं गोपनीयमिदं वक्ष्यमाणं शृणुत ॥ १०७ ॥

अस्य शास्त्रस्यासमस्तधर्माभिधानमाशङ्क्यानया सामान्योक्त्या समग्रधर्मोपदेशकत्वं बोधयति—

अनाम्नातेषु धर्मेषु कथं स्यादिति चेद्भवेत्।
यं शिष्टा ब्राह्मणा ब्रूयुः स धर्मः स्यादशङ्कितः ॥ १०८ ॥

(सामान्य रूपसे कथित, किन्तु विशेष रूपसे) अकथित धर्मस्थलमें किस प्रकारका आचरण करना चाहिये ऐसा सन्देह होनेपर जिस धर्मको शिष्ट (१२।१०९) ब्राह्मण बतलावें, वही धर्म सन्देहरहित है (अत एव उसी शिष्टोक्त धर्मका आचरण करना चाहिये) ॥ १०८ ॥

सामान्यविधिप्राप्तेषु विशेषेणानुपदिष्टेषु कथं कर्तव्यं स्यादिति यदि संशयो भवेत्तदायं धर्मं वक्ष्यमाणलक्षणाः शिष्टा ब्राह्मणा ब्रूयुः स तत्र निश्चितो धर्मः स्यात् ॥ १०८ ॥

धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेदः सपरिबृंहणः।
ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः ॥ १०९ ॥

धर्मसे (ब्रह्मचर्यादि आश्रममें निवासकर, व्याकरण-मीमांसादि शास्त्रोंसे) परिस्फुट वेदको जिन्होंने पढ़ा है, वेद (के तत्त्व) को प्रत्यक्ष करनेवाले उन ब्राह्मणोंको 'शिष्ट' जानना चाहिये ॥ १०९ ॥

ब्रह्मचर्याद्युक्तधर्मेण यैरङ्गमीमांसाधर्मशास्त्रपुराणाद्युपबृंहितो वेदोऽधिगतस्ते ब्राह्मणाः श्रुतेः प्रत्यक्षीकरणे हेतवः, ये श्रुतिं पठित्वा तदर्थमुपदिशन्ति ते शिष्टा विज्ञेयाः ॥ १०९ ॥

दशावरा वा परिषद्यं धर्मं परिकल्पयेत्।
त्र्यवरा वापि वृत्तस्था तं धर्मं न विचालयेत् ॥ ११० ॥

कमसे कम दस (१२।१११) सदाचारी ब्राह्मणोंकी सभा (कमेटी) या (उतना नहीं मिलनेपर) तीन (१२।११२) ब्राह्मणोंकी सभा जिस धर्मका निर्णय करे, उस धर्मका उल्लंघन नहीं करना चाहिये ॥ ११० ॥

यदि बहवः सन्तोऽवहिता न भवन्ति तदा दशावरास्त्र्यवराश्चेति वक्ष्यमाणलक्षणा यस्याः सा परिषत् तदभावे त्रयोऽवरा यस्याः सा वा सदाचारा यं धर्मं निश्चिनुयात्तं धर्मत्वेन स्वीकुर्यान्न विसंवदेत् ॥ ११० ॥

[पुराणं मानवो धर्मो साङ्गोपाङ्गचिकित्सकः ।
आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः ॥ ९ ॥]
त्रैविद्यो हेतुकस्तर्की नैरुक्तो धर्मपाठकः ।
त्रयश्चाश्रमिणः पूर्वे परिषत्स्याद्दशावरा ॥ १११ ॥

[पुराण, मानव (मनु भगवान् द्वारा प्रतिपादित) धर्म, साङ्गोपाङ्ग चिकित्सक और (सज्जनोंकी) आज्ञासे सिद्ध कार्य; इन चारोंका हेतु अर्थात् तर्कसे नाश (उल्लङ्घन) नहीं करना चाहिये ॥९॥]

तीनों वेदकी तीनों शाखाओं, श्रुति-स्मृतिके अविरुद्ध न्यायशास्त्र, मीमांसाशास्त्र, निरुक्त और मनु आदि महर्षियोंद्वारा प्रणीत धर्मशास्त्रोंको पढ़े हुए, प्रथम तीन (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ तथा वानप्रस्थ) आश्रममें रहनेवाले दस ब्राह्मणोंकी परिषद् (सभा-कमेटी, धर्म-निर्णय करनेमें समर्थ) होती है ॥ १११ ॥

वेदत्रयसंबन्धशाखात्रयाध्येतारः श्रुतिस्मृत्यविरुद्धन्यायशास्त्रज्ञः, मीमांसात्मकतर्कवित्, निरुक्तज्ञः, मानवादिधर्मशास्त्रवेदी, ब्रह्मचारी, गृहस्थवानप्रस्थौ इत्येषा दशावरा परिषत्स्यात् ॥ १११ ॥

ऋग्वेदविद्यजुर्विच्च सामवेदविदेव च ।
त्र्यवरा परिषज्ज्ञेया धर्मसंशयनिर्णये ॥ ११२ ॥

ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेदको पढ़ने और उसके तत्त्वको जाननेवाले कमसे कम तीन ब्राह्मणोंकी सभा धर्म-सम्बन्धी सन्देहके निश्चय करनेमें समर्थ होती है ॥ ११२ ॥

ऋग्यजुःसामवेदशाखानां येऽध्येतारस्तदर्थज्ञाश्च त्रयः सा धर्मसंदेहनिरासार्थं त्र्यवरा परिषद्बोद्धव्या ॥ ११२ ॥

तदभावे—

एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः ।
स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः ॥ ११३ ॥

(अथवा तीन विद्वान् ब्राह्मणों) १२।११२ (के नहीं मिलनेपर) वेदुतत्त्वज्ञाता एक भी ब्राह्मण जिसको धर्म निश्चित करे, उसे ही श्रेष्ठ धर्म समझना चाहिये, दस सहस्र मूर्खोंसे कहा हुआ धर्म नहीं है ॥ ११३ ॥

एकोऽपि वेदार्थधर्मज्ञो यं धर्मं निश्चिनुयात् प्रकृष्टो धर्मः स बोद्धव्यो न वेदानभिज्ञानां दशभिः सहस्रैरप्युक्तः । वेदविच्छब्दोऽयं वेदार्थधर्मज्ञपरः । एतच्च श्रेष्ठोपलक्षणम् । स्मृतिपुराणमीमांसान्यायशास्त्रज्ञोऽपि गुरुपरंपरोपदेशविच्च ज्ञेयः । तथा—

केवलं शास्त्रमाश्रित्य न कर्तव्यो विनिर्णयः ।
युक्तिहीनविचारे तु धर्महानिः प्रजायते ॥

तेन बहुस्मृतिज्ञोऽपि यदि सम्यक् प्रायश्चित्तादिधर्मं जानाति तदा तेनाप्येकेन धर्मं प्रकृष्टो धर्मो ज्ञेयः । अत एव यमः—

'एको द्वौ वा त्रयो वापि यद् ब्रूयुर्धर्मपाठकाः ।
स धर्म इति विज्ञेयो नेतरेषां सहस्रशः ॥ ११३ ॥'

अव्रतानाममन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम् ।
सहस्रशः समेतानां परिषत्त्वं न विद्यते ॥ ११४ ॥

(सावित्री ब्रह्मचर्यादि) व्रतोंसे हीन; मन्त्र (वेदाध्ययनसे) रहित और जातिमात्रसे ब्राह्मण कहलाकर जीनेवाले एकत्रित सहस्रों ब्राह्मणोंकी भी परिषद् (सभा, धर्मनिर्णायक) नहीं होती है ॥

सावित्र्यादिब्रह्मचारिव्रतरहितानां, मन्त्रवेदाध्ययनरहितानां, ब्राह्मणजातिमात्रधारिणां, बहूनामपि मिलितानां परिषत्त्वं नास्ति, धर्मनिर्णयसामर्थ्याभावात् ॥ ११४ ॥

यं वदन्ति तमोभूता मूर्खा धर्ममतद्विदः ।
तत्पापं शतधा भूत्वा तद्वक्तॄनधिगच्छति ॥ ११५ ॥

अधिक तमोगुणवाले मूर्ख वेदोक्त धर्मज्ञानसे शून्य (ब्राह्मण नामधारी व्यक्ति) जिस पुरुषको प्रायश्चित्त आदि धर्मका उपदेश देते हैं, उस पुरुषका वह पाप सौगुना होकर उन धर्मोपदेशकोंको लगता है ॥ ११५ ॥

तमोगुणबहुला मूर्खाः धर्मप्रमाणवेदार्थानभिज्ञा अत एव प्रश्नविषयधर्माविदः प्रायश्चित्तादिधर्मं यं पुरुषं प्रत्युपदिशन्ति तदीयं पापं शतगुणं भूत्वा वाचकान्बहून् भजेत् ॥ ११५ ॥

एतद्वोऽभिहितं सर्वं निःश्रेयसकरं परम् ।
अस्मादप्रच्युतो विप्रः प्राप्नोति परमां गतिम् ॥ ११६ ॥

(भृगुजी महर्षियोंसे कहते हैं कि—मैंने) आप लोगोंसे परमकल्याणकारक यह (१२।१०८–११५ (धर्म कहा, इस धर्मसे भ्रष्ट नहीं होनेवाला अर्थात् सर्वदा इसका पालन करनेवाला विप्र श्रेष्ठ गतिको प्राप्त करता है ॥ ११६ ॥

एतन्निःश्रेयससाधकं प्रकृष्टं धर्मादिकं सर्वं युष्माकमभिहितम् । एतदनुतिष्ठन्ब्राह्मणादिः परमां गतिं स्वर्गापवर्गरूपां प्राप्नोति ॥ ११६ ॥

एवं स भगवान्देवो लोकानां हितकाम्यया ।
धर्मस्य परमं गुह्यं ममेदं सर्वमुक्तवान् ॥ ११७ ॥

(भृगुजी पुनः महर्षियोंसे कहते हैंकि—) इस प्रकार भगवान् मनु देवने संसारके हितकी कामनासे धर्मका सब परम रहस्य मुझ (भृगु) को कहा ॥ ११७ ॥

स भगवानैश्वर्यादिसंयुक्तो द्योतनाद् देवो मनुरुक्तप्रकारेणेदं सर्वं धर्मस्य परमार्थं शुश्रूषुशिष्येभ्य अगोपनीयं लोकहितेच्छया ममेदं सर्वमुक्तवानिति भृगुर्महर्षीनाह ॥ ११७ ॥

एवमुपसंहृत्य महर्षीणां हितायोक्तमप्यात्मज्ञानं प्रकृष्टमोक्षोपकारकतया पृथक् कृत्याह–

सर्वमात्मनि सम्पश्येत्सच्चासच्च समाहितः ।
सर्वं ह्यात्मनि संपश्यन्नाधर्मे कुरुते मनः ॥ ११८ ॥

ब्राह्मण सावधान चित्त होकर समस्त सत् तथा असत्को आत्मामें वर्तमान देखे, सब (सत् तथा असत्) को आत्मामें वर्तमान देखता (जानता) हुआ वह ब्राह्मण अधर्ममें मनको नहीं लगाता है ॥ ११८ ॥

सद्भावमसद्भावं सर्वं ब्राह्मणो जानन् ब्रह्मस्वरूपमात्मन्युपस्थितं तदात्मकमनन्यमना ध्यानप्रकर्षेण साक्षात्कुर्यात् । यस्मात्सर्वमात्मत्वेन पश्यन्रागद्वेषाभावादधर्मे मनो न कुरुते एतदेव स्पष्टयति—

आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम् ।
आत्मा हि जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिणाम् ॥ ११९ ॥

(इन्द्र आदि) सब देवता आत्मा अर्थात् परमात्मा ही है, सब संसार आत्मा में ही अवस्थित है और आत्मा ही इन देहियों (जीवों) के कर्मसम्बन्धको उत्पन्न करता है ॥ ११९ ॥

इन्द्राद्याः सर्वदेवताः परमात्मैव सर्वात्मत्वात्परमात्मनः। सर्वं जगदात्मन्येवावस्थितं परमात्मपरिणामित्वात्। हिरवधारणार्थे। परमात्मैवैषां क्षेत्रज्ञादीनां कर्मसम्बन्धं जनयति। तथा च श्रुतिः—'एष ह्येव साधु कर्म कारयति यमूर्ध्वं निनीषति। एष ह्येवासाधु कर्म कारयति यमधो निनीषति' इति ॥ ११९ ॥

इदानीं वक्ष्यमाणब्रह्मध्यानविशेषोपयोगितया दैहिकाकाशादिषु बाह्याकाशादीनां लयमाह—

खं सन्निवेशयेत्खेषु चेष्टनस्पर्शनेऽनिलम्।
पक्तिदृष्ट्योः परं तेजः स्नेहेऽपो गां च मूर्तिषु ॥ १२० ॥
मनसीन्दुं दिशः श्रोत्रे क्रान्ते विष्णुं बले हरम्।
वाच्यग्निं मित्रमुत्सर्गे प्रजने च प्रजापतिम् ॥ १२१ ॥

(इस समय आगे (१२।१२१) कहे जानेवाले ब्रह्मध्यानके विशेषोपयोगी होनेसे दैहिक आकाशादिका बाह्य आकाशादिमें लय होना कहते हैं—) नासिका, उदर आदि सम्बन्धी शारीरिक आकाशमें बाह्य आकाशको, चेष्टा तथा स्पर्शरूप शारीरिक वायुमें बाह्य वायुको, उदरसम्बन्धी और नेत्र-सम्बन्धी शारीरिक तेजमें उत्कृष्ट (सूर्य-चन्द्र-सम्बन्धी) बाह्य तेजको, शारीरिक स्नेह (जल) में बाह्य जलको, शारीरिक पार्थिव (पृथ्वी-सम्बन्धी) भागोंमें बाह्य पृथ्वीको—॥ १२० ॥

मनमें चन्द्रमाको, कानोंमें दिशाओंको, चरणोंमें विष्णुको, बल (सामर्थ्य) में शिवको, वचनमें अग्निको, गुदामें मित्रको, शिश्नमें प्रजापतिको लीन (हुआ समझ कर) एकत्वकी भावना करे ॥ १२१ ॥

बाह्याकाशमुदराद्यवच्छिन्नशरीराकाशेषु लीनमेकत्वेन धारयेत्। तथा चेष्टास्पर्शकारणभूतदैहिकवायौ बाह्यवायुं, औदर्यचाक्षुषतेजसोरग्निसूर्ययोः प्रकृष्टं तेजः, दैहिकास्वप्सु बाह्या अपः, बाह्याः पृथिव्यादयः शरीरपार्थिवभागेषु, मनसि चन्द्रं, श्रोत्रे दिशः, पादेन्द्रिये विष्णुं, बले हरं, वागिन्द्रियेऽग्निं, पाय्विन्द्रिये मित्रं, उपस्थेन्द्रिये प्रजापतिं लीनमेकत्वेन भावयेत् ॥१२०–१२१॥

एवमाध्यात्मिकभूतादिकं लीनमेकत्वेन भावयित्वा—

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम् ॥ १२२ ॥

(इस प्रकार (१२।१२०–१२१) आत्मामें लीन बाह्य भूतों (आकाशादिकों) की भावना करके) सम्पूर्ण चराचर जगतका शासक, सूक्ष्मसे भी अधिक सूक्ष्मतम, (उपासना (ध्यान) के लिए) सुवर्णके समान (देदीप्यमान), स्वप्न-बुद्धिके (प्रसन्न मनसे) ग्रहण करने योग्य उस श्रेष्ठ पुरुष (परमात्मा) का चिन्तन (ध्यान) करे ॥ १२२ ॥

प्रशासितारं नियन्तारं ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तस्य चेतनाचेतनस्य जातेर्योऽयमग्न्यादीनामौष्ण्यादिनियमो यश्चादित्यादीनां भ्रमणादिनियमो यच्च कर्मणां फलं प्रतिनियतमेतत्सर्वं परमात्माधीनम्। तथा च 'एतस्यैवाऽक्षरस्य प्रशासने गार्गि' (बृहदारण्यके ३।८।९) इत्याद्युपनिषदः। तथा 'भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः। भयादिन्द्रश्च वायुश्च

मृत्युर्धावति पञ्चमः' (कठोपनि. ६।३) इति । तथा 'अणोरणीयांसं सर्वात्मत्वात्' (नृसिंहतापिनी १।१)। तथा च श्रुतिः—

'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च ।
भागो जीवेति विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ॥'

रुक्माभं यद्यपि 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' (कठोप. ३।१५) इत्याद्युपनिषदा रूपं परमात्मनो निषिद्धं तथाप्युपासनाविशेषे शुद्धसुवर्णाभम् । अत एव । 'य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः' (१।६।६) इत्यादि छान्दोग्योपनिषत् । स्वप्नधीगम्यम् । दृष्टान्तोऽयं स्वप्नधीसदृशज्ञानग्राह्यम् । यथा स्वप्नधीश्चक्षुरादिबाह्येन्द्रियोपरमे मनोमात्रेण जन्यत एवमात्मधीरपि । अत एव व्यासः—

'नैवासौ चक्षुषा ग्राह्यो न च शिष्टैरपीन्द्रियैः ।
मनसा तु प्रसन्नेन गृह्यते सूक्ष्मदर्शिभिः ॥'

एवंविधं परात्मानमनुचिन्तयेत् ॥ १२२ ॥

एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् ।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥ १२३ ॥

इस (परम पुरुष परमात्मा) को कुछ लोग (याज्ञिक-अध्वर्यु) अग्नि, कुछ लोग (सृष्टिकर्ता) प्रजापति मनु, कुछ लोग (ऐश्वर्यसम्पन्न होनेसे) इन्द्र, कुछ लोग प्राण तथा कुछ लोग शाश्वत (सनातन अर्थात् नित्य) ब्रह्म कहते हैं ॥ १२३ ॥

एतं च परमात्मानमग्नित्वेनैके याज्ञिका उपासते, तथा तमेकमग्निमित्यध्वर्यव उपासते । अन्ये पुनः स्रष्टृत्वात्स्रष्टाख्यप्रजापतिरूपतयोपासते । एके पुनरैश्वर्ययोगादिन्द्ररूपतयोपासते । अपरे पुनः प्राणत्वेनोपासते । सर्वाणि भूरादीनीमानि भूतानि 'प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहतः' इत्यादिश्रुतिदर्शनात् । अपरे पुनरपगतप्रपञ्चात्मकं सच्चिदानन्दस्वरूपं परमात्मानमुपासते मूर्तामूर्तस्वरूपे च ब्रह्मणि सर्वा एवोपासनाः श्रुतिप्रसिद्धा भवन्ति ॥

एष सर्वाणि भूतानि पञ्चभिर्व्याप्य मूर्तिभिः ।
जन्मवृद्धिक्षयैर्नित्यं संसारयति चक्रवत् ॥ १२४ ॥

यह (परमात्मा) सम्पूर्ण प्राणियोंमें शरीरोंको आरम्भ करनेवाली पञ्चमूर्तियों (पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा आकाशरूप पञ्चमहाभूतों) से व्याप्त होकर उत्पत्ति, स्थिति और विनाश (क्रमशः—जन्म, स्थिति तथा मरण) के द्वारा (निरन्तर परिवर्तनशील रथके) पहियेके समान संसारियोंको सर्वदा बनाता रहता है ॥ १२४ ॥

एष आत्मा सर्वान्प्राणिनः पञ्चभिः पृथिव्यादिभिर्महाभूतैः शरीरारम्भकैः परिगृह्य पूर्वजन्मार्जितकर्मापेक्षयोत्पत्तिस्थितिविनाशै रथादिचक्रवदसकृदुपावर्तमानैरामोक्षात्संसारिणः करोति ॥ १२४ ॥

इदानीं मोक्षत्वेनोक्तसर्वधर्मश्रेष्ठतया सर्वत्र परमात्मदर्शनमनुष्ठेयत्वेनोपसंहरति—

एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना ।
स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माभ्येति परं पदम् ॥ १२५ ॥
[चतुर्वेदसमं पुण्यमस्य शास्त्रस्य धारणात् ।
भूयो वाप्यतिरिच्येत पापनिर्यातनं महत् ॥ १० ॥]

इस प्रकार (१२।११८–१२४) सम्पूर्ण जीवोंमें स्थित आत्मा (परात्मा) को आत्माके द्वारा जो देखता है, वह सबमें समानता प्राप्तकर ब्रह्मरूप परमपद (मोक्ष) को प्राप्त करता है ॥ १२५ ॥

[इस (मानव-मनुप्रतिपादित) शास्त्रके धारण (अध्ययन) करने अर्थात् जाननेसे चारों वेद (के अध्ययन) के समान पुण्य होता है, अथवा महान् तथा पापनिवारक यह उससे भी अतिरिक्त (श्रेष्ठ) होता है। (वास्तविकमें वेदसे अधिक श्रेष्ठ किसी वचनके नहीं होनेसे प्रशंसार्थ यह वचन कहा गया है) ॥ १० ॥]

'सर्वभूतेषु चात्मानम्' इत्याद्युक्तप्रकारेण यः सर्वेषु भूतेष्वत्रस्थितमात्मानमात्मना पश्यति, स ब्रह्मसाक्षात्कारात्परं श्रेष्ठं पदं स्थानं ब्रह्म प्राप्नोति। तत्रात्यन्तं लीयते, मुक्तो भवतीत्यर्थः ॥ १२५ ॥

इत्येतन्मानवं शास्त्रं भृगुप्रोक्तं पठन्द्विजः।
भवत्याचारवान्नित्यं यथेष्टां प्राप्नुयाद्गतिम् ॥ १२६ ॥
[मनुः स्वायंभुवो देवः सर्वशास्त्रार्थपारगः।
तस्यास्यनिर्गतं धर्मं विचार्य बहुविस्तरम् ॥ ११ ॥
ये पठन्ति द्विजाः केचित्सर्वपापोपशान्तिदम्।
ते गच्छन्ति परं स्थानं ब्रह्मणः सद्म शाश्वतम् ॥ १२ ॥]

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

भृगुजीके द्वारा कहे गये इस मानव (मनु द्वारा प्रतिपादित) शास्त्रको पढ़ता हुआ द्विज (इसमें विहित कर्मोंका आचरण तथा वर्जित कर्मोंका त्याग करनेसे) सदाचारी होता है और यथेष्ट (अपनी इच्छाके अनुसार, स्वर्ग तथा मोक्ष आदि) गतिको प्राप्त करता है ॥ १२६ ॥

[स्वयम्भू (ब्रह्मा) के पुत्र, देव (प्रकाशशील) मनु सम्पूर्ण शास्त्रोंके तत्त्वोंके पारदर्शी हैं, उनके मुखसे निकले हुए अर्थात् उनके द्वारा कहे हुए बहुत विस्तृत (विशद रूपसे वर्णित) धर्मको विचार करके — ॥ ११ ॥

सम्पूर्ण पापोंका नाश करनेवाले इस (धर्मशास्त्र) को जो कोई द्विज पढ़ते हैं, वे शाश्वत (नित्य) ब्रह्मलोकरूप परमपद अर्थात् मोक्षको जाते हैं ॥ १२ ॥]

समाप्त्यर्थ इति शब्दः। एतत्स्मृतिशास्त्रं भृगुणा प्रकर्षेणोक्तं द्विजातिः पठन् विहितानुष्ठाननिषिद्धवर्जनात्सदाचारवान् भवति। यथापेक्षितां च स्वर्गापवर्गादिरूपां गतिं प्राप्नुयादिति ॥ १२६ ॥ क्षे. श्लो. १२ ॥

सारासारवचःप्रपञ्चनविधौ मेधातिथेश्चातुरी
स्तोकं वस्तु निगूढमल्पवचनाद् गोविन्दराजो जगौ।
ग्रन्थेऽस्मिन्धरणीधरस्य बहुशः स्वातन्त्र्यमेतावता
स्पष्टं मानवमर्थतत्त्वमखिलं वक्तुं कृतोऽयं श्रमः ॥ १ ॥
प्रायो मुनिभिर्विवृतं कथयत्येषा मनुस्मृतेरर्थम्।
दशभिर्ग्रन्थसहस्रैः सप्तशतैर्युता कृता वृत्तिः ॥ २ ॥
सेयं मया मानवधर्मशास्त्रे व्यधायि वृत्तिर्विदुषां हिताय।
दुर्बोधजातेर्दुरितक्षयाय भूयात्ततो मे जगतामधीशः ॥ ३ ॥

इति वारेन्द्रिनन्दनावासीयदिवाकरात्मजश्रीमत्कुल्लूकभट्टविरचितायां मन्वर्थमुक्तावल्यां मनुवृत्तौ द्वादशोऽध्यायः समाप्तः ॥ १२ ॥

परिशिष्टम्

मनुस्मृतावविद्यमानानामन्यत्र मनुवचनेन प्रमापकतया समुद्धृतानां वचनानामकाराद्यनुक्रमेण सङ्ग्रहः

(अकारादिश्लोकाः)

अकामतस्त्वहोरात्रं शेषेषूपवसेदहः ।
मानुषास्थि शवं विष्ठा रेतो मूत्रार्तवं तथा ॥ मि० क्ष०
अग्निचित्कपिला सत्री राजा भिक्षुर्महोदधिः ।
दृष्टमात्राः पुनन्त्येते तस्मात्पश्येत्सदा बुधः ॥ श्रा० म०
अग्निवत्कपिला सत्री राजा भिक्षुर्महोदधिः ।
दृष्टमात्राः पुनन्त्येते तस्मात् पश्येत नित्यशः ॥ स्मृ० च०
अग्निविद्युद्विपन्नानां प्रमृते नास्ति पातकम् ।
यन्त्रितं गोचिकित्सार्थं मूढगर्भातिपातने ॥ स्मृ० र०
अग्निहोत्रस्य शुश्रूषा सन्ध्योपासनमेव च ।
कार्यं पत्न्या प्रतिदिनं बलिकर्म च नैत्यकम् ॥ स्मृ० र०
अग्निहोत्रादिभिर्यत्स्यादीक्षितब्राह्मणस्य च ।
तत्कन्यां विधिवद् दत्वा फलमाप्नोति मानवः ॥ वी० सं० प्र०
अग्निहोत्र्यपविध्याग्निं ब्राह्मणः कामकारतः ।
चान्द्रायणं चरेन्मासं वीरहत्यासमं हि तत् ॥ सं० र० मा०
अग्नेश्चापां च संयोगात् हेमरूप्यं च निर्बभौ ।
तस्मात्तयोः स्वयोन्यैव निर्णेको गुणवत्तरः ॥ नृ० श्रा० सा०
अग्नौ क्रियावतां देवो दिवि देवो मनीषिणाम् ।
प्रतिभास्वल्पबुद्धीनां योगिनां हृदये हरिः ॥ वी० पू० प्र०
अग्रजे ब्रह्मचर्यस्थे योऽनुजो दारसङ्ग्रहम् ।
कुरुते परिवेत्ता स परिवित्तोऽग्रजो भवेत् ॥ वी० सं० प्र०
अग्रैस्तु तर्पयेद्देवान्मनुष्यान् कुशमध्यतः ।
पितॄंस्तु कुशमूलाग्रैर्विधिः कौशोयमुच्यते ॥ वी० आ० प्र०
[1]अङ्गादङ्गात्सम्भवति पुत्रवत् दुहिता नृणाम् ।
तस्यामात्मनि तिष्ठन्त्यां कथमन्या हरेद्धनम् ॥ श्रा० कौ०
अजीर्णेऽभ्युदिते वान्ते श्मश्रुकर्मणि मैथुने ।
दुःस्वप्ने दुर्जनस्पर्शे स्नानमात्रं विधीयते ॥ प्रा० वि०

---

१. एवं चिन्हिताः श्लोकाः मनुस्मृतौ पाठभेदेन दृश्यन्ते ।

अटव्यामटमानस्य ब्राह्मणस्य विशेषतः ।
प्रनष्टसलिले देशे कथं शुद्धिर्विधीयते ॥ प्रा० म०
अतस्तत्रैव ताः पूज्या अलाभे प्रतिमादिषु । वी० पू० प्र०
अतिगृह्य द्विजो विद्वानेकोद्दिष्टस्य केतनम् ।
ऽयहं न कीर्तयेद् ब्रह्म राज्ञो राहोश्च सूतके ॥ वी० सं प्र०
अतिथिं पूजयेद्यस्तु श्रान्तं वा हृष्टमानसम् ।
स वृषं गोशतं तेन दत्तं स्यादिति मे मतिः ॥ हे० श्रा० ख०
अतिथिभ्योऽन्नदानं तु नृयज्ञः स तु पञ्चमः । वा० श्रा०
अतिथिर्यस्य वै ग्रामे भिक्षमाणः प्रयत्नतः ।
स चेन्निरसितस्तत्र ब्रह्महत्या विधीयते ॥ हे० श्रा० ख०
अतिबालामतिकृशामतिवृद्धामरोगिणीम् ।
हत्वा पूर्वविधानेन चरेच्चान्द्रायणं द्विजः ॥ स्मृ० र०
अथाग्न्योर्गृह्ययोर्योगं सपत्नीभेदजातयोः ।
सहाधिकारसिध्यर्थमहं वक्ष्यामि शौनक ॥ सं० म०
अदुष्टाश्च तथा धारा वातोद्धूताश्च रेणवः ।
स्त्रियो वृद्धाश्च बालाश्च न दुष्यन्ति कदाचन ॥ नृ० श्रा० सा०
अधस्तात्तु प्रहर्त्तव्यं नोत्तमाङ्गे कदाचन ।
अतोऽन्यथा हि प्रहरंश्चौरस्याप्नोति किल्बिषम् ॥ प्रा० वि०
अध्यक्षान् विविधान् कुर्यात्तत्र तत्र विपश्चितः ।
तेऽस्य सर्वाण्यवेक्षेरन् नृणां कार्याणि कुर्वताम् ॥ वी० रा० प्र०
अध्यापयिष्यमाणस्तु यथाकालमतन्द्रितः ।
अधीष्व भो इति ब्रूयाद्विरामोऽस्त्विति चारमेत् ॥ सं० र० मा०
अनर्हते यद्दाति न ददाति यदर्हते ।
अर्हानर्हानभिज्ञानात्सोऽपि धर्माद्धीयते ॥ हे० श्रा० ख०
अनिन्दन् भक्षयेन्नित्यं वाग्यतोऽन्नमकुत्सयन् ।
पञ्च ग्रासान् महामौनं प्राणाद्याप्यायनाय तत् ॥ वी० श्रा० प्र०
अन्त्याभिगमने त्वङ्कया कबन्धेन प्रवासयेत् ।
शूद्रस्तथाङ्क्य एव स्याद्दण्डः स्याद् गमने वधः ॥ पा० मा०
अन्यायोपात्तवित्तस्य पतितस्य च वार्धुषेः ।
न स्नायादुदपानेषु स्नात्वा कृच्छ्रं समाचरेत् ॥ वी० श्रा० प्र०
अपराह्णः पितॄणां तु याऽपराह्णानुयायिनी ।
तिथिस्तेभ्यो यतो दत्ता ह्यपराह्णे स्वयम्भुवा ॥ सं० र० मा०
अपात्रीकरणं कृत्वा तप्तकृच्छ्रेण शुध्यति ।
शीतकृच्छ्रेण वा शुद्धिर्महः सांतपनेन वा ॥ पा० मा०

अपि शाकंपचानस्य शिलोञ्छेनापि जीवतः ।
स्वदेशे परदेशे वा नातिथिर्विमना भवेत् ॥ हे० श्रा० ख०
अपुत्रेण सुतः कार्यो यादृक् तादृक् प्रयत्नतः ।
पिण्डोदकक्रियाहेतोर्नामसङ्कीर्तनाय च ॥ द० मी०
अपुत्रोऽनेन विधिना सुतां कुर्वीत पुत्रिकाम् । द० मी०
अपूर्वः सुव्रती विप्रो ह्यपूर्वश्चातिथिस्तथा ।
वेदाभ्यासरतौ नित्यं त्रयोऽपूर्वा दिने दिने ॥ वी० आ० प्र०
अपो दृष्ट्वैव विप्रस्तु कुर्याच्चैव सचैलकम् ।
गायत्र्याष्टशतं जाप्यं स्नानमेतत्समाचरेत् ॥ प्रा० म०
अप्रयात्ये समुत्पन्ने मलवद्वाससो यदि ।
अभिषेके तु मुक्तिः स्याद्दिनत्रयमभोजनम् ॥ वी० सं० प्र०
अप्स्वग्नौ चैव हृदये स्थण्डिले प्रतिमासु च ।
विप्रेषु च हरेः सम्यगर्चनं मनुना स्मृतम् ॥ वी० पू० प्र०
अयने मकरे कर्कटे च विषुवे तुलामेषयोः ।
शयने आषाढ़शुक्लद्वादश्यां बोधने कार्तिकशुक्लद्वादश्याम् ॥ बा० आ०
अयोनौ गच्छतो योषां पुरुषं वापि मोहतः ।
चतुर्विंशतिको दण्डस्तथा प्रव्रजितो हि सः ॥ पा० मा०
अधिकः कुलमित्रं च गोपालो दासनापितौ ।
एते शूद्रेषु भोज्यान्ना यश्चात्मानं निवेदयेत् ॥ हे० प० ख०
अलाभे देवखातानां सरसां सरितां तथा ।
उद्धृत्य चतुरः पिण्डान् पारक्ये स्नानमाचरेत् ॥ स्मृ० च०
अलाभे भिन्नकालानां नान्दीश्राद्धत्रयं बुधः ।
पूर्वेद्युर्वा प्रकुर्वीत पूर्वाह्णे मातृपूर्वकम् ॥ हे० श्रा० ख०
अवकीर्णी तु काणेन गर्दभेन चतुष्पथे ।
पाकयज्ञविधानेन यजेत निर्ऋतिं दिशि ॥ सं० र० मा०
अविद्वान् प्रतिगृह्णानो भस्मीभवति दारुवद् ॥ नि० सि०
अविधाय विधानं यः परिगृह्णाति पुत्रकम् ।
विवाहविधिभाजं तं कुर्यान्न धनभाजनम् ॥ सं० र० मा०
अव्रता ह्यनधीयाना यत्र भैक्ष्यचरा द्विजाः ।
तं ग्रामं दण्डयेद् राजा चौरभक्तप्रदो हि सः ॥ हे० दा० ख०
अश्वयुक् कृष्णपक्षे तु श्राद्धं देयं दिने दिने । कृ० सा० स०
अष्टकासु त्वहोरात्रमृत्वन्तासु च रात्रिषु । वी० सं० प्र०
अष्टम्यां च चतुर्दश्यां दिवा पर्वणि मैथुनम् ।
कृत्वा सचैलं स्नात्वा तु वारुणीभिश्च मार्जयेत् ॥ आ० म०

अष्टौ ग्रासा मुनेर्भैक्षं वानप्रस्थस्य षोडश ।
द्वात्रिंशतं गृहस्थस्य अमितं ब्रह्मचारिणः ॥ वी० सं० प्र०
असत्प्रतिग्रहीतारस्तथैवायाज्ययाजकाः ।
नक्षत्रैर्जीवते यश्च लोऽन्धकारं प्रपद्यते ॥ प्रा० म०
असपिण्डक्रियाकर्म द्विजातेः संस्थितस्य तु ।
अदैवं भोजयेच्छ्राद्धं पिण्डमेकं तु कारयेत् ॥ हे० प० ख०
असामर्थ्याच्छरीरस्य कालशक्त्याद्यपेक्षया ।
मन्त्रस्नानादिकं प्रोक्तं मुनिभिः शौनकादिभिः ॥ आ० म०
असुराणां कुले जाता जातिपूर्वपरिग्रहे ।
तस्यादर्शनमात्रेण निराशाः पितरो गताः ॥ स्मृ० च०
अस्वर्ग्यं लोकविद्विष्टं धर्ममप्याचरेन्न तु । स्मृ० च०
*अस्वर्ग्या ह्याहुतिः सा स्याच्छूद्रसम्पर्कदूषिता ।
ब्रह्मचर्यं चरेद्वापि प्रविशेद्वा हुताशनम् ॥ नि० सि०

(आकारादिश्लोकाः)

आत्मशाखां परित्यज्य परशाखासु वर्तते ।
न जातु परशाखोक्तं बुधः कर्म समाचरेत् ॥ स्मृ० र०
आत्मानं धर्मकृत्यं च पुत्रदारांश्च पीडयेत् ।
लोभाद्यः पितरौ मोहात्स कदर्य इति स्मृतः ॥ स्मृ० र०
आर्तस्य कुर्यात्सच्छंसन् यथाभाषितमादितः ।
सुदीर्घस्यापि कालस्य तल्लभेतैव वेतनम् ॥ पा० मा०
आपः शुद्धा भूमिगताः शुचिर्नारी पतिव्रता ।
शुचिर्धर्मपरो राजा सन्तुष्टो ब्राह्मणः शुचिः ॥ नृ० श्रा० सा०
आपोहिष्ठादिमन्त्रेण मार्जयित्वा यथाविधि ।
आपः पुनन्तु मन्त्रेण जलं पीत्वा समाहितः ॥ स्मृ० र०
आयव्ययज्ञान् कुर्वीत धर्मशास्त्रार्थकोविदान् ।
कुलीनान् वित्तसम्पन्नान् समर्थान् कोशगुप्तये ॥ वी० ल० प्र०
आरम्भकृत्सहायश्च दोषभाजौ तदर्धतः । स्मृ० च०
आराध्यं देवमाराध्य बन्धूनप्यनुसृत्य च ।
भुक्त्वा व्याधौ च न स्नायात्तैलेनापि निशास्वपि ॥ स्मृ० र०
आरुह्य संशयं यत्र प्रसभं कर्म कुर्वते ।
तस्मिन् कर्मणि तुष्टेन प्रसादः स्वामिना कृतः ॥ वि० भ०
आर्द्रवासस्तु यः कुर्याज्जपहोमौ प्रतिग्रहम् ।
तत्सर्वं निष्फलं विद्यादित्येवं मनुरब्रवीत् ॥ स्मृ० र०
आहारादधिकं वर्णी न क्वचिद् भैक्षमाहरेत् ।
युज्यते स्तेयदोषेण कामतोऽधिकमाहरन् ॥ वी० सं० प्र०

आहृतामन्यशौचार्थं वालुकां पांशुरूपिणम् ।
न मार्गान्न श्मशानाच्च नाऽऽदद्यात्कुड्यतः क्वचित् ॥ य० सं०

(इकारादिश्लोकाः)

इतरेण निधौ लब्धे राजा षष्ठांशमाहरेत् ।
अनिवेदितविज्ञाता दाप्यस्तं दण्डमेव च ॥ दा० त०
इह जन्मकृतं पापमन्यजन्मकृतं च यत् ।
अङ्गारकचतुर्दश्यां तर्पयंस्तद्व्यपोहति ॥ हे० प० ख०
इष्टिमायुष्मतीं कुर्यादीप्सितांश्च क्रतूंस्ततः । नि० सि०
इष्टे यज्ञे यद्दीयते दक्षिणादि तदैष्टिकम् ।
बहिर्वेदि च यद्दानं दीयते तत्तु पौर्तिकम् ॥ हे० दा० ख०

(उकारादिश्लोकाः)

*उग्रात्तु जातः क्षत्तायां श्वपाक इति कीर्त्यते । पा० मा०
उत्कृष्टं वापकृष्टं वा तयोः कर्म न विद्यते ।
मध्यमे कर्मणी हित्वा सर्वसाधारणे हि ते ॥ स्मृ० र०
उदकं यच्च पक्वान्नं यो दर्व्या दातुमिच्छति ।
स भ्रूणहा सुरापश्च स स्तेयो गुरुतल्पगः ॥ वी० श्रा० प्र०
उपस्थाने च यत्प्रोक्तं भिक्षार्थं ब्राह्मणेन हि ।
तात्कालिकमिति ख्यातं तद्दत्तव्यं मुमुक्षुणा ॥ पा० मा०
उपस्पृशेच्चतुर्थस्तु तदूर्ध्वं प्रोक्षणं स्मृतम् । वी० श्रा० प्र०
उभयत्र दशाहानि कुलस्यान्नं न भुज्यते ।
दानं प्रतिग्रहो होमः स्वाध्यायश्च निवर्तते ॥ पा० मा०
उभयाभ्यर्थितेनैव मया ह्यमुकसूनुना ।
लिखितं ह्यमुकेनेति लेखकः स्वं तु तल्लिखेत् ॥ पा० मा०
ऊर्ध्वं संवत्सरादग्निं यस्त्यजेत्स पयोव्रतम् ।
द्वैमासिकं ततः कुर्यात्त्रैमासिकमथापि वा ॥ सं० र० मा०

(ऋकारादिश्लोकाः)

ऋणमस्मिन् सन्नयत्यमृतत्वं च [1]विदन्ति (?) ।
तेन चानृणतां याति पितॄणां जीवतां सुखम् ॥ वि० भ०
ऋणिकः सधनो यस्तु दौरात्म्यान्न प्रयच्छति ।
राज्ञा दापयितव्यः स्याद् गृहीत्वा द्विगुणं ततः ॥ पा० मा०
ऋतुकाले नियुक्तो वा नैव गच्छेत् स्त्रियं क्वचित् ।
तत्र गच्छन् समाप्नोति ह्यनिष्टं मद्देव तु ॥ वी० सं० प्र०
ऋतुस्नाता तु या भार्या भर्तारं नोपगच्छति ।

---

१. 'विन्दति' इति पा० समुचितः ।

तां ग्राममध्ये विख्याप्य भ्रूणघ्नीं विनिवासयेत् ॥ वि० भ०
*ऋतौ तु गर्भं शङ्कित्वा स्नानं मैथुनिनः स्मृतम् ।
अनृतौ तु यदा गच्छेच्छौचं मूत्रपुरीषवत् ॥ श्रा० म०
ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वाद्दीर्घमायुरवाप्नुवन् । वी० श्रा० प्र०
ऋषिदेवमनुष्याणां वेदचक्षुः सनातनः । स्मृ० च०
ऋक्थगात्रे जनयितुर्न हरेत्कृत्रिमः सुतः ।
ऋक्थगोत्रानुगः पिण्डो व्यपैति ददतः स्वधाम् ॥ कृ० सा० स०
*ऋत्विक् पुरोहितामात्याः पुत्राः सम्बन्धिबान्धवाः ।
धर्माद्विचलिता दण्ड्या निर्वास्या राजभिः पुरात् ॥ पा० मा०
ऋत्विजः समवेतास्तु यथा सत्रे निमन्त्रिताः ।
कुर्युर्यथार्हतः कर्म गृह्णीयुर्दक्षिणां तथा ॥ स्मृ० च०

(एकारादिश्लोकाः)

एकपिण्डीकृतानां तु पृथक्त्वं नोपपद्यते ।
सपिण्डीकरणादूर्ध्वमृते कृष्णचतुर्दशीम् ॥ पु० चि०
एकमुद्दिश्य यच्छ्राद्धमेकोद्दिष्टं प्रकीर्तितम् । सं० र० मा०
एकवर्षे हते वत्से कृच्छ्रपादो विधीयते ।
अबुद्धिपूर्ववेशः स्यात्प्रभृते नास्ति पातकम् ॥ स्मृ० र०
एकादश्यां तथा रौप्यं ब्रह्मचर्यस्विनः सुतान् ।
द्वादश्यां जातरूपं च रजतं कुप्यमेव च ॥ हे० श्रा० ख०
एतदात्मीयमूत्रादिसंस्पर्शन उदाहृतम् । श्रा० म०
एतान्येव तथा पेयान्येकैकं तु त्र्यहं त्र्यहम् ।
अतिसान्तपनं नाम श्वपाकमपि शोधयेत् ॥ मि० क्ष०
एवं सन्ध्यामुपास्थाय पितरावग्रजान् गुरून् ।
त्रिवर्णपूर्वशिष्टांश्च पार्श्वस्थानभिवादयेत् ॥ स्मृ० र०
एष वै प्रथमः कल्पः प्रदाने हव्यकव्ययोः ।
अनुकल्पस्त्वयं ज्ञेयः सदा सद्भिरनुष्ठितः ॥ नृ० श्रा० सा०
एषामन्यतमो यस्तु भुञ्जीत श्राद्धमर्चितः ।
पितॄणां तस्य तृप्तिः स्याच्छाश्वती साप्तपौरुषी ॥ नृ० श्रा० सा०

(औकारादिश्लोकाः)

औदुम्बराय दध्नाय नीलाय परमेष्ठिने ।
वृकोदराय चित्राय चित्रगुप्ताय ते नमः ॥ पा० मा०
औदुम्बरोऽथ वैश्यस्य प्लाक्षो वा दण्ड उच्यते । वी० सं० प्र०
औपासनाग्नौ कुर्वीत गृह्यं कर्म यथाविधि ।
पञ्चयज्ञान्नपक्तिश्च यच्चान्यद् गृहकृत्यकम् ॥ हे० प० खं०

(ककारादिश्लोकाः)

कन्या द्वादशवर्षं या न प्रदत्ता गृहे वसेत् ।
भ्रूणहत्या पितुस्तस्याः सा कन्या वरयेत्स्वयम् ॥ स्मृ० च०
करे गृहीतपात्रस्तु कृत्वा मूत्रपुरीषके ।
तज्जलं मूत्रसदृशं पीत्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥ वी० आ० प्र
काकतालीयवद् दैवाद् दृष्ट्वापि विधिमग्रतः ।
न पौरुषादृते तेन विधिना युज्यते पुमान् ॥ वी० रा० प्र०
काममभ्यर्चयेन्नित्यं नाभिरूपमपि त्वरिम् ।
द्विषतां हि हविर्भुक्तं भवति प्रेत्य निष्फलम् ॥ वी० आ० प्र०
काममामरणात्तिष्ठेद् गृहे कन्यर्तुमत्यपि ।
नत्वेवैनां प्रयच्छेत गुणहीनाय हि क्वचित् ॥ वी० सं० प्र०
काषायं पाचयित्वा तु श्रोणिस्थानेषु च त्रिषु ।
प्रव्रजेत्तु परं स्थानं पारिव्रज्यमनुत्तमम् ॥ य० सं०
किं ब्राह्मणस्य पितरं किं वा पृच्छति मातरम् ।
श्रुतं चेदस्ति वेद्यं वा तन्मातापितरौ स्मृतौ ॥ हे० श्रा० ख०
कुर्यादनुपनीतोऽपि श्राद्धमेको हि यः सुतः ।
पितृयज्ञाहुतिं पाणौ जुहुयाद् ब्राह्मणस्य सः ॥ नृ० श्रा० सा०
कुर्वन् प्रतिपदि श्राद्धं सरूपान् लभते सुतान् ।
कन्यकां तु द्वितीयायां तृतीयायां तु बन्दिनः ॥ हे० प० ख०
कृते यदब्दाद्धर्मः स्यात्स त्रेतायामृतुत्रये ।
द्वापरे तु त्रिपक्षेण कलावह्ना तु तद्भवेत् ॥ पु० चि०
कृमिकीटाद्युपहतं देशं श्राद्धे विवर्जयेत् । नृ० श्रा० सा०
कृच्छ्रद्वादशरात्रेण मुच्यते कर्मणस्ततः ।
तावद्विद्वान्नैव दद्यान्न याचेन्न च दापयेत् ॥ श्रा० म०
कृष्णाजिने तु संभारान् संस्थाप्य च कुशादिकान् ।
श्राद्धारम्भं प्रकुर्वीत विधिवद् द्विजसन्निधौ ॥ बा० श्रा०
केचित्पुरुषकारेण केचिद्दैवेन कर्मणा ।
उभाभ्यां केचिदिच्छन्ति फलं कुशलबुद्धयः ॥ वी० रा० प्र०
क्रव्यादांस्तु मृगान् हत्वा धेनुं दद्यात् पयस्विनीम् ।
अक्रव्यादान् वत्सतरीमुष्ट्रं हत्वा च कृष्णलम् ॥ प्रा० वि०
क्षुधितं तृषितं श्रान्तं बलीवर्दं न योजयेत् । सं० म०
खट्वासने च शयनं ब्रह्मचारी विवर्जयेत् । सं० र० मा०

(गकारादिश्लोकाः)

गते देशान्तरे पत्यौ गन्धमाल्याञ्जनानि च ।

दन्तकाष्ठं च ताम्बूलं वर्जयेद्वनिता सती ॥ स्मृ० र०
गवां मूत्रपुरीषेण त्रिसन्ध्यं स्नानमाचरेत् ।
त्रिरात्रं पञ्चगव्याशी अधो नाभ्या विशुध्यति ॥ पा० मा०
गवार्थं ब्राह्मणार्थं वा प्राणत्यागोऽनुपस्कृतः ।
स्त्रीबालाभ्युपपत्तौ च बाह्यानां शुद्धिकारणम् ॥ प्रा० वि०
गायत्रीं यो न जानाति ज्ञात्वा नैव उपासते ।
नामधारकविप्रोऽसौ न विप्रो वृषलो हि सः ॥ कृ० सा० स०
गायत्रीमात्रसारोऽपि विरं विप्रः सुयन्त्रितः ।
नायन्त्रितश्चतुर्वेदी सर्वाशी सर्वविक्रयी ॥ नृ० श्रा० सा०
गुरूणां सन्निधौ दाने यागे चैव विशेषतः ।
एषु मौनं समातिष्ठन् स्वर्गं प्राप्नोति मानवः ॥ हे० दा० ख०
गुरूणामध्यधिक्षेपो वेदनिन्दासुहृद्वधः ।
ब्रह्महत्यासमं ज्ञेयमधीतस्य च नाशनम् ॥ स्मृ० र०
गृह्याग्नौ तु पचेदन्नं लौकिके वापि नित्यशः ।
यस्मिन्नग्नौ पचेदन्नं तस्मिन्होमो विधीयते ॥ शू० क०
*गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम् ।
स्नात्वा पीत्वा च हुत्वा च कृमिदष्टः शुचिर्भवेत् ॥ प्रा० म०
ग्रामधर्मे च पक्त्यां च परिग्राहस्य रक्षणे । शू० क०
ग्राममध्ये मृतो यावच्छवस्तिष्ठति कस्यचित् ।
ग्रामस्य तावदाशौचं निर्गते शुचितामियात् ॥ पा० मा०
ग्रामेश्वरे कुलपतौ श्रोत्रिये च तपस्विनि ।
शिष्ये पञ्चत्वमापन्ने शुद्धिर्नक्षत्रदर्शनात् ॥ पा० मा०
ग्रासमात्रा भवेद्भिक्षा अग्रं ग्रासचतुष्टयम् ।
अग्रं चतुर्गुणीकृत्य हन्तकारो विधीयते ॥ स्मृ० च०

(चकारादिश्लोकाः)

चणकव्रीहिगोधूमयवानां मुद्गमाषयोः ।
अनिषिद्धो ग्रहीतव्यो मुष्टिरेकोऽध्वनिर्जितैः ॥ स्मृ० र०
चतुर्दश्यष्टमी दर्शः पौर्णमास्यर्कसङ्क्रमः ।
एषु स्त्रीतैलमांसानि दन्तकाष्ठे च वर्जयेत् ॥ पु० चि०
चतुर्दश्यष्टमीपर्वप्रतिपत्स्वेव सर्वदा ।
दुर्मेधसामनध्यायास्त्वन्तरागमनेषु च । पु० चि०
चत्वारो ब्राह्मणस्याद्याः शस्ता गान्धर्वराक्षसौ ।
राक्षस्तथासुरो वैश्ये शूद्रे चान्त्यस्तु गर्हितः ॥ नि० सि०
चन्द्रसूर्यग्रहे नाद्यादद्यात्स्नात्वा विमुक्तयोः ।

अभुक्तयोरस्तगतयोर्दृष्ट्वा स्नात्वा परेऽहनि । पा० मा०
चाण्डालान्नं द्विजो भुक्त्वा सम्यक् चान्द्रायणं चरेत् ।
बुद्धिपूर्वं तु कृच्छ्राब्दं पुनः संस्कारमेव च ॥ बा० आ०
चीर्णव्रतानपि सदा कृतघ्नसहितानिमान् ।
कृतनिर्णेजकांश्चैव न जुगुप्सेत कर्हिचित् ॥ प्रा० वि०

(जकारादिश्लोकाः)

जपस्तपस्तीर्थयात्रा प्रव्रज्या मन्त्रसाधनम् ।
देवताराधनं चेति स्त्रीशूद्रपतनानि षट् ॥ बा० आ०
जातकर्मादिसंस्काराः स्वकाले न भवन्ति चेत् ।
चौलादर्वाक् प्रकुर्वीत प्रायश्चित्तादनन्तरम् ॥ प्र० र०
जाते कुमारे तदहः कामं कुर्यात्प्रतिग्रहम् ।
हिरण्यधान्यगोवासास्तिलानां गुडसर्पिषाम् ॥ पा० मा०
ज्ञातिश्रैष्ठ्यं त्रयोदश्यां चतुर्दश्यां तु सुप्रजाः ।
प्रीयन्ते पितरश्चास्य ये शस्त्रेण हता रणे ॥ हे० श्रा० ख०
ज्ञात्वाऽपराधं देशं च कालं बलमथापि वा ।
वयः कर्म च वित्तं च दण्डं दण्ड्येषु पातयेत् ॥ वी० रा० प्र०
ज्ञानमत्तस्य यो दद्याद्वेदशास्त्रसमुद्भवम् ।
अपि देवास्तमर्चन्ति भर्गब्रह्मदिवाकराः ॥ स्मृ० र०

(तकारादिश्लोकाः)

त एव दण्डपारुष्ये व्याप्या दण्डा यथाक्रमम् । पा० मा०
*ततोऽन्नप्राशनं मासि षष्ठे कार्यं यथाविधि ।
अष्टमे वाऽथ कर्तव्यं यद्वेष्टं मङ्गलं गृहे ॥ सं० म०
*ततो मुसलमादाय सकृद्धन्यात्तु तं स्वयम् । मि० क्ष०
तथा राजतकांस्यानां त्रपूणां सीसकस्य च ।
शौचं यथार्हं कर्तव्यं क्षाराम्लोदकवारिभिः ॥ नृ० श्रा० सा०
तदा न व्यवहारोऽभून्न द्वेषो नापि मत्सरः ।
नष्टे धर्मे मनुष्येषु व्यवहारः प्रवर्तते ॥ पा० मा०
तन्मात्रमन्नमुद्धृत्य शेषं संस्कारमर्हति । नृ० श्रा० सा०
तयोरपि पिता श्रेयान् बीजप्राधान्यदर्शनात् । प्रा० वि०
तत्र यद् ब्रह्मचर्यं तु मौञ्जीबन्धेन चिह्नितम् ।
सा तस्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते ॥ सं० र० मा०
तत्र लब्धं तु यत् किञ्चिद्धनं शौर्येण तद्भवेत् ।
ध्वजाहृतं भवेद्यच्च विभाज्यं नैव तत्स्मृतम् ॥ वि० भ०
तत्र विस्मृतिशीलानां बहुवेदप्रपाठिनाम् ।

चतुर्दश्यष्टमीपर्वप्रतिपद्वर्जितेषु च ॥
वेदाङ्गन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राणि चाभ्यसेत् ॥ पु० चि०
तत्र स्नात्वा च पीत्वा च प्रायश्चित्तं न विद्यते । स्मृ० र०
तस्मान्नोपहरेद् भैक्ष्यमतिरिक्तं कदाचन । वी० सं० प्र०
तस्माद्यत्नेन रक्ष्यास्ता भर्तव्या मनुरब्रवीत् । शू० क०
तस्य त्रिरात्रमाशौचं द्वितीये त्वस्थिसञ्चयः ।
तृतीये तूदकं कृत्वा चतुर्थे श्राद्धमाचरेत् ॥ नि० सि०
तस्य सर्वगतस्यार्चा स्थण्डिले भावितात्मनाम् ।
विप्राणां वपुराश्रित्य सर्वास्तिष्ठन्ति देवताः ॥ वी० पू० प्र०
ताम्रपात्रे न भुञ्जीत भिन्नकांस्ये मलाविले ।
पलाशपद्मपत्रेषु गृही भुक्त्वैन्दवं चरेत् ॥ वी० आ० प्र०
तिलाद्र्ददधिमिश्राणां तिलशाकानि निस्वदन् । स्मृ० र०
तिस्रः कोटयोऽर्धकोटी च यानि रोमाणि मानुषे ।
तावत्कालं वसेत्स्वर्गे भर्तारं यातु गच्छति ॥ पा० मा०
*तिस्रो वर्णानुपूर्वेण द्वे तथैका यथाक्रमम् ।
ब्राह्मणक्षत्रियविशां भार्याः स्वाः शूद्रजन्मनः ॥ सं० म०
तृणं वा यदि वा काष्ठं पुष्पं वा यदि वा फलम् ।
अनापृष्टं तु गृण्हानो हस्तच्छेदनमर्हति ॥ स्मृ० च०
तैलभेषजपाने तु औषधार्थं प्रकल्पयेत् ।
विषतैलेन गर्भाणां पुत्र ते नास्ति पातकम् ॥ स्मृ० र०
त्रिरात्रं वाप्युपवसेत्त्र्यहं त्रिः पर्वणी भवेत् ।
तथैवाम्भसि मग्नस्तु त्रिः पठेदघमर्षणम् ॥ प्रा० म०
त्रिवृन्मौञ्जी समा श्लक्ष्णा कार्या विप्रस्य मेखला ।
क्षत्रियस्य तु मौर्वी ज्या वैश्यस्य शणतान्तवी ॥ सं० र० मा०
त्रीण्याहुरतिदानि गावः पृथ्वी सरस्वती ।
अतिदानं हि दानानां नास्ति दानं ततोऽधिकम् ॥ स्मृ० र०
त्रीन्पिण्डानथवोद्धृत्य स्नायादापत्सु ना सदा ।
अन्यैरपि कृते कूपे सरोवाप्यादिके तथा ॥ स्मृ० र०
त्र्यवरैः साक्षिभिर्भाव्यो नृपब्राह्मणसन्निधौ । स्मृ० च०
त्र्यहं न कीर्तयेद् ब्रह्म सपिण्डीकरणे तथा । सं० र० मा०

(दकारादिश्लोकाः)

दत्तक्रीतादिपुत्राणां बीजवप्तुः सपिण्डता ।
पञ्चमी सप्तमी तद्वद् गोत्रं तत्पालकस्य च ॥ वी० सं० प्र०
दन्तवद्दन्तलग्नेषु जिह्वास्पर्शे शुचिर्न तु ।

परिच्युतेष्ववस्थानान्निर्गिरन्नेव तच्छुचिः ॥ स्मृ० र०
दद्यात्त्रिभ्यः परेभ्यस्तु जीवेच्चेत्त्रितयं यदि ।
आशौचे च व्यतिक्रान्ते नामकर्म विधीयते ॥ नि० सि०
दद्यादहरहः श्राद्धमन्नाद्येनोदकेन वा ।
पयोमूलफलैर्वापि पितृभ्यः प्रीतिमाहरन् ॥ हे० प० ख०
दर्व्या देयं कृतान्नं तु समस्तं व्यञ्जनानि च ।
उदकं यच्च पक्वान्नं न दातव्यं कदाचन ॥ वी० श्रा० प्र०
दर्व्या देयं घृतान्नं तु समस्तं व्यञ्जनानि च ।
अपक्वं स्नेहपक्वं च न तु दर्व्या कदाचन ॥ वी० श्रा० प्र०
दशानां तु सहस्राणां युक्तानां धुर्यवाहिनाम् ।
सुपात्रे विनियुक्तानां कन्या विद्या च तत्समम् ॥ स्मृ० च०
*दानात्प्रभृति या तु स्याद्यावदायुः पतिव्रता ।
सा भर्तृलोकमाप्नोति यथैवारुधन्ती तथा ॥ वि० भ०
दिवा सूर्यांशुभिः शुद्धं रात्रौ नक्षत्रमारुतैः ।
सन्ध्ययोरप्युभाभ्यां च पवित्रं सर्वदा जलम् ॥ कृ० सा० स०
दीपोत्सवचतुर्दश्यां कार्यं तु यमतर्पणम् ।
कृष्णाङ्गारचतुर्दश्यामपि कार्यं तथैव वा ॥ पा० मा०
देवद्रोण्यां विवाहेषु यज्ञेषु प्रसवेषु च ।
काकैः श्वभिश्च यत् स्पृष्टं तदन्नं न विवर्जयेत् ॥ नृ० श्रा० सा०
देवलः शङ्खलिखितौ भरद्वाजोशनोऽत्रयः ।
शौनको याज्ञवल्क्यश्च दशाष्टौ स्मृतिकारिणः ॥ हे० दा० ख०
देशं कालं समासाद्य अवस्थामात्मानस्तथा ।
धर्मशौचेऽनुतिष्ठेत न कुर्याद्वेगधारणम् ॥ सं० र० मा०
देशपत्तनगोष्ठेषु पुरग्रामेषु वादिनाम् ।
तेषां स्वसमयैर्धर्मः शास्त्रतोऽन्येषु तैः सह ॥ पा० मा०
दैवमानुषसद्भावे नार्या गर्भः प्रसिध्यति ।
पुंसा सत्यपि संयोगे दैवाभावे न सिध्यति ॥ वी० रा० प्र०
दैवमानुषसम्पन्ना यात्रा सर्वार्थसाधिका ।
तस्यामतिशयेद्दैवं वर्तते पौरुषं समम् ॥ वि० रा० प्र०
दैवे कर्मणि पैत्रे च पञ्चमेऽहनि शुध्यति । श्रा० कौ०
द्रव्यमस्वामिविक्रीतं मूल्यं राज्ञे निवेदितम् ।
न तत्र विद्यते दोषो न स्यात्तदुपविक्रयात् ॥ पा० मा०
द्रव्ययज्ञाज्जपो यज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः ।
उपांशु स्याच्छतगुणः सहस्रो मानसस्तथा ॥ य० ध० स०

द्विजस्य मरणे वेश्म विशुध्यति दिनत्रयात् । शू० क०
द्विजातिभ्यो यथा लिप्सेत्प्रकृष्टेभ्यो विशेषतः ।
अपि वा जातिमात्रेभ्यो न तु शूद्रात्कथञ्चन ॥ स्मृ० र०
द्विजातीनामयं देहो न भोगाय प्रकल्पते ।
इह क्लेशाय महते प्रेत्यानन्तसुखाय च ॥ स्मृ० र०
द्विजान्विहाय संपश्येत्कार्याणि वृषलैः सह ।
तस्य प्रक्षुभितं राष्ट्रं बलं कोशं च नश्यति ॥ पा० मा०
द्व्यहेऽप्यव्यापिनी चेत्स्यान्मृताहे तु यदा तिथिः ।
पूर्वविद्धैव कर्तव्या त्रिमुहूर्ता तु भवेद्यदि ॥ का० मा०

(धकारादिश्लोकाः)

*धर्मव्यतिक्रमो वै हि महतां साहसं तथा ।
तदन्वीक्ष्य प्रयुञ्जानः सीदत्येव रजोबलः ॥ स्मृ० च०
धर्मार्थं ब्राह्मणे दानं यशोऽर्थे तदनर्थकम् । वि० भ०
धात्र्याः खादेन्नतु दिवा दधिसक्तूंस्तथा निशि ।
सर्वं च तिलसम्बद्धं नाद्यादस्तमयं प्रति (ये सति ?) ॥ स्मृ० र०
धिग्दण्डस्त्वथ वाग्दण्डो धनदण्डो वधस्तथा ।
योज्या व्यस्ताः समस्ता वाऽप्यपराधवशादिमे ॥ वी० रा० प्र०

(नकारादिश्लोकाः)

न कुर्यात्कस्यचित्पीडां कर्मणा मनसा गिरा ।
आचरन्नभिषेकं तु कर्मण्यप्यन्यथाचरन् ॥ हे० दा० ख०
न च छन्दांस्यधीयीत द्विजः श्राद्धे निमन्त्रितः । बा० श्रा०
न देहिनां यतः शक्यं कर्तुं कर्माण्यशेषतः ।
तस्मादामरणाद्वैधं कर्तव्यं योगिना सदा ॥ स्मृ० र०
न द्व्यहव्यापिनी चेत्स्यान्मृताहे तु यदा तिथिः ।
पूर्वविद्धैव कर्तव्या त्रिमुहूर्ता भवेद्यदा ॥ पु० चि०
न निशायां परिश्रान्तो ब्रह्माधीत्य पुनः स्वपेत् । सं० र० मा०
न प्रातर्न प्रदोषश्च सन्ध्याकालेऽतिपद्यते ।
मुख्यकालोऽनुकल्पश्च सर्वस्मिन्कर्मणि स्थितः ॥ वी० श्रा० प्र०
नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ ।
पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते ॥ स्मृ० च०
न सन्ति पितरश्चेति कृत्वा मनसि यो नरः ।
श्राद्धं न कुरुते तत्र तस्य रक्तं पिबन्ति ते ॥ बा० श्रा०
न हि दैवमुदासीनं कदाचिदपि मानवम् ।

अर्थानर्थफलं नेह संयुनक्त्यवशं हि तत् ॥ वी० रा० प्र०
नाग्निहोत्रादिभिस्तत्स्याद्रक्षतो ब्राह्मणस्य वा ।
यत्कन्यां विधिवद्दत्त्वा फलमाप्नोति मानवः ॥ स्मृ० च०
नातुरो नारुणकराक्रान्ते च नभस्तले ।
न पराम्भसि नाल्पे च न शिरस्कः कथञ्चन ॥ स्मृ० र०
नाध्यापयति नाधीते स ब्राह्मणब्रुवः स्मृतः । व्य० त०
नानिष्ट्वा तु पितॄन् श्राद्धे वैदिकं किञ्चिदाचरेत् ।
तेभ्योऽपि मातरः पूर्वं पूजनीयाः प्रयत्नतः ॥ बा० श्रा०
नानुतिष्ठति यो पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम् ।
स शूद्रवद्बहिः कार्यः सर्वस्माद्विप्रकर्मणः ॥ कृ० सा० स०
नानृग्ब्राह्मणो भवति न वणिग् न कुशीलवः ।
न शूद्रप्रेषणं कुर्वन्न स्तेनो न चिकित्सकः ॥ हे० दा० ख०
नान्यचिन्तश्चिरं तिष्ठेन्न स्पृशेत्पाणिना शिरः ।
न ब्रूयान्न दिशः पश्येद्विण्मूत्रोत्सर्जने बुधः ॥ स्मृ० र०
नापो मूत्रपुरीषाभ्यां नाग्निर्दहनकर्मणा ।
न वायुः स्पर्शदोषेण नान्नदोषेण मस्करी ॥ य० ध० सं०
नाभिकण्ठान्तरोद्भूते प्राणे चोपपद्यते कृमिः ।
षड्रात्रं तु तदा प्रोक्तं प्राजापत्यं शिरोव्रणे ॥ पा० मा०
*नास्ति सत्यात्परो धर्मो नानृतात्पातकं परम् ।
साक्षिधर्मे विशेषेण सत्यमेव वदेत सः ॥ पा० मा०
निन्द्यासु चान्यास्वष्टासु स्त्रियो रात्रिषु वर्जयेत् ।
ब्रह्मचार्येव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन् ॥ बा० श्रा०
निमन्त्र्य विप्रास्तदहर्वर्जयेन्मैथुनं क्षुरम् ।
प्रमत्ततां च स्वाध्यायं क्रोधं शोकं तथाऽनृतम् ॥ हे० श्रा० ख०
निवर्तकं हि पुरुषं निवर्तयति जन्मतः ।
प्रवर्तकं हि सर्वत्र पुनरावृत्तिहेतुकम् ॥ स्मृ० र०
निष्के तु सत्यवचनं द्विनिष्के पादलम्बनम् ।
त्रिकादर्वाक् तु पुण्यं स्यात्कोशपानमतः परम् ॥ मि० क्ष०
निष्पीड्य स्नानवस्त्रं तु पश्चात्सन्ध्यां समाचरेत् ।
अन्यथा कुरुते यस्तु स्नानं तस्याफलं भवेत् ॥ आ० म०
नैनं सूर्योऽभिनिम्लोचेत्सूर्यो नाभ्युदियात्क्वचित् ।
सूर्येण ह्यभिनिर्मुक्तः शयानोऽभ्युदितश्च यः ॥ वी० सं० प्र०
नैव कन्या न युवतिर्नाल्पविद्यो न बालिशः ।
होता स्यादग्निहोत्रस्य नार्तो नासंस्कृतस्तथा ॥ वी० सं० प्र०

(पकारादिश्लोकाः)

पक्षत्यादिविनिर्दिष्टान्विपुलान्मनसः प्रियान् ।
श्राद्धदः पञ्चदश्यां तु सर्वान्कामान्समश्नुते ॥ हे० श्रा० ख०
पक्षादौ च रवौ षष्ठ्यां रिक्तायां च तथा तिथौ ।
तैलेनाभ्यज्यमानस्तु धनायुर्भ्यां विहीयते ॥ आ० म०
पतत्यर्धं शरीरस्य भार्या यस्य सुरां पिबेत् ।
पतितार्धशरीरस्य निष्कृतिर्न विधीयते ॥ प्रा० म०
पतितस्तु सुतः क्लीबः पङ्गुश्चोन्मत्तको जडः ।
अन्धो चिकित्सरोगार्त्तो भर्तव्यास्ते निरंशकाः ॥ दा० क्रं० सं०
परपूर्वापतिं धीरा वदन्ति दिधिषूपतिम् ।
द्विजोऽग्रे दिधिषूश्चैव यस्य सैव कुटुम्बिनी ॥ हे० प० ख०
परस्य शोणितस्पर्शे रेतो विण्मूत्रजे तथा ।
चतुर्णामपि वर्णानां द्वात्रिंशन्मृत्तिकाः स्मृताः ॥ आ० म०
परितुष्टेन भावेन पात्रमासाद्य शक्तितः ।
यत्किञ्चिदपि दातव्यं याचते नानुसूयया ॥ कृ० सा० स०
*पशून् क्षुद्रांश्चतुर्थ्यां तु पञ्चम्यां शोभनान्सुतान् ।
षष्ठ्यां द्यूतं कृषिं चापि सप्तम्यां लभते नरः ॥ हे० श्रा० ख०
पापांशकगते चन्द्रे अरिनीचस्थितेऽपि वा ।
अनध्याये चोपनीतः पुन संस्कारमर्हति ॥ पु० चि०
पिण्डयज्ञं तु निर्वर्त्य विप्रश्चन्द्रक्षयेऽग्निमान् ।
पिण्डान्वाहार्यकं श्राद्धं कुर्यान्मासानुमासिकम् ॥ सं० र० मा०
पिण्डान्वाहार्यकं श्राद्धं क्षीणे राजनि शस्यते ।
वासरस्तु तृतीयेंशे नातिसन्ध्यासमीपतः ॥ हे० प० ख०
पिता पितृव्यो भ्राता वा चैनामध्यापयेत्पुरः ।
स्वगृहे चैव कन्याया भैक्षचर्या विधीयते ॥ स्मृ० च०
पितुर्वा भजते शीलं मातुर्वोभयमेव वा ।
न कथञ्चन दुर्योनिः प्रकृतिं स्वां नियच्छति ॥ वी० सं० प्र०
पितृवत्पालयेत्पुत्रान ज्येष्ठो भ्राता यवीयसः ।
पुत्रवच्चापि वर्तेरन् यथैव पितरं तथा ॥ वी० स० प्र०
पितृव्यपुत्रे सापत्ने परदारसुतादिषु ।
विवाहाधानयज्ञादौ परिवेदो न दूषणम् वी० सं० प्र०
पुच्छे बिडालकं स्पृष्ट्वा स्नात्वा विप्रो विशुध्यति ।
भोजने कर्मकाले च विधिरेष उदाहृतः ॥ स्मृ० र०
पुण्यात्षड्भागमादत्ते न्यायेन परिपालयन् ।

अधर्मादपि षड्भागो भवत्यस्य ह्यरक्षतः ।। वी० रा० प्र०
पुत्रः शिष्यस्तथा भार्या दासी दासस्तु पञ्चमः ।
प्राप्तापराधास्ताड्याः स्यू रज्ज्वा वेणुदलेन वा ।। प्रा० वि०
पुत्रजन्मनि यज्ञे च तथा सङ्क्रमणे रवेः ।
राहोश्च दर्शने स्नानं प्रशस्तं नान्यथा निशि ।। स्मृ० च०
पुराकल्पे कुमारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते ।
अध्यापनं च वेदानां सावित्रीवचनं तथा ।। स्मृ० च०
पुष्पालङ्कारवस्त्राणि गन्धधूपानुलेपनम् ।
उपवासे न दुष्यन्ति दन्तधावनमञ्जनम् ।। पु० चि०
पूज्येषु सेवका नीचाः पुण्यमार्गक्रियानुगाः ।
तत्तदेव पदं चापुर्यथा जातिकुलस्थितिः ।। शं० वि०
पूर्वजन्मकृतं पापं व्याधिरूपेण बाधते ।
तच्छान्तिरौषधैर्दानैर्जपहोमार्चनादिभिः ।। स्मृ० र०
पूर्वाह्णे दैविकं श्राद्धमपराह्णे तु पार्वणम् ।
एकोद्दिष्टं तु मध्याह्ने प्रातर्वृद्धिनिमित्तकम् ।। पु० चि०
पौर्णमास्यां तथा दर्शे यः स्नायादुष्णवारिणा ।
स गोहत्याकृतं पापं प्राप्नोतीह न संशयः ।। वी० श्रा० प्र०
प्रक्लृप्ते कामकार्ये च नानध्याया स्मृतास्तथा ।
देवतार्चनमन्त्राणां नानध्यायः स्मृतस्तथा ।। हे० प० ख०
प्रक्षाल्य पादौ हस्तौ च ह्याचान्तो वाग्यतः शुचिः ।
तिथिवारादिकं श्रुत्वा सुसङ्कल्प्य यथाविधि ।। स्मृ० र०
प्रख्यापनं नाध्ययनं प्रश्नपूर्वप्रतिग्रहः ।
याजनाध्यापने वादः षड्विधो भेदविक्रयः ।। स्मृ० र०
प्रजापतिर्हि यस्मिन्वै काले राज्यमभूभुजत् ।
धर्मैकतानाः पुरुषास्तदाऽऽसन्सत्यवादिनः ।। पा० मा०
प्रणवं व्याहृतीः सप्त गायत्रीं शिरसा सह ।
त्रिः पठेदायतप्राणः प्राणायामः स उच्यते ।। सं० र० मा०
प्रणवव्याहृतीनाञ्च सावित्र्याः शिरसस्तदा ।
नित्ये नैमित्तिके कार्ये व्रते यज्ञे क्रतौ तथा ।। हे० प० ख०
प्रतिपद्यप्रविष्टायां यदि त्विष्टिः समाप्यते ।
पुनः प्रणीय कृत्स्नेष्टिः कर्तव्या यागवित्तमैः ।। सं० र० मा०
प्रतिषिद्धं न भोक्तव्यं मधु मांसं च नित्यशः । वी० सं० प्र०
प्रदोषपश्चिमौ यामौ वेदाभ्यासेन योजयेत् ।
यामद्वयं शयानस्तु ब्रह्मभूयाय कल्पते ।। सं० कौ०

प्रवासं गच्छतो यस्य गृहे कर्ता न विद्यते ।
पञ्चानां महतामेष स यज्ञैः सह गच्छति ॥ वी० आ० प्र०
प्रादेशमात्रमुद्धृत्य सलिलं प्राङ्मुखः सुरान् ।
उदङ् मनुष्यास्तर्पेत पितॄन् दक्षिणतस्तथा ॥ वी० आ० प्र०
प्रायश्चित्तं चिकित्सां च ज्योतिषं धर्मनिर्णयम् ।
विना शास्त्रेण यो ब्रूयात्तमाहुर्ब्रह्मघातकम् ॥ शू० क०
प्रायश्चित्तं प्रकुर्वन्ति द्विजा वेदपरायणाः । स्मृ० र०
प्रायश्चित्तमकुर्वाणो युक्तः स्यान्महतैनसा ।
मुण्डो वा जटिलो वा स्यादथवा स्याच्छिखान्वितः ॥ वी० सं० प्र०

(फकारादिश्लोकः)

फलीकरणसंमिश्रैः करञ्जैरवलोकने ।
वत्रोधरान्नदेशेषु बालग्रहविमुक्तये ॥ वी० सं० प्र०

(बकारादिश्लोकाः)

बह्वीनामेकपत्नीनामेका चेत् पुत्रिणी भवेत् ।
सर्वास्तास्तेन पुत्रेण प्राह पुत्रवतीर्मनुः ॥ श्रा० कौ०
बहूनामेककार्याणां सर्वेषां शस्त्रधारिणाम् ।
यद्येको घातयेत्तत्र सर्वेते घातकाः स्मृताः ॥ मि० क्ष०
ब्रह्मचर्यं तपो भैक्ष्यं सन्ध्ययोरग्निकर्म च ।
स्वाध्यायो गुरुवृत्तिश्च चर्येयं ब्रह्मचारिणाम् ॥ वी० सं० प्र०
बह्वग्नयस्तु ये विप्रा ये वैकाग्नय एव च ।
तेषां सपिण्डनादूर्ध्वमेकोद्दिष्टं न पार्वणम् ॥ हे० श्रा० ख०
बालैरनुपसंक्रान्तं नित्यं मेध्यमिति स्थितिः । स्मृ० र०
ब्राह्मणस्य रणद्वारे पूयशोणितसम्भवे ।
कृमिरुत्पद्यते यस्तु प्रायश्चित्तं कथं भवेत् ॥ पा० मा०
ब्राह्मणस्य वधे मौण्ड्यं पुरान्निर्वासनाङ्कने ।
ललाटे वाभिशस्ताङ्क्यः प्रयाणं गर्दभेन तु ॥ मि० क्ष०
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः स्वावधेरूर्ध्वमब्दतः ।
अकृतोपनयनाः सर्वे वृषला एव ते स्मृताः ॥ शू० क०
*ब्राह्मणो वा मनुष्याणामादित्यस्तेजसामिव ।
शिरो वा सर्वगात्राणां धर्माणां सत्यमुत्तमम् । पा० मा०

(भकारादिश्लोकाः)

भरणं पोष्यवर्गस्य प्रशस्तं स्वर्गसाधनम् ।
नरकः पीडने चास्य तस्माद्यत्नेन तं भरेत् ॥ वि० भ०
भर्ता दैवं गुरुर्भर्ता धर्मतीर्थव्रतानि च ।

तस्मात्सर्वं परित्यज्य पतिमेकं समाचरेत् ॥ शू० क०
भुङ्क्ते भुक्ते पतौ या तु स्वासीना चापि वाऽऽसिते ।
विनिद्रतो विनिद्राति सा स्त्री ज्ञेया पतिव्रता ॥ शू० क०
भोजनं तु न निःशेषं कुर्यात्प्राज्ञः कथंचन ।
अन्यत्र दधिसक्त्वाज्यपललक्षीरमध्वपः ॥ आ० म०

मध्यमो जातिपूगानां प्रथमो ग्रामदेशयोः । पा० मा०
मन्त्रकर्मविपर्यासाद् दुरितादूदुर्गतादपि ।
तत्फलं नश्यते कर्तुरिदं श्रद्धया हुतम् ॥ बा० आ०
महापापोपवक्तारो महापातकशंसकाः ।
आमध्यमोत्तमा दण्ड्याः दद्युस्ते च यथाक्रमम् ॥ पा० मा०
माता पिता गुरुर्भ्राता प्रजा दीनः समाश्रितः ।
अभ्यागतोऽतिथिश्चाग्निः पोष्यवर्गा उदाहृताः ॥ स्मृ० र०

मातापित्रोरुपाध्यायाचार्ययोरौर्ध्वदेहिकम् ।
कुर्वन्मातामहस्यापि व्रती न भ्रश्यते व्रतात् ॥ नि० सि०
*मातामहं मातुलं च स्वस्रीयं श्वशुरं गुरुम् ।
दौहित्रं विट्पतिं बन्धून् ऋत्विजं चापि भोजयेत् ॥ नृ० श्रा० सा०

मातुले श्वशुरे मित्रे गुरौ गुर्वङ्गनासु च ।
आशौचं पक्षिणीं रात्रिं मृता मातामही यदि ॥ पा० मा०
माधुकरीयमानीय ब्राह्मणेभ्यः प्रयच्छति ।
स याति नरकं घोरं भोक्ता भुङ्क्ते तु किल्बिषम् ॥ वी० सं प्र०

मांसाशने पञ्चदशी तैलाभ्यङ्गे चतुर्दशी ।
अष्टमी ग्राम्यधर्मेषु ज्वलन्तमपि पातयेत् ॥ पु० चि०
मासिकं वपनं कार्यं शूद्राणां न्यायवर्तिनाम् ।
वैश्यवच्छौचकल्पश्च द्विजोच्छिष्टं तु भोजनम् ॥ वी० आ० प्र०
मुख्यकाले व्यतिक्रान्ते गौणकाले तथाऽऽचरेत् । स्मृ० र०
मुन्यन्नं ब्राह्मणस्योक्तं मांसं क्षत्रियवैश्ययोः ।
मधुप्रधानं वैश्यस्य सर्वेषां चाविरोधि यत् ॥ आ० म०

मूत्रे तिस्रः पादयोस्तु हस्तयोस्तिस्र एव तु ।
मृदः पञ्चदशा मेध्ये हस्तादीनां विशेषतः ॥ आ० म०
मृते जन्मनि सङ्क्रान्तौ श्राद्धे जन्मदिने तथा ।
अस्पृश्यस्पर्शने चैव न स्नायादुष्णवारिणा ॥ वी० सं० प्र०
मृन्मयं दारुजं पात्रमयःपात्रं तथैव च ।
राजतं दैविके कार्ये शिलापात्रं च वर्जयेत् ॥ बा० आ०

(यकारादिश्लोकाः)

य एवं तर्पयत्यद्भिः पितॄन्स्नात्वा द्विजोत्तमः।
तेनैव सर्वमाप्नोति पितृयज्ञक्रियाफलम् ॥ वी० श्रा० प्र०
यः कारणं पुरस्कृत्य व्रतचर्यां निषेवते।
पापं व्रतेन संच्छाद्य वैडालं नाम तद्व्रतम् ॥ पा० मा०
यः कुमारीं मेषपशून् ऋक्षांश्च वृषभांस्तथा।
वाहयेत्साहसं पूर्णं प्राप्नुयादुत्तमं वधे पा० मा०
यत्किञ्चिन्मधुसंमिश्रं गोक्षीरघृतपायसम्।
दत्तमक्षयमित्याहुः पितरस्त्वेव देवताः ॥ हे० श्रा० ख०
यत्क्षिप्तो मर्षयत्यार्तैस्तेन स्वर्गे महीयते।
यत्त्वैश्वर्यान्न क्षमते नरकं तेन गच्छति ॥ स्मृ० च०
यत्तज्ज्ञात्वा द्विजो धर्मे पापं नैव समाचरेत्। स्मृ० र०
यत् ध्यायति यत्कुरुते रतिं बध्नाति यत्र वै।
तदवाप्नोत्यविघ्नेन यो हिनस्ति न किञ्चन ॥ वी० श्रा० प्र०
यत्ने कृते विपत्तिश्चेत्प्रायश्चित्तं समाचरेत्।
गवां च पर्वतारोहे नदीतीरे तथैव च ॥ स्मृ० र०
यत्प्रोक्षितं भवेन्मांसं ब्राह्मणानाञ्च काम्यया।
यथाविधि नियुक्तश्च प्राणानामेव चात्यये ॥ हृ० प० ख०
यथा योधसहस्रेभ्यो राजा गच्छति धार्मिकः।
एवं तिलसमायुक्तं जलं प्रेतेषु गच्छति ॥ वी० श्रा० प्र०
यथैव वेदाध्ययनं धर्मशास्त्रमिदं तथा।
अध्येतव्यं ब्राह्मणेन नियतं स्वर्गमिच्छता ॥ स्मृ० च०
यदह्ना कुरुते पापं कर्मणा मनसा गिरा।
आसीनः पश्चिमां संध्यां प्राणायामैर्निहन्ति तैः ॥ प्रा० म०
यदा तु नैव कश्चित्स्यात्कन्या राजानमाव्रजेत् ॥ नि० सि०
यदा तूपघातो.........च्छिद्राणि यानि च।
शुध्यन्ति दशभिः क्षारैः श्वकाकोपहतानि च ॥ स्मृ० र०
यमाय धर्मराजाय मृत्यवे चान्तकाय च।
वैवस्वताय कालाय सर्वभूतक्षयाय च ॥ पा० मा०
यल्लब्धं लाभकाले तु स्वजात्या कन्यया सह।
कन्यागतं तु तद्विद्याच्छुद्धं वृद्धिकरं स्मृतम् ॥ वि० भ०
यस्तयोरन्नमश्नाति स कुण्डाश्युच्यते बुधैः।
ते सदा हव्यकव्यानि नाशयन्ति प्रदायिनाम् ॥ प्रा० वि०
यस्तयोरन्नमश्नाति स कुलाच्च्यवते द्विजः। हे० श्रा० ख०

यस्तु भक्षयते मांसं विधिं हित्वा पिशाचवत् ।
स लोकेऽप्रियतां याति व्याधिभिश्चैव पीड्यते ॥ हे० प० ख०
यस्मिन् देशे तु यत्तोयं या च यत्रैव मृत्तिका ।
सैव तत्र प्रशस्ता स्यात्तया शौचं विधीयते ॥ आ० म०
यस्य चैव गृहे विप्रो वसेत्कश्चिदभोजितः ॥
न तस्य पितरो देवा हव्यं कव्यं च भुञ्जते ॥ हे० श्रा० ख०
यस्य देशं न जानाति स्थानं त्रिपुरुषं कुलम् ।
कन्यादानं नमस्कारं श्राद्धं तस्य विवर्जयेत् ॥ स्मृ० र०
तस्य देशस्य यो धर्मः प्रवृत्तः सार्वकालिकः ।
श्रुतिस्मृत्यविरोधेन देशदृष्टः स उच्यते ॥ पा० मा०
यस्य धर्मध्वजो नित्यं स्वराड्ध्वज इवोच्छ्रितः ।
चरितानि च पापानि वैडालं नाम तं विदुः ॥ स्मृ० र०
*यस्य मित्रप्रधानानि श्राद्धानि च हवींषि च ।
पितृषु दैवयज्ञेषु दाता स्वर्गं न गच्छति ॥ हे० श्रा० ख०
यस्यामस्तं रविर्याति पितरस्तामुपासते ।
स पितृभ्यो यतो दत्तो ह्यपराह्णः स्वयम्भुवा ॥ का० मा०
ये जाता येऽप्यजाताश्च ये च गर्भे व्यवस्थिताः ।
वृत्तिं तेऽपि हि काङ्क्षन्ति वृत्तिलोपो विगर्हितः ॥ वि० भ०
ये व्यपेता स्वकर्मभ्यः परपिण्डोपजीविनः ।
द्विजत्वमभिकाङ्क्षन्ति तांश्च शूद्रवदाचरेत् ॥ हे० दा० ख०
येषामन्नं विनातिथिर्विप्राणां व्रजते गृहात् ।
ते वै खरत्वमुष्ट्रत्वमश्वत्वं प्रतिपेदिरे ॥ हे० श्रा० ख०
यो यस्य हिंस्याद् द्रव्याणि ज्ञानतोऽज्ञानतोऽपि वा ।
एतस्योत्पादयेत्तुष्टिं राज्ञा दद्याच्च तत्समम् ॥ प्रा० म०
योऽर्थार्थी मां द्विजे दद्यात्पठेच्चैवाविधानतः ।
अनध्याये च तं प्राहुर्वेदविप्लावकं बुधाः ॥ स्मृ० र०
यो हत्वा गोसहस्राणि नृपो दद्यादरक्षिता ।
स शब्दमात्रफलभाग्राजा भवति तस्करः ॥ वी० रा० प्र०

(रकारादिश्लोकाः)

रजकश्चर्मकारश्च नटो बुरुड एव च ।
कैवर्तभेदभिल्लाश्च सप्तैतेऽन्त्यजातयः ॥ स्मृ० र०
रम्भादिनाभिपर्यन्तं ब्रह्मसूत्रं पवित्रकम् ।
न्यूने रोगप्रवृद्धिः स्यादधिके धर्मनाशनम् ॥ वी० सं० प्रा०
रवेरभिमुखस्तिष्ठंस्त्रिरूर्ध्वं सन्ध्ययोः क्षिपेत् । स्मृ० र०

राजा लब्ध्वा निधिं दद्याद् द्विजेभ्योऽर्धं द्विजः पुनः ।
विद्वानशेषमादद्यात्स सर्वस्य प्रभुर्यतः ॥ दा० त०
राज्ञे दत्वाऽथ षड्भागं देवतानां च विंशकम् । बा० आ०
राहुदर्शनसंक्रान्तिविवाहात्ययवृद्धिषु ।
स्नानदानादिकं कार्यं निशि काम्यव्रतेषु च ॥ स्मृ० र०

(लकारादिश्लोकाः)

लेखामात्रस्तु दृश्येत रश्मिभिस्तु समन्वितः ।
उदितं तु विजानीयात्तत्र होमं प्रकल्पयेत् ॥ प्र० मा०
लेख्यं यत्र न विद्येत न भुक्तिर्न च साक्षिणः ।
न च दिव्यावतारोऽस्ति प्रमाणं तत्र पार्थिवः ॥ पा० मा०

(वकारादिश्लोकाः)

वर्जयेदजिनं दण्डं जटाधारणमेव च । स्मृ० च०
वल्लीपलाशपत्रे च स्थलजे पौष्करे तथा ।
गृहस्थश्चेत्तु नाश्नीयाद् भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥ वी० आ० प्र०
वसवः पितरो ज्ञेया रुद्रा ज्ञेयाः पितामहाः ।
प्रपितामहास्तथादित्या श्रुतिरेषा सनातनी ॥ नि० सि०
वस्त्रेणाच्छाद्य तु करं दक्षिणं यः सदा जपेत् ।
तस्य तत्सफलं जप्यं तद्धीनमफलं स्मृतम् ॥ आ० म०
वाक्पारुष्ये य एवोक्ता प्रतिलोमानुलोमतः । मि० क्ष०
वाक्याभावे तु सर्वेषां देशदृष्टमनन्तयेत् । पा० मा०
वासस्यापि ह्यनिर्णिक्ते मैथुनापतिते सति । वी० सं० प्र०
विद्या वित्तं तपश्चेति त्रीणि तेजांसि देहिनः ।
इह चामुत्र च श्रेयस्तदेव प्रतिपादयेत् ॥ वी० सं० प्र०
विद्यया विमलं ज्योतिर्वित्तत्यागात्सुखोदयम् ।
तपसा विमलां भूतिं प्राप्नुयान्मानवस्त्रिभिः ॥ वी० सं० प्र०
विद्वद्विप्रनृपस्त्रीणां नेष्यते केशवापनम् ।
ऋते महापातकिनो गोहन्तुश्चावकीर्णिनः ॥ मि० क्ष०
विधेः प्राथमिकादस्माद् द्वितीये द्विगुणं भवेत् ।
तृतीये त्रिगुणं चैव चतुर्थे नास्ति निष्कृतिः ॥ पा० मा०
विप्रस्य दण्डः पालाशो बैल्वो वा धर्मतः स्मृतः ।
आश्वत्थः क्षत्रियस्याथ खादिरो वापि धर्मतः ॥ वी० सं० प्र०
विप्राणां दैवतं शंभुः क्षत्रियाणां तु माधवः ।
वैश्यानां तु भवेद् ब्रह्मा शूद्राणां गणनायकः ॥ शं० वि०
विभक्ता वाऽविभक्ता वा सपिण्डाः स्थावरे समाः ।

एको ह्यनीशः सर्वत्र दानाधमनविक्रयः ॥ मि० क्ष०
विभागे तु कृते किञ्चित् सामान्यं यत्र दृश्यते ।
नासौ विभागो विज्ञेयः कर्तव्यः पुनरेव हि ॥ स्मृ० च०
विभागे यत्र संदेहो दायादानां परस्परम् ।
पुनर्विभागः कर्तव्यः पृथक् स्थानस्थितैरपि ॥ स्मृ० च०
विरोधे तु मिथस्तेषां व्यवहारो न सिध्यति । वी० भ०
विवाहप्रेतचूडासु माता यदि रजस्वला ।
तस्याः शुद्धेः परं कार्यं मङ्गलं मनुरब्रवीत् ॥ ध० सि०
विवाहेऽनधिकारी स्याज्ज्येष्ठकन्या स्थिता यदा ।
तदनुज्ञां विना वापि कनिष्ठामुद्वहेत्तदा वी० सं० प्र०
विशुद्धाः कर्मभिश्चैव श्रुतिस्मृतिनिदर्शिनः ।
अविप्लुतब्रह्मचर्या महाकुलसमन्विता ॥ सं० र० मा०
विश्वासयेच्चापि परं तत्वभूतेन हेतुना । वी० रा० प्र०
विष्णुः पराशरो दक्षः संवर्तव्यासहारिताः ।
शातातपो वसिष्ठश्च यमापस्तम्बगौतमाः ॥ हे० दा० ख०
विष्णो हव्यं च कव्यं च ब्रूयाद्रक्षेति च क्रमात् । मि० क्ष०
विहितस्याननुष्ठानमिन्द्रियाणामनिग्रहः ।
निषिद्धसेवनं नित्यं वर्जनीयं प्रयत्नतः ॥ हे० व्र० ख०
वृद्धः शौचमृते लुप्तप्रत्याख्यातभिषक्क्रियः ।
आत्मानं घातयेद्यस्तु भृग्वग्न्यनशनाम्बुभिः ॥ नि० सि०
वैवाहिकं तु तद्विद्याद्भार्यया यत्समागतम् ।
धनमेवंविधं सर्वं विज्ञेयं धर्मसाधनम् ॥ वि० भ०

(शकारादिश्लोकाः)

शक्रध्वजनिपाते च उल्कापाते तथैव च ।
अनध्यायस्त्रिरात्रं तु भूमिकम्पे तथैव च ॥ वी० सं० प्र०
शर्म देवश्च विप्रस्य वर्म राजा च भूभुजः ।
गुप्तो दत्तश्च वैश्यस्य दासः शूद्रस्य कारयेत् ॥ सं० कौ०
शिवलिङ्गसमीपस्थं यत्तोयं पुरतः स्थितम् ।
शिवगङ्गेति तत्प्रोक्तं तत्र स्नात्वा दिवं व्रजेत् ॥ कृ० सा० स०
शिशुसंरक्षणार्थायाशुभग्रहनिवारिणीम् ।
रक्षां सन्ध्यासु कुर्वीत निम्बसर्षपगृग्गुलैः ॥ वी० सं० प्र०
शिष्टाचारः स्मृतिर्वेदास्त्रिविधं धर्मलक्षणम् । स्मृ० च०
शुक्रे मूढेऽप्युपाकृत्य विद्याविन्तविनाशनम् ।
आयुःक्षयमवाप्नोति तस्मात्तत्कर्म वर्जयेत् ॥ सं० र० मा०

शूद्रोऽप्येवंविधः कार्यो विना मन्त्रेण संस्कृतः । सं० मा०
शोधयेत्तं च छन्देन वेदयेद्धनिकं नृपे ।
स राज्ञर्णचतुर्भागं दाप्यं तस्य च तद्धनम् ॥ पा० मा०
श्रद्धापूतं वदान्यस्य हतमश्रद्धयेतरत् ।
श्रद्धयेष्टश्च पूर्तं च नित्यं कुर्यात् प्रयत्नतः ॥ हे० व्र० ख०
श्राद्धाङ्गतर्पणं कुर्यात्सतिलं त्वपरेऽहनि ।
पित्रोर्विषय एव स्यान्नान्यस्य विषयो भवेत् ॥ बा० आ०
श्राद्धेन यः कुरुते सङ्गतानि न देवयानेन पथा स याति ।
विनिर्मुक्तं पिप्पलं बन्धतो वा स्वर्गाल्लोकाद् भ्रश्यति श्राद्धमित्रः ॥
*श्रुतिं पश्यन्ति मुनयः स्मरन्ति च तथा स्मृतिम् । हे० श्रा० ख०
तस्मात्प्रमाणमुभयं प्रमाणैः प्रापितं भुवि ॥ पा० मा०
श्वशुरयोश्च भगिन्यां च मातुलान्यां च मातुले । पा० मा०

(षकारादिश्लोकाः)

षण्ढान्धबधिरादीनां विवाहोऽस्ति यथोचितम् ।
विवाहासम्भवे तेषां कनिष्ठो विवहेत्तदा ॥ पु० चि०
षाण्मासिकेऽपि काले तु भ्रान्तिः सञ्जायते नृणाम् ।
धात्राक्षराणि(?)स्पष्टानि यत्रारूढान्यतः पुरा ॥ वि० भ०

(सकारादिश्लोकाः)

संग्रामादाहृतं यत्तु विद्राव्य द्विषतां बलम् ।
स्वाम्यर्थे जीवितं त्यक्त्वा तद् ध्वजाहृतमुच्यते ॥ वि० भ०
संदिग्धेषु तु कार्येषु द्वयोर्विवदमानयोः ।
दृष्टश्रुतानुभूतत्वात्साक्षिभ्यो व्यक्तदर्शनम् ॥ पा० मा०
संसारभीरुभिस्तस्माद्वियुक्तं कामवर्जनम् ।
विधिवत्कर्म कर्तव्यं ज्ञानेन सह सर्वदा ॥ स्म० र०
संस्कृतायां तु भार्यायां स्वयमुत्पादयेत्तु यम् ।
तमौरसं विजानीयात्पुत्रं प्रथमकल्पितम् ॥ कृ० मा० स०
सत्यं दानं दमो द्रोहमानृशंस्यं क्षमा घृणा ।
तपश्च दृश्यते यत्र स ब्राह्मण इति स्मृतः नृ० श्रा० सा०
सत्यमेव परं दानं सत्यमेव परं तपः ।
सत्यमेव परो धर्मो लोकोत्तरमिति स्थितिः ॥ पा० मा०
सत्ये देवाः समुद्दिष्टा मनुष्यास्त्वनृतं स्मृतम् ।
इहैव तस्य देवत्वं यस्य सत्ये स्थिता मतिः ॥ पा० मा०
सन्तुष्टाः सज्जनहिताः साधवस्तत्वदर्शिनः ।

रागद्वेषामर्षलोभमानमोहविवर्जिताः ।
अक्रोधनाः सुप्रसादाः कार्याः सम्बन्धिनः सदा ॥ सं० र० मा०
सन्ध्ययोरुभयोर्जप्ये भोजने दन्तधावने ।
पितृकार्ये च दैवे च तथा मूत्रपुरीषयोः ॥ हे० दा० ख०
सभासदश्च ये तत्र स्मृतिशास्त्रविदः स्थिताः ।
यथा लेख्यविधौ तद्वत्स्वहस्तं दद्युरेव ते ॥ मि० क्ष०
समतिक्रान्तकालाच्च पतिताः सर्व एव ते ।
नैवावधिपूर्तावदापद्यपि च कर्हिचित् ॥ स्मृत० च०
समर्घं पण्यमाहृत्य महार्घं यः प्रयच्छति ।
स वै वार्धुषिको नाम यश्च वृध्या प्रयोजयेत् ॥ वी० आ० प्र०
समासमाभ्यां विप्राभ्यां विषमं सममेव च ।
पूजातो दीयमानं च न ग्राह्यं देयमेव च ॥ वी० आ० प्र०
समाहर्तॄन् प्रकुर्वीत धर्मशास्त्रार्थनिश्चितान् ।
कुलीनान् वित्तसम्पन्नान् समर्थान् कोशवृद्धये ॥ वी० रा० प्र०
समूलश्च भवेद्दर्भः पितॄणां यज्ञकर्मणि ।
मूलेन लोकाञ्जयति शक्रस्य च महात्मनः ॥ स्मृ० र०
सर्वं वा यदि वाप्यर्धं पादं वा यदि वाक्षरम् ।
सकाशाद्यस्य गृह्णीयान्नियतं तस्य गौरवम् ॥ हे० प०
सर्वदेशेषु पूर्वाह्णे मुख्यं स्याच्चोपनायनम् ।
मध्याह्ने मध्यमं प्रोक्तमपराह्णे च गर्हितम् ॥ पु० चि०
सर्वत्रादायकं राजा हरेद् ब्रह्मस्ववर्जितम् ।
अदायकं तु ब्रह्मस्वं श्रोत्रियेभ्यः प्रदापयेत् ॥ वि० भ०
सर्वायासविनिर्मुक्तैः कामक्रोधविवर्जितैः ।
भवितव्यं भवद्भिर्नः श्वोभूते श्राद्धकर्मणि । नि सि०
सहस्रगुणितं दानं भवेद्दत्तं युगादिषु ।
कर्म श्राद्धादिकं चैव तथा मन्वन्तरादिषु ॥ पा० मा०
सांवत्सरिकमाप्तैश्च राष्ट्रादाहरयेद्बलिम् ।
स्यादाश्रयपरो लोके वर्तेत पितृवन्नृषु ॥ वी० रा० प्र०
सान्तानिकं यक्ष्यमाणमध्वगं सार्ववेदसम् ।
गुर्वर्थं पितृमात्रर्थं स्वाध्यायार्थ्युपतापिनः ॥
नवैतान् स्नातकान् विद्याद् ब्राह्मणान् धर्मभिक्षुकान् । हे० दा०
सामान्यं पुत्रकन्याऽऽधिः सर्वस्वं न्यासयाचितम् ।
अदेयान्याहुराचैव यच्चान्यस्मै प्रतिश्रुतम् ॥ दा० सं०
सायम्प्रातर्मनुष्याणामशनं देवनिर्मितम् ।

नान्तरा भोजनं कुर्यादग्निहोत्रसमो विधिः ॥ वीर० आ० प्र०
सिद्धमन्नं भक्तजनैरानीतं यन्मठं प्रति ।
उपपात्रं तदित्याहुर्मुनयो मोक्षकाङ्क्षिणः ॥ प० मा०
सुरभिमत्या सहाब्लिङ्गैर्मार्जयित्वाऽर्घ्यमुत्क्षिपेत् ।
द्वौ पादौ संपुटौ कृत्वा पाणिभ्यां पूरयेज्जलम् ॥ स्मृ० र०
सूतके तु कुलस्यान्नमदोषं मनुरब्रवीत् । मि० क्ष०
सूतके बन्धने विप्रो हव्यकव्यादिवर्जितः ।
नैनसा लिप्यते तद्वद्दतावगमनादपि ॥ सं० र० मा०
स्त्रियाः श्रुतौ वा शास्त्रे वा प्रव्रज्या नाभिधीयते ।
प्रजा हि तस्याः स्वो धर्मः सवर्णादिति धारणा ॥ शू० क०
स्त्रियार्जितानि वित्तानि उपजीवन्ति ये नराः ।
तेऽपि कूर्मपुटे घोरे पच्यन्ते दीर्घजीविनः ॥ प्रा० वि
स्त्रीणां च प्रेक्षणात्स्पर्शाद्धास्यशृङ्गारभाषणात् ।
स्पन्दते ब्रह्मचर्यं च न दारेष्वृतुसङ्गमात् ॥ आ० म०
स्त्रीधनं स्यादपत्यानां दुहिता च तदर्थिनी ।
अप्रत्ता चेत्समूढा तु लभते मानमात्रकम् ॥ व्य० म०
स्मृत्वोङ्कारं च सावित्रीं निबध्नीयाच्छिखां ततः । कृ० सा० स०
स्वगोत्राद् भ्रश्यते नारी विवाहात्सप्तमे पदे । वीर० सं० प्र०
स्वग्रामे ग्रामतो वापि सन्निकृष्टे मृते सति ।
न भुञ्जीताशनं धीमान् अधर्म्यं शोककारणात् ॥ वीर० आ० प्र०
स्वच्छन्दगा च या नारी तस्यास्त्यागो विधीयते ।
न चैव स्त्रीवधं कुर्यान्नचैवाङ्गविकर्तनम् ॥ वि० भ०
स्वच्छन्दव्यभिचारिण्या विवस्वांस्त्यागमब्रवीत् ।
न वधं न च वैरूप्यं बन्धं स्त्रीणां विवर्जयेत् ॥ वि० भ०
स्वजातिजानन्तरजाः षट् सुता द्विजधर्मिणः । वीर० सं प्र०
स्वभावैव यद्ब्रूयुस्तद्ग्राह्यं व्यावहारिकम् ।
ततो यदन्यद्विब्रूयुर्धर्मार्थं तदपार्थकम् ॥ स्मृ० च०
स्वभावाद्यत्र विचरेत्कृष्णसारमृगो द्विजाः ।
विज्ञेयो धार्मिको देशो म्लेच्छदेशस्ततः परः ॥ स्मृ० र०
स्वप्नेऽपि विसृजेद् ब्रह्मचारी शुक्रमकामतः ।
स्नात्वाऽर्कमर्चयित्वा त्रिः पुनर्मामित्यृचं जपेत् ॥ वीर० सं० प्र०
स्वर्गायुर्भूतिकामेन तथा पापोपशान्तये ।
मुमुक्षुणा च दातव्यं ब्राह्मणेभ्यस्तथाऽन्वहम् ॥ हे० दा०
स्वेदाश्रुदूषिका श्लेष्ममलं चामेध्यमुच्यते । मि० क्ष०

(हकारादिश्लोकाः)

हतं ज्ञानं क्रियाहीनं हतास्त्वज्ञानिनः सदा ।
अपश्यन्नन्धको दग्धः पश्यन्नपि च पङ्गुकः ॥ स्मृ० र०
हस्तदत्ता तु या भिक्षा लवणं व्यञ्जनानि च ।
भुक्त्वा ह्यशुचितां याति दाता स्वर्गं न गच्छति ॥ स्मृ० च०
हस्तौ तु संयतौ कार्यौ जानुभ्यामुपरि स्थितौ ।
संहृत्य हस्तावध्येयं स हि ब्रह्माञ्जलिः स्मृतः ॥ य० सं०
हीनादादेयमादौ स्यात्तदलाभे समादपि ।
असम्भवे त्वाददीत विशिष्टादपि धर्मिकात् ॥ प्रा० वि०

बृहन्मनुः

(अकारादिश्लोकाः)

अत्यन्तं वर्जयेद् गेहमित्येवं मनुरब्रवीत् । नि० सि०
असम्बन्धा भवेन्मातुः पिण्डेनैवोदकेन वा ।
सा विवाह्या द्विजातीनां त्रिगोत्रान्तरिता च या ॥ नि० सि०
आषाढीमवधिं कृत्वा पञ्चमं पक्षमाश्रिताः ।
काङ्क्षन्ति पितरः क्लिष्टा अन्नमप्यन्वहं जलम् ॥ पा० मा०

(एकारादिश्लोकः)

एकोदरे जीवति तु सापत्नो न लभेद्धनम् ।
स्थावरेऽप्येवमेव स्यात्तदभावे लभते वै ॥ वि० भ०

(जकारादिश्लोकः)

जीवञ्जातो यदि ततो मृतः सूतकमेव तु ।
सूतकं सकलं मातुः पित्रादीनां त्रिरात्रकम् ॥ शू० क०

(तकारादिश्लोकाः)

तस्मात्तत्रैव दातव्यं दत्तमन्यत्र निष्फलम् ।
आषाढीमवधिं कृत्वा यः पक्षः पञ्चमो भवेत् ॥ पा० मा०
तत्र श्राद्धं प्रकुर्वीत कन्यास्थोऽर्को भवेन्न वा । पा० मा०
त्रयोदश्यां तु सप्तम्यां चतुर्थ्यामर्धरात्रतः ।
अर्वाङ् नाध्ययनं कुर्यादिच्छेत्तस्य परायणम् ॥ स्मृ० र०

(दकारादिश्लोकः)

दशरात्राच्छुनिमृते मासाच्छूद्रे भवेच्छुचिः ।
द्वाभ्यां तु पतिते गेहमन्त्यो मासचतुष्टयम् ॥ नि० सि०
दशाहाभ्यन्तरे बाले प्रमीते तस्य बान्धवैः ।

शावाशौचं न कर्तव्यं सूत्याशौचं विधीयते ॥ मि० क्ष०
दशरात्रेण या वार्ता यत्र न श्रूयतेऽथवा ।
गुरोः शिष्ये पितुः पुत्रे दम्पत्योः स्वामिभृत्ययोः ॥ वि० भ०
देशनामनदीभेदान्निकटेऽपि भवेद्यदि ।
तत्तु देशान्तरं प्रोक्तं स्वयमेव स्वयम्भुवा ॥ वि० भ०

(मकारादिश्लोकः)

मातुर्मातृगमने पितुर्मातृगमने तथा ।
एतस्त्वकामतो गत्वा द्विजश्चान्द्रायणं चरेत् ॥ प्रा० म०

(रकारादिश्लोकः)

रात्रौ यामद्वयादर्वाग्यदि पश्येत्त्रयोदशीम् ।
सा रात्रिः सर्वकर्मघ्नी शङ्कराराधनं विना ॥ स्मृ० र०

(शकारादिश्लोकः)

श्वशूद्रपतिताश्चान्त्या मृताश्चेद् द्विजमन्दिरे ।
शौचं तत्र प्रवक्ष्यामि मनुना भाषितं यथा ॥ नि० सि०

(सकारादिश्लोकः)

समानोदकभावस्तु निवर्तेताचतुर्दश ।
जन्मनामस्मृतेरेके तत्परं गोत्रमुच्यते ॥

वृद्धमनुः

(अकारादिश्लोकाः)

अग्नीनाधाय विधिवद् व्रात्यस्तोमेन वा यजेत् ।
अथैन्द्राग्नेन पशुना गिरिं गत्वा च तत्र तु ॥ नि० सि०
अनिन्दन् भक्षयेन्नित्यं वाग्यतोऽन्नमकुत्सयन् ।
पञ्च ग्रासा महामौनं प्राणाद्याप्यायनं महत् ॥ पा० मा०
अनुष्ठितं तथा देवैर्मुनिभिर्यदनुष्ठितम् ।
नानुष्ठितं मनुष्यैस्तदुक्तं कर्म समाचरेत् ॥ स्मृ० च०
अन्यायोपात्तवित्तस्य पतितस्य च वार्धुषेः ।
न स्नायादुदपानेषु स्नात्वा कृच्छ्रं समाचरेत् ॥ स्मृ० च०
अपुत्रा शयनं भर्तुः पालयन्ती व्रते स्थिता ।
पत्न्येव दद्यात्तत्पिण्डं कृत्स्नमंशं लभेत च ॥ स्मृ० च०
अमृतं मृतमाकर्ण्य कृतं यस्यौर्ध्वदैहिकम् ।
प्रायश्चित्तमसौ स्मार्तं कृत्वाग्नीनादधीत च ॥ नि० सि०
अर्धरात्रादधस्ताच्चेत्सङ्क्रान्तिग्रहणं तदा ।
उपाकर्म न कुर्वीत परतश्चेन्न दोषभाक् ॥ नि० सि०

(इकारादिश्लोकः)

इह जन्मकृतं पापमन्यजन्मकृतं च यत् ।
अङ्गारकचतुर्दश्यां तर्पयंस्तद्व्यपोहति ॥ स्मृ. च.

(ऋकारादिश्लोकः)

ऋतुकाले नियुक्तो वा नैव गच्छेत्स्त्रियं क्वचित् ।
तत्र गच्छन् समाप्नोति ह्यनिष्टं फलमेव च ॥ स्मृ० च०

(एकारादिश्लोकाः)

एकभ्रातृजयोरेकवत्सरे पुरुषस्त्रियोः ।
न समानक्रियां कुर्यान्मातृभेदे विधीयते ॥ नि० सि०
एकैकस्य तिलैर्मिश्रांस्त्रीन्त्रीन्कृत्वा जलाञ्जलीन् ।
यावज्जीवकृतं पापं तत्क्षणादेव नश्यति ॥ स्मृ० च०
एतया ज्ञातया नित्यं वाङ्मयं विदितं भवेत् ।
उपासितं भवेत्तेन विश्वं भुवनसप्तकम् ॥ स्मृ० च०

(औकारादिश्लोकः)

और्ध्वपुंड्रो मृदा धार्यो यतिना च विशेषतः ।
भस्मचन्दनगन्धादीन्वर्जयेद्यावदायुषा ॥ स्मृ० र०

(ककारादिश्लोकाः)

कुर्यादनुपनीतोऽपि श्राद्धमेको हि य सुतः ।
पितृयज्ञाहुतं पाणौ जुहुयाद् ब्राह्मणस्य सः ॥ स्मृ० च०
क्लीबाद्या नोदकं कुर्युः स्तेना व्रात्या विधर्मिणः ।
गर्भभर्तृद्रुहश्चैव सुराप्यश्चैव योषितः ॥ नि० सि०

(खकारादिश्लोकः)

खादिरस्य करञ्जस्य कदम्बस्य तथैव च ।
अर्कस्य करवीरस्य कुटजस्य विशेषतः ॥ स्मृ० च०

(चकारादिश्लोकः)

चण्डालादेस्तु संस्पर्शे वारुणं स्नानमेव हि ।
इतराणि तु चत्वारि यथायोग्यं स्मृतानि हि ॥ स्मृ० र०

(जकारादिश्लोकौ)

जपादिकुसुमं झिण्टी रूपिका सुकुरुण्टिका ।
पुष्पाणि वर्जनीयानि श्राद्धे कर्मणि नित्यशः ॥ श्रा० म०
जीवन्यदि समागच्छेद् घृतकुम्भे निमज्य च ।
उद्धृत्य स्नापयित्वास्य जातकर्मादि कारयेत् ॥ नि० सि०

(तकारादिश्लोकाः)

तिस्रो व्याहृतयः पूर्वं षडोङ्कारसमन्विताः ।

पुनः संस्कृत्य चोङ्कारमन्त्रस्याद्यन्तयोस्तथा ॥ स्मृ० च०
तैलाभ्यङ्गो नार्कवारे न भौमे
नो संक्रान्तौ वैधृतौ विष्टिषष्ठ्योः ।
पर्वस्वष्टम्यां च नेष्टः स इष्टः
प्रोक्तान्मुक्त्वा वासरे सूर्यसूनोः । नि० सि०

(दकारादिश्लोकाः)

दशाहस्यान्तरे यस्य गङ्गातोयेऽस्थि मज्जति ।
गया(ङ्गा)यां मरणं यादृक् तादृक् फलमवाप्नुयात् ॥ नि० सि०
द्वादशाहव्रतं चर्यात्त्रिरात्रमथवास्य तु ।
स्नात्वोद्वहेत तां भार्यामन्यां वा तदभावतः ॥ नि० सि०
द्वादशेऽहनि विप्राणामाशौचान्ते च भूभुजाम् ।
वैश्यानां तु त्रिपक्षादावथवा स्यात्सपिण्डनम् ॥ नि० सि०

(नकारादिश्लोकाः)

न नियुक्तः शिरो वर्ज्यं माल्यं शिरसि वेष्टयेत् ॥ स्मृ० च०
न पिबेन्न च भुञ्जीत द्विजः सव्येन पाणिना ।
नैकहस्तेन च जलं शूद्रेणावर्जितं पिबेत् ॥ स्मृ० च०
न प्रातर्न प्रदोषश्च सन्ध्याकालोतिकालो हि ।
मुख्याभावेऽनुकल्पश्च सर्वस्मिन्कर्मणि स्मृतिः ॥ पा० मा०
नभस्यस्यापरः पक्षो यत्र कन्यां व्रजेद्रविः ।
स महालयसंज्ञः स्याद्गजच्छायाह्वयस्तथा ॥ पा० मा०
निमन्त्र्य विप्रास्तदहर्वर्जयेन्मैथुनं क्षुरम् ।
प्रमत्तानां च स्वाध्यायं क्रोधं शोकं तथानृतम् ॥ नि० सि०

(पकारादिश्लोकाः)

पक्षादौ च रवौ षष्ठ्यां रिक्तायां च तथा तिथौ ।
तैलेनाभ्यज्यमानस्तु धनायुर्भ्यां प्रहीयते ॥ स्मृ० र०
पतितान्त्यश्वपाकेन संस्पृष्टा चेद्रजस्वला ।
तान्याहानि व्यतिक्रम्य प्रायश्चितं समाचरेत् ॥ प्रा० म०
पथि विक्रीय तद्भाण्डं वणिक् भृत्यं त्यजेद्यदि ।
अथ तस्यापि देयं स्याद् भृतेरर्थं लभेत सः ॥ स्मृ० च०
पिता पितामहो भ्राता ज्ञातयो गोत्रजाग्रजाः ।
उपानयेऽधिकारी स्यात्पूर्वाभावे परः परः ॥ नि० सि०
पित्रोः स्वसरि तद्वच्च पक्षिणीं क्षपयन्निशाम् । शू० क०
पित्रोरुपशमे स्त्रीणां मूढानां तु कथं भवेत् ।
त्रिरात्रेणैव शुद्धिः स्यादित्याह भगवान्यमः ॥ पा० मा०

पिबतो यत्पतेत्तोयं भोजने मुखनिःसृतम् ।
अभोज्यं तद्भवेदन्नं भोक्ता भुञ्जीत किल्बिषी ॥ स्मृ० च०
पीतावशेषितं कृत्वा ब्राह्मणः पुनरापिबेत् ।
त्रिरात्रं तु व्रतं कुर्याद्वामहस्तेन वा पुनः ॥ स्मृ० च०
पीत्वा योऽशनमश्नीयात्पात्रे दत्तमगर्हितम् ।
भार्याभृतकदासेभ्य उच्छिष्टे शेषयेत्ततः ॥ पा० मा०
प्रतिश्रुत्य न कुर्याद्यः स कार्यः स्याद्बलादपि ।
स चेन्न कुर्यात्तत्कर्म प्राप्नुयाद्द्विशतं दमम् ॥ स्मृ० च०
प्रथमेऽह्नि त्रिरात्रं स्याद् द्वितीये त्र्यहमेव तु ।
अहोरात्रं तृतीयेऽह्नि चतुर्थे नक्तमेव च ॥ प्रा० म०
प्रमादान्नाशितं दाप्यः समं हि द्रोहनाशितम् ।
न तु दाप्यो हृतं चोरैर्दग्धमूढं जलेन वा ॥ व्य० म०
प्रोषितस्य यदा कालो गतश्चेद् द्वादशाब्दिकः ।
प्राप्ते त्रयोदशे वर्षे प्रेतकार्याणि कारयेत् ॥ श्रा० हे०

(बकारादिश्लोकः)

ब्रह्मदायागतां भूमिं हरेयुर्ब्राह्मणीसुताः ।
गृहं द्विजातयः सर्वे तथा क्षेत्रं क्रमागतम् ॥ वि० भ०

(भकारादिश्लोकः)

भगिन्यां संस्कृतायां तु भ्रातर्यपि च संस्कृते ।
मित्रे जामातरि प्रेते दौहित्रे भगिनीसुते ॥ शू० क०

(मकारादिश्लोकाः)

मध्ये वा यदि वाप्यन्ते यत्र कन्यां रविर्व्रजेत् ।
पक्षः स कालः सम्पूर्णः श्राद्धं तत्र विधीयते ॥ स्मृ० च०
मनुष्यतर्पणे चैव स्नाने वस्त्रादिपीडने ।
निवीतिस्तूभये विप्रस्तथा मूत्रपुरीषयोः ॥ स्मृ० र०
महानद्यन्तरं यत्र गिरिर्वा व्यवधायकः ।
वाचो यत्र विभिद्यन्ते तद्देशान्तरमुच्यते ॥ पा० मा०
मृते जन्मनि संक्रान्तौ श्राद्धे जन्मदिने तथा ।
अस्पृश्यस्पर्शने चैव न स्नायादुष्णवारिणा ॥ स्मृ० च०
मृन्मयं दारुजं पात्रमयःपात्रं च यद्भवेत् ।
राजतं दैविके कार्ये शिल्पपात्रं च वर्जयेत् ॥ नि० सि०

(यकारादिश्लोकाः)

यथा यो(ऽ)धन (?) हस्ते(।)भ्यो(ं)राज्यं गच्छति धार्मिकः ।
एवं तिलसमायुक्तं जलं प्रेतेषु गच्छति ॥ स्मृ० च०

यदि तस्मिन् दाप्यमाने भवेन्मोषे तु संशयः।
मुषितः शपथं दाप्यो बन्धुभिर्वापि साधयेत् ॥ पा० मा०
यश्च व्याकुरुते वाचं यश्च मीमांसतेऽध्वरम्।
यश्च वेत्त्यात्मकैवल्यं पङ्क्तिपावनपावनाः ॥ श्रा० हे०
यस्यामस्तं रविर्याति पितरस्तामुपासते।
तिथिं तेभ्यो यतो दत्तो ह्यपराह्णः स्वयम्भुवा ॥ स्मृ० च०
यां काञ्चित्सरितं प्राप्य कृष्णपक्षे चतुर्दशी।
यमुनाया विशेषेण ब्राह्मणो नियतेन्द्रियः ॥ श्रा० हे०
यो भाटयित्वा शकटं नीत्वा चान्यत्र गच्छति।
भाटं न दद्याद्दाप्यः स्यादरूढस्यापि भाटकम् ॥ स्मृ० च०

(वकारादिश्लोकौ)

वस्त्रं त्रिगुणितं यस्तु निष्पीडयति मूढधीः।
वृथा स्नानं भवेत्तस्य यच्चैवादशमाम्बुभिः ॥ स्मृ० र०
विधवा कारयेच्छ्राद्धं यथाकालमतन्द्रिता।
स्वभर्तृप्रभृतित्रिभ्यः स्वपितृभ्यस्तथैव च ॥ शू० क०

(शकारादिश्लोकाः)

शालके तत्सुते चैव सद्यः स्नानेन शुध्यति। शू० क०
शुक्लाः समुन्नताः श्रेष्ठास्तथा पद्मोत्पलानि तु।
गन्धरूपोपयुक्तानि ऋतुकालोद्भवानि च ॥ श्रा० म०
शूद्रकन्यासमुत्पन्नो ब्राह्मणेन तु संस्कृतः।
अपरो नापितः प्रोक्तः शूद्रधर्माधिकोऽपि सः ॥ शू० क०
श्रवणाश्विधनिष्ठार्द्रा नागदैवतमस्तके।
यद्यमा रविवारेण व्यतीपातः स उच्यते ॥ श्रा० हे०
श्राद्धं करिष्यन् कृत्वा वा भुक्त्वा वापि निमन्त्रितः।
उपोष्य च तथा भुक्त्वा नोपेयाच्च ऋतावपि ॥ नि० सि०

(षकारादिश्लोकौ)

षडोङ्कारं जपन्विप्रो गायत्रीं मनसो शुचिः।
अनेकजन्मजैः पापैर्मुच्यते नात्र संशयः ॥ स्मृ० च०
षण्ढं तु ब्राह्मणं हत्वा शूद्रहत्याव्रतं चरेत्। शू० क०

(सकारादिश्लोकाः)

संक्रान्त्यां भानुवारे च सप्तम्यां राहुदर्शने।
आरोग्यपुत्रमित्रार्थी न स्नायादुष्णवारिणा ॥ स्मृ० च०
संस्थिते पक्षिणीं रात्रिं दौहित्रे भगिनीसुते।

संस्कृते तु त्रिरात्रं स्यादिति धर्मो व्यवस्थितः ॥ शू० क०
स गोहत्याकृतं पापं प्राप्नोत्येव न संशयः । स्मृ० च०
सप्तम्यां भानुवारे च मातापित्रोर्मृतेऽहनि ।
तिलैर्यस्तर्पणं कुर्यात्स भवेत्पितृघातकः ॥ नि० सि०
सप्तहस्तेन दण्डेन त्रिंशद्दण्डनिवर्तनम् ।
तान्येव दश गोचर्म दाता पापैः प्रमुच्यते ॥ पा० मा०
समाहितोपलिप्ते तु द्वारि कुर्वीत मण्डले ।
स्वयं धौतेन कर्तव्याः क्रिया धर्म्या विपश्चिता ॥ स्मृ० च०
सौङ्कारश्चतुरावृत्य विज्ञेया सा शताक्षरा ।
शताक्षरां समावृत्य सर्ववेदफलं लभेत् ॥ स्मृ० च०
स्थापितां चैव मर्यादामुभयोर्ग्रामयोस्तथा ।
अतिक्रामन्ति ते पापास्ते दण्ड्या द्विशतं दमम् ॥
स्नुषास्वस्त्रीयतत्पुत्रा ज्ञातिसम्बन्धिबान्धवाः ।
पुत्रभावे तु कुर्वीरन् सपिण्डान्तं यथाविधि ॥ नि० सि०

(हकारादिश्लोकः)

हिरण्यं वैश्वदेवे तु दद्याद्वै दक्षिणां बुधः ।
पित्रे तु रजतं देयं शक्त्या भूमिगवादिकम् ॥ श्रा० हे०

मनुस्मृतिश्लोकानामुभयार्धानुक्रमणिका

इ

* पृष्ठ ६९४ से ७०४ तक 'अ० श्लो०' की जगह 'पृष्ठाङ्काः' प्रमाद से छप गया है।

प्रतीकानि	अ० श्लो०
न	
न कथञ्चन दुर्योनिः	१०।५९
न कदाचन कुर्वीत	४।४८
न कदाचिद् द्विजे तस्मात्	४।१६९
न कन्यायाः पिता विद्वान्	३।५१
न कर्णिभिर्नापि दिग्धैः	७।९०
न कर्म निष्फलं कुर्याद्	४।७०
न कश्चिद् योषितश्शक्तः	९।१०
न कार्पासास्थि न तुषान्	४।७८
न कुर्याद् गुरुपुत्रस्य	२।२०९
न कुर्वीत वृथा चेष्टां	४।६३
न कुर्वीतात्मनस्त्राणं	११।११३
न कूटैरायुधैर्हन्यात्	७।९०
[न कृतघ्नैरनुद्युक्तैः]	४।५
नक्तं चान्नं समश्नीयात्	६।१९
नक्षत्राणि च दैत्याश्च	१२।४८
नगरे नगरे चैकं	७।१२१
नग्नो मुण्डः कपालेन	९।९३
न ग्रामजातान्यार्तोऽपि	६।१६
न च क्षुधाऽस्य संसीदेत्	७।१३३
न च छन्दांस्यधीयीत	३।१८८
न च तत्कर्म कुर्वाणः	५।८४
न च द्विजातयो ब्रूयुः	३।२३६
न च नग्नः शयीतेह	४।७५
न च पूर्वोपरं विद्यात्	८।५६
न च प्राणिवधः स्वर्ग्यः	५।४८
न च प्रापितमन्येन	८।४३
न च योनिगुणान्कांश्चित्	९।३७
न च वासांसि वासोभिः	८।३९६
न च वैश्यस्य कामः स्यात्	९।३२८
न च शोचत्ययसम्पत्तौ	१२।३६
न च स्वं कुरुते कर्म	१।५५
न च हन्यात्स्थलारूढं	७।९१
न च हव्यं वहत्यग्निः	४।२४९
न चातिसृच्छति क्षिप्रं	८।११५
न चादत्वा कनिष्ठेभ्यः	९।२१४
न चादेयं समृद्धोऽपि	८।१७०
न चाधेः कालसंरोधात्	८।१४३
न चानिसृष्टो गुरुणा	२।२०५
न चापि पश्येदशुचिः	४।१४२
न चालिप्यत पापेन	१०।१०५
न चासारं न च न्यूनं	८।२०३
न चास्योपदिशेद्धर्मं	४।८०
च चेत्त्रिपक्षात्प्रब्रूयात्	८।५८
न चेमं देहमाश्रित्य	६।४७
न चैनं पादतः कुर्याद्	४।५४
न चैनं भुवि शक्नोति	७।६
न चैवं प्रलिखेद् भूमिं	४।५५
न चैवात्यशनं कुर्यात्	२।५६
न चैवान्नाशयेत्कश्चिद्	३।८३
न चैवास्यानुकुर्वीत	२।१९९
न चैवैनां प्रयच्छेत्तु	९।८९
न चोत्पातनिमित्ताभ्यां	६।५०
न चोदके निरीक्षेत	४।३८
[न चोपलब्धपूर्वोक्तः]	८।४
न छिन्द्यान्नखलोमानि	४।६९
न जातु कामः कामानां	२।९४
न जातु ब्राह्मणं हन्यात्	८।३८०
न जीर्णदेवायतने	४।४६
न जीर्णमलवद्वासा	४।३४
नटश्च करणश्चैव	१०।२२
[न तच्छुल्कमपाहर्तुं]	८।३४
न तत्पुत्रैर्भजेरसार्धं	९।२०९
न तत्फलमवाप्नोति	५।५४
न तत्र प्रणयेद्दण्डं	८।२३८
न तत्र विद्यते किञ्चित्	८।१८३
न तथैतानि शक्यन्ते	२।९६
न तस्मिन् धारयेद्दण्डं	११।२१
न तस्य निष्कृतिः शक्या	२।२२७
न तस्य वेतनं देयं	८।२१७
न ताडयेत्तृणेनापि	४।१६९
न तादृशं भवत्येनो	५।३४
न तापसैर्ब्राह्मणैर्वा	६।५१
न तिष्ठति तु यः पूर्वां	२।१०३
न तु नामापि गृह्णीयात्	५।१५७
न तेन वृद्धो भवति	२।१५६
न तैरभ्यनुज्ञातो	२।२२९
न तैः समयमन्विच्छेत्	१०।५३

त्रुटिसंशोधनम्

पृष्ठ	कालम	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६९३-७०४	१-२	१	पृष्ठाङ्काः	अ० श्लो०
६९३	२	८	२।११	३।११
,,	,,	२६	९।२२७	९।२७७
६९४	१	१२	१२।९	१२।८
,,	,,	१९	११।१०३	१२।१०३
,,	,,	२४	१।२४	१।२७
६९५	,,	१७	९।१७४	८।१७४
,,	,,	३४	१।१९४	९।१९४
,,	२	२३	५।१	५।४
,,	,,	३४	२।१०८	१२।१०८
६९६	,,	६	३।२८२	३।२८१
६९७	१	२	३।३२९	८।३२९
,,	,,	१४	७।१८२	८।१८२
,,	,,	१६	६।२१	६।३१
,,	,,	२६	अपाङ्क्तेयान्प्रवक्ष्यामि	[अपाङ्क्तेयान्प्रवक्ष्यामि]
,,	२	२४	९।२५१	२।२९१
६९८	१	३	१।२२२	२।२२२
,,	२	१७	११।१२	१।८३
६९९	२	३४	३।४	३।५
७००	१	१८	अस्तेयमिति पञ्चैते १४२	[अस्तेयमिति पञ्चैते] ४।११
,,	२	११	४ ६४	५।६४
७०१	१	३७	१६।११९	१२।११९
,,	२	२८	११।२७	११।२९
७०२	२	१६	६।८९	७।८९
७०३	१	११	इन्दुक्षये मासि मासि	[इन्दुक्षये मासि मासि]
,,	,,	२५	४।३	४।१६
,,	,,	४०	२।२५	७।१६
७०४	१	२९	४।१२२	४।१३२
,,	२	२६	३।१०२	३।१०४

द्र०—पृ० १९४, श्लो० ८० के बाद अधोलिखित प्रक्षिप्त श्लोक जोड़ें—

[अन्तरा ब्राह्मणं कृत्वा प्रायश्चित्तं समादिशेत् ॥ ६ ॥]
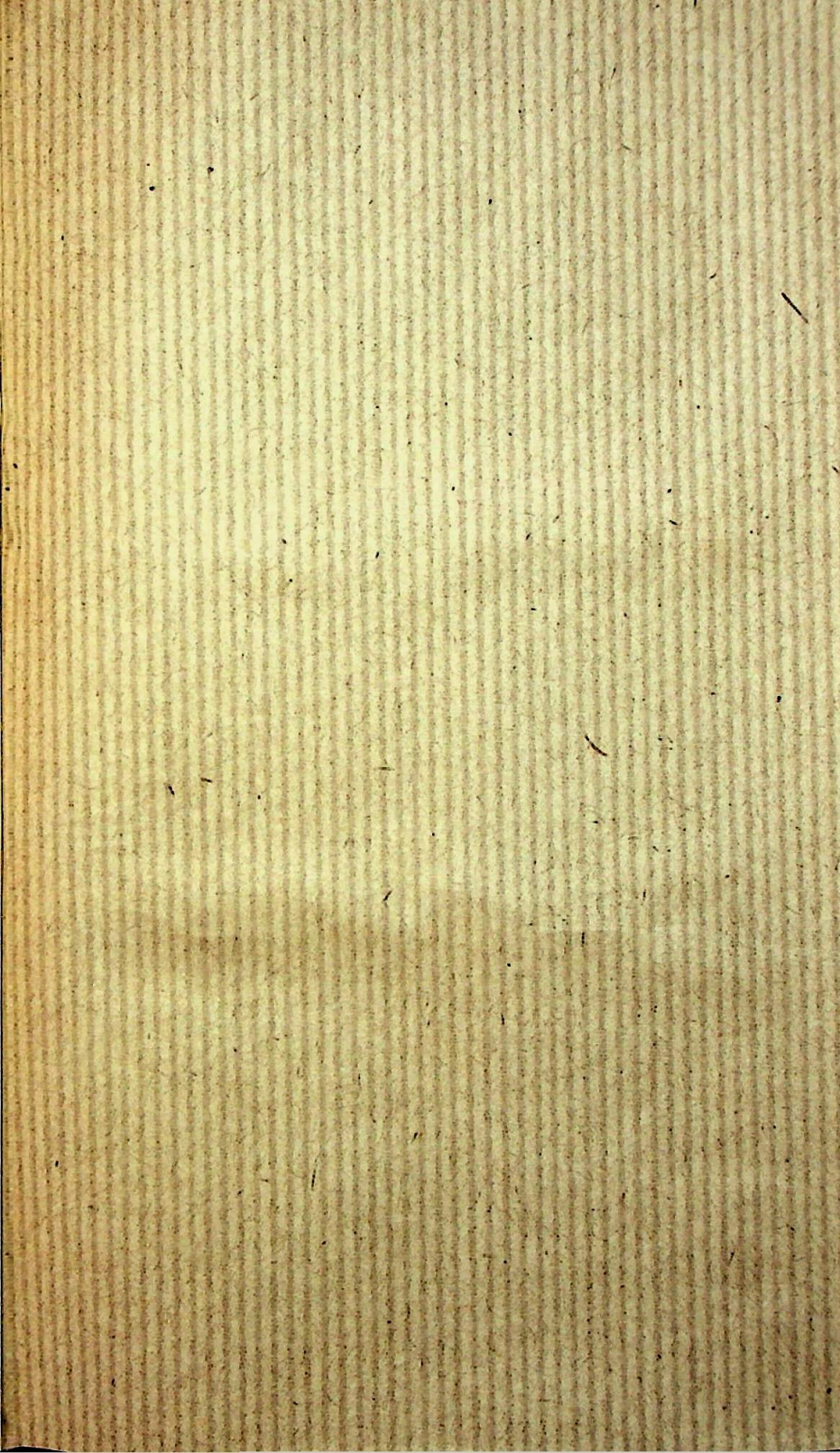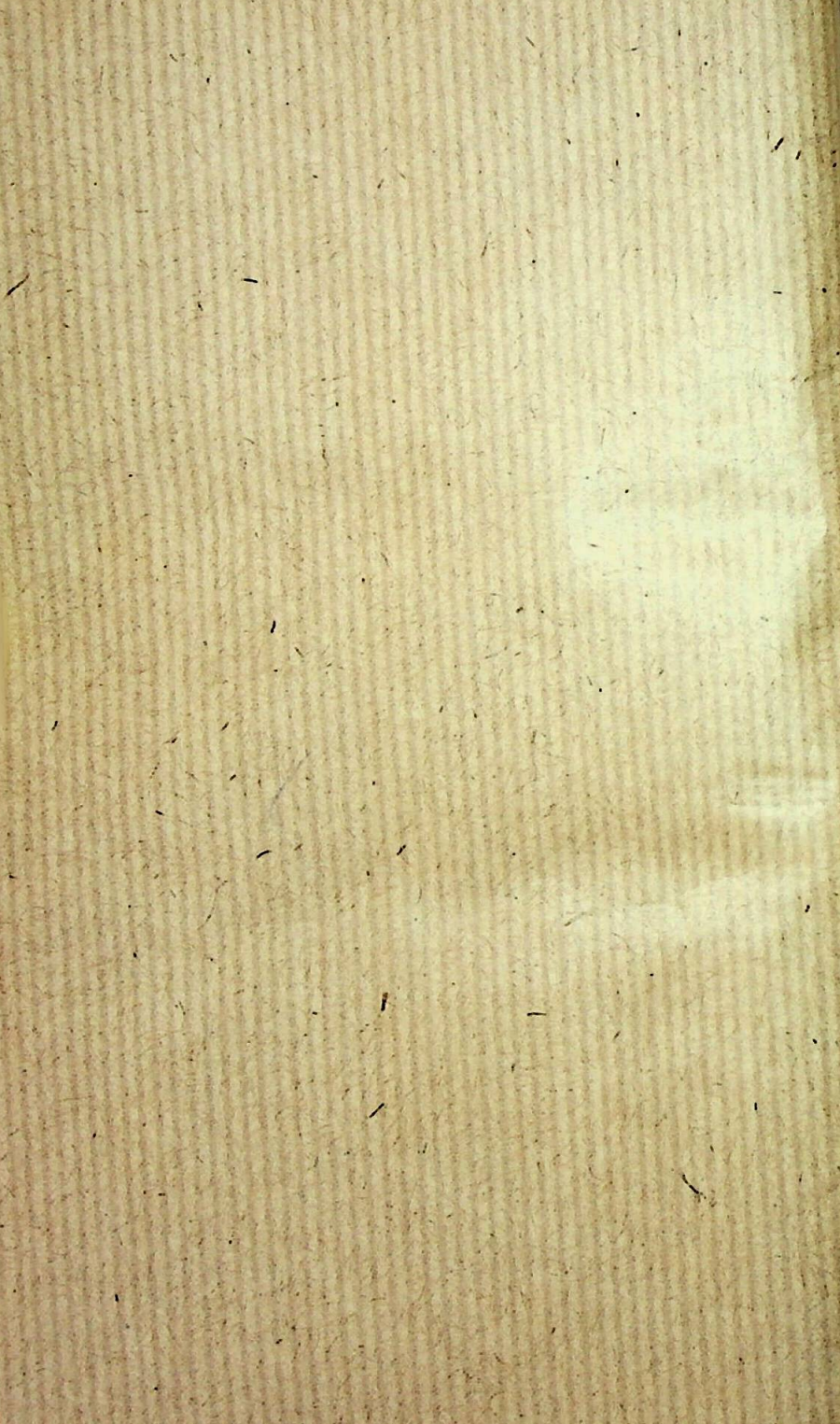
याज्ञवल्क्यस्मृतिः (मिताक्षरा सहित)

सविवरण 'प्रकाश' हिन्दी व्याख्या विभूषित

'मिताक्षरा' के साथ इसकी हिन्दी व्याख्या अत्यन्त उपयोगी है। इससे ग्रन्थ का आशय समझने तथा ग्रन्थ का मूल लगाने में समुचित सहायता प्राप्त होती है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के लब्ध प्रतिष्ठ प्रोफेसर श्री नारायण मिश्र द्वारा लिखित विशद भूमिका में धर्मशास्त्र विषयक उत्तम पाण्डित्यपूर्ण विचारों की प्रामाणिक व्यवस्था देखने को मिलती है। सुविस्तृत विवरण परिशिष्ट तो अतिशय उपयोगी है। इसमें अध्याय क्रम से टिप्पणी दी गई है जिसमें सब प्रकार के पारिभाषिक शब्दों की सरल व्याख्या तथा सन्दिग्ध एवं विवेच्य स्थलों पर उत्तम समाधान तथा विवेचन प्राप्त होता है। ग्रन्थ के अन्त में सुविधा के लिये पद्यार्धानुक्रमणिका भी दी गई है। आचाराध्याय मात्र ४-०० सम्पूर्ण २०-००

शुक्रनीतिः (शोधपूर्ण संस्करण)

'विद्योतिनी' हिन्दी व्याख्या सहित

पण्डितराज श्री राजेश्वर शास्त्री द्रविड़ विरचित गवेषणात्मक भूमिका विभूषित यह संस्करण सर्वोपरि है। बड़े ही छान-बीन के साथ प्राचीन पाण्डुलिपि के आधार पर इसके अपूर्ण मूल पाठ को पूर्ण कर दिया गया है। जिससे ग्रन्थ का कलेवर ही विशाल बन गया है। इस ग्रन्थ पर राष्ट्रभाषा में जो मौलिक अध्ययन-प्रस्तुत किया गया है उसमें शुक्राचार्य के नीतिविषयक प्रौढ़ पाण्डित्य तथा बहुज्ञत्व निखर उठा है। श्लोकानुक्रमणिकादि सहित १२—५०

धर्मसिन्धुः

सटिप्पण 'धर्मदीपिका' हिन्दी व्याख्या विभूषित

महामहोपाध्याय श्रीसदाशिवशास्त्री मुसलगाँवकर विरचित समीक्षात्मक प्रस्तावना के साथ इस संस्करण के सर्वशुद्ध मूल पाठ बड़े टाइप में सुस्पष्ट मुद्रित किया गया है। काशी के प्रतिष्ठित धर्मशास्त्री विद्वान् श्री वशिष्ठदत्त जी मिश्र द्वारा विरचित सरल सुबोध हिन्दी व्याख्या तथा आवश्यक स्थलों पर सविमर्श टिप्पणियाँ भी दी गई हैं। इन टिप्पणियों में प्रस्तुत ग्रन्थ के मूलाधार स्मृतिग्रन्थों के नाम, अन्यान्य स्मृतिवचनों से प्रस्तुत का समर्थन, कतिपय अनिर्णीत-व्रतादि विषयों का निर्णय, देशभेद से आचारादि-भेद का संकेत, प्रमाण-वचन, पारिभाषिक शब्दों का स्पष्टीकरण, विभिन्न लक्षण, परिभाषाएँ, भावार्थ, आदि विस्तृत व्यावहारिक जानकारी दी गई हैं। २५-००

प्राप्तिस्थानम्—चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१